श्रीमद्वाल्मीकीरामायणम्
(अरण्यकाण्ड से सुन्दरकाण्ड)

|| श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ||

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अरण्यकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका तापसोंके आश्रममण्डलमें सत्कार

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्।
रामो ददर्श दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम्॥ १॥

दण्डकारण्य नामक महान् वनमें प्रवेश करके मनको वशमें रखनेवाले दुर्जय वीर श्रीरामने तपस्वी मुनियोंके बहुत-से आ[श्र]म देखे॥ १॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम्।
यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम्॥ २॥

वहाँ कुश और वल्कल वस्त्र फैले हुए थे। वह आश्रममण्डल ऋषियोंकी ब्रह्मविद्याके अभ्याससे प्रकट हुए विलक्षण तेजसे व्याप्त था, इसलिये आकाशमें प्रकाशित होनेवाले दुर्दर्श सूर्यमण्डलकी भाँति वह भूतलपर उद्दीप्त हो रहा था। राक्षस आदिके लिये उसकी ओर देखना भी कठिन था॥ २॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्मृष्टाजिरं सदा।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसंघैः समावृतम्॥ ३॥

वह आश्रमसमुदाय सभी प्राणियोंको शरण देनेवाला [था]। उसका आँगन सदा झाड़ने-बुहारनेसे स्वच्छ बना रहता [था]। वहाँ बहुत-से वन्य पशु भरे रहते थे और पक्षियोंके [सम]ुदाय भी उसे सब ओरसे घेरे रहते थे॥ ३॥

पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः।
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः॥ ४॥
समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम्।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्वृतम्॥ ५॥

वहाँका प्रदेश इतना मनोरम था कि वहाँ अप्सराएँ प्रतिदिन आकर नृत्य करती थीं। उस स्थानके प्रति उनके मनमें बड़े आदरका भाव था। बड़ी-बड़ी अग्निशालाएँ, [स्रु]वा आदि यज्ञपात्र, मृगचर्म, कुश, समिधा, जलपूर्ण [क]लश तथा फल-मूल उसकी शोभा बढ़ाते थे। स्वादिष्ट [फ]ल देनेवाले परम पवित्र तथा बड़े-बड़े वन्य वृक्षोंसे वह आश्रममण्डल घिरा हुआ था॥ ४-५॥

[ब]लिहोमार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।
[पुष्प]श्चान्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया॥ ६॥

बलिवैश्वदेव और होमसे पूजित वह पवित्र आश्रमसमूह वेदमन्त्रोंके पाठकी ध्वनिसे गूँजता रहता था। कमलपुष्पोंसे सुशोभित पुष्करिणी उस स्थानकी शोभा बढ़ाती थी तथा वहाँ और भी बहुत-से फूल सब ओर बिखरे हुए थे॥ ६॥

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिभिर्युतम्॥ ७॥

उन आश्रमोंमें चीर और काला मृगचर्म धारण करनेवाले तथा फल-मूलका आहार करके रहनेवाले, जितेन्द्रिय एवं सूर्य और अग्निके तुल्य तेजस्वी, पुरातन मुनि निवास करते थे॥ ७॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
तद् ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्॥ ८॥

नियमित आहार करनेवाले पवित्र महर्षियोंसे सुशोभित वह आश्रमसमूह ब्रह्माजीके धामकी भाँति तेजस्वी तथा वेदध्वनिसे निनादित था॥ ८॥

ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्ब्राह्मणैरुपशोभितम्।
तद् दृष्ट्वा राघवः श्रीमांस्तापसाश्रममण्डलम्॥ ९॥
अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद् धनुः।

अनेक महाभाग ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण उन आश्रमोंकी शोभा बढ़ाते थे। महातेजस्वी श्रीरामने उस आश्रममण्डलको देखकर अपने महान् धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी, फिर वे आश्रमके भीतर गये॥ ९½॥

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः॥ १०॥
अभिजग्मुस्तदा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम्।

श्रीराम तथा यशस्विनी सीताको देखकर वे दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न महर्षि बड़ी प्रसन्नताके साथ उनके पास गये॥ १०½॥

ते तु सोममिवोद्यन्तं दृष्ट्वा वै धर्मचारिणम्॥ ११॥
लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम्।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन् दृढव्रताः॥ १२॥

दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महर्षि उदयकालके चन्द्रमाकी भाँति मनोहर, धर्मात्मा श्रीरामको, लक्ष्मणको और यशस्विनी विदेहराजकुमारी सीताको भी देखकर उन सबके लिये मङ्गलमय आशीर्वाद देने लगे। उन्होंने उन तीनोंको आदरणीय अतिथिके रूपमें ग्रहण किया ॥ ११-१२ ॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ १३ ॥

श्रीरामके रूप, शरीरकी गठन, कान्ति, सुकुमारता तथा सुन्दर वेषको उन वनवासी मुनियोंने आश्चर्यचकित होकर देखा ॥ १३ ॥

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव।
आश्चर्यभूतान् ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः ॥ १४ ॥

वनमें निवास करनेवाले वे सभी मुनि श्रीराम, लक्ष्मण और सीता—तीनोंको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे। उनका स्वरूप उन्हें आश्चर्यमय प्रतीत होता था ॥ १४ ॥

अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रताः।
अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन् ॥ १५ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले उन महाभाग महर्षियोंने वहाँ अपने प्रिय अतिथि इन भगवान् श्रीरामको पर्णशालामें ले जाकर ठहराया ॥ १५ ॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः।
आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः ॥ १६ ॥

अग्नितुल्य तेजस्वी और धर्मपरायण उन महाभाग मुनियोंने श्रीरामको विधिवत् सत्कारके साथ जल समर्पित किया ॥ १६ ॥

मङ्गलानि प्रयुञ्जाना मुदा परमया युताः।
मूलं पुष्पं फलं सर्वमाश्रमं च महात्मनः ॥ १७ ॥

फिर बड़ी प्रसन्नताके साथ मङ्गलसूचक आशीर्वाद देते हुए उन महात्मा श्रीरामको उन्होंने फल-मूल और फूल आदिके साथ सारा आश्रम भी समर्पित कर दिया ॥ १७ ॥

निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ते तु प्राञ्जलयोऽब्रुवन्।
धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यश्च महायशाः ॥ १८ ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः।
इन्द्रस्यैव चतुर्भागः प्रजा रक्षति राघव ॥
राजा तस्माद् वरान् भोगान् रम्यान् भुङ्क्ते नमस्कृ[तः]

सब कुछ निवेदन करके वे धर्मज्ञ मुनि हाथ जो[ड़कर] बोले—'रघुनन्दन! दण्ड धारण करनेवाला राजा धर्मका पा[लक,] महायशस्वी, इस जनसमुदायको शरण देनेवाला मान[नीय,] पूजनीय और सबका गुरु है। इस भूतलपर इन्द्र (अ[न्य] लोकपालों) का ही चौथा अंश होनेके कारण वह प्रजाकी [रक्षा] करता है, अतः राजा सबसे वन्दित होता तथा उत्तम रमणीय भोगोंका उपभोग करता है। (जब साधारण राज[ाकी] यह स्थिति है, तब आपके लिये तो क्या कहना है। आप साक्षात् भगवान् हैं) ॥ १८–१९½ ॥

ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः।
नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः ॥ २० ॥

'हम आपके राज्यमें निवास करते हैं, अतः आपक[ो] हमारी रक्षा करनी चाहिये। आप नगरमें रहें या वनमें हमलोगोंके राजा ही हैं। आप समस्त जनसमुदायके शासक एवं पालक हैं ॥ २० ॥

न्यस्तदण्डा वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।
रक्षणीयास्त्वया शश्वद् गर्भभूतास्तपोधनाः ॥ २१ ॥

'राजन्! हमने जीवमात्रको दण्ड देना छोड़ दिया है, क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लिया है। अब तपस्या ही हमारा धन है। जैसे माता गर्भस्थ बालककी रक्षा करती है, उसी प्रकार आपको सदा सब तरहसे हमारी रक्षा करनी चाहिये' ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैरन्यैश्च राघवम्।
वन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर उन तपस्वी मुनियोंने वनमें उत्पन्न होनेवाले फल, मूल, फूल तथा अन्य अनेक प्रकारके आहारोंसे लक्ष्मण (और सीता) सहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सत्कार किया ॥ २२ ॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः।
न्यायवृत्ता यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम् ॥ २३ ॥

इनके सिवा दूसरे अग्नितुल्य तेजस्वी तथा न्याययुक्त बर्तावबाले सिद्ध तापसोंने भी सर्वेश्वर भगवान् श्रीरामको यथोचित रूपसे तृप्त किया ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

वनके भीतर श्रीराम, लक्ष्मण और सीतापर विराधका आक्रमण

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति।
आमन्त्र्य स मुनीन् सर्वान् वनमेवान्वगाहत ॥ १ ॥

रात्रिमें उन महर्षियोंका आतिथ्य ग्रहण करके सबेरे सूर्योदय होनेपर समस्त मुनियोंसे विदा ले श्री-

रामचन्द्रजी पुनः वनमें ही आगे बढ़ने लगे ॥ १ ॥

नानामृगगणाकीर्णमृक्षशार्दूलसेवितम् ।
ध्वस्तवृक्षलतागुल्मं दुर्दर्शसलिलाशयम् ॥ २ ॥
निष्कूजमानशकुनि झिल्लिकागणनादितम् ।
लक्ष्मणानुचरो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥ ३ ॥

जाते-जाते लक्ष्मणसहित श्रीरामने वनके मध्यभागमें एक ऐसे स्थानको देखा, जो नाना प्रकारके मृगोंसे व्याप्त था। वहाँ बहुत-से रीछ और बाघ रहा करते थे। वहाँके वृक्ष, लता और झाड़ियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थीं। उस वन-प्रान्तमें किसी जलाशयका दर्शन होना कठिन था। वहाँके पक्षी वहीं चहक रहे थे। झींगुरोंकी झंकार गूँज रही थी ॥ २-३ ॥

सीतया सह काकुत्स्थस्तस्मिन् घोरमृगायुते ।
ददर्श गिरिशृङ्गाभं पुरुषादं महास्वनम् ॥ ४ ॥

भयंकर जंगली पशुओंसे भरे हुए उस दुर्गम वनमें सीताके साथ श्रीरामचन्द्रजीने एक नरभक्षी राक्षस देखा, जो पर्वतशिखरके समान ऊँचा था और उच्चस्वरसे गर्जना कर रहा था ॥ ४ ॥

गभीराक्षं महावक्त्रं विकटं विकटोदरम् ।
बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५ ॥

उसकी आँखें गहरी, मुँह बहुत बड़ा, आकार विकट और पेट विकराल था। वह देखनेमें बड़ा भयंकर, घृणित, बेडौल, बहुत बड़ा और विकृत वेशसे युक्त था ॥ ५ ॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम् ।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

उसने खूनसे भीगा और चरबीसे गीला व्याघ्रचर्म पहन रखा था। समस्त प्राणियोंको त्रास पहुँचानेवाला वह राक्षस यमराजके समान मुँह बाये खड़ा था ॥ ६ ॥

त्रीन् सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान् द्वौ वृकौ पृषतान् दश ।
सविषाणं वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत् ॥ ७ ॥
अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम् ।

वह एक लोहेके शूलमें तीन सिंह, चार बाघ, दो भेड़िये, दस चितकबरे हरिण और दाँतोंसहित एक बहुत बड़ा हाथीका मस्तक, जिसमें चर्बी लिपटी हुई थी, गाँथकर जोर-जोरसे दहाड़ रहा था ॥ ७½ ॥

स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्ट्वा च मैथिलीम् ॥ ८ ॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः ।
स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम् ॥ ९ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और मिथिलेशकुमारी सीताको देखते ही वह क्रोधमें भरकर भैरवनाद करके पृथ्वीको कम्पित करता हुआ उन सबकी ओर उसी प्रकार दौड़ा, जैसे प्राणान्तकारी काल प्रजाकी ओर अग्रसर होता है ॥ ८-९ ॥

अङ्केनादाय वैदेहीमपक्रम्य तदाब्रवीत् ।
युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ क्षीणजीवितौ ॥ १० ॥
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिपाणिनौ ।

वह विदेहनन्दिनी सीताको गोदमें ले कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया। फिर उन दोनों भाइयोंसे बोला—'तुम दोनों जटा और चीर धारण करके भी स्त्रीके साथ रहते हो और हाथमें धनुष-बाण और तलवार लिये दण्डकवनमें घुस आये हो; अतः जान पड़ता है, तुम्हारा जीवन क्षीण हो चला है ॥ १०½ ॥

कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह ॥ ११ ॥
अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ ।

'तुम दोनों तो तपस्वी जान पड़ते हो, फिर तुम्हारा युवती स्त्रीके साथ रहना कैसे सम्भव हुआ! अधर्म-परायण, पापी तथा मुनिसमुदायको कलङ्कित करनेवाले तुम दोनों कौन हो? ॥ ११½ ॥

अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः ॥ १२ ॥
चरामि सायुधो नित्यमृषिमांसानि भक्षयन् ।

'मैं विराध नामक राक्षस हूँ और प्रतिदिन ऋषियोंके मांसका भक्षण करता हुआ हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये इस दुर्गम वनमें विचरता रहता हूँ ॥ १२½ ॥

इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति ॥ १३ ॥
युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे ।

'यह स्त्री बड़ी सुन्दरी है, अतः मेरी भार्या बनेगी और तुम दोनों पापियोंका मैं युद्धस्थलमें रक्त पान करूँगा' ॥ १३½ ॥

तस्यैवं ब्रुवतो दुष्टं विराधस्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥
श्रुत्वा सगर्वितं वाक्यं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।
सीता प्रवेपितोद्वेगात् प्रवाते कदली यथा ॥ १५ ॥

दुरात्मा विराधकी ये दुष्टता और घमंडसे भरी बातें सुनकर जनकनन्दिनी सीता घबरा गयीं और जैसे तेज हवा चलनेपर केलेका वृक्ष जोर-जोरसे हिलने लगता है, उसी प्रकार वे उद्वेगके कारण थरथर काँपने लगीं ॥ १४-१५ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १६ ॥

शुभलक्षणा सीताको सहसा विराधके चंगुलमें फँसी देख श्रीरामचन्द्रजी सूखते हुए मुँहसे लक्ष्मणको सम्बोधित करके बोले—॥ १६ ॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम्।
मम भार्यां शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम् ॥ १७ ॥

'सौम्य ! देखो तो सही, महाराज जनककी पुत्री और मेरी सती-साध्वी पत्नी सीता विराधके अङ्कमें विवशतापूर्वक जा पहुँची हैं ॥ १७ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं यशस्विनीम्।
यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत् ॥ १८ ॥
कैकेय्यास्तु सुसंवृत्तं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी ॥ १९ ॥

'अत्यन्त सुखमें पली हुई यशस्विनी राजकुमारी सीताकी यह अवस्था! (हाय ! कितने कष्टकी बात है!) लक्ष्मण ! वनमें हमारे लिये जिस दुःखकी प्राप्ति कैकेयीको अभीष्ट थी और जो कुछ उसे प्रिय था, जिसके लिये उसने वर माँगे थे, वह सब आज ही शीघ्रतापूर्वक सिद्ध हो गया। तभी तो वह दूर-दर्शिनी कैकेयी अपने पुत्रके लिये केवल राज्य लेकर नहीं संतुष्ट हुई थी ॥ १८-१९ ॥

ययाहं सर्वभूतानां प्रियः प्रस्थापितो वनम्।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मध्यमा मम ॥ २० ॥

'जिसने समस्त प्राणियोंके लिये प्रिय होनेपर भी मुझे वनमें भेज दिया, वह मेरी मझली माता कैकेयी आज इस समय सफलमनोरथ हुई है ॥ २० ॥

परस्पर्शात् तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे।
पितुर्विनाशात् सौमित्रे स्वराज्यहरणात् तथा ॥ २१ ॥

'विदेहनन्दिनीका दूसरा कोई स्पर्श कर ले, इससे बढ़कर दुःखकी बात मेरे लिये दूसरी कोई नहीं है। सुमित्रानन्दन ! पिताजीकी मृत्यु तथा अपने राज्यके अपहरणसे भी उतना कष्ट मुझे नहीं हुआ था, जितना अब हुआ है' ॥ २१ ॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुतः।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर शोकके आँसू बहाते हुए लक्ष्मण कुपित हो मन्त्रसे अवरुद्ध हुए सर्पकी भाँति फुफकारते हुए बोले—॥ २२ ॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः।
मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! आप इन्द्रके समान समस्त प्राणियोंके स्वामी एवं संरक्षक हैं। मुझ दासके रहते हुए आप किस लिये अनाथकी भाँति संतप्त हो रहे हैं ! ॥ २३ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः।
विराधस्य गतासोर्हि मही पास्यति शोणितम् ॥ २४ ॥

'मैं अभी कुपित होकर अपने बाणसे इस राक्षसका वध करता हूँ। आज यह पृथ्वी मेरेद्वारा मारे गये प्राणशून्य विराधका रक्त पीयेगी ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह।
तं विराधे विमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

'राज्यकी इच्छा रखनेवाले भरतपर मेरा जो क्रोध प्रकट हुआ था, उसे आज मैं विराधपर छोड़ूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र पर्वतपर अपना वज्र छोड़ते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः
पततु शरोऽस्य महान् महोरसि।
व्यपनयतु तनोश्च जीवितं
पततु ततश्च महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

'मेरी भुजाओंके बलके वेगसे वेगवान् होकर छूटा हुआ मेरा महान् बाण आज विराधके विशाल वक्षःस्थलपर गिरे। इसके शरीरसे प्राणोंको अलग करे। तत्पश्चात् यह विराध चक्कर खाता हुआ पृथ्वीपर पड़ जाय' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

विराध और श्रीरामकी बातचीत, श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधपर प्रहार तथा विराधका इन दोनों भाइयोंको साथ लेकर दूसरे वनमें जाना

अथोवाच पुनर्वाक्यं विराधः पूरयन् वनम्।
पृच्छतो मम हि ब्रूतं कौ युवां क्व गमिष्यथः ॥ १ ॥

तदनन्तर विराधने उस वनको गुँजाते हुए कहा—'अरे! मैं पूछता हूँ, मुझे बताओ। तुम दोनों कौन हो और कहाँ जाओगे ?' ॥ १ ॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलिताननम्।
पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ २ ॥
क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ।
त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ३ ॥

तब महातेजस्वी श्रीरामने अपना परिचय पूछते हुए प्रज्वलित मुखवाले उस राक्षससे इस प्रकार कहा—'तुझे मालूम होना चाहिये कि महाराज इक्ष्वाकुका कुल ही मेरा

कुल है। हम दोनों भाई सदाचारका पालन करनेवाले क्षत्रिय हैं और कारणवश इस समय वनमें निवास करते हैं। अब हम तेरा परिचय जानना चाहते हैं। तू कौन है, जो दण्डक-वनमें स्वेच्छासे विचर रहा है ?' ॥ २-३ ॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम्।
हन्त वक्ष्यामि ते राजन् निबोध मम राघव ॥ ४ ॥

यह सुनकर विराधने सत्यपराक्रमी श्रीरामसे कहा—'रघुवंशी नरेश ! मैं प्रसन्नतापूर्वक अपना परिचय देता हूँ। तुम मेरे विषयमें सुनो ॥ ४ ॥

पुत्रः किल जवस्याहं माता मम शतह्रदा।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ५ ॥

'मैं 'जव' नामक राक्षसका पुत्र हूँ, मेरी माताका नाम 'शतह्रदा' है। भूमण्डलके समस्त राक्षस मुझे विराधके नामसे पुकारते हैं ॥ ५ ॥

तपसा चाभिसम्प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ६ ॥

'मैंने तपस्याके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया है कि किसी भी शस्त्रसे मेरा वध न हो। मैं संसारमें अच्छेद्य और अभेद्य होकर रहूँ—कोई भी मेरे शरीरको छिन्न-भिन्न नहीं कर सके ॥ ६ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षौ यथागतम्।
त्वरमाणौ पलायेथां न वां जीवितमाददे ॥ ७ ॥

'अब तुम दोनों इस युवती स्त्रीको यहीं छोड़कर इसे पानेकी इच्छा न रखते हुए जैसे आये हो उसी प्रकार तुरंत यहाँसे भाग जाओ। मैं तुम दोनोंके प्राण नहीं लूँगा' ॥ ७ ॥

तं रामः प्रत्युवाचेदं कोपसंरक्तलोचनः।
राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ८ ॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे पापपूर्ण विचार और विकट आकारवाले उस पापी राक्षस विराधसे इस प्रकार बोले—॥ ८ ॥

क्षुद्र धिक् त्वां तु हीनार्थं मृत्युमन्वेषसे ध्रुवम्।
रणे प्राप्स्यसि संतिष्ठ न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥ ९ ॥

'नीच ! तुझे धिक्कार है। तेरा अभिप्राय बड़ा ही खोटा है। निश्चय ही तू अपनी मौत ढूँढ़ रहा है और वह तुझे युद्धमें मिलेगी। ठहर, अब तू मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा' ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्शरान्।
सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह ॥ १० ॥

यह कहकर भगवान् श्रीरामने अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और तुरंत ही तीखे बाणोंका अनुसंधान करके उस राक्षसको बींधना आरम्भ किया ॥ १० ॥

धनुषा ज्यागुणवता सप्त बाणान् मुमोच ह।
रुक्मपुङ्खान् महावेगान् सुपर्णानिलतुल्यगान् ॥ ११ ॥

उन्होंने प्रत्यञ्चायुक्त धनुषके द्वारा विराधके ऊपर लगातार सात बाण छोड़े, जो गरुड़ और वायुके समान महान् वेगशाली थे और सोनेके पंखोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा बर्हिणवाससः।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां पावकोपमाः ॥ १२ ॥

प्रज्वलित अग्निके समान् तेजस्वी और मोरपंख लगे हुए वे बाण विराधके शरीरको छेदकर रक्तरञ्जित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १२ ॥

स विद्धो न्यस्य वैदेहीं शूलमुद्यम्य राक्षसः।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धस्तदा रामं सलक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

घायल हो जानेपर उस राक्षसने विदेहकुमारी सीताको अलग रख दिया और स्वयं हाथमें शूल लिये अत्यन्त कुपित होकर श्रीराम तथा लक्ष्मणपर तत्काल टूट पड़ा ॥ १३ ॥

स विनद्य महानादं शूलं शक्रध्वजोपमम्।
प्रगृह्याशोभत तदा व्यात्ताननं इवान्तकः ॥ १४ ॥

वह बड़े जोरसे गर्जना करके इन्द्रध्वजके समान शूल लेकर उस समय मुँह बाये हुए कालके समान शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

अथ तौ भ्रातरौ दीप्तं शरवर्षं ववर्षतुः।
विराधे राक्षसे तस्मिन् कालान्तकयमोपमे ॥ १५ ॥

तब काल, अन्तक और यमराजके समान उस भयंकर राक्षस विराधके ऊपर उन दोनों भाइयोंने प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १५ ॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाजृम्भत राक्षसः।
जृम्भमाणस्य ते बाणाः कायान्निष्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

'यह देख वह महाभयंकर राक्षस अट्टहास करके खड़ा हो गया और जँभाईके साथ अँगड़ाई लेने लगा। उसके वैसा करते ही वे शीघ्रगामी बाण उसके शरीरसे निकलकर पृथ्वी-पर गिर पड़े ॥ १६ ॥

स्पर्शात् तु वरदानेन प्राणान् संरोध्य राक्षसः।
विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत ॥ १७ ॥

वरदानके सम्बन्धसे उस राक्षस विराधने प्राणोंको रोक लिया और शूल उठाकर उन दोनों रघुवंशी वीरोंपर आक्रमण किया ॥ १७ ॥

तच्छूलं वज्रसंकाशं गगने ज्वलनोपमम्।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १८ ॥

उसका वह शूल आकाशमें वज्र और अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा; परंतु शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दो बाण मारकर उसे काट डाला ॥ १८ ॥

तद् रामविशिखैश्छिन्नं शूलं तस्यापतद् भुवि।
पपाताशनिना छिन्नं मेरोरिव शिलातलम् ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे कटा हुआ विराधका वह शूल वज्रसे छिन्न-भिन्न हुए मेरुके शिलाखण्डकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पाविवोद्यतौ ।
तूर्णमापेततुस्तस्य तदा प्रहरतां बलात् ॥ २० ॥

फिर तो वे दोनों भाई शीघ्र ही काले सर्पोंके समान दो तलवारें लेकर तुरंत उसपर टूट पड़े और तत्काल बलपूर्वक प्रहार करने लगे ॥ २० ॥

स वध्यमानः सुभृशं भुजाभ्यां परिगृह्य तौ ।
अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥ २१ ॥

उनके आघातसे अत्यन्त घायल हुए उस भयंकर राक्षसने अपनी दोनों भुजाओंसे उन अकम्प्य पुरुषसिंह वीरोंको पकड़कर अन्यत्र जानेकी इच्छा की ॥ २१ ॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
वहत्वयमलं तावत् पथानेन तु राक्षसः ॥ २२ ॥
यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः ।
अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २३ ॥

उसके अभिप्रायको जानकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! यह राक्षस अपनी इच्छाके अनुसार हम लोगोंको इस मार्गसे ढोकर ले चले । यह जैसा चाहता है, उसी तरह हमारा वाहन बनकर हमें ले चले (इसमें बाधा डालनेकी आवश्यकता नहीं है) । जिस मार्गसे यह निशाचर चल रहा है, यही हमलोगोंके लिये आगे जानेका मार्ग है' ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।
बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिबलोद्धतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलसे उद्दण्ड बने हुए निशाचर विराधने अपने बल-पराक्रमसे उन दोनों भाइयोंको बालकोंकी तरह उठाकर अपने दोनों कंधोंपर बिठा लिया ॥ २४ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।
विराधो विनदन् घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २५ ॥

उन दोनों रघुवंशी वीरोंको कंधेपर चढ़ा लेनेके बाद राक्षस विराध भयंकर गर्जना करता हुआ वनकी ओर चल दिया ॥ २५ ॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो
द्रुमैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम् ।
नानाविधैः पक्षिकुलैर्विचित्रं
शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर उसने एक ऐसे वनमें प्रवेश किया, जो महान् मेघोंकी घटाके समान घना और नीला था । नाना प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष वहाँ भरे हुए थे । भाँति-भाँतिके पक्षियोंके समुदाय उसे विचित्र शोभासे सम्पन्न बना रहे थे तथा बहुत-से गीदड़ और हिंसक पशु उसमें सब ओर फैले हुए थे ।२६।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा विराधका वध

ह्रियमाणौ तु काकुत्स्थौ दृष्ट्वा सीता रघूत्तमौ ।
उच्चैः स्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य सुमहाभुजौ ॥ १ ॥

रघुकुलके श्रेष्ठ वीर ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको राक्षस लिये जा रहा है—यह देखकर सीता अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगीं—॥

एष दाशरथी रामः सत्यवाञ्छीलवाञ्शुचिः ।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

'हाय ! इन सत्यवादी, शीलवान् और शुद्ध आचार-विचारवाले दशरथनन्दन श्रीराम और लक्ष्मणको यह रौद्ररूपधारी राक्षस लिये जा रहा है ॥ २ ॥

मामृक्षा भक्षयिष्यन्ति शार्दूलद्वीपिनस्तथा ।
मां हरोत्सृज काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

'राक्षसशिरोमणे ! तुम्हें नमस्कार है । इस वनमें रीछ, व्याघ्र और चीते मुझे खा जायँगे, इसलिये तुम मुझे ही ले चलो, किंतु इन दोनों ककुत्स्थवंशी वीरोंको छोड़ दो' ॥३॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वेगं प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

विदेहनन्दिनी सीताकी यह बात सुनकर वे दोनों वीर श्रीराम और लक्ष्मण उस दुरात्मा राक्षसका वध करनेमें शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिः सव्यं बाहुं बभञ्ज ह ।
रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उस राक्षसकी बायीं और श्रीरामने उसकी दाहिनी बाँह बड़े वेगसे तोड़ डाली ॥ ५ ॥

स भग्नबाहुः संविग्नः पपाताशु विमूर्च्छितः ।
धरण्यां मेघसंकाशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

भुजाओंके टूट जानेपर वह मेघके समान काला राक्षस व्याकुल हो गया और शीघ्र ही मूर्च्छित होकर वज्रके द्वारा टूटे हुए पर्वतशिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

मुष्टिभिर्बाहुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।
उद्यम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥ ७ ॥

तब श्रीराम और लक्ष्मण विराधको भुजाओं, मुक्कों और लातोंसे मारने लगे तथा उसे उठा-उठाकर पटकने और पृथ्वीपर रगड़ने लगे ॥ ७ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः ।
निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

बहुसंख्यक बाणोंसे घायल और तलवारोंसे क्षत-विक्षत होनेपर तथा पृथ्वीपर बार-बार रगड़ा जानेपर भी वह राक्षस मरा नहीं ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम् ।
भयेष्वभयदः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

अवध्य तथा पर्वतके समान अचल विराधको बारंबार देखकर भयके अवसरोंपर अभय देनेवाले श्रीमान् रामने लक्ष्मणसे यह बात कही—॥ ९ ॥

तपसा पुरुषव्याघ्र राक्षसोऽयं न शक्यते ।
शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥ १० ॥

'पुरुषसिंह ! यह राक्षस तपस्यासे (वर पाकर) अवध्य हो गया है । इसे शस्त्रके द्वारा युद्धमें नहीं जीता जा सकता । इसलिये हमलोग निशाचर विराधको पराजित करनेके लिये अब गड्ढा खोदकर गाड़ दें ॥ १० ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।
वनेऽस्मिन् सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रवर्चसः ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! हाथीके समान भयंकर तथा रौद्र तेजवाले इस राक्षसके लिये इस वनमें बहुत बड़ा गड्ढा खोदो' ॥११॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ १२ ॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खोदनेकी आज्ञा देकर पराक्रमी श्रीराम अपने एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं वचः ।
इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुरुषर्षभम् ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई यह बात सुनकर राक्षस विराधने पुरुषप्रवर श्रीरामसे यह विनययुक्त बात कही—॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै ।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

'पुरुषसिंह ! नरश्रेष्ठ ! आपका बल देवराज इन्द्रके समान है । मैं आपके हाथसे मारा गया । मोहवश पहले मैं आपको पहचान न सका ॥ १४ ॥

कौसल्या सुप्रजास्तात रामस्त्वं विदितो मया ।
वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः ॥ १५ ॥

'तात ! आपके द्वारा माता कौसल्या उत्तम संतानवाली हुई हैं । मैं यह जान गया कि आप ही श्रीरामचन्द्रजी हैं । यह महाभागा विदेहनन्दिनी सीता हैं और ये आपके छोटे भाई महायशस्वी लक्ष्मण हैं ॥ १५ ॥

अभिशापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।
तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शप्तो वैश्रवणेन हि ॥ १६ ॥

'मुझे शापके कारण इस भयंकर राक्षसशरीरमें आना पड़ा था । मैं तुम्बुरु नामक गन्धर्व हूँ । कुबेरने मुझे राक्षस होनेका शाप दिया था ॥ १६ ॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन्मां महायशाः ।
यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे ॥ १७ ॥
तदा प्रकृतिमापन्नो भवान् स्वर्गं गमिष्यति ।

'जब मैंने उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की, तब वे महायशस्वी कुबेर मुझसे इस प्रकार बोले—'गन्धर्व ! जब दशरथनन्दन श्रीराम युद्धमें तुम्हारा वध करेंगे, तब तुम अपने पहले स्वरूपको प्राप्त होकर स्वर्गलोकको जाओगे ॥ १७½ ॥

अनुपस्थीयमानो मां स क्रुद्धो व्याजहार ह ॥ १८ ॥
इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तमुवाच ह ।

'मैं रम्भा नामक अप्सरामें आसक्त था, इसलिये एक दिन ठीक समयसे उनकी सेवामें उपस्थित न हो सका । इसीलिये कुपित हो राजा वैश्रवण (कुबेर) ने मुझे पूर्वोक्त शाप देकर उससे छूटनेकी अवधि बतायी थी ॥ १८½ ॥

तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात् सुदारुणात् ॥ १९ ॥
भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परंतप ।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुवीर ! आज आपकी कृपासे मुझे उस भयंकर शापसे छुटकारा मिल गया । आपका कल्याण हो, अब मैं अपने लोकको जाऊँगा ॥ १९½ ॥

इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥ २० ॥
अध्यर्धयोजने तात महर्षिः सूर्यसंनिभः ।
तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयोऽभिधास्यति ॥ २१ ॥

'तात ! यहाँसे डेढ़ योजनकी दूरीपर सूर्यके समान तेजस्वी प्रतापी और धर्मात्मा महामुनि शरभङ्ग निवास करते हैं । उनके पास आप शीघ्र चले जाइये, वे आपके कल्याणकी बात बतायेंगे ॥ २०-२१ ॥

अवटे चापि मां राम निक्षिप्य कुशली व्रज ।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः ॥ २२

'श्रीराम! आप मेरे शरीरको गड्ढेमें गाड़कर कुशलपूर्वक चले जाइये। मरे हुए राक्षसोंके शरीरको गड्ढेमें गाड़ना (कब्र खोदकर उसमें दफना देना) यह उनके लिये सनातन (परम्पराप्राप्त) धर्म है॥ २२॥

अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः॥ २३॥
बभूव स्वर्गसम्प्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः।

'जो राक्षस गड्ढेमें गाड़ दिये जाते हैं, उन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है।' श्रीरामसे ऐसा कहकर बाणोंसे पीड़ित हुआ महाबली विराध (जब उसका शरीर गड्ढेमें डाला गया, तब) उस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकको चला गया॥ २३½॥

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह॥ २४॥
कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण।
वनेऽस्मिन्सुमहाञ्श्वभ्रः खन्यतां रौद्रकर्मणः॥ २५॥

(वह किस तरह गड्ढेमें डाला गया?—यह बात अब बतायी जाती है—) उसकी बात सुनकर श्रीरघुनाथजीने लक्ष्मणको आज्ञा दी—'लक्ष्मण! भयंकर कर्म करनेवाले तथा हाथीके समान भयानक इस राक्षसके लिये इस वनमें बहुत बड़ा गड्ढा खोदो'॥ २४-२५॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान्॥ २६॥

इस प्रकार लक्ष्मणको गड्ढा खोदनेका आदेश दे पराक्रमी श्रीराम एक पैरसे विराधका गला दबाकर खड़े हो गये॥ २६॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम्।
अखनत् पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः॥ २७॥

तब लक्ष्मणने फावड़ा लेकर उस विशालकाय विराधके पास ही एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदकर तैयार किया॥ २७॥

तं मुक्तकण्ठमुत्क्षिप्य शङ्कुकर्णं महास्वनम्।
विराधं प्राक्षिपच्छ्वभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम्॥ २८॥

तब श्रीरामने उसके गलेको छोड़ दिया और लक्ष्मणने खूँटे-जैसे कानवाले उस विराधको उठाकर उस गड्ढेमें डाल दिया, उस समय वह बड़ी भयानक आवाजमें जोर-जोरसे गर्जना कर रहा था॥ २८॥

तमाहवे दारुणमाशुविक्रमौ
स्थिरावुभौ संयति रामलक्ष्मणौ।
मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं
नदन्तमुत्क्षिप्य बलेन राक्षसम्॥ २९॥

युद्धमें स्थिर रहकर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने रणभूमिमें क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले उस भयंकर राक्षस विराधको बलपूर्वक उठाकर गड्ढेमें फेंक दिया। उस समय वह जोर-जोरसे चिल्ला रहा था। उसे गड्ढेमें डालकर वे दोनों बन्धु बड़े प्रसन्न हुए॥ २९॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदावुभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः॥ ३०॥

महान् असुर विराधका तीखे शस्त्रसे वध होनेवाला नहीं है, यह देखकर अत्यन्त कुशल दोनों भाई नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मणने उस समय गड्ढा खोदकर उस गड्ढेमें उसे डाल दिया और उसे मिट्टीसे पाटकर उस राक्षसका वध कर डाला॥ ३०॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युमात्मनः
प्रसह्य रामेण यथार्थमीप्सितः।
निवेदितः काननचारिणा स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति॥ ३१॥

वास्तवमें श्रीरामके हाथसे ही हठपूर्वक मरना उसे अभीष्ट था। उस अपनी मनोवाञ्छित मृत्युकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्वयं वनचारी विराधने ही श्रीरामको यह बता दिया था कि शस्त्रद्वारा मेरा वध नहीं हो सकता॥ ३१॥

तदेव रामेण निशम्य भाषितं
कृता मतिस्तस्य बिलप्रवेशने।
बिलं च तेनातिबलेन रक्षसा
प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम्॥ ३२॥

उसकी कही हुई उसी बातको सुनकर श्रीरामने उसे गड्ढेमें गाड़ देनेका विचार किया था। जब वह गड्ढेमें डाला जाने लगा, उस समय उस अत्यन्त बलवान् राक्षसने अपनी चिल्लाहटसे सारे वन-प्रान्तको गुँजा दिया॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ
विराधमुर्व्यां प्रदरे निपात्य तम्।
ननन्दतुर्वीतभयौ महावने
शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम्॥ ३३॥

राक्षस विराधको पृथ्वीके अंदर गड्ढेमें गिराकर श्रीराम और लक्ष्मणने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे ऊपरसे बहुतेरे पत्थर डालकर पाट दिया। फिर वे निर्भय हो उस महान् वनमें सानन्द विचरने लगे॥ ३३॥

तततस्तु तौ काञ्चनचित्रकार्मुकौ
निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्।
विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने
दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उस राक्षसका वध करके मिथिलेशकुमारी सीताको साथ ले सोनेके विचित्र धनुषोंसे सुशोभित हो वे दोनों भाई आकाशमें स्थित हुए चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति उस महान् वनमें आनन्दमग्न हो विचरण करने लगे ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताका शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर जाना, देवताओंका दर्शन करना और मुनिसे सम्मानित होना तथा शरभङ्ग मुनिका ब्रह्मलोक-गमन

हत्वा तु तं भीमबलं विराधं राक्षसं वने।
ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥ १ ॥
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्।
कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्मो वनगोचराः ॥ २ ॥
अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम्।
आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह ॥ ३ ॥

वनमें उस भयंकर बलशाली राक्षस विराधका वध करके पराक्रमी श्रीरामने सीताको हृदयसे लगाकर सान्त्वना दी और उद्दीप्त तेजवाले भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—'सुमित्रानन्दन ! यह दुर्गम वन बड़ा कष्टप्रद है। हमलोग इसके पहले कभी ऐसे वनोंमें नहीं रहे हैं (अतः यहाँके कष्टोंका न तो अनुभव है और न अभ्यास ही है) । अच्छा ! हमलोग अब शीघ्र ही तपोधन शरभङ्गजीके पास चलें'—ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये ॥ १–३ ॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा भावितात्मनः।
समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥

देवताओंके तुल्य प्रभावशाली तथा तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले (अथवा तपके द्वारा परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करनेवाले) शरभङ्ग मुनिके समीप जानेपर श्रीरामने एक बड़ा अद्भुत दृश्य देखा ॥ ४ ॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम्।
रथप्रवरमारूढमाकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥
असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम्।
सम्प्रभाभरणं देवं विरजोऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥

यहाँ उन्होंने आकाशमें एक श्रेष्ठ रथपर बैठे हुए देवताओंके स्वामी इन्द्रदेवका दर्शन किया, जो पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होती थी। वे अपने तेजस्वी शरीरसे देदीप्यमान हो रहे थे। उनके पीछे और भी बहुत-से देवता थे। उनके दीप्तिमान् आभूषण चमक रहे थे तथा उन्होंने निर्मल वस्त्र धारण कर रखा था ॥ ५-६ ॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः।
हरितैर्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥
ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसंनिभम्।

उन्हींके समान वेशभूषावाले दूसरे बहुत-से महात्मा इन्द्रदेवकी पूजा (स्तुति-प्रशंसा) कर रहे थे। उनका रथ आकाशमें खड़ा था और उसमें हरे रंगके घोड़े जुते हुए थे। श्रीरामने निकटसे उस रथको देखा। वह नवोदित सूर्यके समान प्रकाशित होता था ॥ ७½ ॥

पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसंनिभम् ॥ ८ ॥
अपश्यद् विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम्।

उन्होंने यह भी देखा कि इन्द्रके मस्तकके ऊपर श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल तथा चन्द्रमण्डलके समान कान्तिमान् निर्मल छत्र तना हुआ है, जो विचित्र फूलोंकी मालाओंसे सुशोभित है ॥ ८½ ॥

चामरव्यजने चाग्र्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥ ९ ॥
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि।

श्रीरामने सुवर्णमय डंडेवाले दो श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य चँवर और व्यजन भी देखे, जिन्हें दो सुन्दरियाँ लेकर देवराजके मस्तकपर हवा कर रही थीं ॥ ९½ ॥

गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥
अन्तरिक्षगतं देवं गीर्भिरग्र्याभिरैडयन्।
सह सम्भाषमाणे तु शरभङ्गेन वासवे ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा शतक्रतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
रामोऽथ रथमुद्दिश्य भ्रातुर्दर्शयताद्भुतम् ॥ १२ ॥

उस समय बहुत-से गन्धर्व, देवता, सिद्ध और महर्षिगण उत्तम वचनोंद्वारा अन्तरिक्षमें विराजमान देवेन्द्रकी

स्तुति करते थे और देवराज इन्द्र शरभङ्ग मुनिके साथ वार्तालाप कर रहे थे। वहाँ इस प्रकार शतक्रतु इन्द्रका दर्शन करके श्रीरामने उनके अद्भुत रथकी ओर अँगुलीसे संकेत करते हुए उसे भाईको दिखाया और लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १०-१२ ॥

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम्॥ १३॥

'लक्ष्मण ! आकाशमें वह अद्भुत रथ तो देखो, उससे तेजकी लपटें निकल रही हैं। वह सूर्यके समान तप रहा है। शोभा मानो मूर्तिमती होकर उसकी सेवा करती है॥ १३॥

ये हयाः पुरुहूतस्य पुरा शक्रस्य नः श्रुताः।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम्॥ १४॥

'हमलोगोंने पहले देवराज इन्द्रके जिन दिव्य घोड़ोंके विषयमें जैसा सुन रखा है, निश्चय ही आकाशमें ये वैसे ही दिव्य अश्व विराजमान हैं॥ १४॥

इमे च पुरुषव्याघ्र ये तिष्ठन्त्यभितो दिशम्।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः॥ १५॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः॥ १६॥

'पुरुषसिंह ! इस रथके दोनों ओर जो ये हाथोंमें खड्ग लिये कुण्डलधारी सौ-सौ युवक खड़े हैं, इनके वक्षःस्थल विशाल एवं विस्तृत हैं, भुजाएँ परिघोंके समान सुदृढ़ एवं बड़ी-बड़ी हैं। ये सब-के-सब लाल वस्त्र धारण किये हुए हैं और व्याघ्रोंके समान दुर्जय प्रतीत होते हैं॥ १५-१६॥

उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसंनिभाः।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम्॥ १७॥

'सुमित्रानन्दन ! इन सबके हृदयदेशोंमें अग्निके समान तेजसे जगमगाते हुए हार शोभा पाते हैं। ये नवयुवक पचीस वर्षोंकी अवस्थाका रूप धारण करते हैं॥ १७॥

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः॥ १८॥

'कहते हैं, देवताओंकी सदा ऐसी ही अवस्था रहती है, जैसे ये पुरुषप्रवर दिखायी देते हैं। इनका दर्शन कितना प्यारा लगता है॥ १८॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण।
याञ्ज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान् रथे॥ १९॥

[illegible]ण ! जबतक कि मैं स्पष्ट रूपसे यह पता न [illegible] रथपर बैठे हुए ये तेजस्वी पुरुष कौन हैं ! तबतक तुम विदेहनन्दिनी सीताके साथ एक मुहूर्ततक यहीं ठहरो' ॥ १९॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति।
अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति॥ २०॥

इस प्रकार सुमित्राकुमारको वहीं ठहरनेका आदेश देकर श्रीरामचन्द्रजी टहलते हुए शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये॥ २०॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः।
शरभङ्गमनुज्ञाप्य विबुधानिदमब्रवीत्॥ २१॥

श्रीरामको आते देख शचीपति इन्द्रने शरभङ्ग मुनिसे विदा ले देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ २१॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते।
निष्ठां नयत तावत् तु ततो मा द्रष्टुमर्हति॥ २२॥

'श्रीरामचन्द्रजी यहाँ आ रहे हैं। वे जबतक मुझसे कोई बात न करें उसके पहले ही तुमलोग मुझे यहाँसे दूसरे स्थानमें ले चलो। इस समय श्रीरामसे मेरी मुलाकात नहीं होनी चाहिये॥ २२॥

जितवन्तं कृतार्थं हि तदाहमचिरादिमम्।
कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम्॥ २३॥

'इन्हें वह महान् कर्म करना है, जिसका सम्पादन करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है। जब ये रावणपर विजय पाकर अपना कर्तव्य पूर्ण करके कृतार्थ हो जायँगे, तब मैं शीघ्र ही आकर इनका दर्शन करूँगा' ॥ २३॥

अथ वज्री तमामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम्।
रथेन हययुक्तेन ययौ दिवमरिंदमः॥ २४॥

यह कहकर वज्रधारी शत्रुदमन इन्द्रने तपस्वी शरभङ्गका सत्कार किया और उनसे पूछकर अनुमति ले वे घोड़े जुते हुए रथके द्वारा स्वर्गलोकको चल दिये॥ २४॥

प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदः।
अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागमत्॥ २५॥

सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी और भाईके साथ शरभङ्ग मुनिके पास गये। उस समय वे अग्निके समीप बैठकर अग्निहोत्र कर रहे थे॥ २५॥

तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः।
निषेदुस्तदनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः॥ २६॥

श्रीराम, सीता और लक्ष्मणने मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे वहाँ बैठ गये, शरभङ्गजीने उन्हें आतिथ्यके लिये निमन्त्रण दे ठहरनेके लिये स्थान दिया॥

ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत राघवः।
शरभङ्गश्च तत् सर्वं राघवाय न्यवेदयत्॥ २७॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे इन्द्रके आनेका कारण पूछा। तब शरभङ्ग मुनिने श्रीरघुनाथजीसे सब बातें निवेदन करते हुए कहा—॥ २७ ॥

मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति।
जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २८ ॥

'श्रीराम! ये वर देनेवाले इन्द्र मुझे ब्रह्मलोकमें ले जाना चाहते हैं। मैंने अपनी उग्र तपस्यासे उस लोकपर विजय पायी है। जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, उन पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २८ ॥

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः।
ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम् ॥ २९ ॥

'पुरुषसिंह! परंतु जब मुझे मालूम हो गया कि आप इस आश्रमके निकट आ गये हैं, तब मैंने निश्चय किया कि आप-जैसे प्रिय अतिथिका दर्शन किये बिना मैं ब्रह्मलोकको नहीं जाऊँगा ॥ २९ ॥

त्वयाहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना।
समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चावरं परम् ॥ ३० ॥

'नरश्रेष्ठ! आप धर्मपरायण महात्मा पुरुषसे मिलकर ही मैं स्वर्गलोक तथा उससे ऊपरके ब्रह्मलोकको जाऊँगा ॥ ३० ॥

अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः।
ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ॥ ३१ ॥

'पुरुषशिरोमणे! मैंने ब्रह्मलोक और स्वर्गलोक आदि जिन अक्षय शुभ लोकोंपर विजय पायी है, मेरे उन सभी लोकोंको आप ग्रहण करें' ॥ ३१ ॥

एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः।
ऋषिणा शरभङ्गेन राघवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शरभङ्ग मुनिके ऐसा कहनेपर सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता नरश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीने यह बात कही—॥ ३२ ॥

अहमेवाहरिष्यामि सर्वाल्लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ ३३ ॥

'महामुने! मैं ही आपको उन सब लोकोंकी प्राप्ति कराऊँगा। इस समय तो मैं इस वनमें आपके बताये हुए स्थानपर निवासमात्र करना चाहता हूँ' ॥ ३३ ॥

राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन वै।
शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ ३४ ॥

इन्द्रके समान बलशाली श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर महाज्ञानी शरभङ्ग मुनि फिर बोले—॥ ३४ ॥

इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः।
वसत्यरण्ये नियतः स ते श्रेयो विधास्यति ॥ ३५ ॥

'श्रीराम! इस वनमें थोड़ी ही दूरपर महातेजस्वी धर्मात्मा सुतीक्ष्ण मुनि नियमपूर्वक निवास करते हैं। वे ही आपका कल्याण (आपके लिये स्थान आदिका प्रबन्ध) करेंगे ॥

सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम्।
रमणीये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ॥ ३६ ॥

'आप इस रमणीय वनप्रान्तके उस पवित्र स्थानमें तपस्वी सुतीक्ष्ण मुनिके पास चले जाइये। वे आपके निवासस्थानकी व्यवस्था करेंगे ॥ ३६ ॥

इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्रोतामनुव्रज।
नदीं पुष्पोडुपवहां ततस्तत्र गमिष्यसि ॥ ३७ ॥

'श्रीराम! आप फूलके समान छोटी-छोटी डोंगियोंसे पार होने योग्य अथवा पुष्पमयी नौकाको बहानेवाली इस मन्दाकिनी नदीके स्रोतके विपरीत दिशामें इसीके किनारे-किनारे चले जाइये। इससे वहाँ पहुँच जाइयेगा ॥ ३७ ॥

एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्।
यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ३८ ॥

'नरश्रेष्ठ! यही वह मार्ग है, परंतु तात! दो घड़ी यहीं ठहरिये और जबतक पुरानी केंचुलका त्याग करनेवाले सर्पकी भाँति मैं अपने इन जराजीर्ण अङ्गोंका त्याग न कर दूँ तबतक मेरी ही ओर देखिये' ॥ ३८ ॥

ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत्।
शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ॥ ३९ ॥

यों कहकर महातेजस्वी शरभङ्ग मुनिने विधिवत् अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और मन्त्रोच्चारणपूर्वक घीकी आहुति देकर वे स्वयं भी उस अग्निमें प्रविष्ट हो गये ॥

तस्य रोमाणि केशांश्च तदा वह्निर्महात्मनः।
जीर्णां त्वचं तदस्थीनि यच्च मांसं च शोणितम् ॥ ४० ॥

उस समय अग्निने उन महात्माके रोम, केश, जीर्ण त्वचा, हड्डी, मांस और रक्त सबको जलाकर भस्म कर दिया ॥

स च पावकसंकाशः कुमारः समपद्यत।
उत्थायाग्निचयात् तस्माच्छरभङ्गो व्यरोचत ॥ ४१ ॥

वे शरभङ्ग मुनि अग्नितुल्य तेजस्वी कुमारके रूपमें प्रकट हो गये और उस अग्निराशिसे ऊपर उठकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ ४१ ॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम्।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥ ४२ ॥

वे अग्निहोत्री पुरुषों, महात्मा मुनियों और देवताओंके भी लोकोंको लाँघकर ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ४२ ॥

स पुण्यकर्मा भुवने द्विजर्षभः
पितामहं सानुचरं ददर्श ह ।
पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं
ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥४३॥

पुण्यकर्म करनेवाले द्विजश्रेष्ठ शरभङ्गने ब्रह्मलोकमें पार्षदों-सहित पितामह ब्रह्माजीका दर्शन किया । ब्रह्माजी भी उन ब्रह्मर्षिको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'महामुने ! तुम्हारा शुभ स्वागत है' ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

वानप्रस्थ मुनियोंका राक्षसोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना

**शरभङ्गे दिवं प्राप्ते मुनिसङ्घाः समागताः ।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥ १ ॥**

शरभङ्ग मुनिके ब्रह्मलोक चले जानेपर प्रज्वलित तेजवाले ककुत्स्थवंशी श्रीरामचन्द्रजीके पास बहुत-से मुनियोंके समुदाय पधारे ॥ १ ॥

**वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः ।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च तापसाः ॥ २ ॥
दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे ।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः ॥ ३ ॥
मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे ।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४ ॥
तथोर्ध्ववासिनो दान्तास्तथाऽऽर्द्रपटवाससः ।
सजपाश्च तपोनिष्ठास्तथा पञ्चतपोऽन्विताः ॥ ५ ॥**

उनमें वैखानस[1], वालखिल्य[2], सम्प्रक्षाल[3], मरीचिप[4], बहुसंख्यक अश्मकुट्ट[5], पत्राहार[6], दन्तोलूखली[7], उन्मज्जक[8], गात्रशय्य[9], अशय्य[10], अनवकाशिक[11], सलिलाहार[12], वायुभक्ष[13], आकाशनिलय[14], स्थण्डिलशायी[15], ऊर्ध्ववासी[16], दान्त[17], आर्द्रपटवासा[18], सजप[19], तपोनिष्ठ[20] और पञ्चाग्निसेवी[21]—इन सभी श्रेणियोंके तपस्वी मुनि थे ॥ २—५ ॥

**सर्वे ब्राह्म्या श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः ।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥ ६ ॥**

वे सभी तपस्वी ब्रह्मतेजसे सम्पन्न थे और सुदृढ़ योगके अभ्याससे उन सबका चित्त एकाग्र हो गया था । वे सब-के-सब शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजीके समीप आये ॥

**अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम् ।
ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समागताः ॥ ७ ॥**

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके पास आकर वे धर्मके ज्ञाता समागत ऋषिसमुदाय उनसे बोले—॥

**त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथः ।
प्रधानश्चापि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥ ८ ॥**

'रघुनन्दन ! आप इस इक्ष्वाकुवंशके साथ ही समस्त भूमण्डलके भी स्वामी, संरक्षक एवं प्रधान महारथी वीर हैं । जैसे इन्द्र देवताओंके रक्षक हैं उसी प्रकार आप मनुष्यलोककी रक्षा करनेवाले हैं ॥ ८ ॥

**विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च ।
पितृव्रतत्वं सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥ ९ ॥**

'आप अपने यश और पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात हैं । आपमें पिताकी आज्ञाके पालनका व्रत, सत्य भाषण तथा सम्पूर्ण धर्म विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

**त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम् ।
अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥**

'नाथ ! आप महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल हैं । हम आपके पास प्रार्थी होकर आये हैं; इसीलिये ये स्वार्थकी बात

---

१. ऋषियोंका एक समुदाय जो ब्रह्माजीके नखसे उत्पन्न हुआ है । २. ब्रह्माजीके बाल (रोम) से प्रकट हुए महर्षियोंका समूह । ३. जो भोजनके बाद अपने बर्तन धो-पोंछकर रख देते हैं, दूसरे समयके लिये कुछ नहीं बचाते । ४. सूर्य अथवा चन्द्रमाकी किरणोंका पान करके रहनेवाले । ५. कच्चे अन्नको पत्थरसे कूटकर खानेवाले । ६. पत्तोंका आहार करनेवाले । ७. दाँतोंसे ही ऊखलका काम लेनेवाले । ८. कण्ठतक पानीमें डूबकर तपस्या करनेवाले । ९. शरीरसे ही शय्याका काम लेनेवाले अर्थात् बिना बिछौनेके ही भुजापर सिर रखकर सोनेवाले । १०. शय्याके साधनोंसे रहित । ११. निरन्तर सत्कर्ममें लगे रहनेके कारण कभी अवकाश न पानेवाले । १२. जल पीकर रहनेवाले । १३. हवा पीकर जीवन-निर्वाह करनेवाले । १४. खुले मैदानमें रहनेवाले । १५. वेदीपर सोनेवाले । १६. पर्वतशिखर आदि ऊँचे स्थानोंमें निवास करनेवाले । १७. मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले । १८. सदा भीगे कपड़े पहननेवाले । १९. निरन्तर जप करनेवाले । २०. तपस्या अथवा परमात्मतत्त्वके विचारमें स्थित रहनेवाले । २१. गर्मीके मौसममें ऊपरसे सूर्यका और चारों ओरसे अग्निका ताप सहन करनेवाले ।

निवेदन करना चाहते हैं। आपको इसके लिये हमें क्षमा करना चाहिये ॥ १० ॥

अधर्मः सुमहान् नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः।
यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥ ११ ॥

'स्वामिन्! जो राजा प्रजासे उसकी आयका छठा भाग करके रूपमें ले ले और पुत्रकी भाँति प्रजाकी रक्षा न करे, उसे महान् अधर्मका भागी होना पड़ता है ॥ ११ ॥

युञ्जानः स्वानिव प्राणान् प्राणैरिष्टान् सुतानिव।
नित्ययुक्तः सदा रक्षन् सर्वान् विषयवासिनः ॥ १२ ॥
प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्तिं स बहुवार्षिकीम्।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते ॥ १३ ॥

'श्रीराम! जो भूपाल प्रजाकी रक्षाके कार्यमें संलग्न हो अपने राज्यमें निवास करनेवाले सब लोगोंको प्राणोंके समान अथवा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रोंके समान समझकर सदा सावधानीके साथ उनकी रक्षा करता है, वह बहुत वर्षोंतक स्थिर रहनेवाली अक्षय कीर्ति पाता है और अन्तमें ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ भी विशेष सम्मानका भागी होता है ॥ १२-१३ ॥

यत् करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ १४ ॥

'राजाके राज्यमें मुनि फल-मूलका आहार करके जिस उत्तम धर्मका अनुष्ठान करता है, उसका चौथा भाग धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनेवाले उस राजाको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान्।
त्वन्नाथोऽनाथवद् राम राक्षसैर्हन्यते भृशम् ॥ १५ ॥

'श्रीराम! इस वनमें रहनेवाला वानप्रस्थ महात्माओंका यह महान् समुदाय, जिसमें ब्राह्मणोंकी ही संख्या अधिक है तथा जिसके रक्षक आप ही हैं, राक्षसोंके द्वारा अनाथकी तरह मारा जा रहा है—इस मुनि-समुदायका बहुत अधिक मात्रामें संहार हो रहा है ॥ १५ ॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने ॥ १६ ॥

'आइये, देखिये, ये भयंकर राक्षसोंद्वारा बारंबार अनेक प्रकारसे मारे गये बहुसंख्यक पवित्रात्मा मुनियोंके शरीर (शव या कंकाल) दिखायी देते हैं ॥ १६ ॥

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि।
चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं महत् ॥ १७ ॥

'पम्पा सरोवर और उसके निकट बहनेवाली तुङ्गभद्रा नदीके तटपर जिनका निवास है, जो मन्दाकिनीके किनारे रहते हैं तथा जिन्होंने चित्रकूटपर्वतके किनारे अपना निवासस्थान बना लिया है, उन सभी ऋषि-महर्षियोंका राक्षसोंद्वारा महान् संहार किया जा रहा है ॥ १७ ॥

एवं वयं न मृष्यामो विप्रकारं तपस्विनाम्।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः ॥ १८ ॥

'इन भयानक कर्म करनेवाले राक्षसोंने इस वनमें तपस्वी मुनियोंका जो ऐसा भयंकर विनाशकाण्ड मचा रखा है, वह हमलोगोंसे सहा नहीं जाता है ॥ १८ ॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः।
परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः ॥ १९ ॥

'अतः इन राक्षसोंसे बचनेके लिये शरण लेनेके उद्देश्यसे हम आपके पास आये हैं। श्रीराम! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः इन निशाचरोंसे मारे जाते हुए हम मुनियोंकी रक्षा कीजिये ॥ १९ ॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते।
परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज ॥ २० ॥

'वीर राजकुमार! इस भूमण्डलमें हमें आपसे बढ़कर दूसरा कोई सहारा नहीं दिखायी देता। आप इन राक्षसोंसे हम सबको बचाइये' ॥ २० ॥

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां तपस्विनाम्।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥ २१ ॥

तपस्यामें लगे रहनेवाले उन तपस्वी मुनियोंकी ये बातें सुनकर ककुत्स्थकुलभूषण धर्मात्मा श्रीरामने उन सबसे कहा—॥ २१ ॥

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञाप्योऽहं तपस्विनाम्।
केवलेन स्वकार्येण प्रवेष्टव्यं वनं मया ॥ २२ ॥

'मुनिवरो! आपलोग मुझसे इस प्रकार प्रार्थना न करें। मैं तो तपस्वी महात्माओंका आज्ञापालक हूँ। मुझे केवल अपने ही कार्यसे वनमें तो प्रवेश करना ही है (इसके साथ ही आपलोगोंकी सेवाका सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो जायगा) ॥ २२ ॥

विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम्।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥ २३ ॥

'राक्षसोंके द्वारा जो आपको यह कष्ट पहुँच रहा है, इसे दूर करनेके लिये ही मैं पिताके आदेशका पालन करता हुआ इस वनमें आया हूँ ॥ २३ ॥

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥ २४ ॥

'आपलोगोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मैं दैवात् यहाँ आ पहुँचा हूँ। आपकी सेवाका अवसर मिलनेसे मेरे लिये यह वनवास महान् फलदायक होगा ॥ २४ ॥

तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान्।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः ॥ २५ ॥

'तपोधनो! मैं तपस्वी मुनियोंसे शत्रुता रखनेवाले उन राक्षसोंका युद्धमें संहार करना चाहता हूँ। आप सब महर्षि भाईसहित मेरा पराक्रम देखें' ॥ २५ ॥

दत्त्वा वरं चापि तपोधनानां
धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन।
तपोधनैश्चापि सहार्यदत्तः
सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः ॥ २६ ॥

इस प्रकार उन तपोधनोंको वर देकर धर्ममें मन लगानेवाले तथा श्रेष्ठ दान देनेवाले वीर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा तपस्वी महात्माओंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

सीता और भ्रातासहित श्रीरामका सुतीक्ष्णके आश्रमपर जाकर उनसे बातचीत करना तथा उनसे सत्कृत हो रातमें वहीं ठहरना

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परंतपः।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः ॥ १ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण, सीता तथा उन ब्राह्मणोंके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रमकी ओर चले ॥ १ ॥

स गत्वा दूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः।
ददर्श विमलं शैलं महामेरुमिवोन्नतम् ॥ २ ॥

वे दूरतकका मार्ग तै करके अगाध जलसे भरी हुई बहुत-सी नदियोंको पार करते हुए जब आगे गये, तब उन्हें महान् मेरुगिरिके समान एक अत्यन्त ऊँचा पर्वत दिखायी दिया, जो बड़ा ही निर्मल था ॥ २ ॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरौ सततं विविधैर्द्रुमैः।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ ॥ ३ ॥

वहाँसे आगे बढ़कर वे दोनों इक्ष्वाकुकुलके श्रेष्ठ वीर रघुवंशी बन्धु सीताके साथ नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए एक वनमें पहुँचे ॥ ३ ॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम्।
ददर्शाश्रममेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम् ॥ ४ ॥

उस घोर वनमें प्रविष्ट हो श्रीरघुनाथजीने एकान्त स्थानमें एक आश्रम देखा, जहाँके वृक्ष प्रचुर फल-फूलोंसे लदे हुए थे। इधर-उधर टँगे हुए चीर वस्त्रोंके समुदाय उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ४ ॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजधारिणम्।
रामः सुतीक्ष्णं विधिवत् तपोधनमभाषत ॥ ५ ॥

वहाँ आन्तरिक मलकी शुद्धिके लिये पद्मासन धारण किये सुतीक्ष्ण मुनि ध्यानमग्न होकर बैठे थे। श्रीरामने उन तपोधन मुनिके पास विधिवत् जाकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

रामोऽहमस्मि भगवन् भवन्तं द्रष्टुमागतः।
तन्माभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम ॥ ६ ॥

'सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ महर्षे! भगवन्! मैं राम हूँ और यहाँ आपका दर्शन करनेके लिये आया हूँ, अतः आप मुझसे बात कीजिये' ॥ ६ ॥

स निरीक्ष्य ततो धीरो रामं धर्मभृतां वरम्।
समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीरामका दर्शन करके धीर महर्षि सुतीक्ष्णने अपनी दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया और इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

स्वागतं ते रघुश्रेष्ठ राम सत्यभृतां वर।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम् ॥ ८ ॥

'सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ रघुकुलभूषण श्रीराम! आपका स्वागत है। इस समय आपके पदार्पण करनेसे यह आश्रम सनाथ हो गया ॥ ८ ॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले ॥ ९ ॥

'महायशस्वी वीर! मैं आपकी ही प्रतीक्षामें था, इसीलिये अबतक इस पृथ्वीपर अपने शरीरको त्यागकर मैं यहाँसे देवलोक (ब्रह्मधाम) में नहीं गया ॥ ९ ॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः।
इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः ॥ १० ॥

'मैंने सुना था कि आप राज्यसे भ्रष्ट हो चित्रकूट पर्वतपर आकर रहते हैं। काकुत्स्थ! यहाँ सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र आये थे ॥ १० ॥

उपागम्य च मे देवो महादेवः सुरेश्वरः।
सर्वाँल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा॥ ११॥

'वे महान् देवता देवेश्वर इन्द्रदेव मेरे पास आकर कह रहे थे कि 'तुमने अपने पुण्यकर्मके द्वारा समस्त शुभ लोकोंपर विजय पायी है' ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया।
मत्प्रसादात् सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः॥ १२॥

'उनके कथनानुसार मैंने तपस्यासे जिन देवर्षिसेवित लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन लोकोंमें आप सीता और लक्ष्मणके साथ विहार करें। मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वे सारे लोक आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ' ॥ १२ ॥

तमुग्रतपसं दीप्तं महर्षिं सत्यवादिनम्।
प्रत्युवाचात्मवान् रामो ब्रह्माणमिव वासवः॥ १३॥

जैसे इन्द्र ब्रह्माजीसे बात करते हैं, उसी प्रकार मनस्वी श्रीरामने उन उग्र तपस्यावाले तेजस्वी एवं सत्यवादी महर्षिको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने॥ १४॥

'महामुने! वे लोक तो मैं स्वयं ही आपको प्राप्त कराऊँगा, इस समय तो मेरी यह इच्छा है कि आप बतावें कि मैं इस वनमें अपने ठहरनेके लिये कहाँ कुटिया बनाऊँ?॥ १४ ॥

भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः।
आख्यातं शरभङ्गेन गौतमेन महात्मना॥ १५॥

'आप समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर तथा इहलोक और परलोककी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, यह बात मुझसे गौतमगोत्रीय महात्मा शरभङ्गने कही थी' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षेण महता युतः॥ १६॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन लोकविख्यात महर्षिने बड़े हर्षके साथ मधुर वाणीमें कहा—॥ १६ ॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवान् रम्यतामिति।
ऋषिसंघानुचरितः सदा मूलफलैर्युतः॥ १७॥

'श्रीराम! यही आश्रम सब प्रकारसे गुणवान् (सुविधाजनक) है, अतः आप यहीं सुखपूर्वक निवास कीजिये। यहाँ ऋषियोंका समुदाय सदा आता-जाता रहता है और फल-मूल भी सर्वदा सुलभ होते हैं॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसंघा महीयसः।
अहत्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वाकुतोभयाः॥ १८॥

'इस आश्रमपर बड़े-बड़े मृगोंके झुंड आते और अपने रूप, कान्ति एवं गतिसे मनको लुभाकर किसीको कष्ट दिये बिना ही यहाँसे लौट जाते हैं। उन्हें यहाँ किसीसे कोई भय नहीं प्राप्त होता है॥ १८ ॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः॥ १९॥
उवाच वचनं धीरो विगृह्य सशरं धनुः।

'इस आश्रममें मृगोंके उपद्रवके सिवा और कोई दोष नहीं है, यह आप निश्चितरूपसे जान लें।' महर्षिका यह वचन सुनकर लक्ष्मणके बड़े भाई धीर-वीर भगवान् श्रीरामने हाथमें धनुष-बाण लेकर कहा—॥ १९½ ॥

तानहं सुमहाभाग मृगसंघान् समागतान्॥ २०॥
हन्यां निशितधारेण शरेणानतपर्वणा।
भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात् कृच्छ्रतरं ततः॥ २१॥

'महाभाग! यहाँ आये हुए उन उपद्रवकारी मृग-समूहोंको यदि मैं झुकी हुई गाँठ और तीखी धारवाले बाणसे मार डालूँ तो इसमें आपका अपमान होगा। यदि ऐसा हुआ तो इससे बढ़कर कष्टकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है?॥ २०-२१ ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये।
तमेवमुक्त्वोपरमं रामः संध्यामुपागमत्॥ २२॥

'इसलिये मैं इस आश्रममें अधिक समय नहीं निवास करना चाहता।' मुनिसे ऐसा कहकर मौन हो श्रीरामचन्द्रजी संध्योपासना करने चले गये॥ २२ ॥

अन्वास्य पश्चिमां संध्यां तत्र वासमकल्पयत्।
सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च॥ २३॥

सायंकालकी संध्योपासना करके श्रीरामने सीता और लक्ष्मणके साथ सुतीक्ष्ण मुनिके उस रमणीय आश्रममें निवास किया॥ २३ ॥

ततः शुभं तापसयोग्यमन्नं
स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम्।
ताभ्यां सुसत्कृत्य ददौ महात्मा
संध्यानिवृत्तौ रजनीं समीक्ष्य॥ २४॥

संध्याका समय बीतनेपर रात हुई देख महात्मा सुतीक्ष्णने स्वयं ही तपस्वी-जनोंके सेवन करने योग्य शुभ अन्न ले आकर उन दोनों पुरुषशिरोमणि बन्धुओंको बड़े सत्कारके साथ अर्पित किया॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तमः सर्गः॥ ७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७॥

अष्टमः सर्गः

प्रातःकाल सुतीक्ष्णसे विदा ले श्रीराम, लक्ष्मण, सीताका वहाँसे प्रस्थान

रामस्तु सहसौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः।
परिणाम्य निशां तत्र प्रभाते प्रत्यबुध्यत ॥ १ ॥

सुतीक्ष्णके द्वारा भलीभाँति पूजित हो लक्ष्मणसहित श्रीराम उनके आश्रममें ही रात बिताकर प्रातःकाल जाग उठे ॥ १ ॥

उत्थाय च यथाकालं राघवः सह सीतया।
उपस्पृश्य सुशीतेन तोयेनोत्पलगन्धिना ॥ २ ॥
अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव वैदेही रामलक्ष्मणौ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने ॥ ३ ॥
उदयन्तं दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः।
सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ४ ॥

सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणने ठीक समयसे उठकर कमलकी सुगन्धसे सुवासित परम शीतल जलके द्वारा स्नान किया। तदनन्तर उन तीनोंने ही मिलकर विधिपूर्वक अग्नि और देवताओंकी प्रातःकालिक पूजा की। इसके बाद तपस्वीजनोंके आश्रयभूत वनमें उदित हुए सूर्यदेवका दर्शन करके वे तीनों निष्पाप पथिक सुतीक्ष्ण मुनिके पास गये और यह मधुर वचन बोले—॥ २—४ ॥

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः।
आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः ॥ ५ ॥

भगवन्! आपने पूजनीय होकर भी हमलोगोंकी पूजा की है। हम आपके आश्रममें बड़े सुखसे रहे हैं। अब हम यहाँसे जायँगे, इसके लिये आपकी आज्ञा चाहते हैं। ये मुनि हमें चलनेके लिये जल्दी मचा रहे हैं ॥ ५ ॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं कृत्स्नमाश्रममण्डलम्।
ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ६ ॥

'हमलोग दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले पुण्यात्मा ऋषियोंके सम्पूर्ण आश्रममण्डलका दर्शन करनेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ ६ ॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुंगवैः।
धर्मनित्यैस्तपोदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः ॥ ७ ॥

'अतः हमारी इच्छा है कि आप धूमरहित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्याद्वारा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले तथा नित्य-धर्मपरायण इन श्रेष्ठ महर्षियोंके साथ यहाँसे जानेके लिये हमें आज्ञा दें ॥ ७ ॥

अविषह्यातपो यावत् सूर्यो नातिविराजते।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः ॥ ८ ॥
तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः।
ववन्दे सहसौमित्रिः सीतया सह राघवः ॥ ९ ॥

'जैसे अन्यायसे आयी हुई सम्पत्तिको पाकर किसी नीच कुलके मनुष्यमें असह्य उग्रता आ जाती है, उसी प्रकार यह सूर्यदेव जबतक असह्य ताप देनेवाले होकर प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित न होने लगें, उसके पहले ही हम यहाँसे चल देना चाहते हैं।' ऐसा कहकर लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामने मुनिके चरणोंकी वन्दना की ॥ ८-९ ॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुंगवः।
गाढमाश्लिष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

अपने चरणोंका स्पर्श करते हुए श्रीराम और लक्ष्मण-को उठाकर मुनिवर सुतीक्ष्णने कसकर हृदयसे लगा लिया और बड़े स्नेहसे इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह।
सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया ॥ ११ ॥

'श्रीराम! आप छायाकी भाँति अनुसरण करनेवाली इस धर्मपत्नी सीता तथा सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ यात्रा कीजिये। आपका मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित परम मङ्गलमय हो ॥ ११ ॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम्।
एषां तपस्विनां वीर तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

'वीर! तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरणवाले दण्डकारण्यवासी, इन तपस्वी मुनियोंके रमणीय आश्रमोंका दर्शन कीजिये ॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च ॥ १३ ॥

'इस यात्रामें आप प्रचुर फल-मूलोंसे युक्त तथा फूलोंसे सुशोभित अनेक वन देखेंगे; वहाँ उत्तम मृगोंके झुंड विचरते होंगे और पक्षी शान्तभावसे रहते होंगे ॥ १३ ॥

फुल्लपङ्कजखण्डानि प्रसन्नसलिलानि च।
कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च ॥ १४ ॥

'आपको बहुत-से ऐसे तालाब और सरोवर दिखायी देंगे जिनमें प्रफुल्ल कमलोंके समूह शोभा दे रहे होंगे। उनमें स्वच्छ जल भरे होंगे तथा कारण्डव आदि जलपक्षी सब ओर फैल रहे होंगे ॥ १४ ॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्रवणानि च।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च ॥ १५ ॥

'नेत्रोंको रमणीय प्रतीत होनेवाले पहाड़ी झरनों और मोरोंकी मीठी बोलीसे गूँजती हुई सुरम्य वनस्थलियोंको भी आप देखेंगे ॥ १५ ॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु ।
आगन्तव्यं च ते दृष्ट्वा पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ १६ ॥

'श्रीराम ! जाइये, वत्स सुमित्राकुमार ! तुम भी जाओ । दण्डकारण्यके आश्रमोंका दर्शन करके आपलोगोंको फिर इसी आश्रममें आ जाना चाहिये' ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने 'बहुत अच्छा' कहकर मुनिकी परिक्रमा की और वहाँसे प्रस्थान करनेकी तैयारी की ॥ १७ ॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा ।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः ॥ १८ ॥

तदनन्तर विशाल नेत्रोंवाली सीताने उन दोनों भाइयोंके हाथमें दो परम सुन्दर तूणीर, धनुष और चमचमाते हुए खड्ग प्रदान किये ॥ १८ ॥

आबध्य च शुभे तूणी चापे चादाय सस्वने ।
निष्क्रान्तावाश्रमाद् गन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

उन सुन्दर तूणीरोंको पीठपर बाँधकर टंकारते हुए धनुषोंको हाथमें ले वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आश्रमसे बाहर निकले ॥ १९ ॥

शीघ्रं तौ रूपसम्पन्नावनुज्ञातौ महर्षिणा ।
प्रस्थितौ धृतचापासी सीतया सह राघवौ ॥ २० ॥

वे दोनों रघुवंशी वीर बड़े ही रूपवान् थे, उन्होंने खड्ग और धनुष धारण करके महर्षिकी आज्ञा ले सीताके साथ शीघ्र ही वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

21-6

नवमः सर्गः

सीताका श्रीरामसे निरपराध प्राणियोंको न मारने और अहिंसा-धर्मका पालन करनेके लिये अनुरोध

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम् ।
हृद्यया स्निग्धया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

सुतीक्ष्णकी आज्ञा लेकर वनकी ओर प्रस्थित हुए अपने स्वामी रघुकुलनन्दन श्रीरामसे सीताने स्नेहभरी मनोहर वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान् ।
निवृत्तेन च शक्योऽयं व्यसनात् कामजादिह ॥ २ ॥

'आर्यपुत्र ! यद्यपि आप महान् पुरुष हैं तथापि अत्यन्त सूक्ष्म विधिसे विचार करनेपर आप अधर्मको प्राप्त हो रहे हैं। जब कामजनित व्यसनसे आप सर्वथा निवृत्त हैं, तब यहाँ इस अधर्मसे भी बच सकते हैं ॥ २ ॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत ।
मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद् गुरुतरावुभौ ॥ ३ ॥
परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता ।
मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघवः ॥ ४ ॥

'इस जगत्में कामसे उत्पन्न होनेवाले तीन ही व्यसन होते हैं । मिथ्याभाषण बहुत बड़ा व्यसन है, किंतु उससे भी भारी दो व्यसन और हैं—परस्त्रीगमन और बिना वैरके ही दूसरोंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव । रघुनन्दन ! इनमेंसे मिथ्या-भाषणरूप व्यसन तो न आपमें कभी हुआ है और न आगे होगा ही ॥ ३-४ ॥

कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत् ते कदाचन ॥ ५ ॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित् ।
स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज ॥ ६ ॥
धर्मिष्ठः सत्यसंधश्च पितुर्निर्देशकारकः ।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ७ ॥

'परस्त्रीविषयक अभिलाषा तो आपको हो ही कैसे सकती है ? नरेन्द्र ! धर्मका नाश करनेवाली यह कुत्सित इच्छा न आपके मनमें कभी हुई थी, न है और न भविष्यमें कभी होनेकी सम्भावना ही है । राजकुमार श्रीराम ! यह दोष तो आपके मनमें भी कभी उदित नहीं हुआ है । (फिर वाणी और क्रियामें कैसे आ सकता है ?) आप सदा ही अपनी धर्मपत्नीमें अनुरक्त रहनेवाले, धर्मनिष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ तथा पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। आपमें धर्म और सत्य दोनोंकी स्थिति है । आपमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥

तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं वोढुं जितेन्द्रियैः ।
तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन ॥ ८ ॥

'महाबाहो ! जो लोग जितेन्द्रिय हैं, वे सदा सत्य और धर्मको पूर्णरूपसे धारण कर सकते हैं । शुभदर्शी महापुरुष ! आपकी जितेन्द्रियताको मैं अच्छी तरह जानती हूँ (इसीलिये मुझे विश्वास है कि आपमें पूर्वोक्त दोनों दोष कदापि नहीं रह सकते) ॥ ८ ॥

तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम् ।
निर्वैरं क्रियते मोहात् तच्च ते समुपस्थितम् ॥ ९ ॥

'परंतु दूसरोंके प्राणोंकी हिंसारूप जो यह तीसरा भयंकर

दोष है, उसे लोग मोहवश बिना वैर-विरोधके भी किया करते हैं। वही दोष आपके सामने भी उपस्थित है ॥ ९ ॥

प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम्।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ॥ १० ॥

'वीर! आपने दण्डकारण्यनिवासी ऋषियोंकी रक्षाके लिये युद्धमें राक्षसोंका वध करनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १० ॥

एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम्।
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतबाणशरासनः ॥ ११ ॥

'इसीके लिये आप भाईके साथ धनुष-बाण लेकर दण्डकारण्यके नामसे विख्यात वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं ॥ ११ ॥

ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः।
त्वद्वृत्तं चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम् ॥ १२ ॥

'अतः आपको इस घोर कर्मके लिये प्रस्थित हुआ देख मेरा चित्त चिन्तासे व्याकुल हो उठा है। आपके प्रतिज्ञा-पालनरूप व्रतका विचार करके मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि कैसे आपका कल्याण हो? ॥ १२ ॥

नहि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान् प्रति।
कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम ॥ १३ ॥

'वीर! मुझे इस समय आपका दण्डकारण्यमें जाना अच्छा नहीं लगता है। इसका क्या कारण है—यह बता रही हूँ; आप मेरे मुँहसे सुनिये ॥ १३ ॥

त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः।
दृष्ट्वा वनचरान् सर्वान् कच्चित् कुर्याः शरव्ययम् ॥ १४ ॥

'आप हाथमें धनुष-बाण लेकर अपने भाईके साथ वनमें आये हैं। सम्भव है, समस्त वनचारी राक्षसोंको देखकर कदाचित् आप उनके प्रति अपने बाणोंका प्रयोग कर बैठें ॥

क्षत्रियाणामिह धनुर्हुताशस्येन्धनानि च।
समीपतः स्थितं तेजोबलमुच्छ्रयते भृशम् ॥ १५ ॥

'जैसे आगके समीप रखे हुए ईंधन उसके तेजरूप बलको अत्यन्त उद्दीप्त कर देते हैं, उसी प्रकार जहाँ क्षत्रियोंके पास धनुष हो तो वह उनके बल और प्रतापको उद्दीपित कर देता है ॥ १५ ॥

पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यवाक्छुचिः।
कस्मिंश्चिदभवत् पुण्ये वने रतमृगद्विजे ॥ १६ ॥

'महाबाहो! पूर्वकालकी बात है, किसी पवित्र वनमें, जहाँ मृग और पक्षी बड़े आनन्दसे रहते थे, एक सत्यवादी एवं पवित्र तपस्वी निवास करते थे ॥ १६ ॥

तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः।
खड्गपाणिरथागच्छदाश्रमं भटरूपधृक् ॥ १७ ॥

'उन्हींकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये शचीपति इन्द्र किसी योद्धाका रूप धारण करके हाथमें तलवार लिये एक दिन उनके आश्रमपर आये ॥ १७ ॥

तस्मिंस्तदाश्रमपदे निहितः खड्ग उत्तमः।
स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि तिष्ठतः ॥

'उन्होंने मुनिके आश्रममें अपना उत्तम खड्ग रख दिया। पवित्र तपस्यामें लगे हुए मुनिको धरोहरके रूपमें वह खड्ग दे दिया ॥ १८ ॥

स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः।
वने तु विचरत्येव रक्षन् प्रत्ययमात्मनः ॥ १९ ॥

'उस शस्त्रको पाकर मुनि उस धरोहरकी रक्षामें लग गये। वे अपने विश्वासकी रक्षाके लिये वनमें विचरते समय भी उसे साथ रखते थे ॥ १९ ॥

यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च।
न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः ॥ २० ॥

'धरोहरकी रक्षामें तत्पर रहनेवाले वे मुनि फल-मूल लानेके लिये जहाँ-कहीं भी जाते, उस खड्गको साथ लिये बिना नहीं जाते थे ॥ २० ॥

नित्यं शस्त्रं परिवहन् क्रमेण स तपोधनः।
चकार रौद्रीं स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम् ॥ २१ ॥

'तप ही जिनका धन था, उन मुनिने प्रतिदिन शस्त्र ढोते रहनेके कारण क्रमशः तपस्याका निश्चय छोड़कर अपनी बुद्धिको क्रूरतापूर्ण बना लिया ॥ २१ ॥

ततः स रौद्राभिरतः प्रमत्तोऽधर्मकर्षितः।
तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः ॥ २२ ॥

'फिर तो अधर्मने उन्हें आकृष्ट कर लिया। वे मुनि प्रमादवश रौद्र-कर्ममें तत्पर हो गये और उस शस्त्रके सहवाससे उन्हें नरकमें जाना पड़ा ॥ २२ ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं शस्त्रसंयोगकारणम्।
अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते ॥ २३ ॥

'इस प्रकार शस्त्रका संयोग होनेके कारण पूर्वकालमें उन तपस्वी मुनिको ऐसी दुर्दशा भोगनी पड़ी। जैसे आगका संयोग ईंधनोंको जलानेका कारण होता है, उसी प्रकार शस्त्रोंका संयोग शस्त्रधारीके हृदयमें विकारका उत्पादक कहा गया है ॥

स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां तु शिक्षये।
न कथंचन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ॥ २४ ॥
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान्।
अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मंस्यते ॥ २५ ॥

'मेरे मनमें आपके प्रति जो स्नेह और विशेष आदर है, उसके कारण मैं आपको उस प्राचीन घटनाकी याद दिलाती हूँ तथा यह शिक्षा भी देती हूँ कि आपको धनुष लेकर किसी तरह बिना वैरके ही दण्डकारण्यवासी राक्षसोंके वधका

चाहिये । वीरवर ! बिना अपराधके ही ...संसारके लोग अच्छा नहीं समझेंगे ॥२४-२५॥

...णां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम् ।
...नुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम् ॥ २६ ॥

'अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले क्षत्रिय वीरोंके लिये वनमें धनुष धारण करनेका इतना ही प्रयोजन है कि वे संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करें ॥

...च शस्त्रं क च वनं क च क्षात्रं तपः क च ।
...द्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ॥ २७ ॥

'कहाँ शस्त्र-धारण और कहाँ वनवास ! कहाँ क्षत्रियका हिंसामय कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दया करनारूप तप—ये परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं । अतः हमलोगोंको देशधर्मका ही आदर करना चाहिये (इस समय हम तपोवन-रूप देशमें निवास करते हैं, अतः यहाँके अहिंसामय धर्मका पालन करना ही हमारा कर्तव्य है) ॥ २७ ॥

कदर्यकलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ।
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ॥ २८ ॥

'केवल शस्त्रका सेवन करनेसे मनुष्यकी बुद्धि कृपण पुरुषोंके समान कलुषित हो जाती है; अतः आप अयोध्यामें चलनेपर ही पुनः क्षात्रधर्मका अनुष्ठान कीजियेगा ॥ २८ ॥

अक्षया तु भवेत् प्रीतिः श्वश्रूश्वशुरयोर्मम ।
यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः ॥२९॥

'राज्य त्यागकर वनमें आ जानेपर यदि आप मुनि-वृत्तिसे ही रहें तो इससे मेरी सास और श्वशुरको अक्षय प्रसन्नता होगी ॥ २९ ॥

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥ ३० ॥

'धर्मसे अर्थ प्राप्त होता है, धर्मसे सुखका उदय होता है और धर्मसे ही मनुष्य सब कुछ पा लेता है । इस संसारमें धर्म ही सार है ॥ ३० ॥

आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्शयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥ ३१ ॥

'चतुर मनुष्य भिन्न-भिन्न वानप्रस्थोचित नियमोंके द्वारा अपने शरीरको क्षीण करके यत्नपूर्वक धर्मका सम्पादन करते हैं; क्योंकि सुखदायक साधनसे सुखके हेतुभूत धर्मकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३१ ॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने ।
सर्वं तु विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यामपि तत्त्वतः ॥ ३२ ॥

'सौम्य ! प्रतिदिन शुद्धचित्त होकर तपोवनमें धर्मका अनुष्ठान कीजिये । त्रिलोकीमें जो कुछ भी है, आपको तो वह सब कुछ यथार्थरूपसे विदित ही है ॥ ३२ ॥

स्त्रीचापलादेतदुपाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः ।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन
यद् रोचते तत् कुरु माचिरेण ॥

'मैंने नारीजातिकी स्वाभाविक चपलताके कारण ही आपकी सेवामें ये बातें निवेदन कर दी हैं । वास्तवमें आपको धर्मका उपदेश करनेमें कौन समर्थ है ? आप इस विषयमें अपने छोटे भाईके साथ बुद्धिपूर्वक विचार कर लें । फिर आपको जो ठीक जँचे, उसे ही शीघ्रतापूर्वक करें' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

श्रीरामका ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वधके निमित्त की हुई प्रतिज्ञाके पालनपर दृढ़ रहनेका विचार प्रकट करना

वाक्यमेतत् तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया ।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ जानकीम् ॥ १ ॥

अपने स्वामीके प्रति भक्ति रखनेवाली विदेहकुमारी सीताकी कही हुई यह बात सुनकर सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने जानकीको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः ।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥ २ ॥

'देवि ! धर्मको जाननेवाली जनककिशोरी ! तुम्हारा मेरे ऊपर स्नेह है, इसलिये तुमने मेरे हितकी बात कही है । क्षत्रियोंके कुलधर्मका उपदेश करती हुई तुमने जो कुछ कहा है, वह तुम्हारे ही योग्य है ॥ २ ॥

किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ॥ ३ ॥

'देवि ! मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँ, तुमने ही पहले यह बात कही है कि क्षत्रियलोग इसलिये धनुष धारण करते हैं कि किसीको दुखी होकर हाहाकार न

करना पड़े (यदि कोई दुःख या संकटमें पड़ा हो तो उसकी रक्षा की जाय) ॥ ३ ॥

ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ।
मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः ॥ ४ ॥

'सीते ! दण्डकारण्यमें रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे मुनि बहुत दुखी हैं, इसीलिये मुझे शरणागतवत्सल जानकर वे स्वयं मेरे पास आये और शरणागत हुए ॥ ४ ॥

वसन्तः कालकालेषु वने मूलफलाशनाः ।
न लभन्ते सुखं भीरु राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ ५ ॥
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ।

'भीरु ! सदा ही वनमें रहकर फल-मूलका आहार करनेवाले वे मुनि इन क्रूरकर्मा राक्षसोंके कारण कभी सुख नहीं पाते हैं । मनुष्योंके मांससे जीवननिर्वाह करनेवाले ये भयानक राक्षस उन्हें मारकर खा जाते हैं ॥ ५½ ॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ॥ ६ ॥
अस्मानभ्यवपद्येति मामूचुर्द्विजसत्तमाः ।

'उन राक्षसोंके ग्रास बने हुए वे दण्डकारण्यवासी द्विज-श्रेष्ठ मुनि हमलोगोंके पास आकर मुझसे बोले—'प्रभो ! हमपर अनुग्रह कीजिये' ॥ ६½ ॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम् ॥ ७ ॥
कृत्वा वचनशुश्रूषां वाक्यमेतदुदाहृतम् ।

'उनके मुखसे निकली हुई इस प्रकार रक्षाकी पुकार सुनकर और उनकी आज्ञा-पालनरूपी सेवाका विचार मनमें लेकर मैंने उनसे यह बात कही ॥ ७½ ॥

प्रसीदन्तु भवन्तो मे ह्रीरेषा तु ममातुला ॥ ८ ॥
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयैरुपस्थितः ।
किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसंनिधौ ॥ ९ ॥

'महर्षियो ! आप-जैसे ब्राह्मणोंकी सेवामें मुझे स्वयं ही उपस्थित होना चाहिये था, परंतु आप स्वयं ही अपनी रक्षाके लिये मेरे पास आये, यह मेरे लिये अनुपम लज्जाकी बात है अतः आप प्रसन्न हों । बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ?' यह बात मैंने उन ब्राह्मणोंके सामने कही ॥ ८-९ ॥

सर्वैरेव समागम्य वागियं समुदाहृता ।
राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ॥ १० ॥
अर्दिताः स्म भृशं राम भवान् नस्तत्र रक्षतु ।

'तब उन सभीने मिलकर अपना मनोभाव इन वचनोंमें प्रकट किया—'श्रीराम ! दण्डकारण्यमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुत-से राक्षस रहते हैं । उनसे हमें बड़ा कष्ट पहुँच रहा है, अतः वहाँ उनके भयसे आप हमारी रक्षा करें ॥ १०½ ॥

होमकाले तु सम्प्राप्ते पर्वकालेषु चानघ ॥ ११ ॥
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः ।

'निष्पाप रघुनन्दन ! अग्निहोत्रका समय आनेपर तथा पर्वके अवसरोंपर ये अत्यन्त दुर्धर्ष मांसभोजी राक्षस हमें धर दबाते हैं ॥ ११½ ॥

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् ॥ १२ ॥
गतिं मृगयमाणानां भवान् नः परमा गतिः ।

'राक्षसोंद्वारा आक्रान्त होनेवाले हम तपस्वी तापस सदा अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़ते रहते हैं, अतः आप ही हमारे परम आश्रय हों ॥१२½ ॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ॥ १३ ॥
चिरार्जितं न चेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम् ।
बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन ! यद्यपि हम तपस्याके प्रभावसे इच्छानुसार इन राक्षसोंका वध करनेमें समर्थ हैं तथापि चिरकालसे उपार्जित किये हुए तपको खण्डित करना नहीं चाहते हैं; क्योंकि तपमें सदा ही बहुत-से विघ्न आते रहते हैं तथा इसका सम्पादन बहुत ही कठिन होता है ॥ १३-१४ ॥

तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः ।
तदर्द्यमानान् रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः ॥ १५ ॥
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने ।

'यही कारण है कि राक्षसोंके ग्रास बन जानेपर भी हम उन्हें शाप नहीं देते हैं, इसलिये दण्डकारण्यवासी निशाचरोंसे पीड़ित हुए हम तापसोंकी भाईसहित आप रक्षा करें; क्योंकि इस वनमें अब आप ही हमारे रक्षक हैं' ॥ १५½ ॥

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम् ॥ १६ ॥
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ।

'जनकनन्दिनि ! दण्डकारण्यमें ऋषियोंकी यह बात सुनकर मैंने पूर्णरूपसे उनकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की है ॥ १६½ ॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ॥ १७ ॥
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ।

'मुनियोंके सामने यह प्रतिज्ञा करके अब मैं जीते-जी इस प्रतिज्ञाको मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्यका पालन मुझे सदा ही प्रिय है ॥ १७½ ॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ॥१८॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।

'सीते ! मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ, किंतु अपनी प्रतिज्ञाको, विशेषतः ब्राह्मणोंके लिये की गयी प्रतिज्ञाको मैं कदापि नहीं तोड़ सकता ॥ १८½ ॥

...दवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ॥ १९ ॥
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः ।

'इसलिये ऋषियोंकी रक्षा करना मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य है । विदेहनन्दिनि ! ऋषियोंके बिना कहे ही उनकी मुझे रक्षा करनी चाहिये थी; फिर जब उन्होंने स्वयं कहा और मैंने प्रतिज्ञा भी कर ली, तब अब उनकी रक्षासे कैसे मुँह मोड़ सकता हूँ ॥ १९½ ॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वया वचः ॥ २० ॥
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनुशास्यते ।

'सीते ! तुमने स्नेह और सौहार्दवश जो मुझसे ये बातें कही हैं, इससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; क्योंकि जो अपना प्रिय न हो, उसे कोई हितकर उपदेश नहीं देता ॥ २०½ ॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव शोभने ।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २१ ॥

'शोभने ! तुम्हारा यह कथन तुम्हारे योग्य तो है ही, तुम्हारे कुलके भी सर्वथा अनुरूप है । तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो' ॥ २१ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम् ।
रामो धनुष्मान् सह लक्ष्मणेन
जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥ २२ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिया मिथिलेश-कुमारी सीतासे ऐसा वचन कहकर हाथमें धनुष ले लक्ष्मणके साथ रमणीय तपोवनोंमें विचरण करने लगे ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

पञ्चाप्सर तीर्थ एवं माण्डकर्णि मुनिकी कथा, विभिन्न आश्रमोंमें घूमकर श्रीराम आदिका सुतीक्ष्णके आश्रममें आना, वहाँ कुछ कालतक रहकर उनकी आज्ञासे अगस्त्यके भाई तथा अगस्त्यके आश्रमपर जाना तथा अगस्त्यके प्रभावका वर्णन

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुशोभना ।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥ १ ॥

तदनन्तर आगे-आगे श्रीराम चले, बीचमें परम सुन्दरी सीता चल रही थीं और उनके पीछे हाथमें धनुष लिये लक्ष्मण चलने लगे ॥ १ ॥

तौ पश्यमानौ विविधाञ्शैलप्रस्थान् वनानि च ।
नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सह सीतया ॥ २ ॥

सीताके साथ वे दोनों भाई भाँति-भाँतिके पर्वतीय शिखरों, वनों तथा नाना प्रकारकी रमणीय नदियोंको देखते हुए अग्रसर होने लगे ॥ २ ॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः ।
सरांसि च सपद्मानि युतानि जलजैः खगैः ॥ ३ ॥

उन्होंने देखा, कहीं नदियोंके तटोंपर सारस और चक्रवाक विचर रहे हैं और कहीं खिले हुए कमलों और जलचर पक्षियोंसे युक्त सरोवर शोभा पाते हैं ॥ ३ ॥

यूथबद्धांश्च पृषतान् मदोन्मत्तान् विषाणिनः ।
महिषांश्च वराहांश्च गजांश्च द्रुमवैरिणः ॥ ४ ॥

कहीं चितकबरे मृग यूथ बाँधे चले जा रहे थे, कहीं बड़े-बड़े सींगवाले मदमत्त भैंसे तथा बढ़े हुए दाँतवाले जंगली सूअर और वृक्षोंके वैरी दन्तार हाथी दिखायी देते थे ॥ ४ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।
ददृशुः सहिता रम्यं तटाकं योजनायुतम् ॥ ५ ॥

दूरतक यात्रा ते करनेके बाद जब सूर्य अस्ताचलको जाने लगे, तब उन तीनोंने एक साथ देखा—सामने एक बड़ा ही सुन्दर तालाब है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजन-की जान पड़ती है ॥ ५ ॥

पद्मपुष्करसम्बाधं गजयूथैरलंकृतम् ।
सारसैर्हंसकादम्बैः संकुलं जलजातिभिः ॥ ६ ॥

वह सरोवर लाल और श्वेत कमलोंसे भरा हुआ था । उसमें क्रीड़ा करते हुए झुंड-के-झुंड हाथी उसकी शोभा बढ़ाते थे तथा सारस, राजहंस और कलहंस आदि पक्षियों एवं जलमें उत्पन्न होनेवाले मत्स्य आदि जन्तुओंसे वह व्याप्त दिखायी देता था ॥ ६ ॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन् सरसि शुश्रुवे ।
गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥ ७ ॥

स्वच्छ जलसे भरे हुए उस रमणीय सरोवरमें गाने-बजानेका शब्द सुनायी देता था, किंतु कोई दिखायी नहीं दे रहा था ॥ ७ ॥

ततः कौतूहलाद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः।
मुनिं धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ ८॥

तब श्रीराम और महारथी लक्ष्मणने कौतूहलवश अपने साथ आये हुए धर्मभृत् नामक मुनिसे पूछना आरम्भ किया—॥ ८॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने।
कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम्॥ ९॥

'महामुने! यह अत्यन्त अद्भुत संगीतकी ध्वनि सुनकर हम सब लोगोंको बड़ा कौतूहल हो रहा है। यह क्या है, इसे अच्छी तरह बताइये'॥ ९॥

तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा।
प्रभावं सरसः क्षिप्रमाख्यातुमुपचक्रमे॥ १०॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मात्मा धर्मभृत् नामक मुनिने तुरंत ही उस सरोवरके प्रभावका वर्णन आरम्भ किया—॥ १०॥

इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम्।
निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना॥ ११॥

'श्रीराम! यह पञ्चाप्सर नामक सरोवर है, जो सर्वदा अगाध जलसे भरा रहता है। माण्डकर्णिनामक मुनिने अपने तपके द्वारा इसका निर्माण किया था॥ ११॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः।
दशवर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाशये॥ १२॥

'महामुनि माण्डकर्णिने एक जलाशयमें रहकर केवल वायुका आहार करते हुए दस सहस्र वर्षोंतक तीव्र तपस्या की थी॥ १२॥

ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः।
अब्रुवन् वचनं सर्वे परस्परसमागताः॥ १३॥

'उस समय अग्नि आदि सब देवता उनके तपसे अत्यन्त व्यथित हो उठे और आपसमें मिलकर वे सब-के-सब इस प्रकार कहने लगे॥ १३॥

अस्माकं कस्यचित् स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः।
इति संविग्नमनसः सर्वे तत्र दिवौकसः॥ १४॥

'जान पड़ता है, ये मुनि हमलोगोंमेंसे किसीके स्थानको लेना चाहते हैं, ऐसा सोचकर वे सब देवता वहाँ मन-ही-मन उद्विग्न हो उठे॥ १४॥

ततः कर्तुं तपोविघ्नं सर्वदेवैर्नियोजिताः।
प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युच्चलितवर्चसः॥ १५॥

'तब उनकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सम्पूर्ण देवताओंने पाँच प्रधान अप्सराओंको नियुक्त किया, जिनकी अङ्गकान्ति विद्युत्के समान चञ्चल थी॥ १५॥

अप्सरोभिस्ततस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः।
नीतो मदनवश्यत्वं देवानां कार्यसिद्धये॥ १६॥

'तदनन्तर जिन्होंने लौकिक एवं पारलौकिक धर्माधर्मका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उन मुनिको उन पाँच अप्सराओंने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये कामके अधीन कर दिया॥ १६॥

ताश्चैवाप्सरसः पञ्च मुनेः पत्नीत्वमागताः।
तटाके निर्मितं तासां तस्मिन्नन्तर्हितं गृहम्॥ १७॥

'मुनिकी पत्नी बनी हुई वे ही पाँच अप्सराएँ यहाँ रहती हैं। उनके रहनेके लिये इस तालाबके भीतर घर बना हुआ है, जो जलके अंदर छिपा हुआ है॥ १७॥

तत्रैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम्।
रमयन्ति तपोयोगान्मुनिं यौवनमास्थितम्॥ १८॥

'उसी घरमें सुखपूर्वक रहती हुई पाँचों अप्सराएँ तपस्याके प्रभावसे युवावस्थाको प्राप्त हुए मुनिको अपनी सेवाओंसे संतुष्ट करती हैं॥ १८॥

तासां संक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः।
श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः॥ १९॥

'क्रीड़ा-विहारमें लगी हुई उन अप्सराओंके ही वाद्योंकी यह ध्वनि सुनायी देती है, जो भूषणोंकी झनकारके साथ मिली हुई है। साथ ही उनके गीतका भी मनोहर शब्द सुन पड़ता है'॥ १९॥

आश्चर्यमिति तस्यैतद् वचनं भावितात्मनः।
राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः॥ २०॥

अपने भाईके साथ महायशस्वी श्रीरघुनाथजीने उन भावितात्मा महर्षिके इस कथनको 'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' यों कहकर स्वीकार किया॥ २०॥

एवं कथयमानः स ददर्शाश्रममण्डलम्।
कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम्॥ २१॥

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीको एक आश्रम-मण्डल दिखायी दिया, जहाँ सब ओर कुश और वल्कल वस्त्र फैले हुए थे। वह आश्रम ब्राह्मी लक्ष्मी (ब्रह्मतेज) से प्रकाशित होता था॥ २१॥

प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः।
तदा तस्मिन् स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले॥ २२॥
उषित्वा स सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः।

विदेहनन्दिनी सीता तथा लक्ष्मणके साथ उस तेजस्वी आश्रममण्डलमें प्रवेश करके ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने उस समय सुखपूर्वक निवास किया। वहाँके महर्षियोंने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया॥ २२½॥

…ाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २३ ॥
…षामुषितवान् पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित् ।

तदनन्तर महान् अस्त्रोंके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रजी बारी-बारीसे उ… बोल…तः, …ी मुनियोंके आश्रमोंपर गये, जिनके यहाँ वे पह… उनके पास भी (उनकी भक्ति देख) दुबारा जाकर रहे ॥ २३½ ॥

क्वचित् परिदशान् मासानेकसंवत्सरं क्वचित् ॥ २४ ॥
क्वचिच्च चतुरो मासान् पञ्च षट् च परान् क्वचित् ।
अपरत्राधिकान् मासानध्यर्धमधिकं क्वचित् ॥ २५ ॥
त्रीन् मासानष्टमासांश्च राघवोन्यवसत् सुखम् ।

… कहीं दस महीने, कहीं सालभर, कहीं चार महीने, कहीं पाँच या छः महीने, कहीं इससे भी अधिक समय (अर्थात् सात महीने), कहीं उससे भी अधिक (आठ … कहीं आधे मास अधिक अर्थात् साढ़े आठ महीने, …महीने और कहीं आठ और तीन अर्थात् ग्यारह …रामचन्द्रजीने सुखपूर्वक निवास किया २४-२५½

…संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २६ ॥
…तश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।

इस प्रकार मुनियोंके आश्रमोंपर रहते और अनुकूलता पाकर आनन्दका अनुभव करते हुए उनके दस वर्ष बीत गये ॥ २६½ ॥

परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २७ ॥
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं पुनरेवाजगाम ह ।

इस प्रकार सब ओर घूम-फिरकर धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीराम सीताके साथ फिर सुतीक्ष्णके आश्रमपर ही लौट आये ॥ २७½ ॥

स तमाश्रममागम्य मुनिभिः परिपूजितः ॥ २८ ॥
तत्रापि न्यवसद् रामः किंचित् कालमरिंदमः ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीराम उस आश्रममें आकर वहाँ रहनेवाले मुनियोंद्वारा भलीभाँति सम्मानित हो वहाँ भी कुछ कालतक रहे ॥ २८½ ॥

अथाश्रमस्थो विनयात् कदाचित् तं महामुनिम् ॥ २९ ॥
उपासीनः स काकुत्स्थः सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।

उस आश्रममें रहते हुए श्रीरामने एक दिन महामुनि सुतीक्ष्णके पास बैठकर विनीतभावसे कहा— ॥ २९½ ॥

अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ३० ॥
वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥ ३१ ॥

'भगवन् ! मैंने प्रतिदिन बातचीत करनेवाले लोगोंके मुँहसे सुना है कि इस वनमें कहीं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी निवास करते हैं; किंतु इस वनकी विशालताके कारण मैं उस स्थानको नहीं जानता हूँ ॥ ३०-३१ ॥

कुत्राश्रमपदं रम्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।
प्रसादार्थं भगवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३२ ॥
अगस्त्यमधिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।
मनोरथो महानेष हृदि सम्परिवर्तते ॥ ३३ ॥

'उन बुद्धिमान् महर्षिका सुन्दर आश्रम कहाँ है ? मैं लक्ष्मण और सीताके साथ भगवान् अगस्त्यको प्रसन्न करनेके लिये उन मुनीश्वरको प्रणाम करनेके उद्देश्यसे उनके आश्रमपर जाऊँ—यह महान् मनोरथ मेरे हृदयमें चक्कर लगा रहा है ॥ ३२-३३ ॥

यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम् ।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥ ३४ ॥
सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।

'मैं चाहता हूँ कि स्वयं भी मुनिवर अगस्त्यकी सेवा करूँ ।' धर्मात्मा श्रीरामका यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन दशरथनन्दनसे इस प्रकार बोले—॥ ३४½ ॥

अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥ ३५ ॥
अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन् स्वयमेव ब्रवीषि माम् ॥

'रघुनन्दन ! मैं भी लक्ष्मणसहित आपसे यही कहना चाहता था कि आप सीताके साथ महर्षि अगस्त्यके पास जायँ । सौभाग्यकी बात है कि इस समय आप स्वयं ही मुझसे वहाँ जानेके विषयमें पूछ रहे हैं ॥ ३५-३६ ॥

अयमाख्यामि ते राम यत्रागस्त्यो महामुनिः ।
योजनान्याश्रमात् तात याहि चत्वारि वै ततः ।
दक्षिणेन महाञ्छ्रीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः ॥ ३७ ॥

'श्रीराम ! महामुनि अगस्त्य जहाँ रहते हैं, उस आश्रमका पता मैं अभी आपको बताये देता हूँ । तात ! इस आश्रमसे चार योजन दक्षिण चले जाइये । वहाँ आपको अगस्त्यके भाईका बहुत बड़ा एवं सुन्दर आश्रम मिलेगा ॥

स्थलीप्रायवनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ।
बहुपुष्पफले रम्ये नानाविहगनादिते ॥ ३८ ॥
पद्मिन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाशयाः ।
हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३९ ॥

'वहाँके वनकी भूमि प्रायः समतल है तथा पिप्पलीका वन उस आश्रमकी शोभा बढ़ाता है । वहाँ फूलों और फलोंकी बहुतायत है । नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरवोंसे गूँजते हुए उस रमणीय आश्रमके पास भाँति-भाँतिके कमलमण्डित सरोवर हैं, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं । हंस और कारण्डव आदि पक्षी उनमें सब ओर फैले हुए हैं तथा चक्रवाक उनकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ३८-३९ ॥

तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम्।
दक्षिणां दिशमास्थाय वनखण्डस्य पार्श्वतः ॥ ४० ॥
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम्।
रमणीये वनोद्देशे बहुपादपशोभिते ॥ ४१ ॥

'श्रीराम ! आप एक रात उस आश्रममें ठहरकर प्रातःकाल उस वनखण्डके किनारे दक्षिण दिशाकी ओर जायँ। इस प्रकार एक योजन आगे जानेपर अनेकानेक वृक्षोंसे सुशोभित वनके रमणीय भागमें अगस्त्य मुनिका आश्रम मिलेगा ॥ ४०-४१ ॥

रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च त्वया सह।
स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसंयुतः ॥ ४२ ॥

'वहाँ विदेहनन्दिनी सीता और लक्ष्मण आपके साथ सानन्द विचरण करेंगे; क्योंकि बहुसंख्यक वृक्षोंसे सुशोभित वह वनप्रान्त बड़ा ही रमणीय है ॥ ४२ ॥

यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महामते ॥ ४३ ॥

'महामते ! यदि आपने महामुनि अगस्त्यके दर्शनका निश्चित विचार कर लिया है तो आज ही वहाँकी यात्रा करनेका भी निश्चय करें' ॥ ४३ ॥

इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राभिवाद्य च।
प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुगः सह सीतया ॥ ४४ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर भाईसहित श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें प्रणाम किया और सीता तथा लक्ष्मणके साथ अगस्त्यजीके आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ४४ ॥

पश्यन् वनानि चित्राणि पर्वतांश्चाभ्रसंनिभान्।
सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान् ॥ ४५ ॥

मार्गमें मिले हुए विचित्र-विचित्र वनों, मेघमालाके समान पर्वतमालाओं, सरोवरों और सरिताओंको देखते हुए वे आगे बढ़ते गये ॥ ४५ ॥

सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम्।
इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे सुखपूर्वक चलते-चलते श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त हर्षमें भरकर लक्ष्मणसे यह बात कही— ॥ ४६ ॥

एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः।
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः ॥ ४७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! निश्चय ही यह पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले महात्मा अगस्त्य मुनिके भाईका आश्रम दिखायी दे रहा है ॥ ४७ ॥

यथा हीमे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः।
संनताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः ॥ ४८ ॥

'क्योंकि सुतीक्ष्णजीने जैसा बतलाया था, उसके अनुसार इस वनके मार्गमें फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए सहस्रों परिचित वृक्ष शोभा पा रहे हैं ॥ ४८ ॥

पिप्पलीनां च पक्वानां वनादस्मादुपागतः।
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ॥ ४९ ॥

'इस वनमें पकी हुई पीपलियोंकी यह गन्ध वायुसे प्रेरित होकर सहसा इधर आयी है, जिससे कटुरसका उदय हो रहा है ॥ ४९ ॥

तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः।
लूनाश्च परिदृश्यन्ते दर्भा वैदूर्यवर्चसः ॥ ५० ॥

'जहाँ-तहाँ लकड़ियोंके ढेर लगे दिखायी देते हैं और वैदूर्यमणिके समान रंगवाले कुश कटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ५० ॥

एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम्।
पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं सम्प्रदृश्यते ॥ ५१ ॥

'यह देखो, जंगलके बीचमें आश्रमकी अग्निका धुआँ उठता दिखायी दे रहा है, जिसका अग्रभाग काले मेघोंके ऊपरी भाग-सा प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतस्नाना द्विजातयः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः ॥ ५२ ॥

'यहाँके एकान्त एवं पवित्र तीर्थोंमें स्नान करके आये हुए ब्राह्मण स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंसे देवताओंके लिये पुष्पोपहार अर्पित करते हैं ॥ ५२ ॥

ततः सुतीक्ष्णवचनं यथा सौम्य मया श्रुतम्।
अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति ॥ ५३ ॥

'सौम्य ! मैंने सुतीक्ष्णजीका कथन जैसा सुना था, उसके अनुसार यह निश्चय ही अगस्त्यजीके भाईका आश्रम होगा ॥ ५३ ॥

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्शरण्या पुण्यकर्मणा ॥ ५४ ॥

'इन्हींके भाई पुण्यकर्मा अगस्त्यजीने समस्त लोकोंके हितकी कामनासे मृत्युस्वरूप वातापि और इल्वलका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया ॥ ५४ ॥

इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः।
भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ ॥ ५५ ॥

'एक समयकी बात है, यहाँ क्रूर स्वभाववाला वातापि और इल्वल—ये दोनों भाई एक साथ रहते थे। ये दोनों महान् असुर ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले थे ॥ ५५ ॥

धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः ॥ ५६ ॥

भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम् ।
तान् द्विजान् भोजयामास श्राद्धदृष्टेन कर्मणा ॥ ५७ ॥

'निर्दयी इल्वल ब्राह्मणका रूप धारण करके संस्कृत बोलता हुआ जाता और श्राद्धके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे आता था । फिर मेष (जीवशाक) का रूप धारण करनेवाले अपने भाई वातापिका संस्कार करके श्राद्धकल्पोक्त विधिसे ब्राह्मणोंको खिला देता था ॥ ५६-५७ ॥

ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत् ।
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन् ॥ ५८ ॥

'वे ब्राह्मण जब भोजन कर लेते, तब इल्वल उच्च स्वरसे बोलता—'वातापे ! निकलो' ॥ ५८ ॥

ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन् ।
भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत् ॥ ५९ ॥

'भाईकी बात सुनकर वातापि भेड़के समान 'में-में' करता हुआ उन ब्राह्मणोंके पेट फाड़-फाड़कर निकल आता था ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः ।
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः ॥ ६० ॥

'इस प्रकार इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन मांस-भक्षी असुरोंने प्रतिदिन मिलकर सहस्रों ब्राह्मणोंका विनाश कर डाला ॥ ६० ॥

अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा ।
अनुभूय किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः ॥ ६१ ॥

'उस समय देवताओंकी प्रार्थनासे महर्षि अगस्त्यने श्राद्धमें शाकरूपधारी उस महान् असुरको जान-बूझकर भक्षण किया ॥ ६१ ॥

ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तेऽवनेजनम् ।
भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः समभाषत ॥ ६२ ॥

'तदनन्तर श्राद्धकर्म सम्पन्न हो गया । ऐसा कहकर ब्राह्मणोंके हाथमें अवनेजनका जल दे इल्वलने भाईको सम्बोधित करके कहा, 'निकलो' ॥ ६२ ॥

स तदा भाषमाणं तु भ्रातरं विप्रघातिनम् ।
अब्रवीत् प्रहसन् धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ६३ ॥

'इस प्रकार भाईको पुकारते हुए उस ब्राह्मणघाती असुरसे बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने हँसकर कहा—॥ ६३ ॥

कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः ।
भ्रातुस्तु मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम् ॥ ६४ ॥

'जिस जीवशाकरूपधारी तेरे भाई राक्षसको मैंने खाकर पचा लिया, वह तो यमलोकमें जा पहुँचा है । अब उसमें निकलनेकी शक्ति कहाँ है' ॥ ६४ ॥

अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रितम् ।
प्रधर्षयितुमारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः ॥ ६५ ॥

'भाईकी मृत्युको सूचित करनेवाले मुनिके इस वचनको सुनकर उस निशाचरने क्रोधपूर्वक उन्हें मार डालनेका उद्योग आरम्भ किया ॥ ६५ ॥

सोऽभ्यद्रवद् द्विजेन्द्रं तं मुनिना दीप्ततेजसा ।
चक्षुषानलकल्पेन निर्दग्धो निधनं गतः ॥ ६६ ॥

'उसने ज्यों ही द्विजराज अगस्त्यपर धावा किया, त्यों ही उद्दीप्त तेजवाले उन मुनिने अपनी अग्नितुल्य दृष्टिसे उस राक्षसको दग्ध कर डाला । इस प्रकार उसकी मृत्यु हो गयी ॥ ६६ ॥

तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः ।
विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम् ॥ ६७ ॥

'ब्राह्मणोंपर कृपा करके जिन्होंने यह दुष्कर कर्म किया था, उन्हीं महर्षि अगस्त्यके भाईका यह आश्रम है, जो सरोवर और वनसे सुशोभित हो रहा है' ॥ ६७ ॥

एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह ।
रामस्यास्तं गतः सूर्यः संध्याकालोऽभ्यवर्तत ॥ ६८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ इस प्रकार बातचीत कर रहे थे । इतनेमें ही सूर्यदेव अस्त हो गये और संध्याका समय हो गया ॥ ६८ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि ।
प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं चाभ्यवादयत् ॥ ६९ ॥

तब भाईके साथ विधिपूर्वक सायं संध्योपासना करके श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया और उन महर्षिके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ ६९ ॥

सम्यक्प्रतिगृहीतस्तु मुनिना तेन राघवः ।
न्यवसत् तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च ॥ ७० ॥

मुनिने उनका यथावत् आदर-सत्कार किया । सीता और लक्ष्मणसहित श्रीराम वहाँ फल-मूल खाकर एक रात उस आश्रममें रहे ॥ ७० ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते रविमण्डले ।
भ्रातरं तमगस्त्यस्य आमन्त्रयत राघवः ॥ ७१ ॥

वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने अगस्त्यके भाईसे विदा माँगते हुए कहा—॥ ७१ ॥

अभिवादये त्वां भगवन् सुखमस्म्युषितो निशाम् ।
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम् ॥ ७२ ॥

'भगवन् ! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ । यहाँ रातभर बड़े सुखसे रहा हूँ । अब आपके बड़े भाई मुनिवर अगस्त्यका दर्शन करनेके लिये जाऊँगा । इसके लिये आपसे आज्ञा चाहता हूँ' ॥ ७२ ॥

गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः ।
यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तच्चावलोकयन् ॥ ७३ ॥

तब महर्षिने कहा, 'बहुत अच्छा, जाइये।' इस प्रकार महर्षिसे आज्ञा पाकर भगवान् श्रीराम सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे वनकी शोभा देखते हुए आगे चले ॥ ७३ ॥

नीवारान् पनसान् सालान् वञ्जुलांस्तिनिशांस्तथा।
चिरिबिल्वान् मधूकांश्च बिल्वानथ च तिन्दुकान् ॥ ७४ ॥
पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिरुपशोभितान्।
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान् ॥ ७५ ॥
हस्तिहस्तैर्विमृदितान् वानरैरुपशोभितान्।
मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशः प्रतिनादितान् ॥ ७६ ॥

श्रीरामने वहाँ मार्गमें नीवार (जलकदम्ब), कटहल, साखू, अशोक, तिनिश, चिरिबिल्व, महुआ, बेल, तेंदू तथा और भी सैकड़ों जंगली वृक्ष देखे, जो फूलोंसे भरे थे तथा खिली हुई लताओंसे परिवेष्टित हो बड़ी शोभा पा रहे थे। उनमेंसे कई वृक्षोंको हाथियोंने अपनी सूँड़ोंसे तोड़कर मसल डाला था और बहुत-से वृक्षोंपर बैठे हुए वानर उनकी शोभा बढ़ाते थे। सैकड़ों मतवाले पक्षी उनकी डालियोंपर चहक रहे थे ॥ ७४—७६ ॥

ततोऽब्रवीत् समीपस्थं रामो राजीवलोचनः।
पृष्ठतोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ ७७ ॥

उस समय कमलनयन श्रीराम अपने पीछे-पीछे आते हुए शोभावर्धक वीर लक्ष्मणसे, जो उनके निकट ही थे, इस प्रकार बोले—॥ ७७ ॥

स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा क्षान्ता मृगद्विजाः।
आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः ॥ ७८ ॥

'यहाँके वृक्षोंके पत्ते जैसे सुने गये थे, वैसे ही चिकने दिखायी देते हैं तथा पशु और पक्षी क्षमाशील एवं शान्त हैं। इससे जान पड़ता है, उन भावितात्मा (शुद्ध अन्तःकरण-वाले) महर्षि अगस्त्यका आश्रम यहाँसे अधिक दूर नहीं है ॥

अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा।
आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ॥ ७९ ॥

'जो अपने कर्मसे ही संसारमें अगस्त्य[1]के नामसे विख्यात हुए हैं, उन्हींका यह आश्रम दिखायी देता है, जो थके-माँदे पथिकोंकी थकावटको दूर करनेवाला है ॥ ७९ ॥

प्राज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः।
प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः ॥ ८० ॥

'इस आश्रमके वन यज्ञ-यागसम्बन्धी अधिक धूमोंसे व्याप्त हैं। चीरवस्त्रोंकी पंक्तियाँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं। यहाँके मृगोंके झुंड सदा शान्त रहते हैं तथा इस आश्रममें नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरव गूँजते रहते हैं ॥ ८० ॥

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
दक्षिणा दिक् कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ॥ ८१ ॥
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद् यस्य राक्षसैः।
दिगियं दक्षिणा त्रासाद् दृश्यते नोपभुज्यते ॥ ८२ ॥

'जिन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने समस्त लोकोंकी हित-कामनासे मृत्युस्वरूप राक्षसोंका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया तथा जिनके प्रभावसे राक्षस इस दक्षिण दिशाको केवल दूरसे भयभीत होकर देखते हैं, इसका उपभोग भी नहीं करते उन्हींका यह आश्रम है ॥ ८१-८२ ॥

यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः ॥ ८३ ॥

'पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने जबसे इस दिशामें पदार्पण किया है, तबसे यहाँके निशाचर वैररहित और शान्त हो गये हैं ॥ ८३ ॥

नाम्ना चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा।
प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः ॥ ८४ ॥

'भगवान् अगस्त्यकी महिमासे इस आश्रमके आस-पास निर्वैरता आदि गुणोंके सम्पादनमें समर्थ तथा क्रूरकर्मा राक्षसोंके लिये दुर्जय होनेके कारण यह सम्पूर्ण दिशा नामसे भी तीनों लोकोंमें 'दक्षिणा' ही कहलायी, इसी नामसे विख्यात हुई तथा इसे 'अगस्त्यकी दिशा' भी कहते हैं ॥ ८४ ॥

मार्गं निरोद्धुं सततं भास्करस्याचलोत्तमः।
संदेशं पालयंस्तस्य विन्ध्यशैलो न वर्धते ॥ ८५ ॥

'एक बार पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यका मार्ग रोकनेके लिये बढ़ा था, किंतु महर्षि अगस्त्यके कहनेसे वह नम्र हो गया। तबसे आजतक निरन्तर उनके आदेशका पालन करता हुआ वह कभी नहीं बढ़ता ॥ ८५ ॥

अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः ॥ ८६ ॥

'वे दीर्घायु महात्मा हैं। उनका कर्म (समुद्रशोषण आदि कार्य) तीनों लोकोंमें विख्यात है। उन्हीं अगस्त्यका यह शोभा-सम्पन्न आश्रम है, जो विनीत मृगोंसे सेवित है ॥ ८६ ॥

एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यं रतः सताम्।
अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ॥ ८७ ॥

'ये महात्मा अगस्त्यजी सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा पूजित तथा सदा सज्जनोंके हितमें लगे रहनेवाले हैं। अपने पास आये हुए हमलोगोंको वे अपने आशीर्वादसे कल्याणके भागी बनायेंगे ॥ ८७ ॥

आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम्।
शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ॥ ८८ ॥

---

१. अगं पर्वतं स्तम्भयति इति अगस्त्यः—जो अग अर्थात् पर्वतको स्तम्भित कर दे, उसे अगस्त्य कहते हैं।

'सेवा करनेमें समर्थ सौम्य लक्ष्मण ! यहाँ रहकर मैं उन महामुनि अगस्त्यकी आराधना करूँगा और वनवासके शेष दिन यहीं रहकर बिताऊँगा ॥ ८८ ॥

अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते ॥ ८९ ॥

'देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि यहाँ नियमित आहार करते हुए सदा अगस्त्य मुनिकी उपासना करते हैं ॥ ८९ ॥

नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः ।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ॥ ९० ॥

'ये ऐसे प्रभावशाली मुनि हैं कि इनके आश्रममें कोई झूठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता ॥ ९० ॥

अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः सह ।
वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्णवः ॥ ९१ ॥

'यहाँ धर्मकी आराधना करनेके लिये देवता, यक्ष, नाग और पक्षी नियमित आहार करते हुए निवास करते हैं ॥

अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसंनिभैः ।
त्यक्त्वा देहान् नवैर्देहैः स्वर्याताः परमर्षयः ॥ ९२ ॥

'इस आश्रमपर अपने शरीरोंको त्यागकर अनेकानेक सिद्ध, महात्मा, महर्षि नूतन शरीरोंके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ ९२ ॥

यक्षत्वममरत्वं च राज्यानि विविधानि च ।
अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतैराराधिताः शुभैः ॥ ९३ ॥

'यहाँ सत्कर्मपरायण प्राणियोंद्वारा आराधित हुए देवता उन्हें यक्षत्व, अमरत्व तथा नाना प्रकारके राज्य प्रदान करते हैं ॥ ९३ ॥

आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः ।
निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सह सीतया ॥ ९४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! अब हमलोग आश्रमपर आ पहुँचे । तुम पहले प्रवेश करो और महर्षियोंको सीताके साथ मेरे आगमनकी सूचना दो' ॥ ९४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

श्रीराम आदिका अगस्त्यके आश्रममें प्रवेश, अतिथि-सत्कार तथा मुनिकी ओरसे उन्हें दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंकी प्राप्ति

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः ।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मणने आश्रममें प्रवेश करके अगस्त्यजीके शिष्यसे भेंट की और उनसे यह बात कही—॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली ।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥ २ ॥

'मुने ! अयोध्यामें जो दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा थे, उन्हींके ज्येष्ठ पुत्र महाबली श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी सीताके साथ महर्षिका दर्शन करनेके लिये आये हैं ॥ २ ॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः ।
अनुकूलश्च भक्तश्च यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ ३ ॥

'मैं उनका छोटा भाई, हितैषी और अनुकूल चलनेवाला भक्त हूँ । मेरा नाम लक्ष्मण है । सम्भव है यह नाम कभी आपके कानोंमें पड़ा हो ॥ ३ ॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम् ॥ ४ ॥

'हम सब लोग पिताकी आज्ञासे इस अत्यन्त भयंकर वनमें आये हैं और भगवान् अगस्त्य मुनिका दर्शन करना चाहते हैं । आप उनसे यह समाचार निवेदन कीजिये' ॥४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः ।
तथेत्युक्त्वाग्निशरणं प्रविवेश निवेदितुम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मणकी वह बात सुनकर उन तपोधनने 'बहुत अच्छा' कहकर महर्षिको समाचार देनेके लिये अग्निशालामें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम् ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा ॥ ६ ॥
यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः ।

अग्निशालामें प्रवेश करके अगस्त्यके उस प्रिय शिष्यने जो अपनी तपस्याके प्रभावसे दूसरोंके लिये दुर्जय थे, उन मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यके पास जा हाथ जोड़ लक्ष्मणके कथनानुसार उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके आगमनका समाचार शीघ्रतापूर्वक यों सुनाया—॥ ६½ ॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ रामो लक्ष्मण एव च ॥ ७ ॥
प्रविष्टावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया ।
द्रष्टुं भवन्तमायातौ शुश्रूषार्थमरिंदमौ ॥ ८ ॥
यदत्रानन्तरं तत् त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।

'महामुने ! राजा दशरथके ये दो पुत्र श्रीराम और

लक्ष्मण आश्रममें पधारे हैं। श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ हैं। वे दोनों शत्रुदमन वीर आपकी सेवाके उद्देश्यसे आपका दर्शन करनेके लिये आये हैं। अब इस विषयमें जो कुछ कहना या करना हो, इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें' ॥ ७-८½ ॥

ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्तं रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥
वैदेहीं च महाभागामिदं वचनमब्रवीत् ।

शिष्यसे लक्ष्मणसहित श्रीराम और महाभागा विदेहनन्दिनी सीताके शुभागमनका समाचार सुनकर महर्षिने इस प्रकार कहा—॥ ९½ ॥

दिष्ट्या रामश्चिरस्याद्य द्रष्टुं मां समुपागतः ॥ १० ॥
मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति ।
गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ११ ॥
प्रवेश्यतां समीपं मे किमसौ न प्रवेशितः ।

'सौभाग्यकी बात है कि आज चिरकालके बाद श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही मुझसे मिलनेके लिये आ गये। मेरे मनमें भी बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि वे एक बार मेरे आश्रमपर पधारते। जाओ, पत्नीसहित श्रीराम और लक्ष्मणको सत्कारपूर्वक आश्रमके भीतर मेरे समीप ले आओ। तुम अबतक उन्हें ले क्यों नहीं आये ?' ॥

एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १२ ॥
अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः ।

धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य मुनिके ऐसा कहनेपर शिष्यने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और कहा—'बहुत अच्छा, अभी ले आता हूँ' ॥ १२½ ॥

तदा निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १३ ॥
कोऽसौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम् ।

इसके बाद वह शिष्य आश्रमसे निकलकर शीघ्रतापूर्वक लक्ष्मणके पास गया और बोला—'श्रीरामचन्द्रजी कौन हैं ? वे स्वयं आश्रममें प्रवेश करें और मुनिका दर्शन करनेके लिये चलें ॥ १३½ ॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥ १४ ॥
दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।

तब लक्ष्मणने शिष्यके साथ आश्रमके द्वारपर जाकर उसे श्रीरामचन्द्रजी तथा जनककिशोरी श्रीसीताका दर्शन कराया ॥ १४½ ॥

तं शिष्यः प्रश्रितं वाक्यमगस्त्यवचनं ब्रुवन् ॥ १५ ॥
प्रावेशयद् यथान्यायं सत्कारार्हं सुसत्कृतम् ।

शिष्यने बड़ी विनयके साथ महर्षि अगस्त्यकी कही हुई बात वहाँ दुहरायी और जो सत्कारके योग्य थे, उन श्रीरामका यथोचित रीतिसे भलीभाँति सत्कार करके वह उन्हें आश्रममें ले गया ॥ १५½ ॥

प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥
प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन् ।
स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च ॥ १७ ॥

उस समय श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ आश्रममें प्रवेश किया। वह आश्रम शान्तभावसे रहनेवाले हरिणोंसे भरा हुआ था। आश्रमकी शोभा देखते हुए उन्होंने वहाँ ब्रह्माजीका स्थान और अग्निदेवका स्थान देखा ॥

विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौबेरमेव च ॥ १८ ॥
धातुर्विधातुः स्थानं च वायोः स्थानं तथैव च ।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।
स्थानं च नागराजस्य गरुडस्थानमेव च ॥ २० ॥
कार्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।

फिर क्रमशः भगवान् विष्णु, महेन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, पाशधारी महात्मा वरुण, गायत्री, वसु, नागराज अनन्त, गरुड, कार्तिकेय तथा धर्मराजके पृथक्-पृथक् स्थानका निरीक्षण किया ॥

ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पतत् ॥ २१ ॥
तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम् ।
अब्रवीद् वचनं वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ २२ ॥

इतनेहीमें मुनिवर अगस्त्य भी शिष्योंसे घिरे हुए अग्निशालासे बाहर निकले। वीर श्रीरामने मुनियोंके आगे-आगे आते हुए उद्दीप्त तेजस्वी अगस्त्यजीका दर्शन किया और अपनी शोभाका विस्तार करनेवाले लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ २१-२२ ॥

बहिर्लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।
औदार्येणावगच्छामि निधानं तपसामिमम् ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण ! भगवान् अगस्त्य मुनि आश्रमसे बाहर निकल रहे हैं। ये तपस्याके निधि हैं। इनके विशिष्ट तेजके आधिक्यसे ही मुझे पता चलता है कि ये अगस्त्यजी हैं' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।
जग्राहापततस्तस्य पादौ च रघुनन्दनः ॥ २४ ॥

सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि अगस्त्यके विषयमें ऐसा कहकर महाबाहु रघुनन्दनने सामनेसे आते हुए उन मुनीश्वरके दोनों चरण पकड़ लिये ॥ २४ ॥

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः ॥ २५ ॥

जिनमें योगियोंका मन रमण करता है अथवा जो भक्तोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, वे धर्मात्मा श्रीराम उस समय विदेहकुमारी सीता और लक्ष्मणके साथ महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २५ ॥

प्रतिगृह्य च काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः ।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च आस्यतामिति सोऽब्रवीत् ॥ २६ ॥

महर्षिने भगवान् श्रीरामको हृदयसे लगाया और आसन तथा जल (पाद्य, अर्घ्य आदि) देकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया । फिर कुशल-समाचार पूछकर उन्हें बैठनेको कहा ॥ २६ ॥

अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथीन् प्रतिपूज्य च ।
वानप्रस्थेन धर्मेण स तेषां भोजनं ददौ ॥ २७ ॥

अगस्त्यजीने पहले अग्निमें आहुति दी, फिर वानप्रस्थधर्मके अनुसार अर्घ्य दे अतिथियोंका भलीभाँति पूजन करके उनके लिये भोजन दिया ॥ २७ ॥

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुङ्गवः ।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥ २८ ॥
अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथिं प्रतिपूजयेत् ।
अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन् ।
दुःसाक्षीव परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ॥ २९ ॥

धर्मके ज्ञाता मुनिवर अगस्त्यजी पहले स्वयं बैठे, फिर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़कर आसनपर विराजमान हुए । इसके बाद महर्षिने उनसे कहा—'काकुत्स्थ ! वानप्रस्थको चाहिये कि वह पहले अग्निको आहुति दे । तदनन्तर अर्घ्य देकर अतिथिका पूजन करे । जो तपस्वी इसके विपरीत आचरण करता है, उसे झूठी गवाही देनेवालेकी भाँति परलोकमें अपने ही शरीरका मांस खाना पड़ता है ॥ २८-२९ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्तः प्रियातिथिः ॥ ३० ॥

'आप सम्पूर्ण लोकके राजा, महारथी और धर्मका आचरण करनेवाले हैं तथा मेरे प्रिय अतिथिके रूपमें इस आश्रमपर पधारे हैं, अतएव आप हमलोगोंके माननीय एवं पूजनीय हैं' ॥ ३० ॥

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैश्चान्यैश्च राघवम् ।
पूजयित्वा यथाकामं ततोऽगस्त्यस्तमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्यने फल, मूल, फूल तथा अन्य उपकरणोंसे इच्छानुसार भगवान् श्रीरामका पूजन किया । तत्पश्चात् अगस्त्यजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ ३१ ॥

इदं दिव्यं महच्चापं हेमवज्रविभूषितम् ।
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ ३२ ॥
अमोघः सूर्यसंकाशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ।
दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥ ३३ ॥
सम्पूर्णौ निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ।
महाराजतकोशोऽयमसिर्हेमविभूषितः ॥ ३४ ॥

'पुरुषसिंह ! यह महान् दिव्य धनुष विश्वकर्माजीने बनाया है । इसमें सुवर्ण और हीरे जड़े हैं । यह भगवान् विष्णुका दिया हुआ है तथा यह जो सूर्यके समान देदीप्यमान अमोघ उत्तम बाण है, ब्रह्माजीका दिया हुआ है । इनके सिवा इन्द्रने ये दो तरकस दिये हैं, जो तीखे तथा प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाणोंसे सदा भरे रहते हैं, कभी खाली नहीं होते । साथ ही यह तलवार भी है जिसकी मूठमें सोना जड़ा हुआ है । इसकी म्यान भी सोनेकी ही बनी हुई है ॥ ३२–३४ ॥

अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महासुरान् ।
आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसाम् ॥ ३५ ॥
तद्धनुस्तौ च तूणी च शरं खड्गं च मानद ।
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा ॥ ३६ ॥

'श्रीराम ! पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने इसी धनुषसे युद्धमें बड़े-बड़े असुरोंका संहार करके देवताओंकी उद्दीप्त लक्ष्मीको उनके अधिकारसे लौटाया था । मानद ! आप यह धनुष, ये दोनों तरकस, ये बाण और यह तलवार (राक्षसोंपर) विजय पानेके लिये ग्रहण कीजिये । ठीक उसी तरह, जैसे वज्रधारी इन्द्र वज्र ग्रहण करते हैं ॥'

एवमुक्त्वा महातेजाः समस्तं तद्वरायुधम् ।
दत्त्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥ ३७ ॥

ऐसा कहकर महान् तेजस्वी अगस्त्यने वे सभी श्रेष्ठ आयुध श्रीरामचन्द्रजीको सौंप दिये । तत्पश्चात् वे फिर बोले ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

महर्षि अगस्त्यका श्रीरामके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करके सीताकी प्रशंसा करना, श्रीरामके पूछनेपर उन्हें पञ्चवटीमें आश्रम बनाकर रहनेका आदेश देना तथा श्रीराम आदिका प्रस्थान

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण ।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया ॥ १ ॥

'श्रीराम ! आपका कल्याण हो । मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ । लक्ष्मण ! मैं तुमपर भी बहुत संतुष्ट हूँ । आप

दोनों भाई मुझे प्रणाम करनेके लिये जो सीताके साथ यहाँतक आये, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १ ॥

अध्वश्रमेण वां खेदो बाधते प्रचुरश्रमः ।
व्यक्तमुत्कण्ठते वापि मैथिली जनकात्मजा ॥ २ ॥

'रास्ता चलनेके परिश्रमसे आपलोगोंको बहुत थकावट हुई है। इसके कारण जो कष्ट हुआ है, वह आप दोनोंको पीड़ा दे रहा होगा। मिथिलेशकुमारी जानकी भी अपनी थकावट दूर करनेके लिये अधिक उत्कण्ठित है, यह बात स्पष्ट ही जान पड़ती है ॥ २ ॥

एषा च सुकुमारी च खेदैश्च न विमानिता ।
प्राज्यदोषं वनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता ॥ ३ ॥

'यह सुकुमारी है और इससे पहले इसे ऐसे दुःखोंका सामना नहीं करना पड़ा है। वनमें अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं, फिर भी यह पतिप्रेमसे प्रेरित होकर यहाँ आयी है ॥ ३ ॥

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।
दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामभिगच्छती ॥ ४ ॥

'श्रीराम ! जिस प्रकार सीताका यहाँ मन लगे—जैसे भी यह प्रसन्न रहे, वही कार्य आप करें। वनमें आपके साथ आकर इसने दुष्कर कार्य किया है ॥ ४ ॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन ।
समस्थमनुरज्यन्ते विषमस्थं त्यजन्ति च ॥ ५ ॥

'रघुनन्दन ! सृष्टिकालसे लेकर अबतक स्त्रियोंका प्रायः यही स्वभाव रहता आया है कि यदि पति सम अवस्थामें है अर्थात् धन-धान्यसे सम्पन्न, स्वस्थ एवं सुखी है, तब तो वे उसमें अनुराग रखती हैं, परंतु यदि वह विषम अवस्थामें पड़ जाता है—दरिद्र एवं रोगी हो जाता है, तब उसे त्याग देती हैं ॥ ५ ॥

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः ॥ ६ ॥

'स्त्रियाँ विद्युत्की चपलता, शस्त्रोंकी तीक्ष्णता तथा गरुड एवं वायुकी तीव्र गतिका अनुसरण करती हैं ॥ ६ ॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवर्जिता ।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या च यथा देवीष्वरुन्धती ॥ ७ ॥

'आपकी यह धर्मपत्नी सीता इन सब दोषोंसे रहित है। स्पृहणीय एवं पतिव्रताओंमें उसी तरह अग्रगण्य है, जैसे देवियोंमें अरुन्धती ॥ ७ ॥

अलंकृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिंदम ॥ ८ ॥

'शत्रुदमन श्रीराम ! आजसे इस देशकी शोभा बढ़ गयी, जहाँ सुमित्राकुमार लक्ष्मण और विदेहनन्दिनी सीताके साथ आप निवास करेंगे' ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तु मुनिना राघवः संयताञ्जलिः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तमिवानलम् ॥ ९ ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी उन महर्षिसे दोनों हाथ जोड़कर यह विनययुक्त बात कही—॥ ९ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः ।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य गुरुर्नः परितुष्यति ॥ १० ॥

'भाई और पत्नीसहित जिसके अर्थात् मेरे गुणोंसे हमारे गुरुदेव मुनिवर अगस्त्यजी यदि संतुष्ट हो रहे हैं, तब तो मैं धन्य हूँ, मुझपर मुनीश्वरका महान् अनुग्रह है ॥ १० ॥

किं तु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम् ।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः सुखम् ॥ ११ ॥

'परंतु मुने ! अब आप मुझे ऐसा कोई स्थान बताइये जहाँ बहुत-से वन हों, जलकी भी सुविधा हो तथा जहाँ आश्रम बनाकर मैं सुखपूर्वक सानन्द निवास कर सकूँ' ॥ ११ ॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा ततोवाच वचः शुभम् ॥ १२ ॥

श्रीरामका यह कथन सुनकर मुनिश्रेष्ठ धर्मात्मा अगस्त्यने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार किया। तदनन्तर वे यह शुभ वचन बोले—॥ १२ ॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।
देशो बहुमृगः श्रीमान् पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

'तात ! यहाँसे दो योजनकी दूरीपर पञ्चवटी नामसे विख्यात एक बहुत ही सुन्दर स्थान है, जहाँ बहुत-से मृग रहते हैं तथा फल-मूल और जलकी अधिक सुविधा है ॥ १३ ॥

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।
रमस्व त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

'वहीं जाकर लक्ष्मणके साथ आप आश्रम बनाइये और पिताकी यथोक्त आज्ञाका पालन करते हुए वहाँ सुखपूर्वक निवास कीजिये ॥ १४ ॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तवानघ ।
तपसश्च प्रभावेण स्नेहाद् दशरथस्य च ॥ १५ ॥

'अनघ ! आपका और राजा दशरथका यह सारा वृत्तान्त मुझे अपनी तपस्याके प्रभावसे तथा आपके प्रति स्नेह होनेके कारण अच्छी तरह विदित है ॥ १५ ॥

हृदयस्थं च ते च्छन्दो विज्ञातं तपसा मया ।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

आपने तपोवनमें मेरे साथ रहनेकी और वनवासका शेष समय यहीं बितानेकी अभिलाषा प्रकट करके भी जो यहाँसे अन्यत्र रहने योग्य स्थानके विषयमें मुझसे पूछा है, इसमें आपका हार्दिक अभिप्राय क्या है ? यह मैंने अपने तपोबलसे

जान लिया है (आपने ऋषियोंकी रक्षाके लिये राक्षसोंके वध-की प्रतिज्ञा की है । इस प्रतिज्ञाका निर्वाह अन्यत्र रहनेसे ही हो सकता है; क्योंकि यहाँ राक्षसोंका आना-जाना नहीं होता) ॥ १६ ॥

अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥

'इसीलिये मैं आपसे कहता हूँ कि पञ्चवटीमें जाइये । वहाँकी वनस्थली बड़ी ही रमणीय है । वहाँ मिथिलेशकुमारी सीता आनन्दपूर्वक सब ओर विचरेंगी ॥ १७ ॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव ।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १८ ॥

'रघुनन्दन ! वह स्पृहणीय स्थान यहाँसे अधिक दूर नहीं है । गोदावरीके पास (उसीके तटपर) है, अतः मैथिलीका मन वहाँ खूब लगेगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलैश्चैव नानाद्विजगणैर्युतः ।
विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

'महाबाहो ! वह स्थान प्रचुर फल-मूलोंसे सम्पन्न, भाँति-भाँतिके विहङ्गमोंसे सेवित, एकान्त, पवित्र और रमणीय है ॥ १९ ॥

भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे ।
अपि चात्र वसन् राम तापसान् पालयिष्यसि ॥ २० ॥

'श्रीराम ! आप भी सदाचारी और ऋषियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं । अतः वहाँ रहकर तपस्वी मुनियोंका पालन कीजियेगा ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीर मधूकानां महावनम् ।
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमपि गच्छता ॥ २१ ॥
ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः ।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

'वीर ! यह जो महुओंका विशाल वन दिखायी देता है, इसके उत्तरसे होकर जाना चाहिये । उस मार्गसे जाते हुए आपको आगे एक बरगदका वृक्ष मिलेगा । उससे आगे कुछ दूरतक ऊँचा मैदान है, उसे पार करनेके बाद एक पर्वत दिखायी देगा । उस पर्वतसे थोड़ी ही दूरपर पञ्चवटी नामसे प्रसिद्ध सुन्दर वन है, जो सदा फूलोंसे सुशोभित रहता है' ॥ २१-२२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

महर्षि अगस्त्यके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामने उनका सत्कार करके उन सत्यवादी महर्षिसे वहाँ जानेकी आज्ञा माँगी ॥ २३ ॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
तमाश्रमं पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

उनकी आज्ञा पाकर उन दोनों भाइयोंने उनके चरणोंकी वन्दना की और सीताके साथ वे पञ्चवटी नामक आश्रमकी ओर चले ॥ २४ ॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ
विषक्ततूणी समरेष्वकातरौ ।
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा
प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणने पीठपर तरकस बाँध हाथमें धनुष ले लिये । वे दोनों भाई समराङ्गणोंमें कातरता दिखानेवाले नहीं थे । वे दोनों बन्धु महर्षिके बताये हुए मार्गसे बड़ी सावधानीके साथ पञ्चवटीकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

पञ्चवटीके मार्गमें जटायुका मिलना और श्रीरामको अपना विस्तृत परिचय देना

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः ।
आससाद महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी जाते समय बीचमें श्रीरामचन्द्रजीको एक विशालकाय गृध्र मिला, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाला था ॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वनस्थं रामलक्ष्मणौ ।
मेनाते राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ २ ॥

वनमें बैठे हुए उस विशाल पक्षीको देखकर महाभाग श्रीराम और लक्ष्मणने उसे राक्षस ही समझा और पूछा— 'आप कौन हैं ?' ॥ २ ॥

ततो मधुरया वाचा सौम्यया प्रीणयन्निव ।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

तब उस पक्षीने बड़ी मधुर और कोमल वाणीमें उन्हें प्रसन्न करते हुए-से कहा—'बेटा ! मुझे अपने पिताका मित्र समझो' ॥ ३ ॥

स तं पितृसखं मत्वा पूजयामास राघवः ।
स तस्य कुलमव्यग्रमथ पप्रच्छ नाम च ॥ ४ ॥

पिताका मित्र जानकर श्रीरामचन्द्रजीने गृध्रका आदर किया और शान्तभावसे उसका कुल एवं नाम पूछा ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा कुलमात्मानमेव च।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै सर्वभूतसमुद्भवम्॥ ५॥

श्रीरामका यह प्रश्न सुनकर उस पक्षीने उन्हें अपने कुल और नामका परिचय देते हुए समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका क्रम ही बताना आरम्भ किया॥ ५॥

पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन्।
तान् मे निगदतः सर्वानादितः शृणु राघव॥ ६॥

'महाबाहु रघुनन्दन! पूर्वकालमें जो-जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सबका आदिसे ही वर्णन करता हूँ, सुनो॥ ६॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विकृतस्तदनन्तरम्।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान्॥ ७॥

'उन प्रजापतियोंमें सबसे प्रथम कर्दम हुए। तदनन्तर दूसरे प्रजापतिका नाम विकृत हुआ, तीसरे शेष, चौथे संश्रय और पाँचवें प्रजापति पराक्रमी बहुपुत्र हुए॥ ७॥

स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा॥ ८॥

'छठे स्थाणु, सातवें मरीचि, आठवें अत्रि, नवें महान् शक्तिशाली क्रतु, दसवें पुलस्त्य, ग्यारहवें अङ्गिरा, बारहवें प्रचेता (वरुण) और तेरहवें प्रजापति पुलह हुए॥ ८॥

दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः॥ ९॥

'चौदहवें दक्ष, पंद्रहवें विवस्वान्, सोलहवें अरिष्टनेमि और सत्रहवें प्रजापति महातेजस्वी कश्यप हुए। रघुनन्दन! यह कश्यपजी अन्तिम प्रजापति कहे गये हैं॥ ९॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुताः।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः॥ १०॥

'महायशस्वी श्रीराम! प्रजापति दक्षके साठ यशस्विनी कन्याएँ हुईं, जो बहुत ही विख्यात थीं॥ १०॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः।
अदितिं च दितिं चैव दनूमपि च कालकाम्॥ ११॥
ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि।

उनमेंसे आठ सुन्दरी कन्याओंको प्रजापति कश्यपने पत्नीरूपमें ग्रहण किया। जिनके नाम इस प्रकार हैं—अदिति, दिति, दनु, कालका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला॥ ११½॥

तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत्॥ १२॥
पुत्रांस्त्रैलोक्यभर्तॄन् वै जनयिष्यथ मत्समान्।

तदनन्तर उन कन्याओंसे प्रसन्न होकर कश्यपजीने फिर उनसे कहा—'देवियो! तुमलोग ऐसे पुत्रोंको जन्म दोगी, जो तीनों लोकोंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ और मेरे समान तेजस्वी होंगे'॥ १२½॥

अदितिस्तन्मना राम दितिश्च दनुरेव च॥ १३॥
कालका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन्।

'महाबाहु श्रीराम! इनमेंसे अदिति, दिति, दनु और कालका—इन चारोंने कश्यपजीकी कही हुई बातको मनसे ग्रहण किया; परंतु शेष स्त्रियोंने उधर मन नहीं लगाया। उनके मनमें वैसा मनोरथ नहीं उत्पन्न हुआ॥ १३½॥

अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिंदम॥ १४॥
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले रघुवीर! अदितिके गर्भसे तैंतीस देवता उत्पन्न हुए—बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार। शत्रुओंको ताप देनेवाले श्रीराम! ये ही तैंतीस देवता हैं॥ १४½॥

दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः॥ १५॥
तेषामियं वसुमती पुराऽऽसीत् सवनार्णवा।

'तात! दितिने दैत्य नामसे प्रसिद्ध यशस्वी पुत्रोंको जन्म दिया। पूर्वकालमें वन और समुद्रोंसहित सारी पृथिवी उन्हींके अधिकारमें थी॥ १५½॥

दनुस्त्वजनयत् पुत्रमश्वग्रीवमरिंदम॥ १६॥
नरकं कालकं चैव कालकापि व्यजायत।

'शत्रुदमन! दनुने अश्वग्रीव नामक पुत्रको उत्पन्न किया और कालकाने नरक एवं कालक नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया॥ १६½॥

क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम्॥ १७॥
ताम्रा तु सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः।

'ताम्राने क्रौञ्ची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री तथा शुकी—इन पाँच विश्वविख्यात कन्याओंको उत्पन्न किया॥ १७½॥

उलूकाञ्जनयत् क्रौञ्ची भासी भासान् व्यजायत॥ १८॥
श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः।
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः॥ १९॥

'इनमेंसे क्रौञ्चीने उल्लुओंको, भासीने भास नामक पक्षियोंको, श्येनीने परम तेजस्वी श्येनों (बाजों) और गीधोंको तथा धृतराष्ट्रीने सब प्रकारके हंसों और कलहंसोंको जन्म दिया॥ १८-१९॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे सापि भामिनी।
शुकी नतां विजज्ञे तु नतायां विनता सुता॥ २०॥

'श्रीराम! आपका कल्याण हो, उसी भामिनी धृत-

१. यद्यपि पुराणग्रन्थोंमें 'कश्यपाय त्रयोदश' इत्यादि वचनोंद्वारा कश्यपकी तेरह पत्नियोंका उल्लेख किया गया है, तथापि यहाँ जिस संतानपरम्पराका वर्णन करना है, उसमें इन आठोंका ही उपयोग है, इसलिये यहाँ आठकी ही संख्या दी गयी है।

राष्ट्रीने चक्रवाक नामक पक्षियोंको भी उत्पन्न किया था। ताम्राकी सबसे छोटी पुत्री शुकीने नता नामवाली कन्याको जन्म दिया। नतासे विनता नामवाली पुत्री उत्पन्न हुई॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञेऽप्यात्मसम्भवाः।
मृगीं च मृगमन्दां च हरीं भद्रमदामपि॥ २१॥
मातङ्गीमथ शार्दूलीं श्वेतां च सुरभीं तथा।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि॥ २२॥

'श्रीराम! क्रोधवशाने अपने पेटसे दस कन्याओंको जन्म दिया। जिनके नाम हैं—मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमदा, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभी, सर्वलक्षणसम्पन्ना सुरसा और कद्रुका॥ २१-२२॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरास्तथा॥ २३॥

'नरेशोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! मृगीकी संतान सारे मृग हैं और मृगमन्दाके ऋक्ष, सृमर और चमर॥ २३॥

ततस्त्विरावतीं नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम्।
तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः॥ २४॥

'भद्रमदाने इरावती नामक कन्याको जन्म दिया, जिसका पुत्र है ऐरावत नामक महान् गजराज, जो समस्त लोकोंको अभीष्ट है॥ २४॥

हर्यांश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तपस्विनः।
गोलाङ्गूलाश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत् सुतान्॥ २५॥

'हरीकी संतानें हरि (सिंह) तथा तपस्वी (विचारशील) वानर तथा गोलांगूल (लंगूर) हैं। क्रोधवशाकी पुत्री शार्दूलीने व्याघ्र नामक पुत्र उत्पन्न किये॥ २५॥

मातङ्ग्यास्त्वथ मातङ्गा अपत्यं मनुजर्षभ।
दिशागजं तु काकुत्स्थ श्वेता व्यजनयत् सुतम्॥ २६॥

'नरश्रेष्ठ! मातङ्गीकी संतानें मातङ्ग (हाथी) हैं। काकुत्स्थ! श्वेताने अपने पुत्रके रूपमें एक दिग्गजको जन्म दिया॥ २६॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम्॥ २७॥

'श्रीराम! आपका भला हो! क्रोधवशाकी पुत्री सुरभी देवीने दो कन्याएँ उत्पन्न कीं—रोहिणी और यशस्विनी गन्धर्वी॥ २७॥

रोहिण्यजनयद् गावो गन्धर्वी वाजिनः सुतान्।
सुरसाजनयन्नागान् राम कद्रूश्च पन्नगान्॥ २८॥

'रोहिणीने गौओंको जन्म दिया और गन्धर्वीने घोड़ोंको ही पुत्ररूपमें प्रकट किया। श्रीराम! सुरसाने नागोंको और कद्रूने पन्नगोंको जन्म दिया॥ २८॥

मनुर्मनुष्याञ्जनयत् कश्यपस्य महात्मनः।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्च मनुजर्षभ॥ २९॥

'नरश्रेष्ठ! महात्मा कश्यपकी पत्नी मनुने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातिवाले मनुष्योंको जन्म दिया॥ २९॥

मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा।
ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः॥ ३०॥

'मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए और हृदयसे क्षत्रिय। दोनों ऊरुओंसे वैश्योंका जन्म हुआ और दोनों पैरोंसे शूद्रोंका—ऐसी प्रसिद्धि है॥ ३०॥

सर्वान् पुण्यफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत।
विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा॥ ३१॥

'(कश्यपपत्नी) अनलाने पवित्र फलवाले समस्त वृक्षोंको जन्म दिया। कश्यपपत्नी ताम्राकी पुत्री जो शुकी थी, उसकी पौत्री विनता थी तथा कद्रू सुरसाकी बहिन (एवं क्रोधवशाकी पुत्री) कही गयी है॥ ३१॥

कद्रूर्नागसहस्रं तु विजज्ञे धरणीधरान्।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च॥ ३२॥

'इनमेंसे कद्रूने एक सहस्र नागोंको उत्पन्न किया, जो इस पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं तथा विनताके दो पुत्र हुए—गरुड़ और अरुण॥ ३२॥

तस्माज्जातोऽहमरुणाद् सम्पातिश्च ममाग्रजः।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिंदम॥ ३३॥

'उन्हीं विनतानन्दन अरुणसे मैं तथा मेरे बड़े भाई सम्पाति उत्पन्न हुए। शत्रुदमन रघुवीर! आप मेरा नाम जटायु समझें। मैं श्येनीका पुत्र हूँ (ताम्राकी पुत्री जो श्येनी बतायी गयी है, उसीकी परम्परामें उत्पन्न हुई एक श्येनी मेरी माता हुई)॥ ३३॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम्।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे॥ ३४॥

'तात! यदि आप चाहें तो मैं यहाँ आपके निवासमें सहायक होऊँगा। यह दुर्गम वन मृगों तथा राक्षसोंसे सेवित है। लक्ष्मणसहित आप यदि अपनी पर्णशालसे कभी बाहर चले जायँ तो उस अवसरपर मैं देवी सीताकी रक्षा करूँगा॥'

जटायुषं तु प्रतिपूज्य राघवो
मुदा परिष्वज्य च संनतोऽभवत्।
पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
ञ्जटायुषा संकथितं पुनः पुनः॥ ३५॥

यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने जटायुका बड़ा सम्मान किया और प्रसन्नतापूर्वक उनके गले लगकर वे उनके सामने नत मस्तक हो गये। फिर पिताके साथ जिस प्रकार उनकी मित्रता

हुई थी, वह प्रसङ्ग मनस्वी श्रीरामने जटायुके मुखसे बारंबार सुना ॥ ३५ ॥

स तत्र सीतां परिदाय मैथिलीं
सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपून् दिधक्षञ्शलभानिवानलः ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् वे मिथिलेशकुमारी सीताको उनके संरक्षणमें सौंपकर लक्ष्मण और उन अत्यन्त बलशाली पक्षी जटायुके साथ ही पञ्चवटीकी ओर ही चल दिये। श्रीरामचन्द्रजी मुनिद्रोही राक्षसोंको शत्रु समझकर उन्हें उसी प्रकार दग्ध कर डालना चाहते थे, जैसे आग पतिङ्गोंको जलाकर भस्म कर देती है ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

पञ्चवटीके रमणीय प्रदेशमें श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर पर्णशालाका निर्माण तथा उसमें सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका निवास

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्यालमृगायुताम्।
उवाच लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

नाना प्रकारके सर्पों, हिंसक जन्तुओं और मृगोंसे भरी हुई पञ्चवटीमें पहुँचकर श्रीरामने उद्दीप्त तेजवाले अपने भाई लक्ष्मणसे कहा— ॥ १ ॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टं यं देशं मुनिरब्रवीत्।
अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितकाननः ॥ २ ॥

'सौम्य! मुनिवर अगस्त्यने हमें जिस स्थानका परिचय दिया था, उनके तथाकथित स्थानमें हमलोग आ पहुँचे। यही पञ्चवटीका प्रदेश है। यहाँका वनप्रान्त पुष्पोंसे कैसी शोभा पा रहा है ॥ २ ॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो ह्यसि।
आश्रमः कतरस्मिन् नो देशे भवति सम्मतः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण! तुम इस वनमें चारों ओर दृष्टि डालो; क्योंकि इस कार्यमें निपुण हो। देखकर यह निश्चय करो कि किस स्थानपर आश्रम बनाना हमारे लिये अच्छा होगा ॥ ३ ॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण।
तादृशो दृश्यतां देशः संनिकृष्टजलाशयः ॥ ४ ॥
वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा।
संनिकृष्टं च यस्मिंस्तु समित्पुष्पकुशोदकम् ॥ ५ ॥

'लक्ष्मण! तुम किसी ऐसे स्थानको ढूँढ़ निकालो, जहाँसे जलाशय निकट हो, जहाँ विदेहकुमारी सीताका मन लगे, जहाँ तुम और हम भी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें, जहाँ वन और जल दोनोंका रमणीय दृश्य हो तथा जिस स्थानके आस-पास ही समिधा, फूल, कुश और जल मिलनेकी सुविधा हो' ॥ ४-५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण दोनों हाथ जोड़कर सीताके सामने ही उन ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे इस प्रकार बोले— ॥ ६ ॥

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥ ७ ॥

'काकुत्स्थ! आपके रहते हुए मैं सदा पराधीन ही हूँ। मैं सैकड़ों या अनन्त वर्षोंतक आपकी आज्ञाके अधीन ही रहना चाहता हूँ; अतः आप स्वयं ही देखकर जो स्थान सुन्दर जान पड़े, वहाँ आश्रम बनानेके लिये मुझे आज्ञा दें—मुझसे कहें कि तुम अमुक स्थानपर आश्रम बनाओ' ॥ ७ ॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महाद्युतिः।
विमृशन् रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥ ८ ॥
स तं रुचिरमाक्रम्य देशमाश्रमकर्मणि।
हस्ते गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

लक्ष्मणके इस वचनसे अत्यन्त तेजस्वी भगवान् श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने स्वयं ही सोच-विचारकर एक ऐसा स्थान पसंद किया, जो सब प्रकारके उत्तम गुणोंसे सम्पन्न और आश्रम बनानेके योग्य था। उस सुन्दर स्थानपर आकर श्रीरामने लक्ष्मणका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा— ॥ ८-९ ॥

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः।
इहाश्रमपदं रम्यं यथावत् कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन! यह स्थान समतल और सुन्दर है तथा फूले हुए वृक्षोंसे घिरा है। तुम्हें इसी स्थानपर यथोचित रूपसे एक रमणीय आश्रमका निर्माण करना चाहिये ॥ १० ॥

इयमादित्यसंकाशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः।
अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता ॥ ११ ॥

'यह पास ही सूर्यके समान उज्ज्वल कान्तिवाले मनोरम गन्धयुक्त कमलोंसे रमणीय प्रतीत होनेवाली तथा पद्मोंकी शोभासे सम्पन्न पुष्करिणी दिखायी देती है ॥

यथाख्यातमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता ॥ १२ ॥

'पवित्र अन्तःकरणवाले अगस्त्य मुनिने जिसके विषयमें कहा था, वह विकसित वृक्षावलियोंसे घिरी हुई रमणीय गोदावरी नदी यही है ॥ १२ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
नातिदूरे न चासन्ने मृगयूथनिपीडिता ॥ १३ ॥

'इसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी विचर रहे हैं। चकवे इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए मृगोंके झुंड इसके तटपर छाये रहते हैं। यह नदी इस स्थानसे न तो अधिक दूर है और न अत्यन्त निकट ही ॥ १३ ॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो बहुकन्दराः ।
दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लैस्तरुभिरावृताः ॥ १४ ॥

'सौम्य ! यहाँ बहुत-सी कन्दराओंसे युक्त ऊँचे-ऊँचे पर्वत दिखायी दे रहे हैं, जहाँ मयूरोंकी मीठी बोली गूँज रही है । ये रमणीय पर्वत खिले हुए वृक्षोंसे व्याप्त हैं ॥

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे तथा शुभैः ।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः ॥ १५ ॥

स्थान-स्थानपर सोने, चाँदी तथा ताँबेके समान रंगवाले सुन्दर गैरिक धातुओंसे उपलक्षित ये पर्वत ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो झरोखेके आकारमें की गयी नीले, पीले और सफेद आदि रंगोंकी उत्तम शृङ्गाररचनाओंसे अलंकृत हाथी शोभा पा रहे हों ॥ १५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरैः पनसैर्द्रुमैः ।
नीवारैस्तिनिशैश्चैव पुन्नागैश्चोपशोभिताः ॥ १६ ॥
चूतैरशोकैस्तिलकैः केतकैरपि चम्पकैः ।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः ॥ १७ ॥
स्यन्दनैश्चन्दनैर्नीपैः पर्णासैर्लकुचैरपि ।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः ॥ १८ ॥

पुष्पों, गुल्मों तथा लता-वल्लरियोंसे युक्त साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहल, जलकदम्ब, तिनिश, पुन्नाग, आम, अशोक, तिलक, केवड़ा, चम्पा, स्यन्दन, चन्दन, कदम्ब, पर्णास, लकुच, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, पलाश और पाटल (पाडर) आदि वृक्षोंसे घिरे हुए ये पर्वत बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ १६–१८ ॥

इदं पुण्यमिदं रम्यमिदं बहुमृगद्विजम् ।
इह वत्स्याम सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥ १९ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह बहुत ही पवित्र और ब[ड़ा] रमणीय स्थान है । यहाँ बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हैं। हमलोग भी यहीं इन पक्षिराज जटायुके साथ रहेंगे' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा ।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥ २० ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवा[ले] महाबली लक्ष्मणने भाईके लिये शीघ्र ही आश्रम बनाक[र] तैयार किया ॥ २० ॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघातमृत्तिकाम् ।
सुस्तम्भां मस्करैर्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥ २१ ॥
शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम् ।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥ २२ ॥
समीकृततलां रम्यां चकार सुमहाबलः ।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥ २३ ॥

वह आश्रम एक अत्यन्त विस्तृत पर्णशालाके रूपमें बनाया गया था । महाबली लक्ष्मणने पहले वहाँ मिट्टी एकत्र करके दीवार खड़ी की, फिर उसमें सुन्दर ए[वं] सुदृढ़ खम्भे लगाये । खम्भोंके ऊपर बड़े-बड़े बाँस तिरछे करके रखे । बासोंके रख दिये जानेपर वह कुटी बड़ी सुन्दर दिखायी देने लगी । फिर उन बाँसोंपर उन्होंने शमीवृक्षकी शाखाएँ फैला दीं और उन्हें मजबूत रस्सियोंसे कसकर बाँध दिया । इसके बाद ऊपरसे कुश, कास, सरकंडे और पत्ते बिछाकर उस पर्णशालाको भलीभाँति छा दिया तथा नीचेकी भूमिको बराबर करके उस कुटीको बड़ा रमणीय बना दिया । इस प्रकार लक्ष्मणने श्रीरामचन्द्रजीके लिये परम उत्तम निवासगृह बना दिया, जो देखने ही योग्य था ॥ २१–२३ ॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान् नदीं गोदावरीं तदा ।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥ २४ ॥

उसे तैयार करके श्रीमान् लक्ष्मणने गोदावरी नदीके तटपर जाकर तत्काल उसमें स्नान किया और कमलके फूल तथा फल लेकर वे फिर वहीं लौट आये ॥ २४ ॥

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर शास्त्रीय विधिके अनुसार देवताओंके लिये फूलोंकी बलि (उपहारसामग्री) अर्पित की तथा वास्तुशान्ति करके उन्होंने अपना बनाया हुआ आश्रम श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया ॥ २५ ॥

स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया ।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयत् परम् ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीराम सीताके साथ उस नये बने हुए सुन्दर

आश्रमको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और कुछ कालतक उसके भीतर खड़े रहे ॥ २६ ॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा ।
अतिस्निग्धं च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अत्यन्त हर्षमें भरकर उन्होंने दोनों भुजाओंसे लक्ष्मणको कसकर हृदयसे लगा लिया और बड़े स्नेहके साथ यह बात कही—॥ २७ ॥

प्रीतोऽस्मि ते महत् कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ॥ २८ ॥

'सामर्थ्यशाली लक्ष्मण ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ । तुमने यह महान् कार्य किया है । उसके लिये और कोई समुचित पुरस्कार न होनेसे मैंने तुम्हें गाढ़ आलिङ्गन प्रदान किया है ॥ २८ ॥

भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम ॥ २९ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे मनोभावको तत्काल समझ लेनेवाले, कृतज्ञ और धर्मज्ञ हो । तुम-जैसे पुत्रके कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मरे नहीं हैं—तुम्हारे रूपमें वे अब भी जीवित ही हैं' ॥ २९ ॥

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः ।
तस्मिन् देशे बहुफले न्यवसत् स सुखं सुखी ॥ ३० ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर अपनी शोभाका विस्तार करनेवाले सुखी श्रीरामचन्द्रजी प्रचुर फलोंसे सम्पन्न उस पञ्चवटी-प्रदेशमें सबके साथ सुखपूर्वक रहने लगे ॥ ३० ॥

कंचित् कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च ।
अन्वास्यमानो न्यवसत् स्वर्गलोके यथामरः ॥ ३१ ॥

सीता और लक्ष्मणसे सेवित हो धर्मात्मा श्रीराम कुछ कालतक वहाँ उसी प्रकार रहे, जैसे स्वर्गलोकमें देवता निवास करते हैं ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

लक्ष्मणके द्वारा हेमन्त ऋतुका वर्णन और भरतकी प्रशंसा तथा श्रीरामका उन दोनोंके साथ गोदावरी नदीमें स्नान

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः ।
शरद्व्यपाये हेमन्तऋतुरिष्टः प्रवर्तत ॥ १ ॥

महात्मा श्रीरामको उस आश्रममें रहते हुए शरद्-ऋतु बीत गयी और प्रिय हेमन्तका आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

स कदाचित् प्रभातायां शर्वर्यां रघुनन्दनः ।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥ २ ॥

एक दिन प्रातःकाल रघुकुलनन्दन श्रीराम स्नान करनेके लिये परम रमणीय गोदावरी नदीके तटपर गये ॥

प्रह्वः कलशहस्तस्तु सीतया सह वीर्यवान् ।
पृष्ठतोऽनुव्रजन् भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी, जो बड़े ही विनीत और पराक्रमी थे, सीताके साथ-साथ हाथमें घड़ा लिये उनके पीछे-पीछे गये । जाते-जाते वे श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद ।
अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः ॥ ४ ॥

'प्रिय वचन बोलनेवाले भैया श्रीराम ! यह वही हेमन्त-काल आ पहुँचा है, जो आपको अधिक प्रिय है और जिससे यह शुभ संवत्सर अलंकृत-सा प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

नीहारपरुषो लोकः पृथिवी सस्यमालिनी ।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

'इस ऋतुमें अधिक ठण्डक या पालेके कारण लोगोंका शरीर रूखा हो जाता है । पृथ्वीपर रबीकी खेती लहलहाने लगती है । जल अधिक शीतल होनेके कारण पीनेके योग्य नहीं रहता और आग बड़ी प्रिय लगती है ॥ ५ ॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥ ६ ॥

'नवसस्येष्टि कर्मके अनुष्ठानकी इस वेलामें नूतन अन्न ग्रहण करनेके लिये की गयी आग्रयणकर्मरूप पूजाओंद्वारा देवताओं तथा पितरोंको संतुष्ट करके उक्त आग्रयणकर्मका सम्पादन करनेवाले सत्पुरुष निष्पाप हो गये हैं ॥ ६ ॥

प्राज्यकामा जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः ।
विचरन्ति महीपाला यात्रार्थं विजिगीषवः ॥ ७ ॥

'इस ऋतुमें प्रायः सभी जनपदोंके निवासियोंकी अन्न-प्राप्तिविषयक कामनाएँ प्रचुररूपसे पूर्ण हो जाती हैं । गोरसकी भी बहुतायत होती है तथा विजयकी इच्छा रखनेवाले भूपाल-गण युद्ध-यात्राके लिये विचरते रहते हैं ॥ ७ ॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम् ।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक् प्रकाशते ॥ ८ ॥

'सूर्यदेव इन दिनों यमसेवित दक्षिणदिशाका दृढ़तापूर्वक सेवन करने लगे हैं। इसलिये उत्तरदिशा सिंदूरविन्दुसे वञ्चित हुई नारीकी भाँति सुशोभित या प्रकाशित नहीं हो रही है ॥ ८ ॥

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम्।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् हिमवान् गिरिः ॥ ९ ॥

'हिमालयपर्वत तो स्वभावसे ही घनीभूत हिमके खजानेसे भरा-पूरा होता है, परंतु इस समय सूर्यदेव भी दक्षिणायनमें चले जानेके कारण उससे दूर हो गये हैं; अतः अब अधिक हिमके संचयसे सम्पन्न होकर हिमवान् गिरि स्पष्ट ही अपने नामको सार्थक कर रहा है ॥ ९ ॥

अत्यन्तसुखसंचारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः ॥ १० ॥

'मध्याह्नकालमें धूपका स्पर्श होनेसे हेमन्तके सुखमय दिन अत्यन्त सुखसे इधर-उधर विचरनेके योग्य होते हैं। इन दिनों सुसेव्य होनेके कारण सूर्यदेव सौभाग्यशाली जान पड़ते हैं और सेवनके योग्य न होनेके कारण छाँह तथा जल अभागे प्रतीत होते हैं ॥ १० ॥

मृदुसूर्याः सुनीहाराः पटुशीताः समारुताः।
शून्यारण्या हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

'आजकलके दिन ऐसे हैं कि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श कोमल (प्रिय) जान पड़ता है। कुहासे अधिक पड़ते हैं, सरदी सबल होती है, कड़ाकेका जाड़ा पड़ने लगता है। साथ ही ठण्डी हवा चलती रहती है। पाला पड़नेसे पत्तोंके झड़ जानेके कारण जंगल सूने दिखायी देते हैं और हिमके स्पर्शसे कमल गल जाते हैं ॥ ११ ॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः।
शीतवृद्धतरायामास्त्रियामा यान्ति साम्प्रतम् ॥ १२ ॥

'इस हेमन्तकालमें रातें बड़ी होने लगती हैं। इनमें सरदी बहुत बढ़ जाती है। खुले आकाशमें कोई नहीं सोते हैं। पौषमासकी ये रातें हिमपातके कारण धूसर प्रतीत होती हैं ॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

'हेमन्तकालमें चन्द्रमाका सौभाग्य सूर्यदेवमें चला गया है (चन्द्रमा सरदीके कारण असेव्य और सूर्य मन्दरश्मि होनेके कारण सेव्य हो गये हैं)। चन्द्रमण्डल हिमकणोंसे आच्छन्न होकर धूमिल जान पड़ता है; अतः चन्द्रदेव निःश्वासवायुसे मलिन हुए दर्पणकी भाँति प्रकाशित नहीं हो रहे हैं ॥ १३ ॥

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते ॥ १४ ॥

'इन दिनों पूर्णिमाकी चाँदनी रात भी तुहिन-बिन्दुओंसे मलिन दिखायी देती है—प्रकाशित नहीं होती है। ठीक उसी तरह, जैसे सीता अधिक धूप लगनेसे साँवली-सी दीखती है—पूर्ववत् शोभा नहीं पाती ॥ १४ ॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम्।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥ १५ ॥

'स्वभावसे ही जिसका स्पर्श शीतल है, वह पछुआ हवा इस समय हिमकणोंसे व्याप्त हो जानेके कारण दूनी सरदी लेकर बड़े वेगसे बह रही है ॥ १५ ॥

बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः ॥ १६ ॥

'जौ और गेहूँके खेतोंसे युक्त ये बहुसंख्यक वन भापसे ढँके हुए हैं तथा क्रौञ्च और सारस इनमें कलरव कर रहे हैं। सूर्योदयकालमें इन वनोंकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ १६ ॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः ॥ १७ ॥

'ये सुनहरे रंगके जड़हन धान खजूरके फूलके-से आकारवाली बालोंसे, जिनमें चावल भरे हुए हैं, कुछ लटक गये हैं। इन बालोंके कारण इनकी बड़ी शोभा होती है ॥ १७ ॥

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥ १८ ॥

'कुहासेसे ढकी और फैलती हुई किरणोंसे उपलक्षित होनेवाले दूरोदित सूर्य चन्द्रमाके समान दिखायी देते हैं ॥

आग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः।
संरक्तः किंचिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥ १९ ॥

'इस समय अधिक लाल और कुछ-कुछ श्वेत-पीत वर्णकी धूप पृथ्वीपर फैलकर शोभा पा रही है। पूर्वाह्णकालमें तो कुछ इसका बल जान ही नहीं पड़ता है, परंतु मध्याह्नकालमें इसके स्पर्शसे सुखका अनुभव होता है ॥ १९ ॥

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥ २० ॥

'ओसकी बूँदें पड़नेसे जहाँकी घासें कुछ-कुछ भीगी हुई जान पड़ती हैं, वह वनभूमि नवोदित सूर्यकी धूपका प्रवेश होनेसे अद्भुत शोभा पा रही है ॥ २० ॥

स्पृशन् सुविपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥ २१ ॥

'यह जंगली हाथी बहुत प्यासा हुआ है। यह सुखपूर्वक प्यास बुझानेके लिये अत्यन्त शीतल जलका स्पर्श तो करता है, किंतु उसकी ठंडक असह्य होनेके कारण अपनी सूँड़को तुरंत ही सिकोड़ लेता है ॥ २१ ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम् ॥ २२ ॥

'ये जलचर पक्षी जलके पास ही बैठे हैं; परंतु जैसे डरपोक मनुष्य युद्धभूमिमें प्रवेश नहीं करते हैं, उसी प्रकार ये पानीमें नहीं उतर रहे हैं ॥ २२ ॥

अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥ २३ ॥

'रातमें ओसबिन्दुओं और अन्धकारसे आच्छादित तथा प्रातःकाल कुहासेके अँधेरेसे ढकी हुई ये पुष्पहीन वनश्रेणियाँ सोयी हुई-सी दिखायी देती हैं ॥ २३ ॥

बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥ २४ ॥

'इस समय नदियोंके जल भापसे ढके हुए हैं। इनमें विचरनेवाले सारस केवल अपने कलरवोंसे पहचाने जाते हैं तथा ये सरिताएँ भी ओससे भीगी हुई बालूवाले अपने तटोंसे ही प्रकाशमें आती हैं (जलसे नहीं) ॥ २४ ॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद् भास्करस्य च ।
शैत्यादगाग्रस्थमपि प्रायेण रसवज्जलम् ॥ २५ ॥

'बर्फ पड़नेसे और सूर्यकी किरणोंके मन्द होनेसे अधिक सर्दीके कारण इन दिनों पर्वतके शिखरपर पड़ा हुआ जल भी प्रायः स्वादिष्ट प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

जराजर्जरितैः पत्रैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषा हिमध्वस्ता न भान्ति कमलाकराः ॥ २६ ॥

'जो पुराने पड़ जानेके कारण जर्जर हो गये हैं, जिनकी कर्णिका और केसर जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं, ऐसे दलोंसे उपलक्षित होनेवाले कमलोंके समूह पाला पड़नेसे गल गये हैं। उनमें डंठलमात्र शेष रह गये हैं। इसीलिये उनकी शोभा नष्ट हो गयी है ॥ २६ ॥

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः ।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥ २७ ॥

'पुरुषसिंह श्रीराम! इस समय धर्मात्मा भरत आपके लिये बहुत दुखी हैं और आपमें भक्ति रखते हुए नगरमें ही तपस्या कर रहे हैं ॥ २७ ॥

त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून् ।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले ॥ २८ ॥

'वे राज्य, मान तथा नाना प्रकारके बहुसंख्यक भोगोंका परित्याग करके तपस्यामें संलग्न हैं एवं नियमित आहार करते हुए इस शीतल महीतलपर बिना बिस्तरके ही शयन करते हैं ॥ २८ ॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥ २९ ॥

'निश्चय ही भरत भी इसी बेलामें स्नानके लिये उद्यत हो मन्त्री एवं प्रजाजनोंके साथ प्रतिदिन सरयू नदीके तटपर जाते होंगे ॥ २९ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः ।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥ ३० ॥

'अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार भरत जाड़ेका कष्ट सहते हुए रातके पिछले पहरमें कैसे सरयूजीके जलमें डुबकी लगाते होंगे ॥ ३० ॥

पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान् निरुदरो महान् ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेवो जितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिंदमः ।
संत्यज्य विविधान् सौख्यानार्यं सर्वात्मना श्रितः ॥ ३२ ॥

'जिनके नेत्र कमलदलके समान शोभा पाते हैं, जिनकी अङ्गकान्ति श्याम है और जिनके उदरका कुछ पता ही नहीं लगता है, ऐसे महान् धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय वचन बोलनेवाले, मृदुलस्वभाववाले महाबाहु शत्रुदमन श्रीमान् भरतने नाना प्रकारके सुखोंको त्यागकर सर्वथा आपका ही आश्रय ग्रहण किया है ॥ ३१-३२ ॥

जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥ ३३ ॥

'आपके भाई महात्मा भरतने निश्चय ही स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर ली है; क्योंकि वे भी तपस्यामें स्थित होकर आपके वनवासी जीवनका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति ।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ॥ ३४ ॥

'मनुष्य प्रायः माताके गुणोंका ही अनुवर्तन करते हैं, पिताके नहीं; इस लौकिक उक्तिको भरतने अपने बर्तावसे मिथ्या प्रमाणित कर दिया है ॥ ३४ ॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः ।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी ॥ ३५ ॥

'महाराज दशरथ जिसके पति हैं और भरत-जैसा साधु जिसका पुत्र है, वह माता कैकेयी वैसी क्रूरतापूर्ण दृष्टिवाली कैसे हो गयी?' ॥ ३५ ॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद् वदति धार्मिके ।
परिवादं जनन्यास्तमसहन् राघवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

धर्मपरायण लक्ष्मण जब स्नेहवश इस प्रकार कह रहे थे, उस समय श्रीरामचन्द्रजीसे माता कैकेयीकी निन्दा नहीं सही गयी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा— ॥ ३६ ॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥ ३७ ॥

'तात! तुम्हें मझली माता कैकेयीकी कभी निन्दा नहीं

करनी चाहिये। (यदि कुछ कहना हो तो) पहलेकी भाँति इक्ष्वाकुवंशके स्वामी भरतकी ही चर्चा करो ॥ ३७ ॥

निश्चितैव हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।
भरतस्नेहसंतप्ता बालिशीक्रियते पुनः ॥ ३८ ॥

'यद्यपि मेरी बुद्धि दृढतापूर्वक व्रतका पालन करते हुए वनमें रहनेका अटल निश्चय कर चुकी है, तथापि भरतके स्नेहसे संतप्त होकर पुनः चञ्चल हो उठती है ॥ ३८ ॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥ ३९ ॥

'मुझे भरतकी वे परम प्रिय, मधुर, मनको भानेवाली और अमृतके समान हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाली बातें याद आ रही हैं ॥ ३९ ॥

कदा ह्यहं समेष्यामि भरतेन महात्मना।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥ ४० ॥

'रघुकुलनन्दन लक्ष्मण! कब वह दिन आयेगा, जब मैं तुम्हारे साथ चलकर महात्मा भरत और वीरवर शत्रुघ्नसे मिलूँगा ॥ ४० ॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम्।
चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ गोदावरी नदीके तटपर जाकर स्नान किया ॥ ४१ ॥

तर्पयित्वाथ सलिलैस्तैः पितॄन् दैवतानपि।
स्तुवन्ति स्मोदितं सूर्यं देवताश्च तथानघाः ॥ ४२ ॥

वहाँ स्नान करके उन्होंने गोदावरीके जलसे देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। तदनन्तर जब सूर्योदय हुआ, तब वे तीनों निष्पाप व्यक्ति भगवान् सूर्यका उपस्थान करके अन्य देवताओंकी भी स्तुति करने लगे ॥ ४२ ॥

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन।
कृताभिषेकस्त्वगराजपुत्र्या
रुद्रः सनन्दिर्भगवानिवेशः ॥ ४३ ॥

सीता और लक्ष्मणके साथ स्नान करके भगवान् श्रीराम उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे पर्वतराजपुत्री उमा और नन्दीके साथ गङ्गाजीमें अवगाहन करके भगवान् रुद्र सुशोभित होते हैं ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामके आश्रममें शूर्पणखाका आना, उनका परिचय जानना और अपना परिचय देकर उनसे अपनेको भार्याके रूपमें ग्रहण करनेके लिये अनुरोध करना

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च।
तस्माद् गोदावरीतीरात् ततो जग्मुः स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

स्नान करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीता तीनों ही उस गोदावरीतटसे अपने आश्रममें लौट आये ॥ १ ॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥ २ ॥

उस आश्रममें आकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने पूर्वाह्णकालके होम-पूजन आदि कार्य पूर्ण किये, फिर वे दोनों भाई पर्णशालामें आकर बैठे ॥ २ ॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः।
स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया ॥ ३ ॥
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः ॥ ४ ॥

वहाँ सीताके साथ वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन दिनों बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आकर वहाँ उनका सत्कार करते थे। पर्णशालामें सीताके साथ बैठे हुए महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी चित्राके साथ विराजमान चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे। वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ वहाँ तरह-तरहकी बातें किया करते थे ॥ ३-४ ॥

तदासीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेतसः।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया ॥ ५ ॥
सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥ ६ ॥

उस समय जब कि श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ बातचीतमें लगे हुए थे, एक राक्षसी अकस्मात् उस स्थानपर आ पहुँची। वह दशमुख राक्षस रावणकी बहिन शूर्पणखा थी। उसने वहाँ आकर देवताओंके समान मनोहर रूपवाले श्रीरामचन्द्रजीको देखा ॥ ५-६ ॥

दीप्तास्यं च महाबाहुं पद्मपत्रायतेक्षणम्।
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ॥ ७ ॥

उनका मुख तेजस्वी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल एवं सुन्दर थे। वे हाथीके समान

मन्द गतिसे चलते थे। उन्होंने मस्तकपर जटामण्डल धारण कर रखा था ॥ ७ ॥

सुकुमारं महासत्त्वं पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्।
राममिन्दीवरश्यामं कंदर्पसदृशप्रभम् ॥ ८ ॥
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता।

परम सुकुमार, महान् बलशाली, राजोचित लक्षणोंसे युक्त, नील कमलके समान श्याम कान्तिसे सुशोभित, कामदेवके सदृश सौन्दर्यशाली तथा इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीरामको देखते ही वह राक्षसी कामसे मोहित हो गयी ॥ ८½ ॥

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी ॥ ९ ॥
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा।
प्रियरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वना ॥ १० ॥

श्रीरामका मुख सुन्दर था और शूर्पणखाका मुख बहुत ही भद्दा एवं कुरूप था। उनका मध्य भाग (कटिप्रदेश और उदर) क्षीण था; किंतु शूर्पणखा बेडौल लंबे पेटवाली थी। श्रीरामकी आँखें बड़ी-बड़ी होनेके कारण मनोहर थीं, परंतु उस राक्षसीके नेत्र कुरूप और डरावने थे। श्रीरघुनाथजीके केश चिकने और सुन्दर थे, परंतु उस निशाचरीके सिरके बाल ताँबे-जैसे लाल थे। श्रीरामका रूप बड़ा प्यारा लगता था, किंतु शूर्पणखाका रूप बीभत्स और विकराल था। श्रीराघवेन्द्र मधुर स्वरमें बोलते थे, किंतु वह राक्षसी भैरवनाद करनेवाली थी ॥ ९-१० ॥

तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी।
न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ॥ ११ ॥

ये देखनेमें सौम्य और नित्यनूतन तरुण थे, किंतु वह निशाचरी क्रूर और हजारों वर्षोंकी बुढ़िया थी। ये सरलतासे बात करनेवाले और उदार थे, किंतु उसकी बातोंमें कुटिलता भरी रहती थी। ये न्यायोचित सदाचारका पालन करनेवाले थे और वह अत्यन्त दुराचारिणी थी। श्रीराम देखनेमें प्यारे लगते थे और शूर्पणखाको देखते ही घृणा पैदा होती थी ॥ ११ ॥

शरीरजसमाविष्टा राक्षसी राममब्रवीत्।
जटी तापसवेषेण सभार्यः शरचापधृक् ॥ १२ ॥
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम्।
किमागमनकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ १३ ॥

तो वह राक्षसी कामभावसे आविष्ट हो (मनोहर रूप बनाकर) श्रीरामके पास आयी और बोली—'तपस्वीके वेशमें मस्तकपर जटा धारण किये, साथमें स्त्रीको लिये और हाथमें धनुष-बाण ग्रहण किये, इस राक्षसोंके देशमें तुम कैसे चले आये ? यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या प्रयोजन है ? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताओ' ॥ १२-१३ ॥

एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परंतपः।
ऋजुबुद्धितया सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ १४ ॥

राक्षसी शूर्पणखाके इस प्रकार पूछनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने अपने सरलस्वभावके कारण सब कुछ बताना आरम्भ किया— ॥ १४ ॥

आसीद् दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः।
तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥ १५ ॥

'देवि ! दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं, जो देवताओंके समान पराक्रमी थे। मैं उन्हींका ज्येष्ठ पुत्र हूँ और लोगोंमें राम-नामसे विख्यात हूँ ॥ १५ ॥

भ्रातायं लक्ष्मणो नाम यवीयान् मामनुव्रतः।
इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता ॥ १६ ॥

'ये मेरे छोटे भाई लक्ष्मण हैं, जो सदा मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं और ये मेरी पत्नी हैं, जो विदेहराज जनककी पुत्री तथा सीता-नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

नियोगात् तु नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः।
धर्मार्थं धर्मकाङ्क्षी च वनं वस्तुमिहागतः ॥ १७ ॥

'अपने पिता महाराज दशरथ और माता कैकेयीकी आज्ञासे प्रेरित होकर मैं धर्मपालनकी इच्छा रखकर धर्मरक्षाके ही उद्देश्यसे इस वनमें निवास करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥ १७ ॥

त्वां तु वेदितुमिच्छामि कस्य त्वं कासि कस्य वा।
त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे ॥ १८ ॥
इह वा किंनिमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः।

'अब मैं तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। तुम किसकी पुत्री हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? और तुम किसकी पत्नी हो ? तुम्हारे अङ्ग इतने मनोहर हैं कि तुम मुझे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली कोई राक्षसी प्रतीत होती हो। यहाँ किस लिये तुम आयी हो ? यह ठीक-ठीक बताओ' ॥

साब्रवीद् वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता ॥ १९ ॥
श्रूयतां राम तत्त्वार्थं वक्ष्यामि वचनं मम।
अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर वह राक्षसी कामसे पीड़ित होकर बोली—'श्रीराम ! मैं सब कुछ ठीक-ठीक बता रही हूँ। तुम मेरी बात सुनो। मेरा नाम शूर्पणखा है और मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ ॥ १९-२० ॥

अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयंकरा।
रावणो नाम मे भ्राता यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ २१ ॥

'मैं समस्त प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करती हुई इस वनमें अकेली विचरती हूँ। मेरे भाईका नाम रावण है। सम्भव है, उसका नाम तुम्हारे कानोंतक पहुँचा हो ॥ २१ ॥

वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः।
प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः॥ २२॥

'रावण विश्रवा मुनिका वीर पुत्र है, यह बात भी तुम्हारे सुननेमें आयी होगी। मेरा दूसरा भाई महाबली कुम्भकर्ण है, जिसकी निद्रा सदा ही बढ़ी रहती है॥ २२॥

विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः।
प्रख्यातवीर्यौ च रणे भ्रातरौ खरदूषणौ॥ २३॥

'मेरे तीसरे भाईका नाम विभीषण है, परंतु वह धर्मात्मा है, राक्षसोंके आचार-विचारका वह कभी पालन नहीं करता। युद्धमें जिनका पराक्रम विख्यात है, वे खर और दूषण भी मेरे भाई ही हैं॥ २३॥

तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात्।
समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम्॥ २४॥

'श्रीराम! बल और पराक्रममें मैं अपने उन सभी भाइयोंसे बढ़कर हूँ। तुम्हारे प्रथम दर्शनसे ही मेरा मन तुममें आसक्त हो गया है। (अथवा तुम्हारा रूप-सौन्दर्य अपूर्व है। आजसे पहले देवताओंमें भी किसीका ऐसा रूप मेरे देखनेमें नहीं आया है, अतः इस अपूर्व रूपके दर्शनसे मैं तुम्हारे प्रति आकृष्ट हो गयी हूँ।) यही कारण है कि मैं तुम-जैसे पुरुषोत्तमके प्रति पतिकी भावना रखकर बड़े प्रेमसे पास आयी हूँ॥ २४॥

अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी।
चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि॥ २५॥

'मैं प्रभाव (उत्कृष्ट भाव—अनुराग अथवा महान् बल-पराक्रम) से सम्पन्न हूँ और अपनी इच्छा तथा शक्तिसे समस्त लोकोंमें विचरण कर सकती हूँ, अतः अब तुम दीर्घकालके लिये मेरे पति बन जाओ। इस अबला सीताको लेकर क्या करोगे?॥ २५॥

विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव।
अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम्॥ २६॥

'यह विकारयुक्त और कुरूपा है, अतः तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं ही तुम्हारे अनुरूप हूँ, अतः मुझे अपनी भार्याके रूपमें देखो॥ २६॥

इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
अनेन सह ते भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम्॥ २७॥

'यह सीता मेरी दृष्टिमें कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और मानवी है, मैं इसे तुम्हारे इस भाईके साथ ही खा जाऊँगी॥ २७॥

ततः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च।
पश्यन् सह मया कामी दण्डकान् विचरिष्यसि॥ २८॥

'फिर तुम कामभावयुक्त हो मेरे साथ पर्वतीय शिखरों और नाना प्रकारके वनोंकी शोभा देखते हुए दण्डकवनमें विहार करना'॥ २८॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम्।
इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः॥ २९॥

शूर्पणखाके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल ककुत्स्थकुल-भूषण श्रीरामचन्द्रजी जोर-जोरसे हँसने लगे, फिर उन्होंने उस मतवाले नेत्रोंवाली निशाचरीसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया॥ २९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तदशः सर्गः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामके टाल देनेपर शूर्पणखाका लक्ष्मणसे प्रणययाचना करना, फिर उनके भी टालनेपर उसका सीतापर आक्रमण और लक्ष्मणका उसके नाक-कान काट लेना

तां तु शूर्पणखां रामः कामपाशावपाशिताम्।
स्वेच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामने कामपाशमें बँधी हुई उस शूर्पणखासे अपनी इच्छाके अनुसार मधुर वाणीमें मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा—॥ १॥

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता॥ २॥

'आदरणीया देवि! मैं विवाह कर चुका हूँ। यह मेरी प्यारी पत्नी विद्यमान है। तुम जैसी स्त्रियोंके लिये तो सौतका रहना अत्यन्त दुःखदायी ही होगा॥ २॥

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः।
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥ ३॥
अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति॥ ४॥

'ये मेरे छोटे भाई श्रीमान् लक्ष्मण बड़े शीलवान्, देखनेमें प्रिय लगनेवाले और बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं। इनके साथ स्त्री नहीं है। ये अपूर्व गुणोंसे सम्पन्न हैं। ये तरुण तो हैं ही, इनका रूप भी देखनेमें बड़ा मनोरम है। अतः यदि इन्हें भार्याकी चाह होगी तो ये ही तुम्हारे इस सुन्दर रूपके योग्य पति होंगे॥ ३-४॥

एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा॥ ५॥

'विशाललोचने! वरारोहे! जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर्वतका सेवन करती है, उसी प्रकार तुम मेरे इन छोटे भाई लक्ष्मणको पतिके रूपमें अपनाकर सौतके भयसे रहित हो इनकी सेवा करो' ॥ ५॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता।
विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ ६॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वह कामसे मोहित हुई राक्षसी उन्हें छोड़कर सहसा लक्ष्मणके पास जा पहुँची और इस प्रकार बोली—॥ ६॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याहं वरवर्णिनी।
मया सह सुखं सर्वान् दण्डकान् विचरिष्यसि॥ ७॥

'लक्ष्मण! तुम्हारे इस सुन्दर रूपके योग्य मैं ही हूँ, अतः मैं ही तुम्हारी परम सुन्दरी भार्या हो सकती हूँ। मुझे अङ्गीकार कर लेनेपर तुम मेरे साथ समूचे दण्डकारण्यमें सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे' ॥ ७॥

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः।
ततः शूर्पनखीं स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत्॥ ८॥

उस राक्षसीके ऐसा कहनेपर बातचीतमें निपुण सुमित्राकुमार लक्ष्मण मुसकराकर सूप-जैसे नखवाली उस निशाचरीसे यह युक्तियुक्त बात बोले ॥ ८॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।
सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि॥ ९॥

'लाल कमलके समान गौरवर्णवाली सुन्दरि! मैं तो दास हूँ, अपने बड़े भाई भगवान् श्रीरामके अधीन हूँ, तुम मेरी स्त्री होकर दासी बनना क्यों चाहती हो? ॥ ९॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी॥ १०॥

'विशाललोचने! मेरे बड़े भैया सम्पूर्ण ऐश्वर्यों (अथवा सभी अभीष्ट वस्तुओं) से सम्पन्न हैं। तुम उन्हींकी छोटी स्त्री हो जाओ। इससे तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध हो जायँगे और तुम सदा प्रसन्न रहोगी। तुम्हारे रूप-रंग उन्हींके योग्य निर्मल हैं ॥ १०॥

एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति॥ ११॥

'कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और वृद्धा भार्याको त्यागकर ये तुम्हें ही सादर ग्रहण करेंगे*॥

* यहाँ लक्ष्मणने उन्हीं विशेषणोंको दुहराया है, जिन्हें शूर्पणखाने सीताके लिये प्रयुक्त किया था। शूर्पणखाकी दृष्टिसे जो अर्थ है, वह ऊपर दे दिया है, परंतु लक्ष्मणकी दृष्टिमें वे विशेषण निन्दापरक नहीं, स्तुतिपरक हैं, अतः उनकी दृष्टिसे उन विशेषणोंका अर्थ यहाँ दिया जाता है—विरूपा—विशिष्ट रूपवाली त्रिभुवनसुन्दरी। असती—जिससे बढ़कर दूसरी कोई सती नहीं है ऐसी। कराला—शरीरकी गठनके अनुसार ऊँचे-नीचे अङ्गोंवाली। निर्णतोदरी—निम्न उदर अथवा क्षीण कटि-प्रदेशवाली। वृद्धा—ज्ञानमें बढ़ी-चढ़ी। अर्थात् तुम्हें छोड़कर उक्त विशेषणोंवाली सीताको ही वे ग्रहण करेंगे।

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद् भावं विचक्षणः॥ १२॥

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली वरवर्णिनि! कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस श्रेष्ठ रूपको छोड़कर मानवकन्याओंसे प्रेम करेगा?' ॥ १२॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी।
मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा॥ १३॥

लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर परिहासको न समझनेवाली उस लंबे पेटवाली विकराल राक्षसीने उनकी बातको सच्ची माना ॥ १३॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परंतपम्।
सीतया सह दुर्धर्षमब्रवीत् काममोहिता॥ १४॥

वह पर्णशालामें सीताके साथ बैठे हुए शत्रुसंतापी दुर्जय वीर श्रीरामचन्द्रजीके पास लौट आयी और कामसे मोहित होकर बोली—॥ १४॥

इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
वृद्धां भार्यामवष्टभ्य न मां त्वं बहु मन्यसे॥ १५॥

'राम! तुम इस कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और वृद्धाका आश्रय लेकर मेरा विशेष आदर नहीं करते हो ॥ १५॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्।
त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम्॥ १६॥

'अतः आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इस मानुषीको खा जाऊँगी और इस सौतके न रहनेपर तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचरण करूँगी' ॥ १६॥

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा।
अभ्यगच्छत् सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव॥ १७॥

ऐसा कहकर दहकते हुए अंगारोंके समान नेत्रोंवाली शूर्पणखा अत्यन्त क्रोधमें भरकर मृगनयनी सीताकी ओर झपटी, मानो कोई बड़ी भारी उल्का रोहिणी नामक तारेपर टूट पड़ी हो ॥ १७॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महाबलः।
विगृह्य रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १८॥

१८ महाबली श्रीरामने मौतके फंदेकी तरह आती हुई उस राक्षसीको हुंकारसे रोककर कुपित हो लक्ष्मणसे कहा—॥ १८ ॥

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित् सौम्य जीवतीम्॥ १९॥

'सुमित्रानन्दन! क्रूर कर्म करनेवाले अनार्योंसे किसी प्रकारका परिहास भी नहीं करना चाहिये। सौम्य! देखो न, इस समय सीताके प्राण किसी प्रकार बड़ी मुश्किलसे बचे हैं॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम्।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि॥ २०॥

'पुरुषसिंह! तुम्हें इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली और लंबे पेटवाली राक्षसीको कुरूप—किसी अङ्गसे हीन कर देना चाहिये'॥ २०॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः॥ २१॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आदेश देनेपर क्रोधमें भरे हुए महाबली लक्ष्मणने उनके देखते-देखते म्यानसे तलवार खींच ली और शूर्पणखाके नाक-कान काट लिये॥ २१॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च।
यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम्॥ २२॥

नाक और कान कट जानेपर भयंकर राक्षसी शूर्पणखा बड़े जोरसे चिल्लाकर जैसे आयी थी, उसी तरह वनमें भाग गयी॥ २२॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता।
ननाद विविधान् नादान् यथा प्रावृषि तोयदः॥ २३॥

खूनसे भीगी हुई वह महाभयंकर एवं विकराल रूपवाली निशाचरी नाना प्रकारके स्वरोंमें जोर-जोरसे चीत्कार करने लगी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटा गर्जन-तर्जन कर रही हो॥ २३॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना।
प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महावनम्॥ २४॥

वह देखनेमें बड़ी भयानक थी। उसने अपने कटे हुए अङ्गोंसे बारंबार खूनकी धारा बहाते और दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर चिग्घाड़ते हुए एक विशाल वनके भीतर प्रवेश किया।

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं
खरं जनस्थानगतं विरूपिता।
उपेत्य तं भ्रातरमुग्रतेजसं
पपात भूमौ गगनाद् यथाशनिः॥ २५॥

लक्ष्मणके द्वारा कुरूप की गयी शूर्पणखा वहाँसे भागकर राक्षससमूहसे घिरे हुए भयंकर तेजवाले जनस्थाननिवासी भ्राता खरके पास गयी और जैसे आकाशसे बिजली गिरती है, उसी प्रकार वह पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ २५॥

ततः सभार्यं भयमोहमूर्च्छिता
सलक्ष्मणं राघवमागतं वनम्।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा॥ २६॥

खरकी वह बहन रक्तसे नहा गयी थी और भय तथा मोहसे अचेत-सी हो रही थी। उसने वनमें सीता और लक्ष्मणके साथ श्रीरामचन्द्रजीके आने और अपने कुरूप किये जानेका सारा वृत्तान्त खरसे कह सुनाया॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टादशः सर्गः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १८॥

एकोनविंशः सर्गः

शूर्पणखाके मुखसे उसकी दुर्दशाका वृत्तान्त सुनकर क्रोधमें भरे हुए खरका श्रीराम आदिके वधके लिये चौदह राक्षसोंको भेजना

तां तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम्।
भगिनीं क्रोधसंतप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः॥ १॥

अपनी बहिनको इस प्रकार अङ्गहीन और रक्तसे भीगी हुई अवस्थामें पृथ्वीपर पड़ी देख राक्षस खर क्रोधसे जल उठा और इस प्रकार पूछने लगा—॥ १॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम्।
व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता॥ २॥

'बहिन! उठो और अपना हाल बताओ। मूर्च्छा और घबराहट छोड़ो तथा साफ-साफ कहो, किसने तुम्हें इस तरह रूपहीन बनाया है?॥ २॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम्।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया॥ ३॥

'कौन अपने सामने आकर चुपचाप बैठे हुए निरपराध एवं विषैले काले साँपको अपनी अँगुलियोंके अग्रभागसे खेल-खेलमें पीड़ा दे रहा है?॥ ३॥

कालपाशं समासज्य कण्ठे मोहान्न बुध्यते।
यस्त्वामद्य समासाद्य पीतवान् विषमुत्तमम्॥ ४॥

'जिसने आज तुमपर आक्रमण करके तुम्हारे नाक-कान काटे हैं, उसने उच्चकोटिका विष पी लिया है तथा अपने गले-

में कालका फंदा डाल लिया है, फिर भी मोहवश वह इस बातको समझ नहीं रहा है ॥ ४ ॥

बलविक्रमसम्पन्ना कामगा कामरूपिणी।
इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमागता ॥ ५ ॥

'तुम तो स्वयं ही दूसरे प्राणियोंके लिये यमराजके समान हो, बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो तथा इच्छानुसार सर्वत्र विचरने और अपनी रुचिके अनुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हो, फिर भी तुम्हें किसने इस दुरवस्थामें डाला है; जिससे दुखी होकर तुम यहाँ आयी हो ? ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम्।
कोऽयमेवं महावीर्यस्त्वां विरूपां चकार ह ॥ ६ ॥

'देवताओं, गन्धर्वों, भूतों तथा महात्मा ऋषियोंमें यह कौन ऐसा महान् बलशाली है, जिसने तुम्हें रूपहीन बना दिया ! ॥

नहि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम्।
अमरेषु सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

'संसारमें तो मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो मेरा अप्रिय कर सके। देवताओंमें सहस्रनेत्रधारी पाकशासन इन्द्र भी ऐसा साहस कर सके, यह मुझे नहीं दिखायी देता ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गणैः प्राणानादास्ये जीवितान्तगैः।
सलिले क्षीरमासक्तं निष्पिबन्निव सारसः ॥ ८ ॥

'जैसे हंस जलमें मिले हुए दूधको पी लेता है, उसी प्रकार मैं आज इन प्राणान्तकारी बाणोंसे तुम्हारे अपराधीके शरीरसे उसके प्राण ले लूँगा ॥ ८ ॥

निहतस्य मया संख्ये शरसंकृत्तमर्मणः।
सफेनं रुधिरं कस्य मेदिनी पातुमिच्छति ॥ ९ ॥

'युद्धमें मेरे बाणोंसे जिसके मर्मस्थान छिन्न-भिन्न हो गये हैं तथा जो मेरे हाथों मारा गया है, ऐसे किस पुरुषके फेन-सहित गरम-गरम रक्तको यह पृथ्वी पीना चाहती है ! ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः कायान्मांसमुत्कृत्य संगताः।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥ १० ॥

'रणभूमिमें मेरेद्वारा मारे गये किस व्यक्तिके शरीरसे मांस कुतर-कुतरकर ये हर्षमें भरे हुए झुंड-के-झुंड पक्षी खायँगे ! ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
मयापकृष्टं कृपणं शक्तास्त्रातुं महाहवे ॥ ११ ॥

'जिसे मैं महासमरमें खींच लूँ, उस दीन अपराधीको देवता, गन्धर्व, पिशाच और राक्षस भी नहीं बचा सकते ॥

उपलभ्य शनैः संज्ञां तं मे शंसितुमर्हसि।
येन त्वं दुर्विनीतेन वने विक्रम्य निर्जिता ॥ १२ ॥

'धीरे-धीरे होशमें आकर तुम मुझे उसका नाम बताओ; जिस उद्दण्डने वनमें तुमपर बलपूर्वक आक्रमण करके परास्त किया है' ॥ १२ ॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाष्पमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

भाईका विशेषतः क्रोधमें भरे हुए भाई खरका यह वचन सुनकर शूर्पणखा नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई इस प्रकार बोली—॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

'भैया ! वनमें दो तरुण पुरुष आये हैं, जो देखनेमें बड़े ही सुकुमार, रूपवान् और महान् बलवान् हैं। उन दोनोंके बड़े-बड़े नेत्र ऐसे जान पड़ते हैं मानो खिले हुए कमल हों। वे दोनों ही वल्कल-वस्त्र और मृगचर्म पहने हुए हैं ॥ १४ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

'फल और मूल ही उनका भोजन है। वे जितेन्द्रिय, तपस्वी और ब्रह्मचारी हैं। दोनों ही राजा दशरथके पुत्र और आपसमें भाई-भाई हैं। उनके नाम राम और लक्ष्मण हैं।

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
देवौ वा दानवावेतौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

'वे दो गन्धर्वराजोंके समान जान पड़ते हैं और राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। ये दोनों भाई देवता अथवा दानव हैं, यह मैं अनुमानसे भी नहीं जान सकती ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

'उन दोनोंके बीचमें एक तरुण अवस्थावाली रूपवती स्त्री भी वहाँ देखी है, जिसके शरीरका मध्यभाग बड़ा ही सुन्दर है। वह सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य ताम्।
इमामवस्थां नीताहं यथानाथासती तथा ॥ १८ ॥

'उस स्त्रीके ही कारण उन दोनोंने मिलकर मेरी एक अनाथ और कुलटा स्त्रीकी भाँति ऐसी दुर्गति की है ॥ १८ ॥

तस्याश्चानृजुवृत्तायास्तयोश्च हतयोरहम्।
सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

'मैं युद्धमें उस कुटिल आचारवाली स्त्रीके और उन दोनों राजकुमारोंके भी मारे जानेपर उनका फेनसहित रक्त पीना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

एष मे प्रथमः कामः कृतस्तत्र त्वया भवेत्।
तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥ २० ॥

'रणभूमिमें उस स्त्रीका और उन पुरुषोंका भी रक्त मैं पी सकूँ—यह मेरी पहली और प्रमुख इच्छा है, जो तुम्हारे द्वारा पूर्ण की जानी चाहिये ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान्।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान्॥ २१॥

शूर्पणखाके ऐसा कहनेपर खरने कुपित होकर अत्यन्त बलवान् चौदह राक्षसोंको, जो यमराजके समान भयंकर थे, यह आदेश दिया—॥ २१॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ।
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह॥ २२॥

'वीरो! इस भयंकर दण्डकारण्यके भीतर चीर और काला मृगचर्म धारण किये दो शस्त्रधारी मनुष्य एक युवती स्त्रीके साथ घुस आये हैं॥ २२॥

तौ हत्वा तां च दुर्वृत्तामुपावर्तितुमर्हथ।
इयं च भगिनी तेषां रुधिरं मम पास्यति॥ २३॥

'तुमलोग वहाँ जाकर पहले उन दोनों पुरुषोंको मार डालो; फिर उस दुराचारिणी स्त्रीके भी प्राण ले लो। मेरी यह बहिन उन तीनोंका रक्त पीयेगी॥ २३॥

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या भगिन्या मम राक्षसाः।
शीघ्रं सम्पाद्यतां गत्वा तौ प्रमथ्य स्वतेजसा॥ २४॥

'राक्षसो! मेरी इस बहिनका यह प्रिय मनोरथ है। तुम वहाँ जाकर अपने प्रभावसे उन दोनों मनुष्योंको मार गिराओ और बहिनके इस मनोरथको शीघ्र पूरा करो॥ २४॥

युष्माभिर्निहतौ दृष्ट्वा तावुभौ भ्रातरौ रणे।
इयं प्रहृष्टा मुदिता रुधिरं युधि पास्यति॥ २५॥

'रणभूमिमें उन दोनों भाइयोंको तुम्हारे द्वारा मारा गया देख यह हर्षसे खिल उठेगी और आनन्दमग्न होकर युद्ध-स्थलमें उनका रक्त-पान करेगी'॥ २५॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता इव॥ २६॥

खरकी ऐसी आज्ञा पाकर वे चौदहों राक्षस हवाके उड़ाये हुए बादलोंके समान विवश हो शूर्पणखाके साथ पञ्चवटीको गये॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनविंशः सर्गः॥ १९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १९॥

विंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा खरके भेजे हुए चौदह राक्षसोंका वध

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता।
राक्षसानाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया॥ १॥

तदनन्तर भयानक राक्षसी शूर्पणखा श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमपर आयी। उसने सीतासहित उन दोनों भाइयोंका उन राक्षसोंको परिचय दिया॥ १॥

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम्।
ददृशुः सीतया सार्धं लक्ष्मणेनापि सेवितम्॥ २॥

राक्षसोंने देखा—महाबली श्रीराम सीताके साथ पर्ण-शालामें बैठे हैं और लक्ष्मण भी उनकी सेवामें उपस्थित हैं॥ २॥

तां दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतांस्तांश्च राक्षसान्।
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम्॥ ३॥

इधर श्रीमान् रघुनाथजीने भी शूर्पणखा तथा उसके साथ आये हुए उन राक्षसोंको भी देखा। देखकर वे उद्दीप्त तेजवाले अपने भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ ३॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतानिह॥ ४॥

'सुमित्राकुमार! तुम थोड़ी देरतक सीताके पास खड़े हो जाओ। मैं इस राक्षसीके सहायक बनकर पीछे-पीछे आये हुए इन निशाचरोंका यहाँ अभी वध कर डालूँगा'॥ ४॥

वाक्यमेतत् ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं राघवस्य प्रपूजयन्॥ ५॥

अपने स्वरूपको समझनेवाले श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणने इसकी भूरि-भूरि सराहना करते हुए 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की॥ ५॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम्।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत्॥ ६॥

तब धर्मात्मा रघुनाथजीने अपने सुवर्णमण्डित विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और उन राक्षसोंसे कहा—॥ ६॥

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम्॥ ७॥
फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ॥ ८॥

'हम दोनों भाई राजा दशरथके पुत्र राम और लक्ष्मण हैं तथा सीताके साथ इस दुर्गम दण्डकारण्यमें आकर फल-मूलका आहार करते हुए इन्द्रियसंयमपूर्वक तपस्यामें संलग्न हैं और ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। इस प्रकार दण्डकवनमें निवास करनेवाले हम दोनों भाइयोंकी तुम किसलिये हिंसा करना चाहते हो?॥ ७-८॥

युष्मान् पापात्मकान् हन्तुं विप्रकारान् महाहवे ।
ऋषीणां तु नियोगेन सम्प्राप्तः सशरासनः ॥ ९ ॥

'देखो, तुम सब-के-सब पापात्मा तथा ऋषियोंका अपराध करनेवाले हो । उन ऋषि-मुनियोंकी आज्ञासे ही मैं धनुष-बाण लेकर महासमरमें तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आया हूँ ॥

तिष्ठतैवात्र संतुष्टा नोपवर्तितुमर्हथ ।
यदि प्राणैरिहार्थो वो निवर्तध्वं निशाचराः ॥ १० ॥

'निशाचरो ! यदि तुम्हें युद्धसे संतोष प्राप्त होता हो तो यहाँ खड़े ही रहो, भाग मत जाना और यदि तुम्हें प्राणोंका लोभ हो तो लौट जाओ (एक क्षणके लिये भी यहाँ न रुको)' ॥ १० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
ऊचुर्वाचं सुसंक्रुद्धा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः ॥ ११ ॥
संरक्तनयना घोरा रामं संरक्तलोचनम् ।
परुषा मधुराभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम् ॥ १२ ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर वे चौदहों राक्षस अत्यन्त कुपित हो उठे । ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वे घोर निशाचर हाथोंमें शूल लिये क्रोधसे लाल आँखें करके कठोर वाणीमें हर्ष और उत्साहके साथ स्वभावतः लाल नेत्रोंवाले मधुर-भाषी श्रीरामसे, जिनका पराक्रम वे देख चुके थे, यों बोले—॥ ११-१२ ॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः ।
त्वमेव हास्यसे प्राणान् सद्योऽस्माभिर्हतो युधि ॥ १३ ॥

'अरे ! तूने हमारे स्वामी महाकाय खरको क्रोध दिलाया है; अतः हमलोगोंके हाथसे युद्धमें मारा जाकर तू स्वयं ही तत्काल अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ १३ ॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।
अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्योद्धुमाहवे ॥ १४ ॥

'हम बहुत-से हैं और तू अकेला, तेरी क्या शक्ति है कि तू हमारे सामने रणभूमिमें खड़ा भी रह सके, फिर युद्ध करना तो दूरकी बात है ॥ १४ ॥

एभिर्बाहुप्रयुक्तैश्च परिघैः शूलपट्टिशैः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम् ॥ १५ ॥

'हमारी भुजाओंद्वारा छोड़े गये इन परिघों, शूलों और पट्टिशोंकी मार खाकर तू अपने हाथमें दबाये हुए इस धनुषको, बल-पराक्रमके अभिमानको तथा अपने प्राणोंको भी एक साथ ही त्याग देगा' ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्त्वा संरब्धा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा राममेवाभिदुद्रुवुः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए वे चौदहों राक्षस तरह-तरहके आयुध और तलवारें लिये श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम् ।
तानि शूलानि काकुत्स्थः समस्तानि चतुर्दश ॥ १७ ॥
तावद्भिरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषितैः ।

उन राक्षसोंने दुर्जय वीर श्रीरघुवेन्द्रपर वे शूल चलाये, परंतु ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजीने उन समस्त चौदहों शूलोंको उतने ही सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा काट डाला ॥१७½॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान् सूर्यसंनिभान् ॥ १८ ॥
जग्राह परमक्रुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान् ।
गृहीत्वा धनुरायम्य लक्ष्यानुद्दिश्य राक्षसान् ॥ १९ ॥
मुमोच राघवो बाणान् वज्रानिव शतक्रतुः ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी रघुनाथजीने अत्यन्त कुपित हो शानपर चढ़ाकर तेज किये गये सूर्यतुल्य तेजस्वी चौदह नाराच हाथमें लिये । फिर धनुष लेकर उसपर उन बाणोंको रखा और कानतक खींचकर राक्षसोंको लक्ष्य करके छोड़ दिया । मानो इन्द्रने वज्रोंका प्रहार किया हो ॥१८–१९½॥

ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद् वक्षांसि रुधिरप्लुताः ॥ २० ॥
विनिष्पेतुस्तदा भूमौ वल्मीकादिव पन्नगाः ।

वे बाण बड़े वेगसे उन राक्षसोंकी छाती छेदकर रुधिरमें डूबे हुए निकले और बाँबीसे बाहर आये हुए सर्पोंकी भाँति तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २०½ ॥

तैर्भग्नहृदया भूमौ छिन्नमूला इव द्रुमाः ॥ २१ ॥
निपेतुः शोणितस्नाता विकृता विगतासवः ।

उन नाराचोंसे हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वे राक्षस जड़से कटे हुए वृक्षोंकी भाँति धराशायी हो गये । वे सब-के-सब खूनसे नहा गये थे । उनके शरीर विकृत हो गये थे । उस अवस्थामें उनके प्राणपखेरू उड़ गये ॥ २१½ ॥

तान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता॥ २२ ॥
उपगम्य खरं सा तु किंचित्संशुष्कशोणिता ।
पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासेव वल्लरी ॥ २३ ॥

उन सबको पृथ्वीपर पड़ा देख वह राक्षसी क्रोधसे मूर्छित हो गयी और खरके पास जाकर पुनः आर्तभावसे गिर पड़ी । उसके कटे हुए कानों और नाकोंका खून सूख गया था इसलिये गोंदयुक्त लताके समान प्रतीत होती थी ॥२२-२३॥

भ्रातुः समीपे शोकार्ता ससर्ज निनदं महत् ।
सस्वरं मुमुचे बाष्पं विवर्णवदना तदा ॥ २४ ॥

भाईके निकट शोकसे पीड़ित हुई शूर्पणखा बड़े जोरसे आर्तनाद करने और फूट-फूटकर रोने तथा आँसू बहाने लगी । उस समय उसके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ २४ ॥

निपातितान् प्रेक्ष्य रणे तु राक्षसान्
प्रधाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।
वधं च तेषां निखिलेन रक्षसां
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २५ ॥

रणभूमिमें उन राक्षसोंको मारा गया देख खरकी बहिन शूर्पणखा पुनः वहाँसे भागी हुई आयी। उसने उन समस्त राक्षसोंके वधका सारा समाचार भाईसे कह सुनाया॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे विंशः सर्गः॥ २०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २०॥

एकविंशः सर्गः

शूर्पणखाका खरके पास आकर उन राक्षसोंके वधका समाचार बताना और रामका भय दिखाकर उसे युद्धके लिये उत्तेजित करना

स पुनः पतितां दृष्ट्वा क्रोधाच्छूर्पणखां पुनः।
उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थार्थमागताम्॥ १॥

शूर्पणखाको पुनः पृथ्वीपर पड़ी हुई देख अनर्थके लिये आयी हुई उस बहिनसे खरने क्रोधपूर्वक स्पष्ट वाणीमें फिर कहा—॥ १॥

मया त्विदानीं शूरास्ते राक्षसाः पिशिताशनाः।
त्वत्प्रियार्थं विनिर्दिष्टाः किमर्थं रुद्यते पुनः॥ २॥

'बहिन! मैंने तुम्हारा प्रिय करनेके लिये उस समय बहुत-से शूरवीर एवं मांसाहारी राक्षसोंको जानेकी आज्ञा दे दी थी, अब फिर तुम किसलिये रो रही हो?॥ २॥

भक्ताश्चैवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः।
हन्यमाना न हन्यन्ते न न कुर्युर्वचो मम॥ ३॥

'मैंने जिन राक्षसोंको भेजा था, वे मेरे भक्त, मुझमें अनुराग रखनेवाले और सदा मेरा हित चाहनेवाले हैं। वे किसीके मारनेपर भी मर नहीं सकते। उनके द्वारा मेरी आज्ञाका पालन न हो, यह भी सम्भव नहीं है॥ ३॥

किमेतच्छ्रोतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः।
हा नाथेति विनर्दन्ती सर्पवच्चेष्टसे क्षितौ॥ ४॥

'फिर ऐसा कौन-सा कारण उपस्थित हो गया, जिसके लिये तुम 'हा नाथ'की पुकार मचाती हुई साँपकी तरह धरतीपर लोट रही हो। मैं उसे सुनना चाहता हूँ॥ ४॥

अनाथवद् विलपसि किं नु नाथे मयि स्थिते।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ मा मैवं वैक्लव्यं त्यज्यतामिति॥ ५॥

'मेरे-जैसे संरक्षकके रहते हुए तुम अनाथकी तरह विलाप क्यों करती हो? उठो! उठो!! इस तरह लोटो मत। घबराहट छोड़ दो'॥ ५॥

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्त्विता।
विमृज्य नयने सास्रे खरं भ्रातरमब्रवीत्॥ ६॥

खरके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर वह दुर्धर्ष राक्षसी अपने आँसूभरे नेत्रोंको पोंछकर भाई खरसे बोली—॥ ६॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हतश्रवणनासिका।
शोणितौघपरिक्लिन्ना त्वया च परिसान्त्विता॥ ७॥

'भैया! मैं इस समय फिर तुम्हारे पास क्यों आयी हूँ—यह बताती हूँ, सुनो—मेरे नाक-कान कट गये और मैं खूनकी धारासे नहा उठी, उस अवस्थामें, जब पहली बार मैं आयी थी, तब तुमने मुझे बड़ी सान्त्वना दी थी॥

प्रेषिताश्च त्वया शूरा राक्षसास्ते चतुर्दश।
निहन्तुं राघवं घोरं मत्प्रियार्थं सलक्ष्मणम्॥ ८॥
ते तु रामेण सामर्षाः शूलपट्टिशपाणयः।
समरे निहताः सर्वे सायकैर्मर्मभेदिभिः॥ ९॥

'तत्पश्चात् मेरा प्रिय करनेके लिये लक्ष्मणसहित रामका वध करनेके उद्देश्यसे तुमने जो वे चौदह शूरवीर राक्षस भेजे थे, वे सब-के-सब अमर्षमें भरकर हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये वहाँ जा पहुँचे, परंतु रामने अपने मर्मभेदी बाणोंद्वारा उन सबको समराङ्गणमें मार गिराया॥ ८-९॥

तान् भूमौ पतितान् दृष्ट्वा क्षणेनैव महाजवान्।
रामस्य च महत्कर्म महांस्त्रासोऽभवन्मम॥ १०॥

'उन महान् वेगशाली निशाचरोंको क्षणभरमें ही धराशायी हुआ देख रामके उस महान् पराक्रमपर दृष्टिपात करके मेरे मनमें बड़ा भय उत्पन्न हो गया॥ १०॥

सास्मि भीता समुद्विग्ना विषण्णा च निशाचर।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतो भयदर्शिनी॥ ११॥

'निशाचरराज! मैं भयभीत, उद्विग्न और विषादग्रस्त हो गयी हूँ। मुझे सब ओर भय-ही-भय दिखायी देता है, इसीलिये फिर तुम्हारी शरणमें आयी हूँ॥ ११॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे॥ १२॥

'मैं शोकके उस विशाल समुद्रमें डूब गयी हूँ, जहाँ विषादरूपी मगर निवास करते हैं और त्रासकी तरङ्गमालाएँ उठती रहती हैं। तुम उस शोकसागरसे मेरा उद्धार क्यों नहीं करते हो?॥ १२॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः।
ये च मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः॥ १३॥

'जो मांसभक्षी राक्षस मेरे साथ गये थे, वे सब-के-सब रामके पैने बाणोंसे मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ १३ ॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च ।
रामेण यदि शक्तिस्ते तेजो वास्ति निशाचर ॥ १४ ॥
दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम् ।

'राक्षसराज ! यदि मुझपर और उन मरे हुए राक्षसोंपर तुम्हें दया आती हो तथा यदि रामके साथ लोहा लेनेके लिये तुममें शक्ति और तेज हो तो उन्हें मार डालो; क्योंकि दण्डकारण्यमें घर बनाकर रहनेवाले राम राक्षसोंके लिये कण्टक हैं ॥ १४½ ॥

यदि राममित्रघ्नं न त्वमद्य वधिष्यसि ॥ १५ ॥
तव चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा ।

'यदि तुम आज ही शत्रुघाती रामका वध नहीं कर डालोगे तो मैं तुम्हारे सामने ही अपने प्राण त्याग दूँगी; क्योंकि मेरी लाज लुट चुकी है ॥ १५½ ॥

बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ १६ ॥
स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलोऽपि महारणे ।

'मैं बुद्धिसे बार-बार सोचकर देखती हूँ कि तुम महासमरमें सबल होकर भी रामके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकोगे ॥ १६½ ॥

शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ १७ ॥
अपयाहि जनस्थानात् त्वरितः सहबान्धवः ।
जहि त्वं समरे मूढान्यथा तु कुलपांसन ॥ १८ ॥

'तुम अपनेको शूरवीर मानते हो, किंतु तुममें शौर्य है ही नहीं। तुमने झूठे ही अपने-आपमें पराक्रमका आरोप कर लिया है । मूढ़ ! तुम समराङ्गणमें उन दोनोंको मार डालो अन्यथा अपने कुलमें कलङ्क लगाकर भाई-बन्धुओंके साथ तुरंत ही इस जनस्थानसे भाग जाओ ॥ १७-१८ ॥

मानुषौ तौ न शक्नोषि हन्तुं वै रामलक्ष्मणौ ।
निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्विह ॥ १९ ॥

'राम और लक्ष्मण मनुष्य हैं, यदि उन्हें भी मारनेकी तुममें शक्ति नहीं है तो तुम्हारे-जैसे निर्बल और पराक्रमशून्य राक्षसका यहाँ रहना कैसे सम्भव हो सकता है ! ॥ १९ ॥

रामतेजोऽभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि ।
स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ॥ २० ॥
भ्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता ।

'तुम रामके तेजसे पराजित होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे; क्योंकि दशरथकुमार राम बड़े तेजस्वी हैं । उनका भाई भी महान् पराक्रमी है, जिसने मुझे नाक-कानसे हीन करके अत्यन्त कुरूप बना दिया' ॥ २०½ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी प्रदरोदरी ॥ २१ ॥
भ्रातुः समीपे शोकार्ता नष्टसंज्ञा बभूव ह ।
कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥ २२ ॥

इस प्रकार बहुत विलाप करके गुफाके समान गहरे पेटवाली वह राक्षसी शोकसे आतुर हो अपने भाईके पास मूर्छित-सी हो गयी और अत्यन्त दुखी हो दोनों हाथोंसे पेट पीटती हुई फूट-फूटकर रोने लगी ॥ २१-२२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

चौदह हजार राक्षसोंकी सेनाके साथ खर-दूषणका जनस्थानसे पञ्चवटीकी ओर प्रस्थान

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पणख्या खरस्ततः ।
उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

शूर्पणखाद्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होकर शूरवीर खरने राक्षसोंके बीच अत्यन्त कठोर वाणीमें कहा—॥ १ ॥

तवापमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम ।
न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ इवोल्बणम् ॥ २ ॥

'बहिन ! तुम्हारे अपमानके कारण मुझे बेतरह क्रोध चढ़ आया है । इसे धारण करना या दबा देना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे पूर्णिमाको प्रचण्ड वेगसे बढ़े हुए खारे पानीके समुद्रके जलको (अथवा यह उसी प्रकार असह्य है, जैसे घावपर नमकीन पानीका छिड़कना) ॥ २ ॥

न रामं गणये वीर्यान्मानुषं क्षीणजीवितम् ।
आत्मदुश्चरितैः प्राणान् हतो योऽद्य विमोक्ष्यते ॥ ३ ॥

'मैं पराक्रमकी दृष्टिसे रामको कुछ भी नहीं गिनता हूँ; क्योंकि उस मनुष्यका जीवन अब क्षीण हो चला है । वह अपने दुष्कर्मोंसे ही मारा जाकर आज प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ ३ ॥

बाष्पः संधार्यतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम् ।
अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥

'तुम अपने आँसुओंको रोको और यह घबराहट छोड़ो । मैं भाईसहित रामको अभी यमलोक पहुँचा देता हूँ ॥ ४ ॥

परश्वधहतस्याद्य मन्दप्राणस्य भूतले ।

रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ ५ ॥

'राक्षसी ! आज मेरे फरसेकी मारसे निष्पाप होकर धरतीपर पड़े हुए रामका गरम-गरम रक्त तुम्हें पीनेको मिलेगा' ॥ ५ ॥

सम्प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्च्युतम् ।
प्रशशंस पुनर्मौर्ख्याद् भ्रातरं रक्षसां वरम् ॥ ६ ॥

खरके मुखसे निकली हुई इस बातको सुनकर शूर्पणखाको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने मूर्खतावश राक्षसोंमें श्रेष्ठ भाई खरकी पुनः भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ६ ॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः ।
अब्रवीद् दूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा ॥ ७ ॥

उसने पहले जिसका कठोर वाणीद्वारा तिरस्कार किया और पुनः जिसकी अत्यन्त सराहना की, उस खरने उस समय अपने सेनापति दूषणसे कहा—॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम् ।
रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥
नीलजीमूतवर्णानां लोकहिंसाविहारिणाम् ।
सर्वोद्योगमुदीर्णानां रक्षसां सौम्य कारय ॥ ९ ॥

'सौम्य ! मेरे मनके अनुकूल चलनेवाले, युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले, भयंकर वेगशाली मेघोंकी काली घटाके समान काले रंगवाले, लोगोंकी हिंसासे ही क्रीड़ा-विहार करनेवाले तथा युद्धमें उत्साहपूर्वक आगे बढ़नेवाले चौदह सहस्र राक्षसोंको युद्धके लिये भेजनेकी पूरी तैयारी कराओ ॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूंषि च ।
शरांश्च चित्रान् खड्गांश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः ॥

'सौम्य सेनापते ! तुम शीघ्र ही मेरा रथ भी यहाँ मँगवा लो । उसपर बहुत-से धनुष, बाण, विचित्र-विचित्र खड्ग और नाना प्रकारकी तीखी शक्तियोंको भी रख दो ॥ १० ॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम् ।
वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविद ॥ ११ ॥

'रणकुशल वीर ! मैं इस उद्दण्ड रामका वध करनेके लिये महामनस्वी पुलस्त्यवंशी राक्षसोंके आगे-आगे जाना चाहता हूँ' ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम् ।
सदश्वैः शबलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः ॥ १२ ॥

उसके इस प्रकार आज्ञा देते ही एक सूर्यके समान प्रकाशमान और चितकबरे रंगके अच्छे घोड़ोंसे जुता हुआ विशाल रथ वहाँ आ गया । दूषणने खरको इसकी सूचना दी ॥ १२ ॥

तं मेरुशिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
हेमचक्रमसम्बाधं वैदूर्यमयकूबरम् ॥ १३ ॥
मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः ।
माङ्गल्यैः पक्षिसङ्घैश्च ताराभिश्च समावृतम् ॥ १४ ॥
ध्वजनिस्त्रिंशसम्पन्नं किङ्किणीवरभूषितम् ।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादारुरोह खरस्तदा ॥ १५ ॥

वह रथ मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति ऊँचा था, उसे तपाये हुए सोनेके बने हुए साज-बाजसे सजाया गया था, उसके पहियोंमें सोना जड़ा हुआ था, उसका विस्तार बहुत बड़ा था, उस रथके कूबर वैदूर्यमणिसे जड़े गये थे, उसकी सजावटके लिये सोनेके बने हुए मत्स्य, फूल, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा, सूर्य, माङ्गलिक पक्षियोंके समुदाय तथा तारिकाओंसे वह रथ सुशोभित हो रहा था, उसपर ध्वजा फहरा रही थी तथा रथके भीतर खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र रखे हुए थे, छोटी-छोटी घण्टियों अथवा सुन्दर घुँघुरुओंसे सजे और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए उस रथपर राक्षसराज खर उस समय आरूढ़ हुआ । अपनी बहिनके अपमानका स्मरण करके उसके मनमें बड़ा अमर्ष हो रहा था ॥ १३—१५ ॥

खरस्तु तन्महत्सैन्यं रथचर्मायुधध्वजम् ।
निर्यातेत्यब्रवीत् प्रेक्ष्य दूषणः सर्वराक्षसान् ॥ १६ ॥

'रथ, ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजसे सम्पन्न उस विशाल सेनाकी ओर देखकर खर और दूषणने समस्त राक्षसोंसे कहा—'निकलो, आगे बढ़ो' ॥ १६ ॥

ततस्तद् राक्षसं सैन्यं घोरचर्मायुधध्वजम् ।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ॥ १७ ॥

कूच करनेकी आज्ञा प्राप्त होते ही भयंकर ढाल, अस्त्र-शस्त्र तथा ध्वजासे युक्त वह विशाल राक्षस-सेना जोर-जोरसे गर्जना करती हुई जनस्थानसे बड़े वेगके साथ निकली ॥ १७ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः ।
खड्गैश्चक्रैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैः सतोमरैः ॥ १८ ॥
शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः ।
गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥ १९ ॥
राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निर्यातानि जनस्थानात् खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ २० ॥

सैनिकोंके हाथमें मुद्गर, पट्टिश, शूल, अत्यन्त तीखे फरसे, खड्ग, चक्र और तोमर चमक उठे । शक्ति, भयंकर परिघ, विशाल धनुष, गदा, तलवार, मुसल तथा वज्र (आठ कोणवाले आयुधविशेष) उन राक्षसोंके हाथोंमें आकर बड़े भयानक दिखायी दे रहे थे । इन अस्त्र-शस्त्रोंसे उपलक्षित और खरके मनकी इच्छाके अनुसार चलनेवाले अत्यन्त भयंकर चौदह हजार राक्षस जनस्थानसे युद्धके लिये चले ॥ १८—२० ॥

तांस्तु निर्धावतो दृष्ट्वा राक्षसान् भीमदर्शनान् ।
खरस्याथ रथः किंचिज्जगाम तदनन्तरम् ॥ २१ ॥

उन भयंकर दिखायी देनेवाले राक्षसोंको धावा करते देख खरका रथ भी कुछ देर सैनिकोंके निकलनेकी प्रतीक्षा करके उनके साथ ही आगे बढ़ा ॥ २१ ॥

ततस्ताञ्छबलानश्वांस्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतमाज्ञाय सारथिः पर्यचोदयत् ॥ २२ ॥

तदनन्तर खरका अभिप्राय जानकर उसके सारथिने तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन चितकबरे घोड़ोंको हाँका ॥ २२ ॥

संचोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।
शब्देनापूरयामास दिशः सप्रदिशस्तथा ॥ २३ ॥

उसके हाँकनेपर शत्रुघाती खरका रथ शीघ्र ही अपने घर-घर शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओं तथा उपदिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगा ॥ २३ ॥

प्रवृद्धमन्युस्तु खरः खरस्वरो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथान्तकः ।
अचूचुदत् सारथिमुन्नदन् पुन-
र्महाबलो मेघ इवाश्मवर्षवान् ॥ २४ ॥

उस समय खरका क्रोध बढ़ा हुआ था । उसका स्वर भी कठोर हो गया था । वह शत्रुके वधके लिये उतावला होकर यमराजके समान भयानक जान पड़ता था । जैसे ओलोंकी वर्षा करनेवाला मेघ बड़े जोरसे गर्जना करता है, उसी प्रकार महाबली खरने उच्चस्वरसे सिंहनाद करके पुनः सारथिको रथ हाँकनेके लिये प्रेरित किया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

भयंकर उत्पातोंको देखकर भी खरका उनकी परवा नहीं करना तथा राक्षस-सेनाका श्रीरामके आश्रमके समीप पहुँचना

तत्प्रयातं बलं घोरमशिवं शोणितोदकम् ।
अभ्यवर्षन्महाघोरस्तुमुलो गर्दभारुणः ॥ १ ॥

उस सेनाके प्रस्थान करते समय आकाशमें गधेके समान धूसर रंगवाले बादलोंकी महाभयंकर घटा घिर आयी । उसकी तुमुल गर्जना होने लगी तथा सैनिकोंके ऊपर घोर अमङ्गल-सूचक रक्तमय जलकी वर्षा आरम्भ हो गयी ॥ १ ॥

निपेतुस्तुरगास्तस्य रथयुक्ता महाजवाः ।
समे पुष्पचिते देशे राजमार्गे यदृच्छया ॥ २ ॥

खरके रथमें जुते हुए महान् वेगशाली घोड़े फूल बिछे हुए समतल स्थानमें सड़कपर चलते-चलते अकस्मात् गिर पड़े ॥ २ ॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं बभूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं प्रतिगृह्य दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्यमण्डलके चारों ओर अलातचक्रके समान गोलाकार घेरा दिखायी देने लगा, जिसका रंग काला और किनारेका रंग लाल था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम् ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृध्रः सुदारुणः ॥ ४ ॥

तदनन्तर खरके रथकी सुवर्णमय दण्डवाली ऊँची ध्वजापर एक विशालकाय गीध आकर बैठ गया, जो देखनेमें बड़ा ही भयंकर था ॥ ४ ॥

जनस्थानसमीपे च समाक्रम्य खरस्वनाः ।
विस्वरान् विविधान् नादान् मांसादा मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥
व्याजह्रुरभिदीप्तायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।
अशिवं यातुधानानां शिवा घोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

कठोर स्वरवाले मांसभक्षी पशु और पक्षी जनस्थानके पास आकर विकृत स्वरमें अनेक प्रकारके विकट शब्द बोलने लगे तथा सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित हुई दिशाओंमें जोर-जोरसे चीत्कार करनेवाले और मुँहसे आग उगलनेवाले भयंकर गीदड़ राक्षसोंके लिये अमङ्गलजनक भैरवनाद करने लगे ॥

प्रभिन्नगजसंकाशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं चक्रुर्भीमाम्बुवाहकाः ॥ ७ ॥

भयंकर मेघ, जो मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान दिखायी देते थे और जलकी जगह रक्त धारण किये हुए थे, तत्काल घिर आये । उन्होंने समूचे आकाशको ढक दिया । थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं रहने दिया ॥ ७ ॥

बभूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम् ।
दिशो वा प्रदिशो वापि सुव्यक्तं न चकाशिरे ॥ ८ ॥

सब ओर अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी घना अन्धकार छा गया । दिशाओं अथवा कोणोंका स्पष्टरूपसे भान नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

क्षतजार्द्रसवर्णाभा संध्या कालं विना बभौ ।
खरं चाभिमुखं नेदुस्तदा घोरा मृगाः खगाः ॥ ९ ॥

बिना समयके ही खूनसे भीगे हुए वस्त्रके समान रंग-वाली संध्या प्रकट हो गयी। उस समय भयंकर पशु-पक्षी खरके सामने आकर गर्जना करने लगे ॥ ९ ॥

कङ्कगोमायुगृध्राश्च चुक्रुशुर्भयशंसिनः ।
नित्याशिवकरा युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः ॥ १० ॥
नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिभिराननैः ।

भयकी सूचना देनेवाले कङ्क (सफेद चील), गीदड़ और गीध खरके सामने चीत्कार करने लगे। युद्धमें सदा अमङ्गल सूचित करनेवाली और भय दिखानेवाली गीदड़ियाँ खरकी सेनाके सामने आकर आग उगलनेवाले मुखोंसे घोर शब्द करने लगीं ॥ १०½ ॥

कबन्धः परिघाभासो दृश्यते भास्करान्तिके ॥ ११ ॥
जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः ।
प्रवाति मारुतः शीघ्रं निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः ॥ १२ ॥

सूर्यके निकट परिघके समान कबन्ध (सिर कटा हुआ धड़) दिखायी देने लगा। महान् ग्रह राहु अमावास्याके बिना ही सूर्यको ग्रसने लगा। हवा तीव्र गतिसे चलने लगी एवं सूर्यदेवकी प्रभा फीकी पड़ गयी ॥ ११-१२ ॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः ।
संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः ॥ १३ ॥

बिना रातके ही जुगनूके समान चमकनेवाले तारे आकाशमें उदित हो गये। सरोवरोंमें मछली और जलपक्षी विलीन हो गये। उनके कमल सूख गये ॥ १३ ॥

तस्मिन् क्षणे बभूवुश्च विना पुष्पफलैर्द्रुमाः ।
उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः ॥ १४ ॥

उस क्षणमें वृक्षोंके फूल और फल झड़ गये। बिना हवाके ही बादलोंके समान धूसर रंगकी धूल ऊपर उठकर आकाशमें छा गयी ॥ १४ ॥

चीचीकूचीति वाश्यन्त्यो बभूवुस्तत्र सारिकाः ।
उल्काश्चापि सनिर्घोषा निपेतुर्घोरदर्शनाः ॥ १५ ॥

वहाँ वनकी सारिकाएँ चें-चें करने लगीं। भारी आवाजके साथ भयानक उल्काएँ आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगीं ॥ १५ ॥

प्रचचाल मही चापि सशैलवनकानना ।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः ॥ १६ ॥
प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत ।
सास्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः ॥ १७ ॥

पर्वत, वन और काननोंसहित धरती डोलने लगी। बुद्धिमान् खर रथपर बैठकर गर्जना कर रहा था। उस समय उसकी बायीं भुजा सहसा काँप उठी। स्वर अवरुद्ध हो गया और सब ओर देखते समय उसकी आँखोंमें आँसू आने लगे ॥ १६-१७ ॥

ललाटे च रुजो जाता न च मोहान्न्यवर्तत ।
तान् समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान् रोमहर्षणान् ॥ १८ ॥
अब्रवीद् राक्षसान् सर्वान् प्रहसन् स खरस्तदा ।

उसके सिरमें दर्द होने लगा, फिर भी मोहवश वह युद्धसे निवृत्त नहीं हुआ। उस समय प्रकट हुए उन बड़े-बड़े रोमाञ्चकारी उत्पातोंको देखकर खर जोर-जोरसे हँसने लगा और समस्त राक्षसोंसे बोला—॥ १८½ ॥

महोत्पातानिमान् सर्वानुत्थितान् घोरदर्शनान् ॥ १९ ॥
न चिन्तयाम्यहं वीर्याद् बलवान् दुर्बलानिव ।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयेयं नभस्तलात् ॥ २० ॥

'ये जो भयानक दिखायी देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हो रहे हैं, इन सबकी मैं अपने बलके भरोसे कोई परवा नहीं करता; ठीक उसी तरह, जैसे बलवान् वीर दुर्बल शत्रुओंको कुछ नहीं समझता है। मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा आकाशसे तारोंको भी गिरा सकता हूँ ॥ १९-२० ॥

मृत्युं मरणधर्मेण संक्रुद्धो योजयाम्यहम् ।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चापि लक्ष्मणम् ॥ २१ ॥
अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे ।

'यदि कुपित हो जाऊँ तो मृत्युको भी मौतके मुखमें डाल सकता हूँ। आज बलका घमंड रखनेवाले राम और उसके भाई लक्ष्मणको तीखे बाणोंसे मारे बिना मैं पीछे नहीं लौट सकता ॥ २१½ ॥

यन्निमित्तं तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः ॥ २२ ॥
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः ।

'जिसे दण्ड देनेके लिये राम और लक्ष्मणकी बुद्धिमें विपरीत विचार (क्रूरतापूर्ण कर्म करनेके भाव) का उदय हुआ है, वह मेरी बहिन शूर्पणखा उन दोनोंका खून पीकर सफलमनोरथ हो जाय ॥ २२½ ॥

न क्वचित् प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः ॥ २३ ॥
युष्माकमेतत् प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम् ।

'आजतक जितने युद्ध हुए हैं, उनमेंसे किसीमें भी पहले मेरी कभी पराजय नहीं हुई है; यह तुमलोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मैं झूठ नहीं कहता हूँ ॥ २३½ ॥

देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतगामिनम् ॥ २४ ॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ च मानवौ ।

'मैं मतवाले ऐरावतपर चलनेवाले वज्रधारी देवराज इन्द्रको भी रणभूमिमें कुपित होकर कालके गालमें डाल सकता हूँ, फिर उन दो मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?' ॥ २४½ ॥

सा तस्य गर्जितं श्रुत्वा राक्षसानां महाचमूः ॥ २५ ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता ।

खरकी यह गर्जना सुनकर राक्षसोंकी वह विशाल सेना, जो मौतके पाशसे बँधी हुई थी, अनुपम हर्षसे भर गयी ॥ २५½ ॥

समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥
ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उस समय युद्ध देखनेकी इच्छावाले बहुत-से पुण्यकर्मा महात्मा, ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण वहाँ एकत्र हो गये। एकत्र हो वे सभी मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे—॥ २६-२७ ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकानां ये च सम्मताः ।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥ २८ ॥
चक्रहस्तो यथा विष्णुः सर्वानसुरसत्तमान् ।

'गौओं और ब्राह्मणोंका कल्याण हो तथा जो अन्य लोकप्रिय महात्मा हैं, वे भी कल्याणके भागी हों। जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु समस्त असुरशिरोमणियोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार रघुकुलभूषण श्रीराम युद्धमें इन पुलस्त्यवंशी निशाचरोंको पराजित करें' ॥ २८½ ॥

एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥ २९ ॥
जातकौतूहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।
ददृशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

ये तथा और भी बहुत-सी मङ्गलकामनासूचक बातें कहते हुए वे महर्षि और देवता कौतूहलवश विमानपर बैठकर जिनकी आयु समाप्त हो चली थी, उन राक्षसोंकी उस विशाल वाहिनीको देखने लगे ॥ २९-३० ॥

रथेन तु खरो वेगात् सैन्यस्याग्राद् विनिःसृतः ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहंगमः ॥ ३१ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
हेममाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ ३२ ॥
द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ।

खर रथके द्वारा बड़े वेगसे चलकर सारी सेनासे आगे निकल आया और श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहंगम, दुर्जय, करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, हेममाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन—ये बारह महापराक्रमी राक्षस खरको दोनों ओरसे घेरकर उसके साथ-साथ चलने लगे ॥ ३१-३२½ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथस्त्रिशिरास्तथा ।
चत्वार एते सेनाग्रे दूषणं पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ३३ ॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथ और त्रिशिरा—ये चार राक्षस वीर सेनाके आगे और सेनापति दूषणके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥ ३३ ॥

सा भीमवेगा समराभिकाङ्क्षिणी
सुदारुणा राक्षसवीरसेना ।
तौ राजपुत्रौ सहसाभ्युपेता
माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥ ३४ ॥

राक्षस वीरोंकी वह भयंकर वेगवाली अत्यन्त दारुण सेना, जो युद्धकी अभिलाषासे आ रही थी, सहसा उन दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणके पास जा पहुँची, मानो ग्रहोंकी पंक्ति चन्द्रमा और सूर्यके समीप प्रकाशित हो रही हो ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीरामका तात्कालिक शकुनोंद्वारा राक्षसोंके विनाश और अपनी विजयकी सम्भावना करके सीतासहित लक्ष्मणको पर्वतकी गुफामें भेजना और युद्धके लिये उद्यत होना

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे ।
तानेवौत्पातिकान् रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥ १ ॥

प्रचण्ड पराक्रमी खर जब श्रीरामके आश्रमकी ओर चला, तब भाईसहित श्रीरामने भी उन्हीं उत्पातसूचक लक्षणोंको देखा ॥ १ ॥

तानुत्पातान् महाघोरान् रामो दृष्ट्वात्यमर्षणः ।
प्रजानामहितान् दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

प्रजाके अहितकी सूचना देनेवाले उन महाभयंकर उत्पातोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके उपद्रवका विचार करके अत्यन्त अमर्षमें भर गये और लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

इमान् पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।
समुत्थितान् महोत्पातान् संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

'महाबाहो! ये जो बड़े-बड़े उत्पात प्रकट हो रहे हैं, इनकी ओर दृष्टिपात करो। समस्त भूतोंके संहारकी सूचना देनेवाले ये महान् उत्पात इस समय इन सारे राक्षसोंका संहार करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्ते खरस्वनाः ।
व्योम्नि मेघा निवर्तन्ते परुषा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

'आकाशमें जो गधोंके समान धूसर वर्णवाले बादल इधर-उधर विचर रहे हैं, ये प्रचण्ड गर्जना करते हुए खूनकी धाराएँ बरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम युद्धाभिनन्दिताः।
रुक्मपृष्ठानि चापानि विचेष्टन्ते विचक्षण ॥ ५ ॥

'युद्धकुशल लक्ष्मण ! मेरे सारे बाण उत्पातवश उठनेवाले धूमसे सम्बद्ध हो युद्धके लिये मानो आनन्दित हो रहे हैं तथा जिनके पृष्ठभागमें सुवर्ण मढ़ा हुआ है, वे मेरे धनुष भी प्रत्यञ्चासे जुड़ जानेके लिये स्वयं ही चेष्टाशील जान पड़ते हैं ॥ ५ ॥

यादृशा इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः।
अग्रतो नोऽभयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥ ६ ॥

'यहाँ जैसे-जैसे वनचारी पक्षी बोल रहे हैं, उनसे हमारे लिये भविष्यमें अभयकी और राक्षसोंके लिये प्राणसंकटकी प्राप्ति सूचित हो रही है ॥ ६ ॥

सम्प्रहारस्तु सुमहान् भविष्यति न संशयः।
अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

'मेरी यह दाहिनी भुजा बारंबार फड़ककर इस बातकी सूचना देती है कि कुछ ही देरमें बहुत बड़ा युद्ध होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

संनिकर्षे तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम्।
सुप्रभं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥ ८ ॥

'शूरवीर लक्ष्मण ! परंतु निकटभविष्यमें ही हमारी विजय और शत्रुकी पराजय होगी; क्योंकि तुम्हारा मुख कान्तिमान् एवं प्रसन्न दिखायी दे रहा है ॥ ८ ॥

उद्यतानां हि युद्धार्थं येषां भवति लक्ष्मण।
निष्प्रभं वदनं तेषां भवत्यायुःपरिक्षयः ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! युद्धके लिये उद्यत होनेपर जिनका मुख प्रभाहीन (उदास) हो जाता है, उनकी आयु नष्ट हो जाती है ॥

रक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयतेऽयं महाध्वनिः।
आहतानां च भेरीणां राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ १० ॥

गरजते हुए राक्षसोंका यह घोर नाद सुनायी देता है तथा क्रूरकर्मा राक्षसोंद्वारा बजायी गयी भेरियोंकी यह महाभयंकर ध्वनि कानोंमें पड़ रही है ॥ १० ॥

अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता।
आपदं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ ११ ॥

'अपना कल्याण चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको उचित है कि आपत्तिकी आशङ्का होनेपर पहलेसे ही उससे बचनेका उपाय कर ले ॥ ११ ॥

तस्माद् गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम् ॥ १२ ॥

इसलिये तुम धनुष-बाण धारण करके विदेहकुमारी सीताको साथ ले पर्वतकी उस गुफामें चले जाओ, जो वृक्षोंसे आच्छादित है ॥ १२ ॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम् ॥ १३ ॥

'वत्स ! तुम मेरे इस वचनके प्रतिकूल कुछ कहो या करो, यह मैं नहीं चाहता। अपने चरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ, शीघ्र चले जाओ ॥ १३ ॥

त्वं हि शूरश्च बलवान् हन्या एतान् न संशयः।
स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥ १४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम बलवान् और शूरवीर हो तथा इन राक्षसोंका वध कर सकते हो; तथापि मैं स्वयं ही इन निशाचरोंका संहार करना चाहता हूँ (इसलिये तुम मेरी बात मानकर सीताको सुरक्षित रखनेके लिये इसे गुफामें ले जाओ)' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया।
शरानादाय चापं च गुहां दुर्गां समाश्रयत् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण धनुष-बाण ले सीताके साथ पर्वतकी दुर्गम गुफामें चले गये ॥ १५ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया।
हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत् ॥ १६ ॥

सीतासहित लक्ष्मणके गुफाके भीतर चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने 'हर्षकी बात है, लक्ष्मणने शीघ्र मेरी बात मान ली और सीताकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध हो गया' ऐसा कहकर कवच धारण किया ॥ १६ ॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः।
बभूव रामस्तिमिरे महानग्निरिवोत्थितः ॥ १७ ॥

प्रज्वलित आगके समान प्रकाशित होनेवाले उस कवचसे विभूषित हो श्रीराम अन्धकारमें प्रकट हुए महान् अग्निदेवके समान शोभा पाने लगे ॥ १७ ॥

स चापमुद्यम्य महच्छरानादाय वीर्यवान्।
सम्बभूवास्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन् दिशः ॥ १८ ॥

पराक्रमी श्रीराम महान् धनुष एवं बाण हाथमें लेकर युद्धके लिये डटकर खड़े हो गये और प्रत्यञ्चाकी टंकारसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाने लगे ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षया ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीराम और राक्षसोंका युद्ध देखनेकी इच्छासे देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारण आदि महात्मा वहाँ एकत्र हो गये ॥ १९ ॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २० ॥
स्वस्ति गोब्राह्मणानां च लोकानां चेति संस्थिताः।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥ २१ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुंगवान्।

इनके सिवा, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध ब्रह्मर्षिशिरोमणि पुण्यकर्मा महात्मा ऋषि हैं, वे सभी वहाँ जुट गये और एक साथ खड़े हो परस्पर मिलकर यों कहने लगे—'गौओं, ब्राह्मणों और समस्त लोकोंका कल्याण हो। जैसे चक्रधारी भगवान् विष्णु युद्धमें समस्त श्रेष्ठ असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार इस संग्राममें श्रीरामचन्द्रजी पुलस्त्यवंशी निशाचरोंपर विजय प्राप्त करें' ॥२०-२१½॥

एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥ २२ ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वे पुनः एक दूसरेकी ओर देखते हुए बोले—'एक ओर भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षस हैं और दूसरी ओर अकेले धर्मात्मा श्रीराम हैं, फिर यह युद्ध कैसे होगा?' ॥ २२-२३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः।
जातकौतूहलास्तस्थुर्विमानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

ऐसी बातें करते हुए राजर्षि, सिद्ध, विद्याधर आदि देवयोनिगणसहित श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि तथा विमानपर स्थित हुए देवता कौतूहलवश वहाँ खड़े हो गये ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम्।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद् विव्यथिरे तदा ॥ २५ ॥

युद्धके मुहानेपर वैष्णव तेजसे आविष्ट हुए श्रीरामको खड़ा देख उस समय सब प्राणी (उनके प्रभावको न जाननेके कारण) भयसे व्यथित हो उठे ॥ २५ ॥

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव महात्मनः ॥ २६ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले तथा रोषमें भरे हुए महात्मा श्रीरामका वह रूप कुपित हुए रुद्रदेवके समान तुलनारहित प्रतीत होता था ॥ २६ ॥

इति सम्भाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः।
ततो गम्भीरनिर्ह्रादं घोरचर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥
अनीकं यातुधानानां समन्तात् प्रत्यपद्यत।

जब देवता, गन्धर्व और चारण पूर्वोक्तरूपसे श्रीरामकी मङ्गलकामना कर रहे थे, उसी समय भयंकर ढाल-तलवार आदि आयुधों और ध्वजाओंसे उपलक्षित होनेवाली निशाचरोंकी वह सेना गम्भीर गर्जना करती हुई चारों ओरसे श्रीरामजीके पास आ पहुँची ॥ २७½ ॥

वीरालापान् विसृजतामन्योन्यमभिगच्छताम् ॥ २८ ॥
चापानि विस्फारयतां जृम्भतां चाप्यभीक्ष्णशः।
विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभींश्चापि निघ्नताम् ॥ २९ ॥
तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद् वनम्।

वे राक्षस-सैनिक वीरोचित वार्तालाप करते, युद्धका ढंग बतानेके लिये एक-दूसरेके सामने जाते, धनुषोंको खींचकर उनकी टंकार फैलाते, बारंबार मदमत्त होकर उछलते, जोर-जोरसे गर्जना करते और नगाड़े पीटते थे। उनका वह अत्यन्त तुमुल नाद उस वनमें सब ओर गूँजने लगा ॥

तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥
दुद्रुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो नावलोकयन्।

उस शब्दसे डरे हुए वनचारी हिंसक जन्तु उस वनमें गये, जहाँ किसी प्रकारका कोलाहल नहीं सुनायी पड़ता था। वे वनजन्तु भयके मारे पीछे फिरकर देखते भी नहीं थे ॥३०½॥

तच्चानीकं महावेगं रामं समनुवर्तत ॥ ३१ ॥
धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम्।

वह सेना बड़े वेगसे श्रीरामकी ओर चली। उसमें नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले सैनिक थे। वह समुद्रके समान गम्भीर दिखायी देती थी ॥ ३१½ ॥

रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥
ददर्श खरसैन्यं तद् युद्धायाभिमुखो गतः।

युद्धकलाके विद्वान् श्रीरामचन्द्रजीने भी चारों ओर दृष्टिपात करते हुए खरकी सेनाका निरीक्षण किया और वे युद्धके लिये उसके सामने बढ़ गये ॥ ३२½ ॥

वितत्य च धनुर्भीमं तूण्याश्चोद्धृत्य सायकान् ॥ ३३ ॥
क्रोधमाहारयत् तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम्।
दुष्प्रेक्ष्यश्चाभवत् क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३४ ॥

फिर उन्होंने तरकससे अनेक बाण निकाले और अपने भयंकर धनुषको खींचकर सम्पूर्ण राक्षसोंका वध करनेके लिये तीव्र क्रोध प्रकट किया। कुपित होनेपर वे प्रलयकालिक अग्निके समान प्रज्वलित होने लगे। उस समय उनकी ओर देखना भी कठिन हो गया ॥ ३३-३४ ॥

तं दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राव्यथन् वनदेवताः।
तस्य रुष्टस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा।
दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तेजसे आविष्ट हुए श्रीरामको देखकर वनके देवता व्यथित हो उठे। उस समय रोषमें भरे हुए श्रीरामका रूप दक्षयज्ञका विनाश करनेके लिये उद्यत हुए पिनाकधारी महादेवजीके समान दिखायी देने लगा ॥ ३५ ॥

तत्कार्मुकैराभरणै रथैश्च
तद्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः।
बभूव सैन्यं पिशिताशनानां
सूर्योदये नीलमिवाभ्रजालम् ॥ ३६ ॥

धनुषों, आभूषणों, रथों और अग्निके समान कान्तिवाले चमकीले कवचोंसे युक्त वह पिशाचोंकी सेना सूर्योदयकालमें नीले मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होती थी ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

राक्षसोंका श्रीरामपर आक्रमण और श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा राक्षसोंका संहार

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं तं रिपुघातिनम् ।
ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वा सगुणं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम् ।
रामस्याभिमुखं सूतं चोद्यतामित्यचोदयत् ॥ २ ॥

खरने अपने अग्रगामी सैनिकोंके साथ आश्रमके पास पहुँचकर क्रोधमें भरे हुए शत्रुघाती श्रीरामको देखा, जो हाथमें धनुष लिये खड़े थे । उन्हें देखते ही अपने तीव्र टंकार करनेवाले प्रत्यञ्चासहित धनुषको उठाकर सूतको आज्ञा दी—'मेरा रथ रामके सामने ले चलो' ॥ १-२ ॥

स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान् समचोदयत् ।
यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन् धनुः स्थितः ॥ ३ ॥

खरकी आज्ञासे सारथिने घोड़ोंको उधर ही बढ़ाया, जहाँ महाबाहु श्रीराम अकेले खड़े होकर अपने धनुषकी टंकार कर रहे थे ॥ ३ ॥

तं तु निष्पतितं दृष्ट्वा सर्वतो रजनीचराः ।
मुञ्चमाना महानादं सचिवाः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

खरको श्रीरामके समीप पहुँचा देख श्येनगामी आदि उसके निशाचर मन्त्री भी बड़े जोरसे सिंहनाद करके उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः ।
बभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥ ५ ॥

उन राक्षसोंके बीचमें रथपर बैठा हुआ खर तारोंके मध्यभागमें उगे हुए मङ्गलकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ ६ ॥

उस समय खरने समराङ्गणमें सहस्रों बाणोंद्वारा अप्रतिम बलशाली श्रीरामको पीड़ित-सा करके बड़े जोरसे गर्जना की ॥ ६ ॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।
रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए समस्त निशाचर भयंकर धनुष धारण करनेवाले दुर्जय वीर श्रीरामपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

मुद्गरैरायसैः शूलैः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ।
राक्षसाः समरे शूरं निजघ्नू रोषतत्पराः ॥ ८ ॥

उस समराङ्गणमें रुष्ट हुए राक्षसोंने शूरवीर श्रीरामपर लोहेके मुद्गरों, शूलों, प्रासों, खड्गों और फरसोंद्वारा प्रहार किया ॥ ८ ॥

ते बलाहकसंकाशा महाकाया महाबलाः ।
अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥ ९ ॥
गजैः पर्वतकूटाभै रामं युद्धे जिघांसवः ।

वे मेघोंके समान काले, विशालकाय और महाबली निशाचर रथों, घोड़ों और पर्वतशिखरके समान गजराजोंद्वारा ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामपर चारों ओरसे टूट पड़े । वे युद्धमें उन्हें मार डालना चाहते थे ॥ ९½ ॥

ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसां गणाः ॥ १० ॥
शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः ।

जैसे बड़े-बड़े मेघ गिरिराजपर जलकी धाराएँ बरसा रहे हों, उसी प्रकार वे राक्षसगण श्रीरामपर बाणोंकी वृष्टि कर रहे थे ॥ १०½ ॥

सर्वैः परिवृतो रामो राक्षसैः क्रूरदर्शनैः ॥ ११ ॥
तिथिष्विव महादेवो वृतः पारिषदां गणैः ।

क्रूरतापूर्ण दृष्टिसे देखनेवाले उन सभी राक्षसोंने श्रीरामको उसी प्रकार घेर रक्खा था, जैसे प्रदोषसंज्ञक तिथियोंमें भगवान् शिवके पार्षदगण उन्हें घेरे रहते हैं ॥ ११½ ॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ॥ १२ ॥
प्रतिजग्राह विशिखैर्नद्योघानिव सागरः ।

श्रीरघुनाथजीने राक्षसोंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंको अपने बाणोंद्वारा उसी तरह ग्रस लिया, जैसे समुद्र नदियोंके प्रवाहको आत्मसात् कर लेता है ॥ १२½ ॥

स तैः प्रहरणैर्घोरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे ॥ १३ ॥
रामः प्रदीप्तैर्बहुभिर्वज्रैरिव महाचलः ।

उन राक्षसोंके घोर अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे यद्यपि श्रीरामका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था तो भी वे व्यथित या विचलित नहीं हुए, जैसे बहुसंख्यक दीप्तिमान् वज्रोंके आघात सहकर भी महान् पर्वत अडिग बना रहता है ॥

स विद्धः क्षतजादिग्धः सर्वगात्रेषु राघवः ॥ १४ ॥

बभूव रामः संध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः ।

श्रीरघुनाथजीके सारे अङ्गोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घाव हो गया था । वे लहू-लुहान हो रहे थे, अतः उस समय संध्याकालके बादलोंसे घिरे हुए सूर्यदेवके समान शोभा पा रहे थे ॥ १४½ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ १५ ॥
एकं सहस्रैर्बहुभिस्तदा दृष्ट्वा समावृतम् ।

श्रीराम अकेले थे । उस समय उन्हें अनेक सहस्र शत्रुओंसे घिरा हुआ देख देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षि विषादमें डूब गये ॥ १५½ ॥

ततो रामस्तु संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ॥ १६ ॥
ससर्ज निशितान् बाणाञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
दुरावारान् दुर्विषहान् कालपाशोपमान् रणे ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त कुपित हो अपने धनुषको इतना खींचा कि वह गोलाकार दिखायी देने लगा । फिर तो वे उस धनुषसे रणभूमिमें सैकड़ों, हजारों ऐसे पैने बाण छोड़ने लगे, जिन्हें रोकना सर्वथा कठिन था, जो दुःसह होनेके साथ ही कालपाशके समान भयंकर थे ॥ १६-१७ ॥

मुमोच लीलया कङ्कपत्रान् काञ्चनभूषणान् ।
ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ॥ १८ ॥
आददू रक्षसां प्राणान् पाशाः कालकृता इव ।

उन्होंने खेल-खेलमें ही चीलके परोंसे युक्त असंख्य सुवर्णभूषित बाण छोड़े । शत्रुके सैनिकोंपर श्रीरामद्वारा लीलापूर्वक छोड़े गये वे बाण कालपाशके समान राक्षसोंके प्राण लेने लगे ॥ १८½ ॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ॥ १९ ॥
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसः ।

राक्षसोंके शरीरोंको छेदकर खूनमें डूबे हुए वे बाण जब आकाशमें पहुँचते, तब प्रज्वलित अग्निके समान तेजसे प्रकाशित होने लगते थे ॥ १९½ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्चापमण्डलात् ॥ २० ॥
विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ।

श्रीरामके मण्डलाकार धनुषसे अत्यन्त भयंकर और राक्षसोंके प्राण लेनेवाले असंख्य बाण छूटने लगे ॥ २०½ ॥

तैर्धनूंषि ध्वजाग्राणि चर्माणि कवचानि च ॥ २१ ॥
बाहून् सहस्ताभरणानूरून् करिकरोपमान् ।
चिच्छेद रामः समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २२ ॥

उन बाणोंद्वारा श्रीरामने समराङ्गणमें शत्रुओंके सैकड़ों-हजारों धनुष, ध्वजाओंके अग्रभाग, ढाल, कवच, आभूषणोंसहित भुजाएँ तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघें काट डालीं ॥ २१-२२ ॥

हयान् काञ्चनसंनाहान् रथयुक्तान् ससारथीन् ।
गजांश्च सगजारोहान् सहयान् सादिनस्तदा ॥ २३ ॥
चिच्छिदुर्बिभिदुश्चैव रामबाणा गुणच्युताः ।
पदातीन् समरे हत्वा ह्यनयद् यमसादनम् ॥ २४ ॥

प्रत्यञ्चासे छूटे हुए श्रीरामके बाणोंने उस समय सोनेके साज-बाज एवं कवचसे सजे और रथोंमें जुते हुए घोड़ों, सारथियों, हाथियों, हाथीसवारों, घोड़ों और घुड़सवारोंको भी छिन्न-भिन्न कर डाला । इसी प्रकार श्रीरामने समरभूमिमें पैदल सैनिकोंको भी मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ २३-२४ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
भीममार्तस्वरं चक्रुश्छिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

उस समय उनके नालीक, नाराच और तीखे अग्रभागवाले विकर्णी नामक बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न होते हुए निशाचर भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ २५ ॥

तत्सैन्यं विविधैर्बाणैरर्दितं मर्मभेदिभिः ।
न रामेण सुखं लेभे शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

श्रीरामके चलाये हुए नाना प्रकारके मर्मभेदी बाणोंद्वारा पीड़ित हुई वह राक्षससेना आगसे जलते हुए सूखे वनकी भाँति सुख-शान्ति नहीं पाती थी ॥ २६ ॥

केचिद् भीमबलाः शूराः प्रासाञ्छूलान् परश्वधान् ।
चिक्षिपुः परमक्रुद्धा रामाय रजनीचराः ॥ २७ ॥

कुछ भयंकर बलशाली शूरवीर निशाचर अत्यन्त कुपित हो श्रीरामपर प्रासों, शूलों और फरसोंका प्रहार करने लगे ॥

तेषां बाणैर्महाबाहुः शस्त्राण्यावार्य वीर्यवान् ।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेद च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परंतु पराक्रमी महाबाहु श्रीरामने रणभूमिमें अपने बाणोंद्वारा उनके उन अस्त्र-शस्त्रोंको रोककर उनके गले काट डाले और प्राण हर लिये ॥ २८ ॥

ते छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नचर्मशरासनाः ।
सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥ २९ ॥
अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णास्ते निशाचराः ।
खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं शराहताः ॥ ३० ॥

सिर, ढाल और धनुषके कट जानेपर वे निशाचर गरुड़के पंखकी हवासे टूटकर गिरनेवाले नन्दनवनके वृक्षोंकी भाँति धराशायी हो गये । जो बचे थे, वे राक्षस भी श्रीरामके बाणोंसे आहत हो विषादमें डूब गये और अपनी रक्षाके लिये खरके पास ही दौड़े गये ॥ २९-३० ॥

तान् सर्वान् धनुरादाय समाश्वास्य च दूषणः ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धः क्रुद्धं क्रुद्ध इवान्तकः ॥ ३१ ॥

परंतु बीचमें दूषणने धनुष लेकर उन सबको आश्वासन

दिया और अत्यन्त कुपित हो रोषमें भरे हुए यमराजकी भाँति वह क्रुद्ध होकर युद्धके लिये डटे हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।
राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ ३२ ॥

दूषणका सहारा मिल जानेसे निर्भय हो वे सब-के-सब फिर लौट आये और साखू, ताड़ आदिके वृक्ष तथा पत्थर लेकर पुनः श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च पाशहस्ता महाबलाः ।
सृजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे ॥ ३३ ॥

उस युद्धस्थलमें अपने हाथोंमें शूल, मुद्गर और पाश धारण किये वे महाबली निशाचर बाणों तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।
तद् बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥
रामस्यास्य महाघोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।

कोई राक्षस वृक्षोंकी वर्षा करने लगे तो कोई पत्थरों-की । उस समय इन श्रीराम और उन निशाचरोंमें पुनः बड़ा ही अद्‌भुत, महाभयंकर, घमासान और रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ ३४½ ॥

ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरार्दयन् ॥ ३५ ॥
ततः सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।
राक्षसैः सर्वतः प्राप्तैः शरवर्षाभिरावृतः ॥ ३६ ॥
स कृत्वा भैरवं नादमस्त्रं परमभास्वरम् ।
समयोजयद् गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

वे राक्षस कुपित होकर चारों ओरसे पुनः श्रीराम-चन्द्रजीको पीड़ित करने लगे । तब सब ओरसे आये हुए राक्षसोंसे सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओंको घिरी हुई देख बाण-वर्षासे आच्छादित हुए महाबली श्रीरामने भैरव-नाद करके उन राक्षसोंपर परम तेजस्वी गान्धर्व नामक अस्त्रका प्रयोग किया ॥ ३५—३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात् ।
सर्वा दश दिशो बाणैरापूर्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

फिर तो उनके मण्डलाकार धनुषसे सहस्रों बाण छूटने लगे । उन बाणोंसे दसों दिशाएँ पूर्णतः आच्छादित हो गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं शरोत्तमान् ।
विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥ ३९ ॥

बाणोंसे पीड़ित राक्षस यह नहीं देख पाते थे कि श्रीरामचन्द्रजी कब भयंकर बाण हाथमें लेते हैं और कब उन उत्तम बाणोंको छोड़ देते हैं । वे केवल उनको धनुष खींचते देखते थे ॥ ३९ ॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत् सदिवाकरम् ।
बभूवावस्थितो रामः प्रक्षिपन्निव ताञ्छरान् ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीके बाणसमुदायरूपी अन्धकारने सूर्यसहित सारे आकाशमण्डलको ढक दिया । उस समय श्रीराम उन बाणोंको लगातार छोड़ते हुए एक स्थानपर खड़े थे ॥ ४० ॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् ।
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

एक ही समय बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो एक साथ ही गिरते और गिरे हुए बहुसंख्यक राक्षसोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी ॥ ४१ ॥

निहताः पतिताः क्षीणाश्छिन्ना भिन्ना विदारिताः ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥ ४२ ॥

जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती थी, वहीं-वहीं वे हजारों राक्षस मरे, गिरे, क्षीण हुए, कटे-पिटे और विदीर्ण हुए दिखायी देते थे ॥ ४२ ॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्बाहुभिस्तथा ।
ऊरुभिर्बाहुभिश्छिन्नैर्नानारूपैर्विभूषणैः ॥ ४३ ॥
हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।
चामरव्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥
रामेण बाणाभिहतैर्विच्छिन्नैः शूलपट्टिशैः ।
खड्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परश्वधैः ॥ ४५ ॥
चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः ।
विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विस्तीर्णाभूद् भयंकरा ॥ ४६ ॥

वहाँ श्रीरामके बाणोंसे कटे हुए पगड़ियोंसहित मस्तकों, बाजूबंदसहित भुजाओं, जाँघों, बाँहों, भाँति-भाँतिके आभूषणों, घोड़ों, श्रेष्ठ हाथियों, टूटे-फूटे अनेकानेक रथों, चँवरों, व्यजनों, छत्रों, नाना प्रकारकी ध्वजाओं, छिन्न-भिन्न हुए शूलों, पट्टिशों, खण्डित खड्गों, बिखरे प्रासों, फरसों, चूर-चूर हुई शिलाओं तथा टुकड़े-टुकड़े हुए बहुतेरे विचित्र बाणोंसे पटी हुई वह समरभूमि अत्यन्त भयंकर दिखायी देती थी ॥ ४३—४६ ॥

तान् दृष्ट्वा निहतान् सर्वे राक्षसाः परमातुराः ।
न तत्र चलितुं शक्ता रामं परपुरंजयम् ॥ ४७ ॥

उन सबको मारा गया देख शेष राक्षस अत्यन्त आतुर हो वहाँ शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामके सम्मुख जानेमें असमर्थ हो गये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा दूषणसहित चौदह सहस्र राक्षसोंका वध

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं विलोक्य च।
संदिदेश महाबाहुर्भीमवेगान् दुरासदान्॥ १॥
राक्षसान् पञ्चसाहस्रान् समरेष्वनिवर्तिनः।

महाबाहु दूषणने जब देखा कि मेरी सेना बुरी तरहसे मारी जा रही है, तब उसने युद्धसे पीछे पैर न हटानेवाले भयंकर वेगशाली पाँच हजार राक्षसोंको, जिन्हें जीतना बड़ा ही कठिन था, आगे बढ़नेकी आज्ञा दी॥ १½॥

ते शूलैः पट्टिशैः खड्गैः शिलावर्षैर्द्रुमैरपि॥ २॥
शरवर्षैरविच्छिन्नं ववर्षुस्तं समन्ततः।

वे श्रीरामपर चारों ओरसे शूल, पट्टिश, तलवार, पत्थर, वृक्ष और बाणोंकी लगातार वर्षा करने लगे॥ २½॥

तद् द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत्॥ ३॥
प्रति जग्राह धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकैः।

यह देख धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने वृक्षों और शिलाओंकी उस प्राणहारिणी महावृष्टिको अपने तीखे सायकोंद्वारा रोका॥ ३½॥

प्रतिगृह्य च तद् वर्षं निमीलित इवर्षभः॥ ४॥
रामः क्रोधं परं लेभे वधार्थं सर्वरक्षसाम्।

उस सारी वर्षाको रोककर आँख मूँदे हुए साँड़की भाँति अविचल भावसे खड़े हुए श्रीरामने समस्त राक्षसोंके वधके लिये महान् क्रोध धारण किया॥ ४½॥

ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा॥ ५॥
शरैरभ्यकिरत् सैन्यं सर्वतः सहदूषणम्।

क्रोधसे युक्त और तेजसे उद्दीप्त हुए श्रीरामने दूषण-सहित सारी राक्षस-सेनापर चारों ओरसे बाणकी वर्षा आरम्भ कर दी॥ ५½॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः॥ ६॥
शरैरशनिकल्पैस्तं राघवं समवारयत्।

इससे शत्रुदूषण सेनापति दूषणको बड़ा क्रोध हुआ और उसने वज्रके समान बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीको रोका॥ ६½॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद् धनुः॥ ७॥
चिच्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान्।
हत्वा चाश्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैरर्धचन्द्रेण सारथेः॥ ८॥
शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि।

तब अत्यन्त कुपित हुए वीर श्रीरामने समराङ्गणमें क्षुरनामक बाणसे दूषणके विशाल धनुषको काट डाला और चार तीखे सायकोंसे उसके चारों घोड़ोंको मौतके घाट उतार-कर एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सारथिका भी सिर उड़ा दिया तथा तीन बाणोंसे उस राक्षसकी भी छातीमें चोट पहुँचायी॥ ७-८½॥

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः॥ ९॥
जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम्।
वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवसैन्याभिमर्दनम्॥ १०॥

धनुष कट जाने और घोड़ों तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए दूषणने पर्वतशिखरके समान एक रोमाञ्चकारी परिघ हाथमें लिया, जिसके ऊपर सोनेके पत्र मढ़े गये थे। वह परिघ देवताओंकी सेनाको भी कुचल डालनेवाला था॥ ९-१०॥

आयसैः शङ्कुभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम्।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम्॥ ११॥

उसपर चारों ओरसे लोहेकी तीखी कीलें लगी हुई थीं। वह शत्रुओंकी चर्बीसे लिपटा हुआ था। उसका स्पर्श हीरे तथा वज्रके समान कठोर एवं असह्य था। वह शत्रुओंके नगरद्वारको विदीर्ण कर डालनेमें समर्थ था॥ ११॥

तं महोरगसंकाशं प्रगृह्य परिघं रणे।
दूषणोऽभ्यपतद् रामं क्रूरकर्मा निशाचरः॥ १२॥

रणभूमिमें बहुत बड़े सर्पके समान भयंकर उस परिघको हाथमें लेकर वह क्रूरकर्मा निशाचर दूषण श्रीरामपर टूट पड़ा॥ १२॥

तस्याभिपतमानस्य दूषणस्य च राघवः।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ॥ १३॥

उसे अपने ऊपर आक्रमण करते देख श्रीरामचन्द्रजीने दो बाणोंसे आभूषणोंसहित उसकी दोनों भुजाएँ काट डालीं॥ १३॥

भ्रष्टस्तस्य महाकायः पपात रणमूर्धनि।
परिघश्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः॥ १४॥

युद्धके मुहानेपर जिसकी दोनों भुजाएँ कट गयी थीं, उस दूषणके हाथसे खिसककर वह विशालकाय परिघ इन्द्रध्वजके समान सामने गिर पड़ा॥ १४॥

कराभ्यां च विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः।
विषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव महागजः॥ १५॥

जैसे दोनों दाँतोंके उखाड़ लिये जानेपर महान् मनस्वी गजराज उनके साथ ही धराशायी हो जाता है, उसी प्रकार कटकर गिरी हुई अपनी भुजाओंके साथ ही दूषण भी पृथ्वी-पर गिर पड़ा॥ १५॥

दृष्ट्वा तं पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन् ॥ १६ ॥

रणभूमिमें मारे गये दूषणको धराशायी हुआ देख समस्त प्राणियोंने 'साधु-साधु' कहकर भगवान् श्रीरामकी प्रशंसा की ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः।
संहत्याभ्यद्रवन् रामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥ १७ ॥
महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः।

इसी समय सेनाके आगे चलनेवाले महाकपाल, स्थूलाक्ष और महाबली प्रमाथी—ये तीन राक्षस कुपित हो मौतके फंदेमें फँसकर संगठितरूपसे श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर टूट पड़े ॥ १७½ ॥

महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥ १८ ॥
स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम्।

राक्षस महाकपालने एक विशाल शूल उठाया, स्थूलाक्षने पट्टिश हाथमें लिया और प्रमाथीने फरसा सँभालकर आक्रमण किया ॥ १८½ ॥

दृष्ट्वैवापततस्तांस्तु राघवः सायकैः शितैः ॥ १९ ॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह सम्प्राप्तानतिथीनिव।

उन तीनोंको अपनी ओर आते देख भगवान् श्रीरामने तीखे अग्रभागवाले पैने सायकोंद्वारा द्वारपर आये हुए अतिथियोंके समान उनका स्वागत किया ॥ १९½ ॥

महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद रघुनन्दनः ॥ २० ॥
असंख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ प्रमाथिनम्।
स्थूलाक्षस्याक्षिणी स्थूले पूरयामास सायकैः ॥ २१ ॥

श्रीरघुनन्दनने महाकपालका सिर एवं कपाल उड़ा दिया। प्रमाथीको असंख्य बाणसमूहोंसे मथ डाला और स्थूलाक्षकी स्थूल आँखोंको सायकोंसे भर दिया ॥ २०-२१ ॥

स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः।
दूषणस्यानुगान् पञ्चसाहस्रान् कुपितः क्षणात् ॥ २२ ॥
हत्वा तु पञ्चसाहस्रैरनयद् यमसादनम्।

तीनों अग्रगामी सैनिकोंका वह समूह अनेक शाखावाले विशाल वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो दूषणके अनुयायी पाँच हजार राक्षसोंको उतने ही बाणोंका निशाना बनाकर क्षणभरमें यमलोक पहुँचा दिया ॥ २२½ ॥

दूषणं निहतं श्रुत्वा तस्य चैव पदानुगान् ॥ २३ ॥
व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान् महाबलान्।
अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥ २४ ॥
महत्या सेनया सार्धं युद्ध्वा रामं कुमानुषम्।
शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥ २५ ॥

दूषण और उसके अनुयायी मारे गये—यह सुनकर खरको बड़ा क्रोध हुआ। उसने अपने महाबली सेनापतियोंको आज्ञा दी—'वीरो! यह दूषण अपने सेवकोंसहित युद्धमें मार डाला गया। अतः अब तुम सभी राक्षस बहुत बड़ी सेनाके साथ धावा करके इस दुष्ट मनुष्य रामके साथ युद्ध करो और नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा इसका वध कर डालो' ॥ २३—२५ ॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्रुवे।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहंगमः ॥ २६ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः।
हेममाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ २७ ॥
द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः।
राममेवाभ्यधावन्त विसृजन्तः शरोत्तमान् ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए खरने श्रीरामपर ही धावा किया। साथ ही श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, हेममाली, महामाली, सर्पास्य तथा रुधिराशन—ये बारह महापराक्रमी सेनापति भी उत्तम बाणोंकी वर्षा करते हुए अपने सैनिकोंके साथ श्रीरामपर ही टूट पड़े ॥ २६—२८ ॥

ततः पावकसंकाशैर्हेमवज्रविभूषितैः।
जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥ २९ ॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सोने और हीरोंसे विभूषित अग्नितुल्य तेजस्वी सायकोंद्वारा उस सेनाके बचे-खुचे सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ॥ २९ ॥

ते रुक्मपुङ्खा विशिखाः सधूमा इव पावकाः।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान् ॥ ३० ॥

जैसे वज्र बड़े-बड़े वृक्षोंको नष्ट कर डालते हैं, उसी प्रकार धूमयुक्त अग्निके समान प्रतीत होनेवाले उन सोनेकी पाँखवाले बाणोंने उन समस्त राक्षसोंका विनाश कर डाला ॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना।
सहस्रं तु सहस्रेण जघान रणमूर्धनि ॥ ३१ ॥

उस युद्धके मुहानेपर श्रीरामने कर्णिनामक सौ बाणोंसे सौ राक्षसोंका और सहस्र बाणोंसे सहस्र निशाचरोंका एक साथ ही संहार कर डाला ॥ ३१ ॥

तैर्भिन्नवर्माभरणाश्छिन्नभिन्नशरासनाः।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां रजनीचराः ॥ ३२ ॥

उन बाणोंसे निशाचरोंके कवच, आभूषण और धनुष छिन्न-भिन्न हो गये तथा वे खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः।
विस्तीर्णा वसुधा कृत्स्ना महावेदिः कुशैरिव ॥ ३३ ॥

कुशोंसे ढकी हुई विशाल वेदीके समान युद्धमें लोहू-लुहान होकर गिरे हुए खुले केशवाले राक्षसोंसे सारी रणभूमि पट गयी ॥ ३३ ॥

तत्क्षणे तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम्।
बभूव निरयप्रख्यं मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

राक्षसोंके मारे जानेसे उस समय वहाँ रक्त और मांसकी कीचड़ जम गयी; अतः वह महाभयंकर वन नरकके समान प्रतीत होने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
हतान्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मानवरूपधारी श्रीराम अकेले और पैदल थे, तो भी उन्होंने भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको तत्काल मौतके घाट उतार दिया ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः।
राक्षसस्त्रिशिराश्चैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

उस समूची सेनामें केवल महारथी खर और त्रिशिरा ये दो ही राक्षस बच रहे। उधर शत्रुसंहारक भगवान् श्रीराम ज्यों-के-त्यों युद्धके लिये डटे रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महावीर्या राक्षसा रणमूर्धनि।
घोरा दुर्विषहाः सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७

उपर्युक्त दो राक्षसोंको छोड़कर शेष सभी निशाचर, जो महान् पराक्रमी, भयंकर और दुर्धर्ष थे, युद्धके मुहानेपर लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामके हाथों मारे गये ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्भीमबलं महाहवे
समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा।
रथेन रामं महता खरस्ततः
समाससादेन्द्र इवोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर महासमरमें महाबली श्रीरामके द्वारा अपनी भयंकर सेनाको मारी गयी देख खर एक विशाल रथके द्वारा श्रीरामका सामना करनेके लिये आया, मानो वज्रधारी इन्द्रने किसी शत्रुपर आक्रमण किया हो ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

त्रिशिराका वध

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं वाहिनीपतिः।
राक्षसस्त्रिशिरा नाम संनिपत्येदमब्रवीत् ॥ १ ॥

खरको भगवान् श्रीरामके सम्मुख जाते देख सेनापति राक्षस त्रिशिरा तुरंत उसके पास आ पहुँचा और इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्तं त्वं निवर्तस्व साहसात्।
पश्य रामं महाबाहुं संयुगे विनिपातितम् ॥ २ ॥

'राक्षसराज! मुझ पराक्रमी वीरको इस युद्धमें लगाइये और स्वयं इस साहसपूर्ण कार्यसे अलग रहिये। देखिये, मैं अभी महाबाहु रामको युद्धमें मार गिराता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्हं सर्वरक्षसाम् ॥ ३ ॥

'आपके सामने मैं सची प्रतिज्ञा करता हूँ और अपने हथियार छूकर शपथ खाता हूँ कि जो समस्त राक्षसोंके लिये वधके योग्य हैं, उन रामका मैं अवश्य वध करूँगा ॥ ३ ॥

अहं वास्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम।
विनिवर्त्य रणोत्साहं मुहूर्तं प्राश्निको भव ॥ ४ ॥

'इस युद्धमें या तो मैं इनकी मृत्यु बनूँगा या ये ही समराङ्गणमें मेरी मृत्युका कारण होंगे। आप इस समय अपने युद्धविषयक उत्साहको रोककर एक मुहूर्तके लिये जय-पराजयका निर्णय करनेवाले साक्षी बन जाइये ॥ ४ ॥

प्रहृष्टो वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि।
मयि वा निहते रामं संयुगाय प्रयास्यसि ॥ ५ ॥

'यदि मेरेद्वारा राम मारे गये तो आप प्रसन्नतापूर्वक जनस्थानको लौट जाइये अथवा यदि रामने ही मुझे मार दिया तो आप युद्धके लिये इनपर धावा बोल दीजियेगा' ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात् प्रसादितः।
गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

भगवान्‌के हाथसे मृत्युका लोभ होनेके कारण जब त्रिशिराने इस प्रकार खरको राजी किया, तब उसने आज्ञा दे दी—'अच्छा जाओ, युद्ध करो।' आज्ञा पाकर वह श्रीरामचन्द्रजीकी ओर चला ॥ ६ ॥

त्रिशिरास्तु रथेनैव वाजियुक्तेन भास्वता।
अभ्यद्रवद् रणे रामं त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७ ॥

घोड़े जुते हुए एक तेजस्वी रथके द्वारा त्रिशिराने रणभूमिमें श्रीरामपर आक्रमण किया। उस समय वह तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ७ ॥

शरधारासमूहान् स महामेघ इवोत्सृजन्।
व्यसृजत् सदृशं नादं जलार्द्रस्येव दुन्दुभेः ॥ ८ ॥

उसने आते ही बड़े भारी मेघकी भाँति बाणरूपी धाराओंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी और वह जलसे भीगे हुए नगाड़ेकी तरह विकट गर्जना करने लगा ॥ ८ ॥

आगच्छन्तं त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः।
धनुषा प्रति जग्राह विधुन्वन् सायकाञ्छितान्॥ ९॥

त्रिशिरानामक राक्षसको आते देख श्रीरघुनाथजीने धनुषके द्वारा पैने बाण छोड़ते हुए उसे अपने प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें ग्रहण किया (अथवा उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया)॥ ९॥

स सम्प्रहारस्तुमुलो रामत्रिशिरसोस्तदा।
सम्बभूवातिबलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव॥ १०॥

अत्यन्त बलशाली श्रीराम और त्रिशिराका वह संग्राम महाबली सिंह और गजराजके युद्धकी भाँति बड़ा भयंकर प्रतीत होता था॥ १०॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितस्त्रिभिः।
अमर्षी कुपितो रामः संरब्ध इदमब्रवीत्॥ ११॥

उस समय त्रिशिराने तीन बाणोंसे श्रीरामचन्द्रजीके ललाटको बींध डाला। श्रीराम उसकी यह उद्दण्डता सहन न कर सके। वे कुपित हो रोषावेशमें भरकर इस प्रकार बोले—॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम्।
पुष्पैरिव शरैर्योऽहं ललाटेऽस्मि परिक्षतः॥ १२॥
ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणाच्च्युतान्।

'अहो! पराक्रम प्रकट करनेमें शूरवीर राक्षसका ऐसा ही बल है, जो तुमने फूलों-जैसे बाणोंद्वारा मेरे ललाटपर प्रहार किया है। अच्छा, अब धनुषकी डोरीसे छूटे हुए मेरे बाणोंको भी ग्रहण करो'॥ १२½॥

एवमुक्त्वा सुसंरब्धः शरानाशीविषोपमान्॥ १३॥
त्रिशिरोवक्षसि क्रुद्धो निजघान चतुर्दश।

ऐसा कहकर रोषमें भरे हुए श्रीरामने त्रिशिराकी छातीमें क्रोधपूर्वक चौदह बाण मारे, जो विषधर सर्पोंके समान भयंकर थे॥ १३½॥

चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः संनतपर्वभिः॥ १४॥
न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः।
अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थे न्यपातयत्॥ १५॥

तदनन्तर तेजस्वी रघुनाथजीने झुकी गाँठवाले चार बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको मार गिराया। फिर आठ सायकोंद्वारा उसके सारथिको भी रथकी बैठकमें ही सुला दिया॥ १४-१५॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम्।
ततो हतरथात् तस्मादुत्पतन्तं निशाचरम्॥ १६॥
चिच्छेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽभवज्जडः।

इसके बाद श्रीरामने एक बाणसे उसकी ध्वजा भी काट डाली। तदनन्तर जब वह उस नष्ट हुए रथसे कूदने लगा, उसी समय श्रीराघवेन्द्रने अनेक बाणोंद्वारा उस निशाचरकी छाती छेद डाली। फिर तो वह जडवत् हो गया॥ १६½॥

सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः॥ १७॥
शिरांस्यपातयत् त्रीणि वेगवद्भिस्त्रिभिः शरैः।

इसके बाद अप्रमेयस्वरूप श्रीरामने अमर्षमें भरकर तीन वेगशाली एवं विनाशकारी बाणोंद्वारा उस राक्षसके तीनों मस्तक काट गिराये॥ १७½॥

स धूमशोणितोद्गारी रामबाणाभिपीडितः॥ १८॥
न्यपतत् पतितैः पूर्वं समरस्थो निशाचरः।

समराङ्गणमें खड़ा हुआ वह निशाचर श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे पीड़ित हो अपने धड़से भापसहित रुधिर उगलता हुआ पहले गिरे हुए मस्तकोंके साथ ही धराशायी हो गया॥

हतशेषास्ततो भग्ना राक्षसाः खरसंश्रयाः॥ १९॥
द्रवन्ति स्म न तिष्ठन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव।

तत्पश्चात् खरकी सेवामें रहनेवाले राक्षस, जो मरनेसे बचे हुए थे, भाग खड़े हुए। वे व्याघ्रसे डरे हुए मृगोंके समान भागते ही चले जाते थे, खड़े नहीं होते थे॥ १९½॥

तान् खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितस्त्वरन्।
राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा॥ २०॥

उन्हें भागते देख रोषमें भरे हुए खरने तुरंत लौटाया और जैसे राहु चन्द्रमापर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसने श्रीरामपर ही धावा किया॥ २०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तविंशः सर्गः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २७॥

अष्टाविंशः सर्गः

खरके साथ श्रीरामका घोर युद्ध

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह।
खरस्याप्यभवत् त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम्॥ १॥

त्रिशिरासहित दूषणको रणभूमिमें मारा गया देख श्रीरामके पराक्रमपर दृष्टिपात करके खरको भी बड़ा भय हुआ॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविषह्यं महाबलम्।
हतमेकेन रामेण दूषणस्त्रिशिरा अपि॥ २॥
तद्बलं हतभूयिष्ठं विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः।
आससाद खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा॥ ३॥

एकमात्र श्रीरामने महान् बलशाली और असह्य राक्षस-सेनाका वध कर डाला। दूषण और त्रिशिराको भी मार गिराया तथा मेरी सेनाके अधिकांश (चौदह हजार) प्रमुख वीरोंको कालके गालमें भेज दिया—यह सब देख और सोचकर राक्षस खर उदास हो गया। उसने श्रीरामपर उसी तरह आक्रमण किया, जैसे नमुचिने इन्द्रपर किया था ॥ २-३ ॥

विकृष्य बलवच्चापं नाराचान् रक्तभोजनान्।
खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ ४ ॥

खरने एक प्रबल धनुषको खींचकर श्रीरामके प्रति बहुत-से नाराच चलाये, जो रक्त पीनेवाले थे। वे समस्त नाराच रोषमें भरे हुए विषधर सर्पोंके समान प्रतीत होते थे ॥ ४ ॥

ज्यां विधुन्वन् सुबहुशः शिक्षयास्त्राणि दर्शयन्।
चचार समरे मार्गाञ्शरै रथगतः खरः ॥ ५ ॥

धनुर्विद्याके अभ्याससे प्रत्यञ्चाको हिलाता और नाना प्रकारके अस्त्रोंका प्रदर्शन करता हुआ रथारूढ़ खर समराङ्गणमें युद्धके अनेक पैंतरे दिखाता हुआ विचरने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वाश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः।
पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद् धनुः ॥ ६ ॥

उस महारथी वीरने अपने बाणोंसे समस्त दिशाओं और विदिशाओंको ढक दिया। उसे ऐसा करते देख श्रीरामने भी अपना विशाल धनुष उठाया और समस्त दिशाओंको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ६ ॥

स सायकैर्दुर्विषहैर्विस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः।
नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

जैसे मेघ जलकी वर्षासे आकाशको ढक देता है, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजीने भी आगकी चिनगारियोंके समान दुःसह सायकोंकी वर्षा करके आकाशको ठसाठस भर दिया। वहाँ थोड़ी-सी भी जगह खाली नहीं रहने दी ॥ ७ ॥

तद् बभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः।
पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसंकुलम् ॥ ८ ॥

खर और श्रीरामद्वारा छोड़े गये पैने बाणोंसे व्याप्त हो सब ओर फैला हुआ आकाश चारों ओरसे बाणोंद्वारा भर जानेके कारण अवकाशरहित हो गया ॥ ८ ॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते।
अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः सम्प्रयुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक दूसरेके वधके लिये रोषपूर्वक जूझते हुए उन दोनों वीरोंके बाण-जालसे आच्छादित होकर सूर्यदेव प्रकाशित नहीं होते थे ॥ ९ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः।
आजघान रणे रामं तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर खरने रणभूमिमें श्रीरामपर नालीक, नाराच और तीखे अग्रभागवाले विकर्णि नामक बाणोंद्वारा प्रहार किया, मानो किसी महान् गजराजको अङ्कुशोंद्वारा मारा गया हो ॥ १० ॥

तं रथस्थं धनुष्पाणिं राक्षसं पर्यवस्थितम्।
ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

उस समय हाथमें धनुष लेकर रथमें स्थिरतापूर्वक बैठे हुए राक्षस खरको समस्त प्राणियोंने पाशधारी यमराजके समान देखा ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम्।
परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

उस वेलामें समस्त सेनाओंका वध करनेवाले तथा पुरुषार्थपर डटे हुए महान् बलशाली श्रीरामको खरने थका हुआ समझा ॥ १२ ॥

तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १३ ॥

यद्यपि वह सिंहके समान चलता और सिंहके ही तुल्य पराक्रम प्रकट करता था तो भी उस खरको देखकर श्रीराम उसी तरह उद्विग्न नहीं होते थे, जैसे छोटे-से मृगको देखकर सिंह भयभीत नहीं होता है ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः।
आससादाथ तं रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् जैसे पतिङ्गा आगके पास जाता है, उसी प्रकार खर अपने सूर्यतुल्य तेजस्वी विशाल रथके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके पास गया ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः।
खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन् हस्तलाघवम् ॥ १५ ॥

वहाँ जाकर उस राक्षस खरने अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए महात्मा श्रीरामके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट डाला ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान् सप्त शरानादाय मर्मणि।
निजघान रणे क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥ १६ ॥

फिर इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले दूसरे सात बाण लेकर रणभूमिमें कुपित हुए खरने उनके द्वारा श्रीरामके मर्मस्थलमें चोट पहुँचायी ॥ १६ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम्।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ १७ ॥

तदनन्तर अप्रतिम बलशाली श्रीरामको सहस्रों बाणोंसे पीड़ित करके निशाचर खर समरभूमिमें जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ १७ ॥

ततस्तत्प्रहतं बाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः।
पपात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसम्॥ १८॥

खरके छोड़े हुए उत्तम गाँठवाले बाणोंद्वारा कटकर श्रीरामका सूर्यतुल्य तेजस्वी कवच पृथ्वीपर गिर पड़ा॥१८॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः।
रराज समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥ १९॥

उनके सभी अङ्गोंमें खरके बाण धँस गये थे। उस समय कुपित हो समरभूमिमें खड़े हुए श्रीरघुनाथजी धूमरहित प्रज्वलित अग्निकी भाँति शोभा पा रहे थे॥ १९॥

ततो गम्भीरनिर्ह्रादं रामः शत्रुनिबर्हणः।
चकारान्ताय स रिपोः सज्यमन्यन्महद्धनुः॥ २०॥

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान् श्रीरामने अपने विपक्षीका विनाश करनेके लिये एक दूसरे विशाल धनुषपर, जिसकी ध्वनि बहुत ही गम्भीर थी, प्रत्यञ्चा चढ़ायी॥२०॥

सुमहद् वैष्णवं यत् तदतिसृष्टं महर्षिणा।
वरं तद् धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत॥ २१॥

महर्षि अगस्त्यने जो महान् और उत्तम वैष्णव धनुष प्रदान किया था, उसीको लेकर उन्होंने खरपर धावा किया॥ २१॥

ततः कनकपुङ्खैस्तु शरैः संनतपर्वभिः।
चिच्छेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम्॥ २२॥

उस समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर श्रीरामने सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समराङ्गणमें खरकी ध्वजा काट डाली॥ २२॥

स दर्शनीयो बहुधा विच्छिन्नः काञ्चनो ध्वजः।
जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया॥ २३॥

वह दर्शनीय सुवर्णमय ध्वज अनेक टुकड़ोंमें कटकर धरतीपर गिर पड़ा, मानो देवताओंकी आज्ञासे सूर्यदेव भूमिपर उतर आये हों॥ २३॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः।
विव्याध हृदि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः॥ २४॥

क्रोधमें भरे हुए खरका मर्मस्थानोंका ज्ञान था। उसने श्रीरामके अङ्गोंमें, विशेषतः उनकी छातीमें चार बाण मारे, मानो किसी महावतने गजराजपर तोमरोंसे प्रहार किया हो॥ २४॥

स रामो बहुभिर्बाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः।
विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भृशम्॥ २५॥

खरके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंसे घायल होकर श्रीरामका सारा शरीर लहूलुहान हो गया। इससे उनको बड़ा रोष हुआ॥ २५॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः संगृह्य परमाहवे।
मुमोच परमेष्वासः षट् शरानभिलक्षितान्॥ २६॥

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर श्रीरामने युद्धस्थलमें पूर्वोक्त श्रेष्ठ धनुषको हाथमें लेकर लक्ष्य निश्चित करके खरको छः बाण मारे॥ २६॥

शिरस्येकेन बाणेन द्वाभ्यां बाह्वोरथार्पयत्।
त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च वक्षस्यभिजघान ह॥ २७॥

उन्होंने एक बाण उसके मस्तकमें, दोसे उसकी भुजाओंमें और तीन अर्धचन्द्राकार बाणोंसे उसकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी॥ २७॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान् भास्करोपमान्।
जघान राक्षसं क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान्॥ २८॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने कुपित होकर उस राक्षसको शानपर तेज किये हुए और सूर्यके समान चमकनेवाले तेरह बाण मारे॥ २८॥

रथस्य युगमेकेन चतुर्भिः शबलान् हयान्।
षष्ठेन च शिरः संख्ये चिच्छेद खरसारथेः॥ २९॥

एक बाणसे तो उसके रथका जूआ काट दिया, चार बाणोंसे चारों चितकबरे घोड़े मार डाले और छठे बाणसे युद्धस्थलमें खरके सारथिका मस्तक काट गिराया॥ २९॥

त्रिभिस्त्रिवेणून् बलवान् द्वाभ्यामक्षं महाबलः।
द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः॥ ३०॥
छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव।
त्रयोदशेनेन्द्रसमो बिभेद समरे खरम्॥ ३१॥

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे त्रिवेणु (जूएके आधारदण्ड) और दोसे रथके धुरेको खण्डित करके महान् शक्तिशाली और बलवान् श्रीरामने बारहवें बाणसे खरके बाणसहित धनुषके दो टुकड़े कर दिये। इसके बाद इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीराघवेन्द्रने हँसते-हँसते वज्रतुल्य तेरहवें बाणके द्वारा समराङ्गणमें खरको घायल कर दिया॥ ३०-३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा॥ ३२॥

धनुषके खण्डित होने, रथके टूटने, घोड़ोंके मारे जाने और सारथिके भी नष्ट हो जानेपर खर उस समय हाथमें गदा ले रथसे कूदकर धरतीपर खड़ा हो गया॥ ३२॥

तत् कर्म रामस्य महारथस्य
समेत्य देवाश्च महर्षयश्च।
अपूजयन् प्राञ्जलयः प्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगताः समेताः॥ ३३॥

उस अवसरपर विमानपर बैठे हुए देवता और महर्षि हर्षसे उत्फुल्ल हो परस्पर मिलकर हाथ जोड़ महारथी श्रीरामके उस कर्मकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

श्रीरामका खरको फटकारना तथा खरका भी उन्हें कठोर उत्तर देकर उनके ऊपर गदाका प्रहार करना और श्रीरामद्वारा उस गदाका खण्डन

खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम् ।
मृदुपूर्वं महातेजाः परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

खरको रथहीन होकर गदा हाथमें लिये सामने उपस्थित देख महातेजस्वी भगवान् श्रीराम पहले कोमल और फिर कठोर वाणीमें बोले—॥ १ ॥

गजाश्वरथसम्बाधे बले महति तिष्ठता ।
कृतं ते दारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥ २ ॥
उद्वेजनीयो भूतानां नृशंसः पापकर्मकृत् ।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति ॥ ३ ॥
कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर ।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम् ॥ ४ ॥

'निशाचर ! हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई विशाल सेनाके बीचमें खड़े रहकर (असंख्य राक्षसोंके स्वामित्वका अभिमान लेकर) तूने सदा जो क्रूरतापूर्ण कर्म किया है, उसकी समस्त लोकोंद्वारा निन्दा हुई है । जो समस्त प्राणियोंको उद्वेगमें डालनेवाला, क्रूर और पापाचारी है, वह तीनों लोकोंका ईश्वर हो तो भी अधिक कालतक टिक नहीं सकता । जो लोकविरोधी कठोर कर्म करनेवाला है, उसे सब लोग सामने आये हुए दुष्ट सर्पकी भाँति मारते हैं ॥ २-४ ॥

लोभात् पापानि कुर्वाणः कामाद् वा यो न बुध्यते ।
हृष्टः पश्यति तस्यान्तं ब्राह्मणी करकादिव ॥ ५ ॥

'जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है, उसकी इच्छाको 'काम' कहते हैं और प्राप्त हुई वस्तुको अधिक-से-अधिक संख्यामें पानेकी इच्छाका नाम 'लोभ' है । जो काम अथवा लोभसे प्रेरित हो पाप करता है और उसके (विनाशकारी) परिणामको नहीं समझता है, उलटे उस पापमें हर्षका अनुभव करता है, वह उसी प्रकार अपना विनाशरूप परिणाम देखता है जैसे वर्षाके साथ गिरे हुए ओलेको खाकर ब्राह्मणी (रक्तपुच्छिका) नामवाली कीड़ी अपना विनाश देखती है* ॥ ५ ॥

वसतो दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः ।
किं नु हत्वा महाभागान् फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥ ६ ॥

'राक्षस ! दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले तपस्यामें संलग्न धर्मपरायण महाभाग मुनियोंकी हत्या करके न जाने तू कौन-सा फल पायेगा ? ॥ ६ ॥

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥ ७ ॥

'जिनकी जड़ खोखली हो गयी हो, वे वृक्ष जैसे अधिक कालतक नहीं खड़े रह सकते, उसी प्रकार पापकर्म करनेवाले लोकनिन्दित क्रूर पुरुष (किसी पूर्वपुण्यके प्रभावसे) ऐश्वर्यको पाकर भी चिरकालतक उसमें प्रतिष्ठित नहीं रह पाते (उससे भ्रष्ट हो ही जाते हैं) ॥ ७ ॥

अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्यागते काले द्रुमः पुष्पमिवार्तवम् ॥ ८ ॥

'जैसे समय आनेपर वृक्षमें ऋतुके अनुसार फूल लगते ही हैं, उसी प्रकार पापकर्म करनेवाले पुरुषको समयानुसार अपने उस पापकर्मका भयंकर फल अवश्य ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

नचिरात् प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥ ९ ॥

'निशाचर ! जैसे खाये हुए विषमिश्रित अन्नका परिणाम तुरंत ही भोगना पड़ता है, उसी प्रकार लोकमें किये गये पापकर्मोंका फल शीघ्र ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम् ।
अहमासादितो राज्ञा प्राणान् हन्तुं निशाचर ॥ १० ॥

'राक्षस ! जो संसारका बुरा चाहते हुए घोर पापकर्ममें लगे हुए हैं, उन्हें प्राणदण्ड देनेके लिये मेरे पिता महाराज दशरथने मुझे यहाँ वनमें भेजा है ॥ १० ॥

अद्य भित्त्वा मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।
विदार्यातिपतिष्यन्ति वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ११ ॥

'आज मेरे छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाण जैसे सर्प

* लाल पूँछवाली एक कीड़ी होती है, जो ओला खा लेनेपर मर जाती है । वह उसके लिये विषका काम करता है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध है ।

बाँबीको छेदकर निकलते हैं, उसी प्रकार तेरे शरीरको फाड़कर पृथ्वीको भी विदीर्ण करके पातालमें जाकर गिरेंगे ॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि ॥ १२ ॥

'तूने दण्डकारण्यमें जिन धर्मपरायण ऋषियोंका भक्षण किया है; आज युद्धमें मारा जाकर सेनासहित तू भी उन्हींका अनुसरण करेगा ॥ १२ ॥

अद्य त्वां निहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः।
निरयस्थं विमानस्था ये त्वया निहताः पुरा ॥ १३ ॥

'पहले तूने जिनका वध किया है, वे महर्षि विमानपर बैठकर आज तुझे मेरे बाणोंसे मारा गया और नरकतुल्य कष्ट भोगता हुआ देखें ॥ १३ ॥

प्रहरस्व यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम।
अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥ १४ ॥

'कुलाधम ! तेरी जितनी इच्छा हो, प्रहार कर। जितना सम्भव हो, मुझे परास्त करनेका प्रयत्न कर; किंतु आज मैं तेरे मस्तकको ताड़के फलकी भाँति अवश्य काट गिराऊँगा' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः।
प्रत्युवाच ततो रामं प्रहसन् क्रोधमूर्च्छितः ॥ १५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर खर कुपित हो उठा। उसकी आँखें लाल हो गयीं। वह क्रोधसे अचेत-सा होकर हँसता हुआ श्रीरामको इस प्रकार उत्तर देने लगा—॥

प्राकृतान् राक्षसान् हत्वा युद्धे दशरथात्मज।
आत्मना कथमात्मानमप्रशस्यं प्रशंससि ॥ १६ ॥

'दशरथकुमार ! तुम साधारण राक्षसोंको युद्धमें मारकर स्वयं ही अपनी इतनी प्रशंसा कैसे कर रहे हो ? तुम प्रशंसाके योग्य कदापि नहीं हो ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः।
कथयन्ति न ते किंचित् तेजसा चातिगर्विताः ॥ १७ ॥

'जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी अथवा बलवान् होते हैं, वे अपने प्रतापके कारण अधिक घमंडमें भरकर कोई बात नहीं कहते हैं (अपने विषयमें मौन ही रहते हैं) ॥ १७ ॥

प्राकृतास्त्वकृतात्मानो लोके क्षत्रियपांसनाः।
निरर्थकं विकत्थन्ते यथा राम विकत्थसे ॥ १८ ॥

'राम ! जो क्षुद्र, अजितात्मा और क्षत्रियकुलकलंक होते हैं, वे ही संसारमें अपनी बड़ाईके लिये व्यर्थ डींग हाँका करते हैं; जैसे इस समय तुम (अपने विषयमें) बढ़-बढ़कर बातें बना रहे हो ॥ १८ ॥

कुलं व्यपदिशन् वीरः समरे कोऽभिधास्यति।
मृत्युकाले तु सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे स्तवम् ॥ १९ ॥

'जब कि मृत्युके समान युद्धका अवसर उपस्थित है, ऐसे समयमें बिना किसी प्रस्तावके ही समराङ्गणमें कौन वीर अपनी कुलीनता प्रकट करता हुआ आप ही अपनी स्तुति करेगा ? ॥ १९ ॥

सर्वथा तु लघुत्वं ते कत्थनेन विदर्शितम्।
सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना ॥ २० ॥

'जैसे पीतल सुवर्णशोधक आगमें तपाये जानेपर अपनी लघुता (कालेपन) को ही व्यक्त करता है, उसी प्रकार अपनी झूठी प्रशंसाके द्वारा तुमने सर्वथा अपने ओछेपनका ही परिचय दिया है ॥ २० ॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यसि त्वं गदाधरम्।
धराधरमिवाकम्प्यं पर्वतं धातुभिश्चितम् ॥ २१ ॥

'क्या तुम नहीं देखते कि मैं नाना प्रकारके धातुओंकी खानोंसे युक्त तथा पृथ्वीको धारण करनेवाले अविचल कुलपर्वतके समान यहाँ स्थिरभावसे तुम्हारे सामने गदा लेकर खड़ा हूँ ॥ २१ ॥

पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान् रणे तव।
त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥ २२ ॥

'मैं अकेला ही पाशधारी यमराजकी भाँति गदा हाथमें लेकर रणभूमिमें तुम्हारे और तीनों लोकोंके भी प्राण लेनेकी शक्ति रखता हूँ ॥ २२ ॥

कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम्।
अस्तं प्राप्नोति सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

'यद्यपि तुम्हारे विषयमें मैं इच्छानुसार बहुत कुछ कह सकता हूँ तथापि इस समय कुछ नहीं कहूँगा; क्योंकि सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं, अतः युद्धमें विघ्न पड़ जायगा ॥ २३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते।
त्वद्विनाशात् करोम्यद्य तेषामश्रुप्रमार्जनम् ॥ २४ ॥

'तुमने चौदह हजार राक्षसोंका संहार किया है, अतः आज तुम्हारा भी विनाश करके मैं उन सबके आँसू पोछूँगा—उनकी मौतका बदला चुकाऊँगा' ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धः स गदां परमाङ्गदाम्।
खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीप्तामशनिं यथा ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए खरने उत्तम बलय (कड़े) से विभूषित तथा प्रज्वलित वज्रके समान भयंकर गदाको श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर चलाया ॥ २५ ॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता महती गदा।
भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात् तत्समीपतः ॥ २६ ॥

खरके हाथोंसे छूटी हुई वह दीप्तिमान् विशाल गदा वृक्षों और लताओंको भस्म करके उनके समीप जा पहुँची ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं महतीं मृत्युपाशोपमां गदाम्।
अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः ॥ २७ ॥

मृत्युके पाशकी भाँति उस विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख श्रीरामचन्द्रजीने अनेक बाण मारकर आकाशमें ही उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ २७ ॥

सा विशीर्णा शरैर्भिन्ना पपात धरणीतले।
गदा मन्त्रौषधिबलैर्व्यालीव विनिपातिता ॥ २८ ॥

बाणोंसे विदीर्ण एवं चूर-चूर होकर वह गदा पृथ्वीपर गिर पड़ी, मानो कोई सर्पिणी मन्त्र और ओषधियोंके बलसे गिरायी गयी हो ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

श्रीरामके व्यङ्ग करनेपर खरका उन्हें फटकारकर उनके ऊपर साल वृक्षका प्रहार करना, श्रीरामका उस वृक्षको काटकर एक तेजस्वी बाणसे खरको मार गिराना तथा देवताओं और महर्षियोंद्वारा श्रीरामकी प्रशंसा

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः।
स्मयमान इदं वाक्यं संरब्धमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

धर्मप्रेमी भगवान् श्रीरामने अपने बाणोंद्वारा खरकी उस गदाको विदीर्ण करके मुसकराते हुए यह रोषसूचक बात कही—॥ १ ॥

एतत् ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम।
शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमुपगर्जसि ॥ २ ॥

राक्षसाधम ! यही तेरा सारा बल है, जिसे तूने इस गदाके साथ दिखाया है। अब सिद्ध हो गया कि तू मुझसे अत्यन्त शक्तिहीन है, व्यर्थ ही अपने बलकी डींग हाँक रहा था ॥ २ ॥

एषा बाणविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता।
अभिधानप्रगल्भस्य तव प्रत्ययघातिनी ॥ ३ ॥

'मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरी यह गदा पृथ्वीपर पड़ी हुई है। तेरे मनमें जो यह विश्वास था कि मैं इस गदासे शत्रुका वध कर डालूँगा, इसका खण्डन तेरी इस गदाने ही कर दिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि तू केवल बातें बनानेमें ढीठ है (तुझसे कोई पराक्रम नहीं हो सकता)॥ ३ ॥

यत् त्वयोक्तं विनष्टानामिदमश्रुप्रमार्जनम्।
राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः ॥ ४ ॥

'तूने जो यह कहा था कि मैं तुम्हारा वध करके तुम्हारे हाथसे मारे गये राक्षसोंका अभी आँसू पोछूँगा, तेरी वह बात भी झूठी हो गयी ॥ ४ ॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः।
प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा ॥ ५ ॥

'तू नीच, क्षुद्रस्वभावसे युक्त और मिथ्याचारी राक्षस है। मैं तेरे प्राणोंको उसी प्रकार हर लूँगा, जैसे गरुड़ने देवताओंके यहाँसे अमृतका अपहरण किया था ॥ ५ ॥

अद्य ते भिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम्।
विदारितस्य मद्बाणैर्मही पास्यति शोणितम् ॥ ६ ॥

'अब मैं अपने बाणोंसे तेरे शरीरको विदीर्ण करके तेरा गला भी काट डालूँगा, फिर यह पृथ्वी फेन और बुद्बुदोंसे युक्त तेरे गरम-गरम रक्तका पान करेगी ॥ ६ ॥

पांसुरूषितसर्वाङ्गः स्रस्तन्यस्तभुजद्वयः।
स्वप्स्यसे गां समाश्लिष्य दुर्लभां प्रमदामिव ॥ ७ ॥

'तेरे सारे अङ्ग धूलसे धूसर हो जायँगे, तेरी दोनों भुजाएँ शरीरसे अलग होकर पृथ्वीपर गिर जायँगी और उस दशामें तू दुर्लभ युवतीके समान इस पृथ्वीका आलिङ्गन करके सदाके लिये सो जायगा ॥ ७ ॥

प्रवृद्धनिद्रे शयिते त्वयि राक्षसपांसने।
भविष्यन्ति शरण्यानां शरण्या दण्डका इमे ॥ ८ ॥

'तेरे-जैसे राक्षसकुलकलङ्कके सदाके लिये महानिद्रामें सो जानेपर ये दण्डकवनके प्रदेश शरणार्थियोंको शरण देनेवाले हो जायँगे ॥ ८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने तव राक्षस मच्छरैः।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥ ९ ॥

'राक्षस ! मेरे बाणोंसे जनस्थानमें बने हुए तेरे निवासस्थानके नष्ट हो जानेपर मुनिगण इस वनमें सब ओर निर्भय विचर सकेंगे ॥ ९ ॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षस्यो हतबान्धवाः।
बाष्पार्द्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः ॥ १० ॥

'जो अबतक दूसरोंको भय देती थीं, वे राक्षसियाँ आज अपने बान्धवजनोंके मारे जानेसे दीन हो आँसुओंसे भीगे मुँह लिये जनस्थानसे स्वयं ही भयके कारण भाग जायँगी ॥ १० ॥

अद्य शोकरसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थिकाः।
अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीदृशः ॥ ११ ॥

'जिनका तुझ-जैसा दुराचारी पति है, वे तदनुरूप कुल-वाली तेरी पत्नियाँ आज तेरे मारे जानेपर काम आदि पुरुषार्थोंसे वञ्चित हो शोकरूपी स्थायी भाववाले करुणरसका अनुभव करनेवाली होंगी ॥ ११ ॥

नृशंसशील क्षुद्रात्मन् नित्यं ब्राह्मणकण्टक।
त्वत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥ १२॥

'क्रूरस्वभाववाले निशाचर! तेरा हृदय सदा ही क्षुद्र विचारोंसे भरा रहता है। तू ब्राह्मणोंके लिये कण्टकरूप है। तेरे ही कारण मुनिलोग शङ्कित रहकर ही अग्निमें हविष्यकी आहुतियाँ डालते हैं' ॥ १२ ॥

तमेवमभिसंरब्धं ब्रुवाणं राघवं वने।
खरो निर्भर्त्सयामास रोषात् खरतरस्वरः ॥ १३॥

वनमें श्रीरामचन्द्रजी जब इस प्रकार रोषपूर्ण बातें कह रहे थे, उस समय क्रोधके कारण खरका भी स्वर अत्यन्त कठोर हो गया और उसने उन्हें फटकारते हुए कहा—॥ १३ ॥

दृढं खल्ववलिप्तोऽसि भयेष्वपि च निर्भयः।
वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्योर्वश्यो न बुध्यसे ॥ १४॥

'अहो! निश्चय ही तुम बड़े घमंडी हो, भयके अवसरोंपर भी निर्भय बने हुए हो। जान पड़ता है कि तुम मृत्युके अधीन हो गये हो, इस कारणसे ही तुम्हें यह भी पता नहीं है कि कब क्या कहना चाहिये और क्या नहीं कहना चाहिये!

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये।
कार्याकार्यं न जानन्ति ते निरस्तषडिन्द्रियाः ॥ १५॥

'जो पुरुष कालके फन्देमें फँस जाते हैं, उनकी छहों इन्द्रियाँ बेकाम हो जाती हैं; इसीलिये उन्हें कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह जाता है' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भृकुटिं ततः।
स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥ १६॥
रणे प्रहरणस्यार्थे सर्वतो ह्यवलोकयन्।
स तमुत्पाटयामास संदष्टदशनच्छदम् ॥ १७॥

ऐसा कहकर उस निशाचरने एक बार श्रीरामकी ओर भौंहें टेढ़ी करके देखा और रणभूमिमें उनपर प्रहार करनेके लिये वह चारों ओर दृष्टिपात करने लगा। इतनेमें ही उसे एक विशाल साखूका वृक्ष दिखायी दिया, जो निकट ही था। खरने अपने होठोंको दाँतोंसे दबाकर उस वृक्षको उखाड़ लिया ॥ १६-१७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनर्दित्वा महाबलः।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥ १८॥

फिर उस महाबली निशाचरने विकट गर्जना करके दोनों हाथोंसे उस वृक्षको उठा लिया और श्रीरामपर दे मारा। साथ ही यह भी कहा—'लो, अब तुम मारे गये' ॥ १८ ॥

तमापतन्तं बाणौघैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान्।
रोषमाहारयत् तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९॥

परमप्रतापी भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर आते हुए उस वृक्षको बाण-समूहोंसे काट गिराया और उस समरभूमिमें खरको मार डालनेके लिये अत्यन्त क्रोध प्रकट किया ॥ १९ ॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषरक्तान्तलोचनः।
निर्बिभेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २०॥

उस समय श्रीरामके शरीरमें पसीना आ गया। उनके नेत्रप्रान्त रोषसे रक्तवर्णके हो गये। उन्होंने सहस्रों बाणोंका प्रहार करके समराङ्गणमें खरको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २० ॥

तस्य बाणान्तराद् रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्।
गिरेः प्रस्रवणस्येव धाराणां च परिस्रवः ॥ २१॥

उनके बाणोंके आघातसे उस निशाचरके शरीरमें जो घाव हुए थे, उनसे अधिक मात्रामें फेनयुक्त रक्त प्रवाहित होने लगा, मानो पर्वतके झरनेसे जलकी धाराएँ गिर रही हों ॥ २१ ॥

विकलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे।
मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद् द्रुतम् ॥ २२॥

श्रीरामने युद्धस्थलमें अपने बाणोंकी मारसे खरको व्याकुल कर दिया; तो भी (उसका साहस कम नहीं हुआ।) वह खूनकी गन्धसे उन्मत्त होकर बड़े वेगसे श्रीरामकी ओर ही दौड़ा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संक्रुद्धं कृतास्त्रो रुधिराप्लुतम्।
अपासर्पद् द्वित्रिपदं किंचित्त्वरितविक्रमः ॥ २३॥

अस्त्र-विद्याके ज्ञाता भगवान् श्रीरामने देखा कि यह राक्षस खूनसे लथपथ होनेपर भी अत्यन्त क्रोधपूर्वक मेरी ही ओर बढ़ा आ रहा है तो वे तुरंत चरणोंका संचालन करके दो-तीन पग पीछे हट गये (क्योंकि बहुत निकट होनेपर बाण चलाना सम्भव नहीं हो सकता था) ॥ २३ ॥

ततः पावकसंकाशं वधाय समरे शरम्।
खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥ २४॥

तदनन्तर श्रीरामने समराङ्गणमें खरका वध करनेके लिये एक अग्निके समान तेजस्वी बाण हाथमें लिया, जो दूसरे ब्रह्म-दण्डके समान भयंकर था ॥ २४ ॥

स तद् दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता।
संदधे च स धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥ २५॥

वह बाण बुद्धिमान् देवराज इन्द्रका दिया हुआ था। धर्मात्मा श्रीरामने उसे धनुषपर रखा और खरको लक्ष्य करके छोड़ दिया ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिःस्वनः।
रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥ २६॥

उस महाबाणके छूटते ही वज्रपातके समान भयानक

शब्द हुआ। श्रीरामने अपने धनुषको कानतक खींचकर उसे छोड़ा था। वह खरकी छातीमें जा लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना।
रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्धकः ॥ २७ ॥

जैसे श्वेतवनमें भगवान् रुद्रने अन्धकासुरको जलाकर भस्म किया था, उसी प्रकार दण्डकवनमें श्रीरामके उस बाणकी आगमें जलता हुआ निशाचर खर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २७ ॥

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा।
बलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्रसे वृत्रासुर, फेनसे नमुचि और इन्द्रकी अशनिसे बलासुर मारा गया था, उसी प्रकार श्रीरामके उस बाणसे आहत होकर खर धराशायी हो गया ॥ २८ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह संगताः।
दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥ २९ ॥
रामस्योपरि संहृष्टा ववर्षुर्विस्मितास्तदा।
अर्धाधिकमुहूर्तेन रामेण निशितैः शरैः ॥ ३० ॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्।
खरदूषणमुख्यानां निहतानि महामृधे ॥ ३१ ॥

इसी समय देवता चारणोंके साथ मिलकर आये और हर्षमें भरकर दुन्दुभि बजाते हुए वहाँ श्रीरामके ऊपर चारों ओरसे फूलोंकी वर्षा करने लगे। उस समय उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि श्रीरामने अपने पैने बाणोंसे डेढ़ मुहूर्तमें ही इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले खर-दूषण आदि चौदह हजार राक्षसोंका इस महासमरमें संहार कर डाला ॥ २९-३१ ॥

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः।
अहो वीर्यमहो दार्ढ्यं विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३२ ॥

वे बोले—'अहो! अपने स्वरूपको जाननेवाले भगवान् श्रीरामका यह कर्म महान् और अद्भुत है, इनका बल-पराक्रम भी अद्भुत है और इनमें भगवान् विष्णुकी भाँति आश्चर्यजनक दृढ़ता दिखायी देती है' ॥ ३२ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम्।
ततो राजर्षयः सर्वे संगताः परमर्षयः ॥ ३३ ॥
सभाज्य मुदिता रामं सागस्त्या इदमब्रुवन्।

ऐसा कहकर वे सब देवता जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। तदनन्तर बहुत-से राजर्षि और अगस्त्य आदि महर्षि मिलकर वहाँ आये तथा प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामका सत्कार करके उनसे इस प्रकार बोले—॥ ३३½ ॥

एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ॥ ३४ ॥
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदरः।
आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन! इसीलिये महातेजस्वी पाकशासन पुरंदर इन्द्र शरभङ्ग मुनिके पवित्र आश्रमपर आये थे और इसी कार्यकी सिद्धिके लिये महर्षियोंने विशेष उपाय करके आपको पञ्चवटीके इस प्रदेशमें पहुँचाया था ॥ ३४-३५ ॥

एषां वधार्थं शत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम्।
तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ॥ ३६ ॥
स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः।

'मुनियोंके शत्रुरूप इन पापाचारी राक्षसोंके वधके लिये ही आपका यहाँ शुभागमन आवश्यक समझा गया था। दशरथनन्दन! आपने हमलोगोंका यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया। अब बड़े-बड़े ऋषि-मुनि दण्डकारण्यके विभिन्न प्रदेशोंमें निर्भय होकर अपने धर्मका अनुष्ठान करेंगे' ॥ ३६½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ॥ ३७ ॥
गिरिदुर्गाद् विनिष्क्रम्य संविवेशाश्रमे सुखी।

इसी बीचमें वीर लक्ष्मण भी सीताके साथ पर्वतकी कन्दरासे निकलकर प्रसन्नतापूर्वक आश्रममें आ गये ॥ ३७½ ॥

ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥
प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः।

तत्पश्चात् महर्षियोंसे प्रशंसित और लक्ष्मणसे पूजित विजयी वीर श्रीरामने आश्रममें प्रवेश किया ॥ ३८½ ॥

तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥ ३९ ॥
बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे।
मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान् हतान्।
रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

महर्षियोंको सुख देनेवाले अपने शत्रुहन्ता पतिका दर्शन करके विदेहराजनन्दिनी सीताको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने परमानन्दमें निमग्न होकर अपने स्वामीका आलिङ्गन किया। राक्षस-समूह मारे गये और श्रीरामको कोई क्षति नहीं पहुँची—यह देख और जानकर जानकीजीको बहुत संतोष हुआ ॥ ३९-४० ॥

ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
सम्पूज्यमानं मुदितैर्महात्मभिः।
पुनः परिष्वज्य मुदान्वितानना
बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

प्रसन्नतासे भरे हुए महात्मा मुनि जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे तथा जिन्होंने राक्षसोंके समुदायको कुचल डाला था, उन प्राणवल्लभ श्रीरामका बारंबार आलिङ्गन करके उस समय जनकनन्दिनी सीताको बड़ा हर्ष हुआ। उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

रावणका अकम्पनकी सलाहसे सीताका अपहरण करनेके लिये जाना और मारीचके कहनेसे लङ्काको लौट आना

त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः।
प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर जनस्थानसे अकम्पन नामक राक्षस बड़ी उतावलीके साथ लङ्काकी ओर गया और शीघ्र ही उस पुरीमें प्रवेश करके रावणसे इस प्रकार बोला—॥ १॥

जनस्थानस्थिता राजन् राक्षसा बहवो हताः।
खरश्च निहतः संख्ये कथंचिदहमागतः॥ २॥

'राजन्! जनस्थानमें जो बहुत से राक्षस रहते थे, वे मार डाले गये। खर भी युद्धमें मारा गया। मैं किसी तरह जान बचाकर यहाँ आया हूँ' ॥ २॥

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः।
अकम्पनमुवाचेदं निर्दहन्निव तेजसा॥ ३॥

अकम्पनके ऐसा कहते ही दशमुख रावण क्रोधमें जल उठा और लाल आँखें करके उससे इस तरह बोला, मानो उसे अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगा ॥ ३॥

केन भीमं जनस्थानं हतं मम परासुना।
को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं नाधिगमिष्यति॥ ४॥

वह बोला—'कौन मौतके मुखमें जाना चाहता है, जिसने मेरे भयंकर जनस्थानका विनाश किया है? कौन वह दुःसाहसी है, जिसे समस्त लोकोंमें कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं मिलनेवाला है? ॥ ४॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम्।
प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन च विष्णुना॥ ५॥

'मेरा अपराध करके इन्द्र, यम, कुबेर और विष्णु भी चैनसे नहीं रह सकेंगे ॥ ५॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम्।
मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे॥ ६॥

'मैं कालका भी काल हूँ, आगको भी जला सकता हूँ तथा मौतको भी मृत्युके मुखमें डाल सकता हूँ ॥ ६॥

वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमपि चोत्सहे।
दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ॥ ७॥

'यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँ तो अपने वेगसे वायुकी गतिको भी रोक सकता हूँ तथा अपने तेजसे सूर्य और अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता हूँ' ॥ ७॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः।
भयात् संदिग्धया वाचा रावणं याचतेऽभयम्॥ ८॥

रावणको इस प्रकार क्रोधसे भरा देख भयके मारे अकम्पनकी बोलती बंद हो गयी। उसने हाथ जोड़कर संशययुक्त वाणीमें रावणसे अभयकी याचना की ॥ ८॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसां वरः।
स विस्रब्धोऽब्रवीद् वाक्यमसंदिग्धमकम्पनः॥ ९॥

तब राक्षसोंमें श्रेष्ठ दशग्रीवने उसे अभयदान दिया। इससे अकम्पनको अपने प्राण बचनेका विश्वास हुआ और वह संशयरहित होकर बोला—॥ ९॥

पुत्रो दशरथस्यास्ते सिंहसंहननो युवा।
रामो नाम महास्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः॥ १०॥
श्यामः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः।
हतस्तेन जनस्थाने खरश्च सहदूषणः॥ ११॥

'राक्षसराज! राजा दशरथके नवयुवक पुत्र श्रीराम पञ्चवटीमें रहते हैं। उनके शरीरकी गठन सिंहके समान है, कंधे मोटे और भुजाएँ गोल तथा लंबी हैं, शरीरका रंग साँवला है। वे बड़े यशस्वी और तेजस्वी दिखायी देते हैं। उनके बल और पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है। उन्होंने जनस्थानमें रहनेवाले खर और दूषण आदिका वध किया है' ॥१०-११॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः।
नागेन्द्र इव निःश्वस्य इदं वचनमब्रवीत्॥ १२॥

अकम्पनकी यह बात सुनकर राक्षसराज रावणने नागराज (महान् सर्प) की भाँति लम्बी साँस खींचकर इस प्रकार कहा—॥ १२॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन॥ १३॥

'अकम्पन! बताओ तो सही, क्या राम सम्पूर्ण देवताओं तथा देवराज इन्द्रके साथ जनस्थानमें आये हैं?' ॥ १३॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः।
आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः॥ १४॥

रावणका यह प्रश्न सुनकर अकम्पनने महात्मा श्रीरामके बल और पराक्रमका पुनः इस प्रकार वर्णन किया—॥ १४॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम्।
दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः परं धर्मं गतो युधि॥ १५॥

'लङ्केश्वर! जिनका नाम राम है, वे संसारके समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त तेजस्वी हैं। दिव्यास्त्रोंके प्रयोगका जो गुण है, उससे भी वे पूर्णतः सम्पन्न हैं। युद्धकी कलामें तो वे पराकाष्ठाको पहुँचे हुए हैं॥ १५॥

तस्यानुरूपो बलवान् रक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः।
कनीयाँल्लक्ष्मणो भ्राता राकाशशिनिभाननः॥ १६॥

'श्रीरामके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी हैं, जो उन्हींके समान बलवान् हैं। उनका मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति मनोहर है। उनकी आँखें कुछ-कुछ लाल हैं और स्वर दुन्दुभिके समान गम्भीर है॥ १६॥

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा।
श्रीमान् राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम्॥ १७॥

'जैसे अग्निके साथ वायु हों, उसी प्रकार अपने भाईके साथ संयुक्त हुए राजाधिराज श्रीमान् राम बड़े प्रबल हैं। उन्होंने ही जनस्थानको उजाड़ डाला है॥ १७॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा।
शरा रामेण तूत्सृष्टा रुक्मपुङ्खाः पतत्त्रिणः॥ १८॥
सर्पाः पञ्चानना भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान्।

'उनके साथ न कोई देवता हैं, न महात्मा मुनि। इस विषयमें आप कोई विचार न करें। श्रीरामके छोड़े हुए सोनेकी पाँखवाले बाण पाँच मुखवाले सर्प बनकर राक्षसोंको खा जाते थे॥ १८½॥

येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिताः॥ १९॥
तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम्।
इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ॥ २०॥

'भयसे कातर हुए राक्षस जिस-जिस मार्गसे भागते थे, वहाँ-वहाँ वे श्रीरामको ही अपने सामने खड़ा देखते थे। अनघ! इस प्रकार अकेले श्रीरामने ही आपके जनस्थानका विनाश किया है'॥ १९-२०॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत्।
गमिष्यामि जनस्थानं रामं हन्तुं सलक्ष्मणम्॥ २१॥

अकम्पनकी यह बात सुनकर रावणने कहा—'मैं अभी लक्ष्मणसहित रामका वध करनेके लिये जनस्थानको जाऊँगा'॥ २१॥

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः।
शृणु राजन् यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम्॥ २२॥

उसके ऐसा कहनेपर अकम्पन बोला—'राजन्! श्रीरामका बल और पुरुषार्थ जैसा है, उसका यथावत् वर्णन मुझसे सुनिये॥ २२॥

असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः।
आपगायास्तु पूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः॥ २३॥
सताराग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्।

'महायशस्वी श्रीराम यदि कुपित हो जायँ तो उन्हें अपने पराक्रमके द्वारा कोई भी काबूमें नहीं कर सकता। वे अपने बाणोंसे भरी हुई नदीके वेगको भी पलट सकते हैं। तथा तारा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित सम्पूर्ण आकाशमण्डलको पीड़ा दे सकते हैं॥ २३½॥

असौ रामस्तु सीदन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम्॥ २४॥
भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद् विभुः।
वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः॥ २५॥

'वे श्रीमान् भगवान् राम समुद्रमें डूबती हुई पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं, महासागरकी मर्यादाका भेदन करके समस्त लोकोंको उसके जलसे आप्लावित कर सकते हैं तथा अपने बाणोंसे समुद्रके वेग अथवा वायुको भी नष्ट कर सकते हैं॥ २४-२५॥

संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः।
शक्तः श्रेष्ठः स पुरुषः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः॥ २६॥

'वे महायशस्वी पुरुषोत्तम अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके पुनः नये सिरेसे प्रजाकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं॥ २६॥

नहि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं रणे त्वया।
रक्षसां वापि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव॥ २७॥

'दशग्रीव! जैसे पापी पुरुष स्वर्गपर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते, उसी प्रकार आप अथवा समस्त राक्षस-जगत् भी युद्धमें श्रीरामको नहीं जीत सकते॥ २७॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि।
अयं तस्य वधोपायस्तन्ममैकमनाः शृणु॥ २८॥

'मेरी समझमें सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी उनका वध नहीं कर सकते। उनके वधका यह एक उपाय मुझे सूझा है, उसे आप मेरे मुखसे एकचित्त होकर सुनिये॥ २८॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा।
श्यामा समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं रत्नभूषिता॥ २९॥

'श्रीरामकी पत्नी सीता संसारकी सर्वोत्तम सुन्दरी है। उसने यौवनके मध्यमें पदार्पण किया है। उसके अङ्ग बड़े सुन्दर और सुडौल हैं। वह रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित रहती है। सीता सम्पूर्ण स्त्रियोंमें एक रत्न है॥ २९॥

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी।
तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत्॥ ३०॥

'देवकन्या, गन्धर्वकन्या, अप्सरा अथवा नागकन्या कोई भी रूपमें उसकी समानता नहीं कर सकती, फिर

मनुष्य-जातिकी दूसरी कोई नारी उसके समान कैसे हो सकती है ॥ ३० ॥

तस्यापहर भार्यां त्वं तं प्रमथ्य महावने।
सीतया रहितो रामो न चैव हि भविष्यति ॥ ३१ ॥

'उस विशाल वनमें जिस किसी भी उपायसे श्रीरामको धोखेमें डालकर आप उनकी पत्नीका अपहरण कर लें। सीतासे बिछुड़ जानेपर श्रीराम कदापि जीवित नहीं रहेंगे' ॥ ३१ ॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह ॥ ३२ ॥

राक्षसराज रावणको अकम्पनकी वह बात पसंद आ गयी। उस महाबाहु दशग्रीवने कुछ सोचकर अकम्पनसे कहा—॥ ३२ ॥

बाढं कल्यं गमिष्यामि ह्येकः सारथिना सह।
आनेष्यामि च वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥ ३३ ॥

'ठीक है, कल प्रातःकाल सारथिके साथ मैं अकेला ही जाऊँगा और विदेहकुमारी सीताको प्रसन्नतापूर्वक इस महापुरीमें ले आऊँगा' ॥ ३३ ॥

तदेवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः।
रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वाः प्रकाशयन् ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर रावण गधोंसे जुते हुए सूर्यतुल्य तेजस्वी रथपर आरूढ़ हो सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वहाँसे चला ॥ ३४ ॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षत्रपथगो महान्।
चञ्चूर्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव ॥ ३५ ॥

नक्षत्रोंके मार्गपर विचरता हुआ राक्षसराजका वह विशाल रथ बादलोंकी आड़में प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ३५ ॥

स दूरे चाश्रमं गत्वा ताटकेयमुपागमत्।
मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः ॥ ३६ ॥

कुछ दूरपर स्थित एक आश्रममें जाकर वह ताटका-पुत्र मारीचसे मिला। मारीचने अलौकिक भक्ष्य-भोज्य अर्पित करके राजा रावणका स्वागत-सत्कार किया ॥ ३६ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

आसन और जल आदिके द्वारा स्वयं ही उसका पूजन करके मारीचने अर्थयुक्त वाणीमें पूछा—॥ ३७ ॥

कच्चित् सुकुशलं राजँल्लोकानां राक्षसाधिप।
आशङ्के नाधिजाने त्वं यतस्तूर्णमुपागतः ॥ ३८ ॥

'राक्षसराज! तुम्हारे राज्यमें लोगोंकी कुशल तो है न? तुम बड़ी उतावलीके साथ आ रहे हो, इसलिये मेरे मनमें कुछ खटका हुआ है। मैं समझता हूँ, तुम्हारे यहाँका अच्छा हाल नहीं है' ॥ ३८ ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ ३९ ॥

मारीचके इस प्रकार पूछनेपर बातचीतकी कलाको जाननेवाले महातेजस्वी रावणने इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

आरक्षो मे हतस्तात रामेणाक्लिष्टकारिणा।
जनस्थानमवध्यं तत् सर्वं युधि निपातितम् ॥ ४० ॥

'तात! अनायास ही महान् पराक्रम दिखानेवाले श्रीरामने मेरे राज्यकी सीमाके रक्षक खर-दूषण आदिको मार डाला है तथा जो जनस्थान अवध्य समझा जाता था, वहाँके सारे राक्षसोंको उन्होंने युद्धमें मार गिराया है ॥ ४० ॥

तस्य मे कुरु साचिव्यं तस्य भार्यापहारणे।
राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

'अतः इसका बदला लेनेके लिये मैं उनकी स्त्रीका अपहरण करना चाहता हूँ। इस कार्यमें तुम मेरी सहायता करो।' राक्षसराज रावणका यह वचन सुनकर मारीच बोला—॥ ४१ ॥

आख्याता केन वा सीता मित्ररूपेण शत्रुणा।
त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति नन्दितः ॥ ४२ ॥

निशाचरशिरोमणे! मित्रके रूपमें तुम्हारा वह कौन-सा ऐसा शत्रु है, जिसने तुम्हें सीताको हर लेनेकी सलाह दी है? कौन ऐसा पुरुष है, जो तुमसे सुख और आदर पाकर भी प्रसन्न नहीं है, अतः तुम्हारी बुराई करना चाहता है? ॥ ४२ ॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे।
रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं छेत्तुमिच्छति ॥ ४३ ॥

'कौन कहता है कि तुम सीताको यहाँ हर ले आओ? मुझे उसका नाम बताओ। वह कौन है, जो समस्त राक्षस जगत्‌का सींग काट लेना चाहता है? ॥ ४३ ॥

प्रोत्साहयति यश्च त्वां स च शत्रुरसंशयम्।
आशीविषमुखाद् दंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया ॥ ४४ ॥

'जो इस कार्यमें तुम्हें प्रोत्साहन दे रहा है, वह तुम्हारा शत्रु है, इसमें संशय नहीं है। वह तुम्हारे हाथों विषधर सर्पके मुखसे उसके दाँत उखड़वाना चाहता है ॥ ४४ ॥

कर्मणानेन केनासि कापथं प्रतिपादितः।
सुखसुप्तस्य ते राजन् प्रहृतं केन मूर्धनि ॥ ४५ ॥

राजन्! किसने तुम्हें ऐसी खोटी सलाह देकर कुमार्गपर

पहुँचाया है ? किसने सुखपूर्वक सोते समय तुम्हारे मस्तकपर लात मारी है ॥ ४५ ॥

विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्त-
तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः ।
उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः
स संयुगे राघवगन्धहस्ती ॥ ४६ ॥

'रावण ! राघवेन्द्र श्रीराम वह गन्धयुक्त गजराज हैं, जिसकी गन्ध सूँघकर ही गजरूपी योद्धा दूर भाग जाते हैं । विशुद्ध कुलमें जन्म ग्रहण करना ही उस राघवरूपी गजराजका शुण्डदण्ड है, प्रताप ही मद है और सुडौल बाँहें ही दोनों दाँत हैं । युद्धस्थलमें उनकी ओर देखना भी तुम्हारे लिये उचित नहीं है; फिर जूझनेकी तो बात ही क्या है ॥ ४६ ॥

असौ रणान्तःस्थितिसंधिवालो
विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः ।
सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः
शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

'वे श्रीराम मनुष्यके रूपमें एक सिंह हैं । रणभूमिके भीतर स्थित होना ही उनके अङ्गोंकी संधियाँ तथा बाल हैं । वह सिंह चतुर राक्षसरूपी मृगोंका वध करनेवाला है, बाणरूपी अङ्गोंसे परिपूर्ण है तथा तलवारें ही उसकी तीखी दाढ़ें हैं । सोते हुए सिंहको तुम नहीं जगा सकते ॥ ४७ ॥

चापापहारे भुजवेगपङ्के
शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे ।
न रामपातालमुखेऽतिघोरे
प्रस्कन्दितुं राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

'राक्षसराज ! श्रीराम एक पातालतलव्यापी महासागर हैं, धनुष ही उस समुद्रके भीतर रहनेवाला ग्राह है, भुजाओंका वेग ही कीचड़ है, बाण ही तरङ्गमालाएँ हैं और महान् युद्ध ही उसकी अगाध जलराशि है । उसके अत्यन्त भयंकर मुख अर्थात् बड़वानलमें कूद पड़ना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।
त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं
रामः सभार्यो रमतां वनेषु ॥ ४९ ॥

'लंकेश्वर ! प्रसन्न होओ । राक्षसराज ! सानन्द रहो और सकुशल लंकाको लौट जाओ । तुम सदा पुरीमें अपनी स्त्रियोंके साथ रमण करो और राम अपनी पत्नीके साथ वनमें विहार करें' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः ।
न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम् ॥ ५० ॥

मारीचके ऐसा कहनेपर दशमुख रावण लंकाको लौटा और अपने सुन्दर महलमें चला गया ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका लंकामें रावणके पास जाना

ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि चतुर्दश ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥
दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसं रणे ।
दृष्ट्वा पुनर्महानादान् ननाद जलदोपमा ॥ २ ॥

उधर शूर्पणखाने जब देखा कि श्रीरामने भयंकर कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको अकेले ही मार गिराया तथा युद्धके मैदानमें दूषण, खर और त्रिशिराको भी मौतके घाट उतार दिया, तब वह शोकके कारण मेघ-गर्जनाके समान पुनः बड़े जोर-जोरसे घोर चीत्कार करने लगी ॥ १-२ ॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।
जगाम परमोद्विग्ना लङ्कां रावणपालिताम् ॥ ३ ॥

श्रीरामने वह कर्म कर दिखाया, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर है; यह अपनी आँखों देखकर वह अत्यन्त उद्विग्न हो उठी और रावणद्वारा सुरक्षित लंकापुरीको गयी ॥ ३ ॥

सा ददर्श विमानाग्रे रावणं दीप्ततेजसम् ।
उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भिरिव वासवम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने देखा, रावण पुष्पक विमान (या सतमहले मकान) के ऊपरी भागमें बैठा हुआ है । उसका राजोचित तेज उद्दीप्त हो रहा है तथा मरुद्गणोंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति वह आसपास बैठे हुए मन्त्रियोंसे घिरा है ॥४॥

आसीनं सूर्यसंकाशे काञ्चने परमासने ।
रुक्मवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

रावण जिस उत्तम सुवर्णमय सिंहासनपर विराजमान था, वह सूर्यके समान जगमगा रहा था । जैसे सोनेकी ईंटोंसे बनी हुई वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी अधिक आहुति पाकर

प्रज्वलित हो उठे हों, उसी प्रकार उस स्वर्णसिंहासनपर रावण शोभा पा रहा था ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
अजेयं समरे घोरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६ ॥
देवासुरविमर्देषु वज्राशनिकृतव्रणम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुत्कृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवता, गन्धर्व, भूत और महात्मा ऋषि भी उसे जीतनेमें असमर्थ थे। समरभूमिमें वह मुँह फैलाकर खड़े हुए यमराजकी भाँति भयानक जान पड़ता था। देवताओं और असुरोंके संग्रामके अवसरोंपर उसके शरीरमें वज्र और अशनिके जो घाव हुए थे, उनके चिह्न अबतक विद्यमान थे। उसकी छातीमें ऐरावत हाथीने जो अपने दाँत गड़ाये थे, उसके निशान अब भी दिखायी देते थे ॥ ६-७ ॥

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम् ।
विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणलक्षितम् ॥ ८ ॥
नद्धवैदूर्यसंकाशं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

उसके बीस भुजाएँ और दस मस्तक थे। उसके छत्र, चँवर और आभूषण आदि उपकरण देखने ही योग्य थे। वक्षःस्थल विशाल था। वह वीर राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न दिखायी देता था। वह अपने शरीरमें जो वैदूर्यमणि (नीलम) का आभूषण पहने हुए था, उसके समान ही उसके शरीरकी कान्ति भी थी। उसने तपाये हुए सोनेके आभूषण भी पहन रखे थे। उसकी भुजाएँ सुन्दर, दाँत सफेद, मुँह बहुत बड़ा और शरीर पर्वतके समान विशाल था ॥ ८-९ ॥

विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे ।
अन्यैः शस्त्रैः प्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥ १० ॥

देवताओंके साथ युद्ध करते समय उसके अङ्गोंपर सैकड़ों बार भगवान् विष्णुके चक्रका प्रहार हुआ था। बड़े-बड़े युद्धोंमें अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंकी भी उसपर मार पड़ी थी (उन सबके चिह्न दृष्टिगोचर होते थे) ॥ १० ॥

अहताङ्गैः समस्तैस्तं देवप्रहरणैस्तदा ।
अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥ ११ ॥

देवताओंके समस्त आयुधोंके प्रहारोंसे भी जो खण्डित न हो सके थे, उन्हीं अङ्गोंसे वह अक्षोभ्य समुद्रोंमें भी क्षोभ (हलचल) पैदा कर देता था। वह सभी कार्य बड़ी शीघ्रतासे करता था ॥ ११ ॥

क्षेप्तारं पर्वताग्राणां सुराणां च प्रमर्दनम् ।
उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम् ॥ १२ ॥

पर्वतशिखरोंको भी तोड़कर फेंक देता था, देवताओंको भी रौंद डालता था। धर्मकी तो वह जड़ ही काट देता था और परायी स्त्रियोंके सतीत्वका नाश करनेवाला था ॥ १२ ॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा ।
पुरीं भोगवतीं गत्वा पराजित्य च वासुकिम् ॥ १३ ॥
तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः ।

वह सब प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करनेवाला और सदा यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाला था। एक समय पातालकी भोगवती पुरीमें जाकर नागराज वासुकिको परास्त करके तक्षकको भी हराकर उसकी प्यारी पत्नीको वह हर ले आया था ॥ १३½ ॥

कैलासं पर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥ १४ ॥
विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः ।

इसी तरह कैलास पर्वतपर जाकर कुबेरको युद्धमें पराजित करके उसने उनके इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पकविमानको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ १४½ ॥

वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं नन्दनं वनम् ॥ १५ ॥
विनाशयति यः क्रोधाद् देवोद्यानानि वीर्यवान् ।

वह पराक्रमी निशाचर क्रोधपूर्वक कुबेरके दिव्य चैत्ररथ वनको, सौगन्धिक कमलोंसे युक्त नलिनी नामवाली पुष्करिणीको, इन्द्रके नन्दनवनको तथा देवताओंके दूसरे-दूसरे उद्यानोंको नष्ट करता रहता था ॥ १५½ ॥

चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ परंतपौ ॥ १६ ॥
निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः ।

वह पर्वत-शिखरके समान आकार धारण करके शत्रुओंको संताप देनेवाले महाभाग चन्द्रमा और सूर्यको उनके उदयकालमें अपने हाथोंसे रोक देता था ॥ १६½ ॥

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १७ ॥
पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः ।

उस धीर स्वभाववाले रावणने पूर्वकालमें एक विशाल वनके भीतर दस हजार वर्षोंतक घोर तपस्या करके ब्रह्माजीको अपने मस्तकोंकी बलि दे दी थी ॥ १७½ ॥

देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः ॥ १८ ॥
अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो मानुषादृते ।

उसके प्रभावसे उसे देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पोंसे भी संग्राममें अभय प्राप्त हो गया था। मनुष्यके सिवा और किसीके हाथसे उसे मृत्युका भय नहीं था ॥ १८½ ॥

मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यमध्वरेषु द्विजातिभिः ॥ १९ ॥
हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः ।

वह महाबली राक्षस सोमसवनकर्मविशिष्ट यज्ञोंमें

द्विजातियोंद्वारा वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक निकाले गये तथा वैदिक मन्त्रोंसे ही सुसंस्कृत एवं स्तुत हुए पवित्र सोमरसको वहाँ पहुँचकर नष्ट कर देता था ॥ १९½ ॥

प्राप्तयज्ञहरं दुष्टं ब्रह्मघ्नं क्रूरकारिणम् ॥ २० ॥
कर्कशं निरनुक्रोशं प्रजानामहिते रतम् ।

समाप्तिके निकट पहुँचे हुए यज्ञोंका विध्वंस करनेवाला वह दुष्ट निशाचर ब्राह्मणोंकी हत्या तथा दूसरे-दूसरे क्रूर कर्म करता था। वह बड़े ही रूखे स्वभावका और निर्दय था। सदा प्रजाजनोंके अहितमें ही लगा रहता था ॥ २०½ ॥

रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम् ॥ २१ ॥
राक्षसी भ्रातरं क्रूरं सा ददर्श महाबलम् ।

समस्त लोकोंको भय देनेवाले और सम्पूर्ण प्राणियोंको रुलानेवाले अपने इस महाबली क्रूर भाईको राक्षसी शूर्पणखाने उस समय देखा ॥ २१½ ॥

तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ २२ ॥
आसने सूपविष्टं तं काले कालमिवोद्यतम् ।
राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥ २३ ॥

वह दिव्य वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित था। दिव्य पुष्पोंकी मालाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। सिंहासनपर बैठा हुआ राक्षसराज पुलस्त्यकुलनन्दन महाभाग दशग्रीव प्रलयकालमें संहारके लिये उद्यत हुए महाकालके समान जान पड़ता था ॥ २२-२३ ॥

उपगम्याब्रवीद् वाक्यं राक्षसी भयविह्वला ।
रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ॥ २४ ॥

मन्त्रियोंसे घिरे हुए शत्रुहन्ता भाई रावणके पास जाकर भयसे विह्वल हुई वह राक्षसी कुछ कहनेको उद्यत हुई ॥ २४ ॥

तमब्रवीद् दीप्तविशाललोचनं
प्रदर्शयित्वा भयलोभमोहिता ।
सुदारुणं वाक्यमभीतचारिणी
महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥ २५ ॥

महात्मा लक्ष्मणने नाक-कान काटकर जिसे कुरूप कर दिया था तथा जो निर्भय विचरनेवाली थी, वह भय और लोभसे मोहित हुई शूर्पणखा बड़े-बड़े चमकीले नेत्रोंवाले अत्यन्त क्रूर रावणको अपनी दुर्दशा दिखाकर उससे बोली ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

शूर्पणखाका रावणको फटकारना

ततः शूर्पणखा दीना रावणं लोकरावणम् ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

उस समय शूर्पणखा श्रीरामसे तिरस्कृत होनेके कारण बहुत दुखी थी। उसने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए समस्त लोकोंको रुलानेवाले रावणसे अत्यन्त कुपित होकर कठोर वाणीमें कहा—॥ १ ॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो निरङ्कुशः ।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥ २ ॥

'राक्षसराज! तुम स्वेच्छाचारी और निरङ्कुश होकर विषय-भोगोंमें मतवाले हो रहे हो। तुम्हारे लिये घोर भय उत्पन्न हो गया है। तुम्हें इसकी जानकारी होनी चाहिये थी, किंतु तुम इसके विषयमें कुछ नहीं जानते हो ॥ २ ॥

सक्तं ग्राम्येषु भोगेषु कामवृत्तं महीपतिम् ।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

'जो राजा निम्न श्रेणीके भोगोंमें आसक्त हो स्वेच्छाचारी और लोभी हो जाता है, उसे मरघटकी आगके समान हेय मानकर प्रजा उसका अधिक आदर नहीं करती है ॥ ३ ॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः ।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति ॥ ४ ॥

'जो राजा ठीक समयपर स्वयं ही अपने कार्योंका सम्पादन नहीं करता है, वह राज्य और उन कार्योंके साथ ही नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

अयुक्तचारं दुर्दर्शमस्वाधीनं नराधिपम् ।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः ॥ ५ ॥

'जो राज्यकी देख-भालके लिये गुप्तचरोंको नियुक्त नहीं करता है, प्रजाजनोंको जिसका दर्शन दुर्लभ हो जाता है और कामिनी आदि भोगोंमें आसक्त होनेके कारण अपनी स्वाधीनता खो बैठता है, ऐसे राजाको प्रजा दूरसे ही त्याग देती है। ठीक उसी तरह, जैसे हाथी नदीकी कीचड़से दूर ही रहते हैं ॥ ५ ॥

ये न रक्षन्ति विषयमस्वाधीनं नराधिपाः ।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥ ६ ॥

'जो नरेश अपने राज्यके उस प्रान्तकी, जो अपनी ही असावधानीके कारण दूसरेके अधिकारमें चला गया हो, रक्षा नहीं करते—उसे पुनः अपने अधिकारमें नहीं लाते, वे समुद्रमें डूबे हुए पर्वतोंकी भाँति अपने अभ्युदयसे प्रकाशित नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

आत्मवद्भिर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः।
अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि ॥ ७ ॥

'जो अपने मनको काबूमें रखनेवाले एवं प्रयत्नशील हैं, उन देवताओं, गन्धर्वों तथा दानवोंके साथ विरोध करके तुमने अपने राज्यकी देखभालके लिये गुप्तचर नहीं नियुक्त किये हैं, ऐसी दशामें तुम जैसा विषयलोलुप चपल पुरुष कैसे राजा बना रह सकेगा ? ॥ ७ ॥

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस।
ज्ञातव्यं तन्न जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥ ८ ॥

'राक्षस ! तुम्हारा स्वभाव बालकों-जैसा है । तुम निरे बुद्धिहीन हो । तुम्हें जानने योग्य बातोंका भी ज्ञान नहीं है । ऐसी दशामें तुम किस तरह राजा बने रह सकोगे ? ॥ ८ ॥

येषां चाराश्च कोशश्च नयश्च जयतां वर।
अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः ॥ ९ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ निशाचरपते ! जिन नरेशोंके गुप्तचर, कोष और नीति—ये सब अपने अधीन नहीं हैं, वे साधारण लोगोंके ही समान हैं ॥ ९ ॥

यस्मात् पश्यन्ति दूरस्थान् सर्वानर्थान् नराधिपाः।
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ॥ १० ॥

'गुप्तचरोंकी सहायतासे राजालोग दूर-दूरके सारे कार्योंकी देखभाल करते रहते हैं, इसीलिये वे दीर्घदर्शी या दूरदर्शी कहलाते हैं ॥ १० ॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्युतः।
स्वजनं च जनस्थानं निहतं नावबुध्यसे ॥ ११ ॥

'मैं समझती हूँ, तुम गवाँर मन्त्रियोंसे घिरे हुए हो, तभी तो तुमने अपने राज्यके भीतर गुप्तचर नहीं तैनात किये हैं । तुम्हारे स्वजन मारे गये और जनस्थान उजाड़ हो गया, फिर भी तुम्हें इसका पता नहीं लगा है ॥ ११ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः ॥ १२ ॥
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः।
धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्लिष्टकारिणा ॥ १३ ॥

'अकेले रामने, जो अनायास ही महान् कर्म करनेवाले हैं, भीमकर्मा राक्षसोंकी चौदह हजार सेनाको यमलोक पहुँचा दिया, खर और दूषणके भी प्राण ले लिये, ऋषियोंको भी अभयदान कर दिया तथा दण्डकारण्यमें राक्षसोंकी ओरसे जो विघ्न-बाधाएँ थीं, उन सबको दूर करके वहाँ शान्ति स्थापित कर दी । जनस्थानको तो उन्होंने चौपट ही कर डाला ॥ १२-१३ ॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च राक्षस।
विषये स्वे समुत्पन्नं यद् भयं नावबुध्यसे ॥ १४ ॥

'राक्षस ! तुम तो लोभ और प्रमादमें फँसकर पराधीन हो रहे हो, अतः अपने ही राज्यमें उत्पन्न हुए भयका तुम्हें कुछ पता ही नहीं है ॥ १४ ॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम्।
व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम् ॥ १५ ॥

'जो राजा कठोरतापूर्ण बर्ताव करता अथवा तीखे स्वभावका परिचय देता है, सेवकोंको बहुत कम वेतन देता है, प्रमादमें पड़ा और गर्वमें भरा रहता है तथा स्वाभावसे ही शठ होता है, उसके संकटमें पड़नेपर सभी प्राणी उसका साथ छोड़ देते हैं—उसकी सहायताके लिये आगे नहीं बढ़ते हैं ॥ १५ ॥

अतिमानिनमग्राह्यमात्मसम्भावितं नरम्।
क्रोधनं व्यसने हन्ति स्वजनोऽपि नराधिपम् ॥ १६ ॥

'जो अत्यन्त अभिमानी, अपनानेके अयोग्य, आप ही अपनेको बहुत बड़ा माननेवाला और क्रोधी होता है, ऐसे नर अथवा नरेशको संकटकालमें आत्मीय जन भी मार डालते हैं ॥ १६ ॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न बिभेति च।
क्षिप्रं राज्याच्च्युतो दीनस्तृणैस्तुल्यो भवेदिह ॥ १७ ॥

'जो राजा अपने कर्तव्यका पालन अथवा करने योग्य कार्योंका सम्पादन नहीं करता तथा भयके अवसरोंपर भयभीत (एवं अपनी रक्षाके लिये सावधान) नहीं होता, वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट एवं दीन होकर इस भूतलपर तिनकोंके समान उपेक्षणीय हो जाता है ॥ १७ ॥

शुष्ककाष्ठैर्भवेत् कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः।
न तु स्थानात् परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद् वसुधाधिपैः ॥ १८ ॥

'लोगोंको सूखे काठोंसे, मिट्टीके ढेलों तथा धूलसे भी कुछ प्रयोजन होता है, किंतु स्थानभ्रष्ट राजाओंसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ १८ ॥

उपभुक्तं यथा वासः स्रजो वा मृदिता यथा।
एवं राज्यात् परिभ्रष्टः समर्थोऽपि निरर्थकः ॥ १९ ॥

'जैसे पहना हुआ वस्त्र और मसल डाली गयी फूलोंकी

माला दूसरोंके उपयोगमें आने योग्य नहीं होती, इसी प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ राजा समर्थ होनेपर भी दूसरोंके लिये निरर्थक है ॥ १९ ॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम् ॥ २० ॥

'परंतु जो राजा सदा सावधान रहता, राज्यके समस्त कार्योंकी जानकारी रखता, इन्द्रियोंको वशमें किये रहता, कृतज्ञ (दूसरोंके उपकारको माननेवाला) तथा स्वभावसे ही धर्मपरायण होता है, वह राजा बहुत दिनोंतक राज्य करता है ॥ २० ॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तो वा जागर्ति नयचक्षुषा ।
व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥ २१ ॥

'जो स्थूल आँखोंसे तो सोता है, परंतु नीतिकी आँखोंसे सदा जागता रहता है तथा जिसके क्रोध और अनुग्रहका फल प्रत्यक्ष प्रकट होता है, उसी राजाकी लोग पूजा करते हैं ॥ २१ ॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।
यस्य तेऽविदितश्चारैः रक्षसां सुमहान् वधः ॥ २२ ॥

'रावण ! तुम्हारी बुद्धि दूषित है और तुम इन सभी राजोचित गुणोंसे वञ्चित हो; क्योंकि तुम्हें अबतक गुप्तचरोंकी सहायतासे राक्षसोंके इस महान् संहारका समाचार ज्ञात नहीं हो सका था ॥ २२ ॥

परावमन्ता विषयेषु सङ्गवान्
न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।
अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये
विपन्नराज्यो नचिराद् विपत्स्यसे ॥ २३ ॥

'तुम दूसरोंका अनादर करनेवाले, विषयासक्त और देश-कालके विभागको यथार्थरूपसे न जाननेवाले हो, तुमने गुण और दोषके विचार एवं निश्चयमें कभी अपनी बुद्धिको नहीं लगाया है, अतः तुम्हारा राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जायगा और तुम स्वयं भी भारी विपत्तिमें पड़ जाओगे' ॥ २३ ॥

इति स्वदोषान् परिकीर्तितांस्तया
समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः ।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥ २४ ॥

शूर्पणखाके द्वारा कहे गये अपने दोषोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके धन, अभिमान और बलसे सम्पन्न वह निशाचर रावण बहुत देरतक सोच-विचार एवं चिन्तामें पड़ा रहा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

रावणके पूछनेपर शूर्पणखाका उससे राम, लक्ष्मण और सीताका परिचय देते हुए सीताको भार्या बनानेके लिये उसे प्रेरित करना

ततः शूर्पणखां दृष्ट्वा ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः ॥ १ ॥

शूर्पणखाको इस प्रकार कठोर बातें कहती देख मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए रावणने अत्यन्त कुपित होकर पूछा—॥ १ ॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टश्च सुदुस्तरम् ॥ २ ॥

'राम कौन है ? उसका बल कैसा है ? रूप और पराक्रम कैसे हैं ? अत्यन्त दुस्तर दण्डकारण्यमें उसने किस लिये प्रवेश किया ? ॥ २ ॥

आयुधं किं च रामस्य येन ते राक्षसा हताः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥ ३ ॥

'रामके पास कौन-सा ऐसा अस्त्र है, जिससे वे सब राक्षस मारे गये तथा युद्धमें खर, दूषण और त्रिशिराका भी संहार हो गया ॥ ३ ॥

तत्त्वं ब्रूहि मनोज्ञाङ्गि केन त्वं च विरूपिता ।
इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता ॥ ४ ॥

'मनोहर अङ्गोंवाली शूर्पणखे ! ठीक-ठीक बताओ, किसने तुम्हें कुरूप बनाया है—किसने तुम्हारी नाक और कान काट डाले हैं ?' राक्षसराज रावणके इस प्रकार पूछनेपर वह राक्षसी क्रोधसे अचेत-सी हो उठी ॥ ४ ॥

ततो रामं यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ॥ ५ ॥
कन्दर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ।

तदनन्तर उसने श्रीरामका यथावत् परिचय देना आरम्भ किया—'भैया ! श्रीरामचन्द्र राजा दशरथके पुत्र

हैं, उनकी भुजाएँ लंबी, आँखें बड़ी-बड़ी और रूप कामदेवके समान है। वे चीर और काला मृगचर्म धारण करते हैं ॥ ५½ ॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम् ॥ ६ ॥
दीप्तान् क्षिपति नाराचान् सर्पानिव महाविषान्।

'श्रीराम इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल धनुषको, जिसमें सोनेके छल्ले शोभा दे रहे हैं, खींचकर उसके द्वारा महाविषैले सर्पोंके समान तेजस्वी नाराचोंकी वर्षा करते हैं ॥ ६½ ॥

नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं महाबलम् ॥ ७ ॥
न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे।

'वे महाबली राम युद्धस्थलमें कब धनुष खींचते, कब भयंकर बाण हाथमें लेते और कब उन्हें छोड़ते हैं—यह मैं नहीं देख पाती थी ॥ ७½ ॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः ॥ ८ ॥
इन्द्रेणेवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः।

'उनके बाणोंकी वर्षासे राक्षसोंकी सेना मर रही है—इतना ही मुझे दिखायी देता था। जैसे इन्द्र (मेघ) द्वारा बरसाये गये ओलोंकी वृष्टिसे अच्छी खेती चौपट हो जाती है, उसी प्रकार रामके बाणोंसे राक्षसोंका विनाश हो गया ॥ ८½ ॥

रक्षसां भीमवीर्याणां सहस्राणि चतुर्दश ॥ ९ ॥
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना।
अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः ॥ १० ॥
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥ ११ ॥

'श्रीराम अकेले और पैदल थे, तो भी उन्होंने डेढ़ मुहूर्त (तीन घड़ी) के भीतर ही खर और दूषणसहित चौदह हजार भयंकर बलशाली राक्षसोंका तीखे बाणोंसे संहार कर डाला, ऋषियोंको अभय दे दिया और समस्त दण्डकवनको राक्षसोंकी विघ्नबाधासे रहित कर दिया ॥ ९–११ ॥

एका कथंचिन्मुक्ताहं परिभूय महात्मना।
स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥ १२ ॥

'आत्मज्ञानी महात्मा श्रीरामने स्त्रीका वध हो जानेके भयसे एकमात्र मुझे किसी तरह केवल अपमानित करके ही छोड़ दिया ॥ १२ ॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः।
अनुरक्तश्च भक्तश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १३ ॥
अमर्षी दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान् बली।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ॥ १४ ॥

'उनका एक बड़ा ही तेजस्वी भाई है, जो गुण और पराक्रममें उन्हींके समान है। उसका नाम है लक्ष्मण। वह पराक्रमी वीर अपने बड़े भाईका प्रेमी और भक्त है, उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है, वह अमर्षशील, दुर्जय, विजयी तथा बलविक्रमसे सम्पन्न है। श्रीरामका वह मानो दाहिना हाथ और सदा बाहर विचरनेवाला प्राण है ॥ १३-१४ ॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना।
धर्मपत्नी प्रिया नित्यं भर्तुः प्रियहिते रता ॥ १५ ॥

'श्रीरामकी धर्मपत्नी भी उनके साथ है। वह पतिको बहुत प्यारी है और सदा अपने स्वामीका प्रिय तथा हित करनेमें ही लगी रहती है। उसकी आँखें विशाल और मुख पूर्ण चन्द्रके समान मनोरम है ॥ १५ ॥

सा सुकेशी सुनासोरूः सुरूपा च यशस्विनी।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥ १६ ॥

'उसके केश, नासिका, ऊरु तथा रूप बड़े ही सुन्दर तथा मनोहर हैं। वह यशस्विनी राजकुमारी इस दण्डकवनकी देवी-सी जान पड़ती है और दूसरी लक्ष्मीके समान शोभा पाती है ॥ १६ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १७ ॥

'उसका सुन्दर शरीर तपाये हुए सुवर्णकी कान्ति धारण करता है, नख ऊँचे तथा लाल हैं। वह शुभलक्षणोंसे सम्पन्न है। उसके सभी अङ्ग सुडौल हैं और कटिभाग सुन्दर तथा पतला है। वह विदेहराज जनककी कन्या है और सीता उसका नाम है ॥ १७ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी।
तथारूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १८ ॥

'देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरोंकी स्त्रियोंमें भी कोई उसके समान सुन्दरी नहीं है। इस भूतलपर वैसी रूपवती नारी मैंने पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १८ ॥

यस्य सीता भवेद् भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत्।
अभिजीवेत् स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरंदरात् ॥ १९ ॥

'सीता जिसकी भार्या हो और वह हर्षमें भरकर जिसका आलिङ्गन करे, समस्त लोकोंमें उसीका जीवन इन्द्रसे भी अधिक भाग्यशाली है ॥ १९ ॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि।
तवानुरूपा भार्या सा त्वं च तस्याः पतिर्वरः ॥ २० ॥

'उसका शीलस्वभाव बड़ा ही उत्तम है। उसका एक-एक अङ्ग स्तुत्य एवं स्पृहणीय है। उसके रूपकी समानता करनेवाली भूमण्डलमें दूसरी कोई स्त्री नहीं है। वह तुम्हारे योग्य भार्या होगी और तुम भी उसके योग्य श्रेष्ठ पति होओगे ॥ २० ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनोत्तुङ्गपयोधराम्।
भार्यार्थे तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम् ॥ २१ ॥
विरूपितास्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज।

'महाबाहो! विस्तृत जघन और उठे हुए पुष्ट कुचोंवाली उस सुमुखी स्त्रीको जब मैं तुम्हारी भार्या बनानेके लिये ले आनेको उद्यत हुई, तब क्रूर लक्ष्मणने मुझे इस तरह कुरूप कर दिया ॥ २१½ ॥

तां तु दृष्ट्वाद्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ २२ ॥
मन्मथस्य शराणां च त्वं विधेयो भविष्यसि।

'पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली विदेहराजकुमारी सीताको देखते ही तुम कामदेवके बाणोंके लक्ष्य बन जाओगे ॥ २२½ ॥

यदि तस्यामभिप्रायो भार्यात्वे तव जायते।
शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥ २३ ॥

'यदि तुम्हें सीताको अपनी भार्या बनानेकी इच्छा हो तो शीघ्र ही श्रीरामको जीतनेके लिये यहाँ अपना दाहिना पैर आगे बढ़ाओ ॥ २३ ॥

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद् राक्षसेश्वर।
क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण ॥ २४ ॥

'राक्षसराज रावण! यदि तुम्हें मेरी यह बात पसंद हो तो निःशङ्क होकर मेरे कथनानुसार कार्य करो ॥ २४ ॥

विज्ञायैषामशक्तिं च क्रियतां च महाबल।
सीता तवानवद्याङ्गी भार्यात्वे राक्षसेश्वर ॥ २५ ॥

'महाबली राक्षसेश्वर! इन राम आदिकी असमर्थता और अपनी शक्तिका विचार करके सर्वाङ्गसुन्दरी सीताको अपनी भार्या बनानेका प्रयत्न करो (उसे हर लाओ) ॥ २५ ॥

निशम्य रामेण शरैरजिह्मगै-
र्हताञ्जनस्थानगतान् निशाचरान्।
खरं च दृष्ट्वा निहतं च दूषणं
त्वमद्य कृत्यं प्रतिपत्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

'श्रीरामने अपने सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा जनस्थान-निवासी निशाचरोंको मार डाला और खर तथा दूषणको भी मौतके घाट उतार दिया, यह सब सुनकर और देखकर अब तुम्हारा क्या कर्तव्य है, इसका निश्चय तुम्हें कर लेना चाहिये' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

रावणका समुद्रतटवर्ती प्रान्तकी शोभा देखते हुए पुनः मारीचके पास जाना

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम्।
सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम ह ॥ १ ॥

शूर्पणखाकी ये रोंगटे खड़े कर देनेवाली बातें सुनकर रावण मन्त्रियोंसे सलाह ले अपने कर्तव्यका निश्चय करके वहाँसे चल दिया ॥ १ ॥

तत् कार्यमनुगम्यान्तर्यथावदुपलभ्य च।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २ ॥
इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः।
स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालां जगाम ह ॥ ३ ॥

उसने पहले सीताहरणरूपी कार्यपर मन-ही-मन विचार किया। फिर उसके दोषों और गुणोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके बलाबलका निश्चय किया। अन्तमें यह स्थिर किया कि इस कामको करना ही चाहिये। जब इस बातपर उसकी बुद्धि जम गयी, तब वह रमणीय रथशालामें गया ॥ २-३ ॥

यानशालां ततो गत्वा प्रच्छन्नं राक्षसाधिपः।
सूतं संचोदयामास रथः संयुज्यतामिति ॥ ४ ॥

गुप्तरूपसे रथशालामें जाकर राक्षसराज रावणने अपने सारथिको यह आज्ञा दी कि 'मेरा रथ जोतकर तैयार करो' ॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिर्लघुविक्रमः।
रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुत्तमम् ॥ ५ ॥

सारथि शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेमें कुशल था। रावणकी उपर्युक्त आज्ञा पाकर उसने एक ही क्षणमें उसके मनके अनुकूल उत्तम रथ जोतकर तैयार कर दिया ॥ ५ ॥

कामगं रथमास्थाय काञ्चनं रत्नभूषितम्।
पिशाचवदनैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः ॥ ६ ॥

वह रथ इच्छानुसार चलनेवाला तथा सुवर्णमय था। उसे रत्नोंसे विभूषित किया गया था। उसमें सोनेके साज-बाजोंसे सजे हुए गधे जुते थे, जिनका मुख पिशाचोंके समान था। रावण उसपर आरूढ़ होकर चला ॥ ६ ॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान् ययौ नदनदीपतिम् ॥ ७ ॥

वह रथ मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घर्घर ध्वनि फैलाता हुआ चलता था। उसके द्वारा वह कुबेरका छोटा भाई श्रीमान् राक्षसराज रावण समुद्रके तटपर गया ॥ ७ ॥

स श्वेतवालव्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशस्तप्तकाञ्चनभूषणः ॥ ८ ॥
दशग्रीवो विंशतिभुजो दर्शनीयपरिच्छदः।
त्रिदशारिर्मुनीन्द्रघ्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उस समय उसके लिये सफेद चँवरसे हवा की जा रही थी। सिरके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था। उसकी अङ्ग-कान्ति स्निग्ध वैदूर्यमणिके समान नीली या काली थी। वह पक्के सोनेके आभूषणोंसे विभूषित था। उसके दस मुख, दस कण्ठ और बीस भुजाएँ थीं। उसके वस्त्राभूषण आदि अन्य उपकरण भी देखने ही योग्य थे। देवताओंका शत्रु और मुनीश्वरोंका हत्यारा वह निशाचर दस शिखरोंवाले पर्वतराजके समान प्रतीत होता था ॥ ८-९ ॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसाधिपः।
विद्युन्मण्डलवान् मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

इच्छानुसार चलनेवाले उस रथपर आरूढ़ हो राक्षसराज रावण आकाशमें विद्युन्मण्डलसे घिरे हुए तथा बकपंक्तियोंसे सुशोभित मेघके समान शोभा पा रहा था ॥ १० ॥

सशैलसागरानूपं वीर्यवानवलोकयन्।
नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥
शीतमङ्गलतोयाभिः पद्मिनीभिः समन्ततः।
विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्भिरलंकृतम् ॥ १२ ॥

पराक्रमी रावण पर्वतयुक्त समुद्रके तटपर पहुँचकर उसकी शोभा देखने लगा। सागरका वह किनारा नाना प्रकारके फल-फूलवाले सहस्रों वृक्षोंसे व्याप्त था। चारों ओर मङ्गलकारी शीतल जलसे भरी हुई पुष्करिणियाँ और वेदिकाओंसे मण्डित विशाल आश्रम उस सिन्धुतटकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ११-१२ ॥

कदल्यटविसंशोभं नारिकेलोपशोभितम्।
सालैस्तालैस्तमालैश्च तरुभिश्च सुपुष्पितैः ॥ १३ ॥

कहीं कदलीवन और कहीं नारियलके कुञ्ज शोभा दे रहे थे। साल, ताल, तमाल तथा सुन्दर फूलोंसे भरे हुए दूसरे-दूसरे वृक्ष उस तटप्रान्तको अलंकृत कर रहे थे ॥ १३ ॥

अत्यन्तनियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किंनरैश्च सहस्रशः ॥ १४ ॥

अत्यन्त नियमित आहार करनेवाले बड़े-बड़े महर्षियों, नागों, सुपर्णों (गरुड़ों), गन्धर्वों तथा सहस्रों किन्नरोंसे भी उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १४ ॥

जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैश्चोपशोभितम्।
आजैर्वैखानसैर्माषैर्वालखिल्यैर्मरीचिपैः ॥ १५ ॥

कामविजयी सिद्धों, चारणों, ब्रह्माजीके पुत्रों, वानप्रस्थों, माष गोत्रमें उत्पन्न मुनियों, बालखिल्य महात्माओं तथा केवल सूर्य-किरणोंका पान करनेवाले तपस्वीजनोंसे भी वह सागरका तटप्रान्त सुशोभित हो रहा था ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम्।
क्रीडारतविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥
सेवितं देवपत्नीभिः श्रीमतीभिरुपासितम्।
देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

दिव्य आभूषणों और पुष्पमालाओंको धारण करनेवाली तथा क्रीड़ा-विहारकी विधिको जाननेवाली सहस्रों दिव्यरूपिणी अप्सराएँ वहाँ सब ओर विचर रही थीं। कितनी ही शोभा-शालिनी देवाङ्गनाएँ उस सिन्धुतटका सेवन करती हुई आस-पास बैठी थीं। देवताओं और दानवोंके समूह तथा अमृतभोजी देवगण वहाँ विचर रहे थे ॥ १६-१७ ॥

हंसक्रौञ्चप्लवाकीर्णं सारसैः सम्प्रसादितम्।
वैदूर्यप्रस्तरं स्निग्धं सान्द्रं सागरतेजसा ॥ १८ ॥

सिन्धुका वह तट समुद्रके तेजसे उसकी तरङ्गमालाओंके स्पर्शसे स्निग्ध एवं शीतल था। वहाँ हंस, क्रौञ्च तथा मेढक सब ओर फैले हुए थे और सारस उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उस तटपर वैदूर्यमणिके सदृश श्याम रंगके प्रस्तर दिखायी देते थे ॥ १८ ॥

पाण्डुराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च।
तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः ॥ १९ ॥
तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पतन्।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः ॥ २० ॥

आकाशमार्गसे यात्रा करते हुए कुबेरके छोटे भाई रावणने रास्तेमें सब ओर बहुत-से श्वेत वर्णके विमानों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंको भी देखा। वे इच्छानुसार चलनेवाले विशाल विमान उन पुण्यात्मा पुरुषोंके थे, जिन्होंने तपस्यासे पुण्यलोकोंपर विजय पायी थी। उन विमानोंको दिव्य पुष्पोंसे सजाया गया था और उनके भीतरसे गीत-वाद्यकी ध्वनि प्रकट हो रही थी ॥ १९-२० ॥

निर्यासरसमूलानां चन्दनानां सहस्रशः।
वनानि पश्यन् सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च ॥ २१ ॥

आगे बढ़नेपर उसने, जिनकी जड़ोंसे गोंद निकले हुए थे, ऐसे चन्दनोंके सहस्रों वन देखे, जो बड़े ही सुहावने और अपनी सुगन्धसे नासिकाको तृप्त करनेवाले थे ॥ २१ ॥

अगुरूणां च मुख्यानां वनान्युपवनानि च।
तक्कोलानां च जात्यानां फलिनां च सुगन्धिनाम् ॥ २२ ॥
पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि मरिचस्य च।
मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि तीरतः ॥ २३ ॥
शैलानि प्रवरांश्चैव प्रवालनिचयांस्तथा।
काञ्चनानि च शृङ्गाणि राजतानि तथैव च ॥ २४ ॥

प्रस्रवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नान्यद्भुतानि च।
धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैरावृतानि च ॥ २५ ॥
हस्त्यश्वरथगाढानि नगराणि विलोकयन्।

कहीं श्रेष्ठ अगुरुके वन थे, कहीं उत्तम जातिके सुगन्धित फलवाले तक्कोलों (वृक्षविशेषों) के उपवन थे। कहीं तमालके फूल खिले हुए थे। कहीं गोल मिर्चकी झाड़ियाँ शोभा पाती थीं और कहीं समुद्रके तटपर ढेर-के-ढेर मोती सूख रहे थे। कहीं श्रेष्ठ पर्वतमालाएँ, कहीं मूँगोंकी राशियाँ, कहीं सोने-चाँदीके शिखर तथा कहीं सुन्दर, अद्भुत और स्वच्छ पानीके झरने दिखायी देते थे। कहीं धन-धान्यसे सम्पन्न, स्त्री-रत्नोंसे भरे हुए तथा हाथी, घोड़े और रथोंसे व्याप्त नगर दृष्टिगोचर होते थे। इन सबको देखता हुआ रावण आगे बढ़ा ॥ २२—२५½ ॥

तं समं सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमारुतम् ॥ २६ ॥
अनूपे सिन्धुराजस्य ददर्श त्रिदिवोपमम्।

फिर उसने सिंधुराजके तटपर एक ऐसा स्थान देखा, जो स्वर्गके समान मनोहर, सब ओरसे समतल और स्निग्ध था। वहाँ मन्द-मन्द वायु चलती थी, जिसका स्पर्श बड़ा कोमल जान पड़ता था ॥ २६½ ॥

तत्रापश्यत् स मेघाभं न्यग्रोधं मुनिभिर्वृतम् ॥ २७ ॥
समन्ताद् यस्य ताः शाखाः शतयोजनमायताः।

वहाँ सागरतटपर एक बरगदका वृक्ष दिखायी दिया, जो अपनी घनी छायाके कारण मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होता था। उसके नीचे चारों ओर मुनि निवास करते थे। उस वृक्षकी सुप्रसिद्ध शाखाएँ चारों ओर सौ योजनोंतक फैली हुई थीं ॥ २७½ ॥

यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम् ॥ २८ ॥
भक्षार्थं गरुडः शाखामाजगाम महाबलः।

यह वही वृक्ष था, जिसकी शाखापर किसी समय महाबली गरुड एक विशालकाय हाथी और कछुएको लेकर उन्हें खानेके लिये आ बैठे थे ॥ २८½ ॥

तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः ॥ २९ ॥
सुपर्णः पर्णबहुलां बभञ्जाथ महाबलः।

पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली गरुड़ने बहुसंख्यक पत्तोंसे भरी हुई उस शाखाको सहसा अपने भारसे तोड़ डाला था ॥

तत्र वैखानसा माषा वालखिल्या मरीचिपाः ॥ ३० ॥
आजा बभूवुर्धूम्राश्च संगताः परमर्षयः।

उस शाखाके नीचे बहुत-से वैखानस, माष, बालखिल्य, मरीचिप (सूर्य-किरणोंका पान करनेवाले), ब्रह्मपुत्र और धूम्रप संज्ञावाले महर्षि एक साथ रहते थे ॥ ३०½ ॥

तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम् ॥ ३१ ॥
भग्नामादाय वेगेन तौ चोभौ गजकच्छपौ।
एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा तदामिषम् ॥ ३२ ॥
निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमम्।
प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन् ॥ ३३ ॥

उनपर दया करके उनके जीवनकी रक्षा करनेके लिये पक्षियोंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा गरुड़ने उस टूटी हुई सौ योजन लंबी शाखाको और उन दोनों हाथी तथा कछुएको भी वेगपूर्वक एक ही पंजेसे पकड़ लिया तथा आकाशमें ही उन दोनों जंतुओंके मांस खाकर फेंकी हुई उस डालीके द्वारा निषाद देशका संहार कर डाला। उस समय पूर्वोक्त महामुनियोंको मृत्युके संकटसे बचा लेनेसे गरुड़को अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ३१—३३ ॥

स तु तेन प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः।
अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान् मतिम् ॥ ३४ ॥

उस महान् हर्षसे बुद्धिमान् गरुड़का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत ले आनेके लिये पक्का निश्चय कर लिया ॥ ३४ ॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नगृहं वरम्।
महेन्द्रभवनाद् गुप्तमाजहारामृतं ततः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् इन्द्रलोकमें जाकर उन्होंने इन्द्रभवनकी उन जालियोंको तोड़ डाला, जो लोहेकी सींकचोंसे बनी हुई थीं। फिर रत्ननिर्मित श्रेष्ठ भवनको नष्ट-भ्रष्ट करके वहाँ छिपाकर रखे हुए अमृतको वे महेन्द्रभवनसे हर लाये ॥ ३५ ॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णकृतलक्षणम्।
नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः ॥ ३६ ॥

गरुड़के द्वारा तोड़ी हुई डालीका वह चिह्न उस बरगदमें उस समय भी मौजूद था। उस वृक्षका नाम था सुभद्रवट। बहुत-से महर्षि उस वृक्षकी छायामें निवास करते थे। कुबेरके छोटे भाई रावणने उस वटवृक्षको देखा ॥ ३६ ॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः।
ददर्शाश्रममेकान्ते पुण्ये रम्ये वनान्तरे ॥ ३७ ॥

नदियोंके स्वामी समुद्रके दूसरे तटपर जाकर उसने एक रमणीय वनके भीतर पवित्र एवं एकान्तस्थानमें एक आश्रमका दर्शन किया ॥ ३७ ॥

तत्र कृष्णाजिनधरं जटामण्डलधारिणम्।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ३८ ॥

वहाँ शरीरमें काला मृगचर्म और सिरपर जटाओंका समूह धारण किये नियमित आहार करते हुए मारीच नामक राक्षस निवास करता था। रावण वहाँ जाकर उससे मिला ॥ ३८ ॥

स रावणः समागम्य विधिवत् तेन रक्षसा।
मारीचेनार्चितो राजा सर्वकामैरमानुषैः ॥ ३९ ॥

मिलनेपर उस राक्षस मारीचने सब प्रकारके अलौकिक कमनीय पदार्थ अर्पित करके राजा रावणका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ३९ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा च भोजनेनोदकेन च।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

अन्न और जलसे स्वयं उसका पूर्ण सत्कार करके मारीचने प्रयोजनकी बातें पूछते हुए उससे इस प्रकार कहा— ॥ ४० ॥

कच्चित्ते कुशलं राजल्लँङ्कायां राक्षसेश्वर।
केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेव इहागतः ॥ ४१ ॥

'राजन्! तुम्हारी लंकामें कुशल तो है? राक्षसराज! तुम किस कामके लिये पुनः इतनी जल्दी यहाँ आये हो?' ॥ ४१ ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

मारीचके इस प्रकार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल महातेजस्वी रावणने उससे इस प्रकार कहा ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

रावणका मारीचसे श्रीरामके अपराध बताकर उनकी पत्नी सीताके अपहरणमें सहायताके लिये कहना

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान् हि परमा गतिः ॥ १ ॥

'तात मारीच! मैं सब बता रहा हूँ। मेरी बात सुनो। इस समय मैं बहुत दुखी हूँ और इस दुःखकी अवस्थामें तुम्हीं मुझे सबसे बढ़कर सहारा देनेवाले हो ॥ १ ॥

जानीषे त्वं जनस्थानं भ्राता यत्र खरो मम।
दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥ २ ॥
त्रिशिराश्च महाबाहू राक्षसः पिशिताशनः।
अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा निशाचराः ॥ ३ ॥

'तुम जनस्थानको जानते हो, जहाँ मेरा भाई खर, महाबाहु दूषण, मेरी बहिन शूर्पणखा, मांसभोजी राक्षस महाबाहु त्रिशिरा तथा और भी बहुत-से लक्ष्यवेधमें कुशल शूरवीर निशाचर रहा करते थे ॥ २-३ ॥

वसन्ति मन्नियोगेन अधिवासं च राक्षसाः।
बाधमाना महारण्ये मुनीन् ये धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

'वे सभी राक्षस मेरी आज्ञासे वहाँ घर बनाकर रहते थे और उस विशाल वनमें जो धर्माचरण करनेवाले मुनि थे, उन्हें सताया करते थे ॥ ४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

'वहाँ खरके मनका अनुसरण करनेवाले तथा युद्ध-विषयक उत्साहसे सम्पन्न चौदह हजार शूरवीर राक्षस रहते थे, जो भयंकर कर्म करनेवाले थे ॥ ५ ॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः।
सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

'जनस्थानमें निवास करनेवाले जितने महाबली राक्षस थे, वे सब-के-सब उस समय अच्छी तरह सन्नद्ध हो युद्धक्षेत्रमें रामके साथ जा भिड़े थे ॥ ६ ॥

नानाशस्त्रप्रहरणाः खरप्रमुखराक्षसाः।
तेन संजातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥
अनुक्त्वा परुषं किंचिच्छरैर्व्यापारितं धनुः।

'वे खर आदि राक्षस नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करनेमें कुशल थे, परंतु युद्धके मुहानेपर रोषसे भरे हुए श्रीरामने अपने मुँहसे कोई कड़वी बात न कहकर बाणोंके साथ धनुषका ही व्यापार आरम्भ किया ॥ ७½ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥
निहतानि शरैर्दीप्तैर्मानुषेण पदातिना।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥
हत्वा त्रिशिरसं चापि निर्भया दण्डकाः कृताः।

'पैदल और मनुष्य होकर भी रामने अपने दमकते बाणोंसे भयंकर तेजवाले चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर डाला और उसी युद्धमें खरको भी मौतके घाट उतारकर दूषणको भी मार गिराया। साथ ही त्रिशि-

वध करके उसने दण्डकारण्यको दूसरोंके लिये निर्भय बना दिया ॥ ८-९½ ॥

पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥ १० ॥
स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः ।

'उसके पिताने कुपित होकर उसे पत्नीसहित घरसे निकाल दिया है। उसका जीवन क्षीण हो चला है। यह क्षत्रियकुलकलङ्क राम ही उस राक्षस-सेनाका घातक है ॥१०½॥

अशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः॥११॥
त्यक्तधर्मा त्वधर्मात्मा भूतानामहिते रतः ।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमास्थाय केवलम् ॥ १२ ॥
कर्णनासापहारेण भगिनी मे विरूपिता ।
अस्य भार्यां जनस्थानात् सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ १३ ॥
आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव ।

'वह शीलरहित क्रूर, तीखे स्वभाववाला, मूर्ख, लोभी, अजितेन्द्रिय, धर्मत्यागी, अधर्मात्मा और समस्त प्राणियोंके अहितमें तत्पर रहनेवाला है। जिसने बिना किसी वैर-विरोधके केवल बलका आश्रय ले मेरी बहिनके नाक-कान काटकर उसका रूप बिगाड़ दिया, उससे बदला लेनेके लिये मैं भी उसकी देवकन्याके समान सुन्दरी पत्नी सीताको जनस्थानसे बलपूर्वक हर लाऊँगा। तुम उस कार्यमें मेरी सहायता करो ॥ ११–१३½ ॥

त्वया ह्यहं सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल ॥ १४ ॥
भ्रातृभिश्च सुरान् सर्वान् नाहमत्राभिचिन्तये ।
तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो ह्यसि राक्षस ॥ १५ ॥

'महाबली राक्षस! तुम-जैसे पार्श्ववर्ती सहायकके और अपने भाइयोंके बलपर ही मैं समस्त देवताओंकी यहाँ कोई परवा नहीं करता, अतः तुम मेरे सहायक हो जाओ; क्योंकि तुम मेरी सहायता करनेमें समर्थ हो ॥ १४-१५ ॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न ह्यस्ति सदृशस्तव ।
उपायतो महाञ्शूरो महामायाविशारदः ॥ १६ ॥

'पराक्रममें, युद्धमें और वीरोचित अभिमानमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। नाना प्रकारके उपाय बतानेमें भी तुम बड़े बहादुर हो। बड़ी-बड़ी मायाओंका प्रयोग करनेमें भी विशेष कुशल हो ॥ १६ ॥

एतदर्थमहं प्राप्तस्त्वत्समीपं निशाचर ।
शृणु तत् कर्म साहाय्ये यत् कार्यं वचनान्मम ॥ १७ ॥

'निशाचर! इसीलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ। सहायताके लिये मेरे कथनानुसार तुम्हें कौन सा काम करना है, वह भी सुनो ॥ १७ ॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ।
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥ १८ ॥

'तुम सोनेके बने हुए मृग-जैसा रूप धारण करके रजतमय बिन्दुओंसे युक्त चितकबरे हो जाओ और रामके आश्रममें सीताके सामने विचरो ॥ १८ ॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम् ।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति ॥ १९ ॥

'विचित्र मृगके रूपमें तुम्हें देखकर सीता अवश्य ही अपने पति रामसे तथा लक्ष्मणसे भी कहेगी कि आपलोग इसे पकड़ लावें ॥ १९ ॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम् ।
निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभामिव ॥ २० ॥

'जब वे दोनों तुम्हें पकड़नेके लिये दूर निकल जायँगे, तब मैं बिना किसी विघ्न-बाधाके सूने आश्रमसे सीताको उसी तरह सुखपूर्वक हर लाऊँगा, जैसे राहु चन्द्रमाकी प्रभाका अपहरण कर लेता है ॥ २० ॥

ततः पश्चात् सुखं रामे भार्याहरणकर्शिते ।
विश्रब्धं प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

'उसके बाद स्त्रीका अपहरण हो जानेसे जब राम अत्यन्त दुःखी और दुर्बल हो जायगा, उस समय मैं निर्भय हो सुखपूर्वक उसके ऊपर कृतार्थचित्तसे प्रहार करूँगा' ॥ २१ ॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः ।
शुष्कं समभवद् वक्त्रं परित्रस्तो बभूव च ॥ २२ ॥

रावणके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चा सुनकर महात्मा मारीचका मुँह सूख गया। वह भयसे थर्रा उठा ॥ २२ ॥

ओष्ठौ परिलिहञ्शुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव ।
मृतभूत इवार्तस्तु रावणं समुदैक्षत ॥ २३ ॥

वह अपलक नेत्रोंसे देखता हुआ अपने सूखे ओठोंको चाटने लगा। उसे इतना दुःख हुआ कि वह मुर्दा-सा दिखायी देने लगा। उसी अवस्थामें उसने रावणकी ओर देखा ॥ २३ ॥

स रावणं त्रस्तविषण्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः ।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥ २४ ॥

उसे महान् वनमें श्रीरामचन्द्रजीके पराक्रमका ज्ञान

हो चुका था; इसलिये वह मन-ही-मन अत्यन्त भयभीत और दुखी हो गया तथा हाथ जोड़कर रावणसे यथार्थ वचन बोला। उसकी वह बात रावणके तथा अपने लिये भी हितकर थी ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

मारीचका रावणको श्रीरामचन्द्रजीके गुण और प्रभाव बताकर सीताहरणके उद्योगसे रोकना

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महातेजा मारीचो राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥

राक्षसराज रावणकी पूर्वोक्त बात सुनकर बातचीत करनेमें कुशल महातेजस्वी मारीचने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २ ॥

'राजन्! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो सर्वत्र सुलभ होते हैं; परंतु जो अप्रिय होनेपर भी हितकर हो, ऐसी बातके कहने और सुननेवाले दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ २ ॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यगुणोन्नतम् ।
अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ३ ॥

'तुम कोई गुप्तचर तो रखते नहीं और तुम्हारा हृदय भी बहुत ही चञ्चल है; अतः निश्चय ही तुम श्रीरामचन्द्रजीको बिल्कुल नहीं जानते। वे पराक्रमोचित गुणोंमें बहुत बढ़े-चढ़े तथा इन्द्र और वरुणके समान हैं ॥ ३ ॥

अपि स्वस्ति भवेत् तात सर्वेषामपि रक्षसाम् ।
अपि रामो न संक्रुद्धः कुर्याल्लोकानराक्षसान् ॥ ४ ॥

तात! मैं तो यही चाहता हूँ कि समस्त राक्षसोंका कल्याण हो। कहीं ऐसा न हो कि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त कुपित हो समस्त लोकोंको राक्षसोंसे शून्य कर दें? ॥ ४ ॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।
अपि सीतानिमित्तं च न भवेद् व्यसनं महत् ॥ ५ ॥

'जनकनन्दिनी सीता तुम्हारे जीवनका अन्त करनेके लिये तो नहीं उत्पन्न हुई है? कहीं ऐसा न हो कि सीताके कारण तुम्हारे ऊपर कोई बहुत बड़ा सङ्कट आ जाय? ॥ ५ ॥

अपि त्वामीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं निरङ्कुशम् ।
न विनश्येत् पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा ॥ ६ ॥

'तुम-जैसे स्वेच्छाचारी और उच्छृङ्खल राजाको पाकर लङ्कापुरी तुम्हारे और राक्षसोंके साथ ही नष्ट न हो जाय? ॥ ६ ॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः पापमन्त्रितः ।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

'जो राजा तुम्हारे समान दुराचारी, स्वेच्छाचारी, पापपूर्ण विचार रखनेवाला और खोटी बुद्धिवाला होता है, वह अपना, अपने स्वजनोंका तथा समूचे राष्ट्रका भी विनाश कर डालता है ॥ ७ ॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथंचन ।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥ ८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी न तो पिताद्वारा त्यागे या निकाले गये हैं, न उन्होंने धर्मकी मर्यादाका किसी तरह त्याग किया है, न वे लोभी, न दूषित आचार-विचारवाले और न क्षत्रियकुल-कलङ्क ही हैं ॥ ८ ॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
न च तीक्ष्णो हि भूतानां सर्वभूतहिते रतः ॥ ९ ॥

'कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले श्रीराम धर्मसम्बन्धी गुणोंसे हीन नहीं हुए हैं। उनका स्वभाव भी किसी प्राणीके प्रति तीखा नहीं है। वे सदा समस्त प्राणियोंके हितमें ही तत्पर रहते हैं ॥ ९ ॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।
करिष्यामीति धर्मात्मा ततः प्रव्रजितो वनम् ॥ १० ॥

'रानी कैकेयीने पिताको धोखेमें डालकर मेरे वनवासका वर माँग लिया—यह देखकर धर्मात्मा श्रीरामने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि मैं पिताको सत्यवादी बनाऊँगा (उनके दिये हुए वर या वचनको पूरा करूँगा); इस निश्चयके अनुसार वे स्वयं ही वनको चल दिये ॥ १० ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च ।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

'माता कैकेयी और पिता राजा दशरथका प्रिय करनेकी इच्छासे ही वे स्वयं राज्य और भोगोंका परित्याग करके दण्डकवनमें प्रविष्ट हुए हैं ॥ ११ ॥

न रामः कर्कशस्तात नाविद्वान् नाजितेन्द्रियः ।
अनृतं न श्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

'तात! श्रीराम क्रूर नहीं हैं। वे मूर्ख और अजितेन्द्रिय भी नहीं हैं। श्रीराममें मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी नहीं सुना है; अतः उनके विषयमें तुम्हें ऐसी उल्टी बातें कभी नहीं कहनी चाहिये ॥ १२ ॥

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः ॥ १३ ॥

'श्रीराम धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं । वे साधु और सत्य-पराक्रमी हैं । जैसे इन्द्र समस्त देवताओंके अधिपति हैं, उसी प्रकार श्रीराम भी सम्पूर्ण जगत्‌के राजा हैं ॥ १३ ॥

कथं नु तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।
इच्छसे प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः ॥ १४ ॥

'उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी सीता अपने ही पातिव्रत्यके तेजसे सुरक्षित हैं । जैसे सूर्यकी प्रभा उससे अलग नहीं की जा सकती, उसी तरह सीताको श्रीरामसे अलग करना असम्भव है । ऐसी दशामें तुम बलपूर्वक उनका अपहरण कैसे करना चाहते हो ? ॥ १४ ॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापखड्गेन्धनं रणे ।
रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

'श्रीराम प्रज्वलित अग्निके समान हैं । बाण ही उस अग्निकी ज्वाला है । धनुष और खड्ग ही उसके लिये ईंधनका काम करते हैं । तुम्हें युद्धके लिये सहसा उस अग्निमें प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

धनुर्व्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषममर्षणम् ।
चापबाणधरं तीक्ष्णं शत्रुसेनापहारिणम् ॥ १६ ॥
राज्यं सुखं च संत्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः ।
नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥ १७ ॥

'तात ! धनुष ही जिसका फैला हुआ दीप्तिमान् मुख है और बाण ही प्रभा है, जो अमर्षमें भरा हुआ है, धनुष और बाण धारण किये खड़ा है, रोषवश तीखे स्वभावका परिचय देता है और शत्रुसेनाके प्राण लेनेमें समर्थ है, उस रामरूपी यमराजके पास तुम्हें यहाँ अपने राज्यसुख और प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर सहसा नहीं जाना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।
न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां वने ॥ १८ ॥

'जनककिशोरी सीता जिनकी धर्मपत्नी हैं, उनका तेज अप्रमेय है । श्रीरामचन्द्रजीका धनुष उनका आश्रय है, अतः तुममें इतनी शक्ति नहीं है कि वनमें उनका अपहरण कर सको ॥ १८ ॥

तस्य वै नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी हैं । उनका वक्षःस्थल सिंहके समान उन्नत है । भामिनी सीता उनकी प्राणोंसे भी अधिक प्रियतमा पत्नी हैं । वे सदा अपने पतिका ही अनुसरण करती हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योजस्विनः प्रिया ।
दीप्तस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

'मिथिलेशकुमारी सीता ओजस्वी श्रीरामकी प्यारी पत्नी हैं । वे प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाके समान असह्य हैं, अतः उन सुन्दरी सीतापर बलात्कार नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

किमुद्यमं व्यर्थमिमं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।
दृष्टश्चेत् त्वं रणे तेन तदन्तमुपजीवितम् ॥ २१ ॥

'राक्षसराज ! यह व्यर्थका उद्योग करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? जिस दिन युद्धमें तुम्हारे ऊपर श्रीरामकी दृष्टि पड़ जाय, उसी दिन तुम अपने जीवनका अन्त समझना ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम् ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

'यदि तुम अपने जीवनका, सुखका और परम दुर्लभ राज्यका चिरकालतक उपभोग करना चाहते हो तो श्रीरामका अपराध न करो ॥ २२ ॥

स सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरस्कृतैः ।
मन्त्रयित्वा स धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २३ ॥
आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्त्वतः ।
हितं हि तव निश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

'तुम विभीषण आदि सभी धर्मात्मा मन्त्रियोंके साथ सलाह करके अपने कर्तव्यका निश्चय करो । अपने और श्रीरामके दोषों तथा गुणोंके बलाबलपर भलीभाँति विचार करके अपनी और श्रीरामचन्द्रजीकी शक्तिको ठीक-ठीक समझ लो । फिर क्या करनेसे तुम्हारा हित होगा, इसका निश्चय करके जो उचित जान पड़े, वही कार्य तुम्हें करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे
समागमं कोसलराजसूनुना ।
इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुत्तमं
क्षमं च युक्तं च निशाचराधिप ॥ २५ ॥

'निशाचरराज ! मैं तो समझता हूँ कि कोसलराजकुमार श्रीरामचन्द्रजीके साथ तुम्हारा युद्ध करना उचित नहीं है । अब पुनः मेरी एक बात और सुनो, यह तुम्हारे लिये बहुत ही उत्तम, उचित और उपयुक्त सिद्ध होगी' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

श्रीरामकी शक्तिके विषयमें अपना अनुभव बताकर मारीचका रावणको उनका अपराध करनेसे मना करना

कदाचिदप्यहं वीर्यात् पर्यटन् पृथिवीमिमाम्।
बलं नागसहस्रस्य धारयन् पर्वतोपमः॥ १॥

'एक समयकी बात है कि मैं अपने पराक्रमके अभिमानमें आकर पर्वतके समान शरीर धारण किये इस पृथ्वीपर चक्कर लगा रहा था। उस समय मुझमें एक हजार हाथियोंका बल था॥ १॥

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
भयं लोकस्य जनयन् किरीटी परिघायुधः॥ २॥
व्यचरन् दण्डकारण्यमृषिमांसानि भक्षयन्।

'मेरा शरीर नील मेघके समान काला था। मैंने कानोंमें पक्के सोनेके कुण्डल पहन रखे थे। मेरे मस्तकपर किरीट था और हाथमें परिघ। मैं ऋषियोंके मांस खाता और समस्त जगत्‌के मनमें भय उत्पन्न करता हुआ दण्डकारण्यमें विचर रहा था॥ २½॥

विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः॥ ३॥
स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत्।

'उन दिनों धर्मात्मा महामुनि विश्वामित्रको मुझसे बड़ा भय हो गया था। वे स्वयं राजा दशरथके पास गये और उनसे इस प्रकार बोले—॥ ३½॥

अयं रक्षतु मां रामः पर्वकाले समाहितः॥ ४॥
मारीचान्मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर।

'नरेश्वर! मुझे मारीच नामक राक्षससे घोर भय प्राप्त हुआ है, अतः ये श्रीराम मेरे साथ चलें और पर्वके दिन एकाग्रचित्त हो मेरी रक्षा करें'॥ ४½॥

इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा॥ ५॥
प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम्।

'मुनिके ऐसा कहनेपर उस समय धर्मात्मा राजा दशरथने महाभाग महामुनि विश्वामित्रको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ५½॥

ऊनद्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः॥ ६॥
कामं तु मम तत् सैन्यं मया सह गमिष्यति।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरम्॥ ७॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रुं तव यथेप्सितम्।

'मुनिश्रेष्ठ! रघुकुलनन्दन रामकी अवस्था अभी बारह वर्षसे भी कम है[1]। इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंके चलानेका पूरा अभ्यास भी नहीं है। आप चाहें तो मेरी सारी सेना वहाँ चलेगी और मैं चतुरङ्गिणी सेनाके साथ स्वयं ही चलकर आपकी इच्छाके अनुसार उस शत्रुरूप निशाचरका वध करूँगा'॥ ६–७½॥

एवमुक्तः स तु मुनी राजानमिदमब्रवीत्॥ ८॥
रामान्नान्यद् बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः।

'राजाके ऐसा कहनेपर मुनि उनसे इस प्रकार बोले—'उस राक्षसके लिये श्रीरामके सिवा दूसरी कोई शक्ति पर्याप्त नहीं है॥ ८½॥

देवतानामपि भवान् समरेष्वभिपालकः॥ ९॥
आसीत् तव कृतं कर्म त्रिलोकविदितं नृप।

'राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप समरभूमिमें देवताओंकी भी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। आपने जो महान् कार्य किया है, वह तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है॥ ९½॥

काममस्ति महत् सैन्यं तिष्ठत्विह परंतप॥ १०॥
बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेऽस्तु परंतप॥ ११॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! आपके पास जो विशाल सेना है, वह आपकी इच्छा हो तो यहीं रहे। (आप भी यहीं रहें।) महातेजस्वी श्रीराम बालक हैं तो भी उस राक्षसका दमन करनेमें समर्थ हैं, अतः मैं श्रीरामको ही साथ लेकर जाऊँगा; आपका कल्याण हो'॥ १०-११॥

इत्येवमुक्त्वा स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम्।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम्॥ १२॥

'ऐसा कहकर (लक्ष्मणसहित) राजकुमार श्रीरामको साथ ले महामुनि विश्वामित्र बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमको गये॥ १२॥

तं तथा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम्।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन् धनुः॥ १३॥

'इस प्रकार दण्डकारण्यमें जाकर उन्होंने यज्ञके लिये दीक्षा ग्रहण की और श्रीराम अपने अद्भुत धनुषकी टङ्कार करते हुए उनकी रक्षाके लिये पास ही खड़े हो गये॥ १३॥

---

१. यद्यपि बालकाण्डके २०वें सर्गके दूसरे श्लोकमें राजा दशरथने श्रीरामकी अवस्था सोलह वर्षसे कम (पंद्रह वर्षकी) बतायी थी, तथापि यहाँ मारीचने रावणके मनमें भय उत्पन्न करनेके लिये चार वर्ष कम अवस्था बतायी है। जो छोटी अवस्थामें इतने महान् पराक्रमी थे, वे अब बड़े होनेपर न जाने कैसे होंगे? यह लक्ष्य कराना ही यहाँ मारीचको अभीष्ट है।

अजातव्यञ्जनः श्रीमान् बालः श्यामः शुभेक्षणः ।
एकवस्त्रधरो धन्वी शिखी कनकमालया ॥ १४ ॥

'उस समयतक श्रीराममें जवानीके चिह्न प्रकट नहीं हुए थे। (उनकी किशोरावस्था थी।) वे एक शोभाशाली बालकके रूपमें दिखायी देते थे। उनके श्रीअङ्गका रंग साँवला और आँखें बड़ी सुन्दर थीं। वे एक वस्त्र धारण किये, हाथोंमें धनुष लिये सुन्दर शिखा और सोनेके हारसे सुशोभित थे ॥ १४ ॥

शोभयन् दण्डकारण्यं दीप्तेन स्वेन तेजसा ।
अदृश्यत तदा रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥ १५ ॥

'उस समय अपने उद्दीप्त तेजसे दण्डकारण्यकी शोभा बढ़ाते हुए श्रीरामचन्द्र नवोदित बालचन्द्रके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ १५ ॥

ततोऽहं मेघसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
बली दत्तवरो दर्पादाजगामाश्रमान्तरम् ॥ १६ ॥

'इधर मैं भी मेघके समान काले शरीरसे बड़े घमंडके साथ उस आश्रमके भीतर घुसा। मेरे कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झलमला रहे थे। मैं बलवान् तो था ही, मुझे वरदान भी मिल चुका था कि देवता मुझे मार नहीं सकेंगे ॥ १६ ॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः ।
मां तु दृष्ट्वा धनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार ह ॥ १७ ॥

'भीतर प्रवेश करते ही श्रीरामचन्द्रजीकी दृष्टि मुझपर पड़ी। मुझे देखते ही उन्होंने सहसा धनुष उठा लिया और बिना किसी घबराहटके उसपर डोरी चढ़ा दी ॥ १७ ॥

अवजानन्नहं मोहाद् बालोऽयमिति राघवम् ।
विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

'मैं मोहवश श्रीरामचन्द्रको 'यह बालक है' ऐसा समझकर उनकी अवहेलना करता हुआ बड़ी तेजीके साथ विश्वामित्रकी उस यज्ञवेदीकी ओर दौड़ा ॥ १८ ॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः ।
तेनाहं ताडितः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥ १९ ॥

इतनेहीमें श्रीरामने एक ऐसा तीखा बाण छोड़ा, जो शत्रुका संहार करनेवाला था; परंतु उस बाणकी चोट खाकर (मैं मरा नहीं) सौ योजन दूर समुद्रमें आकर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

नेच्छता तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः ।
रामस्य शरवेगेन निरस्तो भ्रान्तचेतनः ॥ २० ॥
पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि ।
प्राप्य संज्ञां चिरात् तात लङ्कां प्रति गतः पुरीम् ॥ २१ ॥

'तात! वीर श्रीरामचन्द्रजी उस समय मुझे मारना नहीं चाहते थे, इसीलिये मेरी जान बच गयी। उनके बाणके वेगसे मैं भ्रान्तचित्त होकर दूर फेंक दिया गया और समुद्रके गहरे जलमें गिरा दिया गया। तात! फिर दीर्घकालके पश्चात् जब मुझे चेत हुआ, तब मैं लंकापुरीमें गया ॥ २०-२१ ॥

एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्ते निपातिताः ।
अकृतास्त्रेण रामेण बालेनाक्लिष्टकर्मणा ॥ २२ ॥

'इस प्रकार उस समय मैं मरनेसे बचा। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम उन दिनों अभी बालक थे और उन्हें अस्त्र चलानेका पूरा अभ्यास भी नहीं था तो भी उन्होंने मेरे उन सभी सहायकोंको मार गिराया, जो मेरे साथ गये थे ॥ २२ ॥

तन्मया वार्यमाणस्तु यदि रामेण विग्रहम् ।
करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्य न शिष्यसि ॥ २३ ॥

'इसलिये मेरे मना करनेपर भी यदि तुम श्रीरामके साथ विरोध करोगे तो शीघ्र ही घोर आपत्तिमें पड़ जाओगे और अन्तमें अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठोगे ॥ २३ ॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवदर्शिनाम् ।
रक्षसां चैव संतापमनर्थं चाहरिष्यसि ॥ २४ ॥

'खेल-कूद और भोग-विलासके क्रमको जाननेवाले तथा सामाजिक उत्सवोंको ही देख-देखकर दिल बहलानेवाले राक्षसोंके लिये तुम संताप और अनर्थ (मौत) बुला लाओगे ॥ २४ ॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानारत्नविभूषिताम् ।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते ॥ २५ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीताके लिये तुम्हें धनियोंकी अट्टालिकाओं तथा राजभवनोंसे भरी हुई एवं नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित लंकापुरीका विनाश भी अपनी आँखों देखना पड़ेगा ॥ २५ ॥

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः पापसंश्रयात् ।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे यथा ॥ २६ ॥

'जो लोग आचार-विचारसे शुद्ध हैं और पाप या अपराध नहीं करते हैं, वे भी यदि पापियोंके सम्पर्कमें चले जायँ तो दूसरोंके पापोंसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे साँपवाले सरोवरमें निवास करनेवाली मछलियाँ उस सर्पके साथ ही मारी जाती हैं ॥ २६ ॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान् दिव्याभरणभूषितान् ।
द्रक्ष्यस्यभिहतान् भूमौ तव दोषात् तु राक्षसान् ॥ २७ ॥

'तुम देखोगे कि जिनके अङ्ग दिव्य चन्दनसे चर्चित होते थे तथा जो दिव्य आभूषणोंसे विभूषित रहते थे, वे ही राक्षस तुम्हारे ही अपराधसे मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हुए हैं ॥ २७ ॥

हृतदारान् सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः।
हतशेषानशरणान् द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान्॥ २८॥

'तुम्हें यह भी दिखायी देगा कि कितने ही निशाचरोंकी स्त्रियाँ हर ली गयी हैं और कुछकी स्त्रियाँ साथ हैं तथा वे युद्धमें मरनेसे बचकर असहाय अवस्थामें दसों दिशाओंकी ओर भाग रहे हैं॥ २८॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम्।
प्रदग्धभवनां लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वमसंशयम्॥ २९॥

'निःसंदेह तुम्हारे सामने वह दृश्य भी आयेगा कि लंकापुरीपर बाणोंका जाल-सा बिछ गया है। वह आगकी ज्वालाओंसे घिर गयी है और उसका एक-एक घर जलकर भस्म हो गया है॥ २९॥

परदाराभिमर्शात् तु नान्यत् पापतरं महत्।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन् परिग्रहे॥ ३०॥
भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षसान्।
मानं वृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः॥ ३१॥

'राजन्! परायी स्त्रीके संसर्गसे बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है। तुम्हारे अन्तःपुरमें हजारों युवती स्त्रियाँ हैं, उन अपनी ही स्त्रियोंमें अनुराग रखो। अपने कुलकी रक्षा करो, राक्षसोंके प्राण बचाओ तथा अपनी मान, प्रतिष्ठा, उन्नति, राज्य और प्यारे जीवनको नष्ट न होने दो॥ ३०-३१॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम्॥ ३२॥

'यदि तुम अपनी सुन्दरी स्त्रियों तथा मित्रोंका सुख अधिक कालतक भोगना चाहते हो तो श्रीरामका अपराध न करो॥ ३२॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य सीतां यदि धर्षयिष्यसि।
गमिष्यसि क्षीणबलः सबान्धवो
यमक्षयं रामशरात्तजीवितः॥ ३३॥

'मैं तुम्हारा हितैषी सुहृद् हूँ। यदि मेरे बारंबार मना करनेपर भी तुम हठपूर्वक सीताका अपहरण करोगे तो तुम्हारी सारी सेना नष्ट हो जायगी और तुम श्रीरामके बाणोंसे अपने प्राण गँवाकर बन्धु-बान्धवोंके साथ यमलोककी यात्रा करोगे'॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३८॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका रावणको समझाना

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित् तेन संयुगे।
इदानीमपि यद् वृत्तं तच्छृणुष्व यदुत्तरम्॥ १॥

'इस प्रकार इस समय तो मैं किसी तरह श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे जीवित बच गया। उसके बाद इन दिनों जो घटना घटित हुई है, उसे भी सुन लो॥ १॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णस्तथाकृतः।
सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावने॥ २॥

'श्रीरामने मेरी वैसी दुर्दशा कर दी थी, तो भी मैं उनके विरोधसे बाज नहीं आया। एक दिन मृगरूपधारी दो राक्षसोंके साथ मैं भी मृगका ही रूप धारण करके दण्डकवनमें गया॥

दीप्तजिह्वो महादंष्ट्रस्तीक्ष्णशृङ्गो महाबलः।
व्यचरन् दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः॥ ३॥

'मैं महान् बलशाली तो था ही, मेरी जीभ आगके समान उद्दीप्त हो रही थी। दाढ़ें भी बहुत बड़ी थीं, सींग तीखे थे और मैं महान् मृगके रूपमें मांस खाता हुआ दण्डकारण्यमें विचरने लगा॥ ३॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृक्षेषु रावण।
अत्यन्तघोरो व्यचरंस्तापसांस्तान् प्रधर्षयन्॥ ४॥

'रावण! मैं अत्यन्त भयंकर रूप धारण किये अग्निशालाओंमें, जलाशयोंके घाटोंपर तथा देववृक्षोंके नीचे बैठे हुए तपस्वीजनोंको तिरस्कृत करता हुआ सब ओर विचरण करने लगा॥ ४॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान् धर्मचारिणः।
रुधिराणि पिबंस्तेषां तन्मांसानि च भक्षयन्॥ ५॥

'दण्डकारण्यके भीतर धर्मानुष्ठानमें लगे हुए तापसोंको मारकर उनका रक्त पीना और मांस खाना यही मेरा काम था॥ ५॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन् वनगोचरान्।
तदा रुधिरमत्तोऽहं व्यचरं दण्डकावनम्॥ ६॥

'मेरा स्वभाव तो क्रूर था ही, मैं ऋषियोंके मांस खाता और वनमें विचरनेवाले प्राणियोंको डराता हुआ रक्तपान करके मतवाला हो दण्डकवनमें घूमने लगा॥ ६॥

तदाहं दण्डकारण्ये विचरन् धर्मदूषकः।
आसादयं तदा रामं तापसं धर्ममाश्रितम्॥ ७॥
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम्।
तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम्॥ ८॥

'इस प्रकार उस समय दण्डकारण्यमें विचरता हुआ धर्मको कलंकित करनेवाला मैं मारीच तापस धर्मका आश्रय लेनेवाले श्रीराम, विदेहनन्दिनी महाभागा सीता तथा मिताहारी तपस्वीके रूपमें समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महारथी लक्ष्मणके पास जा पहुँचा ॥ ७-८ ॥

सोऽहं वनगतं रामं परिभूय महाबलम् ।
तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ९ ॥
अभ्यधावं सुसंक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ।
जिघांसुरकृतप्रज्ञस्तं प्रहारमनुस्मरन् ॥ १० ॥

'वनमें आये हुए महाबली श्रीरामको 'यह एक तपस्वी है' ऐसा जानकर उनकी अवहेलना करके मैं आगे बढ़ा और पहलेके वैरका बारंबार स्मरण करके अत्यन्त कुपित हो उनकी ओर दौड़ा । उस समय मेरी आकृति मृगके ही समान थी । मेरे सींग बड़े तीखे थे । उनके पहलेके प्रहारको याद करके मैं उन्हें मार डालना चाहता था । मेरी बुद्धि शुद्ध न होनेके कारण मैं उनकी शक्ति और प्रभावको भूल-सा गया था ॥ ९-१० ॥

तेन त्यक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शत्रुनिबर्हणाः ।
विकृष्य सुमहच्चापं सुपर्णानिलतुल्यगाः ॥ ११ ॥

'हम तीनोंको आते देख श्रीरामने अपने विशाल धनुषको खींचकर तीन पैने बाण छोड़े, जो गरुड़ और वायुके समान शीघ्रगामी तथा शत्रुके प्राण लेनेवाले थे ॥ ११ ॥

ते बाणा वज्रसंकाशाः सुघोरा रक्तभोजनाः ।
आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः संनतपर्वणः ॥ १२ ॥

'झुकी हुई गाँठवाले वे सब तीनों बाण, जो वज्रके समान दुःसह, अत्यन्त भयंकर तथा रक्त पीनेवाले थे, एक साथ ही हमारी ओर आये ॥ १२ ॥

पराक्रमज्ञो रामस्य शठो दृष्टभयः पुरा ।
समुत्क्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ ॥ १३ ॥

'मैं तो श्रीरामके पराक्रमको जानता था और पहले एक बार उनके भयका सामना कर चुका था, इसलिये शठतापूर्वक उछलकर भाग निकला । भाग जानेसे मैं तो बच गया; किंतु मेरे वे दोनों साथी राक्षस मारे गये ॥ १३ ॥

शरेण मुक्तो रामस्य कथंचित् प्राप्य जीवितम् ।
इह प्रव्राजितो युक्तस्तापसोऽहं समाहितः ॥ १४ ॥

'इस बार श्रीरामके बाणसे किसी तरह छुटकारा पाकर मुझे नया जीवन मिला और तभीसे संन्यास लेकर समस्त दुष्कर्मोंका परित्याग करके स्थिरचित्त हो योगाभ्यासमें तत्पर रहकर तपस्यामें लग गया ॥ १४ ॥

वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ।
गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ १५ ॥

'अब मुझे एक-एक वृक्षमें चीर, काला मृगचर्म और धनुष धारण किये श्रीराम ही दिखायी देते हैं, जो मुझे पाशधारी यमराजके समान प्रतीत होते हैं ॥ १५ ॥

अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण ।
रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥

'रावण ! मैं भयभीत होकर हजारों रामोंको अपने सामने खड़ा देखता हूँ । यह सारा वन ही मुझे राममय प्रतीत हो रहा है ॥ १६ ॥

राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसेश्वर ।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः ॥ १७ ॥

'राक्षसराज ! जब मैं एकान्तमें बैठता हूँ, तब मुझे श्रीरामके ही दर्शन होते हैं । सपनेमें श्रीरामको देखकर मैं उद्भ्रान्त और अचेत-सा हो उठता हूँ ॥ १७ ॥

रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण ।
रत्नानि च रथाश्चैव वित्रासं जनयन्ति मे ॥ १८ ॥

'रावण ! मैं रामसे इतना भयभीत हो गया हूँ कि रत्न और रथ आदि जितने भी रकारादि नाम हैं, वे मेरे कानोंमें पड़ते ही मनमें भारी भय उत्पन्न कर देते हैं' ॥ १८ ॥

अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम् ।
बलिं वा नमुचिं वापि हन्याद्धि रघुनन्दनः ॥ १९ ॥

'मैं उनके प्रभावको अच्छी तरह जानता हूँ । इसीलिये कहता हूँ कि श्रीरामके साथ तुम्हारा युद्ध करना कदापि उचित नहीं है । रघुकुलनन्दन श्रीराम राजा बलि अथवा नमुचिका भी वध कर सकते हैं ॥ १९ ॥

रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु रावण ।
न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि ॥ २० ॥

'रावण ! तुम्हारी इच्छा हो तो रणभूमिमें श्रीरामके साथ युद्ध करो अथवा उन्हें क्षमा कर दो, किंतु यदि मुझे जीवित देखना चाहते हो तो मेरे सामने श्रीरामकी चर्चा न करो ॥ २० ॥

बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः ।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ २१ ॥

'लोकमें बहुत-से साधुपुरुष, जो योगयुक्त होकर केवल धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहते थे, दूसरोंके अपराधसे ही परिकरोंसहित नष्ट हो गये ॥ २१ ॥

सोऽहं परापराधेन विनशेयं निशाचर ।
कुरु यत् ते क्षमं तत्त्वमहं त्वां नानुयामि वै ॥ २२ ॥

'निशाचर ! मैं भी किसी तरह दूसरोंके अपराधसे नष्ट हो सकता हूँ, अतः तुम्हें जो उचित जान पड़े, वह करो । मैं इस कार्यमें तुम्हारा साथ नहीं दे सकता ॥ २२ ॥

रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः ।
अपि राक्षसलोकस्य भवेदन्तकरोऽपि हि ॥ २३ ॥

'क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी बड़े तेजस्वी, महान् आत्मबलसे

सम्पन्न तथा अधिक बलशाली हैं। वे समस्त राक्षस-जगत्का संहार कर सकते हैं ॥ २३ ॥

यो शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥

'यदि शूर्पणखाका बदला लेनेके लिये जनस्थाननिवासी खर पहले श्रीरामपर चढ़ाई करनेके लिये गया और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके हाथसे मारा गया तो तुम्हीं ठीक-ठीक बताओ, इसमें श्रीरामका क्या अपराध है ? ॥ २४ ॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया
यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे।
सबान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्मगैः ॥ २५ ॥

'तुम मेरे बन्धु हो। मैं तुम्हारा हित करनेकी इच्छासे ही ये बातें कह रहा हूँ। यदि नहीं मानोगे तो युद्धमें आज रामके सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा घायल होकर तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

रावणका मारीचको फटकारना और सीताहरणके कार्यमें सहायता करनेकी आज्ञा देना

मारीचस्य तु तद् वाक्यं क्षमं युक्तं च रावणः।
उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम् ॥ १ ॥

मारीचका वह कथन उचित और मानने योग्य था तो भी जैसे मरनेकी इच्छावाला रोगी दवा नहीं लेता, उसी प्रकार उसके बहुत कहनेपर भी रावणने उसकी बात नहीं मानी ॥ १ ॥

तं पथ्यहितवक्तारं मारीचं राक्षसाधिपः।
अब्रवीत् परुषं वाक्यमयुक्तं कालचोदितः ॥ २ ॥

कालसे प्रेरित हुए उस राक्षसराजने यथार्थ और हितकी बात बतानेवाले मारीचसे अनुचित और कठोर वाणीमें कहा—॥ २ ॥

दुष्कुलैतदयुक्तार्थं मारीच मयि कथ्यते।
वाक्यं निष्फलमत्यर्थं बीजमुप्तमिवोषरे ॥ ३ ॥

'दूषित कुलमें उत्पन्न मारीच! तुमने मेरे प्रति जो ये अनाप-शनाप बातें कही हैं, ये मेरे लिये अनुचित और असंगत हैं, ऊसरमें बोये हुए बीजके समान अत्यन्त निष्फल हैं ॥ ३ ॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे।
मूर्खस्य पापशीलस्य मानुषस्य विशेषतः ॥ ४ ॥

'तुम्हारे इन वचनोंद्वारा मूर्ख, पापाचारी और विशेषतः मनुष्य रामके साथ युद्ध करने अथवा उसकी स्त्रीका अपहरण करनेके निश्चयसे मुझे विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ४ ॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं श्रुत्वा वनमेकपदे गतः ॥ ५ ॥
अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः।
प्राणैः प्रियतरा सीता हर्तव्या तव संनिधौ ॥ ६ ॥

'एक स्त्री (कैकेयी) के मूर्खतापूर्ण वचन सुनकर जो राज्य, मित्र, माता और पिताको छोड़कर सहसा जंगलमें चला आया है तथा जिसने युद्धमें खरका वध किया है, उस रामचन्द्रकी प्राणोंसे भी प्यारी भार्या सीताका मैं तुम्हारे निकट ही अवश्य हरण करूँगा ॥ ५-६ ॥

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हृदि मारीच विद्यते।
न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ७ ॥

'मारीच! ऐसा मेरे हृदयका निश्चित विचार है, इसे इन्द्र आदि देवता और सारे असुर मिलकर भी बदल नहीं सकते ॥ ७ ॥

दोषं गुणं वा सम्पृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि।
अपायं वा उपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ८ ॥

'यदि इस कार्यका निर्णय करनेके लिये तुमसे पूछा जाता 'इसमें क्या दोष है, क्या गुण है, इसकी सिद्धिमें कौन-सा विघ्न है अथवा इस कार्यको सिद्ध करनेका कौन-सा उपाय है' तो तुम्हें ऐसी बातें कहनी चाहिये थी ॥ ८ ॥

सम्पृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता।
उद्यताञ्जलिना राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ ९ ॥

'जो अपना कल्याण चाहता हो, उस बुद्धिमान् मन्त्रीको उचित है कि वह राजासे उसके पूछनेपर ही अपना अभिप्राय प्रकट करे और वह भी हाथ जोड़कर नम्रताके साथ ॥ ९ ॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं शुभं हितम्।
उपचारेण वक्तव्यो युक्तं च वसुधाधिपः ॥ १० ॥

'राजाके सामने ऐसी बात कहनी चाहिये, जो सर्वथा अनुकूल, मधुर, उत्तम, हितकर, आदरसे युक्त और उचित हो ॥ १० ॥

सावमर्दं तु यद्वाक्यमथवा हितमुच्यते।
नाभिनन्देत तद् राजा मानार्थी मानवर्जितम्॥ ११॥

'राजा सम्मानका भूखा होता है। उसकी बातका खण्डन करके आक्षेपपूर्ण भाषमें यदि हितकर वचन भी कहा जाय तो उस अपमानपूर्ण वचनका वह कभी अभिनन्दन नहीं कर सकता॥ ११॥

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य वरुणस्य च॥ १२॥
औष्ण्यं तथा विक्रमं च सौम्यं दण्डं प्रसन्नताम्।
धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर॥ १३॥

'निशाचर! अमिततेजस्वी महामनस्वी राजा अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—इन पाँच देवताओंके स्वरूप धारण किये रहते हैं, इसीलिये वे अपनेमें इन पाँचोंके गुण–प्रताप, पराक्रम, सौम्यभाव, दण्ड और प्रसन्नता भी धारण करते हैं॥ १२-१३॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु मान्याः पूज्याश्च नित्यदा।
त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं मोहमाश्रितः॥ १४॥
अभ्यागतं तु दौरात्म्यात् परुषं वदसीदृशम्।
गुणदोषौ न पृच्छामि क्षेमं चात्मनि राक्षस॥ १५॥

'अतः सभी अवस्थाओंमें सदा राजाओंका सम्मान और पूजन ही करना चाहिये। तुम तो अपने धर्मको न जानकर केवल मोहके वशीभूत हो रहे हो। मैं तुम्हारा अभ्यागत-अतिथि हूँ तो भी तुम दुष्टतावश मुझसे ऐसी कठोर बातें कह रहे हो; राक्षस! मैं तुमसे अपने कर्तव्यके गुण-दोष नहीं पूछता हूँ और न यही जानना चाहता हूँ कि मेरे लिये क्या उचित है॥ १४-१५॥

मयोक्तमपि चैतावत् त्वां प्रत्यमितविक्रम।
अस्मिंस्तु स भवान् कृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥ १६॥

'अमितपराक्रमी मारीच! मैंने तो तुमसे इतना ही कहा था कि इस कार्यमें तुम्हें मेरी सहायता करनी चाहिये॥ १६॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम।
सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः॥ १७॥
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर।
प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि॥ १८॥

'अच्छा, अब तुम्हें सहायताके लिये मेरे कथनानुसार जो कार्य करना है, उसे सुनो। तुम सुवर्णमय चर्मसे युक्त चितकबरे रंगके मृग हो जाओ। तुम्हारे सारे अङ्गमें चाँदीकी-सी सफेद बूँदें रहनी चाहिये। ऐसा रूप धारण करके तुम रामके आश्रममें सीताके सामने विचरो। एक बार विदेहकुमारीको लुभाकर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो उधर ही चले जाओ॥ १७-१८॥

त्वां हि मायामयं दृष्ट्वा काञ्चनं जातविस्मया।
आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली॥ १९॥

'तुम मायामय काञ्चन मृगको देखकर मिथिलेशकुमारी सीताको बड़ा आश्चर्य होगा और वह शीघ्र ही रामसे कहेगी कि आप इसे पकड़ लाइये॥ १९॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे दूरं गत्वाप्युदाहर।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम्॥ २०॥

'जब राम तुम्हें पकड़नेके लिये आश्रमसे दूर चले जायँ तो तुम भी दूरतक जाकर श्रीरामकी बोलीके अनुरूप ही—ठीक उन्हींके स्वरमें 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' कहकर पुकारना॥ २०॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं सीतया च प्रचोदितः।
अनुगच्छति सम्भ्रान्तं सौमित्रिरपि सौहृदात्॥ २१॥

'तुम्हारी उस पुकारको सुनकर सीताकी प्रेरणासे सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी स्नेहवश घबराये हुए अपने भाईके ही मार्गका अनुसरण करेंगे॥ २१॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम्।
आहरिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव॥ २२॥

'इस प्रकार राम और लक्ष्मण दोनोंके आश्रमसे दूर निकल जानेपर मैं सुखपूर्वक सीताको हर लाऊँगा, ठीक उसी तरह जैसे इन्द्र शचीको हर लाये थे॥ २२॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस।
राज्यस्यार्धं प्रदास्यामि मारीच तव सुव्रत॥ २३॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राक्षस मारीच! इस प्रकार इस कार्यको सम्पन्न करके जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ चले जाना। मैं इसके लिये तुम्हें अपना आधा राज्य दे दूँगा॥ २३॥

गच्छ सौम्य शिवं मार्गं कार्यस्यास्य विवृद्धये।
अहं त्वानुगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम्॥ २४॥

'सौम्य! अब इस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रस्थान करो। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। मैं रथपर बैठकर दण्डक-वनतक तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा॥ २४॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम्।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया॥ २५॥

'रामको धोखा देकर बिना युद्ध किये ही सीताको अपने हाथमें करके कृतार्थ हो तुम्हारे साथ ही लंकाको लौट चलूँगा॥ २५॥

नो चेत् करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै।
एतत् कार्यमवश्यं मे बलादपि करिष्यसि।
राज्ञो विप्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते॥ २६॥

'मारीच ! यदि तुम इनकार करोगे तो तुम्हें अभी मार डालूँगा । मेरा यह कार्य तुम्हें अवश्य करना पड़ेगा । मैं बलप्रयोग करके भी तुमसे यह काम कराऊँगा । राजाके प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष कभी सुखी नहीं होता है ॥ २६ ॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्यतः ।
एतद् यथावत् परिगण्य बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम् ॥ २७ ॥

'रामके सामने जानेपर तुम्हारे प्राण जानेका संदेहमात्र है, परंतु मेरे साथ विरोध करनेपर तो आज ही तुम्हारी मृत्यु निश्चित है । इन बातोंपर बुद्धि लगाकर भलीभाँति विचार कर लो । उसके बाद यहाँ जो हितकर जान पड़े, उसे उसी प्रकार तुम करो' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका रावणको विनाशका भय दिखाकर पुनः समझाना

आज्ञप्तो रावणेनेत्थं प्रतिकूलं च राजवत् ।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं निःशङ्को राक्षसाधिपम् ॥ १ ॥

रावणने जब राजाकी भाँति उसे ऐसी प्रतिकूल आज्ञा दी, तब मारीचने निःशङ्क होकर उस राक्षसराजसे कठोर वाणीमें कहा—॥ १ ॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा ।
सपुत्रस्य सराज्यस्य सामात्यस्य निशाचर ॥ २ ॥

'निशाचर ! किस पापीने तुम्हें पुत्र, राज्य और मन्त्रियों-सहित तुम्हारे विनाशका यह मार्ग बताया है ? ॥ २ ॥

कस्त्वया सुखिना राजन् नाभिनन्दति पापकृत् ।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः ॥ ३ ॥

'राजन् ! कौन ऐसा पापाचारी है, जो तुम्हें सुखी देखकर प्रसन्न नहीं हो रहा है ? किसने युक्तिसे तुम्हें मौतके द्वारपर जानेकी यह सलाह दी है ? ॥ ३ ॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचर ।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा ॥ ४ ॥

'निशाचर ! आज यह बात स्पष्टरूपसे ज्ञात हो गयी कि तुम्हारे दुर्बल शत्रु तुम्हें किसी बलवान्‌से भिड़ाकर नष्ट होते देखना चाहते हैं ॥ ४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितबुद्धिना ।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृतेन निशाचर ॥ ५ ॥

'राक्षसराज ! तुम्हारे अहितका विचार रखनेवाले किस नीचने तुम्हें यह पाप करनेका उपदेश दिया है ? जान पड़ता है कि वह तुम्हें अपने ही कुकर्मसे नष्ट होते देखना चाहता है ॥ ५ ॥

वध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण ।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः ॥ ६ ॥

'रावण ! निश्चय ही वधके योग्य तुम्हारे वे मन्त्री हैं, जो कुमार्गपर आरूढ़ हुए तुम-जैसे राजाको सब प्रकारसे रोक नहीं रहे हैं; किंतु तुम उनका वध नहीं करते हो ॥ ६ ॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः ।
निग्राह्यः सर्वथा सद्भिः स निग्राह्यो न गृह्यसे ॥ ७ ॥

'अच्छे मन्त्रियोंको चाहिये कि जो राजा स्वेच्छाचारी होकर कुमार्गपर चलने लगे, उसे सब प्रकारसे वे रोकें । तुम भी रोकनेके ही योग्य हो; फिर भी वे मन्त्री तुम्हें रोक नहीं रहे हैं ॥ ७ ॥

धर्ममर्थं च कामं च यशश्च जयतां वर ।
स्वामिप्रसादात् सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥ ८ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ निशाचर ! मन्त्री अपने स्वामी राजाकी कृपासे ही धर्म, अर्थ, काम और यश पाते हैं ॥ ८ ॥

विपर्यये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति रावण ।
व्यसनं स्वामिवैगुण्यात् प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥ ९ ॥

'रावण ! यदि स्वामीकी कृपा न हो तो सब व्यर्थ हो जाता है । राजाके दोषसे दूसरे लोगोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

राजमूलो हि धर्मश्च यशश्च जयतां वर ।
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥ १० ॥

'विजयशीलोंमें श्रेष्ठ राक्षसराज ! धर्म और यशकी प्राप्तिका मूल कारण राजा ही है; अतः सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १० ॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन निशाचर ।
न चातिप्रतिकूलेन नाविनीतेन राक्षस ॥ ११ ॥

'रात्रिमें विचरनेवाले राक्षस ! जिसका स्वभाव अत्यन्त तीखा हो, जो जनताके अत्यन्त प्रतिकूल चलनेवाला और उद्दण्ड हो, ऐसे राजासे राज्यकी रक्षा नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः सचिवा भुज्यन्ते सह तेन वै ।
विषमेषु रथाः शीघ्रं मन्दसारथयो यथा ॥ १२ ॥

'जो मन्त्री तीखे उपायका उपदेश करते हैं, वे अपनी सलाह माननेवाले उस राजाके साथ ही दुःख भोगते हैं, जैसे जिनके सारथि मूर्ख हों, ऐसे रथ नीची-ऊँची भूमिमें जानेपर सारथियोंके साथ ही संकटमें पड़ जाते हैं ॥ १२ ॥

बहवः साधवो लोके युक्तधर्ममनुष्ठिताः ।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ १३ ॥

'उपर्युक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाले बहुत-से साधु-पुरुष इस जगत्में दूसरोंके अपराधसे परिवारसहित नष्ट हो गये हैं ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण ।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥ १४ ॥

'रावण ! प्रतिकूल बर्ताव और तीखे स्वभाववाले राजासे रक्षित होनेवाली प्रजा उसी तरह वृद्धिको नहीं प्राप्त होती है, जैसे गीदड़ या भेड़ियेसे पालित होनेवाली भेड़ें ॥ १४ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

'रावण ! जिनके तुम क्रूर, दुर्बुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा हो, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायँगे ॥ १५ ॥

तदिदं काकतालीयं घोरमासादितं मया ।
अत्र त्वं शोचनीयोऽसि ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

'काकतालीय न्यायके अनुसार मुझे तुमसे अकस्मात् ही यह घोर दुःख प्राप्त हो गया । इस विषयमें मुझे तुम ही शोकके योग्य जान पड़ते हो; क्योंकि सेनासहित तुम्हारा नाश हो जायगा ॥ १६ ॥

मां निहत्य तु रामोऽसावचिरात् त्वां वधिष्यति ।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये चाप्यरिणा हतः ॥ १७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी मुझे मारकर तुम्हारा भी शीघ्र ही वध कर डालेंगे । जब दोनों ही तरहसे मेरी मृत्यु निश्चित है, तब श्रीरामके हाथसे होनेवाली जो यह मृत्यु है, इसे पाकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा; क्योंकि शत्रुके द्वारा युद्धमें मारा जाकर प्राणत्याग करूँगा (तुम-जैसे राजाके हाथसे बलपूर्वक प्राण-दण्ड पानेका कष्ट नहीं भोगूँगा) ॥ १७ ॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामवधारय ।
आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबान्धवम् ॥ १८ ॥

'राजन् ! यह निश्चित समझो कि श्रीरामके सामने जाकर उनकी दृष्टि पड़ते ही मैं मारा जाऊँगा और यदि तुमने सीताका हरण किया तो तुम अपनेको भी बन्धु-बान्धवोंसहित मरा हुआ ही मानो ॥ १८ ॥

आनयिष्यसि चेत् सीतामाश्रमात् सहितो मया ।
नैव त्वमपि नाहं वै नैव लङ्का न राक्षसाः ॥ १९ ॥

'यदि तुम मेरे साथ जाकर श्रीरामके आश्रमसे सीताका अपहरण करोगे, तब न तो तुम जीवित बचोगे और न मैं ही । न लंकापुरी रहने पायेगी और न वहाँके निवासी राक्षस ही ॥ १९ ॥

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा
न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर ।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २० ॥

'निशाचर ! मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, इसीलिये तुम्हें पाप-कर्मसे रोक रहा हूँ; किंतु तुम्हें मेरी बात सहन नहीं होती है । सच है जिनकी आयु समाप्त हो जाती है, वे मरणासन्न पुरुष अपने सुहृदोंकी कही हुई हितकर बातें नहीं स्वीकार करते हैं' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

मारीचका सुवर्णमय मृगरूप धारण करके श्रीरामके आश्रमपर जाना और सीताका उसे देखना

एवमुक्त्वा तु परुषं मारीचो रावणं ततः ।
गच्छावेत्यब्रवीद् दीनो भयाद् रात्रिचरप्रभोः ॥ १ ॥

रावणसे इस प्रकार कठोर बातें कहकर उस निशाचर-राजके भयसे दुखी हुए मारीचने कहा—'चलो चलें' ॥ १ ॥

दृष्टश्चाहं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा ।
मद्वधोद्यतशस्त्रेण निहतं जीवितं च मे ॥ २ ॥

'मेरे वधके लिये जिनका हथियार सदा उठा ही रहता है, उन धनुष-बाण और तलवार धारण करनेवाले श्रीरामचन्द्र-जीने यदि फिर मुझे देख लिया तो मेरे जीवनका अन्त निश्चित है ॥ २ ॥

नहि रामं पराक्रम्य जीवन् प्रतिनिवर्तते ।
वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके साथ पराक्रम दिखाकर कोई जीवित नहीं लौटता है । तुम यमदण्डसे मारे गये हो (इसीलिये उनसे भिड़नेकी बात सोचते हो) । वे श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे लिये यमदण्डके ही समान हैं ॥ ३ ॥

किं नु कर्तुं मया शक्यमेवं त्वयि दुरात्मनि ।
गच्छाम्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

'परंतु जब तुम इस प्रकार दुष्टतापर उतारू हो गये, तब मैं क्या कर सकता हूँ। लो, यह मैं चलता हूँ। तात निशाचर! तुम्हारा कल्याण हो' ॥ ४ ॥

प्रहृष्टस्त्वभवत् तेन वचनेन स राक्षसः।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारीचके उस वचनसे राक्षस रावणको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उसे कसकर हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

एतच्छौटीर्ययुक्तं ते मच्छन्दवशवर्तिनः।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो हि राक्षसः ॥ ६ ॥

'यह तुमने वीरताकी बात कही है; क्योंकि अब तुम मेरी इच्छाके वशवर्ती हो गये हो। इस समय तुम वास्तवमें मारीच हो। पहले तुममें किसी दूसरे राक्षसका आवेश हो गया था ॥ ६ ॥

आरुह्यतामयं शीघ्रं खगो रत्नविभूषितः।
मया सह रथो युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥ ७ ॥

'यह रत्नोंसे विभूषित मेरा आकाशगामी रथ तैयार है, इसमें पिशाचोंके-से मुखवाले गधे जुते हुए हैं, इसपर मेरे साथ जल्दीसे बैठ जाओ ॥ ७ ॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि।
तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि मैथिलीम् ॥ ८ ॥

'(तुम्हारे जिम्मे एक ही काम है) विदेहकुमारी सीताके मनमें अपने लिये लोभ उत्पन्न कर दो। उसे लुभाकर तुम जहाँ चाहो जा सकते हो। आश्रम सूना हो जानेपर मैं मिथिलेशकुमारी सीताको जबरदस्ती उठा लाऊँगा' ॥ ८ ॥

ततस्तथेत्युवाचैनं रावणं ताटकासुतः।
ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम् ॥ ९ ॥
आरुह्याययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात्।

तब ताटकाकुमार मारीचने रावणसे कहा—'तथास्तु' ऐसा ही हो। तदनन्तर रावण और मारीच दोनों उस विमानाकार रथपर बैठकर शीघ्र ही उस आश्रममण्डलसे चल दिये ॥ ९½ ॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ॥ १० ॥
गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च।
समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ॥ ११ ॥
ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः।

मार्गमें पहलेकी ही भाँति अनेकानेक पत्तनों, वनों, पर्वतों, समस्त नदियों, राष्ट्रों तथा नगरोंको देखते हुए दोनोंने दण्डकारण्यमें प्रवेश किया और वहाँ मारीचसहित राक्षसराज रावणने श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देखा ॥ १०-११½ ॥

अवतीर्य रथात् तस्मात् ततः काञ्चनभूषणात् ॥ १२ ॥
हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत्।

तब उस सुवर्णभूषित रथसे उतरकर रावणने मारीचका हाथ अपने हाथमें ले उससे कहा—॥ १२½ ॥

एतद् रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ॥ १३ ॥
क्रियतां तत् सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः।

'सखे! यह केलोंसे घिरा हुआ रामका आश्रम दिखायी दे रहा है। अब शीघ्र ही वह कार्य करो, जिसके लिये हमलोग यहाँ आये हैं' ॥ १३½ ॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ॥ १४ ॥
मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह।

रावणकी बात सुनकर राक्षस मारीच उस समय मृगका रूप धारण करके श्रीरामके आश्रमके द्वारपर विचरने लगा ॥ १४½ ॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ॥ १५ ॥
मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः।
रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ॥ १६ ॥
किंचिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः।
मधूकनिभपार्श्वश्च कञ्जकिञ्जल्कसंनिभः ॥ १७ ॥

उस समय उसने देखनेमें बड़ा ही अद्भुत रूप धारण कर रखा था। उसके सींगोंके ऊपरी भाग इन्द्रनील नामक श्रेष्ठ मणिके बने हुए जान पड़ते थे, मुखमण्डलपर सफेद और काले रंगकी बूँदें थीं, मुखका रंग लाल कमलके समान था। उसके कान नीलकमलके तुल्य थे और गरदन कुछ ऊँची थी, उदरका भाग इन्द्रनीलमणिकी कान्ति धारण कर रहा था। पार्श्वभाग महुएके फूलके समान श्वेतवर्णके थे, शरीरका सुनहरा रंग कमलके केसरकी भाँति सुशोभित होता था ॥ १५—१७ ॥

वैदूर्यसंकाशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजितः ॥ १८ ॥

उसके खुर वैदूर्यमणिके समान, पिंडलियाँ पतली और पूँछ ऊपरसे इन्द्रधनुषके रंगकी थी, जिससे उसका संगठित शरीर विशेष शोभा पा रहा था ॥ १८ ॥

मनोहरस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

उसकी देहकी कान्ति बड़ी ही मनोहर और चिकनी थी। वह नाना प्रकारकी रत्नमयी बुँदकियोंसे विभूषित दिखायी देता था। राक्षस मारीच क्षणभरमें ही परम शोभाशाली मृग बन गया ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन् रम्यं रामाश्रमपदं च तत्।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

प्रलोभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम्।
विचरन् गच्छते सम्यक् शाद्वलानि समन्ततः॥ २१॥

सीताको लुभानेके लिये विविध धातुओंसे चित्रित मनोहर एवं दर्शनीय रूप बनाकर वह निशाचर उस रमणीय वन तथा श्रीरामके उस आश्रमको प्रकाशित करता हुआ सब ओर उत्तम घासोंको चरने और विचरने लगा॥ २०-२१॥

रौप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रं भूत्वा च प्रियदर्शनः।
विटपीनां किसलयान् भक्षयन् विचचार ह॥ २२॥

सैकड़ों रजतमय विन्दुओंसे युक्त विचित्र रूप धारण करके वह मृग बड़ा प्यारा दिखायी देता था। वह वृक्षोंके कोमल पल्लवोंको खाता हुआ इधर-उधर विचरने लगा॥ २२॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः।
समाश्रयन् मन्दगतिं सीतासंदर्शनं ततः॥ २३॥

केलेके बगीचेमें जाकर वह कनेरोंके कुञ्जमें जा पहुँचा। फिर जहाँ सीताकी दृष्टि पड़ सके, ऐसे स्थानमें जाकर मन्द-गतिका आश्रय ले इधर-उधर घूमने लगा॥ २३॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः।
रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम्॥ २४॥

उसका पृष्ठभाग कमलके केसरकी भाँति सुनहरे रंगका होनेके कारण विचित्र दिखायी देता था, इससे उस महान् मृगकी बड़ी शोभा हो रही थी। श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके निकट ही वह अपनी मौजसे घूम रहा था॥ २४॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः।
गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते॥ २५॥

वह श्रेष्ठ मृग कुछ दूर जाकर फिर लौट आता था और वहीं घूमने लगता था। दो घड़ीके लिये कहीं चला जाता और फिर बड़ी उतावलीके साथ लौट आता था॥ २५॥

विक्रीडंश्च क्वचिद् भूमौ पुनरेव निषीदति।
आश्रमद्वारमागम्य मृगयूथानि गच्छति॥ २६॥

वह कहीं खेलता, कूदता और पुनः भूमिपर ही बैठ जाता था, फिर आश्रमके द्वारपर आकर मृगोंके झुंडके पीछे-पीछे चल देता॥ २६॥

मृगयूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते।
सीतादर्शनमाकाङ्क्षन् राक्षसो मृगतां गतः॥ २७॥

तत्पश्चात् झुंड-के-झुंड मृगोंको साथ लिये फिर लौट आता था। उस मृगरूपधारी राक्षसके मनमें केवल यह अभिलाषा थी कि किसी तरह सीताकी दृष्टि मुझपर पड़ जाय॥ २७॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन्।
समुद्वीक्ष्य च सर्वे तं मृगा येऽन्ये वनेचराः॥ २८॥
उपगम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश।

सीताके समीप आते समय वह विचित्र मण्डल (पैंतरे) दिखाता हुआ चारों ओर चक्कर लगाता था। उस वनमें विचरनेवाले जो दूसरे मृग थे, वे सब उसे देखकर पास आते और उसे सूँघकर दसों दिशाओंमें भाग जाते थे॥ २८½॥

राक्षसः सोऽपि तान् वन्यान् मृगान् मृगवधे रतः॥
प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन्।

राक्षस मारीच यद्यपि मृगोंके वधमें ही तत्पर रहता था तथापि उस समय अपने भावको छिपानेके लिये उन वन्य मृगोंका स्पर्श करके भी उन्हें खाता नहीं था॥ २९½॥

तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना॥ ३०॥
कुसुमापचये व्यग्रा पादपानत्यवर्तत।
कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा॥ ३१॥

उसी समय मदभरे सुन्दर नेत्रोंवाली विदेहनन्दिनी सीता, जो फूल चुननेमें लगी हुई थीं, कनेर, अशोक और आमके वृक्षोंको लाँघती हुई उधर आ निकलीं॥ ३०-३१॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना।
अनर्हा वनवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम्॥ ३२॥
मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना।

फूलोंको चुनती हुई वे वहीं विचरने लगीं। उनका मुख बड़ा ही सुन्दर था। वे वनवासका कष्ट भोगनेके योग्य नहीं थीं। परम सुन्दरी सीताने उस रत्नमय मृगको देखा, जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग मुक्तामणियोंसे चित्रित-सा जान पड़ता था॥ ३२½॥

तं वै रुचिरदन्तोष्ठं रूप्यधातुतनूरुहम्॥ ३३॥
विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत।

उसके दाँत और ओठ बड़े सुन्दर थे तथा शरीरके रोएँ चाँदी एवं ताँबे आदि धातुओंके बने हुए जान पड़ते थे। उसके ऊपर दृष्टि पड़ते ही सीताजीकी आँखें आश्चर्यसे खिल उठीं और वे बड़े स्नेहसे उसकी ओर निहारने लगीं॥ ३३½॥

स च तां रामदयितां पश्यन् मायामयो मृगः॥ ३४॥
विचचार ततस्तत्र दीपयन्निव तद् वनम्।

वह मायामय मृग भी श्रीरामकी प्राणवल्लभा सीताको देखता और उस वनको प्रकाशित-सा करता हुआ वहीं विचरने लगा॥ ३४½॥

अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा तं नानारत्नमयं मृगम्।

विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥ ३५ ॥

सीताने वैसा मृग पहले कभी नहीं देखा था। वह नाना प्रकारके रत्नोंका ही बना जान पड़ता था। उसे देखकर जनककिशोरी सीताको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

कपटमृगको देखकर लक्ष्मणका संदेह, सीताका उस मृगको जीवित या मृत अवस्थामें भी ले आनेके लिये श्रीरामको प्रेरित करना तथा श्रीरामका लक्ष्मणको समझा-बुझाकर सीताकी रक्षाका भार सौंपकर उस मृगको मारनेके लिये जाना

सा तं सम्प्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमानि विचिन्वती।
हेमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ॥ १ ॥
प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्टहाटकवर्णिनी।
भर्तारमपि चक्रन्द लक्ष्मणं चैव सायुधम् ॥ २ ॥

वह मृग सोने और चाँदीके समान कान्तिवाले पार्श्व-भागोंसे सुशोभित था। शुद्ध सुवर्णके समान कान्ति तथा निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी सीता फूल चुनते-चुनते ही उस मृगको देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं और अपने पति श्रीराम तथा देवर लक्ष्मणको हथियार लेकर आनेके लिये पुकारने लगीं ॥ १-२ ॥

आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते।
आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज ॥ ३ ॥

वे बार-बार उन्हें पुकारतीं और फिर उस मृगको अच्छी तरह देखने लगती थीं। वे बोलीं, 'आर्यपुत्र! अपने भाईके साथ आइये, शीघ्र आइये' ॥ ३ ॥

तावाहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ॥ ४ ॥

विदेहकुमारी सीताके द्वारा पुकारे जानेपर नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण वहाँ आये और उस स्थानपर सब ओर दृष्टि डालते हुए उन्होंने उस समय उस मृगको देखा ॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥ ५ ॥

उसे देखकर लक्ष्मणके मनमें संदेह हुआ और वे बोले—'भैया! मैं तो समझता हूँ कि इस मृगके रूपमें वह मारीच नामका राक्षस ही आया है ॥ ५ ॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना वने।
अनेन निहता राम राजानः कामरूपिणा ॥ ६ ॥

'श्रीराम! स्वेच्छानुसार रूप धारण करनेवाले इस पापीने कपट वेष बनाकर वनमें शिकार खेलनेके लिये आये हुए कितने ही हर्षोत्फुल्ल नरेशोंका वध किया है ॥ ६ ॥

अस्य मायाविदो माया मृगरूपमिदं कृतम्।
भानुमत् पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसंनिभम् ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह! यह अनेक प्रकारकी मायाएँ जानता है। इसकी जो माया सुनी गयी है, वही इस प्रकाशमान मृगरूपमें परिणत हो गयी है। यह गन्धर्व-नगरके समान देखने-भरके लिये ही है (इसमें वास्तविकता नहीं है) ॥ ७ ॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन! पृथ्वीनाथ! इस भूतलपर कहीं भी ऐसा विचित्र रत्नमय मृग नहीं है; अतः निःसंदेह यह माया ही है' ॥ ८ ॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता।
उवाच सीता संहृष्टा छद्मना हृतचेतना ॥ ९ ॥

मारीचके छलसे जिनकी विचारशक्ति हर ली गयी थी, उन पवित्र मुसकानवाली सीताने उपर्युक्त बातें कहते हुए लक्ष्मणको रोककर स्वयं ही बड़े हर्षके साथ कहा—॥ ९ ॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥ १० ॥

'आर्यपुत्र! यह मृग बड़ा ही सुन्दर है। इसने मेरे मनको हर लिया है। महाबाहो! इसे ले आइये। यह हम-लोगोंके मन-बहलावके लिये रहेगा ॥ १० ॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः।
मृगाश्चरन्ति सहिताश्चमराः सृमरास्तथा ॥ ११ ॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा।
विहरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा महाबलाः ॥ १२ ॥
न चान्यः सदृशो राजन् दृष्टः पूर्वं मृगो मया।
तेजसा क्षमया दीप्त्या यथायं मृगसत्तमः ॥ १३ ॥

'राजन्! महाबाहो! यद्यपि हमारे इस आश्रमपर बहुत-से पवित्र एवं दर्शनीय मृग एक साथ आकर चरते हैं तथा सृमर (काली पूँछवाली चवँरी गाय), चमर

(सफेद पूँछवाली चवँरी गाय), रीछ, चितकबरे मृगोंके झुंड, वानर तथा सुन्दर रूपवाले महाबली किन्नर भी विचरण करते हैं, तथापि आजके पहले मैंने दूसरा कोई ऐसा तेजस्वी, सौम्य और दीप्तिमान् मृग नहीं देखा था, जैसा कि यह श्रेष्ठ मृग दिखायी दे रहा है ॥ ११—१३ ॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नभूतो ममाग्रतः।
द्योतयन् वनमव्यग्रं शोभते शशिसंनिभः ॥ १४ ॥

'नाना प्रकारके रंगोंसे युक्त होनेके कारण इसके अङ्ग विचित्र जान पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह रत्नोंका ही बना हुआ हो। मेरे आगे निर्भय एवं शान्त-भावसे स्थित होकर इस वनको प्रकाशित करता हुआ यह चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा है ॥ १४ ॥

अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसम्पच्च शोभना।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥ १५ ॥

'इसका रूप अद्भुत है। इसकी शोभा अवर्णनीय है। इसकी स्वरसम्पत्ति (बोली) बड़ी सुन्दर है। विचित्र रत्नोंसे सुशोभित यह अद्भुत मृग मेरे मनको मोहे लेता है ॥ १५ ॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥ १६ ॥

'यदि यह मृग जीते-जी ही आपकी पकड़में आ जाय तो एक आश्चर्यकी वस्तु होगा और सबके हृदयमें विस्मय उत्पन्न कर देगा ॥ १६ ॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः।
अन्तःपुरे विभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥ १७ ॥

'जब हमारे वनवासकी अवधि पूरी हो जायगी और हम पुनः अपना राज्य पा लेंगे, उस समय यह मृग हमारे अन्तःपुरकी शोभा बढ़ायेगा ॥ १७ ॥

भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो।
मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिष्यति ॥ १८ ॥

'प्रभो! इस मृगका यह दिव्य रूप भरतके, आपके, मेरी सासुओंके और मेरे लिये भी विस्मयजनक होगा ॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति ॥ १९ ॥

'पुरुषसिंह! यदि कदाचित् यह श्रेष्ठ मृग जीते-जी पकड़ा न जा सके तो इसका चमड़ा ही बहुत सुन्दर होगा ॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि।
शष्पबृस्यां विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम् ॥ २० ॥

'घास-फूसकी बनी हुई चटाईपर इस मरे हुए मृगका सुवर्णमय चमड़ा बिछाकर मैं इसपर आपके साथ बैठना चाहती हूँ ॥ २० ॥

कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ २१ ॥

'यद्यपि स्वेच्छासे प्रेरित होकर अपने पतिको ऐसे काममें लगाना यह भयंकर स्वेच्छाचार है और साध्वी स्त्रियोंके लिये उचित नहीं माना गया है तथापि इस जन्तुके शरीरने मेरे हृदयमें विस्मय उत्पन्न कर दिया है (इसीलिये मैं इसको पकड़ लानेके लिये अनुरोध करती हूँ), ॥ २१ ॥

तेन काञ्चनरोम्णा तु मणिप्रवरशृङ्गिणा।
तरुणादित्यवर्णेन नक्षत्रपथवर्चसा ॥ २२ ॥
बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम्।
इति सीतावचः श्रुत्वा दृष्ट्वा च मृगमद्भुतम् ॥ २३ ॥
लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः।
उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥ २४ ॥

सुनहरी रोमावली, इन्द्रनील मणिके समान सींग, उदयकालके सूर्यकी-सी कान्ति तथा नक्षत्रलोककी भाँति विन्दुयुक्त तेजसे सुशोभित उस मृगको देखकर श्रीरामचन्द्र-जीका मन भी विस्मित हो उठा। सीताकी पूर्वोक्त बातको सुनकर, उस मृगके अद्भुत रूपको देखकर, उसके उस रूपपर लुभाकर और सीतासे प्रेरित होकर हर्षसे भरे हुए श्रीरामने अपने भाई लक्ष्मणसे कहा—॥ २२—२४ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहामुल्लसितमिमाम्।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ २५ ॥

'लक्ष्मण! देखो तो सही, विदेहनन्दिनी सीताके मनमें इस मृगको पानेके लिये कितनी प्रबल इच्छा जाग उठी है! वास्तवमें इसका रूप है भी बहुत ही सुन्दर। अपने रूपकी इस श्रेष्ठताके कारण ही यह मृग आज जीवित नहीं रह सकेगा ॥ २५ ॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित् समो मृगः ॥

'सुमित्रानन्दन! देवराज इन्द्रके नन्दनवनमें और कुबेरके चैत्ररथवनमें भी कोई ऐसा मृग नहीं होगा, जो इसकी समानता कर सके। फिर पृथ्वीपर तो हो ही कहाँसे सकता है ॥ २६ ॥

प्रतिलोमानुलोमाश्च रुचिरा रोमराजयः।
शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः कनकबिन्दुभिः ॥ २७ ॥

'टेढ़ी और सीधी रुचिर रोमावलियाँ इस मृगके शरीरका आश्रय ले सुनहरे विन्दुओंसे चित्रित हो बड़ी शोभा पा रही हैं ॥ २७ ॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम्।
जिह्वां मुखान्निःसरन्तीं मेघादिव शतह्रदाम् ॥ २८ ॥

'देखो न, जब यह जँभाई लेता है, तब इसके मुखसे प्रज्वलित अग्निशिखाके समान दमकती हुई जिह्वा

बाहर निकल आती है और मेघसे प्रकट हुई बिजलीके समान चमकने लगती है ॥ २८ ॥

मसारगल्वर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः।
कस्य नामानिरूप्योऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः ॥ २९ ॥

'इसका मुख-सम्पुट इन्द्रनीलमणिके बने हुए चषक (पानपात्र) के समान जान पड़ता है, उदर शङ्ख और मोतीके समान सफेद है। यह अवर्णनीय मृग किसके मन-को नहीं लुभा लेगा ॥ २९ ॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयप्रभम्।
नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत् ॥ ३० ॥

'नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित इसके सुनहरी प्रभावाले दिव्य रूपको देखकर किसके मनमें विस्मय नहीं होगा ॥३०॥

मांसहेतोरपि मृगान् विहारार्थं च धन्विनः।
घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने ॥ ३१ ॥

'लक्ष्मण ! राजालोग बड़े-बड़े वनोंमें मृगया खेलते समय मांस (मृगचर्म) के लिये और शिकार खेलनेका शौक पूरा करनेके लिये भी धनुष हाथमें लेकर मृगोंको मारते हैं ॥ ३१ ॥

धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने।
धातवो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः ॥ ३२ ॥

'मृगयाके उद्योगसे ही राजा लोग विशाल वनमें धनका भी संग्रह करते हैं; क्योंकि वहाँ मणि, रत्न और सुवर्ण आदिसे युक्त नाना प्रकारकी धातुएँ उपलब्ध होती हैं ॥ ३२ ॥

तत् सारमखिलं नृणां धनं निचयवर्धनम्।
मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण ॥ ३३ ॥

'लक्ष्मण ! कोशकी वृद्धि करनेवाला वह वन्य धन मनुष्योंके लिये अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। ठीक उसी तरह, जैसे ब्रह्मभावको प्राप्त हुए पुरुषके लिये मनके चिन्तन-मात्रसे प्राप्त हुई सारी वस्तुएँ अत्यन्त उत्तम बतायी गयी हैं ॥ ३३ ॥

अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्यविचारयन्।
तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्याः सुलक्ष्मण ॥ ३४ ॥

'लक्ष्मण ! अर्थी मनुष्य जिस अर्थ (प्रयोजन) का सम्पादन करनेके लिये उसके प्रति आकृष्ट हो बिना विचारे ही चल देता है, उस अत्यन्त आवश्यक प्रयोजनको ही अर्थसाधन-में चतुर एवं अर्थशास्त्रके ज्ञाता विद्वान् 'अर्थ' कहते हैं ॥३४॥

एतस्य मृगरत्नस्य परार्ध्ये काञ्चनत्वचि।
उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा ॥ ३५ ॥

'इस रत्नस्वरूप श्रेष्ठ मृगके बहुमूल्य सुनहरे चमड़ेपर सुन्दरी विदेहराजनन्दिनी सीता मेरे साथ बैठेगी ॥ ३५ ॥

न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी।
भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शेऽनेनेति मे मतिः ॥ ३६ ॥

'कदली (कोमल ऊँचे चितकबरे और नीलाग्ररोमवाले मृगविशेष), प्रियक (कोमल ऊँचे चिकने और घने रोमवाले मृगविशेष), प्रवेण (विशेष प्रकारके बकरे) और अवि (भेड़) की त्वचा भी स्पर्श करनेमें इस काञ्चन मृगके छालेके समान कोमल एवं सुखद नहीं हो सकती, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३६ ॥

एष चैव मृगः श्रीमान् यश्च दिव्यो नभश्चरः।
उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ ॥ ३७ ॥

'यह सुन्दर मृग और वह जो दिव्य आकाशचारी मृग (मृगशिरा नक्षत्र) है, ये दोनों ही दिव्य मृग हैं। इनमेंसे एक तारामृग[1] और दूसरा महीमृग[2] है ॥ ३७ ॥

यदि वायं तथा यन्मां भवेद् वदसि लक्ष्मण।
मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ॥ ३८ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मुझसे जैसा कह रहे हो यदि वैसा ही यह मृग हो—यदि यह राक्षसकी माया ही हो तो भी मुझे उसका वध करना ही चाहिये ॥ ३८ ॥

एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना।
वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुंगवाः ॥ ३९ ॥

'क्योंकि अपवित्र (दुष्ट) चित्तवाले इस क्रूरकर्मा मारीचने वनमें विचरते समय पहले अनेकानेक श्रेष्ठ मुनियोंकी हत्या की है ॥ ३९ ॥

उत्थाय बहवोऽनेन मृगयायां जनाधिपाः।
निहताः परमेष्वासास्तस्माद् वध्यस्त्वयं मृगः ॥ ४० ॥

'इसने मृगयाके समय प्रकट होकर बहुत-से महाधनुर्धर नरेशोंका वध किया है, अतः इस मृगके रूपमें इसका भी वध अवश्य करने योग्य है ॥ ४० ॥

पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः।
उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव ॥ ४१ ॥

'इसी वनमें पहले वातापि नामक राक्षस रहता था, जो तपस्वी महात्माओंका तिरस्कार करके कपटपूर्ण उपायसे उनके पेटमें पहुँच जाता और जैसे खचरीको अपने ही गर्भका बच्चा नष्ट कर देता है, उसी प्रकार उन ब्रह्मर्षियोंको नष्ट कर देता था ॥ ४१ ॥

स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम्।
अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्ष्यस्तस्य बभूव ह ॥ ४२ ॥

'वह वातापि एक दिन दीर्घकालके पश्चात् लोभवश तेजस्वी महामुनि अगस्त्यजीके पास जा पहुँचा और (श्राद्ध-

१. नक्षत्रलोकमें विचरनेवाला मृग (मृगशिरा नक्षत्र)।
२. पृथ्वीपर विचरनेवाला काञ्चनमृग।

कालमें) उनका आहार बन गया। उनके पेटमें पहुँच गया ॥ ४२ ॥

समुत्थाने च तद्रूपं कर्तुकामं समीक्ष्य तम्।
उत्स्मयित्वा तु भगवान् वातापिमिदमब्रवीत् ॥ ४३ ॥

'श्राद्धके अन्तमें जब वह अपना राक्षसरूप प्रकट करनेकी इच्छा करने लगा—उनका पेट फाड़कर निकल आनेको उद्यत हुआ, तब उस वातापिको लक्ष्य करके भगवान् अगस्त्य मुसकराये और उससे इस प्रकार बोले—॥ ४३ ॥

त्वया विगण्य वातापे परिभूताश्च तेजसा।
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः ॥ ४४ ॥

'वातापे ! तुमने विना सोचे-विचारे इस जीव-जगत्‌में बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अपने तेजसे तिरस्कृत किया है, उसी पापसे अब तुम पच गये ॥ ४४ ॥

तद् रक्षो न भवेदेव वातापिरिव लक्ष्मण।
मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम् ॥ ४५ ॥

'लक्ष्मण ! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले मुझ-जैसे जितेन्द्रिय पुरुषका भी अतिक्रमण करे, उस मारीच नामक राक्षसको भी वातापिके समान ही नष्ट हो जाना चाहिये ॥४५॥

भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मा गतः।
इह त्वं भव संनद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम् ॥ ४६ ॥

'जैसे वातापि अगस्त्यके द्वारा नष्ट हुआ, उसी प्रकार यह मारीच अब मेरे सामने आकर अवश्य ही मारा जायगा। तुम अस्त्र और कवच आदिसे सुसज्जित हो जाओ और यहाँ सावधानीके साथ मिथिलेशकुमारीकी रक्षा करो ॥ ४६ ॥

अस्यामायत्तमस्माकं यत् कृत्यं रघुनन्दन।
अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यथवा मृगम् ॥ ४७ ॥

'रघुनन्दन ! हमलोगोंका जो आवश्यक कर्तव्य है, वह सीताकी रक्षाके ही अधीन है। मैं इस मृगको मार डालूँगा अथवा इसे जीता ही पकड़ लाऊँगा ॥ ४७ ॥

यावद् गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम्।
पश्य लक्ष्मण वैदेह्या मृगत्वचि गतां स्पृहाम् ॥ ४८ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण ! देखो, इस मृगका चर्म हस्तगत करनेके लिये विदेहनन्दिनीको कितनी उत्कण्ठा हो रही है, इसलिये इस मृगको ले आनेके लिये मैं तुरंत ही जा रहा हूँ ॥

त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति।
अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रमस्थेन सीतया ॥ ४९ ॥
यावत् पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम्।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण ॥ ५० ॥

'इस मृगको मारनेका प्रधान हेतु है, इसके चमड़ेको प्राप्त करना। आज इसीके कारण यह मृग जीवित नहीं रह सकेगा। लक्ष्मण ! तुम आश्रमपर रहकर सीताके साथ सावधान रहना—सावधानीके साथ तबतक इसकी रक्षा करना, जबतक कि मैं एक ही बाणसे इस चितकबरे मृगको मार नहीं डालता हूँ। मारनेके पश्चात् इसका चमड़ा लेकर मैं शीघ्र लौट आऊँगा ॥ ४९-५० ॥

प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण।
भवाप्रमत्तः प्रतिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥ ५१ ॥

'लक्ष्मण ! बुद्धिमान् पक्षी गृध्रराज जटायु बड़े ही बलवान् और सामर्थ्यशाली हैं। उनके साथ ही यहाँ सदा सावधान रहना। मिथिलेशकुमारी सीताको अपने संरक्षणमें लेकर प्रतिक्षण सब दिशाओंमें रहनेवाले राक्षसोंकी ओरसे चौकन्ने रहना' ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा मारीचका वध और उसके द्वारा सीता और लक्ष्मणके पुकारनेका शब्द सुनकर श्रीरामकी चिन्ता

तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः।
बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको इस प्रकार आदेश देकर रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने सोनेकी मूँठवाली तलवार कमरमें बाँध ली ॥ १ ॥

ततस्त्रिविनतं चापमादायात्मविभूषणम्।
आबध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् महापराक्रमी रघुनाथजी तीन स्थानोंमें झुके हुए अपने आभूषणरूप धनुषको हाथमें ले पीठपर दो तरकस बाँधकर वहाँसे चल दिये ॥ २ ॥

तं वन्यराजो राजेन्द्रमापतन्तं निरीक्ष्य वै।
बभूवान्तर्हितस्त्रासात् पुनः संदर्शनेऽभवत् ॥ ३ ॥

राजाधिराज श्रीरामको आते देख वह वन्य मृगोंका

राजा काञ्चनमृग भयके मारे छिप गया, किंतु फिर तुरंत ही उनके दृष्टिपथमें आ गया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः ।
तं स्म पश्यति रूपेण द्योतयन्तमिवाग्रतः ॥ ४ ॥
अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिर्महावने ।
अतिवृत्तमिवोत्पाताल्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥
शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरम् ।
दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥
छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।
मुहूर्तादेव ददृशे मुहुर्दूरात् प्रकाशते ॥ ७ ॥

तब तलवार बाँधे और धनुष लिये श्रीराम जिस ओर वह मृग था, उसी ओर दौड़े । धनुर्धर श्रीरामने देखा, वह अपने रूपसे सामनेकी दिशाको प्रकाशित-सी कर रहा था । उस महान् वनमें वह पीछेकी ओर देख-देखकर आगेकी ओर भाग रहा था । कभी छलाँगें मारकर बहुत दूर निकल जाता और कभी इतना निकट दिखायी देता कि हाथसे पकड़ लेनेका लोभ पैदा कर देता था । कभी डरा हुआ, कभी घबराया हुआ और कभी आकाशमें उछलता हुआ दीख पड़ता था । कभी वनके किन्हीं स्थानोंमें छिपकर अदृश्य हो जाता था, मानो शरत्‌ऋतुका चन्द्रमण्डल मेघखण्डोंसे आवृत हो गया हो । एक ही मुहूर्तमें वह निकट दिखायी देता और पुनः बहुत दूरके स्थानमें चमक उठता था ॥ ४–७ ॥

दर्शनादर्शनेनैव सोऽपाकर्षत राघवम् ।
स दूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस तरह प्रकट होता और छिपता हुआ वह मृगरूपधारी मारीच श्रीरघुनाथजीको उनके आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया ॥ ८ ॥

आसीत् क्रुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशस्तेन मोहितः ।
अथावतस्थे सुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

उस समय उससे मोहित और विवश होकर श्रीराम कुछ कुपित हो उठे और थककर एक जगह छायाका आश्रय ले हरी-हरी घासवाली भूमिपर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः ।
मृगैः परिवृतोऽथान्यैरदूरात् प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

इस मृगरूपधारी निशाचरने उन्हें उन्मत्त-सा कर दिया था । थोड़ी ही देरमें वह दूसरे मृगोंसे घिरा हुआ पास ही दिखायी दिया ॥ १० ॥

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वा तं पुनरेवाभ्यधावत ।
तत्क्षणादेव संत्रासात् पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

श्रीराम मुझे पकड़ना चाहते हैं, यह देखकर वह फिर भागा और भयके मारे पुनः तत्काल ही अदृश्य हो गया ॥ ११ ॥

पुनरेव ततो दूराद् वृक्षखण्डाद् विनिःसृतः ।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

तदनन्तर वह पुनः दूरवर्ती वृक्ष-समूहसे होकर निकला । उसे देखकर महातेजस्वी श्रीरामने मार डालनेका निश्चय किया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमर्दनम् ॥ १३ ॥
संधाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्बली ।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १४ ॥
मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् ।

तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए बलवान् राघवेन्द्र श्रीरामने तरकससे सूर्यकी किरणोंके समान तेजस्वी एक प्रज्वलित एवं शत्रु-संहारक बाण निकालकर उसे अपने सुदृढ़ धनुषपर रखा और उस धनुषको जोरसे खींचकर उस मृगको ही लक्ष्य करके फुफकारते सर्पके समान सनसनाता हुआ वह प्रज्वलित एवं तेजस्वी बाण, जिसे ब्रह्माजीने बनाया था, छोड़ दिया ॥ १३-१४½ ॥

शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥ १५ ॥
मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसंनिभः ।

वज्रके समान तेजस्वी उस उत्तम बाणने मृगरूपधारी मारीचके शरीरको चीरकर उसके हृदयको भी विदीर्ण कर दिया ॥ १५½ ॥

तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत् स भृशातुरः ॥ १६ ॥
व्यनदद् भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः ।

'उसकी चोटसे अत्यन्त आतुर हो वह राक्षस ताड़के बराबर उछलकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसका जीवन समाप्त हो चला । वह पृथ्वीपर पड़ा-पड़ा भयंकर गर्जना करने लगा ॥ १६½ ॥

म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥
स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।
इह प्रस्थापयेत् सीता तां शून्ये रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

मरते समय मारीचने अपने उस कृत्रिम शरीरको त्याग दिया । फिर रावणके वचनका स्मरण करके उस राक्षसने सोचा, किस उपायसे सीता लक्ष्मणको यहाँ भेज दे और सूने आश्रमसे रावण उसे हर ले जाय ॥ १७-१८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम् ।
सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

रावणके बताये हुए उपायको काममें लानेका अवसर आ गया है—यह समझकर उसने श्रीरामचन्द्रजीके ही समान स्वरमें 'हा सीते ! हा लक्ष्मण !' कहकर पुकारा ॥ १९ ॥

तेन मर्मणि निर्विद्धं शरेणानुपमेन हि।
मृगरूपं तु तत् त्यक्त्वा राक्षसं रूपमास्थितः ॥ २० ॥

श्रीरामके अनुपम बाणसे उसका मर्म विदीर्ण हो गया था, अतः उस मृगरूपको त्यागकर उसने राक्षसरूप धारण कर लिया ॥ २० ॥

चक्रे स सुमहाकायं मारीचो जीवितं त्यजन्।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं भीमदर्शनम् ॥ २१ ॥
रामो रुधिरसिक्ताङ्गं चेष्टमानं महीतले।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २२ ॥

प्राणत्याग करते समय मारीचने अपने शरीरको बहुत बड़ा बना लिया था। भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको भूमिपर पड़कर खूनसे लथपथ हो धरतीपर लोटते और छटपटाते देख श्रीरामको लक्ष्मणकी कही हुई बात याद आ गयी और वे मन-ही-मन सीताकी चिन्ता करने लगे ॥२१-२२॥

मारीचस्य तु मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु।
तत् तथा ह्यभवच्चाद्य मारीचोऽयं मया हतः ॥ २३ ॥

वे सोचने लगे, 'अहो! जैसा लक्ष्मणने पहले कहा था, उसके अनुसार यह वास्तवमें मारीचकी माया ही थी। लक्ष्मणकी बात ठीक निकली। आज मेरे द्वारा यह मारीच ही मारा गया ॥ २३ ॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाकुश्य तु महास्वनम्।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥ २४ ॥
लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति।

'परंतु यह राक्षस उच्चस्वरसे 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' की पुकार करके मरा है। उसके उस शब्दको सुनकर सीताकी कैसी अवस्था हो जायगी और महाबाहु लक्ष्मणकी भी क्या दशा होगी?' ॥ २४½ ॥

इति संचिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥ २५ ॥
तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम्।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वनम् ॥ २६ ॥

ऐसा सोचकर धर्मात्मा श्रीरामके रोंगटे खड़े हो गये। उस समय वहाँ मृगरूपधारी उस राक्षसको मारकर और उसके उस शब्दको सुनकर श्रीरामके मनमें विषादजनित तीव्र भय समा गया ॥ २५-२६ ॥

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः।
त्वरमाणो जनस्थानं ससाराभिमुखं तदा ॥ २७ ॥

उस लोकविलक्षण मृगका वध करके तपस्वीके उपभोगमें आनेयोग्य फल-मूल आदि लेकर श्रीराम तत्काल ही जनस्थानके निकटवर्ती पञ्चवटीमें स्थित अपने आश्रमकी ओर बड़ी उतावलीके साथ चले ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

सीताके मार्मिक वचनोंसे प्रेरित होकर लक्ष्मणका श्रीरामके पास जाना

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥ १ ॥

उस समय वनमें जो आर्तनाद हुआ, उसे अपने पतिके स्वरसे मिलता-जुलता जान श्रीसीताजी लक्ष्मणसे बोलीं—'भैया! जाओ, श्रीरघुनाथजीकी सुधि लो—उनका समाचार जानो ॥ १ ॥

नहि मे जीवितं स्थाने हृदयं वावतिष्ठते।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥ २ ॥

'उन्होंने बड़े आर्तस्वरसे हमलोगोंको पुकारा है। मैंने उनका वह शब्द सुना है, वह बहुत उच्चस्वरसे बोला गया था। उसे सुनकर मेरे प्राण और मन अपने स्थानपर नहीं रह गये हैं—मैं घबरा उठी हूँ ॥ २ ॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम् ॥ ३ ॥
रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम्।
न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ॥ ४ ॥

'तुम्हारे भाई वनमें आर्तनाद कर रहे हैं। वे कोई शरण—रक्षाका सहारा चाहते हैं। तुम उन्हें बचाओ। जल्दी ही अपने भाईके पास दौड़े हुए जाओ। जैसे कोई साँड़ सिंहोंके पंजेमें फँस गया हो, उसी प्रकार वे राक्षसोंके वशमें पड़ गये हैं, अतः जाओ।' सीताके ऐसा कहनेपर भी भाईके आदेशका विचार करके लक्ष्मण नहीं गये ॥ ३-४ ॥

तमुवाच ततस्तत्र क्षुभिता जनकात्मजा।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥ ५ ॥
यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥ ६ ॥

उनके इस व्यवहारसे वहाँ जनककिशोरी सीता क्षुब्ध हो उठीं और उनसे इस प्रकार बोलीं—'सुमित्राकुमार! तुम मित्ररूपमें अपने भाईके शत्रु ही जान पड़ते हो, इसीलिये तुम इस संकटकी अवस्थामें भी भाईके पास नहीं पहुँच रहे हो। लक्ष्मण! मैं जानती हूँ, तुम

मुझपर अधिकार करनेके लिये इस समय श्रीरामका विनाश ही चाहते हो ॥ ५-६ ॥

लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥ ७ ॥

'मेरे लिये तुम्हारे मनमें लोभ हो गया है, निश्चय ही इसीलिये तुम श्रीरघुनाथजीके पीछे नहीं जा रहे हो। मैं समझती हूँ, श्रीरामका संकटमें पड़ना ही तुम्हें प्रिय है। तुम्हारे मनमें अपने भाईके प्रति स्नेह नहीं है ॥ ७ ॥

तेन तिष्ठसि विस्रब्धं तमपश्यन् महाद्युतिम्।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥ ८ ॥
कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः।

'यही कारण है कि तुम उन महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको देखने न जाकर यहाँ निश्चिन्त खड़े हो। हाय! जो मुख्यतः तुम्हारे सेव्य हैं, जिनकी रक्षा और सेवाके लिये तुम यहाँ आये हो, यदि उन्हींके प्राण संकटमें पड़ गये तो यहाँ मेरी रक्षासे क्या होगा!' ॥ ८½ ॥

एवं ब्रुवाणां वैदेहीं बाष्पशोकसमन्विताम् ॥ ९ ॥
अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव।

'विदेहकुमारी सीताजीकी दशा भयभीत हुई हरिणीके समान हो रही थी। उन्होंने शोकमग्न होकर आँसू बहाते हुए जब उपर्युक्त बातें कहीं, तब लक्ष्मण उनसे इस प्रकार बोले—॥ ९½ ॥

पन्नगासुरगन्धर्वदेवदानवराक्षसैः ॥ १० ॥
अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः।

'विदेहनन्दिनि! आप विश्वास करें, नाग, असुर, गन्धर्व, देवता, दानव तथा राक्षस—ये सब मिलकर भी आपके पतिको परास्त नहीं कर सकते, मेरे इस कथनमें संशय नहीं है ॥ १०½ ॥

देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥ ११ ॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥ १२ ॥
यो रामं प्रतियुध्येत समरे वासवोपमम्।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'देवि! शोभने! देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, मृगों तथा घोर दानवोंमें भी ऐसा कोई वीर नहीं है, जो समराङ्गणमें इन्द्रके समान पराक्रमी श्रीरामका सामना कर सके। भगवान् श्रीराम युद्धमें अवध्य हैं, अतएव आपको ऐसी बात ही नहीं कहनी चाहिये ॥ ११-१३ ॥

न त्वामस्मिन् वने हातुमुत्सहे राघवं विना।
अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥
त्रिभिर्लोकैः समुदितैः सेश्वरैः सामरैरपि।
हृदयं निर्वृतं तेऽस्तु संतापस्त्यज्यतां तव ॥ १५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी अनुपस्थितिमें इस वनके भीतर मैं आपको अकेली नहीं छोड़ सकता। सैनिक-बलसे सम्पन्न बड़े-बड़े राजा अपनी सारी सेनाओंके द्वारा भी श्रीरामके बलको कुण्ठित नहीं कर सकते। देवताओं तथा इन्द्र आदिके साथ मिले हुए तीनों लोक भी यदि आक्रमण करें तो वे श्रीरामके बलका वेग नहीं रोक सकते; अतः आपका हृदय शान्त हो। आप संताप छोड़ दें ॥ १४-१५ ॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम्।
न स तस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः ॥ १६ ॥
गन्धर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः।

'आपके पतिदेव उस सुन्दर मृगको मारकर शीघ्र ही लौट आयेंगे। वह शब्द जो आपने सुना था, अवश्य ही उनका नहीं था। किसी देवताने कोई शब्द प्रकट किया हो, ऐसी बात भी नहीं है। वह तो उस राक्षसकी गन्धर्व-नगरके समान झूठी माया ही थी ॥ १६½ ॥

न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥ १७ ॥
रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।

'सुन्दरि! विदेहनन्दिनि! महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने मुझपर आपकी रक्षाका भार सौंपा है। इस समय आप मेरे पास उनकी धरोहरके रूपमें हैं, अतः आपको मैं यहाँ अकेली नहीं छोड़ सकता ॥ १७½ ॥

कृतवैराश्च कल्याणि वयमेतैर्निशाचरैः ॥ १८ ॥
खरस्य निधने देवि जनस्थानवधं प्रति।

'कल्याणमयी देवि! जिस समय खरका वध किया गया, उस समय जनस्थाननिवासी दूसरे बहुत-से राक्षस भी मारे गये थे, इस कारण इन निशाचरोंने हमारे साथ वैर बाँध लिया है ॥ १८½ ॥

राक्षसा विविधा वाचो व्याहरन्ति महावने ॥ १९ ॥
हिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि।

'विदेहनन्दिनि! प्राणियोंकी हिंसा ही जिनका क्रीड़ा-विहार या मनोरञ्जन है, वे राक्षस ही इस विशाल वनमें नाना प्रकारकी बोलियाँ बोला करते हैं; अतः आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये' ॥ १९½ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥ २० ॥
अब्रवीत् परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम्।

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर सीताको बड़ा क्रोध हुआ, उनकी आँखें लाल हो गयीं और वे सत्यवादी लक्ष्मणसे कठोर बातें कहने लगीं—॥ २०½ ॥

अनार्याकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥

अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत्।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥ २२ ॥

'अनार्य ! निर्दयी ! क्रूरकर्मा ! कुलाङ्गार ! मैं तुझे खूब समझती हूँ। श्रीराम किसी भारी विपत्तिमें पड़ जायँ, यही तुझे प्रिय है। इसीलिये तू रामपर संकट आया देखकर भी ऐसी बातें बना रहा है ॥ २१-२२ ॥

नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद् भवेत्।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण ! तेरे-जैसे क्रूर एवं सदा छिपे हुए शत्रुओंके मनमें इस तरहका पापपूर्ण विचार होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

'तू बड़ा दुष्ट है, श्रीरामको अकेले वनमें आते देख मुझे प्राप्त करनेके लिये ही अपने भावको छिपाकर तू भी अकेला ही उनके पीछे-पीछे चला आया है, अथवा यह भी सम्भव है कि भरतने ही तुझे भेजा हो ॥ २४ ॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तवापि भरतस्य वा।
कथमिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम्।

'परंतु सुमित्राकुमार ! तेरा या भरतका वह मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। नीलकमलके समान श्यामसुन्दर कमल-नयन श्रीरामको पतिरूपमें पाकर मैं दूसरे किसी क्षुद्र पुरुषकी कामना कैसे कर सकती हूँ ! ॥ २५½ ॥

समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्याम्यसंशयम् ॥ २६ ॥
रामं विना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले।

'सुमित्राकुमार ! मैं तेरे सामने ही निःसंदेह अपने प्राण त्याग दूँगी, किंतु श्रीरामके बिना एक क्षण भी इस भूतलपर जीवित नहीं रह सकूँगी' ॥ २६½ ॥

इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥
अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिः स जितेन्द्रियः।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥ २८ ॥

सीताने जब इस प्रकार कठोर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाली बात कही, तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण हाथ जोड़कर उनसे बोले—'देवि ! मैं आपकी बातका जवाब नहीं दे सकता; क्योंकि आप मेरे लिये आराधनीया देवीके समान हैं ॥ २७-२८ ॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते ॥ २९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! ऐसी अनुचित और प्रतिकूल बातें मुँहसे निकालना स्त्रियोंके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि इस संसारमें नारियोंका ऐसा स्वभाव बहुधा देखा जाता है ॥

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः।
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥
श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराचसंनिभम्।

'स्त्रियाँ प्रायः विनय आदि धर्मोंसे रहित, चञ्चल, कठोर तथा घरमें फूट डालनेवाली होती हैं। विदेहकुमारी जानकी ! आपकी यह बात मेरे दोनों कानोंमें तपाये हुए लोहेके समान लगी है। मैं ऐसी बात सह नहीं सकता ॥ ३०½ ॥

उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिणो हि वनेचराः ॥ ३१ ॥
न्यायवादी यथा वाक्यमुक्तोऽहं परुषं त्वया।
धिक् त्वामद्य विनश्यन्तीं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥ ३२ ॥
स्त्रीत्वाद् दुष्टस्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम्।
गच्छामि यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

'इस वनमें विचरनेवाले सभी प्राणी साक्षी होकर मेरा कथन सुनें। मैंने न्याययुक्त बात कही है तो भी आपने मेरे प्रति ऐसी कठोर बात अपने मुँहसे निकाली हैं। निश्चय ही आज आपकी बुद्धि मारी गयी है। आप नष्ट होना चाहती हैं। धिक्कार है आपको, जो आप मुझपर ऐसा संदेह करती हैं। मैं बड़े भाईकी आज्ञाका पालन करनेमें दृढ़तापूर्वक तत्पर हूँ और आप केवल नारी होनेके कारण साधारण स्त्रियोंके दुष्ट स्वभावको अपनाकर मेरे प्रति ऐसी आशङ्का करती हैं। अच्छा, अब मैं वहीं जाता हूँ, जहाँ भैया श्रीराम गये हैं। सुमुखि ! आपका कल्याण हो ॥ ३१–३३ ॥

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः।
निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे।
अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३४ ॥

'विशाललोचने ! वनके सम्पूर्ण देवता आपकी रक्षा करें; क्योंकि इस समय मेरे सामने जो बड़े भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उन्होंने मुझे संशयमें डाल दिया है। क्या मैं श्रीरामचन्द्रजीके साथ लौटकर पुनः आपको सकुशल देख सकूँगा !' ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु रुदती जनकात्मजा।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रबाष्पपरिप्लुता ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर जनककिशोरी सीता रोने लगीं। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी तीव्र धारा बह चली। वे उन्हें इस प्रकार उत्तर देती हुई बोलीं—॥ ३५ ॥

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण।
आबन्धिष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३६ ॥
पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।
न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ॥ ३७ ॥

'लक्ष्मण ! मैं श्रीरामसे बिछुड़ जानेपर गोदावरी नदीमें समा जाऊँगी अथवा गलेमें फाँसी लगा लूँगी अथवा पर्वतके दुर्गम शिखरपर चढ़कर वहाँसे अपने शरीरको नीचे डाल

दूँगी या तीव्र विष पान कर लूँगी अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगी, परंतु श्रीरघुनाथजीके सिवा दूसरे किसी पुरुषका कदापि स्पर्श नहीं करूँगी' ॥ ३६-३७ ॥

इति लक्ष्मणमाश्रुत्य सीता शोकसमन्विता ।
पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणके सामने यह प्रतिज्ञा करके शोकमग्न होकर रोती हुई सीता अधिक दुःखके कारण दोनों हाथोंसे अपने उदरपर आघात करने लगीं—छाती पीटने लगीं ॥ ३८ ॥

तामार्तरूपां विमना रुदन्तीं
सौमित्रिरालोक्य विशालनेत्राम् ।
आश्वासयामास न चैव भर्तु-
स्तं भ्रातरं किंचिदुवाच सीता ॥ ३९ ॥

विशाललोचना सीताको आर्त होकर रोती देख सुमित्राकुमार लक्ष्मणने मन-ही-मन उन्हें सान्त्वना दी, परंतु सीता उस समय अपने देवरसे कुछ नहीं बोलीं ॥ ३९ ॥

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः
कृताञ्जलिः किंचिदभिप्रणम्य ।
अवेक्षमाणो बहुशः स मैथिलीं
जगाम रामस्य समीपमात्मवान् ॥ ४० ॥

तब मनको वशमें रखनेवाले लक्ष्मणने दोनों हाथ जोड़ कुछ झुककर मिथिलेशकुमारी सीताको प्रणाम किया और बारंबार उनकी ओर देखते हुए वे श्रीरामचन्द्रजीके पास चल दिये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

रावणका साधुवेषमें सीताके पास जाकर उनका परिचय पूछना और सीताका आतिथ्यके लिये उसे आमन्त्रित करना

तया परुषमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः ।
स विकाङ्क्षन् भृशं रामं प्रतस्थे नचिरादिव ॥ १ ॥

सीताके कठोर वचन कहनेपर कुपित हुए लक्ष्मण श्रीरामसे मिलनेकी विशेष इच्छा रखकर शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ १ ॥

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिचक्राम वैदेहीं परिव्राजकरूपधृक् ॥ २ ॥

लक्ष्मणके चले जानेपर रावणको मौका मिल गया, अतः वह संन्यासीका वेष धारण करके शीघ्र ही विदेहकुमारी सीताके समीप गया ॥ २ ॥

श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही ।
वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू ॥ ३ ॥

वह शरीरपर साफ-सुथरा गेरुए रंगका वस्त्र लपेटे हुए था । उसके मस्तकपर शिखा, हाथमें छाता और पैरोंमें जूते थे । उसने बायें कंधेपर डंडा रखकर उसमें कमण्डलु लटका रखा था ॥ ३ ॥

परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत ।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने ॥ ४ ॥

अत्यन्त बलवान् रावण उस वनमें परिव्राजकका रूप धारण करके श्रीराम और लक्ष्मण दोनों बन्धुओंसे रहित हुई अकेली विदेहकुमारी सीताके पास गया ॥ ४ ॥

रहितां सूर्यचन्द्राभ्यां संध्यामिव महत्तमः ।
तामपश्यत् ततो बालां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ॥ ५ ॥
रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद् भृशदारुणः ।

जैसे सूर्य और चन्द्रमासे हीन हुई संध्याके पास महान् अंधकार उपस्थित हो, उसी प्रकार वह सीताके निकट गया । तदनन्तर जैसे चन्द्रमासे रहित हुई रोहिणीपर अत्यन्त दारुण ग्रह मंगल या शनैश्चरकी दृष्टि पड़े, उसी प्रकार उस अतिशय क्रूर रावणने उस भोली-भाली यशस्विनी राजकुमारीकी ओर देखा ॥ ५½ ॥

तमुग्रं पापकर्माणं जनस्थानगता द्रुमाः ॥ ६ ॥
संदृश्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः ।
शीघ्रस्रोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षन्तं रक्तलोचनम् ॥ ७ ॥
स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद् गोदावरी नदी ।

उस भयंकर पापाचारीको आया देख जनस्थानके वृक्षोंने हिलना बंद कर दिया और हवाका वेग रुक गया । लाल नेत्रोंवाले रावणको अपनी ओर दृष्टिपात करते देख तीव्र गतिसे बहनेवाली गोदावरी नदी भयके मारे धीरे-धीरे बहने लगी ॥ ६—७½ ॥

रामस्य त्वन्तरं प्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे ॥ ८ ॥
उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः ।

रामसे बदला लेनेका अवसर ढूँढ़नेवाला दशमुख रावण उस समय भिक्षुरूपसे विदेहकुमारी सीताके पास पहुँचा ॥ ८½ ॥

अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतीम् ॥ ९ ॥
अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः ।

उस समय विदेहराजकुमारी सीता अपने पतिके लिये शोक और चिन्तामें डूबी हुई थीं। उसी अवस्थामें अभव्य रावण भव्य रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित हुआ, मानो शनैश्चर ग्रह चित्राके सामने जा पहुँचा हो ॥

सहसा भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः ॥ १० ॥
अतिष्ठत् प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम्।

जैसे कुआँ तिनकोंसे ढका हुआ हो, उसी प्रकार भव्य रूपसे अपनी अभव्यताको छिपाकर रावण सहसा वहाँ जा पहुँचा और यशस्विनी रामपत्नी वैदेहीको देखकर खड़ा हो गया ॥ १०½ ॥

तिष्ठन् सम्प्रेक्ष्य च तदा पत्नीं रामस्य रावणः ॥ ११ ॥
शुभां रुचिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम् ॥ १२ ॥

उस समय रावण वहाँ खड़ा-खड़ा रामपत्नी सीताको देखने लगा। वे बड़ी सुन्दरी थीं। उनके दाँत और ओठ भी सुन्दर थे, मुख पूर्ण चन्द्रमाकी शोभाको छीने लेता था। वे पर्णशालामें बैठी हुई शोकसे पीड़ित हो आँसू बहा रही थीं ॥ ११-१२ ॥

स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम्।
अभ्यगच्छत वैदेहीं हृष्टचेता निशाचरः ॥ १३ ॥

वह निशाचर प्रसन्नचित्त हो रेशमी पीताम्बरसे सुशोभित कमलनयनी विदेहकुमारीके सामने गया ॥ १३ ॥

दृष्ट्वा कामशराविद्धो ब्रह्मघोषमुदीरयन्।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः ॥ १४ ॥

उन्हें देखते ही कामदेवके बाणोंसे घायल हो राक्षसराज रावण वेदमन्त्रका उच्चारण करने लगा और उस एकान्त स्थानमें विनीतभावसे उनसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥ १४ ॥

तामुत्तमां त्रिलोकानां पद्महीनामिव श्रियम्।
विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह ॥ १५ ॥

त्रिलोकसुन्दरी सीता अपने शरीरसे कमलसे रहित कमलालया लक्ष्मीकी भाँति शोभा पा रही थीं। रावण उनकी प्रशंसा करता हुआ बोला—॥ १५ ॥

रौप्यकाञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि।
कमलानां शुभां मालां पद्मिनीव च बिभ्रती ॥ १६ ॥

'उत्तम सुवर्णकी-सी कान्तिवाली तथा रेशमी पीताम्बर धारण करनेवाली सुन्दरी! (तुम कौन हो!) तुम्हारे मुख, नेत्र, हाथ और पैर कमलोंके समान हैं, अतः तुम पद्मिनी (पुष्करिणी) की भाँति कमलोंकी सुन्दर-सी माला धारण करती हो ॥ १६ ॥

ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने।
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी ॥ १७ ॥

'शुभानने! तुम श्री, ह्री, कीर्ति, शुभस्वरूपा लक्ष्मी अथवा अप्सरा तो नहीं हो! अथवा वरारोहे! तुम भूति या स्वेच्छापूर्वक विहार करनेवाली कामदेवकी पत्नी रति तो नहीं हो! ॥ १७ ॥

समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव।
विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ॥ १८ ॥
विशालं जघनं पीनमूरू करिकरोपमौ।

तुम्हारे दाँत बराबर हैं। उनके अग्रभाग कुन्दकी कलियोंके समान शोभा पाते हैं। वे सब-के-सब चिकने और सफेद हैं। तुम्हारी दोनों आँखें बड़ी-बड़ी और निर्मल हैं। उनके दोनों कोये लाल हैं और पुतलियाँ काली हैं। कटिका अग्रभाग विशाल एवं मांसल है। दोनों जाँघें हाथीकी सूँड़के समान शोभा पाती हैं ॥ १८½ ॥

एतावुपचितौ वृत्तौ संहतौ सम्प्रगल्भितौ ॥ १९ ॥
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धतालफलोपमौ।
मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ॥ २० ॥

'तुम्हारे ये दोनों स्तन पुष्ट, गोलाकार, परस्पर सटे हुए, प्रगल्भ, मोटे, उठे हुए मुखवाले, कमनीय, चिकने ताड़फलके समान आकारवाले, परम सुन्दर और श्रेष्ठ मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हैं ॥ १९-२० ॥

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि।
मनो हरसि मे रामे नदी कूलमिवाम्भसा ॥ २१ ॥

'सुन्दर मुसकान, रुचिर दन्तावली और मनोहर नेत्रवाली विलासिनी रमणी! तुम अपने रूप-सौन्दर्यसे मेरे मनको वैसे ही हरे लेती हो, जैसे नदी जलके द्वारा अपने तटका अपहरण करती है ॥ २१ ॥

करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनि।
नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किंनरी ॥ २२ ॥

'तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि मुट्ठीमें आ जाय। केश चिकने और मनोहर हैं। दोनों स्तन एक दूसरेसे सटे हुए हैं। सुन्दरी! देवता, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर जातिकी स्त्रियोंमें भी कोई तुम-जैसी नहीं है ॥ २२ ॥

नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले।
रूपमग्र्यं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ॥ २३ ॥
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्माथयन्ति मे।
सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

'पृथ्वीपर तो ऐसी रूपवती नारी मैंने आजसे पहले कभी देखी ही नहीं थी। कहाँ तो तुम्हारा यह तीनों लोकोंमें सबसे सुन्दर रूप, सुकुमारता और नयी अवस्था और कहाँ इस दुर्गम वनमें निवास! ये सब बातें ध्यानमें आते ही मेरे मनको मथे डालती हैं। तुम्हारा

कल्याण हो। यहाँसे चली जाओ। तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो॥ २३-२४॥

राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम्।
प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च॥ २५॥
सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया।

'यह तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भयंकर राक्षसोंके रहनेकी जगह है। तुम्हें तो रमणीय राजमहलों, समृद्धिशाली नगरों और सुगन्धयुक्त उपवनोंमें निवास करना और विचरना चाहिये॥ २५½॥

वरं माल्यं वरं गन्धं वरं वस्त्रं च शोभने॥ २६॥
भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे।

'शोभने! वही पुष्प श्रेष्ठ है, वही गन्ध उत्तम है और वही वस्त्र सुन्दर है, जो तुम्हारे उपयोगमें आये। कजरारे नेत्रोंवाली सुन्दरी! मैं उसीको श्रेष्ठ पति मानता हूँ, जिसे तुम्हारा सुखद संयोग प्राप्त हो॥ २६½॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा शुचिस्मिते॥ २७॥
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे।

'पवित्र मुसकान और सुन्दर अङ्गोंवाली देवि! तुम कौन हो? मुझे तो तुम रुद्रों, मरुद्गणों अथवा वसुओंसे सम्बन्ध रखनेवाली देवी जान पड़ती हो॥ २७½॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः॥ २८॥
राक्षसानामयं वासः कथं तु त्वमिहागता।

'यहाँ गन्धर्व, देवता तथा किन्नर नहीं आते-जाते हैं। यह राक्षसोंका निवासस्थान है, फिर तुम कैसे यहाँ आ गयी?॥ २८½॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगा वृकाः॥ २९॥
ऋक्षास्तरक्षवः कङ्काः कथं तेभ्यो न बिभ्यसे।

'यहाँ वानर, सिंह, चीते, व्याघ्र, मृग, भेड़िये, रीछ, शेर और कंक (गीध आदि पक्षी) रहते हैं। तुम्हें इनसे भय क्यों नहीं हो रहा है?॥ २९½॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम्॥ ३०॥
कथमेका महारण्ये न बिभेषि वरानने।

'वरानने! इस विशाल वनके भीतर अत्यन्त वेगशाली और भयंकर मदमत्त गजराजोंके बीच अकेली रहती हुई तुम भयभीत कैसे नहीं होती हो?॥ ३०½॥

कासि कस्य कुतश्च त्वं किं निमित्तं च दण्डकान्॥ ३१॥
एका चरसि कल्याणि घोरान् राक्षससेवितान्।

'कल्याणमयी देवि! बताओ, तुम कौन हो? किसकी हो? और कहाँसे आकर किस कारण इस राक्षससेवित घोर दण्डकारण्यमें अकेली विचरण करती हो?'॥ ३१½॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन महात्मना॥ ३२॥
द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागतम्।
सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली॥ ३३॥

वेषभूषासे महात्मा बनकर आये हुए रावणने जब विदेहकुमारी सीताकी इस प्रकार प्रशंसा की, तब ब्राह्मणवेषमें वहाँ पधारे हुए रावणको देखकर मैथिलीने अतिथि-सत्कारके लिये उपयोगी सभी सामग्रियोंद्वारा उसका पूजन किया॥ ३२-३३॥

उपानीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च।
अब्रवीत् सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम्॥ ३४॥

पहले बैठनेके लिये आसन दे, पाद्य (पैर धोनेके लिये जल) निवेदन किया। तदनन्तर ऊपरसे सौम्य दिखायी देनेवाले उस अतिथिको भोजनके लिये निमन्त्रण देते हुए कहा—'ब्रह्मन्! भोजन तैयार है, ग्रहण कीजिये'॥ ३४॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली
समागतं पात्रकुसुम्भधारिणम्।
अशक्यमुद्द्वेष्टुमुपायदर्शना-
न्न्यमन्त्रयद् ब्राह्मणवत् तथागतम्॥ ३५॥

वह ब्राह्मणके वेषमें आया था, कमण्डलु और गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए था। ब्राह्मण-वेषमें आये हुए अतिथिकी उपेक्षा असम्भव थी। उसकी वेषभूषामें ब्राह्मणत्वका निश्चय करानेवाले चिह्न दिखायी देते थे, अतः उस रूपमें आये हुए उस रावणको देखकर मैथिलीने ब्राह्मणके योग्य सत्कार करनेके लिये ही उसे निमन्त्रित किया॥ ३५॥

इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यता-
मिदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमं
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम्॥ ३६॥

वे बोलीं—'ब्राह्मण! यह चटाई है, इसपर इच्छानुसार बैठ जाइये। यह पैर धोनेके लिये जल है, इसे ग्रहण कीजिये और यह वनमें ही उत्पन्न हुआ उत्तम फल-मूल आपके लिये ही तैयार करके रखा गया है, यहाँ शान्तभावसे उसका उपभोग कीजिये'॥ ३६॥

निमन्त्र्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम्।
प्रसह्य तस्या हरणे दृढं मनः
समर्पयामास वधाय रावणः॥ ३७॥

'अतिथिके लिये सब कुछ तैयार है' ऐसा कहकर सीताने जब उसे भोजनके लिये निमन्त्रित किया, तब रावणने 'सर्वं सम्पन्नम्' कहनेवाली राजरानी मैथिलीकी ओर देखा और अपने ही वधके लिये उसने हठपूर्वक सीताका हरण करनेके निमित्त मनमें दृढ़ निश्चय कर लिया॥ ३७॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा।
निरीक्षमाणा हरितं ददर्श त-
न्महद् वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥ ३८ ॥

तदनन्तर सीता शिकार खेलनेके लिये गये हुए लक्ष्मणसहित अपने सुन्दर वेषधारी पति श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतीक्षा करने लगीं। उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, किंतु उन्हें सब ओर हरा-भरा विशाल वन ही दिखायी दिया, श्रीराम और लक्ष्मण नहीं दीख पड़े ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

सीताका रावणको अपना और पतिका परिचय देकर वनमें आनेका कारण बताना, रावणका उन्हें अपनी पटरानी बनानेकी इच्छा प्रकट करना और सीताका उसे फटकारना

रावणेन तु वैदेही तदा पृष्टा जिहीर्षुणा।
परिव्राजकरूपेण शशंसात्मानमात्मना ॥ १ ॥

सीताको हरनेकी इच्छासे परिव्राजक (संन्यासी) का रूप धारण करके आये हुए रावणने उस समय जब विदेहराजकुमारीसे इस प्रकार पूछा, तब उन्होंने स्वयं ही अपना परिचय दिया ॥ १ ॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चैष अनुक्तो हि शपेत माम्।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

वे दो घड़ीतक इस विचारमें पड़ी रहीं कि ये ब्राह्मण और अतिथि हैं, यदि इनकी बातका उत्तर न दिया जाय तो ये मुझे शाप दे देंगे। यह सोचकर सीताने इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ २ ॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामस्य महिषी प्रिया ॥ ३ ॥

'ब्रह्मन्! आपका भला हो। मैं मिथिलानरेश महात्मा जनककी पुत्री और अवधनरेश श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी रानी हूँ। मेरा नाम सीता है ॥ ३ ॥

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ४ ॥

'विवाहके बाद बारह वर्षोंतक इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथके महलमें रहकर मैंने अपने पतिके साथ सभी मानवोचित भोग भोगे हैं। मैं वहाँ सदा मनोवाञ्छित सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न रही हूँ ॥ ४ ॥

तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः ॥ ५ ॥

'तेरहवें वर्षके प्रारम्भमें सामर्थ्यशाली महाराज दशरथने राजमन्त्रियोंसे मिलकर सलाह की और श्रीरामचन्द्रजीका युवराजपदपर अभिषेक करनेका निश्चय किया ॥ ५ ॥

तस्मिन् सम्भ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने।
कैकेयी नाम भर्तारं ममार्या याचते वरम् ॥ ६ ॥

'जब श्रीरघुनाथजीके राज्याभिषेककी सामग्री जुटायी जाने लगी, उस समय मेरी सास कैकेयीने अपने पतिसे वर माँगा ॥ ६ ॥

परिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे।
मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम् ॥ ७ ॥
द्वावयाचत भर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम्।

'कैकेयीने मेरे श्वशुरको पुण्यकी शपथ दिलाकर वचनबद्ध कर लिया, फिर अपने सत्यप्रतिज्ञ पति उन राजशिरोमणिसे दो वर माँगे—मेरे पतिके लिये वनवास और भरतके लिये राज्याभिषेक ॥ ७½ ॥

नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न पास्ये न कदाचन ॥ ८ ॥
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते।

'कैकेयी हठपूर्वक कहने लगीं—यदि आज श्रीरामका अभिषेक किया गया तो मैं न तो खाऊँगी, न पीऊँगी और न कभी सोऊँगी ही। यही मेरे जीवनका अन्त होगा।

इति ब्रुवाणां कैकेयीं श्वशुरो मे स पार्थिवः ॥ ९ ॥
अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याच्ञां चकार सा।

'ऐसी बात कहती हुई कैकेयीसे मेरे श्वशुर महाराज दशरथने यह याचना की कि 'तुम सब प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ ले लो; किंतु श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न न डालो।' किंतु कैकेयीने उनकी वह याचना सफल नहीं की ॥ ९½ ॥

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।

'उस समय मेरे महातेजस्वी पतिकी अवस्था पचीस सालसे ऊपरकी थी और मेरे जन्मकालसे लेकर वनगमनकालतक मेरी अवस्था वर्षगणनाके अनुसार अठारह सालकी हो गयी थी ॥ १०½ ॥

रामेति प्रथितो लोके सत्यवाञ्शीलवाञ्शुचिः ॥ ११ ॥
विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः।

'श्रीराम जगत्में सत्यवादी, सुशील और पवित्र रूपसे विख्यात हैं। उनके नेत्र बड़े-बड़े और भुजाएँ विशाल हैं। वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं ॥ ११½ ॥

कामार्तश्च महाराजः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥
कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत् ।

'उनके पिता महाराज दशरथने स्वयं कामपीड़ित होनेके कारण कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रीरामका अभिषेक नहीं किया ॥ १२½ ॥

अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥
कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच द्रुतं वचः ।

'श्रीरामचन्द्रजी जब अभिषेकके लिये पिताके समीप आये, तब कैकेयीने मेरे उन पतिदेवसे तुरंत यह बात कही ॥ १३½ ॥

तव पित्रा समाज्ञप्तं ममेदं शृणु राघव ॥ १४ ॥
भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम् ।
त्वया तु खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ १५ ॥
वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात् ।

'रघुनन्दन ! तुम्हारे पिताने जो आज्ञा दी है, इसे मेरे मुँहसे सुनो ! यह निष्कण्टक राज्य भरतको दिया जायगा, तुम्हें तो चौदह वर्षोंतक वनमें ही निवास करना होगा। काकुत्स्थ तुम वनको जाओ और पिताको असत्यके बन्धनसे छुड़ाओ ॥ १४-१५½ ॥

तथेत्युवाच तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥ १६ ॥
चकार तद्वचः श्रुत्वा भर्ता मम दृढव्रतः ।

'किसीसे भी भय न माननेवाले श्रीरामने कैकेयीकी वह बात सुनकर कहा—'बहुत अच्छा' । उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। मेरे स्वामी दृढ़तापूर्वक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेवाले हैं ॥ १६½ ॥

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥ १७ ॥
एतद् ब्राह्मण रामस्य व्रतं ध्रुतमनुत्तमम् ।

'श्रीराम केवल देते हैं, किसीसे कुछ लेते नहीं। वे सदा सत्य बोलते हैं, झूठ नहीं । ब्राह्मण ! यह श्रीरामचन्द्रजीका सर्वोत्तम व्रत है, जिसे उन्होंने धारण कर रखा है ॥ १७½ ॥

तस्य भ्राता तु वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १८ ॥
रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम ब्रह्मचारी दृढव्रतः ॥ १९ ॥

'श्रीरामके सौतेले भाई लक्ष्मण बड़े पराक्रमी हैं। समरभूमिमें शत्रुओंका संहार करनेवाले पुरुषसिंह लक्ष्मण श्रीरामके सहायक हैं, बन्धु हैं, ब्रह्मचारी और उत्तम व्रतका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाले हैं ॥ १८-१९ ॥

अन्वगच्छद् धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह ।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥
प्रविष्टो दण्डकारण्यं धर्मनित्यो दृढव्रतः ।

'श्रीरघुनाथजी मेरे साथ जब वनमें आने लगे, तब लक्ष्मण भी हाथमें धनुष लेकर उनके पीछे हो लिये। इस प्रकार मेरे और अपने छोटे भाईके साथ श्रीराम इस दण्डकारण्यमें आये हैं। वे दृढ़प्रतिज्ञ तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं और सिरपर जटा धारण किये तपस्वीके वेशमें यहाँ रहते हैं ॥ २०½ ॥

ते वयं प्रच्युता राज्यात् कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥
विचराम द्विजश्रेष्ठ वनं गम्भीरमोजसा ।
समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।

'द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार हम तीनों कैकेयीके कारण राज्यसे वञ्चित हो इस गम्भीर वनमें अपने ही बलके भरोसे विचरते हैं। आप यहाँ ठहर सकें तो दो घड़ी विश्राम करें। अभी मेरे स्वामी प्रचुरमात्रामें जंगली फल-मूल लेकर आते होंगे ॥ २१-२२½ ॥

रुरून् गोधान् वराहांश्च हत्वाऽऽदायामिषं बहु ॥ २३ ॥
स त्वं नाम च गोत्रं च कुलमाचक्ष्व तत्त्वतः ।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

'रुरु, गोह और जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंका वध करके तपस्वी जनोंके उपभोगमें आने योग्य बहुत-सा फल-मूल लेकर वे अभी आयँगे (उस समय आपका विशेष सत्कार होगा) । ब्रह्मन् ! अब आप भी अपने नाम-गोत्र और कुलका ठीक-ठीक परिचय दीजिये। आप अकेले इस दण्डकारण्यमें किस लिये विचरते हैं ?' ॥ २३-२४ ॥

एवं ब्रुवत्यां सीतायां रामपत्न्यां महाबलः ।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

'श्रीरामपत्नी सीताके इस प्रकार पूछनेपर महाबली राक्षसराज रावणने अत्यन्त कठोर शब्दोंमें उत्तर दिया— ॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरमानुषाः ।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

सीते ! जिसके नामसे देवता, असुर और मनुष्यों-सहित तीनों लोक थर्रा उठते हैं, मैं वही राक्षसोंका राजा रावण हूँ ॥ २६ ॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम् ।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥ २७ ॥

'अनिन्द्यसुन्दरि ! तुम्हारे अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान है, जिनपर रेशमी साड़ी शोभा पा रही है। तुम्हें देखकर अब मेरा मन अपनी स्त्रियोंकी ओर नहीं जाता है ॥ २७ ॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥ २८ ॥

'मैं इधर-उधरसे बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंको हर लाया हूँ। उन सबमें तुम मेरी पटरानी बनो। तुम्हारा भला हो ॥ २८ ॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।
सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा गिरिमूर्धनि ॥ २९ ॥

'मेरी राजधानीका नाम लङ्का है। वह महापुरी समुद्रके बीचमें एक पर्वतके शिखरपर बसी हुई है। समुद्रने उसे चारों ओरसे घेर रखा है ॥ २९ ॥

तत्र सीते मया सार्धं वनेषु विचरिष्यसि ।
न चास्य वनवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि ॥ ३० ॥

'सीते! वहाँ रहकर तुम मेरे साथ नाना प्रकारके वनोंमें विचरण करोगी। भामिनि! फिर तुम्हारे मनमें इस वनवासकी इच्छा कभी नहीं होगी ॥ ३० ॥

पञ्च दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः ।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि ॥ ३१ ॥

'सीते! यदि तुम मेरी भार्या हो जाओगी तो सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित पाँच हजार दासियाँ सदा तुम्हारी सेवा किया करेंगी' ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।
प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम् ॥ ३२ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर निर्दोष अङ्गोंवाली जनकनन्दिनी सीता कुपित हो उठीं और राक्षसका तिरस्कार करके उसे यों उत्तर देने लगीं—॥ ३२ ॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता ॥ ३३ ॥

'मेरे पतिदेव भगवान् श्रीराम महान् पर्वतके समान अविचल हैं, इन्द्रके तुल्य पराक्रमी हैं और महासागरके समान प्रशान्त हैं, उन्हें कोई क्षुब्ध नहीं कर सकता। मैं तन-मन-प्राणसे उन्हींका अनुसरण करनेवाली तथा उन्हींकी अनुरागिणी हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।
सत्यसंधं महाभागमहं राममनुव्रता ॥ ३४ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, वट-वृक्षकी भाँति सबको अपनी छायामें आश्रय देनेवाले, सत्य-प्रतिज्ञ और महान् सौभाग्यशाली हैं। मैं उन्हींकी अनन्य अनुरागिणी हूँ ॥ ३४ ॥

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
नृसिंहं सिंहसंकाशमहं राममनुव्रता ॥ ३५ ॥

'उनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी और छाती चौड़ी है। वे सिंहके समान पाँव बढ़ाते हुए बड़े गर्वके साथ चलते हैं और सिंहके ही समान पराक्रमी हैं। मैं उन पुरुषसिंह श्रीराममें ही अनन्य भक्ति रखनेवाली हूँ ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं जितेन्द्रियम् ।
पृथुकीर्तिं महाबाहुमहं राममनुव्रता ॥ ३६ ॥

'राजकुमार श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है। वे जितेन्द्रिय हैं और उनका यश महान् है। उन महाबाहु श्रीराममें ही दृढ़तापूर्वक मेरा मन लगा हुआ है ॥ ३६ ॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥ ३७ ॥

'पापी निशाचर! तू सियार है और मैं सिंहिनी हूँ। मैं तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। क्या तू यहाँ मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है। अरे! जैसे सूर्यकी प्रभापर कोई हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार तू मुझे छू भी नहीं सकता ॥ ३७ ॥

पादपान् काञ्चनान् नूनं बहून् पश्यसि मन्दभाक् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि राक्षस ॥ ३८ ॥

'अभागे राक्षस! तेरा इतना साहस! तू श्रीरघुनाथजी-की प्यारी पत्नीका अपहरण करना चाहता है! निश्चय ही तुझे बहुत-से सोनेके वृक्ष दिखायी देने लगे हैं—अब तू मौतके निकट जा पहुँचा है ॥ ३८ ॥

क्षुधितस्य च सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः ।
आशीविषस्य वदनाद् दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥ ३९ ॥
मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि ।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छसि ॥ ४० ॥
अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वया लेढि च क्षुरम् ।
राघवस्य प्रियां भार्यामधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ४१ ॥

'तू श्रीरामकी प्यारी पत्नीको हस्तगत करना चाहता है। जान पड़ता है, अत्यन्त वेगशाली मृगवैरी भूखे सिंह और विषधर सर्पके मुखसे उनके दाँत तोड़ लेना चाहता है, पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको हाथसे उठाकर ले जानेकी इच्छा करता है, कालकूट विषको पीकर कुशलपूर्वक लौट जानेकी अभिलाषा रखता है तथा आँखको सूईसे पोंछता और छुरेको जीभसे चाटता है ॥ ३९—४१ ॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥ ४२ ॥
यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।

'क्या तू अपने गलेमें पत्थर बाँधकर समुद्रको पार करना चाहता है? सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको अपने दोनों हाथोंसे हर लानेकी इच्छा करता है? जो श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नीपर बलात्कार करनेको उतारू हुआ है ॥ ४२½ ॥

अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥
कल्याणवृत्तां यो भार्यां रामस्याहर्तुमिच्छसि ।

'यदि तू कल्याणमय आचारका पालन करनेवाली श्रीरामकी भार्याका अपहरण करना चाहता है तो अवश्य ही जलती हुई आगको देखकर भी तू उसे कपड़ेमें बाँधकर ले जानेकी इच्छा करता है ॥ ४३½ ॥

अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ४४ ॥

'अरे ! तू श्रीरामकी भार्याको, जो सर्वथा उन्हींके योग्य है, हस्तगत करना चाहता है, तो निश्चय ही लोहमय मुखवाले शूलोंकी नोकपर चलनेकी अभिलाषा करता है ॥ ४४ ॥

यदन्तरं सिंहसृगालयोर्वने
यदन्तरं स्यन्दनिकासमुद्रयोः ।
सुराग्र्यसौवीरकयोर्यदन्तरं
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४५ ॥

'वनमें रहनेवाले सिंह और सियारमें, समुद्र और छोटी नदीमें तथा अमृत और काँजीमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराममें और तुझमें है ॥ ४५ ॥

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्कयोः ।
यदन्तरं हस्तिबिडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

'सोने और सीसेमें, चन्दनमिश्रित जल और कीचड़में तथा वनमें रहनेवाले हाथी और बिलावमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
र्यदन्तरं मद्गुमयूरयोरपि ।
यदन्तरं हंसकगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

'गरुड़ और कौएमें, मोर और जलकाकमें तथा वनवासी हंस और गीधमें जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथ-नन्दन श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन् सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
आज्यं यथा मक्षिकयावगीर्णम् ॥ ४८ ॥

'जिस समय सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके समान प्रभावशाली श्रीरामचन्द्रजी हाथमें धनुष और बाण लेकर खड़े हो जायँगे, उस समय तू मेरा अपहरण करके भी मुझे पचा नहीं सकेगा, ठीक उसी तरह जैसे मक्खी घी पीकर उसे पचा नहीं सकती' ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुदुष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पाद् व्यथिता बभूव
वातोद्धता सा कदलीव तन्वी ॥ ४९ ॥

सीताके मनमें कोई दुर्भाव नहीं था तो भी उस राक्षससे यह अत्यन्त दुःखजनक बात कहकर सीता रोषसे काँपने लगीं । शरीरके कम्पनसे कृशाङ्गी सीता हवासे हिलायी गयी कदलीके समान व्यथित हो उठीं ॥ ४९ ॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म चात्मनः
समाचचक्षे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

सीताको काँपती देख मौतके समान प्रभाव रखनेवाला रावण उनके मनमें भय उत्पन्न करनेके लिये अपने कुल, बल, नाम और कर्मका परिचय देने लगा ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

रावणके द्वारा अपने पराक्रमका वर्णन और सीताद्वारा उसको कड़ी फटकार

एवं ब्रुवत्यां सीतायां संरब्धः परुषं वचः ।
ललाटे भ्रुकुटिं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर रावण रोषमें भर गया और ललाटमें भौंहें टेढ़ी करके वह कठोर वाणीमें बोला— ॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्नो वरवर्णिनि ।
रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

'सुन्दरी ! मैं कुबेरका सौतेला भाई परम प्रतापी दशग्रीव रावण हूँ । तुम्हारा भला हो ॥ २ ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।
विद्रवन्ति सदा भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥
येन वैश्रवणो भ्राता वैमात्रः कारणान्तरे ।
द्वन्द्वमासादितः क्रोधाद् रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

'जैसे प्रजा मौतके भयसे सदा डरती रहती है, उसी प्रकार देवता, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और नाग सदा जिससे भयभीत होकर भागते हैं, जिसने किसी कारणवश अपने सौतेले भाई कुबेरके साथ द्वन्द्वयुद्ध किया

और क्रोधपूर्वक पराक्रम करके रणभूमिमें उन्हें परास्त कर दिया था, वही रावण मैं हूँ ॥ ३-४ ॥

मद्भयार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत्।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः॥ ५॥

'मेरे ही भयसे पीड़ित हो नरवाहन कुबेरने अपनी समृद्धिशालिनी पुरी लङ्काका परित्याग करके इस समय पर्वत-श्रेष्ठ कैलासकी शरण ली है ॥ ५ ॥

यस्य तत् पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्।
वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्॥ ६॥

'भद्रे! उनका सुप्रसिद्ध पुष्पक नामक सुन्दर विमान, जो इच्छाके अनुसार चलनेवाला है, मैंने पराक्रमसे जीत लिया है और उसी विमानके द्वारा मैं आकाशमें विचरता हूँ ॥ ६ ॥

मम संजातरोषस्य मुखं दृष्ट्वैव मैथिलि।
विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः॥ ७॥

'मिथिलेशकुमारी! जब मुझे रोष चढ़ता है, उस समय इन्द्र आदि सब देवता मेरा मुँह देखकर ही भयसे थर्रा उठते हैं और इधर-उधर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः।
तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात् सम्पद्यते दिवि॥ ८॥

'जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ हवा डरकर धीरे-धीरे चलने लगती है। मेरे भयसे आकाशमें प्रचण्ड किरणोंवाला सूर्य भी चन्द्रमाके समान शीतल हो जाता है ॥ ८ ॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः।
भवन्ति यत्र तत्राहं तिष्ठामि च चरामि च॥ ९॥

'जिस स्थानपर मैं ठहरता या भ्रमण करता हूँ, वहाँ वृक्षोंके पत्तेतक नहीं हिलते और नदियोंका पानी स्थिर हो जाता है ॥ ९ ॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा।
सम्पूर्णा राक्षसैर्घोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती॥ १०॥

'समुद्रके उस पार लङ्का नामक मेरी सुन्दर पुरी है, जो इन्द्रकी अमरावतीके समान मनोहर तथा घोर राक्षसोंसे भरी हुई है ॥ १० ॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजिता।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैदूर्यमयतोरणा॥ ११॥

'उसके चारों ओर बनी हुई सफेद चहारदिवारी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती है। लङ्कापुरीके महलोंके दालान, फर्श आदि सोनेके बने हैं और उसके बाहरी दरवाजे वैदूर्यमय हैं। वह पुरी बहुत ही रमणीय है ॥ ११ ॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधा तूर्यनादविनादिता।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः संकुलोद्यानभूषिता॥ १२॥

'हाथी, घोड़े और रथोंसे वहाँकी सड़कें भरी रहती हैं। भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनि गूँजा करती है। सब प्रकारके मनोवाञ्छित फल देनेवाले वृक्षोंसे लङ्कापुरी व्याप्त है। नाना प्रकारके उद्यान उसकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ १२ ॥

तत्र त्वं वस हे सीते राजपुत्रि मया सह।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनि॥ १३॥

'राजकुमारी सीते! तुम मेरे साथ उस पुरीमें चलकर निवास करो। मनस्विनि! वहाँ रहकर तुम मानवी स्त्रियोंको भूल जाओगी ॥ १३ ॥

भुञ्जाना मानुषान् भोगान् दिव्यांश्च वरवर्णिनि।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः॥ १४॥

'सुन्दरी! लङ्कामें दिव्य और मानुष-भोगोंका उपभोग करती हुई तुम उस मनुष्य रामका कभी स्मरण नहीं करोगी, जिसकी आयु अब समाप्त हो चली है ॥ १४ ॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं राज्ये दशरथो नृपः।
मन्दवीर्यस्ततो ज्येष्ठः सुतः प्रस्थापितो वनम्॥ १५॥
तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन तपस्विना॥ १६॥

'विशाललोचने! राजा दशरथने अपने प्यारे पुत्रको राज्यपर बिठाकर जिस अल्पपराक्रमी ज्येष्ठ पुत्रको वनमें भेज दिया, उस राज्यभ्रष्ट, बुद्धिहीन एवं तपस्यामें लगे हुए तापस रामको लेकर क्या करोगी? ॥ १५-१६ ॥

रक्ष राक्षसभर्तारं कामय स्वयमागतम्।
न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि॥ १७॥

'यह राक्षसोंका स्वामी स्वयं तुम्हारे द्वारपर आया है, तुम इसकी रक्षा करो, इसे मनसे चाहो। यह कामदेवके बाणोंसे पीड़ित है। इसे ठुकराना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु पश्चात्तापं गमिष्यसि।
चरणेनाभिहत्येव पुरूरवसमुर्वशी॥ १८॥

'भीरु! मुझे ठुकराकर तुम उसी तरह पश्चात्ताप करोगी, जैसे पुरूरवाको लात मारकर उर्वशी पछतायी थी ॥ १८ ॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः।
तव भाग्येन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि॥ १९॥

'सुन्दरी! युद्धमें मनुष्यजातीय राम मेरी एक अङ्गुलिके बराबर भी नहीं है। तुम्हारे भाग्यसे मैं आ गया हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो' ॥ १९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपम्॥ २०॥

रावणके ऐसा कहनेपर विदेहकुमारी सीताके नेत्र

क्रोधसे लाल हो गये। उन्होंने उस एकान्त स्थानमें राक्षसराज रावणसे कठोर वाणीमें कहा—॥ २० ॥

कथं वैश्रवणं देवं सर्वदेवनमस्कृतम्।
भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि॥ २१॥

'अरे! भगवान् कुबेर तो सम्पूर्ण देवताओंके वन्दनीय हैं। तू उन्हें अपना भाई बताकर ऐसा पापकर्म कैसे करना चाहता है?॥ २१॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः॥ २२॥

'रावण! जिनका तुझ-जैसा क्रूर, दुर्बुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है, वे सब राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायँगे॥ २२॥

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम्।
नहि रामस्य भार्यां मामानीय स्वस्तिमान् भवेत्॥ २३॥

'इन्द्रकी पत्नी शचीका अपहरण करके सम्भव है कोई जीवित रह जाय; किंतु रामपत्नी मुझ सीताका हरण करके कोई कुशलसे नहीं रह सकता॥ २३॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य पश्चा-
च्छचीं प्रधृष्याप्रतिरूपरूपाम्।
न मादृशीं राक्षस धर्षयित्वा
पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः॥ २४॥

'राक्षस! वज्रधारी इन्द्रकी अनुपम रूपवती भार्या शचीका तिरस्कार करके सम्भव है कोई उसके बाद भी चिरकालतक जीवित रह जाय; परंतु मेरी-जैसी स्त्रीका अपमान करके तू अमृत पी ले तो भी तुझे जीते-जी छुटकारा नहीं मिल सकता'॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४८॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

रावणद्वारा सीताका अपहरण, सीताका विलाप और उनके द्वारा जटायुका दर्शन

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान्।
हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद् वपुः॥ १॥

सीताके इस वचनको सुनकर प्रतापी दशमुख रावणने अपने हाथपर हाथ मारकर शरीरको बहुत बड़ा बना लिया॥ १॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे वाक्यकोविदः।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ॥ २॥

वह बातचीत करनेकी कला जानता था। उसने मिथिलेशकुमारी सीतासे फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'मेरी समझमें तुम पागल हो गयी हो, इसीलिये तुमने मेरे बल और पराक्रमकी बातें अनसुनी कर दी हैं॥ २॥

उद्वहेयं भुजाभ्यां तु मेदिनीमम्बरे स्थितः।
आपिबेयं समुद्रं च मृत्युं हन्यां रणे स्थितः॥ ३॥

'अरी! मैं आकाशमें खड़ा हो इन दोनों भुजाओंसे ही सारी पृथ्वीको उठा ले जा सकता हूँ। समुद्रको पी जा सकता हूँ और युद्धमें स्थित हो मौतको भी मार सकता हूँ॥ ३॥

अर्कं तुद्यां शरैस्तीक्ष्णैर्विभिन्द्यां हि महीतलम्।
कामरूपेण उन्मत्ते पश्य मां कामरूपिणम्॥ ४॥

'काम तथा रूपसे उन्मत्त रहनेवाली नारी! यदि चाहूँ तो अपने तीखे बाणोंसे सूर्यको भी व्यथित कर दूँ और इस भूतलको भी विदीर्ण कर डालूँ। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हूँ। तुम मेरी ओर देखो'॥ ४॥

एवमुक्तवतस्तस्य रावणस्य शिखिप्रभे।
क्रुद्धस्य हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः॥ ५॥

ऐसा कहते-कहते क्रोधसे भरे हुए रावणकी आँखें, जिनके प्रान्तभाग काले थे, जलती आगके समान लाल हो गयीं॥ ५॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य तीक्ष्णरूपं स रावणः।
स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः॥ ६॥

कुबेरके छोटे भाई रावणने तत्काल अपने सौम्य रूपको त्यागकर तीखा एवं कालके समान विकराल अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया॥ ६॥

संरक्तनयनः श्रीमांस्तप्तकाञ्चनभूषणः।
क्रोधेन महताविष्टो नीलजीमूतसंनिभः॥ ७॥

उस समय श्रीमान् रावणके सभी नेत्र लाल हो रहे थे। वह पक्के सोनेके आभूषणोंसे अलंकृत था और महान् क्रोधसे आविष्ट हो नीलमेघके समान काला दिखायी देने लगा॥ ७॥

दशास्यो विंशतिभुजो बभूव क्षणदाचरः।
स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत्॥ ८॥

वह विशालकाय निशाचर परिव्राजकके उस छद्मवेशको त्यागकर दस मुखों और बीस भुजाओंसे संयुक्त हो गया॥ ८॥

प्रतिपेदे स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।
रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ॥ ९ ॥

उस समय राक्षसराज रावणने अपने सहज रूपको ग्रहण कर लिया और लाल रंगके वस्त्र पहनकर वह स्त्री-रत्न सीताकी ओर देखता हुआ खड़ा हो गया ॥ ९ ॥

स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ।
वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

काले केशवाली मैथिली वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सूर्यकी प्रभा-सी जान पड़ती थीं । रावणने उनसे कहा—॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि ।
मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः ॥ ११ ॥

'वरारोहे ! यदि तुम तीनों लोकोंमें विख्यात पुरुषको अपना पति बनाना चाहती हो तो मेरा आश्रय लो । मैं ही तुम्हारे योग्य पति हूँ ॥ ११ ॥

मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः पतिस्तव ।
नैव चाहं क्वचिद् भद्रे करिष्ये तव विप्रियम् ॥ १२ ॥

'भद्रे ! मुझे सुदीर्घकालके लिये स्वीकार करो । मैं तुम्हारे लिये स्पृहणीय एवं प्रशंसनीय पति होऊँगा तथा कभी तुम्हारे मनके प्रतिकूल कोई बर्ताव नहीं करूँगा ॥ १२ ॥

त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम् ।
राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ॥ १३ ॥
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि ।

'मनुष्य रामके विषयमें जो तुम्हारा अनुराग है, उसे त्याग दो और मुझसे स्नेह करो । अपनेको पण्डित (बुद्धिमती) माननेवाली मूढ़ नारी ! जो राज्यसे भ्रष्ट है, जिसका मनोरथ सफल नहीं हुआ तथा जिसकी आयु सीमित है, उस राममें किन गुणोंके कारण तुम अनुरक्त हो ? ॥ १३½ ॥

यः स्त्रियो वचनाद् राज्यं विहाय ससुहृज्जनम् ॥ १४ ॥
अस्मिन् व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः ।

'जो एक स्त्रीके कहनेसे सुहृदोंसहित सारे राज्यका त्याग करके इस हिंसक जन्तुओंसे सेवित वनमें निवास करता है' उसकी बुद्धि कैसी खोटी है ! (वह सर्वथा मूढ़ है)' ॥ १४½ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं वाक्यं प्रियार्हां प्रियवादिनीम् ॥
अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः ।
जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ॥ १६ ॥

जो प्रिय वचन सुननेके योग्य और सबसे प्रिय वचन बोलनेवाली थी, उस मिथिलेशकुमारी सीतासे ऐसा अप्रिय वचन कहकर कामसे मोहित हुए उस अत्यन्त दुष्टात्मा राक्षस रावणने निकट जाकर (माताके समान आदरणीया) सीताको पकड़ लिया, मानो बुधने आकाशमें अपनी माता रोहिणीको पकड़नेका दुस्साहस किया हो* ॥ १५-१६ ॥

वामेन सीतां पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः ।
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना ॥ १७ ॥

उसने बायें हाथसे कमलनयनी सीताके केशोंसहित मस्तकको पकड़ा तथा दाहिना हाथ उनकी दोनों जाँघोंके नीचे लगाकर उसके द्वारा उन्हें उठा लिया ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ।
प्राद्रवन् मृत्युसंकाशं भयार्ता वनदेवताः ॥ १८ ॥

उस समय तीखी दाढ़ों और विशाल भुजाओंसे युक्त पर्वतशिखरके समान प्रतीत होनेवाले उस कालके समान विकराल राक्षसको देखकर वनके समस्त देवता भयभीत होकर भाग गये ॥ १८ ॥

स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः ।
प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें गधोंसे जुता हुआ और गधोंके समान ही शब्द करनेवाला रावणका वह विशाल सुवर्णमय मायानिर्मित दिव्य रथ वहाँ दिखायी दिया ॥ १९ ॥

ततस्तां परुषैर्वाक्यैरभितर्ज्य महास्वनः ।
अंकेनादाय वैदेहीं रथमारोपयत् तदा ॥ २० ॥

रथके प्रकट होते ही जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले रावणने कठोर वचनोंद्वारा विदेहनन्दिनी सीताको डाँटा और पूर्वोक्त रूपसे गोदमें उठाकर तत्काल रथपर बिठा दिया ॥ २० ॥

सा गृहीतातिचुक्रोश रावणेन यशस्विनी ।
रामेति सीता दुःखार्ता रामं दूरं गतं वने ॥ २१ ॥

रावणके द्वारा पकड़ी जानेपर यशस्विनी सीता दुःखसे व्याकुल हो गयीं और वनमें दूर गये हुए श्रीरामचन्द्रजीको 'हे राम !' कहकर जोर-जोरसे पुकारने लगीं ॥ २१ ॥

तामकामां स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव ।
विचेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः ॥ २२ ॥

सीताके मनमें रावणकी कामना नहीं थी—वे उसकी

---

* यहाँ अमूतोपमालंकार है । बुध चन्द्रमाके पुत्र हैं और रोहिणी चन्द्रमाकी पत्नी । बुधने न तो कभी रोहिणीको पकड़ा है और न वे ऐसा कर ही सकते हैं । यहाँ यह दिखाया गया है कि यदि कदाचित् बुध कामवश अपनी माता रोहिणीको पकड़ लें तो वह जैसा घोर पाप होगा, वही पाप रावणने सीताको पकड़नेके कारण किया था ।

ओरसे सर्वथा विरक्त थीं और उसकी कैदसे अपनेको छुड़ानेके लिये चोट खायी हुई नागिनकी तरह उस रथपर छटपटा रही थीं। उसी अवस्थामें कामपीड़ित राक्षस उन्हें लेकर आकाशमें उड़ चला॥ २२॥

ततः सा राक्षसेन्द्रेण ह्रियमाणा विहायसा।
भृशं चुक्रोश मत्तेव भ्रान्तचित्ता यथातुरा॥ २३॥

राक्षसराज जब सीताको हरकर आकाशमार्गसे ले जाने लगा, उस समय उनका चित्त भ्रमित हो उठा। वे पगली-सी हो गयीं और दुःखसे आतुर-सी होकर जोर-जोरसे विलाप करने लगीं—॥ २३॥

हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक।
ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा॥ २४॥

'हा महाबाहु लक्ष्मण! तुम गुरुजनोंके मनको प्रसन्न करनेवाले हो। इस समय इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला राक्षस मुझे हरकर लिये जाता है, किंतु तुम्हें इसका पता नहीं है॥ २४॥

जीवितं सुखमर्थं च धर्महेतोः परित्यजन्।
ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि॥ २५॥

'हा रघुनन्दन! आपने धर्मके लिये प्राणोंका मोह, शरीरका सुख तथा राज्य-वैभव सब कुछ छोड़ दिया है। यह राक्षस मुझे अधर्मपूर्वक हरकर लिये जा रहा है, परंतु आप नहीं देखते हैं॥ २५॥

ननु नामाविनीतानां विनेतासि परंतप।
कथमेवंविधं पापं न त्वं शाधि हि रावणम्॥ २६॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले आर्यपुत्र! आप तो कुमार्गपर चलनेवाले उद्दण्ड पुरुषोंको दण्ड देकर उन्हें राहपर लानेवाले हैं, फिर ऐसे पापी रावणको क्यों नहीं दण्ड देते हैं॥ २६॥

न तु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।
कालोऽप्यङ्गीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये॥ २७॥

'उद्दण्ड पुरुषके उद्दण्डतापूर्ण कर्मका फल तत्काल मिलता नहीं दिखायी देता है; क्योंकि इसमें काल भी सहकारी कारण होता है, जैसे कि खेतीके पकनेके लिये तदनुकूल समयकी अपेक्षा होती है॥ २७॥

त्वं कर्म कृतवानेतत् कालोपहतचेतन।
जीवितान्तकरं घोरं रामाद् व्यसनमाप्नुहि॥ २८॥

'रावण! तेरे सिरपर काल नाच रहा है। उसीने तेरी विचारशक्ति नष्ट कर दी है, इसीलिये तूने ऐसा पापकर्म किया है। तुझे श्रीरामसे वह भयंकर संकट प्राप्त हो, जो तेरे प्राणोंका अन्त कर डाले॥ २८॥

हन्तेदानीं सकामा तु कैकेयी बान्धवैः सह।
ह्रियेयं धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः॥ २९॥

'हाय! इस समय कैकेयी अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सफलमनोरथ हो गयी; क्योंकि धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले यशस्वी श्रीरामकी धर्मपत्नी होकर भी मैं एक राक्षसद्वारा हरी जा रही हूँ॥ २९॥

आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारांश्च पुष्पितान्।
क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः॥ ३०॥

'मैं जनस्थानमें खिले हुए कनेर वृक्षोंसे प्रार्थना करती हूँ, तुमलोग शीघ्र ही श्रीरामसे कहना कि सीताको रावण हर ले जा रहा है॥ ३०॥

हंससारससंघुष्टां वन्दे गोदावरीं नदीम्।
क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः॥ ३१॥

'हंसों और सारसोंके कलरवोंसे मुखरित हुई गोदावरी नदीको मैं प्रणाम करती हूँ। माँ! तुम श्रीरामसे शीघ्र ही कह देना, सीताको रावण हर ले जा रहा है॥ ३१॥

दैवतानि च यान्यस्मिन् वने विविधपादपे।
नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम्॥ ३२॥

'इस वनके विभिन्न वृक्षोंपर निवास करनेवाले जो-जो देवता हैं, उन सबको मैं नमस्कार करती हूँ। आप सब लोग शीघ्र ही मेरे स्वामीको सूचना दे दें कि आपकी स्त्रीको राक्षस हर ले गया॥ ३२॥

यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च।
सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानि वै॥ ३३॥
ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्।
विवशा ते हृता सीता रावणेनेति शंसत॥ ३४॥

'यहाँ पशु-पक्षी आदि जो कोई भी नाना प्रकारके प्राणी रहते हों, उन सबकी मैं शरण लेती हूँ। वे मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीसे कहें कि जो आपको प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय थी, वह सीता हरी गयी। आपकी सीताको असहाय अवस्थामें रावण हर ले गया॥ ३३-३४॥

विदित्वा तु महाबाहुरमुत्रापि महाबलः।
आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि॥ ३५॥

'महाबाहु श्रीराम बड़े बलवान् हैं। वे मुझे परलोकमें भी गयी हुई जान लें तो यमराजके द्वारा अपहृत होनेपर भी मुझको पराक्रमपूर्वक वहाँसे लौटा लायेंगे'॥ ३५॥

सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता।
वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शायतलोचना॥ ३६॥

उस समय अत्यन्त दुखी हो करुणाजनक बातें कहकर विलाप करती हुई विशाललोचना सीताने एक वृक्षपर बैठे हुए गृध्रराज जटायुको देखा॥ ३६॥

सा तमुद्वीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशंगता।

समाक्रन्दद् भयपरा दुःखोपहतया गिरा ॥ ३७ ॥

रावणके वशमें पड़ जानेके कारण सुन्दरी सीता अत्यन्त भयभीत हो रही थीं। जटायुको देखकर वे दुःखभरी वाणीमें करुणक्रन्दन करने लगीं—॥ ३७ ॥

जटायो पश्य मामार्य ह्रियमाणामनाथवत्।
अनेन राक्षसेन्द्रेणाकरुणं पापकर्मणा ॥ ३८ ॥

'आर्य जटायो ! देखिये, यह पापाचारी राक्षसराज अनाथकी भाँति मुझे निर्दयतापूर्वक हरकर लिये जा रहा है ॥ ३८ ॥

नैष वारयितुं शक्यस्त्वया क्रूरो निशाचरः।
सत्त्ववाञ्जितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः ॥ ३९ ॥

'परंतु आप इस क्रूर निशाचरको रोक नहीं सकते क्योंकि यह बलवान् है, अनेक युद्धोंमें विजय पानेके कारण इसका दुस्साहस बढ़ा हुआ है। इसके हाथोंमें हथियार हैं और इसके मनमें दुष्टता भी भरी हुई है ॥ ३९ ॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम।
लक्ष्मणाय च तत् सर्वमाख्यातव्यमशेषतः ॥ ४० ॥

'आर्य जटायो ! जिस प्रकार मेरा अपहरण हुआ है, यह सब समाचार आप श्रीराम और लक्ष्मणसे ज्यों-का-त्यों पूर्णरूपसे बता दीजियेगा' ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

जटायुका रावणको सीताहरणके दुष्कर्मसे निवृत्त होनेके लिये समझाना और अन्तमें युद्धके लिये ललकारना

तं शब्दमवसुप्तस्तु जटायुरथ शुश्रुवे।
निरैक्षद् रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च ददर्श सः ॥ १ ॥

जटायु उस समय सो रहे थे। उसी अवस्थामें उन्होंने सीताकी वह करुण पुकार सुनी। सुनते ही तुरंत आँख खोलकर उन्होंने विदेहनन्दिनी सीता तथा रावणको देखा ॥ १ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः।
वनस्पतिगतः श्रीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ॥ २ ॥

पक्षियोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् जटायुका शरीर पर्वत-शिखरके समान ऊँचा था और उनकी चोंच बड़ी ही तीखी थी। वे पेड़पर बैठे-ही-बैठे रावणको लक्ष्य करके यह शुभ वचन बोले—॥ २ ॥

दशग्रीव स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रयः।
भ्रातस्त्वं निन्दितं कर्म कर्तुं नार्हसि साम्प्रतम् ॥ ३ ॥
जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।

'दशमुख रावण ! मैं प्राचीन (सनातन) धर्ममें स्थित, सत्यप्रतिज्ञ और महाबलवान् गृध्रराज हूँ। मेरा नाम जटायु है। भैया ! इस समय मेरे सामने तुम्हें ऐसा निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये ॥ ३½ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ॥ ४ ॥
लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः।

'दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, इन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी तथा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहनेवाले हैं ॥ ४½ ॥

तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ॥ ५ ॥
सीता नाम वरारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि।

'ये उन्हीं जगदीश्वर श्रीरामकी यशस्विनी धर्मपत्नी हैं। इन सुन्दर शरीरवाली देवीका नाम सीता है, जिन्हें तुम हरकर ले जाना चाहते हो ॥ ५½ ॥

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान् परामृशेत् ॥ ६ ॥
रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबल।
निवर्तय गतिं नीचां परदाराभिमर्शनात् ॥ ७ ॥

'अपने धर्ममें स्थित रहनेवाला कोई भी राजा भला परायी स्त्रीका स्पर्श कैसे कर सकता है ! महाबली रावण ! राजाओंकी स्त्रियोंकी तो सभीको विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये। परायी स्त्रीके स्पर्शसे जो नीच गति प्राप्त होनेवाली है, उसे अपने आपसे दूर हटा दो ॥ ६-७ ॥

न तत् समाचरेद् धीरो यत् परोऽस्य विगर्हयेत्।
यथाऽऽत्मनस्तथान्येषां दारा रक्ष्या विमर्शनात् ॥ ८ ॥

'धीर (बुद्धिमान्) वह कर्म न करे जिसकी दूसरे लोग निन्दा करें। जैसे पराये पुरुषोंके स्पर्शसे अपनी स्त्रीकी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरोंकी स्त्रियोंकी भी रक्षा करनी चाहिये ॥ ८ ॥

अर्थं वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्।
व्यवस्यन्त्यनु राजानं धर्मं पौलस्त्यनन्दन ॥ ९ ॥

'पुलस्त्यकुलनन्दन ! जिनकी शास्त्रोंमें चर्चा नहीं है ऐसे धर्म, अर्थ अथवा कामका भी श्रेष्ठ पुरुष केवल राजाकी देखा-देखी आचरण करने लगते हैं (अतः राजाको अनुचित या अशास्त्रीय कर्ममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये) ॥ ९ ॥

राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ।
धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ॥ १० ॥

'राजा धर्म और कामका प्रवर्तक तथा द्रव्योंकी उत्तम निधि है, अतः धर्म, सदाचार अथवा पाप—इनकी प्रवृत्तिका मूलकारण राजा ही है ॥ १० ॥

पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसां वर ।
ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृती ॥ ११ ॥

'राक्षसराज ! जब तुम्हारा स्वभाव ऐसा पापपूर्ण है और तुम इतने चपल हो, तब पापीको देवताओंके विमानकी भाँति तुम्हें यह ऐश्वर्य कैसे प्राप्त हो गया ? ॥ ११ ॥

कामस्वभावो यः सोऽसौ न शक्यस्तं प्रमार्जितुम् ।
नहि दुष्टात्मनामार्यमावसत्यालये चिरम् ॥ १२ ॥

'जिसके स्वभावमें कामकी प्रधानता है, उसके उस स्वभावका परिमार्जन नहीं किया जा सकता; क्योंकि दुष्टात्माओंके घरमें दीर्घकालके बाद भी पुण्यका आवास नहीं होता ॥ १२ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः ।
नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि ॥ १३ ॥

जब महाबली धर्मात्मा श्रीराम तुम्हारे राज्य अथवा नगरमें कोई अपराध नहीं करते हैं, तब तुम उनका अपराध कैसे कर रहे हो ? ॥ १३ ॥

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १४ ॥
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ।
यस्य त्वं लोकनाथस्य हृत्वा भार्यां गमिष्यसि ॥ १५ ॥

'यदि पहले शूर्पणखाका बदला लेनेके लिये चढ़कर आये हुए अत्याचारी खरका अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामने वध किया तो तुम्हीं ठीक-ठीक बताओ कि इसमें श्रीरामका क्या अपराध है, जिससे तुम उन जगदीश्वरकी पत्नीका हर ले जाना चाहते हो ? ॥ १४-१५ ॥

क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा ।
दहेद् दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ॥ १६ ॥

'रावण ! अब शीघ्र ही विदेहकुमारी सीताको छोड़ दो, जिससे श्रीरामचन्द्रजी अपनी अग्निके समान भयंकर दृष्टिसे तुम्हें जलाकर भस्म न कर डालें। जैसे इन्द्रका वज्र वृत्रासुरका विनाश कर डाला था, उसी प्रकार श्रीरामकी रोषपूर्ण दृष्टि दग्ध कर डालेगी ॥ १६ ॥

सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे ।
ग्रीवायां प्रतिमुक्तं च कालपाशं न पश्यसि ॥ १७ ॥

'तुमने अपने कपड़ेमें विषधर सर्पको बाँध लिया है, फिर भी इस बातको समझ नहीं पाते हो। तुमने अपने गलेमें मौतकी फाँसी डाल ली है, फिर भी यह तुम्हें सूझ नहीं रहा है ॥ १७ ॥

स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत् ।
तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम् ॥ १८ ॥

'सौम्य ! पुरुषको उतना ही बोझ उठाना चाहिये, जो उसे शिथिल न कर दे और वही अन्न भोजन करना चाहिये, जो पेटमें जाकर पच जाय, रोग न पैदा करे ॥ १८ ॥

यत् कृत्वा न भवेद् धर्मो न कीर्तिर्न यशो ध्रुवम् ।
शरीरस्य भवेत् खेदः कस्तत् कर्म समाचरेत् ॥ १९ ॥

'जो कार्य करनेसे न तो धर्म होता हो, न कीर्ति बढ़ती हो और न अक्षय यश ही प्राप्त होता हो, उलटे शरीरको खेद हो रहा हो, उस कर्मका अनुष्ठान कौन करेगा ? ॥ १९ ॥

षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम रावण ।
पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः ॥ २० ॥

'रावण ! बाप-दादोंसे प्राप्त इस पक्षियोंके राज्यका विधिवत् पालन करते हुए मुझे जन्मसे लेकर अबतक साठ हजार वर्ष बीत गये ॥ २० ॥

वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सरथः कवची शरी ।
न चाप्यादाय कुशली वैदेहीं मे गमिष्यसि ॥ २१ ॥

'अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ और तुम नवयुवक हो । (मेरे पास कोई युद्धका साधन नहीं है, किंतु) तुम्हारे पास धनुष, कवच, बाण तथा रथ सब कुछ है, फिर भी तुम सीताको लेकर कुशलपूर्वक नहीं जा सकोगे ॥ २१ ॥

न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ।
हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ॥ २२ ॥

'मेरे देखते-देखते तुम विदेहनन्दिनी सीताका बलपूर्वक अपहरण नहीं कर सकते; ठीक उसी तरह जैसे कोई न्यायसङ्गत हेतुओंसे सत्य सिद्ध हुई वैदिक श्रुतिको अपनी युक्तियोंके बलपर पलट नहीं सकता ॥ २२ ॥

युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ।
शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा ॥ २३ ॥

'रावण ! यदि शूरवीर हो तो युद्ध करो। मेरे सामने दो घड़ी ठहर जाओ; फिर जैसे पहले खर मारा गया था, उसी प्रकार तुम भी मेरेद्वारा मारे जाकर सदाके लिये सो जाओगे ॥ २३ ॥

असकृत्संयुगे येन निहता दैत्यदानवाः ।
न चिराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति ॥ २४ ॥

'जिन्होंने युद्धमें अनेक बार दैत्यों और दानवोंका वध किया है, वे चीरवस्त्रधारी भगवान् श्रीराम तुम्हारा भी शीघ्र ही युद्धभूमिमें विनाश करेंगे ॥ २४ ॥

किं नु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ।
क्षिप्रं त्वं नश्यसे नीच तयोर्भीतो न संशयः ॥ २५ ॥

इस समय मैं क्या कर सकता हूँ, वे दोनों राजकुमार

बहुत दूर चले गये हैं। नीच! (यदि मैं उन्हें बुलाने जाऊँ तो) तुम उन दोनोंसे भयभीत होकर शीघ्र ही भाग जाओगे (आँखोंसे ओझल हो जाओगे), इसमें संशय नहीं है ॥ २५ ॥

नहि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम्।
सीतां कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २६ ॥

'कमलके समान नेत्रोंवाली ये शुभलक्षणा सीता श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पटरानी हैं। इन्हें मेरे जीते-जी तुम नहीं ले जाने पाओगे ॥ २६ ॥

अवश्यं तु मया कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः।
जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च ॥ २७ ॥

'मुझे अपने प्राण देकर भी महात्मा श्रीराम तथा राजा दशरथका प्रिय कार्य अवश्य करना होगा ॥ २७ ॥

तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण।
वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात्।
युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर ॥ २८ ॥

'दशमुख रावण! ठहरो, ठहरो, केवल दो घड़ी रुक जाओ, फिर देखो, जैसे डंठलसे फल गिरता है, उसी प्रकार तुम्हें इस उत्तम रथसे नीचे गिराये देता हूँ। निशाचर! अपनी शक्तिके अनुसार युद्धमें मैं तुम्हारा पूरा आतिथ्य-सत्कार करूँगा—तुम्हें भलीभाँति भेंट-पूजा दूँगा' ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

जटायु तथा रावणका घोर युद्ध और रावणके द्वारा जटायुका वध

इत्युक्तः क्रोधताम्राक्षस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
राक्षसेन्द्रोऽभिदुद्राव पतगेन्द्रममर्षणः ॥ १ ॥

जटायुके ऐसा कहनेपर राक्षसराज रावण क्रोधसे आँखें लाल किये अमर्षसे भरकर उन पक्षिराजकी ओर दौड़ा। उस समय उसके कानोंमें तपाये हुए सोनेके कुण्डल झलमला रहे थे ॥ १ ॥

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन् महामृधे।
बभूव वाताद्धुतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥ २ ॥

उस महासमरमें उन दोनोंका एक दूसरेपर भयंकर प्रहार होने लगा, मानो आकाशमें वायुसे उड़ाये गये दो मेघखण्ड आपसमें टकरा गये हों ॥ २ ॥

तद् बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा।
सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ ३ ॥

उस समय गृध्र और राक्षसमें वह बड़ा अद्भुत युद्ध होने लगा, मानो दो पंखधारी माल्यवान्[1] पर्वत एक दूसरेसे भिड़ गये हों ॥ ३ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः।
अभ्यवर्षन्महाघोरैर्गृध्रराजं महाबलम् ॥ ४ ॥

रावणने महाबली गृध्रराज जटायुपर नालीक, नाराच तथा तीखे अग्रभागवाले विकर्णी नामक महाभयंकर अस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ४ ॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः।
जटायुः प्रतिजग्राह रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ५ ॥

पक्षिराज गृध्रजातीय जटायुने युद्धमें रावणके उन बाणसमूहों तथा अन्य अस्त्रोंका आघात सह लिया ॥ ५ ॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः।
चकार बहुधा गात्रे व्रणान् पतगसत्तमः ॥ ६ ॥

साथ ही उन महाबली पक्षिशिरोमणिने अपने तीखे नखोंवाले पंजोंसे मार-मारकर रावणके शरीरमें बहुत-से घाव कर दिये ॥ ६ ॥

अथ क्रोधाद् दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान्।
मृत्युदण्डनिभान् घोराञ्शत्रोर्निधनकाङ्क्षया ॥ ७ ॥

तब दशग्रीवने क्रोधमें भरकर अपने शत्रुको मार डालनेकी इच्छासे दस बाण हाथमें लिये, जो कालदण्डके समान भयंकर थे ॥ ७ ॥

स तैर्बाणैर्महावीर्यः पूर्णमुक्तैरजिह्मगैः।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥ ८ ॥

महापराक्रमी रावणने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये उन सीधे जानेवाले तीखे, पैने और भयंकर बाणोंद्वारा, जिनके मुखपर शल्य (काँटे) लगे हुए थे, गृध्रराजको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ८ ॥

स राक्षसरथे पश्यञ्जानकीं बाष्पलोचनाम्।
अचिन्तयित्वा बाणांस्तान् राक्षसं समभिद्रवत् ॥ ९ ॥

1. माल्यवान् पर्वत दो माने गये हैं, एक तो दण्डकारण्यमें किष्किन्धाके समीप है और दूसरा मेरुपर्वतके निकट बताया गया है। ये दोनों पर्वत परस्पर इतने दूर हैं कि इनमें संघर्षकी कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इसलिये 'सपक्ष' (पंखधारी) विशेषण दिया गया है। पाँखवाले पर्वत कदाचित् उड़कर एक दूसरेके समीप पहुँच सकते हैं।

जटायुने देखा, जनकनन्दिनी सीता राक्षसके रथपर बैठी हैं और नेत्रोंसे आँसू बहा रही हैं। उन्हें देखकर गृध्रराज अपने शरीरमें लगते हुए उन बाणोंकी परवा न करके सहसा उस राक्षसपर टूट पड़े ॥ ९ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम्।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्ज पतगोत्तमः ॥ १० ॥

महातेजस्वी पक्षिराज जटायुने मोती-मणियोंसे विभूषित, बाणसहित रावणके धनुषको अपने दोनों पैरोंसे मारकर तोड़ दिया ॥ १० ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्छितः।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥

फिर तो रावण क्रोधसे भर गया और दूसरा धनुष हाथमें लेकर उसने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ११ ॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः।
कुलायमभिसम्प्राप्तः पक्षिवच्च बभौ तदा ॥ १२ ॥

उस समय उस युद्धस्थलमें गृध्रराजके चारों ओर बाणोंका जाल-सा तन गया। वे उस समय घोंसलेमें बैठे हुए पक्षीके समान प्रतीत होने लगे ॥ १२ ॥

स तानि शरजालानि पक्षाभ्यां तु विधूय ह।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्जास्य महद् धनुः ॥ १३ ॥

तब महातेजस्वी जटायुने अपने दोनों पंखोंसे ही उन बाणोंको उड़ा दिया और पंजोंकी मारसे पुनः उसके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ १३ ॥

तच्चाग्निसदृशं दीप्तं रावणस्य शरावरम्।
पक्षाभ्यां च महातेजा व्यधुनोत् पतगेश्वरः ॥ १४ ॥

रावणका कवच अग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था। महातेजस्वी पक्षिराजने उसे भी पंखोंसे ही मारकर छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १४ ॥

काञ्चनोरश्छदान् दिव्यान् पिशाचवदनान् खरान्।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् उन बलवान् वीरने समराङ्गणमें पिशाचके-से मुखवाले उन वेगशाली गधोंको भी, जिनकी छातीपर सोनेके कवच बँधे हुए थे, मार डाला ॥ १५ ॥

अथ त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम्।
मणिसोपानचित्राङ्गं बभञ्ज च महारथम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर अग्निकी भाँति दीप्तिमान्, मणिमय सोपानसे विचित्र अङ्गोंवाले तथा इच्छानुसार चलनेवाले उसके त्रिवेणु[1]सम्पन्न विशाल रथको भी तोड़-फोड़ डाला ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥ १७ ॥
सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेन च महच्छिरः।
पुनर्व्यपहनच्छ्रीमान् पक्षिराजो महाबलः ॥ १८ ॥

इसके बाद पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित छत्र और चवँरको भी उन्हें धारण करनेवाले राक्षसोंके साथ ही वेगपूर्वक मार गिराया। फिर उन महाबली तेजस्वी पक्षिराजने बड़े वेगसे चोंच मारकर रावणके सारथिका विशाल मस्तक भी धड़से अलग कर दिया ॥ १७-१८ ॥

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः ॥ १९ ॥

इस प्रकार जब धनुष टूटा, रथ चौपट हुआ, घोड़े मारे गये और सारथि भी कालके गालमें चला गया, तब रावण सीताको गोदमें लिये-लिये पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम्।
साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन् ॥ २० ॥

रथ टूट जानेसे रावणको धरतीपर पड़ा देख सब प्राणी 'साधु-साधु' कहकर गृध्रराजकी प्रशंसा करने लगे ॥ २० ॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्ट्वा जरया पक्षियूथपम्।
उत्पपात पुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः ॥ २१ ॥

वृद्धावस्थाके कारण पक्षिराजको थका हुआ देख रावणको बड़ा हर्ष हुआ और वह मैथिलीको लिये हुए फिर आकाशमें उड़ चला ॥ २१ ॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के रावणं जनकात्मजाम्।
गच्छन्तं खड्गशेषं च प्रणष्टहतसाधनम् ॥ २२ ॥
गृध्रराजः समुत्पत्य रावणं समभिद्रवत्।
समावार्य महातेजा जटायुरिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

जनककिशोरीको गोदमें लेकर जब रावण प्रसन्नतापूर्वक जाने लगा, उस समय उसके अन्य सब साधन तो नष्ट हो गये थे, किंतु एक तलवार उसके पास शेष रह गयी थी। उसे जाते देख महातेजस्वी गृध्रराज जटायु उड़कर रावणकी ओर दौड़े और उसे रोककर इस प्रकार बोले—॥ २२-२३ ॥

वज्रसंस्पर्शबाणस्य भार्यां रामस्य रावण।
अल्पबुद्धे हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम् ॥ २४ ॥

'मन्दबुद्धि रावण! जिनके बाणोंका स्पर्श वज्रके समान है, उन श्रीरामकी इन धर्मपत्नी सीताको तुम अवश्य राक्षसोंके वधके लिये ही लिये जा रहे हो ॥ २४ ॥

समित्रबन्धुः सामात्यः सबलः सपरिच्छदः।
विषपानं पिबस्येतत् पिपासित इवोदकम् ॥ २५ ॥

'जैसे प्यासा मनुष्य जल पी रहा हो, उसी प्रकार

---

1. त्रिवेणु रथका वह अङ्ग है, जो जूएको धारण करता है। इसका पर्याय है युगन्धर।

तुम मित्र, बन्धु, मन्त्री, सेना तथा परिवारसहित यह विषपान कर रहे हो ॥ २५ ॥

अनुबन्धमजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः ।
शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि ॥ २६ ॥

'अपने कर्मोंका परिणाम न जाननेवाले अज्ञानीजन जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम भी विनाशके गर्तमें गिरोगे ॥ २६ ॥

बद्धस्त्वं कालपाशेन क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ।
वधाय बडिशं गृह्य सामिषं जलजो यथा ॥ २७ ॥

'तुम कालपाशमें बँध गये हो । कहाँ जाकर उससे छुटकारा पाओगे ? जैसे जलमें उत्पन्न होनेवाला मत्स्य मांसयुक्त बंसीको अपने वधके लिये ही निगल जाता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी मौतके लिये ही सीताका अपहरण करते हो ॥ २७ ॥

नहि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण ।
धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ॥ २८ ॥

'रावण ! ककुत्स्थकुलभूषण रघुकुलनन्दन श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई दुर्धर्ष वीर हैं । वे तुम्हारेद्वारा अपने आश्रमपर किये गये इस अपमानजनक अपराधको कभी क्षमा नहीं करेंगे ॥ २८ ॥

यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ।
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः ॥ २९ ॥

'तुम कायर और डरपोक हो । तुमने जैसा लोकनिन्दित कर्म किया है, यह चोरोंका मार्ग है । वीर पुरुष ऐसे मार्गका आश्रय नहीं लेते हैं ॥ २९ ॥

युद्ध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ।
शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ॥ ३० ॥

'रावण ! यदि शूरवीर हो तो दो घड़ी और ठहरो और मुझसे युद्ध करो । फिर तो तुम भी उसी प्रकार मरकर पृथ्वीपर सो जाओगे, जैसे तुम्हारा भाई खर सोया था ॥ ३० ॥

परेतकाले पुरुषो यत् कर्म प्रतिपद्यते ।
विनाशायात्मनोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ॥ ३१ ॥

'विनाशके समय पुरुष जैसा कर्म करता है, तुमने भी अपने विनाशके लिये वैसे ही अधर्मपूर्ण कर्मको अपनाया है ॥ ३१ ॥

पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः को नु तत् पुमान् ।
कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि ॥ ३२ ॥

'जिस कर्मको करनेसे कर्ताका पापके फलसे सम्बन्ध होता है, उस कर्मको कौन पुरुष निश्चितरूपसे कर सकता है । लोकपाल इन्द्र तथा भगवान् स्वयम्भू (ब्रह्मा) भी वैसा कर्म नहीं कर सकते' ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ।
निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ॥ ३३ ॥
तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विददार समन्ततः ।
अधिरूढो गजारोहो यथा स्याद् दुष्टवारणम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर पराक्रमी जटायु उस राक्षस दशग्रीवकी पीठपर बड़े वेगसे जा बैठे और उसे पकड़कर अपने तीखे नखोंद्वारा चारों ओरसे चीरने लगे । मानो कोई हाथीवान् किसी दुष्ट हाथीके ऊपर सवार होकर उसे अङ्कुशसे छेद रहा हो ॥ ३३-३४ ॥

विददार नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे स[illegible] ।
केशांश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ॥ ३५ ॥

नख, पाँख और चोंच—ये ही जटायुके हथियार थे । वे नखोंसे खरोंचते थे, पीठपर चोंच मारते थे और बाल पकड़कर उखाड़ लेते थे ॥ ३५ ॥

स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः ।
अमर्षस्फुरितोष्ठः सन् प्राकम्पत च राक्षसः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार जब गृध्रराजने बारंबार क्लेश पहुँचाया, तब राक्षस रावण काँप उठा । क्रोधके मारे उसके ओठ फड़कने लगे ॥ ३६ ॥

सम्परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः ।
तलेनाभिजघानार्तो जटायुं क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३७ ॥

उस समय क्रोधसे भरे रावणने विदेहनन्दिनी सीताको बायीं गोदमें करके अत्यन्त पीड़ित हो जटायुपर तमाचेका प्रहार किया ॥ ३७ ॥

जटायुस्तमतिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः ।
वामबाहून् दश तदा व्यपाहरदरिंदमः ॥ ३८ ॥

परंतु उस वारको बचाकर शत्रुदमन गृध्रराज जटायुने अपनी चोंचसे मार-मारकर रावणकी दसों बायीं भुजाओंको उखाड़ लिया ॥ ३८ ॥

संछिन्नबाहोः सद्यो वै बाहवः सहसाभवन् ।
विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः ॥ ३९ ॥

उन बाँहोंके कट जानेपर बाँबीसे प्रकट होनेवाले विषकी ज्वाला-मालाओंसे युक्त सर्पोंकी भाँति तुरंत दूसरी नयी भुजाएँ सहसा उत्पन्न हो गयीं ॥ ३९ ॥

ततः क्रोधाद् दशग्रीवः सीतामुत्सृज्य वीर्यवान् ।
मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृध्रराजमपोथयत् ॥ ४० ॥

तब पराक्रमी दशाननने सीताको तो छोड़ दिया और गृध्रराजको क्रोधपूर्वक मुक्कों और लातोंसे मारना आरम्भ किया ॥ ४० ॥

ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्ययोः ।
राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ॥ ४१ ॥

उस समय उन दोनों अनुपम पराक्रमी वीर राक्षसराज रावण और पक्षिराज जटायुमें दो घड़ीतक घोर संग्राम होता रहा ॥ ४१ ॥

तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः ।
पक्षौ पादौ च पार्श्वौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ॥

तदनन्तर रावणने तलवार निकाली और श्रीरामचन्द्रजीके लिये पराक्रम करनेवाले जटायुके दोनों पंख, पैर तथा पार्श्वभाग काट डाले ॥ ४२ ॥

स च्छिन्नपक्षः सहसा रक्षसा रौद्रकर्मणा ।
निपपात महागृध्रो धरण्यामल्पजीवितः ॥ ४३ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले उस राक्षसके द्वारा सहसा पंख काट लिये जानेपर महागृध्र जटायु पृथ्वीपर गिर पड़े । अब वे थोड़ी ही देरके मेहमान थे ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥ ४४ ॥

अपने बान्धवके समान जटायुको खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देख सीता दुःखसे व्याकुल हो उनकी ओर दौड़ीं ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं
सपाण्डुरोरस्कमुदारवीर्यम् ।
ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां
जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम् ॥ ४५ ॥

जटायुके शरीरकी कान्ति नीले मेघके समान काली थी । उनकी छातीका रंग श्वेत था । वे बड़े पराक्रमी थे, तो भी उस समय बुझे हुए दावानलके समान पृथ्वीपर पड़ गये । लङ्कापति रावणने उन्हें इस अवस्थामें देखा ॥ ४५ ॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
निपातितं रावणवेगमर्दितम् ।
पुनश्च संगृह्य शशिप्रभानना
रुरोद सीता जनकात्मजा तदा ॥ ४६ ॥

तदनन्तर रावणके वेगसे रौंदे जाकर धराशायी हुए जटायुको पकड़कर चन्द्रमुखी जनकनन्दिनी सीता पुनः उस समय वहाँ रोने लगीं ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

रावणद्वारा सीताका अपहरण

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन निरीक्ष्य तम् ।
गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता ॥ १ ॥

रावणके द्वारा मारे गये गृध्रराजकी ओर देखकर चन्द्रमुखी सीता अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगीं—॥

निमित्तं लक्षणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम् ।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते ॥ २ ॥

'मनुष्योंको सुख-दुःखकी प्राप्तिके सूचक लक्षण, स्वप्न, पक्षियोंके स्वर तथा उनके दायें-बायें दर्शन आदि शुभाशुभ निमित्त अवश्य दिखायी देते हैं ॥ २ ॥

न नूनं राम जानासि महद्व्यसनमात्मनः ।
धावन्ति नूनं काकुत्स्थ मदर्थं मृगपक्षिणः ॥ ३ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! मेरे अपहरणकी सूचना देनेके लिये निश्चय ही ये मृग और पक्षी अशुभसूचक मार्गसे दौड़ रहे हैं, परंतु उनके द्वारा सूचित होनेपर भी अपने इस महान् संकटको अवश्य ही आप नहीं जानते हैं (क्योंकि जाननेपर आप इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे) ॥ ३ ॥

अयं हि कृपया राम मां त्रातुमिह संगतः ।
शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद् विहंगमः ॥ ४ ॥

'हा राम ! मेरा कैसा अभाग्य है कि जो कृपा करके मुझे बचानेके लिये यहाँ आये थे, वे पक्षिप्रवर जटायु इस निशाचरद्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ ४ ॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना ।
सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु यथान्तिके ॥ ५ ॥

'हे राम ! हे लक्ष्मण ! अब आप ही दोनों मेरी रक्षा करें ।' यों कहकर अत्यन्त डरी हुई सुन्दरी सीता इस प्रकार क्रन्दन करने लगीं, जिससे निकटवर्ती देवता और मनुष्य सुन सकें ॥ ५ ॥

तां क्लिष्टमाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत् ।
अभ्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ६ ॥

उनके पुष्पहार और आभूषण मसलकर छिन्न-भिन्न हो गये थे । वे अनाथकी भाँति विलाप कर रही थीं । उसी अवस्थामें राक्षसराज रावण उन विदेहकुमारी सीताकी ओर दौड़ा ॥ ६ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान् ।
मुञ्च मुञ्चेति बहुशः प्राप तां राक्षसाधिपः ॥ ७ ॥

वे लिपटी हुई लताकी भाँति बड़े-बड़े वृक्षोंसे लिपट

जातीं और बारंबार कहतीं—'मुझे इस संकटसे छुड़ाओ, छुड़ाओ ।' इतनेहीमें वह निशाचरराज उनके पास जा पहुँचा ॥ ७ ॥

क्रोशन्तीं राम रामेति रामेण रहितां वने ।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसंनिभः ॥ ८ ॥
प्रधर्षितायां वैदेह्यां बभूव सचराचरम् ।
जगत् सर्वममर्यादं तमसान्धेन संवृतम् ॥ ९ ॥

वनमें श्रीरामसे रहित होकर सीताको राम-रामकी रट लगाती देख उस कालके समान विकराल राक्षसने अपने ही विनाशके लिये उनके केश पकड़ लिये । सीताका इस प्रकार तिरस्कार होनेपर समस्त चराचर जगत् मर्यादारहित तथा अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया ॥ ८-९ ॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद् दिवाकरः ।
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां देवो दिव्येन चक्षुषा ॥ १० ॥
कृतं कार्यमिति श्रीमान् व्याजहार पितामहः ।

वहाँ वायुकी गति रुक गयी और सूर्यकी भी प्रभा फीकी पड़ गयी । श्रीमान् पितामह ब्रह्माजी दिव्य दृष्टिसे विदेहनन्दिनीका वह राक्षसके द्वारा केशाकर्षणरूप अपमान देखकर बोले—'बस, अब कार्य सिद्ध हो गया' ॥

प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन् सर्वे ते परमर्षयः ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः ।
रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदृच्छया ॥ १२ ॥

सीताके केशोंका खींचा जाना देखकर दण्डकारण्यमें निवास करनेवाले वे सब महर्षि मन-ही-मन व्यथित हो उठे ! साथ ही अकस्मात् रावणका विनाश निकट आया जान उनको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ११-१२ ॥

स तु तां राम रामेति रुदतीं लक्ष्मणेति च ।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १३ ॥

बेचारी सीता 'हा राम ! हा राम !' कहकर रो रही थीं । लक्ष्मणको भी पुकार रही थीं । उसी अवस्थामें राक्षसोंका राजा रावण उन्हें लेकर आकाशमार्गसे चल दिया ॥ १३ ॥

तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी ।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामनी यथा ॥ १४ ॥

तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे उनका सारा अङ्ग विभूषित था । वे पीले रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं । अतः उस समय राजकुमारी सीता सुदाम पर्वतसे प्रकट हुई विद्युत्के समान प्रकाशित हो रही थीं ॥ १४ ॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः ।
अधिकं परिबभ्राज गिरिर्दीप्त इवाग्निना ॥ १५ ॥

उनके फहराते हुए पीले वस्त्रसे उपलक्षित रावण दावानलसे उद्भासित होनेवाले पर्वतके समान अधिक शोभा पाने लगा ॥ १५ ॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च ।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम् ॥ १६ ॥

उन परम कल्याणी विदेहकुमारीके अङ्गोंमें जो कमल-पुष्प थे, उनके किंचित् अरुण और सुगन्धित दल बिखर-बिखरकर रावणपर गिरने लगे ॥ १६ ॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम् ।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमभ्रमिवातपे ॥ १७ ॥

आकाशमें उड़ता हुआ उनका सुवर्णके समान कान्तिमान् रेशमी पीताम्बर संध्याकालमें सूर्यकी किरणोंसे रँगे हुए ताम्रवर्णके मेघखण्डकी भाँति शोभा पाता था ॥ १७ ॥

तस्यास्तद् विमलं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥ १८ ॥

आकाशमें रावणके अङ्कमें स्थित सीताका निर्मल मुख श्रीरामके बिना नालरहित कमलकी भाँति शोभित नहीं होता था ॥ १८ ॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः ।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमव्रणम् ॥ १९ ॥
शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्भिरलंकृतम् ।
तस्याः सुनयनं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ॥ २० ॥

सुन्दर ललाट और मनोहर केशोंसे युक्त, कमलके भीतरी भागके समान कान्तिमान्, चेचक आदिके दागसे रहित, श्वेत, निर्मल और दीप्तिमान् दाँतोंसे अलंकृत तथा सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित सीताका मुख आकाशमें रावणके अङ्कमें ऐसा जान पड़ता था मानो मेघोंकी काली घटाका भेदन करके चन्द्रमा उदित हुआ हो ॥

रुदितं व्यपमृष्टास्रं चन्द्रवत् प्रियदर्शनम् ।
सुनासं चारुताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रभम् ॥ २१ ॥
राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्यास्तद् वदनं शुभम् ।
शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः ॥ २२ ॥

चन्द्रमाके समान प्यारा दिखायी देनेवाला सीताका वह सुन्दर मुख तुरंतका रोया हुआ था । उसके आँसू पोंछ दिये गये थे । उसकी सुघड़ नासिका तथा ताँबे-जैसे लाल-लाल मनोहर ओठ थे । आकाशमें वह अपनी सुनहरी प्रभा बिखेर रहा था तथा राक्षसराजके वेगपूर्वक चलनेसे उसमें कम्पन हो रहा था । इस प्रकार वह मनोहर मुख भी श्रीरामके बिना उस समय दिनमें उगे हुए चन्द्रमाके समान शोभाहीन प्रतीत होता था ॥ २१-२२ ॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम् ।
शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥ २३ ॥

मिथिलेशकुमारी सीताका श्रीअङ्ग सुवर्णके समान दीप्तिमान् था और राक्षसराज रावणका शरीर बिल्कुल काला था। उसकी गोदमें वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो काले हाथीको सोनेकी करधनी पहना दी गयी हो ॥ २३ ॥

सा पद्मपीता हेमाभा रावणं जनकात्मजा।
विद्युद् घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥ २४ ॥

कमलके केसरकी भाँति पीली एवं सुनहरी कान्तिवाली जनककुमारी सीता तपे हुए सोनेके आभूषण धारण किये रावणकी पीठपर वैसी ही शोभा पा रही थीं, जैसे मेघमालाका आश्रय लेकर बिजली चमक रही हो ॥ २४ ॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसेश्वरः।
बभूव विमलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥ २५ ॥

विदेहनन्दिनीके आभूषणोंकी झनकारसे राक्षसराज रावण गर्जना करते हुए निर्मल नील मेघके समान प्रतीत होता था ॥ २५ ॥

उत्तमाङ्गच्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः।
सीतायास्तु ह्रियमाणायाः पपात धरणीतले ॥ २६ ॥

हरकर ले जायी जाती हुई सीताके सिरसे उनके केशोंमें गुँथे हुए फूल बिखरकर सब ओर पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ २६ ॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः।
समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥ २७ ॥

चारों ओर होनेवाली वह फूलोंकी वर्षा रावणके वेगसे उठी हुई वायुके द्वारा प्रेरित हो फिर उस दशाननपर ही आकर पड़ती थी ॥ २७ ॥

अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम्।
नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम् ॥ २८ ॥

कुबेरके छोटे भाई रावणके ऊपर जब वह फूलोंकी धारा गिरती थी, उस समय ऊँचे मेरुपर्वतपर उतरनेवाली निर्मल नक्षत्रमालाकी भाँति शोभा पाती थी ॥

चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम्।
विद्युन्मण्डलसंकाशं पपात धरणीतले ॥ २९ ॥

विदेहनन्दिनीका रत्नजटित नूपुर उनके एक चरणसे खिसककर विद्युन्मण्डलके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २९ ॥

तरुप्रवालरक्ता सा नीलाङ्गं राक्षसेश्वरम्।
प्रशोभयत वैदेही गजं कक्ष्येव काञ्चनी ॥ ३० ॥

वृक्षोंके नूतन पल्लवोंके समान किंचित् अरुण वर्णवाली सीता उस काले-कलूटे राक्षसराजको उसी प्रकार सुशोभित कर रही थीं, जैसे हाथीको कसनेवाला सुनहरा रस्सा उसकी शोभा बढ़ाता हो ॥ ३० ॥

तां महोल्कामिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा।
जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥ ३१ ॥

आकाशमें अपने तेजसे बहुत बड़ी उल्काके समान प्रकाशित होनेवाली सीताको रावण आकाशमार्गका ही आश्रय ले हर ले गया ॥ ३१ ॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले।
सघोषाण्यवशीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात् ॥ ३२ ॥

जानकीके शरीरपर अग्निके समान प्रकाशमान आभूषण थे। वे उस समय खन-खनकी आवाज करते हुए एक-एक करके गिरने लगे, मानो आकाशसे ताराएँ टूट-टूटकर पृथ्वीपर गिर रही हों ॥ ३२ ॥

तस्याः स्तनान्तराद् भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः।
वैदेह्या निपतन् भाति गङ्गेव गगनच्युता ॥ ३३ ॥

उन विदेहनन्दिनी सीताके स्तनोंके बीचसे खिसककर गिरता हुआ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हार गगनमण्डलसे उतरती हुई गङ्गाके समान प्रतीत हुआ ॥ ३३ ॥

उत्पातवाताभिरता नानाद्विजगणायुताः।
मा भैरिति विधूताग्रा व्याजह्रुरिव पादपाः ॥ ३४ ॥

रावणके वेगसे उत्पन्न हुई उत्पातसूचक वायुके झकोरोंसे हिलते हुए वृक्षोंपर नाना प्रकारके पक्षी कोलाहल कर रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे वृक्ष अपने सिरोंको हिला-हिलाकर संकेत करते हुए सीतासे कह रहे हैं कि 'तुम डरो मत' ॥ ३४ ॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः।
सखीमिव गतोत्साहां शोचन्तीव स्म मैथिलीम् ॥ ३५ ॥

जिनके कमल सूख गये थे और मत्स्य आदि जलचर जीव डर गये थे, वे पुष्करिणियाँ उत्साहहीन हुई मिथिलेश-कुमारी सीताको मानो अपनी सखी मानकर उनके लिये शोक कर रही थीं ॥ ३५ ॥

समन्तादभिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः।
अन्वधावंस्तदा रोषात् सीताच्छायानुगामिनः ॥ ३६ ॥

उस सीताहरणके समय रावणपर रोष-सा करके सिंह, व्याघ्र, मृग और पक्षी सब ओरसे सीताकी परछाईंका अनुसरण करते हुए दौड़ रहे थे ॥ ३६ ॥

जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहुभिः।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३७ ॥

जब सीता हरी जाने लगी, उस समय वहाँके पर्वत झरनोंके रूपमें आँसू बहाते हुए, ऊँचे शिखरोंके रूपमें अपनी भुजाएँ ऊपर उठाकर मानो जोर-जोरसे चीत्कार कर रहे थे ॥ ३७ ॥

ह्रियमाणां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः।
प्रविध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत् पाण्डुरमण्डलः ॥ ३८ ॥

सीताका हरण होता देख श्रीमान् सूर्यदेव दुखी हो गये । उनकी प्रभा नष्ट-सी हो गयी तथा उनका मण्डल पीला पड़ गया ॥ ३८ ॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता ।
यत्र रामस्य वैदेहीं सीतां हरति रावणः ॥ ३९ ॥
इति भूतानि सर्वाणि गणशः पर्यदेवयन् ।
वित्रस्तका दीनमुखा रुरुदुर्मृगपोतकाः ॥ ४० ॥

हाय ! हाय ! जब श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नी विदेहनन्दिनी सीताको रावण हरकर लिये जा रहा है, तब यही कहना पड़ता है कि 'संसारमें धर्म नहीं है, सत्य भी कहाँ है ? सरलता और दयाका भी सर्वथा लोप हो गया है ।' इस प्रकार वहाँ झुंड-के-झुंड एकत्र हो सब प्राणी विलाप कर रहे थे । मृगोंके बच्चे भयभीत हो दीनमुखसे रो रहे थे ॥ ३९-४० ॥

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैर्भयादिव विलक्षणैः ।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ॥ ४१ ॥
विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम् ।

श्रीरामको जोर-जोरसे पुकारती और वैसे भारी दुःखमें पड़ी हुई सीताको अपनी विलक्षण आँखोंसे बारंबार देख-देखकर भयके मारे वनदेवताओंके अङ्ग थर-थर काँपने लगे ॥ ४१½ ॥

तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वराम् ॥ ४२ ॥
अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम् ।
स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम् ।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम् ॥ ४३ ॥

विदेहनन्दिनी मधुर स्वरमें 'हा राम, हा लक्ष्मण' की पुकार करती हुई बारंबार भूतलकी ओर देख रही थीं । उनके केश खुलकर सब ओर फैल गये थे और ललाटकी बेंदी मिट गयी थी । वैसी अवस्थामें दशग्रीव रावण अपने ही विनाशके लिये मनस्विनी सीताको लिये जा रहा था ॥ ४२-४३ ॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।
अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥ ४४ ॥

उस समय मनोहर दाँत और पवित्र मुसकानवाली मिथिलेशकुमारी सीता, जो अपने बन्धुजनोंसे बिछुड़ गयी थीं, दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर भयके भारसे व्यथित हो उठीं । उनके मुखमण्डलकी कान्ति फीकी पड़ गयी ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

सीताका रावणको धिक्कारना

खमुत्पतन्तं तं दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा ।
दुःखिता परमोद्विग्ना भये महति वर्तिनी ॥ १ ॥

रावणको आकाशमें उड़ते देख मिथिलेशकुमारी जानकी दुःखमग्न हो अत्यन्त उद्विग्न हो रही थीं । वे बहुत बड़े भयमें पड़ गयी थीं ॥ १ ॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम् ।
रुदती करुणं सीता ह्रियमाणा तमब्रवीत् ॥ २ ॥

रोष और रोदनके कारण उनकी आँखें लाल हो गयी थीं । हरी जाती हुई सीता करुणाजनक स्वरमें रोती हुई उस भयंकर नेत्रवाले राक्षसराजसे इस प्रकार बोलीं—॥ २ ॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणानेन रावण ।
ज्ञात्वा विरहितां यो मां चोरयित्वा पलायसे ॥ ३ ॥

'ओ नीच रावण ! क्या तुझे अपने इस कुकर्मसे लज्जा नहीं आती है, जो मुझे स्वामीसे रहित अकेली और असहाय जानकर चुराये लिये भागा जाता है ॥ ३ ॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मन् भीरुणा हर्तुमिच्छता ।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया ॥ ४ ॥

'दुष्टात्मन् ! तू बड़ा कायर और डरपोक है । निश्चय ही मुझे हर ले जानेकी इच्छासे तूने ही माया-द्वारा मृगरूपमें उपस्थित हो मेरे स्वामीको आश्रमसे दूर हटा दिया था ॥ ४ ॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽप्ययं विनिपातितः ।
गृध्रराजः पुराणोऽसौ श्वशुरस्य सखा मम ॥ ५ ॥

'मेरे श्वशुरके सखा वे जो बूढ़े जटायु मेरी रक्षा करनेके लिये उद्यत हुए थे, उनको भी तूने मार गिराया ॥ ५ ॥

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम ।
विश्राव्य नामधेयं हि युद्धे नास्मि जिता त्वया ॥ ६ ॥
ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे ।
स्त्रियाश्चाहरणं नीच रहिते च परस्य च ॥ ७ ॥

'नीच राक्षस ! अवश्य तुझमें बड़ा भारी बल

दिखायी देता है (क्योंकि तू बूढ़े पक्षीको भी मार गिराता है !), तूने अपना नाम बताकर श्रीराम-लक्ष्मणके साथ युद्ध करके मुझे नहीं जीता है। ओ नीच ! जहाँ कोई रक्षक न हो—ऐसे स्थानपर जाकर परायी स्त्रीके अपहरण-जैसा निन्दित कर्म करके तू लज्जित कैसे नहीं होता है ? ॥ ६-७ ॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम्।
सुनृशंसमधर्मिष्ठं तव शौटीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

'तू तो अपनेको बड़ा शूर-वीर मानता है, परंतु संसारके सभी वीर पुरुष तेरे इस कर्मको घृणित, क्रूरतापूर्ण और पापरूप ही बतायेंगे ॥ ८ ॥

धिक् ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वया कथितं तदा।
कुलाक्रोशकरं लोके धिक् ते चारित्रमीदृशम् ॥ ९ ॥

'तूने पहले स्वयं ही जिसका बड़े तावसे वर्णन किया था, तेरे उस शौर्य और बलको धिक्कार है ! कुलमें कलङ्क लगानेवाले तेरे ऐसे चरित्रको संसारमें सदा धिक्कार ही प्राप्त होगा ॥ ९ ॥

किं शक्यं कर्तुमेवं हि यज्जवेनैव धावसि।
मुहूर्तमपि तिष्ठ त्वं न जीवन् प्रतियास्यसि ॥ १० ॥

'किंतु इस समय क्या किया जा सकता है ? क्योंकि तू बड़े वेगसे भागा जा रहा है। अरे ! दो घड़ी भी तो ठहर जा, फिर यहाँसे जीवित नहीं लौट सकेगा ॥ १० ॥

नहि चक्षुःपथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः।
ससैन्योऽपि समर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

'उन दोनों राजकुमारोंके दृष्टिपथमें आ जानेपर तू सेनाके साथ हो तो भी दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोढुं शक्तः कथंचन।
वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेर्विहंगमः ॥ १२ ॥

'जैसे कोई आकाशचारी पक्षी वनमें प्रज्वलित हुए दावानलका स्पर्श सहन करनेमें समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार तू मेरे पति और उनके भाई दोनोंके बाणोंका स्पर्श किसी तरह सह नहीं सकता ॥ १२ ॥

साधु कृत्वाऽऽत्मनःपथ्यं साधु मां मुञ्च रावण।
मत्प्रधर्षणसंक्रुद्धो भ्रात्रा सह पतिर्मम ॥ १३ ॥
विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि।

'रावण ! यदि तू मुझे छोड़ नहीं देता है तो मेरे तिरस्कारसे कुपित हुए मेरे पतिदेव अपने भाईके साथ चढ़ आयँगे और तेरे विनाशका उपाय करेंगे, अतः तू अच्छी तरह अपनी भलाई सोच ले और मुझे छोड़ दे। यही तेरे लिये अच्छा होगा ॥ १३½ ॥

येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥
व्यवसायस्तु ते नीच भविष्यति निरर्थकः।

'नीच ! तू जिस संकल्प या अभिप्रायसे बलपूर्वक मेरा हरण करना चाहता है, तेरा वह अभिप्राय व्यर्थ होगा ॥ १४½ ॥

नह्यहं तमपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥ १५ ॥
उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान् धारयितुं चिरम्।

'मैं अपने देवोपम पतिका दर्शन न पानेपर शत्रुकी अधीनतामें अधिक कालतक अपने प्राणोंको नहीं धारण कर सकूँगी ॥ १५ ॥

न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥
मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते।
मुमूर्षूणां तु सर्वेषां यत् पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

'निश्चय ही तू अपने कल्याण और हितका विचार नहीं करता है। जैसे मरनेके समय मनुष्य स्वास्थ्यके विरोधी पदार्थोंका सेवन करने लगता है, वही दशा तेरी है। प्रायः सभी मरणासन्न मनुष्योंको पथ्य (हितकारक सलाह या भोजन) नहीं रुचता है ॥ १६-१७ ॥

पश्यामीह हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम्।
यथा चास्मिन् भयस्थाने न बिभेषि निशाचर ॥ १८ ॥

'निशाचर ! मैं देखती हूँ, तेरे गलेमें कालकी फाँसी पड़ चुकी है, इसीसे इस भयके स्थानपर भी तू निर्भय बना हुआ है ॥ १८ ॥

व्यक्तं हिरण्मयांस्त्वं हि सम्पश्यसि महीरुहान्।
नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघविवाहिनीम् ॥ १९ ॥
खड्गपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण।
तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैदूर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥
द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम्।

'रावण ! अवश्य ही तू सुवर्णमय वृक्षोंको देख रहा है, रक्तका स्रोत बहानेवाली भयंकर वैतरणी नदीका दर्शन कर रहा है, भयानक असिपत्र-वनको भी देखना चाहता है तथा जिसमें तपाये हुए सुवर्णके समान फूल तथा श्रेष्ठ वैदूर्यमणि (नीलम) के समान पत्ते हैं और जिसमें लोहेके काँटे चिने गये हैं, उस तीखी शाल्मलिका भी अब तू शीघ्र ही दर्शन करेगा ॥ १९-२०½ ॥

नहि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं महात्मनः ॥ २१ ॥
धारितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृण।
बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥ २२ ॥

'निर्दयी निशाचर ! तू महात्मा श्रीरामका ऐसा

महान् अपराध करके विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेगा। रावण! तू अटल कालपाशसे बँध गया है ॥ २१-२२ ॥

क्व गतो लप्स्यसे शर्म मम भर्तुर्महात्मनः।
निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रातरमाहवे ॥ २३ ॥
राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश।
कथं स राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ॥ २४ ॥
न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम्।

'मेरे महात्मा पतिसे बचकर तू कहाँ जाकर शान्ति पा सकेगा। जिन्होंने अपने भाई लक्ष्मणकी सहायता लिये बिना ही युद्धमें पलक मारते-मारते चौदह हजार राक्षसोंका विनाश कर डाला, वे सम्पूर्ण अस्त्रोंका प्रयोग करनेमें कुशल बलवान् वीर रघुनाथजी अपनी प्यारी पत्नीका अपहरण करनेवाले तुझ-जैसे पापीको तीखे बाणोंद्वारा क्यों नहीं कालके गालमें भेज देंगे' ॥ २३-२४½ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥ २५ ॥

रावणके चंगुलमें फँसी हुई विदेहराजकुमारी सीता भय और शोकसे व्याकुल हो ये तथा और भी बहुतसे कठोर वचन सुनाकर करुण-स्वरमें विलाप करने लगीं ॥ २५ ॥

तदा भृशार्तां बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम्।
जहार पापस्तरुणीं विचेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुः ॥ २६ ॥

अत्यन्त दुःखसे आतुर हो विलापपूर्वक बहुत-सी करुणाजनक बातें कहती और छूटनेके लिये नाना प्रकारकी चेष्टा करती हुई तरुणी भामिनी राजकुमारी सीताको वह पापी निशाचर हर ले गया। उस समय अधिक बोझके कारण उसका शरीर काँप रहा था ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशः सर्गः

सीताका पाँच वानरोंके बीच अपने भूषण और वस्त्रको गिराना, रावणका लङ्कामें पहुँचकर सीताको अन्तःपुरमें रखना तथा जनस्थानमें आठ राक्षसोंको गुप्तचरके रूपमें रहनेके लिये भेजना

ह्रियमाणा तु वैदेही कंचिन्नाथमपश्यती।
ददर्श गिरिशृङ्गस्थान् पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

रावणके द्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताको उस समय कोई भी अपना सहायक नहीं दिखायी देता था। मार्गमें उन्होंने एक पर्वतके शिखरपर पाँच श्रेष्ठ वानरोंको बैठे देखा ॥ १ ॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम्।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥
मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति भामिनी।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

तब सुन्दर अङ्गोंवाली विशाललोचना भामिनी सीताने यह सोचकर कि शायद ये भगवान् श्रीरामको कुछ समाचार कह सकें, अपने सुनहरे रंगकी रेशमी चादर उतारी और उसमें वस्त्र और आभूषण रखकर उसे उनके बीचमें फेंक दिया ॥ २-३ ॥

सम्भ्रमात् तु दशग्रीवस्तत्कर्म च न बुद्धवान्।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥
विक्रोशन्तीं तदा सीतां ददृशुर्वानरोत्तमाः।

रावण बड़ी घबराहटमें था, इसलिये सीताके इस कार्यको वह न जान सका। वे भूरी आँखोंवाले श्रेष्ठ वानर उस समय उच्चस्वरसे विलाप करती हुई विशाललोचना सीताकी ओर एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ॥ ४½ ॥

स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥
जगाम मैथिलीं गृह्य रुदतीं राक्षसेश्वरः।

राक्षसराज रावण पम्पासरोवरको लाँघकर रोती हुई मैथिली सीताको साथ लिये लङ्कापुरीकी ओर चल दिया ॥ ५½ ॥

तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥
उत्सङ्गेनैव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम्।

निशाचर रावण बड़े हर्षमें भरकर सीताके रूपमें अपनी मौतको ही हरकर लिये जा रहा था। उसने वैदेहीके रूपमें तीखे दाढ़वाली महाविषैली नागिनको ही अपनी गोदमें उठा रखा था ॥ ६½ ॥

वनानि सरितः शैलान् सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥
स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः।

वह धनुषसे छूटे हुए बाणकी तरह तीव्र गतिसे चलकर आकाशमार्गसे अनेकानेक वनों, नदियों, पर्वतों और सरोवरोंको तुरंत लाँघ गया ॥ ७½ ॥

तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥
सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सागरम्।

उसने तिमि नामक मत्स्यों और नाकोंके निवासस्थान एवं वरुणके अक्षय गृह समुद्रको भी, जो समस्त नदियोंका आश्रय है, पार कर लिया ॥ ८½ ॥

सम्भ्रमात् परिवृत्तोर्मी रुद्धमीनमहोरगः ॥ ९ ॥
वैदेह्यां ह्रियमाणायां बभूव वरुणालयः ।

विदेहनन्दिनी जगन्माता जानकीका अपहरण होते समय वरुणालय समुद्रको बड़ी घबराहट हुई। उससे उसकी उठती हुई लहरें शान्त हो गयीं। उसके भीतर रहनेवाली मछलियों और बड़े-बड़े सर्पोंकी गति रुक गयी ॥ ९½ ॥

अन्तरिक्षगता वाचः ससृजुश्चारणास्तदा ॥ १० ॥
एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तथाब्रुवन् ।

उस समय आकाशमें विचरनेवाले चारण यों बोले—'अब दशग्रीव रावणका यह अन्तकाल निकट आ पहुँचा है' तथा सिद्धोंने भी यही बात दुहरायी ॥ १०½ ॥

स तु सीतां विचेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः ॥ ११ ॥
प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।

सीता छटपटा रही थीं। रावणने अपनी साकार मृत्युकी भाँति उन्हें अङ्कमें लेकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया ॥ ११½ ॥

सोऽभिगम्य पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥
संरूढकक्ष्यां बहुलां स्वमन्तःपुरमाविशत् ।

वहाँ पृथक्-पृथक् विशाल राजमार्ग बने हुए थे। पुरीके द्वारपर बहुत-से राक्षस इधर-उधर फैले हुए थे तथा उस नगरीका विस्तार बहुत बड़ा था। उसमें जाकर रावणने अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १२½ ॥

तत्र तामसितापाङ्गीं शोकमोहसमन्विताम् ॥ १३ ॥
निदधे रावणः सीतां मयो मायामिवासुरीम् ।

कजरारे नेत्रप्रान्तवाली सीता शोक और मोहमें डूबी हुई थीं। रावणने उन्हें अन्तःपुरमें रख दिया, मानो मयासुरने मूर्तिमती आसुरी मायाको वहाँ स्थापित कर दिया हो* ॥ १३½ ॥

अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः ॥ १४ ॥
यथा नैनां पुमान् स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः ।

इसके बाद दशग्रीवने भयंकर आकारवाली पिशाचिनियों-को बुलाकर कहा—'(तुम सब सावधानीके साथ सीताकी रक्षा करो।) कोई भी स्त्री या पुरुष मेरी आज्ञाके बिना सीताको देखने या इनसे मिलने न पाये ॥ १४½ ॥

मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ १५ ॥
यद् यदिच्छेत् तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा ।

'उन्हें मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र और आभूषण आदि जिस-जिस वस्तुकी इच्छा हो, वह तुरंत दी जाय; इसके लिये मेरी खुली आज्ञा है ॥ १५½ ॥

या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किंचिदप्रियम् ॥ १६ ॥
अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम् ।

'तुमलोगोंमेंसे जो कोई भी जानकर या बिना जाने विदेहकुमारी सीतासे कोई अप्रिय बात कहेगी, मैं समझूँगा, उसे अपनी जिंदगी प्यारी नहीं है' ॥ १६½ ॥

तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १७ ॥
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् किं कृत्यमिति चिन्तयन् ।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान् राक्षसान् पिशिताशनान् ॥ १८ ॥

राक्षसियोंको वैसी आज्ञा देकर प्रतापी राक्षसराज 'अब आगे क्या करना चाहिये' यह सोचता हुआ अन्तःपुरसे बाहर निकला और कच्चे मांसका आहार करनेवाले आठ महापराक्रमी राक्षसोंसे तत्काल मिला ॥ १७-१८ ॥

स तान् दृष्ट्वा महावीर्यो वरदानेन मोहितः ।
उवाच तानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥ १९ ॥

उनसे मिलकर ब्रह्माजीके वरदानसे मोहित हुए महापराक्रमी रावणने उनके बल और वीर्यकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा—॥ १९ ॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः ।
जनस्थानं हतस्थानं भूतं पूर्वं खरालयम् ॥ २० ॥

वीरो! तुमलोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र साथ लेकर शीघ्र ही जनस्थानको, जहाँ पहले खर रहता था, जाओ। वह स्थान इस समय उजाड़ पड़ा है ॥ २० ॥

तत्रास्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे ।
पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

वहाँके सभी राक्षस मार डाले गये हैं। उस सूने जनस्थानमें तुमलोग अपने ही बल-पौरुषका भरोसा करके भयको दूर हटाकर रहो ॥ २१ ॥

बहुसैन्यं महावीर्यं जनस्थाने निवेशितम् ।
सदूषणखरं युद्धे निहतं रामसायकैः ॥ २२ ॥

'मैंने वहाँ बहुत बड़ी सेनाके साथ महापराक्रमी खर और दूषणको बसा रखा था, किंतु वे सब-के-सब युद्धमें रामके बाणोंसे मारे गये ॥ २२ ॥

ततः क्रोधो ममापूर्वो धैर्यस्योपरि वर्धते ।
वैरं च सुमहज्जातं रामं प्रति सुदारुणम् ॥ २३ ॥

'इससे मेरे मनमें अपूर्व क्रोध जाग उठा है और वह

---

* रामायणतिलक नामक व्याख्याके विद्वान् लेखकने यह बताया है कि यहाँ जो सीताकी मायासे उपमा दी गयी है, उसके द्वारा यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि मायामयी सीता ही लङ्कामें आयी थीं; मुख्य सीता तो अग्निमें प्रविष्ट हो चुकी थीं। इसीलिये रावण इन्हें ला सका। मायारूपिणी होनेके कारण ही रावणको इनके स्वरूपका ज्ञान न हो सका।

धैर्यकी सीमासे ऊपर उठकर बढ़ने लगा है; इसीलिये रामके साथ मेरा बड़ा भारी और भयंकर वैर ठन गया है ॥ २३ ॥

निर्यातयितुमिच्छामि तच्च वैरं महारिपोः ।
नहि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

'मैं अपने महान् शत्रुसे उस वैरका बदला लेना चाहता हूँ । उस शत्रुको संग्राममें मारे बिना मैं चैनसे सो नहीं सकूँगा ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषणघातिनम् ।
रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

'रामने खर और दूषणका वध किया है, अतः मैं भी इस समय उन्हें मारकर जब बदला चुका लूँगा, तभी मुझे शान्ति मिलेगी । जैसे निर्धन मनुष्य धन पाकर संतुष्ट होता है, उसी प्रकार मैं रामका वध करके शान्ति पा सकूँगा ॥ २५ ॥

जनस्थाने वसद्भिस्तु भवद्भी राममाश्रिता ।
प्रवृत्तिरुपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः ॥ २६ ॥

'जनस्थानमें रहकर तुमलोग रामचन्द्रका समाचार जानो और वे कब क्या कर रहे हैं, इसका ठीक-ठीक पता लगाते रहो और जो कुछ मालूम हो, उसकी सूचना मेरे पास भेज दिया करो ॥ २६ ॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरेव निशाचरैः ।
कर्तव्यश्च सदा यत्नो राघवस्य वधं प्रति ॥ २७ ॥

'तुम सभी निशाचर सावधानीके साथ वहाँ जाना और रामके वधके लिये सदा प्रयत्न करते रहना ॥ २७ ॥

युष्माकं तु बलं ज्ञातं बहुशो रणमूर्धनि ।
अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया यूयं निवेशिताः ॥ २८ ॥

'मुझे अनेक बार युद्धके मुहानेपर तुमलोगोंके बलका परिचय मिल चुका है; इसीलिये इस जनस्थानमें मैंने तुम्हीं लोगोंको रखनेका निश्चय किया है' ॥ २८ ॥

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम् ।
विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥ २९ ॥

रावणकी यह महान् प्रयोजनसे भरी हुई प्रिय बातें सुनकर वे आठों राक्षस उसे प्रणाम करके अदृश्य हो एक साथ ही लङ्काको छोड़कर जनस्थानकी ओर प्रस्थित हो गये ॥ २९ ॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसम्प्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम् ।
प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहान्मुदितः स रावणः ॥ ३० ॥

तदनन्तर मिथिलेशकुमारी सीताको पाकर उन्हें राक्षसियोंकी देख-रेखमें सौंपकर रावणको बड़ा हर्ष हुआ । श्रीरामके साथ भारी वैर ठानकर वह राक्षस मोहवश आनन्द मानने लगा ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

रावणका सीताको अपने अन्तःपुरका दर्शन कराना और अपनी भार्या बन जानेके लिये समझाना

संदिश्य राक्षसान् घोरान् रावणोऽष्टौ महाबलान् ।
आत्मानं बुद्धिवैक्लव्यात् कृतकृत्यममन्यत ॥ १ ॥

इस प्रकार आठ महाबली भयंकर राक्षसोंको जनस्थानमें जानेकी आज्ञा दे रावणने विपरीत बुद्धिके कारण अपनेको कृतकृत्य माना ॥ १ ॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामबाणैः प्रपीडितः ।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥ २ ॥

वह विदेहकुमारी सीताका स्मरण करके कामबाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहा था; अतः उन्हें देखनेके लिये उसने बड़ी उतावलीके साथ अपने रमणीय अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

स प्रविश्य तु तद्वेश्म रावणो राक्षसाधिपः ।
अपश्यद् राक्षसीमध्ये सीतां दुःखपरायणाम् ॥ ३ ॥
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां शोकभारावपीडिताम् ।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्तीं नावमर्णवे ॥ ४ ॥
मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम् ।

उस भवनमें प्रवेश करके राक्षसोंके राजा रावणने देखा कि सीता राक्षसियोंके बीचमें बैठकर दुःखमें डूबी हुई हैं । उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही है और वे शोकके दुस्सह भारसे अत्यन्त पीड़ित एवं दीन हो वायुके वेगसे आक्रान्त हो समुद्रमें डूबती हुई नौकाके समान जान पड़ती हैं । मृगोंके यूथसे बिछुड़कर कुत्तोंसे घिरी हुई अकेली हरिणीके समान दिखायी देती हैं ॥ ३-४½ ॥

अधोगतमुखीं सीतां तामभ्येत्य निशाचरः ॥ ५ ॥
तां तु शोकवशाद् दीनामवशां राक्षसाधिपः ।
स बलाद् दर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥ ६ ॥

शोकवश दीन और विवश हो नीचे मुँह किये बैठी हुई सीताके पास पहुँचकर राक्षसोंके राजा निशाचर रावणने उन्हें जबर्दस्ती अपने देवगृहके समान सुन्दर भवनका दर्शन कराया ॥ ५-६ ॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम् ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥ ७ ॥

वह ऊँचे-ऊँचे महलों और सातमंजिले मकानोंसे भरा हुआ था । उसमे सहस्रों स्त्रियाँ निवास करती थीं । झुंड-के-झुंड नाना जातिके पक्षी वहाँ कलरव करते थे । नाना प्रकारके रत्न उस अन्तःपुरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ७ ॥

दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैस्तथा ।
वज्रवैदूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोरमैः ॥ ८ ॥

उसमें बहुत-से मनोहर खंभे लगे थे, जो हाथी-दाँत, पक्के सोने, स्फटिकमणि, चाँदी, हीरा और वैदूर्यमणि (नीलम) से जटित होनेके कारण बड़े विचित्र दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह ॥ ९ ॥

उस महलमें दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष होता रहता था । उस अन्तःपुरको तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे सजाया गया था । रावण सीताको साथ लेकर सोनेकी बनी हुई विचित्र सीढ़ीपर चढ़ा ॥ ९ ॥

दान्तका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।
हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपङ्क्तयः ॥ १० ॥

वहाँ हाथीदाँत और चाँदीकी बनी हुई खिड़कियाँ थीं, जो बड़ी सुहावनी दिखायी देती थीं । सोनेकी जालियोंसे ढकी हुई प्रासादमालाएँ भी दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १० ॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।
दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम् ॥ ११ ॥

उस महलमें जो भूभाग (फर्श) थे, वे सुर्खी-चूनाके पक्के बनाये गये थे और उनमें मणियाँ जड़ी गयी थीं, जिनसे वे सब-के-सब विचित्र दिखायी देते थे । दशग्रीवने अपने महलकी वे सारी वस्तुएँ मैथिलीको दिखायीं ॥ ११ ॥

दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानापुष्पसमावृताः ।
रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम् ॥ १२ ॥

रावणने बहुत-सी बावड़ियाँ और भाँति-भाँतिके फूलोंसे आच्छादित बहुत-सी पोखरियाँ भी सीताको दिखायीं । सीता वह सब देखकर शोकमें डूब गयीं ॥ १२ ॥

दर्शयित्वा तु वैदेहीं कृत्स्नं तद्भवनोत्तमम् ।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छया ॥ १३ ॥

वह पापात्मा निशाचर विदेहनन्दिनी सीताको अपना सारा सुन्दर भवन दिखाकर उन्हें लुभानेकी इच्छासे इस प्रकार बोला—॥ १३ ॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।
वर्जयित्वा जरावृद्धान् बालांश्च रजनीचरान् ॥ १४ ॥
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम् ॥ १५ ॥

'सीते ! मेरे अधीन बत्तीस करोड़ राक्षस हैं । यह संख्या बूढ़े और बालक निशाचरोंको छोड़कर बतायी गयी है । भयंकर कर्म करनेवाले इन सभी राक्षसोंका मैं ही स्वामी हूँ । अकेले मेरी सेवामें एक हजार राक्षस रहते हैं ॥ १४-१५ ॥

यदिदं राज्यतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी ॥ १६ ॥

'विशाललोचने ! मेरा यह सारा राज्य और जीवन तुमपर ही अवलम्बित है (अथवा यह सब कुछ तुम्हारे चरणोंमें समर्पित है) । तुम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो ॥ १६ ॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां मम योऽसौ परिग्रहः ।
तासां त्वमीश्वरी सीते मम भार्या भव प्रिये ॥ १७ ॥

'सीते ! मेरा अन्तःपुर मेरी बहुत-सी सुन्दरी भार्याओंसे भरा हुआ है, तुम उन सबकी स्वामिनी बनो—प्रिये ! मेरी भार्या बन जाओ ॥ १७ ॥

साधु किं तेऽन्यथाबुद्ध्या रोचयस्व वचो मम ।
भजस्व माभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

'मेरे इस हितकर वचनको मान लो—इसे पसंद करो; इससे विपरीत विचारको मनमें लानेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? मुझे अङ्गीकार करो । मैं पीड़ित हूँ, मुझपर कृपा करो ॥ १८ ॥

परिक्षिप्ता समुद्रेण लङ्केयं शतयोजना ।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ १९ ॥

'समुद्रसे घिरी हुई इस लङ्काके राज्यका विस्तार सौ योजन है । इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी इसे ध्वस्त नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु नर्षिषु ।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत् ॥ २० ॥

'देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों तथा ऋषियोंमें भी मैं किसीको ऐसा नहीं देखता, जो पराक्रममें मेरी समानता कर सके ॥ २० ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥ २१ ॥

'राम तो राज्यसे भ्रष्ट, दीन, तपस्वी, पैदल चलनेवाले और मनुष्य होनेके कारण अल्प तेजवाले हैं, उन्हें लेकर क्या करोगी ? ॥ २१ ॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव।
यौवनं त्वध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥ २२ ॥

'सीते ! मुझको ही अपनाओ। मैं तुम्हारे योग्य पति हूँ। भीरु ! जवानी सदा रहनेवाली नहीं है, अतः यहाँ रहकर मेरे साथ रमण करो ॥ २२ ॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने।
कास्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥ २३ ॥

'वरानने ! सीते ! अब तुम रामके दर्शनका विचार छोड़ दो। इस राममें इतनी शक्ति कहाँ है कि यहाँतक आनेका मनोरथ भी कर सके ॥ २३ ॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धुं महाजवः।
दीप्यमानस्य वाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलाः शिखाः ॥ २४ ॥

'आकाशमें महान् वेगसे बहनेवाली वायुको रस्सियोंमें नहीं बाँधा जा सकता अथवा प्रज्वलित अग्निकी निर्मल ज्वालाओंको हाथोंसे नहीं पकड़ा जा सकता ॥ २४ ॥

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने।
विक्रमेण नयेद् यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम् ॥ २५ ॥

'शोभने ! मैं तीनों लोकोंमें किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो मेरी भुजाओंसे सुरक्षित तुमको पराक्रम करके यहाँसे ले जा सके ॥ २५ ॥

लङ्कायाः सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचरम् ॥ २६ ॥

'लङ्काके इस विशाल राज्यका तुम्हीं पालन करो। मुझ-जैसे राक्षस, देवता तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् तुम्हारे सेवक बनकर रहेंगे ॥ २६ ॥

अभिषेकजलक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व च।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥ २७ ॥
यच्च ते सुकृतं कर्म तस्येह फलमाप्नुहि।

'स्नानके जलसे आर्द्र (अथवा लङ्काके राज्यपर अपना अभिषेक कराकर उसके जलसे आर्द्र) होकर संतुष्ट हो तुम अपने-आपको क्रीड़ाविनोदमें लगाओ। तुम्हारा पहलेका जो दुष्कर्म था, वह वनवासका कष्ट देकर समाप्त हो गया। अब जो तुम्हारा पुण्यकर्म शेष है, उसका फल यहाँ भोगो ॥ २७½ ॥

इह सर्वाणि माल्यानि दिव्यगन्धानि मैथिलि ॥ २८ ॥
भूषणानि च मुख्यानि तानि सेव मया सह।

'मिथिलेशकुमारी ! तुम मेरे साथ यहाँ रहकर सब प्रकारके पुष्पहार, दिव्य गन्ध और श्रेष्ठ आभूषण आदिका सेवन करो ॥ २८½ ॥

पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥
विमानं सूर्यसंकाशं तरसा निर्जितं रणे।
विशालं रमणीयं च तद्विमानं मनोजवम् ॥ ३० ॥
तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम्।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी ! वह सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला पुष्पकविमान मेरे भाई कुबेरका था। उसे मैंने बलपूर्वक जीता है। यह अत्यन्त रमणीय, विशाल तथा मनके समान वेगसे चलनेवाला है। सीते ! तुम उसके ऊपर मेरे साथ बैठकर सुखपूर्वक विहार करो ॥ २९-३०½ ॥

वदनं पद्मसंकाशं विमलं चारुदर्शनम् ॥ ३१ ॥
शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने।

'वरारोहे सुमुखि ! तुम्हारा यह कमलके समान सुन्दर निर्मल और मनोहर दिखायी देनेवाला मुख शोकसे पीड़ित होनेके कारण शोभा नहीं पा रहा है' ॥ ३१½ ॥

एवं वदति तस्मिन् सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥
पिधायेन्दुनिभं सीता मन्दमश्रूण्यवर्तयत्।

जब रावण ऐसी बातें कहने लगा, तब परम सुन्दरी सीता देवी चन्द्रमाके समान मनोहर अपने मुखको आँचलसे ढककर धीरे-धीरे आँसू बहाने लगीं ॥ ३२½ ॥

ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां सीतां चिन्ताहतप्रभाम् ॥ ३३ ॥
उवाच वचनं वीरो रावणो रजनीचरः।

सीता शोकसे अस्वस्थ-सी हो रही थीं, चिन्तासे उनकी कान्ति नष्ट-सी हो गयी थी और वे भगवान् रामका ध्यान करने लगी थीं। उस अवस्थामें उनसे वह वीर निशाचर रावण इस प्रकार बोला—॥ ३३½ ॥

अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन ते ॥ ३४ ॥
आर्षोऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामभिभविष्यति।

'विदेहनन्दिनि ! अपने पतिके त्याग और परपुरुषके अङ्गीकारसे जो धर्मलोपकी आशङ्का होती है, उसके कारण तुम्हें यहाँ लज्जा नहीं होनी चाहिये, इस तरहकी लाज व्यर्थ है। देवि ! तुम्हारे साथ जो मेरा स्नेह-सम्बन्ध होगा, यह आर्ष धर्मशास्त्रोंद्वारा समर्थित है ॥ ३४½ ॥

---

१. ऐसा कहकर रावण देवी सीताको धोखा देना चाहता है। वास्तवमें ऐसे पापपूर्ण कृत्योंका समर्थन धर्मशास्त्रोंमें कहीं नहीं है। कुमारी कन्याका बलपूर्वक अपहरण शास्त्रोंमें राक्षसविवाह कहा गया है; किंतु वह भी निन्द्य ही माना गया है, यहाँ तो वह भी नहीं है। विवाहिता सती-साध्वीका अपहरण घोर पाप माना गया है। इसी पापसे सोनेकी लङ्का मिट्टीमें मिल गयी और रावण दल-बल-कुल-परिवारसहित नष्ट हो गया।

एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥ ३५ ॥
प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते ।

'तुम्हारे इन कोमल एवं चिकने चरणोंपर मैं अपने ये दसों मस्तक रख रहा हूँ। अब शीघ्र मुझपर कृपा करो। मैं सदा तुम्हारे अधीन रहनेवाला दास हूँ ॥ ३५½ ॥

इमाः शून्या मया वाचः शुष्यमाणेन भाषिताः ॥ ३६ ॥
न चापि रावणः कांचिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह ।

'मैंने कामाग्निसे संतप्त होकर ये बातें कही हैं। ये शून्य (निष्फल) न हों, ऐसी कृपा करो; क्योंकि रावण किसी स्त्रीको सिर झुकाकर प्रणाम नहीं करता, (केवल) तुम्हारे सामने इसका मस्तक झुका है' ॥ ३६½ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

मिथिलेशकुमारी जानकीसे ऐसा कहकर कालके वशीभूत हुआ रावण मन-ही-मन मानने लगा कि 'यह अब मेरे अधीन हो गयी' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

सीताका श्रीरामके प्रति अपना अनन्य अनुराग दिखाकर रावणको फटकारना तथा रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंका उन्हें अशोकवाटिकामें ले जाकर डराना

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता ।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावणके ऐसा कहनेपर शोकसे कष्ट पाती हुई विदेह-राजकुमारी सीता बीचमें तिनकेकी ओट करके उस निशाचरसे निर्भय होकर बोलीं—॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम धर्मसेतुरिवाचलः ।
सत्यसंधः परिज्ञातो यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥
रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं स पतिर्मम ॥ ३ ॥

'महाराज दशरथ धर्मके अचल सेतुके समान थे। वे अपनी सत्यप्रतिज्ञताके लिये सर्वत्र विख्यात थे। उनके पुत्र जो रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे भी अपने धर्मात्मापनके लिये तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, उनकी भुजाएँ लंबी और आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे ही मेरे आराध्य देवता और पति हैं ॥ २-३ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान् वधिष्यति ॥ ४ ॥

'उनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। उनके कंधे सिंहके समान और तेज महान् है। वे अपने भाई लक्ष्मणके साथ आकर तेरे प्राणोंका विनाश कर डालेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया वै धर्षिता बलात् ।
शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥ ५ ॥

'यदि तू उनके सामने बलपूर्वक मेरा अपहरण करता तो अपने भाई खरकी तरह जनस्थानके युद्धस्थलमें ही मारा जाकर सदाके लिये सो जाता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।
राघवे निर्विषाः सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥ ६ ॥

'तूने जो इन घोर रूपधारी महाबली राक्षसोंकी चर्चा की है, श्रीरामके पास जाते ही इन सबका विष उतर जायगा; ठीक उसी तरह जैसे गरुड़के पास सारे सर्प विषके प्रभावसे रहित हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः ।
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥ ७ ॥

'जैसे बढ़ी हुई गङ्गाकी लहरें अपने कगारोंको काट गिराती हैं, उसी प्रकार श्रीरामके धनुषकी डोरीसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण तेरे शरीरको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे ॥ ७ ॥

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।
उत्पाद्य सुमहद् वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

'रावण ! तू असुरों अथवा देवताओंसे यदि अवध्य है तो सम्भव है, वे तुझे न मार सकें; किंतु भगवान् श्रीरामके साथ यह महान् वैर ठानकर तू किसी तरह जीवित नहीं छूट सकेगा ॥ ८ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ ९ ॥

'श्रीरघुनाथजी बड़े बलवान् हैं। वे तेरे शेष जीवन-का अन्त कर डालेंगे। यूपमें बँधे हुए पशुकी भाँति तेरा जीवन दुर्लभ हो जायगा ॥ ९ ॥

यदि पश्येत् स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो यथा रुद्रेण मन्मथः ॥ १० ॥

'राक्षस ! यदि श्रीरामचन्द्रजी अपनी रोषभरी दृष्टिसे तुझे देख लें तो तू अभी उसी तरह जलकर खाक हो जायगा जैसे भगवान् शङ्करने कामदेवको भस्म किया था ॥ १० ॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा।
सागरं शोषयेद् वापि स सीतां मोचयेदिह ॥ ११ ॥

'जो चन्द्रमाको आकाशसे पृथ्वीपर गिराने या नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं अथवा जो समुद्रको भी सुखा सकते हैं, वे भगवान् श्रीराम यहाँ पहुँचकर सीताको भी छुड़ा सकते हैं ॥ ११ ॥

गतासुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः।
लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥ १२ ॥

'तू समझ ले कि तेरे प्राण अब चले गये। तेरी राज्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी। तेरे बल और इन्द्रियोंका भी नाश हो गया तथा तेरे ही पापके कारण तेरी यह लङ्का भी अब विधवा हो जायगी ॥ १२ ॥

न ते पापमिदं कर्म सुखोदर्कं भविष्यति।
याहं नीता विनाभावं पतिपार्श्वात् त्वया बलात् ॥ १३ ॥

'तेरा यह पापकर्म तुझे भविष्यमें सुख नहीं भोगने देगा; क्योंकि तूने मुझे बलपूर्वक पतिके पाससे दूर हटाया है ॥ १३ ॥

स हि देवरसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः।
निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके ॥ १४ ॥

'मेरे स्वामी महान् तेजस्वी हैं और मेरे देवरके साथ अपने ही पराक्रमका भरोसा करके सूने दण्डकारण्यमें निर्भयतापूर्वक निवास करते हैं ॥ १४ ॥

स ते वीर्यं बलं दर्पमुत्सेकं च तथाविधम्।
अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे ॥ १५ ॥

'वे युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके तेरे शरीरसे बल, पराक्रम, घमंड तथा ऐसे उच्छृङ्खल आचरणको भी निकाल बाहर करेंगे ॥ १५ ॥

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥ १६ ॥

'जब कालकी प्रेरणासे प्राणियोंका विनाश निकट आता है, उस समय मृत्युके अधीन हुए जीव प्रत्येक कार्यमें प्रमाद करने लगते हैं ॥ १६ ॥

मां प्रधृष्य स ते कालः प्राप्तोऽयं राक्षसाधम।
आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च ॥ १७ ॥

'अधम निशाचर ! मेरा अपहरण करनेके कारण तेरे लिये भी वही काल आ पहुँचा है। तेरे अपने लिये, सारे राक्षसोंके लिये तथा इस अन्तःपुरके लिये भी विनाशकी घड़ी निकट आ गयी है ॥ १७ ॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता।
द्विजातिमन्त्रसम्पूता चण्डालेनावमर्दितुम् ॥ १८ ॥

'यज्ञशालाके बीचकी वेदीपर, जो द्विजातियोंके मन्त्रद्वारा पवित्र की गयी होती है तथा जिसे स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञपात्र सुशोभित करते हैं, चाण्डाल अपना पैर नहीं रख सकता ॥ १८ ॥

तथाहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी दृढव्रता।
त्वया स्प्रष्टुं न शक्याहं राक्षसाधम पापिना ॥ १९ ॥

'उसी प्रकार मैं नित्य धर्मपरायण भगवान् श्रीरामकी धर्मपत्नी हूँ तथा दृढ़तापूर्वक पातिव्रत्यधर्मका पालन करती हूँ (अतः यज्ञवेदीके समान हूँ) और राक्षसाधम ! तू महापापी है (अतः चाण्डालके तुल्य है); इसलिये मेरा स्पर्श नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यशः।
हंसी सा तृणमध्यस्थं कथं द्रक्ष्येत मद्गुकम् ॥ २० ॥

'जो सदा कमलके समूहोंमें राजहंसके साथ क्रीड़ा करती है, वह हंसी तृणोंमें रहनेवाले जलकाककी ओर कैसे दृष्टिपात करेगी ॥ २० ॥

इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा घातयस्व वा।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस ॥ २१ ॥

'राक्षस ! तू इस संज्ञाशून्य जड़ शरीरको बाँधकर रख ले या काट डाल। मैं स्वयं ही इस शरीर और जीवनको नहीं रखना चाहती ॥ २१ ॥

न तु शक्यमपक्रोशं पृथिव्यां दातुमात्मनः।
एवमुक्त्वा तु वैदेही क्रोधात् सुपरुषं वचः ॥ २२ ॥
रावणं जानकी तत्र पुनर्नोवाच किंचन।

'मैं इस भूतलपर अपने लिये निन्दा या कलङ्क देनेवाला कोई कार्य नहीं कर सकती।' रावणसे क्रोधपूर्वक यह अत्यन्त कठोर वचन कहकर विदेहकुमारी जानकी चुप हो गयीं; वे वहाँ फिर कुछ नहीं बोलीं ॥ २२½ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम् ॥ २३ ॥
प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः।

सीताका वह कठोर वचन रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उसे सुनकर रावणने उनसे भय दिखानेवाली बात कही—॥ २३½ ॥

शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान् द्वादश भामिनि ॥ २४ ॥
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥ २५ ॥

'मनोहर हास्यवाली भामिनि ! मिथिलेशकुमारी ! मेरी बात सुन लो। मैं तुम्हें बारह महीनेका समय देता हूँ। इतने समयमें यदि तुम स्वेच्छापूर्वक मेरे पास नहीं आओगी

तो मेरे रसोइये सबेरेका कलेवा तैयार करनेके लिये तुम्हारे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः।
राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

सीतासे ऐसी कठोर बात कहकर शत्रुओंको रुलानेवाला रावण कुपित हो राक्षसियोंसे इस प्रकार बोला—॥ २६ ॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विरूपा घोरदर्शनाः।
दर्पमस्यापनेष्यन्तु मांसशोणितभोजनाः ॥ २७ ॥

'अपने विकराल रूपके कारण भयङ्कर दिखायी देनेवाली तथा रक्त-मांसका आहार करनेवाली राक्षसियो! तुमलोग शीघ्र ही इस सीताका अहंकार दूर करो' ॥ २७ ॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा घोरदर्शनाः।
कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

रावणके इतना कहते ही वे भयंकर दिखायी देनेवाली अत्यन्त घोर राक्षसियाँ हाथ जोड़े मैथिलीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ २८ ॥

स ताः प्रोवाच राजासौ रावणो घोरदर्शनाः।
प्रचल्य चरणोत्कर्षैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ २९ ॥

तब राजा रावण अपने पैरोंके धमाकेसे पृथ्वीको विदीर्ण करता हुआ-सा दो-चार पग चलकर उन भयानक राक्षसियोंसे बोला—॥ २९ ॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामिति।
तत्रेयं रक्ष्यतां गूढं युष्माभिः परिवारिता ॥ ३० ॥

'निशाचरियो! तुमलोग मिथिलेशकुमारी सीताको अशोकवाटिकामें ले जाओ और चारों ओरसे घेरकर वहाँ गूढ़ भावसे इसकी रक्षा करती रहो ॥ ३० ॥

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम्।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव ॥ ३१ ॥

'वहाँ पहले तो भयंकर गर्जन-तर्जन करके इसे डराना; फिर मीठे-मीठे वचनोंसे समझा-बुझाकर जंगलकी हथिनीकी भाँति इस मिथिलेशकुमारीको तुम सब लोग वशमें लानेकी चेष्टा करना' ॥ ३१ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः।
अशोकवनिकां जग्मुर्मैथिलीं परिगृह्य तु ॥ ३२ ॥

रावणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे राक्षसियाँ मैथिलीको साथ लेकर अशोकवाटिकामें चली गयीं ॥ ३२ ॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्वृताम्।
सर्वकालमदैश्चापि द्विजैः समुपसेविताम् ॥ ३३ ॥

वह वाटिका समस्त कामनाओंको फलरूपमें प्रदान करनेवाले कल्पवृक्षों तथा भाँति-भाँतिके फल-फूलवाले दूसरे-दूसरे वृक्षोंसे भी भरी थी तथा हर समय मदमत्त रहनेवाले पक्षी उसमें निवास करते थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

परंतु वहाँ जानेपर मिथिलेशकुमारी जानकीके अङ्ग-अङ्गमें शोक व्याप्त हो गया। राक्षसियोंके वशमें पड़कर उनकी दशा बाघिनोंके बीचमें घिरी हुई हरिणीके समान हो गयी थी ॥ ३४ ॥

शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा।
न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥ ३५ ॥

महान् शोकसे ग्रस्त हुई मिथिलेशनन्दिनी जानकी जालमें फँसी हुई मृगीके समान भयभीत हो क्षणभरके लिये भी चैन नहीं पाती थीं ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता।
पतिं स्मरन्ती दयितं च देवरं
विचेतनाभूद् भयशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

विकराल रूप और नेत्रोंवाली राक्षसियोंकी अत्यन्त डाँट-फटकार सुननेके कारण मिथिलेशकुमारी सीताको वहाँ शान्ति नहीं मिली। वे भय और शोकसे पीड़ित हो प्रियतम पति और देवरका स्मरण करती हुई अचेत-सी हो गयीं ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

प्रक्षिप्तः सर्गः[1]

ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका निद्रासहित लङ्कामें जाकर सीताको दिव्य खीर अर्पित करना और उनसे विदा लेकर लौटना

प्रवेशितायां सीतायां लङ्कां प्रति पितामहः।
तदा प्रोवाच देवेन्द्रं परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १ ॥

जब सीताका लङ्कामें प्रवेश हो गया, तब पितामह ब्रह्माजीने संतुष्ट हुए देवराज इन्द्रसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

१. यह सर्ग प्रसंगके अनुकूल और उत्तम है। कुछ प्रतियोंमें यह सानुवाद प्रकाशित भी है, परंतु इसपर तिलक आदि संस्कृत टीकाएँ नहीं उपलब्ध होती हैं; इसलिये कुछ लोगोंने इसे प्रक्षिप्त माना है। उपयोगी होनेके कारण इसे भी यहाँ सानुवाद प्रकाशित किया जाता है।

त्रैलोक्यस्य हितार्थाय रक्षसामहिताय च।
लङ्कां प्रवेशिता सीता रावणेन दुरात्मना ॥ २ ॥

'देवराज ! तीनों लोकोंके हित और राक्षसोंके विनाशके लिये दुरात्मा रावणने सीताको लङ्कामें पहुँचा दिया ॥ २ ॥

पतिव्रता महाभागा नित्यं चैव सुखैधिता।
अपश्यन्ती च भर्तारं पश्यन्ती राक्षसीजनम् ॥ ३ ॥
राक्षसीभिः परिवृता भर्तृदर्शनलालसा।

'पतिव्रता महाभागा जानकी सदा सुखमें ही पली हैं। इस समय वे अपने पतिके दर्शनसे वञ्चित हो गयी हैं और राक्षसियोंसे घिरी रहनेके कारण सदा उन्हींको अपने सामने देखती हैं। उनके हृदयमें अपने पतिके दर्शनकी तीव्र लालसा बनी हुई है ॥ ३½ ॥

निविष्टा हि पुरी लङ्का तीरे नदनदीपतेः ॥ ४ ॥
कथं ज्ञास्यति तां रामस्तत्रस्थां तामनिन्दिताम्।

'लङ्कापुरी समुद्रके तटपर बसी हुई है। वहाँ रहती हुई सती-साध्वी सीताका पता श्रीरामचन्द्रजीको कैसे लगेगा ॥

दुःखं संचिन्तयन्ती सा बहुशः परिदुर्लभा ॥ ५ ॥
प्राणयात्रामकुर्वाणा प्राणांस्त्यक्ष्यत्यसंशयम्।
स भूयः संशयो जातः सीतायाः प्राणसंक्षये ॥ ६ ॥

'सीता दुःखके साथ नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबी रहती हैं। पतिके लिये इस समय वे अत्यन्त दुर्लभ हो गयी हैं। प्राणयात्रा (भोजन) नहीं करती हैं; अतः ऐसी दशामें निःसंदेह वे अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगी। सीता-के प्राणोंका क्षय हो जानेपर हमारे उद्देश्यकी सिद्धिमें पुनः पूर्ववत् संदेह उपस्थित हो जायगा ॥ ५-६ ॥

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा सीतां पश्य शुभाननाम्।
प्रविश्य नगरीं लङ्कां प्रयच्छ हविरुत्तमम् ॥ ७ ॥

'अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे जाकर लङ्कापुरीमें प्रवेश करके सुमुखी सीतासे मिलो और उन्हें उत्तम हविष्य प्रदान करो' ॥ ७ ॥

एवमुक्तोऽथ देवेन्द्रः पुरीं रावणपालिताम्।
आगच्छन्निद्रया सार्धं भगवान् पाकशासनः ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर पाकशासन भगवान् इन्द्र निद्राको साथ लेकर रावणद्वारा पालित लङ्कापुरीमें आये ॥८॥

निद्रां चोवाच गच्छ त्वं राक्षसान् सम्प्रमोहय।
सा तथोक्ता मघवता देवी परमहर्षिता ॥ ९ ॥
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं प्रामोहयत् राक्षसान्।

वहाँ आकर इन्द्रने निद्रासे कहा—'तुम राक्षसोंको मोहित करो।' इन्द्रसे ऐसी आज्ञा पाकर देवी निद्रा बहुत प्रसन्न हुई। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये उन्होंने राक्षसोंको मोह (निद्रा) में डाल दिया ॥ ९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवः सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १० ॥
आससाद वनस्थां तां वचनं चेदमब्रवीत्।

इसी बीचमें सहस्र नेत्रधारी शचीपति देवराज इन्द्र अशोकवाटिकामें बैठी हुई सीताके पास गये और इस प्रकार बोले—॥ १०½ ॥

देवराजोऽस्मि भद्रं ते इह चास्मि शुचिस्मिते ॥ ११ ॥
अहं त्वां कार्यसिद्ध्यर्थं राघवस्य महात्मनः।
साहाय्यं कल्पयिष्यामि मा शुचो जनकात्मजे ॥ १२ ॥

'पवित्र मुसकानवाली देवि ! आपका भला हो। मैं देवराज इन्द्र यहाँ आपके पास आया हूँ। जनककिशोरी ! मैं आपके उद्धारकार्यकी सिद्धिके लिये महात्मा श्रीरघुनाथजीकी सहायता करूँगा, अतः आप शोक न करें ॥ ११-१२ ॥

मत्प्रसादात् समुद्रं स तरिष्यति बलैः सह।
मयैवेह च राक्षस्यो मायया मोहिताः शुभे ॥ १३ ॥

'वे मेरे प्रसादसे बड़ी भारी सेनाके साथ समुद्रको पार करेंगे। शुभे ! मैंने ही यहाँ इन राक्षसियोंको अपनी मायासे मोहित किया है ॥ १३ ॥

तस्मादन्नमिदं सीते हविष्यान्नमहं स्वयम्।
स त्वां संगृह्य वैदेहि आगतः सह निद्रया ॥ १४ ॥

'विदेहनन्दिनी सीते ! इसलिये मैं स्वयं ही यह भोजन—यह हविष्यान्न लेकर निद्राके साथ तुम्हारे पास आया हूँ ॥ १४ ॥

एतदत्स्यसि मद्धस्तान्न त्वां बाधिष्यते शुभे।
क्षुधा तृषा च रम्भोरु वर्षाणामयुतैरपि ॥ १५ ॥

'शुभे ! रम्भोरु ! यदि मेरे हाथसे इस हविष्यको लेकर खा लोगी तो तुम्हें हजारों वर्षोंतक भूख और प्यास नहीं सतायेगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु देवेन्द्रमुवाच परिशङ्किता।
कथं जानामि देवेन्द्रं त्वामिहस्थं शचीपतिम् ॥ १६ ॥

देवराजके ऐसा कहनेपर शङ्कित हुई सीताने उनसे कहा—'मुझे कैसे विश्वास हो कि आप शचीपति देवराज इन्द्र ही यहाँ पधारे हैं ? ॥ १६ ॥

देवलिङ्गानि दृष्टानि रामलक्ष्मणसंनिधौ।
तानि दर्शय देवेन्द्र यदि त्वं देवराट् स्वयम् ॥ १७ ॥

'देवेन्द्र ! मैंने श्रीराम और लक्ष्मणके समीप देवताओंके लक्षण अपनी आँखों देखे हैं। यदि आप साक्षात् देवराज हैं तो उन लक्षणोंको दिखाइये' ॥ १७ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे शचीपतिः।
पृथिवीं नास्पृशत् पद्भ्यामनिमेषेक्षणानि च ॥ १८ ॥
अरजोऽम्बरधारी च नम्लानकुसुमस्तथा।
तं ज्ञात्वा लक्षणैः सीता वासवं परिहर्षिता ॥ १९ ॥

सीताकी यह बात सुनकर शचीपति इन्द्रने वैसा किया। उन्होंने अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं किया—आकाशमें निराधार खड़े रहे। उनकी आँखोंकी पलकें नहीं गिरती थीं। उन्होंने जो वस्त्र धारण [illegible]या था, उसपर धूलका स्पर्श नहीं होता था। उनके [illegible]ठमें जो पुष्पमाला थी, उसके पुष्प कुम्हलाते नहीं थे। [illegible]चित लक्षणोंसे इन्द्रको पहचानकर सीता बहुत [illegible] हुई ॥ १८-१९ ॥

[illegible]च वाक्यं रुदती भगवन् राघवं प्रति।
[illegible] भ्रात्रा महाबाहुर्दिष्ट्या मे श्रुतिमागतः ॥ २० ॥

[illegible] वे भगवान् श्रीरामके लिये रोती हुई बोलीं—'भगवन्! [illegible]ग्यकी बात है कि आज भाईसहित महाबाहु श्रीरामका [illegible] मेरे कानोंमें पड़ा है ॥ २० ॥

[illegible] मे श्वशुरो राजा यथा च मिथिलाधिपः।
[illegible]त्वामद्य पश्यामि सनाथो मे पतिस्त्वया ॥ २१ ॥

[illegible]मेरे लिये जैसे मेरे श्वशुर महाराज दशरथ तथा [illegible]थिलानरेश जनक हैं, उसी रूपमें मैं आज आपको [illegible]हूँ। मेरे पति आपके द्वारा सनाथ हैं ॥ २१ ॥

[illegible] च देवेन्द्र पयोभूतमिदं हविः।
[illegible]मि त्वया दत्तं रघूणां कुलवर्धनम् ॥ २२ ॥

[illegible]द्र! आपकी आज्ञासे मैं यह पायसरूप हविष्य [illegible]नी हुई खीर), जिसे आपने दिया है, खाऊँगी। [illegible]घुकुलकी वृद्धि करनेवाला हो' ॥ २२ ॥

इन्द्रहस्ताद् गृहीत्वा तत् पायसं सा शुचिस्मिता।
न्यवेदयत भर्त्रे सा लक्ष्मणाय च मैथिली ॥ २३ ॥

इन्द्रके हाथसे उस खीरको लेकर उन पवित्र मुसकानवाली मैथिलीने मन-ही-मन पहले उसे अपने स्वामी श्रीराम और देवर लक्ष्मणको निवेदन किया और इस प्रकार कहा— ॥ २३ ॥

यदि जीवति मे भर्ता सह भ्रात्रा महाबलः।
इदमस्तु तयोर्भक्त्या तदाऽश्नात् पायसं स्वयम् ॥ २४ ॥

'यदि मेरे महाबली स्वामी अपने भाईके साथ जीवित हैं तो यह भक्तिभावसे उन दोनोंके लिये समर्पित है।' इतना कहनेके पश्चात् उन्होंने स्वयं उस खीरको खाया ॥ २४ ॥

इतीव तत् प्राश्य हविर्वरानना
जहौ क्षुधादुःखसमुद्भवं च तम्।
इन्द्रात् प्रवृत्तिमुपलभ्य जानकी
काकुत्स्थयोः प्रीतमना बभूव ॥ २५ ॥

इस प्रकार उस हविष्यको खाकर सुन्दर मुखवाली जानकीने भूख-प्यासके कष्टको त्याग दिया और इन्द्रके मुखसे श्रीराम तथा लक्ष्मणका समाचार पाकर वे जनकनन्दिनी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं ॥ २५ ॥

स चापि शक्रस्त्रिदिवालयं तदा
प्रीतो ययौ राघवकार्यसिद्धये।
आमन्त्र्य सीतां स ततो महात्मा
जगाम निद्रासहितः स्वमालयम् ॥ २६ ॥

तब निद्रासहित महात्मा देवराज इन्द्र भी प्रसन्न हो सीतासे विदा लेकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये अपने निवासस्थान देवलोकको चले गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे प्रक्षिप्तः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें प्रक्षिप्त सर्ग पूरा हुआ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका लौटना, मार्गमें अपशकुन देखकर चिन्तित होना तथा लक्ष्मणसे मिलनेपर उन्हें उलाहना दे सीतापर सङ्कट आनेकी आशङ्का करना

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम्।
निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि न्यवर्तत ॥ १ ॥

इधर मृगरूपसे विचरते हुए उस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मारीचका वध करके श्रीरामचन्द्रजी तुरंत ही आश्रमके मार्गपर लौटे ॥ १ ॥

तस्य संत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम्।
क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥ २ ॥

वे सीताको देखनेके लिये जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए आ रहे थे। इतनेहीमें पीछेकी ओरसे एक सियारिन बड़े कठोर स्वरमें चीत्कार करने लगी ॥ २ ॥

स तस्य स्वरमाज्ञाय दारुणं रोमहर्षणम्।
चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥ ३ ॥

गीदड़ीके उस स्वरसे श्रीरामचन्द्रजीके मनमें कुछ शङ्का हुई। उसका स्वर बड़ा ही भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। उसका अनुभव करके वे बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ ३ ॥

अशुभं बत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा।
स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना ॥ ४ ॥

वे मन-ही-मन कहने लगे—'यह सियारिन जैसी बोली बोल रही है, इससे तो मुझे मालूम हो रहा है कि कोई

अशुभ घटना घटित हो गयी। क्या विदेहनन्दिनी सीता कुशलसे होंगी? उन्हें राक्षस तो नहीं खा गये? ॥ ४ ॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालक्ष्य मामकम्।
विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद् यदि ॥ ५ ॥

'मृगरूपधारी मारीचने जान-बूझकर मेरे स्वरका अनुसरण करते हुए जो आर्त पुकार की थी, वह इसलिये कि शायद इसे लक्ष्मण सुन सकें ॥ ५ ॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वाथ मैथिलीम्।
तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति ॥ ६ ॥

'सुमित्रानन्दन लक्ष्मण वह स्वर सुनते ही सीताके ही भेजनेपर उसे अकेली छोड़कर तुरंत मेरे पास यहाँ पहुँचनेके लिये चल देंगे ॥ ६ ॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः।
काञ्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम् ॥ ७ ॥
दूरं नीत्वाथ मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः।
हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार ह ॥ ८ ॥

'राक्षसलोग तो सब-के-सब मिलकर सीताका वध अवश्य कर देना चाहते हैं। इसी उद्देश्यसे यह मारीच राक्षस सोनेका मृग बनकर मुझे आश्रमसे दूर हटा ले आया था और मेरे बाणोंसे आहत होनेपर जो उसने आर्तनाद करते हुए कहा था कि 'हा लक्ष्मण! मैं मारा गया' इसमें भी उसका वही उद्देश्य छिपा था ॥ ७-८ ॥

अपि स्वस्ति भवेद् द्वाभ्यां रहिताभ्यां मया वने।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः ॥ ९ ॥

'वनमें हम दोनों भाइयोंके आश्रमसे अलग हो जानेपर क्या सीता सकुशल वहाँ रह सकेंगी? जनस्थानमें जो राक्षसोंका संहार हुआ है, उसके कारण सारे राक्षस मुझसे वैर बाँधे ही हुए हैं ॥ ९ ॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च।
इत्येवं चिन्तयन् रामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम् ॥ १० ॥
निवर्तमानस्त्वरितो जगामाश्रममात्मवान्।

'आज बहुत-से भयङ्कर अपशकुन भी दिखायी देते हैं।' सियारिनकी बोली सुनकर इस प्रकार चिन्ता करते हुए मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम तुरंत लौटकर आश्रमकी ओर चले ॥ १०½ ॥

आत्मनश्चापनयनं मृगरूपेण रक्षसा ॥ ११ ॥
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः।

मृगरूपधारी राक्षसके द्वारा अपनेको आश्रमसे दूर हटानेकी घटनापर विचार करके श्रीरघुनाथजी शङ्कित-हृदयसे जनस्थानको आये ॥ ११½ ॥

तं दीनमानसं दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः ॥ १२ ॥
सव्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान्।

उनका मन बहुत दुखी था। वे दीन हो रहे थे। उस अवस्थामें वनके मृग और पक्षी उन्हें बायें रखते हुए वहाँ आये और भयङ्कर स्वरमें अपनी बोली बोलने लगे ॥ १२½ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः।
न्यवर्तताथ त्वरितो जवेनाश्रममात्मनः ॥ १३ ॥

उन महाभयङ्कर अपशकुनोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजी तुरंत ही बड़े वेगसे अपने आश्रमकी ओर लौटे ॥ १३ ॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम्।
ततोऽविदूरे रामेण समीयाय स लक्ष्मणः ॥ १४ ॥

इतनेहीमें उन्हें लक्ष्मण आते दिखायी दिये। उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। थोड़ी ही देरमें निकट आकर लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीसे मिले ॥ १४ ॥

विषण्णः सन् विषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना।
स जगर्हेऽथ तं भ्राता दृष्ट्वा लक्ष्मणमागतम् ॥ १५ ॥
विहाय सीतां विजने वने राक्षससेविते।

दुःख और विषादमें डूबे हुए लक्ष्मणने दुखी और विषादग्रस्त श्रीरामचन्द्रजीसे भेंट की। उस समय राक्षसोंसे सेवित निर्जन वनमें सीताको अकेली छोड़कर आये हुए लक्ष्मणको देख भाई श्रीरामने उनकी निन्दा की ॥ १५½ ॥

गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १६ ॥
उवाच मधुरोदर्कमिदं परुषमार्तवत्।

लक्ष्मणका बायाँ हाथ पकड़कर रघुनन्दन आर्त-से हो गये और पहले कठोर तथा अन्तमें मधुर वाणीद्वारा इस प्रकार बोले—॥ १६½ ॥

अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यत् त्वं विहाय ताम् ॥ १७ ॥
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित् स्वस्ति भवेदिति।

'अहो सौम्य लक्ष्मण! यह तुमने बहुत बुरा किया, जो सीताको अकेली छोड़कर यहाँ चले आये। क्या वहाँ सीता सकुशल होगी? ॥ १७½ ॥

न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥ १८ ॥
विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः।

'वीर! मुझे इस बातमें संदेह नहीं है कि वनमें विचरनेवाले राक्षसोंने जनककुमारी सीताको या तो सर्वथा नष्ट कर दिया होगा या वे उन्हें खा गये होंगे ॥ १८½ ॥

अशुभान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ १९ ॥
अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयामहे।
जीवन्त्याः पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य वै ॥ २० ॥

'क्योंकि मेरे आसपास बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं। पुरुषसिंह लक्ष्मण! क्या हमलोग जीती-जागती

हुई जनकदुलारी सीताको पूर्णतः स्वस्थ एवं सकुशल पा सकेंगे ?॥

यथा वै मृगसंघाश्च गोमायुश्चैव भैरवम्।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम्।
अपि स्वस्ति भवेत् तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥ २१ ॥

'महाबली लक्ष्मण ! ये मृगोंके झुंड (दाहिनी ओरसे आकर) जैसा अमङ्गल सूचित कर रहे हैं, ये गीदड़ जिस तरह भैरवनाद कर रहे हैं तथा जलती-सी प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें पक्षी जिस तरहकी बोली बोल रहे हैं— इन सबसे यही अनुमान होता है कि राजकुमारी सीता शायद ही कुशलसे हों ॥ २१ ॥

इदं हि रक्षो मृगसंनिकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम्।
हतं कथंचिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥ २२ ॥

'यह राक्षस मृगके समान रूप धारण करके मुझे लुभाकर दूर चला आया था। महान् परिश्रम करके जब मैंने इसे किसी तरह मारा, तब यह मरते ही राक्षस हो गया ॥ २२ ॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ २३ ॥

'लक्ष्मण ! अतः मेरा मन अत्यन्त दीन और अप्रसन्न हो रहा है। मेरी बायीं आँख फड़क रही है, इससे जान पड़ता है, निःसंदेह आश्रमपर सीता नहीं है। उसे कोई हर ले गया, वह मारी गयी अथवा (किसी राक्षसके साथ) मार्गमें होगी' ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

मार्गमें अनेक प्रकारकी आशङ्का करते हुए लक्ष्मणसहित श्रीरामका आश्रममें आना और वहाँ सीताको न पाकर व्यथित होना

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्यं दशरथात्मजः।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥ १ ॥

लक्ष्मणको दीन, संतोषशून्य तथा सीताको साथ लिये बिना आया देख धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामने पूछा—॥ १ ॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगाम ह।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥ २ ॥

'लक्ष्मण ! जो दण्डकारण्यकी ओर प्रस्थित होनेपर अयोध्यासे मेरे पीछे-पीछे चली आयी तथा जिसे तुम अकेली छोड़कर यहाँ आ गये, वह विदेहराजकुमारी सीता इस समय कहाँ है ? ॥ २ ॥

राज्यभ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान् परिधावतः।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा ॥ ३ ॥

'मैं राज्यसे भ्रष्ट और दीन होकर दण्डकारण्यमें चक्कर लगा रहा हूँ। इस दुःखमें जो मेरी सहायिका हुई, वह तनुमध्यमा (सूक्ष्मकटिप्रदेशवाली) विदेहराजकुमारी कहाँ है ? ॥ ३ ॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम्।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता सुरसुतोपमा ॥ ४ ॥

'वीर ! जिसके बिना मैं दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता तथा जो मेरे प्राणोंकी सहचरी है, वह देवकन्याके समान सुन्दरी सीता इस समय कहाँ है ? ॥ ४ ॥

पतित्वममराणां हि पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण।
विना तां तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

'लक्ष्मण ! तपाये हुए सोनेके समान कान्तिवाली जनकनन्दिनी सीताके बिना मैं पृथ्वीका राज्य और देवताओंका आधिपत्य भी नहीं चाहता ॥ ५ ॥

कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम।
कच्चित् प्रव्राजनं वीर न मे मिथ्या भविष्यति ॥ ६ ॥

'वीर ! जो मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है, वह विदेहराजकुमारी सीता क्या अब जीवित होगी ? मेरा वनमें आना सीताको खो देनेके कारण व्यर्थ तो नहीं हो जायगा ? ॥ ६ ॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि।
कच्चित् सकामा कैकेयी सुखिता सा भविष्यति ॥ ७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! सीताके नष्ट हो जानेके कारण जब मैं मर जाऊँगा और तुम अकेले ही अयोध्याको लौटोगे, उस समय क्या माता कैकेयी सफलमनोरथ एवं सुखी होगी ? ॥ ७ ॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चित् सौम्येन कैकयीम् ॥ ८ ॥

'जिसका इकलौता पुत्र मैं मर जाऊँगा, वह तपस्विनी माता कौसल्या क्या पुत्र और राज्यसे सम्पन्न

तथा कृतकृत्य हुई कैकेयीकी सेवामें विनीतभावसे उपस्थित होगी ? ॥ ८ ॥

यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः।
संवृत्ता यदि वृत्ता सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! यदि विदेहनन्दिनी सीता जीवित होगी, तभी मैं फिर आश्रममें पैर रखूँगा । यदि सदाचार-परायणा मैथिली मर गयी होगी तो मैं भी प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ॥ ९ ॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते।
पुनः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! यदि आश्रममें जानेपर विदेहराजकुमारी सीता हँसते हुए मुखसे सामने आकर मुझसे बात नहीं करेगी तो मैं जीवित नहीं रहूँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! बोलो तो सही ! वैदेही जीवित है या नहीं ? तुम्हारे असावधान होनेके कारण राक्षस उस तपस्विनी-को खा तो नहीं गये ? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखभागिनी।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

'जो सुकुमारी है, बाला (भोली-भाली) है तथा जिसने वनवासके पहले दुःखका अनुभव नहीं किया था, वह वैदेही आज मेरे वियोगसे व्यथित-चित्त होकर अवश्य ही शोक कर रही होगी ॥ १२ ॥

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन सुदुरात्मना।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्तवापि जनितं भयम् ॥ १३ ॥

'उस कुटिल एवं दुरात्मा राक्षसने उच्चस्वरसे 'हा लक्ष्मण !' ऐसा पुकारकर तुम्हारे मनमें भी सर्वथा भय उत्पन्न कर दिया ॥ १३ ॥

श्रुतश्च मन्ये वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥ १४ ॥

'जान पड़ता है, वैदेहीने भी मेरे स्वरसे मिलता-जुलता उस राक्षसका स्वर सुन लिया और भयभीत होकर तुम्हें भेज दिया और तुम भी शीघ्र ही मुझे देखनेके लिये चले आये ॥ १४ ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने।
प्रतिकर्तुं नृशंसानां रक्षसां दत्तमन्तरम् ॥ १५ ॥

'जो भी हो—तुमने वनमें सीताको अकेली छोड़कर सर्वथा दुःखद कार्य कर डाला । क्रूर कर्म करनेवाले राक्षसोंको बदला लेनेका अवसर दे दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

'मांसभक्षी निशाचर मेरे हाथों खरके मारे जानेसे बहुत दुखी थे । उन घोर राक्षसोंने सीताको मार डाला होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

अहोऽस्मि व्यसने मग्नः सर्वथा रिपुनाशन।
किं त्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम् ॥ १७ ॥

'शत्रुनाशन ! मैं सर्वथा संकटके समुद्रमें डूब गया हूँ । ऐसे दुःखका अवश्य ही अनुभव करना पड़ेगा—ऐसी शङ्का हो रही है । अतः अब मैं क्या करूँ ?' ॥ १७ ॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः।
आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीताके विषयमें चिन्ता करते हुए ही लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजी तुरंत जनस्थानमें आये ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं
क्षुधाश्रमेणैव पिपासया च।
विनिःश्वसञ्शुष्कमुखो विषण्णः
प्रतिश्रयं प्राप्य समीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

अपने दुखी अनुज लक्ष्मणको कोसते एवं भूख-प्यास तथा परिश्रमसे लंबी साँस खींचते हुए सूखे मुँहवाले श्रीरामचन्द्रजी आश्रमके निकटवर्ती स्थानपर आकर उसे सूना देख विषादमें डूब गये ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं स प्रविगाह्य वीरो
विहारदेशाननुसृत्य कांश्चित्।
एतत्तदित्येव निवासभूमौ
प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥ २० ॥

वीर श्रीरामने आश्रममें प्रवेश करके उसे भी सूना देख कुछ ऐसे स्थलोंमें अनुसंधान किया, जो सीताके विहारस्थान थे । उन्हें भी सूना पाकर उस क्रीड़ाभूमिमें यही वह स्थान है, जहाँ मैंने अमुक प्रकारकी क्रीड़ा की थी, ऐसा स्मरण करके उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वे व्यथासे पीड़ित हो गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा रघुनन्दनः।
परिपप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुःखादिदं वचः॥ १॥

(आश्रममें आनेसे पहले मार्गमें श्रीराम और लक्ष्मणने परस्पर जो बातें की थीं, उन्हें पुनः विस्तारके साथ बता रहे हैं—) सीताके कथनानुसार आश्रमसे अपने पास आये हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे मार्गमें भी रघुकुलनन्दन श्रीरामने बड़े दुःखसे यह बात पूछी—॥ १॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोऽपास्य मैथिलीम्।
यदा सा तव विश्वासाद् वने विरहिता मया॥ २॥

'लक्ष्मण! जब मैंने तुम्हारे विश्वासपर ही वनमें सीताको छोड़ा था, तब तुम उसे अकेली छोड़कर क्यों चले आये?॥ २॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण।
शङ्कमानं महत् पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः॥ ३॥

'लक्ष्मण! मिथिलेशकुमारीको छोड़कर तुम जो मेरे पास आये हो, तुम्हें देखते ही जिस महान् अनिष्टकी आशङ्का करके मेरा मन व्यथित हो रहा था, वह सत्य जान पड़ने लगा है॥ ३॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि॥ ४॥

'लक्ष्मण! मेरी बायीं आँख और बायीं भुजा फड़क रही है। तुम्हें आश्रमसे दूर सीताके बिना ही मार्गपर आते देख मेरा हृदय भी धक-धक कर रहा है'॥ ४॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत्॥ ५॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मण अत्यन्त दुखी होकर अपने शोकग्रस्त भाई श्रीरामसे बोले—॥ ५॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः॥ ६॥

'भैया! मैं स्वयं अपनी इच्छासे उन्हें छोड़कर नहीं आया हूँ। उन्हींके कठोर वचनोंसे प्रेरित होकर मुझे आपके पास आना पड़ा है॥ ६॥

आर्येणेव परिक्रुष्टं लक्ष्मणेति सुविस्वरम्।
परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम्॥ ७॥

'आपके ही समान स्वरमें किसीने जोरसे पुकारा, 'लक्ष्मण! मुझे बचाओ!' यह वाक्य मिथिलेशकुमारीके कानोंमें भी पड़ा॥ ७॥

सा तमार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली।
गच्छ गच्छेति मामाशु रुदती भयविक्लवा॥ ८॥

'उस आर्तनादको सुनकर मैथिली आपके प्रति स्नेहके कारण भयसे व्याकुल हो गयीं और रोती हुई मुझसे तुरंत बोलीं—'जाओ, जाओ'॥ ८॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया।
प्रत्युक्ता मैथिलीवाक्यमिदं तत् प्रत्ययान्वितम्॥ ९॥

'जब बारंबार उन्होंने 'जाओ' कहकर मुझे प्रेरित किया, तब उन्हें विश्वास दिलाते हुए मैंने मैथिलीसे यह बात कही—॥ ९॥

न तत् पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत्।
निर्वृता भव नास्त्येतत् केनाप्येतदुदाहृतम्॥ १०॥

"देवि! मैं ऐसे किसी राक्षसको नहीं देखता, जो भगवान् श्रीरामको भी भयमें डाल सके। आप शान्त रहें, यह भैयाकी आवाज नहीं है। किसी दूसरेने इस तरहकी पुकार की है॥ १०॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति।
त्राहीति वचनं सीते यस्त्रायेत् त्रिदशानपि॥ ११॥

"सीते! जो देवताओंकी भी रक्षा कर सकते हैं, वे मेरे बड़े भाई 'मुझे बचाओ' ऐसा निन्दित (कायरतापूर्ण) वचन कैसे कहेंगे?॥ ११॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम्।
विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति॥ १२॥

"किसी दूसरेने किसी बुरे उद्देश्यसे मेरे भैयाके स्वरकी नकल करके 'लक्ष्मण! मुझे बचाओ' यह बात जोरसे कही है॥ १२॥

राक्षसेनेरितं वाक्यं त्रासात् त्राहीति शोभने।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता॥ १३॥

"शोभने! उस राक्षसने ही भयके कारण (मुझे बचाओ) यह बात मुँहसे निकाली है। आपको व्यथित नहीं होना चाहिये। ऐसी व्यथाको नीच श्रेणीकी स्त्रियाँ ही अपने मनमें स्थान देती हैं॥ १३॥

अलं विक्लवतां गन्तुं स्वस्था भव निरुत्सुका।
न चास्ति त्रिषु लोकेषु पुमान् यो राघवं रणे॥ १४॥
जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत्।
अजेयो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः॥ १५॥

"तुम व्याकुल मत होओ, स्वस्थ हो जाओ, चिन्ता छोड़ो। तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पुरुष न तो उत्पन्न हुआ

है, न हो रहा है और न होगा ही, जो युद्धमें श्रीरघुनाथजीको परास्त कर सके। संग्राममें इन्द्र आदि देवता भी श्रीरामको नहीं जीत सकते' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही परिमोहितचेतना।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥ १६ ॥

'मेरे ऐसा कहनेपर विदेहराजकुमारीकी चेतना मोहसे आच्छन्न हो गयी। वे आँसू बहाती हुई मुझसे अत्यन्त कठोर वचन बोलीं—॥ १६ ॥

भावो मयि तवात्यर्थपाप एव निवेशितः।
विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसे ॥ १७ ॥

''लक्ष्मण! तेरे मनमें मेरे लिये अत्यन्त पापपूर्ण भाव भरा है। तू अपने भाईके मरनेपर मुझे प्राप्त करना चाहता है, परंतु मुझे पा नहीं सकेगा ॥ १७ ॥

संकेताद् भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैनमभ्यवपद्यसे ॥ १८ ॥

''तू भरतके इशारेसे अपने स्वार्थके लिये श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे आया है। तभी तो वे जोर-जोरसे चिल्ला रहे हैं और तू उनके पास जातातक नहीं है ॥ १८ ॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि।
राघवस्यान्तरं प्रेप्सुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥ १९ ॥

''तू अपने भाईका छिपा हुआ शत्रु है। मेरे लिये ही श्रीरामका अनुसरण करता है और श्रीरामके छिद्र ढूँढ़ रहा है। तभी तो संकटके समय उनके पास जानेका नाम नहीं लेता है' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः।
क्रोधात् प्रस्फुरमाणोष्ठ आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

'विदेहकुमारीके ऐसा कहनेपर मैं रोषसे भर गया। मेरी आँखें लाल हो गयीं और क्रोधसे मेरे होंठ फड़कने लगे। इस अवस्थामें मैं आश्रमसे निकल आया' ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः संतापमोहितः।
अब्रवीद् दुष्कृतं सौम्य तां विना त्वमिहागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणकी ऐसी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी संतापसे मोहित हो गये और उनसे बोले—'सौम्य! तुमने बड़ा बुरा किया, जो तुम सीताको छोड़कर यहाँ चले आये ॥ २१ ॥

जानन्नपि समर्थं मां रक्षसामपवारणे।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निर्गतो भवान् ॥ २२ ॥

'मैं राक्षसोंका निवारण करनेमें समर्थ हूँ, यह जानते हुए भी तुम मैथिलीके क्रोधयुक्त वचनसे उत्तेजित होकर निकल पड़े ॥ २२ ॥

नहि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यदसि मैथिलीम्।
क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्त्रिया यत् त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

'क्रोधमें भरी हुई नारीके कठोर वचनको सुनकर जो तुम मिथिलेशकुमारीको छोड़कर यहाँ चले आये, इससे मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट नहीं हूँ ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत् प्रचोदितः।
क्रोधस्य वशमागम्य नाकरोः शासनं मम ॥ २४ ॥

'सीतासे प्रेरित होकर क्रोधके वशीभूत हो तुमने मेरे आदेशका पालन नहीं किया; यह सर्वथा तुम्हारा अन्याय है ॥ २४ ॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

'जिसने मृगरूप धारण करके मुझे आश्रमसे दूर हटा दिया, वह राक्षस मेरे बाणोंसे घायल होकर सदाके लिये सो रहा है ॥ २५ ॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया।
मार्गीं तनुं त्यज्य च विक्लवस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

'धनुष खींचकर उस बाणका संधान करके मैंने लीलापूर्वक चलाये हुए बाणसे ज्यों ही उस मृगको मारा, त्यों ही वह मृगके शरीरका परित्याग करके बाँहोंमें बाजूबंद धारण करनेवाला राक्षस बन गया। उसके स्वरमें बड़ी व्याकुलता आ गयी थी ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसुश्रवम्।
उदाहृतं तद् वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥

'बाणसे आहत होनेपर ही उसने आर्तवाणीमें मेरे स्वरकी नकल करके बहुत दूरतक सुनायी देनेवाला वह अत्यन्त दारुण वचन कहा था, जिससे तुम मिथिलेशकुमारी सीताको छोड़कर यहाँ चले आये हो' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप करते हुए वृक्षों और पशुओंसे सीताका पता पूछना, भ्रान्त होकर रोना और बारंबार उनकी खोज करना

भृशमाव्रजमानस्य तस्याधो वामलोचनम्।
प्रास्फुरच्चास्खलद् रामो वेपथुश्चास्य जायते ॥ १ ॥

आश्रमकी ओर आते समय श्रीरामकी बायीं आँखकी नीचेवाली पलक जोर-जोरसे फड़कने लगी। श्रीराम चलते-

चलते लड़खड़ा गये और उनके शरीरमें कम्प होने लगा ॥ १ ॥

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः ।
अपि क्षेमं तु सीताया इति वै व्याजहार ह ॥ २ ॥

बारंबार इन अपशकुनोंको देखकर वे कहने लगे—क्या सीता सकुशल होगी ? ॥ २ ॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः ।
शून्यमावसथं दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ ३ ॥

सीताको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो वे बड़ी उतावलीके साथ आश्रमपर गये । वहाँ कुटिया सूनी देख उनका मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा ॥ ३ ॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन् रघुनन्दनः ।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ४ ॥
ददर्श पर्णशालां च सीतया रहितां तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ॥ ५ ॥

रघुनन्दन बड़े वेगसे इधर-उधर चक्कर लगाने और हाथ-पैर चलाने लगे । उन्होंने वहाँ जहाँ-तहाँ बनी हुई एक-एक पर्णशालाको चारों ओरसे देख डाला, किंतु उस समय उसे सीतासे सूनी ही पाया । जैसे हेमन्त ऋतुमें कमलिनी हिमसे ध्वस्त हो श्रीहीन हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक पर्णशाला शोभाशून्य हो गयी थी ॥ ४-५ ॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च ग्लानपुष्पमृगद्विजम् ।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं संत्यक्तं वनदैवतैः ॥ ६ ॥

वह स्थान वृक्षों (की सनसनाहट) के द्वारा मानो रो रहा था, फूल मुरझा गये थे, मृग और पक्षी मन मारे बैठे थे । वहाँकी सम्पूर्ण शोभा नष्ट हो गयी थी । सारी कुटी उजाड़ दिखायी देती थी । वनके देवता भी उस स्थानको छोड़कर चले गये थे ॥ ६ ॥

विप्रकीर्णाजिनकुशं विप्रविद्धबृसीकटम् ।
दृष्ट्वा शून्योटजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥ ७ ॥

सब ओर मृगचर्म और कुश बिखरे हुए थे । चटाइयाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं । पर्णशालाको सूनी देख भगवान् श्रीराम बारंबार विलाप करने लगे— ॥ ७ ॥

हृता मृता वा नष्टा वा भक्षिता वा भविष्यति ।
निलीनाप्यथवा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥ ८ ॥

'हाय ! सीताको किसीने हर तो नहीं लिया । उसकी मृत्यु तो नहीं हो गयी अथवा वह खो तो नहीं गयी या किसी राक्षसने उसे खा तो नहीं लिया । वह भीरु कहीं छिप तो नहीं गयी है अथवा फल-फूल लानेके लिये वनके भीतर तो नहीं चली गयी ॥ ८ ॥

गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः ।
अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥ ९ ॥

'सम्भव है, फल-फूल लानेके लिये ही गयी हो या जल लानेके लिये किसी पुष्करिणी अथवा नदीके तटपर गयी हो' ॥ ९ ॥

यत्नान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम् ।
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने प्रयत्नपूर्वक अपनी प्रिय पत्नी सीताको वनमें चारों ओर ढूँढ़ा, किंतु कहीं भी उनका पता न लगा । शोकके कारण श्रीमान् रामकी आँखें लाल हो गयीं । वे उन्मत्तके समान दिखायी देने लगे ॥ १० ॥

वृक्षाद् वृक्षं प्रधावन् स गिरींश्चापि नदीनदम् ।
बभ्राम विलपन् रामः शोकपङ्कार्णवप्लुतः ॥ ११ ॥

एक वृक्षसे दूसरे वृक्षके पास दौड़ते हुए वे पर्वतों, नदियों और नदोंके किनारे घूमने लगे । शोकके समुद्रमें डूबे हुए श्रीरामचन्द्रजी विलाप करते-करते वृक्षोंसे पूछने लगे—॥ ११ ॥

अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥ १२ ॥
स्निग्धपल्लवसंकाशां पीतकौशेयवासिनीम् ।
शंसस्व यदि सा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी ॥ १३ ॥

'कदम्ब ! मेरी प्रिया सीता तुम्हारे पुष्पसे बहुत प्रेम करती थी, क्या वह यहाँ है ? क्या तुमने उसे देखा है ? यदि जानते हो तो उस शुभानना सीताका पता बताओ । उसके अङ्ग सुस्निग्ध पल्लवोंके समान कोमल हैं तथा शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी सोभा पाती है । बिल्व ! मेरी प्रियाके स्तन तुम्हारे ही समान हैं । यदि तुमने उसे देखा हो तो बताओ ॥ १२-१३ ॥

अथवार्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।
जनकस्य सुता तन्वी यदि जीवति वा न वा ॥ १४ ॥

'अथवा अर्जुन ! तुम्हारे फूलोंपर मेरी प्रियाका विशेष अनुराग था, अतः तुम्हीं उसका कुछ समाचार बताओ । कृशाङ्गी जनककिशोरी जीवित है या नहीं ? ॥ १४ ॥

ककुभः ककुभोरुं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।
लतापल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥ १५ ॥
भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्यसि ।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥ १६ ॥

'यह ककुभ[1] अपने ही समान ऊरुवाली मिथिलेश-कुमारीको अवश्य जानता होगा; क्योंकि यह वनस्पति लता, पल्लव तथा फूलोंसे सम्पन्न हो बड़ी शोभा पा रहा

---

१. रामायणके व्याख्याकारोंमेंसे किसीने ककुभका अर्थ मरुवक लिखा है और किसीने अर्जुनविशेष, किंतु कोषोंमें यह कुटजका पर्याय बताया गया है ।

है। ककुभ! तुम सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ हो, क्योंकि ये भ्रमर तुम्हारे समीप आकर अपने झंकारोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करते हैं। (तुम्हीं सीताका पता बताओ, अहो! यह भी कोई उत्तर नहीं दे रहा है।) यह तिलक वृक्ष अवश्य सीताके विषयमें जानता होगा; क्योंकि मेरी प्रिया सीताको भी तिलकसे प्रेम था ॥ १५-१६ ॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतनम्।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासंदर्शनेन माम् ॥ १७ ॥

'अशोक! तुम शोक दूर करनेवाले हो। इधर मैं शोकसे अपनी चेतना खो बैठा हूँ। मुझे मेरी प्रियतमाका दर्शन कराकर शीघ्र ही अपने-जैसे नामवाला बना दो—मुझे अशोक (शोकहीन) कर दो ॥ १७ ॥

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालोपमस्तनी।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि ॥ १८ ॥

'ताल वृक्ष! तुम्हारे पके हुए फलके समान स्तनवाली सीताको यदि तुमने देखा हो तो बताओ। यदि मुझपर तुम्हें दया आती हो तो उस सुन्दरीके विषयमें अवश्य कुछ कहो ॥ १८ ॥

यदि दृष्टा त्वया जम्बो जाम्बूनदसमप्रभा।
प्रियां यदि विजानासि निःशङ्कं कथयस्व मे ॥ १९ ॥

'जामुन! जाम्बूनद (सुवर्ण) के समान कान्तिवाली मेरी प्रिया यदि तुम्हारी दृष्टिमें पड़ी हो, यदि तुम उसके विषयमें कुछ जानते हो तो निःशङ्क होकर मुझे बताओ ॥ १९ ॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य पुष्पितः शोभसे भृशम्।
कर्णिकारप्रियां साध्वीं शंस दृष्टा यदि प्रिया ॥ २० ॥

'कनेर! आज तो फूलोंके लगनेसे तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है। अहो! मेरी प्रिया साध्वी सीताको तुम्हारे ये पुष्प बहुत पसंद थे। यदि तुमने उसे कहीं देखा हो तो मुझसे कहो' ॥ २० ॥

चूतनीपमहासालान् पनसान् कुरवान् धवान्।
दाडिमानपि तान् गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः ॥ २१ ॥
बकुलानथ पुन्नागांश्चन्दनान् केतकांस्तथा।
पृच्छन् रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ २२ ॥

इसी प्रकार आम, कदम्ब, विशाल शाल, कटहल, कुरव, धव और अनार आदि वृक्षोंको भी देखकर महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी उनके पास गये और वकुल, पुन्नाग, चन्दन तथा केवड़े आदिके वृक्षोंसे भी पूछते फिरे। उस समय वे वनमें पागलकी तरह इधर-उधर भटकते दिखायी देते थे ॥ २१-२२ ॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम्।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥ २३ ॥

अपने सामने हरिणको देखकर वे बोले—'मृग! अथवा तुम्हीं बताओ! मृगनयनी मैथिलीको जानते हो। मेरी प्रियाकी दृष्टि भी तुम हरिणोंकी-सी है, अतः सम्भव है, वह हरिणियोंके ही साथ हो ॥ २३ ॥

गज सा गजनासोरुर्यदि दृष्टा त्वया भवेत्।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण ॥ २४ ॥

'श्रेष्ठ गजराज! तुम्हारी सूँड़के समान ही जिसके दोनों ऊरु हैं, उस सीताको सम्भवतः तुमने देखा होगा। मालूम होता है, तुम्हें उसका पता विदित है, अतः बताओ! वह कहाँ है! ॥ २४ ॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना।
मैथिली मम विस्रब्धः कथयस्व न ते भयम् ॥ २५ ॥

'व्याघ्र! यदि तुमने मेरी प्रिया चन्द्रमुखी मैथिलीको देखा हो तो निःशङ्क होकर बता दो, मुझसे तुम्हें कोई भय नहीं होगा' ॥ २५ ॥

किं धावसि प्रिये नूनं दृष्टासि कमलेक्षणे।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २६ ॥

(इतनेहीमें उनको भ्रम हुआ कि सीता उधर भागकर छिप रही है, तब वे बोले—) 'प्रिये! क्यों भागी जा रही हो। कमललोचने! निश्चय ही मैंने तुम्हें देख लिया है। तुम वृक्षोंकी ओटमें अपने-आपको छिपाकर मुझसे बात क्यों नहीं करती हो? ॥ २६ ॥

तिष्ठ तिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि।
नात्यर्थं हास्यशीलासि किमर्थं मामुपेक्षसे ॥ २७ ॥

'वरारोहे! ठहरो, ठहरो! क्या तुम्हें मुझपर दया नहीं आती है। अधिक हास-परिहास करनेका तुम्हारा स्वभाव तो नहीं था, फिर किसलिये मेरी उपेक्षा करती हो? ॥ २७ ॥

पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ॥ २८ ॥

'सुन्दरि! पीली रेशमी साड़ीसे ही, तुम कहाँ हो—यह सूचना मिल जाती है। भागी जाती हो तो भी मैंने तुम्हें देख लिया है। यदि मेरे प्रति स्नेह एवं सौहार्द हो तो खड़ी हो जाओ' ॥ २८ ॥

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ॥ २९ ॥

(फिर भ्रम दूर होनेपर बोले—) 'अथवा निश्चय ही वह नहीं है। उस मनोहर मुसकानवाली सीताको राक्षसोंने मार डाला, अन्यथा इस तरह संकटमें पड़े हुएकी (मेरी) वह कदापि उपेक्षा नहीं कर सकती थी ॥ २९ ॥

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥ ३० ॥

'स्पष्ट जान पड़ता है कि मांसभक्षी राक्षसोंने मुझसे बिछुड़ी हुई मेरी भोली-भाली प्रिया मैथिलीको उसके सारे अङ्ग बाँटकर खा लिया ॥ ३० ॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं शुभकुण्डलम् ।
पूर्णचन्द्रनिभं ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥ ३१ ॥

'सुन्दर दाँत, मनोहर ओष्ठ, सुघड़ नासिकासे युक्त तथा रुचिर कुण्डलोंसे अलंकृत वह पूर्ण चन्द्रमाके समान अभिराम मुख राक्षसोंका ग्रास बनकर निश्चय ही अपनी प्रभा खो बैठा होगा ॥ ३१ ॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयकोचिता ।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥ ३२ ॥

'रोती-बिलखती हुई प्रियतमा सीताकी वह चम्पाके समान वर्णवाली कोमल एवं सुन्दर ग्रीवा, जो हार और हँसली आदि आभूषण पहननेके योग्य थी, निशाचरोंका आहार बन गयी ॥ ३२ ॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥ ३३ ॥

'वे नूतन पल्लवोंके समान कोमल भुजाएँ, जो इधर-उधर पटकी जा रही होंगी और जिनके अग्रभाग काँप रहे होंगे, हाथोंके आभूषण तथा बाजूबंदसहित निश्चय ही राक्षसोंके पेटमें चली गयीं ॥ ३३ ॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै ।
सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥ ३४ ॥

'मैंने राक्षसोंका भक्ष्य बननेके लिये ही उस बालाको अकेली छोड़ दिया । यद्यपि उसके बन्धु-बान्धव बहुत हैं, तथापि वह यात्रियोंके समुदायसे विलग हुई किसी अकेली स्त्रीकी भाँति निशाचरोंका ग्रास बन गयी ॥ ३४ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसे त्वं प्रियां क्वचित् ।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
इत्येवं विलपन् रामः परिधावन् वनाद् वनम् ।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात् क्वचिद् विभ्रमते बलात् ॥ ३६ ॥

'हा महाबाहु लक्ष्मण ! क्या तुम कहीं मेरी प्रियतमाको देखते हो ? हा प्रिये ! हा भद्रे ! हा सीते ! तुम कहाँ चली गयी ?' इस तरह बारंबार विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी एक वनसे दूसरे वनमें दौड़ने लगे । वे कहीं सीताकी समानता पाकर उद्भ्रान्त हो उठते (उछल पड़ते थे) और कहीं शोककी प्रबलताके कारण विभ्रान्त हो जाते (बवंडरकी भाँति चक्कर काटने लगते) थे ॥ ३५-३६ ॥

क्वचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः ।
स वनानि नदीः शैलान् गिरिप्रस्रवणानि च ।
काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥ ३७ ॥

अपनी प्रियतमाकी खोज करते हुए वे कभी-कभी पागलोंकी-सी चेष्टा करने लगते थे । उन्होंने बड़ी दौड़-धूप करके कहीं भी विश्राम न करते हुए वनों, नदियों, पर्वतों, पहाड़ी झरनों और विभिन्न काननोंमें घूम-घूमकर अन्वेषण किया ॥ ३७ ॥

तदा स गत्वा विपुलं महद् वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति ।
अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम् ॥ ३८ ॥

उस समय मिथिलेशकुमारीको ढूँढ़नेके लिये वे उस विशाल एवं विस्तृत वनमें गये और सबमें चक्कर लगाकर थक गये तो भी निराश नहीं हुए । उन्होंने पुनः अपनी प्रियतमाके अनुसंधानके लिये बड़ा भारी परिश्रम किया ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज और उनके न मिलनेसे श्रीरामकी व्याकुलता

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः ।
रहितां पर्णशालां च प्रविद्धान्यासनानि च ॥ १ ॥
अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं संनिरीक्ष्य च सर्वशः ।
उवाच रामः प्राक्रुश्य प्रगृह्य रुचिरौ भुजौ ॥ २ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने देखा कि आश्रमके सभी स्थान सीताके सूने हैं तथा पर्णशालामें भी सीता नहीं हैं और बैठनेके आसन इधर-उधर फेंके पड़े हैं । तब उन्होंने पुनः वहाँके सभी स्थानोंका निरीक्षण किया और चारों ओर ढूँढ़नेपर भी जब विदेहकुमारीका कहीं पता नहीं लगा, तब श्रीरामचन्द्रजी अपनी दोनों सुन्दर भुजाएँ ऊपर उठाकर सीताका नाम ले जोर-जोरसे पुकार करके लक्ष्मणसे बोले—॥ १-२ ॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता ।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥ ३ ॥

'भैया लक्ष्मण ! विदेहराजकुमारी कहाँ हैं ? यहाँसे किस देशमें चली गयीं ? सुमित्रानन्दन ! मेरी प्रिया सीताको कौन हर ले गया ? अथवा किस राक्षसने खा डाला ?' ॥ ३ ॥

वृक्षेणावार्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥ ४ ॥

(फिर वे सीताको सम्बोधित करके बोले—) 'सीते ! यदि तुम वृक्षोंकी आड़में अपनेको छिपाकर मुझसे हँसी करना चाहती हो तो इस समय यह हँसी ठीक नहीं है । मैं बहुत दुखी हो रहा हूँ, तुम मेरे पास आ जाओ ॥ ४ ॥

यैः परिक्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यस्राविलेक्षणाः॥ ५ ॥

'सौम्य स्वभाववाली सीते ! जिन विश्वस्त मृगछौनोंके साथ तुम खेला करती थी, वे आज तुम्हारे बिना दुखी हो आँखोंमें आँसू भरकर चिन्तामग्न हो गये हैं' ॥ ५ ॥

सीतया रहितोऽहं वै नहि जीवामि लक्ष्मण ।
वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥ ६ ॥
परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।

'लक्ष्मण ! सीतासे रहित होकर मैं जीवित नहीं रह सकता । सीताहरणजनित महान् शोकने मुझे चारों ओरसे घेर लिया है । निश्चय ही अब परलोकमें मेरे पिता महाराज दशरथ मुझे देखेंगे ॥ ६½ ॥

कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥ ७ ॥
अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।

'वे मुझे उपालम्भ देते हुए कहेंगे—'मैंने तो तुम्हें वनवासके लिये आज्ञा दी थी और तुमने भी वहाँ रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी । फिर उतने समयतक वहाँ रहकर उस प्रतिज्ञाको पूर्ण किये बिना ही तुम यहाँ मेरे पास कैसे चले आये ? ॥ ७½ ॥

कामवृत्तमनार्यं वा मृषावादिनमेव च ॥ ८ ॥
धिक्त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता ।

'तुम-जैसे स्वेच्छाचारी, अनार्य और मिथ्यावादीको धिक्कार है ।' यह बात परलोकमें पिताजी मुझसे अवश्य कहेंगे' ॥ ८½ ॥

विवशं शोकसंतप्तं दीनं भग्नमनोरथम् ॥ ९ ॥
मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्तिर्नरमिवानृजुम् ।
क्व गच्छसि वरारोहे मा मोत्सृज सुमध्यमे ॥ १० ॥

'वरारोहे ! सुमध्यमे ! सीते ! मैं विवश, शोकसंतप्त, दीन, भग्नमनोरथ हो करुणाजनक अवस्थामें पड़ गया हूँ । जैसे कुटिल मनुष्यको कीर्ति त्याग देती है, उसी प्रकार तुम मुझे यहाँ छोड़कर कहाँ चली जा रही हो ? मुझे न छोड़ो, न छोड़ो' ॥ ९-१० ॥

त्वया विरहितश्चाहं त्यक्ष्ये जीवितमात्मनः ।
इतीव विलपन् रामः सीतादर्शनलालसः ॥ ११ ॥
न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम् ।

'तुम्हारे वियोगमें मैं अपने प्राण त्याग दूँगा ।' इस प्रकार अत्यन्त दुःखसे आतुर हो विलाप करते हुए रघुकुलनन्दन श्रीराम सीताके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये, किंतु वे जनकनन्दिनी उन्हें दिखायी न पड़ीं ॥ ११½ ॥

अनासादयमानं तं सीतां शोकपरायणम् ॥ १२ ॥
पङ्कमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम् ।
लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया ॥ १३ ॥

जैसे कोई हाथी किसी बड़ी भारी दलदलमें फँसकर कष्ट पा रहा हो, उसी प्रकार सीताको न पाकर अत्यन्त शोकमें डूबे हुए श्रीरामसे उनके हितकी कामना रखकर लक्ष्मण यों बोले—॥ १२-१३ ॥

मा विषादं महाबुद्धे कुरु यत्नं मया सह ।
इदं गिरिवरं वीर बहुकन्दरशोभितम् ॥ १४ ॥
प्रियकाननसंचारा वनोन्मत्ता च मैथिली ।
सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनीं वा सुपुष्पिताम् ॥ १५ ॥
सरितं वापि सम्प्राप्ता मीनवञ्जुलसेविताम् ।
वित्रासयितुकामा वा लीना स्यात् कानने क्वचित्॥ १६ ॥
जिज्ञासमाना वैदेही त्वां मां च पुरुषर्षभ ।

'महामते ! आप विषाद न करें; मेरे साथ जानकीको ढूँढ़नेका प्रयत्न करें । वीरवर ! यह सामने जो ऊँचा पहाड़ दिखायी देता है, अनेक कन्दराओंसे सुशोभित है । मिथिलेश-कुमारीको वनमें घूमना प्रिय लगता है, वे वनकी शोभा देखकर हर्षसे उन्मत्त हो उठती हैं; अतः वनमें गयी होंगी, अथवा सुन्दर कमलके फूलोंसे भरे हुए इस सरोवरके या मत्स्य तथा वेतसलतासे सुशोभित सरिताके तटपर जा पहुँची होंगी । अथवा पुरुषप्रवर ! हमलोगोंको डरानेकी इच्छासे, हम दोनों उन्हें खोज पाते हैं कि नहीं, इस जिज्ञासासे कहीं वनमें ही छिप गयी होंगी ॥ १४–१६½ ॥

तस्या ह्यन्वेषणे श्रीमान् क्षिप्रमेव यतावहे ॥ १७ ॥
वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा ।

'अतः श्रीमन् ! वनमें जहाँ-जहाँ जानकीके होनेकी सम्भावना हो, उन सभी स्थानोंपर हम दोनों शीघ्र ही उनकी खोजके लिये प्रयत्न करें ॥ १७½ ॥

मन्यसे यदि काकुत्स्थ मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ १८ ॥
एवमुक्तः स सौहार्दाल्लक्ष्मणेन समाहितः ।
सह सौमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! यदि आपको मेरी यह बात ठीक लगे तो आप शोक छोड़ दें ।' लक्ष्मणके द्वारा इस प्रकार

सौहार्दपूर्वक समझाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी सावधान हो गये और उन्होंने सुमित्राकुमारके साथ सीताको खोजना आरम्भ किया ॥ १८-१९ ॥

तौ वनानि गिरींश्चैव सरितश्च सरांसि च।
निखिलेन विचिन्वन्तौ सीतां दशरथात्मजौ ॥ २० ॥
तस्य शैलस्य सानूनि शिलाश्च शिखराणि च।
निखिलेन विचिन्वन्तौ नैव तामभिजग्मतुः ॥ २१ ॥

दशरथके वे दोनों पुत्र सीताकी खोज करते हुए वनोंमें, पर्वतोंपर, सरिताओं और सरोवरोंके किनारे घूम-घूमकर पूरी चेष्टाके साथ अनुसंधानमें लगे रहे। उस पर्वतकी चोटियों, शिलाओं और शिखरोंपर उन्होंने अच्छी तरह जानकीको ढूँढ़ा; किंतु कहीं भी उनका पता नहीं लगा ॥ २०-२१ ॥

विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम् ॥ २२ ॥

पर्वतके चारों ओर खोजकर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! इस पर्वतपर तो मैं सुन्दरी वैदेहीको नहीं देख पाता हूँ' ॥ २२ ॥

ततो दुःखाभिसंतप्तो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
विचरन् दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ २३ ॥

तब दुःखसे संतप्त हुए लक्ष्मणने दण्डकारण्यमें घूमते-घूमते अपने उद्दीप्त तेजस्वी भाईसे इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

प्राप्स्यसे त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम्।
यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्ध्वा महीमिमाम् ॥ २४ ॥

'महामते ! जैसे महाबाहु भगवान् विष्णुने राजा बलिको बाँधकर यह पृथ्वी प्राप्त कर ली थी, उसी प्रकार आप भी मिथिलेशकुमारी जानकीको पा जायँगे ॥ २४ ॥

एवमुक्तस्तु वीरेण लक्ष्मणेन स राघवः।
उवाच दीनया वाचा दुःखाभिहतचेतनः ॥ २५ ॥

वीर लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर दुःखसे व्याकुलचित्त हुए श्रीरघुनाथजीने दीन वाणीमें कहा—॥ २५ ॥

वनं सुविचितं सर्वं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः।
गिरिश्चायं महाप्राज्ञ बहुकन्दरनिर्झरः।
नहि पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २६ ॥

'महाप्राज्ञ लक्ष्मण ! मैंने सारा वन खोज डाला। विकसित कमलोंसे भरे हुए सरोवर भी देख लिये तथा अनेक कन्दराओं और झरनोंसे सुशोभित इस पर्वतको भी सब ओरसे छान डाला; परंतु मुझे अपने प्राणोंसे भी प्यारी वैदेही कहीं दिखायी नहीं पड़ी' ॥ २६ ॥

एवं स विलपन् रामः सीताहरणकर्षितः।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलोऽभवत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार सीताहरणके कष्टसे पीड़ित हो विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी दीन और शोकमग्न हो दो घड़ीतक अत्यन्त व्याकुलतामें पड़े रहे ॥ २७ ॥

स विह्वलितसर्वाङ्गो गतबुद्धिर्विचेतनः।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्याशीतमायतम् ॥ २८ ॥

उनका सारा अङ्ग विह्वल (शिथिल) हो गया, बुद्धि काम नहीं दे रही थी, चेतना लुप्त-सी होती जा रही थी। वे गरम-गरम लंबी साँस खींचते हुए दीन और आतुर होकर विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

बहुशः स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः।
हा प्रियेति विचुक्रोश बहुशो बाष्पगद्गदः ॥ २९ ॥

बारंबार उच्छ्वास लेकर कमलनयन श्रीराम आँसुओंसे गद्गद वाणीमें 'हा प्रिये !' कहकर बहुत रोने-विलखने लगे ॥ २९ ॥

तं सान्त्वयामास ततो लक्ष्मणः प्रियबान्धवम्।
बहुप्रकारं शोकार्तः प्रश्रितः प्रश्रिताञ्जलिः ॥ ३० ॥

तब शोकसे पीड़ित हुए लक्ष्मणने विनीतभावसे हाथ जोड़कर अपने प्रिय भाईको अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं लक्ष्मणोष्ठपुटच्युतम्।
अपश्यंस्तां प्रियां सीतां प्राक्रोशत् स पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणके ओष्ठपुटोंसे निकली हुई इस बातका आदर न करके श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्यारी पत्नी सीताको न देखनेके कारण उन्हें बारंबार पुकारने और रोने लगे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

सीतामपश्यन् धर्मात्मा शोकोपहतचेतनः।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः ॥ १ ॥

सीताको न देखकर शोकसे व्याकुलचित्त हुए धर्मात्मा महाबाहु कमलनयन श्रीराम विलाप करने लगे ॥ १ ॥

पश्यन्निव च तां सीतामपश्यन्मन्मथार्दितः ।
उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम् ॥ २ ॥

रघुनाथजी सीताके प्रति अधिक प्रेमके कारण उनके वियोगमें कष्ट पा रहे थे । वे उन्हें न देखकर भी देखते हुएके समान ऐसी बात कहने लगे, जो विलापका आश्रय होनेसे गद्गदकण्ठके कारण कठिनतासे बोली जा रही थी—॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतरा प्रिये ।
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी ॥ ३ ॥

'प्रिये ! तुम्हें फूल अधिक प्रिय हैं, इसलिये खिली हुई अशोककी शाखाओंसे अपने शरीरको छिपाती हो और मेरा शोक बढ़ा रही हो ॥ ३ ॥

कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ ।
ऊरू पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगूहितुम् ॥ ४ ॥

'देवि ! मैं केलेके तनोंके तुल्य और कदलीदलसे ही छिपे हुए तुम्हारे दोनों ऊरुओं (जाघों) को देख रहा हूँ । तुम उन्हें छिपा नहीं सकती ॥ ४ ॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे ।
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै ॥ ५ ॥

'भद्रे ! देवि ! तुम हँसती हुई कनेर-पुष्पोंकी वाटिका-का सेवन करती हो । बंद करो इस परिहासको; इससे मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है ॥ ५ ॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते ।
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये ॥ ६ ॥
आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव ।

'विशेषतः आश्रमके स्थानमें यह हास-परिहास अच्छा नहीं बताया जाता है । प्रिये ! मैं जानता हूँ, तुम्हारा स्वभाव परिहासप्रिय है । विशाललोचने ! आओ । तुम्हारी यह पर्णशाला सूनी है' ॥ ६½ ॥

सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृतापि वा ॥ ७ ॥
न हि सा विलपन्तं मामुपसम्प्रैति लक्ष्मण ।

(फिर भ्रम दूर होनेपर वे सुमित्राकुमारसे बोले—) "लक्ष्मण ! अब तो भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि राक्षसोंने सीताको खा लिया अथवा हर लिया; क्योंकि मैं विलाप कर रहा हूँ और वह मेरे पास नहीं आ रही है ॥७½ ॥

एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥ ८ ॥
शंसन्तीव हि मे देवीं भक्षितां रजनीचरैः ।

'लक्ष्मण ! ये जो मृगसमूह हैं, ये भी अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर मानो मुझसे यही कह रहे हैं कि देवी सीताको निशाचर खा गये ॥ ८½ ॥

हा ममार्ये क यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि ॥ ९ ॥
हा सकामाद्य कैकेयी देवि मेऽद्य भविष्यति ।

'हा मेरी आर्ये ! (आदरणीये !) तुम कहाँ चली गयी ? हा साध्वि ! हा वरवर्णिनि ! तुम कहाँ गयी ? हा देवि ! आज कैकेयी सफलमनोरथ हो जायगी ॥ ९½ ॥

सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥ १० ॥
कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तःपुरं मम ।

'सीताके साथ अयोध्यासे निकला था । यदि सीताके बिना ही वहाँ लौटा तो अपने सूने अन्तःपुरमें कैसे प्रवेश करूँगा ॥ १०½ ॥

निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥ ११ ॥
कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।

'सारा संसार मुझे पराक्रमहीन और निर्दय कहेगा । सीताके अपहरणसे मेरी कायरता ही प्रकाशमें आयेगी ॥

निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥ १२ ॥
कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।

'जब वनवाससे लौटनेपर मिथिलानरेश जनक मुझसे कुशल पूछने आयेंगे, उस समय मैं कैसे उनकी ओर देख सकूँगा ? ॥ १२½ ॥

विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥ १३ ॥
सुताविनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।

'मुझे सीतासे रहित देख विदेहराज जनक अपनी पुत्रीके विनाशसे संतप्त हो निश्चय ही मूर्च्छित हो जायँगे ॥ १३½ ॥

अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ १४ ॥
स्वर्गोऽपि हि तया हीनः शून्य एव मतो मम ।

अथवा अब मैं भरतद्वारा पालित अयोध्यापुरीको नहीं जाऊँगा । जानकीके बिना मुझे स्वर्ग भी सूना ही जान पड़ेगा ॥ १४½ ॥

तन्मामुत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यापुरीं शुभाम् ॥ १५ ॥
न त्वहं तां विना सीतां जीवेयं हि कथंचन ।

'इसलिये अब तुम मुझे वनमें ही छोड़कर सुन्दर अयोध्यापुरीको लौट जाओ । मैं तो अब सीताके बिना किसी तरह जीवित नहीं रह सकता ॥ १५½ ॥

गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात् त्वया ॥ १६ ॥
अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुंधराम् ।

'भरतका गाढ़ आलिङ्गन करके तुम उनसे मेरा संदेश कह देना, 'कैकेयीनन्दन ! तुम सारी पृथ्वीका पालन करो, इसके लिये रामने तुम्हें आज्ञा दे दी है ॥ १६½ ॥

अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥ १७ ॥
कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया ।
रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तचारिणा ॥ १८ ॥

'विभो ! मेरी माता कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्राको प्रतिदिन यथोचित रीतिसे प्रणाम करते हुए उन सबकी रक्षा करना और सदा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना, यह तुम्हारे लिये मेरी आज्ञा है ॥ १७-१८ ॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रसूदन ।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥ १९ ॥

'शत्रुसूदन ! मेरी माताके समक्ष सीताके विनाशका यह समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाना' ॥ १९ ॥

इति विलपति राघवे तु दीने
वनमुपगम्य तया विना सुकेश्या ।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव ॥ २० ॥

सुन्दर केशवाली सीताके विरहमें भगवान् श्रीराम वनके भीतर जाकर जब इस तरह दीनभावसे विलाप करने लगे, तब लक्ष्मणके भी मुखपर भयजनित व्याकुलताके चिह्न दिखायी देने लगे । उनका मन व्यथित हो उठा और वे अत्यन्त घबरा गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीरामका विलाप

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
शोकेन मोहेन च पीड्यमानः ।
विषादयन् भ्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम् ॥ १ ॥

अपनी प्रिया सीतासे रहित हो राजकुमार श्रीराम शोक और मोहसे पीड़ित होने लगे । वे स्वयं तो पीड़ित थे ही, अपने भाई लक्ष्मणको भी विषादमें डालते हुए पुनः तीव्र शोकमें मग्न हो गये ॥ १ ॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः ।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूप-
मुष्णं विनिःश्वस्य रुदन् सशोकम् ॥ २ ॥

लक्ष्मण शोकके अधीन हो रहे थे, उनसे महान् शोकमें डूबे हुए श्रीराम दुःखके साथ रोते हुए गरम उच्छ्वास लेकर अपने ऊपर पड़े हुए संकटके अनुरूप वचन बोले—॥ २ ॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम् ।
शोकानुशोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च ॥ ३ ॥

'सुमित्रानन्दन ! मालूम होता है, मेरे-जैसा पाप-कर्म करनेवाला मनुष्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि एकके बाद दूसरा शोक मेरे हृदय (प्राण) और मनको विदीर्ण करता हुआ लगातार मुझपर आता जा रहा है ॥ ३ ॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ ४ ॥

'निश्चय ही पूर्वजन्ममें मैंने अपनी इच्छाके अनुसार बारंबार बहुतसे पापकर्म किये हैं; उन्हींमेंसे कुछ कर्मोंका यह परिणाम आज प्राप्त हुआ है, जिसमें मैं एक दुःखसे दूसरे दुःखमें पड़ता जा रहा हूँ ॥ ४ ॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेग-
मापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ ५ ॥

'पहले तो मैं राज्यसे वञ्चित हुआ; फिर मेरा स्वजनोंसे वियोग हुआ । तत्पश्चात् पिताजीका परलोकवास हुआ, फिर मातासे भी मुझे बिछुड़ जाना पड़ा । लक्ष्मण ! ये सारी बातें जब मुझे याद आती हैं, तब मेरे शोकके वेगको बढ़ा देती हैं ॥ ५ ॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य क्लेशम् ।
सीतावियोगात् पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसोपदीप्तः ॥ ६ ॥

'लक्ष्मण ! वनमें आकर क्लेशका अनुभव करके भी यह सारा दुःख सीताके समीप रहनेसे मेरे शरीरमें ही शान्त हो गया था, परंतु सीताके वियोगसे वह फिर उद्दीप्त हो उठा है, जैसे सूखे काठका संयोग पाकर आग सहसा प्रज्वलित हो उठती है ॥ ६ ॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन
ह्यभ्याहृता खं समुपेत्य भीरुः ।
अपस्वरं सुस्वरविप्रलापा
भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम् ॥ ७ ॥

'हाय ! मेरी श्रेष्ठ स्वभाववाली भीरु पत्नीको अवश्य ही राक्षसने आकाशमार्गसे हर लिया। उस समय सुमधुर स्वरमें विलाप करनेवाली सीता भयके मारे बारंबार विकृत स्वरमें क्रन्दन करने लगी होगी ॥ ७ ॥

तौ लोहितस्य प्रियदर्शनस्य
सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।
वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ
नूनं प्रियाया मम नाभिपातः ॥ ८ ॥

'मेरी प्रियाके वे दोनों गोल गोल स्तन, जो सदा लाल चन्दनसे चर्चित होने योग्य थे, निश्चय ही रक्तकी कीचमें सन गये होंगे। हाय ! इतनेपर भी मेरे शरीरका पतन नहीं होता ॥ ८ ॥

तच्छ्लक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।
रक्षोवशं नूनमुपागताया
न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥ ९ ॥

'राक्षसके वशमें पड़ी हुई मेरी प्रियाका वह मुख जो स्निग्ध एवं सुस्पष्ट मधुर वार्तालाप करनेवाला तथा काले-काले घुँघराले केशोंके भारसे सुशोभित था, वैसे ही श्रीहीन हो गया होगा, जैसे राहुके मुखमें पड़ा हुआ चन्द्रमा शोभा नहीं पाता है ॥ ९ ॥

तां हारपाशस्य सदोचितान्तां
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
शून्ये हि भित्त्वा रुधिराशनानि ॥ १० ॥

'हाय ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली मेरी प्रियतमाका कण्ठ हर समय हारसे सुशोभित होने योग्य था, किंतु रक्तभोजी राक्षसोंने सूने वनमें अवश्य उसे फाड़कर उसका रक्त पिया होगा ॥ १० ॥

मया विहीना विजने वने सा
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

'मेरे न रहनेके कारण निर्जन वनमें राक्षसोंने उसे ले-लेकर घसीटा होगा और विशाल एवं मनोहर नेत्रोंवाली वह जानकी अत्यन्त दीनभावसे कुररीकी भाँति विलाप करती रही होगी ॥ ११ ॥

अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

'लक्ष्मण ! यह वही शिलातल है, जिसपर उदार स्वभाववाली सीता पहले एक दिन मेरे साथ बैठी हुई थी। उसकी मुसकान कितनी मनोहर थी, उस समय उसने हँस-हँसकर तुमसे भी बहुत-सी बातें कही थीं ॥ १२ ॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥ १३ ॥

'सरिताओंमें श्रेष्ठ यह गोदावरी मेरी प्रियतमाको सदा ही प्रिय रही है। सोचता हूँ, शायद वह इसीके तटपर गयी हो, किंतु अकेली तो वह कभी वहाँ नहीं जाती थी ॥ १३ ॥

पद्मानना पद्मपलाशनेत्रा
पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं नहि सा कदाचि-
न्मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

'उसका मुख और विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलोंके समान सुन्दर हैं, सम्भव है, वह कमलपुष्प लानेके लिये ही गोदावरी तटपर गयी हो, परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह मुझे साथ लिये बिना कभी कमलोंके पास नहीं जाती थी ॥ १४ ॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्त-
मेकाकिनी सातिबिभेति भीरुः ॥ १५ ॥

'हो सकता है कि वह इन पुष्पित वृक्षसमूहोंसे युक्त और नाना प्रकारके पक्षियोंसे सेवित वनमें भ्रमणके लिये गयी हो; परंतु यह भी ठीक नहीं लगता; क्योंकि वह भीरु तो अकेली वनमें जानेसे बहुत डरती थी ॥ १५ ॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥ १६ ॥

'सूर्यदेव ! संसारमें किसने क्या किया और क्या नहीं किया—इसे तुम जानते हो; लोगोंके सत्य-असत्य (पुण्य और पाप) कर्मोंके तुम्हीं साक्षी हो। मेरी प्रिया सीता कहाँ गयी अथवा उसे किसने हर लिया, यह सब मुझे बताओ; क्योंकि मैं उसके शोकसे पीड़ित हूँ ॥ १६ ॥

लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किंचिद्
यत् ते न नित्यं विदितं भवेत् तत् ।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां
मृता हृता वा पथि वर्तते वा ॥ १७ ॥

'वायुदेव ! समस्त विश्वमें ऐसी कोई बात नहीं है,

जो तुम्हें सदा ज्ञात न रहती हो। मेरी कुलपालिका सीता कहाँ है, यह बता दो। वह मर गयी, हर ली गयी अथवा मार्गमें ही है' ॥ १७ ॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तमेव।
उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याय्ये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥१८॥

इस प्रकार शोकके अधीन होकर जब श्रीरामचन्द्रजी संज्ञाशून्य हो विलाप करने लगे, तब उनकी ऐसी अवस्था देख न्यायोचित मार्गपर स्थित रहनेवाले उदारचित्त सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उनसे यह समयोचित बात कही—॥ १८ ॥

शोकं विसृज्याद्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥१९॥

'आर्य ! आप शोक छोड़कर धैर्य धारण करें; सीताकी खोजके लिये मनमें उत्साह रखें; क्योंकि उत्साही मनुष्य जगत्में अत्यन्त दुष्कर कार्य आ पड़नेपर भी कभी दुखी नहीं होते हैं' ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुःखं महदभ्युपागमत् ॥२०॥

बढ़े हुए पुरुषार्थवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मण जब इस प्रकारकी बातें कह रहे थे, उस समय रघुकुलकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने आर्त होकर उनके कथनके औचित्यपर कोई ध्यान नहीं दिया; उन्होंने धैर्य छोड़ दिया और वे पुनः महान् दुःखमें पड़ गये ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा सीताकी खोज, श्रीरामका शोकोद्गार, मृगोंद्वारा संकेत पाकर दोनों भाइयोंका दक्षिण दिशाकी ओर जाना, पर्वतपर क्रोध, सीताके बिखरे हुए फूल, आभूषणोंके कण और युद्धके चिह्न देखकर श्रीरामका देवता आदि-सहित समस्त त्रिलोकीपर रोष प्रकट करना

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत्।
शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥ १ ॥
अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता।

तदनन्तर दीन हुए श्रीरामचन्द्रजीने दीन वाणीमें लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण ! तुम शीघ्र ही गोदावरी नदीके तटपर जाकर पता लगाओ। सीता कमल लानेके लिये तो नहीं चली गयीं' ॥ १½ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः पुनरेव हि ॥ २ ॥
नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः।

श्रीरामकी ऐसी आज्ञा पाकर लक्ष्मण शीघ्र गतिसे पुनः रमणीय गोदावरी नदीके तटपर गये ॥ २½ ॥

तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत् ॥ ३ ॥
नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे।

अनेक तीर्थों (घाटों) से युक्त गोदावरीके तटपर खोजकर लक्ष्मण पुनः लौट आये और श्रीरामसे बोले—'भैया ! मैं गोदावरीके घाटोंपर सीताको नहीं देख पाता हूँ; जोर-जोरसे पुकारनेपर भी वे मेरी बात नहीं सुनती हैं ॥३½॥

कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्लेशनाशिनी ॥ ४ ॥
नहि तं वेद्मि वै राम यत्र सा तनुमध्यमा।

'श्रीराम ! क्लेशोंका नाश करनेवाली विदेहराजकुमारी न जाने किस देशमें चली गयीं। भैया श्रीराम ! जहाँ कृश-कटिप्रदेशवाली सीता गयी हैं, उस स्थानको मैं नहीं जानता' ॥ ४½ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः संतापमोहितः ॥ ५ ॥
रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम्।

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर दीन एवं संतापसे मोहित हुए श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही गोदावरी नदीके तटपर गये ॥ ५½ ॥

स तामुपस्थितो रामः क्व सीतेत्येवमब्रवीत् ॥ ६ ॥
भूतानि राक्षसेन्द्रेण वधार्हेण हृतामपि।
न तां शशंसू रामाय तथा गोदावरी नदी ॥ ७ ॥

वहाँ पहुँचकर श्रीरामने पूछा—'सीता कहाँ है ?' परंतु वधके योग्य राक्षसराज रावणद्वारा हरी गयी सीताके विषयमें समस्त भूतोंमेंसे किसीने कुछ नहीं कहा। गोदावरी नदीने भी श्रीरामको कोई उत्तर नहीं दिया ॥ ६-७ ॥

ततः प्रचोदिता भूतैः शंस चास्मै प्रियामिति ।
न च सा ह्यवदत् सीतां पृष्टा रामेण शोचता ॥ ८ ॥

तदनन्तर वनके समस्त प्राणियोंने उन्हें प्रेरित किया कि 'तुम श्रीरामको उनकी प्रियाका पता बता दो !' किंतु शोकमग्न श्रीरामके पूछनेपर भी गोदावरीने सीताका पता नहीं बताया ॥ ८ ॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः ।
ध्यात्वा भयात् तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ह ॥ ९ ॥

दुरात्मा रावणके उस रूप और कर्मको याद करके भयके मारे गोदावरी नदीने वैदेहीके विषयमें श्रीरामसे कुछ नहीं कहा ॥ ९ ॥

निराशस्तु तया नद्या सीताया दर्शने कृतः ।
उवाच रामः सौमित्रिं सीतादर्शनकर्शितः ॥ १० ॥

सीताके दर्शनके विषयमें जब नदीने उन्हें पूर्ण निराश कर दिया, तब सीताको न देखनेसे कष्टमें पड़े हुए श्रीराम सुमित्राकुमारसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥

एषा गोदावरी सौम्य किंचिन्न प्रतिभाषते ।
किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥ ११ ॥
मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् ।

'सौम्य लक्ष्मण ! यह गोदावरी नदी तो मुझे कोई उत्तर ही नहीं देती है । अब मैं राजा जनकसे मिलनेपर उन्हें क्या जवाब दूँगा ? जानकीके बिना उसकी मातासे मिलकर भी मैं उनसे यह अप्रिय बात कैसे सुनाऊँगा ? ॥ ११½ ॥

या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ १२ ॥
सर्वं व्यपानयच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।

'राज्यहीन होकर वनमें जंगली फल-मूलोंसे निर्वाह करते समय भी जो मेरे साथ रहकर मेरे सभी दुःखोंको दूर किया करती थी, वह विदेहराजकुमारी कहाँ चली गयी ? ॥ १२½ ॥

ज्ञातिवर्गविहीनस्य वैदेहीमप्यपश्यतः ॥ १३ ॥
मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः ।

'बन्धु-बान्धवोंसे तो मेरा बिछोह हो ही गया था, अब सीताके दर्शनसे भी मुझे वञ्चित होना पड़ा; उसकी चिन्तामें निरन्तर जागते रहनेके कारण अब मेरी सभी रातें बहुत बड़ी हो जायँगी ॥ १३½ ॥

मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १४ ॥
सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि लभ्यते ।

'मन्दाकिनी नदी, जनस्थान तथा प्रस्रवण पर्वत—इन सभी स्थानोंपर मैं बारंबार भ्रमण करूँगा । शायद वहाँ सीताका पता चल जाय ॥ १४½ ॥

एते महामृगा वीर मामीक्षन्ते पुनः पुनः ॥ १५ ॥
वक्तुकामा इह हि मे इङ्गितान्युपलक्षये ।

'वीर लक्ष्मण ! ये विशाल मृग मेरी ओर बारंबार देख रहे हैं, मानो यहाँ ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं । मैं इनकी चेष्टाओंको समझ रहा हूँ' ॥ १५½ ॥

तांस्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥
क्व सीतेति निरीक्षन् वै बाष्पसंरुद्धया गिरा ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।

तदनन्तर उन सबकी ओर देखकर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा—'बताओ, सीता कहाँ है ?' उन मृगोंकी ओर देखते हुए राजा श्रीरामने जब अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार पूछा, तब वे मृग सहसा उठकर खड़े हो गये और ऊपरकी ओर देखकर आकाशमार्गकी ओर लक्ष्य कराते हुए सब-के-सब दक्षिण दिशाकी ओर मुँह किये दौड़े ॥ १६-१७½ ॥

मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामभ्यपद्यत ॥ १८ ॥
तेन मार्गेण गच्छन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।

मिथिलेशकुमारी सीता हरी जाकर जिस दिशाकी ओर गयी थीं, उसी ओरके मार्गसे जाते हुए वे मृग राजा श्रीरामचन्द्रजीकी ओर मुड़-मुड़कर देखते रहते थे ॥ १८½ ॥

येन मार्गं च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥ १९ ॥
पुनर्नदन्तो गच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः ।
तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेङ्गितम् ॥ २० ॥

वे मृग आकाशमार्ग और भूमि दोनोंकी ओर देखते और गर्जना करते हुए पुनः आगे बढ़ते थे । लक्ष्मणने उनकी इस चेष्टाको लक्ष्य किया । वे जो कुछ कहना चाहते थे, उसका सारसर्वस्वरूप जो उनकी चेष्टा थी, उसे उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया ॥ १९-२० ॥

उवाच लक्ष्मणो धीमाञ्ज्येष्ठं भ्रातरमार्तवत् ।
क्व सीतेति त्वया पृष्टा यथेमे सहसोत्थिताः ॥ २१ ॥
दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः ।
साधु गच्छावहे देव दिशमेतां च नैर्ऋतीम् ॥ २२ ॥
यदि तस्यागमः कश्चिदार्या वा साथ लक्ष्यते ।

तदनन्तर बुद्धिमान् लक्ष्मणने आर्त-से होकर अपने बड़े भाईसे इस प्रकार कहा—'आर्य ! जब आपने पूछा कि सीता कहाँ हैं, तब ये मृग सहसा उठकर खड़े हो गये और पृथ्वी तथा दक्षिणकी ओर हमारा लक्ष्य कराने लगे हैं; अतः देव ! यही अच्छा होगा कि हमलोग इस नैर्ऋत्य दिशाकी ओर चलें । सम्भव है, इधर जानेसे सीताका कोई समाचार मिल जाय अथवा आर्या सीता स्वयं ही दृष्टिगोचर हो जायँ ॥ २१-२२½ ॥

बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥
लक्ष्मणानुगतः श्रीमान् वीक्षमाणो वसुंधराम् ।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीमान् रामचन्द्रजी लक्ष्मणको साथ ले पृथ्वीकी ओर ध्यानसे देखते हुए दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २३½ ॥

एवं सम्भाषमाणौ तावन्योन्यं भ्रातरावुभौ ॥ २४ ॥
वसुंधरायां पतितपुष्पमार्गमपश्यताम् ।

वे दोनों भाई आपसमें इसी प्रकारकी बातें करते हुए ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जहाँ भूमिपर कुछ फूल गिरे दिखायी देते थे ॥ २४½ ॥

पुष्पवृष्टिं निपतितां दृष्ट्वा रामो महीतले ॥ २५ ॥
उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः ।

पृथ्वीपर फूलोंकी उस वर्षाको देखकर वीर श्रीरामने दुखी हो लक्ष्मणसे यह दुःखभरा वचन कहा—॥ २५½ ॥

अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण ॥ २६ ॥
अपिनद्धानि वैदेह्या मया दत्तानि कानने ।

'लक्ष्मण ! मैं इन फूलोंको पहचानता हूँ । ये वे ही फूल यहाँ गिरे हैं, जिन्हें वनमें मैंने विदेहनन्दिनीको दिया था और उन्होंने अपने केशोंमें लगा लिया था ॥ २६½ ॥

मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी ॥ २७ ॥
अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम् ।

'मैं समझता हूँ, सूर्य, वायु और यशस्विनी पृथ्वीने मेरा प्रिय करनेके लिये ही इन फूलोंको सुरक्षित रखा है' ॥ २७½ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ॥ २८ ॥
उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।

पुरुषप्रवर लक्ष्मणसे ऐसा कहकर धर्मात्मा महाबाहु श्रीरामने झरनोंसे भरे हुए प्रस्रवण गिरिसे कहा—॥ २८½ ॥

कच्चित् क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।

'पर्वतराज ! क्या तुमने इस वनके रमणीय प्रदेशमें मुझसे बिछुड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी सीताको देखा है ?' ॥ २९½ ॥

क्रुद्धोऽब्रवीद् गिरिं तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥
तां हेमवर्णां हेमाङ्गीं सीतां दर्शय पर्वत ।
यावत् सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगको देखकर दहाड़ता है, उसी प्रकार वे कुपित हो वहाँ उस पर्वतसे बोले—'पर्वत ! जबतक मैं तुम्हारे सारे शिखरोंको विध्वंस नहीं कर डालता हूँ, इसके पहले ही तुम उस काञ्चनकी-सी काया-कान्तिवाली सीताका मुझे दर्शन करा दो' ॥ ३०-३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वतो मैथिलीं प्रति ।
दर्शयन्निव तां सीतां नादर्शयत राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामके द्वारा मैथिलीके लिये ऐसा कहे जानेपर उस पर्वतने सीताको दिखाता हुआ-सा कुछ चिह्न प्रकट कर दिया । श्रीरघुनाथजीके समीप वह सीताको साक्षात् उपस्थित न कर सका ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥ ३३ ॥
असेव्यः सर्वतश्चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।

तब दशरथनन्दन श्रीरामने उस पर्वतसे कहा—'अरे ! तू मेरे बाणोंकी आगसे जलकर भस्मीभूत हो जायगा । किसी भी ओरसे तू सेवनके योग्य नहीं रह जायगा । तेरे तृण, वृक्ष और पल्लव नष्ट हो जायँगे ॥ ३३½ ॥

इमां वा सरितं चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ॥ ३४ ॥
यदि नाख्याति मे सीतामद्य चन्द्रनिभाननाम् ।

(इसके बाद वे सुमित्राकुमारसे बोले—) 'लक्ष्मण ! यदि यह नदी आज मुझे चन्द्रमुखी सीताका पता नहीं बताती है तो मैं अब इसे भी सुखा डालूँगा' ॥ ३४½ ॥

एवं प्ररुषितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥
ददर्श भूमौ निष्क्रान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।

ऐसा कहकर रोषमें भरे हुए श्रीरामचन्द्रजी उसकी ओर इस तरह देखने लगे, मानो अपनी दृष्टिद्वारा उसे जलाकर भस्म कर देना चाहते हैं । इतनेहीमें उस पर्वत और गोदावरीके समीपकी भूमिपर राक्षसका विशाल पदचिह्न उभरा हुआ दिखायी दिया ॥ ३५½ ॥

त्रस्ताया रामकाङ्क्षिण्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥
राक्षसेनानुसृप्ताया वैदेह्याश्च पदानि तु ।

साथ ही राक्षसने जिनका पीछा किया था और जो श्रीरामकी अभिलाषा रखकर रावणके भयसे संत्रस्त हो इधर-उधर भागती फिरी थीं, उन विदेहराजकुमारी सीताके चरणचिह्न भी वहाँ दिखायी दिये ॥ ३६½ ॥

स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥
भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।
सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥ ३८ ॥

सीता और राक्षसके पैरोंके निशान, टूटे धनुष, तरकस और छिन्न-भिन्न होकर अनेक टुकड़ोंमें बिखरे हुए रथको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका हृदय घबरा उठा । वे अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमारसे बोले—॥ ३७-३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः कीर्णाः कनकबिन्दवः ।
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, ये सीताके आभूषणोंमें लगे हुए सोनेके घुँघुरू बिखरे पड़े हैं । सुमित्रानन्दन ! उसके नाना प्रकारके हार भी टूटे पड़े हैं ॥ ३९ ॥

तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम्॥ ४०॥

'सुमित्राकुमार! देखो, यहाँकी भूमि सब ओरसे सुवर्णकी बूँदोंके समान ही विचित्र रक्तबिन्दुओंसे रँगी दिखायी देती है॥ ४०॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः।
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा भविष्यति॥ ४१॥

'लक्ष्मण! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंने यहाँ सीताके टुकड़े-टुकड़े करके उसे आपसमें बाँटा और खाया होगा॥ ४१॥

तस्या निमित्तं सीताया द्वयोर्विवदमानयोः।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह॥ ४२॥

'सुमित्रानन्दन! सीताके लिये परस्पर विवाद करनेवाले दो राक्षसोंमें यहाँ घोर युद्ध भी हुआ है॥ ४२॥

मुक्तामणिचितं चेदं रमणीयं विभूषितम्।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद् धनुः॥ ४३॥

'सौम्य! तभी तो यहाँ यह मोती और मणियोंसे जटित एवं विभूषित किसीका अत्यन्त सुन्दर और विशाल धनुष खण्डित होकर पृथ्वीपर पड़ा है। यह किसका धनुष हो सकता है?॥ ४३॥

राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवापि वा।
तरुणादित्यसंकाशं वैदूर्यगुलिकाचितम्॥ ४४॥

'वत्स! पता नहीं, यह राक्षसोंका है या देवताओंका; यह प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा है तथा इसमें वैदूर्यमणि (नीलम) के टुकड़े जड़े हुए हैं॥ ४४॥

विशीर्णं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम्।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम्॥ ४५॥
भग्नदण्डमिदं सौम्य भूमौ कस्य निपातितम्।

'सौम्य! उधर पृथ्वीपर टूटा हुआ एक सोनेका कवच पड़ा है, न जाने वह किसका है? दिव्य मालाओंसे सुशोभित यह सौ कमानियोंवाला छत्र किसका है? इसका डंडा टूट गया है और यह धरतीपर गिरा दिया गया है॥ ४५½॥

काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः॥ ४६॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे।

'इधर ये पिशाचोंके समान मुखवाले भयंकर रूपधारी गधे मरे पड़े हैं। इनका शरीर बहुत ही विशाल रहा है; इन सबकी छातीमें सोनेके कवच बँधे हैं। ये युद्धमें मारे गये जान पड़ते हैं। पता नहीं ये किसके थे॥ ४६½॥

दीप्तपावकसंकाशो द्युतिमान् समरध्वजः॥ ४७॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य साङ्ग्रामिको रथः।

'तथा संग्राममें काम देनेवाला यह किसका रथ पड़ा है! इसे किसीने उलटा गिराकर तोड़ डाला है। समराङ्गणमें स्वामीको सूचित करनेवाली ध्वजा भी इसमें लगी थी। यह तेजस्वी रथ प्रज्वलित अग्निके समान दमक रहा है॥ ४७½॥

रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः॥ ४८॥
कस्येमे निहता बाणाः प्रकीर्णा घोरदर्शनाः।

'ये भयंकर बाण, जो यहाँ टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरे पड़े हैं, किसके हैं? इनकी लंबाई और मोटाई रथके धुरेके समान प्रतीत होती है। इनके फल-भाग टूट गये हैं तथा ये सुवर्णसे विभूषित हैं॥ ४८½॥

शरावरौ शरैः पूर्णौ विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण॥ ४९॥
प्रतोदाभीषुहस्तोऽयं कस्य वा सारथिर्हतः।

लक्ष्मण! उधर देखो, ये बाणोंसे भरे हुए दो तरकस पड़े हैं, जो नष्ट कर दिये गये हैं। यह किसका सारथि मरा पड़ा है, जिसके हाथमें चाबुक और लगाम अभीतक मौजूद हैं॥ ४९½॥

पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः॥ ५०॥
वैरं शतगुणं पश्य मम तैर्जीवितान्तकम्।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः॥ ५१॥

'सौम्य! यह अवश्य ही किसी राक्षसका पदचिह्न दिखायी देता है। इन अत्यन्त क्रूर हृदयवाले कामरूपी राक्षसोंके साथ मेरा वैर सौगुना बढ़ गया है। देखो, यह वैर उनके प्राण लेकर ही शान्त होगा॥ ५०-५१॥

हृता मृता वा वैदेही भक्षिता वा तपस्विनी।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने॥ ५२॥

'अवश्य ही तपस्विनी विदेहराजकुमारी हर ली गयी, मृत्युको प्राप्त हो गयी अथवा राक्षसोंने उसे खा लिया। इस विशाल वनमें हरी जाती हुई सीताकी रक्षा धर्म भी नहीं कर रहा है॥ ५२॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण।
के हि लोके प्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः॥ ५३॥

'सौम्य लक्ष्मण! जब विदेहनन्दिनी राक्षसोंका ग्रास बन गयी अथवा उनके द्वारा हर ली गयी और कोई सहायक नहीं हुआ, तब इस जगत्‌में कौन ऐसे पुरुष हैं, जो मेरा प्रिय करनेमें समर्थ हों॥ ५३॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं करुणवेदिनम्।
अज्ञानादवमन्येरन् सर्वभूतानि लक्ष्मण॥ ५४॥

'लक्ष्मण! जो समस्त लोकोंकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले 'त्रिपुर-विजय' आदि शौर्यसे सम्पन्न महेश्वर हैं, वे भी जब अपने करुणामय स्वभावके कारण चुप बैठे रहते हैं, तब सारे प्राणी उनके ऐश्वर्यको न जाननेसे उनका तिरस्कार करने लग जाते हैं॥ ५४॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं करुणवेदिनम्।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५५॥

'मैं लोकहितमें तत्पर, युक्तचित्त, जितेन्द्रिय तथा जीवोंपर करुणा करनेवाला हूँ, इसीलिये ये इन्द्र आदि देवेश्वर निश्चय ही मुझे निर्बल मान रहे हैं (तभी तो इन्होंने सीताकी रक्षा नहीं की है) ॥ ५५ ॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥ ५६ ॥
संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान् सूर्य इवोदितः।
संहृत्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥ ५७॥

'लक्ष्मण ! देखो तो सही, यह दयालुता आदि गुण मेरे पास आकर दोष बन गया (तभी तो मुझे निर्बल मानकर मेरी स्त्रीका अपहरण किया गया है । अतः अब मुझे पुरुषार्थ ही प्रकट करना होगा) । जैसे प्रलयकालमें उदित हुआ महान् सूर्य चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना (चाँदनी) का संहार करके प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार अब मेरा तेज आज ही समस्त प्राणियों तथा राक्षसोंका अन्त करनेके लिये मेरे उन कोमल स्वभाव आदि गुणोंको समेटकर प्रचण्डरूपमें प्रकाशित होगा, यह भी तुम देखो ॥ ५६-५७ ॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
किंनरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥ ५८॥

'लक्ष्मण ! अब न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही चैनसे रहने पायेंगे ॥५८॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण।
असम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणम् ॥ ५९॥

'सुमित्रानन्दन ! देखना, थोड़ी ही देरमें आकाशको मैं अपने चलाये हुए बाणोंसे भर दूँगा और तीन लोकोंमें विचरनेवाले प्राणियोंको हिलने-डुलने भी न दूँगा ॥ ५९ ॥

संनिरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम्।
विप्रणष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥ ६० ॥
विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम्।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६१ ॥
त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा।

'ग्रहोंकी गति रुक जायगी, चन्द्रमा छिप जायगा, अग्नि, मरुद्गण तथा सूर्यका तेज नष्ट हो जायगा, सब कुछ अन्धकारसे आच्छन्न हो जायगा, पर्वतोंके शिखर मथ डाले जायँगे, सारे जलाशय (नदी-सरोवर आदि) सूख जायँगे, वृक्ष, लता और गुल्म नष्ट हो जायँगे और समुद्रोंका भी नाश कर दिया जायगा । इस तरह मैं सारी त्रिलोकीमें ही कालकी विनाशलीला आरम्भ कर दूँगा ॥ ६०-६१½ ॥

न ते कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति ममेश्वराः ॥ ६२॥
अस्मिन् मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम्।

'सुमित्रानन्दन ! यदि देवेश्वरगण इसी मुहूर्तमें मुझे सीता देवीको सकुशल नहीं लौटा देंगे तो वे मेरा पराक्रम देखेंगे ॥ ६२½ ॥

नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६३ ॥
मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम्।

'लक्ष्मण ! मेरे धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा आकाशके ठसाठस भर जानेके कारण उसमें कोई प्राणी उड़ नहीं सकेंगे ॥ ६३½ ॥

मर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥ ६४ ॥
समाकुलममर्यादं जगत् पश्याद्य लक्ष्मण।

'सुमित्रानन्दन ! देखो, आज मेरे नाराचोंसे रौंदा जाकर यह सारा जगत् व्याकुल और मर्यादारहित हो जायगा । यहाँके मृग और पक्षी आदि प्राणी नष्ट एवं उद्भ्रान्त हो जायँगे ॥ ६४½ ॥

आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकदुरावरैः ॥ ६५ ॥
करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम्।

'धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये मेरे बाणोंको रोकना जीवजगत्के लिये बहुत कठिन होगा । मैं सीताके लिये उन बाणोंद्वारा इस जगत्के समस्त पिशाचों और राक्षसोंका संहार कर डालूँगा ॥ ६५½ ॥

मम रोषप्रयुक्तानां विशिखानां बलं सुराः ॥ ६६ ॥
द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानाममर्षाद् दूरगामिनाम्।

'रोष और अमर्षपूर्वक छोड़े गये मेरे फलरहित दूरगामी बाणोंका बल आज देवतालोग देखेंगे ॥ ६६½ ॥

नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥ ६७॥
भविष्यन्ति मम क्रोधात् त्रैलोक्ये विप्रणाशिते।

'मेरे क्रोधसे त्रिलोकीका विनाश हो जानेपर न देवता रह जायँगे न दैत्य, न पिशाच रहने पायँगे न राक्षस ॥ ६७½ ॥

देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥ ६८ ॥
बहुधा निपतिष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः।

'देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसोंके जो लोक हैं, वे मेरे बाणसमूहोंसे टुकड़े-टुकड़े होकर बारंबार नीचे गिरेंगे ॥ ६८½ ॥

निर्मर्यादानिमाँल्लोकान् करिष्याम्यद्य सायकैः ॥ ६९ ॥
हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः।

'सुमित्रानन्दन ! यदि देवेश्वरगण मेरी हरी या मरी हुई सीताको लाकर मुझे नहीं देंगे तो आज मैं अपने सायकोंकी मारसे इन तीनों लोकोंको मर्यादासे भ्रष्ट कर दूँगा ॥६९½॥

तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥ ७० ॥

नाशयामि जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
यावद् दर्शनमस्या वै तापयामि च सायकैः॥ ७१॥

'यदि वे मेरी प्रिया विदेहराजकुमारीको मुझे उसी रूपमें वापस नहीं लौटायेंगे तो मैं चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीका नाश कर डालूँगा। जबतक सीताका दर्शन न होगा, तबतक मैं अपने सायकोंसे समस्त संसारको संतप्त करता रहूँगा'॥ ७०-७१॥

इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षः स्फुरमाणोष्ठसम्पुटः।
वल्कलाजिनमाबद्ध्य जटाभारमबन्धयत्॥ ७२॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये, होठ फड़कने लगे। उन्होंने वल्कल और मृगचर्मको अच्छी तरह कसकर अपने जटाभारको भी बाँध लिया॥ ७२॥

तस्य क्रुद्धस्य रामस्य तथाभूतस्य धीमतः।
त्रिपुरं जघ्नुषः पूर्वं रुद्रस्येव बभौ तनुः॥ ७३॥

उस समय क्रोधमें भरकर उस तरह संहारके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीरामका शरीर पूर्वकालमें त्रिपुरका संहार करनेवाले रुद्रके समान प्रतीत होता था॥ ७३॥

लक्ष्मणादथ चादाय रामो निष्पीड्य कार्मुकम्।
शरमादाय संदीप्तं घोरमाशीविषोपमम्॥ ७४॥
संदधे धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः।
युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत्॥

उस समय लक्ष्मणके हाथसे धनुष लेकर श्रीरामचन्द्रजीने उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया और एक विषधर सर्पके समान भयंकर और प्रज्वलित बाण लेकर उसे उस धनुषपर रखा। तत्पश्चात् शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले श्रीराम प्रलयाग्निके समान कुपित हो इस प्रकार बोले—॥ ७४-७५॥

यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः।
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम्॥ ७६॥

'लक्ष्मण! जैसे बुढ़ापा, जैसे मृत्यु, जैसे काल और विधाता सदा समस्त प्राणियोंपर प्रहार करते हैं, किंतु उन्हें कोई रोक नहीं पाता है, उसी प्रकार निस्संदेह क्रोधमें आ जानेपर मेरा भी कोई निवारण नहीं कर सकता॥ ७६॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम्।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत् सशैलं परिवर्तयाम्यहम्॥ ७७॥

'यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर दाँतोंवाली अनिन्द्यसुन्दरी मिथिलेशकुमारी सीताको मुझे लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और पर्वतोंसहित सारे संसारको उलट दूँगा'॥ ७७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः॥ ६४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६४॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझा-बुझाकर शान्त करना

तप्यमानं तदा रामं सीताहरणकर्शितम्।
लोकानामभवे युक्तं सांवर्तकमिवानलम्॥ १॥
वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
दग्धुकामं जगत् सर्वं युगान्ते च यथा हरम्॥ २॥
अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्ट्वा रामं स लक्ष्मणः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता॥ ३॥

सीताहरणके शोकसे पीड़ित हुए श्रीराम जब उस समय संतप्त हो प्रलयकालिक अग्निके समान समस्त लोकोंका संहार करनेको उद्यत हो गये और धनुषकी डोरी चढ़ाकर बारंबार उसकी ओर देखने लगे तथा लंबी साँस खींचने लगे, साथ ही कल्पान्तकालमें रुद्रदेवकी भाँति समस्त संसारको दग्ध कर देनेकी इच्छा करने लगे, तब जिन्हें इस रूपमें पहले कभी देखा नहीं गया था, उन अत्यन्त कुपित हुए श्रीरामकी ओर देखकर लक्ष्मण हाथ जोड़ सूखे हुए मुँहसे इस प्रकार बोले—॥ १-३॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि॥ ४॥

'आर्य! आप पहले कोमल स्वभावसे युक्त, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहे हैं। अब क्रोधके वशीभूत होकर अपनी प्रकृति (स्वभाव) का परित्याग न करें॥ ४॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा।
एतच्च नियतं नित्यं त्वयि चानुत्तमं यशः॥ ५॥

'चन्द्रमामें शोभा, सूर्यमें प्रभा, वायुमें गति और पृथ्वीमें क्षमा जैसे नित्य विराजमान रहती है, उसी प्रकार आपमें सर्वोत्तम यश सदा प्रकाशित होता है॥ ५॥

एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि।
ननु जानामि कस्यायं भग्नः सांग्रामिको रथः॥ ६॥

'आप किसी एकके अपराधसे समस्त लोकोंका संहार न करें। मैं यह जाननेकी चेष्टा करता हूँ कि यह टूटा हुआ युद्धोपयोगी रथ किसका है॥ ६॥

केन वा कस्य वा हेतोः सयुगः सपरिच्छदः।
खुरनेमिक्षतश्चायं सिक्तो रुधिरबिन्दुभिः॥ ७॥
देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज।
एकस्य तु विमर्दोऽयं न द्वयोर्वदतां वर॥ ८॥
नहि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम्।
नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि॥ ९॥

'अथवा किसने किस उद्देश्यसे जूए तथा अन्य उपकरणोंसहित इस रथको तोड़ा है? इसका भी पता लगाना है। राजकुमार! यह स्थान घोड़ोंकी खुरों और थके पहियोंसे खुदा हुआ है; साथ ही खूनकी बूँदोंसे सिंच उठा है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ बड़ा भयंकर संग्राम हुआ था, परंतु यह संग्राम-चिह्न किसी एक ही रथीका है, दोका नहीं। वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीराम! मैं यहाँ किसी विशाल सेनाका पदचिह्न नहीं देख रहा हूँ; अतः किसी एकहीके अपराधके कारण आपको समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये॥ ७—९॥

युक्तदण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः।
सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः॥ १०॥

'क्योंकि राजालोग अपराधके अनुसार ही उचित दण्ड देनेवाले, कोमल स्वभाववाले और शान्त होते हैं। आप तो सदा ही समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले तथा उनकी परम गति हैं॥ १०॥

को नु दारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव।
सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः॥ ११॥
नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः।

'रघुनन्दन! आपकी स्त्रीका विनाश या अपहरण कौन अच्छा समझेगा? जैसे यज्ञमें दीक्षित हुए पुरुषका साधुस्वभाववाले ऋत्विज कभी अप्रिय नहीं कर सकते, उसी प्रकार सरिताएँ, समुद्र, पर्वत, देवता, गन्धर्व और दानव—ये कोई भी आपके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकते॥ ११½॥

येन राजन् हृता सीता तमन्वेषितुमर्हसि॥ १२॥
मद्द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः।

'राजन्! जिसने सीताका अपहरण किया है, उसीका अन्वेषण करना चाहिये। आप मेरे साथ धनुष हाथमें लेकर बड़े-बड़े ऋषियोंकी सहायतासे उसका पता लगावें॥ १२½॥

समुद्रं वा विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च॥ १३॥
गुहाश्च विविधा घोराः पद्मिन्यो विविधास्तथा।
देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः॥ १४॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम्।
न चेत् साम्ना प्रदास्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात् प्राप्तकालं करिष्यसि॥ १५॥

'हम सब लोग एकाग्रचित्त हो समुद्रमें खोजेंगे, पर्वतों और वनोंमें ढूँढ़ेंगे, नाना प्रकारकी भयंकर गुफाओं और भाँति-भाँतिके सरोवरोंको छान डालेंगे तथा देवताओं और गन्धर्वोंके लोकोंमें भी तलाश करेंगे। जबतक आपकी पत्नी-का अपहरण करनेवाले दुरात्माका पता नहीं लगा लेंगे, तब-तक हम अपना यह प्रयत्न जारी रखेंगे। कोसलनरेश! यदि हमारे शान्तिपूर्ण बर्तावसे देवेश्वरगण आपकी पत्नीका पता नहीं देंगे तो उस अवसरके अनुरूप कार्य आप कीजियेगा॥ १३—१५॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र।
ततः समुत्सादय हेमपुङ्खै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः॥ १६॥

'नरेन्द्र! यदि अच्छे शील-स्वभाव, सामनीति, विनय और न्यायके अनुसार प्रयत्न करनेपर भी आपको सीताका पता न मिले, तब आप सुवर्णमय पंखवाले महेन्द्रके वज्र-तुल्य बाणसमूहोंसे समस्त लोकोंका संहार कर डालें'॥ १६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः॥ ६५॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६५॥

षट्षष्टितमः सर्गः

लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना

तं तथा शोकसंतप्तं विलपन्तमनाथवत्।
मोहेन महता युक्तं परिद्यूनमचेतसम्॥ १॥
ततः सौमित्रिराश्वस्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः।
रामं सम्बोधयामास चरणौ चाभिपीडयन्॥ २॥

श्रीरामचन्द्रजी शोकसे संतप्त हो अनाथकी तरह विलाप करने लगे। वे महान् मोहसे युक्त और अत्यन्त दुर्बल हो गये। उनका चित्त स्वस्थ नहीं था। उन्हें इस अवस्थामें देख-कर सुमित्राकुमार लक्ष्मणने दो घड़ीतक आश्वासन दिया; फिर वे उनका पैर दबाते हुए उन्हें समझाने लगे—॥ १-२॥

महता तपसा चापि महता चापि कर्मणा।
राज्ञा दशरथेनासील्लब्धोऽमृतमिवामरैः॥ ३॥

'भैया! हमारे पिता महाराज दशरथने बड़ी तपस्या और महान् कर्मका अनुष्ठान करके आपको पुत्ररूपमें प्राप्त

किया, जैसे देवताओंने महान् प्रयाससे अमृत पा लिया था ॥ ३ ॥

नव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः ।
राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥ ४ ॥

'आपने भरतके मुँहसे जैसा सुना था, उसके अनुसार भूपाल महाराज दशरथ आपके ही गुणोंसे बँधे हुए थे और आपका ही वियोग होनेसे देवलोकको प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति ॥ ५ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! यदि अपने ऊपर आये हुए इस दुःखको आप ही धैर्यपूर्वक नहीं सहेंगे तो दूसरा कौन साधारण पुरुष, जिसकी शक्ति बहुत थोड़ी है, सह सकेगा? ॥ ५ ॥

आश्वसिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्य नापदः ।
संस्पृशन्त्यग्निवद् राजन् क्षणेन व्यपयान्ति च ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप धैर्य धारण करें। संसारमें किस प्राणीपर आपत्तियाँ नहीं आतीं। राजन् ! आपत्तियाँ अग्निकी भाँति एक क्षणमें स्पर्श करती और दूसरे ही क्षणमें दूर हो जाती हैं ॥ ६ ॥

दुःखितो हि भवाँल्लोकांस्तेजसा यदि धक्ष्यते ।
आर्ताः प्रजा नरव्याघ्र क्व नु यास्यन्ति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह ! यदि आप दुखी होकर अपने तेजसे समस्त लोकोंको दग्ध कर डालेंगे तो पीड़ित हुई प्रजा किसकी शरणमें जाकर सुख और शान्ति पायेगी ॥ ७ ॥

लोकस्वभाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः ।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं समस्पृशत् ॥ ८ ॥

'यह लोकका स्वभाव ही है कि यहाँ सबपर दुःख-शोक आता-जाता रहता है। नहुषपुत्र ययाति इन्द्रके समान लोक (देवेन्द्रपद) को प्राप्त हुए थे; किंतु वहाँ भी अन्याय-मूलक दुःख उनका स्पर्श किये बिना न रहा ॥ ८ ॥

महर्षियों वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अह्ना पुत्रशतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥ ९ ॥

'हमारे पिताके पुरोहित जो महर्षि वसिष्ठजी हैं, उन्हें एक ही दिनमें सौ पुत्र प्राप्त हुए और फिर एक ही दिन वे सब-के-सब विश्वामित्रके हाथसे मारे गये ॥ ९ ॥

या चेयं जगतो माता सर्वलोकनमस्कृता ।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते कोसलेश्वर ॥ १० ॥

'कोसलेश्वर ! यह जो विश्ववन्दिता जगन्माता पृथ्वी है, इसका भी हिलना-डुलना देखा जाता है ॥ १० ॥

यौ धर्मौ जगतो नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥ ११ ॥

'जो धर्मके प्रवर्तक और संसारके नेत्र हैं, जिनके आधार-पर ही सारा जगत् टिका हुआ है, वे महाबली सूर्य और चन्द्रमा भी राहुके द्वारा ग्रहणको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ ।
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतानि देहिनः ॥ १२ ॥

'पुरुषप्रवर ! बड़े-बड़े भूत और देवता भी दैव (प्रारब्ध कर्म) की अधीनतासे मुक्त नहीं हो पाते हैं; फिर समस्त देहधारी प्राणियोंके लिये तो कहना ही क्या है ॥ १२ ॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ ।
श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इन्द्र आदि देवताओंको भी नीति और अनीतिके कारण सुख और दुःखकी प्राप्ति होती सुनी जाती है; इसलिये आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

मृतायामपि वैदेह्यां नष्टायामपि राघव ।
शोचितुं नार्हसे वीर यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥ १४ ॥

'वीर रघुनन्दन ! विदेहराजकुमारी सीता यदि मर जायँ या नष्ट हो जायँ तो भी आपको दूसरे गँवार मनुष्योंकी तरह शोक-चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १४ ॥

त्वद्विधा नहि शोचन्ति सततं सर्वदर्शनाः ।
सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः ॥ १५ ॥

'श्रीराम ! आप-जैसे सर्वज्ञ पुरुष बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी कभी शोक नहीं करते हैं। वे निर्वेद (खेद) रहित हो अपनी विचारशक्तिको नष्ट नहीं होने देते ॥ १५ ॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिन्तय ।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप बुद्धिके द्वारा तात्त्विक विचार कीजिये—क्या करना चाहिये और क्या नहीं; क्या उचित है और क्या अनुचित—इसका निश्चय कीजिये; क्योंकि बुद्धियुक्त महाज्ञानी पुरुष ही शुभ और अशुभ (कर्तव्य-अकर्तव्य एवं उचित-अनुचित) को अच्छी तरह जानते हैं ॥ १६ ॥

अदृष्टगुणदोषाणामध्रुवाणां तु कर्मणाम् ।
नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं च वर्तते ॥ १७ ॥

'जिनके गुण-दोष देखे या जाने नहीं गये हैं तथा जो अध्रुव हैं—फल देकर नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे कर्मोंका शुभा-शुभ फल उन्हें आचरणमें लाये बिना नहीं प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

मामेवं हि पुरा वीर त्वमेव बहुशोक्तवान् ।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद् बृहस्पतिः ॥ १८ ॥

'वीर ! पहले आप ही अनेक बार इस तरहकी बातें कहकर मुझे समझा चुके हैं, आपको कौन सिखा सकता है। साक्षात् बृहस्पति भी आपको उपदेश देनेकी शक्ति नहीं रखते हैं ॥ १८ ॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम्॥ १९॥

'महाप्राज्ञ! देवताओंके लिये भी आपकी बुद्धिका पता पाना कठिन है। इस समय शोकके कारण आपका ज्ञान सोया-खोया-सा जान पड़ता है। इसलिये मैं उसे जगा रहा हूँ॥ १९॥

दिव्यं च मानुषं चैवमात्मनश्च पराक्रमम्।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे॥ २०॥

'इक्ष्वाकुकुलशिरोमणे! अपने देवोचित तथा मानवोचित पराक्रमको देखकर उसका अवसरके अनुरूप उपयोग करते हुए आप शत्रुओंके वधका प्रयत्न कीजिये॥ २०॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ।
तमेव तु रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि॥ २१॥

'पुरुषप्रवर! समस्त संसारका विनाश करनेसे आपको क्या लाभ होगा? उस पापी शत्रुका पता लगाकर उसीको उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न करना चाहिये'॥ २१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी पक्षिराज जटायुसे भेंट तथा श्रीरामका उन्हें गलेसे लगाकर रोना

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम्।
सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः॥ १॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सब वस्तुओंका सार ग्रहण करनेवाले हैं। अवस्थामें बड़े होनेपर भी उन्होने लक्ष्मणके कहे हुए अत्यन्त सारगर्भित उत्तम वचनोंको सुनकर उन्हें स्वीकार किया॥ १॥

स निगृह्य महाबाहुः प्रवृद्धं रोषमात्मनः।
अवष्टभ्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ २॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीरामने अपने बढ़े हुए रोषको रोका और उस विचित्र धनुषको उतारकर लक्ष्मणसे कहा—॥२॥

किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण।
केनोपायेन पश्यावः सीतामिह विचिन्तय॥ ३॥

'वत्स! अब हम लोग क्या करें? कहाँ जायँ? लक्ष्मण! किस उपायसे हमें सीताका पता लगे? यहाँ इसका विचार करो'॥ ३॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि॥ ४॥

तब लक्ष्मणने इस प्रकार संतापपीड़ित हुए श्रीरामसे कहा—'भैया! आपको इस जनस्थानमें ही सीताकी खोज करनी चाहिये॥ ४॥

राक्षसैर्बहुभिः कीर्णं नानाद्रुमलतायुतम्।
सन्तीह गिरिदुर्गाणि निर्दराः कन्दराणि च॥ ५॥

'नाना प्रकारके वृक्ष और लताओंसे युक्त यह सघन वन अनेक राक्षसोंसे भरा हुआ है। इसमें पर्वतके ऊपर बहुत-से दुर्गम स्थान, फटे हुए पत्थर और कंदराएँ हैं॥ ५॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः।
आवासाः किंनराणां च गन्धर्वभवनानि च॥ ६॥

'वहाँ भाँति-भाँतिकी भयंकर गुफाएँ हैं, जो नाना प्रकारके मृगगणोंसे भरी रहती हैं। यहाँके पर्वतपर किन्नरोंके आवासस्थान और गन्धर्वोंके भवन भी हैं॥ ६॥

तानि युक्तो मया सार्धं समन्वेषितुमर्हसि।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभाः॥ ७॥
आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः।

'मेरे साथ चलकर आप उन सभी स्थानोंमें एकाग्रचित्त हो सीताकी खोज करें। जैसे पर्वत वायुके वेगसे कम्पित नहीं होते हैं, उसी प्रकार आप-जैसे बुद्धिमान् महात्मा नरश्रेष्ठ आपत्तियोंमें विचलित नहीं होते हैं'॥ ७½॥

इत्युक्तस्तद् वनं सर्वं विचचार सलक्ष्मणः॥ ८॥
क्रुद्धो रामः शरं घोरं संधाय धनुषि क्षुरम्।

उनके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी रोषपूर्वक अपने धनुषपर क्षुर नामक भयंकर बाण चढ़ाये वहाँ सारे वनमें विचरण करने लगे॥ ८½॥

ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम्॥ ९॥
ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम्।
तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ १०॥

थोड़ी ही दूर आगे जानेपर उन्हें पर्वतशिखरके समान विशाल शरीरवाले पक्षिराज महाभाग जटायु दिखायी पड़े, जो खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर पड़े थे। पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होनेवाले उन गृध्रराजको देखकर श्रीराम लक्ष्मणसे बोले—॥ ९-१०॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः।
गृध्ररूपमिदं व्यक्तं रक्षो भ्रमति काननम्॥ ११॥

'लक्ष्मण! यह गृध्रके रूपमें अवश्य ही कोई राक्षस जान पड़ता है, जो इस वनमें घूमता रहता है। निःसंदेह इसीने विदेहराजकुमारी सीताको खा लिया होगा॥ ११॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथासुखम्।
एनं वधिष्ये दीप्ताग्रैः शरैर्घोरैरजिह्मगैः ॥ १२ ॥

'विशाललोचना सीताको खाकर यह यहाँ सुखपूर्वक बैठा हुआ है। मैं प्रज्वलित अग्रभागवाले तथा सीधे जानेवाले अपने भयंकर बाणोंसे इसका वध करूँगा' ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वाभ्यपतद् द्रष्टुं संधाय धनुषि क्षुरम्।
क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां चालयन्निव मेदिनीम् ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए श्रीराम धनुषपर बाण चढ़ाये समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको कम्पित करते हुए उसे देखनेके लिये आगे बढ़े ॥ १३ ॥

तं दीनदीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन्।
अभ्यभाषत पक्षी स रामं दशरथात्मजम् ॥ १४ ॥

इसी समय पक्षी जटायु अपने मुँहसे फेनयुक्त रक्त वमन करते हुए अत्यन्त दीन-वाणीमें दशरथनन्दन श्रीरामसे बोले—॥ १४ ॥

यामोषधीमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥ १५ ॥

'आयुष्मन्! इस महान् वनमें तुम जिसे ओषधिके समान ढूँढ़ रहे हो, उस देवी सीताको तथा मेरे इन प्राणोंको भी रावणने हर लिया ॥ १५ ॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन! तुम्हारे और लक्ष्मणके न रहनेपर महाबली रावण आया और देवी सीताको हरकर ले जाने लगा। उस समय मेरी दृष्टि सीतापर पड़ी ॥ १६ ॥

सीतामभ्यवपन्नोऽहं रावणश्च रणे प्रभो।
विध्वंसितरथच्छत्रः पतितो धरणीतले ॥ १७ ॥

'प्रभो! ज्यों ही मेरी दृष्टि पड़ी, मैं सीताकी सहायताके लिये दौड़ पड़ा। रावणके साथ मेरा युद्ध हुआ। मैंने उस युद्धमें रावणके रथ और छत्र आदि सभी साधन नष्ट कर दिये और वह भी घायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

एतदस्य धनुर्भग्नमेते चास्य शरास्तथा।
अयमस्य रणे राम भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ १८ ॥

'श्रीराम! यह रहा उसका टूटा हुआ धनुष, ये हैं उसके खण्डित हुए बाण और यह है उसका युद्धोपयोगी रथ, जो युद्धमें मेरेद्वारा तोड़ डाला गया है ॥ १८ ॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षनिहतो भुवि।
परिश्रान्तस्य मे पक्षौ छित्त्वा खड्गेन रावणः ॥ १९ ॥
सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम्।
रक्षसा निहतं पूर्वं मां न हन्तुं त्वमर्हसि ॥ २० ॥

'यह रावणका सारथि है, जिसे मैंने अपने पंखोंसे मार डाला था। जब मैं युद्ध करते-करते थक गया, तब रावणने तलवारसे मेरे दोनों पंख काट डाले और वह विदेहकुमारी सीताको लेकर आकाशमें उड़ गया। मैं उस राक्षसके हाथसे पहले ही मार डाला गया हूँ, अब तुम मुझे न मारो' ॥ १९-२० ॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय सीतासक्तां प्रियां कथाम्।
गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद् धनुः ॥ २१ ॥
निपपातावशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः।
द्विगुणीकृततापार्तो रामो धीरतरोऽपि सन् ॥ २२ ॥

सीतासे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्रिय वार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपना महान् धनुष फेंक दिया और गृध्रराज जटायुको गलेसे लगाकर वे शोकसे विवश हो पृथ्वीपर गिर पड़े और लक्ष्मणके साथ ही रोने लगे। अत्यन्त धीर होनेपर भी श्रीरामने उस समय दूने दुःखका अनुभव किया ॥ २१-२२ ॥

एकमेकायने कृच्छ्रे निःश्वसन्तं मुहुर्मुहुः।
समीक्ष्य दुःखितो रामः सौमित्रिमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

असहाय हो एकमात्र ऊर्ध्वश्वासकी संकटपूर्ण अवस्थामें पड़कर बारंबार लंबी साँस खींचते हुए जटायुकी ओर देखकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सुमित्राकुमारसे कहा—॥ २३ ॥

राज्यं भ्रष्टं वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्दहेदपि हि पावकम् ॥ २४ ॥

'लक्ष्मण! मेरा राज्य छिन गया, मुझे बनवास मिला (पिताजीकी मृत्यु हुई), सीताका अपहरण हुआ और ये मेरे परम सहायक पक्षिराज भी मर गये। ऐसा जो मेरा यह दुर्भाग्य है, यह तो अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता है ॥ २४ ॥

सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेयं महोदधिम्।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत् सरितां पतिः ॥ २५ ॥

'यदि आज मैं भरे हुए महासागरको तैरने लगूँ तो मेरे दुर्भाग्यकी आँचसे वह सरिताओंका स्वामी समुद्र भी निश्चय ही सूख जायगा ॥ २५ ॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन् सचराचरे।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥ २६ ॥

'इस चराचर जगत्में मुझसे बढ़कर भाग्यहीन दूसरा कोई नहीं है, जिस अभाग्यके कारण मुझे इस विपत्तिके बड़े भारी जालमें फँसना पड़ा है ॥ २६ ॥

अयं पितुर्वयस्यो मे गृध्रराजो महाबलः।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥ २७ ॥

'ये महाबली गृध्रराज जटायु मेरे पिताजीके मित्र थे, किंतु आज मेरे दुर्भाग्यवश मारे जाकर इस समय पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः।
जटायुषं च पस्पर्श पितृस्नेहं निदर्शयन् ॥ २८ ॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीने जटायुके शरीरपर हाथ फेरा और पिताके प्रति जैसा स्नेह होना चाहिये, वैसा ही उनके प्रति प्रदर्शित किया ॥ २८ ॥

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं
तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः।
क मैथिली प्राणसमा गतेति
विमुच्य वाचं निपपात भूमौ ॥ २९ ॥

पङ्ख कट जानेके कारण गृध्रराज जटायु लहू-लुहान हो रहे थे। उसी अवस्थामें उन्हें गलेसे लगाकर श्रीरघुनाथजीने पूछा—'तात! मेरी प्राणोंके समान प्रिया मिथिलेशकुमारी सीता कहाँ चली गयी?' इतनी ही बात मुँहसे निकालकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

जटायुका प्राण-त्याग और श्रीरामद्वारा उनका दाह-संस्कार

रामः प्रेक्ष्य तु तं गृध्रं भुवि रौद्रेण पातितम्।
सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

भयंकर राक्षस रावणने जिसे पृथ्वीपर मार गिराया था, उस गृध्रराज जटायुकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीराम मित्रोचित गुणसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले—॥१॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहंगमः।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यजति मत्कृते ॥ २ ॥

'भाई! यह पक्षी अवश्य मेरा ही कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रयत्नशील था, किंतु उस राक्षसके द्वारा युद्धमें मारा गया। यह मेरे ही लिये अपने प्राणोंका परित्याग कर रहा है ॥ २ ॥

अतिखिन्नः शरीरेऽस्मिन् प्राणो लक्ष्मण विद्यते।
तथा स्वरविहीनोऽयं विक्लवं समुदीक्षते ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण! इस शरीरके भीतर इसके प्राणोंको बड़ी वेदना हो रही है, इसीलिये इसकी आवाज बंद होती जा रही है तथा यह अत्यन्त व्याकुल होकर देख रहा है' ॥ ३ ॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहरितुं पुनः।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः ॥ ४ ॥

(लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीराम उस पक्षीसे बोले—) 'जटायो! यदि आप पुनः बोल सकते हों तो आपका भला हो, बताइये, सीताकी क्या अवस्था है? और आपका वध किस प्रकार हुआ?॥ ४ ॥

किंनिमित्तो जहारार्यां रावणस्तस्य किं मया।
अपराधं तु यं दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया ॥ ५ ॥

जिस अपराधको देखकर रावणने मेरी प्रिय भार्याका अपहरण किया है, उसका वह अपराध क्या है? और मैंने उसे कब किया? किस निमित्तको लेकर रावणने आर्या सीताका हरण किया है?॥ ५ ॥

कथं तच्चन्द्रसंकाशं मुखमासीन्मनोहरम्।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन् काले द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

'पक्षिप्रवर! सीताका चन्द्रमाके समान मनोहर मुख कैसा हो गया था? तथा उस समय सीताने क्या-क्या बातें कही थीं?॥ ६

कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥ ७ ॥

'तात! उस राक्षसका बल-पराक्रम तथा रूप कैसा है? वह क्या काम करता है? और उसका घर कहाँ है? मैं जो कुछ पूछ रहा हूँ, वह सब बताइये' ॥ ७ ॥

तमुद्वीक्ष्य स धर्मात्मा विलपन्तमनाथवत्।
वाचा विक्लवया राममिदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इस तरह अनाथकी भाँति विलाप करते हुए श्रीरामकी ओर देखकर धर्मात्मा जटायुने लड़खड़ाती जबानसे यों कहना आरम्भ किया—॥ ८ ॥

सा हृता राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना।
मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसंकुलाम् ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन! दुरात्मा राक्षसराज रावणने विपुल मायाका आश्रय ले आँधी-पानीकी सृष्टि करके (घबराहटकी अवस्थामें) सीताका हरण किया था ॥ ९ ॥

परिक्लान्तस्य मे तात पक्षौ छित्त्वा निशाचरः।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १० ॥

'तात! जब मैं उससे लड़ता-लड़ता थक गया, उस अवस्थामें मेरे दोनों पंख काटकर वह निशाचर विदेहनन्दिनी सीताको साथ लिये यहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर गया था ॥ १० ॥

उपरुध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव।
पश्यामि वृक्षान् सौवर्णानुशीरकृतमूर्धजान् ॥ ११ ॥

'रघुनन्दन ! अब मेरे प्राणोंकी गति बंद हो रही है, दृष्टि घूम रही है और समस्त वृक्ष मुझे सुनहरे रंगके दिखायी देते हैं । ऐसा जान पड़ता है कि उन वृक्षोंपर खशके केश जमे हुए हैं ॥ ११ ॥

येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः ।
विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥
विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत् ।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
झषवद् बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १३ ॥

'रावण सीताको जिस मुहूर्तमें ले गया है, उसमें खोया हुआ धन शीघ्र ही उसके स्वामीको मिल जाता है । काकुत्स्थ ! वह 'विन्द' नामक मुहूर्त था, किंतु उस राक्षसको इसका पता नहीं था । जैसे मछली मौतके लिये ही बंसी पकड़ लेती है, उसी प्रकार वह भी सीताको ले जाकर शीघ्र ही नष्ट हो जायगा ॥ १२-१३ ॥

न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ।
वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा तं रणमूर्धनि ॥ १४ ॥

'अतः अब तुम जनकनन्दिनीके लिये अपने मनमें खेद न करो । संग्रामके मुहानेपर उस निशाचरका वध करके तुम शीघ्र ही पुनः विदेहराजकुमारीके साथ विहार करोगे' ॥ १४ ॥

असम्मूढस्य गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ।
आस्यात् सुस्राव रुधिरं म्रियमाणस्य सामिषम् ॥ १५ ॥

गृध्रराज जटायु यद्यपि मर रहे थे तो भी उनके मनपर मोह या भ्रम नहीं छाया था (उनके होश-हवास ठीक थे) । वे श्रीरामचन्द्रजीको उनकी बातका उत्तर दे ही रहे थे कि उनके मुखसे मांसयुक्त रुधिर निकलने लगा ॥ १५ ॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च ।
इत्युक्त्वा दुर्लभान् प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ॥ १६ ॥

वे बोले—'रावण विश्रवाका पुत्र और कुबेरका सगा भाई है' इतना कहकर उन पक्षिराजने दुर्लभ प्राणोंका परित्याग कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुवाणस्य कृताञ्जलेः ।
त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य प्राणा जग्मुर्विहायसम् ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़े कह रहे थे, 'कहिये, कहिये, कुछ और कहिये !' किंतु उस समय गृध्रराजके प्राण उनका शरीर छोड़कर आकाशमें चले गये ॥ १७ ॥

स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तथा ।
विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले ॥ १८ ॥

उन्होंने अपना मस्तक भूमिपर डाल दिया, दोनों पैर फैला दिये और अपने शरीरको भी पृथ्वीपर ही डालते हुए वे धराशायी हो गये ॥ १८ ॥

तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम् ।
रामः सुबहुभिर्दुःखैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ १९ ॥

गृध्रराज जटायुकी आँखें लाल दिखायी देती थीं । प्राण निकल जानेसे वे पर्वतके समान अविचल हो गये । उन्हें इस अवस्थामें देखकर बहुत-से दुःखोंसे दुखी हुए श्रीरामचन्द्रजीने सुमित्राकुमारसे कहा—॥ १९ ॥

बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम् ।
अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा ॥ २० ॥

'लक्ष्मण ! राक्षसोंके निवासस्थान इस दण्डकारण्यमें बहुत वर्षोंतक सुखपूर्वक रहकर इन पक्षिराजने यहीं अपने शरीरका त्याग किया है ॥ २० ॥

अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः ।
सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २१ ॥

इनकी अवस्था बहुत वर्षोंकी थी । इन्होंने सुदीर्घ कालतक अपना अभ्युदय देखा है; किंतु आज इस वृद्धावस्थामें उस राक्षसके द्वारा मारे जाकर ये पृथ्वीपर सो रहे हैं; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना सबके ही लिये कठिन है ॥ २१ ॥

पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ।
सीतामभ्यवपन्नो हि रावणेन बलीयसा ॥ २२ ॥

लक्ष्मण ! देखो, ये जटायु मेरे बड़े उपकारी थे, किंतु आज मारे गये । सीताकी रक्षाके लिये युद्धमें प्रवृत्त होनेपर अत्यन्त बलवान् रावणके हाथसे इनका वध हुआ है ॥२२॥

गृध्रराज्यं परित्यज्य पितृपैतामहं महत् ।
मम हेतोरयं प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ॥ २३ ॥

'बाप-दादोंके द्वारा प्राप्त हुए गीधोंके विशाल राज्यका त्याग करके इन पक्षिराजने मेरे ही लिये अपने प्राणोंकी आहुति दी है ॥ २३ ॥

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि ॥ २४ ॥

'शूर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुष सभी जगह देखे जाते हैं । पशु-पक्षीकी योनियोंमें भी उनका अभाव नहीं है ॥ २४ ॥

सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप ॥ २५ ॥

'सौम्य ! शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण ! इस समय मुझे सीताके हरणका उतना दुःख नहीं है, जितना कि मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है ॥२५॥

राजा दशरथः श्रीमान् तथा मम महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥ २६ ॥

'महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथ जैसे मेरे माननीय और पूज्य थे, वैसे ही ये पक्षिराज जटायु भी हैं ॥ २६ ॥

सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम् ॥ २७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम सूखे काष्ठ ले आओ, मैं मथकर आग निकालूँगा और मेरे लिये मृत्युको प्राप्त हुए इन गृध्रराजका दाह-संस्कार करूँगा ॥ २७ ॥

नाथं पतगलोकस्य चितिमारोपयाम्यहम्।
इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ॥ २८ ॥

'सुमित्राकुमार ! उस भयंकर राक्षसके द्वारा मारे गये इन पक्षिराजको मैं चितापर चढ़ाऊँगा और इनका दाहसंस्कार करूँगा' ॥ २८ ॥

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥ २९ ॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्।
गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ॥ ३० ॥

(फिर वे जटायुको सम्बोधित करके बोले—) 'महान् बलशाली गृध्रराज ! यज्ञ करनेवाले, अग्निहोत्री, युद्धमें पीठ न दिखानेवाले और भूमिदान करनेवाले पुरुषोंको जिस गतिकी—जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, मेरी आज्ञासे उन्हीं सर्वोत्तम लोकोंमें तुम भी जाओ। मेरे द्वारा दाह-संस्कार किये जानेपर तुम्हारी सद्गति हो' ॥ २९-३० ॥

एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम्।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ॥ ३१ ॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने दुःखित हो पक्षिराजके शरीरको चितापर रक्खा और उसमें आग लगाकर अपने बन्धुकी भाँति उनका दाह-संस्कार किया ॥ ३१ ॥

रामोऽथ सहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान्।
स्थूलान् हत्वा महारोहीननुतस्तार तं द्विजम् ॥ ३२ ॥
रोहिमांसानि चोद्धृत्य पेशीकृत्वा महायशाः।
शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ॥ ३३ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीराम वनमें जाकर मोटे-मोटे महारोही (कन्दमूलविशेष) काट लाये और उन्हें जटायुके लिये अर्पित करनेके उद्देश्यसे उन्होंने पृथ्वीपर कुश बिछाये। महायशस्वी श्रीरामने रोहीके गूदे निकालकर उनका पिण्ड बनाया और उन सुन्दर हरित कुशाओंपर जटायुको पिण्डदान किया ॥ ३२-३३ ॥

यत् तत् प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः।
तत् स्वर्गगमनं पित्र्यं तस्य रामो जजाप ह ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणलोग परलोकवासी मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे जिन पितृसम्बन्धी मन्त्रोंका जप आवश्यक बतलाते हैं, उन सबका भगवान् श्रीरामने जप किया ॥ ३४ ॥

ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ।
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर उन दोनों राजकुमारोंने गोदावरी नदीके तटपर जाकर उन गृध्रराजके लिये जलाञ्जलि दी ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

रघुकुलके उन दोनों महापुरुषोंने गोदावरीमें नहाकर शास्त्रीय विधिसे उन गृध्रराजके लिये उस समय जलाञ्जलिका दान किया ॥ ३६ ॥

स गृध्रराजः कृतवान् यशस्करं
सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः।
महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा
जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

महर्षितुल्य श्रीरामके द्वारा दाहसंस्कार होनेके कारण गृध्रराज जटायुको आत्माका कल्याण करनेवाली परम पवित्र गति प्राप्त हुई। उन्होंने रणभूमिमें अत्यन्त दुष्कर और यशोवर्धक पराक्रम प्रकट किया था। परंतु अन्तमें रावणने उन्हें मार गिराया ॥ ३७ ॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः।
प्रवेश्य सीताधिगमे ततो मनो
वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥ ३८ ॥

तर्पण करनेके पश्चात् वे दोनों भाई पक्षिराज जटायुमें पितृतुल्य सुस्थिरभाव रखकर सीताकी खोजके कार्यमें मन लगा देवेश्वर विष्णु और इन्द्रकी भाँति वनमें आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें अरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

लक्ष्मणका अयोमुखीको दण्ड देना तथा श्रीराम और लक्ष्मणका कबन्धके बाहुबन्धमें पड़कर चिन्तित होना

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितौ राघवौ तदा।
अवेक्षन्तौ वने सीतां जग्मतुः पश्चिमां दिशम् ॥ १ ॥

इस प्रकार जटायुके लिये जलाञ्जलि दान करके वे दोनों रघुवंशी बन्धु उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए और वनमें सीता-

की खोज करते हुए पश्चिम दिशा (नैर्ऋत्य कोण) की ओर गये ॥ १ ॥

तां दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिपेदतुः ॥ २ ॥

धनुष, बाण और खड्ग धारण किये वे दोनों इक्ष्वाकुवंशी वीर उस दक्षिण-पश्चिम दिशाकी ओर आगे बढ़ते हुए एक ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जिसपर लोगोंका आना-जाना नहीं होता था ॥ २ ॥

गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम् ।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ३ ॥

वह मार्ग बहुत-से वृक्षों, झाड़ियों और लता-बेलोंद्वारा सब ओरसे घिरा हुआ था । वह बहुत ही दुर्गम, गहन और देखनेमें भयंकर था ॥ ३ ॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन गृहीत्वा दक्षिणां दिशम् ।
सुभीमं तन्महारण्यं व्यतिपातौ महाबलौ ॥ ४ ॥

उसे वेगपूर्वक लाँघकर वे दोनों महाबली राजकुमार दक्षिण दिशाका आश्रय ले उस अत्यन्त भयानक और विशाल वनसे आगे निकल गये ॥ ४ ॥

ततः परं जनस्थानात् त्रिक्रोशं गम्य राघवौ ।
क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर जनस्थानसे तीन कोस दूर जाकर वे महाबली श्रीराम और लक्ष्मण क्रौञ्चारण्य नामसे प्रसिद्ध गहन वनके भीतर गये ॥ ५ ॥

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः ।
नानावर्णैः शुभैः पुष्पैर्मृगपक्षिगणैर्युतम् ॥ ६ ॥

वह वन अनेक मेघोंके समूहकी भाँति श्याम प्रतीत होता था । विविध रंगके सुन्दर फूलोंसे सुशोभित होनेके कारण वह सब ओरसे हर्षोत्फुल्ल-सा जान पड़ता था । उसके भीतर बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते थे ॥ ६ ॥

दिदृक्षमाणौ वैदेहीं तद् वनं तौ विचिक्यतुः ।
तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणदुःखितौ ॥ ७ ॥

सीताका पता लगानेकी इच्छासे वे दोनों उस वनमें उनकी खोज करने लगे । जहाँ-तहाँ थक जानेपर वे विश्रामके लिये ठहर जाते थे । विदेहनन्दिनीके अपहरणसे उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था ॥ ७ ॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा ।
क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों भाई तीन कोस पूर्व जाकर क्रौञ्चारण्यको पार करके मतङ्ग मुनिके आश्रमके पास गये ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तु तद् वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम् ।
नानावृक्षसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥ ९ ॥

वह वन बड़ा भयंकर था । उसमें बहुत-से भयानक पशु और पक्षी निवास करते थे । अनेक प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त वह सारा वन गहन वृक्षावलियोंसे भरा था ॥ ९ ॥

ददृशाते गिरौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ ।
पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंवृताम् ॥ १० ॥

वहाँ पहुँचकर उन दशरथराजकुमारोंने वहाँके पर्वतपर एक गुफा देखी, जो पातालके समान गहरी थी । वह सदा अन्धकारसे आवृत रहती थी ॥ १० ॥

आसाद्य च नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्याविदूरतः ।
ददर्शतुर्महारूपां राक्षसीं विकृताननाम् ॥ ११ ॥

उसके समीप जाकर उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने एक विशालकाय राक्षसी देखी, जिसका मुख बड़ा विकराल था ॥ ११ ॥

भयदामल्पसत्त्वानां बीभत्सां रौद्रदर्शनाम् ।
लम्बोदरीं तीक्ष्णदंष्ट्रां करालीं परुषत्वचम् ॥ १२ ॥

वह छोटे-छोटे जन्तुओंको भय देनेवाली तथा देखनेमें बड़ी भयंकर थी । उसकी सूरत देखकर घृणा होती थी । उसके लंबे पेट, तीखी दाढ़ें और कठोर त्वचा थी । वह बड़ी विकराल दिखायी देती थी ॥ १२ ॥

भक्षयन्तीं मृगान् भीमान् विकटां मुक्तमूर्धजाम् ।
अवैक्षतां तु तौ तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

भयानक पशुओंको भी पकड़कर खा जाती थी । उसका आकार विकट था और बाल खुले हुए थे । उस कन्दराके समीप दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणने उसे देखा ॥ १३ ॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तं भ्रातुरग्रतः ।
एहि रंस्यावहेत्युक्त्वा समालम्भत लक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

वह राक्षसी उन दोनों वीरोंके पास आयी और अपने भाईके आगे-आगे चलते हुए लक्ष्मणकी ओर देखकर बोली—'आओ हम दोनों रमण करें ।' ऐसा कहकर उसने लक्ष्मणका हाथ पकड़ लिया ॥ १४ ॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगुह्य च ।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, उसने सुमित्राकुमारको अपनी भुजाओंमें कस लिया और इस प्रकार कहा—'मेरा नाम अयोमुखी है । मैं तुम्हें भार्यारूपसे मिल गयी तो समझ लो, बहुत बड़ा लाभ हुआ और तुम मेरे प्यारे पति हो ॥ १५ ॥

नाथ पर्वतदुर्गेषु नदीनां पुलिनेषु च ।
आयुश्चिरमिदं वीर त्वं मया सह रंस्यसे ॥ १६ ॥

'प्राणनाथ ! वीर ! यह दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली आयु पाकर तुम पर्वतकी दुर्गम कन्दराओंमें तथा नदियोंके तटोंपर मेरे साथ सदा रमण करोगे' ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः ।
कर्णनासस्तनं तस्या निचकर्तारिसूदनः ॥ १७ ॥

राक्षसीके ऐसा कहनेपर शत्रुसूदन लक्ष्मण क्रोधसे जल उठे। उन्होंने तलवार निकालकर उसके कान, नाक और स्तन काट डाले ॥ १७ ॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं विननाद सा।
यागतं प्रदुद्राव राक्षसी घोरदर्शना ॥ १८ ॥

नाक और कानके कट जानेपर वह भयंकर राक्षसी जोर-जोरसे चिल्लाने लगी और जहाँसे आयी थी, उधर ही भाग गयी ॥ १८ ॥

तस्यां गतायां गहनं व्रजन्तौ वनमोजसा।
आसेदतुरमित्रघ्नौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

उसके चले जानेपर वे दोनों भाई शक्तिशाली श्रीराम और लक्ष्मण बड़े वेगसे चलकर एक गहन वनमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः सत्त्ववाञ्छीलवाञ्छुचिः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ॥ २० ॥

उस समय महातेजस्वी, धैर्यवान्, सुशील एवं पवित्र आचार-विचारवाले लक्ष्मणने हाथ जोड़कर अपने तेजस्वी भ्राता श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥ २० ॥

स्पन्दते मे दृढं बाहुरुद्विग्नमिव मे मनः।
प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमित्तान्युपलक्षये ॥ २१ ॥
तस्मात् सज्जीभवार्य त्वं कुरुष्व वचनं मम।
ममैव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति सम्भ्रमम् ॥ २२ ॥

'आर्य ! मेरी बायीं बाँह जोर-जोरसे फड़क रही है और मन उद्विग्न-सा हो रहा है। मुझे बार-बार बुरे शकुन दिखायी देते हैं, इसलिये आप भयका सामना करनेके लिये तैयार हो जाइये। मेरी बात मानिये। ये जो बुरे शकुन हैं वे केवल मुझे ही तत्काल प्राप्त होनेवाले भयकी सूचना देते हैं॥२१-२२॥

एष वञ्जुलको नाम पक्षी परमदारुणः।
आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति ॥ २३ ॥

'(इसके साथ एक शुभ शकुन भी हो रहा है) यह जो वञ्जुल नामक अत्यन्त दारुण पक्षी है, यह युद्धमें हम दोनोंकी विजय सूचित करता हुआ-सा जोर-जोरसे बोल रहा है' ॥ २३ ॥

तयोरन्वेषतोरेवं सर्वं तद् वनमोजसा।
संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रभञ्जन्निव तद् वनम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार बलपूर्वक उस सारे वनमें वे दोनों भाई जब सीताकी खोज कर रहे थे, उसी समय वहाँ बड़े जोरका शब्द हुआ जो उस वनका विध्वंस करता हुआ-सा प्रतीत होता था ॥ २४ ॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गहनं मातरिश्वना।
वनस्य तस्य शब्दोऽभूद् वनमापूरयन्निव ॥ २५ ॥

उस वनमें जोर-जोरसे आँधी चलने लगी। वह सारा वन उसकी लपेटमें आ गया। वनमें उस शब्दकी जो प्रतिध्वनि उठी, उससे वह सारा वनप्रान्त गूँज उठा ॥ २५ ॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः खड्गी सहानुजः।
ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

भाईके साथ तलवार हाथमें लिये भगवान् श्रीराम उस शब्दका पता लगाना ही चाहते थे कि एक चौड़ी छातीवाले विशालकाय राक्षसपर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ २६ ॥

आसेदतुश्च तद्रक्षस्तावुभौ प्रमुखे स्थितम्।
विवृद्धमशिरोग्रीवं कबन्धमुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

उन दोनों भाइयोंने उस राक्षसको अपने सामने खड़ा पाया। वह देखनेमें बहुत बड़ा था; किंतु उसके न मस्तक था न गला। कबन्ध (धड़मात्र) ही उसका स्वरूप था और उसके पेटमें ही मुँह बना हुआ था ॥ २७ ॥

रोमभिर्निशितैस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम्।
नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके सारे शरीरमें पैने और तीखे रोयें थे। वह महान् पर्वतके समान ऊँचा था। उसकी आकृति बड़ी भयंकर थी। वह नील मेघके समान काला था और मेघके समान ही गम्भीर स्वरमें गर्जना करता था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता।
महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥ २९ ॥
एकेनोरसि घोरेण नयनेन सुदर्शिना।
महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

उसकी छातीमें ही ललाट था और ललाटमें एक ही लंबी-चौड़ी तथा आगकी ज्वालाके समान दहकती हुई भयंकर आँख थी, जो अच्छी तरह देख सकती थी। उसकी पलक बहुत बड़ी थी और वह आँख भूरे रंगकी थी। उस राक्षसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं तथा वह अपनी लपलपाती हुई जीभसे अपने विशाल मुखको बारंबार चाट रहा था ॥ २९-३० ॥

भक्षयन्तं महाघोरानृक्षसिंहमृगद्विजान्।
घोरौ भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायतौ ॥ ३१ ॥
कराभ्यां विविधान् गृह्य ऋक्षान् पक्षिगणान् मृगान्।
आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान् मृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

अत्यन्त भयंकर रीछ, सिंह, हिंसक पशु और पक्षी—ये ही उसके भोजन थे। वह अपनी एक-एक योजन लंबी दोनों भयानक भुजाओंको दूरतक फैला देता और उन दोनों हाथोंसे नाना प्रकारके अनेकों भालू, पक्षी, पशु तथा मृगोंके यूथपतियोंको पकड़कर खींच लेता था। उनमेंसे जो उसे भोजनके लिये अभीष्ट नहीं होते, उन जन्तुओंको वह उन्हीं हाथोंसे पीछे ढकेल देता था ॥ ३१-३२ ॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः।
अथ तं समतिक्रम्य क्रोशमात्रं ददर्शतुः ॥ ३३ ॥
महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम्।
कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जब उसके निकट पहुँचे, तब वह उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया। तब वे दोनों भाई उससे दूर हट गये और बड़े गौरसे उसे देखने लगे। उस समय वह एक कोस लंबा जान पड़ा। उस राक्षसकी आकृति केवल कबन्ध (धड़) के ही रूपमें थी, इसलिये वह कबन्ध कहलाता था। वह विशाल, हिंसापरायण, भयंकर तथा दो बड़ी-बड़ी भुजाओंसे युक्त था और देखनेमें अत्यन्त घोर प्रतीत होता था ॥ ३३-३४ ॥

स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन् बलात् ॥ ३५ ॥

उस महाबाहु राक्षसने अपनी दोनों विशाल भुजाओंको फैलाकर उन दोनों रघुवंशी राजकुमारोंको बलपूर्वक पीड़ा देते हुए एक साथ ही पकड़ लिया ॥ ३५ ॥

खड्गिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजौ महाभुजौ।
भ्रातरौ विवशं प्राप्तौ कृष्यमाणौ महाबलौ ॥ ३६ ॥

दोनोंके हाथोंमें तलवारें थीं, दोनोंके पास मजबूत धनुष थे और वे दोनों भाई प्रचण्ड तेजस्वी, विशाल भुजाओं-से युक्त तथा महान् बलवान् थे तो भी उस राक्षसके द्वारा खींचे जानेपर विवशताका अनुभव करने लगे ॥ ३६ ॥

तत्र धैर्याच्च शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे।
बाल्यादनाश्रयाच्चैव लक्ष्मणस्त्वभिविव्यथे ॥ ३७ ॥

उस समय वहाँ शूरवीर रघुनन्दन श्रीराम तो धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुए, परंतु बालबुद्धि होने तथा धैर्यका आश्रय न लेनेके कारण लक्ष्मणके मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ३७ ॥

उवाच च विषण्णः सन् राघवं राघवानुजः।
पश्य मां विवशं वीर राक्षसस्य वशंगतम् ॥ ३८ ॥

तब श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण विषादग्रस्त हो श्रीरघुनाथ-जीसे बोले—'वीरवर! देखिये, मैं राक्षसके वशमें पड़कर विवश हो गया हूँ ॥ ३८ ॥

मयैकेन तु निर्युक्तः परिमुच्यस्व राघव।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम् ॥ ३९ ॥

'रघुनन्दन! एकमात्र मुझे ही इस राक्षसको भेंट देकर आप स्वयं इसके बाहुबन्धनसे मुक्त हो जाइये। इस भूतको मेरी ही बलि देकर आप सुखपूर्वक यहाँसे निकल भागिये ॥ ३९ ॥

अधिगन्तासि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः।
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम् ॥ ४० ॥
तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा।

'मेरा विश्वास है कि आप शीघ्र ही विदेहराजकुमारीको प्राप्त कर लेंगे। ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! वनवाससे लौटने-पर पिता-पितामहोंकी भूमिको अपने अधिकारमें लेकर जब आप राज-सिंहासनपर विराजमान होइयेगा, तब वहाँ सदा मेरा भी स्मरण करते रहियेगा' ॥ ४०½ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
मा स्म त्रासं वृथा वीर नहि त्वादृग् विषीदति।

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर श्रीरामने उन सुमित्राकुमारसे कहा—'वीर! तुम भयभीत न होओ। तुम्हारे-जैसे शूरवीर इस तरह विषाद नहीं करते हैं' ॥ ४१½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥
तावुवाच महाबाहुः कबन्धो दानवोत्तमः।

इसी बीचमें क्रूर हृदयवाले दानवशिरोमणि महाबाहु कबन्धने उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे कहा—॥ ४२½ ॥

कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरौ ॥ ४३ ॥
घोरं देशमिमं प्राप्तौ दैवेन मम चाक्षुषौ।
वदतं कार्यमिह वां किमर्थं चागतौ युवाम् ॥ ४४ ॥

'तुम दोनों कौन हो? तुम्हारे कंधे बैलके समान ऊँचे हैं। तुमने बड़ी-बड़ी तलवारें और धनुष धारण कर रखे हैं। इस भयंकर देशमें तुम दोनों किसलिये आये हो? यहाँ तुम्हारा क्या कार्य है? बताओ। भाग्यसे ही तुम दोनों मेरी आँखोंके सामने पड़ गये ॥ ४३-४४ ॥

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः।
सबाणचापखड्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥ ४५ ॥
मां तूर्णमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं हि वाम्।

'मैं यहाँ भूखसे पीड़ित होकर खड़ा था और तुम स्वयं धनुष-बाण और खड्ग लिये तीखे सींगवाले दो बैलोंके समान तुरंत ही इस स्थानपर मेरे निकट आ पहुँचे। अतः अब तुम दोनोंका जीवित रहना कठिन है' ॥ ४५½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥ ४६ ॥
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता।
कृच्छ्रात् कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम ॥ ४७ ॥
व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम्।

दुरात्मा कबन्धकी ये बातें सुनकर श्रीरामने सूखे मुख-वाले लक्ष्मणसे कहा—'सत्यपराक्रमी वीर! कठिन-से-कठिन असह्य दुःखको पाकर हम दुखी थे ही, तबतक पुनः प्रियतमा सीताके प्राप्त होनेसे पहले ही हम दोनोंपर यह महान् संकट आ गया, जो जीवनका अन्त कर देनेवाला है ॥ ४६-४७½ ॥

कालस्य सुमहद् वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४८ ॥
त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्य मोहितौ।
नहि भारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! कालका महान् बल सभी प्राणियोंपर अपना प्रभाव डालता है। देखो न, तुम और मैं दोनों ही कालके दिये हुए अनेकानेक संकटोंसे मोहित हो रहे हैं। सुमित्रानन्दन ! दैव अथवा कालके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंपर शासन करना भाररूप (कठिन) नहीं है ॥ ४८-४९ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति यथा वालुकसेतवः ॥ ५० ॥

'जैसे बालूके बने हुए पुल पानीके आघातसे ढह जाते हैं, उसी प्रकार बड़े-बड़े शूरवीर, बलवान् और अस्त्रवेत्ता पुरुष भी समराङ्गणमें कालके वशीभूत हो कष्टमें पड़ जाते हैं' ॥ ५० ॥

इति ब्रुवाणो दृढसत्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान्।
अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रविक्रमः
स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाकरोत् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर सुदृढ़ एवं सत्यपराक्रमवाले महान् बल-विक्रमसे सम्पन्न महायशस्वी प्रतापशाली दशरथनन्दन श्रीरामने सुमित्राकुमारकी ओर देखकर उस समय स्वयं ही अपनी बुद्धिको सुस्थिर कर लिया ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

27/12/87

सप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका परस्पर विचार करके कबन्धकी दोनों भुजाओंको काट डालना तथा कबन्धके द्वारा उनका स्वागत

तौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपने बाहुपाशसे घिरकर वहाँ खड़े हुए उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणकी ओर देखकर कबन्धने कहा—॥ १ ॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्तं क्षत्रियर्षभौ।
आहारार्थं तु संदिष्टौ दैवेन हतचेतनौ ॥ २ ॥

'क्षत्रियशिरोमणि राजकुमारो ! मुझे भूखसे पीड़ित देखकर भी खड़े क्यों हो ! (मेरे मुँहमें चले आओ) क्योंकि दैवने मेरे भोजनके लिये ही तुम्हें यहाँ भेजा है। इसीलिये तुम दोनोंकी बुद्धि मारी गयी है' ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्राप्तकालं हितं तदा।
उवाचार्तिसमापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः ॥ ३ ॥

यह सुनकर पीड़ित हुए लक्ष्मणने उस समय पराक्रमका ही निश्चय करके यह समयोचित एवं हितकर बात कही—॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः।
तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू छिन्दावहे गुरू ॥ ४ ॥

'भैया ! यह नीच राक्षस मुझको और आपको तुरंत मुँहमें ले ले, इसके पहले ही हमलोग अपनी तलवारोंसे इसकी बड़ी-बड़ी बाँहें शीघ्र ही काट डालें ॥ ४ ॥

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः।
लोकं ह्यतिजितं कृत्वा ह्यावां हन्तुमिहेच्छति ॥ ५ ॥

'यह महाकाय राक्षस बड़ा भीषण है। इसकी भुजाओंमें ही इसका सारा बल और पराक्रम निहित है। यह समस्त संसारको सर्वथा पराजित-सा करके अब हमलोगोंको भी यहाँ मार डालना चाहता है ॥ ५ ॥

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपतेः।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥ ६ ॥

'राजन् ! रघुनन्दन ! यज्ञमें लाये गये पशुओंके समान निश्चेष्ट प्राणियोंका वध राजाके लिये निन्दित बताया गया है (इसलिये हमें इसके प्राण नहीं लेने चाहिये, केवल भुजाओंका ही उच्छेद कर देना चाहिये)' ॥ ६ ॥

एतत् संजल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः।
विदार्यास्यं ततो रौद्रं तौ भक्षयितुमारभत् ॥ ७ ॥

उन दोनोंकी यह बातचीत सुनकर उस राक्षसको बड़ा क्रोध हुआ और वह अपना भयंकर मुख फैलाकर उन्हें खा जानेको उद्यत हो गया ॥ ७ ॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ।
अच्छिन्दन्तां सुसंहृष्टौ बाहू तस्यांसदेशतः ॥ ८ ॥

इतनेमें ही देश-काल (अवसर) का ज्ञान रखनेवाले उन दोनों रघुवंशी राजकुमारोंने अत्यन्त हर्षमें भरकर तलवारोंसे ही उसकी दोनों भुजाएँ कंधोंसे काट गिरायीं ॥ ८ ॥

दक्षिणो दक्षिणं बाहुमसक्तमसिना ततः।
चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीराम उसके दाहिने भागमें खड़े थे। उन्होंने अपनी तलवारसे उसकी दाहिनी बाँह बिना किसी रुकावटके वेगपूर्वक काट डाली तथा वाम भागमें खड़े वीर लक्ष्मणने उसकी बायीं भुजाको तलवारसे उड़ा दिया ॥

स पपात महाबाहुश्छिन्नबाहुर्महास्वनः।
खं च गां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा ॥ १० ॥

भुजाएँ कट जानेपर वह महाबाहु राक्षस मेघके समान गम्भीर गर्जना करके पृथ्वी, आकाश तथा दिशाओंको गुँजाता हुआ धरतीपर गिर पड़ा ॥ १० ॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः।
दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः ॥ ११ ॥

अपनी भुजाओंको कटी हुई देख खूनसे लथपथ हुए उस दानवने दीन वाणीमें पूछा—'वीरो! तुम दोनों कौन हो?' ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
शशंस तस्य काकुत्स्थं कबन्धस्य महाबलः ॥ १२ ॥

कबन्धके इस प्रकार पूछनेपर शुभ लक्षणोंवाले महाबली लक्ष्मणने उसे श्रीरामचन्द्रजीका परिचय देना आरम्भ किया—॥ १२ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः।
तस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

'ये इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथके पुत्र हैं और लोगोंमें श्रीराम नामसे विख्यात हैं। मुझे इन्हींका छोटा भाई समझो। मेरा नाम लक्ष्मण है ॥ १३ ॥

मात्रा प्रतिहते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम्।
मया सह चरत्येष भार्यया च महद् वनम् ॥ १४ ॥
अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने।
रक्षसापहृता भार्या यामिच्छन्ताविहागतौ ॥ १५ ॥

'माता कैकेयीके द्वारा जब इनका राज्याभिषेक रोक दिया गया, तब ये पिताकी आज्ञासे वनमें चले आये और मेरे तथा अपनी पत्नीके साथ इस विशाल वनमें विचरण करने लगे। इस निर्जन वनमें रहते हुए इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरघुनाथजीकी पत्नीको किसी राक्षसने हर लिया है। उन्हींका पता लगानेकी इच्छासे हमलोग यहाँ आये हैं ॥ १४-१५ ॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने।
आस्येनोरसि दीप्तेन भग्नजङ्घो विचेष्टसे ॥ १६ ॥

'तुम कौन हो? और कबन्धके समान रूप धारण करके क्यों इस वनमें पड़े हो? छातीके नीचे चमकता हुआ मुँह और टूटी हुई जंघा (पिण्डली) लिये तुम किस कारण इधर-उधर लुढ़कते फिरते हो?' ॥ १६ ॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः।
उवाच वचनं प्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्मरन् ॥ १७ ॥

लक्ष्मणके ऐसा कहनेपर कबन्धको इन्द्रकी कही हुई बातका स्मरण हो आया। अतः उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ लक्ष्मणको उनकी बातका उत्तर दिया—॥ १७ ॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या पश्यामि वामहम्।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥ १८ ॥

'पुरुषसिंह वीरो! आप दोनोंका स्वागत है। बड़े भाग्यसे मुझे आपलोगोंका दर्शन मिला है। ये मेरी दोनों भुजाएँ मेरे लिये भारी बन्धन थीं। सौभाग्यकी बात है कि आपलोगोंने इन्हें काट डाला ॥ १८ ॥

विरूपं यच्च मे रूपं प्राप्तं ह्यविनयाद् यथा।
तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम! मुझे जो ऐसा कुरूप रूप प्राप्त हुआ है, यह मेरी ही उद्दण्डताका फल है। यह सब कैसे हुआ, वह प्रसङ्ग आपको मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ। आप मुझसे सुनें ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

कबन्धकी आत्मकथा, अपने शरीरका दाह हो जानेपर उसका श्रीरामको सीताके अन्वेषणमें सहायता देनेका आश्वासन

पुरा राम महाबाहो महाबलपराक्रमम्।
रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १ ॥

'महाबाहु श्रीराम! पूर्वकालमें मेरा रूप महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न, अचिन्त्य तथा तीनों लोकोंमें विख्यात था ॥ १ ॥

यथा सूर्यस्य सोमस्य शक्रस्य च यथा वपुः।

सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥ २ ॥
ऋषीन् वनगतान् राम त्रासयामि ततस्ततः ।

'सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्रका शरीर जैसा तेजस्वी है, वैसा ही मेरा भी था। ऐसा होनेपर भी मैं लोगोंको भयभीत करनेवाले इस अत्यन्त भयंकर राक्षस रूपको धारण करके इधर-उधर घूमता और वनमें रहनेवाले ऋषियोंको डराया करता था ॥ २½ ॥

ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥
स चिन्वन् विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः ।
तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना ॥ ४ ॥

अपने इस बर्तावसे एक दिन मैंने स्थूलशिरा नामक महर्षिको कुपित कर दिया। वे नाना प्रकारके जंगली फल-मूल आदिका संचय कर रहे थे, उसी समय मैंने उन्हें इस राक्षसरूपसे डरा दिया। मुझे ऐसे विकट रूपमें देखकर उन्होंने घोर शाप देते हुए कहा—॥ ३-४ ॥

एतदेवं नृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम् ।
स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ५ ॥
अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः ।

'दुरात्मन् ! आजसे सदाके लिये तुम्हारा यही क्रूर और निन्दित रूप रह जाय।' यह सुनकर मैंने उन कुपित महर्षिसे प्रार्थना की—'भगवन् ! इस अभिशाप (तिरस्कार) जनित शापका अन्त होना चाहिये।' तब उन्होंने इस प्रकार कहा—॥ ५½ ॥

यदा छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद् विजने वने ॥ ६ ॥
तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

'जब श्रीराम (और लक्ष्मण) तुम्हारी दोनों भुजाएँ काटकर तुम्हें निर्जन वनमें जलायेंगे, तब तुम पुनः अपने उसी परम उत्तम, सुन्दर और शोभासम्पन्न रूपको प्राप्त कर लोगे।' लक्ष्मण ! इस प्रकार तुम मुझे एक दुराचारी दानव समझो ॥ ६-७ ॥

इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे ।
अहं हि तपसोग्रेण पितामहमतोषयम् ॥ ८ ॥
दीर्घमायुः स मे प्रादात् ततो मां विभ्रमोऽस्पृशत् ।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मां शक्रः करिष्यति ॥ ९ ॥

मेरा जो यह ऐसा रूप है, यह समराङ्गणमें इन्द्रके क्रोधसे प्राप्त हुआ है। मैंने पूर्वकालमें राक्षस होनेके पश्चात् घोर तपस्या करके पितामह ब्रह्माजीको संतुष्ट किया और उन्होंने मुझे दीर्घजीवी होनेका वर दिया। इससे मेरी बुद्धिमें यह भ्रम या अहंकार उत्पन्न हो गया कि मुझे तो दीर्घकालतक बनी रहनेवाली आयु प्राप्त हुई है; फिर इन्द्र मेरा क्या कर लेंगे ॥ ८-९ ॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम् ।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥ १० ॥
सक्थिनी च शिरश्चैव शरीरे सम्प्रवेशितम् ।

'ऐसे विचारका आश्रय लेकर एक दिन मैंने युद्धमें देवराजपर आक्रमण किया। उस समय इन्द्रने मुझपर सौ धारोंवाले वज्रका प्रहार किया। उनके छोड़े हुए उस वज्रसे मेरी जाँघें और मस्तक मेरे ही शरीरमें घुस गये ॥ १०½ ॥

स मया याच्यमानः सन् नानयद् यमसादनम् ॥ ११ ॥
पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति ममाब्रवीत् ।

'मैंने बहुत प्रार्थना की, इसलिये उन्होंने मुझे यमलोक नहीं पठाया और कहा—'पितामह ब्रह्माजीने जो तुम्हें दीर्घजीवी होनेके लिये वरदान दिया है, वह सत्य हो' ॥

अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः ॥ १२ ॥
वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम् ।

'तब मैंने कहा—देवराज ! आपने अपने वज्रकी मारसे मेरी जाँघें, मस्तक और मुँह सभी तोड़ डाले। अब मैं कैसे आहार ग्रहण करूँगा और निराहार रहकर किस प्रकार सुदीर्घकालतक जीवित रह सकूँगा ? ॥ १२½ ॥

स एवमुक्तः शक्रो मे बाहू योजनमायतौ ॥ १३ ॥
तदा चास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत् ।

'मेरे ऐसा कहनेपर इन्द्रने मेरी भुजाएँ एक-एक योजना लंबी कर दीं एवं तत्काल ही मेरे पेटमें तीखे दाढ़ोंवाला एक मुख बना दिया ॥ १३½ ॥

सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संक्षिप्यास्मिन् वनेचरान् १४
सिंहद्वीपिमृगव्याघ्रान् भक्षयामि समन्ततः ।

इस प्रकार मैं विशाल भुजाओंद्वारा वनमें रहनेवाले सिंह, चीते, हरिन और बाघ आदि जन्तुओंको सब ओरसे समेटकर खाया करता था ॥ १४½ ॥

स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः ॥ १५ ॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि ।

'इन्द्रने मुझे यह भी बतला दिया था कि जब लक्ष्मण-सहित श्रीराम तुम्हारी भुजाएँ काट देंगे, उस समय तुम स्वर्गमें जाओगे ॥ १५½ ॥

अनेन वपुषा तात वनेऽस्मिन् राजसत्तम ॥ १६ ॥
यद् यत् पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये ।

'तात ! राजशिरोमणे ! इस शरीरसे इस वनके भीतर मैं जो-जो वस्तु देखता हूँ, वह सब ग्रहण कर लेना मुझे ठीक लगता है ॥ १६½ ॥

अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं समुपैष्यति ॥ १७ ॥
इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः ।

'इन्द्र तथा मुनिके कथनानुसार मुझे यह विश्वास था कि एक दिन श्रीराम अवश्य मेरी पकड़में आ जायँगे । इसी विचारको सामने रखकर मैं इस शरीरको त्याग देनेके लिये प्रयत्नशील था ॥ १७½ ॥

स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥
शक्यो हन्तुं यथा तत्त्वमेवमुक्तं महर्षिणा ।

'रघुनन्दन ! अवश्य ही आप श्रीराम हैं, आपका कल्याण हो । मैं आपके सिवा दूसरे किसीसे नहीं मारा जा सकता था । यह बात महर्षिने ठीक ही कही थी ॥ १८½ ॥

अहं हि मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥
मित्रं चैवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।

'नरश्रेष्ठ ! आप दोनों जब अग्निके द्वारा मेरा दाह-संस्कार कर देंगे, उस समय मैं आपकी बौद्धिक सहायता करूँगा । आप दोनोंके लिये एक अच्छे मित्रका पता बताऊँगा' ॥ १९½ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥
इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्य च पश्यतः ।

उस दानवके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके सामने उससे यह बात कही—॥ २०½ ॥

रावणेन हृता भार्या सीता मम यशस्विनी ॥ २१ ॥
निष्क्रान्तस्य जनस्थानात् सह भ्रात्रा यथासुखम् ।
नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥२२॥

'कबन्ध ! मेरी यशस्विनी भार्या सीताको रावण हर ले गया है । उस समय मैं अपने भाई लक्ष्मणके साथ सुखपूर्वक जनस्थानके बाहर चला गया था । मैं उस राक्षसका नाममात्र जानता हूँ । उसकी शकल-सूरतसे परिचित नहीं हूँ ॥ २१-२२ ॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्महे ।
शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥
कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारेण वर्तताम् ।

'वह कहाँ रहता है और कैसा उसका प्रभाव है, इस बातसे हमलोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं । इस समय सीताका शोक हमें बड़ी पीड़ा दे रहा है । हम असहाय होकर इसी तरह सब ओर दौड़ रहे हैं । तुम हमारे ऊपर समुचित करुणा करनेके लिये इस विषयमें हमारा कुछ उपकार करो ॥२३½॥

काष्ठान्यानीय भग्नानि काले शुष्काणि कुञ्जरैः ॥२४॥
धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कल्पिते ।

'वीर ! फिर हमलोग हाथियोंद्वारा तोड़े गये सूखे काठ लाकर स्वयं खोदे हुए एक बहुत बड़े गड्ढेमें तुम्हारे शरीरको रखकर जला देंगे ॥ २४½ ॥

स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥ २५ ॥
कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।

'अतः अब तुम हमें सीताका पता बताओ । इस समय वह कहाँ है ? तथा उसे कौन कहाँ ले गया है ? यदि ठीक-ठीक जानते हो तो सीताका समाचार बताकर हमारा अत्यन्त कल्याण करो' ॥ २५½ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥ २६ ॥
प्रोवाच कुशलो वक्ता वक्तारमपि राघवम् ।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर बात-चीतमें कुशल उस दानवने उन प्रवचनपटु रघुनाथजीसे यह परम उत्तम बात कही—॥ २६½ ॥

दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥
यस्तां वक्ष्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः ।
योऽभिजानाति तद्रक्षस्तद् वक्ष्ये राम तत्परम् ॥ २८ ॥

'श्रीराम ! इस समय मुझे दिव्य ज्ञान नहीं है, इसलिये मैं मिथिलेशकुमारीके विषयमें कुछ भी नहीं जानता । जब मेरे इस शरीरका दाह हो जायगा, तब मैं अपने पूर्व स्वरूपको प्राप्त होकर किसी ऐसे व्यक्तिका पता बता सकूँगा, जो सीताके विषयमें आपको कुछ बतायेगा तथा जो उस उत्कृष्ट राक्षसको भी जानता होगा, ऐसे पुरुषका आपको परिचय दूँगा ॥२७-२८॥

अदग्धस्य हि विज्ञातुं शक्तिरस्ति न मे प्रभो ।
राक्षसं तु महावीर्यं सीता येन हृता तव ॥ २९ ॥

'प्रभो ! जबतक मेरे इस शरीरका दाह नहीं होगा तबतक मुझमें यह जाननेकी शक्ति नहीं आ सकती कि वह महापराक्रमी राक्षस कौन है, जिसने आपकी सीताका अपहरण किया है ॥ २९ ॥

विज्ञानं हि महत् भ्रष्टं शापदोषेण राघव ।
स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ॥ ३० ॥

'रघुनन्दन ! शाप-दोषके कारण मेरा महान् विज्ञान नष्ट हो गया है । अपनी ही करतूतसे मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है ॥ ३० ॥

किं तु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः ।
तावन्मामवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ॥ ३१ ॥

किंतु श्रीराम ! जबतक सूर्यदेव अपने वाहनोंके थक जानेपर अस्त नहीं हो जाते, तभीतक मुझे गड्ढेमें डालकर शास्त्रीय विधिके अनुसार मेरा दाह-संस्कार कर दीजिये ॥३१॥

दग्धस्त्वयाहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ।

वक्ष्यामि तं महावीर यस्तं वेत्स्यति राक्षसम् ॥ ३२ ॥

'महावीर रघुनन्दन ! आपके द्वारा विधिपूर्वक गड्ढेमें मेरे शरीरका दाह हो जानेपर मैं ऐसे महापुरुषका परिचय दूँगा, जो उस राक्षसको जानते होंगे ॥ ३२ ॥

तेन सख्यं च कर्तव्यं न्याय्यवृत्तेन राघव।
कल्पयिष्यति ते वीर साहाय्यं लघुविक्रम ॥ ३३ ॥

'शीघ्र पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर रघुनाथजी ! न्यायोचित आचारवाले उन महापुरुषके साथ आपको मित्रता कर लेनी चाहिये। वे आपकी सहायता करेंगे ॥ ३३ ॥

नहि तस्यास्त्यविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव।
सर्वान् परिवृतो लोकान् पुरा वै कारणान्तरे ॥ ३४ ॥

'रघुनन्दन ! उनके लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी अज्ञात नहीं है; क्योंकि किसी कारणवश वे पहले समस्त लोकोंमें चक्कर लगा चुके हैं' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा चिताकी आगमें कबन्धका दाह तथा उसका दिव्य रूपमें प्रकट होकर उन्हें सुग्रीवसे मित्रता करनेके लिये कहना

एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ।
गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

कबन्धके ऐसा कहनेपर उन दोनों वीर नरेश्वर श्रीराम और लक्ष्मणने उसके शरीरको एक पर्वतके गड्ढेमें डालकर उसमें आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोल्काभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः।
चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥ २ ॥

लक्ष्मणने जलती हुई बड़ी-बड़ी लुकारियोंके द्वारा चारों ओरसे उसकी चितामें आग लगायी; फिर तो वह सब ओरसे प्रज्वलित हो उठी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कबन्धस्य घृतपिण्डोपमं महत्।
मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहत पावकः ॥ ३ ॥

चितामें जलते हुए कबन्धका विशाल शरीर चर्बियोंसे भरा होनेके कारण घीके लोंदेके समान प्रतीत होता था। चिताकी आग उसे धीरे-धीरे जलाने लगी ॥ ३ ॥

सविधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरिवोत्थितः।
अरजे वाससी बिभ्रन्माल्यं दिव्यं महाबलः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वह महाबली कबन्ध तुरंत ही चिताको हिलाकर दो निर्मल वस्त्र और दिव्य पुष्पोंका हार धारण किये धूमरहित अग्निके समान उठ खड़ा हुआ ॥ ४ ॥

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विरजाम्बरः।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥
विमाने भास्वरे तिष्ठन् हंसयुक्ते यशस्करे।
प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजयन् ॥ ६ ॥
सोऽन्तरिक्षगतो वाक्यं कबन्धो राममब्रवीत्।

फिर वेगपूर्वक चितासे ऊपरको उठा और शीघ्र ही एक तेजस्वी विमानपर जा बैठा। निर्मल वस्त्रोंसे विभूषित हो वह बड़ा तेजस्वी दिखायी देता था। उसके मनमें हर्ष भरा हुआ था तथा समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गमें दिव्य आभूषण शोभा दे रहे थे। हंसोंसे जुते हुए उस यशस्वी विमानपर बैठा हुआ महान् तेजस्वी कबन्ध अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रकाशित करने लगा और अन्तरिक्षमें स्थित हो श्रीरामसे इस प्रकार बोला— ॥ ५–६½ ॥

शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥ ७ ॥
राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन ! आप जिस प्रकार सीताको पा सकेंगे, वह ठीक-ठीक बता रहा हूँ, सुनिये। श्रीराम ! लोकमें छः युक्तियाँ हैं, जिनसे राजाओंद्वारा सब कुछ प्राप्त किया जाता है (उन युक्तियों तथा उपायोंके नाम हैं—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय[1])। जो मनुष्य दुर्दशासे ग्रस्त होता है, वह दूसरे किसी दुर्दशाग्रस्त पुरुषसे ही सेवा या सहायता प्राप्त करता है (यह नीति है) ॥ ७-८ ॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम् ॥ ९ ॥

'श्रीराम ! लक्ष्मणसहित आप बुरी दशाके शिकार हो रहे हैं; इसीलिये आपलोग राज्यसे वञ्चित हैं तथा उस बुरी दशाके कारण ही आपको अपनी भार्याके अपहरणका महान् दुःख प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

---

१. संधि आदिका विवेचन पृष्ठ ४४८ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत् सुहृदां वर ।
अकृत्वा नहि ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

'अतः सुहृदोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! आप अवश्य ही उस पुरुषको अपना सुहृद् बनाइये, जो आपकी ही भाँति दुर्दशामें पड़ा हुआ हो (इस प्रकार आप सुहृद्का आश्रय लेकर समाश्रय नीतिको अपनाइये) । मैं बहुत सोचनेपर भी ऐसा किये बिना आपकी सफलता नहीं देखता हूँ ॥ १० ॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः ।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्रसूनुना ॥ ११ ॥

'श्रीराम ! सुनिये, मैं ऐसे पुरुषका परिचय दे रहा हूँ, उनका नाम है सुग्रीव । वे जातिके वानर हैं । उन्हें उनके भाई इन्द्रकुमार वालीने कुपित होकर घरसे निकाल दिया है ॥ ११ ॥

ऋष्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते ।
निवसत्यात्मवान् वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥ १२ ॥

'वे मनस्वी वीर सुग्रीव इस समय चार वानरोंके साथ उस गिरिवर ऋष्यमूकपर निवास करते हैं, जो पम्पासरोवरतक फैला हुआ है ॥ १२ ॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः ।
सत्यसंधो विनीतश्च धृतिमान् मतिमान् महान् ॥ १३ ॥
दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान् महाबलपराक्रमः ।

'वे वानरोंके राजा महापराक्रमी सुग्रीव तेजस्वी, अत्यन्त कान्तिमान्, सत्यप्रतिज्ञ, विनयशील, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, महापुरुष, कार्यदक्ष, निर्भीक, दीप्तिमान् तथा महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ १३½ ॥

भ्रात्रा विवासितो वीर राज्यहेतोर्महात्मना ॥ १४ ॥
स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे ।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः ॥ १५ ॥

'वीर श्रीराम ! उनके महामना भाई वालीने सारे राज्यको अपने अधिकारमें कर लेनेके लिये उन्हें राज्यसे बाहर निकाल दिया है; अतः वे सीताकी खोजके लिये आपके सहायक और मित्र होंगे । इसलिये आप अपने मनको शोकमें न डालिये ॥ १४-१५ ॥

भवितव्यं हि तच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा ।
कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

'इक्ष्वाकुवंशी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! जो होनहार है, उसे कोई भी पलट नहीं सकता । कालका विधान सभीके लिये दुर्लङ्घ्य होता है (अतः आपपर जो कुछ भी बीत रहा है, इसे काल या प्रारब्धका विधान समझकर आपको धैर्य धारण करना चाहिये ।) ॥ १६ ॥

गच्छ शीघ्रमितो वीर सुग्रीवं तं महाबलम् ।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥ १७ ॥

'वीर रघुनाथजी ! आप यहाँसे शीघ्र ही महाबली सुग्रीवके पास जाइये और जाकर तुरंत उन्हें अपना मित्र बना लीजिये ॥ १७ ॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ ।
न च ते सोऽवमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ १८ ॥

'प्रज्वलित अग्निको साक्षी बनाकर परस्पर द्रोह न करनेके लिये मैत्री स्थापित कीजिये और ऐसा करनेके बाद आपको कभी उन वानरराज सुग्रीवका अपमान नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान् ।
शक्तौ ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

'वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, पराक्रमी और कृतज्ञ हैं तथा इस समय स्वयं ही अपने लिये एक सहायक ढूँढ़ रहे हैं । उनका जो अभीष्ट कार्य है उसे सिद्ध करनेमें आप दोनों भाई समर्थ हैं ॥ १९ ॥

कृतार्थो वाकृतार्थो वा तव कृत्यं करिष्यति ।
स ऋक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः ॥ २० ॥

'सुग्रीवका मनोरथ पूर्ण हो या न हो, वे आपका कार्य अवश्य सिद्ध करेंगे । वे ऋक्षरजाके क्षेत्रज पुत्र हैं और वालीसे शङ्कित रहकर पम्पासरोवरके तटपर भ्रमण करते हैं ॥ २० ॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्बिषः ।
संनिधायायुधं क्षिप्रमृष्यमूकालयं कपिम् ॥ २१ ॥
कुरु राघव सत्येन वयस्यं वनचारिणम् ।

'उन्हें सूर्यदेवका औरस पुत्र कहा गया है । उन्होंने वालीका अपराध किया है (इसीलिये वे उससे डरते हैं) । रघुनन्दन ! अग्निके समीप हथियार रखकर शीघ्र ही सत्यकी शपथ खाकर ऋष्यमूकनिवासी वनचारी वानर सुग्रीवको आप अपना मित्र बना लीजिये ॥ २१½ ॥

स हि स्थानानि कार्त्स्न्येन सर्वाणि कपिकुञ्जरः ॥ २१ ॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति ।

'कपिश्रेष्ठ सुग्रीव संसारमें नरमांसभक्षी राक्षसोंके जितने स्थान हैं, उन सबको पूर्णरूपसे निपुणतापूर्वक जानते हैं ॥ २२½ ॥

न तस्याविदितं लोके किंचिदस्ति हि राघव ॥ २३ ॥
यावत् सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुः परंतप ।

'रघुनन्दन ! शत्रुदमन ! सहस्रों किरणोंवाले सूर्यदेव जहाँतक तपते हैं, वहाँतक संसारमें कोई ऐसा स्थान या वस्तु नहीं है, जो सुग्रीवके लिये अज्ञात हो ॥ २३½ ॥

स नदीर्विपुलाञ्शैलान् गिरिदुर्गाणि कन्दरान् ॥ २४ ॥
अन्विष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।

'वे वानरोंके साथ रहकर समस्त नदियों, बड़े-बड़े पर्वतों, पहाड़ी दुर्गम स्थानों और कन्दराओंमें भी खोज कराकर आपकी पत्नीका पता लगा लेंगे ॥ २४½ ॥

वानरांश्च महाकायान् प्रेषयिष्यति राघव ॥ २५ ॥
दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।
अन्वेष्यति वरारोहां मैथिलीं रावणालये ॥ २६ ॥

'राघव ! वे आपके वियोगमें शोक करती हुई सीताकी खोजके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें विशालकाय वानरोंको भेजेंगे, तथा रावणके घरसे भी सुन्दर अङ्गोंवाली मिथिलेशकुमारीको ढूँढ़ निकालेंगे ॥ २५-२६ ॥

स मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां
प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।
प्लवङ्गमानामृषभस्तव प्रियां
निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥२७॥

'आपकी प्रिया सती-साध्वी सीता मेरुशिखरके अग्रभागपर पहुँचायी गयी हों या पातालमें प्रवेश करके रक्खी गयी हों, वानरशिरोमणि सुग्रीव समस्त राक्षसोंका वध करके उन्हें पुनः आपके पास ला देंगे' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

दिव्य रूपधारी कबन्धका श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक और पम्पासरोवरका मार्ग बताना तथा मतङ्गमुनिके वन एवं आश्रमका परिचय देकर प्रस्थान करना

दर्शयित्वा तु रामाय सीतायाः परिमार्गणे ।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामको सीताकी खोजका उपाय दिखाकर अर्थवेत्ता कबन्धने उनसे पुनः यह प्रयोजनयुक्त बात कही—॥ १ ॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः ।
प्रतीचीं दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥ २ ॥

'श्रीराम ! यहाँसे पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर जहाँ ये फूलोंसे भरे हुए मनोरम वृक्ष शोभा पा रहे हैं, यही आपके जाने लायक सुखद मार्ग है ॥ २ ॥

जम्बूप्रियालपनसा न्यग्रोधप्लक्षतिन्दुकाः ।
अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः ॥ ३ ॥
धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।
नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ४ ॥
अग्निमुख्या अशोकाश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वा च तान् बलात् ॥ ५ ॥
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयित्वा गमिष्यथः ।

'जामुन, प्रियाल (चिरौंजी), कटहल, बड़, पाकड़, तेंदू, पीपल, कनेर, आम तथा अन्य वृक्ष, धव, नागकेसर, तिलक, नक्तमाल, नील, अशोक, कदम्ब, खिले हुए करवीर, भिलावा, अशोक, लाल चन्दन तथा मन्दार—ये वृक्ष मार्गमें पड़ेंगे । आप दोनों भाई इनकी डालियोंको बलपूर्वक भूमिपर झुकाकर अथवा इन वृक्षोंपर चढ़कर इनके अमृततुल्य मधुर फलोंका आहार करते हुए यात्रा कीजियेगा ॥ ३—५½ ॥

तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥
नन्दनप्रतिमं त्वान्यत् कुरवस्तूत्तरा इव ।
सर्वकालफला यत्र पादपा मधुरस्रवाः ॥ ७ ॥

'काकुत्स्थ ! खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित उस वनको लाँघकर आपलोग एक दूसरे वनमें प्रवेश कीजियेगा, जो नन्दनवनके समान मनोहर है । उस वनके वृक्ष उत्तर कुरुवर्षके वृक्षोंकी भाँति मधुकी धारा बहानेवाले हैं तथा उनमें सभी ऋतुओंमें सदा फल लगे रहते हैं ॥ ६-७ ॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।
फलभारनतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥ ८ ॥

'चैत्ररथ वनकी भाँति उस मनोहर काननमें सभी ऋतुएँ निवास करती हैं । वहाँके वृक्ष बड़ी-बड़ी शाखा धारण करनेवाले तथा फलोंके भारसे झुके हुए हैं ॥ ८ ॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसंनिभाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वाथवा सुखम् ॥ ९ ॥
फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति ।

'वे वहाँ सब ओर मेघों और पर्वतोंके समान शोभा पाते हैं । लक्ष्मण उन वृक्षोंपर चढ़कर अथवा सुखपूर्वक उन्हें पृथ्वीपर झुकाकर उनके अमृततुल्य मधुर फल आपको देंगे ॥ ९½ ॥

चङ्क्रमन्तौ वराञ्शैलाञ्शैलाच्छैलं वनाद् वनम् ॥ १० ॥
ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम गमिष्यथः ।

'इस प्रकार सुन्दर पर्वतोंपर भ्रमण करते हुए आप दोनों भाई एक पहाड़से दूसरे पहाड़पर तथा एक वनसे दूसरे वनमें पहुँचेंगे और इस तरह अनेक पर्वतों तथा वनोंको लाँघते हुए आप दोनों वीर पम्पा नामक पुष्करिणीके तटपर पहुँच जायँगे ॥ १०½ ॥

अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम् ॥ ११ ॥
राम संजातवालूकां कमलोत्पलशोभिताम् ।

'श्रीराम! वहाँ कंकड़का नाम नहीं है। उसके तटपर पैर फिसलने लायक कीचड़ आदि नहीं है। उसके घाटकी भूमि सब ओरसे बराबर है—ऊँची-नीची या ऊबड़-खाबड़ नहीं है। उस पुष्करिणीमें सेवारका सर्वथा अभाव है। उसके भीतरकी भूमि वालुकापूर्ण है। कमल और उत्पल उस सरोवरकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ११½ ॥

तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्चैव राघव ॥ १२ ॥
वल्गुस्वरा निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः ।
नोद्विजन्ते नरान् दृष्ट्वा वधस्याकोविदाः शुभाः ॥ १३ ॥

'रघुनन्दन! वहाँ पम्पाके जलमें विचरनेवाले हंस, कारण्डव, क्रौञ्च और कुरर सदा मधुर स्वरमें कूजते रहते हैं। वे मनुष्योंको देखकर उद्विग्न नहीं होते हैं। क्योंकि किसी मनुष्यके द्वारा किसी पक्षीका वध भी हो सकता है, ऐसे भयका उन्हें अनुभव नहीं है। ये सभी पक्षी बड़े सुन्दर हैं ॥ १२-१३ ॥

घृतपिण्डोपमान् स्थूलांस्तान् द्विजान् भक्षयिष्यथः ।
रोहितान् वक्रतुण्डांश्च नलमीनांश्च राघव ॥ १४ ॥
पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान् हतान् ।
निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तानकृशानैककण्टकान् ॥ १५ ॥
तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति ।

'बाणोंके अग्रभागसे जिनके छिलके छुड़ा दिये गये हैं, अतएव जिनमें एक भी काँटा नहीं रह गया है, जो घीके लोंदेके समान चिकने तथा आर्द्र हैं—सूखे नहीं हैं, जिन्हें लोहमय बाणोंके अग्रभागमें गूँथकर आगमें सेका और पकाया गया है, ऐसे फल-मूलके ढेर वहाँ भक्ष्य पदार्थके रूपमें उपलब्ध होंगे। आपके प्रति भक्तिभावसे सम्पन्न लक्ष्मण आपको वे भक्ष्य पदार्थ अर्पित करेंगे। आप दोनों भाई उन पदार्थोंको लेकर उस सरोवरके मोटे-मोटे सुप्रसिद्ध जलचर पक्षियों तथा श्रेष्ठ रोहित (रोहू), वक्रतुण्ड और नलमीन आदि मत्स्योंको थोड़ा-थोड़ा करके खिलाइयेगा (इससे आपका मनोरञ्जन होगा) ॥ १४-१५½ ॥

भृशं तान् खादतो मत्स्यान् पम्पायाः पुष्पसंचये ॥ १६ ॥
पद्मगन्धि शिवं वारि सुखशीतमनामयम् ।
उद्धृत्य स तदाक्लिष्टं रूप्यस्फटिकसंनिभम् ॥ १७ ॥
अथ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।

'जिस समय आप पम्पासरोवरकी पुष्पराशिके समीप मछलियोंको भोजन करानेकी क्रीड़ामें अत्यन्त संलग्न होंगे, उस समय लक्ष्मण उस सरोवरका कमलकी गन्धसे सुवासित, कल्याणकारी, सुखद, शीतल, रोगनाशक, क्लेशहारी तथा चाँदी और स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जल कमलके पत्तेमें निकालकर लायेंगे और आपको पिलायेंगे ॥ १६-१७½ ॥

स्थूलान् गिरिगुहाशय्यान् वानरान् वनचारिणः ॥ १८ ॥
सायाह्ने विचरन् राम दर्शयिष्यति लक्ष्मणः ।

'श्रीराम! सायंकालमें आपके साथ विचरते हुए लक्ष्मण आपको उन मोटे-मोटे वनचारी वानरोंका दर्शन करायेंगे जो पर्वतोंकी गुफाओंमें सोते और रहते हैं ॥ १८½ ॥

अपां लोभादुपावृत्तान् वृषभानिव नर्दतः ॥ १९ ॥
स्थूलान् पीतांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ।

'नरश्रेष्ठ! वे वानर पानी पीनेके लोभसे पम्पाके तटपर आकर साँड़ोंके समान गर्जते हैं। उनके शरीर मोटे और रंग पीले होते हैं। आप उन सबको वहाँ देखेंगे ॥ १९½ ॥

सायाह्ने विचरन् राम विटपी माल्यधारिणः ॥ २० ॥
शिवोदकं च पम्पायां दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ।

'श्रीराम! सायंकालमें चलते समय आप बड़ी-बड़ी शाखावाले, पुष्पधारी वृक्षों तथा पम्पाके शीतल जलका दर्शन करके अपना शोक त्याग देंगे ॥ २०½ ॥

सुमनोभिश्चितास्तत्र तिलका नक्तमालकाः ॥ २१ ॥
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ।

'रघुनन्दन! वहाँ फूलोंसे भरे हुए तिलक और नक्तमालके वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जलके भीतर उत्पल और कमल फूले दिखायी देते हैं ॥ २१½ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिता नरः ॥ २२ ॥
न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ।

'रघुनन्दन! कोई भी मनुष्य वहाँ उन फूलोंको उतारकर धारण नहीं करता है। (क्योंकि वहाँतक किसीकी पहुँच ही नहीं हो पाती है) पम्पासरोवरके फूल न तो मुरझाते हैं और न झरते ही हैं ॥ २२½ ॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहिताः ॥ २३ ॥
तेषां भाराभितप्तानां वन्यमाहरतां गुरोः ।
ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात् स्वेदबिन्दवः ॥ २४ ॥
तानि माल्यानि जातानि मुनीनां तपसा तदा ।
स्वेदबिन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव ॥ २५ ॥

'कहते हैं, वहाँ पहले मतंग मुनिके शिष्य ऋषिगण निवास करते थे, जिनका चित्त सदा एकाग्र एवं शान्त रहता था। वे अपने गुरु मतंग मुनिके लिये जब जंगली फल-मूल ले आते और उनके भारसे थक जाते, तब उनके शरीरसे

पृथ्वीपर पसीनोंकी जो बूँदें गिरती थीं, वे ही उन मुनियोंकी तपस्याके प्रभावसे तत्काल फूलके रूपमें परिणत हो जाती थीं। राघव ! पसीनोंकी बूँदोंसे उत्पन्न होनेके कारण वे फूल नष्ट नहीं होते हैं ॥ २३–२५ ॥

तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी।
श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ॥ २६ ॥
त्वां तु धर्मे स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम्।
दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ २७ ॥

'वे सब-के-सब ऋषि तो अब चले गये; किंतु उनकी सेवामें रहनेवाली तपस्विनी शबरी आज भी वहाँ दिखायी देती है। काकुत्स्थ ! शबरी चिरजीवनी होकर सदा धर्मके अनुष्ठानमें लगी रहती है। श्रीराम ! आप समस्त प्राणियोंके लिये नित्य वन्दनीय और देवताके तुल्य हैं। आपका दर्शन करके शबरी स्वर्गलोक (साकेतधाम)को चली जायगी ॥२६-२७॥

ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम्।
आश्रमस्थानमतुलं गुह्यं काकुत्स्थ पश्यसि ॥ २८ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! तदनन्तर आप पम्पाके पश्चिम तटपर जाकर एक अनुपम आश्रम देखेंगे, जो (सर्वसाधारणकी पहुँचके बाहर होनेके कारण) गुप्त है ॥ २८ ॥

न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तदाश्रमे।
ऋषेस्तस्य मतङ्गस्य विधानात् तच्च काननम् ॥ २९ ॥

'उस आश्रमपर तथा उस वनमें मतंग मुनिके प्रभावसे हाथी कभी आक्रमण नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन।
तस्मिन् नन्दनसंकाशे देवारण्योपमे वने ॥ ३० ॥
नानाविहगसंकीर्णे रंस्यसे राम निर्वृतः।

'रघुनन्दन ! वहाँका जंगल मतंगवनके नामसे प्रसिद्ध है। उस नन्दनतुल्य मनोहर और देववनके समान सुन्दर वनमें नाना प्रकारके पक्षी भरे रहते हैं। श्रीराम ! आप वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ सानन्द विचरण करेंगे ॥ ३०½ ॥

ऋष्यमूकस्तु पम्पायाः पुरस्तात् पुष्पितद्रुमः ॥ ३१ ॥
सुदुःखारोहणश्चैव शिशुनागाभिरक्षितः।
उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकालेऽभिनिर्मितः ॥ ३२ ॥

'पम्पासरोवरके पूर्वभागमें ऋष्यमूक पर्वत है, जहाँके वृक्ष फूलोंसे सुशोभित दिखायी देते हैं। उनके ऊपर चढ़नेमें बड़ी कठिनाई होती है; क्योंकि वह छोटे-छोटे सर्पों अथवा हाथियोंके बच्चोंद्वारा सब ओरसे सुरक्षित है। ऋष्यमूक पर्वत उदार (अभीष्ट फलको देनेवाला) है। पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने उसका निर्माण किया और उसे औदार्य आदि गुणोंसे सम्पन्न बनाया ॥ ३१-३२ ॥

शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि।
यत् स्वप्ने लभते वित्तं तत् प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥ ३३ ॥
यस्त्वेनं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति।
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः ॥ ३४ ॥

'श्रीराम ! उस पर्वतके शिखरपर सोया हुआ पुरुष सपनेमें जिस सम्पत्तिको पाता है उसे जागनेपर भी प्राप्त कर लेता है। जो पापकर्मी तथा विषम बर्ताव करनेवाला पुरुष उस पर्वतपर चढ़ता है, उसे इस पर्वतशिखरपर ही सो जानेपर राक्षस लोग उठाकर उसके ऊपर प्रहार करते हैं ॥ ३३-३४ ॥

तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान्।
क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गाश्रमवासिनाम् ॥ ३५ ॥

श्रीराम ! मतंग मुनिके आश्रमके आसपासके वनमें रहने और पम्पासरोवरमें क्रीडा करनेवाले छोटे-छोटे हाथियोंके चिग्घाड़नेका महान् शब्द उस पर्वतपर भी सुनायी देता है ॥ ३५ ॥

सिक्ता रुधिरधाराभिः संहत्य परमद्विपाः।
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः ॥ ३६ ॥
ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं चारु शोभनम्।
अत्यन्तसुखसंस्पर्शं सर्वगन्धसमन्वितम् ॥ ३७ ॥
निर्वृत्ताः संविगाहन्ते वनानि वनगोचराः।

'जिनके गण्डस्थलोंपर कुछ लाल रंगकी मदकी धाराएँ बहती हैं, वे वेगशाली और मेघके समान काले बड़े-बड़े गजराज झुंड-के-झुंड एक साथ होकर दूसरी जातिवाले हाथियोंसे पृथक् हो वहाँ विचरते रहते हैं। वनमें विचरनेवाले वे हाथी जब पम्पासरोवरका निर्मल, मनोहर, सुन्दर, छूनेमें अत्यन्त सुखद तथा सब प्रकारकी सुगन्धसे सुवासित जल पीकर लौटते हैं, तब उन वनोंमें प्रवेश करते हैं ॥३६-३७½॥

ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलकोमलकप्रभान् ॥ ३८ ॥
रुरूनपेतानजयान् दृष्ट्वा शोकं प्रहास्यसि।

'रघुनन्दन ! वहाँ रीछों, बाघों और नील कोमल कान्तिवाले मनुष्योंको देखकर भागनेवाले तथा दौड़ लगानेमें किसीसे पराजित न होनेवाले मृगोंको देखकर आप अपना सारा शोक भूल जायँगे ॥ ३८½ ॥

राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा ॥ ३९ ॥
शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम्।

'श्रीराम ! उस पर्वतके ऊपर एक बहुत बड़ी गुफा शोभा पाती है, जिसका द्वार पत्थरसे ढका है। उसके भीतर प्रवेश करनेमें बड़ा कष्ट होता है ॥ ३९½ ॥

तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाञ्शीतोदको ह्रदः ॥ ४० ॥
बहुमूलफलो रम्यो नानानगसमाकुलः।

'उस गुफाके पूर्वद्वारपर शीतल जलसे भरा हुआ एक

बहुत बड़ा कुण्ड है। उनके आसपास बहुत-से फल और मूल सुलभ हैं तथा वह रमणीय ह्रद नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त है ॥ ४०½ ॥

तस्यां वसति धर्मात्मा सुग्रीवः सह वानरैः ॥ ४१ ॥
कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यापि तिष्ठति।

'धर्मात्मा सुग्रीव वानरोंके साथ उसी गुफामें निवास करते हैं। वे कभी-कभी उस पर्वतके शिखरपर भी रहते हैं' ॥ ४१½ ॥

कबन्धस्त्वनुशास्यैवं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥
स्रग्वी भास्करवर्णाभः खे व्यरोचत वीर्यवान्।

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको सब बातें बताकर सूर्यके समान तेजस्वी और पराक्रमी कबन्ध दिव्य पुष्पोंकी माला धारण किये आकाशमें प्रकाशित होने लगा ॥ ४२½ ॥

तं तु खस्थं महाभागं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥
प्रस्थितौ त्वं व्रजस्वेति वाक्यमूचतुरन्तिके।

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण वहाँसे प्रस्थान करनेके लिये उद्यत हो आकाशमें खड़े हुए महाभाग कबन्धसे उसके निकट खड़े होकर बोले—'अब तुम परम धामको जाओ' ॥ ४३½ ॥

गम्यतां कार्यसिद्ध्यर्थमिति तावब्रवीत् स च ॥ ४४ ॥
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्धः प्रस्थितस्तदा ॥ ४५ ॥

कबन्धने भी उन दोनों भाइयोंसे कहा—'आपलोग भी अपने कार्यकी सिद्धिके लिये यात्रा करें।' ऐसा कहकर परम प्रसन्न हुए उन दोनों बन्धुओंसे आज्ञा ले कबन्धने तत्काल प्रस्थान किया ॥ ४४-४५ ॥

स तत् कबन्धः प्रतिपद्य रूपं
वृतः श्रिया भास्वरसर्वदेहः।
निदर्शयन् राममवेक्ष्य खस्थः
सख्यं कुरुष्वेति तदाभ्युवाच ॥ ४६ ॥

कबन्ध अपने पहले रूपको पाकर अद्भुत शोभासे सम्पन्न हो गया। उसका सारा शरीर सूर्य-तुल्य प्रभासे प्रकाशित हो उठा। वह रामकी ओर देखकर उन्हें पम्पासरोवरका मार्ग दिखाता हुआ आकाशमें ही स्थित होकर बोला—'आप सुग्रीवके साथ मित्रता अवश्य करें' ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका पम्पासरोवरके तटपर मतङ्गवनमें शबरीके आश्रमपर जाना, उसका सत्कार ग्रहण करना और उसके साथ मतङ्गवनको देखना, शबरीका अपने शरीरकी आहुति दे दिव्यधामको प्रस्थान करना

तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने।
आतस्थतुर्दिशं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजौ ॥ १ ॥

तदनन्तर राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कबन्धके बताये हुए पम्पासरोवरके मार्गका आश्रय ले पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥ १ ॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान् क्षौद्रपुष्पफलद्रुमान्।
वीक्षन्तौ जग्मतुर्द्रष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ॥ २ ॥

दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पर्वतोंपर फैले हुए बहुत-से वृक्षोंको, जो फूल, फल और मधुसे सम्पन्न थे, देखते हुए सुग्रीवसे मिलनेके लिये आगे बढ़े ॥ २ ॥

कृत्वा तु शैलपृष्ठे तु तौ वासं रघुनन्दनौ।
पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतुः ॥ ३ ॥

रातमें एक पर्वत-शिखरपर निवास करके रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले वे दोनों रघुवंशी बन्धु पम्पासरोवरके पश्चिम तटपर जा पहुँचे ॥ ३ ॥

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम्।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥ ४ ॥

पम्पानामक पुष्करिणीके पश्चिम तटपर पहुँचकर उन दोनों भाइयोंने वहाँ शबरीका रमणीय आश्रम देखा ॥ ४ ॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम्।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥ ५ ॥

उसकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई बहुसंख्यक वृक्षोंसे घिरे हुए उस सुरम्य आश्रमपर जाकर शबरीसे मिले ॥ ५ ॥

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ ६ ॥

शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनों भाइयोंको आश्रमपर आया देख वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी तथा उसने बुद्धिमान् श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ६ ॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादात् यथाविधि।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम्॥ ७॥

फिर पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सब सामग्री समर्पित की और विधिवत् उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी उस धर्मपरायणा तपस्विनीसे बोले—॥ ७॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।
कच्चित्ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने॥ ८॥

'तपोधने! क्या तुमने सारे विघ्नोंपर विजय पा ली? क्या तुम्हारी तपस्या बढ़ रही है? क्या तुमने क्रोध और आहारको काबूमें कर लिया है?॥ ८॥

कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि॥ ९॥

'तुमने जिन नियमोंको स्वीकार किया है, वे निभ तो जाते हैं न? तुम्हारे मनमें सुख और शान्ति है न? चारुभाषिणि! तुमने जो गुरुजनोंकी सेवा की है, वह पूर्णरूपसे सफल हो गयी है न?'॥ ९॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता॥ १०॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर वह सिद्ध तपस्विनी बूढ़ी शबरी, जो सिद्धोंके द्वारा सम्मानित थी, उनके सामने खड़ी होकर बोली—॥ १०॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः॥ ११॥

'रघुनन्दन! आज आपका दर्शन मिलनेसे ही मुझे अपनी तपस्यामें सिद्धि प्राप्त हुई है। आज मेरा जन्म सफल हुआ और गुरुजनोंकी उत्तम पूजा भी सार्थक हो गयी॥ ११॥

अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥ १२॥

'पुरुषप्रवर श्रीराम! आप देवेश्वरका यहाँ सत्कार हुआ, इससे मेरी तपस्या सफल हो गयी और अब मुझे आपके दिव्य धामकी प्राप्ति भी होगी ही॥ १२॥

तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयाल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिंदम॥ १३॥

'सौम्य! मानद! आपकी सौम्य दृष्टि पड़नेसे मैं परम पवित्र हो गयी। शत्रुदमन! आपके प्रसादसे ही अब मैं अक्षय लोकोंमें जाऊँगी॥ १३॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम्॥ १४॥

'जब आप चित्रकूट पर्वतपर पधारे थे, उसी समय मेरे गुरुजन जिनकी मैं सदा सेवा किया करती थी, अतुल कान्तिमान् विमानपर बैठकर यहाँसे दिव्यलोकको चले गये॥ १४॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम्॥ १५॥
स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः।
तं च दृष्ट्वा वरांल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि॥ १६॥

'उन धर्मज्ञ महाभाग महर्षियोंने जाते समय मुझसे कहा था कि तेरे इस परम पवित्र आश्रमपर श्रीरामचन्द्रजी पधारेंगे और लक्ष्मणके साथ तेरे अतिथि होंगे। तुम उनका यथावत् सत्कार करना। उनका दर्शन करके तू श्रेष्ठ एवं अक्षय लोकोंमें जायगी॥ १५-१६॥

एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ।
मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ॥ १७॥
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्।

'पुरुषप्रवर! उन महाभाग महात्माओंने मुझसे उस समय ऐसी बात कही थी। अतः पुरुषसिंह! मैंने आपके लिये पम्पातटपर उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके जंगली फल-मूलोंका संचय किया है'॥ १७½॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम्॥ १८॥
राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम्।

शबरी (जातिसे वर्णबाह्य होनेपर भी) विज्ञानमें बहिष्कृत नहीं थी—उसे परमात्माके तत्त्वका नित्य ज्ञान प्राप्त था। उसकी पूर्वोक्त बातें सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने उससे कहा—॥ १८½॥

दनोः सकाशात् तत्त्वेन प्रभवं ते महात्मनाम्॥ १९॥
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे।

'तपोधने! मैंने कबन्धके मुखसे तुम्हारे महात्मा गुरुजनोंका यथार्थ प्रभाव सुना है। यदि तुम स्वीकार करो तो मैं उनके उस प्रभावको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ'॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्रविनिःसृतम्॥ २०॥
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत्।

श्रीरामके मुखसे निकले हुए इस वचनको सुनकर शबरीने उन दोनों भाइयोंको उस महान् वनका दर्शन कराते हुए कहा—॥ २०½॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम्॥ २१॥
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन।

'रघुनन्दन! मेघोंकी घटाके समान श्याम और नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंसे भरे हुए इस वनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। यह मतंगवनके नामसे ही विख्यात है॥ २१½॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महाद्युते।
जुहवांचक्रिरे नीडं मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम्॥ २२॥

'महातेजस्वी श्रीराम! यहीं वे मेरे भावितात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाले एवं परमात्मचिन्तनपरायण) गुरुजन

निवास करते थे। इसी स्थानपर उन्होंने गायत्रीमन्त्रके जपसे विशुद्ध हुए अपने देहरूपी पञ्जरको मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें होम दिया था ॥ २२ ॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदी यत्र ते मे सुसत्कृताः ।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥ २३ ॥

'यह प्रत्यक्स्थली नामवाली वेदी है, जहाँ मेरे द्वारा भलीभाँति पूजित हुए वे महर्षि वृद्धावस्थाके कारण श्रमसे काँपते हुए हाथोंद्वारा देवताओंको फूलोंकी बलि चढ़ाया करते थे ॥ २३ ॥

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूत्तम ।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः श्रिया वेद्यतुलप्रभा ॥ २४ ॥

'रघुवंशशिरोमणे ! देखिये, उनकी तपस्याके प्रभावसे आज भी यह वेदी अपने तेजके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रही है। इस समय भी इसकी प्रभा अतुलनीय है ॥ २४ ॥

अशक्नुवद्भिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेनागतान् पश्य समेतान् सप्त सागरान् ॥ २५ ॥

'उपवास करनेसे दुर्बल होनेके कारण जब वे चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गये, तब उनके चिन्तनमात्रसे वहाँ सात समुद्रोंका जल प्रकट हो गया। वह सप्तसागर तीर्थ आज भी मौजूद है। उसमें सातों समुद्रोंके जल मिले हुए हैं, उसे चलकर देखिये ॥ २५ ॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह ।
अद्यापि न विशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥ २६ ॥

'रघुनन्दन ! उसमें स्नान करके उन्होंने वृक्षोंपर जो वल्कल वस्त्र फैला दिये थे, वे इस प्रदेशमें अबतक सूखे नहीं हैं ॥ २६ ॥

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै ।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं म्लानत्वं न तु यान्ति वै ॥ २७ ॥

'देवताओंकी पूजा करते हुए मेरे गुरुजनोंने कमलोंके साथ अन्य फूलोंको जो मालाएँ बनायी थीं, वे आज भी मुरझायी नहीं हैं ॥ २७ ॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया ।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्ष्याम्येतत् कलेवरम् ॥ २८ ॥

'भगवन् ! आपने सारा वन देख लिया और यहाँके सम्बन्धमें जो बातें सुनने योग्य थीं, वे भी सुन लीं। अब मैं आपकी आज्ञा लेकर इस देहका परित्याग करना चाहती हूँ ॥ २८ ॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम् ।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी ॥ २९ ॥

'जिनका यह आश्रम है और जिनके चरणोंकी मैं दासी रही हूँ, उन्हीं पवित्रात्मा महर्षियोंके समीप अब मैं जाना चाहती हूँ' ॥ २९ ॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति चाब्रवीत् ॥ ३० ॥

शबरीके धर्मयुक्त वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई। उनके मुँहसे निकल पड़ा, 'आश्चर्य है !' ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो रामः शबरीं संशितव्रताम् ।
अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर श्रीरामने कठोर व्रतका पालन करनेवाली शबरीसे कहा—'भद्रे ! तुमने मेरा बड़ा सत्कार किया। अब तुम अपनी इच्छाके अनुसार आनन्दपूर्वक अभीष्ट लोककी यात्रा करो' ॥ ३१ ॥

इत्येवमुक्ता जटिला चीरकृष्णाजिनाम्बरा ।
अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ॥ ३२ ॥
ज्वलत्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगाम ह ।
दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना ॥ ३३ ॥
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना ।
विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामनी यथा ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मस्तकपर जटा और शरीरपर चीर एवं काला मृगचर्म धारण करनेवाली शबरीने अपनेको आगमें होमकर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी शरीर प्राप्त किया। वह दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य फूलोंकी माला और दिव्य अनुलेपन धारण किये बड़ी मनोहर दिखायी देने लगी तथा सुदाम पर्वतपर प्रकट होनेवाली बिजलीके समान उस प्रदेशको प्रकाशित करती हुई स्वर्ग (साकेत) लोकको ही चली गयी ॥ ३२-३४ ॥

यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत् पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ ३५ ॥

उसने अपने चित्तको एकाग्र करके उस पुण्यधामकी यात्रा की, जहाँ उसके वे गुरुजन पुण्यात्मा महर्षि विहार करते थे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणकी बातचीत तथा उन दोनों भाइयोंका पम्पासरोवरके तटपर जाना

दिवं तु तस्यां यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः॥ १॥
चिन्तयित्वा तु धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम्।
हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत्॥ २॥

अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाली शबरीके दिव्यलोकमें चले जानेपर भाई लक्ष्मणसहित धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने उन महात्मा महर्षियोंके प्रभावका चिन्तन किया। चिन्तन करके अपने हितमें संलग्न रहनेवाले एकाग्रचित्त लक्ष्मणसे श्रीरामने इस प्रकार कहा—॥ १-२॥

दृष्टो मयाऽऽश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम्।
विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः॥ ३॥

'सौम्य! मैंने उन पुण्यात्मा महर्षियोंका यह पवित्र आश्रम देखा। यहाँ बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें हैं। हरिण और बाघ एक दूसरेपर विश्वास करते हैं। नाना प्रकारके पक्षी इस आश्रमका सेवन करते हैं॥ ३॥

सप्तानां च समुद्राणां तेषां तीर्थेषु लक्ष्मण।
उपस्पृष्टं च विधिवत् पितरश्चापि तर्पिताः॥ ४॥
प्रणष्टमशुभं यन्नः कल्याणं समुपस्थितम्।
तेन त्वेतत् प्रहृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति॥ ५॥

'लक्ष्मण! यहाँ जो सातों समुद्रोंके जलसे भरे हुए तीर्थ हैं, उनमें हमने विधिपूर्वक स्नान तथा पितरोंका तर्पण किये हैं। इससे हमारा सारा अशुभ नष्ट हो गया और अब हमारे कल्याणका समय उपस्थित हुआ है। सुमित्राकुमार! इससे इस समय मेरे मनमें अधिक प्रसन्नता हो रही है॥ ४-५॥

हृदये मे नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति।
तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम्॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! अब मेरे हृदयमें कोई शुभ संकल्प उठनेवाला है। इसलिये आओ, अब हम दोनों परम सुन्दर पम्पासरोवरके तटपर चलें॥ ६॥

ऋष्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते।
यस्मिन् वसति धर्मात्मा सुग्रीवोंऽशुमतः सुतः॥ ७॥

'वहाँसे थोड़ी ही दूरपर वह ऋष्यमूक पर्वत शोभा पाता है, जिसपर सूर्यपुत्र धर्मात्मा सुग्रीव निवास करते हैं॥ ७॥

नित्यं वालिभयात् त्रस्तश्चतुर्भिः सह वानरैः।
अहं त्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम्॥ ८॥
तदधीनं हि मे कार्यं सीतायाः परिमार्गणम्।

'वालीके भयसे सदा डरे रहनेके कारण वे चार वानरोंके साथ उस पर्वतपर रहते हैं। मैं वानरश्रेष्ठ सुग्रीवसे मिलनेके लिये उतावला हो रहा हूँ; क्योंकि सीताके अन्वेषणका कार्य उन्हींके अधीन है'॥ ८½॥

इति ब्रुवाणं तं वीरं सौमित्रिरिदमब्रवीत्॥ ९॥
गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः।

इस प्रकारकी बात कहते हुए वीर श्रीरामसे सुमित्राकुमार लक्ष्मणने यों कहा—'भैया! हम दोनोंको शीघ्र ही वहाँ चलना चाहिये। मेरा मन भी चलनेके लिये उतावला हो रहा है'॥ ९½॥

आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्क्रम्य स विशाम्पतिः॥ १०॥
आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सह प्रभुः।
समीक्षमाणः पुष्पाढ्यं सर्वतो विपुलद्रुमम्॥ ११॥

तदनन्तर प्रजापालक भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ उस आश्रमसे निकलकर सब ओर फूलोंसे लदे हुए नाना प्रकारके वृक्षोंकी शोभा निहारते हुए पम्पासरोवरके तटपर आये॥ १०-११॥

कोयष्टिभिश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीरकैः।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नादितं तद् वनं महत्॥ १२॥

वह विशाल वन टिट्टिभों, मोरों, कठफोड़वों, तोतों तथा अन्य बहुत-से पक्षियोंके कलरवोंसे गूँज रहा था॥ १२॥

स रामो विविधान् वृक्षान् सरांसि विविधानि च।
पश्यन् कामाभिसंतप्तो जगाम परमं ह्रदम्॥ १३॥

श्रीरामके मनमें सीताजीसे मिलनेकी तीव्र लालसा जाग उठी थी, इससे संतप्त हो वे नाना प्रकारके वृक्षों और भाँति-भाँतिके सरोवरोंकी शोभा देखते हुए उस उत्तम जलाशयके पास गये॥ १३॥

स तामासाद्य वै रामो दूरात् पानीयवाहिनीम्।
मतङ्गसरसं नाम ह्रदं समवगाहत॥ १४॥

पम्पानामसे प्रसिद्ध वह सरोवर पीनेयोग्य स्वच्छ जल बहानेवाला था। श्रीराम दूर देशसे चलकर उसके तटपर आये। आकर उन्होंने मतंगसरस नामक कुण्डमें स्नान किया॥ १४॥

तत्र जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ हि समाहितौ।
स तु शोकसमाविष्टो रामो दशरथात्मजः॥ १५॥
विवेश नलिनीं रम्यां पङ्कजैश्च समावृताम्।

वे दोनों रघुवंशी वीर वहाँ शान्त और एकाग्रचित्त होकर पहुँचे थे। सीताके शोकसे व्याकुल हुए दशरथनन्दन श्रीरामने उस रमणीय पुष्करिणी पम्पामें प्रवेश किया, जो कमलोंसे व्याप्त थी॥ १५½॥

तिलकाशोकपुंनागबकुलोद्दालकाशिनीम्॥ १६॥

रम्योपवनसम्बाधां पद्मसम्पीडितोदकाम्।
स्फटिकोपमतोयां तां श्लक्ष्णवालुकसंतताम् ॥ १७ ॥
मत्स्यकच्छपसम्बाधां तीरस्थद्रुमशोभिताम्।
सखीभिरिव संयुक्तां लताभिरनुवेष्टिताम् ॥ १८ ॥
किंनरोरगगन्धर्वयक्षराक्षससेविताम् ।
नानाद्रुमलताकीर्णां शीतवारिनिधिं शुभाम् ॥ १९ ॥

उसके तटपर तिलक, अशोक, नागकेसर, वकुल तथा लिसोड़ेके वृक्ष उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। भाँति-भाँतिके रमणीय उपवनोंसे वह घिरी हुई थी। उसका जल कमल-पुष्पोंसे आच्छादित था और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ दिखायी देता था। जलके नीचे स्वच्छ बालुका फैली हुई थी। मत्स्य और कच्छप उसमें भरे हुए थे। तटवर्ती वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते थे। सब ओर लताओंद्वारा आवेष्टित होनेके कारण वह सखियोंसे संयुक्त-सी प्रतीत होती थी। किन्नर, नाग, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस उसका सेवन करते थे। भाँति-भाँतिके वृक्ष और लताओंसे व्याप्त हुई पम्पा शीतल जलकी सुन्दर निधि प्रतीत होती थी ॥ १६—१९ ॥

पद्मसौगन्धिकैस्ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः।
नीलां कुवलयोद्घाटैर्बहुवर्णां कुथामिव ॥ २० ॥

अरुण कमलोंसे वह ताम्रवर्णकी, कुमुद-कुसुमोंके समूहसे शुक्ल वर्णकी तथा नील कमलोंके समुदायसे नीलवर्णकी दिखायी देनेके कारण बहुरंगे कालीनके समान शोभा पाती थी ॥ २० ॥

अरविन्दोत्पलवतीं पद्मसौगन्धिकायुताम्।
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्घुष्टनादिताम् ॥ २१ ॥

उस पुष्करिणीमें अरविन्द और उत्पल खिले थे। पद्म और सौगन्धिक जातिके पुष्प शोभा पाते थे। मौर लगी हुई अमराइयोंसे वह घिरी हुई थी तथा मयूरोंके केकानाद वहाँ गूँज रहे थे ॥ २१ ॥

स तां दृष्ट्वा ततः पम्पां रामः सौमित्रिणा सह।
विललाप च तेजस्वी रामो दशरथात्मजः ॥ २२ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मणसहित श्रीरामने जब उस मनोहर पम्पाको देखा, तब उनके हृदयमें सीताकी वियोग-व्यथा उद्दीप्त हो उठी; अतः वे तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम वहाँ विलाप करने लगे ॥ २२ ॥

तिलकैर्बीजपूरैश्च वटैः शुक्लद्रुमैस्तथा।
पुष्पितैः करवीरैश्च पुंनागैश्च सुपुष्पितैः ॥ २३ ॥
मालतीकुन्दगुल्मैश्च भण्डीरैर्निचुलैस्तथा।
अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः ॥ २४ ॥
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव शोभिताम्।
अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः ॥ २५ ॥
ऋष्यमूक इति ख्यातश्चित्रपुष्पितपादपः।

तिलक, बिजौरा, वट, लोध, खिले हुए करवीर, पुष्पित नागकेसर, मालती, कुन्द, झाड़ी, भंडीर (बरगद), वञ्जुल, अशोक, छितवन, कतक, माधवी लता तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित हुई पम्पा भाँति-भाँतिकी वस्त्रभूषाओंसे सजी हुई युवतीके समान जान पड़ती थी। उसीके तटपर विविध धातुओंसे मण्डित पूर्वोक्त ऋष्यमूक नामसे विख्यात पर्वत सुशोभित था। उसके ऊपर फूलोंसे भरे हुए विचित्र वृक्ष शोभा दे रहे थे ॥ २३—२५½ ॥

हरिर्ऋक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः ॥ २६ ॥
अध्यास्ते तु महावीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः।

ऋक्षरजा नामक महात्मा वानरके पुत्र कपिश्रेष्ठ महा पराक्रमी सुग्रीव वहीं निवास करते थे ॥ २६½ ॥

सुग्रीवमभिगच्छ त्वं वानरेन्द्रं नरर्षभ ॥ २७ ॥
इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः।
कथं मया विना सीतां शक्यं लक्ष्मण जीवितुम् ॥ २८ ॥

उस समय सत्यपराक्रमी श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा—'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! तुम वानरराज सुग्रीवके पास चलो, मैं सीताके बिना कैसे जीवित रह सकता हूँ' ॥ २७-२८ ॥

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः
स लक्ष्मणं वाक्यमनन्यचेतनः।
विवेश पम्पां नलिनीमनोरमां
तमुत्तमं शोकमुदीरयाणः ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर सीताके दर्शनकी कामनासे पीड़ित तथा उनके प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाले श्रीराम उस महान् शोकको प्रकट करते हुए उस मनोरम पुष्करिणी पम्पामें उतरे ॥ २९ ॥

क्रमेण गत्वा प्रविलोकयन् वनं
ददर्श पम्पां शुभदर्शकाननाम्।
अनेकनानाविधपक्षिसंकुलां
विवेश रामः सह लक्ष्मणेन ॥ ३० ॥

वनकी शोभा देखते हुए क्रमशः वहाँ जाकर लक्ष्मण-सहित श्रीरामने पम्पाको देखा। उसके समीपवर्ती कानन बड़े सुन्दर और दर्शनीय थे। अनेक प्रकारके झुंड-के-झुंड पक्षी वहाँ सब ओर भरे हुए थे। भाईसहित श्रीरघुनाथजीने पम्पाके जलमें प्रवेश किया ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽरण्यकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अरण्यकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

॥ अरण्यकाण्डं सम्पूर्णम् ॥

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

किष्किन्धाकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

पम्पासरोवरके दर्शनसे श्रीरामकी व्याकुलता, श्रीरामका लक्ष्मणसे पम्पाकी शोभा तथा वहाँकी उद्दीपनसामग्रीका वर्णन करना, लक्ष्मणका श्रीरामको समझाना तथा दोनों भाइयोंको ऋष्यमूककी ओर आते देख सुग्रीव तथा अन्य वानरोंका भयभीत होना

स तां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझषाकुलाम्।
रामः सौमित्रिसहितो विललापाकुलेन्द्रियः॥ १॥

कमल, उत्पल तथा मत्स्योंसे भरी हुई उस पम्पा नामक पुष्करिणीके पास पहुँचकर सीताकी सुधि आ जानेके कारण श्रीरामकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं। वे विलाप करने लगे। उस समय सुमित्राकुमार लक्ष्मण उनके साथ थे॥ १॥

तत्र दृष्ट्वैव तां हर्षादिन्द्रियाणि चकम्पिरे।
स कामवशमापन्नः सौमित्रिमिदमब्रवीत्॥ २॥

वहाँ पम्पापर दृष्टि पड़ते ही (कमल-पुष्पोंमें सीताके नेत्र-मुख आदिका किञ्चित् सादृश्य पाकर) हर्षोल्लाससे श्रीरामकी सारी इन्द्रियाँ चञ्चल हो उठीं। उनके मनमें सीताके दर्शनकी प्रबल इच्छा जाग उठी। उस इच्छाके अधीन-से होकर वे सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—॥ २॥

सौमित्रे शोभते पम्पा वैदूर्यविमलोदका।
फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिता विविधैर्द्रुमैः॥ ३॥

'सुमित्रानन्दन! यह पम्पा कैसी शोभा पा रही है! इसका जल वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ एवं श्याम है। इसमें बहुत-से पद्म और उत्पल खिले हुए हैं। तटपर उत्पन्न हुए नाना प्रकारके वृक्षोंसे इसकी शोभा और भी बढ़ गयी है॥ ३॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम्।
यत्र राजन्ति शैला वा द्रुमाः सशिखरा इव॥ ४॥

सुमित्राकुमार! देखो तो सही, पम्पाके किनारेका वन कितना सुन्दर दिखायी दे रहा है। यहाँके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओंके कारण अनेक शिखरोंसे युक्त पर्वतोंके समान सुशोभित होते हैं॥ ४॥

मां तु शोकाभिसंतप्तमाधयः पीडयन्ति वै।
भरतस्य च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च॥ ५॥

'परंतु मैं इस समय भरतके दुःख और सीताहरणकी चिन्ताके शोकसे संतप्त हो रहा हूँ। मानसिक वेदनाएँ मुझे बहुत कष्ट पहुँचा रही हैं॥ ५॥

शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा॥ ६॥

'यद्यपि मैं शोकसे पीड़ित हूँ तो भी मुझे यह पम्पा बड़ी सुहावनी लग रही है। इसके निकटवर्ती वन बड़े विचित्र दिखायी देते हैं। यह नाना प्रकारके फूलोंसे व्याप्त है। इसका जल बहुत शीतल है और यह बहुत सुखदायिनी प्रतीत होती है॥ ६॥

नलिनैरपि संछन्ना ह्यत्यर्थशुभदर्शना।
सर्पव्यालानुचरिता मृगद्विजसमाकुला॥ ७॥

'कमलोंसे यह सारी पुष्करिणि ढकी हुई है। इसलिये बड़ी सुन्दर दिखायी देती है। इसके आस-पास सर्प तथा हिंसक जन्तु विचर रहे हैं। मृग आदि पशु और पक्षी भी सब ओर छा रहे हैं॥ ७॥

अधिकं प्रविभात्येतन्नीलपीतं तु शाद्वलम्।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमैरिवार्पितम्॥ ८॥

'नयी-नयी घासोंसे ढका हुआ यह स्थान अपनी नीली-पीली आभाके कारण अधिक शोभा पा रहा है। यहाँ वृक्षोंके नाना प्रकारके पुष्प सब ओर बिखरे हुए हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ बहुत-से गलीचे बिछा दिये गये हों॥ ८॥

पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः।
लताभिः पुष्पिताग्राभिरुपगूढानि सर्वतः॥ ९॥

'चारों ओर वृक्षोंके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे होनेके कारण समृद्धिशाली प्रतीत होते हैं। ऊपरसे खिली हुई लताएँ उनमें सब ओरसे लिपटी हुई हैं॥ ९॥

सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथः।
गन्धवान् सुरभिर्मासो जातपुष्पफलद्रुमः॥ १०॥

'सुमित्रानन्दन! इस समय मन्द-मन्द सुखदायिनी हवा चल रही है, जिससे कामनाका उद्दीपन हो रहा है (सीताको देखनेकी इच्छा प्रबल हो उठी है) यह चैत्रका महीना है। वृक्षोंमें फूल और फल लग गये हैं और सब ओर मनोहर सुगन्ध छा रही है॥ १०॥

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम् ।
सृजतां पुष्पवर्षाणि वर्षं तोयमुचामिव ॥ ११ ॥

'लक्ष्मण ! फूलोंसे सुशोभित होनेवाले इन वनोंके रूप तो देखो । ये उसी तरह फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं जैसे मेघ जलकी वृष्टि करते हैं ॥ ११ ॥

प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः ।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम् ॥ १२ ॥

'वनके ये विविध वृक्ष वायुके वेगसे झूम-झूमकर रमणीय शिलाओंपर फूल बरसा रहे हैं और वहाँकी भूमिको ढक देते हैं ॥ १२ ॥

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः ।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडतीव समन्ततः ॥ १३ ॥

'सुमित्राकुमार ! उधर तो देखो, जो वृक्षोंसे झड़ गये हैं, झड़ रहे हैं तथा जो अभी डालियोंमें ही लगे हुए हैं, उन सभी फूलोंके साथ सब ओर वायु खेल-सा कर रही है ॥ १३ ॥

विक्षिपन् विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कटाः ।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते ॥ १४ ॥

'फूलोंसे भरी हुई वृक्षोंकी विभिन्न शाखाओंको झकझोरती हुई वायु जब आगेको बढ़ती है, तब अपने-अपने स्थानसे विचलित हुए भ्रमर मानो उसका यशोगान करते हुए उसके पीछे-पीछे चलने लगते हैं ॥ १४ ॥

मत्तकोकिलसंनादैर्नर्तयन्निव पादपान् ।
शैलकन्दरनिष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः ॥ १५ ॥

'पर्वतकी कन्दरासे विशेष ध्वनिके साथ निकली हुई वायु मानो उच्च स्वरसे गीत गा रही है । मतवाले कोकिलोंके कलनाद वाद्यका काम देते हैं और उन वाद्योंकी ध्वनिके साथ वह वायु इन झूमते हुए वृक्षोंको मानो नृत्यकी शिक्षा-सी दे रही है ॥ १५ ॥

तेन विक्षिपतात्यर्थं पवनेन समन्ततः ।
अमी संसक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपाः ॥ १६ ॥

'वायुके वेगपूर्वक हिलानेसे जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओरसे परस्पर सट गये हैं, वे वृक्ष एक दूसरेसे गुँथे हुएकी भाँति जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

स एव सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः ।
गन्धमभ्यवहन् पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः ॥ १७ ॥

'मलयचन्दनका स्पर्श करके बहनेवाली यह शीतल वायु शरीरसे छू जानेपर कितनी सुखद जान पड़ती है । वह थकावट दूर करती हुई बह रही है और सर्वत्र पवित्र सुगन्ध फैला रही है ॥ १७ ॥

अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः ।
षट्पदैरनुकूजद्भिर्वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १८ ॥

'मधुर मकरन्द और सुगन्धसे भरे हुए इन वनोंमें गुनगुनाते हुए भ्रमरोंके व्याजसे ये वायुद्वारा हिलाये गये वृक्ष मानो नृत्यके साथ गान कर रहे हैं ॥ १८ ॥

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवद्भिर्मनोरमैः ।
संसक्तशिखराः शैला विराजन्ति महाद्रुमैः ॥ १९ ॥

'अपने रमणीय पृष्ठभागोंपर उत्पन्न फूलोंसे सम्पन्न तथा मनको लुभानेवाले विशाल वृक्षोंसे सटे हुए शिखरवाले पर्वत अद्भुत शोभा पा रहे हैं ॥ १९ ॥

पुष्पसंछन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः ।
अमी मधुकरोत्तंसाः प्रगीता इव पादपाः ॥ २० ॥

'जिनकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे ढके हैं, जो वायुके झोंकेसे हिल रहे हैं तथा भ्रमरोंको पगड़ीके रूपमें सिरपर धारण किये हुए हैं, वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो इन्होंने नाचना-गाना आरम्भ कर दिया है ॥ २० ॥

सुपुष्पितांस्तु पश्यैतान् कर्णिकारान् समन्ततः ।
हाटकप्रतिसंछन्नान् नरान् पीताम्बरानिव ॥ २१ ॥

'देखो, सब ओर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए ये कनेर सोनेके आभूषणोंसे विभूषित पीताम्बरधारी मनुष्योंके समान शोभा पा रहे हैं ॥ २१ ॥

अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः ।
सीतया विप्रहीणस्य शोकसंदीपनो मम ॥ २२ ॥

'सुमित्रानन्दन ! नाना प्रकारके विहङ्गमोंके कलरवोंसे गूँजता हुआ यह वसन्तका समय सीतासे बिछुड़े हुए मेरे लिये शोकको बढ़ानेवाला हो गया है ॥ २२ ॥

मां हि शोकसमाक्रान्तं संतापयति मन्मथः ।
हृष्टं प्रवदमानश्च समाह्वयति कोकिलः ॥ २३ ॥

'वियोगके शोकसे तो मैं पीड़ित हूँ ही, यह कामदेव (सीता-विषयक अनुराग) मुझे और भी संताप दे रहा है । कोकिल बड़े हर्षके साथ कलनाद करता हुआ मानो मुझे ललकार रहा है ॥ २३ ॥

एष दात्यूहको हृष्टो रम्ये मां वननिर्झरे ।
प्रणदन्मन्मथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥ २४ ॥

'लक्ष्मण ! वनके रमणीय झरनेके निकट बड़े हर्षके साथ बोलता हुआ यह जलकुक्कुट सीतासे मिलनेकी इच्छावाले मुझ रामको शोकमग्न किये देता है ॥ २४ ॥

श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया ।
मामाहूय प्रमुदिता परमं प्रत्यनन्दत ॥ २५ ॥

'पहले मेरी प्रिया जब आश्रममें रहती थी, उन दिनों इसका शब्द सुनकर आनन्दमग्न हो जाती थी और मुझे भी निकट बुलाकर अत्यन्त आनन्दित कर देती थी ॥ २५ ॥

एवं विचित्राः पतगा नानारावविराविणः ।
वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति समन्ततः ॥ २६ ॥

'देखो, इस प्रकार भाँति-भाँतिकी बोली बोलनेवाले विचित्र

पक्षी चारों ओर वृक्षों, झाड़ियों और लताओंकी ओर उड़ रहे हैं ॥ २६ ॥

विमिश्रा विहगाः पुंभिरात्मव्यूहाभिनन्दिताः ।
भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥ २७ ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखो, ये पक्षिणियाँ नर पक्षियोंसे संयुक्त हो अपने झुंडमें आनन्दका अनुभव कर रही हैं, भौंरोंका गुंजारव सुनकर प्रसन्न हो रही हैं और स्वयं भी मीठी बोली बोल रही हैं ॥ २७ ॥

अस्याः कूले प्रमुदिताः सङ्घशः शकुनास्त्विह ।
दात्यूहरतिविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुतैरपि ॥ २८ ॥
स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानङ्गप्रदीपकाः ।

'इस पम्पाके तटपर यहाँ झुंड-के-झुंड पक्षी आनन्दमग्न होकर चहक रहे हैं । जलकुक्कुटोंके रतिसम्बन्धी कूजन तथा नर कोकिलोंके कलनादके व्याजसे मानों ये वृक्ष ही मधुर बोली बोलते हैं और मेरी अनङ्गवेदनाको उद्दीप्त कर रहे हैं ॥ २८½ ॥

अशोकस्तबकाङ्गारः षट्पदस्वननिःस्वनः ॥ २९ ॥
मां हि पल्लवताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।

'जान पड़ता है, यह वसन्तरूपी आग मुझे जलाकर भस्म कर देगी । अशोक पुष्पके लाल-लाल गुच्छे ही इस अग्निके अङ्गार हैं, नूतन पल्लव ही इसकी लाल-लाल लपटें हैं तथा भ्रमरोंका गुञ्जारव ही इस जलती आगका 'चट-चट' शब्द है ॥ २९½ ॥

नहि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥ ३० ॥
अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।

'सुमित्रानन्दन ! यदि मैं सूक्ष्म बरौनियों और सुन्दर केशोंवाली मधुरभाषिणी सीताको न देख सका तो मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३०½ ॥

अयं हि रुचिरस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥ ३१ ॥
कोकिलाकुलसीमान्तो दयिताया ममानघ ।

'निष्पाप लक्ष्मण ! वसन्त ऋतुमें वनकी शोभा बड़ी मनोहर हो जाती है, इसकी सीमामें सब ओर कोयलकी मधुर कूक सुनायी पड़ती है । मेरी प्रिया सीताको यह समय बड़ा ही प्रिय लगता था ॥ ३१½ ॥

मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्धितः ॥ ३२ ॥
अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्नचिरादिव ।

'अनङ्गवेदनासे उत्पन्न हुई शोकाग्नि वसन्तऋतुके गुणोंका[1] ईंधन पाकर बढ़ गयी है; जान पड़ता है, यह मुझे शीघ्र ही अविलम्ब जला देगी ॥ ३२½ ॥

अपश्यतस्तां वनितां पश्यतो रुचिरान् द्रुमान् ॥ ३३ ॥
ममायमात्मप्रभवो भूयस्त्वमुपयास्यति ।

'अपनी उस प्रियतमा पत्नीको मैं नहीं देख पाता हूँ और इन मनोहर वृक्षोंको देख रहा हूँ, इसलिये मेरा यह अनङ्गज्वर अब और बढ़ जायगा ॥ ३३½ ॥

अदृश्यमाना वैदेही शोकं वर्धयतीह मे ॥ ३४ ॥
दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।

'विदेहनन्दिनी सीता यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रही है, इसलिये मेरा शोक बढ़ाती है तथा मन्द मलयानिलके द्वारा स्वेदसंसर्गका निवारण करनेवाला यह वसन्त भी मेरे शोककी वृद्धि कर रहा है ॥ ३४½ ॥

मां हि सा मृगशावाक्षी चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥ ३५ ॥
संतापयति सौमित्रे क्रूरश्चैत्रवनानिलः ।

सुमित्राकुमार ! मृगनयनी सीता चिन्ता और शोकसे बलपूर्वक पीड़ित किये गये मुझ रामको और भी संताप दे रही है । साथ ही यह वनमें बहनेवाली चैत्रमासकी वायु भी मुझे पीड़ा दे रही है ॥ ३५½ ॥

अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः ॥ ३६ ॥
स्वैः पक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव ।

'ये मोर स्फटिकमणिके बने हुए गवाक्षों (झरोखों) के समान प्रतीत होनेवाले अपने फैले हुए पंखोंसे, जो वायुसे कम्पित हो रहे हैं, इधर-उधर नाचते हुए कैसी शोभा पा रहे हैं ? ॥ ३६½ ॥

शिखिनीभिः परिवृतास्त एते मदमूर्च्छिताः ॥ ३७ ॥
मन्मथाभिपरीतस्य मम मन्मथवर्धनाः ।

'मयूरियोंसे घिरे हुए ये मदमत्त मयूर अनङ्गवेदनासे संतप्त हुए मेरी इस कामपीड़ाको और भी बढ़ा रहे हैं ॥ ३७½ ॥

पश्य लक्ष्मण नृत्यन्तं मयूरमुपनृत्यति ॥ ३८ ॥
शिखिनी मन्मथार्तैषा भर्तारं गिरिसानुनि ।

'लक्ष्मण ! वह देखो, पर्वतशिखरपर नाचते हुए अपने स्वामी मयूरके साथ-साथ वह मोरनी भी कामपीड़ित होकर नाच रही है ॥ ३८½ ॥

तामेव मनसा रामां मयूरोऽप्यनुधावति ॥ ३९ ॥
वितत्य रुचिरौ पक्षौ रुतैरुपहसन्निव ।

'मयूर भी अपने दोनों सुन्दर पंखोंको फैलाकर मन-ही-मन अपनी उसी रामा (प्रिया) का अनुसरण कर रहा है तथा अपने मधुर स्वरोंसे मेरा उपहास करता-सा जान पड़ता है ॥ ३९½ ॥

मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ॥ ४० ॥
तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया ।

'निश्चय ही वनमें किसी राक्षसने मोरकी प्रियाका अपहरण

---

१. मन्द-मन्द मलयानिलका चलना, वनके वृक्षोंका नूतन पल्लवों और फूलोंसे सज जाना, कोकिलोंका कूकना, कमलोंका खिल जाना तथा सब ओर मधुर सुगन्धका छा जाना आदि वसन्तके गुण हैं, जो विरहीकी शोकाग्निको उद्दीप्त करते हैं ।

नहीं किया है, इसीलिये यह रमणीय वनोंमें अपनी वल्लभाके साथ नृत्य कर रहा है * ॥ ४०½ ॥

मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥ ४१ ॥
पश्य लक्ष्मण संरागस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
यदेषा शिखिनी कामाद् भर्तारमभिवर्तते ॥ ४२ ॥

'फूलोंसे भरे हुए इस चैत्रमासमें सीताके बिना यहाँ निवास करना मेरे लिये अत्यन्त दुःसह है । लक्ष्मण ! देखो तो सही, तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंमें भी परस्पर कितना अधिक अनुराग है । इस समय यह मोरनी कामभावसे अपने स्वामीके सामने उपस्थित हुई है ॥ ४१-४२ ॥

ममाप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा ।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत् ॥ ४३ ॥

'यदि विशाल नेत्रोंवाली सीताका अपहरण न हुआ होता तो वह भी इसी प्रकार बड़े प्रेमसे वेगपूर्वक मेरे पास आती ॥ ४३ ॥

पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे ।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये ॥ ४४ ॥

'लक्ष्मण ! इस वसन्त ऋतुमें फूलोंके भारसे सम्पन्न हुए इन वनोंके ये सारे फूल मेरे लिये निष्फल हो रहे हैं । प्रिया सीताके यहाँ न होनेसे इनका मेरे लिये कोई प्रयोजन नहीं रह गया है ॥ ४४ ॥

रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया ।
निष्फलानि महीं यान्ति समं मधुकरोत्करैः ॥ ४५ ॥

'अत्यन्त शोभासे मनोहर प्रतीत होनेवाले ये वृक्षोंके फूल भी निष्फल होकर भ्रमरसमूहोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर जाते हैं ॥ ४५ ॥

नदन्ति कामं शकुना मुदिताः सङ्घशः कलम् ।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम ॥ ४६ ॥

'हर्षमें भरे हुए ये झुंड-के-झुंड पक्षी एक दूसरेको बुलाते हुए-से इच्छानुसार कलरव कर रहे हैं और मेरे मनमें प्रेमोन्माद उत्पन्न किये देते हैं ॥ ४६ ॥

वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया ।
नूनं परवशा सीता सापि शोचत्यहं यथा ॥ ४७ ॥

'जहाँ मेरी प्रिया सीता निवास करती है, वहाँ भी यदि इसी तरह वसन्त छा रहा हो तो उसकी क्या दशा होगी ? निश्चय ही वहाँ पराधीन हुई सीता मेरी ही तरह शोक कर रही होगी ॥ ४७ ॥

नूनं न तु वसन्तस्तं देशं स्पृशति यत्र सा ।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत् सा मया विना ॥ ४८ ॥

'अवश्य ही जहाँ सीता है, उस एकान्त स्थानमें वसन्तका प्रवेश नहीं है तो भी मेरे बिना वह कजरारे नेत्रोंवाली कमलनयनी सीता कैसे जीवित रह सकेगी ॥ ४८ ॥

अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया ।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः ॥ ४९ ॥

'अथवा सम्भव है जहाँ मेरी प्रिया है वहाँ भी इसी तरह वसन्त छा रहा हो, परंतु उसे तो शत्रुओंकी डाँट-फटकार सुननी पड़ती होगी; अतः वह बेचारी सुन्दरी सीता क्या कर सकेगी ॥ ४९ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषा च मे प्रिया ।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ५० ॥

'जिसकी अभी नयी-नयी अवस्था है और प्रफुल्ल कमल-दलके समान मनोहर नेत्र हैं, वह मीठी बोली बोलनेवाली मेरी प्राणवल्लभा जानकी निश्चय ही इस वसन्त ऋतुको पाकर अपने प्राण त्याग देगी ॥ ५० ॥

दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्परिवर्तते ।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥ ५१ ॥

'मेरे हृदयमें यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि साध्वी सीता मुझसे अलग होकर अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकती ॥ ५१ ॥

मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥ ५२ ॥

'वास्तवमें विदेहकुमारीका हार्दिक अनुराग मुझमें और मेरा सम्पूर्ण प्रेम सर्वथा विदेहनन्दिनी सीतामें ही प्रतिष्ठित है ॥

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः ।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो मम ॥ ५३ ॥

'फूलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली यह शीतल वायु, जिसका स्पर्श बहुत ही सुखद है, प्राणवल्लभा सीताकी याद आनेपर मुझे आगकी भाँति तपाने लगती है ॥ ५३ ॥

सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया ।
मारुतः स विना सीतां शोकसंजननो मम ॥ ५४ ॥

पहले जानकीके साथ रहनेपर जो मुझे सदा सुखद जान पड़ती थी, वही वायु आज सीताके विरहमें मेरे लिये शोकजनक हो गयी है ॥ ५४ ॥

तां विनाथ विहङ्गोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा ।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिकूजति ॥ ५५ ॥

'जब सीता मेरे साथ थी उन दिनों जो पक्षी कौआ आकाशमें जाकर काँव-काँव करता था, वह उसके भावी वियोगको सूचित करनेवाला था । अब सीताके वियोगकालमें वह कौआ वृक्षपर बैठकर बड़े हर्षके साथ अपनी बोली बोल रहा है (इससे सूचित हो रहा है कि सीताका संयोग शीघ्र ही सुलभ होगा) ॥ ५५ ॥

---

* रामायणशिरोमणिकार इस श्लोकके पूर्वार्धका अर्थ यों लिखते हैं—निश्चय ही इस मोरके निवासभूत वनमें उस राक्षसने मेरी प्रिया सीताका अपहरण नहीं किया, नहीं तो यह भी उसीके शोकमें डूबा रहता ।

एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति ॥ ५६ ॥

'यही वह पक्षी है, जो आकाशमें स्थित होकर बोलनेपर वैदेहीके अपहरणका सूचक हुआ; किंतु आज यह जैसी बोली बोल रहा है, उससे जान पड़ता है कि यह मुझे विशाललोचना सीताके समीप ले जायगा ॥ ५६ ॥

पश्य लक्ष्मण संनादं वने मदविवर्धनम्।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामवकूजताम् ॥ ५७ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, जिनकी ऊपरी डालियाँ फूलोंसे लदी हैं, वनमें उन वृक्षोंपर कलरव करनेवाले पक्षियोंका यह मधुर शब्द विरहीजनोंके मदनोन्मादको बढ़ानेवाला है ॥ ५७ ॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम्।
षट्पदः सहसाभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम् ॥ ५८ ॥

'वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई उस तिलक वृक्षकी मंजरीपर भ्रमर सहसा जा बैठा है। मानो कोई प्रेमी काम-मदसे कम्पित हुई प्रेयसीसे मिल रहा हो ॥ ५८ ॥

कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः।
स्तबकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः ॥ ५९ ॥

'यह अशोक प्रियाविरही कामी पुरुषोंके लिये अत्यन्त शोक बढ़ानेवाला है। यह वायुके झोंकेसे कम्पित हुए पुष्प-गुच्छोंद्वारा मुझे डाँट बताता हुआ-सा खड़ा है ॥ ५९ ॥

अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव ॥ ६० ॥

'लक्ष्मण ! ये मञ्जरियोंसे सुशोभित होनेवाले आमके वृक्ष शृङ्गार-विलाससे मदमत्तहृदय होकर चन्दन आदि अङ्गराग धारण करनेवाले मनुष्योंके समान दिखायी देते हैं॥

सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु।
किंनरा नरशार्दूल विचरन्ति यतस्ततः ॥ ६१ ॥

'नरश्रेष्ठ सुमित्राकुमार ! देखो पम्पाकी विचित्र वन-श्रेणियोंमें इधर-उधर किन्नर विचर रहे हैं ॥ ६१ ॥

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत् ॥ ६२ ॥

'लक्ष्मण ! देखो, पम्पाके जलमें सब ओर खिले हुए ये सुगन्धित कमल प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६२ ॥

एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकायुता ॥ ६३ ॥

'पम्पाका जल बड़ा ही स्वच्छ है। इसमें लाल कमल और नील कमल खिले हुए हैं। हंस और कारण्डव आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं तथा सौगन्धिक कमल इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ६३ ॥

जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता ॥ ६४ ॥

'जलमें प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले कमलोंके द्वारा सब ओरसे घिरी हुई पम्पा बड़ी शोभा पा रही है। उन कमलोंके केसरोंको भ्रमरोंने चूस लिया है ॥६४॥

चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः ॥ ६५ ॥

'इसमें चक्रवाक सदा निवास करते हैं। यहाँके वनोंमें विचित्र-विचित्र स्थान हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए हाथियों और मृगोंके समूहोंसे इस पम्पाकी शोभा और भी बढ़ जाती है ॥ ६५ ॥

पवनाहतवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

'लक्ष्मण ! वायुके थपेड़ेसे जिनमें वेग पैदा होता है, उन लहरोंसे ताड़ित होनेवाले कमल पम्पाके निर्मल जलमें बड़ी शोभा पाते हैं ॥ ६६ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं प्रियपङ्कजाम्।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते ॥ ६७ ॥

'प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली विदेह-राजकुमारी सीताको कमल सदा ही प्रिय रहे हैं। उसे न देखनेके कारण मुझे जीवित रहना अच्छा नहीं लगता है ॥

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम्।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ६८ ॥

'अहो ! काम कितना कुटिल है, जो अन्यत्र गयी हुई एवं परम दुर्लभ होनेपर भी कल्याणमय वचन बोलनेवाली उस कल्याणस्वरूपा सीताका बारंबार स्मरण दिला रहा है ॥६८॥

शक्यो धारयितुं कामो भवेदभ्यागतो मया।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात् पुष्पितद्रुमः ॥ ६९ ॥

'यदि खिले हुए वृक्षोंवाला यह वसन्त मुझपर पुनः प्रहार न करे तो प्राप्त हुई कामवेदनाको मैं किसी तरह मनमें ही रोके रह सकता हूँ ॥ ६९ ॥

यानि स्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना ॥ ७० ॥

'सीताके साथ रहनेपर जो-जो वस्तुएँ मुझे रमणीय प्रतीत होती थीं, वे ही आज उसके बिना असुन्दर जान पड़ती हैं ॥

पद्मकोशपलाशानि द्रष्टुं दृष्टिर्हि मन्यते।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण ॥ ७१ ॥

'लक्ष्मण ! ये कमलकोशोंके दल सीताके नेत्रकोशोंके समान हैं। इसलिये मेरी आँखें इन्हें ही देखना चाहती हैं७१

पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिःसृतः।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः ॥ ७२ ॥

'कमलकेसरोंका स्पर्श करके दूसरे वृक्षोंके बीचसे निकली हुई यह सौरभयुक्त मनोहर वायु सीताके निःश्वासकी भाँति चल रही है ॥ ७२ ॥

सौमित्रे पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिसानुषु ।
पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं परमशोभिताम् ॥ ७३ ॥

'सुमित्रानन्दन ! वह देखो, पम्पाके दक्षिण भागमें पर्वत-शिखरोंपर खिली हुई कनेरकी डाल कितनी अधिक शोभा पा रही है ॥ ७३ ॥

अधिकं शैलराजोऽयं धातुभिस्तु विभूषितः ।
विचित्रं सृजते रेणुं वायुवेगविघट्टितम् ॥ ७४ ॥

'विभिन्न धातुओंसे विभूषित हुआ यह पर्वतराज ऋष्यमूक वायुके वेगसे लायी हुई विचित्र धूलिकी सृष्टि कर रहा है ॥ ७४ ॥

गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः सम्प्रपुष्पितैः ।
निष्पत्रैः सर्वतो रम्यैः प्रदीप्ता इव किंशुकैः ॥ ७५ ॥

'सुमित्राकुमार ! चारों ओर खिले हुए और सब ओरसे रमणीय प्रतीत होनेवाले पत्रहीन पलाश वृक्षोंसे उपलक्षित इस पर्वतके पृष्ठभाग आगमें जलते हुए-से जान पड़ते हैं ॥७५॥

पम्पातीररुहाश्चेमे संसिक्ता मधुगन्धिनः ।
मालतीमल्लिकापद्मकरवीराश्च पुष्पिताः ॥ ७६ ॥

'पम्पाके तटपर उत्पन्न हुए ये वृक्ष इसीके जलसे अभिषिक्त हो बढ़े हैं और मधुर मकरन्द एवं गन्धसे सम्पन्न हुए हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं—मालती, मल्लिका, पद्म और करवीर । ये सब-के-सब फूलोंसे सुशोभित हैं ॥ ७६ ॥

केतक्यः सिन्दुवाराश्च वासन्त्यश्च सुपुष्पिताः ।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः ॥ ७७ ॥

'केतकी (केवड़े), सिन्दुवार तथा वासन्ती लताएँ भी सुन्दर फूलोंसे भरी हुई हैं । गन्धभरी माधवी लता तथा कुन्द-कुसुमोंकी झाड़ियाँ सब ओर शोभा पा रही हैं ॥ ७७ ॥

चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला बकुलास्तथा ।
चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ॥ ७८ ॥

'चिरिबिल्व (चिलबिल), महुआ, बेंत, मौलसिरी, चम्पा, तिलक और नागकेसर भी खिले दिखायी देते हैं ॥७८॥

पद्मकाश्चैव शोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः ।
लोध्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकेसरपिञ्जराः ॥ ७९ ॥

'पर्वतके पृष्ठभागोंपर पद्मक और खिले हुए नील अशोक भी शोभा पाते हैं । वहीं सिंहके अयालकी भाँति पिङ्गल वर्णवाले लोध्र भी सुशोभित हो रहे हैं ॥ ७९ ॥

अङ्कोलाश्च कुरण्टाश्च चूर्णकाः पारिभद्रकाः ।
चूताः पाटलयश्चापि कोविदाराश्च पुष्पिताः ॥ ८० ॥
मुचुकुन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु ।

'अङ्कोल, कुरंट, चूर्णक (सेमल), पारिभद्रक (नीम या मदार), आम, पाटलि, कोविदार, मुचुकुन्द (नारङ्ग) और अर्जुन नामक वृक्ष भी पर्वत-शिखरोंपर फूलोंसे लदे दिखायी देते हैं ॥ ८०½ ॥

केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशपा धवाः ॥ ८१ ॥
शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरवकास्तथा ।
तिनिशा नक्तमालाश्च चन्दनाः स्यन्दनास्तथा ॥ ८२ ॥
हिन्तालास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः ।

'केतक, उद्दालक (लसोड़ा), शिरीष, शीशम, धव, सेमल, पलाश, लाल कुरबक, तिनिश, नक्तमाल, चन्दन, स्यन्दन, हिन्ताल, तिलक तथा नागकेसरके पेड़ भी फूलोंसे भरे दिखायी देते हैं ॥ ८१-८२½ ॥

पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिः परिवेष्टितान् ॥ ८३ ॥
द्रुमान् पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान् बहून् ।

'सुमित्रानन्दन ! जिनके अग्रभाग फूलोंसे भरे हुए हैं, उन लता-वल्लरियोंसे लिपटे हुए पम्पाके इन मनोहर और बहुसंख्यक वृक्षोंको तो देखो । वे सब-के-सब यहाँ फूलोंके भारसे लदे हुए हैं ॥ ८३½ ॥

वातविक्षिप्तविटपान् यथासन्नान् द्रुमानिमान् ॥ ८४ ॥
लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः ।

'हवाके झोंके खाकर जिनकी डालें हिल रही हैं, वे ये वृक्ष झुककर इतने निकट आ जाते हैं कि हाथसे इनकी डालियोंका स्पर्श किया जा सके । सलोनी लताएँ मदमत्त सुन्दरियोंकी भाँति इनका अनुसरण करती हैं ॥ ८४½ ॥

पादपात् पादपं गच्छञ्शैलाच्छैलं वनाद् वनम् ॥ ८५ ॥
वाति नैकरसास्वादसम्मोदित इवानिलः ।

'एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर, एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर तथा एक वनसे दूसरे वनमें जाती हुई वायु अनेक रसोंके आस्वादनसे आनन्दित-सी होकर बह रही है ॥ ८५½ ॥

केचित् पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः ॥ ८६ ॥
केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवाबभुः ।

'कुछ वृक्ष प्रचुर पुष्पोंसे भरे हुए हैं और मधु एवं सुगन्धसे सम्पन्न हैं । कुछ मुकुलोंसे आवेष्टित हो श्यामवर्ण-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ ८६½ ॥

इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ॥ ८७ ॥
रागरक्तो मधुकरः कुसुमेष्वेव लीयते ।

'वह भ्रमर रागसे रँगा हुआ है और 'यह मधुर है, यह स्वादिष्ट है तथा यह अधिक खिला हुआ है' इत्यादि बातें सोचता हुआ फूलोंमें ही लीन हो रहा है ॥ ८७½ ॥

निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति ।
मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ ॥ ८८ ॥

'पुष्पोंमें छिपकर फिर ऊपरको उड़ जाता है और सहसा अन्यत्र चल देता है। इस प्रकार मधुका लोभी भ्रमर पम्पातीरवर्ती वृक्षोंपर विचर रहा है ॥ ८८ ॥

इयं कुसुमसंघातैरुपस्तीर्णा सुखाकृता।
स्वयं निपतितैर्भूमिः शयनप्रस्तरैरिव ॥ ८९ ॥

'स्वयं झड़कर गिरे हुए पुष्पसमूहोंसे आच्छादित हुई यह भूमि ऐसी सुखदायिनी हो गयी है, मानो इसपर शयन करनेके लिये मुलायम बिछौने बिछा दिये गये हों ॥ ८९ ॥

विविधा विविधैः पुष्पैस्तैरेव नगसानुषु।
विस्तीर्णाः पीतरक्ताभाः सौमित्रे प्रस्तराः कृताः ॥ ९० ॥

'सुमित्रानन्दन! पर्वतके शिखरोंपर जो नाना प्रकारकी विशाल शिलाएँ हैं, उनपर झड़े हुए भाँति-भाँतिके फूलोंने उन्हें लाल-पीले रंगकी शय्याओंके समान बना दिया है ॥ ९० ॥

हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम्।
पुष्पमासे हि तरवः संघर्षादिव पुष्पिताः ॥ ९१ ॥

'सुमित्राकुमार! वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके फूलोंका यह वैभव तो देखो। इस चैत्र मासमें ये वृक्ष मानो परस्पर होड़ लगाकर फूले हुए हैं ॥ ९१ ॥

आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पदनादिताः।
कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण ॥ ९२ ॥

'लक्ष्मण! वृक्ष अपनी ऊपरी डालियोंपर फूलोंका मुकुट धारण करके बड़ी शोभा पा रहे हैं तथा वे भ्रमरोंके गुञ्जारवसे इस तरह कोलाहलपूर्ण हो रहे हैं, मानो एक दूसरेका आह्वान कर रहे हों ॥ ९२ ॥

एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम्।
रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन्निव ॥ ९३ ॥

'यह कारण्डव पक्षी पम्पाके स्वच्छ जलमें प्रवेश करके अपनी प्रियतमाके साथ रमण करता हुआ कामका उद्दीपन-सा कर रहा है ॥ ९३ ॥

मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेतन्मनोरमम्।
स्थाने जगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः ॥ ९४ ॥

'मन्दाकिनीके समान प्रतीत होनेवाली इस पम्पाका जब ऐसा मनोरम रूप है, तब संसारमें उसके जो मनोरम गुण विख्यात हैं, वे उचित ही हैं ॥ ९४ ॥

यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसेमहि।
स्पृहयेयं न शक्राय नायोध्यायै रघूत्तम ॥ ९५ ॥

'रघुश्रेष्ठ लक्ष्मण! यदि साध्वी सीता दीख जाय और यदि उसके साथ हम यहाँ निवास करने लगें तो हमें न इन्द्रलोकमें जानेकी इच्छा होगी और न अयोध्यामें लौटनेकी ही ॥ ९५ ॥

न ह्येवं रमणीयेषु शाद्वलेषु तया सह।
रमतो मे भवेच्चिन्ता न स्पृहान्येषु वा भवेत् ॥ ९६ ॥

'हरी-हरी घासोंसे सुशोभित ऐसे रमणीय प्रदेशोंमें सीताके साथ सानन्द विचरनेका अवसर मिले तो मुझे (अयोध्याका राज्य न मिलनेके कारण) कोई चिन्ता नहीं होगी और न दूसरे ही दिव्य भोगोंकी अभिलाषा हो सकेगी ॥ ९६ ॥

अमी हि विविधैः पुष्पैस्तरवो विविधच्छदाः।
काननेऽस्मिन् विना कान्तां चिन्तामुत्पादयन्ति मे ॥ ९७ ॥

'इस वनमें भाँति-भाँतिके पल्लवोंसे सुशोभित और नाना प्रकारके फूलोंसे उपलक्षित वे वृक्ष प्राणवल्लभा सीताके बिना मेरे मनमें चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं ॥ ९७ ॥

पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम्।
चक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम् ॥ ९८ ॥
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां महामृगनिषेविताम्।

'सुमित्राकुमार! देखो, इस पम्पाका जल कितना शीतल है। इसमें असंख्य कमल खिले हुए हैं। चकवे विचरते हैं और कारण्डव निवास करते हैं। इतना ही नहीं, जलकुक्कुट तथा क्रौञ्च भरे हुए हैं एवं बड़े-बड़े मृग इसका सेवन करते हैं ॥ ९८½ ॥

अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भिर्विहंगमैः ॥ ९९ ॥
दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः।
श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम् ॥ १०० ॥

'चहकते हुए पक्षियोंसे इस पम्पाकी बड़ी शोभा हो रही है। आनन्दमें निमग्न हुए ये नाना प्रकारके पक्षी मेरे सीताविषयक अनुरागको उद्दीप्त कर देते हैं; क्योंकि इनकी बोली सुनकर मुझे नूतन अवस्थावाली कमलनयनी चन्द्रमुखी प्रियतमा सीताका स्मरण हो आता है ॥ ९९-१०० ॥

पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान् मृगान्।
मां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृतम्।
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः ॥ १०१ ॥

'लक्ष्मण! देखो, पर्वतके विचित्र शिखरोंपर ये हरिण अपनी हरिणियोंके साथ विचर रहे हैं और मैं मृगनयनी सीतासे बिछुड़ गया हूँ। इधर-उधर विचरते हुए वे मृग मेरे चित्तको व्यथित किये देते हैं ॥ १०१ ॥

अस्मिन् सानुनि रम्ये हि मत्तद्विजगणाकुले।
पश्येयं यदि तां कान्तां ततः स्वस्ति भवेन्मम ॥ १०२ ॥

'मतवाले पक्षियोंसे भरे हुए इस पर्वतके रमणीय शिखरपर यदि प्राणवल्लभा सीताका दर्शन पा सकूँ तभी मेरा कल्याण होगा ॥ १०२ ॥

जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा।
सेवेत यदि वैदेही पम्पायाः पवनं शुभम् ॥ १०३ ॥

'सुमित्रानन्दन! यदि सुमध्यमा सीता मेरे साथ रहकर इस पम्पासरोवरके तटपर सुखद समीरका सेवन कर सके तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ ॥ १०३ ॥

पद्मसौगन्धिकवहं शिवं शोकविनाशनम्।
धन्या लक्ष्मण सेवन्ते पम्पाया वनमारुतम् ॥ १०४ ॥

'लक्ष्मण ! जो लोग अपनी प्रियतमाके साथ रहकर पद्म और सौगन्धिक कमलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली शीतल, मन्द एवं शोकनाशन पम्पा-वनकी वायुका सेवन करते हैं, वे धन्य हैं ॥ १०४ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया ।
कथं धारयति प्राणान् विवशा जनकात्मजा ॥१०५॥

'हाय ! वह नयी अवस्थावाली कमललोचना जनक-नन्दिनी प्रिया सीता मुझसे बिछुड़कर बेबसीकी दशामें अपने प्राणोंको कैसे धारण करती होगी ॥ १०५ ॥

किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजानं सत्यवादिनम् ।
जनकं पृष्टसीतं तं कुशलं जनसंसदि ॥१०६॥

'लक्ष्मण ! धर्मके जाननेवाले सत्यवादी राजा जनक जब जनसमुदायमें बैठकर मुझसे सीताका कुशल-समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ॥ १०६ ॥

या मामनुगता मन्दं पित्रा प्रस्थापितं वनम् ।
सीता धर्मं समास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥१०७॥

'हाय ! पिताके द्वारा वनमें भेजे जानेपर जो धर्मका आश्रय ले मेरे पीछे-पीछे यहाँ चली आयी, वह मेरी प्रिया इस समय कहाँ है ! ॥ १०७ ॥

तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये ।
या मामनुगता राज्याद् भ्रष्टं विहतचेतसम् ॥१०८॥

'लक्ष्मण ! जिसने राज्यसे वञ्चित और हताश हो जानेपर भी मेरा साथ नहीं छोड़ा—मेरा ही अनुसरण किया, उसके बिना अत्यन्त दीन होकर मैं कैसे जीवन धारण करूँगा ! ॥ १०८ ॥

तच्चार्वञ्चितपद्माक्षं सुगन्धि शुभमव्रणम् ।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मतिर्मम ॥१०९॥

'जो कमलदलके समान सुन्दर, मनोहर एवं प्रशंसनीय नेत्रोंसे सुशोभित है, जिससे मीठी-मीठी सुगन्ध निकलती रहती है, जो निर्मल तथा चेचक आदिके चिह्नसे रहित है, जनककिशोरीके उस दर्शनीय मुखको देखे बिना मेरी सुध-बुध खोयी जा रही है ॥ १०९ ॥

स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम् ।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥११०॥

'लक्ष्मण ! वैदेहीके द्वारा कभी हँसकर और कभी मुस्करा-कर कही हुई वे मधुर, हितकर एवं लाभदायक बातें जिनकी कहीं तुलना नहीं है, मुझे अब कब सुननेको मिलेंगी ? ॥११०॥

प्राप्य दुःखं वने श्यामा मां मन्मथविकर्शितम् ।
नष्टदुःखेव हृष्टेव साध्वी साध्वभ्यभाषत ॥१११॥

'सोलह वर्षकी-सी अवस्थावाली साध्वी सीता यद्यपि वनमें आकर कष्ट उठा रही थी, तथापि जब मुझे अनङ्गवेदना या मानसिक कष्टसे पीड़ित देखती, तब मानो उसका अपना सारा दुःख नष्ट हो गया हो, इस प्रकार प्रसन्न-सी होकर मेरी पीड़ा दूर करनेके लिये अच्छी-अच्छी बातें करने लगती थी ॥१११॥

किं नु वक्ष्याम्ययोध्यायां कौसल्यां हि नृपात्मज ।
क्व सा स्नुषेति पृच्छन्तीं कथं चापि मनस्विनीम् ॥११२॥

'राजकुमार ! अयोध्यामें चलनेपर जब मनस्विनी माता कौसल्या पूछेंगी कि 'मेरी बहूरानी कहाँ है ?' तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? ॥ ११२ ॥

गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
नह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥११३॥
इति रामं महात्मानं विलपन्तमनाथवत् ।
उवाच लक्ष्मणो भ्राता वचनं युक्तमव्ययम् ॥११४॥

'लक्ष्मण ! तुम जाओ, भ्रातृवत्सल भरतसे मिलो । मैं तो जनकनन्दिनी सीताके बिना जीवित नहीं रह सकता ।' इस प्रकार महात्मा श्रीरामको अनाथकी भाँति विलाप करते देख भाई लक्ष्मणने युक्तियुक्त एवं निर्दोष वाणीमें कहा—॥ ११३-११४ ॥

संस्तम्भ राम भद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम ।
नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ॥११५॥

'पुरुषोत्तम श्रीराम ! आपका भला हो । आप अपनेको सँभालिये । शोक न कीजिये । आप-जैसे पुण्यात्मा पुरुषोंकी बुद्धि उत्साहशून्य नहीं होती ॥ ११५ ॥

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने ।
अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद् वर्तिरार्द्रापि दह्यते ॥११६॥

'स्वजनोंके अवश्यम्भावी वियोगका दुःख सभीको सहना पड़ता है, इस बातको स्मरण करके अपने प्रिय जनोंके प्रति अधिक स्नेह (आसक्ति) को त्याग दीजिये; क्योंकि जल आदिसे भीगी हुई बत्ती भी अधिक स्नेह (तेल) में डुबो दी जानेपर जलने लगती है ॥ ११६ ॥

यदि गच्छति पातालं ततोऽभ्यधिकमेव वा ।
सर्वथा रावणस्तात न भविष्यति राघव ॥११७॥

'तात रघुनन्दन ! यदि रावण पातालमें या उससे भी अधिक दूर चला जाय तो भी वह अब किसी तरह जीवित नहीं रह सकता ॥ ११७ ॥

प्रवृत्तिर्लभ्यतां तावत् तस्य पापस्य रक्षसः ।
ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति ॥११८॥

'पहले उस पापी राक्षसका पता लगाइये । फिर या तो वह सीताको वापस करेगा या अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ ११८ ॥

यदि याति दितेर्गर्भं रावणं सह सीतया ।
तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद् दास्यति मैथिलीम् ॥११९॥

'रावण यदि सीताको साथ लेकर दितिके गर्भमें जाकर छिप जाय तो भी यदि मिथिलेशकुमारीको लौटा न देगा तो मैं वहाँ भी उसे मार डालूँगा ॥ ११९ ॥

स्वास्थ्यं भद्रं भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः।
अर्थो हि नष्टकार्यार्थैरयत्नेनाधिगम्यते ॥ १२० ॥

'अतः आर्य ! आप कल्याणकारी धैर्यको अपनाइये। वह दीनतापूर्ण विचार त्याग दीजिये। जिनका प्रयत्न और धन नष्ट हो गया है, वे पुरुष यदि उत्साहपूर्वक उद्योग न करें तो उन्हें उस अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १२० ॥

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात् परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ १२१ ॥

'भैया ! उत्साह ही बलवान् होता है। उत्साहसे बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं है। उत्साही पुरुषके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ १२१ ॥

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।
उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम् ॥ १२२ ॥

'जिनके हृदयमें उत्साह होता है वे पुरुष कठिन-से-कठिन कार्य आ पड़नेपर हिम्मत नहीं हारते। हमलोग केवल उत्साहका आश्रय लेकर ही जनकनन्दिनीको प्राप्त कर सकते हैं ॥ १२२ ॥

त्यजतां कामवृत्तत्वं शोकं संन्यस्य पृष्ठतः।
महात्मानं कृतात्मानमात्मानं नावबुध्यसे ॥ १२३ ॥

'शोकको पीछे छोड़कर कामीके-से व्यवहारका त्याग कीजिये। आप महात्मा एवं कृतात्मा (पवित्र अन्तःकरण-वाले) हैं। किंतु इस समय अपने आपको भूल गये हैं—अपने स्वरूपका स्मरण नहीं कर रहे हैं' ॥ १२३ ॥

एवं सम्बोधितस्तेन शोकोपहतचेतनः।
त्यज्य शोकं च मोहं च रामो धैर्यमुपागमत् ॥ १२४ ॥

लक्ष्मणके इस प्रकार समझानेपर शोकसे संतप्तचित्त हुए श्रीरामने शोक और मोहका परित्याग करके धैर्य धारण किया ॥ १२४ ॥

सोऽभ्यतिक्रामदव्यग्रस्तामचिन्त्यपराक्रमः।
रामः पम्पां सुरुचिरां रम्यां पारिप्लवद्रुमाम् ॥ १२५ ॥

तदनन्तर व्यग्रतारहित (शान्तस्वरूप) अचिन्त्य-पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी जिसके तटवर्ती वृक्ष वायुके झोंके खाकर झूम रहे थे, उस परम सुन्दर रमणीय पम्पासरोवर-को लाँघकर आगे बढ़े ॥ १२५ ॥

निरीक्षमाणः सहसा महात्मा
सर्वं वनं निर्झरकन्दरं च।
उद्विग्नचेताः सह लक्ष्मणेन
विचार्य दुःखोपहतः प्रतस्थे ॥ १२६ ॥

सीताके स्मरणसे जिनका चित्त उद्विग्न हो गया था, अत-एव जो दुःखमें डूबे हुए थे, वे महात्मा श्रीराम लक्ष्मणकी कही हुई बातोंपर विचार करके सहसा सावधान हो गये और झरनों तथा कन्दराओंसहित उस सम्पूर्ण वनका निरीक्षण करते हुए वहाँसे आगेको प्रस्थित हुए ॥ १२६ ॥

तं मत्तमातङ्गविलासगामी
गच्छन्तमव्यग्रमना महात्मा।
स लक्ष्मणो राघवमिष्टचेष्टो
ररक्ष धर्मेण बलेन चैव ॥ १२७ ॥

मतवाले हाथीके समान विलासपूर्ण गतिसे चलनेवाले शान्तचित्त महात्मा लक्ष्मण आगे-आगे चलते हुए श्रीरघुनाथ-जीकी उनके अनुकूल चेष्टा करते धर्म और बलके द्वारा रक्षा करने लगे ॥ १२७ ॥

तावृष्यमूकस्य समीपचारी
चरन् ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ।
शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी
वितत्रसे नैव विचेष्ट चेष्टाम् ॥ १२८ ॥

ऋष्यमूक पर्वतके समीप विचरनेवाले बलवान् वानरराज सुग्रीव पम्पाके निकट घूम रहे थे। उसी समय उन्होंने उन अद्भुत दर्शनीय वीर श्रीराम और लक्ष्मणको देखा। देखते ही उनके मनमें यह भय हो गया कि हो न हो इन्हें मेरे शत्रु वालीने ही भेजा होगा, फिर तो वे इतने डर गये कि खाने-पीने आदिकी भी चेष्टा न कर सके ॥ १२८ ॥

स तौ महात्मा गजमन्दगामी
शाखामृगस्तत्र चरंश्चरन्तौ।
दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम
चिन्तापरीतो भयभारभग्नः ॥ १२९ ॥

हाथीके समान मन्दगतिसे चलनेवाले महामना वानरराज सुग्रीव जो वहाँ विचर रहे थे; उस समय एक साथ आगे बढ़ते हुए उन दोनों भाइयोंको देखकर चिन्तित हो उठे। भयके भारी भारसे उनका उत्साह नष्ट हो गया। वे महान् दुःखमें पड़ गये ॥ १२९ ॥

तमाश्रमं पुण्यसुखं शरण्यं
सदैव शाखामृगसेवितान्तम्।
त्रस्ताश्च दृष्ट्वा हरयोऽभिजग्मु-
र्महौजसौ राघवलक्ष्मणौ तौ ॥ १३० ॥

मतङ्ग मुनिका वह आश्रम परम पवित्र एवं सुखदायक था। मुनिके शापसे उसमें वालीका प्रवेश होना कठिन था, इस-लिये वह दूसरे वानरोंका आश्रय बना हुआ था। उस आश्रम या वनके भीतर सदा ही अनेकानेक शाखामृग निवास करते थे। उस दिन उन महातेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मणको देखकर दूसरे-दूसरे वानर भी भयभीत हो आश्रमके भीतर चले गये ॥ १३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

सुग्रीव तथा वानरोंकी आशङ्का, हनुमान्‌जीद्वारा उसका निवारण तथा सुग्रीवका हनुमान्‌जीको श्रीराम-लक्ष्मणके पास उनका भेद लेनेके लिये भेजना

तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शङ्कितोऽभवत्॥ १ ॥

महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको श्रेष्ठ आयुध धारण किये वीर वेशमें आते देख (ऋष्यमूक पर्वतपर बैठे हुए) सुग्रीवके मनमें बड़ी शङ्का हुई ॥ १ ॥

उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन्।
न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिद् देशे वानरपुंगवः॥ २ ॥

वे उद्विग्नचित्त होकर चारों दिशाओंकी ओर देखने लगे। उस समय वानरशिरोमणि सुग्रीव किसी एक स्थानपर स्थिर न रह सके ॥ २ ॥

नैव चक्रे मनः स्थातुं वीक्षमाणो महाबलौ।
कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह॥ ३ ॥

महाबली श्रीराम और लक्ष्मणको देखते हुए सुग्रीव अपने मनको स्थिर न रख सके। उस समय अत्यन्त भयभीत हुए उन वानरराजका चित्त बहुत दुखी हो गया ॥ ३ ॥

चिन्तयित्वा स धर्मात्मा विमृश्य गुरुलाघवम्।
सुग्रीवः परमोद्विग्नः सर्वैस्तैर्वानरैः सह॥ ४ ॥

सुग्रीव धर्मात्मा थे—उन्हें राजधर्मका ज्ञान था। उन्होंने मन्त्रियोंके साथ विचारकर अपनी दुर्बलता और शत्रुपक्षकी प्रबलताका निश्चय किया। तत्पश्चात् वे समस्त वानरोंके साथ अत्यन्त उद्विग्न हो उठे ॥ ४ ॥

ततः स सचिवेभ्यस्तु सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
शशंस परमोद्विग्नः पश्यंस्तौ रामलक्ष्मणौ॥ ५ ॥

वानरराज सुग्रीवके हृदयमें बड़ा उद्वेग हो गया था। वे श्रीराम और लक्ष्मणकी ओर देखते हुए अपने मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

एतौ वनमिदं दुर्गं वालिप्रणिहितौ ध्रुवम्।
छद्मना चीरवसनौ प्रचरन्ताविहागतौ॥ ६ ॥

'निश्चय ही ये दोनों वीर वालीके भेजे हुए ही इस दुर्गम वनमें विचरते हुए यहाँ आये हैं। इन्होंने छलसे चीर वस्त्र धारण कर लिये हैं, जिससे हम इन्हें पहचान न सकें'॥

ततः सुग्रीवसचिवा दृष्ट्वा परमधन्विनौ।
जग्मुर्गिरितटात् तस्मादन्यच्छिखरमुत्तमम्॥ ७ ॥

उधर सुग्रीवके सहायक दूसरे-दूसरे वानरोंने जब उन महाधनुर्धर श्रीराम और लक्ष्मणको देखा, तब वे उस पर्वत-तटसे भागकर दूसरे उत्तम शिखरपर जा पहुँचे ॥ ७ ॥

ते क्षिप्रमभिगम्याथ यूथपा यूथपर्षभम्।
हरयो वानरश्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे॥ ८ ॥

वे यूथपति वानर शीघ्रतापूर्वक जाकर यूथपतियोंके सरदार वानरशिरोमणि सुग्रीवको चारों ओरसे घेरकर उनके पास खड़े हो गये ॥ ८ ॥

एवमेकायनगताः प्लवमाना गिरेर्गिरिम्।
प्रकम्पयन्तो वेगेन गिरीणां शिखराणि च॥ ९ ॥
ततः शाखामृगाः सर्वे प्लवमाना महाबलाः।
बभञ्जुश्च नगांस्तत्र पुष्पितान् दुर्गमाश्रितान्॥ १० ॥

इस तरह एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर उछलते-कूदते और अपने वेगसे उन पर्वत-शिखरोंको प्रकम्पित करते हुए वे समस्त महाबली वानर एक मार्गपर आ गये। उन सबने उछल-कूदकर उस समय वहाँ दुर्गम स्थानोंमें स्थित हुए पुष्पशोभित बहुसंख्यक वृक्षोंको तोड़ डाला था॥ ९-१० ॥

आप्लवन्तो हरिवराः सर्वतस्तं महागिरिम्।
मृगमार्जारशार्दूलांस्त्रासयन्तो ययुस्तदा॥ ११ ॥

उस वेलामें चारों ओरसे उस महान् पर्वतपर उछलकर आते हुए वे श्रेष्ठ वानर वहाँ रहनेवाले मृगों, बिलावों तथा व्याघ्रोंको भयभीत करते हुए जा रहे थे ॥ ११ ॥

ततः सुग्रीवसचिवाः पर्वतेन्द्रे समाहिताः।
संगम्य कपिमुख्येन सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः॥ १२ ॥

इस प्रकार सुग्रीवके सभी सचिव पर्वतराज ऋष्यमूकपर आ पहुँचे और एकाग्रचित्त हो उन वानरराजसे मिलकर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

ततस्तु भयसंत्रस्तं वालिकिल्बिषशङ्कितम्।
उवाच हनुमान् वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः॥ १३ ॥

तदनन्तर वालीसे बुराईकी आशङ्का करके सुग्रीवको भयभीत देख बातचीत करनेमें कुशल हनुमान्‌जी बोले—॥१३॥

सम्भ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान्।
मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः॥ १४ ॥

'आप सब लोग वालीके कारण होनेवाली इस भारी घबराहटको छोड़ दीजिये। यह मलयनामक श्रेष्ठ पर्वत है। यहाँ वालीसे कोई भय नहीं है ॥ १४ ॥

यस्मादुद्विग्नचेतास्त्वं विद्रुतो हरिपुङ्गव।
तं क्रूरदर्शनं क्रूरं नेह पश्यामि वालिनम्॥ १५ ॥

'वानरशिरोमणे! जिससे उद्विग्नचित्त होकर आप भागे हैं, उस क्रूर दिखायी देनेवाले निर्दय वालीको मैं यहाँ नहीं देखता हूँ ॥ १५ ॥

यस्मात् तव भयं सौम्य पूर्वजात् पापकर्मणः ।
स नेह वाली दुष्टात्मा न ते पश्याम्यहं भयम् ॥ १६ ॥

'सौम्य ! आपको अपने जिस पापाचारी बड़े भाईसे भय प्राप्त हुआ है, वह दुष्टात्मा वाली यहाँ नहीं आ सकता; अतः मुझे आपके भयका कोई कारण नहीं दिखायी देता ॥

अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम ।
लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मतौ ॥ १७ ॥

'आश्चर्य है कि इस समय आपने अपनी वानरोचित चपलताको ही प्रकट किया है । वानरप्रवर ! आपका चित्त चञ्चल है । इसलिये आप अपनेको विचार-मार्गपर स्थिर नहीं रख पाते हैं ॥ १७ ॥

बुद्धिविज्ञानसम्पन्न इङ्गितैः सर्वमाचर ।
न ह्यबुद्धिं गतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ॥ १८ ॥

'बुद्धि और विज्ञानसे सम्पन्न होकर आप दूसरोंकी चेष्टाओंके द्वारा उनका मनोभाव समझें और उसीके अनुसार सभी आवश्यक कार्य करें; क्योंकि जो राजा बुद्धि-बलका आश्रय नहीं लेता, वह सम्पूर्ण प्रजापर शासन नहीं कर सकता' ॥ १८ ॥

सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः ।
ततः शुभतरं वाक्यं हनूमन्तमुवाच ह ॥ १९ ॥

हनुमान्‌जीके मुखसे निकले हुए इन सभी श्रेष्ठ वचनोंको सुनकर सुग्रीवने उनसे बहुत ही उत्तम बात कही—॥ १९ ॥

दीर्घबाहू विशालाक्षौ शरचापासिधारिणौ ।
कस्य न स्याद् भयं दृष्ट्वा ह्येतौ सुरसुतोपमौ ॥ २० ॥

'इन दोनों वीरोंकी भुजाएँ लंबी और नेत्र बड़े-बड़े हैं । ये धनुष, बाण और तलवार धारण किये देवकुमारोंके समान शोभा पा रहे हैं । इन दोनोंको देखकर किसके मनमें भयका संचार न होगा ॥ २० ॥

वालिप्रणिहितावेव शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ ।
राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः ॥ २१ ॥

'मेरे मनमें संदेह है कि ये दोनों श्रेष्ठ पुरुष वालीके ही भेजे हुए हैं; क्योंकि राजाओंके बहुत-से मित्र होते हैं । अतः उनपर विश्वास करना उचित नहीं है ॥ २१ ॥

अरयश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छद्मचारिणः ।
विश्वस्तानामविश्वस्ताश्छिद्रेषु प्रहरन्त्यपि ॥ २२ ॥

'प्राणीमात्रको छद्मवेषमें विचरनेवाले शत्रुओंको विशेषरूपसे पहचाननेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि वे दूसरोंपर अपना विश्वास जमा लेते हैं, परंतु स्वयं किसीका विश्वास नहीं करते और अवसर पाते ही उन विश्वासी पुरुषोंपर ही प्रहार कर बैठते हैं ॥ २२ ॥

कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शिनः ।
भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः ॥ २३ ॥

'वाली इन सब कार्योंमें बड़ा कुशल है । राजालोग बहुदर्शी होते हैं—वञ्चनाके अनेक उपाय जानते हैं, इसीलिये शत्रुओंका विध्वंस कर डालते हैं । ऐसे शत्रुभूत राजाओंको प्राकृत वेशभूषावाले मनुष्यों (गुप्तचरों) द्वारा जाननेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २३ ॥

तौ त्वया प्राकृतेनेव गत्वा ज्ञेयौ प्लवङ्गम ।
इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च ॥ २४ ॥

'अतः कपिश्रेष्ठ ! तुम भी एक साधारण पुरुषकी भाँति यहाँसे जाओ और उनकी चेष्टाओंसे, रूपसे तथा बातचीतके तौर-तरीकोंसे उन दोनोंका यथार्थ परिचय प्राप्त करो ॥ २४ ॥

लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि ।
विश्वासयन् प्रशंसाभिरिङ्गितैश्च पुनः पुनः ॥ २५ ॥

'उनके मनोभावोंको समझो । यदि वे प्रसन्नचित्त जान पड़ें तो बारंबार मेरी प्रशंसा करके तथा मेरे अभिप्रायको सूचित करनेवाली चेष्टाओंद्वारा मेरे प्रति उनका विश्वास उत्पन्न करो ॥ २५ ॥

ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव ।
प्रयोजनं प्रवेशस्य वनस्यास्य धनुर्धरौ ॥ २६ ॥

'वानरशिरोमणे ! तुम मेरी ही ओर मुँह करके खड़ा होना और उन धनुर्धर वीरोंसे इस वनमें प्रवेश करनेका कारण पूछना ॥ २६ ॥

शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम ।
व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टतानयोः ॥ २७ ॥

'यदि उनका हृदय शुद्ध जान पड़े तो भी तरह-तरहकी बातों और आकृतिके द्वारा यह जाननेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये कि वे दोनों कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं आये हैं' ॥

इत्येवं कपिराजेन संदिष्टो मारुतात्मजः ।
चकार गमने बुद्धिं यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ २८ ॥

वानरराज सुग्रीवके इस प्रकार आदेश देनेपर पवनकुमार हनुमान्‌जीने उस स्थानपर जानेका विचार किया, जहाँ श्रीराम और लक्ष्मण विद्यमान थे ॥ २८ ॥

तथेति सम्पूज्य वचस्तु तस्य
कपेः सुभीतस्य दुरासदस्य ।
महानुभावो हनुमान् ययौ तदा
स यत्र रामोऽतिबली सलक्ष्मणः ॥ २९ ॥

अत्यन्त डरे हुए दुर्जय वानर सुग्रीवके उस वचनका आदर करके 'बहुत अच्छा' कहकर महानुभाव हनुमान्‌जी जहाँ अत्यन्त बलशाली श्रीराम और लक्ष्मण थे, उस स्थानके लिये तत्काल चल दिये ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

हनुमान्‌जीका श्रीराम और लक्ष्मणसे वनमें आनेका कारण पूछना और अपना तथा सुग्रीवका परिचय देना, श्रीरामका उनके वचनोंकी प्रशंसा करके लक्ष्मणको अपनी ओरसे बात करनेकी आज्ञा देना तथा लक्ष्मणद्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होनेसे हनुमान्‌जीका प्रसन्न होना

वचो विज्ञाय हनुमान् सुग्रीवस्य महात्मनः।
पर्वतादृष्यमूकात् तु पुप्लुवे यत्र राघवौ॥ १॥

महात्मा सुग्रीवके कथनका तात्पर्य समझकर हनुमान्‌जी ऋष्यमूक पर्वतसे उस स्थानकी ओर उछलते हुए चले, जहाँ वे दोनों रघुवंशी बन्धु विराजमान थे॥ १॥

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः।
भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥ २॥

पवनकुमार वानरवीर हनुमान्‌ने यह सोचकर कि मेरे इस कपिरूपपर किसीका विश्वास नहीं जम सकता, अपने उस रूपका परित्याग करके भिक्षु (सामान्य तपस्वी) का रूप धारण कर लिया॥ २॥

ततश्च हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च॥ ३॥
आबभाषे च तौ वीरौ यथावत् प्रशशंस च।
सम्पूज्य विधिवद् वीरौ हनुमान् वानरोत्तमः॥ ४॥
उवाच कामतो वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ।
राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ॥ ५॥

तदनन्तर हनुमान्‌ने विनीतभावसे उन दोनों रघुवंशी वीरोंके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली मधुर वाणीमें उनके साथ वार्तालाप आरम्भ किया। वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने पहले तो उन दोनों वीरोंकी यथोचित प्रशंसा की। फिर विधिवत् उनका पूजन (आदर) करके स्वच्छन्दरूपसे मधुर वाणीमें कहा—'वीरो! आप दोनों सत्यपराक्रमी, राजर्षियों और देवताओंके समान प्रभावशाली, तपस्वी तथा कठोर व्रतका पालन करनेवाले जान पड़ते हैं॥ ३–५॥

देशं कथमिमं प्राप्तौ भवन्तौ वरवर्णिनौ।
त्रासयन्तौ मृगगणानन्यांश्च वनचारिणः॥ ६॥
पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः।
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तरस्विनौ॥ ७॥
धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ कौ युवां चीरवाससौ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः॥ ८॥

आपके शरीरकी कान्ति बड़ी सुन्दर है। आप दोनों इस वन्य प्रदेशमें किसलिये आये हैं। वनमें विचरनेवाले मृगसमूहों तथा अन्य जीवोंको भी त्रास देते पम्पा-सरोवरके तटवर्ती वृक्षोंको सब ओरसे देखते और इस सुन्दर जलवाली नदी-सरीखी पम्पाको सुशोभित करते हुए आप दोनों वेगशाली वीर कौन हैं? आपके अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके समान प्रकाशित होती है। आप दोनों बड़े धैर्यशाली दिखायी देते हैं। आप दोनोंके अङ्गोंपर चीर वस्त्र शोभा पाता है। आप दोनों लंबी साँस खींच रहे हैं। आपकी भुजाएँ विशाल हैं। आप अपने प्रभावसे इस वनके प्राणियोंको पीड़ा दे रहे हैं। बताइये, आपका क्या परिचय है?॥ ६–८॥

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ॥ ९॥

'आप दोनों वीरोंकी दृष्टि सिंहके समान है। आपके बल और पराक्रम महान् हैं। इन्द्र-धनुषके समान महान् शरासन धारण करके आप शत्रुओंको नष्ट करनेकी शक्ति रखते हैं। ९।

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ॥ १०॥

'आप कान्तिमान् तथा रूपवान् हैं। आप विशालकाय साँड़के समान मन्दगतिसे चलते हैं। आप दोनोंकी भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान जान पड़ती हैं। आप मनुष्योंमें श्रेष्ठ और परम तेजस्वी हैं॥ १०॥

प्रभया पर्वतेन्द्रोऽसौ युवयोरवभासितः।
राज्यार्हावमरप्रख्यौ कथं देशमिहागतौ॥ ११॥

'आप दोनोंकी प्रभासे गिरिराज ऋष्यमूक जगमगा रहा है। आपलोग देवताओंके समान पराक्रमी और राज्य भोगनेके योग्य हैं। भला, इस दुर्गम वनप्रदेशमें आपका आगमन कैसे सम्भव हुआ?॥ ११॥

पद्मपत्रेक्षणौ वीरौ जटामण्डलधारिणौ।
अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिहागतौ॥ १२॥

'आपके नेत्र प्रफुल्ल कमल-दलके समान शोभा पाते हैं। आपमें वीरता भरी है। आप दोनों अपने मस्तकपर जटामण्डल धारण करते हैं और दोनों ही एक-दूसरेके समान हैं। वीरो! क्या आप देवलोकसे यहाँ पधारे हैं?॥ १२॥

यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्रसूर्यौ वसुंधराम्।
विशालवक्षसौ वीरौ मानुषौ देवरूपिणौ॥ १३॥

'आप दोनोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमा और सूर्य स्वेच्छासे ही इस भूतलपर उतर आये हैं। आपके वक्षःस्थल विशाल हैं। मनुष्य होकर भी आपके रूप देवताओंके तुल्य हैं॥ १३॥

सिंहस्कन्धौ महोत्साहौ समदाविव गोवृषौ।
आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः ॥ १४ ॥
सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः।
उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥
ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम्।

'आपके कंधे सिंहके समान हैं। आपमें महान् उत्साह भरा हुआ है। आप दोनों मदमत्त साँड़ोंके समान प्रतीत होते हैं। आपकी भुजाएँ विशाल, सुन्दर, गोल-गोल और परिघके समान सुदृढ़ हैं। ये समस्त आभूषणोंको धारण करनेके योग्य हैं तो भी आपने इन्हें विभूषित क्यों नहीं किया है? मैं तो समझता हूँ कि आप दोनों समुद्रों और वनोंसे युक्त तथा विन्ध्य और मेरु आदि पर्वतोंसे विभूषित इस सारी पृथ्वीकी रक्षा करनेके योग्य हैं ॥ १४-१५½ ॥

इमे च धनुषी चित्रे श्लक्ष्णे चित्रानुलेपने ॥ १६ ॥
प्रकाशेते यथेन्द्रस्य वज्रे हेमविभूषिते।

'आपके ये दोनों धनुष विचित्र, चिकने तथा अद्भुत अनुलेपनसे चित्रित हैं। इन्हें सुवर्णसे विभूषित किया गया है; अतः ये इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १६½ ॥

सम्पूर्णाश्च शितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः ॥ १७ ॥
जीवितान्तकरैर्घोरैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः।

'प्राणोंका अन्त कर देनेवाले सर्पोंके समान भयंकर तथा प्रकाशमान तीखे बाणोंसे भरे हुए आप दोनोंके तूणीर बड़े सुन्दर दिखायी देते हैं ॥ १७½ ॥

महाप्रमाणौ विपुलौ तप्तहाटकभूषणौ ॥ १८ ॥
खड्गावेतौ विराजेते निर्मुक्तभुजगाविव।

आपके ये दोनों खड्ग बहुत बड़े और विस्तृत हैं। इन्हें पक्के सोनेसे विभूषित किया गया है। ये दोनों केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान शोभा पाते हैं ॥ १८½ ॥

एवं मां परिभाषन्तं कस्माद् वै नाभिभाषतः ॥ १९ ॥
सुग्रीवो नाम धर्मात्मा कश्चिद् वानरपुङ्गवः।
वीरो विनिकृतो भ्रात्रा जगद् भ्रमति दुःखितः ॥ २० ॥

'वीरो! इस तरह मैं बारंबार आपका परिचय पूछ रहा हूँ, आपलोग मुझे उत्तर क्यों नहीं दे रहे हैं? यहाँ सुग्रीव नामक एक श्रेष्ठ वानर रहते हैं, जो बड़े धर्मात्मा और वीर हैं। उनके भाई वालीने उन्हें घरसे निकाल दिया है; इसलिये वे अत्यन्त दुखी होकर सारे जगत्‌में मारे-मारे फिरते हैं ॥ १९-२० ॥

प्राप्तोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना।
राज्ञा वानरमुख्यानां हनुमान् नाम वानरः ॥ २१ ॥

'उन्हीं वानरशिरोमणियोंके राजा महात्मा सुग्रीवके भेजनेसे मैं यहाँ आया हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं भी वानरजातिका ही हूँ ॥ २१ ॥

युवाभ्यां स हि धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति।
तस्य मां सचिवं वित्तं वानरं पवनात्मजम् ॥ २२ ॥
भिक्षुरूपप्रतिच्छन्नं सुग्रीवप्रियकारणात्।
ऋष्यमूकादिह प्राप्तं कामगं कामचारिणम् ॥ २३ ॥

'धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनोंसे मित्रता करना चाहते हैं। मुझे आपलोग उन्हींका मन्त्री समझें। मैं वायुदेवताका वानरजातीय पुत्र हूँ। मेरी जहाँ इच्छा हो, जा सकता हूँ और जैसा चाहूँ, रूप धारण कर सकता हूँ। इस समय सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये भिक्षुके रूपमें अपनेको छिपाकर मैं ऋष्यमूक पर्वतसे यहाँपर आया हूँ' ॥ २२-२३ ॥

एवमुक्त्वा तु हनुमांस्तौ वीरौ रामलक्ष्मणौ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलः पुनर्नोवाच किंचन ॥ २४ ॥

उन दोनों भाई वीरवर श्रीराम और लक्ष्मणसे ऐसा कहकर बातचीत करनेमें कुशल तथा बातका मर्म समझनेमें निपुण हनुमान् चुप हो गये; फिर कुछ न बोले ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
प्रहृष्टवदनः श्रीमान् भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥ २५ ॥

उनकी यह बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। वे अपने बगलमें खड़े हुए छोटे भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार कहने लगे— ॥ २५ ॥

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमिहागतः ॥ २६ ॥

'सुमित्रानन्दन! ये महामनस्वी वानरराज सुग्रीवके सचिव हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे पास आये हैं ॥ २६ ॥

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम्।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिंदमम् ॥ २७ ॥

'लक्ष्मण! इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्से जो बातके मर्मको समझनेवाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणीमें बातचीत करो ॥ २७ ॥

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥ २८ ॥

'जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम् ॥ २९ ॥

'निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकली ॥ २९ ॥

न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ ३० ॥

'सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गोंसे भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ ॥ ३० ॥

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्ययम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥ ३१ ॥

'इन्होंने थोड़ेमें ही बड़ी स्पष्टताके साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है । उसे समझनेमें कहीं कोई संदेह नहीं हुआ है । रुक-रुककर अथवा शब्दों या अक्षरोंको तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्यका उच्चारण नहीं किया है, जो सुननेमें कर्णकटु हो । इनकी वाणी हृदयमें मध्यमारूपसे स्थित है और कण्ठसे वैखरीरूपमें प्रकट होती है, अतः बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची । मध्यम स्वरमें ही इन्होंने सब बातें कही हैं ॥ ३१ ॥

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥ ३२ ॥

'ये संस्कार[1] और क्रम[2]से सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित[3] तथा हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाली कल्याणमयी वाणीका उच्चारण करते हैं ॥ ३२ ॥

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥ ३३ ॥

'हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीनों स्थानोंद्वारा स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्र वाणीको सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा । वध करनेके लिये तलवार उठाये हुए शत्रुका हृदय भी इस अद्भुत वाणीसे बदल सकता है ॥ ३३ ॥

एवंविधो यस्य दूतो न भवेत् पार्थिवस्य तु ।
सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥ ३४ ॥

'निष्पाप लक्ष्मण ! जिस राजाके पास इनके समान दूत न हो, उसके कार्योंकी सिद्धि कैसे हो सकती है ॥ ३४ ॥

एवंगुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः ।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः ॥ ३५ ॥

'जिसके कार्यसाधक दूत ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त हों, उस राजाके सभी मनोरथ दूतोंकी बातचीतसे ही सिद्ध हो जाते हैं' ॥ ३५ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिः सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
अभ्यभाषत वाक्यज्ञो वाक्यज्ञं पवनात्मजम् ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर बातचीतकी कला जाननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण बातका मर्म समझनेवाले पवनकुमार सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्‌से इस प्रकार बोले— ॥ ३६ ॥

विदिता नौ गुणा विद्वन् सुग्रीवस्य महात्मनः ।
तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ॥ ३७ ॥

'विद्वन् ! महामना सुग्रीवके गुण हमें ज्ञात हो चुके हैं । हम दोनों भाई वानरराज सुग्रीवकी ही खोजमें यहाँ आये हैं ॥ ३७ ॥

यथा ब्रवीषि हनुमन् सुग्रीववचनादिह ।
तत् तथा हि करिष्यावो वचनात् तव सत्तम ॥ ३८ ॥

'साधुशिरोमणि हनुमान्‌जी ! आप सुग्रीवके कथनानुसार यहाँ आकर जो मैत्रीकी बात चला रहे हैं, वह हमें स्वीकार है । हम आपके कहनेसे ऐसा कर सकते हैं' ॥ ३८ ॥

तत् तस्य वाक्यं निपुणं निशम्य
प्रहृष्टरूपः पवनात्मजः कपिः ।
मनः समाधाय जयोपपत्तौ
सख्यं तदा कर्तुमियेष ताभ्याम् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणके यह स्वीकृतिसूचक निपुणतायुक्त वचन सुनकर पवनकुमार कपिवर हनुमान् बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने सुग्रीवकी विजयसिद्धिमें मन लगाकर उस समय उन दोनों भाइयोंके साथ उनकी मित्रता करनेकी इच्छा की ॥ ३९ ॥

—इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

लक्ष्मणका हनुमान्‌जीसे श्रीरामके वनमें आने और सीताजीके हरे जानेका वृत्तान्त बताना तथा इस कार्यमें सुग्रीवके सहयोगकी इच्छा प्रकट करना, हनुमान्‌जीका उन्हें आश्वासन देकर उन दोनों भाइयोंको अपने साथ ले जाना

ततः प्रहृष्टो हनुमान् कृत्यवानिति तद्वचः ।
श्रुत्वा मधुरभावं च सुग्रीवं मनसा गतः ॥ १ ॥

श्रीरामजीकी बात सुनकर तथा सुग्रीवके विषयमें उनका सौम्यभाव जानकर और साथ ही यह समझकर कि इन्हें

१. व्याकरणके नियमानुकूल शुद्ध वाणीको संस्कारसम्पन्न (संस्कृत) कहते हैं ।
२. शब्दोच्चारणकी शास्त्रीय परिपाटीका नाम क्रम है ।
३. बिना रुके धाराप्रवाहरूपसे बोलना अविलम्बित कहलाता है ।

भी सुग्रीवसे कोई आवश्यक काम है, हनुमान्‌जीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मन-ही-मन सुग्रीवका स्मरण किया ॥१॥

भाव्यो राज्यागमस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
यदयं कृत्यवान् प्राप्तः कृत्यं चैतदुपागतम् ॥ २ ॥

'अब अवश्य ही महामना सुग्रीवको राज्यकी प्राप्ति होनेवाली है; क्योंकि ये महानुभाव किसी कार्य या प्रयोजनसे यहाँ आये हैं और यह कार्य सुग्रीवके ही द्वारा सिद्ध होनेवाला है' ॥ २ ॥

ततः परमसंहृष्टो हनूमान् प्लवगोत्तमः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं रामं वाक्यविशारदः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी अत्यन्त हर्षमें भरकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ ३ ॥

किमर्थं त्वं वनं घोरं पम्पाकाननमण्डितम्।
आगतः सानुजो दुर्गं नानाव्यालमृगायुतम् ॥ ४ ॥

'पम्पा-तटवर्ती काननसे सुशोभित यह वन भयंकर और दुर्गम है। इसमें नाना प्रकारके हिंसक जन्तु निवास करते हैं। आप अपने छोटे भाईके साथ यहाँ किसलिये आये हैं?' ॥४॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणो रामचोदितः।
आचचक्षे महात्मानं रामं दशरथात्मजम् ॥ ५ ॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणने दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामका इस प्रकार परिचय देना आरम्भ किया—॥ ५ ॥

राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सलः।
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन् ॥ ६ ॥

'विद्वन्! इस पृथ्वीपर दशरथ नामसे प्रसिद्ध जो धर्मानुरागी तेजस्वी राजा थे, वे सदा ही अपने धर्मके अनुसार चारों वर्णोंकी प्रजाका पालन करते थे ॥ ६ ॥

न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कंचन।
स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः ॥ ७ ॥

'इस भूतलपर उनसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था और वे भी किसीसे द्वेष नहीं रखते थे। वे समस्त प्राणियोंपर दूसरे ब्रह्माजीके समान स्नेह रखते थे ॥ ७ ॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टवानाप्तदक्षिणैः।
तस्यायं पूर्वजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥ ८ ॥

'उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। ये उन्हीं महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं। लोग इन्हें श्रीराम कहते हैं ॥ ८ ॥

शरण्यः सर्वभूतानां पितुर्निर्देशपारगः।
ज्येष्ठो दशरथस्यायं पुत्राणां गुणवत्तरः ॥ ९ ॥

'ये सब प्राणियोंको शरण देनेवाले और पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। महाराज दशरथके चारों पुत्रोंमें ये सबसे अधिक गुणवान् हैं ॥ ९ ॥

राजलक्षणसंयुक्तः संयुक्तो राज्यसम्पदा।
राज्याद् भ्रष्टो मया वस्तुं वने सार्धमिहागतः ॥ १० ॥

'ये राजाके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। जब इन्हें राज्य-सम्पत्तिसे संयुक्त किया जा रहा था, उस समय कुछ ऐसा कारण आ पड़ा, जिससे ये राज्यसे वञ्चित हो गये और वनमें निवास करनेके लिये मेरे साथ यहाँ आ गये ॥ १० ॥

भार्यया च महाभाग सीतयानुगतो वशी।
दिनक्षये महातेजाः प्रभयेव दिवाकरः ॥ ११ ॥

'महाभाग! जैसे दिनका क्षय होनेपर सायंकाल महातेजस्वी सूर्य अपने प्रभाके साथ अस्ताचलको जाते हैं, उसी प्रकार ये जितेन्द्रिय श्रीरघुनाथजी अपनी पत्नी सीताके साथ वनमें आये थे ॥ ११ ॥

अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः।
कृतज्ञस्य बहुज्ञस्य लक्ष्मणो नाम नामतः ॥ १२ ॥

'मैं इनका छोटा भाई हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है। मैं अपने कृतज्ञ और बहुज्ञ भाईके गुणोंसे आकृष्ट होकर इनका दास हो गया हूँ ॥ १२ ॥

सुखार्हस्य महार्हस्य सर्वभूतहितात्मनः।
ऐश्वर्येण विहीनस्य वनवासे रतस्य च ॥ १३ ॥
रक्षसापहृता भार्या रहिते कामरूपिणा।
तच्च न ज्ञायते रक्षः पत्नी येनास्य वा हृता ॥ १४ ॥

'सम्पूर्ण भूतोंके हितमें मन लगानेवाले, सुख भोगनेके योग्य, महापुरुषोंद्वारा पूजनीय, ऐश्वर्यसे हीन तथा वनवासमें तत्पर मेरे भाईकी पत्नीको इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले एक राक्षसने सूने आश्रमसे हर लिया। जिसने इनकी पत्नीका हरण किया है, वह राक्षस कौन है और कहाँ रहता है? इत्यादि बातोंका ठीक-ठीक पता नहीं लग रहा है ॥ १३-१४ ॥

दनुर्नाम दितेः पुत्रः शापाद् राक्षसतां गतः।
आख्यातस्तेन सुग्रीवः समर्थो वानराधिपः ॥ १५ ॥
स ज्ञास्यति महावीर्यस्तव भार्यापहारिणम्।
एवमुक्त्वा दनुः स्वर्गं भ्राजमानो दिवं गतः ॥ १६ ॥

'दनु नामक एक दैत्य था, जो शापसे राक्षसभावको प्राप्त हुआ था। उसने सुग्रीवका नाम बताया और कहा—'वानरराज सुग्रीव सामर्थ्यशाली और महान् पराक्रमी हैं। वे आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले राक्षसका पता लगा देंगे।' ऐसा कहकर तेजसे प्रकाशित होता हुआ दनु स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये आकाशमें उड़ गया ॥ १५-१६ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं याथातथ्येन पृच्छतः।
अहं चैव च रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ ॥ १७ ॥

'आपके प्रश्नके अनुसार मैंने सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। मैं और श्रीराम दोनों ही सुग्रीवकी शरणमें आये हैं ॥

एष दत्त्वा च वित्तानि प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति ॥ १८ ॥

'ये पहले बहुत-से धन-वैभवका दान करके परम उत्तम यश प्राप्त कर चुके हैं। जो पूर्वकालमें सम्पूर्ण जगत्‌के नाथ (संरक्षक) थे, वे आज सुग्रीवको अपना रक्षक बनाना चाहते हैं ॥ १८ ॥

सीता यस्य स्नुषा चासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः ।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः ॥ १९ ॥

'सीता जिनकी पुत्रवधू है, जो शरणागतपालक और धर्मवत्सल रहे हैं, उन्हीं महाराज दशरथके पुत्र शरणदाता श्रीराम आज सुग्रीवकी शरणमें आये हैं ॥ १९ ॥

सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा ।
गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः ॥ २० ॥

'जो मेरे धर्मात्मा बड़े भाई श्रीरघुनाथजी पहले सम्पूर्ण जगत्‌को शरण देनेवाले तथा शरणागतवत्सल रहे हैं, वे इस समय सुग्रीवकी शरणमें आये हैं ॥ २० ॥

यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः ।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते ॥ २१ ॥

'जिनके प्रसन्न होनेपर सदा यह सारी प्रजा प्रसन्नतासे खिल उठती थी, वे ही श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवकी प्रसन्नता चाहते हैं ॥ २१ ॥

येन सर्वगुणोपेताः पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
मानिताः सततं राज्ञा सदा दशरथेन वै ॥ २२ ॥
तस्यायं पूर्वजः पुत्रस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
सुग्रीवं वानरेन्द्रं तु रामः शरणमागतः ॥ २३ ॥

'जिन राजा दशरथने सदा अपने यहाँ आये हुए भूमण्डलके सर्वसद्‌गुणसम्पन्न समस्त राजाओंका निरन्तर सम्मान किया; उन्हींके ये त्रिभुवनविख्यात ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम आज वानरराज सुग्रीवकी शरणमें आये हैं ॥ २२-२३ ॥

शोकाभिभूते रामे तु शोकार्ते शरणं गते ।
कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं सह यूथपैः ॥ २४ ॥

'श्रीराम शोकसे अभिभूत और आर्त होकर शरणमें आये हैं। यूथपतियोंसहित सुग्रीवको इनपर कृपा करनी चाहिये ॥'

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं करुणं साश्रुपातनम् ।
हनूमान् प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २५ ॥

नेत्रोंसे आँसू बहाकर करुणाजनक स्वरमें ऐसी बातें कहते हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे कुशल वक्ता हनुमान्‌जीने इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

ईदृशा बुद्धिसम्पन्ना जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
द्रष्टव्या वानरेन्द्रेण दिष्ट्या दर्शनमागताः ॥ २६ ॥

'राजकुमारो! वानरराज सुग्रीवको आप-जैसे बुद्धिमान्, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय पुरुषोंसे मिलनेकी आवश्यकता थी। सौभाग्यकी बात है कि आपने स्वयं ही दर्शन दे दिया॥

स हि राज्याच्च विभ्रष्टः कृतवैरश्च वालिना ।
हृतदारो वने त्रस्तो भ्रात्रा विनिकृतो भृशम् ॥ २७ ॥

'वे भी राज्यसे भ्रष्ट हैं। वालीके साथ उनकी शत्रुता हो गयी है। उनकी स्त्रीका भी वालीने ही अपहरण कर लिया है तथा उस दुष्ट भाईने उन्हें घरसे निकाल दिया है, इसलिये वे अत्यन्त भयभीत होकर वनमें निवास करते हैं ॥ २७ ॥

करिष्यति स साहाय्यं युवयोर्भास्करात्मजः ।
सुग्रीवः सह चास्माभिः सीतायाः परिमार्गणे ॥ २८ ॥

'सूर्यनन्दन सुग्रीव सीताका पता लगानेमें हमारे साथ स्वयं रहकर आप दोनोंकी पूर्ण सहायता करेंगे' ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्त्वा हनुमाञ्श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।
बभाषे साधु गच्छामः सुग्रीवमिति राघवम् ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर हनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे स्निग्ध मधुर वाणीमें कहा—'अच्छा, अब हमलोग सुग्रीवके पास चलें' ॥२९॥

एवं ब्रुवन्तं धर्मात्मा हनूमन्तं स लक्ष्मणः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं प्रोवाच राघवम् ॥ ३० ॥

उस समय धर्मात्मा लक्ष्मणने उपर्युक्त बात कहनेवाले हनुमान्‌जीका यथोचित सम्मान किया और श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥ ३० ॥

कपिः कथयते हृष्टो यथायं मारुतात्मजः ।
कृत्यवान् सोऽपि सम्प्राप्तः कृतकृत्योऽसि राघव॥ ३१ ॥

'भैया रघुनन्दन! ये वानरश्रेष्ठ पवनकुमार हनुमान् अत्यन्त हर्षसे भरकर जैसी बात कह रहे हैं, उससे जान पड़ता है कि सुग्रीवको भी आपसे कुछ काम है। ऐसी दशामें आप अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझें ॥ ३१ ॥

प्रसन्नमुखवर्णश्च व्यक्तं हृष्टश्च भाषते ।
नानृतं वक्ष्यते वीरो हनूमान् मारुतात्मजः ॥ ३२ ॥

'इनके मुखकी कान्ति स्पष्टतः प्रसन्न दिखायी देती है और ये हर्षसे उत्फुल्ल होकर बातचीत करते हैं। अतः मेरा विश्वास है कि पवनपुत्र वीर हनुमान्‌जी झूठ नहीं बोलेंगे' ॥

ततः स सुमहाप्राज्ञो हनूमान् मारुतात्मजः ।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् पवनपुत्र हनुमान्‌जी उन दोनों रघुवंशी वीरोंको साथ ले सुग्रीवसे मिलनेके लिये चले ॥ ३३॥

भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः ।
पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः ॥ ३४ ॥

कपिवर हनुमान्‌ने भिक्षुरूपको त्यागकर वानररूप धारण कर लिया। वे उन दोनों वीरोंको पीठपर बिठाकर वहाँसे चल दिये ॥ ३४ ॥

स तु विपुलयशाः कपिप्रवीरः
पवनसुतः कृतकृत्यवत् प्रहृष्टः।
गिरिवरमुरुविक्रमः प्रयातः
सशुभमतिः सह रामलक्ष्मणाभ्याम्॥३५॥

महान् यशस्वी तथा शुभ विचारवाले महापराक्रमी वे कपिवीर पवनकुमार कृतकृत्य-से होकर अत्यन्त हर्षमें भर गये और श्रीराम-लक्ष्मणके साथ गिरिवर ऋष्यमूकपर जा पहुँचे॥ ३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्थः सर्गः॥ ४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ॥ ४॥

पञ्चमः सर्गः

श्रीराम और सुग्रीवकी मैत्री तथा श्रीरामद्वारा वालिवधकी प्रतिज्ञा

ऋष्यमूकात् तु हनुमान् गत्वा तं मलयं गिरिम्।
आचचक्षे तदा वीरौ कपिराजाय राघवौ॥ १॥

श्रीराम और लक्ष्मणको ऋष्यमूक पर्वतपर सुग्रीवके वास-स्थानमें बिठाकर हनुमान्‌जी वहाँसे मलयपर्वतपर गये (जो ऋष्यमूकका ही एक शिखर है) और वहाँ वानरराज सुग्रीवको उन दोनों रघुवंशी वीरोंका परिचय देते हुए इस प्रकार बोले—॥ १॥

अयं रामो महाप्राज्ञ सम्प्राप्तो दृढविक्रमः।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामोऽयं सत्यविक्रमः॥ २॥

'महाप्राज्ञ! जिनका पराक्रम अत्यन्त दृढ़ और अमोघ है, वे श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणके साथ पधारे हैं॥२॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो रामो दशरथात्मजः।
धर्मे निगदितश्चैव पितुर्निर्देशकारकः॥ ३॥

'इन श्रीरामका आविर्भाव इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है। ये महाराज दशरथके पुत्र हैं और स्वधर्मपालनके लिये संसारमें विख्यात हैं। अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये इस वनमें इनका आगमन हुआ है॥ ३॥

राजसूयाश्वमेधैश्च वह्निर्येनाभितर्पितः।
दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः॥ ४॥
तपसा सत्यवाक्येन वसुधा येन पालिता।
स्त्रीहेतोस्तस्य पुत्रोऽयं रामोऽरण्यं समागतः॥ ५॥

'जिन्होंने राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करके अग्निदेवको तृप्त किया था, ब्राह्मणोंको बहुत-सी दक्षिणाएँ बाँटी थीं और लाखों गौएँ दानमें दी थीं। जिन्होंने सत्य-भाषणपूर्वक तपके द्वारा वसुधाका पालन किया था, उन्हीं महाराज दशरथके पुत्र ये श्रीराम पिताद्वारा अपनी पत्नी कैकेयीके लिये दिये हुए वरका पालन करनेके निमित्त इस वनमें आये हैं॥ ४-५॥

तस्यास्य वसतोऽरण्ये नियतस्य महात्मनः।
रावणेन हृता भार्या स त्वां शरणमागतः॥ ६॥

'महात्मा श्रीराम मुनियोंकी भाँति नियमका पालन करते हुए दण्डकारण्यमें निवास करते थे। एक दिन रावणने आकर सूने आश्रमसे इनकी पत्नी सीताका अपहरण कर लिया। उन्हींकी खोजमें आपसे सहायता लेनेके लिये ये आपकी शरणमें आये हैं॥ ६॥

भवता सख्यकामौ तौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रगृह्य चार्चयस्वैतौ पूजनीयतमावुभौ॥ ७॥

'ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आपसे मित्रता करना चाहते हैं। आप चलकर इन्हें अपनावें और इनका यथोचित सत्कार करें; क्योंकि ये दोनों ही वीर हमलोगोंके लिये परम पूजनीय हैं'॥ ७॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं सुग्रीवो वानराधिपः।
दर्शनीयतमो भूत्वा प्रीत्योवाच च राघवम्॥ ८॥

हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर वानरराज सुग्रीव स्वेच्छासे अत्यन्त दर्शनीय रूप धारण करके श्रीरघुनाथजीके पास आये और बड़े प्रेमसे बोले—॥ ८॥

भवान् धर्मविनीतश्च सुतपाः सर्ववत्सलः।
आख्याता वायुपुत्रेण तत्त्वतो मे भवद्गुणाः॥ ९॥

'प्रभो! आप धर्मके विषयमें भलीभाँति सुशिक्षित, परम तपस्वी और सबपर दया करनेवाले हैं। पवनकुमार हनुमान्‌जीने मुझसे आपके यथार्थ गुणोंका वर्णन किया है॥ ९॥

तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो।
यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह॥ १०॥

'भगवन्! मैं वानर हूँ और आप नर। मेरे साथ जो आप मैत्री करना चाहते हैं, इसमें मेरा ही सत्कार है और मुझे ही उत्तम लाभ प्राप्त हो रहा है॥ १०॥

रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा॥ ११॥

'यदि मेरी मैत्री आपको पसंद हो तो मेरा यह हाथ फैला हुआ है। आप इसे अपने हाथमें ले लें और परस्पर मैत्रीका अटूट सम्बन्ध बना रहे—इसके लिये स्थिर मर्यादा बाँध दें'॥ ११॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम्।

सम्प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥ १२ ॥
हृष्टः सौहृदमालम्ब्य पर्यष्वजत पीडितम् ।

सुग्रीवका यह सुन्दर वचन सुनकर भगवान् श्रीरामका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपने हाथसे उनका हाथ पकड़कर दबाया और सौहार्दका आश्रय ले बड़े हर्षके साथ शोकपीड़ित सुग्रीवको छातीसे लगा लिया ॥ १२½ ॥

ततो हनूमान् संत्यज्य भिक्षुरूपमरिंदमः ॥ १३ ॥
काष्ठयोः स्वेन रूपेण जनयामास पावकम् ।

(सुग्रीवके पास जानेसे पूर्व हनुमान्‌जीने पुनः भिक्षुरूप धारण कर लिया था) श्रीराम-सुग्रीवकी मैत्रीके समय शत्रु-दमन हनुमान्‌जीने भिक्षुरूपको त्यागकर अपना स्वाभाविक रूप धारण कर लिया और दो लकड़ियोंको रगड़कर आग पैदा की ॥ १३½ ॥

दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम् ॥ १४ ॥
तयोर्मध्ये तु सुप्रीतो निदधौ सुसमाहितः ।

तत्पश्चात् उस अग्निको प्रज्वलित करके उन्होंने फूलोंद्वारा अग्निदेवका सादर पूजन किया; फिर एकाग्रचित्त हो श्रीराम और सुग्रीवके बीचमें साक्षीके रूपमें उस अग्निको प्रसन्नतापूर्वक स्थापित कर दिया ॥ १४½ ॥

ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ।

इसके बाद सुग्रीव और श्रीरामचन्द्रजीने उस प्रज्वलित अग्निकी प्रदक्षिणा की और दोनों एक-दूसरेके मित्र बन गये ॥ १५½ ॥

ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ ॥ १६ ॥
अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमभिजग्मतुः ।

इससे उन वानरराज तथा श्रीरघुनाथजी दोनोंके हृदयमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे एक-दूसरेकी ओर देखते हुए तृप्त नहीं होते थे ॥ १६½ ॥

त्वं वयस्योऽसि हृद्यो मे ह्येकं दुःखं सुखं च नौ ॥ १७ ॥
सुग्रीवो राघवं वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत् ।

उस समय सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—'आप मेरे प्रिय मित्र हैं। आजसे हम दोनोंका दुःख और सुख एक है' ॥ १७½ ॥

ततः सुपर्णबहुलां भङ्क्त्वा शाखां सुपुष्पिताम् ॥ १८ ॥
सालस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः ।

यह कहकर सुग्रीवने अधिक पत्ते और फूलोंवाली शाल-वृक्षकी एक शाखा तोड़ी और उसे बिछाकर वे श्रीरामचन्द्रजीके साथ उसपर बैठे ॥ १८½ ॥

लक्ष्मणायाथ संहृष्टो हनुमान् मारुतात्मजः ॥ १९ ॥
शाखां चन्दनवृक्षस्य ददौ परमपुष्पिताम् ।

तदनन्तर पवनपुत्र हनुमान्‌ने अत्यन्त प्रसन्न हो चन्दन-वृक्षकी एक डाली, जिसमें बहुत-से फूल लगे हुए थे, तोड़कर लक्ष्मणको बैठनेके लिये दी ॥ १९½ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ॥ २० ॥
प्रत्युवाच तदा रामं हर्षव्याकुललोचनः ।

इसके बाद हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने, जिनके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे, उस समय भगवान् श्रीरामसे स्निग्ध मधुर वाणीमें कहा—॥ २०½ ॥

अहं विनिकृतो राम चरामीह भयार्दितः ॥ २१ ॥
हृतभार्यो वने त्रस्तो दुर्गमेतदुपाश्रितः ।

'श्रीराम ! मैं घरसे निकाल दिया गया हूँ और भयसे पीड़ित होकर यहाँ विचरता हूँ। मेरी पत्नी भी मुझसे छीन ली गयी। मैंने आतङ्कित होकर वनमें इस दुर्गम पर्वतका आश्रय लिया है ॥ २१½ ॥

सोऽहं त्रस्तो वने भीतो वसाम्युद्भ्रान्तचेतनः ॥ २२ ॥
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ।

'रघुनन्दन ! मेरे बड़े भाई वालीने मुझे घरसे निकालकर मेरे साथ वैर बाँध लिया है। उसीके त्रास और भयसे उद्भ्रान्तचित्त होकर मैं इस वनमें निवास करता हूँ ॥ २२½ ॥

वालिनो मे महाभाग भयार्तस्याभयं कुरु ॥ २३ ॥
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ भयं मे न भवेद् यथा ।

'महाभाग ! वालीके भयसे पीड़ित हुए मुझ सेवकको आप अभय-दान दीजिये। काकुत्स्थ ! आपको ऐसा करना चाहिये, जिससे मेरे लिये किसी प्रकारका भय न रह जाय' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ २४ ॥
प्रत्यभाषत काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ।

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मके ज्ञाता, धर्मवत्सल, ककुत्स्थकुलभूषण तेजस्वी श्रीरामने हँसते हुए-से वहाँ सुग्रीवको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २४½ ॥

उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे ॥ २५ ॥
वालिनं तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ।

'महाकपे ! मुझे मालूम है कि मित्र उपकाररूपी फल देनेवाला होता है। मैं तुम्हारी पत्नीका अपहरण करनेवाले वालीका वध कर दूँगा ॥ २५½ ॥

अमोघाः सूर्यसंकाशा ममेमे निशिताः शराः ॥ २६ ॥
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ।
कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिभाः ॥ २७ ॥
तीक्ष्णाग्रा ऋजुपर्वाणः सरोषा भुजगा इव ।

'मेरे तूणीरमें संगृहीत हुए ये सूर्यतुल्य तेजस्वी बाण अमोघ हैं—इनका वार खाली नहीं जाता। ये बड़े वेगशाली-

हैं। इनमें कंक पक्षीके परोंके पंख लगे हुए हैं, जिनसे ये आच्छादित हैं। इनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं और गाँठें भी सीधी हैं। ये रोषमें भरे हुए सर्पोंके समान छूटते हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर चोट करते हैं। उस दुराचारी वालीपर मेरे ये बाण अवश्य गिरेंगे ॥ २६-२७½ ॥

तमद्य वालिनं पश्य तीक्ष्णैराशीविषोपमैः ॥ २८ ॥
शरैर्विनिहतं भूमौ प्रकीर्णमिव पर्वतम्।

'आज देखना, मैं अपने विषधर सर्पोंके समान तीखे बाणोंसे मारकर वालीको पृथ्वीपर गिरा दूँगा। वह इन्द्रके वज्रसे टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतके समान दिखायी देगा' ॥ २८½ ॥

स तु तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्यात्मनो हितम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः परमं वाक्यमब्रवीत् ॥ २९ ॥

अपने लिये परम हितकर वह श्रीरघुनाथजीका वचन सुनकर सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उत्तम वाणीमें बोले—॥ २९ ॥

तव प्रसादेन नृसिंह वीर
प्रियां च राज्यं च समाप्नुयामहम्।
तथा कुरु त्वं नरदेव वैरिणं
यथा न हिंस्यात् स पुनर्ममाग्रजम् ॥ ३० ॥

'वीर! पुरुषसिंह! मैं आपकी कृपासे अपनी प्यारी पत्नी तथा राज्यको प्राप्त कर सकूँ, ऐसा यत्न कीजिये। नरदेव! मेरा बड़ा भाई वैरी हो गया है। आप उसकी ऐसी अवस्था कर दें जिससे वह फिर मुझे मार न सके' ॥ ३० ॥

सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां
राजीवहेमज्वलनोपमानि।
सुग्रीवरामप्रणयप्रसङ्गे
वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति ॥ ३१ ॥

सुग्रीव और श्रीरामकी इस प्रेमपूर्ण मैत्रीके प्रसङ्गमें सीताके प्रफुल्ल कमल-जैसे, कपिराज सुग्रीवके सुवर्ण-जैसे तथा निशाचरोंके प्रज्वलित अग्नि-जैसे बायें नेत्र एक साथ ही फड़कने लगे ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको सीताजीके आभूषण दिखाना तथा श्रीरामका शोक एवं रोषपूर्ण वचन

पुनरेवाब्रवीत् प्रीतो राघवं रघुनन्दनम्।
अयमाख्याति ते राम सचिवो मन्त्रिसत्तमः ॥ १ ॥
हनुमान् यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः।

सुग्रीवने पुनः प्रसन्नतापूर्वक रघुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'श्रीराम! मेरे मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ सचिव ये हनुमान्‌जी आपके विषयमें वह सारा वृत्तान्त बता चुके हैं, जिसके कारण आपको इस निर्जन वनमें आना पड़ा है ॥ १½ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वसतश्च वने तव ॥ २ ॥
रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा।
त्वया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ॥ ३ ॥
अन्तरं प्रेप्सुना तेन हत्वा गृध्रं जटायुषम्।
भार्यावियोगजं दुःखं प्रापितस्तेन रक्षसा ॥ ४ ॥

अपने भाई लक्ष्मणके साथ जब आप वनमें निवास करते थे, उस समय राक्षस रावणने आपकी पत्नी मिथिलेश-कुमारी जनकनन्दिनी सीताको हर लिया। उस वेलामें आप उनसे अलग थे और बुद्धिमान् लक्ष्मण भी उन्हें अकेली छोड़कर चले गये थे। राक्षस इसी अवसरकी प्रतीक्षामें था। उसने गीध जटायुका वध करके रोती हुई सीताका अपहरण किया है। इस प्रकार उस राक्षसने आपको पत्नी-वियोगके कष्टमें डाल दिया है ॥ २–४ ॥

भार्यावियोगजं दुःखं नचिरात् त्वं विमोक्ष्यसे।
अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव ॥ ५ ॥

'परंतु इस पत्नी-वियोगके दुःखसे आप शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे। मैं राक्षसद्वारा हरी गयी वेदवाणीके समान आपकी पत्नीको वापस ला दूँगा ॥ ५ ॥

रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले।
अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिंदम ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन श्रीराम! आपकी भार्या सीता पातालमें हों या आकाशमें, मैं उन्हें ढूँढ़ लाकर आपकी सेवामें समर्पित कर दूँगा ॥ ६ ॥

इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव।
न शक्या सा जरयितुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥ ७ ॥
तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा।
त्यज शोकं महाबाहो तां कान्तामानयामि ते ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन! आप मेरी इस बातको सत्य मानें। महाबाहो! आपकी पत्नी जहर मिलाये हुए भोजनकी भाँति दूसरोंके लिये अग्राह्य है। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी उन्हें पचा नहीं सकते। आप शोक त्याग दीजिये। मैं आपकी प्राणवल्लभाको अवश्य ला दूँगा ॥ ७-८ ॥

अनुमानात् तु जानामि मैथिली सा न संशयः।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रक्षसा रौद्रकर्मणा ॥ ९ ॥
क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के पन्नगेन्द्रवधूर्यथा ॥ १० ॥

'एक दिन मैंने देखा, भयंकर कर्म करनेवाला कोई राक्षस किसी स्त्रीको लिये जा रहा है। मैं अनुमानसे समझता हूँ, वे मिथिलेशकुमारी सीता ही रही होंगी, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि वे टूटे हुए स्वरमें 'हा राम ! हा राम ! हा लक्ष्मण !' पुकारती हुई रो रही थीं तथा रावणकी गोदमें नागराजकी वधू (नागिन) की भाँति छटपटाती हुई प्रकाशित हो रही थीं ॥ ९-१० ॥

आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतले स्थितम्।
उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ॥ ११ ॥

'चार मन्त्रियोंसहित पाँचवाँ मैं इस शैल-शिखरपर बैठा हुआ था। मुझे देखकर देवी सीताने अपनी चादर और कई सुन्दर आभूषण ऊपरसे गिराये ॥ ११ ॥

तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव।
आनयिष्याम्यहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ॥ १२ ॥

'रघुनन्दन ! वे सब वस्तुएँ हमलोगोंने लेकर रख ली हैं। मैं अभी उन्हें लाता हूँ, आप उन्हें पहचान सकते हैं' ॥

तमब्रवीत् ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्।
आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे ॥ १३ ॥

तब श्रीरामने यह प्रिय संवाद सुनानेवाले सुग्रीवसे कहा—'सखे ! शीघ्र ले आओ, क्यों विलम्ब करते हो ?'॥१३॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम्।
प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया ॥ १४ ॥
उत्तरीयं गृहीत्वा तु स तान्याभरणानि च।
इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः ॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर सुग्रीव शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे पर्वतकी एक गहन गुफामें गये और चादर तथा वे आभूषण लेकर निकल आये। बाहर आकर वानरराजने 'लीजिये, यह देखिये' ऐसा कहकर श्रीरामको वे सारे आभूषण दिखाये ॥ १४-१५ ॥

ततो गृहीत्वा वासस्तु शुभान्याभरणानि च।
अभवद् बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमाः ॥ १६ ॥

उन वस्त्र और सुन्दर आभूषणोंको लेकर श्रीरामचन्द्रजी कुहासेसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति आँसुओंसे अवरुद्ध हो गये ॥ १६ ॥

सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः।
हा प्रियेति रुदन् धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत् क्षितौ ॥ १७ ॥

सीताके स्नेहवश बहते हुए आँसुओंसे उनका मुख और वक्षःस्थल भींगने लगे। वे 'हा प्रिये !' ऐसा कहकर रोने लगे और धैर्य छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

हृदि कृत्वा स बहुशस्तमलंकारमुत्तमम्।
निशश्वास भृशं सर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ १८ ॥

उन उत्तम आभूषणोंको बारंबार हृदयसे लगाकर वे बिलमें बैठे हुए रोषमें भरे सर्पकी भाँति जोर-जोरसे साँस लेने लगे ॥ १८ ॥

अविच्छिन्नाश्रुवेगस्तु सौमित्रिं प्रेक्ष्य पार्श्वतः।
परिदेवयितुं दीनं रामः समुपचक्रमे ॥ १९ ॥

उनके आँसुओंका वेग रुकता ही नहीं था। अपने पास खड़े हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणकी ओर देखकर श्रीराम दीनभावसे विलाप करते हुए बोले—॥ १९ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया।
उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद् भूषणानि च ॥ २० ॥

'लक्ष्मण ! देखो, राक्षसके द्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताने यह चादर और ये गहने अपने शरीरसे उतारकर पृथ्वीपर डाल दिये थे ॥ २० ॥

शाद्वलिन्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया।
उत्सृष्टं भूषणमिदं तथा रूपं हि दृश्यते ॥ २१ ॥

'निशाचरके द्वारा अपहृत होती हुई सीताके द्वारा त्यागे गये ये आभूषण निश्चय ही घासवाली भूमिपर गिरे होंगे; क्योंकि इनका रूप ज्यों-का-त्यों दिखायी देता है—ये टूटे-फूटे नहीं हैं ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ॥ २२ ॥
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण बोले—'भैया ! मैं इन बाजूबंदोंको तो नहीं जानता और न इन कुण्डलोंको ही समझ पाता हूँ कि किसके हैं; परंतु प्रतिदिन भाभीके चरणोंमें प्रणाम करनेके कारण मैं इन दोनों नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ' ॥

ततस्तु राघवो वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥
ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्ती लक्षिता त्वया।
रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणप्रिया हृता ॥ २४ ॥

तब श्रीरघुनाथजी सुग्रीवसे इस प्रकार बोले—'सुग्रीव ! तुमने तो देखा है, वह भयंकर रूपधारी राक्षस मेरी प्राणप्यारी सीताको किस दिशाकी ओर ले गया है, यह बताओ ॥ २३-२४ ॥

क्व वा वसति तद् रक्षो महद् व्यसनदं मम।
यन्निमित्तमहं सर्वान् नाशयिष्यामि राक्षसान् ॥ २५ ॥

'मुझे महान् संकट देनेवाला वह राक्षस कहाँ रहता है। मैं केवल उसीके अपराधके कारण समस्त राक्षसोंका विनाश कर डालूँगा ॥ २५ ॥

हरता मैथिलीं येन मां च रोषयता ध्रुवम्।
आत्मनो जीवितान्ताय मृत्युद्वारमपावृतम् ॥ २६ ॥

'उस राक्षसने मैथिलीका अपहरण करके मेरा रोष बढ़ाकर निश्चय ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये मौतका दरवाजा खोल दिया है ॥ २६ ॥

मम दयिततमा हृता वनाद्
रजनिचरेण विमथ्य येन सा।
कथय मम रिपुं तमद्य वै
प्लवगपते यमसंनिधिं नयामि ॥ २७ ॥

'वानरराज! जिस निशाचरने मुझे धोखेमें डालकर मेरा अपमान करके मेरी प्रियतमाका वनसे अपहरण किया है, वह मेरा घोर शत्रु है। तुम उसका पता बताओ। मैं अभी उसे यमराजके पास पहुँचाता हूँ' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामको समझाना तथा श्रीरामका सुग्रीवको उनकी कार्यसिद्धिका विश्वास दिलाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः ॥ १ ॥

श्रीरामने शोकसे पीड़ित होकर जब ऐसी बातें कहीं, तब वानरराज सुग्रीवकी आँखोंमें आँसू भर आये और वे हाथ जोड़कर अश्रुगद्गद कण्ठसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः।
सामर्थ्यं विक्रमं वापि दौष्कुलेयस्य वा कुलम् ॥ २ ॥

प्रभो! नीच कुलमें उत्पन्न हुए उस पापात्मा राक्षसका गुप्त निवासस्थान कहाँ है, उसमें कितनी शक्ति है, उसका पराक्रम कैसा है अथवा वह किस वंशका है—इन सब बातोंको मैं सर्वथा नहीं जानता ॥ २ ॥

सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिंदम।
करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

'परंतु आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं ऐसा यत्न करूँगा, जिससे मिथिलेशकुमारी सीता आपको मिल जायँ, इसलिये शत्रुदमन वीर! आप शोकका त्याग करें ॥ ३ ॥

रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम्।
तथास्मि कर्ता नचिराद् यथा प्रीतो भविष्यसि ॥ ४ ॥

'मैं आपके संतोषके लिये सैनिकोंसहित रावणका वध करके अपना ऐसा पुरुषार्थ प्रकट करूँगा, जिससे आप शीघ्र ही प्रसन्न हो जायँगे ॥ ४ ॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर।
त्वद्विधानां न सदृशमीदृशं बुद्धिलाघवम् ॥ ५ ॥

'इस तरह मनमें व्याकुलता लाना व्यर्थ है। आपके हृदयमें स्वाभाविकरूपसे जो धैर्य है, उसका स्मरण कीजिये। इस तरह बुद्धि और विचारको हल्का बना देना—उसकी सहज गम्भीरताको खो देना आप-जैसे महापुरुषोंके लिये उचित नहीं है ॥ ५ ॥

मयापि व्यसनं प्राप्तं भार्याविरहजं महत्।
नाहमेवं हि शोचामि धैर्यं न च परित्यजे ॥ ६ ॥

'मुझे भी पत्नीके विरहका महान् कष्ट प्राप्त हुआ है, परंतु मैं इस तरह शोक नहीं करता और न धैर्यको ही छोड़ता हूँ ॥ ६ ॥

नाहं तामनुशोचामि प्राकृतो वानरोऽपि सन्।
महात्मा च विनीतश्च किं पुनर्धृतिमान् महान् ॥ ७ ॥

'यद्यपि मैं एक साधारण वानर हूँ तथापि अपनी पत्नीके लिये निरन्तर शोक नहीं करता हूँ। फिर आप-जैसे महात्मा, सुशिक्षित और धैर्यवान् महापुरुष शोक न करें—इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

बाष्पमापतितं धैर्यान्निग्रहीतुं त्वमर्हसि।
मर्यादां सत्त्वयुक्तानां धृतिं नोत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ८ ॥

'आपको चाहिये कि धैर्य धारण करके इन गिरते हुए आँसुओंको रोकें। सात्त्विक पुरुषोंकी मर्यादा और धैर्यका परित्याग न करें ॥ ८ ॥

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान् नावसीदति ॥ ९ ॥

'(आत्मीयजनोंके वियोग आदिसे होनेवाले) शोकमें, आर्थिक संकटमें अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होनेपर जो अपनी बुद्धिसे दुःख-निवारणके उपायका विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, वह कष्ट नहीं भोगता है ॥ ९ ॥

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते।
स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले ॥ १० ॥

'जो मूढ़ मानव सदा घबराहटमें ही पड़ा रहता है, वह

पानीमें भारसे दबी हुई नौकाके समान शोकमें विवश होकर डूब जाता है ॥ १० ॥

एतोऽञ्जलिर्मया बद्धः प्रणयात् त्वां प्रसादये ।
पौरुषं श्रय शोकस्य नान्तरं दातुमर्हसि ॥ ११ ॥

'मैं हाथ जोड़ता हूँ। प्रेमपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि आप प्रसन्न हों और पुरुषार्थका आश्रय लें। शोकको अपने ऊपर प्रभाव डालनेका अवसर न दें ॥ ११ ॥

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम् ।
तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

'जो शोकका अनुसरण करते हैं, उन्हें सुख नहीं मिलता है और उनका तेज भी क्षीण हो जाता है; अतः आप शोक न करें ॥ १२ ॥

शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः ।
स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम् ॥ १३ ॥

'राजेन्द्र ! शोकसे आक्रान्त हुए मनुष्यके जीवनमें (उसके प्राणोंकी रक्षामें) भी संशय उपस्थित हो जाता है। इसलिये आप शोकको त्याग दें और केवल धैर्यका आश्रय लें ॥ १३ ॥

हितं वयस्यभावेन ब्रूमि नोपदिशामि ते ।
वयस्यतां पूजयन्मे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १४ ॥

'मैं मित्रताके नाते हितकी सलाह देता हूँ। आपको उपदेश नहीं दे रहा हूँ। आप मेरी मैत्रीका आदर करते हुए कदापि शोक न करें' ॥ १४ ॥

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राघवः ।
मुखमश्रुपरिक्लिन्नं वस्त्रान्तेन प्रमार्जयत् ॥ १५ ॥

सुग्रीवने जब मधुर वाणीमें इस प्रकार सान्त्वना दी, तब श्रीरघुनाथजीने आँसुओंसे भीगे हुए अपने मुखको वस्त्रके छोरसे पोंछ लिया ॥ १५ ॥

प्रकृतिस्थस्तु काकुत्स्थः सुग्रीववचनात् प्रभुः ।
सम्परिष्वज्य सुग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

सुग्रीवके वचनसे शोकका परित्याग करके स्वस्थचित्त हो ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने मित्रवर सुग्रीवको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

कर्तव्यं यद् वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च ।
अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत् त्वया ॥ १७ ॥

'सुग्रीव ! एक स्नेही और हितैषी मित्रको जो कुछ करना चाहिये, वही तुमने किया है। तुम्हारा कार्य सर्वथा उचित और तुम्हारे योग्य है ॥ १७ ॥

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे ।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः ॥ १८ ॥

'सखे ! तुम्हारे आश्वासनसे मेरी सारी चिन्ता जाती रही। अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम्हारे-जैसे बन्धुका विशेषतः ऐसे संकटके समय मिलना कठिन होता है ॥ १८ ॥

किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मैथिल्याः परिमार्गणे ।
राक्षसस्य च रौद्रस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥ १९ ॥

'परंतु तुम्हें मिथिलेशकुमारी सीता तथा रौद्ररूपधारी दुरात्मा राक्षस रावणका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १९ ॥

मया च यदनुष्ठेयं विस्रब्धेन तदुच्यताम् ।
वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं सम्पद्यते तव ॥ २० ॥

'साथ ही मुझे भी इस समय तुम्हारे लिये जो कुछ करना आवश्यक हो, उसे बिना किसी सङ्कोचके बताओ। जैसे वर्षाकालमें अच्छे खेतमें बोया हुआ बीज अवश्य फल देता है उसी प्रकार तुम्हारा सारा मनोरथ सफल होगा ॥ २० ॥

मया च यदिदं वाक्यमभिमानात् समीरितम् ।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम् ॥ २१ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! मैंने जो अभिमानपूर्वक यह वालीके वध आदि करनेकी बात कही है, इसे तुम ठीक ही समझो ॥ २१ ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपाम्यहम् ॥ २२ ॥

'मैंने पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है और भविष्यमें भी कभी असत्य नहीं बोलूँगा। इस समय जो कुछ कहा है, उसे पूर्ण करनेके लिये प्रतिज्ञा करता हूँ और तुम्हें विश्वास दिलानेके लिये सत्यकी ही शपथ खाता हूँ' ॥ २२ ॥

ततः प्रहृष्टः सुग्रीवो वानरैः सचिवैः सह ।
राघवस्य वचः श्रुत्वा प्रतिज्ञातं विशेषतः ॥ २३ ॥

श्रीरघुनाथजीकी बात, विशेषतः उनकी प्रतिज्ञा सुनकर अपने वानर-मन्त्रियोंसहित सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २३ ॥

एवमेकान्तसम्पृक्तौ ततस्तौ नरवानरौ ।
उभावन्योन्यसदृशं सुखं दुःखमभाषताम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार एकान्तमें एक दूसरेके निकट बैठे हुए वे दोनों नर और वानर (श्रीराम और सुग्रीव) ने परस्पर सुख और दुःखकी बातें कहीं, जो एक दूसरेके लिये अनुरूप थीं ॥ २४ ॥

महानुभावस्य वचो निशम्य
हरिर्नृपाणामधिपस्य तस्य ।
कृतं स मेने हरिवीरमुख्य-
स्तदा च कार्यं हृदयेन विद्वान् ॥ २५ ॥

राजाधिराज महाराज श्रीरघुनाथजीकी बात सुनकर वानर वीरोंके प्रधान विद्वान् सुग्रीवने उस समय मन-ही-मन अपने कार्यको सिद्ध हुआ ही माना ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामसे अपना दुःख निवेदन करना और श्रीरामका उन्हें आश्वासन देते हुए दोनों भाइयोंमें वैर होनेका कारण पूछना

परितुष्टस्तु सुग्रीवस्तेन वाक्येन हर्षितः।
लक्ष्मणस्याग्रजं शूरमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥

श्रीरामचन्द्रजीकी उस बातसे सुग्रीवको बड़ा संतोष हुआ। वे हर्षसे भरकर लक्ष्मणके बड़े भाई शूरवीर श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

सर्वथाहमनुग्राह्यो देवतानां न संशयः।
उपपन्नो गुणोपेतः सखा यस्य भवान् मम॥ २॥

'भगवन्! इसमें संदेह नहीं कि देवताओंकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है—मैं सर्वथा उनके अनुग्रहका पात्र हूँ; क्योंकि आप-जैसे गुणवान् महापुरुष मेरे सखा हो गये॥ २॥

शक्यं खलु भवेद् राम सहायेन त्वयानघ।
सुरराज्यमपि प्राप्तुं स्वराज्यं किमुत प्रभो॥ ३॥

'प्रभो! निष्पाप श्रीराम! आप-जैसे सहायकके सहयोगसे तो देवताओंका राज्य भी अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है; फिर अपने खोये हुए राज्यको पाना कौन बड़ी बात है॥ ३॥

सोऽहं सभाज्यो बन्धूनां सुहृदां चैव राघव।
यस्याग्निसाक्षिकं मित्रं लब्धं राघववंशजम्॥ ४॥

'रघुनन्दन! अब मैं अपने बन्धुओं और सुहृदोंके विशेष सम्मानका पात्र हो गया; क्योंकि आज रघुवंशके राजकुमार आप अग्निको साक्षी बनाकर मुझे मित्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं॥ ४॥

अहमप्यनुरूपस्ते वयस्यो ज्ञास्यसे शनैः।
न तु वक्तुं समर्थोऽहं त्वयि आत्मगतान् गुणान्॥ ५॥

'मैं भी आपके योग्य मित्र हूँ। इसका ज्ञान आपको धीरे-धीरे हो जायगा। इस समय आपके सामने मैं अपने गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ॥ ५॥

महात्मनां तु भूयिष्ठं त्वद्विधानां कृतात्मनाम्।
निश्चला भवति प्रीतिर्धैर्यमात्मवतां वर॥ ६॥

'आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! आप-जैसे पुण्यात्मा महात्माओंका प्रेम और धैर्य अधिकाधिक बढ़ता और अविचल होता है॥ ६॥

रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः॥ ७॥

'अच्छे स्वभाववाले मित्र अपने घरके सोने-चाँदी अथवा उत्तम आभूषणोंको अपने अच्छे मित्रोंके लिये अविभक्त ही मानते हैं—उन मित्रोंका अपने धनपर अपने ही समा[न] अधिकार समझते हैं॥ ७॥

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः॥ ८॥

'अतएव मित्र धनी हो या दरिद्र, सुखी हो या दुः[खी] अथवा निर्दोष हो या सदोष, वह मित्रके लिये सबसे ब[ड़ा] सहायक होता है॥ ८॥

धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥ ९॥

'अनघ! साधुपुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रे[म] देख आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये धन, सुख और देश[का] भी परित्याग कर देते हैं'॥ ९॥

तत् तथेत्यब्रवीद् रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्।
लक्ष्मणस्याग्रतो लक्ष्म्या वासवस्येव धीमतः॥ १०॥

यह सुनकर लक्ष्मी (दिव्य कान्ति) से उपलक्षि[त] श्रीरामचन्द्रजीने इन्द्रतुल्य तेजस्वी बुद्धिमान् लक्ष्मणके साम[ने] ही प्रिय वचन बोलनेवाले सुग्रीवसे कहा—'सखे! तुम्हा[री] बात बिल्कुल ठीक है'॥ १०॥

ततो रामं स्थितं दृष्ट्वा लक्ष्मणं च महाबलम्।
सुग्रीवः सर्वतश्चक्षुर्वने लोलमपातयत्॥ ११॥

तदनन्तर (दूसरे दिन) महाबली श्रीराम औ[र] लक्ष्मणको खड़ा देख सुग्रीवने वनमें चारों ओर अपन[ी] चञ्चल दृष्टि दौड़ायी॥ ११॥

स ददर्श ततः सालमविदूरे हरीश्वरः।
सुपुष्पमीषत्पत्राढ्यं भ्रमरैरुपशोभितम्॥ १२॥

उस समय वानरराजने पास ही एक सालका वृक्ष देखा जिसमें थोड़े-से ही सुन्दर पुष्प लगे हुए थे; परंतु उसमें पत्तोंकी बहुलता थी। उस वृक्षपर मँडराते हुए भौंरे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे॥ १२॥

तस्यैकां पर्णबहुलां शाखां भङ्क्त्वा सुशोभिताम्।
रामस्यास्तीर्य सुग्रीवो निषसाद सराघवः॥ १३॥

उसकी एक डाल को जिसमें अधिक पत्ते थे और जो पुष्पोंसे सुशोभित थी, सुग्रीवने तोड़ डाला और उसे श्रीरामके लिये बिछाकर वे स्वयं भी उनके साथ ही उसपर बैठ गये।

तावासीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम्।
शालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत्॥ १४॥

उन दोनोंको आसनपर विराजमान देख हनुमान्‌जीने भी सालकी एक डाल तोड़ डाली और उसपर विनयशील लक्ष्मणको बैठाया ॥ १४ ॥

सुखोपविष्टं रामं तु प्रसन्नमुदधिं यथा।
सालपुष्पावसंकीर्णे तस्मिन् गिरिवरोत्तमे ॥ १५ ॥
ततः प्रहृष्टः सुग्रीवः श्लक्ष्णया शुभया गिरा।
उवाच प्रणयाद् रामं हर्षव्याकुलिताक्षरम् ॥ १६ ॥

उस श्रेष्ठ पर्वतपर, जहाँ सब ओर सालके पुष्प बिखरे हुए थे, सुखपूर्वक बैठे हुए श्रीराम शान्त समुद्रके समान प्रसन्न दिखायी देते थे। उन्हें देखकर अत्यन्त हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने श्रीरामसे स्निग्ध एवं सुन्दर वाणीमें वार्तालाप आरम्भ किया। उस समय आनन्दातिरेकसे उनकी वाणी लड़खड़ा जाती थी—अक्षरोंका स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता था ॥ १५-१६ ॥

अहं विनिकृतो भ्रात्रा चराम्येष भयार्दितः।
ऋष्यमूकं गिरिवरं हृतभार्यः सुदुःखितः ॥ १७ ॥

'प्रभो! मेरे भाईने मुझे घरसे निकालकर मेरी स्त्रीको भी छीन लिया है। मैं उसीके भयसे अत्यन्त पीडित एवं दुखी होकर इस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूकपर विचरता रहता हूँ ॥ १७ ॥

सोऽहं त्रस्तो भये मग्नो वने सम्भ्रान्तचेतनः।
वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव ॥ १८ ॥

'मुझे बराबर उसका त्रास बना रहता है। मैं भयमें डूबा रहकर भ्रान्तचित्त हो इस वनमें भटकता फिरता हूँ। रघुनन्दन! मेरे भाई वालीने मुझे घरसे निकालनेके बाद भी मेरे साथ वैर बाँध रक्खा है ॥ १८ ॥

वालिनो मे भयार्तस्य सर्वलोकाभयंकर।
ममापि त्वमनाथस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'प्रभो! आप समस्त लोकोंको अभय देनेवाले हैं। मैं वालीके भयसे दुखी और अनाथ हूँ, अतः आपको मुझपर भी कृपा करनी चाहिये' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मवत्सलः।
प्रत्युवाच स काकुत्स्थः सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ २० ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर तेजस्वी, धर्मज्ञ एवं धर्मवत्सल भगवान् श्रीरामने उन्हें हँसते हुए-से इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २० ॥

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम्।
अद्यैव तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥ २१ ॥

'सखे! उपकार ही मित्रताका फल है और अपकार शत्रुताका लक्षण है; अतः मैं आज ही तुम्हारी स्त्रीका अपहरण करनेवाले उस वालीका वध करूँगा ॥ २१ ॥

इमे हि मे महाभाग पत्रिणस्तिग्मतेजसः।
कार्तिकेयवनोद्भूताः शरा हेमविभूषिताः ॥ २२ ॥

'महाभाग! मेरे इन बाणोंका तेज प्रचण्ड है। सुवर्ण-भूषित ये शर कार्तिकेयकी उत्पत्तिके स्थानभूत शरोंके वनमें उत्पन्न हुए हैं (इसलिये अभेद्य हैं) ॥ २२ ॥

कङ्कपत्रपरिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिभाः।
सुपर्वाणः सुतीक्ष्णाग्राः सरोषा भुजगा इव ॥ २३ ॥

'ये कंकपक्षीके परोंसे युक्त हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति अमोघ हैं। इनकी गाँठें सुन्दर और अग्रभाग तीखे हैं। ये रोषमें भरे भुजङ्गोंकी भाँति भयंकर हैं ॥ २३ ॥

वालिसंज्ञममित्रं ते भ्रातरं कृतकिल्बिषम्।
शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णमिव पर्वतम् ॥ २४ ॥

'इन बाणोंसे तुम अपने वाली नामक शत्रुको, जो भाई होकर भी तुम्हारी बुराई कर रहा है, विदीर्ण हुए पर्वतकी भाँति मरकर पृथ्वीपर पड़ा देखोगे' ॥ २४ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाहिनीपतिः।
प्रहर्षमतुलं लेभे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर वानरसेनापति सुग्रीवको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई और वे उन्हें बारंबार साधुवाद देते हुए बोले—॥ २५ ॥

राम शोकाभिभूतोऽहं शोकार्तानां भवान् गतिः।
वयस्य इति कृत्वा हि त्वय्यहं परिदेवये ॥ २६ ॥

'श्रीराम! मैं शोकसे पीडित हूँ और आप शोकाकुल प्राणियोंकी परमगति हैं। मित्र समझकर मैं आपसे अपना दुःख निवेदन करता हूँ ॥ २६ ॥

त्वं हि पाणिप्रदानेन वयस्यो मेऽग्निसाक्षिकम्।
कृतः प्राणैर्बहुमतः सत्येन च शपाम्यहम् ॥ २७ ॥

'मैंने आपके हाथमें हाथ देकर अग्निदेवके सामने आपको अपना मित्र बनाया है। इसलिये आप मुझे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। यह बात मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥ २७ ॥

वयस्य इति कृत्वा च विस्रब्धः प्रवदाम्यहम्।
दुःखमन्तर्गतं तन्मे मनो हरति नित्यशः ॥ २८ ॥

'आप मेरे मित्र हैं, इसलिये आपपर पूर्ण विश्वास करके मैं अपने भीतरका दुःख, जो सदा मेरे मनको व्याकुल किये रहता है, आपको बता रहा हूँ' ॥ २८ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पदूषितलोचनः।
बाष्पदूषितया वाचा नोच्चैः शक्नोति भाषितुम् ॥ २९ ॥

इतनी बात कहते-कहते सुग्रीवके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उनकी वाणी अश्रुगद्गद हो गयी। इसलिये वे उच्च-स्वरसे बोलनेमें समर्थ न हो सके ॥ २९ ॥

बाष्पवेगं तु सहसा नदीवेगमिवागतम्।
धारयामास धैर्येण सुग्रीवो रामसंनिधौ ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवने सहसा बढ़े हुए नदीके वेगके समान उमड़े हुए आँसुओंके वेगको श्रीरामके समीप धैर्यपूर्वक रोका ॥ ३० ॥

स निगृह्य तु तं बाष्पं प्रमृज्य नयने शुभे।
विनिःश्वस्य च तेजस्वी राघवं पुनरूचिवान् ॥ ३१ ॥

आँसुओंको रोककर अपने दोनों सुन्दर नेत्रोंको पोंछनेके पश्चात् तेजस्वी सुग्रीव पुनः लंबी साँस खींचकर श्रीरघुनाथजीसे बोले—॥ ३१ ॥

पुराहं वालिना राम राज्यात् स्वादवरोपितः।
परुषाणि च संश्राव्य निर्धूतोऽस्मि बलीयसा ॥ ३२ ॥

'श्रीराम! पहलेकी बात है। बलिष्ठ वालीने कटुवचन सुनाकर बलपूर्वक मेरा तिरस्कार किया और अपने राज्य (युवराजपद) से नीचे उतार दिया ॥ ३२ ॥

हृता भार्या च मे तेन प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
सुहृदश्च मदीया ये संयता बन्धनेषु ते ॥ ३३ ॥

'इतना ही नहीं, मेरी स्त्रीको भी, जो मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, उसने छीन लिया और जितने मेरे सुहृद् थे, उन सबको कैदमें डाल दिया ॥ ३३ ॥

यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव।
बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥ ३४ ॥

'रघुनन्दन! इसके बाद भी वह दुरात्मा वाली मेरे विनाशके लिये यत्न करता रहता है। उसके भेजे हुए बहुत-से वानरोंका मैं वध कर चुका हूँ ॥ ३४ ॥

शङ्कया त्वेतयाहं च दृष्ट्वा त्वामपि राघव।
नोपसर्पाम्यहं भीतो भये सर्वे हि बिभ्यति ॥ ३५ ॥

'रघुनाथजी! आपको भी देखकर मेरे मनमें ऐसा ही संदेह हुआ था, इसीलिये डर जानेके कारण मैं पहले आपके पास न आ सका; क्योंकि भयका अवसर आनेपर प्रायः सभी डर जाते हैं ॥ ३५ ॥

केवलं हि सहाया मे हनुमत्प्रमुखास्त्विमे।
अतोऽहं धारयाम्यद्य प्राणान् कृच्छ्रगतोऽपि सन् ॥ ३६ ॥

'केवल ये हनुमान् आदि वानर ही मेरे सहायक हैं; अतएव महान् संकटमें पड़कर भी मैं अबतक प्राण धारण करता हूँ ॥ ३६ ॥

एते हि कपयः स्निग्धा मां रक्षन्ति समन्ततः।
सह गच्छन्ति गन्तव्ये नित्यं तिष्ठन्ति चास्थिते ॥ ३७ ॥

'इन लोगोंका मुझपर स्नेह है, अतः ये सभी वानर सब ओरसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं। जहाँ जाना होता है वहाँ साथ-साथ जाते हैं और जहाँ कहीं मैं ठहर जाता हूँ वहाँ ये नित्य मेरे साथ रहते हैं ॥ ३७ ॥

संक्षेपस्त्वेष मे राम किमुक्त्वा विस्तरं हि ते।
स मे ज्येष्ठो रिपुर्भ्राता वाली विश्रुतपौरुषः ॥ ३८ ॥

'रघुनन्दन! यह मैंने संक्षेपसे अपनी हालत बतलायी है। आपके सामने विस्तारपूर्वक कहनेसे क्या लाभ? वाली मेरा ज्येष्ठ भाई है, फिर भी इस समय मेरा शत्रु हो गया है। उसका पराक्रम सर्वत्र विख्यात है ॥ ३८ ॥

तद्विनाशेऽपि मे दुःखं प्रमृष्टं स्यादनन्तरम्।
सुखं मे जीवितं चैव तद्विनाशनिबन्धनम् ॥ ३९ ॥

'(यद्यपि भाईका नाश भी दुःखका ही कारण है, तथापि) इस समय जो मेरा दुःख है, वह उसका नाश होनेपर ही मिट सकता है। मेरा सुख और जीवन उसके विनाशपर ही निर्भर है ॥ ३९ ॥

एष मे राम शोकान्तः शोकार्तेन निवेदितः।
दुःखितः सुखितो वापि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ॥ ४० ॥

'श्रीराम! यही मेरे शोकके नाशका उपाय है। मैंने शोकसे पीड़ित होनेके कारण आपसे यह बात निवेदन की है; क्योंकि मित्र दुःखमें हो या सुखमें, वह अपने मित्रकी सदा ही सहायता करता है' ॥ ४० ॥

श्रुत्वैतच्च वचो रामः सुग्रीवमिदमब्रवीत्।
किंनिमित्तमभूद् वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ४१ ॥

यह सुनकर श्रीरामने सुग्रीवसे कहा—'तुम दोनों भाइयोंमें वैर पड़नेका क्या कारण है, यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

सुखं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर।
आनन्तर्याद् विधास्यामि सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ ४२ ॥

'वानरराज! तुमलोगोंकी शत्रुताका कारण सुनकर तुम दोनोंकी प्रबलता और निर्बलताका निश्चय करके फिर तत्काल ही तुम्हें सुखी बनानेवाला उपाय करूँगा ॥ ४२ ॥

बलवान् हि ममामर्षः श्रुत्वा त्वामवमानितम्।
वर्धते हृदयोत्कम्पी प्रावृड्वेग इवाम्भसः ॥ ४३ ॥

जैसे वर्षाकालमें नदी आदिका वेग बहुत बढ़ जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे अपमानित होनेकी बात सुनकर मेरा प्रबल रोष बढ़ता जा रहा है और मेरे हृदयको कम्पित किये देता है ॥ ४३ ॥

हृष्टः कथय विस्रब्धो यावदारोप्यते धनुः।
सृष्टश्च हि मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव ॥ ४४ ॥

'मेरे धनुष चढ़ानेके पहले ही तुम अपनी सब बातें प्रसन्नतापूर्वक कह डालो; क्योंकि ज्यों ही मैंने बाण छोड़ा,

तुम्हारा शत्रु तत्काल कालके गालमें चला जायगा' ॥ ४४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रहर्षमतुलं लेभे चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४५ ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवको अपने चारों वानरोंके साथ अपार हर्ष हुआ ॥ ४५ ॥

ततः प्रहृष्टवदनः सुग्रीवो लक्ष्मणाग्रजे ।
वैरस्य कारणं तत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तदनन्तर सुग्रीवके मुखपर प्रसन्नता छा गयी और उन्होंने श्रीरामको वालीके साथ वैर होनेका यथार्थ कारण बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको वालीके साथ अपने वैर होनेका कारण बताना

**वाली नाम मम भ्राता ज्येष्ठः शत्रुनिषूदनः ।
पितुर्बहुमतो नित्यं मम चापि तथा पुरा ॥ १ ॥**

'रघुनन्दन ! वाली मेरे बड़े भाई हैं। उनमें शत्रुओंका संहार करनेकी शक्ति है। मेरे पिता ऋक्षरजा उनको बहुत मानते थे। वैरसे पहले मेरे मनमें भी उनके प्रति आदरका भाव था ॥ १ ॥

**पितुर्युपरते तस्मिञ्ज्येष्ठोऽयमिति मन्त्रिभिः ।
कपीनामीश्वरो राज्ये कृतः परमसम्मतः ॥ २ ॥**

'पिताकी मृत्युके पश्चात् मन्त्रियोंने उन्हें ज्येष्ठ समझकर वानरोंका राजा बनाया। वे सबको बड़े प्रिय थे, इसीलिये किष्किन्धाके राज्यपर प्रतिष्ठित किये गये थे ॥ २ ॥

**राज्यं प्रशासतस्तस्य पितृपैतामहं महत् ।
अहं सर्वेषु कालेषु प्रणतः प्रेष्यवत् स्थितः ॥ ३ ॥**

'वे पिता-पितामहोंके विशाल राज्यका शासन करने लगे और मैं हर समय विनीतभावसे दासकी भाँति उनकी सेवामें रहने लगा ॥ ३ ॥

**मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो दुन्दुभेः सुतः ।
तेन तस्य महद्वैरं वालिनः स्त्रीकृतं पुरा ॥ ४ ॥**

'उन दिनों मायावी नामक एक तेजस्वी दानव रहता था, जो मय दानवका पुत्र और दुन्दुभिका बड़ा भाई था। उसके साथ वालीका स्त्रीके कारण बहुत बड़ा वैर हो गया था ॥

**स तु सुप्ते जने रात्रौ किष्किन्धाद्वारमागतः ।
नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद् रणे ॥ ५ ॥**

'एक दिन आधी रातके समय जब सब लोग सो गये, मायावी किष्किन्धापुरीके दरवाजेपर आया और क्रोधसे भरकर गर्जने तथा वालीको युद्धके लिये ललकारने लगा ॥ ५ ॥

**प्रसुप्तस्तु मम भ्राता नर्दतो भैरवस्वनम् ।
श्रुत्वा न ममृषे वाली निष्पपात जवात् तदा ॥ ६ ॥**

'उस समय मेरे भाई सो रहे थे। उसका भैरवनाद सुनकर उनकी नींद खुल गयी। उनसे उस राक्षसकी ललकार सही नहीं गयी; अतः वे तत्काल वेगपूर्वक घरसे निकले ॥ ६ ॥

**स तु वै निःसृतः क्रोधात् तं हन्तुमसुरोत्तमम् ।
वार्यमाणस्ततः स्त्रीभिर्मया च प्रणतात्मना ॥ ७ ॥**

'जब वे क्रोध करके उस श्रेष्ठ असुरको मारनेके लिये निकले, उस समय मैंने तथा अन्तःपुरकी स्त्रियोंने पैरों पड़कर उन्हें जानेसे रोका ॥ ७ ॥

**स तु निर्धूय सर्वान् नो निर्जगाम महाबलः ।
ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥ ८ ॥**

'परंतु महाबली वाली हम सबको हटाकर निकल पड़े, तब मैं भी स्नेहवश वालीके साथ ही बाहर निकला ॥ ८ ॥

**स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां स दूरादवस्थितम् ।
असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम् ॥ ९ ॥**

'उस असुरने मेरे भाईको देखा तथा कुछ दूरपर खड़े हुए मेरे ऊपर भी उसकी दृष्टि पड़ी; फिर तो वह भयसे थर्रा उठा और बड़े जोरसे भागा ॥ ९ ॥

**तस्मिन् द्रवति संत्रस्ते ह्यावां द्रुततरं गतौ ।
प्रकाशोऽपि कृतो मार्गश्चन्द्रेणोद्गच्छता तदा ॥ १० ॥**

उसके भयभीत होकर भागनेपर हम दोनों भाइयोंने बड़ी तेजीके साथ उसका पीछा किया। उस समय उदित हुए चन्द्रमाने हमारे मार्गको भी प्रकाशित कर दिया था ॥ १० ॥

**स तृणैरावृतं दुर्गं धरण्या विवरं महत् ।
प्रविवेशासुरो वेगादावामासाद्य विष्ठितौ ॥ ११ ॥**

'आगे जानेपर धरतीमें एक बहुत बड़ा बिल था, जो घास-फूससे ढका हुआ था। उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था। वह असुर बड़े वेगसे उस बिलमें जा घुसा। वहाँ पहुँचकर हम दोनों ठहर गये ॥ ११ ॥

**तं प्रविष्टं रिपुं दृष्ट्वा बिलं रोषवशं गतः ।
मामुवाच ततो वाली वचनं क्षुभितेन्द्रियः ॥ १२ ॥**

'शत्रुको बिलके अंदर घुसा देख वालीके क्रोधकी सीमा न रही। उनकी सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठीं और वे मुझसे इस प्रकार बोले—॥ १२ ॥

इह तिष्ठाद्य सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः।
यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम्॥ १३॥

"सुग्रीव! जबतक मैं इस बिलके भीतर प्रवेश करके युद्धमें शत्रुको मारता हूँ, तबतक तुम आज इसके दरवाजेपर सावधानीसे खड़े रहो" ॥ १३ ॥

मया त्वेतद् वचः श्रुत्वा याचितः स परंतपः।
शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं ततः॥ १४॥

'यह बात सुनकर मैंने शत्रुओंको संताप देनेवाले वालीसे स्वयं भी साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, किंतु वे अपने चरणोंकी सौगन्ध दिलाकर अकेले ही बिलमें घुसे ॥ १४॥

तस्य प्रविष्टस्य बिलं साग्रः संवत्सरो गतः।
स्थितस्य च बिलद्वारि स कालो व्यत्यवर्तत॥ १५॥

'बिलके भीतर गये हुए उन्हें एक सालसे अधिक समय बीत गया और बिलके दरवाजेपर खड़े-खड़े मेरा भी उतना ही समय निकल गया ॥ १५ ॥

अहं तु नष्टं तं ज्ञात्वा स्नेहादागतसम्भ्रमः।
भ्रातरं न प्रपश्यामि पापशङ्कि च मे मनः॥ १६॥

'जब इतने दिनोंतक मुझे भाईका दर्शन नहीं हुआ, तब मैंने समझा कि मेरे भाई इस गुफामें ही कहीं खो गये। उस समय भ्रातृस्नेहके कारण मेरा हृदय व्याकुल हो उठा। मेरे मनमें उनके मारे जानेकी शङ्का होने लगी ॥ १६ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य बिलात् तस्माद् विनिःसृतम्।
सफेनं रुधिरं दृष्ट्वा ततोऽहं भृशदुःखितः॥ १७॥

'तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस बिलसे सहसा फेन-सहित खूनकी धारा निकली। उसे देखकर मैं बहुत दुखी हो गया ॥ १७ ॥

नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः।
न रतस्य च संग्रामे क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः॥ १८॥

'इतनेहीमें गरजते हुए असुरोंकी आवाज भी मेरे कानोंमें पड़ी। युद्धमें लगे हुए मेरे बड़े भाई भी गरजना कर रहे थे, किंतु उनकी आवाज मैं नहीं सुन सका ॥ १८ ॥

अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्।
पिधाय च बिलद्वारं शिलया गिरिमात्रया॥ १९॥

शोकार्तश्चोदकं कृत्वा किष्किन्धामागतः सखे।
गूहमानस्य मे तत् त्वं यत्नतो मन्त्रिभिः श्रुतम्॥ २०॥

'इन सब चिह्नोंको देखकर बुद्धिद्वारा विचार करनेपर मैं इस निश्चयपर पहुँचा कि मेरे बड़े भाई मारे गये। फिर तो उस गुफाके दरवाजेपर मैंने पर्वतके समान एक पत्थरकी चट्टान रख दी और उसे बंद करके भाईको जलाञ्जलि दे शोकसे व्याकुल हुआ मैं किष्किन्धापुरीमें लौट आया। सखे! यद्यपि मैं इस यथार्थ बातको छिपा रहा था, तथापि मन्त्रियोंने यत्न करके सुन लिया ॥ १९-२० ॥

ततोऽहं तैः समागम्य समेतैरभिषेचितः।
राज्यं प्रशासतस्तस्य न्यायतो मम राघव॥ २१॥
आजगाम रिपुं हत्वा दानवं स तु वानरः।
अभिषिक्तं तु मां दृष्ट्वा क्रोधात् संरक्तलोचनः॥ २२॥

'तब उन सबने मिलकर मुझे राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। रघुनन्दन! मैं न्यायपूर्वक राज्यका संचालन करने लगा। इसी समय अपने शत्रुभूत उस दानवको मारकर वानरराज वाली घर लौटे। लौटनेपर मुझे राज्यपर अभिषिक्त हुआ देख उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं ॥ २१-२२ ॥

मदीयान् मन्त्रिणो बद्ध्वा परुषं वाक्यमब्रवीत्।
निग्रहे च समर्थस्य तं पापं प्रति राघव॥ २३॥
न प्रावर्तत मे बुद्धिर्भ्रातृगौरवयन्त्रिता।

'मेरे मन्त्रियोंको उन्होंने कैद कर लिया और उन्हें कठोर बातें सुनायीं। रघुवीर! यद्यपि मैं स्वयं भी उस पापीको कैद करनेमें समर्थ था तो भी भाईके प्रति गुरुभाव होनेके कारण मेरी बुद्धिमें ऐसा विचार नहीं हुआ ॥ २३½ ॥

हत्वा शत्रुं स मे भ्राता प्रविवेश पुरं तदा॥ २४॥
मानयंस्तं महात्मानं यथावच्चाभिवादयम्।
उक्ताश्च नाशिषस्तेन प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ २५॥

'इस प्रकार शत्रुका वध करके मेरे भाईने उस समय नगरमें प्रवेश किया। उन महात्माका सम्मान करते हुए मैंने यथोचित रूपसे उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया तो भी उन्होंने प्रसन्नचित्तसे मुझे आशीर्वाद नहीं दिया ॥ २४-२५ ॥

नत्वा पादावहं तस्य मुकुटेनास्पृशं प्रभो।
अपि वाली मम क्रोधान्न प्रसादं चकार सः॥ २६॥

'प्रभो! मैंने भाईके सामने झुककर अपने मस्तकके मुकुटसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया तो भी क्रोधके कारण वाली मुझपर प्रसन्न नहीं हुए' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे नवमः सर्गः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

भाईके साथ वैरका कारण बतानेके प्रसङ्गमें सुग्रीवका वालीको मनाने और वालीद्वारा अपने निष्कासित होनेका वृत्तान्त सुनाना

ततः क्रोधसमाविष्टं संरब्धं तमुपागतम्।
अहं प्रसादयांचक्रे भ्रातरं हितकाम्यया॥ १॥

(सुग्रीव कहते हैं—) 'तदनन्तर क्रोधसे आविष्ट तथा विक्षुब्ध होकर आये हुए अपने बड़े भाईको उनके हितकी कामनासे मैं पुनः प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा॥ १॥

दिष्ट्यासि कुशली प्राप्तो निहतश्च त्वया रिपुः।
अनाथस्य हि मे नाथस्त्वमेकोऽनाथनन्दन॥ २॥

'मैंने कहा—'अनाथनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि आप सकुशल लौट आये और वह शत्रु आपके हाथसे मारा गया। मैं आपके बिना अनाथ हो रहा था। अब एकमात्र आप ही मेरे नाथ हैं॥ २॥

इदं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
छत्रं सवालव्यजनं प्रतीच्छस्व मया धृतम्॥ ३॥

''यह बहुत-सी तीलियोंसे युक्त तथा उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र मैं आपके मस्तकपर लगाता और चँवर डुलाता हूँ। आप इन्हें स्वीकार करें॥ ३॥

आर्तस्तस्य बिलद्वारि स्थितः संवत्सरं नृप।
दृष्ट्वा च शोणितं द्वारि बिलाच्चापि समुत्थितम्॥ ४॥
शोकसंविग्नहृदयो भृशं व्याकुलितेन्द्रियः।

''वानरराज! मैं बहुत दुखी होकर एक वर्षतक उस बिलके दरवाजेपर खड़ा रहा। उसके बाद बिलके भीतरसे खूनकी धारा निकली। द्वारपर वह रक्त देखकर मेरा हृदय शोकसे उद्विग्न हो उठा और मेरी सारी इन्द्रियाँ अत्यन्त व्याकुल हो गयीं॥ ४½॥

अपिधाय बिलद्वारं शैलशृङ्गेण तत् तदा॥ ५॥
तस्माद् देशादपाक्रम्य किष्किन्धां प्राविशं पुनः।

''तब उस बिलके द्वारको एक पर्वत-शिखरसे ढककर मैं उस स्थानसे हट गया और पुनः किष्किन्धापुरीमें चला आया॥

विषादात्त्विह मां दृष्ट्वा पौरैर्मन्त्रिभिरेव च॥ ६॥
अभिषिक्तो न कामेन तन्मे क्षन्तुं त्वमर्हसि।

'यहाँ विषादपूर्वक मुझे अकेला लौटा देख पुरवासियों और मन्त्रियोंने ही इस राज्यपर मेरा अभिषेक कर दिया। मैंने स्वेच्छासे इस राज्यको नहीं ग्रहण किया है। अतः अज्ञानवश होनेवाले मेरे इस अपराधको आप क्षमा करें॥ ६½॥

त्वमेव राजा मानार्हः सदा चाहं यथा पुरा॥ ७॥
राजभावे नियोगोऽयं मम त्वद्विरहात् कृतः।

''आप ही यहाँके सम्माननीय राजा हैं और मैं सदा आपका पूर्ववत् सेवक हूँ। आपके वियोगसे ही राजाके पदपर मेरी यह नियुक्ति की गयी॥ ७½॥

सामात्यपौरनगरं स्थितं निहतकण्टकम्॥ ८॥
न्यासभूतमिदं राज्यं तव निर्यातयाम्यहम्।

''मन्त्रियों, पुरवासियों तथा नगरसहित आपका यह सारा अकंटक राज्य मेरे पास धरोहरके रूपमें रक्खा था। अब इसे मैं आपकी सेवामें लौटा रहा हूँ॥ ८½॥

मां च रोषं कृथाः सौम्य मम शत्रुनिषूदन॥ ९॥
याचे त्वां शिरसा राजन् मया बद्धोऽयमञ्जलिः।

''सौम्य! शत्रुसूदन! आप मुझपर क्रोध न करें। राजन्! मैं इसके लिये मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ॥ ९½॥

बलादस्मिन् समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः॥ १०॥
राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशजिगीषया।

'मन्त्रियों तथा पुरवासियोंने मिलकर जबर्दस्ती मुझे इस राज्यपर बिठाया है। वह भी इसलिये कि राजासे रहित राज्य देखकर कोई शत्रु इसे जीतनेकी इच्छासे आक्रमण न कर बैठे'॥ १०½॥

स्निग्धमेवं ब्रुवाणं मां स विनिर्भर्त्स्य वानरः॥ ११॥
धिक्त्वामिति च मामुक्त्वा बहु तत्तदुवाच ह।

'मैंने ये सारी बातें बड़े प्रेमसे कही थीं, किंतु उस वानरने मुझे डाँटकर कहा—'तुझे धिक्कार है'। यों कहकर उसने मुझे और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनायीं॥ ११½॥

प्रकृतीश्च समानीय मन्त्रिणश्चैव सम्मतान्॥ १२॥
मामाह सुहृदां मध्ये वाक्यं परमगर्हितम्।

'तत्पश्चात् उसने प्रजाजनों और सम्मान्य मन्त्रियोंको बुलाया तथा सुहृदोंके बीचमें मेरे प्रति अत्यन्त निन्दित वचन कहा॥ १२½॥

विदितं वो मया रात्रौ मायावी स महासुरः॥ १३॥
मां समाह्वयत क्रुद्धो युद्धाकाङ्क्षी तदा पुरा।

'वह बोला—'आपलोगोंको मालूम होगा कि एक दिन रातमें मेरे साथ युद्ध करनेकी इच्छासे मायावी नामक महान् असुर यहाँ आया था। उसने क्रोधमें भरकर पहले मुझे युद्धके लिये ललकारा॥ १३½॥

तस्य तद् भाषितं श्रुत्वा निःसृतोऽहं नृपालयात्॥ १४ ॥
अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः।

'उसकी वह ललकार सुनकर मैं राजभवनसे निकल पड़ा। उस समय यह क्रूर स्वभाववाला मेरा भाई भी तुरंत ही मेरे पीछे-पीछे आया ॥ १४½ ॥

स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः ॥ १५ ॥
प्राद्रवद् भयसंत्रस्तो वीक्ष्यावां समुपागतौ।
अभिद्रुतस्तु वेगेन विवेश स महाबिलम् ॥ १६ ॥

"यद्यपि वह असुर बड़ा बलवान् था तथापि मुझे एक दूसरे सहायकके साथ देखते ही भयभीत हो उस रातमें भाग चला। हम दोनों भाइयोंको आते देख वह बड़े वेगसे दौड़ा और एक विशाल गुफामें घुस गया ॥ १५-१६ ॥

तं प्रविष्टं विदित्वा तु सुघोरं सुमहद् बिलम्।
अयमुक्तोऽथ मे भ्राता मया तु क्रूरदर्शनः ॥ १७ ॥

"उस अत्यन्त भयंकर विशाल गुफामें उस असुरको घुसा हुआ जानकर मैंने अपने इस क्रूरदर्शी भाईसे कहा—॥१७॥

अहत्वा नास्ति मे शक्तिः प्रतिगन्तुमितः पुरीम्।
बिलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम् ॥ १८ ॥

"सुग्रीव ! इस शत्रुको मारे बिना मैं यहाँसे किष्किन्धापुरीको लौट चलनेमें असमर्थ हूँ; अतः जबतक मैं इस असुरको मारकर लौटता हूँ, तबतक तुम इस गुफाके दरवाजेपर रहकर मेरी प्रतीक्षा करो' ॥ १८ ॥

स्थितोऽयमिति मत्वाहं प्रविष्टस्तु दुरासदम्।
तं मे मार्गयतस्तत्र गतः संवत्सरस्तदा ॥ १९ ॥

"ऐसा कहकर और 'यह तो यहाँ खड़ा है ही' ऐसा विश्वास करके मैं उस अत्यन्त दुर्गम गुफाके भीतर प्रविष्ट हुआ। भीतर जाकर मैं उस दानवकी खोज करने लगा और इसीमें मेरा वहाँ एक वर्षका समय व्यतीत हो गया।१९।

स तु दृष्टो मया शत्रुरनिर्वेदाद् भयावहः।
निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः ॥ २० ॥

"इसके बाद मैंने उस भयंकर शत्रुको देखा। इतने दिनोंतक उसके न मिलनेसे मेरे मनमें कोई क्लेश या उदासीनता नहीं हुई थी। मैंने उसे उसके समस्त बन्धु-बान्धवोंसहित तत्काल कालके गालमें डाल दिया ॥ २० ॥

तस्यास्यात्तु प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्बिलम्।
पूर्णमासीद् दुराक्रामं स्तनतस्तस्य भूतले ॥ २१ ॥

"उसके मुखसे और छातीसे भी भूतलपर रक्तका ऐसा प्रवाह जारी हुआ, जिससे वह सारी दुर्गम गुफा भर गयी।२१।

सूदयित्वा तु तं शत्रुं विक्रान्तं तमहं सुखम्।
निष्क्रामं नैव पश्यामि बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ २२ ॥

"इस तरह उस पराक्रमी शत्रुका सुखपूर्वक वध करके जब मैं लौटा, तब मुझे निकलनेका कोई मार्ग ही नहीं दिखायी देता था; क्योंकि बिलका दरवाजा बंद कर दिया गया था ॥ २२ ॥

विक्रोशमानस्य तु मे सुग्रीवेति पुनः पुनः।
यतः प्रतिवचो नास्ति ततोऽहं भृशदुःखितः ॥ २३ ॥

"मैंने 'सुग्रीव ! सुग्रीव !' कहकर बारंबार पुकारा, किंतु कोई उत्तर नहीं मिला। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥२३॥

पादप्रहारैस्तु मया बहुभिः परिपातितम्।
ततोऽहं तेन निष्क्रम्य पथा पुरमुपागतः ॥ २४ ॥

"मैंने बारंबार लात मारकर किसी तरह उस पत्थरको पीछेकी ओर ढकेला। इसके बाद गुफाद्वारसे निकलकर यहाँकी राह पकड़े मैं इस नगरमें लौटा हूँ ॥ २४ ॥

तत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं मृगयताऽऽत्मनः।
सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥ २५ ॥

"यह सुग्रीव ऐसा क्रूर और निर्दयी है कि इसने भ्रातृ-प्रेमको भुला दिया और सारा राज्य अपने हाथमें कर लेनेके लिये मुझे उस गुफाके अंदर बंद कर दिया था' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः।
तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः ॥ २६ ॥

'ऐसा कहकर वानरराज वालीने निर्भयतापूर्वक मुझे घरसे निकाल दिया। उस समय मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र रह गया था ॥ २६ ॥

तेनाहमपविद्धश्च हृतदारश्च राघव।
तद्भयाच्च महीं सर्वां क्रान्तवान् सवनार्णवाम् ॥ २७ ॥
ऋष्यमूकं गिरिवरं भार्याहरणदुःखितः।
प्रविष्टोऽस्मि दुराधर्षं वालिनः कारणान्तरे ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! उसने मुझे घरसे तो निकाल ही दिया, मेरी स्त्रीको भी छीन लिया। उसके भयसे मैं वनों और समुद्रों-सहित सारी पृथ्वीपर मारा-मारा फिरता रहा। अन्ततोगत्वा मैं भार्याहरणके दुःखसे दुखी हो इस श्रेष्ठ पर्वत ऋष्यमूकपर चला आया; क्योंकि एक विशेष कारणवश वालीके लिये इस स्थानपर आक्रमण करना बहुत कठिन है ॥ २७-२८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं वैरानुकथनं महत्।
अनागसा मया प्राप्तं व्यसनं पश्य राघव ॥ २९ ॥

'रघुनाथजी ! यही वालीके साथ मेरे वैर पड़नेकी विस्तृत कथा है। यह सब मैंने आपको सुना दी। देखिये, बिना अपराधके ही मुझे यह सब संकट भोगना पड़ता है ॥ २९ ॥

वालिनश्च भयात् तस्य सर्वलोकभयापह।
कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ॥ ३० ॥

'वीरवर ! आप सम्पूर्ण जगत्‌का भय दूर करनेवाले हैं। मुझपर कृपा कीजिये और वालीका दमन करके मुझे उसके भयसे बचाइये' ॥ ३० ॥

एवमुक्तः स तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम्।
वचनं वक्तुमारेभे सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ ३१ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मके ज्ञाता परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीने उनसे हँसते हुए-से यह धर्मयुक्त वचन कहना आरम्भ किया—॥ ३१ ॥

अमोघाः सूर्यसंकाशा निशिता मे शरा इमे।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते पतिष्यन्ति रुषान्विताः ॥ ३२ ॥

'मित्र ! ये मेरे सूर्यके समान तेजस्वी तीखे बाण अमोघ हैं, जो दुराचारी वालीपर रोषपूर्वक पड़ेंगे ॥ ३२ ॥

यावत् तं नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्।
तावत् स जीवेत् पापात्मा वाली चारित्रदूषकः॥ ३३ ॥

'जबतक तुम्हारी भार्याका अपहरण करनेवाले उस वानरको मैं अपने सामने नहीं देखता हूँ, तबतक सदाचारको कलंकित करनेवाला वह पापात्मा वाली जीवन धारण कर ले ॥ ३३ ॥

आत्मानुमानात् पश्यामि मग्नस्त्वं शोकसागरे।
त्वामहं तारयिष्यामि बाढं प्राप्स्यसि पुष्कलम् ॥ ३४ ॥

'मैं अपने ही अनुमानसे समझता हूँ कि तुम शोकके समुद्रमें डूबे हुए हो। मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा। तुम अपनी पत्नी तथा विशाल राज्यको भी अवश्य प्राप्त कर लोगे' ॥ ३४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः सुमहद्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

श्रीरामका यह वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला था। उसे सुनकर सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कहने लगे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

सुग्रीवके द्वारा वालीके पराक्रमका वर्णन—वालीका दुन्दुभि दैत्यको मारकर उसकी लाशको मतङ्गवनमें फेंकना, मतङ्गमुनिका वालीको शाप देना, श्रीरामका दुन्दुभिके अस्थिसमूहको दूर फेंकना और सुग्रीवका उनसे साल-भेदनके लिये आग्रह करना

रामस्य वचनं श्रुत्वा हर्षपौरुषवर्धनम्।
सुग्रीवः पूजयांचक्रे राघवं प्रशशंस च ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका वचन हर्ष और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला था, उसे सुनकर सुग्रीवने उसके प्रति अपना आदर प्रकट किया और श्रीरघुनाथजीकी इस प्रकार प्रशंसा की—॥ १ ॥

असंशयं प्रज्वलितैस्तीक्ष्णैर्मर्मातिगैः शरैः।
त्वं दहेः कुपितो लोकान् युगान्त इव भास्करः ॥ २ ॥

'प्रभो ! आपके बाण प्रज्वलित, तीक्ष्ण एवं मर्मभेदी हैं। यदि आप कुपित हो जायँ तो इनके द्वारा प्रलयकालके सूर्यकी भाँति समस्त लोकोंको भस्म कर सकते हैं। इसमें संशयकी बात नहीं है ॥ २ ॥

वालिनः पौरुषं यत्तद् यच्च वीर्यं धृतिश्च या।
तन्ममैकमनाः श्रुत्वा विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ३ ॥

'परंतु वालीका जैसा पुरुषार्थ है, जो बल है और जैसा धैर्य है, वह सब एकचित्त होकर सुन लीजिये। उसके बाद जैसा उचित हो, कीजियेगा ॥ ३ ॥

समुद्रात् पश्चिमात् पूर्वं दक्षिणादपि चोत्तरम्।
क्रामत्यनुदिते सूर्ये वाली व्यपगतक्लमः ॥ ४ ॥

'वाली सूर्योदयके पहले ही पश्चिम समुद्रसे पूर्व समुद्रतक और दक्षिण सागरसे उत्तरतक घूम आता है; फिर भी वह थकता नहीं है ॥ ४ ॥

अग्राण्यारुह्य शैलानां शिखराणि महान्त्यपि।
ऊर्ध्वमुत्पात्य तरसा प्रतिगृह्णाति वीर्यवान् ॥ ५ ॥

'पराक्रमी वाली पर्वतोंकी चोटियोंपर चढ़कर बड़े-बड़े शिखरोंको बलपूर्वक उठा लेता और ऊपरको उछालकर फिर उन्हें हाथोंसे थाम लेता है ॥ ५ ॥

बहवः सारवन्तश्च वनेषु विविधा द्रुमाः।
वालिना तरसा भग्ना बलं प्रथयताऽऽत्मनः ॥ ६ ॥

'वनोंमें नाना प्रकारके जो बहुत-से सुदृढ़ वृक्ष थे, उन्हें अपने बलको प्रकट करते हुए वालीने वेगपूर्वक तोड़ डाला है ॥ ६ ॥

महिषो दुन्दुभिर्नाम कैलासशिखरप्रभः।
बलं नागसहस्रस्य धारयामास वीर्यवान्॥ ७॥

'पहलेकी बात है, यहाँ एक दुन्दुभि नामक असुर रहता था, जो भैंसेके रूपमें दिखायी देता था। वह ऊँचाईमें कैलास पर्वतके समान जान पड़ता था। पराक्रमी दुन्दुभि अपने शरीरमें एक हजार हाथियोंका बल रखता था॥ ७॥

स वीर्योत्सेकदुष्टात्मा वरदानेन मोहितः।
जगाम स महाकायः समुद्रं सरितां पतिम्॥ ८॥

'बलके घमंडमें भरा हुआ वह विशालकाय दुष्टात्मा दानव अपनेको मिले हुए वरदानसे मोहित हो सरिताओंके स्वामी समुद्रके पास गया॥ ८॥

ऊर्मिमन्तमतिक्रम्य सागरं रत्नसंचयम्।
मम युद्धं प्रयच्छेति तमुवाच महार्णवम्॥ ९॥

'जिसमें उत्ताल तरङ्गें उठ रही थीं तथा जो रत्नोंकी निधि है, उस महान् जलराशिसे परिपूर्ण समुद्रको लाँघकर—उसे कुछ भी न समझकर दुन्दुभिने उसके अधिष्ठाता देवतासे कहा—'मुझे अपने साथ युद्धका अवसर दो'॥ ९॥

ततः समुद्रो धर्मात्मा समुत्थाय महाबलः।
अब्रवीद् वचनं राजन्नसुरं कालचोदितम्॥ १०॥

'राजन्! उस समय महान् बलशाली धर्मात्मा समुद्र उस कालप्रेरित असुरसे इस प्रकार बोला—॥ १०॥

समर्थो नास्मि ते दातुं युद्धं युद्धविशारद।
श्रूयतां त्वभिधास्यामि यस्ते युद्धं प्रदास्यति॥ ११॥

''युद्धविशारद वीर! मैं तुम्हें युद्धका अवसर देने—तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हूँ। जो तुम्हें युद्ध प्रदान करेगा, उसका नाम बतलाता हूँ, सुनो॥ ११॥

शैलराजो महारण्ये तपस्विशरणं परम्।
शंकरश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः॥ १२॥
महाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दरनिर्झरः।
स समर्थस्तव प्रीतिमतुलां कर्तुमर्हति॥ १३॥

''विशाल वनमें जो पर्वतोंका राजा और भगवान् शंकरका श्वशुर है, तपस्वी जनोंका सबसे बड़ा आश्रय और संसारमें हिमवान् नामसे विख्यात है, जहाँसे जलके बड़े-बड़े स्रोत प्रकट हुए हैं तथा जहाँ बहुत-सी कन्दराएँ और झरने हैं, वह गिरिराज हिमालय ही तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें समर्थ है। वह तुम्हें अनुपम प्रीति प्रदान कर सकता है'॥ १२-१३॥

तं भीतमिति विज्ञाय समुद्रमसुरोत्तमः।
हिमवद्वनमागम्य शरश्चापादिव च्युतः॥ १४॥
ततस्तस्य गिरेः श्वेता गजेन्द्रप्रतिमाः शिलाः।
चिक्षेप बहुधा भूमौ दुन्दुभिर्विननाद च॥ १५॥

'यह सुनकर असुरशिरोमणि दुन्दुभि समुद्रको डरा हुआ जान धनुषसे छूटे हुए बाणकी भाँति तुरंत हिमालयके वनमें जा पहुँचा और उस पर्वतकी गजराजोंके समान विशाल श्वेत शिलाओंको बारंबार भूमिपर फेंकने और गर्जना करने लगा॥ १४-१५॥

ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः।
हिमवानब्रवीद् वाक्यं स्व एव शिखरे स्थितः॥ १६॥

'तब श्वेत बादलके समान आकार धारण किये सौम्य स्वभाववाले हिमवान् वहाँ प्रकट हुए। उनकी आकृति प्रसन्नताको बढ़ानेवाली थी। वे अपने ही शिखरपर खड़े होकर बोले—॥ १६॥

क्लेष्टुमर्हसि मां न त्वं दुन्दुभे धर्मवत्सल।
रणकर्मस्वकुशलस्तपस्विशरणो ह्यहम्॥ १७॥

''धर्मवत्सल दुन्दुभे! तुम मुझे क्लेश न दो। मैं युद्धकर्ममें कुशल नहीं हूँ। मैं तो केवल तपस्वी जनोंका निवासस्थान हूँ'॥ १७॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य धीमतः।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् संरक्तलोचनः॥ १८॥

'बुद्धिमान् गिरिराज हिमालयकी यह बात सुनकर दुन्दुभिके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वह इस प्रकार बोला—॥ १८॥

यदि युद्धेऽसमर्थस्त्वं मद्भयाद् वा निरुद्यमः।
तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे यो हि युद्धं युयुत्सतः॥ १९॥

'यदि तुम युद्ध करनेमें असमर्थ हो अथवा मेरे भयसे ही युद्धकी चेष्टासे विरत हो गये हो तो मुझे उस वीरका नाम बताओ, जो युद्धकी इच्छा रखनेवाले मुझको अपने साथ युद्ध करनेका अवसर दे'॥ १९॥

हिमवानब्रवीद् वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः।
अनुक्तपूर्वं धर्मात्मा क्रोधात् तमसुरोत्तमम्॥ २०॥

'उसकी यह बात सुनकर बातचीतमें कुशल धर्मात्मा हिमवान्ने श्रेष्ठ असुरसे, जिसके लिये पहले किसीने किसी प्रतिद्वन्द्वी योद्धाका नाम नहीं बताया था, क्रोधपूर्वक कहा—॥ २०॥

वाली नाम महाप्राज्ञः शक्रपुत्रः प्रतापवान्।
अध्यास्ते वानरः श्रीमान् किष्किन्धामतुलप्रभाम्।२१।

''महाप्राज्ञ दानवराज! वाली नामसे प्रसिद्ध एक परम तेजस्वी और प्रतापी वानर हैं, जो देवराज इन्द्रके पुत्र हैं और अनुपम शोभासे पूर्ण किष्किन्धानामक पुरीमें निवास करते हैं॥ २१॥

स समर्थो महाप्राज्ञस्तव युद्धविशारदः ।
द्वन्द्वयुद्धं स दातुं ते नमुचेरिव वासवः ॥ २२ ॥

"वे बड़े बुद्धिमान् और युद्धकी कलामें निपुण हैं । वे ही तुमसे जूझनेमें समर्थ हैं । जैसे इन्द्रने नमुचिको युद्धका अवसर दिया था, उसी प्रकार वाली तुम्हें द्वन्द्वयुद्ध प्रदान कर सकते हैं ॥ २२ ॥

तं शीघ्रमभिगच्छ त्वं यदि युद्धमिहेच्छसि ।
स हि दुर्धर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि ॥ २३ ॥

"यदि तुम यहाँ युद्ध चाहते हो तो शीघ्र चले जाओ; क्योंकि वालीके लिये किसी शत्रुकी ललकारको सह सकना बहुत कठिन है । वे युद्धकर्ममें सदा शूरता प्रकट करनेवाले हैं"॥

श्रुत्वा हिमवतो वाक्यं कोपाविष्टः स दुन्दुभिः ।
जगाम तां पुरीं तस्य किष्किन्धां वालिनस्तदा ॥ २४ ॥

'हिमवान्की बात सुनकर क्रोधसे भरा हुआ दुन्दुभि तत्काल वालीकी किष्किन्धापुरीमें जा पहुँचा ॥ २४ ॥

धारयन् माहिषं रूपं तीक्ष्णशृङ्गो भयावहः ।
प्रावृषीव महामेघस्तोयपूर्णो नभस्तले ॥ २५ ॥

'उसने भैंसेका-सा रूप धारण कर रक्खा था । उसके सींग बड़े तीखे थे । वह बड़ा भयंकर था और वर्षाकालके आकाशमें छाये हुए जलसे भरे महान् मेघके समान जान पड़ता था ॥ २५ ॥

ततस्तु द्वारमागम्य किष्किन्धाया महाबलः ।
ननर्द कम्पयन् भूमिं दुन्दुभिर्दुन्दुभिर्यथा ॥ २६ ॥

'वह महाबली दुन्दुभि किष्किन्धापुरीके द्वारपर आकर भूमिको कँपाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा, मानो दुन्दुभिका गम्भीर नाद हो रहा हो ॥ २६ ॥

समीपजान् द्रुमान् भञ्जन् वसुधां दारयन् खुरैः ।
विषाणेनोल्लिखन् दर्पात् तद्द्वारं द्विरदो यथा ॥ २७ ॥

'वह आसपासके वृक्षोंको तोड़ता, धरतीको खुरोंसे खोदता और घमंडमें आकर पुरीके दरवाजेको सींगोंसे खरोंचता हुआ युद्धके लिये डट गया ॥ २७ ॥

अन्तःपुरगतो वाली श्रुत्वा शब्दममर्षणः ।
निष्पपात सह स्त्रीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ॥ २८ ॥

'वाली उस समय अन्तःपुरमें था । उस दानवकी गर्जना सुनकर वह अमर्षसे भर गया और तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति स्त्रियोंसे घिरा हुआ नगरके बाहर निकल आया ॥ २८ ॥

मितं व्यक्ताक्षरपदं तमुवाच स दुन्दुभिम् ।
हरीणामीश्वरो वाली सर्वेषां वनचारिणाम् ॥ २९ ॥

'समस्त वनचारी वानरोंके राजा वालीने वहाँ सुस्पष्ट अक्षरों तथा पदोंसे युक्त परिमित वाणीमें उस दुन्दुभिसे कहा—॥ २९ ॥

किमर्थं नगरद्वारमिदं रुद्ध्वा विनर्दसे ।
दुन्दुभे विदितो मेऽसि रक्ष प्राणान् महाबल ॥ ३० ॥

'महाबली दुन्दुभे ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ । तुम इस नगरद्वारको रोककर क्यों गरज रहे हो ? अपने प्राणोंकी रक्षा करो' ॥ ३० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
उवाच दुन्दुभिर्वाक्यं क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥ ३१ ॥

'बुद्धिमान् वानरराज वालीका यह वचन सुनकर दुन्दुभिकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं । वह उससे इस प्रकार बोला—॥ ३१ ॥

न त्वं स्त्रीसंनिधौ वीर वचनं वक्तुमर्हसि ।
मम युद्धं प्रयच्छाद्य ततो ज्ञास्यामि ते बलम् ॥ ३२ ॥

"वीर ! तुम्हें स्त्रियोंके समीप ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । मुझे युद्धका अवसर दो, तब मैं तुम्हारा बल समझूँगा ॥ ३२ ॥

अथवा धारयिष्यामि क्रोधमद्य निशामिमाम् ।
गृह्यतामुदयः स्वैरं कामभोगेषु वानर ॥ ३३ ॥

"अथवा वानर ! मैं आजकी रातमें अपने क्रोधको रोके रहूँगा । तुम स्वेच्छानुसार कामभोगके लिये सूर्योदयतक समय मुझसे ले लो ॥ ३३ ॥

दीयतां सम्प्रदानं च परिष्वज्य च वानरान् ।
सर्वशाखामृगेन्द्रस्त्वं संसादय सुहृज्जनम् ॥ ३४ ॥

"वानरोंको हृदयसे लगाकर जिसे जो कुछ देना हो दे दो; तुम समस्त कपियोंके राजा हो न ? अपने सुहृदोंसे मिल लो, सलाह कर लो ॥ ३४ ॥

सुदृष्टां कुरु किष्किन्धां कुरुष्वात्मसमं पुरे ।
क्रीडस्व च समं स्त्रीभिरहं ते दर्पशासनः ॥ ३५ ॥

"किष्किन्धापुरीको अच्छी तरह देख लो । अपने समान पुत्र आदिको इस नगरीके राज्यपर अभिषिक्त कर दो और स्त्रियोंके साथ आज जी भरकर क्रीड़ा कर लो । इसके बाद मैं तुम्हारा घमंड चूर कर दूँगा ॥ ३५ ॥

यो हि मत्तं प्रमत्तं वा भग्नं वा रहितं कृशम् ।
हन्यात् स भ्रूणहा लोके त्वद्विधं मदमोहितम् ॥ ३६ ॥

'जो मधुपानसे मत्त, प्रमत्त (असावधान), युद्धसे भगे हुए, अस्त्ररहित, दुर्बल, तुम्हारे-जैसे स्त्रियोंसे घिरे हुए तथा मदमोहित पुरुषका वध करता है, वह जगत्में गर्भ-हत्यारा कहा जाता है' ॥ ३६ ॥

स प्रहस्याब्रवीन्मन्दं क्रोधात् तमसुरेश्वरम् ।
विसृज्य ताः स्त्रियः सर्वास्ताराप्रभृतिकास्तदा ॥ ३७ ॥

'यह सुनकर वाली मन्द-मन्द मुस्कराकर उन तारा आदि सब स्त्रियोंको दूर हटा उस असुरराजसे क्रोधपूर्वक बोला—॥

मत्तोऽयमिति मा मंस्था यद्यभीतोऽसि संयुगे ।
मदोऽयं सम्प्रहारेऽस्मिन् वीरपानं समर्थ्यताम् ॥ ३८ ॥

''यदि तुम युद्धके लिये निर्भय होकर खड़े हो तो यह न समझो कि यह वाली मधु पीकर मतवाला हो गया है। मेरे इस मदको तुम युद्धस्थलमें उत्साह-वृद्धिके लिये वीरोंद्वारा किया जानेवाला औषधविशेषका पान समझो' ॥ ३८ ॥

तमेवमुक्त्वा संक्रुद्धो मालामुत्क्षिप्य काञ्चनीम् ।
पित्रा दत्तां महेन्द्रेण युद्धाय व्यवतिष्ठत ॥ ३९ ॥

'उससे ऐसा कहकर पिता इन्द्रकी दी हुई विजयदायिनी सुवर्णमालाको गलेमें डालकर वाली कुपित हो युद्धके लिये खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

विषाणयोर्गृहीत्वा तं दुन्दुभिं गिरिसंनिभम् ।
आविध्यत तथा वाली विनदन् कपिकुञ्जरः ॥ ४० ॥

'कपिश्रेष्ठ वालीने पर्वताकार दुन्दुभिके दोनों सींग पकड़कर उस समय गर्जना करते हुए उसे बारंबार घुमाया ॥४०॥

बलाद् व्यापादयांचक्रे ननर्द च महास्वनम् ।
श्रोत्राभ्यामथ रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ॥ ४१ ॥

'फिर बलपूर्वक उसे धरतीपर दे मारा और बड़े जोरसे सिंहनाद किया। पृथ्वीपर गिराये जाते समय उसके दोनों कानोंसे खूनकी धाराएँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तयोस्तु क्रोधसंरम्भात् परस्परजयैषिणोः ।
युद्धं समभवद् घोरं दुन्दुभेर्वालिनस्तथा ॥ ४२ ॥

'क्रोधके आवेशसे युक्त हो एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले उन दोनों दुन्दुभि और वालीमें घोर युद्ध होने लगा ॥ ४२ ॥

अयुध्यत तदा वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ।
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिः शिलाभिः पादपैस्तथा ॥ ४३ ॥

'उस समय इन्द्रके तुल्य पराक्रमी वाली दुन्दुभिपर मुक्कों, लातों, घुटनों, शिलाओं तथा वृक्षोंसे प्रहार करने लगा ॥ ४३ ॥

परस्परं घ्नतोस्तत्र वानरासुरयोस्तदा ।
आसीद्धीनोऽसुरो युद्धे शक्रसूनुर्व्यवर्धत ॥ ४४ ॥

'उस युद्धस्थलमें परस्पर प्रहार करते हुए वानर और असुर दोनों योद्धाओंमेंसे असुरकी शक्ति तो घटने लगी और इन्द्रकुमार वालीका बल बढ़ने लगा ॥ ४४ ॥

तं तु दुन्दुभिमुद्यम्य धरण्यामभ्यपातयत् ।
युद्धे प्राणहरे तस्मिन्निष्पिष्टो दुन्दुभिस्तदा ॥ ४५ ॥

'उन दोनोंमें वहाँ प्राणान्तकारी युद्ध छिड़ गया। उस समय वालीने दुन्दुभिको उठाकर पृथ्वीपर दे मारा, साथ ही अपने शरीरसे उसको दबा दिया, जिससे दुन्दुभि पिस गया ॥

स्रोतोभ्यो बहु रक्तं तु तस्य सुस्राव पात्यतः ।
पपात च महाबाहुः क्षितौ पञ्चत्वमागतः ॥ ४६ ॥

'गिरते समय उसके शरीरके समस्त छिद्रोंसे बहुत-सा रक्त बहने लगा। वह महाबाहु असुर पृथ्वीपर गिरा और मर गया ॥ ४६ ॥

तं तोलयित्वा बाहुभ्यां गतसत्त्वमचेतनम् ।
चिक्षेप वेगवान् वाली वेगेनैकेन योजनम् ॥ ४७ ॥

'जब उसके प्राण निकल गये और चेतना लुप्त हो गयी, तब वेगवान् वालीने उसे दोनों हाथोंसे उठाकर एक साधारण वेगसे एक योजन दूर फेंक दिया ॥ ४७ ॥

तस्य वेगप्रविद्धस्य वक्त्रात् क्षतजबिन्दवः ।
प्रपेतुर्मारुतोत्क्षिप्ता मतङ्गस्याश्रमं प्रति ॥ ४८ ॥

'वेगपूर्वक फेंके गये उस असुरके मुखसे निकली हुई रक्तकी बहुत-सी बूँदें हवाके साथ उड़कर मतंग मुनिके आश्रममें पड़ गयीं ॥ ४८ ॥

तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र मुनिः शोणितविप्रुषः ।
क्रुद्धस्तस्य महाभाग चिन्तयामास को न्वयम् ॥ ४९ ॥

'महाभाग! वहाँ पड़े हुए उन रक्त-बिन्दुओंको देखकर मतंगमुनि कुपित हो उठे और इस विचारमें पड़ गये कि 'यह कौन है, जो यहाँ रक्तके छींटे डाल गया है ? ॥ ४९ ॥

येनाहं सहसा स्पृष्टः शोणितेन दुरात्मना ।
कोऽयं दुरात्मा दुर्बुद्धिरकृतात्मा च बालिशः ॥ ५० ॥

'जिस दुष्टने सहसा मेरे शरीरसे रक्तका स्पर्श करा दिया, यह दुरात्मा, दुर्बुद्धि, अजितात्मा और मूर्ख कौन है ?' ॥५०॥

इत्युक्त्वा स विनिष्क्रम्य ददर्श मुनिसत्तमः ।
महिषं पर्वताकारं गतासुं पतितं भुवि ॥ ५१ ॥

'ऐसा कहकर मुनिवर मतंगने बाहर निकलकर देखा तो उन्हें एक पर्वताकार भैंसा पृथ्वीपर प्राणहीन होकर पड़ा दिखायी दिया ॥ ५१ ॥

स तु विज्ञाय तपसा वानरेण कृतं हि तत् ।
उत्ससर्ज महाशापं क्षेप्तारं वानरं प्रति ॥ ५२ ॥

'उन्होंने अपने तपोबलसे यह जान लिया कि यह एक वानरकी करतूत है। अतः उस लाशको फेंकनेवाले वानरके प्रति उन्होंने बड़ा भारी शाप दिया—॥ ५२ ॥

इह तेनाप्रवेष्टव्यं प्रविष्टस्य वधो भवेत्।
वनं मत्संश्रयं येन दूषितं रुधिरस्रवैः ॥ ५३॥

"जिसने खूनके छींटे डालकर मेरे निवासस्थान इस वनको अपवित्र कर दिया है, वह आजसे इस वनमें प्रवेश न करे। यदि इसमें प्रवेश करेगा तो उसका वध हो जायगा ॥ ५३॥

क्षिपता पादपाश्चेमे सम्भग्नाश्चासुरीं तनुम्।
समन्तादाश्रमं पूर्णं योजनं मामकं यदि ॥ ५४॥
आगमिष्यति दुर्बुद्धिर्व्यक्तं स न भविष्यति।

"इस असुरके शरीरको इधर फेंककर जिसने इन वृक्षोंको तोड़ डाला है, वह दुर्बुद्धि यदि मेरे आश्रमके चारों ओर पूरे एक योजनतककी भूमिमें पैर रक्खेगा तो अवश्य ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा ॥ ५४½ ॥

ये चास्य सचिवाः केचित् संश्रिता मामकं वनम् ॥ ५५॥
न च तैरिह वस्तव्यं श्रुत्वा यान्तु यथासुखम्।
तेऽपि वा यदि तिष्ठन्ति शपिष्ये तानपि ध्रुवम् ॥ ५६॥

"उस वालीके जो कोई सचिव भी मेरे इस वनमें रहते हों, उन्हें अब यहाँका निवास त्याग देना चाहिये। वे मेरी आज्ञा सुनकर सुखपूर्वक यहाँसे चले जायँ। यदि वे रहेंगे तो उन्हें भी निश्चय ही शाप दे दूँगा ॥ ५५-५६ ॥

वनेऽस्मिन् मामके नित्यं पुत्रवत् परिरक्षिते।
पत्राङ्कुरविनाशाय फलमूलाभवाय च ॥ ५७॥

"मैंने अपने इस वनकी सदा पुत्रकी भाँति रक्षा की है। जो इसके पत्र और अङ्कुरका विनाश तथा फल-मूलका अभाव करनेके लिये यहाँ रहेंगे, वे अवश्य शापके भागी होंगे ॥५७॥

दिवसश्चाद्य मर्यादा यं द्रष्टा श्वोऽस्मि वानरम्।
बहुवर्षसहस्राणि स वै शैलो भविष्यति ॥ ५८॥

"आजका दिन उन सबके आने-जाने या रहनेकी अन्तिम अवधि है—आजभरके लिये मैं उन सबको छुट्टी देता हूँ। कलसे जो कोई वानर यहाँ मेरी दृष्टिमें पड़ जायगा, वह कई हजार वर्षोंके लिये पत्थर हो जायगा' ॥ ५८ ॥

ततस्ते वानराः श्रुत्वा गिरं मुनिसमीरिताम्।
निश्चक्रमुर्वनात् तस्मात् तान् दृष्ट्वा वालिरब्रवीत्॥ ५९॥

'मुनिके इस वचनको सुनकर वे सभी वानर मतंगवनसे निकल गये। उन्हें देखकर वालीने पूछा—॥ ५९ ॥

किं भवन्तः समस्ताश्च मतङ्गवनवासिनः।
मत्समीपमनुप्राप्ता अपि स्वस्ति वनौकसाम् ॥ ६०॥

"मतंगवनमें निवास करनेवाले आप सभी वानर मेरे पास क्यों चले आये? वनवासियोंकी कुशल तो है न?' ॥६०॥

ततस्ते कारणं सर्वं तथा शापं च वालिनः।
शशंसुर्वानराः सर्वे वालिने हेममालिने ॥ ६१॥

'तब उन सभी वानरोंने सुवर्णमालाधारी वालीसे अपने आनेका सब कारण बताया तथा जो वालीको शाप हुआ था, उसे भी कह सुनाया ॥ ६१ ॥

एतच्छ्रुत्वा तदा वाली वचनं वानरेरितम्।
स महर्षिं समासाद्य याचते स्म कृताञ्जलिः ॥ ६२॥

'वानरोंकी कही हुई यह बात सुनकर वाली महर्षि मतंगके पास गया और हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करने लगा ॥६२॥

महर्षिस्तमनादृत्य प्रविवेशाश्रमं प्रति।
शापधारणभीतस्तु वाली विह्वलतां गतः ॥ ६३॥

'किंतु महर्षिने उसका आदर नहीं किया। वे चुपचाप अपने आश्रममें चले गये। इधर वाली शाप प्राप्त होनेसे भयभीत हो बहुत ही व्याकुल हो गया ॥ ६३ ॥

ततः शापभयाद् भीतो ऋष्यमूकं महागिरिम्।
प्रवेष्टुं नेच्छति हरिर्द्रष्टुं वापि नरेश्वर ॥ ६४॥

'नरेश्वर! तबसे उस शापके भयसे डरा हुआ वाली इस महान् पर्वत ऋष्यमूकके स्थानोंमें न तो कभी प्रवेश करना चाहता है और न इस पर्वतको देखना ही चाहता है ॥ ६४ ॥

तस्याप्रवेशं ज्ञात्वाहमिदं राम महावनम्।
विचरामि सहामात्यो विषादेन विवर्जितः ॥ ६५॥

'श्रीराम! यहाँ उसका प्रवेश होना असम्भव है, यह जानकर मैं अपने मन्त्रियोंके साथ इस महान् वनमें विषाद-शून्य होकर विचरता हूँ ॥ ६५ ॥

एषोऽस्थिनिचयस्तस्य दुन्दुभेः सम्प्रकाशते।
वीर्योत्सेकान्निरस्तस्य गिरिकूटनिभो महान् ॥ ६६॥

'यह रहा दुन्दुभिकी हड्डियोंका ढेर, जो एक महान् पर्वत-शिखरके समान जान पड़ता है। वालीने अपने बलके घमंडमें आकर दुन्दुभिके शरीरको इतनी दूर फेंका था ॥ ६६ ॥

इमे च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः।
यत्रैकं घटते वाली निष्पत्रयितुमोजसा ॥ ६७॥

'ये सात सालके विशाल एवं मोटे वृक्ष हैं, जो अनेक उत्तम शाखाओंसे सुशोभित होते हैं। वाली इनमेंसे एक-एकको बलपूर्वक हिलाकर पत्रहीन कर सकता है ॥ ६७ ॥

एतदस्यासमं वीर्यं मया राम प्रकाशितम्।
कथं तं वालिनं हन्तुं समरे शक्ष्यसे नृप ॥ ६८॥

'श्रीराम! यह मैंने वालीके अनुपम पराक्रमको प्रकाशित किया है। नरेश्वर! आप उस वालीको समराङ्गणमें कैसे मार सकेंगे' ॥ ६८ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं प्रहसँल्लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
कस्मिन् कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनो वधम् ॥ ६९॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणको बड़ी हँसी आयी। वे

हँसते हुए ही बोले—'कौन-सा काम कर देनेपर तुम्हें विश्वास होगा कि श्रीरामचन्द्रजी वालीका वध कर सकेंगे' ॥ ६९ ॥

तमुवाचाथ सुग्रीवः सप्त सालानिमान् पुरा ।
एवमेकैकशो वाली विव्याधाथ स चासकृत् ॥ ७० ॥
रामो निर्दारयेदेषां बाणेनैकेन च द्रुमम् ।
वालिनं निहतं मन्ये दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम् ॥ ७१ ॥

तब सुग्रीवने उनसे कहा—पूर्वकालमें 'वालीने सालके इन सातों वृक्षोंको एक-एक करके कई बार बींध डाला है । अतः श्रीरामचन्द्रजी भी यदि इनमेंसे किसी एक वृक्षको एक ही बाणसे छेद डालेंगे तो इनका पराक्रम देखकर मुझे वालीके मारे जानेका विश्वास हो जायगा ॥ ७०-७१ ॥

हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण ।
उद्यम्य प्रक्षिपेच्चापि तरसा द्वे धनुःशते ॥ ७२ ॥

'लक्ष्मण ! यदि इस महिषरूपधारी दुन्दुभिकी हड्डीको एक ही पैरसे उठाकर बलपूर्वक दो सौ धनुषकी दूरीपर फेंक सकें तो भी मैं यह मान लूँगा कि इनके हाथसे वालीका वध हो सकता है' ॥ ७२ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवो रामं रक्तान्तलोचनम् ।
ध्यात्वा मुहूर्तं काकुत्स्थं पुनरेव वचोऽब्रवीत् ॥ ७३ ॥

जिनके नेत्रप्रान्त कुछ-कुछ लाल थे, उन श्रीरामसे ऐसा कहकर सुग्रीव दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारमें पड़े रहे । इसके बाद वे ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे फिर बोले—॥७३॥

शूरश्च शूरमानी च प्रख्यातबलपौरुषः ।
बलवान् वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः ॥ ७४ ॥

'वाली शूर है और स्वयं भी उसे अपने शौर्यपर अभिमान है । उसके बल और पुरुषार्थ विख्यात हैं । वह बलवान् वानर अबतकके युद्धोंमें कभी पराजित नहीं हुआ है ॥ ७४ ॥

दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि ।
यानि संचिन्त्य भीतोऽहमृष्यमूकमुपाश्रितः ॥ ७५ ॥

इसके ऐसे-ऐसे कर्म देखे जाते हैं, जो देवताओंके लिये दुष्कर हैं और जिनका चिन्तन करके भयभीत हो मैंने इस ऋष्यमूक पर्वतकी शरण ली है ॥ ७५ ॥

तमजय्यमधृष्यं च वानरेन्द्रममर्षणम् ।
विचिन्तयन्नमुं चापि ऋष्यमूकममुं त्वहम् ॥ ७६ ॥

'वानरराज वालीको जीतना दूसरोंके लिये असम्भव है । उसपर आक्रमण अथवा उसका तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता । वह शत्रुकी ललकारको नहीं सह सकता । जब मैं उसके प्रभावका चिन्तन करता हूँ, तब इस ऋष्यमूक पर्वतको एक क्षणके लिये भी छोड़ नहीं पाता हूँ ॥ ७६ ॥

उद्विग्नः शङ्कितश्चाहं विचरामि महावने ।
अनुरक्तैः सहामात्यैर्हनुमत्प्रमुखैर्वरैः ॥ ७७ ॥

'ये हनुमान् आदि मेरे श्रेष्ठ सचिव मुझमें अनुराग रखनेवाले हैं । इनके साथ रहकर भी मैं इस विशाल वनमें वालीसे उद्विग्न और शङ्कित होकर ही विचरता हूँ' ॥ ७७ ॥

उपलब्धं च मे श्लाघ्यं सन्मित्रं मित्रवत्सल ।
त्वामहं पुरुषव्याघ्र हिमवन्तमिवाश्रितः ॥ ७८ ॥

मित्रवत्सल ! आप मुझे परम स्पृहणीय श्रेष्ठ मित्र मिल गये हैं । पुरुषसिंह ! आप मेरे लिये हिमालयके समान हैं और मैं आपका आश्रय ले चुका हूँ (इसलिये अब मुझे निर्भय हो जाना चाहिये) ॥ ७८ ॥

किं तु तस्य बलज्ञोऽहं दुर्भ्रातुर्बलशालिनः ।
अप्रत्यक्षं तु मे वीर्यं समरे तव राघव ॥ ७९ ॥

'किंतु रघुनन्दन ! मैं उस बलशाली दुष्ट भ्राताके बल-पराक्रमको जानता हूँ और समरभूमिमें आपका पराक्रम मैंने प्रत्यक्ष नहीं देखा है ॥ ७९ ॥

न खल्वहं त्वां तुलये नावमन्ये न भीषये ।
कर्मभिस्तस्य भीमैश्च कातर्यं जनितं मम ॥ ८० ॥

'प्रभो ! अवश्य ही मैं वालीसे आपकी तुलना नहीं करता हूँ । न तो आपको डराता हूँ और न आपका अपमान ही करता हूँ । वालीके भयानक कर्मोंने ही मेरे हृदयमें कातरता उत्पन्न कर दी है ॥ ८० ॥

कामं राघव ते वाणी प्रमाणं धैर्यमाकृतिः ।
सूचयन्ति परं तेजो भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ८१ ॥

'रघुनन्दन ! निश्चय ही आपकी वाणी मेरे लिये प्रमाण-भूत है—विश्वसनीय है; क्योंकि आपका धैर्य और आपकी यह दिव्य आकृति आदि गुण राखसे ढकी हुई आगके समान आपके उत्कृष्ट तेजको सूचित कर रहे हैं' ॥ ८१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य महात्मनः ।
स्मितपूर्वमथो रामः प्रत्युवाच हरिं प्रति ॥ ८२ ॥

'महात्मा सुग्रीवकी यह बात सुनकर भगवान् श्रीराम पहले तो मुस्कराये । फिर उस वानरकी बातका उत्तर देते हुए उससे बोले'—॥ ८२ ॥

यदि न प्रत्ययोऽस्मासु विक्रमे तव वानर ।
प्रत्ययं समरे श्लाघ्यमहमुत्पादयामि ते ॥ ८३ ॥

'वानर ! यदि तुम्हें इस समय पराक्रमके विषयमें हम लोगोंपर विश्वास नहीं होता तो युद्धके समय हम तुम्हें उसका उत्तम विश्वास करा देंगे ॥ ८३ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सान्त्वयँल्लक्ष्मणाग्रजः ।
राघवो दुन्दुभेः कायं पादाङ्गुष्ठेन लीलया ॥ ८४ ॥
तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम् ।
असुरस्य तनुं शुष्कां पादाङ्गुष्ठेन वीर्यवान् ॥ ८५ ॥

ऐसा कहकर सुग्रीवको सान्त्वना देते हुए लक्ष्मणके बड़े

भाई महाबाहु बलवान् श्रीरघुनाथजीने खिलवाड़में ही दुन्दुभिके शरीरको अपने पैरके अँगूठेसे टाँग लिया और उस असुरके उस सूखे हुए कङ्कालको पैरके अँगूठेसे ही दस योजन दूर फेंक दिया ॥ ८४-८५ ॥

क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत् ।
लक्ष्मणस्याग्रतो रामं तपन्तमिव भास्करम् ।
हरीणामग्रतो वीरमिदं वचनमर्थवत् ॥ ८६ ॥

उसके शरीरको फेंका गया देख सुग्रीवने लक्ष्मण और वानरोंके सामने ही तपते हुए सूर्यके समान तेजस्वी वीर श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः यह अर्थभरी बात कही—॥ ८६ ॥

आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे ।
परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥ ८७ ॥

'सखे ! मेरा भाई वाली उस समय मदमत्त और युद्धसे थका हुआ था और दुन्दुभिका यह शरीर खूनसे भीगा हुआ, मांसयुक्त तथा नया था । इस दशामें उसने इस शरीरको पूर्वकालमें दूर फेंका था' ॥ ८७ ॥

लघुः सम्प्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव ।
क्षिप्त एवं प्रहर्षेण भवता रघुनन्दन ॥ ८८ ॥

'परंतु रघुनन्दन ! इस समय यह मांसहीन होनेके कारण तिनकेके समान हल्का हो गया है और आपने हर्ष एवं उत्साहसे युक्त होकर इसे फेंका है' ॥ ८८ ॥

नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाधिकम् ।
आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत् सुमहद् राघवान्तरम् ॥ ८९ ॥

'अतः श्रीराम ! इस लाशको फेंकनेपर भी यह नहीं जाना जा सकता कि आपका बल अधिक है या उसका; क्योंकि वह गीला था और यह सूखा । यह इन दोनों अवस्थाओंमें महान् अन्तर है' ॥ ८९ ॥

स एव संशयस्तात तव तस्य च यद्बलम् ।
सालमेकं विनिर्भिद्य भवेद् व्यक्तिर्बलाबले ॥ ९० ॥

'तात ! आपके और उसके बलमें वही संशय अबतक बना रह गया । अब इस एक सालवृक्षको विदीर्ण कर देनेपर दोनोंके बलाबलका स्पष्टीकरण हो जायगा' ॥ ९० ॥

कृत्वैतत् कार्मुकं सज्यं हस्तिहस्तमिवाततम् ।
आकर्णपूर्णमायम्य विसृजस्व महाशरम् ॥ ९१ ॥

आपका यह धनुष हाथीकी फैली हुई सूँड़के समान विशाल है । आप इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाइये और इसे कानतक खींचकर सालवृक्षको लक्ष्य करके एक विशाल बाण छोड़िये ॥ ९१ ॥

इमं हि सालं प्रहितस्त्वया शरो
न संशयोऽत्रास्ति विदारयिष्यति ।
अलं विमर्शेन मम प्रियं ध्रुवं
कुरुष्व राजन् प्रतिशापितो मया ॥ ९२ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि आपका छोड़ा हुआ बाण इस सालवृक्षको विदीर्ण कर देगा । राजन् ! अब विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । मैं अपनी शपथ दिलाकर कहता हूँ, आप मेरा यह प्रिय कार्य अवश्य कीजिये ॥ ९२ ॥

यथा हि तेजःसु वरः सदा रवि-
र्यथा हि शैलो हिमवान् महाद्रिषु ।
यथा चतुष्पात्सु च केसरी वर-
स्तथा नराणामसि विक्रमे वरः ॥ ९३ ॥

'जैसे सम्पूर्ण तेजोंमें सदा सूर्यदेव ही श्रेष्ठ हैं, जैसे बड़े-बड़े पर्वतोंमें गिरिराज हिमवान् श्रेष्ठ हैं और जैसे चौपायोंमें सिंह श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पराक्रमके विषयमें सब मनुष्योंमें आप ही श्रेष्ठ हैं' ॥ ९३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा सात साल-वृक्षोंका भेदन, श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका किष्किन्धामें आकर वालीको ललकारना और युद्धमें उससे पराजित होकर मतंगवनमें भाग जाना, वहाँ श्रीरामका उन्हें आश्वासन देना और गलेमें पहचानके लिये गजपुष्पी लता डालकर उन्हें पुनः युद्धके लिये भेजना

एतच्च वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम् ।
प्रत्ययार्थं महातेजा रामो जग्राह कार्मुकम् ॥ १ ॥

सुग्रीवके सुन्दर ढंगसे कहे हुए इस वचनको सुनकर महातेजस्वी श्रीरामने उन्हें विश्वास दिलानेके लिये धनुष हाथमें लिया ॥ १ ॥

स गृहीत्वा धनुर्घोरं शरमेकं च मानदः ।

सालमुद्दिश्य चिक्षेप पूरयन् स रवैर्दिशः ॥ २ ॥

दूसरोंको मान देनेवाले श्रीरघुनाथजीने वह भयंकर धनुष और एक बाण लेकर धनुषकी टंकारसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए उस बाणको सालवृक्षकी ओर छोड़ दिया ॥ २ ॥

स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः ।
भित्त्वा सालान् गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह ॥ ३ ॥

उन बलवान् वीरशिरोमणिके द्वारा छोड़ा गया वह सुवर्णभूषित बाण उन सातों सालवृक्षोंको एक ही साथ बींधकर पर्वत तथा पृथ्वीके सातों तलोंको छेदता हुआ पातालमें चला गया ॥ ३ ॥

सायकस्तु मुहूर्तेन सालान् भित्त्वा महाजवः ।
निष्पत्य च पुनस्तूणं तमेव प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

इस प्रकार एक ही मुहूर्तमें उन सबका भेदन करके वह महान् वेगशाली बाण पुनः वहाँसे निकलकर उनके तरकसमें ही प्रविष्ट हो गया ॥ ४ ॥

तान् दृष्ट्वा सप्त निर्भिन्नान् सालान् वानरपुङ्गवः ।
रामस्य शरवेगेन विस्मयं परमं गतः ॥ ५ ॥

श्रीरामके बाणके वेगसे उन सातों सालवृक्षोंको विदीर्ण हुआ देख वानरशिरोमणि सुग्रीवको बड़ा विस्मय हुआ ॥५॥

स मूर्ध्ना न्यपतद् भूमौ प्रलम्बीकृतभूषणः ।
सुग्रीवः परमप्रीतो राघवाय कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥

साथ ही उन्हें मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई । सुग्रीवने हाथ जोड़कर धरतीपर माथा टेक दिया और श्रीरघुनाथजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया । प्रणामके लिये झुकते समय उनके कण्ठहारादि भूषण लटकते हुए दिखायी देते थे ॥ ६ ॥

इदं चोवाच धर्मज्ञं कर्मणा तेन हर्षितः ।
रामं सर्वास्त्रविदुषां श्रेष्ठं शूरमवस्थितम् ॥ ७ ॥

श्रीरामके उस महान् कर्मसे अत्यन्त प्रसन्न हो उन्होंने सामने खड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, धर्मज्ञ, शूरवीर श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार कहा—॥ ७ ॥

सेन्द्रानपि सुरान् सर्वांस्त्वं बाणैः पुरुषर्षभ ।
समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वालिनं प्रभो ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर ! भगवन् ! आप तो अपने बाणोंसे समराङ्गणमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंका वध भी करनेमें समर्थ हैं । फिर वालीको मारना आपके लिये कौन बड़ी बात है ! ॥ ८ ॥

येन सप्त महासाला गिरिर्भूमिश्च दारिताः ।
बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणाग्रतः ॥ ९ ॥

'काकुत्स्थ ! जिन्होंने सात बड़े-बड़े सालवृक्ष, पर्वत और पृथ्वीको भी एक ही बाणसे विदीर्ण कर डाला, उन्हीं आपके समक्ष युद्धके मुहानेपर कौन ठहर सकता है ॥ ९ ॥

अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम ।
सुहृदं त्वां समासाद्य महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ १० ॥

'महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी आपको सुहृद्के रूपमें पाकर आज मेरा सारा शोक दूर हो गया । आज मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १० ॥

तमद्यैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम् ।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः ॥ ११ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! मैं हाथ जोड़ता हूँ । आप आज ही मेरा प्रिय करनेके लिये उस वालीका, जो भाईके रूपमें मेरा शत्रु है, वध कर डालिये' ॥ ११ ॥

ततो रामः परिष्वज्य सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो लक्ष्मणानुगतं वचः ॥ १२ ॥

सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्मणके समान प्रिय हो गये थे । उनकी बात सुनकर महाप्राज्ञ श्रीरामने अपने उस प्रिय सुहृद्‌को हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १२ ॥

अस्माद्गच्छाम किष्किन्धां क्षिप्रं गच्छ त्वमग्रतः ।
गत्वा चाह्वय सुग्रीव वालिनं भ्रातृगन्धिनम् ॥ १३ ॥

'सुग्रीव ! हमलोग शीघ्र ही इस स्थानसे किष्किन्धाको चलते हैं । तुम आगे जाओ और जाकर व्यर्थ ही भाई कहलानेवाले वालीको युद्धके लिये ललकारो' ॥ १३ ॥

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम् ।
वृक्षैरात्मानमावृत्य ह्यतिष्ठन् गहने वने ॥ १४ ॥

तदनन्तर वे सब लोग वालीकी राजधानी किष्किन्धापुरीमें गये और वहाँ गहन वनके भीतर वृक्षोंकी आड़में अपनेको छिपाकर खड़े हो गये ॥ १४ ॥

सुग्रीवोऽप्यनदद् घोरं वालिनो ह्वानकारणात् ।
गाढं परिहितो वेगान्नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम् ॥ १५ ॥

सुग्रीवने लँगोटसे अपनी कमर खूब कस ली और वालीको बुलानेके लिये भयंकर गर्जना की । वेगपूर्वक किये हुए उस सिंहनादसे मानो वे आकाशको फाड़े डालते थे ॥ १५ ॥

तं श्रुत्वा निनदं भ्रातुः क्रुद्धो वाली महाबलः ।
निष्पपात सुसंरब्धो भास्करोऽस्ततटादिव ॥ १६ ॥

भाईका सिंहनाद सुनकर महाबली वालीको बड़ा क्रोध हुआ । वह अमर्षमें भरकर अस्ताचलसे नीचे जानेवाले सूर्यके समान् बड़े वेगसे घरसे निकला ॥ १६ ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं वालिसुग्रीवयोरभूत् ।
गगने ग्रहयोर्घोरं बुधाङ्गारकयोरिव ॥ १७ ॥

फिर तो वाली और सुग्रीवमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया, मानो आकाशमें बुध और मङ्गल—इन दोनों ग्रहोंमें घोर संग्राम हो रहा हो ॥ १७ ॥

तलैरशनिकल्पैश्च वज्रकल्पैश्च मुष्टिभिः ।
जघ्नतुः समरेऽन्योन्यं भ्रातरौ क्रोधमूर्च्छितौ ॥ १८ ॥

वे दोनों भाई क्रोधसे मूर्च्छित हो एक-दूसरेपर वज्र और अशनिके समान तमाचों और घूँसोंका प्रहार करने लगे ॥१८॥

ततो रामो धनुष्पाणिस्तावुभौ समुदैक्षत ।
अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ ॥ १९ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्रजीने धनुष हाथमें लिया और उन दोनोंकी ओर देखा। वे दोनों वीर अश्विनीकुमारोंकी भाँति परस्पर मिलते-जुलते दिखायी दिये ॥ १९ ॥

यन्नावगच्छत् सुग्रीवं वालिनं वापि राघवः ।
ततो न कृतवान् बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजीको यह पता न चला कि इनमें कौन सुग्रीव है और कौन वाली; इसलिये उन्होंने अपना वह प्राणान्तकारी बाण छोड़नेका विचार स्थगित कर दिया ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे भग्नः सुग्रीवस्तेन वालिना ।
अपश्यन् राघवं नाथमृष्यमूकं प्रदुद्रुवे ॥ २१ ॥

इसी बीचमें वालीने सुग्रीवके पाँव उखाड़ दिये। वे अपने रक्षक श्रीरघुनाथजीको न देखकर ऋष्यमूक पर्वतकी ओर भागे ॥ २१ ॥

क्लान्तो रुधिरसिक्ताङ्गः प्रहारैर्जर्जरीकृतः ।
वालिनाभिद्रुतः क्रोधात् प्रविवेश महावनम् ॥ २२ ॥

वे बहुत थक गये थे। उनका सारा शरीर लहूलुहान और प्रहारोंसे जर्जर हो रहा था। इतनेपर भी वालीने क्रोधपूर्वक उनका पीछा किया। किंतु वे मतंग मुनिके महान् वनमें घुस गये ॥ २२ ॥

तं प्रविष्टं वनं दृष्ट्वा वाली शापभयात् ततः ।
मुक्तो ह्यसि त्वमित्युक्त्वा स निवृत्तो महाबलः ॥ २३ ॥

सुग्रीवको उस वनमें प्रविष्ट हुआ देख महाबली वाली शापके भयसे वहाँ नहीं गया और 'जाओ तुम बच गये'—ऐसा कहकर वहाँसे लौट आया ॥ २३ ॥

राघवोऽपि सह भ्रात्रा सह चैव हनूमता ।
तदेव वनमागच्छत् सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ २४ ॥

इधर श्रीरघुनाथजी भी अपने भाई लक्ष्मण तथा श्रीहनुमान्जीके साथ उसी समय वनमें आ गये, जहाँ वानर सुग्रीव विद्यमान थे ॥ २४ ॥

तं समीक्ष्यागतं रामं सुग्रीवः सहलक्ष्मणम् ।
ह्रीमान् दीनमुवाचेदं वसुधामवलोकयन् ॥ २५ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामको आया देख सुग्रीवको बड़ी लज्जा हुई और वे पृथ्वीकी ओर देखते हुए दीन वाणीमें उनसे बोले—॥ २५ ॥

आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम् ।
वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ॥ २६ ॥
तामेव वेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः ।
वालिनं न निहन्मीति ततो नाहमितो व्रजे ॥ २७ ॥

'रघुनन्दन ! आपने अपना पराक्रम दिखाया और मुझे यह कहकर भेज दिया कि जाओ, वालीको युद्धके लिये ललकारो, यह सब हो जानेपर आपने शत्रुसे पिटवाया और स्वयं छिप गये। बताइये, इस समय आपने ऐसा क्यों किया ! आपको उसी समय सच-सच बता देना चाहिये था कि मैं वालीको नहीं मारूँगा। ऐसी दशामें मैं यहाँसे उसके पास जाता ही नहीं' ॥ २६-२७ ॥

तस्य चैवं ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
करुणं दीनया वाचा राघवः पुनरब्रवीत् ॥ २८ ॥

महामना सुग्रीव जब दीन वाणीद्वारा इस प्रकार करुणाजनक बात कहने लगे, तब श्रीराम फिर उनसे बोले—॥२८॥

सुग्रीव श्रूयतां तात क्रोधश्च व्यपनीयताम् ।
कारणं येन बाणोऽयं स मया न विसर्जितः ॥ २९ ॥

'तात सुग्रीव ! मेरी बात सुनो, क्रोधको अपने मनसे निकाल दो। मैंने क्यों नहीं बाण चलाया, इसका कारण बतलाता हूँ ॥ २९ ॥

अलंकारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च ।
त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम् ॥ ३० ॥

'सुग्रीव ! वेशभूषा, कद और चाल-ढालमें तुम और वाली—दोनों एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हो ॥ ३० ॥

स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर ।
विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वां नोपलक्षये ॥ ३१ ॥

'स्वर, कान्ति, दृष्टि, पराक्रम और बोलचालके द्वारा भी मुझे तुम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता ॥ ३१ ॥

ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम ।
नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम् ॥ ३२ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! तुम दोनोंके रूपकी इतनी समानता देखकर मैं मोहमें पड़ गया—तुम्हें पहचान न सका; इसीलिये मैंने अपना महान् वेगशाली शत्रुसंहारक बाण नहीं छोड़ा ॥ ३२ ॥

जीवितान्तकरं घोरं सादृश्यात् तु विशङ्कितः ।
मूलघातो न नौ स्याद्धि द्वयोरिति कृतो मया ॥ ३३ ॥

'मेरा वह भयंकर बाण शत्रुके प्राण लेनेवाला था, इसलिये तुम दोनोंकी समानतासे संदेहमें पड़कर मैंने उस बाणको नहीं छोड़ा । सोचा, कहीं ऐसा न हो कि हम दोनोंके मूल उद्देश्यका ही विनाश हो जाय ॥ ३३ ॥

त्वयि वीर विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया ।
मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात् कपीश्वर ॥ ३४ ॥

'वीर ! वानरराज ! यदि अनजानमें या जल्दबाजीके कारण मेरे बाणसे तुम्हीं मारे जाते तो मेरी बालोचित चपलता और मूढ़ता ही सिद्ध होती ॥ ३४ ॥

दत्ताभयवधो नाम पातकं महदद्भुतम् ।
अहं च लक्ष्मणश्चैव सीता च वरवर्णिनी ॥ ३५ ॥
त्वदधीना वयं सर्वे वनेऽस्मिञ्शरणं भवान् ।
तस्माद् युध्यस्व भूयस्त्वं मा माशङ्कीश्च वानर ॥ ३६ ॥

'जिसको अभय-दान दे दिया गया हो, उसका वध करनेसे बड़ा भारी पाप होता है; यह एक अद्भुत पातक है । इस समय मैं, लक्ष्मण और सुन्दरी सीता—सब तुम्हारे अधीन हैं । इस वनमें तुम्हीं हमलोगोंके आश्रय हो; इसलिये वानरराज ! शङ्का न करो; पुनः चलकर युद्ध प्रारम्भ करो ॥ ३५-३६ ॥

एतन्मुहूर्ते तु मया पश्य वालिनमाहवे ।
निरस्तमिषुणैकेन वेष्टमानं महीतले ॥ ३७ ॥

'तुम इसी मुहूर्तमें वालीको मेरे एक ही बाणका निशाना बनकर धरतीपर लोटता देखोगे ॥ ३७ ॥

अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर ।
येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम् ॥ ३८ ॥

'वानरेश्वर ! अपनी पहचानके लिये तुम कोई चिह्न धारण कर लो, जिससे द्वन्द्वयुद्धमें प्रवृत्त होनेपर मैं तुम्हें पहचान सकूँ' ॥ ३८ ॥

गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम् ।
कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ३९ ॥

(सुग्रीवसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे बोले—) 'लक्ष्मण ! यह उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजपुष्पी लता फूल रही है । इसे उखाड़कर तुम महामना सुग्रीवके गलेमें पहना दो' ॥

ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमायुताम् ।
लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत् ॥ ४० ॥

यह आज्ञा पाकर लक्ष्मणने पर्वतके किनारे उत्पन्न हुई फूलोंसे भरी वह गजपुष्पी लता उखाड़कर सुग्रीवके गलेमें डाल दिया ॥ ४० ॥

स तया शुशुभे श्रीमाँल्लतया कण्ठसक्तया ।
मालयेव बलाकानां ससंध्य इव तोयदः ॥ ४१ ॥

गलेमें पड़ी हुई उस लतासे श्रीमान् सुग्रीव बकपंक्तिसे अलंकृत संध्याकालके मेघकी भाँति शोभा पाने लगे ॥ ४१ ॥

विभ्राजमानो वपुषा रामवाक्यसमाहितः ।
जगाम सह रामेण किष्किन्धां पुनराप सः ॥ ४२ ॥

श्रीरामके वचनसे आश्वासन पाकर अपने सुन्दर शरीरसे शोभा पानेवाले सुग्रीव श्रीरघुनाथजीके साथ फिर किष्किन्धा-पुरीमें जा पहुँचे ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

श्रीराम आदिका मार्गमें वृक्षों, विविध जन्तुओं, जलाशयों तथा सप्तजन आश्रमका दूरसे दर्शन करते हुए पुनः किष्किन्धापुरीमें पहुँचना

ऋष्यमूकात् स धर्मात्मा किष्किन्धां लक्ष्मणाग्रजः ।
जगाम सह सुग्रीवो वालिविक्रमपालिताम् ॥ १ ॥

लक्ष्मणके बड़े भाई धर्मात्मा श्रीराम सुग्रीवको साथ लेकर पुनः ऋष्यमूकसे उस किष्किन्धापुरीकी ओर चले, जो वालीके पराक्रमसे सुरक्षित थी ॥ १ ॥

समुद्यम्य महच्चापं रामः काञ्चनभूषितम् ।
शरांश्चादित्यसंकाशान् गृहीत्वा रणसाधकान् ॥ २ ॥

अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको उठाकर और युद्धमें सफलता दिखानेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणोंको लेकर श्रीराम वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २ ॥

अग्रतस्तु ययौ तस्य राघवस्य महात्मनः ।
सुग्रीवः संहतग्रीवो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ ३ ॥

महात्मा रघुनाथजीके आगे-आगे सुगठित ग्रीवावाले सुग्रीव और महाबली लक्ष्मण चल रहे थे ॥ ३ ॥

पृष्ठतो हनुमान् वीरो नलो नीलश्च वीर्यवान्।
तारश्चैव महातेजा हरियूथपयूथपः ॥ ४ ॥

और उनके पीछे वीर हनुमान्, नल, पराक्रमी नील तथा वानर-यूथपोंके भी यूथपति महातेजस्वी तार चल रहे थे ॥४॥

ते वीक्षमाणा वृक्षांश्च पुष्पभारावलम्बिनः।
प्रसन्नाम्बुवहाश्चैव सरितः सागरंगमाः ॥ ५ ॥
कन्दराणि च शैलांश्च निर्दराणि गुहास्तथा।
शिखराणि च मुख्यानि दरीश्च प्रियदर्शनाः ॥ ६ ॥

वे सब लोग फूलोंके भारसे झुके हुए वृक्षों, स्वच्छ जल-वाली समुद्रगामिनी नदियों, कन्दराओं, पर्वतों, शिला-विवरों, गुफाओं, मुख्य-मुख्य शिखरों और सुन्दर दिखायी देनेवाली गहन गुफाओंको देखते हुए आगे बढ़ने लगे ॥ ५-६ ॥

वैदूर्यविमलैस्तोयैः पद्मैश्चाकोशकुड्मलैः।
शोभितान् स जलान् मार्गे तटाकांश्चावलोकयन्॥ ७ ॥

उन्होंने मार्गमें ऐसे सजल सरोवरोंको भी देखा, जो वैदूर्यमणिके समान रंगवाले, निर्मल जल तथा कम खिले हुए मुकुलयुक्त कमलोंसे सुशोभित थे ॥ ७ ॥

कारण्डैः सारसैर्हंसैर्वञ्जुलैर्जलकुक्कुटैः।
चक्रवाकैस्तथा चान्यैः शकुनैः प्रतिनादितान् ॥ ८ ॥

कारण्डव, सारस, हंस, वञ्जुल, जलमुर्ग, चक्रवाक तथा अन्य पक्षी उन सरोवरोंमें चहचहा रहे थे। उन सबकी प्रतिध्वनि वहाँ गूँज रही थी ॥ ८ ॥

मृदुशष्पाङ्कुराहारान्निर्भयान् वनगोचरान्।
चरतः सर्वतः पश्यन् स्थलीषु हरिणान् स्थितान् ॥९॥

स्थलोंमें सब ओर हरी-हरी कोमल घाससे अङ्कुरोंका आहार करनेवाले वनचारी हरिण कहीं निर्भय होकर चरते थे और कहीं खड़े दिखायी देते थे (इन सबको देखते हुए श्रीराम आदि किष्किन्धाकी ओर जा रहे थे) ॥ ९ ॥

तटाकवैरिणश्चापि शुक्लदन्तविभूषितान्।
घोरानेकचरान् वन्यान् द्विरदान् कूलघातिनः ॥ १० ॥
मत्तान् गिरितटोत्कृष्टान् पर्वतानिव जङ्गमान्।
वानरान् द्विरदप्रख्यान् महीरेणुसमुक्षितान् ॥ ११ ॥
वने वनचरांश्चान्यान् खेचरांश्च विहंगमान्।
पश्यन्तस्त्वरिता जग्मुः सुग्रीववशवर्तिनः ॥ १२॥

जो सफेद दाँतोंसे सुशोभित थे, देखनेमें भयंकर थे, अकेले विचरते थे और किनारोंको खोदकर नष्ट कर देनेके कारण सरोवरोंके शत्रु समझे जाते थे, ऐसे दो दाँतोंवाले मदमत्त जंगली हाथी चलते-फिरते पर्वतोंके समान जाते दिखायी देते थे। उन्होंने अपने दाँतोंसे पर्वतके तटप्रान्तको विदीर्ण कर दिया था। कहीं हाथी-जैसे विशालकाय वानर दृष्टिगोचर होते थे, जो धरतीकी धूलसे नहा उठे थे। इनके सिवा उस वनमें और भी बहुत-से जंगली जीव-जन्तु तथा आकाश-चारी पक्षी विचरते देखे जाते थे। इन सबको देखते हुए श्रीराम आदि सब लोग सुग्रीवके वशवर्ती हो तीव्र गतिसे आगे बढ़ने लगे ॥ १०–१२ ॥

तेषां तु गच्छतां तत्र त्वरितं रघुनन्दनः।
द्रुमषण्डवनं दृष्ट्वा रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ १३ ॥

उन यात्रा करनेवाले लोगोंमें वहाँ रघुकुलनन्दन श्रीराम-ने वृक्षसमूहोंसे सघन वनको देखकर सुग्रीवसे पूछा—॥ १३ ॥

एष मेघ इवाकाशे वृक्षषण्डः प्रकाशते।
मेघसंघातविपुलः पर्यन्तकदलीवृतः ॥ १४ ॥

'वानरराज! आकाशमें मेघकी भाँति जो यह वृक्षोंका समूह प्रकाशित हो रहा है, क्या है? यह इतना विस्तृत है कि मेघोंकी घटाके समान छा रहा है। इसके किनारे-किनारे केलेके वृक्ष लगे हुए हैं, जिनसे यह सारा वृक्ष-समूह घिर गया है ॥ १४ ॥

किमेतज्ज्ञातुमिच्छामि सखे कौतूहलं मम।
कौतूहलापनयनं कर्तुमिच्छाम्यहं त्वया ॥ १५ ॥

'सखे! यह कौन-सा वन है, यह मैं जानना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे द्वारा मेरे इस कौतूहलका निवारण हो' ॥ १५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः।
गच्छन्नेवाचचक्षेऽथ सुग्रीवस्तन्महद् वनम् ॥ १६ ॥

महात्मा रघुनाथजीकी यह बात सुनकर सुग्रीवने चलते-चलते ही उस विशाल वनके विषयमें बताना आरम्भ किया ॥ १६ ॥

एतद् राघव विस्तीर्णमाश्रमं श्रमनाशनम्।
उद्यानवनसम्पन्नं स्वादुमूलफलोदकम् ॥ १७ ॥

'रघुनन्दन! यह एक विस्तृत आश्रम है; जो सबके श्रमका निवारण करनेवाला है। यह उद्यानों और उपवनोंसे युक्त है। यहाँ स्वादिष्ट फल-मूल और जल सुलभ होते हैं ॥ १७ ॥

अत्र सप्तजना नाम मुनयः संशितव्रताः।
सप्तैवासन्नधःशीर्षा नियतं जलशायिनः ॥ १८ ॥

'इस आश्रममें सप्तजन नामसे प्रसिद्ध सात ही मुनि

रहते थे, जो कठोर व्रतके पालनमें तत्पर थे। वे नीचे सिर करके तपस्या करते थे। नियमपूर्वक रहकर जलमें शयन करनेवाले थे ॥ १८ ॥

सप्तरात्रे कृताहारा वायुनाचलवासिनः।
दिवं वर्षशतैर्याताः सप्तभिः सकलेवराः ॥ १९ ॥

'सात दिन और सात रात व्यतीत करके वे केवल वायुका आहार करते थे तथा एक स्थानपर निश्चल भावसे रहते थे। इस प्रकार सात सौ वर्षोंतक तपस्या करके वे सशरीर स्वर्गलोकको चले गये ॥ १९ ॥

तेषामेतत्प्रभावेण द्रुमप्राकारसंवृतम्।
आश्रमं सुदुराधर्षमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥ २० ॥

'उन्हींके प्रभावसे सघन वृक्षोंकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ यह आश्रम इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके लिये भी अत्यन्त दुर्धर्ष बना हुआ है ॥ २० ॥

पक्षिणो वर्जयन्त्येतत् तथान्ये वनचारिणः।
विशन्ति मोहाद् येऽप्यत्र न निवर्तन्ति ते पुनः ॥ २१ ॥

'पक्षी तथा दूसरे वनचर जीव इसे दूरसे ही त्याग देते हैं। जो मोहवश इसके भीतर प्रवेश करते हैं, वे फिर कभी नहीं लौटते हैं ॥ २१ ॥

विभूषणरवाश्चात्र श्रूयन्ते सकलाक्षराः।
तूर्यगीतस्वनश्चापि गन्धो दिव्यश्च राघव ॥ २२ ॥

रघुनन्दन! यहाँ मधुर अक्षरवाली वाणीके साथ-साथ आभूषणोंकी झनकारें भी सुनी जाती हैं। वाद्य और गीतकी मधुर ध्वनि भी कानोंमें पड़ती है और दिव्य सुगन्धका भी अनुभव होता है ॥ २२ ॥

त्रेताग्नयोऽपि दीप्यन्ते धूमो ह्येष प्रदृश्यते।
वेष्टयन्निव वृक्षाग्रान् कपोताङ्गारुणो घनः ॥ २३ ॥

'यहाँ आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियाँ भी प्रज्वलित होती हैं। यह कबूतरके अङ्गोंकी भाँति धूसर रंगवाला घना धूम उठता दिखायी देता है, जो वृक्षोंकी शिखाओंको आवेष्टित-सा कर रहा है ॥ २३ ॥

एते वृक्षाः प्रकाशन्ते धूमसंसक्तमस्तकाः।
मेघजालप्रतिच्छन्ना वैदूर्यगिरयो यथा ॥ २४ ॥

'जिनके शिखाओंपर होम-धूप छा रहे हैं, वे ये वृक्ष मेघसमूहोंसे आच्छादित हुए नीलमके पर्वतोंकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं ॥ २४ ॥

कुरु प्रणामं धर्मात्मंस्तेषामुद्दिश्य राघव।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रयतः संहताञ्जलिः ॥ २५ ॥

'धर्मात्मा रघुनन्दन! आप मनको एकाग्र करके दोनों हाथ जोड़कर भाई लक्ष्मणके साथ उन मुनियोंके उद्देश्यसे प्रणाम कीजिये ॥ २५ ॥

प्रणमन्ति हि ये तेषामृषीणां भावितात्मनाम्।
न तेषामशुभं किंचिच्छरीरे राम विद्यते ॥ २६ ॥

'श्रीराम! जो उन पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंको प्रणाम करते हैं, उनके शरीरमें किंचिन्मात्र भी अशुभ नहीं रह जाता है' ॥ २६ ॥

ततो रामः सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन कृताञ्जलिः।
समुद्दिश्य महात्मानस्तानृषीनभ्यवादयत् ॥ २७ ॥

तब भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उन महात्मा ऋषियोंके उद्देश्यसे प्रणाम किया ॥ २७ ॥

अभिवाद्य च धर्मात्मा रामो भ्राता च लक्ष्मणः।
सुग्रीवो वानराश्चैव जग्मुः संहृष्टमानसाः ॥ २८ ॥

धर्मात्मा श्रीराम, उनके छोटे भाई लक्ष्मण, सुग्रीव तथा अन्य सभी वानर उन ऋषियोंको प्रणाम करके प्रसन्नचित्त हो आगे बढ़े ॥ २८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं तस्मात् सप्तजनाश्रमात्।
ददृशुस्तां दुराधर्षां किष्किन्धां वालिपालिताम् ॥ २९ ॥

उस सप्तजनाश्रमसे दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके पश्चात् उन सबने वालीद्वारा सुरक्षित किष्किन्धापुरीको देखा ॥ २९ ॥

ततस्तु रामानुजरामवानराः
प्रगृह्य शस्त्राण्युदितोग्रतेजसः।
पुरीं सुरेशात्मजवीर्यपालितां
वधाय शत्रोः पुनरागतास्त्विह ॥ ३० ॥

तदनन्तर श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीराम तथा वानर, जिनका उग्रतेज उदित हुआ था, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रकुमार वालीके पराक्रमसे पालित किष्किन्धापुरीमें शत्रुवधके निमित्त पुनः आ पहुँचे ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

वाली-वधके लिये श्रीरामका आश्वासन पाकर सुग्रीवकी विकट गर्जना

**सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन् गहने वने॥ १॥**

वे सब लोग शीघ्रतापूर्वक वालीकी किष्किन्धापुरीमें पहुँचकर एक गहन वनमें वृक्षोंकी ओटमें अपने-आपको छिपाकर खड़े हो गये॥ १॥

**विसार्य सर्वतो दृष्टिं कानने काननप्रियः।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः क्रोधमाहारयद् भृशम्॥ २॥**

वनके प्रेमी विशाल ग्रीवावाले सुग्रीवने उस वनमें चारों ओर दृष्टि दौड़ायी और अपने मनमें अत्यन्त क्रोधका संचय किया॥ २॥

**ततस्तु निनदं घोरं कृत्वा युद्धाय चाह्वयत्।
परिवारैः परिवृतो नादैर्भिन्दन्निवाम्बरम्॥ ३॥**

तदनन्तर अपने सहायकोंसे घिरे हुए उन्होंने अपने सिंहनादसे आकाशको फाड़ते हुए-से घोर गर्जना की और वालीको युद्धके लिये ललकारा॥ ३॥

**गर्जन्निव महामेघो वायुवेगपुरःसरः।
अथ बालार्कसदृशो दृप्तसिंहगतिस्ततः॥ ४॥**

उस समय सुग्रीव वायुके वेगके साथ गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ते थे। अपनी अङ्गकान्ति और प्रतापके द्वारा प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते थे। उनकी चाल दर्पभरे सिंहके समान प्रतीत होती थी॥ ४॥

**दृष्ट्वा रामं क्रियादक्षं सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत्।
हरिवागुरया व्याप्तां तप्तकाञ्चनतोरणाम्॥ ५॥
प्राप्ताः स्म ध्वजयन्त्राढ्यां किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
प्रतिज्ञा या कृता वीर त्वया वालिवधे पुरा॥ ६॥
सफलां कुरु तां क्षिप्रं लतां काल इवागतः।**

कार्यकुशल श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर सुग्रीवने कहा—'भगवन्! वालीकी यह किष्किन्धापुरी तपाये हुए सुवर्णके द्वारा निर्मित नगरद्वारसे सुशोभित है। इसमें सब ओर वानरोंका जाल-सा बिछा हुआ है तथा यह ध्वजों और यन्त्रोंसे सम्पन्न है। हम सब लोग इस पुरीमें आ पहुँचे हैं। वीर! आपने पहले वाली-वधके लिये जो प्रतिज्ञा की थी, उसे अब शीघ्र सफल कीजिये। ठीक उसी तरह जैसे आया हुआ अनुकूल समय लताको फल-फूलसे सम्पन्न कर देता है'॥

**एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सुग्रीवेण स राघवः॥ ७॥
तमेवोवाच वचनं सुग्रीवं शत्रुसूदनः।**

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर शत्रुसूदन धर्मात्मा श्रीरघुनाथजीने फिर अपनी पूर्वोक्त बातको दुहराते हुए ही सुग्रीवसे कहा—॥

**कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया॥ ८॥
लक्ष्मणेन समुत्पाट्य एषा कण्ठे कृता तव।
शोभसेऽप्यधिकं वीर लतया कण्ठसक्तया॥ ९॥
विपरीत इवाकाशे सूर्यो नक्षत्रमालया।**

'वीर! अब तो इस गजपुष्पी लताके द्वारा तुमने अपनी पहचानके लिये चिह्न धारण कर ही लिया है। लक्ष्मणने इसे उखाड़कर तुम्हारे कण्ठमें पहना ही दिया है। तुम कण्ठमें धारण की हुई इस लताके द्वारा बड़ी शोभा पा रहे हो। यदि आकाशमें यह विपरीत घटना हो कि सूर्य-मण्डल नक्षत्र-मालासे घिर जाय, तभी इस कण्ठलम्बिनी लतासे सुशोभित होनेवाले तुम्हारी उस सूर्यसे तुलना हो सकती है॥ ८—९½॥

**अद्य वालिसमुत्थं ते भयं वैरं च वानर॥ १०॥
एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे।**

'वानरराज! आज मैं वालीसे उत्पन्न हुए तुम्हारे भय और वैर दोनोंको युद्धस्थलमें एक ही बार बाण छोड़कर मिटा दूँगा॥ १०½॥

**मम दर्शय सुग्रीव वैरिणं भ्रातृरूपिणम्॥ ११॥
वाली विनिहतो यावद्वने पांसुषु चेष्टते।**

'सुग्रीव! तुम मुझे अपने उस भ्रातारूपी शत्रुको दिखा तो दो। फिर वाली मारा जाकर वनके भीतर धूलमें लोटता दिखायी देगा॥ ११½॥

**यदि दृष्टिपथं प्राप्तो जीवन् स विनिवर्तते॥ १२॥
ततो दोषेण मा गच्छेत् सद्यो गर्हेच्च मां भवान्।**

'यदि मेरी दृष्टिमें पड़ जानेपर भी वह जीवित लौट जाय तो तुम मुझे दोषी समझना और तत्काल जी भरकर मेरी निन्दा करना॥ १२½॥

**प्रत्यक्षं सप्त ते साला मया बाणेन दारिताः॥ १३॥
तेनावेहि बलेनाद्य वालिनं निहतं रणे।**

'तुम्हारी आँखोंके सामने मैंने अपने एक ही बाणसे सात सालके वृक्ष विदीर्ण किये थे, मेरे उसी बलसे आज समराङ्गणमें (एक बाणसे ही) तुम वालीको मारा गया समझो॥ १३½॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे चिरं कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता ॥ १४ ॥
धर्मलोभपरीतेन न च वक्ष्ये कथंचन।
सफलां च करिष्यामि प्रतिज्ञां जहि संभ्रमम् ॥ १५ ॥

'बहुत समयसे संकट झेलते रहनेपर भी मैं कभी झूठ नहीं बोला हूँ। मेरे मनमें धर्मका लोभ है। इसलिये किसी तरह मैं झूठ तो बोलूँगा ही नहीं। साथ ही अपनी प्रतिज्ञाको भी अवश्य सफल करूँगा। अतः तुम भय और घबराहटको अपने हृदयसे निकाल दो ॥ १४-१५ ॥

प्रसूतं कलमक्षेत्रं वर्षेणेव शतक्रतुः।
तदाह्वाननिमित्तं च वालिनो हेममालिनः ॥ १६ ॥
सुग्रीव कुरु तं शब्दं निष्पतेद् येन वानरः।

'जैसे इन्द्र वर्षा करके उगे हुए धानके खेतको फलसे सम्पन्न करते हैं, उसी तरह मैं भी बाणका प्रयोग करके वालीके वधद्वारा तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा। इसलिये सुग्रीव! तुम सुवर्णमालाधारी वालीको बुलानेके लिये इस समय ऐसी गर्जना करो, जिससे तुम्हारा सामना करनेके लिये वह वानर नगरसे बाहर निकल आये ॥ १६½ ॥

जितकाशी जयश्लाघी त्वया चाधर्षितः पुरात् ॥ १७ ॥
निष्पतिष्यत्यसङ्गेन वाली स प्रियसंयुगः।

'वह अनेक युद्धोंमें विजय पाकर विजयश्रीसे सुशोभित हुआ है। सबपर विजय पानेकी इच्छा रखता है और उसने कभी तुमसे हार नहीं खायी है। इसके अलावे युद्धसे उसका बड़ा प्रेम है, अतः वाली कहीं भी आसक्त न होकर नगरके बाहर अवश्य निकलेगा ॥ १७½ ॥

रिपूणां धर्षितं श्रुत्वा मर्षयन्ति न संयुगे ॥ १८ ॥
जानन्तस्तु स्वकं वीर्यं स्त्रीसमक्षं विशेषतः।

'क्योंकि अपने पराक्रमको जाननेवाले वीर पुरुष, विशेषतः स्त्रियोंके सामने, युद्धके लिये शत्रुओंके तिरस्कारपूर्ण शब्द सुनकर कदापि सहन नहीं करते हैं' ॥ १८½ ॥

स तु रामवचः श्रुत्वा सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ॥ १९ ॥
ननर्द क्रूरनादेन विनिर्भिन्दन्निवाम्बरम्।

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सुवर्णके समान पिङ्गलवर्णवाले सुग्रीवने आकाशको विदीर्ण-सा करते हुए कठोर स्वरमें बड़ी भयंकर गर्जना की ॥ १९½ ॥

तत्र शब्देन वित्रस्ता गावो यान्ति हतप्रभाः ॥ २० ॥
राजदोषपरामृष्टाः कुलस्त्रिय इवाकुलाः।

उस सिंहनादसे भयभीत हो बड़े-बड़े बैल शक्तिहीन हो राजाके दोषसे परपुरुषोंद्वारा पकड़ी जानेवाली कुलाङ्गनाओंके समान व्याकुलचित्त हो सब ओर भाग चले ॥ २०½ ॥

द्रवन्ति च मृगाः शीघ्रं भग्ना इव रणे हयाः।
पतन्ति च खगा भूमौ क्षीणपुण्या इव ग्रहाः ॥ २१ ॥

मृग युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चोट खाकर भागे हुए घोड़ोंके समान तीव्र गतिसे भागने लगे और पक्षी जिनके पुण्य नष्ट हो गये हैं, ऐसे ग्रहोंके समान आकाशसे पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ २१ ॥

ततः स जीमूतकृतप्रणादो
नादं ह्यमुञ्चत् त्वरया प्रतीतः।
सूर्यात्मजः शौर्यविवृद्धतेजाः
सरित्पतिर्वानिलचञ्चलोर्मिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर जिनका सिंहनाद मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर था और शौर्यके द्वारा जिनका तेज बढ़ा हुआ था, वे सुविख्यात सूर्यकुमार सुग्रीव बड़ी उतावलीके साथ बारंबार गर्जना करने लगे, मानो वायुके वेगसे चञ्चल हुई उत्ताल तरङ्ग-मालाओंसे सुशोभित सरिताओंका स्वामी समुद्र कोलाहल कर रहा हो ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुग्रीवकी गर्जना सुनकर वालीका युद्धके लिये निकलना और ताराका उसे रोककर सुग्रीव और श्रीरामके साथ मैत्री कर लेनेके लिये समझाना

अथ तस्य निनादं तं सुग्रीवस्य महात्मनः।
शुश्रावान्तःपुरगतो वाली भ्रातुरमर्षणः ॥ १ ॥

उस समय अमर्षशील वाली अपने अन्तःपुरमें था। उसने अपने भाई महामना सुग्रीवका वह सिंहनाद वहींसे सुना ॥ १ ॥

श्रुत्वा तु तस्य निनदं सर्वभूतप्रकम्पनम्।
मदश्चैकपदे नष्टः क्रोधश्चापादितो महान्॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंको कम्पित कर देनेवाली उनकी वह गर्जना सुनकर उसका सारा मद सहसा उतर गया और उसे महान् क्रोध उत्पन्न हुआ॥ २॥

ततो रोषपरीताङ्गो वाली स कनकप्रभः।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः॥ ३ ॥

फिर तो सुवर्णके समान पीले रंगवाले वालीका सारा शरीर क्रोधसे तमतमा उठा। वह राहुग्रस्त सूर्यके समान तत्काल श्रीहीन दिखायी देने लगा॥ ३॥

वाली दंष्ट्राकरालस्तु क्रोधाद् दीप्ताग्निलोचनः।
भात्युत्पतितपद्माभः समृणाल इव ह्रदः॥ ४ ॥

वालीकी दाढ़ें विकराल थीं, नेत्र क्रोधके कारण प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे। वह उस तालाबके समान श्रीहीन दिखायी देता था, जिसमें कमलपुष्पोंकी शोभा तो नष्ट हो गयी हो और केवल मृणाल रह गये हों॥ ४॥

शब्दं दुर्मर्षणं श्रुत्वा निष्पपात ततो हरिः।
वेगेन च पदन्यासैर्दारयन्निव मेदिनीम्॥ ५ ॥

वह दुःसह शब्द सुनकर वाली अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको विदीर्ण-सी करता हुआ बड़े वेगसे निकला॥ ५॥

तं तु तारा परिष्वज्य स्नेहाद् दर्शितसौहृदा।
उवाच त्रस्तसम्भ्रान्ता हितोदर्कमिदं वचः॥ ६ ॥

उस समय वालीकी पत्नी तारा भयभीत हो घबरा उठी। उसने वालीको अपनी दोनों भुजाओंमें भर लिया और स्नेहसे सौहार्दका परिचय देते हुए परिणाममें हित करनेवाली यह बात कही—॥ ६॥

साधुः क्रोधमिमं वीर नदीवेगमिवागतम्।
शयनादुत्थितः काल्यं त्यज भुक्तामिव स्रजम्॥ ७ ॥

'वीर! मेरी अच्छी बात सुनिये और सहसा आये हुए नदीके वेगकी भाँति इस बढ़े हुए क्रोधको त्याग दीजिये। जैसे प्रातःकाल शय्यासे उठा हुआ पुरुष रातको उपभोगमें लायी गयी पुष्पमालाका त्याग कर देता है; उसी प्रकार इस क्रोधका परित्याग कीजिये॥ ७॥

काल्यमेतेन संग्रामं करिष्यसि च वानर।
वीर ते शत्रुबाहुल्यं फल्गुता वा न विद्यते॥ ८ ॥
सहसा तव निष्क्रामो मम तावन्न रोचते।
श्रूयतामभिधास्यामि यन्निमित्तं निवार्यते॥ ९ ॥

'वानरवीर! कल प्रातःकाल सुग्रीवके साथ युद्ध कीजियेगा (इस समय रुक जाइये)। यद्यपि युद्धमें कोई शत्रु आपसे बढ़कर नहीं है और आप किसीसे छोटे नहीं हैं। तथापि इस समय सहसा आपका घरसे बाहर निकलना मुझे अच्छा नहीं लगता है, आपको रोकनेका एक विशेष कारण भी है। उसे बताती हूँ, सुनिये॥ ८-९॥

पूर्वमापतितः क्रोधात् स त्वामाह्वयते युधि।
निष्पत्य च निरस्तस्ते हन्यमानो दिशो गतः॥ १० ॥

'सुग्रीव पहले भी यहाँ आये थे और क्रोधपूर्वक उन्होंने आपको युद्धके लिये ललकारा था। उस समय आपने नगरसे निकलकर उन्हें परास्त किया और वे आपकी मार खाकर सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भागते हुए मतङ्ग वनमें चले गये थे॥ १०॥

त्वया तस्य निरस्तस्य पीडितस्य विशेषतः।
इहैत्य पुनराह्वानं शङ्कां जनयतीव मे॥ ११ ॥

'इस प्रकार आपके द्वारा पराजित और विशेष पीड़ित होनेपर भी वे पुनः यहाँ आकर आपको युद्धके लिये ललकार रहे हैं। उनका यह पुनरागमन मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रहा है॥ ११॥

दर्पश्च व्यवसायश्च यादृशस्तस्य नर्दतः।
निनादस्य च संरम्भो नैतदल्पं हि कारणम्॥ १२ ॥

'इस समय गर्जते हुए सुग्रीवका दर्प और उद्योग जैसा दिखायी देता है तथा उनकी गर्जनामें जो उत्तेजना जान पड़ती है, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होना चाहिये॥ १२॥

नासहायमहं मन्ये सुग्रीवं तमिहागतम्।
अवष्टब्धसहायश्च यमाश्रित्यैष गर्जति॥ १३ ॥

'मैं समझती हूँ सुग्रीव किसी प्रबल सहायकके बिना अबकी बार यहाँ नहीं आये हैं। किसी सबल सहायकको साथ लेकर ही आये हैं, जिसके बलपर ये इस तरह गरज रहे हैं॥ १३॥

प्रकृत्या निपुणश्चैव बुद्धिमांश्चैव वानरः।
नापरीक्षितवीर्येण सुग्रीवः सख्यमेष्यति॥ १४ ॥

'वानर सुग्रीव स्वभावसे ही कार्यकुशल और बुद्धिमान् हैं। वे किसी ऐसे पुरुषके साथ मैत्री नहीं करेंगे, जिसके बल और पराक्रमको अच्छी तरह परख न लिया हो॥ १४॥

पूर्वमेव मया वीर श्रुतं कथयतो वचः।
अङ्गदस्य कुमारस्य वक्ष्याम्यद्य हितं वचः॥ १५ ॥

'वीर! मैंने पहले ही कुमार अङ्गदके मुँहसे यह बात

सुन ली है। इसलिये आज मैं आपके हितकी बात बताती हूँ ॥ १५ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः।
प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैरासीन्निवेदिता ॥ १६ ॥

'एक दिन कुमार अङ्गद वनमें गये थे। वहाँ गुप्तचरोंने उन्हें एक समाचार बताया, जो उन्होंने यहाँ आकर मुझसे भी कहा था ॥ १६ ॥

अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ।
इक्ष्वाकूणां कुले जातौ प्रथितौ रामलक्ष्मणौ ॥ १७ ॥

'वह समाचार इस प्रकार है—अयोध्यानरेशके दो शूरवीर पुत्र, जिन्हें युद्धमें जीतना अत्यन्त कठिन है; जिनका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें हुआ है तथा जो श्रीराम और लक्ष्मणके नामसे प्रसिद्ध हैं, यहाँ वनमें आये हुए हैं ॥ १७ ॥

सुग्रीवप्रियकामार्थं प्राप्तौ तत्र दुरासदौ।
स ते भ्रातुर्हि विख्यातः सहायो रणकर्मणि ॥ १८ ॥
रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥ १९ ॥

'वे दोनों दुर्जय वीर सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये उनके पास पहुँच गये हैं। उन दोनोंमेंसे जो आपके भाईके युद्ध-कर्ममें सहायक बताये गये हैं, वे श्रीराम शत्रुसेनाका संहार करनेवाले तथा प्रलयकालमें प्रज्वलित हुई अग्निके समान तेजस्वी हैं। वे साधु पुरुषोंके आश्रयदाता कल्पवृक्ष हैं और संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके लिये सबसे बड़ा सहारा हैं ॥ १८-१९ ॥

आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ॥ २० ॥

'आर्त पुरुषोंके आश्रय, यशके एकमात्र भाजन, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न तथा पिताकी आज्ञामें स्थित रहनेवाले हैं ॥ २० ॥

धातूनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान्।
तत् क्षमो न विरोधस्ते सह तेन महात्मना ॥ २१ ॥
दुर्जयेनाप्रमेयेण रामेण रणकर्मसु।

'जैसे गिरिराज हिमालय नाना धातुओंकी खान है, उसी प्रकार श्रीराम उत्तम गुणोंके बहुत बड़े भंडार हैं। अतः उन महात्मा रामके साथ आपका विरोध करना कदापि उचित नहीं है। क्योंकि वे युद्धकी कलामें अपना सानी नहीं रखते हैं। उनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है ॥ २१½ ॥

शूर वक्ष्यामि ते किंचिन्न चेच्छाम्यभ्यसूयितुम् ॥ २२ ॥
श्रूयतां क्रियतां चैव तव वक्ष्यामि यद्धितम्।

'शूरवीर! मैं आपके गुणोंमें दोष देखना नहीं चाहती। अतः आपसे कुछ कहती हूँ। आपके लिये जो हितकर है, वही बता रही हूँ। आप उसे सुनिये और वैसा ही कीजिये ॥ २२½ ॥

यौवराज्येन सुग्रीवं तूर्णं साध्वभिषेचय ॥ २३ ॥
विग्रहं मा कृथा वीर भ्रात्रा राजन् यवीयसा।

'अच्छा यही होगा कि आप सुग्रीवका शीघ्र ही युवराजके पदपर अभिषेक कर दीजिये। वीर वानरराज! सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं, उनके साथ युद्ध न कीजिये ॥ २३½ ॥

अहं हि ते क्षमं मन्ये तेन रामेण सौहृदम् ॥ २४ ॥
सुग्रीवेण च सम्प्रीतिं वैरमुत्सृज्य दूरतः।

'मैं आपके लिये यही उचित समझती हूँ कि आप वैरभावको दूर हटाकर श्रीरामके साथ सौहार्द और सुग्रीवके साथ प्रेमका सम्बन्ध स्थापित कीजिये ॥ २४½ ॥

लालनीयो हि ते भ्राता यवीयानेष वानरः ॥ २५ ॥
तत्र वा सन्निहस्थो वा सर्वथा बन्धुरेव ते।
नहि तेन समं बन्धुं भुवि पश्यामि कंचन ॥ २६ ॥

'वानर सुग्रीव आपके छोटे भाई हैं। अतः आपका लाड़-प्यार पानेके योग्य हैं। वे ऋष्यमूकपर रहें या किष्किन्धामें—सर्वथा आपके बन्धु ही हैं। मैं इस भूतलपर उनके समान बन्धु और किसीको नहीं देखती हूँ ॥ २५-२६ ॥

दानमानादिसत्कारैः कुरुष्व प्रत्यनन्तरम्।
वैरमेतत् समुत्सृज्य तव पार्श्वे स तिष्ठतु ॥ २७ ॥

'आप दान-मान आदि सत्कारोंके द्वारा उन्हें अपना अत्यन्त अन्तरङ्ग बना लीजिये, जिससे वे इस वैरभावको छोड़कर आपके पास रह सकें ॥ २७ ॥

सुग्रीवो विपुलग्रीवो महाबन्धुर्मतस्तव।
भ्रातृसौहृदमालम्ब्य नान्या गतिरिहास्ति ते ॥ २८ ॥

'पुष्ट ग्रीवावाले सुग्रीव आपके अत्यन्त प्रेमी बन्धु हैं, ऐसा मेरा मत है। इस समय भ्रातृप्रेमका सहारा लेनेके सिवा आपके लिये यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है ॥ २८ ॥

यदि ते मत्प्रियं कार्यं यदि चावैषि मां हिताम्।
याच्यमानः प्रियत्वेन साधु वाक्यं कुरुष्व मे ॥ २९ ॥

'यदि आपको मेरा प्रिय करना हो तथा आप मुझे अपनी हितकारिणी समझते हों तो मैं प्रेमपूर्वक याचना करती हूँ, आप मेरी यह नेक सलाह मान लीजिये ॥ २९ ॥

प्रसीद पथ्यं शृणु जल्पितं हि मे
न रोषमेवानुविधातुमर्हसि।

क्षमो हि ते कोशलराजसूनुना
न विग्रहः शक्रसमानतेजसा ॥ ३० ॥

'स्वामिन्! आप प्रसन्न होइये। मैं आपके हितकी बात कहती हूँ। आप इसे ध्यान देकर सुनिये। केवल रोषका ही अनुसरण न कीजिये। कोसलराजकुमार श्रीराम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। उनके साथ वैर बाँधना या युद्ध छेड़ना आपके लिये कदापि उचित नहीं है' ॥ ३० ॥

तदा हि तारा हितमेव वाक्यं
तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे।
न रोचते तद् वचनं हि तस्य
कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥ ३१ ॥

उस समय ताराने वालीसे उसके हितकी ही बात कही थी और यह लाभदायक भी थी। किंतु उसकी बात उसे नहीं रुची। क्योंकि उसके विनाशका समय निकट था और वह कालके पाशमें बँध चुका था ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

वालीका ताराको डाँटकर लौटाना और सुग्रीवसे जूझना तथा श्रीरामके बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर गिरना

तामेवं ब्रुवतीं तारां ताराधिपनिभाननाम्।
वाली निर्भर्त्सयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

तारापति चन्द्रमाके समान मुखवाली ताराको ऐसी बातें करती देख वालीने उसे फटकारा और इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

गर्जतोऽस्य सुसंरब्धं भ्रातुः शत्रोर्विशेषतः।
मर्षयिष्यामि केनापि कारणेन वरानने ॥ २ ॥

'वरानने! इस गर्जते हुए भाईकी, जो विशेषतः मेरा शत्रु है, यह उत्तेजनापूर्ण चेष्टा मैं किस कारणसे सहन करूँगा ॥ २ ॥

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वनिवर्तिनाम्।
धर्षणामर्षणं भीरु मरणादतिरिच्यते ॥ ३ ॥

'भीरु! जो कभी परास्त नहीं हुए और जिन्होंने युद्धके अवसरोंपर कभी पीठ नहीं दिखायी, उन शूरवीरोंके लिये शत्रुकी ललकार सह लेना मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायी होता है ॥ ३ ॥

सोढुं न च समर्थोऽहं युद्धकामस्य संयुगे।
सुग्रीवस्य च संरम्भं हीनग्रीवस्य गर्जितम् ॥ ४ ॥

'यह हीन ग्रीवावाला सुग्रीव संग्रामभूमिमें मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखता है। मैं इसके रोषावेश और गर्जन-तर्जनको सहन करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ४ ॥

न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति ॥ ५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी बात सोचकर भी तुम्हें मेरे लिये विषाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे धर्मके ज्ञाता तथा कर्तव्याकर्तव्यको समझनेवाले हैं। अतः पाप कैसे करेंगे ॥ ५ ॥

निवर्तस्व सह स्त्रीभिः कथं भूयोऽनुगच्छसि।
सौहृदं दर्शितं तावन्मयि भक्तिस्त्वया कृता ॥ ६ ॥
प्रतियोत्स्याम्यहं गत्वा सुग्रीवं जहि सम्भ्रमम्।
दर्पं चास्य विनेष्यामि न च प्राणैर्वियोक्ष्यते ॥ ७ ॥

'तुम इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ! क्यों मेरे पीछे बार-बार आ रही हो। तुमने मेरे प्रति अपना स्नेह दिखाया। भक्तिका भी परिचय दे दिया। अब जाओ। घबराहट छोड़ो। मैं आगे बढ़कर सुग्रीवका सामना करूँगा। उसके घमण्डको चूर-चूर कर डालूँगा; किंतु प्राण नहीं लूँगा ॥ ६-७ ॥

अहं ह्याजिस्थितस्यास्य करिष्यामि यदीप्सितम्।
वृक्षैर्मुष्टिप्रहारैश्च पीडितः प्रतियास्यति ॥ ८ ॥

'युद्धके मैदानमें खड़े हुए सुग्रीवकी जो-जो इच्छा है, उसे मैं पूर्ण करूँगा। वृक्षों और मुक्कोंकी मारसे पीडित होकर वह स्वयं ही भाग जायगा ॥ ८ ॥

न मे गर्वितमायस्तं सहिष्यति दुरात्मवान्।
कृतं तारे सहायत्वं दर्शितं सौहृदं मयि ॥ ९ ॥

'तारे! दुरात्मा सुग्रीव मेरे युद्धविषयक दर्प और आयास (उद्योग) को नहीं सह सकेगा। तुमने मेरी बौद्धिक सहायता अच्छी तरह कर दी और मेरे प्रति अपना सौहार्द भी दिखा दिया ॥ ९ ॥

शापितासि मम प्राणैर्निवर्तस्व जनेन च।

अलं जित्वा निवर्तिष्ये तमहं भ्रातरं रणे ॥ १० ॥

'अब मैं प्राणोंकी सौगन्ध दिलाकर कहता हूँ कि अब तुम इन स्त्रियोंके साथ लौट जाओ। अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है, मैं युद्धमें अपने उस भाईको जीतकर लौट आऊँगा' ॥ १० ॥

तं तु तारा परिष्वज्य वालिनं प्रियवादिनी।
चकार रुदती मन्दं दक्षिणा सा प्रदक्षिणम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर अत्यन्त उदार स्वभाववाली ताराने वालीका आलिङ्गन करके मन्द स्वरमें रोते-रोते उसकी परिक्रमा की॥११॥

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥ १२ ॥

वह पतिकी विजय चाहती थी और उसे मन्त्रका भी ज्ञान था। इसलिये उसने वालीकी मङ्गल-कामनासे स्वस्तिवाचन किया और शोकसे मोहित हो वह अन्य स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरको चली गयी ॥ १२ ॥

प्रविष्टायां तु तारायां सह स्त्रीभिः स्वमालयम्।
नगर्या निर्ययौ क्रुद्धो महासर्प इव श्वसन् ॥ १३ ॥

स्त्रियोंसहित ताराके अपने महलमें चले जानेपर वाली क्रोधसे भरे हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी साँस खींचता हुआ नगरसे बाहर निकला ॥ १३ ॥

स निःश्वस्य महारोषो वाली परमवेगवान्।
सर्वतश्चारयन् दृष्टिं शत्रुदर्शनकाङ्क्षया ॥ १४ ॥

महान् रोषसे युक्त और अत्यन्त वेगशाली वाली लम्बी साँस छोड़कर शत्रुको देखनेकी इच्छासे चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाने लगा ॥ १४ ॥

स ददर्श ततः श्रीमान् सुग्रीवं हेमपिङ्गलम्।
सुसंवीतमवष्टब्धं दीप्यमानमिवानलम् ॥ १५ ॥

इतनेहीमें श्रीमान् वालीने सुवर्णके समान पिङ्गल वर्णवाले सुग्रीवको देखा, जो लँगोट बाँधकर युद्धके लिये डटकर खड़े थे और प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥१५॥

तं स दृष्ट्वा महाबाहुः सुग्रीवं पर्यवस्थितम्।
गाढं परिदधे वासो वाली परमकोपनः ॥ १६ ॥

सुग्रीवको खड़ा देख महाबाहु वाली अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने अपना लँगोट भी दृढ़ताके साथ बाँध लिया ॥ १६ ॥

स वाली गाढसंवीतो मुष्टिमुद्यम्य वीर्यवान्।
सुग्रीवमेवाभिमुखो ययौ योद्धुं कृतक्षणः ॥ १७ ॥

लँगोटको मजबूतीके साथ कसकर पराक्रमी वाली प्रहारका अवसर देखता हुआ मुक्का तानकर सुग्रीवकी ओर चला ॥१७॥

श्लिष्टं मुष्टिं समुद्यम्य संरब्धतरमागतः।
सुग्रीवोऽपि समुद्दिश्य वालिनं हेममालिनम् ॥ १८ ॥

सुग्रीव भी सुवर्णमालाधारी वालीके उद्देश्यसे बँधा हुआ मुक्का ताने बड़े आवेशके साथ उसकी ओर बढ़े ॥ १८ ॥

तं वाली क्रोधताम्राक्षः सुग्रीवं रणकोविदम्।
आपतन्तं महावेगमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

युद्धकलाके पण्डित महावेगशाली सुग्रीवको अपनी ओर आते देख वालीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वह इस प्रकार बोला— ॥ १९ ॥

एष मुष्टिर्महान् बद्धो गाढः सुनियताङ्गुलिः।
मया वेगविमुक्तस्ते प्राणानादाय यास्यति ॥ २० ॥

सुग्रीव! देख ले। यह बड़ा भारी मुक्का खूब कसकर बँधा हुआ है। इसमें सारी अङ्गुलियाँ सुनियन्त्रितरूपसे परस्पर सटी हुई हैं। मेरे द्वारा वेगपूर्वक चलाया हुआ यह मुक्का तेरे प्राण लेकर ही जायगा' ॥ २० ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवः क्रुद्धो वालिनमब्रवीत्।
तव चैष हरन् प्राणान् मुष्टिः पततु मूर्धनि ॥ २१ ॥

वालीके ऐसा कहनेपर सुग्रीव क्रोधपूर्वक उससे बोले— 'मेरा यह मुक्का भी तेरे प्राण लेनेके लिये तेरे मस्तकपर गिरे' ॥ २१ ॥

ताडितस्तेन तं क्रुद्धः समभिक्रम्य वेगतः।
अभवच्छोणितोद्गारी सापीड इव पर्वतः ॥ २२ ॥

इतनेहीमें वालीने वेगपूर्वक आक्रमण करके सुग्रीवपर मुक्केका प्रहार किया। उस चोटसे घायल एवं कुपित हुए सुग्रीव झरनोंसे युक्त पर्वतकी भाँति मुँहसे रक्त वमन करने लगे ॥ २२ ॥

सुग्रीवेण तु निःशङ्कं सालमुत्पाट्य तेजसा।
गात्रेष्वभिहतो वाली वज्रेणेव महागिरिः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् सुग्रीवने भी निःशङ्क होकर बलपूर्वक एक सालवृक्षको उखाड़ लिया और उसे वालीके शरीरपर दे मारा, मानो इन्द्रने किसी विशाल पर्वतपर वज्रका प्रहार किया हो ॥ २३ ॥

स तु वृक्षेण निर्भग्नः सालताडनविह्वलः।
गुरुभारभराक्रान्ता नौः ससार्थेव सागरे ॥ २४ ॥

उस वृक्षकी चोटसे वालीके शरीरमें घाव हो गया। उस

आघातसे विह्वल हुआ वाली व्यापारियोंके समूहके चढ़नेसे भारी भारके द्वारा दबकर समुद्रमें डगमगाती हुई नौकाके समान काँपने लगा ॥ २४ ॥

तौ भीमबलविक्रान्तौ सुपर्णसमवेगितौ।
प्रवृद्धौ घोरवपुषौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥ २५ ॥

उन दोनों भाइयोंका बल और पराक्रम भयंकर था। दोनोंके ही वेग गरुड़के समान थे। वे दोनों भयंकर रूप धारण करके बड़े जोरसे जूझ रहे थे और पूर्णिमाके आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यके समान दिखायी देते थे ॥ २५ ॥

परस्परममित्रघ्नौ छिद्रान्वेषणतत्परौ।
ततोऽवर्धत वाली तु बलवीर्यसमन्वितः ॥ २६ ॥
सूर्यपुत्रो महावीर्यः सुग्रीवः परिहीयत।

वे शत्रुसूदन वीर अपने विपक्षीको मार डालनेकी इच्छासे एक-दूसरेकी दुर्बलता ढूँढ़ रहे थे; परंतु उस युद्धमें बल-विक्रमसम्पन्न वाली बढ़ने लगा और महापराक्रमी सूर्यपुत्र सुग्रीवकी शक्ति क्षीण होने लगी ॥ २६½ ॥

वालिना भग्नदर्पस्तु सुग्रीवो मन्दविक्रमः ॥ २७ ॥
वालिनं प्रति सामर्षो दर्शयामास राघवम्।

वालीने सुग्रीवका घमण्ड चूर्ण कर दिया। उनका पराक्रम मन्द पड़ने लगा। तब वालीके प्रति अमर्षमें भरे हुए सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीको अपनी अवस्थाका लक्ष्य कराया ॥ २७½ ॥

वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥ २८ ॥
मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः।
तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥ २९ ॥

इसके बाद डालियोंसहित वृक्षों, पर्वतके शिखरों, वज्रके समान भयंकर नखों, मुक्कों, घुटनों, लातों और हाथोंकी मारसे उन दोनोंमें इन्द्र और वृत्रासुरकी भाँति भयंकर संग्राम होने लगा ॥ २८-२९ ॥

तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ।
मेघाविव महाशब्दैस्तर्जमानौ परस्परम् ॥ ३० ॥

वे दोनों वनचारी वानर लहूलुहान होकर लड़ रहे थे और दो बादलोंकी तरह अत्यन्त भयंकर गर्जना करते हुए एक दूसरेको डाँट रहे थे ॥ ३० ॥

हीयमानमथापश्यत् सुग्रीवं वानरेश्वरम्।
प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥ ३१ ॥

श्रीरघुनाथजीने देखा, वानरराज सुग्रीव कमजोर पड़ रहे हैं और बारंबार इधर-उधर दृष्टि दौड़ा रहे हैं ॥ ३१ ॥

ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम्।
स शरं वीक्षते वीरो वालिनो वधकाङ्क्षया ॥ ३२ ॥

वानरराजको पीड़ित देख महातेजस्वी श्रीरामने वालीके वधकी इच्छासे अपने बाणपर दृष्टिपात किया ॥ ३२ ॥

ततो धनुषि संधाय शरमाशीविषोपमम्।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपने धनुषपर विषधर सर्पके समान भयंकर बाण रक्खा और उसे जोरसे खींचा, मानो यमराजने कालचक्र उठा लिया हो ॥ ३३ ॥

तस्य ज्यातलघोषेण त्रस्ताः पत्ररथेश्वराः।
प्रदुद्रुवुर्मृगाश्चैव युगान्त इव मोहिताः ॥ ३४ ॥

उसकी प्रत्यञ्चाकी टङ्कारध्वनिसे भयभीत हो बड़े-बड़े पक्षी और मृग भाग खड़े हुए। वे प्रलयकालके समय मोहित हुए जीवोंके समान किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ३४ ॥

मुक्तस्तु वज्रनिर्घोषः प्रदीप्ताशनिसंनिभः।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः ॥ ३५ ॥

श्रीरघुनाथजीने वज्रकी भाँति गड़गड़ाहट और प्रज्वलित अशनिकी भाँति प्रकाश पैदा करनेवाला वह महान् बाण छोड़ दिया तथा उसके द्वारा वालीके वक्षःस्थलपर चोट पहुँचायी ॥

ततस्तेन महातेजा वीर्ययुक्तः कपीश्वरः।
वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतले ॥ ३६ ॥

उस बाणसे वेगपूर्वक आहत हो महातेजस्वी पराक्रमी वानरराज वाली तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३६ ॥

इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतनः।
बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली चार्तस्वरः शनैः ॥ ३७ ॥

आश्विनकी पूर्णिमाके दिन इन्द्रध्वजोत्सवके अन्तमें ऊपर फेंका गया इन्द्रध्वज जैसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार वाली ग्रीष्मऋतुके अन्तमें श्रीहीन, अचेत और आँसुओंसे गद्गदकण्ठ हो धराशायी हो गया और धीरे-धीरे आर्तनाद करने लगा ॥ ३७ ॥

नरोत्तमः कालयुगान्तकोपमं
शरोत्तमं काञ्चनरूप्यभूषितम्।
ससर्ज दीप्तं तममित्रमर्दनं
सधूममग्निं मुखतो यथा हरः ॥ ३८ ॥

श्रीरामका वह उत्तम बाण युगान्तकालके समान भयंकर तथा सोने-चाँदीसे विभूषित था। पूर्वकालमें महादेवजीने

जैसे अपने मुखसे (मुख-मण्डलके अन्तर्गत ललाटवर्ती नेत्रसे) शत्रुभूत कामदेवका नाश करनेके लिये धूमयुक्त अग्निकी सृष्टि की थी, उसी प्रकार पुरुषोत्तम श्रीरामने सुग्रीवशत्रु वालीका मर्दन करनेके लिये उस प्रज्वलित बाणको छोड़ा था ॥ ३८ ॥

अथोक्षितः शोणिततोयविस्रवैः
सुपुष्पिताशोक इवानिलोद्धतः ।
विचेतनो वासवसूनुराहवे
प्रभ्रंशितेन्द्रध्वजवत् क्षितिं गतः ॥ ३९ ॥

इन्द्रकुमार वालीके शरीरसे पानीके समान रक्तकी धारा बहने लगी । वह उससे नहा गया और अचेत हो वायुके उखाड़े हुए पुष्पित अशोकवृक्ष एवं आकाशसे नीचे गिरे हुए इन्द्रध्वजके समान समराङ्गणमें पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

४७२/४७४/४...

सप्तदशः सर्गः

वालीका श्रीरामचन्द्रजीको फटकारना

ततः शरेणाभिहतो रामेण रणकर्कशः ।
पपात सहसा वाली निकृत्त इव पादपः ॥ १ ॥

युद्धमें कठोरता दिखानेवाला वाली श्रीरामके बाणसे घायल हो कटे वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १ ॥

स भूमौ न्यस्तसर्वाङ्गस्तप्तकाञ्चनभूषणः ।
अपतद् देवराजस्य मुक्तरश्मिरिव ध्वजः ॥ २ ॥

उसका सारा शरीर पृथ्वीपर पड़ा हुआ था । तपाये हुए सुवर्णके आभूषण अब भी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । वह देवराज इन्द्रके बन्धनरहित ध्वजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा था ॥ २ ॥

अस्मिन् निपतिते भूमौ हर्यृक्षाणां गणेश्वरे ।
नष्टचन्द्रमिव व्योम न व्यराजत मेदिनी ॥ ३ ॥

वानरों और भालुओंके यूथपति वालीके धराशायी हो जानेपर यह पृथ्वी चन्द्ररहित आकाशकी भाँति शोभाहीन हो गयी ॥ ३ ॥

भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः ।
न श्रीर्जहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर पड़े होनेपर भी महामना वालीके शरीरको शोभा, प्राण, तेज और पराक्रम नहीं छोड़ सके थे ॥ ४ ॥

शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता ।
दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा ॥ ५ ॥

इन्द्रकी दी हुई रत्नजटित श्रेष्ठ सुवर्णमाला उस वानरराजके प्राण, तेज और शोभाको धारण किये हुए थी ॥ ५ ॥

स तया मालया वीरो हैमया हरियूथपः ।
संध्यानुगतपर्यन्तः पयोधर इवाभवत् ॥ ६ ॥

उस सुवर्णमालासे विभूषित हुआ वानरयूथपति वीर वाली संध्याकी लालीसे रँगे हुए प्रान्त भागवाले मेघखण्डके समान शोभा पा रहा था ॥ ६ ॥

तस्य माला च देहश्च मर्मघाती च यः शरः ।
त्रिधेव रचिता लक्ष्मीः पतितस्यापि शोभते ॥ ७ ॥

पृथ्वीपर गिरे होनेपर भी वालीकी वह सुवर्णमाला, उसका शरीर तथा मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाला वह बाण—ये तीनों पृथक्-पृथक् तीन भागोंमें विभक्त की हुई अङ्गलक्ष्मीके समान शोभा पा रहे थे ॥ ७ ॥

तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम् ।
रामबाणासनक्षिप्तमावहत् परमां गतिम् ॥ ८ ॥

वीरवर श्रीरामके धनुषसे चलाये गये उस अस्त्रने वालीके लिये स्वर्गका मार्ग प्रकाशित कर दिया और उसे परमपदको पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

तं तथा पतितं संख्ये गतार्चिषमिवानलम् ।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकादिह च्युतम् ॥ ९ ॥
आदित्यमिव कालेन युगान्ते भुवि पातितम् ।
महेन्द्रमिव दुर्धर्षमुपेन्द्रमिव दुःसहम् ॥ १० ॥
महेन्द्रपुत्रं पतितं वालिनं हेममालिनम् ।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं दीप्तास्यं हरिलोचनम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार युद्धस्थलमें गिरा हुआ इन्द्रपुत्र वाली ज्वालारहित अग्निके समान, पुण्योंका क्षय होनेपर पुण्यलोकसे इस पृथ्वीपर गिरे हुए राजा ययातिके समान तथा महाप्रलयके समय कालद्वारा पृथ्वीपर गिराये गये सूर्यके समान जान पड़ता था । उसके गलेमें सोनेकी माला शोभा दे रही थी । वह महेन्द्रके समान दुर्जय और भगवान् विष्णुके समान दुस्सह था । उसकी छाती चौड़ी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी, मुख दीप्तिमान् और नेत्र कपिलवर्णके थे ॥ ९—११ ॥

लक्ष्मणानुचरो रामो ददर्शोपससर्प च ।
तं तथा पतितं वीरं गतार्चिषमिवानलम् ॥ १२ ॥
बहुमान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव ।
उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

लक्ष्मणको साथ लिये श्रीरामने वालीको इस अवस्थामें देखा और वे उनके समीप गये। इस प्रकार ज्वालारहित अग्निकी भाँति वहाँ गिरा हुआ वह वीर धीरे-धीरे देख रहा था। महापराक्रमी दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस वीरका विशेष सम्मान करते हुए उसके पास गये ॥ १२-१३ ॥

तं दृष्ट्वा राघवं वाली लक्ष्मणं च महाबलम्।
अब्रवीत् परुषं वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ॥ १४ ॥

उन श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको देखकर वाली धर्म और विनयसे युक्त कठोर वाणीमें बोला—॥ १४ ॥

स भूमावल्पतेजोऽसुर्निहतो नष्टचेतनः।
अर्थसंहितया वाचा गर्वितं रणगर्वितम् ॥ १५ ॥

अब उसमें तेज और प्राण स्वल्पमात्रामें ही रह गये थे। वह बाणसे घायल होकर पृथ्वीपर पड़ा था और उसकी चेष्टा धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी। उसने युद्धमें गर्वयुक्त पराक्रम प्रकट करनेवाले गर्वीले श्रीरामसे कठोर वाणीमें इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ १५ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रथितः प्रियदर्शनः।
पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः।
यदहं युद्धसंरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन! आप राजा दशरथके सुविख्यात पुत्र हैं। आपका दर्शन सबको प्रिय है। मैं आपसे युद्ध करने नहीं आया था। मैं तो दूसरेके साथ युद्धमें उलझा हुआ था। उस दशामें आपने मेरा वध करके यहाँ कौन-सा गुण प्राप्त किया है—किस महान् यशका उपार्जन किया है? क्योंकि मैं युद्धके लिये दूसरेपर रोष प्रकट कर रहा था, किंतु आपके कारण बीचमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः।
रामः करुणवेदी च प्रजानां च हिते रतः ॥ १७ ॥
सानुक्रोशो महोत्साहः समयज्ञो दृढव्रतः।
इत्येतत् सर्वभूतानि कथयन्ति यशो भुवि ॥ १८ ॥

'इस भूतलपर सब प्राणी आपके यशका वर्णन करते हुए कहते हैं—श्रीरामचन्द्रजी कुलीन, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी, उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले, करुणाका अनुभव करनेवाले, प्रजाके हितैषी, दयालु, महान् उत्साही, समयोचित कार्य एवं सदाचारके ज्ञाता और दृढ़प्रतिज्ञ हैं ॥ १७-१८ ॥

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु ॥ १९ ॥

'राजन्! इन्द्रियनिग्रह, मनका संयम, क्षमा, धर्म, धैर्य, सत्य, पराक्रम तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये राजाके गुण हैं ॥ १९ ॥

तान् गुणान् सम्प्रधार्याहमग्र्यं चाभिजनं तव।
तारया प्रतिषिद्धः सन् सुग्रीवेण समागतः ॥ २० ॥

'मैं आपमें इन सभी सद्गुणोंका विश्वास करके आपके उत्तम कुलको यादकर ताराके मना करनेपर भी सुग्रीवके साथ लड़ने आ गया ॥ २० ॥

न मामन्येन संरब्धं प्रमत्तं वेद्धुमर्हसि।
इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव ॥ २१ ॥

'जबतक मैंने आपको नहीं देखा था, तबतक मेरे मनमें यही विचार उठता था कि दूसरेके साथ रोषपूर्वक जूझते हुए मुझको आप असावधान अवस्थामें अपने बाणसे वेधना उचित नहीं समझेंगे ॥ २१ ॥

स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ २२ ॥

'परंतु आज मुझे मालूम हुआ कि आपकी बुद्धि मारी गयी है। आप धर्मध्वजी हैं। दिखावेके लिये धर्मका चोला पहने हुए हैं। वास्तवमें अधर्मी हैं। आपका आचार-व्यवहार पापपूर्ण है। आप घास-फूससे ढके हुए कूपके समान धोखा देनेवाले हैं ॥ २२ ॥

सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम्।
नाहं त्वामभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम् ॥ २३ ॥

'आपने साधु पुरुषोंका-सा वेश धारण कर रक्खा है; परंतु हैं पापी। राखसे ढकी हुई आगके समान आपका असली रूप साधु-वेषमें छिप गया है। मैं नहीं जानता था कि आपने लोगोंको छलनेके लिये ही धर्मकी आड़ ली है ॥ २३ ॥

विषये वा पुरे वा ते यदा पापं करोम्यहम्।
न च त्वामवजानेऽहं कस्मात् तं हंस्यकिल्बिषम् ॥ २४ ॥

'जब मैं आपके राज्य या नगरमें कोई उपद्रव नहीं कर रहा था तथा आपका भी तिरस्कार नहीं करता था, तब आपने मुझ निरपराधको क्यों मारा? ॥ २४ ॥

फलमूलाशनं नित्यं वानरं वनगोचरम्।
मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम् ॥ २५ ॥

'मैं सदा फल-मूलका भोजन करनेवाला और वनमें ही विचरनेवाला वानर हूँ। मैं यहाँ आपसे युद्ध नहीं करता था, दूसरेके साथ मेरी लड़ाई हो रही थी। फिर बिना अपराधके आपने मुझे क्यों मारा! ॥ २५ ॥

त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रतीतः प्रियदर्शनः।
लिङ्गमप्यस्ति ते राजन् दृश्यते धर्मसंहितम् ॥ २६ ॥

'राजन्! आप एक सम्माननीय नरेशके पुत्र हैं। विश्वासके योग्य हैं और देखनेमें भी प्रिय हैं। आपमें धर्मका साधनभूत चिह्न (जटा) वल्कल धारण आदि भी प्रत्यक्ष दिखायी देता है ॥ २६ ॥

कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान् नष्टसंशयः।
धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत् ॥ २७ ॥

'क्षत्रियकुलमें उत्पन्न शास्त्रका ज्ञाता, संशयरहित तथा धार्मिक वेष-भूषासे आच्छन्न होकर भी कौन मनुष्य ऐसा क्रूरतापूर्ण कर्म कर सकता है ॥ २७ ॥

त्वं राघवकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः।
अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसे ॥ २८ ॥

'महाराज ! रघुके कुलमें आपका प्रादुर्भाव हुआ है। आप धर्मात्माके रूपमें प्रसिद्ध हैं तो भी इतने अभव्य (क्रूर) निकले ! यदि यही आपका असली रूप है तो फिर किस लिये ऊपरसे भव्य (विनीत एवं दयालु) साधु पुरुषका-सा रूप धारण करके चारों ओर दौड़ते-फिरते हैं ? ॥ २८ ॥

साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु ॥ २९ ॥

'राजन् ! साम, दान, क्षमा, धर्म, सत्य, धृति, पराक्रम और अपराधियोंको दण्ड देना—ये भूपालोंके गुण हैं ॥२९॥

वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशिनः।
एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं नरेश्वर ॥ ३० ॥

'नरेश्वर राम ! हम फल-मूल खानेवाले वनचारी मृग हैं। यही हमारी प्रकृति है; किंतु आप तो पुरुष (मनुष्य) हैं (अतः हमारे और आपमें वैरका कोई कारण नहीं है) ॥ ३० ॥

भूमिर्हिरण्यं रूपं च विग्रहे कारणानि च।
तत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा ॥ ३१ ॥

'पृथ्वी, सोना और चाँदी—इन्हीं वस्तुओंके लिये राजाओंमें परस्पर युद्ध होते हैं। ये ही तीन कलहके मूल कारण हैं। परंतु यहाँ वे भी नहीं हैं। इस दिशामें इस वनमें या हमारे फलोंमें आपका क्या लोभ हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि।
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ॥ ३२ ॥

'नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह—ये राजधर्म हैं, किंतु इनके उपयोगके भिन्न-भिन्न अवसर हैं (इनका अविवेकपूर्वक उपयोग करना उचित नहीं है)। राजाओंको स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये ॥ ३२ ॥

त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थितः।
राजवृत्तेषु संकीर्णः शरासनपरायणः ॥ ३३ ॥

'परंतु आप तो कामके गुलाम, क्रोधी और मर्यादामें स्थित न रहनेवाले—चञ्चल हैं। नय-विनय आदि जो राजाओंके धर्म हैं, उनके अवसरका विचार किये बिना ही किसीका कहीं भी प्रयोग कर देते हैं। जहाँ कहीं भी बाण चलाते-फिरते हैं ॥

न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता।
इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्यसे मनुजेश्वर ॥ ३४ ॥

'आपका धर्मके विषयमें आदर नहीं है और न अर्थ-साधनमें ही आपकी बुद्धि स्थिर है। नरेश्वर ! आप स्वेच्छाचारी हैं। इसलिये आपकी इन्द्रियाँ आपको कहीं भी खींच ले जाती हैं ॥ ३४ ॥

हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ॥ ३५ ॥

'काकुत्स्थ ! मैं सर्वथा निरपराध था तो भी यहाँ मुझे बाणसे मारनेका घृणित कर्म करके सत्पुरुषोंके बीचमें आप क्या कहेंगे ? ॥ ३५ ॥

राजहा ब्रह्महा गोघ्नश्चोरः प्राणिवधे रतः।
नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः ॥ ३६ ॥

'राजाका वध करनेवाला, ब्रह्म-हत्यारा, गोघाती, चोर, प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर रहनेवाला, नास्तिक और परिवेत्ता (बड़े भाईके अविवाहित रहते अपना विवाह करनेवाला छोटा भाई)—ये सब-के-सब नरकगामी होते हैं ॥ ३६ ॥

सूचकश्च कदर्यश्च मित्रघ्नो गुरुतल्पगः।
लोकं पापात्मनामेते गच्छन्ते नात्र संशयः ॥ ३७ ॥

'चुगली खानेवाला, लोभी, मित्र-हत्यारा तथा गुरुपत्नी-गामी—ये पापात्माओंके लोकमें जाते हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ ३७ ॥

अधार्यं चर्म मे सद्भी रोमाण्यस्थि च वर्जितम्।
अभक्ष्याणि च मांसानि त्वद्विधैर्धर्मचारिभिः ॥ ३८ ॥

'हम वानरोंका चमड़ा भी तो सत्पुरुषोंके धारण करने योग्य नहीं होता। हमारे रोम और हड्डियाँ भी वर्जित हैं (छूने योग्य नहीं हैं। आप-जैसे धर्मचारी पुरुषोंके लिये मांस तो सदा ही अभक्ष्य है; फिर किस लोभसे आपने मुझ वानरको अपने बाणोंका शिकार बनाया है ?) ॥ ३८ ॥

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः ॥ ३९ ॥

'रघुनन्दन ! त्रैवर्णिकोंमें जिनकी किसी कारणसे मांसाहार (जैसे निन्दनीय कर्म) में प्रवृत्ति हो गयी है, उनके लिये भी पाँच नखवाले जीवोंमेंसे पाँच ही भक्षणके योग्य बताये गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—गेंडा, साही, गोह, खरहा और पाँचवाँ कछुआ ॥ ३९ ॥

चर्म चास्थि च मे राम न स्पृशन्ति मनीषिणः।
अभक्ष्याणि च मांसानि सोऽहं पञ्चनखो हतः ॥ ४० ॥

'श्रीराम ! मनीषी पुरुष मेरे (वानरके) चमड़े और हड्डीका स्पर्श नहीं करते। वानरके मांस भी सभीके लिये अभक्ष्य होते हैं। इस तरह जिसका सब कुछ निषिद्ध है, ऐसा पाँच नखवाला मैं आज आपके हाथसे मारा गया हूँ ॥

तारया वाक्यमुक्तोऽहं सत्यं सर्वज्ञया हितम्।
तदतिक्रम्य मोहेन कालस्य वशमागतः ॥ ४१ ॥

'मेरी स्त्री तारा सर्वज्ञ है। उसने मुझे सत्य और हितकी बात बतायी थी। किंतु मोहवश उसका उल्लङ्घन करके मैं कालके अधीन हो गया ॥ ४१ ॥

त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुंधरा।
प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा ॥ ४२ ॥

'काकुत्स्थ ! जैसे सुशीला युवती पापात्मा पतिसे सुरक्षित नहीं हो पाती, उसी प्रकार आप-जैसे स्वामीको पाकर यह वसुधा सनाथ नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

शठो नैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्याप्रश्रितमानसः ।
कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना ॥ ४३ ॥

'आप शठ (छिपे रहकर दूसरोंका अप्रिय करनेवाले), अपकारी, क्षुद्र और झूठे ही शान्तचित्त बने रहनेवाले हैं । महात्मा राजा दशरथने आप-जैसे पापीको कैसे उत्पन्न किया ॥

छिन्नचारित्र्यकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना ।
त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना ॥ ४४ ॥

'हाय ! जिसने सदाचारका रस्सा तोड़ डाला है, सत्पुरुषोंके धर्म एवं मर्यादाका उल्लङ्घन किया है तथा जिसने धर्मरूपी अङ्कुशकी भी अवहेलना कर दी है, उस रामरूपी हाथीके द्वारा आज मैं मारा गया ॥ ४४ ॥

अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम् ।
वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ॥ ४५ ॥

'ऐसा अशुभ, अनुचित और सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित कर्म करके आप श्रेष्ठ पुरुषोंसे मिलनेपर उनके सामने क्या कहेंगे ॥ ४५ ॥

उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः ।
अपकारिषु ते राम नैवं पश्यामि विक्रमम् ॥ ४६ ॥

'श्रीराम ! हम उदासीन प्राणियोंपर आपने जो यह पराक्रम प्रकट किया है, ऐसा बल-पराक्रम आप अपना अपकार करनेवालोंपर प्रकट कर रहे हों, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता ॥ ४६ ॥

दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज ।
अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया ॥ ४७ ॥

'राजकुमार ! यदि आप युद्धस्थलमें मेरी दृष्टिके सामने आकर मेरे साथ युद्ध करते तो आज मेरे द्वारा मारे जाकर सूर्यपुत्र यम देवताका दर्शन करते होते ॥ ४७ ॥

त्वयादृश्येन तु रणे निहतोऽहं दुरासदः ।
प्रसुप्तः पन्नगेनैव नरः पापवशं गतः ॥ ४८ ॥

'जैसे किसी सोये हुए पुरुषको साँप आकर डँस ले और वह मर जाय, उसी प्रकार रणभूमिमें मुझ दुर्जय वीरको आपने छिपे रहकर मारा है तथा ऐसा करके आप पापके भागी हुए हैं ॥ ४८ ॥

सुग्रीवप्रियकामेन यदहं निहतस्त्वया ।
मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः ।
मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान् भवेः ॥ ४९ ॥

'जिस उद्देश्यको लेकर सुग्रीवका प्रिय करनेकी कामनासे आपने मेरा वध किया है, उसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यदि आपने पहले मुझसे ही कहा होता तो मैं मिथिलेशकुमारी जानकीको एक ही दिनमें ढूँढ़कर आपके पास ला देता ॥

राक्षसं च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम् ।
कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां तेऽनिहतं रावणं रणे ॥ ५० ॥

'आपकी पत्नीका अपहरण करनेवाले दुरात्मा राक्षस रावणको मैं युद्धमें मारे बिना ही उसके गलेमें रस्सी बाँधकर पकड़ लाता और उसे आपके हवाले कर देता ॥ ५० ॥

न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम् ।
आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव ॥ ५१ ॥

'जैसे मधुकैटभद्वारा अपहृत हुई श्वेताश्वतरी श्रुतिका भगवान् हयग्रीवने उद्धार किया था, उसी प्रकार मैं आपके आदेशसे मिथिलेशकुमारी सीताको यदि वे समुद्रके जलमें या पातालमें रक्खी गयी होतीं तो भी वहाँसे ला देता ॥५१॥

युक्तं यत्प्राप्नुयाद् राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि ।
अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे ॥ ५२ ॥

'मेरे स्वर्गवासी हो जानेपर सुग्रीव जो यह राज्य प्राप्त करेंगे, वह तो उचित ही है । अनुचित इतना ही हुआ है कि आपने मुझे रणभूमिमें अधर्मपूर्वक मारा है ॥ ५२ ॥

काममेवंविधो लोकः कालेन विनियुज्यते ।
क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् ॥ ५३ ॥

'यह जगत् कभी-न-कभी कालके अधीन होता ही है । इसका ऐसा स्वभाव ही है । अतः भले ही मेरी मृत्यु हो जाय । इसके लिये मुझे खेद नहीं है । परंतु मेरे इस तरह मारे जानेका यदि आपने उचित उत्तर ढूँढ़ निकाला हो तो उसे अच्छी तरह सोच-विचारकर कहिये' ॥ ५३ ॥

इत्येवमुक्त्वा परिशुष्कवक्त्रः
शराभिघाताद् व्यथितो महात्मा ।
समीक्ष्य रामं रविसंनिकाशं
तूष्णीं बभौ वानरराजसूनुः ॥ ५४ ॥

ऐसा कहकर महामनस्वी वानरराजकुमार वाली सूर्यके समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर चुप हो गया । उसका मुँह सूख गया था और बाणके आघातसे उसको बड़ी पीड़ा हो रही थी ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका वालीकी बातका उत्तर देते हुए उसे दिये गये दण्डका औचित्य बताना, वालीका निरुत्तर होकर भगवान्‌से अपने अपराधके लिये क्षमा माँगते हुए अङ्गदकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे आश्वासन देना

इत्युक्तः प्रश्रितं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
परुषं वालिना रामो निहतेन विचेतसा ॥ १ ॥
तं निष्प्रभमिवादित्यं मुक्ततोयमिवाम्बुदम् ।
उक्तवाक्यं हरिश्रेष्ठमुपशान्तमिवानलम् ॥ २ ॥
धर्मार्थगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम् ।
अधिक्षिप्तस्तदा रामः पश्चाद् वालिनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वहाँ मारे जाकर अचेत हुए वालीने जब इस प्रकार विनयाभास, धर्माभास, अर्थाभास और हिताभाससे युक्त कठोर बातें कहीं, आक्षेप किया, तब उन बातोंको कहकर मौन हुए वानरश्रेष्ठ वालीसे श्रीरामचन्द्रजीने धर्म, अर्थ और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त परम उत्तम बात कही । उस समय वाली प्रभाहीन सूर्य, जलहीन बादल और बुझी हुई आगके समान श्रीहीन प्रतीत होता था ॥ १—३ ॥

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम् ।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे ॥ ४ ॥

(श्रीराम बोले—) 'वानर ! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक सदाचारको तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो । फिर बालोचित अविवेकके कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो ? ॥ ४ ॥

अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान् वृद्धानाचार्यसम्मतान् ।
सौम्य वानरचापल्यात् त्वं मां वक्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

'सौम्य ! तुम आचार्योंद्वारा सम्मानित बुद्धिमान् वृद्ध पुरुषोंसे पूछे बिना ही—उनसे धर्मके स्वरूपको ठीक-ठीक समझे बिना ही वानरोचित चपलतावश मुझे यहाँ उपदेश देना चाहते हो ? अथवा मुझपर आक्षेप करनेकी इच्छा रखते हो ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥ ६ ॥

'पर्वत, वन और काननोंसे युक्त यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी है; अतः वे यहाँके पशु-पक्षी और मनुष्योंपर दया करने और उन्हें दण्ड देनेके भी अधिकारी हैं ॥६॥

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः ।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥ ७ ॥

'धर्मात्मा राजा भरत इस पृथ्वीका पालन करते हैं । वे सत्यवादी, सरल तथा धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वको जाननेवाले हैं; अतः दुष्टोंके निग्रह तथा साधु पुरुषोंके प्रति अनुग्रह करनेमें तत्पर रहते हैं ॥ ७ ॥

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यं च सुस्थितम् ।
विक्रमश्च यथा दृष्टः स राजा देशकालवित् ॥ ८ ॥

'जिसमें नीति, विनय, सत्य और पराक्रम आदि सभी राजोचित गुण यथावत्‌रूपसे स्थित देखे जायँ, वही देश-कालतत्त्वको जाननेवाला राजा होता है (भरतमें ये सभी गुण विद्यमान हैं) ॥ ८ ॥

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः ।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः ॥ ९ ॥

'भरतकी ओरसे हमें तथा दूसरे राजाओंको यह आदेश प्राप्त है कि जगत्‌में धर्मके पालन और प्रसारके लिये यत्न किया जाय । इसलिये हमलोग धर्मका प्रचार करनेकी इच्छासे सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ९ ॥

तस्मिन् नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले ।
पालयत्यखिलां पृथ्वीं कश्चरेद् धर्मविप्रियम् ॥ १० ॥

'राजाओंमें श्रेष्ठ भरत धर्मपर अनुराग रखनेवाले हैं । वे समूची पृथ्वीका पालन कर रहे हैं । उनके रहते हुए इस पृथ्वीपर कौन प्राणी धर्मके विरुद्ध आचरण कर सकता है ? ॥ १० ॥

ते वयं मार्गविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः ।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि ॥ ११ ॥

'हम सब लोग अपने श्रेष्ठ धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर भरतकी आज्ञाको सामने रखते हुए धर्ममार्गसे भ्रष्ट पुरुषको विधिपूर्वक दण्ड देते हैं ॥ ११ ॥

त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः ।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि ॥ १२ ॥

'तुमने अपने जीवनमें कामको ही प्रधानता दे रक्खी थी । राजोचित मार्गपर तुम कभी स्थिर नहीं रहे । तुमने सदा ही धर्मको बाधा पहुँचायी और बुरे कर्मोंके कारण सत्पुरुषोंद्वारा सदा तुम्हारी निन्दा की गयी ॥ १२ ॥

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ॥ १३ ॥

'बड़ा भाई, पिता तथा जो विद्या देता है, वह गुरु—ये तीनों धर्ममार्गपर स्थित रहनेवाले पुरुषोंके लिये पिताके तुल्य माननीय हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १३ ॥

यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः ।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम् ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार छोटा भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीन पुत्रके तुल्य समझे जाने योग्य हैं। उनके प्रति ऐसा भाव रखनेमें धर्म ही कारण है ॥ १४ ॥

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम् ॥ १५ ॥

'वानर! सज्जनोंका धर्म सूक्ष्म होता है वह परम दुर्ज्ञेय है—उसे समझना अत्यन्त कठिन है। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान जो परमात्मा हैं, वे ही सबके शुभ और अशुभको जानते हैं ॥ १५ ॥

चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन् प्रेक्षसे नु किम् ॥ १६ ॥

'तुम स्वयं भी चपल हो और चञ्चल चित्तवाले अजितात्मा वानरोंके साथ रहते हो; अतः जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष जन्मान्धोंसे ही रास्ता पूछे, उसी प्रकार तुम उन चपल वानरोंके साथ परामर्श करते हो फिर तुम धर्मका विचार क्या कर सकते हो? —उसके स्वरूपको कैसे समझ सकते हो? ॥ १६ ॥

अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते।
नहि मां केवलं रोषात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

'मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, उसका अभिप्राय तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ। तुम्हें केवल रोषवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ १७ ॥

तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥ १८ ॥

'मैंने तुम्हें क्यों मारा है? उसका कारण सुनो और समझो। तुम सनातन धर्मका त्याग करके अपने छोटे भाईकी स्त्रीसे सहवास करते हो ॥ १८ ॥

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥ १९ ॥

'इस महामना सुग्रीवके जीते-जी इसकी पत्नी रुमाका, जो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है, कामवश उपभोग करते हो। अतः पापाचारी हो ॥ १९ ॥

तद् व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य महात्मनः।
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः ॥ २० ॥

'वानर! इस तरह तुम धर्मसे भ्रष्ट हो स्वेच्छाचारी हो गये हो और अपने भाईकी स्त्रीको गले लगाते हो। तुम्हारे इसी अपराधके कारण तुम्हें यह दण्ड दिया गया है ॥ २० ॥

नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप ॥ २१ ॥

'वानरराज! जो लोकाचारसे भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसे रोकने या राहपर लानेके लिये मैं दण्डके सिवा और कोई उपाय नहीं देखता ॥ २१ ॥

न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ॥ २२ ॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।

'मैं उत्तम कुलमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ; अतः मैं तुम्हारे पापको क्षमा नहीं कर सकता। जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन अथवा छोटे भाईकी स्त्रीके पास काम-बुद्धिसे जाता है, उसका वध करना ही उसके लिये उपयुक्त दण्ड माना गया है ॥ २२½ ॥

भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः ॥ २३ ॥
त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम्।

'हमारे राजा भरत हैं। हमलोग तो केवल उनके आदेशका पालन करनेवाले हैं। तुम धर्मसे गिर गये हो; अतः तुम्हारी उपेक्षा कैसे की जा सकती थी ॥ २३½ ॥

गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥ २४ ॥
भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः।

'विद्वान् राजा भरत महान् धर्मसे भ्रष्ट हुए पुरुषको दण्ड देते और धर्मात्मा पुरुषका धर्मपूर्वक पालन करते हुए कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषोंके निग्रहमें तत्पर रहते हैं ॥ २४½ ॥

वयं तु भरतादेशावधिं कृत्वा हरीश्वर।
त्वद्विधान् भिन्नमर्यादान् निग्रहीतुं व्यवस्थिताः ॥ २५ ॥

'हरीश्वर! हमलोग तो भरतकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले तुम्हारे-जैसे लोगोंको दण्ड देनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं ॥ २५ ॥

सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा।
दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसकरः स मे ॥ २६ ॥
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ॥ २७ ॥

'सुग्रीवके साथ मेरी मित्रता हो चुकी है। उनके प्रति मेरा वही भाव है, जो लक्ष्मणके प्रति है। वे अपनी स्त्री और राज्यकी प्राप्तिके लिये मेरी भलाई करनेके लिये भी कटिबद्ध हैं। मैंने वानरोंके समीप इन्हें स्त्री और राज्य दिलानेके लिये प्रतिज्ञा भी कर ली है। ऐसी दशामें मेरे-जैसा मनुष्य अपनी प्रतिज्ञाकी ओरसे कैसे दृष्टि हटा सकता है ॥ २६-२७ ॥

तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंश्रितैः।
शासनं तव यद् युक्तं तद् भवाननुमन्यताम् ॥ २८ ॥

'ये सभी धर्मानुकूल महान् कारण एक साथ उपस्थित हो गये, जिनसे विवश होकर तुम्हें उचित दण्ड देना पड़ा है। तुम भी इसका अनुमोदन करो ॥ २८ ॥

सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः।
वयस्यस्योपकर्तव्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥ २९ ॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाले मनुष्यके लिये मित्रका उपकार करना धर्म ही माना गया है; अतः तुम्हें जो यह दण्ड दिया गया है, वह धर्मके अनुकूल है। ऐसा ही तुम्हें समझना चाहिये ॥ २९ ॥

शक्यं त्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुवर्तता ।
श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥

'यदि राजा होकर तुम धर्मका अनुसरण करते तो तुम्हें भी वही काम करना पड़ता, जो मैंने किया है। मनुने राजोचित सदाचारका प्रतिपादन करनेवाले दो श्लोक कहे हैं, जो स्मृतियोंमें सुने जाते हैं और जिन्हें धर्मपालनमें कुशल पुरुषोंने सादर स्वीकार किया। उन्हींके अनुसार इस समय यह मेरा बर्ताव हुआ है (वे श्लोक इस प्रकार हैं—) ॥ ३० ॥

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३२ ॥

'मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा साधु पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। (चोर आदि पापी जब राजाके सामने उपस्थित हों उस समय उन्हें) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे। चोर आदि पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है; किंतु यदि राजा पापीको उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है * ॥ ३१-३२ ॥

आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया ॥ ३३ ॥

'तुमने जैसा पाप किया है, वैसा ही पाप प्राचीन कालमें एक श्रमणने किया था। उसे मेरे पूर्वज महाराज मान्धाताने बड़ा कठोर दण्ड दिया था, जो शास्त्रके अनुसार अभीष्ट था ॥ ३३ ॥

अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥ ३४ ॥

'यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर जायँ तो उन्हें दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं तथा उसके लिये जब वे प्रायश्चित्त करते हैं तभी उनका दोष शान्त होता है ॥ ३४ ॥

तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥ ३५ ॥

'अतः वानरश्रेष्ठ! पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ नहीं है। सर्वथा धर्मके अनुसार ही तुम्हारा वध किया गया है; क्योंकि हमलोग अपने वशमें नहीं हैं (शास्त्रके ही अधीन हैं) ॥ ३५ ॥

शृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुंगव ।
तच्छ्रुत्वा हि महद् वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'वानरशिरोमणे! तुम्हारे वधका जो दूसरा कारण है, उसे भी सुन लो। वीर! उस महान् कारणको सुनकर तुम्हें मेरे प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥

न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुंगव ।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः ॥ ३७ ॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून् मृगान् ।
प्रधावितान् वा वित्रस्तान् विस्रब्धानतिविष्ठितान् ॥ ३८ ॥

'वानरश्रेष्ठ! इस कार्यके लिये मेरे मनमें न तो संताप होता है और न खेद ही। मनुष्य (राजा आदि) बड़े-बड़े जाल बिछाकर, फंदे फैलाकर और नाना प्रकारके कूट उपाय (गुप्त गड्ढोंके निर्माण आदि) करके छिपे रहकर सामने आकर बहुत-से मृगोंको पकड़ लेते हैं, भले ही वे भयभीत होकर भागते हों या विश्वस्त होकर अत्यन्त निकट बैठे हों ॥

प्रमत्तानप्रमत्तान् वा नरा मांसाशिनो भृशम् ।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥ ३९ ॥

'मांसाहारी मनुष्य (क्षत्रिय) सावधान, असावधान अथवा विमुख होकर भागनेवाले पशुओंको भी अत्यन्त घायल कर देते हैं; किंतु उनके लिये इस मृगयामें दोष नहीं होता ॥ ३९ ॥

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः ।
तस्मात् त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ।
अयुध्यन् प्रतियुध्यन् वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ॥ ४० ॥

'वानर! धर्मज्ञ राजर्षि भी इस जगत्में मृगयाके लिये जाते हैं और विविध जन्तुओंका वध करते हैं। इसलिये मैंने तुम्हें युद्धमें अपने बाणका निशाना बनाया है। तुम मुझसे युद्ध करते थे या नहीं करते थे, तुम्हारी वध्यतामें कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि तुम शाखामृग हो (और मृगया करनेका क्षत्रियको अधिकार है) ॥ ४० ॥

दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च ।
राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः ॥ ४१ ॥

'वानरश्रेष्ठ! राजालोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदयके देनेवाले होते हैं; इसमें संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

तान् न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत् ।
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ॥ ४२ ॥

---

* मनुस्मृतिमें ये दोनों श्लोक किंचित् पाठान्तरके साथ इस प्रकार मिलते हैं—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥
(८ । ३१८, ३१६)

'अतः उनकी हिंसा न करे, उनकी निन्दा न करे, उनके प्रति आक्षेप भी न करे और न उनसे अप्रिय वचन ही बोले; क्योंकि वे वास्तवमें देवता हैं, जो मनुष्यरूपसे इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ४२ ॥

त्वं तु धर्ममविज्ञाय केवलं रोषमास्थितः ।
विदूषयसि मां धर्मे पितृपैतामहे स्थितम् ॥ ४३ ॥

'तुम तो धर्मके स्वरूपको न समझकर केवल रोषके वशीभूत हो गये हो; इसलिये पिता-पितामहोंके धर्मपर स्थित रहनेवाले मेरी निन्दा कर रहे हो' ॥ ४३ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण वाली प्रव्यथितो भृशम् ।
न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः ॥ ४४ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर वालीके मनमें बड़ी व्यथा हुई। इसे धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया। उसने श्रीरामचन्द्रजीके दोषका चिन्तन त्याग दिया ॥ ४४ ॥

प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः ।
यत् त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तत् तथैव न संशयः ॥ ४५ ॥

इसके बाद वानरराज वालीने श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहा—'नरश्रेष्ठ ! आप जो कुछ कहते हैं, बिल्कुल ठीक है; इसमें संशय नहीं है ॥ ४५ ॥

प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात् ।
यदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादाद् वाक्यमप्रियम् ॥ ४६ ॥
तत्रापि खलु मां दोषं कर्तुं नार्हसि राघव ।
त्वं हि दृष्टार्थतत्त्वज्ञः प्रजानां च हिते रतः ।
कार्यकारणसिद्धौ च प्रसन्ना बुद्धिरव्यया ॥ ४७ ॥

'आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको मुझ-जैसा निम्न श्रेणीका प्राणी उचित उत्तर नहीं दे सकता; अतः मैंने प्रमादवश पहले जो अनुचित बात कह डाली है, उसमें भी आपको मेरा अपराध नहीं मानना चाहिये। रघुनन्दन ! आप परमार्थ-तत्त्वके यथार्थ ज्ञाता और प्रजाजनोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं। आपकी बुद्धि कार्य-कारणके निश्चयमें निर्भ्रान्त एवं निर्मल है ॥४६-४७॥

मामप्यवगतं धर्माद् व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम् ।
धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥ ४८ ॥

'धर्मज्ञ ! मैं धर्मभ्रष्ट प्राणियोंमें अग्रगण्य हूँ और इसी रूपमें मेरी सर्वत्र प्रसिद्धि है तो भी आज आपकी शरणमें आया हूँ। अपनी धर्मतत्त्वकी वाणीसे आज मेरी भी रक्षा कीजिये' ॥

बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली सार्तरवः शनैः ।
उवाच रामं सम्प्रेक्ष्य पङ्कलग्न इव द्विपः ॥ ४९ ॥

इतना कहते-कहते आँसुओंसे वालीका गला भर आया और वह कीचड़में फँसे हुए हाथीकी तरह आर्तनाद करके श्रीरामकी ओर देखता हुआ धीरे-धीरे बोला—॥ ४९ ॥

न त्वात्मानमहं शोचे न तारां नापि बान्धवान् ।
यथा पुत्रं गुणश्रेष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम् ॥ ५० ॥

'भगवन् ! मुझे अपने लिये, ताराके लिये तथा बन्धु-बान्धवोंके लिये भी उतना शोक नहीं होता है, जितना सुवर्णका अङ्गद धारण करनेवाले श्रेष्ठ गुणसम्पन्न पुत्र अङ्गदके लिये हो रहा है ॥ ५० ॥

स ममादर्शनाद् दीनो बाल्यात् प्रभृति लालितः ।
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति ॥ ५१ ॥

'मैंने बचपनसे ही उसका बड़ा दुलार किया है; अब मुझे न देखकर वह बहुत दुखी होगा और जिसका जल पी लिया गया हो, उस तालाबकी तरह सूख जायगा ॥ ५१ ॥

बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रियः ।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबलः ॥ ५२ ॥

'श्रीराम ! वह अभी बालक है। उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है। मेरा इकलौता बेटा होनेके कारण ताराकुमार अङ्गद मुझे बड़ा प्रिय है। आप मेरे उस महाबली पुत्रकी रक्षा कीजियेगा ॥ ५२ ॥

सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम् ।
त्वं हि गोप्ता च शास्ता च कार्याकार्यविधौ स्थितः ॥५३॥

'सुग्रीव और अङ्गद दोनोंके प्रति आप सद्भाव रक्खें। अब आप ही इन लोगोंके रक्षक तथा इन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षा देनेवाले हैं ॥ ५३ ॥

या ते नरपते वृत्तिर्भरते लक्ष्मणे च या ।
सुग्रीवे चाङ्गदे राजंस्तां चिन्तयितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

'राजन् ! नरेश्वर ! भरत और लक्ष्मणके प्रति आपका जैसा बर्ताव है, वही सुग्रीव तथा अङ्गदके प्रति भी होना चाहिये। आप उसी भावसे इन दोनोंका स्मरण करें ॥ ५४ ॥

मद्दोषकृतदोषां तां यथा तारां तपस्विनीम् ।
सुग्रीवो नावमन्येत तथावस्थातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

'बेचारी ताराकी बड़ी शोचनीय अवस्था हो गयी है। मेरे ही अपराधसे उसे भी अपराधिनी समझकर सुग्रीव उसका तिरस्कार न करें, इस बातकी भी व्यवस्था कीजियेगा ॥५५॥

त्वया ह्यनुगृहीतेन शक्यं राज्यमुपासितुम् ।
त्वद्वशे वर्तमानेन तव चित्तानुवर्तिना ॥ ५६ ॥
शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम् ।

'सुग्रीव आपका कृपापात्र होकर ही इस राज्यका यथार्थ रूपसे पालन कर सकता है। आपके अधीन होकर आपके चित्तका अनुसरण करनेवाला पुरुष स्वर्ग और पृथ्वीका भी राज्य पा सकता और उसका अच्छी तरह पालन कर सकता है ॥ ५६½ ॥

त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन् वार्यमाणोऽपि तारया ॥ ५७ ॥
सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः ।

'मैं चाहता था कि आपके हाथसे मेरा वध हो; इसी

लिये ताराके मना करनेपर भी मैं अपने भाई सुग्रीवके साथ द्वन्द्वयुद्ध करनेके लिये चला आया' ॥ ५७½ ॥

इत्युक्त्वा वानरो रामं विरराम हरीश्वरः ॥ ५८ ॥
स तमाश्वासयद् रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम्।
साधुसम्मतया वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया ॥ ५९ ॥
न संतापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्लवङ्गम।
न वयं भवता चिन्त्या नाप्यात्मा हरिसत्तम।
वयं भवद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयाः ॥ ६० ॥

श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहकर वानरराज वाली चुप हो गया। उस समय उसकी ज्ञानशक्तिका विकास हो गया था। श्रीरामचन्द्रजीने धर्मके यथार्थ स्वरूपको प्रकट करनेवाली साधु पुरुषोंद्वारा प्रशंसित वाणीमें उससे कहा—'वानरश्रेष्ठ! तुम्हें इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये। कपिप्रवर! तुम्हें हमारे और अपने लिये भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हमलोग तुम्हारी अपेक्षा विशेषज्ञ हैं, इसलिये हमने धर्मानुकूल कार्य करनेका ही निश्चय कर रखा है॥५८-६०॥

दण्ड्ये यः पातयेद् दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते।
कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः ॥ ६१ ॥

'जो दण्डनीय पुरुषको दण्ड देता है तथा जो दण्डका अधिकारी होकर दण्ड भोगता है, उनमेंसे दण्डनीय व्यक्ति अपने अपराधके फलरूपमें शासकका दिया हुआ दण्ड भोगकर तथा दण्ड देनेवाला शासक उसके उस फलभोगमें कारण—निमित्त बनकर कृतार्थ हो जाते हैं—अपना-अपना कर्तव्य पूरा कर लेनेके कारण कर्मरूप ऋणसे मुक्त हो जाते हैं। अतः वे दुखी नहीं होते ॥ ६१ ॥

तद् भवान् दण्डसंयोगादस्माद् विगतकल्मषः।
गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां दण्डदिष्टेन वर्त्मना ॥ ६२ ॥

'तुम इस दण्डको पाकर पापरहित हुए और इस दण्डका विधान करनेवाले शास्त्रद्वारा कथित दण्डग्रहणरूप मार्गसे ही चलकर तुम्हें धर्मानुकूल शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी ॥ ६२ ॥

त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम्।
त्वया विधानं हर्यग्र्य न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ ६३ ॥

'अब तुम अपने हृदयमें स्थित शोक, मोह और भयका त्याग कर दो। वानरश्रेष्ठ! तुम दैवके विधानको नहीं लाँघ सकते ॥ ६३ ॥

यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः ॥ ६४ ॥

'वानरेश्वर! कुमार अङ्गद तुम्हारे जीवित रहनेपर जैसा था, उसी प्रकार सुग्रीवके और मेरे पास भी सुखसे रहेगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ६४ ॥

स तस्य वाक्यं मधुरं महात्मनः
समाहितं धर्मपथानुवर्तितम्।
निशाम्य रामस्य रणावमर्दिनो
वचः सुयुक्तं निजगाद वानरः ॥ ६५ ॥

युद्धमें शत्रुका मान मर्दन करनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीका धर्ममार्गके अनुकूल और मानसिक शङ्काओंका समाधान करनेवाला मधुर वचन सुनकर वानर वालीने यह सुन्दर युक्तियुक्त वचन कहा—॥ ६५ ॥

शराभितप्तेन विचेतसा मया
प्रभाषितस्त्वं यदजानता विभो।
इदं महेन्द्रोपमभीमविक्रम
प्रसादितस्त्वं क्षम मे नरेश्वर ॥ ६६ ॥

'प्रभो! देवराज इन्द्रके समान भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले नरेश्वर! मैं आपके बाणसे पीड़ित होनेके कारण अचेत हो गया था। इसलिये अनजानमें मैंने जो आपके प्रति कठोर बात कह डाली है, उसे आप क्षमा कीजियेगा। इसके लिये मैं प्रार्थनापूर्वक आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ'॥६६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

अङ्गदसहित ताराका भागे हुए वानरोंसे बात करके वालीके समीप आना और उसकी दुर्दशा देखकर रोना

स वानरमहाराजः शयानः शरपीडितः।
प्रत्युक्तो हेतुमद्वाक्यैर्नोत्तरं प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥

वानरोंका महाराज वाली बाणसे पीड़ित होकर भूमिपर पड़ा था। श्रीरामचन्द्रजीके युक्तियुक्त वचनोंद्वारा अपनी बातका उत्तर पाकर उसे फिर कोई जवाब न सूझा ॥ १ ॥

अश्मभिः परिभिन्नाङ्गः पादपैराहतो भृशम्।
रामबाणेन चाक्रान्तो जीवितान्ते मुमोह सः ॥ २ ॥

पत्थरोंकी मार पड़नेसे उसके अङ्ग टूट-फूट गये थे। वृक्षोंके आघातसे भी वह बहुत घायल हो गया था और श्रीरामके बाणसे आक्रान्त होकर तो वह जीवनके अन्तकालमें ही

पहुँच गया था। उस समय वह मूर्च्छित हो गया ॥ २ ॥

तं भार्या बाणमोक्षेण रामदत्तेन संयुगे।
हतं प्लवगशार्दूलं तारा शुश्राव वालिनम् ॥ ३ ॥

उसकी पत्नी ताराने सुना कि युद्धस्थलमें वानरश्रेष्ठ वाली श्रीरामके चलाये हुए बाणसे मारे गये ॥ ३ ॥

सा सपुत्राप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम्।
निष्पपात भृशं त्रस्ताद्विग्ना गिरिकन्दरात् ॥ ४ ॥

अपने स्वामीके वधका अत्यन्त भयंकर एवं अप्रिय समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो उठी और अपने पुत्र अङ्गदको साथ ले उस पर्वतकी कन्दरासे बाहर निकली ॥४॥

ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा हि महाबलाः।
ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५ ॥

अङ्गदको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करनेवाले जो महाबली वानर थे, वे श्रीरामचन्द्रजीको धनुष लिये देख भयभीत होकर भाग चले ॥ ५ ॥

सा ददर्श ततस्त्रस्तान् हरीनापततो द्रुतम्।
यूथादेव परिभ्रष्टान् मृगान् निहतयूथपान् ॥ ६ ॥

ताराने वेगसे भागकर आते हुए उन भयभीत वानरोंको देखा। वे जिनके यूथपति मारे गये हों, उन यूथभ्रष्ट मृगोंके समान जान पड़ते थे ॥ ६ ॥

तानुवाच समासाद्य दुःखितान् दुःखिता सती।
रामवित्रासितान् सर्वाननुबद्धानिवेषुभिः ॥ ७ ॥

वे सब वानर श्रीरामसे इस प्रकार डरे हुए थे, मानो उनके बाण इनके पीछे आ रहे हों। उन दुखी वानरोंके पास पहुँचकर सती-साध्वी तारा और भी दुखी हो गयी तथा उनसे इस प्रकार बोली—॥ ७ ॥

वानरा राजसिंहस्य यस्य यूयं पुरःसराः।
तं विहाय सुवित्रस्ताः कस्माद् द्रवत दुर्गताः ॥ ८ ॥

'वानरो! तुम तो उन राजसिंह वालीके आगे-आगे चलनेवाले थे। अब उन्हें छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो दुर्गतिमें पड़कर क्यों भागे जा रहे हो? ॥ ८ ॥

राज्यहेतोः स चेद् भ्राता भ्रात्रा क्रूरेण पातितः।
रामेण प्रहितैर्दूरान्मार्गणैर्दूरपातिभिः ॥ ९ ॥

'यदि राज्यके लोभसे उस क्रूर भाई सुग्रीवने श्रीरामको प्रेरित करके उनके द्वारा दूरसे चलाये हुए और दूरतक जानेवाले बाणोंद्वारा अपने भाईको मरवा दिया है तो तुमलोग क्यों भागे जा रहे हो?' ॥ ९ ॥

कपिपत्न्या वचः श्रुत्वा कपयः कामरूपिणः।
प्राप्तकालमविश्लिष्टमूचुर्वचनमङ्गनाम् ॥ १० ॥

वालीकी पत्नीका वह वचन सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन वानरोंने कल्याणमयी तारा देवीको सम्बोधित करके सर्वसम्मतिसे स्पष्ट शब्दोंमें यह समयोचित बात कही—॥ १० ॥

जीवपुत्रे निवर्तस्व पुत्रं रक्षस्व चाङ्गदम्।
अन्तको रामरूपेण हत्वा नयति वालिनम् ॥ ११ ॥

'देवि! अभी तुम्हारा पुत्र जीवित है। तुम लौट चलो और अपने पुत्र अङ्गदकी रक्षा करो। श्रीरामका रूप धारण करके स्वयं यमराज आ पहुँचा है, जो वालीको मारकर अपने साथ ले जा रहा है ॥ ११ ॥

क्षिप्तान् वृक्षान् समाविध्य विपुलाश्च तथा शिलाः।
वाली वज्रसमैर्बाणैर्वज्रेणेव निपातितः ॥ १२ ॥

'वालीके चलाये हुए वृक्षों और बड़ी-बड़ी शिलाओंको अपने वज्रतुल्य बाणोंसे विदीर्ण करके श्रीरामने वालीको मार गिराया है। मानो वज्रधारी इन्द्रने अपने वज्रके द्वारा किसी महान् पर्वतको धराशायी कर दिया हो ॥ १२ ॥

अभिभूतमिदं सर्वं विद्रुतं वानरं बलम्।
अस्मिन् प्लवगशार्दूले हते शक्रसमप्रभे ॥ १३ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी इन वानरश्रेष्ठ वालीके मारे जानेपर यह सारी वानर-सेना श्रीरामसे पराजित-सी होकर भाग खड़ी हुई है ॥ १३ ॥

रक्ष्यतां नगरी शूरैरङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
पदस्थं वालिनः पुत्रं भजिष्यन्ति प्लवंगमाः ॥ १४ ॥

'तुम शूरवीरोंद्वारा इस नगरीकी रक्षा करो। कुमार अङ्गदका किष्किन्धाके राज्यपर अभिषेक कर दो। राजसिंहासनपर बैठे हुए वालिकुमार अङ्गदकी सभी वानर सेवा करेंगे ॥ १४ ॥

अथवारुचितं स्थानमिह ते रुचिरानने।
आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमद्यैव वानराः ॥ १५ ॥
अभार्याः सहभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः।
लुब्धेभ्यो विप्रलब्धेभ्यस्तेभ्यो नः सुमहद्भयम् ॥ १६ ॥

'अथवा सुमुखि! अब इस नगरमें तुम्हारा रहना हमें अच्छा नहीं जान पड़ता; क्योंकि किष्किन्धाके दुर्गम स्थानोंमें अभी सुग्रीवपक्षीय वानर शीघ्र प्रवेश करेंगे। यहाँ बहुत-से ऐसे वनचारी वानर हैं, जिनमेंसे कुछ तो अपनी स्त्रियोंके साथ हैं और कुछ स्त्रियोंसे बिछुड़े हुए हैं। उनमें राज्यविषयक लोभ पैदा हो गया है और पहले हमलोगोंके द्वारा राज्य-सुखसे वञ्चित किये गये हैं। अतः इस समय उन सबसे हमलोगोंको महान् भय प्राप्त हो सकता है' ॥ १५-१६ ॥

अल्पान्तरगतानां तु श्रुत्वा वचनमङ्गना।
आत्मनः प्रतिरूपं सा बभाषे चारुहासिनी ॥ १७ ॥

अभी थोड़ी ही दूरतक आये हुए उन वानरोंकी यह बात सुनकर मनोहर हासवाली कल्याणी ताराने उन्हें अपने अनुरूप उत्तर दिया—॥ १७ ॥

पुत्रेण मम किं कार्यं राज्येनापि किमात्मना ।
कपिसिंहे महाभागे तस्मिन् भर्तरि नश्यति ॥ १८ ॥

'वानरो ! जब मेरे महाभाग पतिदेव कपिसिंह वाली ही नष्ट हो रहे हैं, तब मुझे पुत्रसे, राज्यसे तथा अपने इस जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥ १८ ॥

पादमूलं गमिष्यामि तस्यैवाहं महात्मनः ।
योऽसौ रामप्रयुक्तेन शरेण विनिपातितः ॥ १९ ॥

'मैं तो, जिन्हें श्रीरामके चलाये हुए बाणने मार गिराया है, उन महात्मा वालीके चरणोंके समीप ही जाऊँगी' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदती शोकमूर्च्छिता ।
शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती ॥ २० ॥

ऐसा कहकर शोकसे व्याकुल हुई तारा रोती और अपने दोनों हाथोंसे दुःखपूर्वक सिर एवं छाती पीटती हुई बड़े जोरसे दौड़ी ॥ २० ॥

सा व्रजन्ती ददर्शाथ पतिं निपतितं भुवि ।
हन्तारं दानवेन्द्राणां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ २१ ॥

आगे बढ़ती हुई ताराने देखा, जो युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले दानवराजोंका भी वध करनेमें समर्थ थे, वे मेरे पति वानरराज वाली पृथ्वीपर पड़े हुए हैं ॥ २१ ॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां वज्राणामिव वासवम् ।
महावातसमाविष्टं महामेघौघनिःस्वनम् ॥ २२ ॥
शक्रतुल्यपराक्रान्तं वृष्ट्वेवोपरतं घनम् ।
नर्दन्तं नर्दतां भीमं शूरं शूरेण पातितम् ।
शार्दूलेनामिषस्यार्थे मृगराजमिवाहतम् ॥ २३ ॥

वज्र चलानेवाले इन्द्रके समान जो रणभूमिमें बड़े-बड़े पर्वतोंको उठाकर फेंकते थे, जिनके वेगमें प्रचण्ड आँधीका समावेश था, जिनका सिंहनाद महान् मेघोंकी गम्भीर गर्जनाको भी तिरस्कृत कर देता था तथा जो इन्द्रके तुल्य पराक्रमी थे, वे ही इस समय वर्षा करके शान्त हुए बादलके समान चेष्टासे विरत हो गये हैं । जो स्वयं गर्जना करके गर्जनेवाले वीरोंके मनमें भय उत्पन्न कर देते थे, वे शूरवीर वाली एक दूसरे शूरवीरके द्वारा मार गिराये गये हैं । जैसे मांसके लिये एक सिंहने दूसरे सिंहको मार डाला हो, उसी प्रकार राज्यके लिये अपने भाईके द्वारा ही इनका वध किया गया है ॥ २२-२३ ॥

अर्चितं सर्वलोकस्य सपताकं सवेदिकम् ।
नागहेतोः सुपर्णेन चैत्यमुन्मथितं यथा ॥ २४ ॥

जो सब लोगोंके द्वारा पूजित हो, जहाँ पताका फहरायी गयी हो तथा जिसके पास देवताकी वेदी शोभा पाती हो उस चैत्य वृक्ष या देवालयको वहाँ छिपे हुए किसी नागको पकड़नेके लिये यदि गरुड़ने मथ डाला हो—नष्ट-भ्रष्ट कर दिया हो तो उसकी जैसी दुरवस्था देखी जाती है, वैसी ही दशा आज वालीकी हो रही है (यह सब ताराने देखा) ॥ २४ ॥

अवष्टभ्यावतिष्ठन्तं ददर्श धनुरूर्जितम् ।
रामं रामानुजं चैव भर्तुश्चैव तथानुजम् ॥ २५ ॥

आगे जानेपर उसने देखा, अपने तेजस्वी धनुषको धरतीपर टेककर उसके सहारे श्रीरामचन्द्रजी खड़े हैं । साथ ही उनके छोटे भाई लक्ष्मण हैं और वहीं पतिके छोटे भाई सुग्रीव भी मौजूद हैं ॥ २५ ॥

तानतीत्य समासाद्य भर्तारं निहतं रणे ।
समीक्ष्य व्यथिता भूमौ सम्भ्रान्ता निपपात ह ॥ २६ ॥

उन सबको पार करके वह रणभूमिमें घायल पड़े हुए अपने पतिके पास पहुँची । उन्हें देखकर उसके मनमें बड़ी व्यथा हुई और वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २६ ॥

सुप्तेव पुनरुत्थाय आर्यपुत्रेति वादिनी ।
रुरोद सा पतिं दृष्ट्वा संवीतं मृत्युदामभिः ॥ २७ ॥

फिर मानो वह सोकर उठी हो, इस प्रकार 'हा आर्यपुत्र !' कहकर मृत्युपाशमें बँधे हुए पतिकी ओर देखती हुई रोने लगी ॥ २७ ॥

तामवेक्ष्य तु सुग्रीवः क्रोशन्तीं कुररीमिव ।
विषादमगमत् कष्टं दृष्ट्वा चाङ्गदमागतम् ॥ २८ ॥

उस समय कुररीके समान करुण-क्रन्दन करती हुई तारा तथा उसके साथ आये हुए अङ्गदको देखकर सुग्रीवको बड़ा कष्ट हुआ । वे विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

ताराका विलाप

रामचापविसृष्टेन शरेणान्तकरेण तम् ।
दृष्ट्वा विनिहतं भूमौ तारा ताराधिपानना ॥ १ ॥
सा समासाद्य भर्तारं पर्यष्वजत भामिनी ।
इषुणाभिहतं दृष्ट्वा वालिनं कुञ्जरोपमम् ॥ २ ॥
वानरं पर्वतेन्द्राभं शोकसंतप्तमानसा ।
तारा तरुमिवोन्मूलं पर्यदेवयतातुरा ॥ ३ ॥

चन्द्रमुखी ताराने देखा, मेरे स्वामी वानरराज वाली श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे छूटे हुए प्राणान्तकारी बाणसे घायल

होकर धरतीपर पड़े हैं, उस अवस्थामें उनके पास पहुँचकर वह भामिनी उनके शरीरसे लिपट गयी। जो अपने शरीरसे गजराज और गिरिराजको भी मात करते थे, उन्हीं वानरराजको बाणसे आहत होकर जड़से उखड़े हुए वृक्षकी भाँति धराशायी हुआ देख ताराका हृदय शोकसे संतप्त हो उठा और वह आतुर होकर विलाप करने लगी—॥ १–३ ॥

रणे दारुणविक्रान्त प्रवीर प्लवतां वर।
किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिभाषसे ॥ ४ ॥

'रणमें भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाले महान् वीर वानरराज! आज इस समय मुझे अपने सामने पाकर भी आप बोलते क्यों नहीं हैं? ॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम्।
नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः ॥ ५ ॥

'कपिश्रेष्ठ! उठिये और उत्तम शय्याका आश्रय लीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ भूपाल पृथ्वीपर नहीं सोते हैं ॥ ५ ॥

अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप।
गतासुरपि तां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे ॥ ६ ॥

'पृथ्वीनाथ! निश्चय ही यह पृथ्वी आपको अत्यन्त प्यारी है, तभी तो निष्प्राण होनेपर भी आप आज मुझे छोड़कर अपने अङ्गोंसे इस वसुधाका ही आलिङ्गन किये सो रहे हैं ॥ ६ ॥

व्यक्तमद्य त्वया वीर धर्मतः सम्प्रवर्तता।
किष्किन्धेव पुरी रम्या स्वर्गमार्गे विनिर्मिता ॥ ७ ॥

'वीरवर! आपने धर्मयुक्त युद्ध करके स्वर्गके मार्गमें भी अवश्य ही किष्किन्धाकी भाँति कोई रमणीय पुरी बना ली है, यह बात आज स्पष्ट हो गयी (अन्यथा आप किष्किन्धाको छोड़कर यहाँ क्यों सोते) ॥ ७ ॥

यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु।
विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ॥ ८ ॥

'आपके साथ मधुर सुगन्धयुक्त वनोंमें हमने जो-जो विहार किये हैं, उन सबको इस समय आपने सदाके लिये समाप्त कर दिया ॥ ८ ॥

निरानन्दा निराशाहं निमग्ना शोकसागरे।
त्वयि पञ्चत्वमापन्ने महायूथपयूथपे ॥ ९ ॥

'नाथ! आप बड़े-बड़े यूथपतियोंके भी स्वामी थे। आज आपके मारे जानेसे मेरा सारा आनन्द लुट गया। मैं सब प्रकारसे निराश होकर शोकके समुद्रमें डूब गयी हूँ ॥ ९ ॥

हृदयं सुस्थिरं मह्यं दृष्ट्वा निपतितं भुवि।
यन्न शोकाभिसंतप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥ १० ॥

'निश्चय ही मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो आज आपको पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी शोकसे संतप्त हो फट नहीं जाता—इसके हजारों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १० ॥

सुग्रीवस्य त्वया भार्या हृता स च विवासितः।
यत् तत् तस्य त्वया व्युष्टिः प्राप्तेयं प्लवगाधिप ॥ ११ ॥

'वानरराज! आपने जो सुग्रीवकी स्त्री छीन ली और उन्हें घरसे बाहर निकाल दिया, उसीका यह फल आपको प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

निःश्रेयसपरा मोहात् त्वया चाहं विगर्हिता।
यैषाब्रुवं हितं वाक्यं वानरेन्द्र हितैषिणी ॥ १२ ॥

'वानरेन्द्र! मैं आपका हित चाहती थी और आपके कल्याण-साधनमें ही लगी रहती थी तो भी मैंने आपसे जो हितकर बात कही थी, उसे मोहवश आपने नहीं माना और उल्टे मेरी ही निन्दा की ॥ १२ ॥

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥ १३ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले आर्यपुत्र! निश्चय ही आप स्वर्गमें जाकर रूप और यौवनके अभिमानसे मत्त रहनेवाली केलिकलामें निपुण अप्सराओंके मनको अपने दिव्य सौन्दर्यसे मथ डालेंगे ॥ १३ ॥

कालो निःसंशयो नूनं जीवितान्तकरस्तव।
बलाद् येनावपन्नोऽसि सुग्रीवस्यावशो वशम् ॥ १४ ॥

'निश्चय ही आज आपके जीवनका अन्त कर देनेवाला संशयरहित काल यहाँ आ पहुँचा था, जिसने किसीके भी वशमें न आनेवाले आपको बलपूर्वक सुग्रीवके वशमें डाल दिया' ॥ १४ ॥

अस्थाने वालिनं हत्वा युध्यमानं परेण च।
न संतप्यति काकुत्स्थः कृत्वा कर्म सुगर्हितम् ॥ १५ ॥

(अब श्रीरामको सुनाकर बोली—) 'ककुत्स्थ-कुलमें अवतीर्ण हुए श्रीरामचन्द्रजीने दूसरेके साथ युद्ध करते हुए वालीको मारकर अत्यन्त निन्दित कर्म किया है। इस कुत्सित कर्मको करके भी जो ये संतप्त नहीं हो रहे हैं, यह सर्वथा अनुचित है' ॥ १५ ॥

वैधव्यं शोकसंतापं कृपणाकृपणा सती।
अदुःखोपचिता पूर्वं वर्तयिष्याम्यनाथवत् ॥ १६ ॥

(फिर वालीसे बोली—) 'मैंने कभी दीनतापूर्ण जीवन नहीं बिताया था, ऐसे महान् दुःखका सामना नहीं किया था; परंतु आज आपके बिना मैं दीन हो गयी, अब मुझे अनाथकी भाँति शोक-संतापसे पूर्ण वैधव्य जीवन व्यतीत करना होगा ॥ १६ ॥

लालितश्चाङ्गदो वीरः सुकुमारः सुखोचितः।
वत्स्यते कामवस्थां मे पितृव्ये क्रोधमूर्च्छिते ॥ १७ ॥

'नाथ! आपने अपने वीरपुत्र अङ्गदको, जो सुख भोगने योग्य और सुकुमार है, बड़ा लाड़-प्यार किया था। अब

ते पागल हुए चाचाके वशमें पड़कर मेरे बेटेकी क्या दशा होगी ! ॥ १७ ॥

कुरुष्व पितरं पुत्र सुदृष्टं धर्मवत्सलम्।
दुर्लभं दर्शनं तस्य तव वत्स भविष्यति ॥ १८ ॥

'बेटा अङ्गद ! अपने धर्मप्रेमी पिताको अच्छी तरह देख लो। अब तुम्हारे लिये उनका दर्शन दुर्लभ हो जायगा ॥ १८ ॥

समाश्वासय पुत्रं त्वं संदेशं संदिशस्व मे।
मूर्ध्नि चैनं समाघ्राय प्रवासं प्रस्थितो ह्यसि ॥ १९ ॥

'प्राणनाथ ! आप दूसरे देशको जा रहे हैं। अपने पुत्र-का मस्तक सूँघकर इसे धैर्य बँधाइये और मेरे लिये भी कुछ संदेश दीजिये ॥ १९ ॥

रामेण हि महत् कर्म कृतं त्वामभिनिघ्नता।
आनृण्यं तु गतं तस्य सुग्रीवस्य प्रतिश्रवे ॥ २० ॥

'श्रीरामने आपको मारकर बहुत बड़ा कर्म किया है। उन्होंने सुग्रीवसे जो प्रतिज्ञा की थी, उसके ऋणको उतार दिया' ॥ २० ॥

सकामो भव सुग्रीव रुमां त्वं प्रतिपत्स्यसे।
भुङ्क्ष्व राज्यमनुद्विग्नः शस्तो भ्राता रिपुस्तव ॥ २१ ॥

(अब सुग्रीवको सुनाकर कहने लगी—) 'सुग्रीव ! तुम्हारा मनोरथ सफल हो। तुम्हारे भाई, जिन्हें तुम अपना शत्रु समझते थे, मारे गये। अब बेखटके राज्य भोगो। रुमाको भी प्राप्त कर लोगे' ॥ २१ ॥

किं मामेवं प्रलपतीं प्रियां त्वं नाभिभाषसे।
इमाः पश्य वरा बह्वयो भार्यास्ते वानरेश्वर ॥ २२ ॥

(फिर वालीसे बोली—) 'वानरेश्वर ! मैं आपकी प्यारी पत्नी हूँ और इस तरह रोती-कलपती हूँ, फिर भी आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं ! देखिये, आपकी ये बहुत-सी सुन्दरी भार्याएँ यहाँ उपस्थित हैं' ॥ २२ ॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा वानर्यः सर्वतश्च ताः।
परिगृह्याङ्गदं दीना दुःखार्ताः प्रतिचुक्रुशुः ॥ २३ ॥

ताराका विलाप सुनकर अन्य वानर-पत्नियाँ भी सब ओर-से अङ्गदको पकड़कर दीन एवं दुःखसे व्याकुल हो जोर-जोर-से क्रन्दन करने लगीं ॥ २३ ॥

किमङ्गदं साङ्गदवीरबाहो
विहाय यातोऽसि चिरं प्रवासम्।
न युक्तमेवं गुणसंनिकृष्टं
विहाय पुत्रं प्रियचारुवेषम् ॥ २४ ॥

(तदनन्तर ताराने फिर कहा—) 'बाजूबन्दसे विभूषित वीर भुजाओंवाले वानरराज ! आप अङ्गदको छोड़कर दीर्घ-कालके लिये दूसरे देशमें क्यों जा रहे हैं ? जो गुणोंमें आपके सर्वथा निकट है—जो आपके समान ही गुणवान् है तथा जिसका प्रिय एवं मनोहर वेश है, ऐसे प्रिय पुत्रको त्यागकर इस प्रकार चला जाना आपके लिये कदापि उचित नहीं है ॥ २४ ॥

यद्यप्रियं किंचिदसम्प्रधार्य
कृतं मया स्यात् तव दीर्घबाहो।
क्षमस्व मे तद्धरिवंशनाथ
व्रजामि मूर्ध्ना तव वीर पादौ ॥ २५ ॥

'महाबाहो ! यदि नासमझीके कारण मैंने आपका कोई अपराध किया हो तो आप उसे क्षमा कर दें। वानरवंशके स्वामी वीर आर्यपुत्र ! मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह प्रार्थना करती हूँ' ॥ २५ ॥

तथा तु तारा करुणं रुदन्ती
भर्तुः समीपे सह वानरीभिः।
व्यवस्यत प्रायमनिन्द्यवर्णा
उपोपवेष्टुं भुवि यत्र वाली ॥ २६ ॥

इस प्रकार अन्य वानर-पत्नियोंके साथ पतिके समीप करुण विलाप करती हुई अनिन्द्य-सुन्दरी ताराने, जहाँ वाली पृथ्वीपर पड़ा था, वहीं उसके समीप बैठकर आमरण अनशन करनेका निश्चय किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका ताराको समझाना और ताराका पतिके अनुगमनका ही निश्चय करना

ततो निपतितां तारां च्युतां तारामिवाम्बरात्।
शनैराश्वासयामास हनुमान् हरियूथपः ॥ १ ॥

ताराको आकाशसे टूटकर गिरी हुई तारिकाके समान पृथ्वीपर पड़ी देख वानरयूथपति हनुमान्‌ने धीरे-धीरे समझाना आरम्भ किया—॥ १ ॥

गुणदोषकृतं जन्तुः स्वकर्म फलहेतुकम्।
अव्यग्रस्तदवाप्नोति सर्वं प्रेत्य शुभाशुभम् ॥ २ ॥

देवि ! जीवके द्वारा गुणबुद्धिसे अथवा दोषबुद्धिसे किये हुए जो अपने कर्म हैं, वे ही सुख-दुःखरूप फलकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। परलोकमें जाकर प्रत्येक जीव शान्तभावसे

रहकर अपने शुभ और अशुभ—सभी कर्मोंका फल भोगता है ॥ २ ॥

शोच्या शोचसि कं शोच्यं दीनं दीनानुकम्पसे।
कश्च कस्यानु शोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन् बुद्बुदोपमे॥ ३ ॥

'तुम स्वयं शोचनीया हो; फिर दूसरे किसको शोचनीय समझकर शोक कर रही हो ? स्वयं दीन होकर दूसरे किस दीन-पर दया करती हो ? पानीके बुलबुलेके समान इस शरीरमें रह-कर कौन जीव किस जीवके लिये शोचनीय है ? ॥ ३ ॥

अङ्गदस्तु कुमारोऽयं द्रष्टव्यो जीवपुत्रया।
आयत्यां च विधेयानि समर्थान्यस्य चिन्तय ॥ ४ ॥

'तुम्हारे पुत्र कुमार अङ्गद जीवित हैं । अब तुम्हें इन्हींकी ओर देखना चाहिये और इनके लिये भविष्यमें जो उन्नतिके साधक श्रेष्ठ कार्य हों उनका विचार करना चाहिये ॥ ४ ॥

जानास्यनियतामेवं भूतानामागतिं गतिम्।
तस्माच्छुभं हि कर्तव्यं पण्डिते नेह लौकिकम् ॥ ५ ॥

'देवि ! तुम विदुषी हो, अतः जानती ही हो कि प्राणियों-के जन्म और मृत्युका कोई निश्चित समय नहीं है । इसलिये शुभ (परलोकके लिये सुखद) कर्म ही करना चाहिये । अधिक रोना-धोना आदि जो लौकिक कर्म (व्यवहार) हैं, उसे नहीं करना चाहिये ॥ ५ ॥

यस्मिन् हरिसहस्राणि शतानि नियुतानि च।
वर्तयन्ति कृताशानि सोऽयं दिष्टान्तमागतः ॥ ६ ॥

'सैकड़ों, हजारों और लाखों वानर जिनपर आशा लगाये जीवन-निर्वाह करते थे, वे ही ये वानरराज आज अपनी प्रारब्ध-निर्मित आयुकी अवधि पूरी कर चुके ॥ ६ ॥

यदयं न्यायदृष्टार्थः सामदानक्षमापरः।
गतो धर्मजितां भूमिं नैनं शोचितुमर्हसि ॥ ७ ॥

'इन्होंने नीतिशास्त्रके अनुसार अर्थका साधन—राज्य-कार्यका संचालन किया है । ये उपयुक्त समयपर साम, दान और क्षमाका व्यवहार करते आये हैं । अतः धर्मानुसार प्राप्त होनेवाले लोकमें गये हैं । इनके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥७॥

सर्वे च हरिशार्दूलाः पुत्रश्चायं तवाङ्गदः।
हर्यृक्षपतिराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते ॥ ८ ॥

'सती-साध्वी देवि ! ये सभी श्रेष्ठ वानर, ये तुम्हारे पुत्र अङ्गद तथा वानर और भालुओंका यह राज्य—सब तुमसे ही सनाथ हैं—तुम्हीं इन सबकी स्वामिनी हो ॥ ८ ॥

ताविमौ शोकसंतप्तौ शनैः प्रेरय भामिनि।
त्वया परिगृहीतोऽयमङ्गदः शास्तु मेदिनीम् ॥ ९ ॥

'भामिनि ! ये अङ्गद और सुग्रीव दोनों ही शोकसे संतप्त हो रहे हैं । तुम इन्हें भावी कार्यके लिये प्रेरित करो । तुम्हारे अधीन रहकर अङ्गद इस पृथ्वीका शासन करें ॥ ९ ॥

संततिश्च यथा दृष्टा कृत्यं यच्चापि साम्प्रतम्।
राज्ञस्तत् क्रियतां सर्वमेष कालस्य निश्चयः ॥ १० ॥

'शास्त्रमें संतान होनेका जो प्रयोजन बतलाया गया है तथा इस समय राजा वालीके पारलौकिक कल्याणके लिये जो कुछ कर्तव्य है, वही करो—यही समयकी निश्चित प्रेरणा है ॥१०॥

संस्कार्यो हरिराजस्तु अङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि ॥ ११ ॥

'वानरराजका अन्त्येष्टि-संस्कार और कुमार अङ्गदका राज्याभिषेक किया जाय । बेटेको राजसिंहासनपर बैठा देखकर तुम्हें शान्ति मिलेगी' ॥ ११ ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा भर्तृव्यसनपीडिता।
अब्रवीदुत्तरं तारा हनूमन्तमवस्थितम् ॥ १२ ॥

तारा अपने स्वामीके विरह-शोकसे पीड़ित थी । वह उपर्युक्त वचन सुनकर सामने खड़े हुए हनुमान्‌जीसे बोली—॥ १२ ॥

अङ्गदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकतः शतम्।
हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥ १३ ॥

'अङ्गदके समान सौ पुत्र एक ओर और मरे होनेपर भी इस वीरवर स्वामीका आलिङ्गन करके सती होना दूसरी ओर—इन दोनोंमेंसे अपने वीर पतिके शरीरका आलिङ्गन ही मुझे श्रेष्ठ जान पड़ता है ॥ १३ ॥

न चाहं हरिराज्यस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा।
पितृव्यस्तस्य सुग्रीवः सर्वकार्येष्वनन्तरः ॥ १४ ॥

'मैं न तो वानरोंके राज्यकी स्वामिनी हूँ और न मुझे अङ्गदके लिये ही कुछ करनेका अधिकार है । इसके चाचा सुग्रीव ही समस्त कार्योंके लिये समर्थ हैं और वे ही मेरी अपेक्षा इसके निकटवर्ती भी हैं ॥ १४ ॥

नह्येषा बुद्धिरास्थेया हनूमन्नङ्गदं प्रति।
पिता हि बन्धुः पुत्रस्य न माता हरिसत्तम ॥ १५ ॥

'कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी ! अङ्गदके विषयमें आपकी यह सलाह मेरे लिये काममें लाने योग्य नहीं है । आपको यह समझना चाहिये कि पुत्रके वास्तविक बन्धु (सहायक) पिता और चाचा ही हैं, माता नहीं ॥ १५ ॥

नहि मम हरिराजसंश्रयात्
क्षमतरमस्ति परत्र चेह वा।
अभिमुखहतवीरसेवितं
शयनमिदं मम सेवितुं क्षमम् ॥ १६ ॥

'मेरे लिये वानरराज वालीका अनुगमन करनेसे बढ़कर

इस लोक या परलोकमें कोई भी कार्य उचित नहीं है। युद्धमें शत्रुसे जूझकर मरे हुए अपने वीर स्वामीके द्वारा सेवित चिता आदिकी शय्यापर शयन करना ही मेरे लिये सर्वथा योग्य है' ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

वालीका सुग्रीव और अङ्गदसे अपने मनकी बात कहकर प्राणोंको त्याग देना

वीक्षमाणस्तु मन्दासुः सर्वतो मन्दमुच्छ्वसन्।
आदावेव तु सुग्रीवं ददर्शानुजमग्रतः ॥ १ ॥

वालीके प्राणोंकी गति शिथिल पड़ गयी थी। वह धीरे-धीरे ऊर्ध्व साँस लेता हुआ सब ओर देखने लगा। सबसे पहले उसने अपने सामने खड़े हुए छोटे भाई सुग्रीवको देखा ॥ १ ॥

तं प्राप्तविजयं वाली सुग्रीवं प्लवगेश्वरम्।
आभाष्य व्यक्तया वाचा सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

युद्धमें जिन्हें विजय प्राप्त हुई थी, उन वानरराज सुग्रीवको सम्बोधित करके वालीने बड़े स्नेहके साथ स्पष्ट वाणीमें कहा— ॥ २ ॥

सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्बिषात्।
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात् ॥ ३ ॥

'सुग्रीव! पूर्वजन्मके किसी पापसे अवश्यम्भावी बुद्धिमोहने मुझे बलपूर्वक आकृष्ट कर लिया था, इसीलिये मैं तुम्हें शत्रु समझने लगा था और इस कारण मेरे द्वारा जो तुम्हारे प्रति अपराध हुए, उसके लिये तुम्हें मेरे प्रति दोष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये ॥ ३ ॥

युगपद् विहितं तात न मन्ये सुखमावयोः।
सौहार्दं भ्रातृयुक्तं हि तदिदं जातमन्यथा ॥ ४ ॥

'तात! मैं समझता हूँ हम दोनोंके लिये एक साथ रहकर सुख भोगना नहीं बदा था, इसीलिये दो भाइयोंमें जो प्रेम होना चाहिये, वह न होकर हमलोगोंमें उसके विपरीत वैरभाव उत्पन्न हो गया ॥ ४ ॥

प्रतिपद्य त्वमद्यैव राज्यमेषां वनौकसाम्।
मामप्यद्यैव गच्छन्तं विद्धि वैवस्वतक्षयम् ॥ ५ ॥

'भाई! तुम आज ही यह वानरोंका राज्य स्वीकार करो तथा मुझे अभी यमराजके घर जानेको तैयार समझो ॥ ५ ॥

जीवितं च हि राज्यं च श्रियं च विपुलां तथा।
प्रजहाम्येष वै तूर्णमहं चागर्हितं यशः ॥ ६ ॥

'मैं अपने जीवन, राज्य, विपुल सम्पत्ति और प्रशंसित यशका भी तुरंत ही त्याग कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

अस्यां त्वहमवस्थायां वीर वक्ष्यामि यद् वचः।
यद्यप्यसुकरं राजन् कर्तुमेव त्वमर्हसि ॥ ७ ॥

'वीर! राजन्! इस अवस्थामें मैं जो कुछ कहूँगा, वह यद्यपि करनेमें कठिन है, तथापि तुम उसे अवश्य करना ॥

सुखार्हं सुखसंवृद्धं बालमेनमबालिशम्।
बाष्पपूर्णमुखं पश्य भूमौ पतितमङ्गदम् ॥ ८ ॥

'देखो, मेरा बेटा अङ्गद धरतीपर पड़ा है। इसका मुँह आँसुओंसे भीगा है। यह सुखमें पला है और सुख भोगनेके ही योग्य है। बालक होनेपर भी यह मूढ़ नहीं है ॥ ८ ॥

मम प्राणैः प्रियतरं पुत्रं पुत्रमिवौरसम्।
मया हीनमहीनार्थं सर्वतः परिपालय ॥ ९ ॥

'यह मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है। मेरे न रहनेपर तुम इसे सगे पुत्रकी भाँति मानना। इसके लिये किसी भी सुख-सुविधाकी कमी न होने देना और सदा सब जगह इसकी रक्षा करते रहना ॥ ९ ॥

त्वमप्यस्य पिता दाता परित्राता च सर्वशः।
भयेष्वभयदश्चैव यथाहं प्लवगेश्वर ॥ १० ॥

'वानरराज! मेरे ही समान तुम भी इसके पिता, दाता, सब प्रकारसे रक्षक और भयके अवसरोंपर अभय देनेवाले हो ॥

एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः।
रक्षसां च वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति ॥ ११ ॥

'ताराका यह तेजस्वी पुत्र तुम्हारे समान ही पराक्रमी है। उन राक्षसोंके वधके समय यह सदा तुम्हारे आगे रहेगा ॥ ११ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान् रणे।
करिष्यत्येष तारेयस्तेजस्वी तरुणोऽङ्गदः ॥ १२ ॥

'यह बलवान् तेजस्वी तरुण ताराकुमार अङ्गद रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करते हुए अपने योग्य कर्म करेगा ॥ १२ ॥

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥ १३ ॥

'सुषेणकी पुत्री यह तारा सूक्ष्म विषयोंके निर्णय करने तथा नाना प्रकारके उत्पातोंके चिह्नोंको समझनेमें सर्वथा निपुण है ॥

यदेषा साध्विति ब्रूयात् कार्यं तन्मुक्तसंशयम् ।
नहि तारामतं किंचिदन्यथा परिवर्तते ॥ १४ ॥

'जिस कार्यको अच्छा बताये, उसे संदेहरहित होकर करना । ताराकी किसी भी सम्मतिका परिणाम उलटा नहीं होता ॥ १४ ॥

राघवस्य च ते कार्यं कर्तव्यमविशङ्कया ।
स्यादधर्मो ह्यकरणे त्वां च हिंस्यादमानितः ॥ १५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीका काम तुम्हें निःशङ्क होकर करना चाहिये । उसको न करनेसे तुम्हें पाप लगेगा और अपमानित होनेपर श्रीरामचन्द्रजी तुझे मार डालेंगे ॥ १५ ॥

इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम् ।
उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां सम्प्रजह्यान्मृते मयि ॥ १६ ॥

'सुग्रीव ! मेरी यह सोनेकी दिव्यमाला तुम धारण कर लो । इसमें उदार लक्ष्मीका वास है । मेरे मर जानेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी । अतः अभीसे पहन लो' ॥ १६ ॥

इत्येवमुक्तः सुग्रीवो वालिना भ्रातृसौहृदात् ।
हर्षं त्यक्त्वा पुनर्दीनो ग्रहग्रस्त इवोडुराट् ॥ १७ ॥

वालीने भ्रातृस्नेहके कारण जब ऐसी बातें कहीं, तब उसके वधके कारण जो हर्ष हुआ था, उसे त्यागकर सुग्रीव फिर दुखी हो गये, मानो चन्द्रमापर ग्रहण लग गया हो ॥ १७ ॥

तद्वालिवचनाच्छान्तः कुर्वन् युक्तमतन्द्रितः ।
जग्राह सोऽभ्यनुज्ञातो मालां तां चैव काञ्चनीम् ॥ १८ ॥

वालीके उस वचनसे सुग्रीवका वैरभाव शान्त हो गया । वे सावधान होकर उचित बर्ताव करने लगे । उन्होंने भाईकी आज्ञासे वह सोनेकी माला ग्रहण कर ली ॥ १८ ॥

तां मालां काञ्चनीं दत्त्वा दृष्ट्वा चैवात्मजं स्थितम् ।
संसिद्धः प्रेत्यभावाय स्नेहादङ्गदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

सुग्रीवको वह सुवर्णमयी माला देनेके पश्चात् वालीने मरनेका निश्चय कर लिया । फिर अपने सामने खड़े हुए पुत्र अङ्गदकी ओर देखकर स्नेहके साथ कहा—॥ १९ ॥

देशकालौ भजस्वाद्य क्षममाणः प्रियाप्रिये ।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीववशगो भव ॥ २० ॥

'बेटा ! अब देश-कालको समझो—कब और कहाँ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसका निश्चय करके वैसा ही आचरण करो । समयानुसार प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख—जो कुछ आ पड़े, उसको सहो । अपने हृदयमें क्षमाभाव रक्खो और सदा सुग्रीवकी आज्ञाके अधीन रहो ॥ २० ॥

यथा हि त्वं महाबाहो लालितः सततं मया ।
न तथा वर्तमानं त्वां सुग्रीवो बहु मन्यते ॥ २१ ॥

'महाबाहो ! सदा मेरा दुलार पाकर जिस प्रकार तुम रहते आये हो, यदि वैसा ही बर्ताव अब भी करोगे तो सुग्रीव तुम्हारा विशेष आदर नहीं करेंगे ॥ २१ ॥

नास्यामित्रैर्गतं गच्छेर्मा शत्रुभिररिंदम ।
भर्तुरर्थपरो दान्तः सुग्रीववशगो भव ॥ २२ ॥

'शत्रुदमन अङ्गद ! तुम इनके शत्रुओंका साथ मत दो । जो इनके मित्र न हों, उनसे भी न मिलो और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखकर सदा अपने स्वामी सुग्रीवके कार्य-साधनमें संलग्न रहते हुए उन्हींके अधीन रहो ॥ २२ ॥

न चातिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते ।
उभयं हि महादोषं तस्मादन्तरदृग् भव ॥ २३ ॥

'किसीके साथ अत्यन्त प्रेम न करो और प्रेमका सर्वथा अभाव भी न होने दो; क्योंकि ये दोनों ही महान् दोष हैं । अतः मध्यम स्थितिपर ही दृष्टि रक्खो' ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वाथ विवृत्ताक्षः शरसम्पीडितो भृशम् ।
विवृतैर्दशनैर्भीमैर्बभूवोत्क्रान्तजीवितः ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर बाणके आघातसे अत्यन्त घायल हुए वालीकी आँखें घूमने लगीं । उसके भयंकर दाँत खुल गये और प्राण-पखेरू उड़ गये ॥ २४ ॥

ततो विचुक्रुशुस्तत्र वानरा हतयूथपाः ।
परिदेवयमानास्ते सर्वे प्लवगसत्तमाः ॥ २५ ॥

उस समय अपने यूथपतिकी मृत्यु हो जानेसे सभी श्रेष्ठ वानर जोर-जोरसे रोने और विलाप करने लगे—॥ २५ ॥

किष्किन्धा ह्यद्य शून्या च स्वर्गते वानरेश्वरे ।
उद्यानानि च शून्यानि पर्वताः काननानि च ॥ २६ ॥

'हाय ! आज वानरराज वालीके स्वर्गलोक चले जानेसे सारी किष्किन्धापुरी सूनी हो गयी । उद्यान, पर्वत और वन भी सूने हो गये ॥ २६ ॥

हते प्लवगशार्दूले निष्प्रभा वानराः कृताः ।
यस्य वेगेन महता काननानि वनानि च ॥ २७ ॥
पुष्पौघेणानुबद्ध्यन्ते करिष्यति तदद्य कः ।

'वानरश्रेष्ठ वालीके मारे जानेसे सारे वानर श्रीहीन हो गये । जिनके महान् वेग (प्रताप) से समस्त कानन और वन पुष्पसमूहोंसे सदा संयुक्त बने रहते थे, आज उनके न रहनेसे कौन ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य करेगा ! ॥ २७½ ॥

येन दत्तं महद् युद्धं गन्धर्वस्य महात्मनः ॥ २८ ॥
गोलभस्य महाबाहोर्दश वर्षाणि पञ्च च ।
नैव रात्रौ न दिवसे तद् युद्धमुपशाम्यति ॥ २९ ॥

'उन्होंने महामना महाबाहु गोलभ नामक गन्धर्वको महान् युद्धका अवसर दिया था । वह युद्ध पंद्रह वर्षोंतक लगातार चलता रहा । न दिनमें बंद होता था, न रातमें ॥

ततः षोडशमे वर्षे गोलभो विनिपातितः ।

तं हत्वा दुर्विनीतं तु वाली दंष्ट्राकरालवान्।
सर्वाभयंकरोऽस्माकं कथमेष निपातितः॥ ३०॥

'तदनन्तर सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होनेपर गोलभ वालीके हाथसे मारा गया। उस दुष्ट गन्धर्वका वध करके जिन विकराल दाढ़ोंवाले वालीने हम सबको अभय दान दिया था, वे ही ये हमारे स्वामी वानरराज स्वयं कैसे मार गिराये गये?'॥

हते तु वीरे प्लवगाधिपे तदा
प्लवङ्गमास्तत्र न शर्म लेभिरे।
वनेचराः सिंहयुते महावने
यथा हि गावो निहते गवां पतौ॥ ३१॥

उस समय वीर वानरराज वालीके मारे जानेपर वनोंमें विचरनेवाले वानर वहाँ चैन न पा सके। जैसे सिंहसे युक्त विशाल वनमें साँड़के मारे जानेपर गौएँ दुःखी हो जाती हैं, वही दशा उन वानरोंकी हुई॥ ३१॥

ततस्तु तारा व्यसनार्णवप्लुता
मृतस्य भर्तुर्वदनं समीक्ष्य सा।
जगाम भूमिं परिरभ्य वालिनं
महाद्रुमं छिन्नमिवाश्रिता लता॥ ३२॥

तदनन्तर शोकके समुद्रमें डूबी हुई ताराने जब अपने मरे हुए स्वामीकी ओर दृष्टिपात किया, तब वह वालीका आलिङ्गन करके कटे हुए महान् वृक्षसे लिपटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वाविंशः सर्गः॥ २२॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २२॥

त्रयोविंशः सर्गः

ताराका विलाप

ततः समुपजिघ्रन्ती कपिराजस्य तन्मुखम्।
पतिं लोकश्रुता तारा मृतं वचनमब्रवीत्॥ १॥

उस समय वानरराजका मुख सूँघती हुई लोकविख्यात ताराने रोकर अपने मृत पतिसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

शेषे त्वं विषमे दुःखमकृत्वा वचनं मम।
उपलोपचिते वीर सुदुःखे वसुधातले॥ २॥

'वीर! दुःखकी बात है कि आपने मेरी बात नहीं मानी और अब आप प्रस्तरसे पूर्ण अत्यन्त दुःखदायक और ऊँचे-नीचे भूतलपर शयन कर रहे हैं॥ २॥

मत्तः प्रियतरा नूनं वानरेन्द्र मही तव।
शेषे हि तां परिष्वज्य मां च न प्रतिभाषसे॥ ३॥

'वानरराज! निश्चय ही यह पृथ्वी आपको मुझसे भी बढ़कर प्रिय है, तभी तो आप इसका आलिङ्गन करके सो रहे हैं और मुझसे बाततक नहीं करते॥ ३॥

सुग्रीवस्य वशं प्राप्तो विधिरेष भवत्यहो।
सुग्रीव एव विक्रान्तो वीर साहसिकप्रिय॥ ४॥

'वीर! साहसपूर्ण कार्योंसे प्रेम रखनेवाले वानरराज! यह श्रीरामरूपी विधाता सुग्रीवके वशमें हो गया है (—आपके नहीं) यह बड़े आश्चर्यकी बात है, अतः अब इस राज्यपर सुग्रीव ही पराक्रमी राजाके रूपमें आसीन होंगे॥ ४॥

ऋक्षवानरमुख्यास्त्वां बलिनं पर्युपासते।
तेषां विलपितं कृच्छ्रमङ्गदस्य च शोचतः॥ ५॥
मम चेमा गिरः श्रुत्वा किं त्वं न प्रतिबुध्यसे।

'प्राणनाथ! प्रधान-प्रधान भालू और वानर जो आप महावीरकी सेवामें रहा करते थे, इस समय बड़े दुःखसे विलाप कर रहे हैं। बेटा अङ्गद भी शोकमें पड़ा है। उन वानरोंका दुःखमय विलाप, अङ्गदका शोकोद्गार तथा मेरी यह अनुनय-विनयभरी वाणी सुनकर भी आप जागते क्यों नहीं हैं?॥ ५½॥

इदं तद् वीरशयनं तत्र शेषे हतो युधि॥ ६॥
शायिता निहता यत्र त्वयैव रिपवः पुरा।

'यही वह वीर-शय्या है, जिसपर पूर्वकालमें आपने ही बहुत-से शत्रुओंको मारकर सुलाया था; किंतु आज स्वयं ही युद्धमें मारे जाकर आप इसपर शयन कर रहे हैं॥ ६½॥

विशुद्धसत्त्वाभिजन प्रिययुद्ध मम प्रिय॥ ७॥
मामनाथां विहायैकां गतस्त्वमसि मानद।

'विशुद्ध बलशाली कुलमें उत्पन्न, युद्धप्रेमी तथा दूसरोंको मान देनेवाले मेरे प्रियतम! तुम मुझ अनाथाको अकेली छोड़कर कहाँ चले गये?॥ ७½॥

शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता॥ ८॥
शूरभार्यां हतां पश्य सद्यो मां विधवां कृताम्।

'निश्चय ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपनी कन्या किसी शूरवीरके हाथमें न दे। देखो, मैं शूरवीरकी पत्नी होनेके कारण तत्काल विधवा बना दी गयी और इस प्रकार सर्वथा मारी गयी॥ ८½॥

अवभग्नश्च मे मानो भग्ना मे शाश्वती गतिः॥ ९॥
अगाधे च निमग्नास्मि विपुले शोकसागरे।

'राजरानी होनेका जो मेरा अभिमान था, वह भङ्ग हो

गया। नित्य-निरन्तर सुख पानेकी मेरी आशा नष्ट हो गयी तथा मैं अगाध एवं विशाल शोकसमुद्रमें डूब गयी हूँ ॥ ९½ ॥

अश्मसारमयं नूनमिदं मे हृदयं दृढम् ॥ १० ॥
भर्तारं निहतं दृष्ट्वा यन्नाद्य शतधा कृतम् ।

'निश्चय ही यह मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है। तभी तो अपने स्वामीको मारा गया देखकर इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ १०½ ॥

सुहृच्चैव च भर्ता च प्रकृत्या च मम प्रियः ॥ ११ ॥
प्रहारे च पराक्रान्तः शूरः पञ्चत्वमागतः ।

'हाय ! जो मेरे सुहृद्, स्वामी और स्वभावसे ही प्रिय थे तथा संग्राममें महान् पराक्रम प्रकट करनेवाले शूरवीर थे, वे संसारसे चल बसे ॥ ११½ ॥

पतिहीना तु या नारी कामं भवतु पुत्रिणी ॥ १२ ॥
धनधान्यसमृद्धापि विधवेत्युच्यते जनैः ।

'पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती एवं धन-धान्यसे समृद्ध भी हो, किंतु लोग उसे विधवा ही कहते हैं ॥ १२½ ॥

स्वगात्रप्रभवे वीर शेषे रुधिरमण्डले ॥ १३ ॥
कृमिरागपरिस्तोमे स्वकीये शयने यथा ।

'वीर ! अपने ही शरीरसे प्रकट हुई रक्तराशिमें आप उसी तरह शयन करते हैं, जैसे पहले इन्द्रगोप नामक कीड़ेके-से रंगवाले बिछौनेसे युक्त अपने पलंगपर सोया करते थे ॥ १३½ ॥

रेणुशोणितसंवीतं गात्रं तव समन्ततः ॥ १४ ॥
परिरब्धुं न शक्नोमि भुजाभ्यां प्लवगर्षभ ।

'वानरश्रेष्ठ ! आपका सारा शरीर धूल और रक्तसे लथपथ हो रहा है; इसलिये मैं अपनी दोनों भुजाओंसे आपका आलिङ्गन नहीं कर पाती' ॥ १४½ ॥

कृतकृत्योऽद्य सुग्रीवो वैरेऽस्मिन्नतिदारुणे ॥ १५ ॥
यस्य रामविमुक्तेन हृतमेकेषुणा भयम् ।

'इस अत्यन्त भयंकर वैरमें आज सुग्रीव कृतकृत्य हो गये। श्रीरामके छोड़े हुए एक ही बाणने उनका सारा भय हर लिया ॥ १५½ ॥

शरेण हृदि लग्नेन गात्रसंस्पर्शने तव ॥ १६ ॥
वार्यामि त्वां निरीक्षन्ती त्वयि पञ्चत्वमागते ।

'आपकी छातीमें जो बाण धँसा हुआ है, वह मुझे आपके शरीरका आलिङ्गन करनेसे रोक रहा है, इस कारण आपकी मृत्यु हो जानेपर भी मैं चुपचाप देख रही हूँ (आपको हृदयसे लगा नहीं पाती)' ॥ १६½ ॥

उद्बबर्ह शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा ॥ १७ ॥
गिरिगह्वरसंलीनं दीप्तमाशीविषं यथा ।

उस समय नीलने वालीके शरीरमें धँसे हुए उस बाणको निकाला, मानो पर्वतकी कन्दरामें छिपे हुए प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पको वहाँसे निकाला गया हो ॥ १७½ ॥

तस्य निष्कृष्यमाणस्य बाणस्यापि बभौ द्युतिः ॥ १८ ॥
अस्तमस्तकसंरुद्धरश्मेर्दिनकरादिव ।

वालीके शरीरसे निकाले जाते हुए उस बाणकी कान्ति अस्ताचलके शिखरपर अवरुद्ध किरणोंवाले सूर्यकी प्रभाके समान जान पड़ती थी ॥ १८½ ॥

पेतुः क्षतजधारास्तु व्रणेभ्यस्तस्य सर्वशः ॥ १९ ॥
ताम्रगैरिकसम्पृक्ता धारा इव धराधरात् ।

बाणके निकाल लिये जानेपर वालीके शरीरके सभी घावोंसे खूनकी धाराएँ गिरने लगीं, मानो किसी पर्वतसे लाल गेरूमिश्रित जलकी धाराएँ बह रही हों ॥ १९½ ॥

अवकीर्णं विमार्जन्ती भर्तारं रणरेणुना ॥ २० ॥
अस्रैर्नयनजैः शूरं सिषेचास्त्रसमाहतम् ।

वालीका शरीर रणभूमिकी धूलसे भर गया था। उस समय तारा बाणसे आहत हुए अपने शूरवीर स्वामीके उस शरीरको पोंछती हुई उन्हें नेत्रोंके अश्रुजलसे सींचने लगी ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गं दृष्ट्वा विनिहतं पतिम् ॥ २१ ॥
उवाच तारा पिङ्गाक्षं पुत्रमङ्गदमङ्गना ।

अपने मारे गये पतिके सारे अङ्गोंको रक्तसे भीगा हुआ देख वालि-पत्नी ताराने अपने भूरे नेत्रोंवाले पुत्र अङ्गदसे कहा—॥ २१½ ॥

अवस्थां पश्चिमां पश्य पितुः पुत्र सुदारुणाम् ॥ २२ ॥
सम्प्रसक्तस्य वैरस्य गतोऽन्तः पापकर्मणा ।

'बेटा ! देखो, तुम्हारे पिताकी अन्तिम अवस्था कितनी भयंकर है। वे इस समय पूर्व पापके कारण प्राप्त हुए वैरसे पार हो चुके हैं ॥ २२½ ॥

बालसूर्योज्ज्वलतनुं प्रयातं यमसादनम् ॥ २३ ॥
अभिवादय राजानं पितरं पुत्र मानदम् ।

'वत्स ! प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण गौर शरीरवाले तुम्हारे पिता राजा वाली अब यमलोकको जा पहुँचे। ये तुम्हें बड़ा आदर देते थे। तुम इनके चरणोंमें प्रणाम करो' ॥

एवमुक्तः समुत्थाय जग्राह चरणौ पितुः ॥ २४ ॥
भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन् ।

माताके ऐसा कहनेपर अङ्गदने उठकर अपनी मोटी और गोलाकार भुजाओंद्वारा पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और प्रणाम करते हुए कहा—'पिताजी ! मैं अङ्गद हूँ' ॥

अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा ॥ २५ ॥
दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे ।

तब तारा फिर कहने लगी—'प्राणनाथ ! कुमार अङ्गद पहलेकी ही भाँति आज भी आपके चरणोंमें प्रणाम करता

है, किंतु आप इसे 'चिरंजीवी रहो बेटा' ऐसा कहकर आशीर्वाद क्यों नहीं देते हैं ? ॥ २५½ ॥

अहं पुत्रसहाया त्वामुपासे गतचेतनम् ।
सिंहेन पातितं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम् ॥ २६ ॥

'जैसे कोई बछड़े सहित गाय सिंहके द्वारा तत्काल मार गिराये हुए साँड़के पास खड़ी हो, उसी प्रकार पुत्रसहित मैं प्राणहीन हुए आपकी सेवामें बैठी हूँ ॥ २६ ॥

इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसा ।
तस्मिन्नवभृथे स्नातः कथं पत्न्या मया विना ॥ २७ ॥

'आपने युद्धरूपी यज्ञका अनुष्ठान करके श्रीरामके बाणरूपी जलसे मुझ पत्नीके बिना अकेले ही अवभृथस्नान कैसे कर लिया ? ॥ २७ ॥

या दत्ता देवराजेन तव तुष्टेन संयुगे ।
शातकौम्भीं प्रियां मालां तां ते पश्यामि नेह किम् ॥ २८ ॥

'युद्धमें आपसे संतुष्ट हुए देवराज इन्द्रने आपको जो सोनेकी प्रिय माला दे रखी थी, उसे मैं इस समय आपके गलेमें क्यों नहीं देखती हूँ ? ॥ २८ ॥

राज्यश्रीर्न जहाति त्वां गतासुमपि मानद ।
सूर्यस्यावर्तमानस्य शैलराजमिव प्रभा ॥ २९ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले वानरराज ! प्राणहीन हो जानेपर भी आपको राज्यलक्ष्मी उसी प्रकार नहीं छोड़ रही है, जैसे चारों ओर चक्कर लगानेवाले सूर्यदेवकी प्रभा गिरिराज मेरुको कभी नहीं छोड़ती है ॥ २९ ॥

न मे वचः पथ्यमिदं त्वया कृतं
न चास्मि शक्ता हि निवारणे तव ।
हता सपुत्रास्मि हतेन संयुगे
सह त्वया श्रीर्विजहाति मामपि ॥ ३० ॥

'मैंने आपके हितकी बात कही थी; परंतु आपने उसे नहीं स्वीकार किया। मैं भी आपको रोक रखनेमें समर्थ न हो सकी। इसका फल यह हुआ कि आप युद्धमें मारे गये। आपके मारे जानेसे मैं भी अपने पुत्रसहित मारी गयी। अब लक्ष्मी आपके साथ ही मुझे और मेरे पुत्रको भी छोड़ रही है' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

सुग्रीवका शोकमग्न होकर श्रीरामसे प्राणत्यागके लिये आज्ञा माँगना, ताराका श्रीरामसे अपने वधके लिये प्रार्थना करना और श्रीरामका उसे समझाना

तामाशु वेगेन दुरासदेन
त्वभिप्लुतां शोकमहार्णवेन ।
पश्यंस्तदा वाल्यनुजस्तरस्वी
भ्रातुर्वधेनाप्रतिमेन तेपे ॥ १ ॥

अत्यन्त वेगशाली और दुःसह शोकसमुद्रमें डूबी हुई ताराकी ओर दृष्टिपात करके वालीके छोटे भाई वेगवान् सुग्रीवको उस समय अपने भाईके वधसे बड़ा संताप हुआ ॥ १ ॥

स बाष्पपूर्णेन मुखेन पश्यन्
क्षणेन निर्विण्णमना मनस्वी ।
जगाम रामस्य शनैः समीपं
भृत्यैर्वृतः सम्परिदूयमानः ॥ २ ॥

उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। उनका मन खिन्न हो गया और वे भीतर-ही-भीतर कष्टका अनुभव करते हुए अपने भृत्योंके साथ धीरे-धीरे श्रीरामचन्द्रजीके पास गये ॥ २ ॥

स तं समासाद्य गृहीतचाप-
मुदात्तमाशीविषतुल्यबाणम् ।
यशस्विनं लक्षणलक्षिताङ्ग-
मवस्थितं राघवमित्युवाच ॥ ३ ॥

जिन्होंने धनुष ले रक्खा था, जिनमें धीरोदात्त नायकका स्वभाव विद्यमान था, जिनके बाण विषधर सर्पके समान भयंकर थे, जिनका प्रत्येक अङ्ग सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार उत्तम लक्षणोंसे लक्षित था तथा जो परम यशस्वी थे, वहाँ खड़े हुए उन श्रीरघुनाथजीके पास जाकर सुग्रीव इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

यथा प्रतिज्ञातमिदं नरेन्द्र
कृतं त्वया दृष्टफलं च कर्म ।
ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रसूनो
मनो निवृत्तं हतजीवितेन ॥ ४ ॥

'नरेन्द्र ! आपने जैसी प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुसार यह काम कर दिखाया। इस कर्मका राज्य-लाभरूप फल भी प्रत्यक्ष ही है। किंतु राजकुमार ! इससे मेरा जीवन निन्दनीय हो गया है। अतः अब मेरा मन सभी भोगोंसे निवृत्त हो गया ॥ ४ ॥

अस्यां महिष्यां तु भृशं रुदत्यां
पुरेऽतिविक्रोशति दुःखतप्ते ।

हते नृपे संशयितेऽङ्गदे च
न राम राज्ये रमते मनो मे ॥ ५ ॥

'श्रीराम! राजा वालीके मारे जानेसे ये महारानी तारा अत्यन्त विलाप कर रही हैं। सारा नगर दुःखसे संतप्त होकर चीख रहा है तथा कुमार अङ्गदका जीवन भी संशयमें पड़ गया है। इन सब कारणोंसे अब राज्यमें मेरा मन नहीं लगता है ॥ ५ ॥

क्रोधादमर्षादति विप्रधर्षाद्
भ्रातुर्वधो मेऽनुमतः पुरस्तात्।
हते त्विदानीं हरियूथपेऽस्मिन्
सुतीक्ष्णमिक्ष्वाकुवर प्रतप्स्ये ॥ ६ ॥

'इक्ष्वाकुकुलके गौरव श्रीरघुनाथजी! भाईने मेरा बहुत अधिक तिरस्कार किया था, इसलिये क्रोध और अमर्षके कारण पहले मैंने उसके वधके लिये अनुमति दे दी थी; परंतु अब वानर-यूथपति वालीके मारे जानेपर मुझे बड़ा संताप हो रहा है। सम्भवतः जीवनभर यह संताप बना ही रहेगा ॥ ६ ॥

श्रेयोऽद्य मन्ये मम शैलमुख्ये
तस्मिन् हि वासश्चिरमृष्यमूके।
यथा तथा वर्तयतः स्ववृत्त्या
नेमं निहत्य त्रिदिवस्य लाभः ॥ ७ ॥

'अपनी जातीय वृत्तिके अनुसार जैसे-तैसे जीवन-निर्वाह करते हुए उस श्रेष्ठ पर्वत ऋष्यमूकपर चिरकालतक रहना ही आज मैं अपने लिये कल्याणकारी समझता हूँ; किंतु अपने इस भाईका वध कराकर अब मुझे स्वर्गका भी राज्य मिल जाय तो मैं उसे अपने लिये श्रेयस्कर नहीं मानता हूँ ॥७॥

न त्वा जिघांसामि चरेति यन्मा-
मयं महात्मा मतिमानुवाच।
तस्यैव तद् राम वचोऽनुरूप-
मिदं वचः कर्म च मेऽनुरूपम् ॥ ८ ॥

'बुद्धिमान् महात्मा वालीने युद्धके समय मुझसे कहा था कि 'तुम चले जाओ, मैं तुम्हारे प्राण लेना नहीं चाहता'। श्रीराम! उनकी यह बात उन्हींके योग्य थी और मैंने जो आपसे कहकर उनका वध कराया, मेरा वह क्रूरतापूर्ण वचन और कर्म मेरे ही अनुरूप है ॥ ८ ॥

भ्राता कथं नाम महागुणस्य
भ्रातुर्वधं राम विरोचयेत।
राजस्य दुःखस्य च वीर सारं
विचिन्तयन् कामपुरस्कृतोऽपि ॥ ९ ॥

'वीर रघुनन्दन! कोई कितना ही स्वार्थी क्यों न हो? यदि राज्यके सुख तथा भ्रातृ-वधसे होनेवाले दुःखकी प्रबलता-पर विचार करेगा तो वह भाई होकर अपने महान् गुणवान् भाईका वध कैसे अच्छा समझेगा? ॥ ९ ॥

वधो हि मे मतो नासीत् स्वमाहात्म्यव्यतिक्रमात्।
ममासीद् बुद्धिदौरात्म्यात् प्राणहारीव्यतिक्रमः ॥१०॥

'वालीके मनमें मेरे वधका विचार नहीं था; क्योंकि इससे उन्हें अपनी मान-प्रतिष्ठामें बट्टा लगनेका डर था। मेरी ही बुद्धिमें दुष्टता भरी थी, जिसके कारण मैंने अपने भाईके प्रति ऐसा अपराध कर डाला, जो उनके लिये घातक सिद्ध हुआ ॥ १० ॥

द्रुमशाखावभग्नोऽहं मुहूर्तं परिनिष्टनन्।
सान्त्वयित्वा त्वनेनोक्तो न पुनः कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

'जब वालीने मुझे एक वृक्षकी शाखासे घायल कर दिया और मैं दो घड़ीतक कराहता रहा, तब उन्होंने मुझे सान्त्वना देकर कहा—'जाओ, फिर मेरे साथ युद्ध करनेकी इच्छा न करना' ॥ ११ ॥

भ्रातृत्वमार्यभावश्च धर्मश्चानेन रक्षितः।
मया क्रोधश्च कामश्च कपित्वं च प्रदर्शितम् ॥ १२ ॥

'उन्होंने भ्रातृभाव, आर्यभाव और धर्मकी भी रक्षा की है; परंतु मैंने केवल काम, क्रोध और वानरोचित चपलताका ही परिचय दिया है ॥ १२ ॥

अचिन्तनीयं परिवर्जनीय-
मनीप्सनीयं स्वनवेक्षणीयम्।
प्राप्तोऽस्मि पाप्मानमिदं वयस्य
भ्रातुर्वधात् त्वाष्ट्रवधादिवेन्द्रः॥ १३ ॥

'मित्र! जैसे वृत्रासुरका वध करनेसे इन्द्र पापके भागी हुए थे, उसी प्रकार मैं भाईका वध कराकर ऐसे पापका भागी हुआ हूँ, जिसको करना तो दूर रहा, सोचना भी अनुचित है। श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये जो सर्वथा त्याज्य, अवाञ्छनीय तथा देखनेके भी अयोग्य है ॥ १३ ॥

पाप्मानमिन्द्रस्य मही जलं च
वृक्षाश्च कामं जगृहुः स्त्रियश्च।
को नाम पाप्मानमिमं सहेत
शाखामृगस्य प्रतिपत्तुमिच्छेत् ॥ १४ ॥

'इन्द्रके पापको तो पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंने स्वेच्छासे ग्रहण कर लिया था; परंतु मुझ-जैसे वानरके इस पापको कौन लेना चाहेगा? अथवा कौन ले सकेगा? ॥ १४ ॥

नार्होमि सम्मानमिमं प्रजानां
न यौवराज्यं कुत एव राज्यम्।
अधर्मयुक्तं कुलनाशयुक्त-
मेवंविधं राघव कर्म कृत्वा ॥ १५ ॥

'रघुनाथजी! अपने कुलका नाश करनेवाला ऐसा पाप-पूर्ण कर्म करके मैं प्रजाके सम्मानका पात्र नहीं रहा। राज्य

पाना तो दूरकी बात है, मुझमें युवराज होनेकी भी योग्यता नहीं है ॥ १५ ॥

पापस्य कर्तास्मि विगर्हितस्य
क्षुद्रस्य लोकापकृतस्य लोके।
शोको महान् मामभिवर्ततेऽयं
वृष्टेर्यथा निम्नमिवाम्बुवेगः ॥ १६ ॥

'मैंने वह लोकनिन्दित पापकर्म किया है, जो नीच पुरुषोंके योग्य तथा सम्पूर्ण जगत्को हानि पहुँचानेवाला है। जैसे वर्षाके जलका वेग नीची भूमिकी ओर जाता है, उसी प्रकार यह भ्रातृ-वधजनित महान् शोक सब ओरसे मुझपर ही आक्रमण कर रहा है ॥ १६ ॥

सोदर्यघातापरगात्रवालः
संतापहस्ताक्षिशिरोविषाणः ।
एनोमयो मामभिहन्ति हस्ती
दृप्तो नदीकूलमिव प्रवृद्धः ॥ १७ ॥

'भाईका वध ही जिसके शरीरका पिछला भाग और पुच्छ है तथा उससे होनेवाला संताप ही जिसकी सूँड़, नेत्र, मस्तक और दाँत हैं, वह पापरूपी महान् मदमत्त गजराज नदी-तटकी भाँति मुझपर ही आघात कर रहा है ॥ १७ ॥

अंहो बतेदं नृवराविषह्यं
निवर्तते मे हृदि साधुवृत्तम्।
अग्नौ विवर्णं परितप्यमानं
किट्टं यथा राघव जातरूपम् ॥ १८ ॥

'नरेश्वर ! रघुनन्दन ! मैंने जो दुःसह पाप किया है, यह मेरे हृदयस्थित सदाचारको भी नष्ट कर रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे आगमें तपाया जानेवाला मलिन सुवर्ण अपने भीतरके मलको नष्ट कर देता है ॥ १८ ॥

महाबलानां हरियूथपाना-
मिदं कुलं राघव मन्निमित्तम्।
अस्याङ्गदस्यापि च शोकतापा-
दर्धस्थितप्राणमितीव मन्ये ॥ १९ ॥

'रघुनाथजी ! मेरे ही कारण वालीका वध हुआ, जिससे इस अङ्गदका भी शोक-संताप बढ़ गया और इसीलिये इन महाबली वानर-यूथपतियोंका समुदाय अधमरा-सा जान पड़ता है ॥ १९ ॥

सुतः सुलभ्यः सुजनः सुवश्यः
कुतस्तु पुत्रः सदृशोऽङ्गदेन।
न चापि विद्येत स वीर देशो
यस्मिन् भवेत् सोदरसंनिकर्षः ॥ २० ॥

'वीरवर ! सुजन और वशमें रहनेवाला पुत्र तो मिल सकता है; परंतु अङ्गदके समान बेटा कहाँ मिलेगा ? तथा ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ मुझे अपने भाईका सामीप्य मिल सके ॥ २० ॥

अद्याङ्गदो वीरवरो न जीवे-
ज्जीवेत माता परिपालनार्थम्।
विना तु पुत्रं परितापदीना
सा नैव जीवेदिति निश्चितं मे ॥ २१ ॥

'अब वीरवर अङ्गद भी जीवित नहीं रह सकता। यदि जी सकता तो उसकी रक्षाके लिये उसकी माता भी जीवन धारण करती। वह बेचारी तो यों ही संतापसे दीन हो रही है, यदि पुत्र भी न रहा तो उसके जीवनका अन्त हो जायगा—यह बिल्कुल निश्चित बात है ॥ २१ ॥

सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं
भ्रात्रा च पुत्रेण च सख्यमिच्छन्।
इमे विचेष्यन्ति हरिप्रवीराः
सीतां निदेशे परिवर्तमानाः ॥ २२ ॥

'अतः मैं अपने भाई और पुत्रका साथ देनेकी इच्छासे प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करूँगा। ये वानर वीर आपकी आज्ञामें रहकर सीताकी खोज करेंगे ॥ २२ ॥

कृत्स्नं तु ते सेत्स्यति कार्यमेत-
न्मय्यप्यतीते मनुजेन्द्रपुत्र।
कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं
रामानुजानीहि कृतागसं माम् ॥ २३ ॥

'राजकुमार ! मेरी मृत्यु हो जानेपर भी आपका सारा कार्य सिद्ध हो जायगा। मैं कुलकी हत्या करनेवाला और अपराधी हूँ। अतः संसारमें जीवन धारण करनेके योग्य नहीं हूँ। इसलिये श्रीराम ! मुझे प्राणत्याग करनेकी आज्ञा दीजिये' ॥ २३ ॥

इत्येवमार्तस्य रघुप्रवीरः
श्रुत्वा वचो वालिजघन्यजस्य।
संजातबाष्पः परवीरहन्ता
रामो मुहूर्तं विमना बभूव ॥ २४ ॥

दुःखसे आतुर हुए सुग्रीवके, जो वालीके छोटे भाई थे, ऐसे वचन सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेमें समर्थ, रघुकुल-के वीर भगवान् श्रीरामके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दो घड़ी-तक मन-ही-मन दुःखका अनुभव करते रहे ॥ २४ ॥

तस्मिन् क्षणेऽभीक्ष्णमवेक्षमाणः
क्षितिक्षमावान् भुवनस्य गोप्ता।
रामो रुदन्तीं व्यसने निमग्नां
समुत्सुकः सोऽथ ददर्श ताराम् ॥ २५ ॥

श्रीरघुनाथजी पृथ्वीके समान क्षमाशील और सम्पूर्ण जगत्-की रक्षा करनेवाले हैं। उन्होंने उस समय अधिक उत्सुक

होकर जब इधर-उधर बारंबार दृष्टि दौड़ायी, तब शोकमग्ना तारा उन्हें दिखायी दी, जो अपने स्वामीके लिये रो रही थी ॥ २५ ॥

तां चारुनेत्रां कपिसिंहनाथां
पतिं समाश्लिष्य तदा शयानाम् ।
उत्थापयामासुरदीनसत्त्वां
मन्त्रिप्रधानाः कपिराजपत्नीम् ॥ २६ ॥

कपियोंमें सिंहके समान वीर वाली जिसके स्वामी एवं संरक्षक थे, जो वानरराज वालीकी रानी थी, जिसका हृदय उदार और नेत्र मनोहर थे, वह तारा उस समय अपने मृत पतिका आलिङ्गन करके पड़ी थी । श्रीरामको आते देख प्रधान-प्रधान मन्त्रियोंने ताराको वहाँसे उठाया ॥ २६ ॥

सा विस्फुरन्ती परिरभ्यमाणा
भर्तुः समीपादपनीयमाना ।
ददर्श रामं शरचापपाणिं
स्वतेजसा सूर्यमिव ज्वलन्तम् ॥ २७ ॥

तारा जब पतिके समीपसे हटायी जाने लगी, तब बारंबार उसका आलिङ्गन करती हुई वह अपनेको छुड़ाने और छटपटाने लगी । इतनेहीमें उसने अपने सामने धनुष-बाण धारण किये श्रीरामको खड़ा देखा, जो अपने तेजसे सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७ ॥

सुसंवृतं पार्थिवलक्षणैश्च
तं चारुनेत्रं मृगशावनेत्रा ।
अदृष्टपूर्वं पुरुषप्रधान-
मयं स काकुत्स्थ इति प्रजज्ञे ॥ २८ ॥

वे राजोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे । उनके नेत्र बड़े मनोहर थे । उन पुरुषप्रवर श्रीरामको, जो पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे, देखकर मृगशावकनयनी तारा समझ गयी कि ये ही ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम हैं ॥ २८ ॥

तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्या ।
आर्तातितूर्णं व्यसनं प्रपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती ॥ २९ ॥

उस समय घोर संकटमें पड़ी हुई शोकपीड़ित आर्या तारा अत्यन्त विह्वल हो गिरती-पड़ती तीव्र गतिसे महेन्द्रतुल्य दुर्जय वीर महानुभाव भगवान् श्रीरामके समीप गयी ॥२९॥

तं सा समासाद्य विशुद्धसत्त्वं
शोकेन सम्भ्रान्तशरीरभावा ।
मनस्विनी वाक्यमुवाच तारा
रामं रणोत्कर्षणलब्धलक्ष्यम् ॥ ३० ॥

शोकके कारण वह अपने शरीरकी भी सुध-बुध खो बैठी थी । भगवान् श्रीराम विशुद्ध अन्तःकरणवाले तथा युद्धस्थलमें सबसे अधिक निपुणताके कारण लक्ष्य बेधनेमें अचूक थे, उनके पास पहुँचकर वह मनस्विनी तारा इस प्रकार बोली—॥ ३० ॥

त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च
जितेन्द्रियश्चोत्तमधर्मकश्च ।
अक्षीणकीर्तिश्च विचक्षणश्च
क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्षः ॥ ३१ ॥

'रघुनन्दन ! आप अप्रमेय (देश, काल और वस्तुकी सीमासे रहित) हैं । आपको पाना बहुत कठिन है । आप जितेन्द्रिय तथा उत्तम धर्मका पालन करनेवाले हैं । आपकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं होती । आप दूरदर्शी एवं पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं । आपकी आँखें कुछ-कुछ लाल हैं ॥ ३१ ॥

त्वमात्तबाणासनबाणपाणि-
र्महाबलः संहननोपपन्नः ।
मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय
दिव्येन देहाभ्युदयेन युक्तः ॥ ३२ ॥

आपके हाथमें धनुष और बाण शोभा पा रहे हैं । आपका बल महान् है । आप सुदृढ़ शरीरसे सम्पन्न हैं और मनुष्य-शरीरसे प्राप्त होनेवाले लौकिक सुखका परित्याग करके भी दिव्य शरीरके ऐश्वर्यसे युक्त हैं ॥ ३२ ॥

येनैव बाणेन हतः प्रियो मे
तेनैव बाणेन हि मां जहीहि ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य
न मां विना वीर रमेत वाली ॥ ३३ ॥

'(अतः मैं प्रार्थना करती हूँ कि)' आपने जिस बाणसे मेरे प्रियतम पतिका वध किया है, उसी बाणसे आप मुझे भी मार डालिये । मैं मरकर उनके समीप चली जाऊँगी । वीर ! मेरे बिना वाली कहीं भी सुखी नहीं रह सकेंगे ॥३३॥

स्वर्गेऽपि पद्मामलपत्रनेत्र
समेत्य सम्प्रेक्ष्य च मामपश्यन् ।
न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा
विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत् ॥ ३४ ॥

'अमलकमलदललोचन राम ! स्वर्गमें जाकर भी जब वाली सब ओर दृष्टि डालनेपर मुझे नहीं देखेंगे, तब उनका मन वहाँ कदापि नहीं लगेगा; नाना प्रकारके लाल फूलोंसे विभूषित चोटी धारण करनेवाली तथा विचित्र वेशभूषासे मनोहर प्रतीत होनेवाली स्वर्गकी अप्सराओंको वे कभी स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ३४ ॥

स्वर्गेऽपि शोकं च विवर्णतां च
मया विना प्राप्स्यति वीर वाली ।
रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे
विदेहकन्यारहितो यथा त्वम् ॥ ३५ ॥

'वीरवर! स्वर्गमें भी वाली मेरे बिना शोकका अनुभव करेंगे और उनके शरीरकी कान्ति फीकी पड़ जायगी। वे उसी तरह दुखी रहेंगे, जैसे गिरिराज ऋष्यमूकके सुरम्य तट-प्रान्तमें विदेहनन्दिनी सीताके बिना आप कष्टका अनुभव करते हैं॥

त्वं वेत्थ तावद् वनिताविहीनः
प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः।
तत् त्वं प्रजानञ्जहि मां न वाली
दुःखं ममादर्शनजं भजेत॥ ३६॥

'स्त्रीके बिना युवा पुरुषको जो दुःख उठाना पड़ता है उसे आप अच्छी तरह जानते हैं। इस तत्त्वको समझकर आप मेरा वध करिये, जिससे वालीको मेरे विरहका दुःख न भोगना पड़े॥ ३६॥

यच्चापि मन्येत भवान् महात्मा
स्त्रीघातदोषस्तु भवेन्न मह्यम्।
आत्मेयमस्येति हि मां जहि त्वं
न स्त्रीवधः स्यान्मनुजेन्द्रपुत्र॥ ३७॥

'महाराजकुमार! आप महात्मा हैं, इसलिये यदि ऐसा चाहते हों कि मुझे स्त्री-हत्याका पाप न लगे तो 'यह वालीकी आत्मा है' ऐसा समझकर मेरा वध कीजिये। इससे आपको स्त्री-हत्याका पाप नहीं लगेगा॥ ३७॥

शास्त्रप्रयोगाद् विविधाच्च वेदा-
दनन्यरूपाः पुरुषस्य दाराः।
दारप्रदानाद्धि न दानमन्यत्
प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके॥ ३८॥

'शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें पति और पत्नी दोनोंका संयुक्त अधिकार होता है—पत्नीको साथ लिये बिना पुरुष यज्ञकर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता। इसके सिवा नाना प्रकारकी वैदिक श्रुतियाँ भी पत्नीको पतिका आधा शरीर बतलाती हैं। दूसरे स्त्रियोंका अपने पतिसे अभिन्न होना सिद्ध होता है (अतः मुझे मारनेसे आपको स्त्रीवधका दोष नहीं लग सकता और वालीको स्त्रीकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि) संसारमें ज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें स्त्रीदानसे बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है॥ ३८॥

त्वं चापि मां तस्य मम प्रियस्य
प्रदास्यसे धर्ममवेक्ष्य वीर।
अनेन दानेन न लप्स्यसे त्व-
मधर्मयोगं मम वीर घातात्॥ ३९॥

'वीरशिरोमणे! यदि धर्मकी ओर दृष्टि रखते हुए आप भी मुझे मेरे प्रियतम वालीको समर्पित कर देंगे तो इस दानके प्रभावसे मेरी हत्या करनेपर भी आपको पाप नहीं लगेगा॥३९॥

आर्तामनाथामपनीयमाना-
मेवंगतां नार्हसि मामहन्तुम्।
अहं हि मातङ्गविलासगामिना
प्लवंगमानामृषभेण धीमता।
विना वरार्होत्तमहेममालिना
चिरं न शक्ष्यामि नरेन्द्र जीवितुम्॥ ४०॥

'मैं दुःखिनी और अनाथा हूँ। पतिसे दूर कर दी गयी हूँ। ऐसी दशामें मुझे जीवित छोड़ना आपके लिये उचित नहीं है। नरेन्द्र! मैं सुन्दर एवं बहुमूल्य श्रेष्ठ सुवर्णमालासे अलंकृत तथा गजराजके समान विलासयुक्त गतिसे चलनेवाले बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठ वालीके बिना अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकूँगी'॥ ४०॥

इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा
तारां समाश्वास्य हितं बभाषे।
मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व
लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा॥ ४१॥

ताराके ऐसा कहनेपर महात्मा भगवान् श्रीरामने उसे आश्वासन देकर हितकी बात कही—'वीरपत्नी! तुम मृत्यु-विषयक विपरीत विचारका त्याग करो; क्योंकि विधाताने इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है॥ ४१॥

तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं
लोकोऽब्रवीत् तेन कृतं विधात्रा।
त्रयोऽपि लोका विहितं विधानं
नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य॥ ४२॥

'विधाताने ही इस सारे जगत्को सुख-दुःखसे संयुक्त किया है। यह बात साधारण लोग भी कहते और जानते हैं। तीनों लोकोंके प्राणी विधाताके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकते; क्योंकि सभी उसके अधीन हैं॥ ४२॥

प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव
पुत्रश्च ते प्राप्स्यति यौवराज्यम्।
धात्रा विधानं विहितं तथैव
न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति॥ ४३॥

'तुम्हें पहलेकी ही भाँति अत्यन्त सुख एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी तथा तुम्हारा पुत्र युवराजपद प्राप्त करेगा। विधाताका ऐसा ही विधान है। शूरवीरोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप नहीं करती हैं (अतः तुम भी शोक छोड़कर शान्त हो जाओ)'॥ ४३॥

आश्वासिता तेन महात्मना तु
प्रभावयुक्तेन परंतपेन।
सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन
सुवेषरूपा विरराम तारा॥ ४४॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले परम प्रभावशाली महात्मा श्रीरामके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर सुन्दर वेष और रूपवाली वीरपत्नी तारा, जिसके मुखसे विलापकी ध्वनि निकलती रहती थी, चुप हो गयी—उसने रोना-धोना छोड़ दिया ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

लक्ष्मणसहित श्रीरामका सुग्रीव, तारा और अङ्गदको समझाना तथा वालीके दाह-संस्कारके लिये आज्ञा प्रदान करना, फिर तारा आदिसहित सब वानरोंका वालीके शवको श्मशानभूमिमें ले जाकर अङ्गदके द्वारा उसका दाह-संस्कार कराना और उसे जलाञ्जलि देना

स सुग्रीवं च तारां च साङ्गदां सहलक्ष्मणः।
समानशोकः काकुत्स्थः सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव आदिके शोकसे उनके समान ही दुःखी थे। उन्होंने सुग्रीव, अङ्गद और ताराको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः।
यदत्रानन्तरं कार्यं तत् समाधातुमर्हथ ॥ २ ॥

'शोक-संताप करनेसे मरे हुए जीवकी कोई भलाई नहीं होती। अतः अब आगे जो कुछ कर्तव्य है, उसको तुम्हें विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये ॥ २ ॥

लोकवृत्तमनुष्ठेयं कृतं वो बाष्पमोक्षणम्।
न कालादुत्तरं किंचित् कर्म शक्यमुपासितुम् ॥ ३ ॥

'तुम सब लोग बहुत आँसू बहा चुके। अब उसकी आवश्यकता नहीं है। लोकाचारका भी पालन होना चाहिये। समय बिताकर कोई भी विहित कर्म नहीं किया जा सकता (क्योंकि उचित समयपर न किया जाय तो उस कर्मका कोई फल नहीं होता) ॥ ३ ॥

नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम्।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम् ॥ ४ ॥

'जगत्‌में नियति (काल) ही सबका कारण है। वही समस्त कर्मोंका साधन है और काल ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त करनेका कारण है (क्योंकि वही सबका प्रवर्तक है) ॥ ४ ॥

न कर्ता कस्यचित् कश्चिन्नियोगे नापि चेश्वरः।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥ ५ ॥

'कोई भी पुरुष न तो स्वतन्त्रतापूर्वक किसी कामको कर सकता है और न किसी दूसरेको ही उसमें लगानेकी शक्ति रखता है। सारा जगत् स्वभावके अधीन है और स्वभावका आधार काल है ॥ ५ ॥

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥ ६ ॥

'काल भी कालका (अपनी की हुई व्यवस्थाका) उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह काल कभी क्षीण नहीं होता। स्वभाव (प्रारब्धकर्म) को पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ६ ॥

न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः।
न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो वशः ॥ ७ ॥

'कालका किसीके साथ भाई-चारेका, मित्रताका अथवा जाति-बिरादरीका सम्बन्ध नहीं है। उसको वशमें करनेका कोई उपाय नहीं है तथा उसपर किसीका पराक्रम नहीं चल सकता। कारणस्वरूप भगवान् काल जीवके भी वशमें नहीं हैं ॥ ७ ॥

किं तु कालपरीणामो द्रष्टव्यः साधु पश्यता।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥ ८ ॥

अतः साधुदर्शी विवेकी पुरुषको सब कुछ कालका ही परिणाम समझना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम भी कालक्रमसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

इतः स्वां प्रकृतिं वाली गतः प्राप्तः क्रियाफलम्।
सामदानार्थसंयोगैः पवित्रं प्लवगेश्वरः ॥ ९ ॥

'(मेरे द्वारा मारे जानेके कारण) वानरराज वाली शरीरसे मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। नीतिशास्त्रके अनुकूल साम, दान और अर्थके समुचित प्रयोगसे मिलनेवाले जो पवित्र कर्म हैं, वे सभी उन्हें प्राप्त हो गये ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य च संयोगाज्जितस्तेन महात्मना।
स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥ १० ॥

'महात्मा वालीने पहले अपने धर्मके संयोगसे जिसपर विजय पायी थी, उसी स्वर्गको इस समय युद्धमें प्राणोंकी रक्षा न करके उन्होंने अपने हाथमें कर लिया है ॥ १० ॥

एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः।
तदलं परितापेन प्राप्तकालमुपास्यताम् ॥ ११ ॥

'यही सर्वश्रेष्ठ गति है, जिसे वानरोंके सरदार वालीने प्राप्त किया है। अतः अब उनके लिये शोक करना व्यर्थ है।

'इस समय तुम्हारे सामने जो कर्तव्य उपस्थित है, उसे पूरा करो' ॥ ११ ॥

वचनान्ते तु रामस्य लक्ष्मणः परवीरहा।
अवदत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं गतचेतसम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी बात समाप्त होनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने, जिनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी थी, उन सुग्रीवसे नम्रतापूर्वक इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

कुरु त्वमस्य सुग्रीव प्रेतकार्यमनन्तरम्।
ताराङ्गदाभ्यां सहितो वालिनो दहनं प्रति ॥ १३ ॥

'सुग्रीव ! अब तुम अङ्गद और ताराके साथ रहकर वालीके दाह-संस्कार-सम्बन्धी प्रेतकार्य करो ॥ १३ ॥

समाज्ञापय काष्ठानि शुष्काणि च बहूनि च।
चन्दनानि च दिव्यानि वालिसंस्कारकारणात् ॥ १४ ॥

'सेवकोंको आज्ञा दो—वे वालीके दाह-संस्कारके निमित्त प्रचुर मात्रामें सूखी लकड़ियाँ और दिव्य चन्दन ले आवें ॥ १४ ॥

समाश्वासय दीनं त्वमङ्गदं दीनचेतसम्।
मा भूर्बालिशबुद्धिस्त्वं त्वदधीनमिदं पुरम् ॥ १५ ॥

'अङ्गदका चित्त बहुत दुखी हो गया है। इन्हें धैर्य बँधाओ। तुम अपने मनमें मूढ़ता न लाओ—किंकर्तव्यविमूढ़ न बनो; क्योंकि यह सारा नगर तुम्हारे ही अधीन है ॥ १५ ॥

अङ्गदस्त्वानयेन्माल्यं वस्त्राणि विविधानि च।
घृतं तैलमथो गन्धान् यच्चात्र समनन्तरम् ॥ १६ ॥

'अङ्गद पुष्पमाला, नाना प्रकारके वस्त्र, घी, तेल, सुगन्धित पदार्थ तथा अन्य सामान, जिनकी अभी आवश्यकता है, स्वयं ले आवें ॥ १६ ॥

त्वं तार शिबिकां शीघ्रमादायागच्छ सम्भ्रमात्।
त्वरा गुणवती युक्ता ह्यस्मिन् काले विशेषतः ॥ १७ ॥

'तार ! तुम शीघ्र जाकर वेगपूर्वक एक पालकी ले आओ; क्योंकि इस समय अधिक फुर्ती दिखानी चाहिये। ऐसे अवसरपर वही लाभदायक होती है ॥ १७ ॥

सज्जीभवन्तु प्लवगाः शिबिकावाहनोचिताः।
समर्था बलिनश्चैव निर्हरिष्यन्ति वालिनम् ॥ १८ ॥

'पालकीको उठाकर ले चलनेके योग्य जो बलवान् एवं समर्थ वानर हों, वे तैयार हो जायँ। वे ही वालीको यहाँसे श्मशानभूमिमें ले चलेंगे' ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा तु सुग्रीवं सुमित्रानन्दवर्धनः।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १९ ॥

सुग्रीवसे ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण अपने भाईके पास जाकर खड़े हो गये ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा तारः सम्भ्रान्तमानसः।
प्रविवेश गुहां शीघ्रं शिबिकासक्तमानसः ॥ २० ॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर तारके मनमें हड़बड़ी मच गयी। वह शिबिका ले आनेके लिये शीघ्रतापूर्वक किष्किन्धा नामक गुफामें गया ॥ २० ॥

आदाय शिबिकां तारः स तु पर्यापतत् पुनः।
वानरैरुह्यमानां तां शूरैरुद्वहनोचितैः ॥ २१ ॥

वहाँसे शिबिका ढोनेके योग्य शूरवीर वानरोंद्वारा कंधोंपर उठायी हुई उस शिबिकाको साथ लेकर तार फिर तुरंत ही लौट आया ॥ २१ ॥

दिव्यां भद्रासनयुतां शिबिकां स्यन्दनोपमाम्।
पक्षिकर्मभिराचित्रां द्रुमकर्मविभूषिताम् ॥ २२ ॥

वह दिव्य पालकी रथके समान बनी हुई थी। उसके बीचमें राजाके बैठने योग्य उत्तम आसन था। उसमें शिल्पियोंद्वारा कृत्रिम पक्षी और वृक्ष बनाये गये थे, जो उस पालकीको विचित्र शोभासे सम्पन्न बना रहे थे ॥ २२ ॥

आचितां चित्रपत्तीभिः सुनिविष्टां समन्ततः।
विमानमिव सिद्धानां जालवातायनायुताम् ॥ २३ ॥

वह शिबिका चित्रके रूपमें बने हुए पैदल सिपाहियोंसे भरी प्रतीत होती थी। उसकी निर्माणकला सब ओरसे बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी। देखनेमें वह सिद्धोंके विमान-सी प्रतीत होती थी। उसमें कई खिड़कियाँ बनी थीं, जिनमें जालियाँ लगी हुई थीं ॥ २३ ॥

सुनियुक्तां विशालां च सुकृतां शिल्पिभिः कृताम्।
दारुपर्वतकोपेतां चारुकर्मपरिष्कृताम् ॥ २४ ॥

कारीगरोंने उस पालकीको बहुत सुन्दर बनानेका प्रयत्न किया था। उसका एक-एक भाग बड़ा सुघड़ बनाया गया था। आकारमें वह बहुत बड़ी थी। उसमें लकड़ियोंके क्रीडा-पर्वत बने हुए थे। वह मनोहर शिल्प-कर्मसे सुशोभित थी ॥ २४ ॥

वराभरणहारैश्च चित्रमाल्योपशोभिताम्।
गुहागहनसंछन्नां रक्तचन्दनभूषिताम् ॥ २५ ॥

सुन्दर आभूषण और हारोंसे उसको सजाया गया था। विचित्र फूलोंसे उसकी शोभा बढ़ायी गयी थी। शिल्पियोंद्वारा निर्मित गुफा और वनसे वह संयुक्त थी तथा लाल चन्दनद्वारा उसे विभूषित किया गया था ॥ २५ ॥

पुष्पौघैः समभिच्छन्नां पद्ममालाभिरेव च।
तरुणादित्यवर्णाभिर्भ्राजमानाभिरावृताम् ॥ २६ ॥

नाना प्रकारके पुष्पसमूहोंद्वारा वह सब ओरसे आच्छादित थी तथा प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिवाली दीप्तिमती पद्ममालाओंसे अलंकृत थी ॥ २६ ॥

ईदृशीं शिबिकां दृष्ट्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
क्षिप्रं विनीयतां वाली प्रेतकार्यं विधीयताम् ॥ २७ ॥

ऐसी पालकीका अवलोकन करके श्रीरामचन्द्रजीने

लक्ष्मणकी ओर देखते हुए कहा—'अब वालीको शीघ्र ही यहाँसे श्मशानभूमिमें ले जाया जाय और उनका प्रेतकार्य किया जाय' ॥ २७ ॥

ततो वालिनमुद्यम्य सुग्रीवः शिबिकां तदा।
आरोपयत विक्रोशन्नङ्गदेन सहैव तु ॥ २८ ॥

तब अङ्गदके साथ करुण-क्रन्दन करते हुए सुग्रीवने वालीके शवको उठाकर उस शिबिकामें रक्खा ॥ २८ ॥

आरोप्य शिबिकां चैव वालिनं गतजीवितम्।
अलंकारैश्च विविधैर्माल्यैर्वस्त्रैश्च भूषितम् ॥ २९ ॥

मृत वालीको शिबिकामें चढ़ाकर उन्हें नाना प्रकारके अलंकारों, फूलोंके गजरों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंसे विभूषित किया ॥ २९ ॥

आज्ञापयत् तदा राजा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः।
और्ध्वदेहिकमार्यस्य क्रियतामनुकूलतः ॥ ३० ॥

तदनन्तर वानरोंके स्वामी राजा सुग्रीवने आज्ञा दी कि 'मेरे बड़े भाईका और्ध्वदेहिक संस्कार शास्त्रानुकूल विधिसे सम्पन्न किया जाय ॥ ३० ॥

विश्राणयन्तो रत्नानि विविधानि बहूनि च।
अग्रतः प्लवगा यान्तु शिबिका तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥

'आगे-आगे बहुत-से वानर नाना प्रकारके बहुसंख्यक रत्न लुटाते हुए चलें। उनके पीछे शिबिका चले ॥ ३१ ॥

राज्ञामृद्धिविशेषा हि दृश्यन्ते भुवि यादृशाः।
तादृशैरिह कुर्वन्तु वानरा भर्तृसत्क्रियाम् ॥ ३२ ॥

'इस भूतलपर राजाओंके और्ध्वदेहिक संस्कार उनकी बढ़ी हुई समृद्धिके अनुसार जैसे धूमधामसे होते देखे जाते हैं, उसी प्रकार अधिक धन लगाकर सब वानर अपने स्वामी महाराज वालीका अन्त्येष्टि-संस्कार करें' ॥ ३२ ॥

तादृशं वालिनः क्षिप्रं प्राकुर्वन्नौर्ध्वदेहिकम्।
अङ्गदं परिरभ्याशु तारप्रभृतयस्तथा ॥ ३३ ॥
क्रोशन्तः प्रययुः सर्वे वानरा हतबान्धवाः।

तब तार आदि वानरोंने वालीके और्ध्वदेहिक संस्कारका शीघ्र वैसा ही आयोजन किया। जिनके बान्धव वाली मारे गये थे, वे सब-के-सब वानर अङ्गदको हृदयसे लगाकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे रोते हुए शवके साथ चले ॥ ३३½ ॥

ततः प्रणिहिताः सर्वा वानर्योऽस्य वशानुगाः ॥ ३४ ॥
चुक्रुशुर्वीरवीरेति भूयः क्रोशन्ति ताः प्रियम्।

उनके पीछे वालीके अधीन रहनेवाली सभी वानर-पत्नियाँ समीप आकर 'हा वीर, हा वीर' कहती हुई अपने प्रियतमको पुकार-पुकारकर बारंबार रोने-चिल्लाने लगीं ॥ ३४½ ॥

ताराप्रभृतयः सर्वा वानर्यो हतबान्धवाः ॥ ३५ ॥
अनुजग्मुश्च भर्तारं क्रोशन्त्यः करुणस्वनाः।

जिनके जीवन-धनका वध किया गया था, वे तारा आदि सब वानरियाँ करुणस्वरसे विलाप करती हुई अपने स्वामीके पीछे-पीछे चलने लगीं ॥ ३५½ ॥

तासां रुदितशब्देन वानरीणां वनान्तरे ॥ ३६ ॥
वनानि गिरयश्चैव विक्रोशन्तीव सर्वतः।

वनके भीतर रोती हुई उन वानर-वधुओंके रोदन-शब्दसे गूँजते हुए वन और पर्वत भी सब ओर रोते हुए-से प्रतीत होते थे ॥ ३६½ ॥

पुलिने गिरिनद्यास्तु विविक्ते जलसंवृते ॥ ३७ ॥
चितां चक्रुः सुबहवो वानरा वनचारिणः।

पहाड़ी[1] नदी तुङ्गभद्राके एकान्त तटपर जो जलसे घिरा था, पहुँचकर बहुत-से वनचारी वानरोंने एक चिता तैयार की ॥ ३७½ ॥

अवरोप्य ततः स्कन्धाच्छिबिकां वानरोत्तमाः ॥ ३८ ॥
तस्थुरेकान्तमाश्रित्य सर्वे शोकपरायणाः।

तदनन्तर पालकी ढोनेवाले श्रेष्ठ वानरोंने उसे अपने कंधेसे उतारा और वे सब शोकमग्न हो एकान्त स्थानमें जा बैठे ॥ ३८½ ॥

ततस्तारा पतिं दृष्ट्वा शिबिकातलशायिनम् ॥ ३९ ॥
आरोप्याङ्के शिरस्तस्य विललाप सुदुःखिता।

तत्पश्चात् ताराने शिबिकामें सुलाये हुए अपने पतिके शवको देखकर उनके मस्तकको अपनी गोदमें ले लिया और अत्यन्त दुखी होकर वह विलाप करने लगी—॥३९½ ॥

हा वानरमहाराज हा नाथ मम वत्सल ॥ ४० ॥
हा महार्ह महाबाहो हा मम प्रिय पश्य माम्।
जनं न पश्यसीमं त्वं कस्माच्छोकाभिपीडितम् ॥ ४१ ॥

'हा वानरोंके महाराज! हा मेरे दयालु प्राणनाथ! हा परम पूजनीय महाबाहु वीर! हा मेरे प्रियतम! एक बार मेरी ओर देखो तो सही। इस शोकपीड़ित दासीकी ओर तुम दृष्टिपात क्यों नहीं करते हो? ॥ ४०-४१ ॥

प्रहृष्टमिह ते वक्त्रं गतासोरपि मानद।
अस्तार्कसमवर्णं च दृश्यते जीवतो यथा ॥ ४२ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले प्राणवल्लभ! प्राणोंके निकल जानेपर भी तुम्हारा मुख जीवित अवस्थाकी भाँति अस्ताचल-वर्ती सूर्यके समान अरुण प्रभासे युक्त एवं प्रसन्न ही दिखायी देता है ॥ ४२ ॥

एष त्वां रामरूपेण कालः कर्षति वानर।
येन स्म विधवाः सर्वाः कृता एकेषुणा रणे ॥ ४३ ॥

---

१. यह नदी सह्यपर्वतसे निकलकर किष्किन्धाकी पर्वत-मालाओंके बीचसे बहती हुई कृष्णा नदीमें जा मिली है।

'वानरराज! श्रीरामके रूपमें यह काल ही तुम्हें खींच कर लिये जा रहा है, जिसने युद्धके मैदानमें एक ही बाण मारकर हम सबको विधवा बना दिया ॥ ४३ ॥

इमास्तास्तव राजेन्द्र वानर्योऽप्लवगास्तव।
पादैर्विकृष्टमध्वानमागताः किं न बुध्यसे ॥ ४४ ॥

'महाराज! ये तुम्हारी प्यारी वानरियाँ, जो वानरोंकी भाँति उछलकर चलना नहीं जानती हैं, तुम्हारे पीछे-पीछे बहुत दूरके मार्गपर पैदल ही चली आयी हैं। इस बातको क्या तुम नहीं जानते? ॥ ४४ ॥

तवेष्टा ननु चैवेमा भार्याश्चन्द्रनिभाननाः।
इदानीं नेक्षसे कस्मात् सुग्रीवं प्लवगेश्वर ॥ ४५ ॥

'वानरराज! जो तुम्हें परम प्रिय थीं; वे तुम्हारी सभी चन्द्रमुखी भार्याएँ यहाँ उपस्थित हैं। तुम इन सबको तथा अपने भाई सुग्रीवको भी इस समय क्यों नहीं देख रहे हो? ॥ ४५ ॥

एते हि सचिवा राजंस्तारप्रभृतयस्तव।
पुरवासिजनश्चायं परिवार्य विषीदति ॥ ४६ ॥

'राजन्! ये तार आदि तुम्हारे सचिव तथा ये पुरवासीजन तुम्हें चारों ओरसे घेरकर दुखी हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

विसर्जयैनान् सचिवान् यथापुरमरिंदम।
ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः ॥ ४७ ॥

'शत्रुदमन! आप पहलेकी भाँति इन मन्त्रियोंको बिदा कर दीजिये। फिर हम सब प्रेमोन्मत्त होकर इन वनोंमें आपके साथ क्रीडा करेंगी' ॥ ४७ ॥

एवं विलपतीं तारां पतिशोकपरीवृताम्।
उत्थापयन्ति स्म तदा वानर्यः शोककर्शिताः ॥ ४८ ॥

पतिके शोकमें डूबी हुई ताराको इस प्रकार विलाप करती देख उस समय शोकसे दुर्बल हुई अन्य वानरियोंने उसे उठाया ॥ ४८ ॥

सुग्रीवेण ततः सार्धं सोऽङ्गदः पितरं रुदन्।
चितामारोपयामास शोकेनाभिप्लुतेन्द्रियः ॥ ४९ ॥

इसके बाद संतापपीड़ित इन्द्रियोंवाले अङ्गदने रोते-रोते सुग्रीवकी सहायतासे पिताको चितापर रक्खा ॥ ४९ ॥

ततोऽग्निं विधिवद् दत्त्वा सोऽपसव्यं चकार ह।
पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः ॥ ५० ॥

फिर शास्त्रीय विधिके अनुसार उसमें आग लगाकर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की। इसके बाद यह सोचकर कि 'मेरे पिता लंबी यात्राके लिये प्रस्थित हुए हैं' अङ्गदकी सारी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठीं ॥ ५० ॥

संस्कृत्य वालिनं तं तु विधिवत् प्लवगर्षभाः।
आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शुभजलां शिवाम् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार विधिवत् वालीका दाह-संस्कार करके सभी वानर जलाञ्जलि देनेके लिये पवित्र जलसे भरी हुई कल्याणमयी तुङ्गभद्रा नदीके तटपर आये ॥ ५१ ॥

ततस्ते सहितास्तत्र ह्यङ्गदं स्थाप्य चाग्रतः।
सुग्रीवतारासहिताः सिषिचुर्वानरा जलम् ॥ ५२ ॥

वहाँ अङ्गदको आगे रखकर सुग्रीव और तारासहित सभी वानरोंने वालीके लिये एक साथ जलाञ्जलि दी ॥ ५२ ॥

सुग्रीवेणेव दीनेन दीनो भूत्वा महाबलः।
समानशोकः काकुत्स्थः प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ५३ ॥

दुखी हुए सुग्रीवके साथ ही उन्हींके समान शोकग्रस्त एवं दुखी हो महाबली श्रीरामने वालीके समस्त प्रेतकार्य करवाये ॥ ५३ ॥

ततोऽथ तं वालिनमग्र्यपौरुषं
प्रकाशमिक्ष्वाकुवरेषुणा हतम्।
प्रदीप्य दीप्ताग्निसमौजसं तदा
सलक्ष्मणं राममुपेयिवान् हरिः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामके बाणसे मारे गये श्रेष्ठ पराक्रमी और प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी सुविख्यात वालीका दाह-संस्कार करके सुग्रीव उस समय लक्ष्मणसहित श्रीरामके पास आये ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका सुग्रीवके अभिषेकके लिये श्रीरामचन्द्रजीसे किष्किन्धामें पधारनेकी प्रार्थना, श्रीरामका पुरीमें न जाकर केवल अनुमति देना, तत्पश्चात् सुग्रीव और अङ्गदका अभिषेक

ततः शोकाभिसंतप्तं सुग्रीवं क्लिन्नवाससम्।
शाखामृगमहामात्राः परिवार्योपतस्थिरे ॥ १ ॥
अभिगम्य महाबाहुं राममक्लिष्टकारिणम्।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पितामहमिवर्षयः ॥ २ ॥

तदनन्तर वानरसेनाके प्रधान-प्रधान वीर (हनुमान् आदि) भीगे वस्त्रवाले शोक-संतप्त सुग्रीवको चारों ओरसे घेरकर उन्हें साथ लिये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु श्रीरामकी सेवामें उपस्थित हुए। श्रीरामके पास आकर

वे सभी वानर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये, जैसे ब्रह्माजीके सम्मुख महर्षिगण खड़े रहते हैं ॥ १-२ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्तरुणार्कनिभाननः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं हनूमान् मारुतात्मजः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णमय मेरु पर्वतके समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले वायुपुत्र हनुमान्‌जी, जिनका मुख प्रातः-कालके सूर्यकी भाँति अरुण प्रभासे प्रकाशित हो रहा था, दोनों हाथ जोड़कर बोले—॥ ३ ॥

भवत्प्रसादात् काकुत्स्थ पितृपैतामहं महत् ।
वानराणां सुदंष्ट्राणां सम्पन्नबलशालिनाम् ॥ ४ ॥
महात्मनां सुदुष्प्रापं प्राप्तं राज्यमिदं प्रभो ।
भवता समनुज्ञातः प्रविश्य नगरं शुभम् ॥ ५ ॥
संविधास्यति कार्याणि सर्वाणि ससुहृद्गणः ।

'ककुत्स्थकुलनन्दन ! आपकी कृपासे सुग्रीवको सुन्दर दाढ़वाले पूर्णबलशाली और महामनस्वी वानरोंका यह विशाल साम्राज्य प्राप्त हुआ, जो इनके बाप-दादोंके समयसे चला आ रहा है । प्रभो ! यद्यपि इसका मिलना बहुत ही कठिन था तो भी आपके प्रसादसे यह इन्हें सुलभ हो गया । अब यदि आप आज्ञा दें तो ये अपने सुन्दर नगरमें प्रवेश करके सुहृदोंके साथ अपना सब राजकार्य सँभालें ॥ ४-५½ ॥

स्नातोऽयं विविधैर्गन्धैरौषधैश्च यथाविधि ॥ ६ ॥
अर्चयिष्यति माल्यैश्च रत्नैश्च त्वां विशेषतः ।
इमां गिरिगुहां रम्यामभिगन्तुं त्वमर्हसि ॥ ७ ॥
कुरुष्व स्वामिसम्बन्धं वानरान् सम्प्रहर्षय ।

'ये शास्त्रविधिके अनुसार नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थों और ओषधियोंसहित जलसे राज्यपर अभिषिक्त होकर मालाओं तथा रत्नोंद्वारा आपकी विशेष पूजा करेंगे । अतः आप इस रमणीय पर्वत-गुफा किष्किन्धामें पधारनेकी कृपा करें और इन्हें इस राज्यका स्वामी बनाकर वानरोंका हर्ष बढ़ावें ॥ ६-७½ ॥

एवमुक्तो हनुमता राघवः परवीरहा ॥ ८ ॥
प्रत्युवाच हनूमन्तं बुद्धिमान् वाक्यकोविदः ।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले तथा बातचीतमें कुशल बुद्धिमान् श्रीरघुनाथजीने उन्हें यों उत्तर दिया—॥ ८½ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य ग्रामं वा यदि वा पुरम् ॥ ९ ॥
न प्रवेक्ष्यामि हनुमन् पितुर्निर्देशपालकः ।

'हनुमन् ! सौम्य ! मैं पिताकी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ, अतः चौदह वर्षोंके पूर्ण होनेतक किसी ग्राम या नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा ॥ ९½ ॥

सुसमृद्धां गुहां दिव्यां सुग्रीवो वानरर्षभः ॥ १० ॥
प्रविष्टो विधिवद् वीरः क्षिप्रं राज्येऽभिषिच्यताम् ।

'वानरश्रेष्ठ वीर सुग्रीव इस समृद्धिशालिनी दिव्य गुफामें प्रवेश करें और वहाँ शीघ्र ही इनका विधिपूर्वक राज्याभिषेक कर दिया जाय' ॥ १०½ ॥

एवमुक्त्वा हनूमन्तं रामः सुग्रीवमब्रवीत् ॥ ११ ॥
वृत्तज्ञो वृत्तसम्पन्नमुदारबलविक्रमम् ।
इममप्यङ्गदं वीरं यौवराज्येऽभिषेचय ॥ १२ ॥

हनुमान्‌से ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवसे बोले—'मित्र ! तुम लौकिक और शास्त्रीय सभी व्यवहार जानते हो । कुमार अङ्गद सदाचारसम्पन्न तथा महान् बल-पराक्रमसे परिपूर्ण हैं । इनमें वीरता कूट-कूटकर भरी है, अतः तुम इनको भी युवराजके पदपर अभिषिक्त करो ॥ ११-१२ ॥

ज्येष्ठस्य हि सुतो ज्येष्ठः सदृशो विक्रमेण च ।
अङ्गदोऽयमदीनात्मा यौवराज्यस्य भाजनम् ॥ १३ ॥

'ये तुम्हारे बड़े भाईके ज्येष्ठ पुत्र हैं । पराक्रममें भी उन्हींके समान हैं तथा इनका हृदय उदार है । अतः अङ्गद युवराज-पदके सर्वथा अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः ।
प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः ॥ १४ ॥

'सौम्य ! वर्षा कहलानेवाले चार मास या चौमासे आ गये । इनमें पहला मास यह श्रावण, जो जलकी प्राप्ति करानेवाला है, आरम्भ हो गया ॥ १४ ॥

नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम् ।
अस्मिन् वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः ॥ १५ ॥

'सौम्य ! यह किसीपर चढ़ाई करनेका समय नहीं है । इसलिये तुम अपनी सुन्दर नगरीमें जाओ । मैं लक्ष्मणके साथ इस पर्वतपर निवास करूँगा ॥ १५ ॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ।
प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला ॥ १६ ॥

'सौम्य सुग्रीव ! यह पर्वतीय गुफा बड़ी रमणीय और विशाल है । इसमें आवश्यकताके अनुरूप हवा भी मिल जाती है । यहाँ पर्याप्त जल भी सुलभ है और कमल तथा उत्पल भी बहुत हैं ॥ १६ ॥

कार्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत ।
एष नः समयः सौम्य प्रविश त्वं स्वमालयम् ॥ १७ ॥
अभिषिञ्चस्व राज्ये च सुहृदः सम्प्रहर्षय ।

'सखे ! कार्तिक आनेपर तुम रावणके वधके लिये प्रयत्न करना । यही हमलोगोंका निश्चय रहा । अब तुम अपने महलमें प्रवेश करो और राज्यपर अभिषिक्त होकर सुहृदोंको आनन्दित करो' ॥ १७½ ॥

इति रामाभ्यनुज्ञातः सुग्रीवो वानरर्षभः ॥ १८ ॥
प्रविवेश पुरीं रम्यां किष्किन्धां वालिपालिताम् ।

श्रीरामचन्द्रजीकी यह आज्ञा पाकर वानरश्रेष्ठ सुग्रीव उस रमणीय किष्किन्धापुरीमें गये, जिसकी रक्षा वालीने की थी ॥

तं वानरसहस्राणि प्रविष्टं वानरेश्वरम् ॥ १९ ॥
अभिवार्य प्रविष्टानि सर्वतः प्लवगेश्वरम् ।

उस समय गुफामें प्रविष्ट हुए उन वानरराजको चारों ओरसे घेरकर हजारों वानर उनके साथ ही गुहामें घुसे ॥१९½॥

ततः प्रकृतयः सर्वा दृष्ट्वा हरिगणेश्वरम् ॥ २० ॥
प्रणम्य मूर्ध्ना पतिता वसुधायां समाहिताः ।

वानरराजको देखकर प्रजा आदि समस्त प्रकृतियोंने एकाग्रचित्त हो पृथ्वीपर माथा टेककर उन्हें प्रणाम किया ॥

सुग्रीवःप्रकृतीःसर्वाःसम्भाष्योत्थाप्य वीर्यवान्॥ २१ ॥
भ्रातुरन्तःपुरं सौम्यं प्रविवेश महाबलः ।

महाबली पराक्रमी सुग्रीवने उन सबको उठनेकी आज्ञा दी और उन सबसे बातचीत करके वे भाईके सौम्य अन्तः-पुरमें प्रविष्ट हुए ॥ २१½ ॥

प्रविष्टं भीमविक्रान्तं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ २२ ॥
अभ्यषिञ्चन्त सुहृदः सहस्राक्षमिवामराः ।

भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले वानरश्रेष्ठ सुग्रीवको अन्तःपुरमें आया देख उनके सुहृदोंने उनका उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे देवताओंने सहस्र नेत्रधारी इन्द्रका किया था ॥ २२½ ॥

तस्य पाण्डुरमाजह्रुश्छत्रं हेमपरिष्कृतम् ॥ २३ ॥
शुक्ले च वालव्यजने हेमदण्डे यशस्करे ।
तथा रत्नानि सर्वाणि सर्वबीजौषधानि च ॥ २४ ॥
सक्षीराणां च वृक्षाणां प्ररोहान् कुसुमानि च ।
शुक्लानि चैव वस्त्राणि श्वेतं चैवानुलेपनम् ॥ २५ ॥
सुगन्धीनि च माल्यानि स्थलजान्यम्बुजानि च ।
चन्दनानि च दिव्यानि गन्धांश्च विविधान् बहून्॥ २६ ॥
अक्षतं जातरूपं च प्रियङ्गुं मधुसर्पिषी ।
दधि चर्म च वैयाघ्रं परार्ध्ये चाप्युपानहौ ॥ २७ ॥
समालम्भनमादाय गोरोचनं मनःशिलाम् ।
आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्याश्च षोडश ॥ २८ ॥

पहले तो वे सब लोग उनके लिये सुवर्णभूषित श्वेत छत्र, सोनेकी डाँड़ीवाले दो सफेद चँवर, सब प्रकारके रत्न, बीज और ओषधियाँ, दूधवाले वृक्षोंकी नीचे लटकनेवाली जटाएँ, श्वेत पुष्प, श्वेत वस्त्र, श्वेत अनुलेपन, जल और थलमें होने-वाले सुगन्धित फूलोंकी मालाएँ, दिव्य चन्दन, नाना प्रकारके बहुत-से सुगन्धित पदार्थ, अक्षत, सोना, प्रियङ्गु (कगनी), मधु, घी, दही, व्याघ्रचर्म, सुन्दर एवं बहुमूल्य जूते, अङ्ग-राग, गोरोचन और मैनसिल आदि सामग्री लेकर वहाँ उपस्थित हुए, साथ ही हर्षसे भरी हुई सोलह सुन्दरी कन्याएँ भी सुग्रीवके पास आयीं ॥ २३—२८ ॥

ततस्ते वानरश्रेष्ठमभिषेक्तुं यथाविधि ।
रत्नैर्वस्त्रैश्च भक्ष्यैश्च तोषयित्वा द्विजर्षभान् ॥ २९ ॥

तदनन्तर उन सबने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके रत्न, वस्त्र और भक्ष्य पदार्थोंसे संतुष्ट करके वानरश्रेष्ठ सुग्रीवका विधिपूर्वक अभिषेक-कार्य आरम्भ किया ॥ २९ ॥

ततः कुशपरिस्तीर्णं समिद्धं जातवेदसम् ।
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वा मन्त्रविदो जनाः ॥ ३० ॥

मन्त्रवेत्ता पुरुषोंने वेदीपर अग्निकी स्थापना करके उसे प्रज्वलित किया और अग्निवेदीके चारों ओर कुश बिछाये। फिर अग्निका संस्कार करके मन्त्रपूत हविष्यके द्वारा प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी ॥ ३० ॥

ततो हेमप्रतिष्ठाने वरास्तरणसंवृते ।
प्रासादशिखरे रम्ये चित्रमाल्योपशोभिते ॥ ३१ ॥
प्राङ्मुखं विधिवन्मन्त्रैः स्थापयित्वा वरासने ।

तत्पश्चात् रंग-बिरंगी पुष्पमालाओंसे सुशोभित रमणीय अट्टालिकापर एक सोनेका सिंहासन रक्खा गया और उसपर सुन्दर बिछौना बिछाकर उसके ऊपर सुग्रीवको पूर्वाभिमुख करके विधिवत् मन्त्रोच्चारण करते हुए बिठाया गया ॥३१½॥

नदीनदेभ्यः संहृत्य तीर्थेभ्यश्च समन्ततः ॥ ३२ ॥
आहृत्य च समुद्रेभ्यो सर्वेभ्यो वानरर्षभाः ।
अपः कनककुम्भेषु निधाय विमलं जलम् ॥ ३३ ॥
शुभैर्ऋषभशृङ्गैश्च कलशैश्चैव काञ्चनैः ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ॥ ३४ ॥
गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमाञ्जाम्बवांस्तथा ॥ ३५ ॥
अभ्यषिञ्चत सुग्रीवं प्रसन्नेन सुगन्धिना ।
सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा ॥ ३६ ॥

इसके बाद श्रेष्ठ वानरोंने नदियों, नदों, सम्पूर्ण दिशाओं-के तीर्थों और समस्त समुद्रोंसे लाये हुए निर्मल जलको एकत्र कर-के उसे सोनेके कलशोंमें रक्खा। फिर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान् और जाम्बवान्ने महर्षियों-की बतायी हुई शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सुवर्णमय कलशोंमें रक्खे हुए स्वच्छ और सुगन्धित जलसे साँड़के सींगोंद्वारा सुग्रीवका उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे वसुओंने इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ ३२—३६ ॥

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे सर्वे वानरपुङ्गवाः ।
प्रचुक्रुशुर्महात्मानो हृष्टाः शतसहस्रशः ॥ ३७ ॥

सुग्रीवका अभिषेक हो जानेपर वहाँ लाखोंकी संख्यामें एकत्र हुए समस्त महामनस्वी श्रेष्ठ वानर हर्षसे भरकर जय-घोष करने लगे ॥ ३७ ॥

रामस्य तु वचः कुर्वन् सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
अङ्गदं सम्परिष्वज्य यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन करते हुए वानरराज सुग्रीवने अङ्गदको हृदयसे लगाकर उन्हें भी युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३८ ॥

अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवंगमाः ।
साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानो ह्यपूजयन् ॥ ३९ ॥

अङ्गदका अभिषेक हो जानेपर महामनस्वी दयालु वानर 'साधु-साधु' कहकर सुग्रीवकी सराहना करने लगे ॥ ३९ ॥

रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः ।
प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तिनि ॥ ४० ॥

इस प्रकार अभिषेक होकर किष्किन्धामें सुग्रीव और अङ्गदके विराजमान होनेपर समस्त वानर परम प्रसन्न हो महात्मा श्रीराम और लक्ष्मणकी बारंबार स्तुति करने लगे ॥

हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिता ।
बभूव नगरी रम्या किष्किन्धा गिरिगह्वरे ॥ ४१ ॥

उस समय पर्वतकी गुफामें बसी हुई किष्किन्धापुरी हृष्ट-पुष्ट पुरवासियोंसे व्याप्त तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होनेके कारण बड़ी रमणीय प्रतीत होती थी ॥ ४१ ॥

निवेद्य रामाय तदा महात्मने
महाभिषेकं कपिवाहिनीपतिः ।
रुमां च भार्यामुपलभ्य वीर्यवा-
नवाप राज्यं त्रिदशाधिपो यथा ॥ ४२ ॥

वानरसेनाके स्वामी पराक्रमी सुग्रीवने महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर अपने महाभिषेकका समाचार निवेदन किया और अपनी पत्नी रुमाको पाकर उन्होंने उसी प्रकार वानरोंका साम्राज्य प्राप्त किया, जैसे देवराज इन्द्रने त्रिलोकीका ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

प्रस्रवणगिरिपर श्रीराम और लक्ष्मणकी परस्पर बातचीत

अभिषिक्ते तु सुग्रीवे प्रविष्टे वानरे गुहाम् ।
आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १ ॥

जब वानर सुग्रीवका राज्याभिषेक हो गया और वे किष्किन्धामें जाकर रहने लगे, उस समय अपने भाई लक्ष्मणके साथ श्रीरामजी प्रस्रवणगिरिपर चले गये ॥ १ ॥

शार्दूलमृगसंघुष्टं सिंहैर्भीमरवैर्वृतम् ।
नानागुल्मलतागूढं बहुपादपसंकुलम् ॥ २ ॥

वहाँ चीतों और मृगोंकी आवाज गूँजती रहती थी । भयंकर गर्जना करनेवाले सिंहोंसे वह स्थान भरा था । नाना प्रकारकी झाड़ियाँ और लताएँ उस पर्वतको आच्छादित किये हुए थीं और घने वृक्षोंके द्वारा वह सब ओरसे व्याप्त था ॥

ऋक्षवानरगोपुच्छैर्मार्जारैश्च निषेवितम् ।
मेघराशिनिभं शैलं नित्यं शुचिकरं शिवम् ॥ ३ ॥

रीछ, वानर, लंगूर और बिलाव आदि जन्तु वहाँ निवास करते थे । वह पर्वत मेघोंके समूह-सा जान पड़ता था । दर्शन करनेवाले लोगोंके लिये वह सदा ही मङ्गलमय और पवित्रकारक था ॥ ३ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे महतीमायतां गुहाम् ।
प्रत्यगृह्णीत वासार्थं रामः सौमित्रिणा सह ॥ ४ ॥

उस पर्वतके शिखरपर एक बहुत बड़ी और विस्तृत गुफा थी । लक्ष्मणसहित श्रीरामने उसीका अपने रहनेके लिये आश्रय लिया ॥ ४ ॥

कृत्वा च समयं रामः सुग्रीवेण सहानघः ।
कालयुक्तं महद्वाक्यमुवाच रघुनन्दनः ॥ ५ ॥
विनीतं भ्रातरं भ्राता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।

रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी वर्षाका अन्त होनेपर सुग्रीवके साथ रावणपर चढ़ाई करनेका निश्चय करके वहाँ आये थे । उन्होंने लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाले अपने विनययुक्त भ्राता लक्ष्मणसे यह समयोचित बात कही ॥ ५½ ॥

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता ॥ ६ ॥
अस्यां वत्स्याम सौमित्रे वर्षरात्रमरिंदम ।

'शत्रुदमन सुमित्राकुमार ! यह पर्वतकी गुफा बड़ी ही सुन्दर और विशाल है । यहाँ हवाके आने-जानेका भी मार्ग है । हमलोग वर्षाकी रातमें इसी गुफाके भीतर निवास करेंगे ॥ ६½ ॥

गिरिशृङ्गमिदं रम्यमुत्तमं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥
श्वेताभिः कृष्णताम्राभिः शिलाभिरुपशोभितम् ।

'राजकुमार ! पर्वतका यह शिखर बहुत ही उत्तम और रमणीय है । सफेद, काले और लाल हर तरहके प्रस्तर-खण्ड इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ७½ ॥

नानाधातुसमाकीर्णं नदीदर्दुरसंयुतम् ॥ ८ ॥
विविधैर्वृक्षषण्डैश्च चारुचित्रलतायुतम् ।
नानाविहगसंघुष्टं मयूरवरनादितम् ॥ ९ ॥

यहाँ नाना प्रकारके धातुओंकी खानें हैं। पास ही नदी बहती है। उसमें रहनेवाले मेढक यहाँ भी उछलते-कूदते चले आते हैं। नाना प्रकारके वृक्षसमूह इसकी शोभा बढ़ाते हैं। सुन्दर और विचित्र लताओंसे यह शैल शिखर हरा-भरा दिखायी देता है। भाँति-भाँतिके पक्षी यहाँ चहक रहे हैं तथा सुन्दर मोरोंकी मीठी बोली गूँज रही है ॥ ८-९ ॥

मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्दुवारैः शिरीषकैः।
कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम् ॥ १० ॥

'मालती और कुन्दकी झाड़ियाँ, सिन्दुवार, शिरीष, कदम्ब, अर्जुन और सर्जके फूले हुए वृक्ष इस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ १० ॥

इयं च नलिनी रम्या फुल्लपङ्कजमण्डिता।
नातिदूरे गुहाया नौ भविष्यति नृपात्मज ॥ ११ ॥

'राजकुमार ! यह पुष्करिणी खिले हुए कमलोंसे अलंकृत हो बड़ी रमणीय दिखायी देती है। यह हमलोगोंकी गुफासे अधिक दूर नहीं होगी ॥ ११ ॥

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति ॥ १२ ॥

'सौम्य ! यहाँका स्थान ईशान कोणकी ओरसे नीचा है, अतः यहाँ यह गुफा हमारे निवासके लिये बहुत अच्छी रहेगी। पश्चिम-दक्षिणके कोणकी ओरसे ऊँची यह गुफा हवा और वर्षासे बचानेके लिये अच्छी होगी* ॥ १२ ॥

गुहाद्वारे च सौमित्रे शिला समतला शिवा।
कृष्णा चैवायता चैव भिन्नाञ्जनचयोपमा ॥ १३ ॥

'सुमित्रानन्दन ! इस गुफाके द्वारपर समतल शिला है, जो बाहर बैठनेके लिये सुविधाजनक होनेके कारण सुखदायिनी है। यह लंबी-चौड़ी होनेके साथ ही खानसे काटकर निकाले हुए कोयलोंकी राशिके समान काली है ॥ १३ ॥

गिरिशृङ्गमिदं तात पश्य चोत्तरतः शुभम्।
भिन्नाञ्जनचयाकारमम्भोधरमिवोदितम् ॥ १४ ॥

'तात ! देखो, यह सुन्दर पर्वत-शिखर उत्तरकी ओरसे कटे हुए कोयलोंकी राशि तथा घुमड़े हुए मेघोंकी घटाके समान काला दिखायी देता है ॥ १४ ॥

दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितं श्वेतमिवाम्बरम्।
कैलासशिखरप्रख्यं नानाधातुविराजितम् ॥ १५ ॥

'इसी तरह दक्षिण दिशामें भी इसका जो शिखर है, वह श्वेत वस्त्र और कैलास-शृङ्गके समान श्वेत दिखायी देता है। नाना प्रकारकी धातुएँ उसकी शोभा बढ़ाती हैं ॥ १५ ॥

प्राचीनवाहिनीं चैव नदीं भृशमकर्दमाम्।
गुहायाः परतः पश्य त्रिकूटे जाह्नवीमिव ॥ १६ ॥

'वह देखो, इस गुफाके दूसरी ओर त्रिकूट पर्वतके समीप बहनेवाली मन्दाकिनीके समान तुङ्गभद्रा नदी बह रही है। उसकी धारा पश्चिमसे पूर्वकी ओर जा रही है। उसमें कीचड़का नाम भी नहीं है ॥ १६ ॥

चन्दनैस्तिलकैः सालैस्तमालैरतिमुक्तकैः।
पद्मकैः सरलैश्चैव अशोकैश्चैव शोभिताम् ॥ १७ ॥

'चन्दन, तिलक, साल, तमाल, अतिमुक्तक, पद्मक, सरल और अशोक आदि नाना प्रकारके वृक्षोंसे उस नदीकी कैसी शोभा हो रही है ? ॥ १७ ॥

वानीरैस्तिमिदैश्चैव बकुलैः केतकैरपि।
हिन्तालैस्तिनिशैर्नीपैर्वेतसैः कृतमालकैः ॥ १८ ॥
तीरजैः शोभिता भाति नानारूपैस्ततस्ततः।
वसनाभरणोपेता प्रमदेवाभ्यलंकृता ॥ १९ ॥

'जलबेंत, तिमिद, बकुल, केतक, हिन्ताल, तिनिश, नीप, स्थलबेंत, कृतमाल (अमिलतास) आदि भाँति-भाँतिके तटवर्ती वृक्षोंसे जहाँ-तहाँ सुशोभित हुई यह नदी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित शृङ्गारसजित युवती स्त्रीके समान जान पड़ती है ॥ १८-१९ ॥

शतशः पक्षिसङ्घैश्च नानानादविनादिता।
एकैकमनुरक्तैश्च चक्रवाकैरलंकृता ॥ २० ॥

'सैकड़ों पक्षिसमूहोंसे संयुक्त हुई यह नदी उनके नाना प्रकारके कलरवोंसे गूँजती रहती है। परस्पर अनुरक्त हुए चक्रवाक इस सरिताकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ २० ॥

पुलिनैरतिरम्यैश्च हंससारससेविता।
प्रहसन्त्येव भात्येषा नानारत्नसमन्विता ॥ २१ ॥

'अत्यन्त रमणीय तटोंसे अलंकृत, नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा हंस और सारसोंसे सेवित यह नदी अपनी हास्यच्छटा बिखेरती हुई-सी जान पड़ती है ॥ २१ ॥

क्वचिन्नीलोत्पलैश्छन्ना भाति रक्तोत्पलैः क्वचित्।
क्वचिदाभाति शुक्लैश्च दिव्यैः कुमुदकुड्मलैः ॥ २२ ॥

'कहीं तो यह नील कमलोंसे ढकी हुई है, कहीं लाल कमलोंसे सुशोभित होती है और कहीं श्वेत एवं दिव्य कुमुदकलिकाओंसे शोभा पाती है ॥ २२ ॥

पारिप्लवशतैर्जुष्टा बर्हिक्रौञ्चविनादिता।
रमणीया नदी सौम्य मुनिसङ्घनिषेविता ॥ २३ ॥

'सैकड़ों जल-पक्षियोंसे सेवित तथा मोर एवं क्रौञ्चके कलरवोंसे मुखरित हुई यह सौम्य नदी बड़ी रमणीय प्रतीत

---

* ईशानकोणकी ओर नीची तथा नैर्ऋत्यकोणकी ओरसे ऊँची होनेसे उसका द्वार नैर्ऋत्यकोणकी ओर था—यह प्रतीत होता है, इससे उसमें पूर्वी हवा और उधरसे आनेवाली वर्षाका प्रवेश नहीं था।

होती है। मुनियोंके समुदाय इसके जलका सेवन करते हैं ॥ २३ ॥

पश्य चन्दनवृक्षाणां पङ्क्तीः सुरुचिरा इव।
ककुभानां च दृश्यन्ते मनसैवोदिताः समम् ॥ २४ ॥

'वह देखो, अर्जुन और चन्दन-वृक्षोंकी पंक्तियाँ कितनी सुन्दर दिखायी देती हैं। मालूम होता है ये मनके संकल्पके साथ ही प्रकट हो गयी हैं ॥ २४ ॥

अहो सुरमणीयोऽयं देशः शत्रुनिषूदन।
दृढं रंस्याव सौमित्रे साध्वत्र निवसावहे ॥ २५ ॥

'शत्रुसूदन सुमित्राकुमार ! यह स्थान अत्यन्त रमणीय और अद्भुत है। यहाँ हमलोगोंका मन खूब लगेगा। अतः यहीं रहना ठीक होगा ॥ २५ ॥

इतश्च नातिदूरे सा किष्किन्धा चित्रकानना।
सुग्रीवस्य पुरी रम्या भविष्यति नृपात्मज ॥ २६ ॥

'राजकुमार ! विचित्र काननोंसे सुशोभित सुग्रीवकी रमणीय किष्किन्धापुरी भी यहाँसे अधिक दूर नहीं होगी ॥२६॥

गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतां वर।
नदतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह ॥ २७ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण ! मृदङ्गकी मधुर ध्वनिके साथ गर्जते हुए वानरोंके गीत और वाद्यका गम्भीर घोष यहाँसे सुनायी देता है ॥ २७ ॥

लब्ध्वा भार्यां कपिवरः प्राप्य राज्यं सुहृद्वृतः।
ध्रुवं नन्दति सुग्रीवः सम्प्राप्य महतीं श्रियम् ॥ २८ ॥

'निश्चय ही कपिश्रेष्ठ सुग्रीव अपनी पत्नीको पाकर, राज्यको हस्तगत करके और बड़ी भारी लक्ष्मीपर अधिकार प्राप्त करके सुहृदोंके साथ आनन्दोत्सव मना रहे हैं' ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा न्यवसत् तत्र राघवः सहलक्ष्मणः।
बहुदृश्यदरीकुञ्जे तस्मिन् प्रस्रवणे गिरौ ॥ २९ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवण पर्वतपर, जहाँ बहुत-सी कन्दराओं और कुञ्जोंके दर्शन होते थे, निवास करने लगे ॥ २९ ॥

सुसुखे हि बहुद्रव्ये तस्मिन् हि धरणीधरे।
वसतस्तस्य रामस्य रतिरल्पापि नाभवत् ॥ ३० ॥
हृतां हि भार्यां स्मरतः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्।

यद्यपि उस पर्वतपर परम सुख प्रदान करनेवाले बहुत-से फल-फूल आदि आवश्यक पदार्थ थे, तथापि राक्षसद्वारा हरी गयी प्राणोंसे भी बढ़कर आदरणीय सीताका स्मरण करते हुए भगवान् श्रीरामको वहाँ तनिक भी सुख नहीं मिलता था ॥ ३०½ ॥

उदयाभ्युदितं दृष्ट्वा शशाङ्कं च विशेषतः ॥ ३१ ॥
आविवेश न तं निद्रा निशासु शयनं गतम्।

विशेषतः उदयाचलपर उदित हुए चन्द्रदेवका दर्शन करके रातमें शय्यापर लेट जानेपर भी उन्हें नींद नहीं आती थी ॥ ३१½ ॥

तत्समुत्थेन शोकेन बाष्पोपहतचेतनम् ॥ ३२ ॥
तं शोचमानं काकुत्स्थं नित्यं शोकपरायणम्।
तुल्यदुःखोऽब्रवीद् भ्राता लक्ष्मणोऽनुनयं वचः ॥ ३३ ॥

सीताके वियोगजनित शोकसे आँसू बहाते हुए वे अचेत हो जाते थे। श्रीरामको निरन्तर शोकमग्न रहकर चिन्ता करते देख उनके दुःखमें समानरूपसे भाग लेनेवाले भाई लक्ष्मणने उनसे विनयपूर्वक कहा—॥ ३२-३३ ॥

अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि।
शोचतो ह्यवसीदन्ति सर्वार्था विदितं हि ते ॥ ३४ ॥

'वीर ! इस प्रकार व्यथित होनेसे कोई लाभ नहीं है। अतः आपको शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि शोक करनेवाले पुरुषके सभी मनोरथ नष्ट हो जाते हैं, यह बात आपसे छिपी नहीं है ॥ ३४ ॥

भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः।
आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव ॥ ३५ ॥

'रघुनन्दन ! आप जगत्में कर्मठ-वीर तथा देवताओंका समादर करनेवाले हैं। आस्तिक, धर्मात्मा और उद्योगी हैं ॥ ३५ ॥

न ह्यव्यवसितः शत्रुं राक्षसं तं विशेषतः।
समर्थस्त्वं रणे हन्तुं विक्रमे जिह्मकारिणम् ॥ ३६ ॥

'यदि आप शोकवश उद्यम छोड़ बैठते हैं तो पराक्रमके स्थानस्वरूप समराङ्गणमें कुटिल कर्म करनेवाले उस शत्रुका जो विशेषतः राक्षस है, वध करनेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥३६॥

समुन्मूलय शोकं त्वं व्यवसायं स्थिरीकुरु।
ततः सपरिवारं तं राक्षसं हन्तुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'अतः आप अपने शोकको जड़से उखाड़ फेंकिये और उद्योगके विचारको सुस्थिर कीजिये। तभी आप परिवारसहित उस राक्षसका विनाश कर सकते हैं ॥ ३७ ॥

पृथिवीमपि काकुत्स्थ ससागरवनाचलाम्।
परिवर्तयितुं शक्तः किं पुनस्तं हि रावणम् ॥ ३८ ॥

'काकुत्स्थ ! आप तो समुद्र, वन और पर्वतोंसहित सारी पृथ्वीको भी उलट सकते हैं; फिर उस रावणका संहार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ ३८ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षस्व प्रावृट्कालोऽयमागतः।
ततः सराष्ट्रं सगणं रावणं तं वधिष्यसि ॥ ३९ ॥

'यह वर्षाकाल आ गया है। अब शरद्-ऋतुकी प्रतीक्षा कीजिये। फिर राज्य और सेनासहित रावणका वध कीजियेगा ॥ ३९ ॥

अहं तु खलु ते वीर्यं प्रसुप्तं प्रतिबोधये।
दीप्तैराहुतिभिः काले भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ ४० ॥

'जैसे राखमें छिपी हुई आगको हवनकालमें आहुतियों-द्वारा प्रज्वलित किया जाता है, उसी प्रकार मैं आपके सोये हुए पराक्रमको जगा रहा हूँ—भूले हुए बल-विक्रमकी याद दिला रहा हूँ' ॥ ४० ॥

लक्ष्मणस्य हि तद् वाक्यं प्रतिपूज्य हितं शुभम्।
राघवः सुहृदं स्निग्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

लक्ष्मणके इस शुभ एवं हितकर वचनकी सराहना करके श्रीरघुनाथजीने अपने स्नेही सुहृद् सुमित्राकुमारसे इस प्रकार कहा—॥ ४१ ॥

वाच्यं यदनुरक्तेन स्निग्धेन च हितेन च।
सत्यविक्रमयुक्तेन तदुक्तं लक्ष्मण त्वया ॥ ४२ ॥

'लक्ष्मण! अनुरागी, स्नेही, हितैषी और सत्यपराक्रमी वीरको जैसी बात कहनी चाहिये, वैसी ही तुमने कही है॥४२॥

एष शोकः परित्यक्तः सर्वकार्यावसादकः।
विक्रमेष्वप्रतिहतं तेजः प्रोत्साहयाम्यहम् ॥ ४३ ॥

'लो, सब तरहके काम बिगाड़नेवाले शोकको मैंने त्याग दिया। अब मैं पराक्रमविषयक दुर्धर्ष तेजको प्रोत्साहित करता हूँ (बढ़ाता हूँ) ॥ ४३ ॥

शरत्कालं प्रतीक्षिष्ये स्थितोऽस्मि वचने तव।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमनुपालयन् ॥ ४४ ॥

'तुम्हारी बात मान लेता हूँ। सुग्रीवके प्रसन्न होकर सहायता करने और नदियोंके जलके स्वच्छ होनेकी बाट देखता हुआ मैं शरत्-कालकी प्रतीक्षा करूँगा ॥ ४४ ॥

उपकारेण वीरस्तु प्रतिकारेण युज्यते।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ॥ ४५ ॥

'जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह प्रत्युपकार करके उसका बदला अवश्य चुकाता है, किंतु यदि कोई उपकारको न मानकर या भुलाकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषोंके मनको ठेस पहुँचाता है ॥ ४५ ॥

तदेव युक्तं प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत् प्रतिपूज्य भाषितम्।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम् ॥ ४६ ॥

'श्रीरामजीके उस कथनको ही युक्तियुक्त मानकर लक्ष्मण-ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और दोनों हाथ जोड़कर अपनी शुभ दृष्टिका परिचय देते हुए वे नयनाभिराम श्रीरामसे इस प्रकार बोले—॥ ४६ ॥

यथोक्तमेतत् तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता नचिरात् तु वानरः।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिमं भवान्
जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः ॥ ४७ ॥

'नरेश्वर! जैसा कि आपने कहा है, वानरराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह सारा मनोरथ सिद्ध करेंगे। अतः आप शत्रुके संहार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालकी प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये ॥ ४७ ॥

नियम्य कोपं परिपाल्यतां शरत्
क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह।
वसाचलेऽस्मिन् मृगराजसेविते
संवर्तयञ्शत्रुवधे समर्थः ॥ ४८ ॥

'क्रोधको काबूमें रखकर शरत्कालकी राह देखिये। बरसातके चार महीनोंतक जो भी कष्ट हो, उसे सहन कीजिये तथा शत्रुवधमें समर्थ होनेपर भी इस वर्षाकालको व्यतीत करते हुए मेरे साथ इस सिंहसेवित पर्वतपर निवास कीजिये' ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामके द्वारा वर्षा-ऋतुका वर्णन

स तदा वालिनं हत्वा सुग्रीवमभिषिच्य च।
वसन् माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार वालीका वध और सुग्रीवका राज्याभिषेक करनेके अनन्तर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें निवास करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहने लगे—॥ १ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसंनिभैः ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन! अब यह जलकी प्राप्ति करानेवाला वह प्रसिद्ध वर्षाकाल आ गया। देखो, पर्वतके समान प्रतीत होनेवाले मेघोंसे आकाशमण्डल आच्छन्न हो गया है ॥ २ ॥

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम् ॥ ३ ॥

'यह आकाशस्वरूपा तरुणी सूर्यकी किरणोंद्वारा समुद्रों-का रस पीकर कार्तिक आदि नौ मासोंतक धारण किये हुए

गर्भके रूपमें जलरूपी रसायनको जन्म दे रही है ॥ ३ ॥

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपंक्तिभिः ।
कुटजार्जुनमालाभिरलंकर्तुं दिवाकरः ॥ ४ ॥

'इस समय मेघरूपी सोपानपंक्तियों (सीढ़ियों) द्वारा आकाशमें चढ़कर गिरिमल्लिका और अर्जुनपुष्पकी मालाओंसे सूर्यदेवको अलंकृत करना सरल-सा हो गया है ॥ ४ ॥

संध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः ।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥ ५ ॥

'संध्याकालकी लाली प्रकट होनेसे बीचमें लाल तथा किनारेके भागोंमें श्वेत एवं स्निग्ध प्रतीत होनेवाले मेघखण्डोंसे आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसने अपने घावमें रक्तरञ्जित सफेद कपड़ोंकी पट्टी बाँध रक्खी हो ॥ ५ ॥

मन्दमारुतनिःश्वासं संध्याचन्दनरञ्जितम् ।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम् ॥ ६ ॥

'मन्द-मन्द हवा निःश्वास-सी प्रतीत होती है, संध्याकालकी लाली लाल चन्दन बनकर ललाट आदि अङ्गोंको अनुरञ्जित कर रही है तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ पाण्डुवर्णका प्रतीत होता है। इस तरह यह आकाश कामातुर पुरुषके समान जान पड़ता है ॥ ६ ॥

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥ ७ ॥

'जो ग्रीष्म-ऋतुमें घामसे तप गयी थी, वह पृथ्वी वर्षाकालमें नूतन जलसे भीगकर (सूर्य-किरणोंसे तपी और आँसुओंसे भीगी हुई) शोकसंतप्त सीताकी भाँति बाष्पविमोचन (उष्णताका त्याग अथवा अश्रुपात) कर रही है ॥ ७ ॥

मेघोदरविनिर्मुक्ताः कर्पूरदलशीतलाः ।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः ॥ ८ ॥

'मेघके उदरसे निकली, कपूरकी डलीके समान ठंडी तथा केवड़ेकी सुगन्धसे भरी हुई इस बरसाती वायुको मानो अञ्जलियोंमें भरकर पीया जा सकता है ॥ ८ ॥

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः ।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते ॥ ९ ॥

'यह पर्वत जिसपर अर्जुनके वृक्ष खिले हुए हैं तथा जो केवड़ोंसे सुवासित हो रहा है, शान्त हुए शत्रुवाले सुग्रीवकी भाँति जलकी धाराओंसे अभिषिक्त हो रहा है ॥ ९ ॥

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः ।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः ॥ १० ॥

'मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षाकी धारारूप यज्ञोपवीत धारण किये वायुसे पूरित गुफा (या हृदय) वाले ये पर्वत ब्रह्मचारियोंकी भाँति मानो वेदाध्ययन आरम्भ कर रहे हैं ॥ १० ॥

कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम् ।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम् ॥ ११ ॥

'ये बिजलियाँ सोनेके बने हुए कोड़ोंके समान जान पड़ती हैं। इनकी मार खाकर मानो व्यथित हुआ आकाश अपने भीतर व्यक्त हुई मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके रूपमें आर्तनाद-सा कर रहा है ॥ ११ ॥

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे ।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी ॥ १२ ॥

'नील मेघका आश्रय लेकर प्रकाशित होती हुई यह विद्युत् मुझे रावणके अङ्कमें छटपटाती हुई तपस्विनी सीताके समान प्रतीत होती है ॥ १२ ॥

इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः ।
अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः ॥ १३ ॥

'बादलोंका लेप लग जानेसे जिनमें ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा अदृश्य हो गये हैं, अतएव जो नष्ट-सी हो गयी हैं—जिनके पूर्व, पश्चिम आदि भेदोंका विवेक लुप्त-सा हो गया है, वे दिशाएँ, उन कामियोंको, जिन्हें प्रेयसीका संयोग-सुख सुलभ है, हितकर प्रतीत होती हैं ॥ १३ ॥

क्वचिद् बाष्पाभिसंरुद्धान् वर्षागमसमुत्सुकान् ।
कुटजान् पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु ।
मम शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान् ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! देखो, इस पर्वतके शिखरोंपर खिले हुए कुटज कैसी शोभा पाते हैं ? कहीं तो पहली बार वर्षा होनेपर भूमिसे निकले हुए भापसे ये व्याप्त हो रहे हैं और कहीं वर्षाके आगमनसे अत्यन्त उत्सुक (हर्षोत्फुल्ल) दिखायी देते हैं। मैं तो प्रिया-विरहके शोकसे पीड़ित हूँ और ये कुटज-पुष्प मेरी प्रेमाग्निको उद्दीप्त कर रहे हैं ॥ १४ ॥

रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
र्निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः ।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान् ॥ १५ ॥

'धरतीकी धूल शान्त हो गयी। अब वायुमें शीतलता आ गयी। गर्मीके दोषोंका प्रसार बंद हो गया। भूपालोंकी युद्धयात्रा रुक गयी और परदेशी मनुष्य अपने-अपने देशको लौट रहे हैं ॥ १५ ॥

सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः ।

---

१. 'शक्यो ह्यम्बरमासाद्य' इति पाठो युक्तः । २. 'शक्या अञ्जलिभिः' इति स्वच्छः पाठः ।

अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति ॥ १६ ॥

'मानसरोवरमें निवासके लोभी हंस वहाँके लिये प्रस्थित हो गये। इस समय चकवे अपनी प्रियाओंसे मिल रहे हैं। निरन्तर होनेवाली वर्षाके जलसे मार्ग टूट-फूट गये हैं, इसलिये उनपर रथ आदि नहीं चल रहे हैं ॥ १६ ॥

क्वचित् प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति।
क्वचित्क्वचित् पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य ॥ १७ ॥

'आकाशमें सब ओर बादल छिटके हुए हैं। कहीं तो उन बादलोंसे ढक जानेके कारण आकाश दिखायी नहीं देता है और कहीं उनके फट जानेपर वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है। ठीक उसी तरह, जैसे जिसकी तरङ्गमालाएँ शान्त हो गयी हों, उस महासागरका रूप कहीं तो पर्वतमालाओंसे छिप जानेके कारण नहीं दिखायी देता है और कहीं पर्वतोंका आवरण न होनेसे दिखायी देता है ॥ १७ ॥

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥ १८ ॥

'इस समय पहाड़ी नदियाँ वर्षाके नूतन जलको बड़े वेगसे बहा रही हैं। वह जल सर्ज और कदम्बके फूलोंसे मिश्रित है, पर्वतके गेरू आदि धातुओंसे लाल रंगका हो गया है तथा मयूरोंकी केकाध्वनि उस जलके कलकलनादका अनुसरण कर रही है ॥ १८ ॥

रसाकुलं षट्पदसंनिकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥ १९ ॥

'काले-काले भौंरोंके समान प्रतीत होनेवाले जामुनके सरस फल आजकल लोग जी भरकर खाते हैं और हवाके वेगसे हिले हुए आमके पके हुए बहुरंगी फल पृथ्वीपर गिरते रहते हैं ॥ १९ ॥

विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसंनिकाशाः ।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥ २० ॥

'जैसे युद्धस्थलमें खड़े हुए मतवाले गजराज उच्चस्वरसे चिग्घाड़ते हैं, उसी प्रकार गिरिराजके शिखरोंकी-सी आकृतिवाले मेघ जोर-जोरसे गर्जना कर रहे हैं। चमकती हुई बिजलियाँ इन मेघरूपी गजराजोंपर पताकाओंके समान फहरा रही हैं और बगुलोंकी पंक्तियाँ मालाके समान शोभा देती हैं ॥ २० ॥

वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सवबर्हिणानि ।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति ॥ २१ ॥

'देखो, अपराह्णकालमें इन वनोंकी शोभा अधिक बढ़ जाती है। वर्षाके जलसे इनमें हरी-हरी घासें बढ़ गयी हैं। झुंड-के-झुंड मोरोंने अपना नृत्योत्सव आरम्भ कर दिया है और मेघोंने इनमें निरन्तर जल बरसाया है ॥ २१ ॥

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ॥ २२ ॥

'बक-पंक्तियोंसे सुशोभित ये जलधर मेघ जलका अधिक भार ढोते और गर्जते हुए बड़े-बड़े पर्वतशिखरोंपर मानो विश्राम ले-लेकर आगे बढ़ते हैं ॥ २२ ॥

मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य ॥ २३ ॥

'गर्भ-धारणके लिये मेघोंकी कामना रखकर आकाशमें उड़ती हुई आनन्दमग्न बलाकाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है; मानो आकाशके गलेमें हवासे हिलती हुई श्वेत कमलोंकी सुन्दर माला लटक रही हो ॥ २३ ॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन ॥ २४ ॥

'छोटे-छोटे इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीड़ोंसे बीच-बीचमें चित्रित हुई नूतन घाससे आच्छादित भूमि उस नारीके समान शोभा पाती है, जिसने अपने अङ्गोंपर तोतेके समान रंगवाला एक ऐसा कम्बल ओढ़ रक्खा हो, जिसको बीच-बीचमें महावरके रंगसे रँगकर विचित्र शोभासे सम्पन्न कर दिया गया हो ॥ २४ ॥

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥ २५ ॥

चौमासेके इस आरम्भकालमें निद्रा धीरे-धीरे भगवान् केशवके समीप जा रही है। नदी तीव्र वेगसे समुद्रके निकट पहुँच रही है। हर्षभरी बलाका उड़कर मेघकी ओर जा रही है और प्रियतमा सकामभावसे अपने प्रियतमकी सेवामें उपस्थित हो रही है ॥ २५ ॥

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा ॥ २६ ॥

'वनप्रान्त मोरोंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित हो गये हैं। कदम्बवृक्ष फूलों और शाखाओंसे सम्पन्न हो गये हैं। साँड़ गौओंके प्रति उन्हींके समान कामभावसे आसक्त हैं और पृथ्वी हरी-हरी खेती तथा हरे-भरे वनोंसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होने लगी है ॥ २६ ॥

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः ॥२७॥

'नदियाँ बह रही हैं, बादल पानी बरसा रहे हैं, मतवाले हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, वनप्रान्त शोभा पा रहे हैं, प्रियतमाके संयोगसे वञ्चित हुए वियोगी प्राणी चिन्तामग्न हो रहे हैं, मोर नाच रहे हैं और वानर निश्चिन्त एवं सुखी हो रहे हैं ॥२७॥

प्रहर्षिता केतकिपुष्पगन्ध-
माघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु ।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति ॥ २८ ॥

'वनके झरनोंके समीप क्रीडासे उल्लसित हुए मदवर्षी गजराज केवड़ेके फूलकी सुगन्धको सूँघकर मतवाले हो उठे हैं और झरनेके जलके गिरनेसे जो शब्द होता है, उससे आकुल हो ये मोरोंके बोलनेके साथ-साथ स्वयं भी गर्जना करते हैं ॥२८॥

धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः ।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति ॥ २९ ॥

'जलकी धारा गिरनेसे आहत होते और कदम्बकी डालियोंपर लटकते हुए भ्रमर तत्काल ग्रहण किये पुष्परससे उत्पन्न गाढ़ मदको धीरे-धीरे त्याग रहे हैं ॥ २९ ॥

अङ्गारचूर्णोत्करसंनिकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः ।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निपीयमाना इव षट्पदौघैः ॥ ३० ॥

'कोयलोंकी चूर्णराशिके समान काले और प्रचुर रससे भरे हुए बड़े-बड़े फलोंसे लदी हुई जामुन-वृक्षकी शाखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो भ्रमरोंके समुदाय उनमें सटकर उनके रस पी रहे हैं ॥ ३० ॥

तडित्पताकाभिरलंकृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम् ।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां
रणोत्सुकानामिव वारणानाम् ॥ ३१ ॥

'विद्युत्-रूपी पताकाओंसे अलंकृत एवं जोर-जोरसे गम्भीर गर्जना करनेवाले इन बादलोंके रूप युद्धके लिये उत्सुक हुए गजराजोंके समान प्रतीत होते हैं ॥ ३१ ॥

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य ।
युद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसंनिवृत्तः ॥ ३२ ॥

'पर्वतीय वनोंमें विचरण करनेवाला तथा अपने प्रतिद्वन्द्वीके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाला मदमत्त गजराज, जो अपने मार्गका अनुसरण करके आगे बढ़ा जा रहा था, पीछेसे मेघकी गर्जना सुनकर प्रतिपक्षी हाथीके गर्जनेकी आशङ्का करके सहसा पीछेको लौट पड़ा ॥ ३२ ॥

क्वचित् प्रगीता इव षट्पदौघैः
क्वचित् प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः ।
क्वचित् प्रमत्ता इव वारणेन्द्रै-
र्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः ॥ ३३ ॥

'कहीं भ्रमरोंके समूह गीत गा रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं गजराज मदमत्त होकर विचर रहे हैं। इस प्रकार ये वनप्रान्त अनेक भावोंके आश्रय बनकर शोभा पा रहे हैं ॥ ३३ ॥

कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा ।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति ॥ ३४ ॥

'कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमलसे सम्पन्न वनके भीतरकी भूमि मधु-जलसे परिपूर्ण हो मोरोंके मदयुक्त कलरवों और नृत्योंसे उपलक्षित होकर आपानभूमि (मधुशाला) के समान प्रतीत होती है ॥ ३४ ॥

मुक्तासमाभं सलिलं पतद् वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥ ३५ ॥

'आकाशसे गिरता हुआ मोतीके समान स्वच्छ एवं निर्मल जल पत्तोंके दोनोंमें संचित हुआ देख प्यासे पक्षी पपीहे हर्षसे भरकर देवराज इन्द्रके दिये हुए उस जलको पीते हैं। वर्षासे भीग जानेके कारण उनकी पाँखें विविध रंगकी दिखायी देती हैं ॥ ३५ ॥

षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३६ ॥

'भ्रमररूप वीणाकी मधुर झंकार हो रही है। मेढकोंकी आवाज कण्ठताल-सी जान पड़ती है। मेघोंकी गर्जनाके रूपमें मृदङ्ग बज रहे हैं। इस प्रकार वनोंमें संगीतोत्सवका आरम्भ-सा हो रहा है ॥ ३६ ॥

क्वचित् प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ ३७ ॥

विशाल पंखरूपी आभूषणोंसे विभूषित मोर वनोंमें कहीं नाच रहे हैं, कहीं जोर-जोरसे मीठी बोली बोल रहे हैं और कहीं वृक्षोंकी शाखाओंपर अपने सारे शरीरका बोझ डालकर बैठे हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने संगीत (नाच-गान) का आयोजन-सा कर रक्खा है ॥ ३७ ॥

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा
विहाय निद्रां चिरसंनिरुद्धाम्।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा
नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥ ३८ ॥

'मेघोंकी गर्जना सुनकर चिरकालसे रोकी हुई निद्राको त्यागकर जागे हुए अनेक प्रकारके रूप, आकार, वर्ण और बोलीवाले मेढक नूतन जलकी धारासे अभिहत होकर जोर-जोरसे बोल रहे हैं ॥ ३८ ॥

नद्यः समुद्वाहितचक्रवाका-
स्तटानि शीर्णान्यपवाहयित्वा।
दृप्ता नवप्रावृतपूर्णभोगा-
द्रुतं स्वभर्तारमुपोपयान्ति ॥ ३९ ॥

(कामातुर युवतियोंकी भाँति) दर्पभरी नदियाँ अपने वक्षपर (उरोजोंके स्थानमें) चक्रवाकोंको वहन करती हैं और मर्यादामें रखनेवाले जीर्ण-शीर्ण कूलकगारोंको तोड़-फोड़ एवं दूर बहाकर नूतन पुष्प आदिके उपहारसे पूर्णभोगके लिये सादर स्वीकृत अपने स्वामी समुद्रके समीप वेगपूर्वक चली जा रही हैं ॥ ३९ ॥

नीलेषु नीला नववारिपूर्णा
मेघेषु मेघाः प्रतिभान्ति सक्ताः।
दवाग्निदग्धेषु दवाग्निदग्धाः
शैलेषु शैला इव बद्धमूलाः ॥ ४० ॥

'नीले मेघोंमें सटे हुए नूतन जलसे परिपूर्ण नील मेघ ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो दावानलसे जले हुए पर्वतोंमें दावानलसे दग्ध हुए दूसरे पर्वत बद्धमूल होकर सट गये हों ॥४०॥

प्रमत्तसंनादितबर्हिणानि
सशक्रगोपाकुलशाद्वलानि।
चरन्ति नीपार्जुनवासितानि
गजाः सुरम्याणि वनान्तराणि ॥ ४१ ॥

'जहाँ मतवाले मोर कलनाद कर रहे हैं, जहाँकी हरी-हरी घासें वीरबहूटियोंके समुदायसे व्याप्त हो रही हैं तथा जो नीप और अर्जुन-वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धसे सुवासित हैं, उन परम रमणीय वनप्रान्तोंमें बहुत-से हाथी विचरा करते हैं ॥४१॥

नवाम्बुधाराहतकेसराणि
द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि
नवानि हृष्टा भ्रमराः पिबन्ति ॥ ४२ ॥

'भ्रमरोंके समुदाय नूतन जलकी धारासे नष्ट हुए केसरवाले कमल-पुष्पोंको तुरंत त्यागकर केसरशोभित नवीन कदम्ब-पुष्पोंका रस बड़े हर्षके साथ पी रहे हैं ॥ ४२ ॥

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः ॥ ४३ ॥

'गजेन्द्र (हाथी) मतवाले हो रहे हैं, गवेन्द्र (वृषभ) आनन्दमें मग्न हैं, मृगेन्द्र (सिंह) वनोंमें अत्यन्त पराक्रम प्रकट करते हैं, नगेन्द्र (बड़े-बड़े पर्वत) रमणीय दिखायी देते हैं, नरेन्द्र (राजालोग) मौन हैं—युद्धविषयक उत्साह छोड़ बैठे हैं और सुरेन्द्र (इन्द्रदेव) जलधरोंके साथ क्रीडा कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा
महाजलौघैर्गगनावलम्बाः।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी-
र्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति ॥ ४४ ॥

'आकाशमें लटके हुए ये मेघ अपनी गर्जनासे समुद्रके कोलाहलको तिरस्कृत करके अपने जलके महान् प्रवाहसे नदी, तालाब, सरोवर, बावली तथा समूची पृथ्वीको आप्लावित कर रहे हैं ॥ ४४ ॥

वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुदीर्णवेगाः।
प्रणष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलं विप्रतिपन्नमार्गाः ॥ ४५ ॥

'बड़े वेगसे वर्षा हो रही है, जोरोंकी हवा चल रही है और नदियाँ अपने कगारोंको काटकर अत्यन्त तीव्र गतिसे जल बहा रही हैं। उन्होंने मार्ग रोक दिये हैं ॥ ४५ ॥

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति ॥ ४६ ॥

'जैसे मनुष्य जलके कलशोंसे नरेशोंका अभिषेक करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके दिये और वायुदेवके द्वारा लाये गये मेघरूपी जल-कलशोंसे जिनका अभिषेक हो रहा है, वे पर्वत-

राज अपने निर्मल रूप तथा शोभा-सम्पत्तिका दर्शन-सा करा रहे हैं ॥ ४६ ॥

घनोपगूढं गगनं न तारा
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः ॥ ४७ ॥

'मेघोंकी घटासे समस्त आकाश आच्छादित हो गया है। न रातमें तारे दिखायी देते हैं, न दिनमें सूर्य। नूतन जलराशि पाकर पृथ्वी पूर्ण तृप्त हो गयी है। दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो रही हैं, अतएव प्रकाशित नहीं होती हैं—उनका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है ॥ ४७ ॥

महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै-
र्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः ॥ ४८ ॥

'जलकी धाराओंसे धुले हुए पर्वतोंके विशाल शिखर मोतियोंके लटकते हुए हारोंकी भाँति एवं बहुसंख्यक झरनोंके कारण अधिक शोभा पाते हैं ॥ ४८ ॥

शैलोपलप्रस्खलमानवेगाः
शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः।
गुहासु संनादितबर्हिणासु
हारा विकीर्यन्त इवावभान्ति ॥ ४९ ॥

'पर्वतीय प्रस्तरखण्डोंपर गिरनेसे जिनका वेग टूट गया है, वे श्रेष्ठ पर्वतोंके बहुतेरे झरने मयूरोंकी बोलीसे गूँजती हुई गुफाओंमें टूटकर बिखरते हुए मोतियोंके हारोंके समान प्रतीत होते हैं ॥ ४९ ॥

शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता
निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम्।
मुक्ताकलापप्रतिमाः पतन्तो
महागुहोत्सङ्गतलैर्ध्रियन्ते ॥ ५० ॥

'जिनके वेग शीघ्रगामी हैं, जिनकी संख्या अधिक है, जिन्होंने पर्वतीय शिखरोंके निम्न प्रदेशोंको धोकर स्वच्छ बना दिया है तथा जो देखनेमें मुक्तामालाओंके समान प्रतीत होते हैं, पर्वतोंके उन झरते हुए झरनोंको बड़ी-बड़ी गुफाएँ अपनी गोदमें धारण कर लेती हैं ॥ ५० ॥

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः।
पतन्ति चातुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः ॥ ५१ ॥

'सुरत-क्रीडाके समय होनेवाले अङ्गोंके आमर्दनसे टूटे हुए देवाङ्गनाओंके मौक्तिक हारोंके समान प्रतीत होनेवाली जलकी अनुपम धाराएँ सम्पूर्ण दिशाओंमें सब ओर गिर रही हैं ॥ ५१ ॥

विलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः ॥ ५२ ॥

'पक्षी अपने घोंसलोंमें छिप रहे हैं, कमल संकुचित हो रहे हैं और मालती खिलने लगी है; इससे जान पड़ता है कि सूर्यदेव अस्त हो गये ॥ ५२ ॥

वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना पथ्येव वर्तते।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृताः ॥ ५३ ॥

'राजाओंकी युद्ध-यात्रा रुक गयी। प्रस्थित हुई सेना भी रास्तेमें ही पड़ाव डाले पड़ी है। वर्षाके जलने राजाओंके वैर शान्त कर दिये हैं और मार्ग भी रोक दिये हैं। इस प्रकार वैर और मार्ग दोनोंकी एक-सी अवस्था कर दी है ॥

मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम्।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः ॥ ५४ ॥

'भादोंका महीना आ गया। यह वेदोंके स्वाध्यायकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंके लिये उपाक्रमका समय उपस्थित हुआ है। सामगान करनेवाले विद्वानोंके स्वाध्यायका भी यही समय है ॥ ५४ ॥

निवृत्तकर्मायतनो नूनं संचितसंचयः।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः ॥ ५५ ॥

'कोसलदेशके राजा भरतने चार महीनेके लिये आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करके गत आषाढ़की पूर्णिमाको निश्चय ही किसी उत्तम व्रतकी दीक्षा ली होगी ॥ ५५ ॥

नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः ॥ ५६ ॥

'मुझे वनकी ओर आते देख जिस प्रकार अयोध्यापुरीके लोगोंका आर्तनाद बढ़ गया था, उसी प्रकार इस समय वर्षाके जलसे परिपूर्ण होती हुई सरयू नदीका वेग अवश्य ही बढ़ रहा होगा ॥ ५६ ॥

इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते।
विजितारिः सदारश्च राज्ये महति च स्थितः ॥ ५७ ॥

'यह वर्षा अनेक गुणोंसे सम्पन्न है। इस समय सुग्रीव अपने शत्रुको परास्त करके विशाल वानर-राज्यपर प्रतिष्ठित हैं और अपनी स्त्रीके साथ रहकर सुख भोग रहे हैं ॥ ५७ ॥

अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः।
नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण ॥ ५८ ॥

'किंतु लक्ष्मण! मैं अपने महान् राज्यसे तो भ्रष्ट हो ही गया हूँ, मेरी स्त्री भी हर ली गयी है; इसलिये पानीसे गले हुए नदीके तटकी भाँति कष्ट पा रहा हूँ ॥ ५८ ॥

शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः।
रावणश्च महाञ्छत्रुरपारः प्रतिभाति मे ॥ ५९ ॥

'मेरा शोक बढ़ गया है। मेरे लिये वर्षाके दिनोंको बिताना अत्यन्त कठिन हो गया है और मेरा महान् शत्रु रावण भी मुझे अजेय-सा प्रतीत होता है ॥ ५९ ॥

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान्।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किंचिदीरितम्॥ ६०॥

'एक तो यह यात्राका समय नहीं है, दूसरे मार्ग भी अत्यन्त दुर्गम है। इसलिये सुग्रीवके नतमस्तक होनेपर भी मैंने उनसे कुछ कहा नहीं है॥ ६०॥

अपि चापि परिक्लिष्टं चिराद् दारैः समागतम्।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद् वक्तुं नेच्छामि वानरम्॥ ६१॥

'वानर सुग्रीव बहुत दिनोंसे कष्ट भोगते थे और दीर्घ-कालके पश्चात् अब अपनी पत्नीसे मिले हैं। इधर मेरा कार्य बड़ा भारी है (थोड़े दिनोंमें सिद्ध होनेवाला नहीं है); इसलिये मैं इस समय उनसे कुछ कहना नहीं चाहता हूँ॥

स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम्।
उपकारं च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः॥ ६२॥

'कुछ दिनोंतक विश्राम करके उपयुक्त समय आया हुआ जान वे स्वयं ही मेरे उपकारको समझेंगे; इसमें संशय नहीं है॥ ६२॥

तस्मात् कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमभिकाङ्क्षयन्॥ ६३॥

'अतः शुभलक्षण लक्ष्मण! मैं सुग्रीवकी प्रसन्नता और नदियोंके जलकी स्वच्छता चाहता हुआ शरत्कालकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठा हुआ हूँ॥ ६३॥

उपकारेण वीरो हि प्रतीकारेण युज्यते।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः॥ ६४॥

'जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह प्रत्युपकार करके उसका बदला अवश्य चुकाता है; किंतु यदि कोई उपकारको न मानकर या भुलाकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषोंके मनको ठेस पहुँचाता है'॥ ६४॥

अथैवमुक्तः प्रणिधाय लक्ष्मणः
कृताञ्जलिस्तत् प्रतिपूज्य भाषितम्।
उवाच रामं स्वभिरामदर्शनं
प्रदर्शयन् दर्शनमात्मनः शुभम्॥ ६५॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणने सोच-विचार-कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और दोनों हाथ जोड़कर अपनी शुभ दृष्टिका परिचय देते हुए वे नयनाभिराम-श्रीरामसे इस प्रकार बोले—॥ ६५॥

यदुक्तमेतत् तव सर्वमीप्सितं
नरेन्द्र कर्ता नचिराद्धरीश्वरः।
शरत्प्रतीक्षः क्षमतामिदं भवान्
जलप्रपातं रिपुनिग्रहे धृतः॥ ६६॥

'नरेश्वर! जैसा कि आपने कहा है, वानरराज सुग्रीव शीघ्र ही आपका यह सारा मनोरथ सिद्ध करेंगे। अतः आप शत्रुके संहार करनेका दृढ़ निश्चय लिये शरत्कालकी प्रतीक्षा कीजिये और इस वर्षाकालके विलम्बको सहन कीजिये॥ ६६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः॥ २८॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २८॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीके समझानेसे सुग्रीवका नीलको वानर-सैनिकोंको एकत्र करनेका आदेश देना

समीक्ष्य विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्।
सारसाकुलसंघुष्टं रम्यज्योत्स्नानुलेपनम्॥ १॥
समृद्धार्थं च सुग्रीवं मन्दधर्मार्थसंग्रहम्।
अत्यर्थं चासतां मार्गमेकान्तगतमानसम्॥ २॥
निवृत्तकार्यं सिद्धार्थं प्रमदाभिरतं सदा।
प्राप्तवन्तमभिप्रेतान् सर्वानेव मनोरथान्॥ ३॥
स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम्।
विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम्॥ ४॥
क्रीडन्तमिव देवेशं गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
मन्त्रिषु न्यस्तकार्यं च मन्त्रिणामनवेक्षकम्॥ ५॥
उच्छिन्नराज्यसंदेहं कामवृत्तमिव स्थितम्।
निश्चितार्थोऽर्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित्॥ ६॥
प्रसाद्य वाक्यैर्विविधैर्हेतुमद्भिर्मनोरमैः।
वाक्यविद् वाक्यतत्त्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः॥ ७॥
हितं तथ्यं च पथ्यं च सामधर्मार्थनीतिमत्।
प्रणयप्रीतिसंयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम्॥ ८॥
हरीश्वरमुपागम्य हनूमान् वाक्यमब्रवीत्।

पवनकुमार हनुमान् शास्त्रके निश्चित सिद्धान्तको जाननेवाले थे। क्या करना चाहिये और क्या नहीं—इन सभी बातोंका उन्हें यथार्थ ज्ञान था। किस समय किस विशेष धर्मका पालन करना चाहिये—इसको भी वे ठीक-ठीक समझते थे। उन्हें बातचीत करनेकी कलाका भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने देखा, आकाश निर्मल हो गया है। अब उसमें न तो बिजली चमकती है और न बादल ही दिखायी देते हैं। अन्तरिक्षमें सब ओर सारस उड़ रहे हैं और उनकी बोली सुनायी देती है। (चन्द्रोदय होनेपर) आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसपर श्वेत चन्दनसदृश रमणीय चाँदनीका लेप चढ़ा दिया गया हो। सुग्रीवका

प्रयोजन सिद्ध हो जानेके कारण अब वे धर्म और अर्थके संग्रहमें शिथिलता दिखाने लगे हैं। असाधु पुरुषोंके मार्ग (कामसेवन) का ही अधिक आश्रय ले रहे हैं। एकान्तमें ही (जहाँ स्त्रियोंके सङ्गमें कोई बाधा न पड़े) उनका मन लगता है। उनका काम पूरा हो गया है। उनके अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि हो चुकी है। अब वे सदा युवती स्त्रियोंके साथ क्रीडा-विलासमें ही लगे रहते हैं। उन्होंने अपने सारे अभिलषित मनोरथोंको प्राप्त कर लिया है। अपनी मनोवाञ्छित पत्नी रुमा तथा अभीष्ट-सुन्दरी ताराको भी प्राप्त करके अब वे कृतकृत्य एवं निश्चिन्त होकर दिन-रात भोग-विलासमें लगे रहते हैं। जैसे देवराज इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायके साथ क्रीडामें तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार सुग्रीव भी अपने मन्त्रियोंपर राजकार्यका भार रखकर क्रीडा-विहारमें तत्पर हैं। मन्त्रियोंके कार्योंकी देखभाल वे कभी नहीं करते हैं। मन्त्रियोंकी सज्जनताके कारण यद्यपि राज्यको किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेका संदेह नहीं है, तथापि स्वयं सुग्रीव ही स्वेच्छाचारी-से हो रहे हैं। यह सब सोचकर हनुमान्जी वानरराज सुग्रीवके पास गये और उन्हें युक्तियुक्त विविध एवं मनोरम वचनोंके द्वारा प्रसन्न करके बातचीतका मर्म समझनेवाले उन सुग्रीवसे हितकर, सत्य, लाभदायक, साम, धर्म और अर्थ-नीतिसे युक्त, शास्त्रविश्वासी पुरुषोंके सुदृढ निश्चयसे सम्पन्न तथा प्रेम और प्रसन्नतासे भरे वचन बोले—॥ १—८½ ॥

राज्यं प्राप्तं यशश्चैव कौली श्रीरभिवर्धिता ॥ ९ ॥
मित्राणां संग्रहः शेषस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ।

'राजन्! आपने राज्य और यश प्राप्त कर लिया तथा कुलपरम्परासे आयी हुई लक्ष्मीको भी बढ़ाया; किंतु अभी मित्रोंको अपनानेका कार्य शेष रह गया है, उसे आपको इस समय पूर्ण करना चाहिये ॥ ९½ ॥

यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते ॥ १० ॥
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते ।

'जो राजा 'कब प्रत्युपकार करना चाहिये' इस बातको जानकर मित्रोंके प्रति सदा साधुतापूर्ण बर्ताव करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है ॥ १०½ ॥

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप ।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते ॥ ११ ॥

'पृथ्वीनाथ! जिस राजाका कोश, दण्ड (सेना), मित्र और अपना शरीर—ये सब-के-सब समान रूपसे उसके वशमें रहते हैं, वह विशाल राज्यका पालन एवं उपभोग करता है। ११ ॥

तद् भवान् वृत्तसम्पन्नः स्थितः पथि निरत्यये ।
मित्रार्थमभिनीतार्थं यथावत् कर्तुमर्हति ॥ १२ ॥

'आप सदाचारसे सम्पन्न और नित्य सनातन धर्मके मार्गपर स्थित हैं; अतः मित्रके कार्यको सफल बनानेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसे यथोचितरूपसे पूर्ण कीजिये ॥ १२ ॥

संत्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे यो न वर्तते ।
सम्भ्रमाद् विकृतोत्साहः सोऽनर्थेनावरुध्यते ॥ १३ ॥

'जो अपने सब कार्योंको छोड़कर मित्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये विशेष उत्साहपूर्वक शीघ्रताके साथ नहीं लग जाता है, उसे अनर्थका भागी होना पड़ता है ॥ १३ ॥

यो हि कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते ।
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते ॥ १४ ॥

'कार्यसाधनका उपयुक्त अवसर बीत जानेके बाद जो मित्रके कार्योंमें लगता है, वह बड़े-से-बड़े कार्योंको सिद्ध करके भी मित्रके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला नहीं माना जाता ॥ १४ ॥

तदिदं मित्रकार्यं नः कालातीतमरिंदम ।
क्रियतां राघवस्यैतद् वैदेह्याः परिमार्गणम् ॥ १५ ॥

'शत्रुदमन! भगवान् श्रीराम हमारे परम सुहृद् हैं। उनके इस कार्यका समय बीता जा रहा है; अतः विदेह-कुमारी सीताकी खोज आरम्भ कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

न च कालमतीतं ते निवेदयति कालवित् ।
त्वरमाणोऽपि स प्राज्ञस्तव राजन् वशानुगः ॥ १६ ॥

'राजन्! परम बुद्धिमान् श्रीराम समयका ज्ञान रखते हैं और उन्हें अपने कार्यकी सिद्धिके लिये जल्दी लगी हुई है, तो भी वे आपके अधीन बने हुए हैं। संकोचवश आपसे नहीं कहते कि मेरे कार्यका समय बीत रहा है ॥ १६ ॥

कुलस्य हेतुः स्फीतस्य दीर्घबन्धुश्च राघवः ।
अप्रमेयप्रभावश्च स्वयं चाप्रतिमो गुणैः ॥ १७ ॥
तस्य त्वं कुरु वै कार्यं पूर्वं तेन कृतं तव ।
हरीश्वर कपिश्रेष्ठानाज्ञापयितुमर्हसि ॥ १८ ॥

'वानरराज! भगवान् श्रीराम चिरकालतक मित्रता निभानेवाले हैं। वे आपके समृद्धिशाली कुलके अभ्युदयके हेतु हैं। उनका प्रभाव अतुलनीय है। वे गुणोंमें अपना सानी नहीं रखते हैं। अब आप उनका कार्य सिद्ध कीजिये; क्योंकि उन्होंने आपका काम पहले ही सिद्ध कर दिया है। आप प्रधान-प्रधान वानरोंको इस कार्यके लिये आज्ञा दीजिये ॥ १७-१८ ॥

नहि तावद् भवेत् कालो व्यतीतश्चोदनादृते ।
चोदितस्य हि कार्यस्य भवेत् कालव्यतिक्रमः ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके कहनेके पहले ही यदि हमलोग कार्य प्रारम्भ कर दें तो समय बीता हुआ नहीं माना जायगा; किंतु यदि उन्हें इसके लिये प्रेरणा करनी पड़ी तो यही

समझा जायगा कि हमने समय बिता दिया है—उनके कार्यमें बहुत विलम्ब कर दिया है ॥ १९ ॥

अकर्तुरपि कार्यस्य भवान् कर्ता हरीश्वर।
किं पुनः प्रतिकर्तुस्ते राज्येन च वधेन च ॥ २० ॥

'वानरराज! जिसने आपका कोई उपकार नहीं किया हो, उसका कार्य भी आप सिद्ध करनेवाले हैं। फिर जिन्होंने वालीका वध तथा राज्य प्रदान करके आपका उपकार किया है, उनका कार्य आप शीघ्र सिद्ध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ॥ २० ॥

शक्तिमानतिविक्रान्तो वानरर्क्षगणेश्वर।
कर्तुं दाशरथेः प्रीतिमाज्ञायां किं नु सज्जसे ॥ २१ ॥

'वानर और भालू-समुदायके स्वामी सुग्रीव! आप शक्तिमान् और अत्यन्त पराक्रमी हैं; फिर भी दशरथनन्दन श्रीरामका प्रिय कार्य करनेके लिये वानरोंको आज्ञा देनेमें क्यों विलम्ब करते हैं? ॥ २१ ॥

कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्।
वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते ॥ २२ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि दशरथकुमार भगवान् श्रीराम अपने बाणोंसे समस्त देवताओं, असुरों और बड़े-बड़े नागोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं, तथापि आपने जो उनके कार्यको सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है, उसीकी वे राह देख रहे हैं ॥ २२ ॥

प्राणत्यागविशङ्केन कृतं तेन महत् प्रियम्।
तस्य मार्गाम वैदेहीं पृथिव्यामपि चाम्बरे ॥ २३ ॥

'उन्हें आपके लिये वालीके प्राणतक लेनेमें हिचक नहीं हुई। वे आपका बहुत बड़ा प्रिय कार्य कर चुके हैं; अतः अब हमलोग उनकी पत्नी विदेहकुमारी सीताका इस भूतलपर और आकाशमें भी पता लगावें ॥ २३ ॥

देवदानवगन्धर्वा असुराः समरुद्गणाः।
न च यक्षा भयं तस्य कुर्युः किमिव राक्षसाः ॥ २४ ॥

'देवता, दानव, गन्धर्व, असुर, मरुद्गण तथा यक्ष भी श्रीरामको भय नहीं पहुँचा सकते; फिर राक्षसोंकी तो बिसात ही क्या है ॥ २४ ॥

तदेवं शक्तियुक्तस्य पूर्वं प्रतिकृतस्तथा।
रामस्यार्हसि पिङ्गेश कर्तुं सर्वात्मना प्रियम् ॥ २५ ॥

'वानरराज! ऐसे शक्तिशाली तथा पहले ही उपकार करनेवाले भगवान् श्रीरामका प्रिय कार्य आपको अपनी सारी शक्ति लगाकर करना चाहिये ॥ २५ ॥

नाधस्तादवनौ नाप्सु गतिर्नोपरि चाम्बरे।
कस्यचित् सज्जतेऽस्माकं कपीश्वर तवाज्ञया ॥ २६ ॥

'कपीश्वर! आपकी आज्ञा हो जाय तो जलमें, थलमें, नीचे (पातालमें) तथा ऊपर (आकाशमें)—कहीं भी हम लोगोंकी गति रुक नहीं सकती ॥ २६ ॥

तदाज्ञापय कः किं ते कुतो वापि व्यवस्यतु।
हरयो ह्यप्रधृष्यास्ते सन्ति कोट्यग्रतोऽनघ ॥ २७ ॥

'निष्पाप कपिराज! अतः आप आज्ञा दीजिये कि कौन कहाँसे आपकी किस आज्ञाका पालन करनेके लिये उद्योग करे। आपके अधीन करोड़ोंसे भी अधिक ऐसे वानर मौजूद हैं, जिन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता' ॥ २७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा काले साधु निरूपितम्।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नश्चकार मतिमुत्तमाम् ॥ २८ ॥

सुग्रीव सत्त्वगुणसे सम्पन्न थे। उन्होंने हनुमान्‌जीके द्वारा ठीक समयपर अच्छे ढंगसे कही हुई उपर्युक्त बातें सुनकर भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त उत्तम निश्चय किया ॥ २८ ॥

संदिदेशातिमतिमान् नीलं नित्यकृतोद्यमम्।
दिक्षु सर्वासु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे ॥ २९ ॥
तथा सेना समग्रा मे यूथपालाश्च सर्वशः।
समागच्छन्त्यसङ्गेन सेनाग्र्येण तथा कुरु ॥ ३० ॥

वे परम बुद्धिमान् थे। अतः नित्य उद्यमशील नील नामक वानरको उन्होंने समस्त दिशाओंसे सम्पूर्ण वानर-सेनाओंको एकत्र करनेके लिये आज्ञा दी और कहा—'तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मेरी सारी सेना यहाँ इकट्ठी हो जाय और सभी यूथपति अपनी सेना एवं सेनापतियोंके साथ अविलम्ब उपस्थित हो जायँ ॥ २९-३० ॥

ये त्वन्तपालाः प्लवगाः शीघ्रगा व्यवसायिनः।
समानयन्तु ते शीघ्रं त्वरिताः शासनान्मम।
स्वयं चानन्तरं कार्यं भवानेवानुपश्यतु ॥ ३१ ॥

'राज्य-सीमाकी रक्षा करनेवाले जो-जो उद्योगी और शीघ्रगामी वानर हैं, वे सब मेरी आज्ञासे शीघ्र यहाँ आ जायँ। उसके बाद जो कुछ कर्तव्य हो, उसपर तुम स्वयं ही ध्यान दो ॥ ३१ ॥

त्रिपञ्चरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्नुयादिह वानरः।
तस्य प्राणान्तिको दण्डो नात्र कार्या विचारणा ॥ ३२ ॥

'जो वानर पंद्रह दिनोंके बाद यहाँ पहुँचेगा, उसे प्राणान्त दण्ड दिया जायगा। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

हरींश्च वृद्धानुपयातु साङ्गदो
भवान् ममाज्ञामधिकृत्य निश्चितम्।
इति व्यवस्थां हरिपुंगवेश्वरो
विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

'यह मेरी निश्चित आज्ञा है। इसके अनुसार इस व्यवस्थाका अधिकार लेकर अङ्गदके साथ तुम स्वयं बड़े-बूढ़े वानरोंके पास जाओ।' ऐसा प्रबन्ध करके महाबली वानरराज सुग्रीव अपने महलमें चले गये॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २९॥

त्रिंशः सर्गः

शरद्-ऋतुका वर्णन तथा श्रीरामका लक्ष्मणको सुग्रीवके पास जानेका आदेश देना

गृहं प्रविष्टे सुग्रीवे विमुक्ते गगने घनैः।
वर्षरात्रे स्थितो रामः कामशोकाभिपीडितः॥ १॥

पूर्वोक्त आदेश देकर सुग्रीव तो अपने महलमें चले गये और उधर श्रीरामचन्द्रजी, जो वर्षाकी रातोंमें प्रस्रवणगिरिपर निवास करते थे, आकाशके मेघोंसे मुक्त एवं निर्मल हो जानेपर सीतासे मिलनेकी उत्कण्ठा लिये उनके विरहजन्य शोकसे अत्यन्त पीडाका अनुभव करने लगे॥ १॥

पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्।
शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम्॥ २॥

उन्होंने देखा, आकाश श्वेत वर्णका हो रहा है, चन्द्रमण्डल स्वच्छ दिखायी देता है तथा शरद्-ऋतुकी रजनीके अङ्गोंपर चाँदनीका अङ्गराग लगा हुआ है। यह सब देखकर वे सीतासे मिलनेके लिये व्याकुल हो उठे॥२॥

कामवृत्तं च सुग्रीवं नष्टां च जनकात्मजाम्।
दृष्ट्वा कालमतीतं च मुमोह परमातुरः॥ ३॥

उन्होंने सोचा 'सुग्रीव काममें आसक्त हो रहा है, जनककुमारी सीताका अबतक कुछ पता नहीं लगा है और रावणपर चढ़ाई करनेका समय भी बीता जा रहा है।' यह सब देखकर अत्यन्त आतुर हुए श्रीरामका हृदय व्याकुल हो उठा॥ ३॥

स तु संज्ञामुपागम्य मुहूर्तान्मतिमान् नृपः।
मनःस्थामपि वैदेहीं चिन्तयामास राघवः॥ ४॥

दो घड़ीके बाद जब उनका मन कुछ स्वस्थ हुआ, तब वे बुद्धिमान् नरेश श्रीरघुनाथजी अपने मनमें बसी हुई विदेहनन्दिनी सीताका चिन्तन करने लगे॥ ४॥

दृष्ट्वा च विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्।
सारसारावसंघुष्टं विललापार्तया गिरा॥ ५॥

उन्होंने देखा, आकाश निर्मल है। न कहीं बिजलीकी गड़गड़ाहट है न मेघोंकी घटा। वहाँ सब ओर सारसोंकी बोली सुनायी देती है। यह सब देखकर वे आर्तवाणीमें विलाप करने लगे॥ ५॥

आसीनः पर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते।
शारदं गगनं दृष्ट्वा जगाम मनसा प्रियाम्॥ ६॥

सुनहरे रंगकी धातुओंसे विभूषित पर्वतशिखरपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी शरत्कालके स्वच्छ आकाशकी ओर दृष्टिपात करके मन-ही-मन अपनी प्यारी पत्नी सीताका ध्यान करने लगे॥ ६॥

सारसारावसंनादैः सारसारावनादिनी।
याऽऽश्रमे रमते बाला साद्य मे रमते कथम्॥ ७॥

वे बोले—'जिसकी बोली सारसोंकी आवाजके समान मीठी थी तथा जो मेरे आश्रमपर सारसोंद्वारा परस्पर एक दूसरेको बुलानेके लिये किये गये मधुर शब्दोंसे मन बहलाती थी, वह मेरी भोली-भाली स्त्री सीता आज किस तरह मनोरञ्जन करती होगी?॥ ७॥

पुष्पितांश्चासनान् दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान्।
कथं सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यती॥ ८॥

'सुवर्णमय वृक्षोंके समान निर्मल और खिले हुए असन नामक वृक्षोंको देखकर बार-बार उन्हें निहारती हुई भोली-भाली सीता जब मुझे अपने पास नहीं देखती होगी, तब कैसे उसका मन लगता होगा?॥ ८॥

या पुरा कलहंसानां कलेन कलभाषिणी।
बुध्यते चारुसर्वाङ्गी साद्य मे रमते कथम्॥ ९॥

'जिसके सभी अङ्ग मनोहर हैं तथा जो स्वभावसे ही मधुर भाषण करनेवाली है, वह सीता पहले कलहंसोंके मधुर शब्दसे जागा करती थी; किंतु आज वह मेरी प्रिया वहाँ कैसे प्रसन्न रहती होगी?॥ ९॥

निःस्वनं चक्रवाकानां निशम्य सहचारिणाम्।
पुण्डरीकविशालाक्षी कथमेषा भविष्यति॥ १०॥

'जिसके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पाते हैं, वह मेरी प्रिया जब साथ विचरनेवाले चकवोंकी बोली सुनती होगी, तब उसकी कैसी दशा हो जाती होगी?॥१०॥

सरांसि सरितो वापीः काननानि वनानि च।
तां विना मृगशावाक्षीं चरन्नाद्य सुखं लभे॥ ११॥

'हाय! मैं नदी, तालाब, बावली, कानन और वन सब जगह घूमता हूँ; परंतु कहीं भी उस मृगशावकनयनी सीताके बिना अब मुझे सुख नहीं मिलता है॥ ११॥

अपि तां मद्वियोगाच्च सौकुमार्याच्च भामिनीम्।
सुदूरं पीडयेत् कामः शरद्गुणनिरन्तरः ॥ १२ ॥

'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि शरद्-ऋतुके गुणोंसे निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होनेवाला काम भामिनी सीताको अत्यन्त पीड़ित कर दे; क्योंकि ऐसी सम्भावनाके दो कारण हैं—एक तो उसे मेरे वियोगका कष्ट है, दूसरे वह अत्यन्त सुकुमारी होनेके कारण इस कष्टको सहन नहीं कर पाती होगी' ॥ १२ ॥

एवमादि नरश्रेष्ठो विललाप नृपात्मजः।
विहंग इव सारङ्गः सलिलं त्रिदशेश्वरात् ॥ १३ ॥

इन्द्रसे पानीकी याचना करनेवाले प्यासे पपीहेकी भाँति नरश्रेष्ठ नरेन्द्रकुमार श्रीरामने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर विलाप किया ॥ १३ ॥

ततश्चञ्चूर्य रम्येषु फलार्थी गिरिसानुषु।
ददर्श पर्युपावृत्तो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणोऽग्रजम् ॥ १४ ॥

उस समय शोभाशाली लक्ष्मण फल लेनेके लिये गये थे। वे पर्वतके रमणीय शिखरोंपर घूम-फिरकर जब लौटे, तब उन्होंने अपने बड़े भाईकी अवस्थापर दृष्टिपात किया ॥ १४ ॥

स चिन्तया दुस्सहया परीतं
विसंज्ञमेकं विजने मनस्वी।
भ्रातुर्विषादात् त्वरितोऽतिदीनः
समीक्ष्य सौमित्रिरुवाच दीनम् ॥ १५ ॥

वे दुस्सह चिन्तामें मग्न होकर अचेत-से हो गये थे और एकान्तमें अकेले ही दुखी होकर बैठे थे। उस समय मनस्वी सुमित्राकुमार लक्ष्मणने जब उन्हें देखा, तब वे तुरंत ही भाईके विषादसे अत्यन्त दुखी हो गये और उनसे इस प्रकार बोले—॥ १५ ॥

किमार्य कामस्य वशंगतेन
किमात्मपौरुष्यपराभवेन।
अयं ह्रिया संह्रियते समाधिः
किमत्र योगेन निवर्तते न ॥ १६ ॥

'आर्य! इस प्रकार कामके अधीन होकर अपने पौरुषका तिरस्कार करनेसे—पराक्रमको भूल जानेसे क्या लाभ होगा? इस लज्जाजनक शोकके कारण आपके चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो रही है। क्या इस समय योगका सहारा लेनेसे—मनको एकाग्र करनेसे यह सारी चिन्ता दूर नहीं हो सकती?॥ १६ ॥

क्रियाभियोगं मनसः प्रसादं
समाधियोगानुगतं च कालम्।
सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्वः
स्वकर्महेतुं च कुरुष्व तात ॥ १७ ॥

'तात! आप आवश्यक कर्मोंके अनुष्ठानमें पूर्णरूपसे लग जाइये, मनको प्रसन्न कीजिये और हर समय चित्तकी एकाग्रता बनाये रखिये। साथ ही, अन्तःकरणमें दीनताको स्थान न देते हुए अपने पराक्रमकी वृद्धिके लिये सहायता और शक्तिको बढ़ानेका प्रयत्न कीजिये ॥ १७ ॥

न जानकी मानववंशनाथ
त्वया सनाथा सुलभा परेण।
न चाग्निचूडां ज्वलितामुपेत्य
न दह्यते वीर वरार्ह कश्चित् ॥ १८ ॥

'मानववंशके नाथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके भी पूजनीय वीर रघुनन्दन! जिनके स्वामी आप हैं, वे जनकनन्दिनी सीता किसी भी दूसरे पुरुषके लिये सुलभ नहीं हैं; क्योंकि जलती हुई आगकी लपटके पास जाकर कोई भी दग्ध हुए बिना नहीं रह सकता' ॥ १८ ॥

सलक्षणं लक्ष्मणमप्रधृष्यं
स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः।
हितं च पथ्यं च नयप्रसक्तं
ससामधर्मार्थसमाहितं च ॥ १९ ॥
निस्संशयं कार्यमवेक्षितव्यं
क्रियाविशेषोऽप्यनुवर्तितव्यः।
न तु प्रवृद्धस्य दुरासदस्य
कुमारवीर्यस्य फलं च चिन्त्यम् ॥ २० ॥

लक्ष्मण उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे। उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता था। भगवान् श्रीरामने उनसे यह स्वाभाविक बात कही—'कुमार! तुमने जो बात कही है, वह वर्तमान समयमें हितकर, भविष्यमें भी सुख पहुँचानेवाली, राजनीतिके सर्वथा अनुकूल तथा सामके साथ-साथ धर्म और अर्थसे भी संयुक्त है। निश्चय ही सीताके अनुसंधान-कार्यपर ध्यान देना चाहिये तथा उसके लिये विशेष कार्य या उपायका भी अनुसरण करना चाहिये; किंतु प्रयत्न छोड़कर पूर्णरूपसे बढ़े हुए दुर्लभ एवं बलवान् कर्मके फलपर ही दृष्टि रखना उचित नहीं है' ॥ १९-२० ॥

अथ पद्मपलाशाक्षीं मैथिलीमनुचिन्तयन्।
उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ॥ २१ ॥

तदनन्तर प्रफुल्ल कमलदलके समान नेत्रवाली मिथिलेश-कुमारी सीताका बार-बार चिन्तन करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणको सम्बोधित करके सूखे हुए (उदास) मुँहसे बोले—॥

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुंधराम्।
निर्वर्तयित्वा सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

'सुमित्रानन्दन! सहस्रनेत्रधारी इन्द्र इस पृथ्वीको जलसे तृप्त करके यहाँके अनाजोंको पाकर अब कृतकृत्य हो गये हैं ॥ २२ ॥

दीर्घगम्भीरनिर्घोषा शैलद्रुमपुरोगमाः।
विसृज्य सलिलं मेघाः परिशान्ता नृपात्मज ॥ २३ ॥

'राजकुमार ! देखो, जो अत्यन्त गम्भीर स्वरसे गर्जना किया करते और पर्वतों, नगरों तथा वृक्षोंके ऊपरसे होकर निकलते थे, वे मेघ अपना सारा जल बरसाकर शान्त हो गये हैं ॥ २३ ॥

नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश ।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥ २४ ॥

'नील कमलदलके समान श्यामवर्णवाले मेघ दसों दिशाओं-को श्याम बनाकर मदरहित गजराजोंके समान वेगशून्य हो गये हैं; उनका वेग शान्त हो गया है ॥ २४ ॥

जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः ।
चरित्वा विरताः सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः ॥ २५ ॥

'सौम्य ! जिनके भीतर जल विद्यमान था तथा जिनमें कुटज और अर्जुनके फूलोंकी सुगन्ध भरी हुई थी, वे अत्यन्त वेगशाली झंझावात उमड़-घुमड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करके अब शान्त हो गये हैं ॥ २५ ॥

घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण ।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ ॥ २६ ॥

'निष्पाप लक्ष्मण ! बादलों, हाथियों, मोरों और झरनोंके शब्द इस समय सहसा शान्त हो गये हैं ॥ २६ ॥

अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्रसानवः ।
अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥ २७ ॥

'महान् मेघोंद्वारा बरसाये हुए जलसे धुल जानेके कारण ये विचित्र शिखरोंवाले पर्वत अत्यन्त निर्मल हो गये हैं। इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमाकी किरणोंद्वारा इनके ऊपर सफेदी कर दी गयी है ॥ २७ ॥

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम् ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥ २८ ॥

'आज शरद्-ऋतु, सप्तच्छद (छितवन)की डालियोंमें, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंकी प्रभामें तथा श्रेष्ठ गजराजोंकी लीलाओंमें अपनी शोभा बाँटकर आयी है ॥ २८ ॥

सम्प्रत्यनेकाश्रयचित्रशोभा
लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपपन्ना ।
सूर्याग्रहस्तप्रतिबोधितेषु
पद्माकरेष्वभ्यधिकं विभाति ॥ २९ ॥

'इस समय शरत्कालके गुणोंसे सम्पन्न हुई लक्ष्मी यद्यपि अनेक आश्रयोंमें विभक्त होकर विचित्र शोभा धारण करती हैं, तथापि सूर्यकी प्रथम किरणोंसे विकसित हुए कमल-वनोंमें वे सबसे अधिक सुशोभित होती हैं ॥ २९ ॥

सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
षट्पादवृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विपानां पवनानुसारी
दर्पं विनेष्यन्नधिकं विभाति ॥ ३० ॥

'छितवनके फूलोंकी सुगन्ध धारण करनेवाला शरत्काल स्वभावतः वायुका अनुसरण कर रहा है । भ्रमरोंके समूह उसके गुणगान कर रहे हैं । वह मार्गके जलको सोखता और मतवाले हाथियोंके दर्पको बढ़ाता हुआ अधिक शोभा पा रहा है ॥ ३० ॥

अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः
स्मरप्रियैः पद्मरजोऽवकीर्णैः ।
महानदीनां पुलिनोपयातैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवाकैः ॥ ३१ ॥

'जिनके पंख सुन्दर और विशाल हैं' जिन्हें कामक्रीडा अधिक प्रिय है, जिनके ऊपर कमलोंके पराग बिखरे हुए हैं, जो बड़ी-बड़ी नदियोंके तटोंपर उतरे हैं और मानसरोवरसे साथ ही आये हैं, उन चक्रवाकोंके साथ हंस क्रीडा कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता ॥ ३२ ॥

'मदमत्त गजराजोंमें, दर्प-भरे वृषभोंके समूहोंमें तथा स्वच्छ जलवाली सरिताओंमें नाना रूपोंमें विभक्त हुई लक्ष्मी विशेष शोभा पा रही है ॥ ३२ ॥

नभः समीक्ष्याम्बुधरैर्विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा वनेषु ।
प्रियास्वरक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ॥ ३३ ॥

'आकाशको बादलोंसे शून्य हुआ देख वनोंमें पंखरूपी आभूषणोंका परित्याग करनेवाले मोर अपनी प्रियतमाओंसे विरक्त हो गये हैं । उनकी शोभा नष्ट हो गयी है और वे आनन्दशून्य हो ध्यानमग्न होकर बैठे हैं ॥ ३३ ॥

मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः
पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामै-
रुद्योतितानीव वनान्तराणि ॥ ३४ ॥

'वनके भीतर बहुत-से असननामक वृक्ष खड़े हैं, जिन की डालियोंके अग्रभाग फूलोंके अधिक भारसे झुक गये हैं । उन-पर मनोहर सुगन्ध छा रही है, वे सभी वृक्ष सुवर्णके समान गौर तथा नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं । उनके द्वारा वनप्रान्त प्रकाशित-से हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने प्रियाणां कुसुमोद्गतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दाः ॥ ३५ ॥

'जो अपनी प्रियतमाओंके साथ विचरते हैं, जिन्हें कमलके पुष्प तथा वन अधिक प्रिय हैं, जो छितवनके फूलोंको सूँघकर उन्मत्त हो उठे हैं, जिनमें अधिक मद है तथा जिन्हें मदजनित कामभोगकी लालसा बनी हुई है, उन गजराजोंकी गति आज मन्द हो गयी है ॥ ३५ ॥

व्यक्तं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमोविमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥ ३६ ॥

'इस समय आकाशका रंग शानपर चढ़े हुए शस्त्रकी धारके समान स्वच्छ दिखायी देता है, नदियोंके जल मन्दगतिसे प्रवाहित हो रहे हैं, श्वेत कमलकी सुगन्ध लेकर शीतल-मन्द वायु चल रही है, दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया है और अब उनमें पूर्ण प्रकाश छा रहा है ॥ ३६ ॥

सूर्यातपक्रामणनष्टपङ्का
भूमिश्चिरोद्घाटितसान्द्ररेणुः ।
अन्योन्यवैरेण समायुतानामुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम् ॥ ३७ ॥

'घाम लगनेसे धरतीका कीचड़ सूख गया है । अब उसपर बहुत दिनोंके बाद घनी धूल प्रकट हुई है । परस्पर वैर रखनेवाले राजाओंके लिये युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय अब आ गया है ॥ ३७ ॥

शरद्गुणात्यायितरूपशोभाः
प्रहर्षिताः पांसुसमुत्थिताङ्गाः ।
मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा
वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ॥ ३८ ॥

'शरद्-ऋतुके गुणोंने जिनके रूप और शोभाको बढ़ा दिया है, जिनके सारे अङ्गोंपर धूल छा रही है, जिनके मदकी अधिक वृद्धि हुई है तथा जो युद्धके लिये लुभाये हुए हैं, वे साँड़ इस समय गौओंके बीचमें खड़े होकर अत्यन्त हर्षपूर्वक हँकड़ रहे हैं ॥ ३८ ॥

समन्मथा तीव्रतरानुरागा
कुलान्विता मन्दगतिः करेणुः ।
मदान्वितं सम्परिवार्य यान्तं
वनेषु भर्तारमनुप्रयाति ॥ ३९ ॥

'जिसमें कामभावका उदय हुआ है, इसीलिये जो अत्यन्त तीव्र अनुरागसे युक्त है और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई है, वह मन्दगतिसे चलनेवाली हथिनी वनोंमें जाते हुए अपने मदमत्त स्वामीको घेरकर उसका अनुगमन करती है ॥ ३९ ॥

त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषितानि
बर्हाणि तीरोपगता नदीनाम् ।
निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः
प्रयान्ति दीना विमना मयूराः ॥ ४० ॥

'अपने आभूषणरूप श्रेष्ठ पंखोंको त्यागकर नदियोंके तटोंपर आये हुए मोर मानो सारस-समूहोंकी फटकार सुनकर दुखी और खिन्नचित्त हो पीछे लौट जाते हैं ॥ ४० ॥

वित्रास्य कारण्डवचक्रवाकान्
महारवैर्भिन्नकटा गजेन्द्राः ।
सरस्सु बद्धाम्बुजभूषणेषु
विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिबन्ति ॥ ४१ ॥

'जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही है, वे गजराज अपनी महती गर्जनासे कारण्डवों तथा चक्रवाकोंको भयभीत करके विकसित कमलोंसे विभूषित सरोवरोंमें जलको हिलोर-हिलोरकर पी रहे हैं ॥ ४१ ॥

व्यपेतपङ्कासु सवालुकासु
प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु ।
ससारसारावविनादितासु
नदीषु हंसा निपतन्ति हृष्टाः ॥ ४२ ॥

'जिनके कीचड़ दूर हो गये हैं, जो बालुकाओंसे सुशोभित हैं, जिनका जल बहुत ही स्वच्छ है तथा गौओंके समुदाय जिनके जलका सेवन करते हैं, सारसोंके कलरवोंसे गूँजती हुई उन सरिताओंमें हंस बड़े हर्षके साथ उतर रहे हैं ॥ ४२ ॥

नदीघनप्रस्रवणोदकाना-
मतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम् ।
प्लवंगमानां च गतोत्सवानां
ध्रुवं रवाः सम्प्रति सम्प्रणष्टाः ॥ ४३ ॥

'नदी, मेघ, झरनोंके जल, प्रचण्ड वायु, मोर और हर्षरहित मेढकोंके शब्द निश्चय ही इस समय शान्त हो गये हैं ॥ ४३ ॥

अनेकवर्णाः सुविनष्टकाया
नवोदितेष्वम्बुधरेषु नष्टाः ।
क्षुधार्दिता घोरविषा बिलेभ्य-
श्चिरोषिता विप्रसरन्ति सर्पाः ॥ ४४ ॥

'नूतन मेघोंके उदित होनेपर जो चिरकालसे बिलोंमें छिपे बैठे थे, जिनकी शरीरयात्रा नष्टप्राय हो गयी थी और इस प्रकार जो मृतवत् हो रहे थे, वे भयंकर विषवाले बहुरंगे सर्प भूखसे पीड़ित होकर अब बिलोंसे बाहर निकल रहे हैं ॥ ४४ ॥

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती संध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥ ४५ ॥

'शोभाशाली चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे होनेवाले हर्षके कारण जिसके तारे किंचित् प्रकाशित हो रहे हैं (अथवा प्रियतमके करस्पर्शजनित हर्षसे जिसके नेत्रोंकी पुतली किंचित् खिल उठी है) वह रागयुक्त संध्या (अथवा अनुरागभरी नायिका) स्वयं ही अम्बर (आकाश अथवा

वस्त्र) का त्याग कर रही है, यह कैसे आश्चर्यकी बात है ! * ॥ ४५ ॥

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा
तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा ।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी ॥ ४६ ॥

'चाँदनीकी चादर ओढ़े हुए शरत्कालकी यह रात्रि श्वेत साड़ीसे ढके हुए अङ्गवाली एक सुन्दरी नारीके समान शोभा पाती है। उदित हुआ चन्द्रमा ही उसका सौम्य मुख है और तारे ही उसकी खुली हुई मनोहर आँखें हैं ॥ ४६ ॥

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला ॥ ४७ ॥

'पके हुए धानकी बालोंको खाकर हर्षसे भरी हुई और तीव्र वेगसे चलनेवाली सारसोंकी वह सुन्दर पंक्ति वायुकम्पित गूँथी हुई पुष्पमालाकी भाँति आकाशमें उड़ रही है ॥ ४७ ॥

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं
महाह्रदस्थं सलिलं विभाति ।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥ ४८ ॥

'कुमुदके फूलोंसे भरा हुआ उस महान् तालाबका जल जिसमें एक हंस सोया हुआ है, ऐसा जान पड़ता है मानो रातके समय बादलोंके आवरणसे रहित आकाश सब ओर छिटके हुए तारोंसे व्याप्त होकर पूर्ण चन्द्रमाके साथ शोभा पा रहा हो ॥ ४८ ॥

प्रकीर्णहंसाकुलमेखलानां
प्रबुद्धपद्मोत्पलमालिनीनाम् ।
वाप्युत्तमानामधिकाद्य लक्ष्मी-
र्वराङ्गनानामिव भूषितानाम् ॥ ४९ ॥

'सब ओर बिखरे हुए हंस ही जिनकी फैली हुई मेखला (करधनी) हैं, जो खिले हुए कमलों और उत्पलोंकी मालाएँ धारण करती हैं, उन उत्तम बावड़ियोंकी शोभा आज वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुई सुन्दरी वनिताओंके समान हो रही है ॥ ४९ ॥

वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः
प्रत्यूषकालेऽनिलसम्प्रवृत्तः ।
सम्मूर्छितो गर्गरगोवृषाणा-
मन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥ ५० ॥

'वेणुके स्वरके रूपमें व्यक्त हुए वाद्यघोषसे मिश्रित और प्रातःकालकी वायुसे वृद्धिको प्राप्त होकर सब ओर फैला हुआ दही मथनेके बड़े-बड़े भाण्डों और साँड़ोंका शब्द, मानो एक दूसरेका पूरक हो रहा है ॥ ५० ॥

नवैर्नदीनां कुसुमप्रहासै-
र्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन ।
धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः
कूलानि काशैरुपशोभितानि ॥ ५१ ॥

'नदियोंके तट मन्द-मन्द वायुसे कम्पित, पुष्परूपी हाससे सुशोभित और धुले हुए निर्मल रेशमी वस्त्रोंके समान प्रकाशित होनेवाले नूतन कासोंसे बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ ५१ ॥

वनप्रचण्डा मधुपानशौण्डाः
प्रियान्विताः षट्चरणाः प्रहृष्टाः ।
वनेषु मत्ताः पवनानुयात्रां
कुर्वन्ति पद्मासनरेणुगौराः ॥ ५२ ॥

'वनमें ढिठाईके साथ घूमनेवाले तथा कमल और असनके परागोंसे गौरवर्णको प्राप्त हुए मतवाले भ्रमर, जो पुष्पोंके मकरन्दका पान करनेमें बड़े चतुर हैं, अपनी प्रियाओंके साथ हर्षमें भरकर वनोंमें (गन्धके लोभसे) वायुके पीछे-पीछे जा रहे हैं ॥ ५२ ॥

जलं प्रसन्नं कुसुमप्रहासं
क्रौञ्चस्वनं शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥ ५३ ॥

'जल स्वच्छ हो गया है, धानकी खेती पक गयी है, वायु मन्दगतिसे चलने लगी है और चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल दिखायी देता है—ये सब लक्षण उस शरत्कालके आगमनकी सूचना देते हैं, जिसमें वर्षाकी समाप्ति हो जाती है, क्रौञ्च पक्षी बोलने लगते हैं और फूल उस ऋतुके हासकी भाँति खिल उठते हैं ॥ ५३ ॥

मीनोपसंदर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः ।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम् ॥ ५४ ॥

'रातको प्रियतमके उपभोगमें आकर प्रातःकाल अलसायी गतिसे चलनेवाली कामिनियोंकी भाँति उन नदीस्वरूपा वधुओंकी गति भी आज मन्द हो गयी है, जो मछलियोंकी मेखला-सी धारण किये हुए हैं ॥ ५४ ॥

सचक्रवाकानि सशैवलानि
काशैर्दुकूलैरिव संवृतानि ।
सपत्ररेखाणि सरोचनानि
वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥ ५५ ॥

'नदियोंके मुख नव वधुओंके मुँहके समान शोभा पाते हैं। उनमें जो चक्रवाक हैं, वे गोरोचनद्वारा निर्मित तिलकके

* यहाँ संध्यामें कामुकी नायिकाके व्यवहारका आरोप होनेसे समासोक्ति अलंकार समझना चाहिये।

समान प्रतीत होते हैं, जो सेवार हैं, वे वधूके मुखपर बनी हुई पत्रभङ्गीके समान जान पड़ते हैं तथा जो कास हैं, वे ही मानो श्वेत दुकूल बनकर नदीरूपिणी वधूके मुँहको ढके हुए हैं ॥ ५५ ॥

प्रफुल्लबाणासनचित्रितेषु
प्रहृष्टषट्पादनिकूजितेषु ।
गृहीतचापोद्यतदण्डचण्डः
प्रचण्डचापोऽद्य वनेषु कामः ॥ ५६ ॥

'फूले हुए सरकण्डों और असनके वृक्षोंसे जिनकी विचित्र शोभा हो रही है तथा जिनमें हर्षभरे भ्रमरोंकी आवाज गूँजती रहती है, उन वनोंमें आज प्रचण्ड धनुर्धर कामदेव प्रकट हुआ है, जो धनुष हाथमें लेकर विरही जनोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हो अत्यन्त कोपका परिचय दे रहा है ॥ ५६ ॥

लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रणष्टाः ॥ ५७ ॥

अच्छी वर्षासे लोगोंको संतुष्ट करके, नदियों और तालाबोंको पानीसे भरकर तथा भूतलको परिपक्व धानकी खेतीसे सम्पन्न करके बादल आकाश छोड़कर अदृश्य हो गये ॥ ५७ ॥

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसंगमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥ ५८ ॥

'शरद्-ऋतुकी नदियाँ धीरे-धीरे जलके हटनेसे अपने नग्न तटोंको दिखा रही हैं। ठीक उसी तरह जैसे प्रथम समागमके समय लजीली युवतियाँ शनैः-शनैः अपने जघन-स्थलको दिखानेके लिये विवश होती हैं ॥ ५८ ॥

प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुरराभिविनादिताः ।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः ॥ ५९ ॥

'सौम्य ! सभी जलाशयोंके जल स्वच्छ हो गये हैं। वहाँ कुरर पक्षियोंके कलनाद गूँज रहे हैं और चक्रवाकोंके समुदाय चारों ओर बिखरे हुए हैं। इस प्रकार उन जलाशयोंकी बड़ी शोभा हो रही है ॥ ५९ ॥

अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज ।
उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः ॥ ६० ॥

'सौम्य ! राजकुमार ! जिनमें परस्पर वैर बँधा हुआ है और जो एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते हैं, उन भूमिपालोंके लिये यह युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय उपस्थित हुआ है ॥ ६० ॥

इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज ।
न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं वा तथाविधम् ॥ ६१ ॥

नरेशनन्दन ! राजाओंकी विजययात्राका यह प्रथम अवसर है, किंतु न तो मैं सुग्रीवको यहाँ उपस्थित देखता हूँ और न उनका कोई वैसा उद्योग ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ६१ ॥

असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः ।
दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु ॥ ६२ ॥

'पर्वतके शिखरोंपर असन, छितवन, कोविदार, बन्धुजीव तथा श्याम तमाल खिले दिखायी देते हैं ॥ ६२ ॥

हंससारसचक्राह्वैः कुररैश्च समन्ततः ।
पुलिनान्यवकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण ॥ ६३ ॥

'लक्ष्मण ! देखो तो सही, नदियोंके तटोंपर सब ओर हंस, सारस, चक्रवाक और कुरर नामक पक्षी फैले हुए हैं ॥ ६३ ॥

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः ।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः ॥ ६४ ॥

'मैं सीताको न देखनेके कारण शोकसे संतप्त हो रहा हूँ; अतः ये वर्षाके चार महीने मेरे लिये सौ वर्षोंके समान बीते हैं ॥ ६४ ॥

चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम् ।
विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना ॥ ६५ ॥

'जैसे चकवी अपने स्वामीका अनुसरण करती है, उसी प्रकार कल्याणी सीता इस भयंकर एवं दुर्गम दण्डकारण्यको उद्यान-सा समझकर मेरे पीछे यहाँतक चली आयी थी ॥६५॥

प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते ।
कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण ॥ ६६ ॥

'लक्ष्मण ! मैं अपनी प्रियतमासे बिछुड़ा हुआ हूँ। मेरा राज्य छीन लिया गया है और मैं देशसे निकाल दिया गया हूँ। इस अवस्थामें भी राजा सुग्रीव मुझपर कृपा नहीं कर रहा है ॥ ६६ ॥

अनाथो हृतराज्योऽहं रावणेन च धर्षितः ।
दीनो दूरगृहः कामी मां चैव शरणं गतः ॥ ६७ ॥
इत्येतैः कारणैः सौम्य सुग्रीवस्य दुरात्मनः ।
अहं वानरराजस्य परिभूतः परंतपः ॥ ६८ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! मैं अनाथ हूँ, राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ। रावणने मेरा तिरस्कार किया है। मैं दीन हूँ। मेरा घर यहाँसे बहुत दूर है। मैं कामना लेकर यहाँ आया हूँ तथा सुग्रीव यह भी समझता है कि राम मेरी शरणमें आये हैं। इन्हीं सब कारणोंसे वानरोंका राजा दुरात्मा सुग्रीव मेरा तिरस्कार कर रहा है; किंतु उसे पता नहीं है कि मैं सदा शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हूँ ॥ ६७-६८ ॥

स कालं परिसंख्याय सीतायाः परिमार्गणे ।
कृतार्थः समयं कृत्वा दुर्मतिर्नावबुध्यते ॥ ६९ ॥

'उसने सीताकी खोजके लिये समय निश्चित कर दिया था; किंतु उसका तो अब काम निकल गया है, इसीलिये वह दुर्बुद्धि वानर प्रतिज्ञा करके भी उसका कुछ ख्याल नहीं कर रहा है ॥ ६९ ॥

स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुङ्गवम्।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मम ॥ ७० ॥

'अतः लक्ष्मण! तुम मेरी आज्ञासे किष्किन्धापुरीमें जाओ और विषय-भोगमें फँसे हुए मूर्ख वानरराज सुग्रीवसे इस प्रकार कहो—॥ ७० ॥

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम्।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ॥ ७१ ॥

'जो बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले ही उपकार करनेवाले कार्यार्थी पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक आशा देकर पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसारके सभी पुरुषोंमें नीच है ॥ ७१ ॥

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम्।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ७२ ॥

'जो अपने मुखसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे सभी तरहके वचनोंको अवश्य पालनीय समझकर सत्यकी रक्षाके उद्देश्यसे उनका पालन करता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ७२ ॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ ७३ ॥

'जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर, जिनके कार्य नहीं पूरे हुए हैं, उन मित्रोंके सहायक नहीं होते—उनके कार्यको सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मरनेपर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते हैं ॥७३॥

नूनं काञ्चनपृष्ठस्य विकृष्टस्य मया रणे।
द्रष्टुमिच्छसि चापस्य रूपं विद्युद्गणोपमम् ॥ ७४ ॥

'सुग्रीव! निश्चय ही तुम युद्धमें मेरेद्वारा खींचे गये सोनेकी पीठवाले धनुषका कौंधती हुई बिजलीके समान रूप देखना चाहते हो ॥ ७४ ॥

घोरं ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छसि ॥ ७५ ॥

'संग्राममें कुपित होकर मेरेद्वारा खींची गयी प्रत्यञ्चाकी भयंकर टंकारको, जो वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात करनेवाली है, अब फिर तुम्हें सुननेकी इच्छा हो रही है ॥७५॥

काममेवंगतेऽप्यस्य परिज्ञाते पराक्रमे।
त्वत्सहायस्य मे वीर न चिन्ता स्यान्नृपात्मज ॥ ७६ ॥

'वीर राजकुमार! सुग्रीवको तुम-जैसे सहायकके साथ रहनेवाले मेरे पराक्रमका ज्ञान हो चुका है, ऐसी दशामें भी यदि उसे यह चिन्ता न हो कि ये वालीकी भाँति मुझे मार सकते हैं तो यह आश्चर्यकी ही बात है! ॥ ७६ ॥

यदर्थमयमारम्भः कृतः परपुरंजय।
समयं नाभिजानाति कृतार्थः प्लवगेश्वरः ॥ ७७ ॥

'शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले लक्ष्मण! जिसके लिये यह मित्रता आदिका सारा आयोजन किया गया, सीताकी खोजविषयक उस प्रतिज्ञाको इस समय वानरराज सुग्रीव भूल गया है—उसे याद नहीं कर रहा है; क्योंकि उसका अपना काम सिद्ध हो चुका ॥ ७७ ॥

वर्षाः समयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः।
व्यतीतांश्चतुरो मासान् विहरन् नावबुध्यते ॥ ७८ ॥

'सुग्रीवने यह प्रतिज्ञा की थी कि वर्षाका अन्त होते ही सीताकी खोज आरम्भ कर दी जायगी, किंतु वह क्रीडा-विहारमें इतना तन्मय हो गया है कि इन बीते हुए चार महीनोंका उसे कुछ पता ही नहीं है ॥ ७८ ॥

सामात्यपरिषत्क्रीडन् पानमेवोपसेवते।
शोकदीनेषु नास्मासु सुग्रीवः कुरुते दयाम् ॥ ७९ ॥

'सुग्रीव मन्त्रियों तथा परिजनोंसहित क्रीडाजनित आमोद-प्रमोदमें फँसकर विविध पेय पदार्थोंका ही सेवन कर रहा है। हमलोग शोकसे व्याकुल हो रहे हैं तो भी वह हमपर दया नहीं करता है ॥ ७९ ॥

उच्यतां गच्छ सुग्रीवस्त्वया वीर महाबल।
मम रोषस्य यद्रूपं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥ ८० ॥

'महाबली वीर लक्ष्मण! तुम जाओ। सुग्रीवसे बात करो। मेरे रोषका जो स्वरूप है, वह उसे बताओ और मेरा यह संदेश भी कह सुनाओ ॥ ८० ॥

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ ८१ ॥

'सुग्रीव! वाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आज भी बंद नहीं हुआ है। इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहो। वालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ ८१ ॥

एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम् ॥ ८२ ॥

'वाली तो रणक्षेत्रमें अकेला ही मेरे बाणसे मारा गया था, परंतु यदि तुम सत्यसे विचलित हुए तो मैं तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित कालके गालमें डाल दूँगा ॥ ८२ ॥

यदेवं विहिते कार्ये यद्धितं पुरुषर्षभ।
तत् तद् ब्रूहि नरश्रेष्ठ त्वर कालव्यतिक्रमः ॥ ८३ ॥

'पुरुषप्रवर! नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! जब इस तरह कार्य बिगड़ने लगे, ऐसे अवसरपर और भी जो-जो बातें कहनी उचित हों—जिनके कहनेसे अपना हित होता हो, वे सब बातें कहना। जल्दी करो; क्योंकि कार्य आरम्भ करनेका समय बीता जा रहा है ॥ ८३ ॥

कुरुष्व सत्यं मम वानरेश्वर
प्रतिश्रुतं धर्ममवेक्ष्य शाश्वतम्।
मा वालिनं प्रेतगतो यमक्षये
त्वमद्य पश्येर्मम चोदितः शरैः ॥ ८४ ॥

'सुग्रीवसे कहो—'वानरराज ! तुम सनातन धर्मपर दृष्टि रखकर अपनी की हुई प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाओ, अन्यथा ऐसा न हो कि तुम्हें आज ही मेरे बाणोंसे प्रेरित हो प्रेतभावको प्राप्त होकर यमलोकमें वालीका दर्शन करना पड़े' ॥

स पूर्वजं तीव्रविवृद्धकोपं
लालप्यमानं प्रसमीक्ष्य दीनम्।
चकार तीव्रां मतिमुग्रतेजा
हरीश्वरे मानववंशवर्धनः ॥ ८५ ॥

मानव-वंशकी वृद्धि करनेवाले उग्र तेजस्वी लक्ष्मणने जब अपने बड़े भाईको दुखी, बढ़े हुए तीव्र रोषसे युक्त तथा अधिक बोलते देखा, तब वानरराज सुग्रीवके प्रति कठोर भाव धारण कर लिया ॥ ८५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवपर लक्ष्मणका रोष, श्रीरामका उन्हें समझाना, लक्ष्मणका किष्किन्धाके द्वारपर जाकर अङ्गदको सुग्रीवके पास भेजना, वानरोंका भय तथा प्लक्ष और प्रभावका सुग्रीवको कर्तव्यका उपदेश देना

स कामिनं दीनमदीनसत्त्वं
शोकाभिपन्नं समुदीर्णकोपम्।
नरेन्द्रसूनुर्नरदेवपुत्रं
रामानुजः पूर्वजमित्युवाच ॥ १ ॥

श्रीरामके छोटे भाई नरेन्द्रकुमार लक्ष्मणने उस समय सीताकी कामनासे युक्त, दुखी, उदारहृदय, शोकग्रस्त तथा बढ़े हुए रोषवाले ज्येष्ठ भ्राता महाराजपुत्र श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

न वानरः स्थास्यति साधुवृत्ते
न मन्यते कर्मफलानुषङ्गान्।
न भोक्ष्यते वानरराज्यलक्ष्मीं
तथा हि नातिक्रमतेऽस्य बुद्धिः ॥ २ ॥

'आर्य ! सुग्रीव वानर है, वह श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित सदाचारपर स्थित नहीं रह सकेगा। सुग्रीव इस बातको भी नहीं मानता है कि अग्निको साक्षी देकर श्रीरघुनाथजीके साथ मित्रता-स्थापनरूप जो सत्-कर्म किया गया है, उसीके फलसे मुझे निष्कण्टक राज्यभोग प्राप्त हुए हैं। अतः वह वानरोंकी राज्य-लक्ष्मीका पालन एवं उपभोग नहीं कर सकेगा; क्योंकि उसकी बुद्धि मित्रधर्मके पालनके लिये अधिक आगे नहीं बढ़ रही है ॥ २ ॥

मतिक्षयाद् ग्राम्यसुखेषु सक्त-
स्तव प्रसादात् प्रतिकारबुद्धिः।
हतोऽग्रजं पश्यतु वीरवालिनं
न राज्यमेवं विगुणस्य देयम् ॥ ३ ॥

'सुग्रीवकी बुद्धि मारी गयी है, इसलिये वह विषय-भोगोंमें आसक्त हो गया है। आपकी कृपासे जो उसे राज्य आदिका लाभ हुआ है, उस उपकारका बदला चुकानेकी उसकी नीयत नहीं है। अतः अब वह भी मारा जाकर अपने बड़े भाई वीरवर वालीका दर्शन करे। ऐसे गुणहीन पुरुषको राज्य नहीं देना चाहिये ॥ ३ ॥

न धारये कोपमुदीर्णवेगं
निहन्मि सुग्रीवमसत्यमद्य।
हरिप्रवीरैः सह वालिपुत्रो
नरेन्द्रपुत्र्या विचयं करोतु ॥ ४ ॥

'मेरे क्रोधका वेग बढ़ा हुआ है। मैं इसे रोक नहीं सकता। असत्यवादी सुग्रीवको आज ही मारे डालता हूँ। अब वालिकुमार अङ्गद ही राजा होकर प्रधान वानरवीरोंके साथ राजकुमारी सीताकी खोज करे' ॥ ४ ॥

तमात्तबाणासनमुत्पतन्तं
निवेदितार्थं रणचण्डकोपम्।
उवाच रामः परवीरहन्ता
स्ववीक्षितं सानुनयं च वाक्यम् ॥ ५ ॥

यों कहकर लक्ष्मण धनुष-बाण हाथमें ले बड़े वेगसे चल पड़े। उन्होंने अपने जानेका प्रयोजन स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन कर दिया था। युद्धके लिये उनका प्रचण्ड कोप बढ़ा हुआ था तथा वे क्या करने जा रहे हैं, इसपर उन्होंने अच्छी तरह विचार नहीं किया था। उस समय विपक्षी वीरोंका संहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें शान्त करनेके लिये यह अनुनययुक्त बात कही—॥ ५ ॥

नहि वै त्वद्विधो लोके पापमेवं समाचरेत्।
कोपमार्येण यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः ॥ ६ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको संसारमें ऐसा

(मित्रवधरूप) निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये । जो उत्तम विवेकके द्वारा अपने क्रोधको मार देता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

नेदमत्र त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण ।
तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च संगतम् ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण ! तुम सदाचारी हो । तुम्हें इस प्रकार सुग्रीवके मारनेका निश्चय नहीं करना चाहिये । उसके प्रति जो तुम्हारा प्रेम था, उसीका अनुसरण करो और उसके साथ पहले जो मित्रता की गयी है, उसे निबाहो ॥ ७ ॥

सामोपहितया वाचा रूक्षाणि परिवर्जयन् ।
वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये ॥ ८ ॥

'तुम्हें सान्त्वनापूर्ण वाणीद्वारा कटु वचनोंका परित्याग करते हुए सुग्रीवसे इतना ही कहना चाहिये कि तुमने सीताकी खोजके लिये जो समय नियत किया था, वह बीत गया (फिर भी चुप क्यों बैठे हो) ॥ ८ ॥

सोऽग्रजेनानुशिष्टार्थो यथावत् पुरुषर्षभः ।
प्रविवेश पुरीं वीरो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ ९ ॥

अपने बड़े भाईके इस प्रकार यथोचित रूपसे समझानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुरुषप्रवर वीर लक्ष्मणने किष्किन्धापुरीमें प्रवेश (करनेका विचार) किया ॥ ९ ॥

ततः शुभमतिः प्राज्ञो भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रतिसंरब्धो जगाम भवनं कपेः ॥ १० ॥

भाईके प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाले शुभ बुद्धिसे युक्त बुद्धिमान् लक्ष्मण रोषमें भरे हुए ही वानरराज सुग्रीवके भवनकी ओर चले ॥ १० ॥

शक्रबाणासनप्रख्यं धनुः कालान्तकोपमम् ।
प्रगृह्य गिरिशृङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव ॥ ११ ॥

उस समय वे इन्द्र-धनुषके समान तेजस्वी, काल और अन्तकके समान भयंकर तथा पर्वत-शिखरके समान विशाल धनुषको हाथमें लेकर शृङ्गसहित मन्दराचलके समान जान पड़ते थे ॥ ११ ॥

यथोक्तकारी वचनमुत्तरं चैव सोत्तरम् ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या मत्वा रामानुजस्तदा ॥ १२ ॥

श्रीरामके अनुज लक्ष्मण अपने बड़े भाईकी आज्ञाका यथोक्तरूपसे पालन करनेवाले तथा बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे । वे सुग्रीवसे जो बात कहते, सुग्रीव उसका जो कुछ उत्तर देते और उस उत्तरका भी ये जो कुछ उत्तर देते, उन सबको अच्छी तरह समझ-बूझकर वहाँसे प्रस्थित हुए थे ॥ १२ ॥

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः क्रोधाग्निना वृतः ।
प्रभञ्जन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्ततः ॥ १३ ॥

सीताकी खोजविषयक जो श्रीरामकी कामना थी और सुग्रीवकी असावधानीके कारण उसमें बाधा पड़नेसे जो उन्हें क्रोध हुआ था, उन दोनोंके कारण लक्ष्मणकी भी क्रोधाग्नि भड़क उठी थी। उस क्रोधाग्निसे घिरे हुए लक्ष्मण सुग्रीवके प्रति प्रसन्न नहीं थे । उसी अवस्थामें वायुके समान वेगसे चले ॥ १३ ॥

सालतालाश्वकर्णांश्च तरसा पातयन् बलात् ।
पर्यस्यन् गिरिकूटानि द्रुमानन्यांश्च वेगितः ॥ १४ ॥

उनका वेग ऐसा बढ़ा हुआ था कि वे मार्गमें मिलनेवाले साल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंको उसी वेगसे बलपूर्वक गिराते तथा पर्वतशिखरों एवं अन्य वृक्षोंको उठा-उठाकर दूर फेंकते जाते थे ॥ १४ ॥

शिलाश्च शकलीकुर्वन् पद्भ्यां गज इवाशुगः ।
दूरमेकपदं त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद् द्रुतम् ॥ १५ ॥

शीघ्रगामी हाथीके समान अपने पैरोंकी ठोकरसे शिलाओंको चूर-चूर करते और लंबी-लंबी डगें भरते हुए वे कार्यवश बड़ी तेजीके साथ चले ॥ १५ ॥

तामपश्यद् बलाकीर्णां हरिराजमहापुरीम् ।
दुर्गामिक्ष्वाकुशार्दूलः किष्किन्धां गिरिसंकटे ॥ १६ ॥

इक्ष्वाकुकुलके सिंह लक्ष्मणने निकट जाकर वानरराज सुग्रीवकी विशाल पुरी किष्किन्धा देखी, जो पहाड़ोंके बीचमें बसी हुई थी । वानरसेनासे व्याप्त होनेके कारण वह पुरी दूसरोंके लिये दुर्गम थी ॥ १६ ॥

रोषात् प्रस्फुरमाणोष्ठः सुग्रीवं प्रति लक्ष्मणः ।
ददर्श वानरान् भीमान् किष्किन्धायां बहिश्चरान् ॥ १७ ॥

उस समय लक्ष्मणके ओष्ठ सुग्रीवके प्रति रोषसे फड़क रहे थे । उन्होंने किष्किन्धाके पास बहुतेरे भयंकर वानरोंको देखा, जो नगरके बाहर विचर रहे थे ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा वानराः सर्वे लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ।
शैलशृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान् ।
जगृहुः कुञ्जरप्रख्या वानराः पर्वतान्तरे ॥ १८ ॥

उन वानरोंके शरीर हाथियोंके समान विशाल थे । उन समस्त वानरोंने पुरुषप्रवर लक्ष्मणको देखते ही पर्वतके अंदर विद्यमान सैकड़ों शैल शिखर और बड़े-बड़े वृक्ष उठा लिये ॥

तान् गृहीतप्रहरणान् सर्वान् दृष्ट्वा तु लक्ष्मणः ।
बभूव द्विगुणं क्रुद्धो बह्विन्धन इवानलः ॥ १९ ॥

उन सबको हथियार उठाते देख लक्ष्मण दूने क्रोधसे जल उठे, मानो जलती आगमें बहुत-सी सूखी लकड़ियाँ डाल दी गयी हों ॥ १९ ॥

तं ते भयपरीताङ्गाः क्षुब्धं दृष्ट्वा प्लवंगमाः ।
कालमृत्युयुगान्ताभं शतशो विद्रुता दिशः ॥ २० ॥

क्षुब्ध हुए लक्ष्मण काल, मृत्यु तथा प्रलयकालीन

अग्निके समान भयंकर दिखायी देने लगे। उन्हें देखकर उन वानरोंके शरीर भयसे काँपने लगे और वे सैकड़ोंकी संख्यामें चारों दिशाओंमें भाग गये ॥ २० ॥

ततः सुग्रीवभवनं प्रविश्य हरिपुंगवाः।
क्रोधमागमनं चैव लक्ष्मणस्य न्यवेदयन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर कई श्रेष्ठ वानरोंने सुग्रीवके महलमें जाकर लक्ष्मणके आगमन और क्रोधका समाचार निवेदन किया ॥ २१ ॥

तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषस्तदा।
न तेषां कपिसिंहानां शुश्राव वचनं तदा ॥ २२ ॥

उस समय कामके अधीन हुए वानरराज सुग्रीव भोगासक्त हो ताराके साथ थे। इसलिये उन्होंने उन श्रेष्ठ वानरोंकी बातें नहीं सुनीं ॥ २२ ॥

ततः सचिवसंदिष्टा हरयो रोमहर्षणाः।
गिरिकुञ्जरमेघाभा नगरान्निर्ययुस्तदा ॥ २३ ॥

तब सचिवकी आज्ञासे पर्वत, हाथी और मेघके समान विशालकाय वानर, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाले थे, नगरसे बाहर निकले ॥ २३ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे वीरा विकृतदर्शनाः।
सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च सर्वे विवृतदर्शनाः ॥ २४ ॥

वे सब-के-सब वीर थे। नख और दाँत ही उनके आयुध थे। वे बड़े विकराल दिखायी देते थे। उन सबकी दाढ़ें व्याघ्रोंकी दाढ़ोंके समान थीं और सबके नेत्र खुले हुए थे (अथवा उन सबका वहाँ स्पष्ट दर्शन होता था—कोई छिपे नहीं थे) ॥ २४ ॥

दशनागबलाः केचित् केचिद् दशगुणोत्तराः।
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यवर्चसः ॥ २५ ॥

किन्हींमें दस हाथियोंके बराबर बल था तो कोई सौ हाथियोंके समान बलशाली थे तथा किन्हीं-किन्हींका तेज (बल और पराक्रम) एक हजार हाथियोंके तुल्य था ॥ २५ ॥

ततस्तैः कपिभिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः।
अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ॥ २६ ॥

हाथमें वृक्ष लिये उन महाबली वानरोंसे व्याप्त हुई किष्किन्धापुरी अत्यन्त दुर्जय दिखायी देती थी। लक्ष्मणने कुपित होकर उस पुरीकी ओर देखा ॥ २६ ॥

ततस्ते हरयः सर्वे प्राकारपरिखान्तरात्।
निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर वे सभी महाबली वानर पुरीकी चहारदीवारी और खाईके भीतरसे निकलकर प्रकटरूपसे सामने आकर खड़े हो गये ॥ २७ ॥

सुग्रीवस्य प्रमादं च पूर्वजस्यार्थमात्मवान्।
दृष्ट्वा क्रोधवशं वीरः पुनरेव जगाम सः ॥ २८ ॥

आत्मसंयमी वीर लक्ष्मण सुग्रीवके प्रमाद तथा अपने बड़े भाईके महत्त्वपूर्ण कार्यपर दृष्टिपात करके पुनः वानरराजके प्रति क्रोधके वशीभूत हो गये ॥ २८ ॥

स दीर्घोष्णमहोच्छ्वासः कोपसंरक्तलोचनः।
बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः ॥ २९ ॥

वे अधिक गरम और लंबी साँस खींचने लगे। उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उस समय पुरुषसिंह लक्ष्मण धूमयुक्त अग्निके समान प्रतीत हो रहे थे ॥ २९ ॥

बाणशल्यस्फुरज्जिह्वः सायकासनभोगवान्।
स्वतेजोविषसम्भूतः पञ्चास्य इव पन्नगः ॥ ३० ॥

इतना ही नहीं, वे पाँच मुखवाले सर्पके समान दिखायी देने लगे। बाणका फल ही उस सर्पकी लपलपाती हुई जिह्वा जान पड़ता था, धनुष ही उसका विशाल शरीर था तथा वे सर्परूपी लक्ष्मण अपने तेजोमय विषसे व्याप्त हो रहे थे ॥ ३० ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम्।
समासाद्याङ्गदस्त्रासाद् विषादमगमत् परम् ॥ ३१ ॥

उस अवसरपर कुमार अङ्गद प्रज्वलित प्रलयाग्नि तथा क्रोधमें भरे हुए नागराज शेषकी भाँति दृष्टिगोचर होनेवाले लक्ष्मणके पास डरते-डरते गये। वे अत्यन्त विषादमें पड़ गये थे ॥ ३१ ॥

सोऽङ्गदं रोषताम्राक्षः संदिदेश महायशाः।
सुग्रीवः कथ्यतां वत्स ममागमनमित्युत ॥ ३२ ॥
एष रामानुजः प्राप्तस्त्वत्सकाशमरिंदम।
भ्रातुर्व्यसनसंतप्तो द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः ॥ ३३ ॥
तस्य वाक्यं यदि रुचिः क्रियतां साधु वानर।
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ वत्स वाक्यमरिंदम ॥ ३४ ॥

महायशस्वी लक्ष्मणने क्रोधसे लाल आँखें करके अङ्गदको आदेश दिया—'बेटा! सुग्रीवको मेरे आनेकी सूचना दो। उनसे कहना—शत्रुदमन वीर! श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई लक्ष्मण अपने भ्राताके दुःखसे दुखी होकर आपके पास आये हैं और नगर-द्वारपर खड़े हैं। वानरराज! यदि आपकी इच्छा हो तो उनकी आज्ञाका अच्छी तरह पालन कीजिये। शत्रुदमन वत्स अङ्गद! बस, इतना ही कहकर तुम शीघ्र मेरे पास लौट आओ' ॥ ३२—३४ ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा शोकाविष्टोऽङ्गदोऽब्रवीत्।
पितुः समीपमागम्य सौमित्रिरयमागतः ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणकी बात सुनकर शोकाकुल अङ्गदने पिता सुग्रीवके समीप आकर कहा—'तात! ये सुमित्रानन्दन लक्ष्मण यहाँ पधारे हैं' ॥ ३५ ॥

अथाङ्गदस्तस्य सुतीव्रवाचा
सम्भ्रान्तभावः परिदीनवक्त्रः।

निर्गत्य पूर्वं नृपतेस्तरस्वी
ततो रुमायाश्चरणौ ववन्दे ॥ ३६ ॥

(अब इसी बातको कुछ विस्तारके साथ कहते हैं—) लक्ष्मणकी कठोर वाणीसे अङ्गदके मनमें बड़ी घबराहट हुई। उनके मुखपर अत्यन्त दीनता छा गयी। उन वेगशाली कुमारने वहाँसे निकलकर पहले वानरराज सुग्रीवके, फिर तारा तथा रुमाके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३६ ॥

संगृह्य पादौ पितुरुग्रतेजा
जग्राह मातुः पुनरेव पादौ।
पादौ रुमायाश्च निपीडयित्वा
निवेदयामास ततस्तदर्थम् ॥ ३७ ॥

उग्र तेजवाले अङ्गदने पहले तो पिताके दोनों पैर पकड़े। फिर अपनी माता ताराके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। तदनन्तर रुमाके दोनों पैर दबाये। इसके बाद पूर्वोक्त बात कही ॥ ३७ ॥

स निद्राक्लान्तसंवीतो वानरो न विबुद्धवान्।
बभूव मदमत्तश्च मदनेन च मोहितः ॥ ३८ ॥

किंतु सुग्रीव मदमत्त एवं कामसे मोहित होकर पड़े थे। निद्राने उनके ऊपर पूरा अधिकार जमा लिया था। इसलिये वे जाग न सके ॥ ३८ ॥

ततः किलकिलां चक्रुर्लक्ष्मणं प्रेक्ष्य वानराः।
प्रसादयन्तस्तं क्रुद्धं भयमोहितचेतसः ॥ ३९ ॥

इतनेमें बाहर क्रोधमें भरे हुए लक्ष्मणको देखकर भयसे मोहितचित्त हुए वानर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये दीनतासूचक वाणीमें किलकिलाने लगे ॥ ३९ ॥

ते महौघनिभं दृष्ट्वा वज्राशनिसमस्वनम्।
सिंहनादं समं चक्रुर्लक्ष्मणस्य समीपतः ॥ ४० ॥

लक्ष्मणपर दृष्टि पड़ते ही उन वानरोंने सुग्रीवके निकटवर्ती स्थानमें एक साथ ही महान् जलप्रवाह तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जोर-जोरसे सिंहनाद किया (जिससे सुग्रीव जाग उठें) ॥ ४० ॥

तेन शब्देन महता प्रत्यबुध्यत वानरः।
मदविह्वलताम्राक्षो व्याकुलः स्रग्विभूषणः ॥ ४१ ॥

वानरोंकी उस भयंकर गर्जनासे कपिराज सुग्रीवकी नींद खुल गयी। उस समय उनके नेत्र मदसे चञ्चल और लाल हो रहे थे। मन भी स्वस्थ नहीं था। उनके गलेमें सुन्दर पुष्पमाला शोभा दे रही थी ॥ ४१ ॥

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा तेनैव च समागतौ।
मन्त्रिणौ वानरेन्द्रस्य सम्मतोदारदर्शनौ ॥ ४२ ॥
प्लक्षश्चैव प्रभावश्च मन्त्रिणावर्थधर्मयोः।
वक्तुमुच्चावचं प्राप्तं लक्ष्मणं तौ शशंसतुः ॥ ४३ ॥

अङ्गदकी पूर्वोक्त बात सुनकर उन्हींके साथ आये हुए दो मन्त्री प्लक्ष और प्रभावने भी, जो वानरराजके सम्मानपात्र और उदार दृष्टिवाले थे तथा राजाको अर्थ और धर्मके विषयमें ऊँच-नीच समझानेके लिये नियुक्त थे, लक्ष्मणके आगमनकी सूचना दी ॥ ४२-४३ ॥

प्रसादयित्वा सुग्रीवं वचनैः सार्थनिश्चितैः।
आसीनं पर्युपासीनौ यथा शक्रं मरुत्पतिम् ॥ ४४ ॥
सत्यसंधौ महाभागौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
मनुष्यभावं सम्प्राप्तौ राज्यार्हौ राज्यदायिनौ ॥ ४५ ॥

राजाके निकट खड़े हुए उन दोनों मन्त्रियोंने देवराज इन्द्रके समान बैठे हुए सुग्रीवको खूब सोच-विचार कर निश्चित किये हुए सार्थक वचनोंद्वारा प्रसन्न किया और इस प्रकार कहा—'राजन्! महाभाग श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाई सत्यप्रतिज्ञ हैं। (वे वास्तवमें भगवत्स्वरूप हैं) उन्होंने स्वेच्छासे मनुष्य-शरीर धारण किया है। वे दोनों समस्त त्रिलोकीका राज्य चलानेके योग्य हैं। वे ही आपके राज्यदाता हैं ॥ ४४-४५ ॥

तयोरेको धनुष्पाणिर्द्वारि तिष्ठति लक्ष्मणः।
यस्य भीताः प्रवेपन्तो नादान् मुञ्चन्ति वानराः ॥ ४६ ॥

'उनमेंसे एक वीर लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये किष्किन्धाके दरवाजेपर खड़े हैं, जिनके भयसे काँपते हुए वानर जोर-जोरसे चीख रहे हैं ॥ ४६ ॥

स एष राघवभ्राता लक्ष्मणो वाक्यसारथिः।
व्यवसायरथः प्राप्तस्तस्य रामस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

'श्रीरामका आदेशवाक्य ही जिनका सारथि और कर्तव्यका निश्चय ही जिनका रथ है, वे लक्ष्मण श्रीरामकी आज्ञासे यहाँ पधारे हैं ॥ ४७ ॥

अयं च तनयो राजंस्ताराया दयितोऽङ्गदः।
लक्ष्मणेन सकाशं ते प्रेषितस्त्वरयानघ ॥ ४८ ॥

'राजन्! निष्पाप वानरराज! लक्ष्मणने तारादेवीके इन प्रिय पुत्र अङ्गदको आपके निकट बड़ी उतावलीके साथ भेजा है ॥ ४८ ॥

सोऽयं रोषपरीताक्षो द्वारि तिष्ठति वीर्यवान्।
वानरान् वानरपते चक्षुषा निर्दहन्निव ॥ ४९ ॥

'वानरपते! पराक्रमी लक्ष्मण क्रोधसे लाल आँखें किये नगरद्वारपर उपस्थित हैं और वानरोंकी ओर इस तरह देख रहे हैं, मानो वे अपनी नेत्राग्निसे उन्हें दग्ध कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणामं त्वं सपुत्रः सहबान्धवः।
गच्छ शीघ्रं महाराज रोषो ह्यद्योपशाम्यताम् ॥ ५० ॥

'महाराज! आप शीघ्र चलें तथा पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके साथ उनके चरणोंमें मस्तक नवावें और इस प्रकार आज उनका रोष शान्त करें ॥ ५० ॥

यथा हि रामो धर्मात्मा तत्कुरुष्व समाहितः।

राजंस्तिष्ठ स्वसमये भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ५१ ॥

'राजन्! धर्मात्मा श्रीराम जैसा कहते हैं, सावधानी-के साथ उसका पालन कीजिये। आप अपनी दी हुई बात पर अटल रहिये और सत्यप्रतिज्ञ बनिये' ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका चिन्तित हुए सुग्रीवको समझाना

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सुग्रीवः सचिवैः सह।
लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा मुमोचासनमात्मवान् ॥ १ ॥

मन्त्रियोंसहित अङ्गदका वचन सुनकर और लक्ष्मणके कुपित होनेका समाचार पाकर मनको वशमें रखनेवाले सुग्रीव आसन छोड़कर खड़े हो गये ॥ १ ॥

स च तानब्रवीद् वाक्यं निश्चित्य गुरुलाघवम्।
मन्त्रज्ञान् मन्त्रकुशलो मन्त्रेषु परिनिष्ठितः ॥ २ ॥

वे मन्त्रणा (कर्तव्यविषयक विचार) के परिनिष्ठित विद्वान् होनेके कारण मन्त्रप्रयोगमें अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीकी महत्ता और अपनी लघुताका विचार करके मन्त्रज्ञ मन्त्रियोंसे कहा—॥ २ ॥

न मे दुर्व्याहृतं किंचिन्नापि मे दुरनुष्ठितम्।
लक्ष्मणो राघवभ्राता क्रुद्धः किमिति चिन्तये ॥ ३ ॥

'मैंने न तो कोई अनुचित बात मुँहसे निकाली है और न कोई बुरा काम ही किया है। फिर श्रीरघुनाथजीके भ्राता लक्ष्मण मुझपर कुपित क्यों हुए हैं? इस बातपर मैं बारंबार विचार करता हूँ ॥ ३ ॥

असुहृद्भिर्ममामित्रैर्नित्यमन्तरदर्शिभिः।
मम दोषानसम्भूतान्श्रावितो राघवानुजः ॥ ४ ॥

'जो सदा मेरे छिद्र देखनेवाले हैं तथा जिनका हृदय मेरे प्रति शुद्ध नहीं है, उन शत्रुओंने निश्चय ही श्रीरामचन्द्र-जीके छोटे भाई लक्ष्मणसे मेरे ऐसे दोष सुनाये हैं जो मेरे भीतर कभी प्रकट नहीं हुए थे ॥ ४ ॥

अत्र तावद् यथाबुद्धिः सर्वैरेव यथाविधि।
भावस्य निश्चयस्तावद् विज्ञेयो निपुणं शनैः ॥ ५ ॥

'लक्ष्मणके कोपके विषयमें पहले तुम सब लोगोंको धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उनके मनोभावका विधिवत् निश्चय कर लेना चाहिये, जिससे उनके कोपके कारणका यथार्थरूपसे ज्ञान हो जाय ॥ ५ ॥

न खल्वस्ति मम त्रासो लक्ष्मणान्नापि राघवात्।
मित्रं स्वस्थानकुपितं जनयत्येव सम्भ्रमम् ॥ ६ ॥

'अवश्य ही मुझे लक्ष्मणसे तथा श्रीरघुनाथजीसे कोई भय नहीं है, तथापि बिना अपराधके कुपित हुआ मित्र हृदयमें घबराहट उत्पन्न कर ही देता है ॥ ६ ॥

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं प्रतिपालनम्।
अनित्यत्वात् तु चित्तानां प्रीतिरल्पेऽपि भिद्यते ॥ ७ ॥

'किसीको मित्र बना लेना सर्वथा सुकर है, परंतु उस मैत्रीको पालना या निभाना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मनका भाव सदा एक-सा नहीं रहता। किसीके द्वारा थोड़ी-सी भी चुगली कर दी जानेपर प्रेममें अन्तर आ जाता है ॥ ७ ॥

अतो निमित्तं त्रस्तोऽहं रामेण तु महात्मना।
यन्ममोपकृतं शक्यं प्रतिकर्तुं न तन्मया ॥ ८ ॥

'इसी कारण मैं और भी डर गया हूँ; क्योंकि महात्मा श्रीरामने मेरा जो उपकार किया है, उसका बदला चुकानेकी मुझमें शक्ति नहीं है' ॥ ८ ॥

सुग्रीवेणैवमुक्ते तु हनूमान् हरिपुंगवः।
उवाच स्वेन तर्केण मध्ये वानरमन्त्रिणाम् ॥ ९ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर वानरोंमें श्रेष्ठ हनुमान्‌जी अपनी युक्तिका सहारा लेकर वानरमन्त्रियोंके बीचमें बोले—॥ ९ ॥

सर्वथा नैतदाश्चर्यं यत् त्वं हरिगणेश्वर।
न विस्मरसि सुस्निग्धमुपकारं कृतं शुभम् ॥ १० ॥

'कपिराज! मित्रके द्वारा अत्यन्त स्नेहपूर्वक किये गये उत्तम उपकारको जो आप भूल नहीं रहे हैं, इसमें सर्वथा कोई आश्चर्यकी बात नहीं है (क्योंकि अच्छे पुरुषोंका ऐसा स्वभाव ही होता है) ॥ १० ॥

राघवेण तु वीरेण भयमुत्सृज्य दूरतः।
त्वत्प्रियार्थं हतो वाली शक्रतुल्यपराक्रमः ॥ ११ ॥
सर्वथा प्रणयात् क्रुद्धो राघवो नात्र संशयः।
भ्रातरं सम्प्रहितवाँल्लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १२ ॥

'वीरवर श्रीरघुनाथजीने तो लोकापवादके भयको दूर हटाकर आपका प्रिय करनेके लिये इन्द्रतुल्य पराक्रमी वालीका वध किया है; अतः वे निःसंदेह आपपर कुपित नहीं हैं। श्रीरामचन्द्रजीने शोभा-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले अपने भाई लक्ष्मणको जो आपके पास भेजा है, इसमें सर्वथा आपके प्रति उनका प्रेम ही कारण है ॥ ११-१२ ॥

त्वं प्रमत्तो न जानीषे कालं कालविदां वर।
फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छुभा ॥ १३ ॥

'समयका ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ कपिराज ! आपने सीताकी खोज करनेके लिये जो समय निश्चित किया था, उसे आप इन दिनों प्रमादमें पड़ जानेके कारण भूल गये हैं। देखिये न, यह सुन्दर शरद्-ऋतु आरम्भ हो गयी है, जो खिले हुए छितवनके फूलोंसे श्यामवर्णकी प्रतीत होती है ॥

निर्मलग्रहनक्षत्रा द्यौः प्रणष्टबलाहका।
प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च ॥ १४ ॥

'आकाशमें अब बादल नहीं रहे। ग्रह, नक्षत्र निर्मल दिखायी देते हैं। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश छा गया है तथा नदियों और सरोवरोंके जल पूर्णतः स्वच्छ हो गये हैं ॥ १४ ॥

प्राप्तमुद्योगकालं तु नावैषि हरिपुंगव।
त्वं प्रमत्त इति व्यक्तं लक्ष्मणोऽयमिहागतः ॥ १५ ॥

'वानरराज ! राजाओंके लिये विजय-यात्राकी तैयारी करनेका समय आ गया है; किंतु आपको कुछ पता ही नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आप प्रमादमें पड़ गये हैं। इसीलिये लक्ष्मण यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

आर्तस्य हृतदारस्य परुषं पुरुषान्तरात्।
वचनं मर्षणीयं ते राघवस्य महात्मनः ॥ १६ ॥

'महात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नीका अपहरण हुआ है, इसलिये वे बहुत दुखी हैं। अतः यदि लक्ष्मणके मुखसे उनका कठोर वचन भी सुनना पड़े तो आपको चुपचाप सह लेना चाहिये ॥ १६ ॥

कृतापराधस्य हि ते नान्यत् पश्याम्यहं क्षमम्।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा लक्ष्मणस्य प्रसादनात् ॥ १७ ॥

आपकी ओरसे अपराध हुआ है। अतः हाथ जोड़कर लक्ष्मणको प्रसन्न करनेके सिवा आपके लिये और कोई उचित कर्तव्य मैं नहीं देखता ॥ १७ ॥

नियुक्तैर्मन्त्रिभिर्वाच्यो ह्यवश्यं पार्थिवो हितम्।
इत एव भयं त्यक्त्वा ब्रवीम्यवधृतं वचः ॥ १८ ॥

'राज्यकी भलाईके कामपर नियुक्त हुए मन्त्रियोंका यह कर्तव्य है कि राजाको उसके हितकी बात अवश्य बतावें। अतएव मैं भय छोड़कर अपना निश्चित विचार बता रहा हूँ ॥ १८ ॥

अभिक्रुद्धः समर्थो हि चापमुद्यम्य राघवः।
सदेवासुरगन्धर्वं वशे स्थापयितुं जगत् ॥ १९ ॥

'भगवान् श्रीराम यदि क्रोध करके धनुष हाथमें ले लें तो देवता-असुर-गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को अपने वशमें कर सकते हैं ॥ १९ ॥

न स क्षमः कोपयितुं यः प्रसाद्यः पुनर्भवेत्।
पूर्वोपकारं स्मरता कृतज्ञेन विशेषतः ॥ २० ॥

'जिसे पीछे हाथ जोड़कर मनाना पड़े, ऐसे पुरुषको क्रोध दिलाना कदापि उचित नहीं है। विशेषतः वह पुरुष जो मित्रके किये हुए पहले उपकारको याद रखता हो और कृतज्ञ हो, इस बातका अधिक ध्यान रखे ॥ २० ॥

तस्य मूर्ध्ना प्रणम्य त्वं सपुत्रः ससुहृज्जनः।
राजंस्तिष्ठ स्वसमये भर्तुर्भार्येव तद्वशे ॥ २१ ॥

'राजन् ! इसलिये आप पुत्र और मित्रोंके साथ मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम कीजिये और अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहिये। जैसे पत्नी अपने पतिके वशमें रहती है, उसी प्रकार आप सदा श्रीरामचन्द्रजीके अधीन रहिये ॥ २१ ॥

न रामरामानुजशासनं त्वया
कपीन्द्र युक्तं मनसाप्यपोहितुम्।
मनो हि ते ज्ञास्यति मानुषं बलं
सराघवस्यास्य सुरेन्द्रवर्चसः ॥ २२ ॥

'वानरराज ! श्रीराम और लक्ष्मणके आदेशकी आपको मनसे भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीके अलौकिक बलका ज्ञान तो आपके मनको है ही' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

लक्ष्मणका किष्किन्धापुरीकी शोभा देखते हुए सुग्रीवके महलमें प्रवेश करके क्रोधपूर्वक धनुषको टंकारना, भयभीत सुग्रीवका ताराको उन्हें शान्त करनेके लिये भेजना तथा ताराका समझा-बुझाकर उन्हें अन्तःपुरमें ले आना

अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः परवीरहा।
प्रविवेश गुहां रम्यां किष्किन्धां रामशासनात् ॥ १ ॥

इधर गुफामें प्रवेश करनेके लिये अङ्गदके प्रार्थना करनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार किष्किन्धानामक रमणीय गुफामें प्रवेश किया ॥ १ ॥

द्वारस्था हरयस्तत्र महाकाया महाबलाः।
बभूवुर्लक्ष्मणं दृष्ट्वा सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ॥ २ ॥

किष्किन्धाके द्वारपर जो विशाल शरीरवाले महाबली वानर थे, वे सब लक्ष्मणको देख हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २ ॥

निःश्वसन्तं तु तं दृष्ट्वा क्रुद्धं दशरथात्मजम्।
बभूवुर्हरयस्त्रस्ता न चैनं पर्यवारयन्॥ ३॥

दशरथनन्दन लक्ष्मणको क्रोधपूर्वक लंबी साँस खींचते देख वे सब वानर अत्यन्त भयभीत हो गये थे। इसलिये वे उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ नहीं चल सके॥३॥

स तां रत्नमयीं दिव्यां श्रीमान् पुष्पितकाननाम्।
रम्यां रत्नसमाकीर्णां ददर्श महतीं गुहाम्॥ ४॥

श्रीमान् लक्ष्मणने द्वारके भीतर प्रवेश करके देखा, किष्किन्धापुरी एक बहुत बड़ी रमणीय गुफाके रूपमें बसी हुई है। वह रत्नमयी पुरी नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी होनेके कारण दिव्य शोभासे सम्पन्न है। वहाँके वन-उपवन फूलोंसे सुशोभित दिखायी दिये॥ ४॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानारत्नोपशोभिताम्।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम्॥ ५॥

हर्म्यों (धनियोंकी अट्टालिकाओं) तथा प्रासादों (देवमन्दिरों और राजभवनों) से वह पुरी अत्यन्त घनी दिखायी देती थी। नाना प्रकारके रत्न उसकी शोभा बढ़ाते थे। सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त खिले हुए वृक्षोंसे वह पुरी सुशोभित थी॥ ५॥

देवगन्धर्वपुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः।
दिव्यमाल्याम्बरधरैः शोभितां प्रियदर्शनैः॥ ६॥

वहाँ दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करनेवाले परम सुन्दर वानर, जो देवताओं और गन्धर्वोंके पुत्र तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे, निवास करते हुए उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे॥ ६॥

चन्दनागुरुपद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिताम्।
मैरेयाणां मधूनां च सम्मोदितमहापथाम्॥ ७॥

वहाँ चन्दन, अगर और कमलोंकी मनोहर सुगन्ध छा रही थी। उस पुरीकी लंबी-चौड़ी सड़कें भी मैरेय तथा मधुके आमोदसे महक रही थीं॥ ७॥

विन्ध्यमेरुगिरिप्रख्यैः प्रासादैर्नैकभूमिभिः।
ददर्श गिरिनद्यश्च विमलास्तत्र राघवः॥ ८॥

उस पुरीमें विन्ध्याचल तथा मेरुके समान ऊँचे-ऊँचे महल बने थे, जो कई मंजिलके थे। लक्ष्मणने उस गुफाके निकट ही निर्मल जलसे भरी हुई पहाड़ी नदियाँ देखीं॥ ८॥

अङ्गदस्य गृहं रम्यं मैन्दस्य द्विविदस्य च।
गवयस्य गवाक्षस्य गजस्य शरभस्य च॥ ९॥
विद्युन्मालेश्च सम्पातेः सूर्याक्षस्य हनूमतः।
वीरबाहोः सुबाहोश्च नलस्य च महात्मनः॥ १०॥
कुमुदस्य सुषेणस्य तारजाम्बवतोस्तथा।
दधिवक्त्रस्य नीलस्य सुपाटलसुनेत्रयोः॥ ११॥
एतेषां कपिमुख्यानां राजमार्गे महात्मनाम्।
ददर्श गृहमुख्यानि महासाराणि लक्ष्मणः॥ १२॥

उन्होंने राजमार्गपर अङ्गदका रमणीय भवन देखा। साथ ही वहाँ मैन्द, द्विविद, गवय, गवाक्ष, गज, शरभ, विद्युन्माली, सम्पाति, सूर्याक्ष, हनुमान्, वीरबाहु, सुबाहु, महात्मा नल, कुमुद, सुषेण, तार, जाम्बवान्, दधिमुख, नील, सुपाटल और सुनेत्र—इन महामनस्वी वानरशिरोमणियोंके भी अत्यन्त सुदृढ़ श्रेष्ठ भवन लक्ष्मणको दृष्टिगोचर हुए। वे सब-के-सब राजमार्गपर ही बने हुए थे॥ ९–१२॥

पाण्डुराभ्रप्रकाशानि गन्धमाल्ययुतानि च।
प्रभूतधनधान्यानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च॥ १३॥

वे सभी भवन श्वेत बादलोंके समान प्रकाशित हो रहे थे। उन्हें सुगन्धित पुष्पमालाओंसे सजाया गया था। वे प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न तथा रत्नस्वरूपा रमणियोंसे सुशोभित थे॥ १३॥

पाण्डुरेण तु शैलेन परिक्षिप्तं दुरासदम्।
वानरेन्द्रगृहं रम्यं महेन्द्रसदनोपमम्॥ १४॥

वानरराज सुग्रीवका सुन्दर भवन इन्द्रसदनके समान रमणीय दिखायी देता था। उसमें प्रवेश करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था। वह श्वेत पर्वतकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ था॥ १४॥

शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः।
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभितम्॥ १५॥

कैलास-शिखरके समान श्वेत प्रासाद-शिखर तथा समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले फलोंसे युक्त पुष्पित दिव्य वृक्ष उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे॥ १५॥

महेन्द्रदत्तैः श्रीमद्भिर्नीलजीमूतसंनिभैः।
दिव्यपुष्पफलैर्वृक्षैः शीतच्छायैर्मनोरमैः॥ १६॥

वहाँ इन्द्रके दिये हुए दिव्य फल-फूलोंसे सम्पन्न मनोरम वृक्ष लगाये गये थे, जो परम सुन्दर, नीले मेघके समान श्याम तथा शीतल छायासे युक्त थे॥ १६॥

हरिभिः संवृतद्वारं बलिभिः शस्त्रपाणिभिः।
दिव्यमाल्यावृतं शुभ्रं तप्तकाञ्चनतोरणम्॥ १७॥

अनेक बलवान् वानर हाथोंमें हथियार लिये उसकी ड्योढ़ीपर पहरा दे रहे थे। वह सुन्दर महल दिव्य मालाओंसे अलंकृत था और उसका बाहरी फाटक पक्के सोनेका बना हुआ था॥ १७॥

सुग्रीवस्य गृहं रम्यं प्रविवेश महाबलः।
अवार्यमाणः सौमित्रिर्महाभ्रमिव भास्करः॥ १८॥

महाबली सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सुग्रीवके उस रमणीय भवनमें प्रवेश किया। मानो सूर्यदेव महान् मेघके भीतर प्रविष्ट हुए हों। उस समय किसीने रोक-टोक नहीं की॥१८॥

स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा यानासनसमावृताः।
ददर्श सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत्॥ १९॥

धर्मात्मा लक्ष्मणने सवारियों तथा विविध आसनोंसे सुशोभित उस भवनकी सात ड्योढ़ियोंको पार करके बहुत ही गुप्त और विशाल अन्तःपुरको देखा ॥ १९ ॥

हैमराजतपर्यङ्कैर्बहुभिश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैस्तत्र तत्र समावृतम् ॥ २० ॥

उसमें जहाँ-तहाँ चाँदी और सोनेके बहुत-से पलंग तथा अनेकानेक श्रेष्ठ आसन रक्खे हुए थे और उन सबपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे। उन सबसे वह अन्तःपुर सुसज्जित दिखायी देता था ॥ २० ॥

प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वनम् ।
तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालपदाक्षरम् ॥ २१ ॥

उसमें प्रवेश करते ही लक्ष्मणके कानोंमें संगीतकी मीठी तान सुनायी पड़ी, जो वहाँ निरन्तर गूँज रही थी। वीणाके लयपर कोई कोमल कण्ठसे गा रहा था। प्रत्येक पद और अक्षरका उच्चारण सम[१] तालका प्रदर्शन करते हुए हो रहा था ॥ २१ ॥

बह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः ।
स्त्रियः सुग्रीवभवने ददर्श स महाबलः ॥ २२ ॥

महाबली लक्ष्मणने सुग्रीवके उस अन्तःपुरमें अनेक रूप-रंगकी बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ देखीं, जो रूप और यौवनके गर्वसे भरी हुई थीं ॥ २२ ॥

दृष्ट्वाभिजनसम्पन्नास्तत्र माल्यकृतस्रजः ।
वरमाल्यकृतव्यग्रा भूषणोत्तमभूषिताः ॥ २३ ॥
नातृप्तान् नातिचाव्यग्रान् नानुदात्तपरिच्छदान् ।
सुग्रीवानुचरांश्चापि लक्षयामास लक्ष्मणः ॥ २४ ॥

वे सब-की-सब उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई थीं, फूलोंके गजरोंसे अलंकृत थीं, उत्तम पुष्पहारोंके निर्माणमें लगी हुई थीं और सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित थीं। उन सबको देखकर लक्ष्मणने सुग्रीवके सेवकोंपर भी दृष्टिपात किया, जो अतृप्त या असंतुष्ट नहीं थे। स्वामीके कार्य सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त फुर्तीकी भी उनमें कमी नहीं थी तथा उनके वस्त्र और आभूषण भी निम्न श्रेणीके नहीं थे ॥ २३-२४ ॥

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निःस्वनं तथा ।
स निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत् ॥ २५ ॥

नूपुरोंकी झनकार और करधनीकी खनखनाहट सुनकर श्रीमान् सुमित्राकुमार लज्जित हो गये (परायी स्त्रियोंपर दृष्टि पड़नेके कारण उन्हें स्वभावतः संकोच हुआ) ॥ २५ ॥

रोषवेगप्रकुपितः श्रुत्वा चाभरणस्वनम् ।
चकार ज्यास्वनं वीरो दिशः शब्देन पूरयन् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् पुनः आभूषणोंकी झनकार सुनकर वीर लक्ष्मण रोषके आवेगसे और भी कुपित हो उठे और उन्होंने अपने धनुषपर टंकार दी, जिसकी ध्वनिसे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं ॥ २६ ॥

चारित्रेण महाबाहुरपकृष्टः स लक्ष्मणः ।
तस्थावेकान्तमाश्रित्य रामकोपसमन्वितः ॥ २७ ॥

रघुकुलोचित सदाचारका खयाल करके महाबाहु लक्ष्मण कुछ पीछे हट गये और एकान्तमें जाकर खड़े हो गये। श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ कोई प्रयत्न होता न देख वे मन-ही-मन कुपित हो रहे थे ॥ २७ ॥

तेन चापस्वनेनाथ सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
विज्ञायागमनं त्रस्तः स चचाल वरासनात् ॥ २८ ॥

धनुषकी टंकार सुनकर वानरराज सुग्रीव समझ गये कि लक्ष्मण यहाँतक आ पहुँचे हैं। फिर तो वे भयसे संत्रस्त होकर अपना सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये ॥ २८ ॥

अङ्गदेन यथा मह्यं पुरस्तात् प्रतिवेदितम् ।
सुव्यक्तमेष सम्प्राप्तः सौमित्रिर्भ्रातृवत्सलः ॥ २९ ॥

वे मन-ही-मन सोचने लगे कि अङ्गदने पहले मुझे जैसा बताया था, उसके अनुसार ये भ्रातृवत्सल सुमित्राकुमार लक्ष्मण अवश्य ही यहाँ आ गये ॥ २९ ॥

अङ्गदेन समाख्यातो ज्यास्वनेन च वानरः ।
बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्य व्यशुष्यत ॥ ३० ॥

अङ्गदके द्वारा उनके आगमनका समाचार तो उन्हें पहले ही मिल गया था। अब धनुषकी टंकारसे वानर सुग्रीवको इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया कि लक्ष्मणने अवश्य यहाँ पदार्पण किया है फिर तो उनका मुख सूख गया ॥ ३० ॥

ततस्तारां हरिश्रेष्ठः सुग्रीवः प्रियदर्शनाम् ।
उवाच हितमव्यग्रस्त्राससम्भ्रान्तमानसः ॥ ३१ ॥

भयके कारण वे मन-ही-मन घबरा उठे। (लक्ष्मणके सामने जानेका उन्हें साहस न हुआ।) तथापि किसी तरह धैर्य धारण करके वानरश्रेष्ठ सुग्रीव परम सुन्दरी तारासे हितकी बात बोले—॥ ३१ ॥

किं नु रुट्कारणं सुभ्रु प्रकृत्या मृदुमानसः ।
सरोष इव सम्प्राप्तो येनायं राघवानुजः ॥ ३२ ॥

'सुन्दरी ! इनके रोषका क्या कारण हो सकता है ? जिससे स्वभावतः कोमल चित्त होनेपर भी ये श्रीरघुनाथजीके छोटे भाई रुष्ट-से होकर यहाँ पधारे हैं ॥ ३२ ॥

---

१. संगीतमें वह स्थान जहाँ गाने-बजानेवालोंका सिर या हाथ आप-से-आप हिल जाता है। यह स्थान तालके अनुसार निश्चित होता है। जैसे तितालेमें दूसरे तालपर और चौतालमें पहले तालपर सम होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न तालोंमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर सम होता है। वाद्योंका आरम्भ और गीतों तथा वाद्योंका अन्त इसी समपर होता है। परंतु गाने-बजानेके बीच-बीचमें भी सम बराबर आता रहता है।

किं पश्यसि कुमारस्य रोषस्थानमनिन्दिते।
न खल्वकारणे कोपमाहरेन्नरपुंगवः ॥ ३३ ॥

'अनिन्दिते! तुम्हारे देखनेमें कुमार लक्ष्मणके रोषका आधार क्या है? ये मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं। अतः बिना किसी कारणके निश्चय ही क्रोध नहीं कर सकते ॥ ३३ ॥

यद्यस्य कृतमस्माभिर्बुध्यसे किंचिदप्रियम्।
तद् बुद्ध्या सम्प्रधार्याशु क्षिप्रमेवाभिधीयताम् ॥ ३४ ॥

'यदि हमलोगोंने इनका कोई अपराध किया हो और तुम्हें उसका पता हो तो अपनी बुद्धिसे विचारकर शीघ्र ही बताओ ॥ ३४ ॥

अथवा स्वयमेवैनं द्रष्टुमर्हसि भामिनि।
वचनैः सान्त्वयुक्तैश्च प्रसादयितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

'अथवा भामिनि! तुम स्वयं ही जाकर लक्ष्मणको देखो और सान्त्वनायुक्त बातें कहकर उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करो ॥ ३५ ॥

त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम्॥ ३६ ॥

'उनका हृदय शुद्ध है। तुम्हारे सामने वे क्रोध नहीं करेंगे; क्योंकि महात्मा पुरुष स्त्रियोंके प्रति कभी कठोर बर्ताव नहीं करते हैं ॥ ३६ ॥

त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम्।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिंदमम् ॥ ३७ ॥

'जब तुम उनके पास जाकर मीठे वचनोंसे उन्हें शान्त कर दोगी और जब उनका मन स्वस्थ एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जायँगी, उस समय मैं उन शत्रुदमन कमलनयन लक्ष्मणका दर्शन करूँगा' ॥ ३७ ॥

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा।
सलक्षणा लक्ष्मणसंनिधानं
जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः ॥ ३८ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर शुभलक्षणा तारा लक्ष्मणके पास गयी। उसका पतला शरीर स्वाभाविक संकोच एवं विनयसे झुका हुआ था। उसके नेत्र मदसे चञ्चल हो रहे थे, पैर लड़खड़ा रहे थे और उसकी करधनीके सुवर्णमय सूत्र लटक रहे थे ॥ ३८ ॥

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं
तस्थावुदासीनतया महात्मा।
अवाङ्मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः
स्त्रीसंनिकर्षाद् विनिवृत्तकोपः ॥ ३९ ॥

वानरराजकी पत्नी तारापर दृष्टि पड़ते ही राजकुमार महात्मा लक्ष्मण अपना मुँह नीचा करके उदासीन भावसे खड़े हो गये। स्त्रीके समीप होनेसे उनका क्रोध दूर हो गया ॥ ३९ ॥

सा पानयोगाच्च निवृत्तलज्जा
दृष्टिप्रसादाच्च नरेन्द्रसूनोः।
उवाच तारा प्रणयप्रगल्भं
वाक्यं महार्थं परिसान्त्वरूपम् ॥ ४० ॥

मधुपानके कारण ताराकी नारीसुलभ लज्जा निवृत्त हो गयी थी। उसे राजकुमार लक्ष्मणकी दृष्टिमें कुछ प्रसन्नता का आभास मिला। इसलिये उसने स्नेहजनित निर्भीकताके साथ महान् अर्थसे युक्त यह सान्त्वनापूर्ण बात कही—॥ ४० ॥

किं कोपमूलं मनुजेन्द्रपुत्र
कस्ते न संतिष्ठति वाङ्निदेशे।
कः शुष्कवृक्षं वनमापतन्तं
दावाग्निमासीदति निर्विशङ्कः ॥ ४१ ॥

'राजकुमार! आपके क्रोधका क्या कारण है? कौन आपकी आज्ञाके अधीन नहीं है? कौन निडर होकर सूखे वृक्षोंसे भरे हुए वनके भीतर चारों ओर फैलते हुए दावानलमें प्रवेश कर रहा है?' ॥ ४१ ॥

स तस्या वचनं श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमशङ्कितः।
भूयः प्रणयदृष्टार्थं लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

ताराके इस वचनमें सान्त्वना भरी थी। उसमें अधिक प्रेमपूर्वक हृदयका भाव प्रकट किया गया था। उसे सुनकर लक्ष्मणके हृदयकी आशङ्का जाती रही। वे कहने लगे—॥ ४२ ॥

किमयं कामवृत्तस्ते लुप्तधर्मार्थसंग्रहः।
भर्ता भर्तृहिते युक्ते न चैनमवबुध्यसे ॥ ४३ ॥

'अपने स्वामीके हितमें संलग्न रहनेवाली तारा! तुम्हारा यह पति विषय-भोगमें आसक्त होकर धर्म और अर्थके संग्रहका लोप कर रहा है। क्या तुम्हें इसकी इस अवस्थाका पता नहीं है? तुम इसे समझाती क्यों नहीं? ॥ ४३ ॥

न चिन्तयति राज्यार्थं सोऽस्माञ्शोकपरायणान्।
सामात्यपरिषत् तारे काममेवोपसेवते ॥ ४४ ॥

'तारे! सुग्रीव अपने राज्यकी स्थिरताके लिये ही प्रयास करता है। हमलोग शोकमें डूबे हुए हैं, परंतु हमारी इसे तनिक भी चिन्ता नहीं होती है। यह अपने मन्त्रियों तथा राज-सभाके सदस्योंसहित केवल विषय-भोगोंका ही सेवन कर रहा है ॥ ४४ ॥

स मासांश्चतुरः कृत्वा प्रमाणं प्लवगेश्वरः।
व्यतीतांस्तान् मदोदग्रो विहरन् नावबुध्यते ॥ ४५ ॥

'वानरराज सुग्रीवने चार महीनोंकी अवधि निश्चित की थी। वे कभी बीत गये, परंतु वह मधुपानके मदसे अत्यन्त उन्मत्त होकर स्त्रियोंके साथ क्रीडा-विहार कर रहा है। उसे बीते हुए समयका पता ही नहीं है ॥ ४५ ॥

नहि धर्मार्थसिद्ध्यर्थं पानमेवं प्रशस्यते।

पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते ॥ ४६ ॥

'धर्म और अर्थकी सिद्धिके निमित्त प्रयत्न करनेवाले पुरुषके लिये इस तरह मद्यपान अच्छा नहीं माना जाता है; क्योंकि मद्यपानसे अर्थ, धर्म और काम—तीनोंका नाश होता है ॥ ४६ ॥

धर्मलोपो महांस्तावत् कृते ह्यप्रतिकुर्वतः ।
अर्थलोपश्च मित्रस्य नाशे गुणवतो महान् ॥ ४७ ॥

'मित्रके किये हुए उपकारका यदि अवसर आनेपर भी बदला न चुकाया जाय तो धर्मकी हानि तो होती ही है। गुणवान् मित्रके साथ मित्रताका नाता टूट जानेपर अपने अर्थकी भी बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती है ॥ ४७ ॥

मित्रं ह्यर्थगुणश्रेष्ठं सत्यधर्मपरायणम् ।
तद्द्वयं तु परित्यक्तं न तु धर्मे व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥

'मित्र दो प्रकारके होते हैं—एक तो अपने मित्रके अर्थसाधनमें तत्पर होता है और दूसरा सत्य एवं धर्मके ही आश्रित रहता है। तुम्हारे स्वामीने मित्रके दोनों ही गुणोंका परित्याग कर दिया है। वह न तो मित्रका कार्य सिद्ध करता है और न स्वयं ही धर्ममें स्थित है ॥ ४८ ॥

तदेवं प्रस्तुते कार्ये कार्यमस्माभिरुत्तरम् ।
तत् कार्यं कार्यतत्त्वज्ञे त्वमुदाहर्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥

'ऐसी स्थितिमें प्रस्तुत कार्यकी सिद्धिके लिये हमलोगोंको भविष्यमें क्या करना चाहिये ? हमारे लिये जो समुचित कर्तव्य हो, उसे तुम्हीं बताओ; क्योंकि तुम कार्यके तत्त्वको जानती हो' ॥ ४९ ॥

सा तस्य धर्मार्थसमाधियुक्तं
निशम्य वाक्यं मधुरस्वभावम् ।
तारा गतार्थे मनुजेन्द्रकार्ये
विश्वासयुक्तं तमुवाच भूयः ॥ ५० ॥

लक्ष्मणका वचन धर्म और अर्थके निश्चयसे संयुक्त था। उससे उनके मधुर स्वभावका परिचय मिल रहा था। उसे सुनकर तारा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके कार्यके विषयमें, जिसका प्रयोजन उसे ज्ञात हो चुका था, पुनः लक्ष्मणसे विश्वासके योग्य बात बोली—॥ ५० ॥

न कोपकालः क्षितिपालपुत्र
न चापि कोपः स्वजने विधेयः ।
त्वदर्थकामस्य जनस्य तस्य
प्रमादमप्यर्हसि वीर सोढुम् ॥ ५१ ॥

'वीर राजकुमार ! यह क्रोध करनेका समय नहीं है। आत्मीय जनोंपर क्रोध करना भी नहीं चाहिये। सुग्रीवके मनमें सदा आपका कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा बनी रहती है। अतः यदि उनसे कोई भूल भी हो जाय तो उसे आपको क्षमा करना चाहिये ॥ ५१ ॥

कोपं कथं नाम गुणप्रकृष्टः
कुमार कुर्यादपकृष्टसत्त्वे ।
कस्त्वद्विधः कोपवशं हि गच्छेत्
सत्त्वावरुद्धस्तपसः प्रसूतिः ॥ ५२ ॥

'कुमार ! गुणोंमें श्रेष्ठ पुरुष किसी हीन गुणवाले प्राणीपर क्रोध कैसे कर सकता है ? जो सत्त्वगुणसे अवरुद्ध होनेके कारण शास्त्र-विपरीत व्यापारमें लग नहीं सकता, अतएव जो सद्विचारको जन्म देनेवाला है, वह आप-जैसा कौन पुरुष क्रोधके वशीभूत हो सकता है ? ॥ ५२ ॥

जानामि कोपं हरिवीरबन्धो-
र्जानामि कार्यस्य च कालसङ्गम् ।
जानामि कार्यं त्वयि यत्कृतं न-
स्तच्चापि जानामि यदत्र कार्यम् ॥ ५३ ॥

'वानरवीर सुग्रीवके मित्र भगवान् श्रीरामके क्रोधका कारण मैं जानती हूँ। उनके कार्यमें जो विलम्ब हुआ है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। सुग्रीवका जो कार्य आपके अधीन था और जिसे आपलोगोंने पूरा किया है, उसका भी मुझे पता है तथा इस समय जो आपका कार्य प्रस्तुत है, उसके विषयमें हमलोगोंका क्या कर्तव्य है, इसका भी मुझे अच्छी तरह ज्ञान है ॥ ५३ ॥

तच्चापि जानामि तथाविषह्यं
बलं नरश्रेष्ठ शरीरजस्य ।
जानामि यस्मिंश्च जनेऽवबद्धं
कामेन सुग्रीवमसक्तमद्य ॥ ५४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इस शरीरमें उत्पन्न हुए कामका जो असह्य बल है, उसको भी मैं जानती हूँ तथा उस कामद्वारा आबद्ध होकर सुग्रीव जहाँ आसक्त हो रहे हैं, वह भी मुझे मालूम है। साथ ही इस बातसे भी मैं परिचित हूँ कि कामासक्तिके कारण ही इन दिनों सुग्रीवका मन दूसरे किसी काममें नहीं लगता ॥ ५४ ॥

न कामतन्त्रे तव बुद्धिरस्ति
त्वं वै यथा मन्युवशं प्रपन्नः ।
न देशकालौ हि यथार्थधर्मा-
ववेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ॥ ५५ ॥

'आप जो क्रोधके वशीभूत हो गये हैं, इससे जान पड़ता है कि कामके अधीन हुए पुरुषकी स्थितिका आपको बिल्कुल ज्ञान नहीं है, वानरकी तो बात ही क्या है ? कामासक्त मनुष्यको भी देश, काल, अर्थ और धर्मका ज्ञान नहीं रह जाता—उनकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती है॥५५॥

तं कामवृत्तं मम संनिकृष्टं
कामाभियोगाच्च विमुक्तलज्जम् ।
क्षमस्व तावत् परवीरहन्त-
स्त्वद्भ्रातरं वानरवंशनाथम् ॥ ५६ ॥

'विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले राजकुमार! वानरराज सुग्रीव विषय-भोगमें आसक्त होकर इस समय मेरे ही पास थे। कामके आवेशमें उन्होंने अपनी लज्जाका परित्याग कर दिया है, तो भी उन्हें अपना भाई समझकर क्षमा कीजिये ॥ ५६ ॥

महर्षयो धर्मतपोऽभिरामाः
कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः।
अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु
कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥ ५७ ॥

'जो निरन्तर धर्म और तपस्यामें ही संलग्न रहते हैं, जिन्होंने मोहको अवरुद्ध कर दिया है—अविवेकको दूर भगा दिया है, वे महर्षि भी कभी-कभी विषयाभिलाषी हो जाते हैं; फिर जो स्वभावसे ही चञ्चल वानर हैं, वह राजा सुग्रीव सुख-भोगमें क्यों न आसक्त हों?' ॥ ५७ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महार्थं
सा वानरी लक्ष्मणमप्रमेयम्।
पुनः सखेदं मदविह्वलाक्षी
भर्तुर्हितं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ५८ ॥

अप्रमेय शक्तिशाली लक्ष्मणसे इस प्रकार महान् अर्थसे युक्त बात कहकर मदसे चञ्चल नेत्रवाली वानर-पत्नी ताराने पुनः खेदपूर्वक स्वामीके लिये यह हितकर वचन कहा—॥५८॥

उद्योगस्तु चिराज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम।
कामस्यापि विधेयेन तवार्थप्रतिसाधने ॥ ५९ ॥

'नरश्रेष्ठ! यद्यपि सुग्रीव इस समय कामके गुलाम हो रहे हैं, तथापि इन्होंने आपका कार्य सिद्ध करनेके लिये बहुत पहलेसे ही उद्योग आरम्भ करनेकी आज्ञा दे रक्खी है ॥५९॥

आगता हि महावीर्या हरयः कामरूपिणः।
कोटीः शतसहस्राणि नानानगनिवासिनः ॥ ६० ॥

'इसके फलस्वरूप इस समय विभिन्न पर्वतोंपर निवास करनेवाले लाखों और करोड़ों वानर, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ एवं महान् पराक्रमी हैं, यहाँ उपस्थित हुए हैं ॥६०॥

तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रक्षितं त्वया।
अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम् ॥ ६१ ॥

'महाबाहो! (दूसरेकी स्त्रियोंको देखना अनुचित समझकर जो आप भीतर नहीं आये, बाहर ही खड़े रह गये—इसके द्वारा) आपने सदाचारकी रक्षा की है; अतः अब भीतर आइये। मित्रभावसे स्त्रियोंकी ओर देखना (उनके प्रति माता-बहन आदिका भाव रखकर दृष्टि डालना) सत्पुरुषोंके लिये अधर्म नहीं है' ॥ ६१ ॥

तारया चाभ्यनुज्ञातस्त्वरया चापि चोदितः।
प्रविवेश महाबाहुरभ्यन्तरमरिंदमः ॥ ६२ ॥

ताराके आग्रह और कार्यकी जल्दीसे प्रेरित होकर शत्रुदमन महाबाहु लक्ष्मण सुग्रीवके महलके भीतर गये ॥६२॥

ततः सुग्रीवमासीनं काञ्चने परमासने।
महार्हास्तरणोपेते ददर्शादित्यसंनिभम् ॥ ६३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा, एक सोनेके सिंहासनपर बहुमूल्य बिछौना बिछा है और वानरराज सुग्रीव सूर्यतुल्य तेजस्वी रूप धारण किये उसके ऊपर विराजमान हैं ॥६३॥

दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपं यशस्विनम्।
दिव्यमाल्याम्बरधरं महेन्द्रमिव दुर्जयम् ॥ ६४ ॥

उस समय दिव्य आभूषणोंके कारण उनके शरीरकी विचित्र शोभा हो रही थी। दिव्यरूपधारी यशस्वी सुग्रीव दिव्य मालाएँ और दिव्य वस्त्र धारण करके दुर्जय वीर देवराज इन्द्रके समान दिखायी दे रहे थे ॥ ६४ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिः प्रमदाभिः समावृतम्।
संरब्धतररक्ताक्षो बभूवान्तकसंनिभः ॥ ६५ ॥

दिव्य आभूषणों और मालाओंसे अलंकृत युवती स्त्रियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी थीं। उन्हें इस अवस्थामें देख लक्ष्मणके नेत्र रोषावेशके कारण लाल हो गये। वे उस समय यमराजके समान भयंकर प्रतीत होने लगे ॥ ६५ ॥

रुमां तु वीरः परिरभ्य गाढं
वरासनस्थो वरहेमवर्णः।
ददर्श सौमित्रिमदीनसत्त्वं
विशालनेत्रः स विशालनेत्रम् ॥ ६६ ॥

सुन्दर सुवर्णके समान कान्ति और विशाल नेत्रवाले वीर सुग्रीव अपनी पत्नी रुमाको गाढ आलिङ्गन-पाशमें बाँधे हुए एक श्रेष्ठ आसनपर विराजमान थे। उसी अवस्थामें उन्होंने उदार-हृदय और विशाल नेत्रवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको देखा ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका लक्ष्मणके पास जाना और लक्ष्मणका उन्हें फटकारना

तमप्रतिहतं क्रुद्धं प्रविष्टं पुरुषर्षभम्।
सुग्रीवो लक्ष्मणं दृष्ट्वा बभूव व्यथितेन्द्रियः॥ १ ॥

लक्ष्मण बेरोक-टोक भीतर घुस आये थे। उन पुरुष-शिरोमणिको क्रोधसे भरा देख सुग्रीवकी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं॥ १ ॥

क्रुद्धं निःश्वसमानं तं प्रदीप्तमिव तेजसा।
भ्रातुर्व्यसनसंतप्तं दृष्ट्वा दशरथात्मजम्॥ २ ॥
उत्पपात हरिश्रेष्ठो हित्वा सौवर्णमासनम्।
महान् महेन्द्रस्य यथा स्वलंकृत इव ध्वजः॥ ३ ॥

दशरथपुत्र लक्ष्मण रोषपूर्वक लंबी साँस खींच रहे थे और तेजसे प्रज्वलित-से जान पड़ते थे। अपने भाईके कष्टसे उनके मनमें बड़ा संताप था। उन्हें सामने आया देख वानरश्रेष्ठ सुग्रीव सुवर्णका सिंहासन छोड़कर कूद पड़े, मानो देवराज इन्द्रका भलीभाँति सजाया हुआ महान् ध्वज आकाशसे पृथ्वीपर उतर आया हो॥ २-३ ॥

उत्पतन्तमनूत्पेतू रुमाप्रभृतयः स्त्रियः।
सुग्रीवं गगने पूर्णं चन्द्रं तारागणा इव॥ ४ ॥

सुग्रीवके उतरते ही रुमा आदि स्त्रियाँ भी उनके पीछे उस सिंहासनसे उतरकर खड़ी हो गयीं। जैसे आकाशमें पूर्ण चन्द्रमाका उदय होनेपर तारोंके समुदाय भी उदित हो गये हों॥ ४ ॥

संरक्तनयनः श्रीमान् संचचार कृताञ्जलिः।
बभूवावस्थितस्तत्र कल्पवृक्षो महानिव॥ ५ ॥

श्रीमान् सुग्रीवके नेत्र मदसे लाल हो रहे थे। वे टहलते हुए लक्ष्मणके पास आये और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। लक्ष्मण वहाँ महान् कल्पवृक्षके समान स्थित थे॥ ५ ॥

रुमाद्वितीयं सुग्रीवं नारीमध्यगतं स्थितम्।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धः सतारं शशिनं यथा॥ ६ ॥

सुग्रीवके साथ उनकी पत्नी रुमा भी थी। वे स्त्रियोंके बीचमें खड़े होकर तारिकाओंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे। उन्हें देखकर लक्ष्मणने क्रोधपूर्वक कहा—॥

सत्त्वाभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीयते॥ ७ ॥

'वानरराज! धैर्यवान्, कुलीन, दयालु, जितेन्द्रिय और सत्यवादी राजाका ही संसारमें आदर होता है॥ ७ ॥

यस्तु राजा स्थितोऽधर्मे मित्राणामुपकारिणाम्।
मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः॥ ८ ॥

'जो राजा अधर्ममें स्थित होकर उपकारी मित्रोंके सामने की हुई अपनी प्रतिज्ञाको झूठी कर देता है, उससे बढ़कर अत्यन्त क्रूर कौन होगा?॥ ८ ॥

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते।
आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषः पुरुषानृते॥ ९ ॥

'अश्वदानकी प्रतिज्ञा करके उसकी पूर्ति न करनेपर 'अश्वानृत' (अश्वविषयक असत्य) नामक पाप होता है। यह पाप बन जानेपर मनुष्य सौ अश्वोंकी हत्याके पापका भागी होता है। इसी प्रकार गोदानविषयक प्रतिज्ञाको मिथ्या कर देनेपर सहस्र गौओंके वधका पाप लगता है तथा किसी पुरुषके समक्ष उसका कार्य पूर्ण कर देनेकी प्रतिज्ञा करके जो उसकी पूर्ति नहीं करता है, वह पुरुष आत्मघात और स्वजन-वधके पापका भागी होता है (फिर जो परम पुरुष श्रीरामके समक्ष की हुई प्रतिज्ञाको मिथ्या करता है, उसके पापकी कोई इयत्ता नहीं हो सकती)॥ ९ ॥

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर॥ १० ॥

'वानरराज! जो पहले मित्रोंके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करके बदलेमें उन मित्रोंका कोई उपकार नहीं करता है, वह कृतघ्न एवं सब प्राणियोंके लिये वध्य है॥ १० ॥

गीतोऽयं ब्रह्मणा श्लोकः सर्वलोकनमस्कृतः।
दृष्ट्वा कृतघ्नं क्रुद्धेन तन्निबोध प्लवंगम॥ ११ ॥

'कपिराज! किसी कृतघ्नको देखकर कुपित हुए ब्रह्माजीने सब लोगोंके लिये आदरणीय यह एक श्लोक कहा है, इसे सुनो॥ ११ ॥

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ १२ ॥

'गोहत्यारे, शराबी, चोर और व्रत-भंग करनेवाले पुरुषके लिये सत्पुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है; किंतु कृतघ्नके उद्धारका कोई उपाय नहीं है॥ १२ ॥

अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च वानर।
पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि यत्॥ १३ ॥

'वानर! तुम अनार्य, कृतघ्न और मिथ्यावादी हो; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीकी सहायतासे तुमने पहले अपना काम तो बना लिया, किंतु जब उनके लिये सहायता करनेका अवसर आया, तब तुम कुछ नहीं करते॥ १३ ॥

ननु नाम कृतार्थेन त्वया रामस्य वानर।
सीताया मार्गणे यत्नः कर्तव्यः कृतमिच्छता॥ १४ ॥

'वानर ! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो चुका है; अतः अब तुम्हें प्रत्युपकारकी इच्छासे श्रीरामकी पत्नी सीताकी खोजके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १४ ॥

स त्वं ग्राम्येषु भोगेषु सक्तो मिथ्याप्रतिश्रवः ।
न त्वां रामो विजानीते सर्पं मण्डूकराविणम् ॥ १५ ॥

'परंतु तुम्हारी दशा यह है कि अपनी प्रतिज्ञाको झूठी करके ग्राम्यभोगोंमें आसक्त हो रहे हो । श्रीरामचन्द्रजी यह नहीं जानते हैं कि तुम मेढककी-सी बोली बोलनेवाले सर्प हो (जैसे साँप अपने मुँहमें किसी मेढकको जब दबा लेता है, तब केवल मेढक ही बोलता है; दूरके लोग उसे मेढक ही समझते हैं; परंतु वह वास्तवमें सर्प होता है । वही दशा तुम्हारी है । तुम्हारी बातें कुछ और हैं और स्वरूप कुछ और) ॥ १५ ॥

महाभागेन रामेण पापः करुणवेदिना ।
हरीणां प्रापितो राज्यं त्वं दुरात्मा महात्मना ॥ १६ ॥

'महाभाग श्रीरामचन्द्रजी परम महात्मा तथा दयासे द्रवित हो जानेवाले हैं; अतएव उन्होंने तुम-जैसे पापी और दुरात्माको भी वानरोंके राज्यपर बिठा दिया ॥ १६ ॥

कृतं चेन्नातिजानीषे राघवस्य महात्मनः ।
सद्यस्त्वं निशितैर्बाणैर्हतो द्रक्ष्यसि वालिनम् ॥ १७ ॥

'यदि तुम महात्मा रघुनाथजीके किये हुए उपकारको नहीं समझोगे तो शीघ्र ही उनके तीखे बाणोंसे मारे जाकर वालीका दर्शन करोगे ॥ १७ ॥

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥ १८ ॥

'सुग्रीव ! वाली मारा जाकर जिस रास्तेसे गया है, वह आज भी बंद नहीं हुआ है । इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहो । वालीके मार्गका अनुसरण न करो ॥ १८ ॥

न नूनमिक्ष्वाकुवरस्य कार्मुका-
च्च्युतांश्च तान् पश्यसि वज्रसंनिभान् ।
ततः सुखं नाम विषेवसे सुखी
न रामकार्यं मनसाप्यवेक्षसे ॥१९॥

'इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीके धनुषसे छूटे हुए उन वज्रतुल्य बाणोंकी ओर निश्चय ही तुम्हारी दृष्टि नहीं जा रही है । इसीलिये तुम ग्राम्य सुखका सेवन कर रहे हो और उसीमें सुख मानकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यका मनसे भी विचार नहीं करते हो' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

ताराका लक्ष्मणको युक्तियुक्त वचनोंद्वारा शान्त करना

तथा ब्रुवाणं सौमित्रिं प्रदीप्तमिव तेजसा ।
अब्रवील्लक्ष्मणं तारा ताराधिपनिभानना ॥ १ ॥

सुमित्राकुमार लक्ष्मण अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे । वे जब उपर्युक्त बात कह चुके, तब चन्द्रमुखी तारा उनसे बोली—॥ १ ॥

नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परुषमर्हति ।
हरीणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद् विशेषतः ॥ २ ॥

'कुमार लक्ष्मण ! आपको सुग्रीवसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । ये वानरोंके राजा हैं; अतः इनके प्रति कठोर वचन बोलना उचित नहीं है । विशेषतः आप-जैसे सुहृद्के मुखसे तो ये कदापि कटु वचन सुननेके अधिकारी नहीं हैं ॥ २ ॥

नैवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारुणः ।
नैवानृतकथो वीर न जिह्मश्च कपीश्वरः ॥ ३ ॥

'वीर ! कपिराज सुग्रीव न कृतघ्न हैं, न शठ हैं, न क्रूर हैं, न असत्यवादी हैं और न कुटिल ही हैं ॥ ३ ॥

उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः ।
रामेण वीर सुग्रीवो यदन्यैर्दुष्करं रणे ॥ ४ ॥

'वीर लक्ष्मण ! श्रीरामचन्द्रजीने इनका जो उपकार किया है, वह युद्धमें दूसरोंके लिये दुष्कर है । उसे इन वीर कपिराजने कभी भुलाया नहीं है ॥ ४ ॥

रामप्रसादात् कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
प्राप्तवानिह सुग्रीवो रुमां मां च परंतप ॥ ५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले सुमित्रानन्दन ! श्रीरामचन्द्रजीके कृपा-प्रसादसे ही सुग्रीवने वानरोंके अक्षय राज्यको, यशको, रुमाको तथा मुझको भी प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

सुदुःखशयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम् ।
प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः ॥ ६ ॥

'पहले इन्होंने बड़ा दुःख उठाया है । अब इस उत्तम सुखको पाकर ये इसमें ऐसे रम गये कि इन्हें प्राप्त हुए समयका ज्ञान ही नहीं रहा । ठीक उसी तरह, जैसे विश्वामित्र मुनिको मेनकामें आसक्त हो जानेके कारण समयकी सुध-बुध नहीं रह गयी थी* ॥ ६ ॥

घृताच्यां किल संसक्तो दश वर्षाणि लक्ष्मण ।
अहोऽमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ७ ॥

* यह प्रसंग बालकाण्डके तिरसठवें सर्गमें आया है ।

'लक्ष्मण ! कहते हैं, धर्मात्मा महामुनि विश्वामित्रने घृताची (मेनका) नामक अप्सरामें आसक्त होनेके कारण दस वर्षके समयको एक दिन ही माना था ॥ ७ ॥

स हि प्राप्तं न जानीते कालं कालविदां वरः ।
विश्वामित्रो महातेजाः किं पुनर्यः पृथग्जनः ॥ ८ ॥

'कालका ज्ञान रखनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी विश्वामित्रको भी जब भोगासक्त होनेपर कालका ज्ञान नहीं रह गया, तब फिर दूसरे साधारण प्राणीको कैसे रह सकता है ? ॥ ८ ॥

देहधर्मगतस्यास्य परिश्रान्तस्य लक्ष्मण ।
अवितृप्तस्य कामेषु रामः क्षन्तुमिहार्हति ॥ ९ ॥

'कुमार लक्ष्मण ! आहार, निद्रा और मैथुन आदि जो देहके धर्म हैं, (जो पशुओंमें भी समानरूपसे पाये जाते हैं) उनमें स्थित हुए ये सुग्रीव पहले तो चिरकालतक दुःख भोगनेके कारण थके-माँदे एवं खिन्न थे । अब भगवान् श्रीरामकी कृपासे इन्हें जो काम-भोग प्राप्त हुए हैं, उनसे अभीतक इनकी तृप्ति नहीं हुई (इसीलिये इनसे कुछ असावधानी हो गयी); अतः परम कृपालु श्रीरघुनाथजीको यहाँ इनका अपराध क्षमा करना चाहिये ॥ ९ ॥

न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण ।
निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा ॥ १० ॥

'तात लक्ष्मण ! आपको यथार्थ बात जाने बिना साधारण मनुष्यकी भाँति सहसा क्रोधके अधीन नहीं होना चाहिये ॥ १० ॥

सत्त्वयुक्ता हि पुरुषास्त्वद्विधाः पुरुषर्षभ ।
अविमृश्य न रोषस्य सहसा यान्ति वश्यताम् ॥ ११ ॥

'पुरुषप्रवर ! आप-जैसे सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष विचार किये बिना ही सहसा रोषके वशीभूत नहीं होते हैं ॥ ११ ॥

प्रसादये त्वां धर्मज्ञ सुग्रीवार्थे समाहिता ।
महान् रोषसमुत्पन्नः संरम्भस्त्यज्यतामयम् ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञ ! मैं एकाग्र हृदयसे सुग्रीवके लिये आपसे कृपाकी याचना करती हूँ । आप क्रोधसे उत्पन्न हुए इस महान् क्षोभका परित्याग कीजिये ॥ १२ ॥

रुमां मां चाङ्गदं राज्यं धनधान्यपशूनि च ।
रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ॥ १३ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेके लिये रुमाका, मेरा, कुमार अङ्गदका तथा धन-धान्य और पशुओंसहित सम्पूर्ण राज्यका भी परित्याग कर सकते हैं ॥ १३ ॥

समानेष्यति सुग्रीवः सीतया सह राघवम् ।
शशाङ्कमिव रोहिण्या हत्वा तं राक्षसाधमम् ॥ १४ ॥

'सुग्रीव उस अधम राक्षसका वध करके श्रीरामको सीतासे उसी तरह मिलायेंगे, जैसे चन्द्रमाका रोहिणीके साथ संयोग हुआ हो ॥ १४ ॥

शतकोटिसहस्राणि लङ्कायां किल रक्षसाम् ।
अयुतानि च षट्त्रिंशत्सहस्राणि शतानि च ॥ १५ ॥

'कहते हैं कि लङ्कामें सौ हजार करोड़, छत्तीस अयुत, छत्तीस हजार और छत्तीस सौ राक्षस रहते हैं* ॥ १५ ॥

अहत्वा तांश्च दुर्धर्षान् राक्षसान् कामरूपिणः ।
न शक्यो रावणो हन्तुं येन सा मैथिली हृता ॥ १६ ॥

'वे सब-के-सब राक्षस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा दुर्जय हैं । उन सबका संहार किये बिना रावणका, जिसने मिथिलेशकुमारी सीताका अपहरण किया है, वध नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

ते न शक्या रणे हन्तुमसहायेन लक्ष्मण ।
रावणः क्रूरकर्मा च सुग्रीवेण विशेषतः ॥ १७ ॥

'लक्ष्मण ! किसीकी सहायता लिये बिना अकेले किसी वीरके द्वारा न तो उन राक्षसोंका संग्राममें वध किया जा सकता है और न क्रूरकर्मा रावणका ही । इसलिये सुग्रीवसे सहायता लेनेकी विशेष आवश्यकता है ॥ १७ ॥

एवमाख्यातवान् वाली स ह्यभिज्ञो हरीश्वरः ।
आगमस्तु न मे व्यक्तः श्रवात् तस्य ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

'वानरराज वाली लङ्काके राक्षसोंकी इस संख्यासे परिचित थे, उन्हींने मुझसे उनकी इस तरह गणना बतायी थी । रावणने इतनी सेनाका संग्रह कैसे किया ? यह तो मुझे नहीं मालूम है । किंतु इस संख्याको मैंने उनके मुँहसे सुना था । वह इस समय मैं आपको बता रही हूँ ॥ १८ ॥

त्वत्सहायनिमित्तं हि प्रेषिता हरिपुङ्गवाः ।
आनेतुं वानरान् युद्धे सुबहून् हरिपुङ्गवान् ॥ १९ ॥

'आपकी सहायताके लिये सुग्रीवने बहुतेरे श्रेष्ठ वानरोंको युद्धके निमित्त असंख्य वानर वीरोंकी सेना एकत्र करनेके लिये भेज रक्खा है ॥ १९ ॥

तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान् सुमहाबलान् ।
राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः ॥ २० ॥

'वानरराज सुग्रीव उन महाबली और पराक्रमी वीरोंके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । अतएव भगवान् श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये अभी नगरसे बाहर नहीं निकल सके हैं ॥ २० ॥

कृता सुसंस्था सौमित्रे सुग्रीवेण पुरा यथा ।
अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः ॥ २१ ॥

---

*आधुनिक गणनाके अनुसार यह संख्या दस खरब, तीन लाख, निन्यानबे हजार, छः सौ होती है ।

'सुमित्रानन्दन ! सुग्रीवने उन सबके एकत्र होनेके लिये पहलेसे ही जो अवधि निश्चित कर रक्खी है, उसके अनुसार उन समस्त महाबली वानरोंको आज ही यहाँ उपस्थित हो जाना चाहिये ॥ २१ ॥

ऋक्षकोटिसहस्राणि गोलाङ्गूलशतानि च ।
अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिंदम ।
कोट्योऽनेकास्तु काकुत्स्थ कपीनां दीप्ततेजसाम् ॥२२॥

'शत्रुदमन लक्ष्मण ! आज आपकी सेवामें कोटि सहस्र (दस अरब) रीछ, सौ करोड़ (एक अरब) लंगूर तथा और भी बढ़े हुए तेजवाले कई करोड़ वानर उपस्थित होंगे। इसलिये आप क्रोधको त्याग दीजिये ॥ २२ ॥

तव हि मुखमिदं निरीक्ष्य कोपात्
क्षतजसमे नयने निरीक्षमाणाः ।
हरिवरवनिता न यान्ति शान्ति
प्रथमभयस्य हि शङ्किताः स्म सर्वाः॥२३॥

'आपका मुख क्रोधसे तमतमा उठा है और आँखें रोषसे लाल हो गयी हैं। यह सब देखकर हम वानरराजकी स्त्रियोंको शान्ति नहीं मिल रही है। हम सबको प्रथम भय (वालि-वध) के समान ही किसी अनिष्टकी आशङ्का हो रही है' ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका अपनी लघुता तथा श्रीरामकी महत्ता बताते हुए लक्ष्मणसे क्षमा माँगना और लक्ष्मणका उनकी प्रशंसा करके उन्हें अपने साथ चलनेके लिये कहना

इत्युक्तस्तारया वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
मृदुस्वभावः सौमित्रिः प्रतिजग्राह तद्वचः ॥ १ ॥

ताराने जब इस प्रकार धर्मके अनुकूल विनययुक्त बात कही, तब कोमल स्वभाववाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने उसे मान लिया (क्रोधको त्याग दिया) ॥ १ ॥

तस्मिन् प्रतिगृहीते तु वाक्ये हरिगणेश्वरः ।
लक्ष्मणात् सुमहत्त्रासं वस्त्रं क्लिन्नमिवात्यजत् ॥ २ ॥

उनके द्वारा ताराकी बात मान ली जानेपर वानरयूथपति सुग्रीवने लक्ष्मणसे प्राप्त होनेवाले महान् भयको भीगे हुए वस्त्रकी भाँति त्याग दिया ॥ २ ॥

ततः कण्ठगतं माल्यं चित्रं बहुगुणं महत् ।
चिच्छेद विमदश्चासीत् सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ ३ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीवने अपने कण्ठमें पड़ी हुई फूलोंकी विचित्र, विशाल एवं बहुगुणसम्पन्न माला तोड़ डाली और वे मदसे रहित हो गये ॥ ३ ॥

स लक्ष्मणं भीमबलं सर्ववानरसत्तमः ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवः सम्प्रहर्षयन् ॥ ४ ॥

फिर समस्त वानरोंमें शिरोमणि सुग्रीवने भयंकर बलशाली लक्ष्मणका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह विनययुक्त बात कही—॥ ४ ॥

प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम् ।
रामप्रसादात् सौमित्रे पुनश्चाप्तमिदं मया ॥ ५ ॥

'सुमित्राकुमार ! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चला आता हुआ वानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। भगवान् श्रीरामकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है ॥ ५ ॥

कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा ।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज ॥ ६ ॥

'राजकुमार ! वे भगवान् श्रीराम अपने कर्मोंसे ही सर्वत्र विख्यात हैं। उनके उपकारका वैसा ही बदला अंशमात्रसे भी कौन चुका सकता है ? ॥ ६ ॥

सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम् ।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा ॥ ७ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम अपने ही तेजसे रावणका वध करेंगे और सीताको प्राप्त कर लेंगे। मैं तो उनका एक तुच्छ सहायकमात्र रहूँगा ॥ ७ ॥

सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः ।
गिरिश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः ॥ ८ ॥

'जिन्होंने एक ही बाणसे सात बड़े-बड़े ताल-वृक्ष, पर्वत, पृथ्वी, पाताल और वहाँ रहनेवाले दैत्योंको भी विदीर्ण कर दिया था, उनको दूसरे किसी सहायककी आवश्यकता भी क्या है ? ॥ ८ ॥

धनुर्विस्फारमाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण ।
सशैला कम्पिता भूमिः सहायैः किं नु तस्य वै ॥ ९ ॥

'लक्ष्मण ! जिनके धनुष खींचते समय उसकी टंकारसे पर्वतोंसहित पृथ्वी काँप उठी थी, उन्हें सहायकोंसे क्या लेना है ॥ ९ ॥

अनुयात्रां नरेन्द्रस्य करिष्येऽहं नरर्षभ ।
गच्छतो रावणं हन्तुं वैरिणं सपुरस्सरम् ॥ १० ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं तो वैरी रावणका वध करनेके लिये अग्रगामी सैनिकोंसहित यात्रा करनेवाले महाराज श्रीरामके पीछे-पीछे चलूँगा ॥ १० ॥

यदि किंचिदतिक्रान्तं विश्वासात् प्रणयेन वा ।
प्रेष्यस्य क्षमितव्यं मे न कश्चिन्नापराध्यति ॥ ११ ॥

'विश्वास अथवा प्रेमके कारण यदि कोई अपराध बन गया हो तो मुझ दासके उस अपराधको क्षमा कर देना चाहिये; क्योंकि ऐसा कोई सेवक नहीं है, जिससे कभी कोई अपराध होता ही न हो' ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
अभवल्लक्ष्मणः प्रीतः प्रेम्णा चेदमुवाच ह ॥ १२ ॥

महात्मा सुग्रीवके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण प्रसन्न हो गये और बड़े प्रेमसे इस प्रकार बोले—॥ १२ ॥

सर्वथा हि मम भ्राता सनाथो वानरेश्वर ।
त्वया नाथेन सुग्रीव प्रश्रितेन विशेषतः ॥ १३ ॥

'वानरराज सुग्रीव ! विशेषतः तुम-जैसे विनयशील सहायकको पाकर मेरे भाई श्रीराम सर्वथा सनाथ हैं ॥ १३ ॥

यस्ते प्रभावः सुग्रीव यच्च ते शौचमीदृशम् ।
अर्हस्त्वं कपिराज्यस्य श्रियं भोक्तुमनुत्तमाम् ॥ १४ ॥

'सुग्रीव ! तुम्हारा जो प्रभाव है और तुम्हारे हृदयमें जो इतना शुद्ध भाव है, इससे तुम वानरराज्यकी परम उत्तम लक्ष्मीका सदा ही उपभोग करनेके अधिकारी हो ॥ १४ ॥

सहायेन च सुग्रीव त्वया रामः प्रतापवान् ।
वधिष्यति रणे शत्रूनचिरान्नात्र संशयः ॥ १५ ॥

'सुग्रीव ! तुम्हें सहायकके रूपमें पाकर प्रतापी श्रीराम रणभूमिमें अपने शत्रुओंका शीघ्र ही वध कर डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
उपपन्नं च युक्तं च सुग्रीव तव भाषितम् ॥ १६ ॥

'सुग्रीव ! तुम धर्मज्ञ, कृतज्ञ तथा युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले हो । तुम्हारा यह भाषण सर्वथा युक्तिसंगत और उचित है ॥ १६ ॥

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति ।
वर्जयित्वा मम ज्येष्ठं त्वां च वानरसत्तम ॥ १७ ॥

'वानरशिरोमणे ! तुमको और मेरे बड़े भाईको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा विद्वान् है, जो अपनेमें सामर्थ्य होते हुए भी ऐसा नम्रतापूर्ण वचन कह सके ॥ १७ ॥

सदृशश्चासि रामेण विक्रमेण बलेन च ।
सहायो दैवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुंगव ॥ १८ ॥

'कपिराज ! तुम बल और पराक्रममें भगवान् श्रीरामके बराबर हो । देवताओंने ही हमें दीर्घकालके लिये तुम-जैसा सहायक प्रदान किया है ॥ १८ ॥

किं तु शीघ्रमितो वीर निष्क्रम त्वं मया सह ।
सान्त्वयस्व वयस्यं च भार्याहरणदुःखितम् ॥ १९ ॥

'किंतु वीर ! अब तुम शीघ्र ही मेरे साथ इस पुरीसे बाहर निकलो । तुम्हारे मित्र अपनी पत्नीके अपहरणसे बहुत दुखी हैं । उन्हें चलकर सान्त्वना दो ॥ १९ ॥

यच्च शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा रामस्य भाषितम् ।
मया त्वं परुषाण्युक्तस्तत् क्षमस्व सखे मम ॥ २० ॥

'सखे ! शोकमग्न श्रीरामके वचनोंको सुनकर जो मैंने तुम्हारे प्रति कठोर बातें कह दी हैं, उनके लिये मुझे क्षमा करो' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका हनुमान्‌जीको वानरसेनाके संग्रहके लिये दोबारा दूत भेजनेकी आज्ञा देना, उन दूतोंसे राजाकी आज्ञा सुनकर समस्त वानरोंका किष्किन्धाके लिये प्रस्थान और दूतोंका लौटकर सुग्रीवको भेंट देनेके साथ ही वानरोंके आगमनका समाचार सुनाना

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना ।
हनूमन्तं स्थितं पार्श्वे वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा लक्ष्मणने जब ऐसा कहा, तब सुग्रीव अपने पास ही खड़े हुए हनुमान्‌जीसे यों बोले—॥ १ ॥

महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च ।
मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः ॥ २ ॥
तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु नित्यशः ।
पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमस्यां तु ये दिशि ॥ ३ ॥
आदित्यभवने चैव गिरौ संध्याभ्रसंनिभे ।
पद्माचलवनं भीमाः संश्रिता हरिपुंगवाः ॥ ४ ॥
अञ्जनाम्बुदसंकाशाः कुञ्जरेन्द्रमहौजसः ।
अञ्जने पर्वते चैव ये वसन्ति प्लवंगमाः ॥ ५ ॥
महाशैलगुहावासा वानराः कनकप्रभाः ।
मेरुपार्श्वगताश्चैव ये च धूम्रगिरिं श्रिताः ॥ ६ ॥
तरुणादित्यवर्णाश्च पर्वते ये महारुणे ।
पिबन्तो मधु मैरेयं भीमवेगाः प्लवंगमाः ॥ ७ ॥

वनेषु च सुरम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च।
तापसाश्रमरम्येषु वनान्तेषु समन्ततः ॥ ८ ॥
तांस्तांस्त्वमानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान्।
सामदानादिभिः कल्पैर्वानरैर्वेगवत्तरैः ॥ ९ ॥

'महेन्द्र, हिमवान्, विन्ध्य, कैलास तथा श्वेत शिखरवाले मन्दराचल—इन पाँच पर्वतोंके शिखरोंपर जो श्रेष्ठ वानर रहते हैं, पश्चिम दिशामें समुद्रके परवर्ती तटपर प्रातःकालिक सूर्यके समान कान्तिमान् और नित्य प्रकाशमान पर्वतोंपर जिन वानरोंका निवास है, भगवान् सूर्यके निवासस्थान तथा संध्याकालिक मेघसमूहके समान अरुण वर्णवाले उदयाचल एवं अस्ताचलपर जो वानर वास करते हैं, पद्माचलवर्ती वनका आश्रय लेकर जो भयानक पराक्रमी वानर-शिरोमणि निवास करते हैं, अञ्जनपर्वतपर जो काजल और मेघके समान काले तथा गजराजके समान महाबली वानर रहते हैं, बड़े-बड़े पर्वतोंकी गुफाओंमें निवास करनेवाले तथा मेरुपर्वतके आसपास रहनेवाले जो सुवर्णकी-सी कान्तिवाले वानर हैं, जो धूम्रगिरिका आश्रय लेकर रहते हैं, मैरेय मधुका पान करते हुए जो महारुण पर्वतपर प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रंगके भयानक वेगशाली वानर निवास करते हैं तथा सुगन्धसे परिपूर्ण एवं तपस्वियोंके आश्रमोंसे सुशोभित बड़े-बड़े रमणीय वनों और वनान्तोंमें चारों ओर जो वानर रहते हैं, भूमण्डलके उन सभी वानरोंको तुम शीघ्र यहाँ ले आओ। शक्तिशाली तथा अत्यन्त वेगवान् वानरोंको भेजकर उनके द्वारा साम, दान आदि उपायोंका प्रयोग करके उन सबको यहाँ बुलवाओ ॥ २—९ ॥

प्रेषिताः प्रथमं ये च मयाऽऽज्ञाता महाजवाः।
त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं सम्प्रेषय हरीश्वरान् ॥ १० ॥

'मेरी आज्ञासे पहले जो महान् वेगशाली वानर भेजे गये हैं, उनको जल्दी करनेके लिये प्रेरणा देनेके निमित्त तुम पुनः दूसरे श्रेष्ठ वानरोंको भेजो ॥ १० ॥

ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः।
इहानयस्व ताञ्शीघ्रं सर्वानेव कपीश्वरान् ॥ ११ ॥

'जो वानर कामभोगमें फँसे हुए हों तथा जो दीर्घसूत्री (प्रत्येक कार्यको विलम्बसे करनेवाले) हों, उन सभी कपीश्वरोंको शीघ्र यहाँ ले आओ ॥ ११ ॥

अहोभिर्दशभिर्ये च नागच्छन्ति ममाज्ञया।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूषकाः ॥ १२ ॥

'जो मेरी आज्ञासे दस दिनके भीतर यहाँ न आ जायँ, राजाज्ञाको कलङ्कित करनेवाले उन दुरात्मा वानरोंको मार डालना चाहिये ॥ १२ ॥

शतान्यथ सहस्राणि कोटयश्च मम शासनात्।
प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः ॥ १३ ॥

'जो मेरी आज्ञाके अधीन रहते हों, ऐसे सैकड़ों, हजारों तथा करोड़ों वानरसिंह मेरे आदेशसे जायँ ॥ १३ ॥

मेघपर्वतसंकाशाश्छादयन्त इवाम्बरम्।
घोररूपाः कपिश्रेष्ठा यान्तु मच्छासनादितः ॥ १४ ॥

'जो मेघ और पर्वतके समान अपने विशाल शरीरसे आकाशको आच्छादित-सा कर लेते हैं, वे घोर रूपधारी श्रेष्ठ वानर मेरा आदेश मानकर यहाँसे यात्रा करें ॥ १४ ॥

ते गतिज्ञा गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः।
आनयन्तु हरीन् सर्वांस्त्वरिताःशासनान्मम ॥ १५ ॥

'वानरोंके निवासस्थानोंको जाननेवाले सभी वानर तीव्र गतिसे भूमण्डलमें चारों ओर जाकर मेरे आदेशसे उन-उन स्थानोंके सम्पूर्ण वानरगणोंको तुरंत यहाँ ले आवें' ॥ १५ ॥

तस्य वानरराजस्य श्रुत्वा वायुसुतो वचः।
दिक्षु सर्वासु विक्रान्तान् प्रेषयामास वानरान् ॥ १६ ॥

वानरराज सुग्रीवकी बात सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने सम्पूर्ण दिशाओंमें बहुत-से पराक्रमी वानरोंको भेजा ॥ १६ ॥

ते पदं विष्णुविक्रान्तं पतत्रिज्योतिरध्वगाः।
प्रयाताः प्रहिता राज्ञा हरयस्तु क्षणेन वै ॥ १७ ॥

राजाकी आज्ञा पाकर वे सब वानर तत्काल आकाशमें पक्षियोंके और नक्षत्रोंके मार्गसे चल दिये ॥ १७ ॥

ते समुद्रेषु गिरिषु वनेषु च सरस्सु च।
वानरा वानरान् सर्वान् रामहेतोरचोदयन् ॥ १८ ॥

उन वानरोंने समुद्रोंके किनारे, पर्वतोंपर, वनोंमें और सरोवरोंके तटोंपर रहनेवाले समस्त वानरोंको श्रीरामचन्द्रजीका कार्य करनेके लिये चलनेको कहा ॥ १८ ॥

मृत्युकालोपमस्याज्ञां राजराजस्य वानराः।
सुग्रीवस्याययुः श्रुत्वा सुग्रीवभयशङ्किताः ॥ १९ ॥

अपने सम्राट् सुग्रीवका, जो मृत्यु एवं कालके समान भयानक दण्ड देनेवाले थे, आदेश सुनकर वे सभी वानर उनके भयसे थर्रा उठे और तुरंत ही किष्किन्धाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १९ ॥

ततस्तेऽञ्जनसंकाशा गिरेस्तस्मान्महाबलाः।
तिस्रः कोटयः प्लवंगानां निर्ययुर्यत्र राघवः ॥ २० ॥

तदनन्तर कज्जल गिरिसे काजलके ही समान काले और महान् बलवान् तीन करोड़ वानर उस स्थानपर जानेके लिये निकले, जहाँ श्रीरघुनाथजी विराजमान थे ॥ २० ॥

अस्तं गच्छति यत्रार्कस्तस्मिन् गिरिवरे रताः।
संतप्तहेमवर्णाभास्तस्मात् कोट्यो दश च्युताः ॥ २१ ॥

जहाँ सूर्यदेव अस्त होते हैं, उस श्रेष्ठ पर्वतपर रहनेवाले दस करोड़ वानर, जिनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी, वहाँसे किष्किन्धाके लिये चले ॥ २१ ॥

कैलासशिखरेभ्यश्च सिंहकेसरवर्चसाम् ।
ततः कोटिसहस्राणि वानराणां समागमन् ॥ २२ ॥

कैलासके शिखरोंसे सिंहके अयालकी-सी श्वेत कान्तिवाले दस अरब वानर आये ॥ २२ ॥

फलमूलेन जीवन्तो हिमवन्तमुपाश्रिताः ।
तेषां कोटिसहस्राणां सहस्रं समवर्तत ॥ २३ ॥

जो हिमालयपर रहकर फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते थे, वे वानर एक नीलकी संख्यामें वहाँ आये ॥ २३ ॥

अङ्गारकसमानानां भीमानां भीमकर्मणाम् ।
विन्ध्याद् वानरकोटीनां सहस्राण्यपतन् द्रुतम् ॥ २४ ॥

विन्ध्याचल पर्वतसे मङ्गलके समान लाल रंगवाले भयानक पराक्रमी भयंकर रूपधारी वानरोंकी दस अरब सेना बड़े वेगसे किष्किन्धामें आयी ॥ २४ ॥

क्षीरोदवेलानिलयास्तमालवनवासिनः ।
नारिकेलाशनाश्चैव तेषां संख्या न विद्यते ॥ २५ ॥

क्षीरसमुद्रके किनारे और तमालवनमें नारियल खाकर रहनेवाले वानर इतनी अधिक संख्यामें आये कि उनकी गणना नहीं हो सकती थी ॥ २५ ॥

वनेभ्यो गह्वरेभ्यश्च सरिद्भ्यश्च महाबलाः ।
आगच्छद् वानरी सेना पिबन्तीव दिवाकरम् ॥ २६ ॥

वनोंसे, गुफाओंसे और नदियोंके किनारोंसे असंख्य महाबली वानर एकत्र हुए । वानरोंकी वह सारी सेना सूर्यदेवको पीती (आच्छादित करती) हुई-सी आयी ॥ २६ ॥

ये तु त्वारयितुं याता वानराः सर्ववानरान् ।
ते वीरा हिमवच्छैले ददृशुस्तं महाद्रुमम् ॥ २७ ॥

जो वानर समस्त वानरोंको शीघ्र आनेके लिये प्रेरित करनेके निमित्त किष्किन्धासे दुबारा भेजे गये थे, उन वीरोंने हिमालय पर्वतपर उस प्रसिद्ध विशाल वृक्षको देखा (जो भगवान् शंकरकी यज्ञशालामें स्थित था) ॥ २७ ॥

तस्मिन् गिरिवरे पुण्ये यज्ञो माहेश्वरः पुरा ।
सर्वदेवमनस्तोषो बभूव सुमनोरमः ॥ २८ ॥

उस पवित्र एवं श्रेष्ठ पर्वतपर पूर्वकालमें भगवान् शंकरका यज्ञ हुआ था, जो सम्पूर्ण देवताओंके मनको संतोष देनेवाला और अत्यन्त मनोरम था ॥ २८ ॥

अन्ननिस्यन्दजातानि मूलानि च फलानि च ।
अमृतस्वादुकल्पानि ददृशुस्तत्र वानराः ॥ २९ ॥

उस पर्वतपर खीर आदि अन्न (होमद्रव्य) से घृत आदिका स्राव हुआ था, उससे वहाँ अमृतके समान स्वादिष्ट फल और मूल उत्पन्न हुए थे । उन फलोंको उन वानरोंने देखा ॥ २९ ॥

तदन्नसम्भवं दिव्यं फलमूलं मनोहरम् ।
यः कश्चित् सकृदश्नाति मासं भवति तर्पितः ॥ ३० ॥

उक्त अन्नसे उत्पन्न हुए उस दिव्य एवं मनोहर फल-मूलको जो कोई एक बार खा लेता था, वह एक मासतक उससे तृप्त बना रहता था ॥ ३० ॥

तानि मूलानि दिव्यानि फलानि च फलाशनाः ।
औषधानि च दिव्यानि जगृहुर्हरिपुंगवाः ॥ ३१ ॥

फलाहार करनेवाले उन वानरशिरोमणियोंने उन दिव्य मूल फलों और दिव्य औषधोंको अपने साथ ले लिया ॥ ३१ ॥

तस्माच्च यज्ञायतनात् पुष्पाणि सुरभीणि च ।
आनिन्युर्वानरा गत्वा सुग्रीवप्रियकारणात् ॥ ३२ ॥

वहाँ जाकर उस यज्ञ-मण्डपसे वे सब वानर सुग्रीवका प्रिय करनेके लिये सुगन्धित पुष्प भी लेते आये ॥ ३२ ॥

ते तु सर्वे हरिवराः पृथिव्यां सर्ववानरान् ।
संचोदयित्वा त्वरितं यूथानां जग्मुरग्रतः ॥ ३३ ॥

वे समस्त श्रेष्ठ वानर भूमण्डलके सम्पूर्ण वानरोंको तुरंत चलनेका आदेश देकर उनके यूथोंके पहुँचनेके पहले ही सुग्रीवके पास आ गये ॥ ३३ ॥

ते तु तेन मुहूर्तेन कपयः शीघ्रचारिणः ।
किष्किन्धां त्वरया प्राप्ताः सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ ३४ ॥

वे शीघ्रगामी वानर उसी मुहूर्तमें चलकर बड़ी उतावलीके साथ किष्किन्धापुरीमें, जहाँ वानरराज सुग्रीव थे, जा पहुँचे ॥ ३४ ॥

ते गृहीत्वौषधीः सर्वाः फलमूलं च वानराः ।
तं प्रतिग्राहयामासुर्वचनं चेदमब्रुवन् ॥ ३५ ॥

उन सम्पूर्ण ओषधियों और फल-मूलोंको लेकर उन वानरोंने सुग्रीवकी सेवामें अर्पित कर दिया और इस प्रकार कहा— ॥

सर्वे परिसृताः शैलाः सरितश्च वनानि च ।
पृथिव्यां वानराः सर्वे शासनादुपयान्ति ते ॥ ३६ ॥

'महाराज ! हमलोग सभी पर्वतों, नदियों और वनोंमें घूम आये । भूमण्डलके समस्त वानर आपकी आज्ञासे यहाँ आ रहे हैं' ॥ ३६ ॥

एवं श्रुत्वा ततो हृष्टः सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
प्रतिजग्राह च प्रीतस्तेषां सर्वमुपायनम् ॥ ३७ ॥

यह सुनकर वानरराज सुग्रीवको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने उनकी दी हुई सारी भेंट-सामग्री सानन्द ग्रहण की ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

सुग्रीवका भगवान् श्रीरामके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम करना, श्रीरामका उन्हें समझाना, सुग्रीवका अपने किये हुए सैन्यसंग्रहविषयक उद्योगको बताना और उसे सुनकर श्रीरामका प्रसन्न होना

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमुपायनमुपाहृतम् ।
वानरान् सान्त्वयित्वा च सर्वानेव व्यसर्जयत् ॥ १ ॥

उनके लाये हुए उन समस्त उपहारोंको ग्रहण करके सुग्रीवने सम्पूर्ण वानरोंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना दी। फिर सबको विदा कर दिया ॥ १ ॥

विसर्जयित्वा स हरीन् सहस्रान् कृतकर्मणः ।
मेने कृतार्थमात्मानं राघवं च महाबलम् ॥ २ ॥

कार्य पूरा करके लौटे हुए उन सहस्रों वानरोंको विदा करके सुग्रीवने अपने आपको कृतार्थ माना और महाबली श्रीरघुनाथजीका भी कार्य सिद्ध हुआ ही समझा ॥ २ ॥

स लक्ष्मणो भीमबलं सर्ववानरसत्तमम् ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सुग्रीवं सम्प्रहर्षयन् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् लक्ष्मण समस्त वानरोंमें श्रेष्ठ भयंकर बलशाली सुग्रीवका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे यह विनीत वचन बोले—॥

किष्किन्धाया विनिष्क्राम यदि ते सौम्य रोचते ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य सुभाषितम् ॥ ४ ॥
सुग्रीवः परमप्रीतो वाक्यमेतदुवाच ह ।

'सौम्य ! यदि तुम्हारी रुचि हो तो अब किष्किन्धासे बाहर निकलो।' लक्ष्मणकी यह सुन्दर बात सुनकर सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—॥ ४½ ॥

एवं भवतु गच्छाम स्थेयं त्वच्छासने मया ॥ ५ ॥
तमेवमुक्त्वा सुग्रीवो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विसर्जयामास तदा ताराद्याश्चैव योषितः ॥ ६ ॥

'अच्छा, ऐसा ही हो। चलिये, चलें। मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन करना है।' शुभ लक्षणोंसे युक्त लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुग्रीवने तारा आदि सब स्त्रियोंको तत्काल विदा कर दिया ॥ ५-६ ॥

एहीत्युच्चैर्हरिवरान् सुग्रीवः समुदाहरत् ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा हरयः शीघ्रमाययुः ॥ ७ ॥
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः ।

इसके बाद सुग्रीवने शेष वानरोंको 'आओ, आओ' कहकर उच्चस्वरसे पुकारा। उनकी वह पुकार सुनकर सब वानर, जो अन्तःपुरकी स्त्रियोंको देखनेके अधिकारी थे, दोनों हाथ जोड़े शीघ्रतापूर्वक उनके पास आये ॥ ७½ ॥

तानुवाच ततः प्राप्तान् राजार्कसदृशप्रभः ॥ ८ ॥
उपस्थापयत क्षिप्रं शिबिकां मम वानराः ।

पास आये हुए उन वानरोंसे सूर्यतुल्य तेजस्वी राजा सुग्रीवने कहा—'वानरो ! तुमलोग शीघ्र मेरी शिबिकाको यहाँ ले आओ' ॥ ८½ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य हरयः शीघ्रविक्रमाः ॥ ९ ॥
समुपस्थापयामासुः शिबिकां प्रियदर्शनाम् ।

उनकी बात सुनकर शीघ्रगामी वानरोंने एक सुन्दर शिबिका (पालकी) वहाँ उपस्थित कर दी ॥ ९½ ॥

तामुपस्थापितां दृष्ट्वा शिबिकां वानराधिपः ॥ १० ॥
लक्ष्मणारुह्यतां शीघ्रमिति सौमित्रिमब्रवीत् ।

पालकीको वहाँ उपस्थित देख वानरराज सुग्रीवने सुमित्राकुमारसे कहा—'कुमार लक्ष्मण ! आप शीघ्र इसपर आरूढ़ हो जायँ' ॥ १०½ ॥

इत्युक्त्वा काञ्चनं यानं सुग्रीवः सूर्यसंनिभम् ॥ ११ ॥
बहुभिर्हरिभिर्युक्तमारुरोह सलक्ष्मणः ।

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित सुग्रीव उस सूर्यकी-सी प्रभावाली सुवर्णमयी पालकीपर, जिसे ढोनेके लिये बहुतसे वानर लगे थे, आरूढ़ हुए ॥ ११½ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ १२ ॥
शुक्लैश्च वालव्यजनैर्धूयमानैः समन्ततः ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च वन्दिभिश्चाभिनन्दितः ॥ १३ ॥
निर्ययौ प्राप्य सुग्रीवो राज्यश्रियमनुत्तमाम् ।

उस समय सुग्रीवके ऊपर श्वेत छत्र लगाया गया और सब ओरसे सफेद चँवर डुलाये जाने लगे। शङ्ख और भेरीकी ध्वनिके साथ वन्दीजनोंका अभिनन्दन सुनते हुए राजा सुग्रीव परम उत्तम राजलक्ष्मीको पाकर किष्किन्धापुरीसे बाहर निकले ॥ १२-१३½ ॥

स वानरशतैस्तीक्ष्णैर्बहुभिः शस्त्रपाणिभिः ॥ १४ ॥
परिकीर्णो ययौ तत्र यत्र रामो व्यवस्थितः ।

हाथमें शस्त्र लिये तीक्ष्ण स्वभाववाले कई सौ वानरोंसे घिरे हुए राजा सुग्रीव उस स्थानपर गये, जहाँ भगवान् श्रीराम निवास करते थे ॥ १४½ ॥

स तं देशमनुप्राप्य श्रेष्ठं रामनिषेवितम् ॥ १५ ॥
अवातरन्महातेजाः शिबिकायाः सलक्ष्मणः ।
आसाद्य च ततो रामं कृताञ्जलिपुटोऽभवत् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीसे सेवित उस श्रेष्ठ स्थानमें पहुँचकर

लक्ष्मणसहित महातेजस्वी सुग्रीव पालकीसे उतरे और श्रीरामके पास जा हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १५-१६ ॥

कृताञ्जलौ स्थिते तस्मिन् वानराश्चाभवंस्तथा।
तटाकमिव तं दृष्ट्वा रामः कुड्मलपङ्कजम् ॥ १७ ॥
वानराणां महत् सैन्यं सुग्रीवे प्रीतिमानभूत्।

वानरराजके हाथ जोड़कर खड़े होनेपर उनके अनुयायी वानर भी उन्हींकी भाँति अञ्जलि बाँधे खड़े हो गये। मुकुलित कमलोंसे भरे हुए विशाल सरोवरकी भाँति वानरोंकी उस बड़ी भारी सेनाको देखकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १७½ ॥

पादयोः पतितं मूर्ध्ना तमुत्थाप्य हरीश्वरम् ॥ १८ ॥
प्रेम्णा च बहुमानाच्च राघवः परिषस्वजे।

वानरराजको चरणोंमें मस्तक रखकर पड़ा हुआ देख श्रीरघुनाथजीने हाथसे पकड़कर उठाया और बड़े आदर तथा प्रेमके साथ उन्हें हृदयसे लगाया ॥ १८½ ॥

परिष्वज्य च धर्मात्मा निषीदेति ततोऽब्रवीत् ॥ १९ ॥
निषण्णं तं ततो दृष्ट्वा क्षितौ रामोऽब्रवीत् ततः।

हृदयसे लगाकर धर्मात्मा श्रीरामने उनसे कहा—'बैठो'। उन्हें पृथ्वीपर बैठा देख श्रीराम बोले—॥ १९½ ॥

धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥ २० ॥
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ॥ २१ ॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते।

'वीर! वानरशिरोमणे! जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके सदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वही श्रेष्ठ राजा है; किंतु जो धर्म-अर्थका त्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, वह वृक्षकी अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है। गिरनेपर ही उसकी आँख खुलती है ॥ २०-२१½ ॥

अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥ २२ ॥
त्रिवर्गफलभोक्ता च राजा धर्मेण युज्यते।

'जो राजा शत्रुओंके वध और मित्रोंके संग्रहमें संलग्न रहकर योग्य समयपर धर्म, अर्थ और कामका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है ॥ २२½ ॥

उद्योगसमयस्त्वेष प्राप्तः शत्रुनिषूदन ॥ २३ ॥
संचिन्त्यतां हि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः।

'शत्रुसूदन! यह हमलोगोंके लिये उद्योगका समय आया है। वानरराज! तुम इस विषयमें इन वानरों और मन्त्रियोंके साथ विचार करो' ॥ २३½ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
प्रणष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम्।
त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया ॥ २५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनसे कहा—'महाबाहो! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चला आनेवाला वानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। आपकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है ॥ २४-२५ ॥

तव देव प्रसादाच्च भ्रातुश्च जयतां वर।
कृतं न प्रतिकुर्याद् यः पुरुषाणां हि दूषकः ॥ २६ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ देव! आप और आपके भाईकी कृपासे ही मैं वानर-राज्यपर पुनः प्रतिष्ठित हुआ हूँ। जो किये हुए उपकारका बदला नहीं चुकाता है, वह पुरुषोंमें धर्मको कलङ्कित करनेवाला माना गया है ॥ २६ ॥

एते वानरमुख्याश्च शतशः शत्रुसूदन।
प्राप्ताश्चादाय बलिनः पृथिव्यां सर्ववानरान् ॥ २७ ॥

'शत्रुसूदन! ये सैकड़ों बलवान् और मुख्य वानर भूमण्डलके सभी बलशाली वानरोंको साथ लेकर यहाँ आये हैं ॥ २७ ॥

ऋक्षाश्च वानराः शूरा गोलाङ्गूलाश्च राघव।
कान्तारवनदुर्गाणामभिज्ञा घोरदर्शनाः ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन! इनमें रीछ हैं, वानर हैं और शौर्यसम्पन्न गोलाङ्गूल (लंगूर) हैं। ये सब-के-सब देखनेमें बड़े भयंकर हैं और बीहड़ वनों तथा दुर्गम स्थानोंके जानकार हैं ॥२८॥

देवगन्धर्वपुत्राश्च वानराः कामरूपिणः।
स्वैः स्वैः परिवृताः सैन्यैर्वर्तन्ते पथि राघव ॥ २९ ॥

'रघुनाथजी! जो देवताओं और गन्धर्वोंके पुत्र हैं और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं, वे श्रेष्ठ वानर अपनी-अपनी सेनाओंके साथ चल पड़े हैं और इस समय मार्गमें हैं ॥ २९ ॥

शतैः शतसहस्रैश्च वर्तन्ते कोटिभिस्तथा।
अयुतैश्चावृता वीर शङ्कुभिश्च परंतप ॥ ३० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! इनमेंसे किसीके साथ सौ, किसीके साथ लाख, किसीके साथ करोड़, किसीके साथ अयुत (दस हजार) और किसीके साथ एक शङ्कु वानर हैं ॥ ३० ॥

अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानराः।
समुद्राश्च परार्धाश्च हरयो हरियूथपाः ॥ ३१ ॥

'कितने ही वानर अर्बुद (दस करोड़), सौ अर्बुद (दस अरब), मध्य (दस पद्म) तथा अन्त्य (एक पद्म) वानर-सैनिकोंके साथ आ रहे हैं। कितने ही वानरों तथा

वानर-यूथपतियोंकी संख्या समुद्र (दस नील) तथा परार्ध (शंख) तक पहुँच गयी है* ॥ ३१ ॥

आगमिष्यन्ति ते राजन् महेन्द्रसमविक्रमाः ।
मेघपर्वतसंकाशा मेरुविन्ध्यकृतालयाः ॥ ३२ ॥

'राजन् ! वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी तथा मेघों और पर्वतोंके समान विशालकाय वानर, जो मेरु और विन्ध्याचलमें निवास करते हैं, यहाँ शीघ्र ही उपस्थित होंगे ॥ ३२ ॥

ते त्वामभिगमिष्यन्ति राक्षसं योद्धुमाहवे ।
निहत्य रावणं युद्धे ह्यानयिष्यन्ति मैथिलीम् ॥ ३३ ॥

'जो युद्धमें रावणका वध करके मिथिलेशकुमारी सीताको लङ्कासे ला देंगे, वे महान् शक्तिशाली वानर संग्राममें उस राक्षससे युद्ध करनेके लिये अवश्य आपके पास आयेंगे' ॥ ३३ ॥

ततः समुद्योगमवेक्ष्य वीर्यवान्
हरिप्रवीरस्य निदेशवर्तिनः ।
बभूव हर्षाद् वसुधाधिपात्मजः
प्रबुद्धनीलोत्पलतुल्यदर्शनः ॥ ३४ ॥

यह सुनकर परम पराक्रमी राजकुमार श्रीराम अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले वानरोंके प्रमुख वीर सुग्रीवका यह सैन्य-विषयक उद्योग देखकर बड़े प्रसन्न हुए । उनके नेत्र हर्षसे खिल उठे और प्रफुल्ल नील कमलके समान दिखायी देने लगे ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामचन्द्रजीका सुग्रीवके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा विभिन्न वानर-यूथपतियोंका अपनी सेनाओंके साथ आगमन

इति ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृतां वरः ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अपनी दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया और हाथ जोड़कर खड़े हुए उनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भविष्यति ।
आदित्योऽसौ सहस्रांशुः कुर्याद् वितिमिरं नभः ॥ २ ॥
चन्द्रमा रजनीं कुर्यात् प्रभया सौम्य निर्मलाम् ।
त्वद्विधो वापि मित्राणां प्रीतिं कुर्यात् परंतप ॥ ३ ॥

'सखे ! इन्द्र जो जलकी वर्षा करते हैं, सहस्रों किरणोंसे शोभा पानेवाले सूर्यदेव जो आकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं तथा सौम्य ! चन्द्रमा अपनी प्रभासे जो अँधेरी रातको भी उज्ज्वल कर देते हैं, इसमे कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि यह उनका स्वाभाविक गुण है । शत्रुओंको संताप देनेवाले सुग्रीव ! इसी तरह तुम्हारे समान पुरुष भी यदि अपने मित्रोंका उपकार करके उन्हें प्रसन्न कर दें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ॥ २-३ ॥

एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद् यत् सौम्य शोभनम् ।
जानाम्यहं त्वां सुग्रीव सततं प्रियवादिनम् ॥ ४ ॥

'सौम्य सुग्रीव ! इसी प्रकार तुममें जो मित्रोंका हित-साधनरूप कल्याणकारी गुण है, वह आश्चर्यका विषय नहीं है; क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम सदा प्रिय बोलनेवाले हो—यह तुम्हारा स्वाभाविक गुण है ॥ ४ ॥

त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन् ।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

'सखे ! तुम्हारी सहायतासे सनाथ होकर मैं युद्धमें समस्त शत्रुओंको जीत लूँगा । तुम्हीं मेरे हितैषी मित्र हो और मेरी सहायता कर सकते हो ॥ ५ ॥

जहारात्मविनाशाय मैथिलीं राक्षसाधमः ।
वञ्चयित्वा तु पौलोमीमनुह्लादो यथा शचीम् ॥ ६ ॥

'राक्षसाधम रावणने अपना नाश करनेके लिये ही मिथिलेशकुमारीको धोखा देकर उसका अपहरण किया है । ठीक उसी तरह, जैसे अनुह्लादने अपने विनाशके लिये

* यहाँ अर्बुद, शङ्कु, अन्त्य और मध्य आदि संख्यावाचक शब्दोंका आधुनिक गणितके अनुसार मान समझनेके लिये प्राचीन संज्ञाओंका पूर्णरूपसे उल्लेख किया जाता है और कोष्ठमें उसका आधुनिक मान दिया जा रहा है—एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार), अयुत (दस हजार), लक्ष (लाख), प्रयुत (दस लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), अब्ज (अरब), खर्व (दस अरब), निखर्व (खर्व), महापद्म (दस खर्व), शङ्कु (नील), जलधि (दस नील), अन्त्य (पद्म), मध्य (दस पद्म), परार्ध (शंख)—ये संख्याबोधक संज्ञाएँ उत्तरोत्तर दसगुनी मानी गयी हैं । (नारदपुराणसे)

ही पुलोमपुत्री शचीको छलपूर्वक हर लिया था* ॥ ६ ॥

नचिरात् तं वधिष्यामि रावणं निशितैः शरैः।
पौलोम्याः पितरं दृप्तं शतक्रतुरिवारिहा ॥ ७ ॥

'जैसे शत्रुहन्ता इन्द्रने शचीके घमंडी पिताको मार डाला था, उसी प्रकार मैं भी शीघ्र ही अपने तीखे बाणोंसे रावणका वध कर डालूँगा' ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव रजः समभिवर्तत।
उष्णतीव्रां सहस्रांशोश्छादयद् गगने प्रभाम् ॥ ८ ॥

श्रीराम और सुग्रीवमें जब इस प्रकार बातें हो रही थीं, उसी समय बड़े जोरकी धूल उठी, जिसने आकाशमें फैलकर सूर्यकी प्रचण्ड प्रभाको ढक दिया ॥ ८ ॥

दिशः पर्याकुलाश्चासंस्तमसा तेन दूषिताः।
चचाल च मही सर्वा सशैलवनकानना ॥ ९ ॥

फिर तो उस धूलजनित अन्धकारसे सम्पूर्ण दिशाएँ दूषित एवं व्याप्त हो गयीं तथा पर्वत, वन और काननोंके साथ समूची पृथ्वी डगमग होने लगी ॥ ९ ॥

ततो नगेन्द्रसंकाशैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाबलैः।
कृत्स्ना संछादिता भूमिरसंख्येयैः प्लवंगमैः ॥ १० ॥

तदनन्तर पर्वतराजके समान शरीर और तीखी दाढ़वाले असंख्य महाबली वानरोंसे वहाँकी सारी भूमि आच्छादित हो गयी ॥ १० ॥

निमेषान्तरमात्रेण ततस्तैर्हरियूथपैः।
कोटीशतपरीवारैर्वानरैर्हरियूथपैः ॥ ११ ॥

पलक मारते-मारते अरबों वानरोंसे घिरे हुए अनेकानेक यूथपतियोंने वहाँ आकर सारी भूमिको ढक लिया ॥ ११ ॥

नादेयैः पार्वतेयैश्च सामुद्रैश्च महाबलैः।
हरिभिर्मेघनिर्ह्रादैरन्यैश्च वनवासिभिः ॥ १२ ॥

नदी, पर्वत, वन और समुद्र सभी स्थानोंके निवासी महाबली वानर जुट गये, जो मेघोंकी गर्जनाके समान उच्चस्वरसे सिंहनाद करते थे ॥ १२ ॥

तरुणादित्यवर्णैश्च शशिगौरैश्च वानरैः।
पद्मकेसरवर्णैश्च श्वेतैर्हेमकृतालयैः ॥ १३ ॥

कोई बालसूर्यके समान लाल रंगके थे तो कोई चन्द्रमाके समान गौर वर्णके। कितने ही वानर कमलके केसरोंके समान पीले रंगके थे और कितने ही हिमाचलवासी वानर सफेद दिखायी देते थे ॥ १३ ॥

कोटीसहस्रैर्दशभिः श्रीमान् परिवृतस्तदा।
वीरः शतबलिर्नाम वानरः प्रत्यदृश्यत ॥ १४ ॥

उस समय परम कान्तिमान् शतबलिनामक वीर वानर दस अरब वानरोंके साथ दृष्टिगोचर हुआ ॥ १४ ॥

ततः काञ्चनशैलाभस्ताराया वीर्यवान् पिता।
अनेकैर्बहुसाहस्रैः कोटिभिः प्रत्यदृश्यत ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णशैलके समान सुन्दर एवं विशाल शरीरवाले ताराके महाबली पिता कई सहस्र कोटि वानरोंके साथ वहाँ उपस्थित देखे गये ॥ १५ ॥

तथापरेण कोटीनां सहस्रेण समन्वितः।
पिता रुमायाः सम्प्राप्तः सुग्रीवश्वशुरो विभुः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार रुमाके पिता और सुग्रीवके श्वसुर, जो बड़े वैभवशाली थे, वहाँ उपस्थित हुए। उनके साथ भी दस अरब वानर थे ॥ १६ ॥

पद्मकेसरसंकाशस्तरुणार्कनिभाननः।
बुद्धिमान् वानरश्रेष्ठः सर्ववानरसत्तमः ॥ १७ ॥
अनेकैर्बहुसाहस्रैर्वानराणां समन्वितः।
पिता हनुमतः श्रीमान् केसरी प्रत्यदृश्यत ॥ १८ ॥

तदनन्तर हनुमान्‌जीके पिता कपिश्रेष्ठ श्रीमान् केसरी दिखायी दिये। उनके शरीरका रंग कमलके केसरोंकी भाँति पीला और मुख प्रातःकालके सूर्यके समान लाल था। वे बड़े बुद्धिमान् और समस्त वानरोंमें श्रेष्ठ थे। वे कई सहस्र वानरोंसे घिरे हुए थे ॥ १७-१८ ॥

गोलाङ्गूलमहाराजो गवाक्षो भीमविक्रमः।
वृतः कोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यत ॥ १९ ॥

फिर लंगूर-जातिवाले वानरोंके महाराज भयंकर पराक्रमी गवाक्षका दर्शन हुआ। उनके साथ दस अरब वानरोंकी सेना थी ॥ १९ ॥

ऋक्षाणां भीमवेगानां धूम्रः शत्रुनिबर्हणः।
वृतः कोटिसहस्राभ्यां द्वाभ्यां समभिवर्तत ॥ २० ॥

शत्रुओंका संहार करनेवाले धूम्र भयंकर वेगशाली बीस अरब रीछोंकी सेना लेकर आये ॥ २० ॥

महाचलनिभैर्घोरैः पनसो नाम यूथपः।
आजगाम महावीर्यस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः ॥ २१ ॥

महापराक्रमी यूथपति पनस तीन करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित हुए। वे सब-के-सब बड़े भयंकर तथा महान् पर्वताकार दिखायी देते थे ॥ २१ ॥

नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नामैष यूथपः।
अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः ॥ २२ ॥

यूथपति नीलका शरीर भी बड़ा विशाल था। वे नीले कज्जल गिरिके समान नीलवर्णके थे और दस करोड़ कपियोंसे घिरे हुए थे ॥ २२ ॥

---

* पुलोम दानवकी कन्या शची इन्द्रदेवके प्रति अनुरक्त थीं, परंतु अनुह्लादने उनके पिताको फुसलाकर अपने पक्षमें कर लिया और उसकी अनुमतिसे शचीको हर लिया। जब इन्द्रको इसका पता लगा, तब वे अनुमति देनेवाले पुलोमको और अपहरण करनेवाले अनुह्लादको भी मारकर शचीको अपने घर ले आये। यह पुराण-प्रसिद्ध कथा है। (रामायणतिलकसे)

ततः काञ्चनशैलाभो गवयो नाम यूथपः।
आजगाम महावीर्यः कोटिभिः पञ्चभिर्वृतः ॥ २३ ॥

तदनन्तर यूथपति गवय, जो सुवर्णमय पर्वत मेरुके समान कान्तिमान् और महापराक्रमी थे, पाँच करोड़ वानरोंके साथ उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

दरीमुखश्च बलवान् यूथपोऽभ्याययौ तदा।
वृतः कोटिसहस्रेण सुग्रीवं समवस्थितः ॥ २४ ॥

उसी समय वानरोंके बलवान् सरदार दरीमुख भी आ पहुँचे। वे दस अरब वानरोंके साथ सुग्रीवकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ २४ ॥

मैन्दश्च द्विविदश्चोभावश्विपुत्रौ महाबलौ।
कोटिकोटिसहस्रेण वानराणामदृश्यताम् ॥ २५ ॥

अश्विनीकुमारोंके महाबली पुत्र मैन्द और द्विविद—ये दोनों भाई भी दस-दस अरब वानरोंकी सेनाके साथ वहाँ दिखायी दिये ॥ २५ ॥

गजश्च बलवान् वीरस्तिसृभिः कोटिभिर्वृतः।
आजगाम महातेजाः सुग्रीवस्य समीपतः ॥ २६ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी बलवान् वीर गज तीन करोड़ वानरोंके साथ सुग्रीवके पास आया ॥ २६ ॥

ऋक्षराजो महातेजा जाम्बवान्नाम नामतः।
कोटिभिर्दशभिर्व्याप्तः सुग्रीवस्य वशे स्थितः ॥ २७ ॥

रीछोंके राजा जाम्बवान् बड़े तेजस्वी थे। वे दस करोड़ रीछोंसे घिरे हुए आये और सुग्रीवके अधीन होकर खड़े हुए ॥ २७ ॥

रुमणो नाम तेजस्वी विक्रान्तैर्वानरैर्वृतः।
आगतो बलवांस्तूर्णं कोटीशतसमावृतः ॥ २८ ॥

रुमण (रुमण्वान्) नामक तेजस्वी और बलवान् वानर एक अरब पराक्रमी वानरोंको साथ लिये बड़ी तीव्र गतिसे वहाँ आया ॥ २८ ॥

ततः कोटिसहस्राणां सहस्रेण शतेन च।
पृष्ठतोऽनुगतः प्राप्तो हरिभिर्गन्धमादनः ॥ २९ ॥

इसके बाद यूथपति गन्धमादन उपस्थित हुए। उनके पीछे एक पद्म वानरोंकी सेना आयी थी ॥ २९ ॥

ततः पद्मसहस्रेण वृतः शङ्कुशतेन च।
युवराजोऽङ्गदः प्राप्तः पितुस्तुल्यपराक्रमः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् युवराज अङ्गद आये। ये अपने पिताके समान ही पराक्रमी थे। इनके साथ एक सहस्र पद्म और सौ शंकु (एक पद्म) वानरोंकी सेना थी (इनके सैनिकोंकी कुल संख्या दस शंख एक पद्म थी) ॥ ३० ॥

ततस्तारद्युतिस्तारो हरिभिर्भीमविक्रमैः।
पञ्चभिर्हरिकोटीभिर्दूरतः पर्यदृश्यत ॥ ३१ ॥

तदनन्तर तारोंके समान कान्तिमान् तार नामक वानर पाँच करोड़ भयंकर पराक्रमी वानर वीरोंके साथ दूरसे दिखायी दिया ॥ ३१ ॥

इन्द्रजानुः कपिर्वीरो यूथपः प्रत्यदृश्यत।
एकादशानां कोटीनामीश्वरस्तैश्च संवृतः ॥

इन्द्रजानु (इन्द्रभानु) नामक वीर यूथपति, … ही विद्वान् एवं बुद्धिमान् था, ग्यारह करोड़ वानरों… उपस्थित देखा गया। वह उन सबका स्वामी था ॥ …

ततो रम्भस्त्वनुप्राप्तस्तरुणादित्यसंनिभः।
अयुतेन वृतश्चैव सहस्रेण शतेन च ॥

इसके बाद रम्भनामक वानर उपस्थित हुआ, जो … कालके सूर्यकी भाँति लाल रंगका था। उसके साथ … हजार एक सौ वानरोंकी सेना थी ॥ ३३ ॥

ततो यूथपतिर्वीरो दुर्मुखो नाम वानरः।
प्रत्यदृश्यत कोटीभ्यां द्वाभ्यां परिवृतो बली ॥

तत्पश्चात् वीर यूथपति दुर्मुख नामक बलवान् … उपस्थित देखा गया, जो दो करोड़ वानर सैनिकों… हुआ था ॥ ३४ ॥

कैलासशिखराकारैर्वानरैर्भीमविक्रमैः।
वृतः कोटिसहस्रेण हनुमान् प्रत्यदृश्यत ॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने दर्शन दिया। उनके … कैलासशिखरके समान श्वेत शरीरवाले भयंकर प… वानर दस अरबकी संख्यामें मौजूद थे ॥ ३५ ॥

नलश्चापि महावीर्यः संवृतो द्रुमवासिभिः।
कोटीशतेन सम्प्राप्तः सहस्रेण शतेन च ॥

फिर महापराक्रमी नल उपस्थित हुए, जो एक… एक हजार एक सौ द्रुमवासी वानरोंसे घिरे हुए थे ॥ …

ततो दधिमुखः श्रीमान् कोटिभिर्दशभिर्वृतः।
सम्प्राप्तोऽभिनदंस्तस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥

तदनन्तर श्रीमान् दधिमुख दस करोड़ वानरोंके … गर्जना करते हुए किष्किन्धामें महात्मा सुग्रीवके पास आ…

शरभः कुमुदो वह्निर्वानरो रंह एव च।
एते चान्ये च बहवो वानराः कामरूपिणः ॥
आवृत्य पृथिवीं सर्वां पर्वतांश्च वनानि च।
यूथपाः समनुप्राप्ता येषां संख्या न विद्यते ॥

इनके सिवा शरभ, कुमुद, वह्नि तथा रंह—ये … दूसरे भी बहुत-से इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले … यूथपति सारी पृथ्वी, पर्वत और वनोंको आवृत करके … उपस्थित हुए, जिनकी कोई गणना नहीं की जा सकती …

आगताश्च निविष्टाश्च पृथिव्यां सर्ववानराः।
आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः।
अभ्यवर्तन्त सुग्रीवं सूर्यमभ्रगणा इव ॥

वहाँ आये हुए सभी वानर पृथ्वीपर बैठे । वे सब-के-सब उछलते, कूदते और गर्जते हुए वहाँ सुग्रीवके चारों ओर जमा हो गये । जैसे सूर्यको सब ओरसे घेरकर बादलोंके समूह छा रहे हों ॥ ४० ॥

कुर्वाणा बहुशब्दांश्च प्रकृष्टा बाहुशालिनः ।
शिरोभिर्वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयन् ॥ ४१ ॥

अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले बहुतेरे श्रेष्ठ वानरोंने (जो भीड़के कारण सुग्रीवके पासतक न पहुँच सके थे) अनेक प्रकारकी बोली बोलकर तथा मस्तक झुकाकर वानरराज सुग्रीवको अपने आगमनकी सूचना दी ॥

अपरे वानरश्रेष्ठाः संगम्य च यथोचितम् ।
सुग्रीवेण समागम्य स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ॥ ४२ ॥

बहुत-से श्रेष्ठ वानर उनके पास गये और यथोचितरूपसे मिलकर लौटे तथा कितने ही वानर सुग्रीवसे मिलनेके बाद उनके पास ही हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

सुग्रीवस्त्वरितो रामे सर्वांस्तान् वानरर्षभान् ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञः स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४३ ॥

धर्मके ज्ञाता वानरराज सुग्रीवने वहाँ आये हुए उन सब वानर-शिरोमणियोंका समाचार निवेदन करके श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्रतापूर्वक उनका परिचय दिया, फिर हाथ जोड़कर वे उनके सामने खड़े हो गये ॥ ४३ ॥

यथासुखं पर्वतनिर्झरेषु
वनेषु सर्वेषु च वानरेन्द्राः ।
निवेशयित्वा विधिवद् बलानि
बलं बलज्ञः प्रतिपत्तुमीष्टे ॥ ४४ ॥

उन वानर-यूथपतियोंने वहाँके पर्वतीय झरनोंके आस-पास तथा समस्त वनोंमें अपनी सेनाओंको यथोचितरूपसे सुखपूर्वक ठहरा दिया । तत्पश्चात् सब सेनाओंके ज्ञाता सुग्रीव उनका पूर्णतः ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो सके ॥४४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे सुग्रीवका सीताकी खोजके लिये पूर्व दिशामें वानरोंको भेजना और वहाँके स्थानोंका वर्णन करना

अथ राजा समृद्धार्थः सुग्रीवः प्लवगेश्वरः ।
उवाच नरशार्दूलं रामं परबलार्दनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर बल-वैभवसे सम्पन्न वानरराज राजा सुग्रीव शत्रुसेनाका संहार करनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामसे बोले—॥१॥

आगता विनिविष्टाश्च बलिनः कामरूपिणः ।
वानरेन्द्रा महेन्द्राभा ये मद्विषयवासिनः ॥ २ ॥

'भगवन् ! जो मेरे राज्यमें निवास करते हैं, वे महेन्द्रके समान तेजस्वी, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और बलवान् वानर-यूथपति यहाँ आकर पड़ाव डाले बैठे हैं ॥२॥

त इमे बहुविक्रान्तैर्बलिभिर्भीमविक्रमैः ।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसंनिभाः ॥ ३ ॥

'ये अपने साथ ऐसे बलवान् वानर योद्धाओंको ले आये हैं, जो बहुत-से युद्धस्थलोंमें अपना पराक्रम प्रकट कर चुके हैं और भयंकर पुरुषार्थ कर दिखानेवाले हैं । यहाँ ऐसे-ऐसे वानर उपस्थित हुए हैं, जो दैत्यों और दानवोंके समान भयानक हैं ॥ ३ ॥

ख्यातकर्मापदानाश्च बलवन्तो जितक्लमाः ।
पराक्रमेषु विख्याता व्यवसायेषु चोत्तमाः ॥ ४ ॥

'अनेक युद्धोंमें इन वानर वीरोंकी शूर-वीरताका परिचय मिल चुका है । ये बलके भण्डार हैं, युद्धसे थकते नहीं हैं—इन्होंने थकावटको जीत लिया है । ये अपने पराक्रमके लिये प्रसिद्ध और उद्योग करनेमें श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

पृथिव्यम्बुचरा राम नानानगनिवासिनः ।
कोट्योघाश्च इमे प्राप्ता वानरास्तव किंकराः ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! यहाँ आये हुए ये वानरोंके करोड़ों यूथ विभिन्न पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं । जल और थल—दोनोंमें समानरूपसे चलनेकी शक्ति रखते हैं । ये सब-के-सब आपके किंकर (आज्ञापालक) हैं ॥ ५ ॥

निदेशवर्तिनः सर्वे सर्वे गुरुहिते स्थिताः ।
अभिप्रेतमनुष्ठातुं तव शक्ष्यन्त्यरिंदम ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन ! ये सभी आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले हैं । आप इनके गुरु—स्वामी हैं । ये आपके हित-साधनमें तत्पर रहकर आपके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर सकेंगे ॥ ६ ॥

त इमे बहुसाहस्रैरनीकैर्भीमविक्रमैः ।
आगता वानरा घोरा दैत्यदानवसंनिभाः ॥ ७ ॥

'दैत्यों और दानवोंके समान घोर रूपधारी ये सभी वानर-यूथपति अपने साथ भयंकर पराक्रम करनेवाली कई सहस्र सेनाएँ लेकर आये हैं ॥ ७ ॥

यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम्।
त्वत्सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ॥ ८ ॥

'पुरुषसिंह! अब इस समय आप जो कर्तव्य उचित समझते हैं, उसे बताइये। आपकी यह सेना आपके वशमें है। आप इसे यथोचित कार्यके लिये आज्ञा प्रदान करें ॥८॥

काममेषामिदं कार्यं विदितं मम तत्त्वतः।
तथापि तु यथायुक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'यद्यपि सीताजीके अन्वेषणका यह कार्य इन सबको तथा मुझे भी अच्छी तरह ज्ञात है, तथापि आप जैसा उचित हो, वैसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दें' ॥ ९ ॥

तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब सुग्रीवने ऐसी बात कही, तब दशरथनन्दन श्रीरामने दोनों भुजाओंसे पकड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

ज्ञायतां सौम्य वैदेही यदि जीवति वा न वा।
स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन् वसति रावणः ॥ ११ ॥

'सौम्य! महाप्राज्ञ! पहले यह तो पता लगाओ कि विदेहकुमारी सीता जीवित है या नहीं तथा वह देश, जिसमें रावण निवास करता है, कहाँ है? ॥ ११ ॥

अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
प्राप्तकालं विधास्यामि तस्मिन् काले सह त्वया ॥ १२ ॥

'जब सीताके जीवित होनेका और रावणके निवास-स्थानका निश्चित पता मिल जायगा, तब जो समयोचित कर्तव्य होगा, उसका मैं तुम्हारे साथ मिलकर निश्चय करूँगा ॥ १२ ॥

नाहमस्मिन् प्रभुः कार्ये वानरेन्द्र न लक्ष्मणः।
त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर ॥ १३ ॥

'वानरराज! इस कार्यको सिद्ध करनेमें न तो मैं समर्थ हूँ और न लक्ष्मण ही। कपीश्वर! इस कार्यकी सिद्धि तुम्हारे ही हाथ है। तुम्हीं इसे पूर्ण करनेमें समर्थ हो ॥१३॥

त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्यविनिश्चयम्।
त्वं हि जानासि मे कार्यं मम वीर न संशयः ॥ १४ ॥

'प्रभो! मेरे कार्यका भलीभाँति निश्चय करके तुम्हीं वानरोंको उचित आज्ञा दो। वीर! मेरा कार्य क्या है? इसे तुम्हीं ठीक-ठीक जानते हो, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

सुहृद्द्वितीयो विक्रान्तः प्राज्ञः कालविशेषवित्।
भवानस्मद्धिते युक्तः सुहृदाप्तोऽर्थवित्तमः ॥ १५ ॥

'लक्ष्मणके बाद तुम्हीं मेरे दूसरे सुहृद् हो। तुम पराक्रमी, बुद्धिमान्, समयोचित कर्तव्यके ज्ञाता, हितमें संलग्न रहनेवाले, हितैषी बन्धु, विश्वासपात्र तथा मेरे प्रयोजनको अच्छी तरह समझनेवाले हो' ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो विनतं नाम यूथपम्।
अब्रवीद् रामसांनिध्ये लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ १६ ॥
शैलाभं मेघनिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरम्।
सोमसूर्यनिभैः सार्धं वानरैर्वानरोत्तम ॥ १७ ॥
देशकालनयैर्युक्तो विज्ञः कार्यविनिश्चये।
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ॥ १८ ॥
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम्।
तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥ १९ ॥
मार्गध्वं गिरिदुर्गेषु वनेषु च नदीषु च।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर सुग्रीवने उनके और बुद्धिमान् लक्ष्मणके समीप ही विनत नामक यूथपतिसे, जो पर्वतके समान विशालकाय, मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले, बलवान् तथा वानरोंके शासक थे और चन्द्रमा एवं सूर्यके समान कान्तिवाले वानरोंके साथ उपस्थित हुए थे, कहा—'वानरशिरोमणे! तुम देश और कालके अनुसार नीतिका प्रयोग करनेवाले तथा कार्यका निश्चय करनेमें चतुर हो। तुम एक लाख वेगवान् वानरोंके साथ पर्वत, वन और काननों-सहित पूर्व दिशाकी ओर जाओ और वहाँ पहाड़ोंके दुर्गम प्रदेशों, वनों तथा सरिताओंमें विदेहकुमारी सीता एवं रावण-के निवास-स्थानकी खोज करो ॥ १६—१९½ ॥

नदीं भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा ॥ २० ॥
कालिन्दीं यमुनां रम्यां यामुनं च महागिरिम्।
सरस्वतीं च सिन्धुं च शोणं मणिनिभोदकम् ॥ २१ ॥
महीं कालमहीं चापि शैलकाननशोभिताम्।

'भागीरथी गङ्गा, रमणीय सरयू, कौशिकी, सुरम्य कलिन्द-नन्दिनी यमुना, महापर्वत यामुन, सरस्वती नदी, सिंधु, मणि-के समान निर्मल जलवाले शोणभद्र, मही तथा पर्वतों और वनोंसे सुशोभित कालमही आदि नदियोंके किनारे ढूँढ़ो ॥ २०-२१½ ॥

ब्रह्ममालान् विदेहांश्च मालवान् काशिकोसलान् ॥ २२ ॥
मागधांश्च महाग्रामान् पुण्ड्रांस्त्वङ्गांस्तथैव च।

'ब्रह्ममाल, विदेह, मालव, काशी, कोसल, मगध देश-के बड़े-बड़े ग्राम, पुण्ड्रदेश तथा अङ्ग आदि जनपदोंमें छान-बीन करो ॥ २२½ ॥

भूमिं च कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ॥ २३ ॥
सर्वं च तद् विचेतव्यं मार्गयद्भिस्ततस्ततः।
रामस्य दयितां भार्यां सीतां दशरथस्नुषाम् ॥ २४ ॥

'रेशमके कीड़ोंकी उत्पत्तिके स्थानों और चाँदीकी खानों-में भी खोज करनी चाहिये। इधर-उधर ढूँढ़ते हुए तुम सब लोगोंको इन सभी स्थानोंमें राजा दशरथकी पुत्रवधू तथा श्री-रामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नी सीताका अन्वेषण करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

समुद्रमवगाढांश्च पर्वतान् पत्तनानि च।
मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिता: केचिदालया:॥ २५॥

'समुद्रके भीतर प्रविष्ट हुए पर्वतोंपर, उसके अन्तर्वर्ती द्वीपोंके विभिन्न नगरोंमें तथा मन्दराचलकी चोटीपर जो कोई गाँव बसे हैं, उन सबमें सीताका अनुसंधान करो॥ २५॥

कर्णप्रावरणाश्चैव तथा चाप्योष्ठकर्णका:।
घोरलोहमुखाश्चैव जवनाश्चैकपादका:॥ २६॥
अक्षया बलवन्तश्च तथैव पुरुषादका:।
किरातास्तीक्ष्णचूडाश्च हेमाभा: प्रियदर्शना:॥ २७॥
आममीनाशनाश्चापि किराता द्वीपवासिन:।
अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इति स्मृता:॥ २८॥
एतेषामाश्रया: सर्वे विचेया: काननौकस:।

'जो कर्णप्रावरण (वस्त्रकी भाँति पैरतक लटके हुए कानवाले), ओष्ठकर्णक (ओठतक फैले हुए कानवाले) तथा घोरलोहमुख (लोहेके समान काले एवं भयंकर मुखवाले) हैं, जो एक ही पैरके होते हुए भी वेगपूर्वक चलनेवाले हैं, जिनकी संतानपरम्परा कभी क्षीण नहीं होती, वे पुरुष तथा जो बलवान् नरभक्षी राक्षस हैं, जो सूचीके अग्रभागकी भाँति तीखी चोटीवाले, सुवर्णके समान कान्तिमान्, प्रियदर्शन (सुन्दर), कच्ची मछली खानेवाले, द्वीपवासी तथा जलके भीतर विचरनेवाले किरात हैं, जिनके नीचेका आकार मनुष्य-जैसा और ऊपरकी आकृति व्याघ्रके समान है, ऐसे जो भयंकर प्राणी बताये गये हैं; वानरो! इन सबके निवासस्थानोंमें जाकर तुम्हें सीता तथा रावणकी खोज करनी चाहिये॥ २६—२८½॥

गिरिभिर्ये च गम्यन्ते प्लवनेन प्लवेन च॥ २९॥

'जिन द्वीपोंमें पर्वतोंपर होकर जाना पड़ता है, जहाँ समुद्रको तैरकर या नाव आदिके द्वारा पहुँचा जाता है, उन सब स्थानोंमें सीताको ढूँढ़ना चाहिये॥ २९॥

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्॥ ३०॥

'इसके सिवा तुमलोग यत्नशील होकर सात राज्योंसे सुशोभित यवद्वीप (जावा), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) तथा रूप्यकद्वीपमें भी जो सुवर्णकी खानोंसे सुशोभित हैं, ढूँढ़नेका प्रयत्न करो॥ ३०॥

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वत:।
दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानवसेवित:॥ ३१॥

'यवद्वीपको लाँघकर आगे जानेपर एक शिशिरनामक पर्वत मिलता है, जिसके ऊपर देवता और दानव निवास करते हैं। वह पर्वत अपने उच्च शिखरसे स्वर्गलोकका स्पर्श करता-सा जान पड़ता है॥ ३१॥

एतेषां गिरिदुर्गेषु प्रपातेषु वनेषु च।
मार्गध्वं सहिता: सर्वे रामपत्नीं यशस्विनीम्॥ ३२॥

'इन सब द्वीपोंके पर्वतों तथा शिशिर पर्वतके दुर्गम प्रदेशोंमें, झरनोंके आसपास और जंगलोंमें तुम सब लोग एक साथ होकर श्रीरामचन्द्रजीकी यशस्विनी पत्नी सीताका अन्वेषण करो॥ ३२॥

ततो रक्तजलं प्राप्य शोणाख्यं शीघ्रवाहिनम्।
गत्वा पारं समुद्रस्य सिद्धचारणसेवितम्॥ ३३॥
तस्य तीर्थेषु रम्येषु विचित्रेषु वनेषु च।
रावण: सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्तत:॥ ३४॥

'तदनन्तर समुद्रके उस पार जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं, जाकर लाल जलसे भरे हुए शीघ्र प्रवाहित होनेवाले शोण नामक नदके तटपर पहुँच जाओगे। उसके तटवर्ती रमणीय तीर्थों और विचित्र वनोंमें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारी सीताके साथ रावणको खोज करना॥ ३३-३४॥

पर्वतप्रभवा नद्य: सुभीमबहुनिष्कुटा:।
मार्गितव्या दरीमन्त: पर्वताश्च वनानि च॥ ३५॥

'पर्वतोंसे निकली हुई बहुत-सी ऐसी नदियाँ मिलेंगी, जिनके तटोंपर बड़े भयंकर अनेकानेक उपवन प्राप्त होंगे। साथ ही वहाँ बहुत-सी गुफाओंवाले पर्वत उपलब्ध होंगे और अनेक वन भी दृष्टिगोचर होंगे। उन सबमें सीताका पता लगाना चाहिये॥ ३५॥

तत: समुद्रद्वीपांश्च सुभीमान् द्रष्टुमर्हथ।
ऊर्मिमन्तं महारौद्रं क्रोशन्तमनिलोद्धतम्॥ ३६॥

'तत्पश्चात् पूर्वोक्त देशोंसे परे जाकर तुम इक्षुरससे परिपूर्ण समुद्र तथा उसके द्वीपोंको देखोगे, जो बड़े ही भयंकर प्रतीत होते हैं। इक्षुरसका वह समुद्र महाभयंकर है। उसमें हवाके वेगसे उत्ताल तरङ्गें उठती रहती हैं तथा वह गर्जना करता हुआ-सा जान पड़ता है॥ ३६॥

तत्रासुरा महाकायाश्छायां गृह्णन्ति नित्यश:।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता दीर्घकालं बुभुक्षिता:॥ ३७॥

'उस समुद्रमें बहुत-से विशालकाय असुर निवास करते हैं। वे बहुत दिनोंके भूखे होते हैं और छाया पकड़कर ही प्राणियोंको अपने पास खींच लेते हैं। यही उनका नित्यका आहार है। इसके लिये उन्हें ब्रह्माजीसे अनुमति मिल चुकी है॥ ३७॥

तं कालमेघप्रतिमं महोरगनिषेवितम्।
अभिगम्य महानादं तीर्थेनैव महोदधिम्॥ ३८॥
ततो रक्तजलं भीमं लोहितं नाम सागरम्।
गत्वा प्रेक्ष्यथ तां चैव बृहतीं कूटशाल्मलीम्॥ ३९॥

'इक्षुरसका वह समुद्र काले मेघके समान श्याम दिखायी देता है। बड़े-बड़े नाग उसके भीतर निवास करते हैं। उससे बड़ी भारी गर्जना होती रहती है। विशेष उपायोंसे उस महासागरके पार जाकर तुम लाल रंगके जलसे भरे हुए लोहित नामक भयंकर समुद्रके तटपर पहुँच जाओगे और वहाँ

ल्मलीद्वीपके चिह्नभूत कूटशाल्मली नामक विशाल वृक्षका र्शन करोगे ॥ ३८-३९ ॥

हं च वैनतेयस्य नानारत्नविभूषितम्।
त्र कैलाससंकाशं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४० ॥

'उसके पास ही विश्वकर्माका बनाया हुआ विनतानन्दन रुड़का एक सुन्दर भवन है, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित तथा कैलास पर्वतके समान उज्ज्वल एवं विशाल है ॥ ४० ॥

त्र शैलनिभा भीमा मन्देहा नाम राक्षसाः।
शैलश्रृङ्गेषु लम्बन्ते नानारूपा भयावहाः ॥ ४१ ॥

'उस द्वीपमें पर्वतके समान शरीरवाले भयंकर मंदेहनामक राक्षस निवास करते हैं, जो सुरा समुद्रके मध्यवर्ती शैल-शिखरोंपर लटकते रहते हैं। वे अनेक प्रकारके रूप धारण करनेवाले तथा भयदायक हैं ॥ ४१ ॥

ते पतन्ति जले नित्यं सूर्यस्योदयनं प्रति।
अभितप्ताः स्म सूर्येण लम्बन्ते स्म पुनः पुनः ॥ ४२ ॥
निहता ब्रह्मतेजोभिरहन्यहनि राक्षसाः।

'प्रतिदिन सूर्योदयके समय वे राक्षस ऊर्ध्वमुख होकर सूर्यसे जूझने लगते हैं, परंतु सूर्यमण्डलके तापसे संतप्त तथा ब्रह्मतेजसे निहत हो सुरा-समुद्रके जलमें गिर पड़ते हैं। वहाँसे फिर जीवित हो उन्हीं शैल-शिखरोंपर लटक जाते हैं। उनका बारंबार ऐसा ही क्रम चला करता है ॥ ४२½ ॥

ततः पाण्डुरमेघाभं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥ ४३ ॥

'शाल्मलीद्वीप एवं सुरा-समुद्रसे आगे बढ़नेपर (क्रमशः घृत और दधिके समुद्र प्राप्त होंगे। वहाँ सीताकी खोज करनेके पश्चात् जब आगे बढ़ोगे, तब) सफेद बादलोंकी-सी आभावाले क्षीरसमुद्रका दर्शन करोगे ॥ ४३ ॥

गत्वा द्रक्ष्यथ दुर्धर्षा मुक्ताहारमिवोर्मिभिः।
तस्य मध्ये महाञ्श्वेतो ऋषभो नाम पर्वतः ॥ ४४ ॥

'दुर्धर्ष वानरो! वहाँ पहुँचकर उठती हुई लहरोंसे युक्त क्षीरसागरको इस प्रकार देखोगे, मानो उसने मोतियोंके हार पहन रक्खे हों। उस सागरके बीचमें ऋषभ नामसे प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो श्वेत वर्णका है ॥ ४४ ॥

दिव्यगन्धैः कुसुमितैराचितैश्च नगैर्वृतः।
सरश्च राजतैः पद्मैर्ज्वलितैर्हेमकेसरैः ॥ ४५ ॥
नाम्ना सुदर्शनं नाम राजहंसैः समाकुलम्।

'उस पर्वतपर सब ओर बहुत-से वृक्ष भरे हुए हैं, जो फूलोंसे सुशोभित तथा दिव्य गन्धसे सुवासित हैं। उसके ऊपर सुदर्शन नामका एक सरोवर है, जिसमें चाँदीके समान श्वेत रंगवाले कमल खिले हुए हैं। उन कमलोंके केसर सुवर्णमय होते हैं और सदा दिव्य दीप्तिसे दमकते रहते हैं। वह सरोवर राजहंसोंसे भरा रहता है ॥ ४५½ ॥

विबुधाश्चारणा यक्षाः किंनराश्चाप्सरोगणाः ॥ ४६ ॥
हृष्टाः समधिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः।

'देवता, चारण, यक्ष, किन्नर और अप्सराएँ बड़ी प्रसन्नताके साथ जल-विहार करनेके लिये वहाँ आया करती हैं ॥ ४६½ ॥

क्षीरोदं समतिक्रम्य तदा द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ४७ ॥
जलोदं सागरं शीघ्रं सर्वभूतभयावहम्।
तत्र तत्कोपजं तेजः कृतं हयमुखं महत् ॥ ४८ ॥

'वानरो! क्षीरसागर लाँघकर जब तुमलोग आगे बढ़ोगे, तब शीघ्र ही सुस्वादु जलसे भरे हुए समुद्रको देखोगे। वह महासागर समस्त प्राणियोंको भय देनेवाला है। उसमें ब्रह्मर्षि और्वके कोपसे प्रकट हुआ वडवामुख नामक महान् तेज विद्यमान है ॥ ४७-४८ ॥

अस्याहुस्तन्महावेगमोदनं सचराचरम्।
तत्र विक्रोशतां नादो भूतानां सागरौकसाम्।
श्रूयते चासमर्थानां दृष्ट्वाभूद् वडवामुखम् ॥ ४९ ॥

'उस समुद्रमें जो चराचर प्राणियोंसहित महान् वेगशाली जल है, वही उस वडवामुख नामक अग्निका आहार बताया जाता है। वहाँ जो वडवानल प्रकट हुआ है, उसे देखकर उसमें पतनके भयसे चीखते-चिल्लाते हुए समुद्रनिवासी असमर्थ प्राणियोंका आर्तनाद निरन्तर सुनायी देता है ॥ ४९ ॥

स्वादूदस्योत्तरे तीरे योजनानि त्रयोदश।
जातरूपशिलो नाम सुमहान् कनकप्रभः ॥ ५० ॥

'स्वादिष्ट जलसे भरे हुए उस समुद्रके उत्तर तेरह योजनकी दूरीपर सुवर्णमयी शिलाओंसे सुशोभित, कनककी कमनीय कान्ति धारण करनेवाला एक बहुत ऊँचा पर्वत है ॥ ५० ॥

तत्र चन्द्रप्रतीकाशं पन्नगं धरणीधरम्।
पद्मपत्रविशालाक्षं ततो द्रक्ष्यथ वानराः ॥ ५१ ॥
आसीनं पर्वतस्याग्रे सर्वदेवनमस्कृतम्।
सहस्रशिरसं देवमनन्तं नीलवाससम् ॥ ५२ ॥

'वानरो! उसके शिखरपर इस पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवान् अनन्त बैठे दिखायी देंगे। उनका श्रीविग्रह चन्द्रमा-के समान गौरवर्णका है। वे सर्प जातिके हैं; परंतु उनका स्वरूप देवताओंके तुल्य है। उनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान हैं और शरीर नील वस्त्रसे आच्छादित है। उन अनन्तदेवके सहस्र मस्तक हैं ॥ ५१-५२ ॥

त्रिशिराः काञ्चनः केतुस्तालस्तस्य महात्मनः।
स्थापितः पर्वतस्याग्रे विराजति सवेदिकः ॥ ५३ ॥

'पर्वतके ऊपर उन महात्माकी ताड़के चिह्नसे युक्त सुवर्ण-मयी ध्वजा फहराती रहती है। उस ध्वजाकी तीन शिखाएँ हैं और उसके नीचे आधारभूमिपर वेदी बनी हुई है। इस तरह उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती है ॥ ५३ ॥

पूर्वस्यां दिशि निर्माणं कृतं तत् त्रिदशेश्वरैः ।
ततः परं हेममयः श्रीमानुदयपर्वतः ॥ ५४ ॥

'यही तालध्वज पूर्व दिशाकी सीमाके सूचकचिह्नके रूपमें देवताओंद्वारा स्थापित किया गया है। उसके बाद सुवर्णमय उदयपर्वत है, जो दिव्य शोभासे सम्पन्न है ॥ ५४ ॥

तस्य कोटिर्दिवं स्पृष्ट्वा शतयोजनमायता ।
जातरूपमयी दिव्या विराजति सवेदिका ॥ ५५ ॥

'उसका गगनचुम्बी शिखर सौ योजन लंबा है। उसका आधारभूत पर्वत भी वैसा ही है। उसके साथ वह दिव्य सुवर्णशिखर अद्भुत शोभा पाता है ॥ ५५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ।
जातरूपमयैर्दिव्यैः शोभते सूर्यसंनिभैः ॥ ५६ ॥

'वहाँके साल, ताल, तमाल और फूलोंसे लदे कनेर आदि वृक्ष भी सुवर्णमय ही हैं। उन सूर्यतुल्य तेजस्वी दिव्य वृक्षोंसे उदयगिरिकी बड़ी शोभा होती है ॥ ५६ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ।
शृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥

'उस सौ योजन लंबे उदयगिरिके शिखरपर एक सौमनस नामक सुवर्णमय शिखर है, जिसकी चौड़ाई एक योजन और ऊँचाई दस योजन है ॥ ५७ ॥

तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुस्त्रिविक्रमे ।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः ॥ ५८ ॥

'पूर्वकालमें वामन अवतारके समय पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने अपना पहला पैर उस सौमनस नामक शिखरपर रखकर दूसरा पैर मेरु पर्वतके शिखरपर रक्खा था ॥ ५८ ॥

उत्तरेण परिक्रम्य जम्बूद्वीपं दिवाकरः ।
दृश्यो भवति भूयिष्ठं शिखरं तन्महोच्छ्रयम् ॥ ५९ ॥

'सूर्यदेव उत्तरसे घूमकर जम्बूद्वीपकी परिक्रमा करते हुए जब अत्यन्त ऊँचे 'सौमनस' नामक शिखरपर आकर स्थित होते हैं, तब जम्बूद्वीपनिवासियोंको उनका अधिक स्पष्टताके साथ दर्शन होता है ॥ ५९ ॥

तत्र वैखानसा नाम वालखिल्या महर्षयः ।
प्रकाशमाना दृश्यन्ते सूर्यवर्णास्तपस्विनः ॥ ६० ॥

'उस सौमनस नामक शिखरपर वैखानस महात्मा महर्षि वालखिल्यगण प्रकाशित होते देखे जाते हैं, जो सूर्यके समान कान्तिमान् और तपस्वी हैं ॥ ६० ॥

अयं सुदर्शनो द्वीपः पुरो यस्य प्रकाशते ।
तस्मिंस्तेजश्च चक्षुश्च सर्वप्राणभृतामपि ॥ ६१ ॥

'यह उदयगिरिके सौमनस शिखरके सामनेका द्वीप सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध है; क्योंकि उक्त शिखरपर जब भगवान् सूर्य उदित होते हैं, तभी इस द्वीपके समस्त प्राणियों-का तेजसे सम्बन्ध होता है और सबके नेत्रोंको प्रकाश प्राप्त होता है (यही इस द्वीपके 'सुदर्शन' नाम होनेका कारण है) ॥ ६१ ॥

शैलस्य तस्य पृष्ठेषु कन्दरेषु वनेषु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६२ ॥

'उदयाचलके पृष्ठभागोंमें, कन्दराओंमें तथा वनोंमें भी तुम्हें जहाँ-तहाँ विदेहकुमारी सीतासहित रावणका पता लगाना चाहिये ॥ ६२ ॥

काञ्चनस्य च शैलस्य सूर्यस्य च महात्मनः ।
आविष्टा तेजसा संध्या पूर्वा रक्ता प्रकाशते ॥ ६३ ॥

'उस सुवर्णमय उदयाचल तथा महात्मा सूर्यदेवके तेजसे व्याप्त हुई उदयकालिक पूर्व संध्या रक्तवर्णकी प्रभासे प्रकाशित होती है ॥ ६३ ॥

पूर्वमेतत् कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च ।
सूर्यस्योदयनं चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते ॥ ६४ ॥

'सूर्यके उदयका यह स्थान सबसे पहले ब्रह्माजीने बनाया है; अतः यही पृथ्वी एवं ब्रह्मलोकका द्वार है (ऊपरके लोकोंमें रहनेवाले प्राणी इसी द्वारसे भूलोकमें प्रवेश करते हैं तथा भूलोकके प्राणी इसी द्वारसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं)। पहले इसी दिशामें इस द्वारका निर्माण हुआ, इसलिये इसे पूर्व दिशा कहते हैं ॥ ६४ ॥

तस्य शैलस्य पृष्ठेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ६५ ॥

'उदयाचलकी घाटियों, झरनों और गुफाओंमें यत्र-तत्र घूमकर तुम्हें विदेहकुमारी सीतासहित रावणका अन्वेषण करना चाहिये ॥ ६५ ॥

ततः परमगम्या स्याद् दिक्पूर्वा त्रिदशावृता ।
रहिता चन्द्रसूर्याभ्यामदृश्या तमसावृता ॥ ६६ ॥

'इससे आगे पूर्व दिशा अगम्य है। उधर देवता रहते हैं। उस ओर चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश न होनेसे वहाँकी भूमि अन्धकारसे आच्छन्न एवं अदृश्य है ॥ ६६ ॥

शैलेषु तेषु सर्वेषु कन्दरेषु नदीषु च ।
ये च नोक्ता मयोद्देशा विचेया तेषु जानकी ॥ ६७ ॥

'उदयाचलके आस-पासके जो समस्त पर्वत, कन्दराएँ तथा नदियाँ हैं, उनमें तथा जिन स्थानोंका मैंने निर्देश नहीं किया है, उनमें भी तुम्हें जानकीकी खोज करनी चाहिये ॥ ६७ ॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः ।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ६८ ॥

'वानरशिरोमणियो! केवल उदयगिरितक ही वानरोंकी पहुँच हो सकती है। इससे आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न देश आदिकी कोई सीमा ही है। अतः आगेकी भूमिके बारेमें मुझे कुछ भी मालूम नहीं है ॥ ६८ ॥

अभिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम्॥ ६९॥

'तुमलोग उदयाचलतक जाकर सीता और रावणके स्थानका पता लगाना और एक मास पूरा होते-होतेतक लौट आना॥ ६९॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम।
सिद्धार्थाः संनिवर्तध्वमधिगम्य च मैथिलीम्॥ ७०॥

'एक महीनेसे अधिक न ठहरना। जो अधिक कालतक वहाँ रह जायगा, वह मेरे द्वारा मारा जायगा। मिथिलेश-कुमारीका पता लगाकर अन्वेषणका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर अवश्य लौट आना॥ ७०॥

महेन्द्रकान्तां वनषण्डमण्डितां
दिशं चरित्वा निपुणेन वानराः।
अवाप्य सीतां रघुवंशजप्रियां
ततो निवृत्ताः सुखिनो भविष्यथ॥ ७१॥

'वानरो! वनसमूहसे अलंकृत पूर्वदिशामें अच्छी तरह भ्रमण करके श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी पत्नी सीताका समाचार जानकर तुम वहाँसे लौट आओ। इससे तुम सुखी होओगे'॥ ७१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः॥ ४०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४०॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका दक्षिण दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए वहाँ प्रमुख वानर वीरोंको भेजना

ततः प्रस्थाप्य सुग्रीवस्तन्महद्वानरं बलम्।
दक्षिणां प्रेषयामास वानरानभिलक्षितान्॥ १॥

इस प्रकार वानरोंकी बहुत बड़ी सेनाको पूर्व दिशामें प्रस्थापित करके सुग्रीवने दक्षिण-दिशाकी ओर चुने हुए वानरोंको जो भलीभाँति परख लिये गये थे, भेजा॥ १॥

नीलमग्निसुतं चैव हनूमन्तं च वानरम्।
पितामहसुतं चैव जाम्बवन्तं महौजसम्॥ २॥
सुहोत्रं च शरारिं च शरगुल्मं तथैव च।
गजं गवाक्षं गवयं सुषेणं वृषभं तथा॥ ३॥
मैन्दं च द्विविदं चैव सुषेणं गन्धमादनम्।
उल्कामुखमनङ्गं च हुताशनसुतावुभौ॥ ४॥
अङ्गदप्रमुखान् वीरान् वीरः कपिगणेश्वरः।
वेगविक्रमसम्पन्नान् संदिदेश विशेषवित्॥ ५॥

अग्निपुत्र नील, कपिवर हनुमान्‌जी, ब्रह्माजीके महाबली पुत्र जाम्बवान्, सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेण[1] (प्रथम), वृषभ, मैन्द, द्विविद, सुषेण (द्वितीय), गन्धमादन, हुताशनके दो पुत्र उल्कामुख और अनङ्ग (असङ्ग) तथा अङ्गद आदि प्रधान-प्रधान वीरोंको, जो महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न थे, विशेषज्ञ वानरराज सुग्रीवने दक्षिणकी ओर जानेकी आज्ञा दी॥ २-५॥

तेषामग्रेसरं चैव बृहद्बलमथाङ्गदम्।
विधाय हरिवीराणामादिशद् दक्षिणां दिशम्॥ ६॥

महान् बलशाली अङ्गदको उन समस्त वानर वीरोंका अगुआ बनाकर उन्हें दक्षिण दिशामें सीताकी खोजका भार सौंपा॥ ६॥

ये केचन समुद्देशास्तस्यां दिशि सुदुर्गमाः।
कपीशः कपिमुख्यानां स तेषां समुदाहरत्॥ ७॥

उस दिशामें जो कोई भी स्थान अत्यन्त दुर्गम थे, उनका भी कपिराज सुग्रीवने उन श्रेष्ठ वानरोंको परिचय दिया*॥ ७॥

सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम्।
नर्मदां च नदीं रम्यां महोरगनिषेविताम्॥ ८॥
ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम्।
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम्।
मेखलानुत्कलांश्चैव दशार्णनगराण्यपि॥ ९॥
आब्रवन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत।

वे बोले—'वानरो! तुमलोग भाँति-भाँतिके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित सहस्रों शिखरोंवाले विन्ध्यपर्वत, बड़े-बड़े नागोंसे सेवित रमणीय नर्मदा नदी, सुरम्य गोदावरी, महानदी, कृष्णवेणी तथा बड़े-बड़े नागोंसे सेवित महाभागा वरदा आदि नदियोंके तटोंपर और मेखल (मेकल), उत्कल एवं दशार्ण देशके नगरोंमें तथा आब्रवन्ती और अवन्तीपुरीमें भी सब जगह सीताकी खोज करो॥ ८-९½॥

[1] सुषेण दो थे—एक ताराके पिता और दूसरा उनसे भिन्न वानरयूथपति था।

* यहाँ दक्षिण दिशाका विभाग किष्किन्धासे न करके आर्यावर्तसे किया गया है। पूर्व समुद्रसे पश्चिम समुद्र और हिमाचलसे विन्ध्यके भागको आर्यावर्त कहते हैं। सुग्रीवने दक्षिण दिशाके जिन स्थानोंका परिचय दिया है, उनकी सङ्गति आर्यावर्तसे ही दिशाका विभाजन करनेपर लगती है।

विदर्भानृष्टिकांश्चैव रम्यान् माहिषकानपि ॥ १० ॥
तथा वङ्गान् कलिङ्गांश्च कौशिकांश्च समन्ततः ।
अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहाम् ॥ ११ ॥
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत ।
तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान् पाण्ड्यांश्च केरलान् ॥ १२ ॥

'इसी प्रकार विदर्भ, ऋष्टिक, रम्य माहिषक देश, वङ्ग, कलिङ्ग तथा कौशिक आदि देशोंमें सब ओर देखभाल करके पर्वत, नदी और गुफाओंसहित समूचे दण्डकारण्यमें छानबीन करना। वहाँ जो गोदावरी नदी है, उसमें सब ओर बारंबार देखना। इसी प्रकार आन्ध्र, पुण्ड्र, चोल, पाण्ड्य तथा केरल आदि देशोंमें भी ढूँढ़ना ॥ १०–१२ ॥

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः ।
विचित्रशिखरः श्रीमांश्चित्रपुष्पितकाननः ॥ १३ ॥
सुचन्दनवनोद्देशो मार्गितव्यो महागिरिः ।

'तदनन्तर अनेक धातुओंसे अलंकृत अयोमुख[2] (मलय) पर्वतपर भी जाना, उसके शिखर बड़े विचित्र हैं। वह शोभाशाली पर्वत फूले हुए विचित्र काननोंसे युक्त है। उसके सभी स्थानोंमें सुन्दर चन्दनके वन हैं। उस महापर्वत मलयपर सीताकी अच्छी तरह खोज करना ॥ १३½ ॥

ततस्तामापगां दिव्यां प्रसन्नसलिलाशयाम् ॥ १४ ॥
तत्र द्रक्ष्यथ कावेरीं विहृतामप्सरोगणैः ।

'तत्पश्चात् स्वच्छ जलवाली दिव्य नदी कावेरीको देखना, जहाँ अप्सराएँ विहार करती हैं ॥ १४½ ॥

तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम् ॥ १५ ॥
द्रक्ष्यथादित्यसंकाशमगस्त्यमृषिसत्तमम् ।

'उस प्रसिद्ध मलयपर्वतके शिखरपर बैठे हुए सूर्यके समान महान् तेजसे सम्पन्न मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य[3]का दर्शन करना ॥ १५½ ॥

ततस्तेनाभ्यनुज्ञाताः प्रसन्नेन महात्मना ॥ १६ ॥
ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्यथ महानदीम् ।

'इसके बाद उन प्रसन्नचित्त महात्मासे आज्ञा लेकर ग्राहोंसे सेवित महानदी ताम्रपर्णीको पार करना ॥ १६½ ॥

सा चन्दनवनैश्चित्रैः प्रच्छन्नद्वीपवारिणी ॥ १७ ॥
कान्तेव युवती कान्तं समुद्रमवगाहते ।

'उनके द्वीप और जल विचित्र चन्दनवनोंसे आच्छादित हैं; अतः वह सुन्दर साड़ीसे विभूषित युवती प्रेयसीकी भाँति अपने प्रियतम समुद्रसे मिलती है ॥ १७½ ॥

ततो हेममयं दिव्यं मुक्तामणिविभूषितम् ॥ १८ ॥
युक्तं कवाटं पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्यथ वानराः ।

'वानरो! वहाँसे आगे बढ़नेपर तुमलोग पाण्ड्यवंशी राजाओंके नगरद्वारपर[1] लगे हुए सुवर्णमय कपाटका दर्शन करोगे, जो मुक्तामणियोंसे विभूषित एवं दिव्य है ॥ १८½ ॥

ततः समुद्रमासाद्य सम्प्रधार्यार्थनिश्चयम् ॥ १९ ॥
अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ।
चित्रसानुनगः श्रीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ॥ २० ॥
जातरूपमयः श्रीमानवगाढो महार्णवम् ।

'तत्पश्चात् समुद्रके तटपर जाकर उसे पार करनेके सम्बन्धमें अपने कर्तव्यका भलीभाँति निश्चय करके उसका पालन करना। महर्षि अगस्त्यने समुद्रके भीतर एक सुन्दर सुवर्णमय पर्वतको स्थापित किया है, जो महेन्द्रगिरिके नामसे विख्यात है। उसके शिखर तथा वहाँके वृक्ष विचित्र शोभासे सम्पन्न हैं। वह शोभाशाली पर्वत श्रेष्ठ समुद्रके भीतर गहराईतक घुसा हुआ है ॥ १९-२०½ ॥

नानाविधैर्नगैः फुल्लैर्लताभिश्चोपशोभितम् ॥ २१ ॥
देवर्षियक्षप्रवरैरप्सरोभिश्च शोभितम् ।
सिद्धचारणसङ्घैश्च प्रकीर्णं सुमनोरमम् ॥ २२ ॥
तमुपैति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ।

नाना प्रकारके खिले हुए वृक्ष और लताएँ उस पर्वतकी शोभा बढ़ाती हैं। देवता, ऋषि, श्रेष्ठ यक्ष और अप्सराओं-की उपस्थितिसे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। सिद्धों और चारणोंके समुदाय वहाँ सब ओर फैले रहते हैं। इन सबके कारण महेन्द्रपर्वत अत्यन्त मनोरम जान पड़ता है। सहस्र नेत्रधारी इन्द्र प्रत्येक पर्वके दिन उस पर्वतपर पदार्पण करते हैं ॥ २१-२२½ ॥

द्वीपस्तस्यापरे पारे शतयोजनविस्तृतः ॥ २३ ॥
अगम्यो मानुषैर्दीप्तस्तं मार्गध्वं समन्ततः ।
तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः ॥ २४ ॥

'उस समुद्रके उस पार एक द्वीप है, जिसका विस्तार सौ योजन है। वहाँ मनुष्योंकी पहुँच नहीं है, वह जो

---

१. अन्य पाठके अनुसार यहाँ मत्स्य देश समझना चाहिये।

२. रामायणतिलकके लेखक अयोमुखको मलय-पर्वतका नामान्तर मानते हैं। गोविन्दराज इसे सह्यपर्वतका पर्याय समझते है तथा रामायणशिरोमणिकार अयोमुखको इन दोनोंसे भिन्न स्वतन्त्र पर्वत मानते हैं। यहाँ तिलककारके मतका अनुसरण किया गया है।

३. यद्यपि पहले पञ्चवटीसे उत्तर भागमें अगस्त्यके आश्रमका वर्णन आया है तथापि यहाँ मलयपर्वतपर भी उनका आश्रम था, ऐसा मानना चाहिये। जैसे वाल्मीकि मुनिका आश्रम अनेक स्थानोंमें था, उसी तरह इनका भी था अथवा ये उसी नामके कोई दूसरे ऋषि थे।

१. आधुनिक तंजौर ही प्राचीन पाण्ड्यवंशी नरेशोंका नगर है। इस नगरमें भी छानबीन करनेके लिये सुग्रीव वानरोंको आदेश दे रहे हैं।

दीप्तिशाली द्वीप है, उसमें चारों ओर पूरा प्रयत्न करके तुम्हें सीताकी विशेषरूपसे खोज करनी चाहिये ॥ २३-२४ ॥

स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः ।
राक्षसाधिपतेर्वासः सहस्राक्षसमद्युतेः ॥ २५ ॥

'वही देश इन्द्रके समान तेजस्वी दुरात्मा राक्षसराज रावणका, जो हमारा वध्य है, निवासस्थान है ॥ २५ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये तस्य तु राक्षसी ।
अङ्गारकेति विख्याता छायामाक्षिप्य भोजिनी ॥ २६ ॥

'उस दक्षिण समुद्रके बीचमें अङ्गारका नामसे प्रसिद्ध एक राक्षसी रहती है, जो छाया पकड़कर ही प्राणियोंको खींच लेती और उन्हें खा जाती है ॥ २६ ॥

एवं निःसंशयान् कृत्वा संशयान्नष्टसंशयाः ।
मृगयध्वं नरेन्द्रस्य पत्नीममिततेजसः ॥ २७ ॥

'उस लङ्काद्वीपमें जो संदिग्ध स्थान हैं, उन सबमें इस तरह खोज करके जब तुम उन्हें संदेहरहित समझ लो और तुम्हारे मनका संशय निकल जाय, तब तुम लङ्काद्वीपको भी लाँघकर आगे बढ़ जाना और अमिततेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका अन्वेषण करना ॥ २७ ॥

तमतिक्रम्य लक्ष्मीवान् समुद्रे शतयोजने ।
गिरिः पुष्पितको नाम सिद्धचारणसेवितः ॥ २८ ॥

'लङ्काको लाँघकर आगे बढ़नेपर सौ योजन विस्तृत समुद्रमें एक पुष्पितक नामका पर्वत है, जो परम शोभासे सम्पन्न तथा सिद्धों और चारणोंसे सेवित है ॥ २८ ॥

चन्द्रसूर्यांशुसंकाशः सागराम्बुसमाश्रयः ।
भ्राजते विपुलैः शृङ्गैरम्बरं विलिखन्निव ॥ २९ ॥

'वह चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशमान है तथा समुद्रके जलमें गहराईतक घुसा हुआ है । वह अपने विस्तृत शिखरोंसे आकाशमें रेखा खींचता हुआ-सा सुशोभित होता है ॥ २९ ॥

तस्यैकं काञ्चनं शृङ्गं सेवते यं दिवाकरः ।
श्वेतं राजतमेकं च सेवते यन्निशाकरः ।
न तं कृतघ्नाः पश्यन्ति न नृशंसा न नास्तिकाः ॥ ३० ॥

'उस पर्वतका एक सुवर्णमय शिखर है, जिसका प्रतिदिन सूर्यदेव सेवन करते हैं । उसी प्रकार इसका एक रजतमय श्वेत शिखर है, जिसका चन्द्रमा सेवन करते हैं । कृतघ्न, नृशंस और नास्तिक पुरुष उस पर्वत-शिखरको नहीं देख पाते हैं ॥ ३० ॥

प्रणम्य शिरसा शैलं तं विमार्गथ वानराः ।
तमतिक्रम्य दुर्धर्षं सूर्यवान्नाम पर्वतः ॥ ३१ ॥

'वानरो ! तुमलोग मस्तक झुकाकर उस पर्वतको प्रणाम करना और वहाँ सब ओर सीताको ढूँढ़ना । उस दुर्धर्ष पर्वतको लाँघकर आगे बढ़नेपर सूर्यवान् नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३१ ॥

अध्वना दुर्विगाहेन योजनानि चतुर्दश ।
ततस्तमप्यतिक्रम्य वैद्युतो नाम पर्वतः ॥ ३२ ॥

'वहाँ जानेका मार्ग बड़ा दुर्गम है और वह पुष्पितकसे चौदह योजन दूर है । सूर्यवान्‌को लाँघकर जब तुमलोग आगे जाओगे, तब तुम्हें 'वैद्युत' नामक पर्वत मिलेगा ॥ ३२ ॥

सर्वकामफलैर्वृक्षैः सर्वकालमनोहरैः ।
तत्र भुक्त्वा वरार्हाणि मूलानि च फलानि च ॥ ३३ ॥
मधूनि पीत्वा जुष्टानि परं गच्छत वानराः ।

'वहाँके वृक्ष सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंसे युक्त और सभी ऋतुओंमें मनोहर शोभासे सम्पन्न हैं । वानरो ! उनसे सुशोभित वैद्युत पर्वतपर उत्तम फल-मूल खाकर और सेवन करने योग्य मधु पीकर तुमलोग आगे जाना ॥ ३३½ ॥

तत्र नेत्रमनःकान्तः कुञ्जरो नाम पर्वतः ॥ ३४ ॥
अगस्त्यभवनं यत्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।

'फिर कुञ्जर नामक पर्वत दिखायी देगा, जो नेत्रों और मनको भी अत्यन्त प्रिय लगनेवाला है । उसके ऊपर विश्वकर्माका बनाया हुआ महर्षि अगस्त्यका[1] एक सुन्दर भवन है ॥ ३४½ ॥

तत्र योजनविस्तारमुच्छ्रितं दशयोजनम् ॥ ३५ ॥
शरणं काञ्चनं दिव्यं नानारत्नविभूषितम् ।

'कुञ्जर पर्वतपर बना हुआ अगस्त्यका वह दिव्य भवन सुवर्णमय तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित है । उसका विस्तार एक योजनका और ऊँचाई दस योजनकी है ॥ ३५½ ॥

तत्र भोगवती नाम सर्पाणामालयः पुरी ॥ ३६ ॥
विशालरथ्या दुर्धर्षा सर्वतः परिरक्षिता ।
रक्षिता पन्नगैर्घोरैस्तीक्ष्णदंष्ट्रैर्महाविषैः ॥ ३७ ॥

'उसी पर्वतपर सर्पोंकी निवासभूता एक नगरी है, जिसका नाम भोगवती है (यह पातालकी भोगवतीपुरीसे भिन्न है) । यह पुरी दुर्जय है । उसकी सड़कें बहुत बड़ी और विस्तृत हैं । वह सब ओरसे सुरक्षित है । तीखी दाढ़वाले महाविषैले भयंकर सर्प उसकी रक्षा करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

सर्पराजो महाघोरो यस्यां वसति वासुकिः ।
निर्याय मार्गितव्या च सा च भोगवती पुरी ॥ ३८ ॥

'उस भोगवतीपुरीमें महाभयंकर सर्पराज वासुकि निवास करते हैं (ये योगशक्तिसे अनेक रूप धारण करके दोनों भोगवती पुरियोंमें एक साथ रह सकते हैं) । तुम्हें विशेषरूपसे उस भोगवतीपुरीमें प्रवेश करके वहाँ सीताकी खोज करनी चाहिये ॥ ३८ ॥

तत्र चानन्तरोद्देशा ये केचन समावृताः ।
तं च देशमतिक्रम्य महानृषभसंस्थितिः ॥ ३९ ॥

१. यह महर्षि अगस्त्यका तीसरा स्थान है ।

'उस पुरीमें जो गुप्त एवं व्यवधानरहित स्थान हों, उन सबमें सीताका अन्वेषण करना चाहिये। उस प्रदेशको लाँघकर आगे बढ़नेपर तुम्हें ऋषभ नामक महान् पर्वत मिलेगा ॥ ३९ ॥

सर्वरत्नमयः श्रीमानृषभो नाम पर्वतः।
गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ॥ ४० ॥
दिव्यमुत्पद्यते यत्र तच्चैवाग्निसमप्रभम्।
न तु तच्चन्दनं दृष्ट्वा स्प्रष्टव्यं तु कदाचन ॥ ४१ ॥

'वह शोभाशाली ऋषभ पर्वत सम्पूर्ण रत्नोंसे भरा हुआ है। वहाँ गोशीर्षक, पद्मक, हरिश्याम आदि नामोंवाला दिव्य चन्दन उत्पन्न होता है। वह चन्दनवृक्ष अग्निके समान प्रज्वलित होता रहता है। उस चन्दनको देखकर कदापि तुम्हें उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

रोहिता नाम गन्धर्वा घोरं रक्षन्ति तद्वनम्।
तत्र गन्धर्वपतयः पञ्च सूर्यसमप्रभाः ॥ ४२ ॥

'क्योंकि 'रोहित' नामवाले गन्धर्व उस घोर वनकी रक्षा करते हैं। वहाँ सूर्यके समान कान्तिमान् पाँच गन्धर्वराज रहते हैं ॥ ४२ ॥

शैलूषो ग्रामणीः शिक्षः शुको बभ्रुस्तथैव च।
रविसोमाग्निवपुषां निवासः पुण्यकर्मणाम् ॥ ४३ ॥
अन्ते पृथिव्या दुर्धर्षास्ततः स्वर्गजितः स्थिताः।

'उनके नाम ये हैं—शैलूष, ग्रामणी, शिक्ष (शिग्रु), शुक और बभ्रु। उस ऋषभसे आगे पृथ्वीकी अन्तिम सीमापर सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके तुल्य तेजस्वी पुण्यकर्मा पुरुषोंका निवास-स्थान है। अतः वहाँ दुर्धर्ष स्वर्गविजयी (स्वर्गके अधिकारी) पुरुष ही वास करते हैं ॥ ४३½ ॥

ततः परं न वः सेव्यः पितृलोकः सुदारुणः ॥ ४४ ॥
राजधानी यमस्यैषा कष्टेन तमसाऽऽवृता।

'उससे आगे अत्यन्त भयानक पितृलोक है; वहाँ तुम लोगोंको नहीं जाना चाहिये। यह भूमि यमराजकी राजधानी है, जो कष्टप्रद अन्धकारसे आच्छादित है ॥ ४४½ ॥

एतावदेव युष्माभिर्वीरा वानरपुंगवाः।
शक्यं विचेतुं गन्तुं वा नातो गतिमतां गतिः ॥ ४५ ॥

'वीर वानरपुङ्गवो! बस, दक्षिण दिशामें इतनी ही दूरतक तुम्हें जाना और खोजना है। उससे आगे पहुँचना असम्भव है; क्योंकि उधर जंगम प्राणियोंकी गति नहीं है ॥ ४५ ॥

सर्वमेतत् समालोक्य यच्चान्यदपि दृश्यते।
गतिं विदित्वा वैदेह्याः संनिवर्तितुमर्हथ ॥ ४६ ॥

'इन सब स्थानोंमें अच्छी तरह देख-भाल करके और भी जो स्थान अन्वेषणके योग्य दिखायी दे, वहाँ भी विदेहकुमारीका पता लगाना; तदनन्तर तुम सबको लौट आना चाहिये ॥ ४६ ॥

यश्च मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति।
मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति ॥ ४७ ॥

'जो एक मास पूर्ण होनेपर सबसे पहले यहाँ आकर यह कहेगा कि 'मैंने सीताजीका दर्शन किया है' वह मेरे समान वैभवसे सम्पन्न हो भोग्य-पदार्थोंका अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक विहार करेगा ॥ ४७ ॥

ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद् विशेषतः।
कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति ॥ ४८ ॥

'उससे बढ़कर प्रिय मेरे लिये दूसरा कोई नहीं होगा। वह मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होगा तथा अनेक बार अपराध किया हो तो भी वह मेरा बन्धु होकर रहेगा ॥ ४८ ॥

अमितबलपराक्रमा भवन्तो
विपुलगुणेषु कुलेषु च प्रसूताः।
मनुजपतिसुतां यथा लभध्वं
तदधिगुणं पुरुषार्थमारभध्वम् ॥ ४९ ॥

'तुम सबके बल और पराक्रम असीम हैं। तुम विशेष गुणशाली उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए हो। राजकुमारी सीताका जिस प्रकार भी पता मिल सके, उसके अनुरूप उच्च कोटिका पुरुषार्थ आरम्भ करो' ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका पश्चिम दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए सुषेण आदि वानरोंको वहाँ भेजना

अथ प्रस्थाप्य स हरीन् सुग्रीवो दक्षिणां दिशम्।
अब्रवीन्मेघसंकाशं सुषेणं नाम वानरम् ॥ १ ॥
तारायाः पितरं राजा श्वशुरं भीमविक्रमम्।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥ २ ॥
महर्षिपुत्रं मारीचमर्चिष्मन्तं महाकपिम्।
वृतं कपिवरैः शूरैर्महेन्द्रसदृशद्युतिम् ॥ ३ ॥
बुद्धिविक्रमसम्पन्नं वैनतेयसमद्युतिम्।
मरीचिपुत्रान् मारीचानर्चिर्मालान् महाबलान् ॥ ४ ॥

ऋषिपुत्रांश्च तान् सर्वान् प्रतीचीमादिशद् दिशम्।
द्वाभ्यां शतसहस्राभ्यां कपीनां कपिसत्तमाः ॥ ५ ॥
सुषेणप्रमुखा यूयं वैदेहीं परिमार्गथ।

दक्षिण दिशाकी ओर वानरोंको भेजनेके पश्चात् राजा सुग्रीवने ताराके पिता और अपने श्वशुर 'सुषेण' नामक वानरके पास जाकर उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कुछ कहना आरम्भ किया। सुषेण मेघके समान काले और भयंकर पराक्रमी थे। उनके सिवा, महर्षि मरीचिके पुत्र महाकपि अर्चिष्मान् भी वहाँ उपस्थित थे, जो देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी तथा शूरवीर श्रेष्ठ वानरोंसे घिरे हुए थे। उनकी कान्ति विनतानन्दन गरुड़के समान थी। वे बुद्धि और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उनके अतिरिक्त मरीचिके पुत्र मारीच नामवाले वानर भी थे, जो महाबली और 'अर्चिर्माल्य' नामसे प्रसिद्ध थे। इनके सिवा और भी बहुत-से ऋषिकुमार थे, जो वानररूपमें वहाँ विराजमान थे। सुषेणके साथ उन सबको सुग्रीवने पश्चिम दिशाकी ओर जानेकी आज्ञा दी और कहा—'कपिवरो! आप सब लोग दो लाख वानरोंको साथ ले सुषेणजीकी प्रधानतामें पश्चिमको जाइये और विदेहनन्दिनी सीताकी खोज कीजिये ॥ १—५½ ॥

सौराष्ट्रान् सहबाह्लीकांश्चन्द्रचित्रांस्तथैव च ॥ ६ ॥
स्फीताञ्जनपदान् रम्यान् विपुलानि पुराणि च।
पुंनागगहनं कुक्षिं बकुलोद्दालकाकुलम् ॥ ७ ॥
तथा केतकखण्डांश्च मार्गध्वं हरिपुङ्गवाः।

'श्रेष्ठ वानरो! सौराष्ट्र, बाह्लीक और चन्द्रचित्र आदि देशों, अन्यान्य समृद्धिशाली एवं रमणीय जनपदों, बड़े-बड़े नगरों तथा पुंनाग, बकुल और उद्दालक आदि वृक्षोंसे भरे हुए कुक्षिदेशमें एवं केवड़ेके वनोंमें सीताकी खोज करो ॥ ६-७½ ॥

प्रत्यक्स्रोतोवहाश्चैव नद्यः शीतजलाः शिवाः ॥ ८ ॥
तापसानामरण्यानि कान्तारगिरयश्च ये।

'पश्चिमकी ओर बहनेवाली शीतल जलसे सुशोभित कल्याणमयी नदियों, तपस्वी जनोंके वनों तथा दुर्गम पर्वतोंमें भी विदेहकुमारीका पता लगाओ ॥ ८½ ॥

तत्र स्थलीर्मरुप्राया अत्युच्चशिशिराः शिलाः ॥ ९ ॥
गिरिजालावृतां दुर्गां मार्गित्वा पश्चिमां दिशम्।
ततः पश्चिममागम्य समुद्रं द्रष्टुमर्हथ ॥ १० ॥
तिमिनक्राकुलजलं गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः।

'पश्चिम दिशामें प्रायः मरुभूमि है। अत्यन्त ऊँची और ठंढी शिलाएँ हैं तथा पर्वतमालाओंसे घिरे हुए बहुतसे दुर्गम प्रदेश हैं। उन सभी स्थानोंमें सीताकी खोज करते हुए क्रमशः आगे बढ़कर पश्चिम समुद्रतक जाना और वहाँके प्रत्येक स्थानका निरीक्षण करना। वानरो! समुद्रका जल तिमि नामक मत्स्यों तथा बड़े-बड़े ग्राहोंसे भरा हुआ है। वहाँ सब ओर देख-भाल करना ॥ ९-१०½ ॥

ततः केतकखण्डेषु तमालगहनेषु च ॥ ११ ॥
कपयो विहरिष्यन्ति नारिकेलवनेषु च।
तत्र सीतां च मार्गध्वं निलयं रावणस्य च ॥ १२ ॥

'समुद्रके तटपर केवड़ोंके कुञ्जोंमें, तमालके काननोंमें तथा नारियलके वनोंमें तुम्हारे सैनिक वानर भलीभाँति विचरण करेंगे। वहाँ तुमलोग सीताको खोजना और रावणके निवास-स्थानका पता लगाना ॥ ११-१२ ॥

वेलातलनिविष्टेषु पर्वतेषु वनेषु च।
मुरवीपत्तनं चैव रम्यं चैव जटापुरम् ॥ १३ ॥
अवन्तीमङ्गलेपां च तथा चालक्षितं वनम्।
राष्ट्राणि च विशालानि पत्तनानि ततस्ततः ॥ १४ ॥

समुद्रतटवर्ती पर्वतों और वनोंमें भी उन्हें ढूँढ़ना चाहिये। मुरवीपत्तन (मोरवी) तथा रमणीय जटापुरमें, अवन्ती[1] तथा अङ्गलेपापुरीमें, अलक्षित वनमें और बड़े-बड़े राष्ट्रों एवं नगरोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर पता लगाना ॥ १३-१४ ॥

सिन्धुसागरयोश्चैव संगमे तत्र पर्वतः।
महान् सोमगिरिर्नाम शतशृङ्गो महाद्रुमः ॥ १५ ॥
तत्र प्रस्थेषु रम्येषु सिंहाः पक्षगमाः स्थिताः।
तिमिमत्स्यगजांश्चैव नीडान्यारोपयन्ति ते ॥ १६ ॥

'सिंधु-नद और समुद्रके संगमपर सोमगिरि नामक एक महान् पर्वत है, जिसके सौ शिखर हैं। वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे भरा है। उसकी रमणीय चोटियोंपर सिंह नामक पक्षी रहते हैं, जो तिमि नामवाले विशालकाय मत्स्यों और हाथियोंको भी अपने घोंसलोंमें उठा लाते हैं ॥ १५-१६ ॥

तानि नीडानि सिंहानां गिरिशृङ्गगताश्च ये।
दृप्तास्तृप्ताश्च मातङ्गास्तोयदस्वननिःस्वनाः ॥ १७ ॥
विचरन्ति विशालेऽस्मिंस्तोयपूर्णे समन्ततः।

'सिंह नामक पक्षियोंके उन घोंसलोंमें पहुँचकर उस पर्वत-शिखरपर उपस्थित हुए जो हाथी हैं, वे उस पंखधारी सिंहसे सम्मानित होनेके कारण गर्वका अनुभव करते और मन-ही-मन संतुष्ट होते हैं। इसीलिये मेघोंकी गर्जनाके समान शब्द करते हुए उस पर्वतके जलपूर्ण विशाल शिखरपर चारों ओर विचरते रहते हैं ॥ १७½ ॥

तस्य शृङ्गं दिवस्पर्शं काञ्चनं चित्रपादपम् ॥ १८ ॥
सर्वमाशु विचेतव्यं कपिभिः कामरूपिभिः।

'सोमगिरिका गगनचुम्बी शिखर सुवर्णमय है। उसके ऊपर विचित्र वृक्ष शोभा पाते हैं। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानरोंको चाहिये कि वहाँके सब स्थानोंको शीघ्रतापूर्वक अच्छी तरह देख लें ॥ १८½ ॥

---

१. यह अवन्ती पूर्व दिशाके मार्गमें बतायी गयी अवन्तीसे भिन्न है।

कोटिं तत्र समुद्रस्य काञ्चनीं शतयोजनाम् ॥ १९ ॥
दुर्दर्शां पारियात्रस्य गत्वा द्रक्ष्यथ वानराः ।

'वहाँसे आगे समुद्रके बीचमें पारियात्र पर्वतका सुवर्णमय शिखर दिखायी देगा, जो सौ योजन विस्तृत है । वानरो ! उसका दर्शन दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है । वहाँ जाकर तुम्हें सीताकी खोज करनी चाहिये ॥ १९½ ॥

कोट्यस्तत्र चतुर्विंशद्गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ॥ २० ॥
वसन्त्यग्निनिकाशानां घोराणां कामरूपिणाम् ।
पावकार्चिःप्रतीकाशाः समवेताः समन्ततः ॥ २१ ॥

'पारियात्र पर्वतके शिखरपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, भयंकर, अग्नितुल्य तेजस्वी तथा वेगशाली चौबीस करोड़ गन्धर्व निवास करते हैं । वे सब-के-सब अग्निकी ज्वालाके समान प्रकाशमान हैं और सब ओरसे आकर उस पर्वतपर एकत्र हुए हैं ॥ २०-२१ ॥

नात्यासादयितव्यास्ते वानरैर्भीमविक्रमैः ।
नादेयं च फलं तस्माद् देशात् किंचित् प्लवङ्गमैः ॥ २२ ॥

'भयंकर पराक्रमी वानरोंको चाहिये कि वे उन गन्धर्वोंके अधिक निकट न जायँ—उनका कोई अपराध न करें और उस पर्वतशिखरसे कोई फल न लें ॥ २२ ॥

दुरासदा हि ते वीराः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
फलमूलानि ते तत्र रक्षन्ते भीमविक्रमाः ॥ २३ ॥

'क्योंकि वे भयंकर बल-विक्रमसे सम्पन्न धैर्यवान् महाबली वीर गन्धर्व वहाँके फल-मूलोंकी रक्षा करते हैं । उनपर विजय पाना बहुत ही कठिन है ॥ २३ ॥

तत्र यत्नश्च कर्तव्यो मार्गितव्या च जानकी ।
नहि तेभ्यो भयं किंचित् कपित्वमनुवर्तताम् ॥ २४ ॥

'वहाँ भी जानकीकी खोज करनी चाहिये और उनका पता लगानेके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये । प्राकृत वानरके स्वभावका अनुसरण करनेवाले तुम्हारी सेनाके वीरोंको उन गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है ॥ २४ ॥

तत्र वैदूर्यवर्णाभो वज्रसंस्थानसंस्थितः ।
नानाद्रुमलताकीर्णो वज्रो नाम महागिरिः ॥ २५ ॥

'पारियात्र पर्वतके पास ही समुद्रमें वज्रनामसे प्रसिद्ध एक बहुत ऊँचा पर्वत है, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त दिखायी देता है । वह वज्रगिरि वैदूर्यमणिके समान नील वर्णका है । वह कठोरतामें वज्रमणि (हीरे) के समान है ॥ २५ ॥

श्रीमान् समुदितस्तत्र योजनानां शतं समम् ।
गुहास्तत्र विचेतव्याः प्रयत्नेन प्लवङ्गमाः ॥ २६ ॥

'वह सुन्दर पर्वत वहाँ सौ योजनके घेरेमें प्रतिष्ठित है । उसकी लंबाई और चौड़ाई दोनों बराबर हैं । वानरो ! उस पर्वतपर बहुत-सी गुफाएँ हैं । उन सबमें प्रयत्नपूर्वक सीताका अनुसंधान करना चाहिये ॥ २६ ॥

चतुर्भागे समुद्रस्य चक्रवान् नाम पर्वतः ।
तत्र चक्रं सहस्रारं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २७ ॥

'समुद्रके चतुर्थ भागमें चक्रवान् नामक पर्वत है । वहीं विश्वकर्माने सहस्रार[1] चक्रका निर्माण किया था ॥ २७ ॥

तत्र पञ्चजनं हत्वा हयग्रीवं च दानवम् ।
आजहार ततश्चक्रं शङ्खं च पुरुषोत्तमः ॥ २८ ॥

'वहींसे पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु पञ्चजन और हयग्रीव नामक दानवोंका वध करके पाञ्चजन्य शङ्ख तथा वह सहस्रार सुदर्शन चक्र लाये थे ॥ २८ ॥

तस्य सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २९ ॥

'चक्रवान् पर्वतके रमणीय शिखरों और विशाल गुफाओंमें भी इधर-उधर वैदेहीसहित रावणका पता लगाना चाहिये ॥

योजनानि चतुःषष्टिर्वराहो नाम पर्वतः ।
सुवर्णशृङ्गः सुमहानगाधे वरुणालये ॥ ३० ॥

'उससे आगे समुद्रकी अगाध जलराशिमें सुवर्णमय शिखरोंवाला वराह नामक पर्वत है, जिसका विस्तार चौंसठ योजनकी दूरीमें है ॥ ३० ॥

तत्र प्राग्ज्योतिषं नाम जातरूपमयं पुरम् ।
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः ॥ ३१ ॥

'वहीं प्राग्ज्योतिषनामक सुवर्णमय नगर है, जिसमें दुष्टात्मा नरक नामक दानव निवास करता है ॥ ३१ ॥

तत्र सानुषु रम्येषु विशालासु गुहासु च ।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ३२ ॥

'उस पर्वतके रमणीय शिखरोंपर तथा वहाँकी विशाल गुफाओंमें सीतासहित रावणकी तलाश करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं काञ्चनान्तरदर्शनम् ।
पर्वतः सर्वसौवर्णो धाराप्रस्रवणायुतः ॥ ३३ ॥

'जिसका भीतरी भाग सुवर्णमय दिखायी देता है, उस पर्वतराज वराहको लाँघकर आगे बढ़नेपर एक ऐसा पर्वत मिलेगा, जिसका सब कुछ सुवर्णमय है तथा जिसमें लगभग दस सहस्र झरने हैं ॥ ३३ ॥

तं गजाश्च वराहाश्च सिंहा व्याघ्राश्च सर्वतः ।
अभिगर्जन्ति सततं तेन शब्देन दर्पिताः ॥ ३४ ॥

'उसके चारों ओर हाथी, सूअर, सिंह और व्याघ्र सदा गर्जना करते हैं और अपनी ही गर्जनाकी प्रतिध्वनिके शब्दसे दर्पमें भरकर पुनः दहाड़ने लगते हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन् हरिहयः श्रीमान् महेन्द्रः पाकशासनः ।
अभिषिक्तः सुरै राजा मेघो नाम स पर्वतः ॥ ३५ ॥

---

१. जिसमें एक हजार अरे हों, उसे सहस्रार चक्र कहते हैं ।

'उस पर्वतका नाम है मेघगिरि। जिसपर देवताओंने हरित रंगके अश्ववाले श्रीमान् पाकशासन इन्द्रको राजाके पदपर अभिषिक्त किया था ॥ ३५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं महेन्द्रपरिपालितम्।
षष्टिं गिरिसहस्राणि काञ्चनानि गमिष्यथ ॥ ३६ ॥
तरुणादित्यवर्णानि भ्राजमानानि सर्वतः।
जातरूपमयैर्वृक्षैः शोभितानि सुपुष्पितैः ॥ ३७ ॥

'देवराज इन्द्रद्वारा सुरक्षित गिरिराज मेघको लाँघकर जब तुम आगे बढ़ोगे, तब तुम्हें सोनेके साठ हजार पर्वत मिलेंगे, जो सब ओरसे सूर्यके समान कान्तिसे देदीप्यमान हो रहे हैं और सुन्दर फूलोंसे भरे हुए सुवर्णमय वृक्षोंसे सुशोभित हैं ॥

तेषां मध्ये स्थितो राजा मेरुरुत्तमपर्वतः।
आदित्येन प्रसन्नेन शैलो दत्तवरः पुरा ॥ ३८ ॥
तेनैवमुक्तः शैलेन्द्रः सर्व एव त्वदाश्रयाः।
मत्प्रसादाद् भविष्यन्ति दिवा रात्रौ च काञ्चनाः॥ ३९ ॥
त्वयि ये चापि वत्स्यन्ति देवगन्धर्वदानवाः।
ते भविष्यन्ति भक्ताश्च प्रभया काञ्चनप्रभाः ॥ ४० ॥

'उनके मध्यभागमें पर्वतोंका राजा गिरिश्रेष्ठ मेरु विराजमान है, जिसे पूर्वकालमें सूर्यदेवने प्रसन्न होकर वर दिया था। उन्होंने उस शैलराजसे कहा था कि 'जो दिन-रात तुम्हारे आश्रयमें रहेंगे, वे मेरी कृपासे सुवर्णमय हो जायँगे तथा देवता, दानव, गन्धर्व जो भी तुम्हारे ऊपर निवास करेंगे, वे सुवर्णके समान कान्तिमान् और मेरे भक्त हो जायँगे ॥ ३८—४० ॥

विश्वेदेवाश्च वसवो मरुतश्च दिवौकसः।
आगत्य पश्चिमां संध्यां मेरुमुत्तमपर्वतम् ॥ ४१ ॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ति तैश्च सूर्योऽभिपूजितः।
अदृश्यः सर्वभूतानामस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ४२ ॥

'विश्वेदेव, वसु, मरुद्गण तथा अन्य देवता सायंकालमें उत्तम पर्वत मेरुपर आकर सूर्यदेवका उपस्थान करते हैं। उनके द्वारा भलीभाँति पूजित होकर भगवान् सूर्य सब प्राणियोंके आँखोंसे ओझल होकर अस्ताचलको चले जाते हैं ॥४१-४२॥

योजनानां सहस्राणि दश तानि दिवाकरः।
मुहूर्तार्धेन तं शीघ्रमभियाति शिलोच्चयम् ॥ ४३ ॥

'मेरुसे अस्ताचल दस हजार योजनकी दूरीपर है, किंतु सूर्यदेव आधे मुहूर्तमें ही वहाँ पहुँच जाते हैं ॥ ४३ ॥

शृङ्गे तस्य महद्दिव्यं भवनं सूर्यसंनिभम्।
प्रासादगणसम्बाधं विहितं विश्वकर्मणा ॥ ४४ ॥

'उसके शिखरपर विश्वकर्माका बनाया हुआ एक बहुत बड़ा दिव्य भवन है, जो सूर्यके समान दीप्तिमान् दिखायी देता है। वह अनेक प्रासादोंसे भरा हुआ है ॥ ४४ ॥

शोभितं तरुभिश्चित्रैर्नानापक्षिसमाकुलैः।
निकेतं पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥

'नाना प्रकारके पक्षियोंसे व्याप्त विचित्र-विचित्र वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह पाशधारी महात्मा वरुणका निवास-स्थान है ॥ ४५ ॥

अन्तरा मेरुमस्तं च तालो दशशिरा महान्।
जातरूपमयः श्रीमान् भ्राजते चित्रवेदिकः ॥ ४६ ॥

'मेरु और अस्ताचलके बीच एक स्वर्णमय ताड़का वृक्ष है, जो बड़ा ही सुन्दर और बहुत ही ऊँचा है। उसके दस स्कन्ध (बड़ी शाखाएँ) हैं। उसके नीचेकी वेदी बड़ी विचित्र है। इस तरह वह वृक्ष बड़ी शोभा पाता है ॥ ४६ ॥

तेषु सर्वेषु दुर्गेषु सरस्सु च सरित्सु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ ४७ ॥

'वहाँके उन सभी दुर्गम स्थानों, सरोवरों और सरिताओंमें इधर-उधर सीतासहित रावणका अनुसंधान करना चाहिये ॥

यत्र तिष्ठति धर्मज्ञस्तपसा स्वेन भावितः।
मेरुसावर्णिरित्येष ख्यातो वै ब्रह्मणा समः ॥ ४८ ॥

'मेरुगिरिपर धर्मके ज्ञाता महर्षि मेरुसावर्णि रहते हैं, जो अपनी तपस्यासे ऊँची स्थितिको प्राप्त हुए हैं। वे प्रजापतिके समान शक्तिशाली एवं विख्यात ऋषि हैं ॥ ४८ ॥

प्रष्टव्यो मेरुसावर्णिर्महर्षिः सूर्यसंनिभः।
प्रणम्य शिरसा भूमौ प्रवृत्तिं मैथिलीं प्रति ॥ ४९ ॥

'सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि मेरुसावर्णिके चरणोंमें पृथ्वीपर मस्तक टेककर प्रणाम करनेके अनन्तर तुमलोग उनसे मिथिलेशकुमारीका समाचार पूछना ॥ ४९ ॥

एतावज्जीवलोकस्य भास्करो रजनीक्षये।
कृत्वा वितिमिरं सर्वमस्तं गच्छति पर्वतम् ॥ ५० ॥

'रात्रिके अन्तमें (प्रातःकाल) उदित हुए भगवान् सूर्य जीव-जगत्के इन सभी स्थानोंको अन्धकाररहित (एवं प्रकाशपूर्ण) करके अन्तमें अस्ताचलको चले जाते हैं ॥५०॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुङ्गवाः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ५१ ॥

'वानरशिरोमणियो ! पश्चिम दिशामें इतनी ही दूरतक वानर जा सकते हैं। उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकी सीमा ही। अतः वहाँसे आगेकी भूमिके विषयमें मुझे कोई जानकारी नहीं है ॥५१॥

अवगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
अस्तं पर्वतमासाद्य पूर्णे मासे निवर्तत ॥ ५२ ॥

'अस्ताचलतक जाकर रावणके स्थान और सीताका पता लगाओ तथा एक मास पूर्ण होते ही यहाँ लौट आओ ॥

ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम।
सहैव शूरो युष्माभिः श्वशुरो मे गमिष्यति ॥ ५३ ॥

'एक महीनेसे अधिक न ठहरना। जो ठहरेगा, उसे

मेरे हाथसे प्राणदण्ड मिलेगा । तुमलोगोंके साथ मेरे पूजनीय श्वशुरजी भी जायँगे ॥ ५३ ॥

श्रोतव्यं सर्वमेतस्य भवद्भिर्दिष्टकारिभिः ।
गुरुरेष महाबाहुः श्वशुरो मे महाबलः ॥ ५४ ॥

'तुम सब लोग इनकी आज्ञाके अधीन रहकर इनकी सभी बातें ध्यानसे सुनना; क्योंकि ये महाबाहु महाबली सुषेणजी मेरे श्वशुर एवं गुरुजन हैं (अतः तुम्हारे लिये भी गुरुकी भाँति ही आदरणीय हैं) ॥ ५४ ॥

भवन्तश्चापि विक्रान्ताः प्रमाणं सर्व एव हि ।
प्रमाणमेनं संस्थाप्य पश्यध्वं पश्चिमां दिशम् ॥ ५५ ॥

'तुम सब लोग भी बड़े पराक्रमी तथा कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें प्रमाणभूत (विश्वसनीय) हो, तथापि इन्हें अपना प्रधान बनाकर तुम पश्चिम दिशाकी देखभाल आरम्भ करो ॥

दृष्टायां तु नरेन्द्रस्य पत्न्याममिततेजसः ।
कृतकृत्या भविष्यामः कृतस्य प्रतिकर्मणा ॥ ५६ ॥

'अमिततेजस्वी महाराज श्रीरामकी पत्नीका पता लग जानेपर हम कृतकृत्य हो जायँगे; क्योंकि उन्होंने जो उपकार किया है, उसका बदला हमसे तभी चुक सकेगा ॥ ५६ ॥

अतोऽन्यदपि यत्कार्यं कार्यस्यास्य प्रियं भवेत् ।
सम्प्रधार्य भवद्भिश्च देशकालार्थसंहितम् ॥ ५७ ॥

'अतः इस कार्यके अनुकूल और भी जो कर्तव्य देश, काल और प्रयोजनसे सम्बन्ध रखता हो, उसका विचार करके आपलोग उसे भी करें' ॥ ५७ ॥

ततः सुषेणप्रमुखाः प्लवङ्गाः
सुग्रीववाक्यं निपुणं निशम्य ।
आमन्त्र्य सर्वे प्लवगाधिपं ते
जग्मुर्दिशं तां वरुणाभिगुप्ताम् ॥ ५८ ॥

सुग्रीवकी बातें अच्छी तरह सुनकर सुषेण आदि सब वानर उन वानरराजकी अनुमति ले वरुणद्वारा सुरक्षित पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका उत्तर दिशाके स्थानोंका परिचय देते हुए शतबलि आदि वानरोंको वहाँ भेजना

ततः संदिश्य सुग्रीवः श्वशुरं पश्चिमां दिशम् ।
वीरं शतबलिं नाम वानरं वानरेश्वरः ॥ १ ॥
उवाच राजा सर्वज्ञः सर्ववानरसत्तमः ।
वाक्यमात्महितं चैव रामस्य च हितं तदा ॥ २ ॥

इस प्रकार अपने श्वशुरको पश्चिम दिशाकी ओर जानेका संदेश दे, सर्वज्ञ, सर्व-वानर-शिरोमणि वानरेश्वर राजा सुग्रीव अपने हितैषी शतबलि नामक वीर वानरसे श्रीरामचन्द्रजीके हितकी बात बोले—॥ १-२ ॥

वृतः शतसहस्रेण त्वद्विधानां वनौकसाम् ।
वैवस्वतसुतैः सार्धं प्रविष्टः सर्वमन्त्रिभिः ॥ ३ ॥
दिशं ह्युदीचीं विक्रान्त हिमशैलावतंसिकाम् ।
सर्वतः परिमार्गध्वं रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ४ ॥

'पराक्रमी वीर ! तुम अपने ही समान एक लाख वनवासी वानरोंको, जो यमराजके बेटे हैं, साथ लेकर अपने समस्त मन्त्रियोंसहित उस उत्तर दिशामें प्रवेश करो, जो हिमालयरूपी आभूषणसे विभूषित है और वहाँ सब ओर यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीताका अन्वेषण करो ॥ ३-४ ॥

अस्मिन् कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये ।
ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदां वराः ॥ ५ ॥

'अपने मुख्य प्रयोजनको समझनेवाले वीरोंमें श्रेष्ठ वानरो ! यदि हमलोगोंके द्वारा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामका यह प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तो हम उनके उपकारके ऋणसे मुक्त और कृतार्थ हो जायँगे ॥ ५ ॥

कृतं हि प्रियमस्माकं राघवेण महात्मना ।
तस्य चेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत् ॥ ६ ॥

'महात्मा श्रीरघुनाथजीने हमलोगोंका प्रिय कार्य किया है । उसका यदि कुछ बदला दिया जा सके तो हमारा जीवन सफल हो जाय ॥ ६ ॥

अर्थिनः कार्यनिर्वृत्तिमकर्तुरपि यश्चरेत् ।
तस्य स्यात् सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः ॥ ७ ॥

'जिसने कोई उपकार न किया हो, वह भी यदि किसी कार्यके लिये प्रार्थी होकर आया हो तो जो पुरुष उसके कार्यको सिद्ध कर देता है, उसका जन्म भी सफल हो जाता है । फिर जिसने पहलेके उपकारीके कार्यको सिद्ध किया हो, उसके जीवनकी सफलताके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥ ७ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय दृश्यते जानकी यथा ।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमस्मत्प्रियहितैषिभिः ॥ ८ ॥

'इसी विचारका आश्रय लेकर मेरा प्रिय और हित चाहनेवाले तुम सब वानरोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे जनकनन्दिनी सीताका पता लग जाय ॥ ८ ॥

अयं हि सर्वभूतानां मान्यस्तु नरसत्तमः ।
अस्मासु च गतः प्रीतिं रामः परपुरंजयः ॥ ९ ॥

'शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले ये नरश्रेष्ठ श्रीराम समस्त प्राणियोंके लिये माननीय हैं। हमलोगोंपर भी इनका बहुत प्रेम है ॥ ९ ॥

इमानि बहुदुर्गाणि नद्यः शैलान्तराणि च।
भवन्तः परिमार्गन्तु बुद्धिविक्रमसम्पदा ॥ १० ॥

'तुम सब लोग बुद्धि और पराक्रमके द्वारा इन अत्यन्त दुर्गम प्रदेशों, पर्वतों और नदियोंके तटोंपर जा-जाकर सीताकी खोज करो ॥ १० ॥

तत्र म्लेच्छान् पुलिन्दांश्च शूरसेनांस्तथैव च।
प्रस्थलान् भरतांश्चैव कुरूंश्च सह मद्रकैः ॥ ११ ॥
काम्बोजयवनांश्चैव शकानां पत्तनानि च।
अन्वीक्ष्य दरदांश्चैव हिमवन्तं विचिन्वथ ॥ १२ ॥

उत्तरमें म्लेच्छ, पुलिन्द, शूरसेन, प्रस्थल, भरत (इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुरके आसपासके प्रान्त), कुरु (दक्षिण कुरु—कुरुक्षेत्रके आस-पासकी भूमि), मद्र, काम्बोज, यवन, शकोंके देशों एवं नगरोंमें भलीभाँति अनुसंधान करके दरद देशमें और हिमालय पर्वतपर ढूँढ़ो ॥

लोध्रपद्मकखण्डेषु देवदारुवनेषु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १३ ॥

'वहाँ लोध्र और पद्मककी झाड़ियोंमें तथा देवदारुके जंगलोंमें वैदेहीसहित रावणकी खोज करनी चाहिये ॥१३॥

ततः सोमाश्रमं गत्वा देवगन्धर्वसेवितम्।
कालं नाम महासानुं पर्वतं तं गमिष्यथ ॥ १४ ॥

'फिर देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित सोमाश्रममें होते हुए ऊँचे शिखरवाले काल नामक पर्वतपर जाओ ॥ १४ ॥

महत्सु तस्य शैलेषु पर्वतेषु गुहासु च।
विचिन्वत महाभागां रामपत्नीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

'उस पर्वतकी शाखाभूत अन्य छोटे-बड़े पर्वतों और उन सबकी गुफाओंमें सती-साध्वी श्रीरामपत्नी महाभागा सीताका अन्वेषण करो ॥ १५ ॥

तमतिक्रम्य शैलेन्द्रं हेमगर्भं महागिरिम्।
ततः सुदर्शनं नाम पर्वतं गन्तुमर्हथ ॥ १६ ॥

'जिसके भीतर सुवर्णकी खान हैं, उस गिरिराज कालको लाँघकर तुम्हें सुदर्शन नामक महान् पर्वतपर जाना चाहिये ॥

ततो देवसखो नाम पर्वतः पतगालयः।
नानापक्षिसमाकीर्णो विविधद्रुमभूषितः ॥ १७ ॥

'उससे आगे बढ़नेपर देवसख नामवाला पहाड़ मिलेगा, जो पक्षियोंका निवासस्थान है। वह भाँति-भाँतिके विहंगमोंसे व्याप्त तथा नाना प्रकारके वृक्षोंसे विभूषित है ॥ १७ ॥

तस्य काननखण्डेषु निर्झरेषु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ १८ ॥

'उसके वनसमूहों, निर्झरों और गुफाओंमें तुम्हें विदेहकुमारी सीतासहित रावणकी खोज करनी चाहिये ॥१८॥

तमतिक्रम्य चाकाशं सर्वतः शतयोजनम्।
अपर्वतनदीवृक्षं सर्वसत्त्वविवर्जितम् ॥ १९ ॥

'वहाँसे आगे बढ़नेपर एक सुनसान मैदान मिलेगा, जो सब ओरसे सौ योजन विस्तृत है। वहाँ नदी, पर्वत, वृक्ष और सब प्रकारके जीव-जन्तुओंका अभाव है ॥ १९ ॥

तत्तु शीघ्रमतिक्रम्य कान्तारं रोमहर्षणम्।
कैलासं पाण्डुरं प्राप्य हृष्टा यूयं भविष्यथ ॥ २० ॥

'रोंगटे खड़े कर देनेवाले उस दुर्गम प्रान्तको शीघ्रतापूर्वक लाँघ जानेपर तुम्हें श्वेतवर्णका कैलास पर्वत मिलेगा। वहाँ पहुँचनेपर तुम सब लोग हर्षसे खिल उठोगे ॥ २० ॥

तत्र पाण्डुरमेघाभं जाम्बूनदपरिष्कृतम्।
कुबेरभवनं रम्यं निर्मितं विश्वकर्मणा ॥ २१ ॥

'वहीं विश्वकर्माका बनाया हुआ कुबेरका रमणीय भवन है, जो श्वेत बादलोंके समान प्रतीत होता है। उस भवनको जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित किया गया है ॥२१॥

विशाला नलिनी यत्र प्रभूतकमलोत्पला।
हंसकारण्डवाकीर्णा अप्सरोगणसेविता ॥ २२ ॥

'उसके पास ही एक बहुत बड़ा सरोवर है, जिसमें कमल और उत्पल प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं। उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी भरे रहते हैं तथा अप्सराएँ उसमें जल-क्रीडा करती हैं ॥ २२ ॥

तत्र वैश्रवणो राजा सर्वलोकनमस्कृतः।
धनदो रमते श्रीमान् गुह्यकैः सह यक्षराट् ॥ २३ ॥

वहाँ यक्षोंके स्वामी विश्रवाकुमार श्रीमान् राजा कुबेर, जो समस्त विश्वके लिये वन्दनीय और धन देनेवाले हैं, गुह्यकोंके साथ विहार करते हैं ॥ २३ ॥

तस्य चन्द्रनिकाशेषु पर्वतेषु गुहासु च।
रावणः सह वैदेह्या मार्गितव्यस्ततस्ततः ॥ २४ ॥

'उस कैलासके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल शाखा-पर्वतोंपर तथा उनकी गुफाओंमें सब ओर घूम-फिरकर तुम्हें सीतासहित रावणका अनुसंधान करना चाहिये ॥ २४ ॥

क्रौञ्चं तु गिरिमासाद्य बिलं तस्य सुदुर्गमम्।
अप्रमत्तैः प्रवेष्टव्यं दुष्प्रवेशं हि तत् स्मृतम् ॥ २५ ॥

'इसके बाद क्रौञ्चगिरिपर जाकर वहाँकी अत्यन्त दुर्गम विवररूप गुफामें (जो स्कन्दकी शक्तिसे पर्वतके विदीर्ण होनेके कारण बन गयी है) तुम्हें सावधानीके साथ प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि उसके भीतर प्रवेश करना अत्यन्त कठिन माना गया है ॥ २५ ॥

वसन्ति हि महात्मानस्तत्र सूर्यसमप्रभाः।
देवैरभ्यर्थिताः सम्यग् देवरूपा महर्षयः ॥ २६ ॥

'उस गुफामें सूर्यके समान तेजस्वी महात्मा निवास करते हैं। उन देवस्वरूप महर्षियोंकी देवतालोग भी अभ्यर्थना करते हैं ॥ २६ ॥

क्रौञ्चस्य तु गुहाश्चान्याः सानूनि शिखराणि च ।
निर्दराश्च नितम्बाश्च विचेतव्यास्ततस्ततः ॥ २७ ॥

क्रौञ्च पर्वतकी और भी बहुत-सी गुफाएँ, अनेकानेक चोटियाँ, शिखर, कन्दराएँ तथा नितम्ब (ढालू प्रदेश) हैं; उन सबमें सब ओर घूम-फिरकर तुम्हें सीता और रावणका पता लगाना चाहिये ॥ २७ ॥

अवृक्षं कामशैलं च मानसं विहगालयम् ।
न गतिस्तत्र भूतानां देवानां न च रक्षसाम् ॥ २८ ॥

'वहाँसे आगे वृक्षोंसे रहित मानस नामक शिखर है, जहाँ शून्य होनेके कारण कभी पक्षीतक नहीं जाते हैं। कामदेवकी तपस्याका स्थान होनेके कारण वह क्रौञ्चशिखर कामशैलके नामसे विख्यात है। वहाँ भूतों, देवताओं तथा राक्षसोंका भी कभी जाना नहीं होता है ॥ २८ ॥

स च सर्वैर्विचेतव्यः ससानुप्रस्थभूधरः ।
क्रौञ्चं गिरिमतिक्रम्य मैनाको नाम पर्वतः ॥ २९ ॥

'शिखरों, घाटियों और शाखापर्वतोंसहित समूचे क्रौञ्चपर्वतकी तुमलोग छानबीन करना। क्रौञ्चगिरिको लाँघकर आगे बढ़नेपर मैनाक पर्वत मिलेगा ॥ २९ ॥

मयस्य भवनं तत्र दानवस्य स्वयंकृतम् ।
मैनाकस्तु विचेतव्यः ससानुप्रस्थकन्दरः ॥ ३० ॥

'वहाँ मयदानवका घर है, जिसे उसने स्वयं ही अपने लिये बनाया है। तुमलोगोंको शिखरों, चौरस मैदानों और कन्दराओंसहित मैनाक पर्वतपर भलीभाँति सीताजीकी खोज करनी चाहिये ॥ ३० ॥

स्त्रीणामश्वमुखीनां तु निकेतस्तत्र तत्र तु ।
तं देशं समतिक्रम्य आश्रमं सिद्धसेवितम् ॥ ३१ ॥

'वहाँ यत्र-तत्र घोड़ेके-से मुँहवाली किन्नरियोंके निवासस्थान हैं। उस प्रदेशको लाँघ जानेपर सिद्धसेवित आश्रम मिलेगा ॥ ३१ ॥

सिद्धा वैखानसा यत्र वालखिल्याश्च तापसाः ।
वन्दितव्यास्ततः सिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः ॥ ३२ ॥
प्रष्टव्या चापि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः ।

'उसमें सिद्ध, वैखानस तथा वालखिल्य नामक तपस्वी निवास करते हैं। तपस्यासे उनके पाप धुल गये हैं। उन सिद्धोंको तुमलोग प्रणाम करना और विनीतभावसे सीताका समाचार पूछना ॥ ३२½ ॥

हेमपुष्करसंछन्नं तत्र वैखानसं सरः ॥ ३३ ॥
तरुणादित्यसंकाशैर्हंसैर्विचरितं शुभैः ।

'उस आश्रमके पास 'वैखानस सर' के नामसे प्रसिद्ध एक सरोवर है, जिसका जल सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादित रहता है। उसमें प्रातःकालिक सूर्यके समान सुनहरे एवं अरुणवर्णवाले सुन्दर हंस विचरते रहते हैं ॥ ३३½ ॥

औपवाह्यः कुबेरस्य सार्वभौम इति स्मृतः ॥ ३४ ॥
गजः पर्येति तं देशं सदा सह करेणुभिः ।

'कुबेरकी सवारीमें काम आनेवाला सार्वभौमनामक गजराज अपनी हथिनियोंके साथ उस देशमें सदा घूमता रहता है ॥ ३४½ ॥

तत् सरः समतिक्रम्य नष्टचन्द्रदिवाकरम् ।
अनक्षत्रगणं व्योम निष्पयोदमनादितम् ॥ ३५ ॥

'उस सरोवरको लाँघकर आगे जानेपर सूना आकाश दिखायी देगा। उसमें सूर्य, चन्द्रमा तथा तारोंके दर्शन नहीं होंगे। वहाँ न तो मेघोंकी घटा दिखायी देगी और न उनकी गर्जना ही सुनायी पड़ेगी ॥ ३५ ॥

गभस्तिभिरिवार्कस्य स तु देशः प्रकाशयते ।
विश्राम्यद्भिस्तपःसिद्धैर्देवकल्पैः स्वयंप्रभैः ॥ ३६ ॥

'तथापि उस देशमें ऐसा प्रकाश छाया होगा, मानो सूर्यकी किरणोंसे ही वह प्रकाशित हो रहा हो। वहाँ अपनी ही प्रभासे प्रकाशित तपःसिद्ध देवोपम महर्षि विश्राम करते हैं। उन्हींकी अङ्गप्रभासे उस देशमें उजाला छाया रहता है ॥ ३६ ॥

तं तु देशमतिक्रम्य शैलोदा नाम निम्नगा ।
उभयोस्तीरयोस्तस्याः कीचका नाम वेणवः ॥ ३७ ॥

'उस प्रदेशको लाँघकर आगे बढ़नेपर 'शैलोदा' नामवाली नदीका दर्शन होगा। उसके दोनों तटोंपर कीचक (वंशीकी-सी ध्वनि करनेवाले) बाँस हैं; यह बात प्रसिद्ध है ॥ ३७ ॥

ते नयन्ति परं तीरं सिद्धान् प्रत्यानयन्ति च ।
उत्तराः कुरवस्तत्र कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ॥ ३८ ॥

'वे बाँस ही (साधन बनकर) सिद्ध पुरुषोंको शैलोदाके उस पार ले जाते और वहाँसे इस पार ले आते हैं। जहाँ केवल पुण्यात्मा पुरुषोंका वास है, वह उत्तर कुरुदेश शैलोदाके तटपर ही है ॥ ३८ ॥

ततः काञ्चनपद्माभिः पद्मिनीभिः कृतोदकाः ।
नीलवैदूर्यपत्राढ्या नद्यस्तत्र सहस्रशः ॥ ३९ ॥

'उत्तर कुरुदेशमें नील वैदूर्यमणिके समान हरे-हरे कमलोंके पत्तोंसे सुशोभित सहस्रों नदियाँ बहती हैं, जिनके जल सुवर्णमय पद्मोंसे अलंकृत अनेकानेक पुष्करिणियोंसे मिले हुए हैं ॥ ३९ ॥

रक्तोत्पलवनैश्चात्र मण्डिताश्च हिरण्मयैः ।
तरुणादित्यसंकाशा भान्ति तत्र जलाशयाः ॥ ४० ॥

'वहाँके जलाशय लाल और सुनहरे कमलसमूहोंसे

मण्डित होकर प्रातःकाल उदित हुए सूर्यके समान शोभा पाते हैं ॥ ४० ॥

महार्हमणिपत्रैश्च काञ्चनप्रभकेसरैः ।
नीलोत्पलवनैश्चित्रैः स देशः सर्वतो वृतः ॥ ४१ ॥

बहुमूल्य मणियोंके समान पत्तों और सुवर्णके समान कान्तिमान् केसरोंवाले विचित्र-विचित्र नील कमलोंके द्वारा वहाँका प्रदेश सब ओरसे सुशोभित होता है ॥ ४१ ॥

निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिर्मणिभिश्च महाधनैः ।
उद्धूतपुलिनास्तत्र जातरूपैश्च निम्नगाः ॥ ४२ ॥
सर्वरत्नमयैश्चित्रैरवगाढा नगोत्तमैः ।
जातरूपमयैश्चापि हुताशनसमप्रभैः ॥ ४३ ॥

'वहाँकी नदियोंके तट गोल गोल मोतियों, बहुमूल्य मणियों और सुवर्णोंसे सम्पन्न हैं । इतना ही नहीं, उन नदियोंके किनारे सम्पूर्ण रत्नोंसे युक्त विचित्र-विचित्र पर्वत भी विद्यमान हैं, जो उनके जलके भीतरतक घुसे हुए हैं । उन पर्वतोंमेंसे कितने ही सुवर्णमय हैं, जिनसे अग्निके समान प्रकाश फैलता रहता है ॥ ४२-४३ ॥

नित्यपुष्पफलास्तत्र नगाः पत्ररथाकुलाः ।
दिव्यगन्धरसस्पर्शाः सर्वकामान् स्रवन्ति च ॥ ४४ ॥

वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फल-फूल लगे रहते हैं और उनपर पक्षी चहकते रहते हैं । वे वृक्ष दिव्य गन्ध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श प्रदान करते हैं तथा प्राणियोंकी सारी मनचाही वस्तुओंकी वर्षा करते रहते हैं ॥ ४४ ॥

नानाकाराणि वासांसि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
मुक्तावैदूर्यचित्राणि भूषणानि तथैव च ।
स्त्रीणां यान्यनुरूपाणि पुरुषाणां तथैव च ॥ ४५ ॥

'इनके सिवा दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ वृक्ष फलोंके रूपमें नाना प्रकारके वस्त्र, मोती और वैदूर्यमणिसे जटित आभूषण देते हैं, जो स्त्रियों तथा पुरुषोंके भी उपयोगमें आने योग्य होते हैं ॥ ४५ ॥

सर्वर्तुसुखसेव्यानि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ।
महार्हमणिचित्राणि फलन्त्यन्ये नगोत्तमाः ॥ ४६ ॥

'दूसरे उत्तम वृक्ष सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक सेवन करने योग्य अच्छे-अच्छे फल देते हैं । अन्यान्य सुन्दर वृक्ष बहुमूल्य मणियोंके समान विचित्र फल उत्पन्न करते हैं ।४६।

शयनानि प्रसूयन्ते चित्रास्तरणवन्ति च ।
मनःकान्तानि माल्यानि फलन्त्यत्रापरे द्रुमाः ॥ ४७ ॥
पानानि च महार्हाणि भक्ष्याणि विविधानि च ।
स्त्रियश्च गुणसम्पन्ना रूपयौवनलक्षिताः ॥ ४८ ॥

'कितने ही अन्य वृक्ष विचित्र बिछौनोंसे युक्त शय्याओंको ही फलोंके रूपमें प्रकट करते हैं, मनको प्रिय लगनेवाली सुन्दर मालाएँ भी प्रस्तुत करते हैं, बहुमूल्य पेय पदार्थ और भाँति-भाँतिके भोजन भी देते हैं तथा रूप और यौवनसे प्रकाशित होनेवाली सद्‌गुणवती युवतियोंको भी जन्म देते हैं ॥ ४७-४८ ॥

गन्धर्वाः किन्नराः सिद्धा नागा विद्याधरास्तथा ।
रमन्ते सततं तत्र नारीभिर्भास्वरप्रभाः ॥ ४९ ॥

'वहाँ सूर्यके समान कान्तिमान् गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, नाग और विद्याधर सदा नारियोंके साथ क्रीडा-विहार करते हैं ॥ ४९ ॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे रतिपरायणाः ।
सर्वे कामार्थसहिता वसन्ति सह योषितः ॥ ५० ॥

'वहाँके सब लोग पुण्यकर्मा हैं, सभी अर्थ और कामसे सम्पन्न हैं तथा सब लोग काम-क्रीडापरायण होकर युवती स्त्रियोंके साथ निवास करते हैं ॥ ५० ॥

गीतवादित्रनिर्घोषः सोत्कृष्टहसितस्वनः ।
श्रूयते सततं तत्र सर्वभूतमनोरमः ॥ ५१ ॥

'वहाँ निरन्तर उत्कृष्ट हास-परिहासकी ध्वनिसे युक्त गीत-वाद्यका मधुर घोष सुनायी देता है, जो समस्त प्राणियोंके मनको आनन्द प्रदान करनेवाला है ॥ ५१ ॥

तत्र नामुदितः कश्चिन्नात्र कश्चिदसत्प्रियः ।
अहन्यहनि वर्धन्ते गुणास्तत्र मनोरमाः ॥ ५२ ॥

'वहाँ कोई भी अप्रसन्न नहीं रहता । किसीकी भी बुरे कामोंमें प्रीति नहीं होती । वहाँ रहनेसे प्रतिदिन मनोरम गुणोंकी वृद्धि होती है ॥ ५२ ॥

समतिक्रम्य तं देशमुत्तरः पयसां निधिः ।
तत्र सोमगिरिर्नाम मध्ये हेममयो महान् ॥ ५३ ॥

'उस देशको लाँघकर आगे जानेपर उत्तरदिग्वर्ती समुद्र उपलब्ध होगा । उस समुद्रके मध्यभागमें सोमगिरि नामक एक बहुत ऊँचा सुवर्णमय पर्वत है ॥ ५३ ॥

इन्द्रलोकगता ये च ब्रह्मलोकगताश्च ये ।
देवास्तं समवेक्षन्ते गिरिराजं दिवं गताः ॥ ५४ ॥

'जो लोग स्वर्गलोकमें गये हैं, वे तथा इन्द्रलोक और ब्रह्मलोकमें रहनेवाले देवता उस गिरिराज सोमगिरिका दर्शन करते हैं ॥ ५४ ॥

स तु देशो विसूर्योऽपि तस्य भासा प्रकाशते ।
सूर्यलक्ष्म्याभिविज्ञेयस्तपतेव विवस्वता ॥ ५५ ॥

'वह देश सूर्यसे रहित है तो भी सोमगिरिकी प्रभासे सदा प्रकाशित होता रहता है । तपते हुए सूर्यकी प्रभासे जो देश प्रकाशित होते हैं, उन्हींकी भाँति उसे सूर्यदेवकी शोभासे सम्पन्न-सा जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

भगवांस्तत्र विश्वात्मा शम्भुरेकादशात्मकः ।
ब्रह्मा वसति देवेशो ब्रह्मर्षिपरिवारितः ॥ ५६ ॥

वहाँ विश्वात्मा भगवान् विष्णु, एकादश रुद्रोंके रूपमें प्रकट होनेवाले भगवान् शंकर तथा ब्रह्मर्षियोंसे घिरे हुए देवेश्वर ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ५६ ॥

न कथंचन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः।
अन्येषामपि भूतानां नानुक्रामति वै गतिः ॥ ५७ ॥

'तुमलोग उत्तर कुरुके मार्गसे सोमगिरितक जाकर उसकी सीमासे आगे किसी तरह न बढ़ना। तुम्हारी तरह दूसरे प्राणियोंकी भी वहाँ गति नहीं है ॥ ५७ ॥

स हि सोमगिरिर्नाम देवानामपि दुर्गमः।
तमालोक्य ततः क्षिप्रमुपावर्तितुमर्हथ ॥ ५८ ॥

'वह सोमगिरि देवताओंके लिये भी दुर्गम है। अतः उसका दर्शनमात्र करके तुमलोग शीघ्र लौट आना ॥ ५८ ॥

एतावद् वानरैः शक्यं गन्तुं वानरपुंगवाः।
अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम् ॥ ५९ ॥

'श्रेष्ठ वानरो! बस, उत्तर दिशामें इतनी ही दूरतक तुम सब वानर जा सकते हो। उसके आगे न तो सूर्यका प्रकाश है और न किसी देश आदिकी सीमा ही। अतः आगेकी भूमिके सम्बन्धमें मैं कुछ नहीं जानता ॥ ५९ ॥

सर्वमेतद् विचेतव्यं यन्मया परिकीर्तितम्।
यदन्यदपि नोक्तं च तत्रापि क्रियतां मतिः ॥ ६० ॥

'मैंने जो-जो स्थान बताये हैं, उन सबमें सीताकी खोज करना और जिन स्थानोंका नाम नहीं लिया है, वहाँ भी ढूँढ़नेका ही निश्चित विचार रखना ॥ ६० ॥

ततः कृतं दाशरथेर्महत्प्रियं
महत्प्रियं चापि ततो मम प्रियम्।
कृतं भविष्यत्यनिलानलोपमा
विदेहजादर्शनजेन कर्मणा ॥ ६१ ॥

'अग्नि और वायुके समान तेजस्वी तथा बलशाली वानरो! विदेहनन्दिनी सीताके दर्शनके लिये तुम जो-जो कार्य या प्रयास करोगे, उन सबके द्वारा दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामका महान् प्रिय कार्य सम्पन्न होगा तथा उसीसे मेरा भी प्रिय कार्य पूर्ण हो जायगा ॥ ६१ ॥

ततः कृतार्थाः सहिताः सबान्धवा
मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः।
चरिष्यथोर्वीं प्रति शान्तशात्रवः
सहप्रिया भूतधराः प्लवंगमाः ॥ ६२ ॥

'वानरो! श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय कार्य करके जब तुम लौटोगे, तब मैं सर्वगुणसम्पन्न एवं मनोऽनुकूल पदार्थोंके द्वारा तुम सब लोगोंका सत्कार करूँगा। तत्पश्चात् तुमलोग शत्रुहीन होकर अपने हितैषियों और बन्धु-बान्धवोंसहित कृतार्थ एवं समस्त प्राणियोंके आश्रयदाता होकर अपनी प्रियतमाओंके साथ सारी पृथ्वीपर सानन्द विचरण करोगे' ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका हनुमान्‌जीको अँगूठी देकर भेजना

विशेषेण तु सुग्रीवो हनूमत्यर्थमुक्तवान्।
स हि तस्मिन् हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने ॥ १ ॥

सुग्रीवने हनुमान्‌जीके समक्ष विशेषरूपसे सीताके अन्वेषणरूप प्रयोजनको उपस्थित किया; क्योंकि उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी इस कार्यको सिद्ध कर सकेंगे ॥ १ ॥

अब्रवीच्च हनूमन्तं विक्रान्तमनिलात्मजम्।
सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्ववनौकसाम् ॥ २ ॥

समस्त वानरोंके स्वामी सुग्रीवने अत्यन्त प्रसन्न होकर परम पराक्रमी वायुपुत्र हनुमान्‌से इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुंगव ॥ ३ ॥

'कपिश्रेष्ठ! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, देवलोक अथवा जलमें भी तुम्हारी गतिका अवरोध मैं कभी नहीं देखता हूँ ॥ ३ ॥

सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः ॥ ४ ॥

'असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य, देवता, समुद्र तथा पर्वतोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका तुम्हें ज्ञान है ॥ ४ ॥

गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य महौजसः ॥ ५ ॥

'वीर! महाकपे! सर्वत्र अबाधित गति, वेग, तेज और फुर्ती—ये सभी सद्‌गुण तुममें अपने महापराक्रमी पिता वायुके ही समान हैं ॥ ५ ॥

तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते।
तद् यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय ॥ ६ ॥

'इस भूमण्डलमें कोई भी प्राणी तुम्हारे तेजकी समानता करनेवाला नहीं है; अतः जिस प्रकार सीताकी उपलब्धि हो सके, वह उपाय तुम्हीं सोचो ॥ ६ ॥

त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डितः॥ ७॥

'हनुमन्! तुम नीतिशास्त्रके पण्डित हो। एकमात्र तुम्हींमें बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-कालका अनुसरण तथा नीतिपूर्ण बर्ताव एक साथ देखे जाते हैं'॥ ७॥

ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति।
विदित्वा हनुमन्तं च चिन्तयामास राघवः॥ ८॥

सुग्रीवकी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको यह ज्ञात हुआ कि इस कार्यकी सिद्धिका सम्बन्ध—इसे पूर्ण करनेका सारा भार हनुमान्‌पर ही है। उन्होंने स्वयं भी यह अनुभव किया कि हनुमान् इस कार्यको सफल करनेमें समर्थ हैं। फिर वे इस प्रकार मन-ही-मन विचार करने लगे—॥ ८॥

सर्वथा निश्चितार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः।
निश्चितार्थतरश्चापि हनूमान् कार्यसाधने॥ ९॥

'वानरराज सुग्रीव सर्वथा हनुमान्‌पर ही यह भरोसा किये बैठे हैं कि ये ही निश्चितरूपसे हमारे इस प्रयोजनको सिद्ध कर सकते हैं। स्वयं हनुमान् भी अत्यन्त निश्चितरूपसे इस कार्यको सिद्ध करनेका विश्वास रखते हैं॥ ९॥

तदेवं प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः।
भर्त्रा परिगृहीतस्य ध्रुवः कार्यफलोदयः॥ १०॥

'इस प्रकार कार्योद्वारा जिनकी परीक्षा कर ली गयी है तथा जो सबसे श्रेष्ठ समझे गये हैं, वे हनुमान् अपने स्वामी सुग्रीवके द्वारा सीताकी खोजके लिये भेजे जा रहे हैं। इनके द्वारा इस कार्यके फलका उदय (सीताका दर्शन) होना निश्चित है'॥ १०॥

तं समीक्ष्य महातेजा व्यवसायोत्तरं हरिम्।
कृतार्थ इव संहृष्टः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः॥ ११॥

ऐसा विचारकर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी कार्यसाधनके उद्योगमें सर्वश्रेष्ठ हनुमान्‌जीकी ओर दृष्टिपात करके अपनेको कृतार्थ-सा मानते हुए प्रसन्न हो गये। उनकी सारी इन्द्रियाँ और मन हर्षसे खिल उठे॥ ११॥

ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम्।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः॥ १२॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीरामने प्रसन्नतापूर्वक अपने नामके अक्षरोंसे सुशोभित एक अँगूठी हनुमान्‌जीके हाथमें दी, जो राजकुमारी सीताको पहचानके रूपमें अर्पण करनेके लिये थी॥ १२॥

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति॥ १३॥

अँगूठी देकर वे बोले—'कपिश्रेष्ठ! इस चिह्नके द्वारा जनककिशोरी सीताको यह विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे पाससे ही गये हो। इससे वह भय त्यागकर तुम्हारी ओर देख सकेगी॥ १३॥

व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः।
सुग्रीवस्य च संदेशः सिद्धिं कथयतीव मे॥ १४॥

'वीरवर! तुम्हारा उद्योग, धैर्य, पराक्रम और सुग्रीवका संदेश—ये सब मुझे इस बातकी सूचना-सी दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी'॥ १४॥

स तद् गृह्य हरिश्रेष्ठः कृत्वा मूर्ध्नि कृताञ्जलिः।
वन्दित्वा चरणौ चैव प्रस्थितः प्लवगर्षभः॥ १५॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌ने वह अँगूठी लेकर उसे मस्तकपर रक्खा और फिर हाथ जोड़कर श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करके वे वानरशिरोमणि वहाँसे प्रस्थित हुए॥ १५॥

स तत् प्रकर्षन् हरिणां महद् बलं
बभूव वीरः पवनात्मजः कपिः।
गताम्बुदे व्योम्नि विशुद्धमण्डलः
शशीव नक्षत्रगणोपशोभितः॥ १६॥

उस समय वीर-वानर पवनकुमार हनुमान् अपने साथ वानरोंकी उस विशाल सेनाको ले जाते हुए उसी तरह शोभा पाने लगे, जैसे मेघरहित आकाशमें विशुद्ध (निर्मल) मण्डलसे उपलक्षित चन्द्रमा नक्षत्र-समूहोंके साथ सुशोभित होता है॥ १६॥

अतिबल बलमाश्रितस्तवाहं
हरिवर विक्रम विक्रमैरनल्पैः।
पवनसुत यथाधिगम्यते सा
जनकसुता हनुमंस्तथा कुरुष्व॥ १७॥

जाते हुए हनुमान्‌को सम्बोधित करके श्रीरामचन्द्रजीने फिर कहा—'अत्यन्त बलशाली कपिश्रेष्ठ! मैंने तुम्हारे बलका आश्रय लिया है। पवनकुमार हनुमान्! जिस प्रकार भी जनकनन्दिनी सीता प्राप्त हो सके, तुम अपने महान् बल-विक्रमसे वैसा ही प्रयत्न करो। अच्छा, अब जाओ'॥ १७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४४॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

विभिन्न दिशाओंमें जाते हुए वानरोंका सुग्रीवके समक्ष अपने उत्साहसूचक वचन सुनाना

सर्वांश्चाहूय सुग्रीवः प्लवगान् प्लवगर्षभः।
समस्तांश्चाब्रवीद् राजा रामकार्यार्थसिद्धये॥ १॥

तदनन्तर वानरशिरोमणि राजा सुग्रीव अन्य समस्त वानरोंको बुलाकर श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये उन सबसे बोले—॥ १॥

एवमेतद् विचेतव्यं भवद्भिर्वानरोत्तमैः।

तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुंगवाः ॥ २ ॥
शलभा इव संछाद्य मेदिनीं सम्प्रतस्थिरे ।

'कपिवरो ! जैसा मैंने बताया है, उसके अनुसार तुम सभी श्रेष्ठ वानरोंको इस जगत्में सीताकी खोज करनी चाहिये।' स्वामीकी उस कठोर आज्ञाको भलीभाँति समझकर वे सम्पूर्ण श्रेष्ठ वानर टिड्डियोंके दलकी भाँति पृथ्वीको आच्छादित करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २½ ॥

रामः प्रस्रवणे तस्मिन् न्यवसत् सहलक्ष्मणः ॥ ३ ॥
प्रतीक्षमाणस्तं मासं सीताधिगमने कृतः ।

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ उस प्रस्रवणगिरिपर ही ठहरे रहे और सीताका समाचार लानेके लिये जो एक मासकी अवधि निश्चित की गयी थी, उसकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ३½ ॥

उत्तरां तु दिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम् ॥ ४ ॥
प्रतस्थे सहसा वीरो हरिः शतबलिस्तदा ।

उस समय वीर वानर शतबलिने गिरिराज हिमालयसे घिरी हुई रमणीय उत्तर दिशाकी ओर शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ ४½ ॥

पूर्वां दिशं प्रतिययौ विनतो हरियूथपः ॥ ५ ॥
ताराङ्गदादिसहितः प्लवगः पवनात्मजः ।
अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां हरियूथपः ॥ ६ ॥
पश्चिमां च दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः ।
प्रतस्थे हरिशार्दूलो दिशं वरुणपालिताम् ॥ ७ ॥

वानर-यूथपति विनत पूर्व दिशाकी ओर गये । कपिगणोंके अधिपति पवनकुमार वानर हनुमान्‌जी तार और अङ्गद आदिके साथ अगस्त्यसेवित दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुए तथा वानरेश्वर कपिश्रेष्ठ सुषेणने वरुण-द्वारा सुरक्षित घोर पश्चिम दिशाकी यात्रा की ॥ ५–७ ॥

ततः सर्वा दिशो राजा चोदयित्वा यथातथम् ।
कपिसेनापतिर्वीरो मुमोद सुखितः सुखम् ॥ ८ ॥

वानर-सेनाके स्वामी वीर राजा सुग्रीव सम्पूर्ण दिशाओंमें यथायोग्य वानरोंको भेजकर बहुत सुखी हुए और मन-ही-मन हर्षका अनुभव करने लगे ॥ ८ ॥

एवं संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
स्वां स्वां दिशमभिप्रेत्य त्वरिताः सम्प्रतस्थिरे ॥ ९ ॥

इस तरह राजाकी आज्ञा पाकर समस्त वानर-यूथपति बड़ी उतावलीके साथ अपनी-अपनी दिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ९ ॥

नदन्तश्चोन्नदन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः ।
क्ष्वेडन्तो धावमानाश्च विनदन्तो महाबलाः ॥ १० ॥
एवं संचोदिताः सर्वे राज्ञा वानरयूथपाः ।
आनयिष्यामहे सीतां हनिष्यामश्च रावणम् ॥ ११ ॥
अहमेको वधिष्यामि प्राप्तं रावणमाहवे ।
ततश्चोन्मथ्य सहसा हरिष्ये जनकात्मजाम् ॥ १२ ॥
वेपमानां श्रमेणाद्य भवद्भिः स्थीयतामिति ।
एक एवाहरिष्यामि पातालादपि जानकीम् ॥ १३ ॥
विधमिष्याम्यहं वृक्षान् दारयिष्याम्यहं गिरीन् ।
धरणीं दारयिष्यामि क्षोभयिष्यामि सागरान् ॥ १४ ॥
अहं योजनसंख्यायाः प्लवेयं नात्र संशयः ।
शतयोजनसंख्यायाः शतं समधिकं ह्यहम् ॥ १५ ॥
भूतले सागरे वापि शैलेषु च वनेषु च ।
पातालस्यापि वा मध्ये न ममाच्छिद्यते गतिः ॥ १६ ॥

वे समस्त महाबली वानर और उनके यूथपति अपने राजाके द्वारा इस प्रकार प्रेरित हो भाँति-भाँतिके शब्द करते, उच्च स्वरसे गर्जते, दहाड़ते, किलकारियाँ मारते, दौड़ते और कोलाहल करते हुए कहने लगे—'राजन् ! हम सीताको साथ लायेंगे और रावणका वध कर डालेंगे। युद्धमें यदि रावण मेरे सामने आ जाय तो मैं अकेला ही उसे मार गिराऊँगा। तत्पश्चात् उसकी सारी सेनाको मथकर कष्ट एवं भयसे काँपती हुई जानकीजीको सहसा यहाँ उठा लाऊँगा। आपलोग यहीं ठहरें । मैं अकेला ही पातालसे भी जनककिशोरीको निकाल लाऊँगा, वृक्षोंको उखाड़ फेंकूँगा, पर्वतोंके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा, पृथ्वीको विदीर्ण कर दूँगा और समुद्रोंको भी विक्षुब्ध कर डालूँगा। मैं सौ योजनतक कूद सकता हूँ, इसमें संशय नहीं है । मैं सौ योजनसे भी अधिक दूरतक जा सकता हूँ । पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, वन और पातालमें भी मेरी गति नहीं रुकती' ॥ १०–१६ ॥

इत्येकैकस्तदा तत्र वानरा बलदर्पिताः ।
ऊचुश्च वचनं तस्य हरिराजस्य संनिधौ ॥ १७ ॥

इस तरह वहाँ वानरराज सुग्रीवके समीप बलके घमंडमें भरे हुए वानर उस समय एक-एक करके आते और उनके सामने उपर्युक्त बातें कहते थे ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सुग्रीवका श्रीरामचन्द्रजीको अपने भूमण्डल-भ्रमणका वृत्तान्त बताना

गतेषु वानरेन्द्रेषु रामः सुग्रीवमब्रवीत्।
कथं भवान् विजानीते सर्वं वै मण्डलं भुवः ॥ १ ॥

उन समस्त वानरयूथपतियोंके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे पूछा—'सखे! तुम समस्त भूमण्डलके स्थानोंका परिचय कैसे जानते हो?' ॥ १ ॥

सुग्रीवश्च ततो राममुवाच प्रणतात्मवान्।
श्रूयतां सर्वमाख्यास्ये विस्तरेण वचो मम ॥ २ ॥

तब सुग्रीवने विनीत होकर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'भगवन्! मैं सब कुछ विस्तारके साथ बता रहा हूँ। मेरी बातें सुनिये' ॥ २ ॥

यदा तु दुन्दुभिं नाम दानवं महिषाकृतिम्।
प्रतिकालयते वाली मलयं प्रति पर्वतम् ॥ ३ ॥
तदा विवेश महिषो मलयस्य गुहां प्रति।
विवेश वाली तत्रापि मलयं तज्जिघांसया ॥ ४ ॥

'जब वाली महिषरूपधारी दानव दुन्दुभि* (उसके पुत्र मायावी) का पीछा कर रहे थे, उस समय वह महिष मलयपर्वतकी ओर भागा और उस पर्वतकी कन्दरामें घुस गया। यह देख वालीने उसके वधकी इच्छासे उस गुफाके भीतर भी प्रवेश किया ॥ ३-४ ॥

ततोऽहं तत्र निक्षिप्तो गुहाद्वारि विनीतवत्।
न च निष्क्रामते वाली तदा संवत्सरे गते ॥ ५ ॥

'उस समय मैं विनीतभावसे उस गुफाके द्वारपर खड़ा रहा; क्योंकि वालीने मुझे वहीं रख छोड़ा था। परंतु एक वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी वाली उसके भीतरसे नहीं निकले ॥ ५ ॥

ततः क्षतजवेगेन आपुपूरे तदा बिलम्।
तदहं विस्मितो दृष्ट्वा भ्रातुः शोकविषार्दितः ॥ ६ ॥

'तदनन्तर वेगपूर्वक बहे हुए रक्तकी धारासे उस समय वह सारी गुफा भर गयी। यह देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ तथा मैं भाईके शोकसे व्यथित हो उठा ॥ ६ ॥

अथाहं गतबुद्धिस्तु सुव्यक्तं निहतो गुरुः।
शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता ॥ ७ ॥

'फिर मेरी बुद्धिमें यह बात आयी कि अब मेरे बड़े भाई निश्चय ही मारे गये! यह विचार पैदा होते ही मैंने उस गुफाके द्वारपर एक पहाड़-जैसी चट्टान रख दी ॥ ७ ॥

अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति।
ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते ॥ ८ ॥

'सोचा—इस शिलासे द्वार बंद हो जानेपर मायावी निकल नहीं सकेगा, भीतर ही घुट-घुटकर मर जायगा। इसके बाद भाईके जीवनसे निराश होकर मैं किष्किन्धापुरीमें लौट आया ॥ ८ ॥

राज्यं च सुमहत् प्राप्य तारां च रुमया सह।
मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः ॥ ९ ॥

'यहाँ विशाल राज्य तथा रुमासहित ताराको पाकर मित्रोंके साथ मैं निश्चिन्ततापूर्वक रहने लगा ॥ ९ ॥

आजगाम ततो वाली हत्वा तं वानरर्षभः।
ततोऽहमददां राज्यं गौरवाद् भययन्त्रितः ॥ १० ॥

'तत्पश्चात् वानरश्रेष्ठ वाली उस दानवका वध करके आ पहुँचे। उनके आते ही मैंने भाईके गौरवसे भयभीत हो वह राज्य उन्हें वापस कर दिया ॥ १० ॥

स मां जिघांसुर्दुष्टात्मा वाली प्रव्यथितेन्द्रियः।
परिकालयते वाली धावन्तं सचिवैः सह ॥ ११ ॥

'परंतु दुष्टात्मा वाली मुझे मार डालना चाहता था, उसकी सारी इन्द्रियाँ यह सोचकर व्यथित हो उठी थीं कि 'यह मुझे मारनेके लिये ही गुफाका द्वार बंद करके भाग आया था।' मैं अपनी प्राण-रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ भागा और वाली मेरा पीछा करने लगा ॥ ११ ॥

ततोऽहं वालिना तेन सोऽनुबद्धः प्रधावितः।
नदीश्च विविधाः पश्यन् वनानि नगराणि च ॥ १२ ॥
आदर्शतलसंकाशा ततो वै पृथिवी मया।
अलातचक्रप्रतिमा दृष्टा गोष्पदवत् कृता ॥ १३ ॥

'वाली मेरे पीछे लगा रहा और मैं जोर-जोरको भागता गया। उसी समय मैंने विभिन्न नदियों, वनों और नगरोंको देखते हुए सारी पृथ्वीको गायकी खुरीकी भाँति मानकर उसकी परिक्रमा कर डाली। भागते समय मुझे यह पृथ्वी दर्पण और अलातचक्रके समान दिखायी दी ॥ १२-१३ ॥

पूर्वां दिशं ततो गत्वा पश्यामि विविधान् द्रुमान्।
पर्वतान् सदरीन् रम्यान् सरांसि विविधानि च ॥ १४ ॥

'तदनन्तर पूर्व दिशामें जाकर मैंने नाना प्रकारके वृक्ष, कन्दराओंसहित रमणीय पर्वत और भाँति-भाँतिके सरोवर देखे ॥ १४ ॥

उदयं तत्र पश्यामि पर्वतं धातुमण्डितम्।
क्षीरोदं सागरं चैव नित्यमप्सरसालयम् ॥ १५ ॥

'वहीं नाना प्रकारके धातुओंसे मण्डित उदयाचल तथा

---

* यहाँ दुन्दुभि और महिष शब्दसे उसके पुत्र मायावी नामक दानवका ही वर्णन हुआ है—ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि आगे कही जानेवाली सारी बातें उसीके वृत्तान्तसे सम्बन्ध रखती हैं। पिता भैंसेका रूप धारण करता था, यही गुण उसके पुत्र मायावीमें भी था। इसलिये उसको भी महिष या महिषाकृति कहना असङ्गत नहीं है।

अप्सराओंके नित्य-निवासस्थान क्षीरोद सागरका भी मैंने दर्शन किया ॥ १५ ॥

परिकाल्यमानस्तदा वालिनाभिद्रुतो ह्यहम् ।
पुनरावृत्य सहसा प्रस्थितोऽहं तदा विभो ॥ १६ ॥

'उस समय वाली पीछा करते रहे और मैं भागता रहा। प्रभो! जब मैं यहाँ फिर लौटकर आया, तब वालीके डरसे पुनः सहसा मुझे भागना पड़ा ॥ १६ ॥

दिशस्तस्यास्ततो भूयः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ।
विन्ध्यपादपसंकीर्णां चन्दनद्रुमशोभिताम् ॥ १७ ॥

'उस दिशाको छोड़कर मैं फिर दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित हुआ, जहाँ विन्ध्यपर्वत और नाना प्रकारके वृक्ष भरे हुए हैं तथा चन्दनके वृक्ष जिसकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ १७ ॥

द्रुमशैलान्तरे पश्यन् भूयो दक्षिणतोऽपराम् ।
अपरां च दिशं प्राप्तो वालिना समभिद्रुतः ॥ १८ ॥

'वृक्षों और पर्वतोंकी ओटमें बारंबार वालीको देखकर मैंने दक्षिण दिशाको छोड़ दिया तथा वालीके खदेड़नेपर पश्चिम दिशाकी शरण ली ॥ १८ ॥

स पश्यन् विविधान् देशानस्तं च गिरिसत्तमम् ।
प्राप्य चास्तं गिरिश्रेष्ठमुत्तरं सम्प्रधावितः ॥ १९ ॥

'वहाँ नाना प्रकारके देशोंको देखता हुआ मैं गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलतक जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर मैं पुनः उत्तर दिशाकी ओर भागा ॥ १९ ॥

हिमवन्तं च मेरुं च समुद्रं च तथोत्तरम् ।
यदा न विन्दे शरणं वालिना समभिद्रुतः ॥ २० ॥
ततो मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान् वाक्यमब्रवीत् ।

'हिमालय, मेरु और उत्तर समुद्रतक पहुँचकर भी जब वालीके पीछा करनेके कारण मुझे कहीं शरण नहीं मिली, तब परम बुद्धिमान् हनुमान्‌जीने मुझसे यह बात कही—॥ २०½ ॥

इदानीं मे स्मृतं राजन् यथा वाली हरीश्वरः ॥ २१ ॥
मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले ।
प्रविशेद् यदि वै वाली मूर्धास्य शतधा भवेत् ॥ २२ ॥

''राजन्! इस समय मुझे उस घटनाका स्मरण हो आया है, जैसा कि मतङ्गमुनिने उन दिनों वानरराज वालीको शाप दिया था कि 'यदि वाली इस आश्रममण्डलमें प्रवेश करेगा तो उसके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे' ॥ २१-२२ ॥

तत्र वासः सुखोऽस्माकं निरुद्विग्नो भविष्यति ।
ततः पर्वतमासाद्य ऋष्यमूकं नृपात्मज ॥ २३ ॥
न विवेश तदा वाली मतङ्गस्य भयात् तदा ।

''अतः वहीं निवास करना हमलोगोंके लिये सुखद और निर्भय होगा।' राजकुमार! इस निश्चयके अनुसार हमलोग ऋष्यमूक पर्वतपर आकर रहने लगे। उस समय मतङ्ग ऋषिके भयसे वालीने वहाँ प्रवेश नहीं किया ॥ २३½ ॥

एवं मया तदा राजन् प्रत्यक्षमुपलक्षितम् ।
पृथिवीमण्डलं सर्वं गुहामस्म्यागतस्ततः ॥ २४ ॥

'राजन्! इस प्रकार मैंने उन दिनों समस्त भूमण्डलको प्रत्यक्ष देखा था। उसके बाद ऋष्यमूककी गुफामें आया था' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

पूर्व आदि तीन दिशाओंमें गये हुए वानरोंका निराश होकर लौट आना

दर्शनार्थं तु वैदेह्याः सर्वतः कपिकुञ्जराः ।
व्यादिष्टाः कपिराजेन यथोक्तं जग्मुरञ्जसा ॥ १ ॥

वानरराजके द्वारा समस्त दिशाओंकी ओर जानेकी आज्ञा पाकर वे सभी श्रेष्ठ वानर, जिनके लिये जिस ओर जानेका आदेश मिला था उसी ओर, विदेहकुमारी सीताका पता लगानेके लिये उत्साहपूर्वक चल दिये ॥ १ ॥

ते सरांसि सरित्कक्षानाकाशं नगराणि च ।
नदीदुर्गांस्तथा देशान् विचिन्वन्ति समन्ततः ॥ २ ॥

वे सरोवरों, सरिताओं, लतामण्डपों, खुले स्थानों और नगरोंमें तथा नदियोंके कारण दुर्गम प्रदेशोंमें सब ओर घूम-फिरकर सीताकी खोज करने लगे ॥ २ ॥

सुग्रीवेण समाख्याताः सर्वे वानरयूथपाः ।
तत्र देशान् विचिन्वन्ति सशैलवनकाननान् ॥ ३ ॥

सुग्रीवने जिन्हें आज्ञा दी थी, वे सभी वानर-यूथपति अपनी-अपनी दिशाओंके पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण देशोंकी छानबीन करने लगे ॥ ३ ॥

विचित्य दिवसं सर्वे सीताधिगमने धृताः ।
समायान्ति स्म मेदिन्यां निशाकालेषु वानराः ॥ ४ ॥

सीताजीका पता लगानेकी निश्चित इच्छा मनमें लिये वे सब वानर दिनभर इधर-उधर अन्वेषण करते और रातके समय किसी नियत स्थानपर एकत्र हो जाते थे ॥ ४ ॥

सर्वर्तुकांश्च देशेषु वानराः सफलद्रुमान् ।
आसाद्य रजनीं शय्यां चक्रुः सर्वेष्वहःसु ते ॥ ५ ॥

सारे दिन भिन्न-भिन्न देशोंमें घूम-फिरकर वे वानर सभी ऋतुओंमें फल देनेवाले वृक्षोंके पास जाकर रातको वहीं सोया अथवा विश्राम किया करते थे ॥ ५ ॥

तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवणं गताः।
कपिराजेन संगम्य निराशाः कपिकुञ्जराः ॥ ६ ॥

जानेके दिनको पहला दिन मानकर एक मास पूर्ण होनेतक वे श्रेष्ठ वानर निराश हो लौट आये और कपिराज सुग्रीवसे मिलकर प्रस्रवणगिरिपर ठहर गये ॥ ६ ॥

विचित्य तु दिशं पूर्वां यथोक्तां सचिवैः सह।
अदृष्ट्वा विनतः सीतामाजगाम महाबलः ॥ ७ ॥

महाबली विनत अपने मन्त्रियोंके साथ पहले बताये अनुसार पूर्व दिशामें खोज करके वहाँ सीताको न पाकर किष्किन्धा लौट आये ॥ ७ ॥

दिशमप्युत्तरां सर्वां विविच्य स महाकपिः।
आगतः सह सैन्येन भीतः शतबलिस्तदा ॥ ८ ॥

महाकपि शतबलि सारी उत्तर दिशाकी छानबीन करके भयभीत हो तत्काल सेनासहित किष्किन्धा आ गये ॥ ८ ॥

सुषेणः पश्चिमामाशां विविच्य सह वानरैः।
समेत्य मासे पूर्णे तु सुग्रीवमुपचक्रमे ॥ ९ ॥

वानरोंसहित सुषेण भी पश्चिम दिशाका अनुसंधान करके वहाँ सीताको न पाकर एक मास पूर्ण होनेपर सुग्रीवके पास चले आये ॥ ९ ॥

तं प्रस्रवणपृष्ठस्थं समासाद्याभिवाद्य च।
आसीनं सह रामेण सुग्रीवमिदमब्रुवन् ॥ १० ॥

प्रस्रवणगिरिपर श्रीरामचन्द्रजीके साथ बैठे हुए सुग्रीवके पास आकर सब वानरोंने उन्हें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

विचिताः पर्वताः सर्वे वनानि गहनानि च।
निम्नगाः सागरान्ताश्च सर्वे जनपदाश्च ये ॥ ११ ॥
गुहाश्च विचिताः सर्वा याश्च ते परिकीर्तिताः।
विचिताश्च महागुल्मा लतावितत्संतताः ॥ १२ ॥

'राजन्! हमने समस्त पर्वत, घने जंगल, समुद्रपर्यन्त नदियाँ, सम्पूर्ण देश, आपकी बतायी हुई सारी गुफाएँ तथा लतावितानसे व्याप्त हुई झाड़ियाँ भी खोज डालीं ॥११-१२॥

गहनेषु च देशेषु दुर्गेषु विषमेषु च।
सत्त्वान्यतिप्रमाणानि विचितानि हतानि च।
ये चैव गहना देशा विचितास्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥

घने वनों, विभिन्न देशों, दुर्गम स्थानों और ऊँची-ऊँची भूमियोंमें भी ढूँढ़ा है। बड़े-बड़े प्राणियोंकी भी तलाशी ली और उन्हें मार डाला। जो-जो प्रदेश घने और दुर्गम जान पड़े, वहाँ बारंबार खोज की (किंतु कहीं भी सीताजीका पता न लगा) ॥ १३ ॥

उदारसत्त्वाभिजनो हनूमान्
स मैथिलीं ज्ञास्यति वानरेन्द्र।
दिशं तु यामेव गता तु सीता
तामास्थितो वायुसुतो हनूमान् ॥ १४ ॥

'वानरराज! वायुपुत्र हनुमान् परम शक्तिमान् और कुलीन हैं। वे ही मिथिलेशकुमारीका पता लगा सकेंगे; क्योंकि वे उसी दिशामें गये हैं, जिधर सीता गयी हैं' ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

दक्षिण दिशामें गये हुए वानरोंका सीताकी खोज आरम्भ करना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु सहसा हनुमान् कपिः।
सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं गन्तुं देशं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

उधर तार और अङ्गदके साथ हनुमान्‌जी सहसा सुग्रीवके बताये हुए दक्षिण दिशाके देशोंकी ओर चले ॥ १ ॥

स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैः कपिसत्तमैः।
ततो विचित्य विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ २ ॥
पर्वताग्रनदीदुर्गान् सरांसि विपुलद्रुमान्।
वृक्षखण्डांश्च विविधान् पर्वतान् वनपादपान् ॥ ३ ॥
अन्वेषमाणास्ते सर्वे वानराः सर्वतोदिशम्।
न सीतां ददृशुर्वीरा मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ ४ ॥

उन सभी श्रेष्ठ वानरोंके साथ बहुत दूरका रास्ता तै करके वे विन्ध्याचलपर गये और वहाँकी गुफाओं, जंगलों, पर्वतशिखरों, नदियों, दुर्गम स्थानों, सरोवरों, बड़े-बड़े वृक्षों, झाड़ियों और भाँति-भाँतिके पर्वतों एवं वन्य वृक्षोंमें सब ओर ढूँढ़ते फिरे; परंतु वहाँ उन समस्त वीर वानरोंने मिथिलेशकुमारी जनकनन्दिनी सीताको कहीं नहीं देखा ॥ २–४ ॥

ते भक्षयन्तो मूलानि फलानि विविधान्यपि।
अन्वेषमाणा दुर्धर्षा न्यवसंस्तत्र तत्र ह ॥ ५ ॥

वे सभी दुर्धर्ष वीर नाना प्रकारके फल-मूलका भोजन करते हुए सीताको खोजते और जहाँ-तहाँ ठहर जाया करते थे ॥ ५ ॥

स तु देशो दुरन्वेषो गुहागहनवान् महान्।
निर्जलं निर्जनं शून्यं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ६ ॥

विन्ध्यपर्वतके आसपासका महान् देश बहुत-सी गुफाओं तथा घने जंगलोंमें भरा था। इससे वहाँ जानकीको ढूँढ़नेमें बड़ी कठिनाई होती थी। भयंकर दिखायी देनेवाले

उस सुनसान जंगलमें न तो पानी मिलता था और न कोई मनुष्य ही दिखायी देता था ॥ ६ ॥

तादृशान्यप्यरण्यानि विचित्य भृशपीडिताः ।
स देशश्च दुरन्वेष्यो गुहागहनवान् महान् ॥ ७ ॥

वैसे जंगलोंमें भी खोज करते समय उन वानरोंको अत्यन्त कष्ट सहन करना पड़ा । वह विशाल प्रदेश अनेक गुहाओं और सघन वनोंसे व्याप्त था । अतः वहाँ अन्वेषणका कार्य बहुत कठिन प्रतीत होता था ॥ ७ ॥

त्यक्त्वा तु तं ततो देशं सर्वे वै हरियूथपाः ।
देशमन्यं दुराधर्षं विविशुश्चाकुतोभयाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर वे समस्त वानर यूथपति उस देशको छोड़कर दूसरे प्रदेशमें घुसे, जहाँ जाना और भी कठिन था तो भी उन्हें कहीं किसीसे भय नहीं होता था ॥ ८ ॥

यत्र वन्ध्यफला वृक्षा विपुष्पाः पर्णवर्जिताः ।
निस्तोयाः सरितो यत्र मूलं यत्र सुदुर्लभम् ॥ ९ ॥

वहाँके वृक्ष कभी फल नहीं देते थे । उनमें फूल भी नहीं लगते थे और उनकी डालियोंमें पत्ते भी नहीं थे । वहाँकी नदियोंमें पानीका नाम नहीं था । कन्द-मूल आदि तो वहाँ सर्वथा दुर्लभ थे ॥ ९ ॥

न सन्ति महिषा यत्र न मृगा न च हस्तिनः ।
शार्दूलाः पक्षिणो वापि ये चान्ये वनगोचराः ॥ १० ॥

उस प्रदेशमें न भैंसे थे न हिरन और हाथी, न बाघ थे न पक्षी तथा वनमें विचरनेवाले अन्य प्राणियोंका भी वहाँ अभाव था ॥ १० ॥

न चात्र वृक्षा नौषध्यो न वल्ल्यो नापि वीरुधः ।
स्निग्धपत्राः स्थले यत्र पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥ ११ ॥
प्रेक्षणीयाः सुगन्धाश्च भ्रमरैश्च विवर्जिताः ।

वहाँ न पेड़ थे न पौधे, न ओषधियाँ थीं न लता-बेलें । उस देशकी पोखरियोंमें चिकने पत्तों और खिले हुए फूलोंसे युक्त कमल भी नहीं थे । इसीलिये न तो वे देखने योग्य थीं, न उनमें सुगन्ध छा रही थी और न वहाँ भौंरे ही गुंजार करते थे ॥ ११½ ॥

कण्डुर्नाम महाभागः सत्यवादी तपोधनः ॥ १२ ॥
महर्षिः परमामर्षी नियमैर्दुष्प्रधर्षणः ।

पहले वहाँ कण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाभाग सत्यवादी और तपस्याके धनी महर्षि रहते थे, जो बड़े अमर्षशील थे—अपने प्रति किये गये अपराधको सहन नहीं करते थे । शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करनेके कारण उन महर्षिको कोई तिरस्कृत या पराजित नहीं कर सकता था ॥ १२½ ॥

तस्य तस्मिन् वने पुत्रो बालको दशवार्षिकः ॥ १३ ॥
प्रणष्टो जीवितान्ताय क्रुद्धस्तेन महामुनिः ।

उस वनमें उनका एक बालक पुत्र, जिसकी अवस्था दस वर्षकी थी, किसी कारणसे मर गया । इससे कुपित होकर वे महामुनि उस वनके जीवनका अन्त करनेके लिये उद्यत हो गये ॥ १३½ ॥

तेन धर्मात्मना शप्तं कृत्स्नं तत्र [illegible]नम् ॥ १४ ॥
अशरण्यं दुराधर्षं मृगपक्षिवि[illegible]तम् ।

उन धर्मात्मा महर्षिने उस समूचे विशाल वनको वहाँ शाप दे दिया, जिससे वह आश्रयहीन, दुर्गम तथा पशु-पक्षियोंसे शून्य हो गया ॥ १४½ ॥

तस्य ते काननान्तांस्तु गिरीणां कन्दराणि च ॥ १५ ॥
प्रभवाणि नदीनां च विचिन्वन्ति समाहिताः ।
तत्र चापि महात्मानो नापश्यञ्जनकात्मजाम् ॥ १६ ॥
हर्तारं रावणं वापि सुग्रीवप्रियकारिणः ।

वहाँ सुग्रीवका प्रिय करनेवाले उन महामनस्वी वानरोंने उस वनके सभी प्रदेशों, पर्वतोंकी कन्दराओं तथा नदियोंके उद्गमस्थानोंमें एकाग्रचित्त होकर अनुसंधान किया; परंतु वहाँ भी उन्हें जनकनन्दिनी सीता अथवा उनका अपहरण करनेवाले रावणका कुछ पता नहीं चला ॥ १५-१६½ ॥

ते प्रविश्य तु तं भीमं लतागुल्मसमावृतम् ॥ १७ ॥
ददृशुर्भीमकर्माणमसुरं सुरनिर्भयम् ।

तत्पश्चात् लताओं और झाड़ियोंसे व्याप्त हुए दूसरे किसी भयंकर वनमें प्रवेश करके उन हनुमान् आदि वानरोंने भयानक कर्म करनेवाले एक असुरको देखा, जिसे देवताओंसे कोई भय नहीं था ॥ १७½ ॥

तं दृष्ट्वा वानरा घोरं स्थितं शैलमिवासुरम् ॥ १८ ॥
गाढं परिहिताः सर्वे दृष्ट्वा तं पर्वतोपमम् ।

उस घोर निशाचरको पहाड़के समान सामने खड़ा देख सभी वानरोंने अपने ढीले-ढाले वस्त्रोंको अच्छी तरह कस लिया और सब-के-सब उस पर्वताकार असुरसे भिड़नेको तैयार हो गये ॥ १८½ ॥

सोऽपि तान् वानरान् सर्वान् नष्टाः स्थेत्यब्रवीद् बली ॥
अभ्यधावत संक्रुद्धो मुष्टिमुद्यम्य संगतम् ।

उधर वह बलवान् असुर भी उन सब वानरोंको देखकर बोला—'अरे, आज तुम सभी मारे गये ।' इतना कहकर वह अत्यन्त कुपित हो बँधा हुआ मुक्का तानकर उनकी ओर दौड़ा ॥ १९½ ॥

तमापतन्तं सहसा वालिपुत्रोऽङ्गदस्तदा ॥ २० ॥
रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेनाभिजघान ह ।

उसे सहसा आक्रमण करते देख वालि-पुत्र अङ्गदने समझा कि यही रावण है; अतः उन्होंने आगे बढ़कर उसे एक तमाचा जड़ दिया ॥ २०½ ॥

स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ॥ २१ ॥
असुरो न्यपतद् भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः ।
ते तु तस्मिन् निरुच्छ्वासे वानरा जितकाशिनः ॥ २२ ॥
व्यचिन्वन् प्रायशस्तत्र सर्वे ते गिरिगह्वरम् ।

वालिपुत्रके मारनेपर वह असुर मुँहसे रक्त वमन करता हुआ फटकर गिरे हुए पहाड़की भाँति पृथ्वीपर जा पड़ा और उसके प्राणपखेरू उड़ गये। तत्पश्चात् विजयोल्लाससे सुशोभित होनेवाले वानर प्रायः वहाँकी सारी पर्वतीय गुफाओंमें अनुसंधान करने लगे ॥ २१-२२½ ॥

विचितं तु ततः सर्वं सर्वे ते काननौकसः ॥ २३ ॥
अन्यदेवापरं घोरं विविशुर्गिरिगह्वरम्।

जब वहाँके सारे प्रदेशमें खोज कर ली गयी, तब उन समस्त वनवासी वानरोंने किसी दूसरी पर्वतीय कन्दरामें प्रवेश किया, जो पहलेकी अपेक्षा भी भयानक थी ॥ २३½ ॥

ते विचित्य पुनः खिन्ना विनिष्पत्य समागताः।
एकान्ते वृक्षमूले तु निषेदुर्दीनमानसाः ॥ २४ ॥

उसमें भी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे थक गये और निराश होकर निकल आये। फिर सब-के-सब एकान्त स्थानमें एक वृक्षके नीचे खिन्नचित्त होकर बैठ गये ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

अङ्गद और गन्धमादनके आश्वासन देनेपर वानरोंका पुनः उत्साहपूर्वक अन्वेषण-कार्यमें प्रवृत्त होना

अथाङ्गदस्तदा सर्वान् वानरानिदमब्रवीत्।
परिश्रान्तो महाप्राज्ञः समाश्वास्य शनैर्वचः ॥ १ ॥

तदनन्तर परिश्रमसे थके हुए महाबुद्धिमान् अङ्गद सम्पूर्ण वानरोंको आश्वासन देकर धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगे— ॥ १ ॥

वनानि गिरयो नद्यो दुर्गाणि गहनानि च।
दरी गिरिगुहाश्चैव विचिताः सर्वमन्ततः ॥ २ ॥
तत्र तत्र सहास्माभिर्जानकी न च दृश्यते।
तथा रक्षोऽपहर्ता च सीतायाश्चैव दुष्कृती ॥ ३ ॥

'हमलोगोंने वन, पर्वत, नदियाँ, दुर्गम स्थान, घने जंगल, कन्दरा और गुफाएँ भीतर प्रवेश करके अच्छी तरह देख डालीं; परंतु उन स्थानोंमें हमें न तो जानकीके दर्शन हुए और न उनका अपहरण करनेवाला वह पापी राक्षस ही मिला ॥ २-३ ॥

कालश्च नो महान् यातः सुग्रीवश्चोग्रशासनः।
तस्माद् भवन्तः सहिता विचिन्वन्तु समन्ततः ॥ ४ ॥

'हमारा समय भी बहुत बीत गया। राजा सुग्रीवका शासन बड़ा भयंकर है। अतः आपलोग मिलकर पुनः सब ओर सीताकी खोज आरम्भ करें ॥ ४ ॥

विहाय तन्द्रीं शोकं च निद्रां चैव समुत्थिताम्।
विचिनुध्वं तथा सीतां पश्यामो जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

'आलस्य, शोक और आयी हुई निद्राका परित्याग करके इस प्रकार ढूँढ़ें, जिससे हमें जनककुमारी सीताका दर्शन हो सके ॥ ५ ॥

अनिर्वेदं च दाक्ष्यं च मनसश्चापराजयम्।
कार्यसिद्धिकराण्याहुस्तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ ६ ॥

'उत्साह, सामर्थ्य और मनमें हिम्मत न हारना—ये कार्यकी सिद्धि करानेवाले सद्गुण कहे गये हैं; इसीलिये मैं आपलोगोंसे यह बात कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

अद्यापीदं वनं दुर्गं विचिन्वन्तु वनौकसः।
खेदं त्यक्त्वा पुनः सर्वं वनमेव विचिन्वताम् ॥ ७ ॥

'आज भी सारे वानर खेद छोड़कर इस दुर्गम वनमें खोज आरम्भ करें और सारे वनको ही छान डालें ॥ ७ ॥

अवश्यं कुर्वतां तस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।
परं निर्वेदमागम्य नहि नोन्मीलनं क्षमम् ॥ ८ ॥

'कर्ममें लगे रहनेवाले लोगोंको उस कर्मका फल अवश्य होता दिखायी देता है; अतः अत्यन्त खिन्न होकर उद्योगको छोड़ बैठना कदापि उचित नहीं है ॥ ८ ॥

सुग्रीवः क्रोधनो राजा तीक्ष्णदण्डश्च वानराः।
भेतव्यं तस्य सततं रामस्य च महात्मनः ॥ ९ ॥

'सुग्रीव क्रोधी राजा हैं। उनका दण्ड भी बड़ा कठोर होता है। वानरो! उनसे तथा महात्मा श्रीरामसे आपलोगोंको सदा डरते रहना चाहिये ॥ ९ ॥

हितार्थमेतदुक्तं वः क्रियतां यदि रोचते।
उच्यतां हि क्षमं यत् तत् सर्वेषामेव वानराः ॥ १० ॥

'आपलोगोंकी भलाईके लिये ही मैंने ये बातें कही हैं। यदि अच्छी लगें तो आप इन्हें स्वीकार करें। अथवा वानरो! जो सबके लिये उचित हो, वह कार्य आप ही लोग बतावें' ॥ १० ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा वचनं गन्धमादनः।
उवाच व्यक्तया वाचा पिपासाश्रमखिन्नया ॥ ११ ॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर गन्धमादनने प्यास और थकावटसे शिथिल हुई स्पष्ट वाणीमें कहा— ॥ ११ ॥

सदृशं खलु वो वाक्यमङ्गदो यदुवाच ह।
हितं चैवानुकूलं च क्रियतामस्य भाषितम् ॥ १२ ॥

'वानरो! युवराज अङ्गदने जो बात कही है, वह आप लोगोंके योग्य, हितकर और अनुकूल है; अतः सब लोग इनके कथनानुसार कार्य करें ॥ १२ ॥

पुनर्मार्गामहे शैलान् कन्दरांश्च शिलास्तथा ।
काननानि च शून्यानि गिरिप्रस्रवणानि च ॥ १३ ॥

'हमलोग पुनः पर्वतों, कन्दराओं, शिलाओं, निर्जन वनों और पर्वतीय झरनोंकी खोज करें ॥ १३ ॥

यथोद्दिष्टानि सर्वाणि सुग्रीवेण महात्मना ।
विचिन्वन्तु वनं सर्वे गिरिदुर्गाणि संगताः ॥ १४ ॥

'महात्मा सुग्रीवने जिन स्थानोंकी चर्चा की थी, उन सबमें वन और पर्वतीय दुर्गम प्रदेशोंमें सब वानर एक साथ होकर खोज आरम्भ करें' ॥ १४ ॥

ततः समुत्थाय पुनर्वानरास्ते महाबलाः ।
विन्ध्यकाननसंकीर्णां विचेरुर्दक्षिणां दिशम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर वे महाबली वानर उठकर खड़े हो गये और विन्ध्यपर्वतके काननोंसे व्याप्त दक्षिण दिशामें विचरने लगे ॥ १५ ॥

ते शारदाभ्रप्रतिमं श्रीमद्रजतपर्वतम् ।
शृङ्गवन्तं दरीवन्तमधिरुह्य च वानराः ॥ १६ ॥

सामने शरद्-ऋतुके बादलोंके समान शोभाशाली रजत-पर्वत दिखायी दिया, जिसमें अनेक शिखर और कन्दराएँ थीं। वे सब वानर उसपर चढ़कर खोजने लगे ॥ १६ ॥

तत्र लोध्रवनं रम्यं सप्तपर्णवनानि च ।
विचिन्वन्तो हरिवराः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १७ ॥

सीताके दर्शनकी इच्छा रखनेवाले वे सभी श्रेष्ठ वानर वहाँके रमणीय लोध्रवनमें और सप्तपर्ण (छितवन) के जंगलोंमें उनकी खोज करने लगे ॥ १७ ॥

तस्याग्रमधिरूढास्ते श्रान्ता विपुलविक्रमाः ।
न पश्यन्ति स्म वैदेहीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १८ ॥

उस पर्वतके शिखरपर चढ़े हुए वे महापराक्रमी वानर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये, परंतु श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी रानी सीताका दर्शन न पा सके ॥ १८ ॥

ते तु दृष्टिगतं दृष्ट्वा तं शैलं बहुकन्दरम् ।
अध्यारोहन्त हरयो वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ १९ ॥

अनेक कन्दराओंवाले उस पर्वतका अच्छी तरह निरीक्षण करके सब ओर दृष्टिपात करनेवाले वे वानर उससे नीचे उतर गये ॥ १९ ॥

अवरुह्य ततो भूमिं श्रान्ता विगतचेतसः ।
स्थिता मुहूर्तं तत्राथ वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

पृथ्वीपर उतरकर अधिक थक जानेके कारण अचेत हुए वे सभी वानर वहाँ एक वृक्षके नीचे गये और दो घड़ीतक वहाँ बैठे रहे ॥ २० ॥

ते मुहूर्तं समाश्वस्ताः किंचिद्भग्नपरिश्रमाः ।
पुनरेवोद्यताः कृत्स्नां मार्गितुं दक्षिणां दिशम् ॥ २१ ॥

एक मुहूर्ततक सुस्ता लेनेपर जब उनकी थकावट कुछ कम हो गयी, तब वे पुनः सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें खोजके लिये उद्यत हो गये ॥ २१ ॥

हनुमत्प्रमुखास्तावत् प्रस्थिताः प्लवगर्षभाः ।
विन्ध्यमेवादितः कृत्वा विचेरुश्च समन्ततः ॥ २२ ॥

हनुमान् आदि सभी श्रेष्ठ वानर सीताके अन्वेषणके लिये प्रस्थित हो पहले विन्ध्य पर्वतके ही चारों ओर विचरने लगे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

भूखे-प्यासे वानरोंका एक गुफामें घुसकर वहाँ दिव्य वृक्ष, दिव्य सरोवर, दिव्य भवन तथा एक वृद्धा तपस्विनीको देखना और हनुमान्‌जीका उससे उसका परिचय पूछना

सह ताराङ्गदाभ्यां तु संगम्य हनुमान् कपिः ।
विचिनोति च विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च ॥ १ ॥

हनुमान्‌जी तार और अङ्गदके साथ मिलकर विन्ध्य-गिरिकी गुफाओं और घने जंगलोंमें सीताजीको ढूँढ़ने लगे ॥ १ ॥

सिंहशार्दूलजुष्टाश्च गुहाश्च परितस्तदा ।
विषमेषु नगेन्द्रस्य महाप्रस्रवणेषु च ॥ २ ॥

उन्होंने सिंह और बाघोंसे भरी हुई कन्दराओं तथा उसके आस-पासकी भूमिको भी छान डाला। गिरिराज विन्ध्यपर जो बड़े-बड़े झरने और दुर्गम स्थान थे, वहाँ भी अन्वेषण किया ॥ २ ॥

आसेदुस्तस्य शैलस्य कोटिं दक्षिणपश्चिमाम् ।
तेषां तत्रैव वसतां स कालो व्यत्यवर्तत ॥ ३ ॥

घूमते-फिरते वे तीनों वानर उस पर्वतके नैर्ऋत्यकोण-वाले शिखरपर जा पहुँचे। वहीं रहते हुए उनका वह समय, जो सुग्रीवने निश्चित किया था, बीत गया ॥ ३ ॥

स हि देशो दुरन्वेष्यो गुहागहनवान् महान् ।
तत्र वायुसुतः सर्वं विचिनोति स्म पर्वतम् ॥ ४ ॥

गुफाओं और जंगलोंसे भरे हुए उस महान् प्रदेशमें सीताको ढूँढ़नेका काम बहुत ही कठिन था तो भी वहाँ वायुपुत्र हनुमान्‌जी सारे पर्वतकी छानबीन करने लगे ॥ ४ ॥

परस्परेण रहिता अन्योन्यस्याविदूरतः ।

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥ ५ ॥
मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमान् जाम्बवानपि ।
अङ्गदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः ॥ ६ ॥
गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ।
विचिन्वन्तस्ततस्तत्र ददृशुर्विवृतं बिलम् ॥ ७ ॥

फिर अलग-अलग एक-दूसरेसे थोड़ी ही दूरपर रहकर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान्, युवराज अङ्गद तथा वनवासी वानर तार—ये दक्षिण दिशाके देशोंमें जो पर्वत-मालाओंसे घिरे हुए थे, सीताकी खोज करने लगे। खोजते-खोजते उन्हें वहाँ एक गुफा दिखायी दी, जिसका द्वार बंद नहीं था ॥ ५—७ ॥

दुर्गमृक्षबिलं नाम दानवेनाभिरक्षितम् ।
क्षुत्पिपासापरीतास्तु श्रान्तास्तु सलिलार्थिनः ॥ ८ ॥

उसमें प्रवेश करना बहुत कठिन था। वह गुफा ऋक्षबिल नामसे विख्यात थी और एक दानव उसकी रक्षामें रहता था। वानरोंको भूख-प्यास सता रही थी। वे बहुत थक गये थे और पानी पीना चाहते थे ॥ ८ ॥

अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम् ।
तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ ९ ॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।

अतः लता और वृक्षोंसे आच्छादित विशाल गुफाकी ओर वे देखने लगे। इतनेमें उसके भीतरसे क्रौञ्च, हंस, सारस तथा जलसे भीगे हुए चक्रवाक पक्षी, जिनके अङ्ग कमलोंके परागसे रक्तवर्णके हो रहे थे, बाहर निकले ॥ ९½ ॥

ततस्तद् बिलमासाद्य सुगन्धि दुरतिक्रमम् ॥ १० ॥
विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वानरर्षभाः ।
संजातपरिशङ्कास्ते तद् बिलं प्लवगोत्तमाः ॥ ११ ॥

तब उस सुगन्धित एवं दुर्लङ्घ्य गुफाके पास जाकर उन सभी श्रेष्ठ वानरोंका मन आश्चर्यसे चकित हो उठा। उस बिलके अंदर उन्हें जल होनेका संदेह हुआ ॥ १०-११ ॥

अभ्यपद्यन्त संहृष्टास्तेजोवन्तो महाबलाः ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं दैत्येन्द्रनिलयोपमम् ॥ १२ ॥
दुर्दर्शमिव घोरं च दुर्विगाह्यं च सर्वशः ।

वे महाबली और तेजस्वी वानर बड़े हर्षमें भरकर उस गुफाके पास आये, जो नाना प्रकारके जन्तुओंसे भरी हुई तथा दैत्यराजोंके निवासस्थान पातालके समान भयंकर प्रतीत होती थी। वह इतनी भयानक थी कि उसकी ओर देखना कठिन जान पड़ता था। उसके भीतर घुसना सर्वथा कष्टसाध्य था ॥ १२½ ॥

ततः पर्वतकूटाभो हनूमान् मारुतात्मजः ॥ १३ ॥
अब्रवीद् वानरान् घोरान् कान्तारवनकोविदः ।

उस समय पर्वत-शिखरके समान प्रतीत होनेवाले पवनपुत्र हनुमान्‌जी, जो दुर्गम वनके ज्ञाता थे, उन घोर वानरोंसे बोले—॥ १३½ ॥

गिरिजालावृतान् देशान् मार्गित्वा दक्षिणां दिशम् ॥ १४ ॥
वयं सर्वे परिश्रान्ता न च पश्याम मैथिलीम् ।

'बन्धुओ! दक्षिण दिशाके देश प्रायः पर्वतमालाओंसे घिरे हुए हैं। इनमें मिथिलेशकुमारी सीताको खोजते-खोजते हम सब लोग बहुत थक गये; किंतु कहीं भी हमें उनके दर्शन नहीं हुए ॥ १४½ ॥

अस्माच्चापि बिलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसैः ॥ १५ ॥
जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च निष्पतन्ति स्म सर्वशः ।
नूनं सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः ॥ १६ ॥
तथा चेमे बिलद्वारे स्निग्धास्तिष्ठन्ति पादपाः ।

'सामनेकी इस गुफासे हंस, क्रौञ्च, सारस और जलसे भीगे हुए चकवे सब ओर निकल रहे हैं। अतः निश्चय ही इसमें पानीका कुआँ अथवा और कोई जलाशय होना चाहिये। तभी इस गुफाके द्वारवर्ती वृक्ष हरे-भरे हैं' ॥ १५-१६½ ॥

इत्युक्तास्तद् बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम् ॥ १७ ॥
अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम् ।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर वे सभी वानर अन्धकारसे भरी हुई उस गुफामें, जहाँ चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें भी नहीं पहुँच पाती थीं, घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा, वह गुफा रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी ॥ १७½ ॥

निशाम्य तस्मात् सिंहांश्च तांस्तांश्च मृगपक्षिणः ॥ १८ ॥
प्रविष्टा हरिशार्दूला बिलं तिमिरसंवृतम् ।

उस बिलसे निकलते हुए उन-उन सिंहों, मृगों और पक्षियोंको देखकर वे श्रेष्ठ वानर अन्धकारसे आच्छादित हुई उस गुफामें प्रवेश करने लगे ॥ १८½ ॥

न तेषां सज्जते दृष्टिर्न तेजो न पराक्रमः ॥ १९ ॥
वायोरिव गतिस्तेषां दृष्टिस्तमसि वर्तते ।

उनकी दृष्टि कहीं अटकती नहीं थी। उनका तेज और पराक्रम भी अवरुद्ध नहीं होता था। उनकी गति वायुके समान थी। अन्धकारमें भी उनकी दृष्टि काम कर रही थी ॥ १९½ ॥

ते प्रविष्टास्तु वेगेन तद् बिलं कपिकुञ्जराः ॥ २० ॥
प्रकाशं चाभिरामं च ददृशुर्देशमुत्तमम् ।

वे श्रेष्ठ वानर उस बिलमें वेगपूर्वक घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा, वह स्थान बहुत ही उत्तम, प्रकाशमान और मनोहर था ॥ २०½ ॥

ततस्तस्मिन् बिले भीमे नानापादपसंकुले ॥ २१ ॥
अन्योन्यं सम्परिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम् ।

नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरी हुई उस भयंकर गुफामें वे एक योजनतक एक दूसरेको पकड़े हुए गये ॥ २१½ ॥

ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः सम्भ्रान्ताः सलिलार्थिनः ॥ २२ ॥
परिपेतुर्बिले तस्मिन् कंचित् कालमतन्द्रिताः ।

प्यासके मारे उनकी चेतना लुप्त-सी हो रही थी। वे जल पीनेके लिये उत्सुक होकर घबरा गये थे और कुछ कालतक आलस्यरहित हो उस बिलमें लगातार आगे बढ़ते गये ॥ २२½ ॥

ते कृशा दीनवदनाः परिश्रान्ताः प्लवङ्गमाः ॥ २३ ॥
आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते यदा ।

वे वानरवीर जब दुर्बल, खिन्नवदन और श्रान्त होकर जीवनसे निराश हो गये, तब उन्हें वहाँ प्रकाश दिखायी दिया ॥

ततस्तं देशमागम्य सौम्या वितिमिरं वनम् ॥ २४ ॥
ददृशुः काञ्चनान् वृक्षान् दीप्तवैश्वानरप्रभान् ।

तदनन्तर उस अन्धकारसे प्रकाशपूर्ण देशमें आकर उन सौम्य वानरोंने वहाँ अन्धकाररहित वन देखा, जहाँके सभी वृक्ष सुवर्णमय थे और उनसे अग्निके समान प्रभा निकल रही थी ॥ २४½ ॥

सालांस्तालांस्तमालांश्च पुंनागान् वञ्जुलान् धवान् ॥
चम्पकान् नागवृक्षांश्च कर्णिकारांश्च पुष्पितान् ।

साल, ताल, तमाल, नागकेसर, अशोक, धव, चम्पा, नागवृक्ष और कनेर—ये सभी वृक्ष फूलोंसे भरे हुए थे ॥२५½॥

स्तबकैः काञ्चनैश्चित्रै रक्तैः किसलयैस्तथा ॥ २६ ॥
आपीडैश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान् ।

विचित्र सुवर्णमय गुच्छे और लाल-लाल पल्लव मानो उन वृक्षोंके मुकुट थे। उनमें लताएँ लिपटी हुई थीं तथा वे अपने फलस्वरूप सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित थे ॥२६½॥

तरुणादित्यसंकाशान् वैदूर्यमयवेदिकान् ॥ २७ ॥
विभ्राजमानान् वपुषा पादपांश्च हिरण्मयान् ।

वे देखनेमें प्रातःकालिक सूर्यके समान जान पड़ते थे। उनके नीचे वैदूर्यमणिकी वेदी बनी थी। वे सुवर्णमय वृक्ष अपने दीप्तिमान् स्वरूपसे ही प्रकाशित हो रहे थे ॥ २७½ ॥

नीलवैदूर्यवर्णाश्च पद्मिनीः पतगैर्वृताः ॥ २८ ॥
महद्भिः काञ्चनैर्वृक्षैर्वृता बालार्कसंनिभैः ।
जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्चाथ पङ्कजैः ॥ २९ ॥
नलिनीस्तत्र ददृशुः प्रसन्नसलिलायुताः ।

वहाँ नील वैदूर्यमणिकी-सी कान्तिवाली पद्मलताएँ दिखायी देती थीं, जो पक्षियोंसे आवृत थीं। कई ऐसे सरोवर भी देखनेमें आये, जो बाल सूर्यकी-सी आभावाले विशाल काञ्चनवृक्षोंसे घिरे हुए थे। उनके भीतर सुनहरे रंगके बड़े-बड़े मत्स्य शोभा पाते थे। वे सरोवर सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित तथा स्वच्छ जलसे भरे हुए थे ॥२८-२९½॥

काञ्चनानि विमानानि राजतानि तथैव च ॥ ३० ॥
तपनीयगवाक्षाणि मुक्ताजालावृतानि च ।
हैमराजतभौमानि वैदूर्यमणिमन्ति च ॥ ३१ ॥
ददृशुस्तत्र हरयो गृहमुख्यानि सर्वशः ।

वानरोंने वहाँ सब ओर सोने-चाँदीके बने हुए बहुत-से श्रेष्ठ भवन देखे, जिनकी खिड़कियाँ मोतीकी जालियोंसे ढकी थीं। उन भवनोंमें सोनेके जंगले लगे हुए थे। सोने-चाँदीके ही विमान भी थे। कोई घर सोनेके बने थे तो कोई चाँदीके। कितने ही गृह पार्थिव वस्तुओं (ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि) से निर्मित हुए थे। उनमें वैदूर्यमणियाँ भी जड़ी गयी थीं ॥ ३०-३१½ ॥

पुष्पितान् फलिनो वृक्षान् प्रवालमणिसंनिभान् ॥ ३२ ॥
काञ्चनभ्रमरांश्चैव मधूनि च समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ३३ ॥
विविधानि विशालानि ददृशुस्ते समन्ततः ।
हैमराजतकांस्यानां भाजनानां च राशयः ॥ ३४ ॥
अगुरूणां च दिव्यानां चन्दनानां च संचयान् ।
शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ॥ ३५ ॥
महार्हाणि च यानानि मधूनि रसवन्ति च ।
दिव्यानामम्बराणां च महार्हाणां च संचयान् ॥ ३६ ॥
कम्बलानां च चित्राणामजिनानां च संचयान् ।
तत्र तत्र च विन्यस्तान् दीप्तान् वैश्वानरप्रभान् ॥ ३७ ॥
ददृशुर्वानराः शुभ्राञ्जातरूपस्य संचयान् ।

वहाँके वृक्षोंमें फूल और फल लगे थे। वे वृक्ष मूँगे और मणियोंके समान चमकीले थे। उनपर सुनहरे रंगके भौंरे मड़रा रहे थे। वहाँके घरोंमें सब ओर मधु संचित थे। मणि और सुवर्णसे जटित विचित्र पलंग तथा आसन सब ओर सजाकर रक्खे गये थे, जो अनेक प्रकारके और विशाल थे। वानरोंने उन्हें भी देखा। वहाँ ढेर-के-ढेर सोने, चाँदी और कांस (फूल) के पात्र रक्खे गये थे। अगुरु तथा दिव्य चन्दनकी राशियाँ सुरक्षित थीं। पवित्र भोजनके सामान तथा फल-मूल भी विद्यमान थे। बहुमूल्य सवारियाँ, सरस मधु, महामूल्यवान् दिव्य वस्त्रोंके ढेर, विचित्र कम्बल एवं कालीनोंकी राशियाँ तथा मृगचर्मोंके समूह जहाँ-तहाँ रक्खे हुए थे। ये सब अग्निके समान प्रभासे उद्दीप्त हो रहे थे। वानरोंने वहाँ चमकीले सुवर्णके ढेर भी देखे ॥ ३२—३७½ ॥

तत्र तत्र विचिन्वन्तो बिले तत्र महाप्रभाः ॥ ३८ ॥
ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं कांचिददूरतः ।
तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ॥ ३९ ॥
तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
विस्मिता हरयस्तत्र व्यवतिष्ठन्त सर्वशः ।
पप्रच्छ हनुमांस्तत्र कासि त्वं कस्य वा बिलम् ॥ ४० ॥

उस गुफामें जहाँ-तहाँ खोज करते हुए उन महातेजस्वी शूरवीर वानरोंने थोड़ी ही दूरपर किसी स्त्रीको भी देखा, जो वल्कल और काला मृगचर्म पहनकर नियमित आहार करती

तपस्यामें संलग्न थी और अपने तेजसे दिप रही थी। वानरोंने वहाँ उसे बड़े ध्यानसे देखा और आश्चर्यचकित होकर सब ओर खड़े रहे। उस समय हनुमान्‌जीने उससे पूछा—'देवि! तुम कौन हो और यह किसकी गुफा है?'॥

ततो हनूमान् गिरिसंनिकाशः
कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम्।
पप्रच्छ का त्वं भवनं बिलं च
रत्नानि चेमानि वदस्व कस्य॥ ४१॥

पर्वतके समान विशालकाय हनुमान्‌जीने हाथ जोड़कर उस वृद्धा तपस्विनीको प्रणाम किया और पूछा—'देवि! तुम कौन हो? यह गुफा, ये भवन तथा ये रत्न किसके हैं? यह हमें बताओ'॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चाशः सर्गः॥ ५०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५०॥

एकपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीके पूछनेपर वृद्धा तापसीका अपना तथा उस दिव्य स्थानका परिचय देकर सब वानरोंको भोजनके लिये कहना

इत्युक्त्वा हनुमांस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम्।
अब्रवीत् तां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम्॥ १॥

इस तरह पूछकर हनुमान्‌जी चीर एवं कृष्ण मृगचर्म धारण करनेवाली उस धर्मपरायणा महाभागा तपस्विनीसे वहाँ फिर बोले—॥ १॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम्।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ताः परिखिन्नाश्च सर्वशः॥ २॥
महद् धरण्या विवरं प्रविष्टाः स्म पिपासिताः।
इमांस्त्वेवंविधान् भावान् विविधानद्भुतोपमान्॥ ३॥
दृष्ट्वा वयं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः।
कस्यैते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसंनिभाः॥ ४॥

'देवि! हम सब लोग भूख-प्यास और थकावटसे कष्ट पा रहे थे। इसलिये सहसा इस अन्धकारपूर्ण गुफामें घुस आये। भूतलका यह विवर बहुत बड़ा है। हम प्याससे पीड़ित होनेके कारण यहाँ आये हैं, किंतु यहाँके इन ऐसे अद्भुत विविध पदार्थोंको देखकर हमारे मनमें बड़ी व्यथा हुई है—हम यह सोचकर चिन्तित हो उठे हैं कि यह असुरोंकी माया तो नहीं है, इसीलिये हमारे मनमें घबराहट हो रही है। हमारी विवेकशक्ति लुप्त-सी हो गयी है। हम जानना चाहते हैं कि ये बालसूर्यके समान कान्तिमान् सुवर्णमय वृक्ष किसके हैं?॥ २—४॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च॥ ५॥
तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानि च।
पुष्पिताः फलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धयः॥ ६॥
इमे जाम्बूनदमयाः पादपाः कस्य तेजसा।

'ये भोजनकी पवित्र वस्तुएँ, फल-मूल, सोनेके विमान, चाँदीके घर, मणियोंकी जालीसे ढकी हुई सोनेकी खिड़कियाँ तथा पवित्र सुगन्धसे युक्त एवं फल-फूलोंसे लदे हुए ये सुवर्णमय पावन वृक्ष किसके तेजसे प्रकट हुए हैं?॥ ५-६½॥

काञ्चनानि च पद्मानि जातानि विमले जले॥ ७॥
कथं मत्स्याश्च सौवर्णा दृश्यन्ते सह कच्छपैः।
आत्मनस्त्वनुभावाद् वा कस्य वैतत्तपोबलम्॥ ८॥
अजानतां नः सर्वेषां सर्वमाख्यातुमर्हसि।

'यहाँके निर्मल जलमें सोनेके कमल कैसे उत्पन्न हुए? इन सरोवरोंके मत्स्य और कछुए सुवर्णमय कैसे दिखायी देते हैं? यह सब तुम्हारे अपने प्रभावसे हुआ है या और किसीके? यह किसके तपोबलका प्रभाव है? हम सब अनजान हैं; इसलिये पूछते हैं। तुम हमें सारी बातें बतानेकी कृपा करो'॥ ७-८½॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी धर्मचारिणी॥ ९॥
प्रत्युवाच हनूमन्तं सर्वभूतहिते रता।

हनुमान्‌जीके इस प्रकार पूछनेपर समस्त प्राणियोंके हित-में तत्पर रहनेवाली उस धर्मपरायणा तापसीने उत्तर दिया—॥ ९½॥

मयो नाम महातेजा मायावी वानरर्षभ॥ १०॥
तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं वनम्।

'वानरश्रेष्ठ! मायाविशारद महातेजस्वी मयका नाम तुमने सुना होगा। उसीने अपनी मायाके प्रभावसे इस समूचे स्वर्णमय वनका निर्माण किया था॥ १०½॥

पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह॥ ११॥
येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम्।

'मयासुर पहले दानव-शिरोमणियोंका विश्वकर्मा था, जिसने इस दिव्य सुवर्णमय उत्तम भवनको बनाया है॥ ११½॥

स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महद्वने॥ १२॥
पितामहाद् वरं लेभे सर्वमौशनसं धनम्।

'उसने एक सहस्र वर्षोंतक वनमें घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदानके रूपमें शुक्राचार्यका सारा शिल्प-वैभव प्राप्त किया था॥ १२½॥

विधाय सर्वं बलवान् सर्वकामेश्वरस्तदा ॥ १३ ॥
उवास सुखितः कालं कंचिदस्मिन् महावने ।

'सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी बलवान् मयासुरने यहाँकी सारी वस्तुओंका निर्माण करके इस महान् वनमें कुछ काल-तक सुखपूर्वक निवास किया था ॥ १३½ ॥

तमप्सरसि हेमायां सक्तं दानवपुङ्गवम् ॥ १४ ॥
विक्रम्यैवाशनिं गृह्य जघानेशः पुरंदरः ।

'आगे चलकर उस दानवराजका हेमा नामकी अप्सरा-के साथ सम्पर्क हो गया। यह जानकर देवेश्वर इन्द्रने हाथमें वज्र ले उसके साथ युद्ध करके उसे मार भगाया ॥ १४½ ॥

इदं च ब्रह्मणा दत्तं हेमायै वनमुत्तमम् ॥ १५ ॥
शाश्वतः कामभोगश्च गृहं चेदं हिरण्मयम् ।

'तत्पश्चात् ब्रह्माजीने यह उत्तम वन, यहाँका अक्षय काम-भोग तथा यह सोनेका भवन हेमाको दे दिया ॥ १५½ ॥

दुहिता मेरुसावर्णेरहं तस्याः स्वयंप्रभा ॥ १६ ॥
इदं रक्षामि भवनं हेमाया वानरोत्तम ।

'मैं मेरुसावर्णिकी कन्या हूँ। मेरा नाम स्वयंप्रभा है। वानरश्रेष्ठ ! मैं उस हेमाके इस भवनकी रक्षा करती हूँ ॥ १६½ ॥

मम प्रियसखी हेमा नृत्तगीतविशारदा ॥ १७ ॥
तयादत्तवरा चास्मि रक्षामि भवनं महत् ।

'नृत्य और गीतकी कलामें चतुर हेमा मेरी प्यारी सखी है। उसने मुझसे अपने भवनकी रक्षाके लिये प्रार्थना की थी, इसलिये मैं इस विशाल भवनका संरक्षण करती हूँ ॥ १७½ ॥

किं कार्यं कस्य वा हेतोः कान्ताराणि प्रपद्यथ ॥ १८ ॥
कथं चेदं वनं दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम् ।

'तुम लोगोंका यहाँ क्या काम है ? किस उद्देश्यसे तुम इन दुर्गम स्थानोंमें विचरते हो ! इस वनमें आना तो बहुत कठिन है। तुमने कैसे इसे देख लिया ? ॥ १८½ ॥

शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानि च फलानि च ।
भुक्त्वा पीत्वा च पानीयं सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'अच्छा, ये शुद्ध भोजन और फल-मूल प्रस्तुत हैं। इन्हें खाकर पानी पी लो। फिर मुझसे अपना सारा वृत्तान्त कहो' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

तापसी स्वयंप्रभाके पूछनेपर वानरोंका उसे अपना वृत्तान्त बताना और उसके प्रभावसे गुफाके बाहर निकलकर समुद्रतटपर पहुँचना

अथ तानब्रवीत् सर्वान् विश्रान्तान् हरियूथपान् ।
इदं वचनमेकाग्रा तापसी धर्मचारिणी ॥ १ ॥

तत्पश्चात् जब सब वानर-यूथपति खा-पीकर विश्राम कर चुके, तब धर्मका आचरण करनेवाली वह एकाग्रहृदया तपस्विनी उन सबसे इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

वानरा यदि वः खेदः प्रणष्टः फलभक्षणात् ।
यदि चैतन्मया श्राव्यं श्रोतुमिच्छामि तां कथाम् ॥ २ ॥

'वानरो ! यदि फल खानेसे तुम्हारी थकावट दूर हो गयी हो और यदि तुम्हारा वृत्तान्त मेरे सुनने योग्य हो तो मैं उसे सुनना चाहती हूँ' ॥ २ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः ।
आर्जवेन यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ३ ॥

उसकी यह बात सुनकर पवनकुमार हनुमान्जी बड़ी सरलताके साथ यथार्थ बात कहने लगे—॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ४ ॥

'देवि ! सम्पूर्ण जगत्के राजा दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् राम, जो देवराज इन्द्र और वरुणके समान तेजस्वी हैं, दण्डकारण्यमें पधारे थे ॥ ४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या सह भार्यया ।
तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हृता बलात् ॥ ५ ॥

'उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनकी धर्मपत्नी विदेहनन्दिनी सीता भी थीं। जनस्थानमें आकर रावणने उनकी स्त्रीका बलपूर्वक अपहरण कर लिया ॥ ५ ॥

वीरस्तस्य सखा राज्ञः सुग्रीवो नाम वानरः ।
राजा वानरमुख्यानां येन प्रस्थापिता वयम् ॥ ६ ॥
अगस्त्यचरितामाशां दक्षिणां यमरक्षिताम् ।
सहैभिर्वानरैर्मुख्यैरङ्गदप्रमुखैर्वयम् ॥ ७ ॥

'श्रेष्ठ वानरोंके राजा वानरजातीय वीरवर सुग्रीव महाराज श्रीरामचन्द्रजीके मित्र हैं, जिन्होंने इन अङ्गद आदि प्रधान वीरोंके साथ हमलोगोंको सीताकी खोज करनेके लिये अगस्त्य-सेवित और यमराजद्वारा सुरक्षित दक्षिण दिशामें भेजा है ॥ ६-७ ॥

रावणं सहिताः सर्वे राक्षसं कामरूपिणम् ।
सीतया सह वैदेह्या मार्गध्वमिति चोदिताः ॥ ८ ॥

'उन्होंने आज्ञा दी थी कि तुम सब लोग एक साथ रह-कर विदेहकुमारी सीतासहित उस इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसराज रावणका पता लगाना ॥ ८ ॥

विचित्य तु वनं सर्वं समुद्रं दक्षिणां दिशम् ।
वयं बुभुक्षिताः सर्वे वृक्षमूलमुपाश्रिताः ॥ ९ ॥

'हमने यहाँका सारा जंगल छान डाला। अब दक्षिण दिशामें समुद्रके भीतर उनका अन्वेषण करना है। अबतक सीताका कुछ पता नहीं लगा और हमलोग भूख-प्याससे पीड़ित हो गये। अन्तमें हम सब-के-सब एक वृक्षके नीचे थककर बैठ गये ॥ ९ ॥

विवर्णवदनाः सर्वे सर्वे ध्यानपरायणाः ।
नाधिगच्छामहे पारं मग्नाश्चिन्तामहार्णवे ॥ १० ॥

'हमारे मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। हम सभी चिन्तामें मग्न हो गये। चिन्ताके महासागरमें डूबकर हम उसका पार नहीं पा रहे थे ॥ १० ॥

चारयन्तस्ततश्चक्षुर्दृष्टवन्तो महद् बिलम् ।
लतापादपसंछन्नं तिमिरेण समावृतम् ॥ ११ ॥

'इसी समय चारों ओर दृष्टि दौड़ानेपर हमको यह विशाल गुफा दिखायी पड़ी, जो लता और वृक्षोंसे ढकी हुई तथा अन्धकारसे आच्छन्न थी ॥ ११ ॥

अस्माद्धंसा जलक्लिन्नाः पक्षैः सलिलरेणुभिः ।
कुरराः सारसाश्चैव निष्पतन्ति पतत्त्रिणः ॥ १२ ॥

'थोड़ी ही देरमें इस गुफासे हंस, कुरर और सारस आदि पक्षी निकले, जिनके पंख जलसे भीगे थे और उनमें कीचड़ लगी हुई थी ॥ १२ ॥

साध्वत्र प्रविशामेति मया तूक्ताः प्लवङ्गमाः ।
तेषामपि हि सर्वेषामनुमानमुपागतम् ॥ १३ ॥

'तब मैंने वानरोंसे कहा, 'अच्छा होगा कि हमलोग इसके भीतर प्रवेश करें।' इन सब वानरोंको भी यह अनुमान हो गया कि गुफाके भीतर पानी है ॥ १३ ॥

अस्मिन् निपतिताः सर्वेऽप्यथ कार्यत्वरान्विताः।
ततो गाढं निपतिता गृह्य हस्तैः परस्परम् ॥ १४ ॥

'हम सब लोग अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उतावले थे ही, अतः इस गुफामें कूद पड़े। अपने हाथोंसे एक दूसरेको दृढ़तापूर्वक पकड़कर हम गुफामें आगे बढ़ने लगे ॥ १४ ॥

इदं प्रविष्टाः सहसा बिलं तिमिरसंवृतम् ।
एतन्नः कार्यमेतेन कृत्येन वयमागताः ॥ १५ ॥

'इस तरह सहसा हमलोगोंने इस अँधेरी गुफामें प्रवेश किया। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यसे हम इधर आये हैं ॥ १५ ॥

त्वां चैवोपगताः सर्वे परिद्यूना बुभुक्षिताः ।
आतिथ्यधर्मदत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥
अस्माभिरुपयुक्तानि बुभुक्षापरिपीडितैः ।

'भूखसे व्याकुल एवं दुर्बल होनेके कारण हम सबने तुम्हारी शरण ली। तुमने आतिथ्य-धर्मके अनुसार हमें फल और मूल अर्पित किये और हमने भी भूखसे पीड़ित होनेके कारण उन्हें भरपेट खाया ॥ १६½ ॥

यत् त्वया रक्षिताः सर्वे म्रियमाणा बुभुक्षया ॥ १७ ॥
ब्रूहि प्रत्युपकारार्थं किं ते कुर्वन्तु वानराः ।

'देवि! हम भूखसे मर रहे थे। तुमने हम सब लोगोंके प्राण बचा लिये। अतः बताओ, ये वानर तुम्हारे उपकारका बदला चुकानेके लिये क्या सेवा करें' ॥ १७½ ॥

एवमुक्ता तु सर्वज्ञा वानरैस्तैः स्वयंप्रभा ॥ १८ ॥
प्रत्युवाच ततः सर्वानिदं वानरयूथपान् ।

स्वयंप्रभा सर्वज्ञ थी। उन वानरोंके ऐसा कहनेपर उसने उन सभी यूथपतियोंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १८½ ॥

सर्वेषां परितुष्टास्मि वानराणां तरस्विनाम् ॥ १९ ॥
चरन्त्या मम धर्मेण न कार्यमिह केनचित् ।

'मैं तुम सभी वेगशाली वानरोंपर यों ही बहुत संतुष्ट हूँ। धर्मानुष्ठानमें लगी रहनेके कारण मुझे किसीसे कोई प्रयोजन नहीं रह गया है' ॥ १९½ ॥

एवमुक्तः शुभं वाक्यं तापस्या धर्मसंहितम् ॥ २० ॥
उवाच हनुमान् वाक्यं तामनिन्दितलोचनाम् ।

उस तपस्विनीने जब इस प्रकार धर्मयुक्त उत्तम बात कही, तब हनुमान्‌जीने निर्दोष दृष्टिवाली उस देवीसे यों कहा—॥ २०½ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणीम् ॥ २१ ॥
यः कृतः समयोऽस्मासु सुग्रीवेण महात्मना ।
स तु कालो व्यतिक्रान्तो बिले च परिवर्तताम् ॥ २२ ॥

'देवि! तुम धर्माचरणमें लगी हुई हो। अतः हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं। महात्मा सुग्रीवने हमलोगोंके लौटनेके लिये जो समय निश्चित किया था, वह इस गुफाके भीतर घूमनेमें ही बीत गया ॥ २१-२२ ॥

सा त्वमस्माद् बिलादस्मानुत्तारयितुमर्हसि ।
तस्मात् सुग्रीववचनादतिक्रान्तान् गतायुषः ॥ २३ ॥
त्रातुमर्हसि नः सर्वान् सुग्रीवभयशङ्कितान् ।

'अब तुम कृपा करके हमें इस बिलसे बाहर निकाल दो। सुग्रीवके बताये हुए समयको हम लाँघ चुके हैं, इसलिये अब हमारी आयु पूरी हो चुकी है। हम सब-के-सब सुग्रीवके भयसे डरे हुए हैं, अतः तुम हमारा उद्धार करो ॥ २३½ ॥

महच्च कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ॥ २४ ॥
तच्चापि न कृतं कार्यमस्माभिरिह वासिभिः ।

'धर्मचारिणी! हमें जो महान् कार्य करना है, उसे भी हम इस गुफामें रहनेके कारण नहीं कर सके हैं' ॥ २४½ ॥

एवमुक्ता हनुमता तापसी वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥

जीवता दुष्करं मन्ये प्रविष्टेन निवर्तितुम्।
तपसः सुप्रभावेण नियमोपार्जितेन च ॥ २६ ॥
सर्वानेव बिलादस्मात् तारयिष्यामि वानरान्।

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर तापसी बोली—'मैं समझती हूँ जो एक बार इस गुफामें चला आता है, उसका जीते-जी यहाँसे लौटना बहुत कठिन हो जाता है। तथापि नियमोंके पालन और तपस्याके उत्तम प्रभावसे मैं तुम सभी वानरोंको इस गुफासे बाहर निकाल दूँगी ॥ २५-२६½ ॥

निमीलयत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥ २७ ॥
नहि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः।

'श्रेष्ठ वानरो! तुम सब लोग अपनी-अपनी आँखें बंद कर लो। आँख बंद किये बिना यहाँसे निकलना असम्भव है' ॥ २७½ ॥

ततो निमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः ॥ २८ ॥
सहसा पिदधुर्दृष्टिं हृष्टा गमनकाङ्क्षया।

यह सुनकर सबने सुकुमार अङ्गुलिवाले हाथोंसे आँखें मूँद लीं। गुफासे बाहर निकलनेकी इच्छासे प्रसन्न होकर उन सबने सहसा नेत्र बंद कर लिये ॥ २८½ ॥

वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा ॥ २९ ॥
निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तया।

इस प्रकार उस समय हाथोंसे मुँह ढक लेनेके कारण उन महात्मा वानरोंको स्वयंप्रभाने पलक मारते-मारते बिलसे बाहर निकाल दिया ॥ २९½ ॥

उवाच सर्वांस्तांस्तत्र तापसी धर्मचारिणी ॥ ३० ॥
निःसृतान् विषमात् तस्मात् समाश्वास्येदमब्रवीत्।

तत्पश्चात् वहाँ उस धर्मपरायणा तापसीने उस विषम गुफासे बाहर निकले हुए समस्त वानरोंको आश्वासन देकर इस प्रकार कहा—॥ ३०½ ॥

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान् नानाद्रुमलतायुतः ॥ ३१ ॥
एष प्रस्रवणः शैलः सागरोऽयं महोदधिः।
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि भवनं वानरर्षभाः।
इत्युक्त्वा तद् बिलं श्रीमत् प्रविवेश स्वयंप्रभा ॥ ३२ ॥

'श्रेष्ठ वानरो! यह रहा नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त शोभाशाली विन्ध्यगिरि। इधर यह प्रस्रवणगिरि है और सामने यह महासागर लहरा रहा है। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं अपने स्थानपर जाती हूँ।' ऐसा कहकर स्वयंप्रभा उस सुन्दर गुफामें चली गयी ॥ ३१-३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

लौटनेकी अवधि बीत जानेपर भी कार्य सिद्ध न होनेके कारण सुग्रीवके कठोर दण्डसे डरनेवाले अङ्गद आदि वानरोंका उपवास करके प्राण त्याग देनेका निश्चय

ततस्ते ददृशुर्घोरं सागरं वरुणालयम्।
अपारमभिगर्जन्तं घोरैरूर्मिभिराकुलम् ॥ १ ॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ वानरोंने वरुणकी निवासभूमि भयंकर महासागरको देखा, जिसका कहीं पार नहीं था और जो भयानक लहरोंसे व्याप्त होकर निरन्तर गर्जना कर रहा था ॥ १ ॥

मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम्।
तेषां मासो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ २ ॥

मयासुरके अपनी मायाद्वारा बनाये हुए पर्वतकी दुर्गम गुफामें सीताकी खोज करते हुए उन वानरोंका वह एक मास बीत गया, जिसे राजा सुग्रीवने लौटनेका समय निश्चित किया था ॥ २ ॥

विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पितपादपे।
उपविश्य महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तदा ॥ ३ ॥

विन्ध्यगिरि पार्श्ववर्ती पर्वतपर, जहाँके वृक्ष फूलोंसे लदे थे, बैठकर वे सभी महात्मा वानर चिन्ता करने लगे ॥ ३ ॥

ततः पुष्पातिभाराग्राँल्लताशतसमावृतान्।
द्रुमान् वासन्तिकान् दृष्ट्वा बभूवुर्भयशङ्किताः ॥ ४ ॥

जो वसन्त ऋतुमें फलते हैं, उन आम आदि वृक्षोंकी डालियोंको मञ्जरी एवं फूलोंके अधिक भारसे झुकी हुई तथा सैकड़ों लता-बेलोंसे व्याप्त देख वे सभी सुग्रीवके भयसे थर्रा उठे (वे शरद्-ऋतुमें चले थे और शिशिर-ऋतु आ गयी थी। इसीलिये उनका भय बढ़ गया था) ॥ ४ ॥

ते वसन्तमनुप्राप्तं प्रतिवेद्य परस्परम्।
नष्टसंदेशकालार्था निपेतुर्धरणीतले ॥ ५ ॥

वे एक दूसरेको यह बताकर कि अब वसन्तका समय आना चाहता है, राजाके आदेशके अनुसार एक मासके भीतर जो काम कर लेना चाहिये था, वह न कर सकने या उसे नष्ट कर देनेके कारण भयके मारे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

ततस्तान् कपिवृद्धांश्च शिष्टांश्चैव वनौकसः।
वाचा मधुरयाऽऽभाष्य यथावदनुमान्य च ॥ ६ ॥

स तु सिंहवृषस्कन्धः पीनायतभुजः कपिः।
युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब जिनके कंधे सिंह और बैलके समान मांसल थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और मोटी थीं तथा जो बड़े बुद्धिमान् थे, वे युवराज अङ्गद उन श्रेष्ठ वानरों तथा अन्य वनवासी कपियोंको यथावत् सम्मान देते हुए मधुर वाणीसे सम्बोधित करके बोले—॥ ६-७ ॥

शासनात् कपिराजस्य वयं सर्वे विनिर्गताः।
मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यत ॥ ८ ॥
वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम्॥ ९ ॥

'वानरो! हम सब लोग वानरराजकी आज्ञासे आश्विन मास बीतते-बीतते एक मासकी निश्चित अवधि स्वीकार करके सीताकी खोजके लिये निकले थे, किंतु हमारा वह एक मास उस गुफामें ही पूरा हो गया, क्या आपलोग इस बात-को नहीं जानते? हम जब चले थे, तबसे लौटनेके लिये जो मास निर्धारित हुआ था, वह भी बीत गया; अतः अब आगे क्या करना चाहिये? ॥ ८-९ ॥

भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः।
हितेष्वभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु ॥ १० ॥

'आपलोगोंको राजाका विश्वास प्राप्त है। आप नीति-मार्गमें निपुण हैं और स्वामीके हितमें तत्पर रहते हैं। इसी-लिये आपलोग यथासमय सब कार्योंमें नियुक्त किये जाते हैं ॥ १० ॥

कर्मस्वप्रतिमाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः।
मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः ॥ ११ ॥
इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः।
हरिराजस्य संदेशमकृत्वा कः सुखी भवेत् ॥ १२ ॥

कार्य सिद्ध करनेमें आपलोगोंकी समानता करनेवाला कोई नहीं है। आप सभी अपने पुरुषार्थके लिये सभी दिशाओं-में विख्यात हैं। इस समय वानरराज सुग्रीवकी आज्ञासे मुझे आगे करके आपलोग जिस कार्यके लिये निकले थे, उसमें आप और हम सफल न हो सके। ऐसी दशामें हमलोगोंको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है। भला वानरराजके आदेशका पालन न करके कौन सुखी रह सकता है? ॥ ११-१२ ॥

अस्मिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम्।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम् ॥ १३ ॥

'स्वयं सुग्रीवने जो समय निश्चित किया था, उसके बीत जानेपर हम सब वानरोंके लिये उपवास करके प्राण त्याग देना ही ठीक जान पड़ता है ॥ १३ ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः।
न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥ १४ ॥

'सुग्रीव स्वभावसे ही कठोर हैं। फिर इस समय तो वे हमारे राजाके पदपर स्थित हैं। जब हम अपराध करके उनके पास जायँगे, तब वे कभी हमें क्षमा नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

अप्रवृत्तौ च सीतायाः पापमेव करिष्यति।
तस्मात् क्षममिहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम् ॥ १५ ॥
त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च धनानि च गृहाणि च।

'उलटे सीताका समाचार न पानेपर हमारा वध ही कर डालेंगे, अतः हमें आज ही यहाँ स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति और घर-द्वारका मोह छोड़कर मरणान्त उपवास आरम्भ कर देना चाहिये ॥ १५½ ॥

ध्रुवं नो हिंसते राजा सर्वान् प्रतिगतानितः ॥ १६ ॥
वधेनाप्रतिरूपेण श्रेयान् मृत्युरिहैव नः।

'यहाँसे लौटनेपर राजा सुग्रीव निश्चय ही हम सबका वध कर डालेंगे। अनुचित वधकी अपेक्षा यहीं मर जाना हम लोगोंके लिये श्रेयस्कर है ॥ १६½ ॥

न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः ॥ १७ ॥
नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा।

'सुग्रीवने युवराजपदपर मेरा अभिषेक नहीं किया है। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाराज श्रीरामने ही उस पदपर मेरा अभिषेक किया है ॥ १७½ ॥

स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम् ॥ १८ ॥
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः।

'राजा सुग्रीवने तो पहलेसे ही मेरे प्रति वैर बाँध रक्खा है। इस समय आज्ञा-लङ्घनरूप मेरे अपराधको देख-कर पूर्वोक्त निश्चयके अनुसार तीखे दण्डद्वारा मुझे मरवा डालेंगे ॥ १८½ ॥

किं मे सुहृद्भिर्व्यसनं पश्यद्भिर्जीवितान्तरे।
इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि ॥ १९ ॥

'जीवन-कालमें मेरा व्यसन (राजाके हाथसे मेरा मरण) देखनेवाले सुहृदोंसे मुझे क्या काम है? यहीं समुद्रके पावन तटपर मैं मरणान्त उपवास करूँगा' ॥ १९ ॥

एतच्छ्रुत्वा कुमारेण युवराजेन भाषितम्।
सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः करुणं वाक्यमब्रुवन् ॥ २० ॥

युवराज वालिकुमार अङ्गदकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर करुणस्वरमें बोले—॥ २० ॥

तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियारक्तश्च राघवः।
समीक्ष्याकृतकार्यांस्तु तस्मिंश्च समये गते ॥ २१ ॥
अदृष्टायां च वैदेह्यां दृष्ट्वा चैव समागतान्।
राघवप्रियकामाय घातयिष्यत्यसंशयम् ॥ २२ ॥

'सचमुच सुग्रीवका स्वभाव बड़ा कठोर है। उधर

श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिय पत्नी सीताके प्रति अनुरक्त हैं। सीताको खोजकर लौटनेके लिये जो अवधि निश्चित की गयी थी, वह समय व्यतीत हो जानेपर भी यदि हम कार्य किये बिना ही वहाँ उपस्थित होंगे तो उस अवस्थामें हमें देखकर और विदेहकुमारीका दर्शन किये बिना ही हमें लौटा हुआ जानकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे सुग्रीव हमें मरवा डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ २१-२२ ॥

न क्षमं चापराद्धानां गमनं स्वामिपार्श्वतः।
प्रधानभूताश्च वयं सुग्रीवस्य समागताः ॥ २३ ॥

अतः अपराधी पुरुषोंका स्वामीके पास लौटकर जाना कदापि उचित नहीं है। हम सुग्रीवके प्रधान सहयोगी या सेवक होनेके कारण इधर उनके भेजनेसे आये थे ॥ २३ ॥

इहैव सीतामन्वीक्ष्य प्रवृत्तिमुपलभ्य वा।
नो चेद् गच्छाम तं वीरं गमिष्यामो यमक्षयम् ॥ २४ ॥

'यदि यहीं सीताका दर्शन करके अथवा उनका समाचार जानकर वीर सुग्रीवके पास नहीं जायँगे तो अवश्य ही हमें यमलोकमें जाना पड़ेगा' ॥ २४ ॥

प्लवङ्गमानां तु भयार्दितानां
श्रुत्वा वचस्तार इदं बभाषे।
अलं विषादेन बिलं प्रविश्य
वसाम सर्वे यदि रोचते वः ॥ २५ ॥

भयसे पीड़ित हुए उन वानरोंका यह वचन सुनकर तारने कहा—'यहाँ बैठकर विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। यदि आपलोगोंको ठीक जँचे तो हम सब लोग स्वयं प्रभाकी उस गुफामें ही प्रवेश करके निवास करें ॥ २५ ॥

इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं
प्रभूतपुष्पोदकभोज्यपेयम्।
इहास्ति नो नैव भयं पुरंदरा-
न्न राघवाद् वानरराजतोऽपि वा ॥ २६ ॥

'यह गुफा मायासे निर्मित होनेके कारण अत्यन्त दुर्गम है। यहाँ फल-फूल, जल और खाने-पीनेकी दूसरी वस्तुएँ भी प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं। अतः इसमें हमें न तो देवराज इन्द्रसे, न श्रीरामचन्द्रजीसे और न वानरराज सुग्रीवसे ही भय है' ॥ २६ ॥

श्रुत्वाङ्गदस्यापि वचोऽनुकूल-
मूचुश्च सर्वे हरयः प्रतीताः।
यथा न हन्येम तथा विधान-
मसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥ २७ ॥

तारकी कही हुई पूर्वोक्त बात, जो अङ्गदके भी अनुकूल थी, सुनकर सभी वानरोंको उसपर विश्वास हो गया। वे सब-के-सब बोल उठे—'बन्धुओ! हमें वैसा कार्य आज ही अविलम्ब करना चाहिये, जिससे हम मारे न जायँ' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्जीका भेदनीतिके द्वारा वानरोंको अपने पक्षमें करके अङ्गदको अपने साथ चलनेके लिये समझाना

तथा ब्रुवति तारे तु ताराधिपतिवर्चसि।
अथ मेने हृतं राज्यं हनूमानङ्गदेन तत् ॥ १ ॥

तारापति चन्द्रमाके समान तेजस्वी तारके ऐसा कहनेपर हनुमान्जीने यह माना कि अब अङ्गदने वह राज्य (जो अबतक सुग्रीवके अधिकारमें था) हर लिया (इस तरह वानरोंमें फूट पड़नेसे बहुत-से वानर अङ्गदका साथ देंगे और बलवान् अङ्गद सुग्रीवको राज्यसे वञ्चित कर देंगे—ऐसी सम्भावनाका हनुमान्जीके मनमें उदय हो गया) ॥ १ ॥

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम्।
चतुर्दशगुणं मेने हनूमान् वालिनः सुतम् ॥ २ ॥

हनुमान्जी यह अच्छी तरह जानते थे कि वालिकुमार अङ्गद आठ गुणवाली बुद्धिसे¹, चार प्रकारके बलसे² और चौदह गुणोंसे³ सम्पन्न हैं ॥ २ ॥

---

१. बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, सुनकर ग्रहण करना, ग्रहण करके धारण करना, ऊहापोह करना, अर्थ या तात्पर्यको भलीभाँति समझना तथा तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न होना।

२. साम, दाम, भेद और दण्ड—ये जो शत्रुको वशमें करनेके चार उपाय नीति-शास्त्रमें बताये गये हैं, उन्हींको यहाँ चार प्रकारका बल कहा गया है। किन्हीं-किन्हींके मतमें बाहुबल, मनोबल, उपायबल और बन्धुबल—ये चार बल हैं।

३. चौदह गुण यों बताये गये हैं—देश-कालका ज्ञान, दृढ़ता, सब प्रकारके क्लेशोंको सहन करनेकी क्षमता, सभी विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना, चतुरता, उत्साह या बल, मन्त्रणाको गुप्त रखना, परस्पर विरोधी बात न कहना, शूरता, अपनी और शत्रुकी शक्तिका

आपूर्यमाणं शश्वच्च तेजोबलपराक्रमैः।
शशिनं शुक्लपक्षादौ वर्धमानमिव श्रिया ॥ ३ ॥

वे तेज, बल और पराक्रमसे सदा परिपूर्ण हो रहे हैं। शुक्ल पक्षके आरम्भमें चन्द्रमाके समान राजकुमार अङ्गदकी श्री दिनोंदिन बढ़ रही है ॥ ३ ॥

बृहस्पतिसमं बुद्ध्या विक्रमे सदृशं पितुः।
शुश्रूषमाणं तारस्य शुक्रस्येव पुरंदरम् ॥ ४ ॥

ये बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और पराक्रममें अपने पिता वालीके तुल्य हैं। जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिके मुखसे नीतिकी बातें सुनते हैं, उसी प्रकार ये अङ्गद तारकी बातें सुनते हैं ॥ ४ ॥

भर्तुरर्थे परिश्रान्तं सर्वशास्त्रविशारदः।
अभिसंधातुमारेभे हनूमानङ्गदं ततः ॥ ५ ॥

अपने स्वामी सुग्रीवका कार्य सिद्ध करनेमें ये परिश्रम (थकावट या शिथिलता) का अनुभव करते हैं। ऐसा विचारकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हनुमान्‌जीने अङ्गदको तार आदि वानरोंकी ओरसे फोड़नेका प्रयत्न आरम्भ किया ॥ ५ ॥

स चतुर्णामुपायानां तृतीयमुपवर्णयन्।
भेदयामास तान् सर्वान् वानरान् वाक्यसम्पदा ॥ ६ ॥

वे साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार उपायोंमेंसे तीसरेका वर्णन करते हुए अपने युक्तियुक्त वाक्य-वैभवके द्वारा उन सभी वानरोंको फोड़ने लगे ॥ ६ ॥

तेषु सर्वेषु भिन्नेषु ततोऽभीषयदङ्गदम्।
भीषणैर्विविधैर्वाक्यैः कोपोपायसमन्वितैः ॥ ७ ॥

जब वे सब वानर फूट गये, तब उन्होंने दण्डरूप चौथे उपायसे युक्त नाना प्रकारके भयदायक वचनोंद्वारा अङ्गदको डराना आरम्भ किया—॥ ७ ॥

त्वं समर्थतरः पित्रा युद्धे तारेय वै ध्रुवम्।
दृढं धारयितुं शक्तः कपिराज्यं यथा पिता ॥ ८ ॥

'तारानन्दन! तुम युद्धमें अपने पिताके समान ही अत्यन्त शक्तिशाली हो—यह निश्चितरूपसे सबको विदित है। जैसे तुम्हारे पिता वानरोंका राज्य सँभालते थे, उसी प्रकार तुम भी उसे दृढ़तापूर्वक धारण करनेमें समर्थ हो ॥ ८ ॥

नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुंगव।
नाज्ञाप्यं विषहिष्यन्ति पुत्रदारं विना त्वया ॥ ९ ॥

'किंतु वानरशिरोमणे! ये कपिलोग सदा ही चञ्चल-चित्त होते हैं। अपने स्त्री-पुत्रोंसे अलग रहकर तुम्हारी आज्ञाका पालन करना इनके लिये सह्य नहीं होगा ॥ ९ ॥

त्वां नैते ह्यनुरज्येयुः प्रत्यक्षं प्रवदामि ते।
यथायं जाम्बवान् नीलः सुहोत्रश्च महाकपिः ॥ १० ॥
न ह्यहं ते इमे सर्वे सामदानादिभिर्गुणैः।
दण्डेन न त्वया शक्याः सुग्रीवादपकर्षितुम् ॥ ११ ॥

'मैं तुम्हारे सामने कहता हूँ, ये कोई भी वानर सुग्रीवसे विरोध करके तुम्हारे प्रति अनुरक्त नहीं हो सकते। जैसे ये जाम्बवान्, नील और महाकपि सुहोत्र हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तथा ये सब लोग साम, दान आदि उपायोंद्वारा सुग्रीवसे अलग नहीं किये जा सकते। तुम दण्डके द्वारा भी हम सबको वानरराजसे दूर कर सको, यह भी सम्भव नहीं है (अतः सुग्रीव तुम्हारी अपेक्षा प्रबल हैं) ॥

विगृह्यासनमप्याहुर्दुर्बलेन बलीयसा।
आत्मरक्षाकरस्तस्मान्न विगृह्णीत दुर्बलः ॥ १२ ॥

'दुर्बलके साथ विरोध करके बलवान् चुपचाप बैठा रहे, यह तो सम्भव है। परंतु किसी बलवान्‌से वैर बाँधकर कोई दुर्बल पुरुष कहीं भी सुखसे नहीं रह सकता; अतः अपनी रक्षा चाहनेवाले दुर्बल पुरुषको बलवान्‌के साथ विग्रह नहीं करना चाहिये—यह नीतिज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ १२ ॥

यां चेमां मन्यसे धात्रीमेतद् बिलमिति श्रुतम्।
एतल्लक्ष्मणबाणानामीषत्कार्यं विदारणम् ॥ १३ ॥

'तुम जो ऐसा मानने लगे हो कि यह गुफा हमें माताके समान अपनी गोदमें छिपा लेगी, इसलिये हमारी रक्षा हो जायगी तथा इस बिलकी अभेद्यताके विषयमें जो तुमने तारके मुँहसे कुछ सुना है, यह सब व्यर्थ है; क्योंकि इस गुफाको विदीर्ण कर देना लक्ष्मणके बाणोंके लिये बायें हाथका खेल है (अत्यन्त तुच्छ कार्य है) ॥ १३ ॥

स्वल्पं हि कृतमिन्द्रेण क्षिपता ह्यशनिं पुरा।
लक्ष्मणो निशितैर्बाणैर्भिन्द्यात् पत्रपुटं यथा ॥ १४ ॥

'पूर्वकालमें यहाँ वज्रका प्रहार करके इन्द्रने तो इस गुफाको बहुत थोड़ी हानि पहुँचायी थी; परंतु लक्ष्मण अपने पैने बाणोंद्वारा इसे पत्तेके दोनेकी भाँति विदीर्ण कर डालेंगे ॥ १४ ॥

लक्ष्मणस्य च नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः।
वज्राशनिसमस्पर्शा गिरीणामपि दारकाः ॥ १५ ॥

'लक्ष्मणके पास ऐसे बहुत-से नाराच हैं, जिनका हल्का-सा स्पर्श भी वज्र और अशनिके समान चोट पहुँचानेवाला है। वे नाराच पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं ॥ १५ ॥

अवस्थानं यदैव त्वमासिष्यसि परंतप।
तदैव हरयः सर्वे त्यक्ष्यन्ति कृतनिश्चयाः ॥ १६ ॥

ज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षशीलता तथा अचञ्चलता, स्थिरता या गम्भीरता)।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! ज्यों ही तुम इस गुफामें रहना आरम्भ करोगे, त्यों ही ये सब वानर तुम्हें त्याग देंगे; क्योंकि इन्होंने ऐसा करनेका निश्चय कर लिया है ॥ १६ ॥

स्मरन्तः पुत्रदाराणां नित्योद्विग्ना बुभुक्षिताः ।
खेदिता दुःखशय्याभिस्त्वां करिष्यन्ति पृष्ठतः ॥ १७ ॥

'ये अपने बाल-बच्चोंको याद करके सदा उद्विग्न रहेंगे । जब यहाँ इन्हें भूखका कष्ट सहना पड़ेगा और दुःखद शय्यापर सोने या दुरवस्थामें रहनेके कारण इनके मनमें खेद होगा, तब ये तुम्हें पीछे छोड़कर चल देंगे ॥१७॥

स त्वं हीनः सुहृद्भिश्च हितकामैश्च बन्धुभिः ।
तृणादपि भृशोद्विग्नः स्पन्दमानाद् भविष्यसि ॥ १८ ॥

'ऐसी दशामें तुम हितैषी बन्धुओं और सुहृदोंके सहयोगसे वञ्चित हो उड़ते हुए तिनकेसे भी तुच्छ हो जाओगे और सदा अधिक डरते रहोगे (अथवा हिलते हुए तिनके-से अत्यन्त भयभीत होते रहोगे) ॥ १८ ॥

न च जातु न हिंस्युस्त्वां घोरा लक्ष्मणसायकाः ।
अपवृत्तं जिघांसन्तो महावेगा दुरासदाः ॥ १९ ॥

'लक्ष्मणके बाण घोर, महान् वेगशाली और दुर्जय हैं । श्रीरामके कार्यसे विमुख होनेपर तुम्हें कदापि मारे बिना नहीं रहेंगे ॥ १९ ॥

अस्माभिस्तु गतं सार्धं विनीतवदुपस्थितम् ।
आनुपूर्व्यात्तु सुग्रीवो राज्ये त्वां स्थापयिष्यति ॥ २० ॥

'हमारे साथ चलकर जब तुम विनीत पुरुषकी भाँति उनकी सेवामें उपस्थित होगे, तब सुग्रीव क्रमशः अपने बाद तुम्हींको राज्यपर बिठायेंगे ॥ २० ॥

धर्मराजः पितृव्यस्ते प्रीतिकामो दृढव्रतः ।
शुचिः सत्यप्रतिज्ञश्च स त्वां जातु न नाशयेत् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे चाचा सुग्रीव धर्मके मार्गपर चलनेवाले राजा हैं । वे सदा तुम्हारी प्रसन्नता चाहनेवाले, दृढव्रत, पवित्र और सत्यप्रतिज्ञ हैं । अतः कदापि तुम्हारा नाश नहीं कर सकते ॥ २१ ॥

प्रियकामश्च ते मातुस्तदर्थं चास्य जीवितम् ।
तस्यापत्यं च नास्त्यन्यत् तस्मादङ्गद गम्यताम् ॥ २२ ॥

'अङ्गद ! उनके मनमें सदा तुम्हारी माताका प्रिय करनेकी इच्छा रहती है । उनकी प्रसन्नताके लिये ही वे जीवन धारण करते हैं । सुग्रीवके तुम्हारे सिवा कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है, इसलिये तुम्हें उनके पास चलना चाहिये' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

अङ्गदसहित वानरोंका प्रायोपवेशन

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं प्रश्रितं धर्मसंहितम् ।
स्वामिसत्कारसंयुक्तमङ्गदो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

हनुमान्जीका वचन विनययुक्त, धर्मानुकूल और स्वामीके प्रति सम्मानसे युक्त था । उसे सुनकर अङ्गदने कहा—॥ १ ॥

स्थैर्यमात्ममनःशौचमानृशंस्यमथार्जवम् ।
विक्रमश्चैव धैर्यं च सुग्रीवे नोपपद्यते ॥ २ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! राजा सुग्रीवमें स्थिरता, शरीर और मनकी पवित्रता, क्रूरताका अभाव, सरलता, पराक्रम और धैर्य है—यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती ॥ २ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम् ।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः ॥ ३ ॥
कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा दुरात्मना ।
युद्धायाभिनियुक्तेन बिलस्य पिहितं मुखम् ॥ ४ ॥

'जिसने अपने बड़े भाईके जीते-जी उनकी प्यारी महारानीको, जो धर्मतः उसकी माताके समान थी, कुत्सित भावनासे ग्रहण कर लिया था, वह धर्मको जानता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? जिस दुरात्माने युद्धके लिये जाते हुए भाईके द्वारा बिलकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त होनेपर भी पत्थरसे उसका मुँह बंद कर दिया, वह कैसे धर्मज्ञ माना जा सकता है ? ॥ ३-४ ॥

सत्यात् पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः ।
विस्मृतो राघवो येन स कस्य सुकृतं स्मरेत् ॥ ५ ॥

'जिन्होंने सत्यको साक्षी देकर उसका हाथ पकड़ा और पहले ही उसका कार्य सिद्ध कर दिया, उन महायशस्वी भगवान् श्रीरामको ही जब उसने भुला दिया; तब दूसरे किसके उपकारको वह याद रख सकता है ? ॥ ५ ॥

लक्ष्मणस्य भयेनेह नाधर्मभयभीरुणा ।
आदिष्टा मार्गितुं सीता धर्मस्तस्मिन् कथं भवेत् ॥ ६ ॥

'जिसने अधर्मके भयसे डरकर नहीं, लक्ष्मणके ही

भयसे भीत हो हमलोगोंको सीताकी खोजके लिये भेजा है, उसमें धर्मकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? ॥ ६ ॥

तस्मिन् पापे कृतघ्ने तु स्मृतिभिन्ने चलात्मनि ।
आर्यः को विश्वसेज्जातु तत्कुलीनो विशेषतः ॥ ७ ॥

'उस पापी, कृतघ्न, स्मरण-शक्तिसे हीन और चञ्चल-चित्त सुग्रीवपर कोई श्रेष्ठ पुरुष, विशेषतः जो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ हो, कभी भी किस तरह विश्वास कर सकता है ? ॥ ७ ॥

राज्ये पुत्रः प्रतिष्ठाप्यः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

'अपना पुत्र गुणवान् हो या गुणहीन, उसीको राज्यपर बिठाना चाहिये, ऐसी धारणा रखनेवाला सुग्रीव मुझ शत्रुकुलमें उत्पन्न हुए बालकको कैसे जीवित रहने देगा ? ॥ ८ ॥

भिन्नमन्त्रोऽपराद्धश्च भिन्नशक्तिः कथं ह्यहम् ।
किष्किन्धां प्राप्य जीवेयमनाथ इव दुर्बलः ॥ ९ ॥

'सुग्रीवसे अलग रहनेका जो मेरा गूढ़ विचार था, वह आज प्रकट हो गया । साथ ही, उसकी आज्ञाका पालन न करनेके कारण मैं अपराधी भी हूँ । इतना ही नहीं, मेरी शक्ति क्षीण हो गयी है । मैं अनाथके समान दुर्बल हूँ । ऐसी दशामें किष्किन्धामें जाकर कैसे जीवित रह सकूँगा ? ॥९॥

उपांशुदण्डेन हि मां बन्धनेनोपपादयेत् ।
शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणात् ॥ १० ॥

'सुग्रीव शठ, क्रूर और निर्दयी है । वह राज्यके लिये मुझे गुप्तरूपसे दण्ड देगा अथवा सदाके लिये मुझे बन्धनमें डाल देगा ॥ १० ॥

बन्धनाच्चावसादान्मे श्रेयः प्रायोपवेशनम् ।
अनुजानन्तु मां सर्वे गृहं गच्छन्तु वानराः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार बन्धनजनित कष्ट भोगनेकी अपेक्षा उपवास करके प्राण दे देना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है । अतः सब वानर मुझे यहीं रहनेकी आज्ञा दें और अपने-अपने घरको चले जायँ ॥ ११ ॥

अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे ॥ १२ ॥

'मैं आपलोगोंसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं किष्किन्धापुरीको नहीं जाऊँगा । यहीं मरणान्त उपवास करूँगा । मेरा मर जाना ही अच्छा है ॥ १२ ॥

अभिवादनपूर्वं तु राजा कुशलमेव च ।
अभिवादनपूर्वं तु राघवौ बलशालिनौ ॥ १३ ॥

'आपलोग राजा सुग्रीवको प्रणाम करके उनसे मेरा कुशल-समाचार कहियेगा । अपने बलके कारण शोभा पानेवाले दोनों रघुवंशी बन्धुओंसे भी मेरा सादर प्रणाम निवेदन करते हुए कुशल-समाचार कह दीजियेगा ॥ १३ ॥

वाच्यस्तातो यवीयान् मे सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
आरोग्यपूर्वं कुशलं वाच्या माता रुमा च मे ॥ १४ ॥

'मेरे छोटे पिता वानरराज सुग्रीव और माता रुमासे भी मेरा आरोग्यपूर्वक कुशल-समाचार बताइयेगा ॥ १४ ॥

मातरं चैव मे तारामाश्वासयितुमर्हथ ।
प्रकृत्या प्रियपुत्रा सा सानुक्रोशा तपस्विनी ॥ १५ ॥

'मेरी माता ताराको भी धैर्य बँधाइयेगा । वह बेचारी स्वभावसे ही दयालु और पुत्रपर प्रेम रखनेवाली है ॥ १५ ॥

विनष्टमिह मां श्रुत्वा व्यक्तं हास्यति जीवितम् ।
एतावदुक्त्वा वचनं वृद्धांस्तानभिवाद्य च ॥ १६ ॥
विवेश चाङ्गदो भूमौ रुदन् दर्भेषु दुर्मनाः ।

'यहाँ मेरे नष्ट होनेका समाचार सुनकर वह निश्चय ही अपने प्राण त्याग देगी ।' इतना कहकर अङ्गदने उन सभी बड़े-बूढ़े वानरोंको प्रणाम किया और धरतीपर कुश बिछाकर उदास मुँहसे रोते-रोते वे मरणान्त उपवासके लिये बैठ गये ॥ १६½ ॥

तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानरर्षभाः ॥ १७ ॥
नयनेभ्यः प्रमुमुचुरुष्णं वै वारि दुःखिताः ।
सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम् ॥ १८ ॥
परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवसन् प्रायमासितुम् ।

उनके इस प्रकार बैठनेपर सभी श्रेष्ठ वानर रोने लगे और दुखी हो नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाने लगे । सुग्रीवकी निन्दा और वालीकी प्रशंसा करते हुए उन सबने अङ्गदको सब ओरसे घेरकर आमरण उपवास करनेका निश्चय किया ॥ १७-१८½ ॥

तद् वाक्यं वालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्षभाः ॥ १९ ॥
उपस्पृश्योदकं सर्वे प्राङ्मुखाः समुपाविशन् ।
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः ॥ २० ॥
मुमूर्षवो हरिश्रेष्ठा एतत् क्षममिति स्म ह ।

वालिकुमारके वचनोंपर विचार करके उन वानर-शिरोमणियोंने मरना ही उचित समझा और मृत्युकी इच्छासे आचमन करके समुद्रके उत्तर तटपर दक्षिणाग्र कुश बिछाकर वे सब-के-सब पूर्वाभिमुख हो बैठ गये ॥ १९-२०½ ॥

रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च ॥ २१ ॥
जनस्थानवधं चैव वधं चैव जटायुषः ।
हरणं चैव वैदेह्या वालिनश्च वधं तथा ।
रामकोपं च वदतां हरीणां भयमागतम् ॥ २२ ॥

'श्रीरामके वनवास, राजा दशरथकी मृत्यु, जनस्थानवासी राक्षसोंके संहार, विदेहकुमारी सीताके अपहरण, जटायुके मरण, वालीके वध और श्रीरामके क्रोधकी चर्चा करते हुए

उन वानरोंपर एक दूसरा ही भय आ पहुँचा ॥ २१-२२ ॥

स संविशद्भिर्बहुभिर्महीधरो
महाद्रिकूटप्रतिमैः प्लवंगमैः ।
बभूव संनादितनिर्दरान्तरो
भृशं नदद्भिर्जलदैरिवाम्बरम् ॥ २३ ॥

महान् पर्वत-शिखरोंके समान शरीरवाले वहाँ बैठे हुए बहुसंख्यक वानर भयके मारे जोर-जोरसे शब्द करने लगे, जिससे उस पर्वतकी कन्दराओंका भीतरी भाग प्रतिध्वनित हो उठा और गर्जते हुए मेघोंसे युक्त आकाशके समान प्रतीत होने लगा ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

सम्पातिसे वानरोंको भय, उनके मुखसे जटायुके वधकी बात सुनकर सम्पातिका दुखी होना और अपनेको नीचे उतारनेके लिये वानरोंसे अनुरोध करना

उपविष्टास्तु ते सर्वे यस्मिन् प्रायं गिरिस्थले ।
हरयो गृध्रराजश्च तं देशमुपचक्रमे ॥ १ ॥
सम्पातिर्नाम नाम्ना तु चिरजीवी विहंगमः ।
भ्राता जटायुषः श्रीमान् विख्यातबलपौरुषः ॥ २ ॥

पर्वतके जिस स्थानपर वे सब वानर आमरण उपवासके लिये बैठे थे, उस प्रदेशमें चिरंजीवी पक्षी श्रीमान् गृध्रराज सम्पाति आये । वे जटायुके भाई थे और अपने बल तथा पुरुषार्थके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे ॥ १-२ ॥

कन्दरादभिनिष्क्रम्य स विन्ध्यस्य महागिरेः ।
उपविष्टान् हरीन् दृष्ट्वा हृष्टात्मा गिरमब्रवीत् ॥ ३ ॥

महागिरि विन्ध्यकी कन्दरासे निकलकर सम्पातिने जब वहाँ बैठे हुए वानरोंको देखा, तब उनका हृदय हर्षसे खिल उठा और वे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते ।
यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः ॥ ४ ॥
परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।
उवाचैतद् वचः पक्षी तान् निरीक्ष्य प्लवंगमान् ॥ ५ ॥

'जैसे लोकमें पूर्वजन्मके कर्मानुसार मनुष्यको उसके कियेका फल स्वतः प्राप्त होता है, उसी प्रकार आज दीर्घकालके पश्चात् यह भोजन स्वतः मेरे लिये प्राप्त हो गया । अवश्य ही यह मेरे किसी कर्मका फल है । इन वानरोंमेंसे जो-जो मरता जायगा, उसको मैं क्रमशः भक्षण करता जाऊँगा' यह बात उस पक्षीने उन सब वानरोंको देखकर कहा ॥ ४-५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भक्ष्यलुब्धस्य पक्षिणः ।
अङ्गदः परमायस्तो हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

भोजनपर लुभाये हुए उस पक्षीका यह वचन सुनकर अङ्गदको बड़ा दुःख हुआ और वे हनुमान्‌जीसे बोले—॥ ६ ॥

पश्य सीतापदेशेन साक्षाद् वैवस्वतो यमः ।
इमं देशमनुप्राप्तो वानराणां विपत्तये ॥ ७ ॥

'देखिये, सीताके निमित्तसे वानरोंको विपत्तिमें डालनेके लिये साक्षात् सूर्यपुत्र यम इस देशमें आ पहुँचे ॥ ७ ॥

रामस्य न कृतं कार्यं न कृतं राजशासनम् ।
हरीणामियमज्ञाता विपत्तिः सहसाऽऽगता ॥ ८ ॥

'हमलोगोंने न तो श्रीरामचन्द्रजीका कार्य किया और न राजाकी आज्ञाका पालन ही । इसी बीच वानरोंपर यह सहसा अज्ञात विपत्ति आ पड़ी ॥ ८ ॥

वैदेह्याः प्रियकामेन कृतं कर्म जटायुषा ।
गृध्रराजेन यत् तत्र श्रुतं वस्तदशेषतः ॥ ९ ॥

'विदेहकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे गृध्रराज जटायुने जो साहसपूर्ण कार्य किया था, वह सब आपलोगोंने सुना ही होगा ॥ ९ ॥

तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।
प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान् यथा वयम्॥

'समस्त प्राणी, वे पशु-पक्षियोंकी योनिमें ही क्यों न उत्पन्न हुए हों, हमारी तरह प्राण देकर भी श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय कार्य करते हैं ॥ १० ॥

अन्योन्यमुपकुर्वन्ति स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
ततस्तस्योपकारार्थं त्यजतात्मानमात्मना ॥ ११ ॥

'शिष्ट पुरुष स्नेह और करुणाके वशीभूत हो एक दूसरेका उपकार करते हैं, अतः आपलोग भी श्रीरामके उपकारके लिये स्वयं ही अपने शरीरका परित्याग करें ॥ ११ ॥

प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा ।
राघवार्थे परिश्रान्ता वयं संत्यक्तजीविताः ॥ १२ ॥
कान्ताराणि प्रपन्नाः स्म न च पश्याम मैथिलीम् ।

'धर्मज्ञ जटायुने ही श्रीरामका प्रिय किया है । हमलोग श्रीरघुनाथजीके लिये अपने जीवनका मोह छोड़कर परिश्रम करते हुए इस दुर्गम वनमें आये, किंतु मिथिलेशकुमारीका दर्शन न कर सके ॥ १२½ ॥

स सुखी गृध्रराजस्तु रावणेन हतो रणे ।

मुक्तश्च सुग्रीवभयाद् गतश्च परमां गतिम् ॥ १३ ॥

'गृध्रराज जटायु ही सुखी हैं, जो युद्धमें रावणके हाथसे मारे गये और परमगतिको प्राप्त हुए। वे सुग्रीवके भयसे मुक्त हैं ॥ १३ ॥

जटायुषो विनाशेन राज्ञो दशरथस्य च ।
हरणेन च वैदेह्याः संशयं हरयो गताः ॥ १४ ॥

'राजा दशरथकी मृत्यु, जटायुका विनाश और विदेहकुमारी सीताका अपहरण—इन घटनाओंसे इस समय वानरोंका जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ १४ ॥

रामलक्ष्मणयोर्वासमरण्ये सह सीतया ।
राघवस्य च बाणेन वालिनश्च तथा वधः ॥ १५ ॥
रामकोपादशेषाणां रक्षसां च तथा वधम् ।
कैकेय्या वरदानेन इदं च विकृतं कृतम् ॥ १६ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मणको सीताके साथ वनमें निवास करना पड़ा, श्रीरघुनाथजीके बाणसे वालीका वध हुआ और अब श्रीरामके कोपसे समस्त राक्षसोंका संहार होगा—ये सारी बुराइयाँ कैकेयीको दिये गये वरदानसे ही पैदा हुई हैं' ॥ १५-१६ ॥

तदसुखमनुकीर्तितं वचो
भुवि पतितांश्च निरीक्ष्य वानरान् ।
भृशचकितमतिर्महामतिः
कृपणमुदाहृतवान् स गृध्रराजः ॥ १७ ॥

वानरोंके द्वारा बारंबार कहे गये इन दुःखमय वचनोंको सुनकर और उन सबको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देखकर परम बुद्धिमान् सम्पातिका हृदय अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा और वे दीन वाणीमें बोलनेको उद्यत हुए ॥ १७ ॥

तत् तु श्रुत्वा तथा वाक्यमङ्गदस्य मुखोद्गतम् ।
अब्रवीद् वचनं गृध्रस्तीक्ष्णतुण्डो महास्वनः ॥ १८ ॥

अङ्गदके मुखसे निकले हुए उस वचनको सुनकर तीखी चोंचवाले उस गीधने उच्चस्वरसे इस प्रकार पूछा— ॥ १८ ॥

कोऽयं गिरा घोषयति प्राणैः प्रियतरस्य मे ।
जटायुषो वधं भ्रातुः कम्पयन्निव मे मनः ॥ १९ ॥

'यह कौन है, जो मेरे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय भाई जटायुके वधकी बात कह रहा है। इसे सुनकर मेरा हृदय कम्पित-सा होने लगा है ॥ १९ ॥

कथमासीज्जनस्थाने युद्धं राक्षसगृध्रयोः ।
नामधेयमिदं भ्रातुश्चिरस्याद्य मया श्रुतम् ॥ २० ॥

'जनस्थानमें राक्षसका गृध्रके साथ किस प्रकार युद्ध हुआ था? अपने भाईका प्यारा नाम आज बहुत दिनोंके बाद मेरे कानमें पड़ा है ॥ २० ॥

इच्छेयं गिरिदुर्गाच्च भवद्भिरवतारितुम् ।
यवीयसो गुणज्ञस्य श्लाघनीयस्य विक्रमैः ॥ २१ ॥
अतिदीर्घस्य कालस्य परितुष्टोऽस्मि कीर्तनात् ।
तदिच्छेयमहं श्रोतुं विनाशं वानरर्षभाः ॥ २२ ॥

'जटायु मुझसे छोटा, गुणज्ञ और पराक्रमके कारण अत्यन्त प्रशंसाके योग्य था। दीर्घकालके पश्चात् आज उसका नाम सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। चाहता हूँ कि पर्वतके इस दुर्गम स्थानसे आपलोग मुझे नीचे उतार दें। श्रेष्ठ वानरो! मुझे अपने भाईके विनाशका वृत्तान्त सुननेकी इच्छा है ॥ २१-२२ ॥

भ्रातुर्जटायुषस्तस्य जनस्थाननिवासिनः ।
तस्यैव च मम भ्रातुः सखा दशरथः कथम् ॥ २३ ॥
यस्य रामः प्रियः पुत्रो ज्येष्ठो गुरुजनप्रियः ।

'मेरा भाई जटायु तो जनस्थानमें रहता था। गुरुजनोंके प्रेमी श्रीरामचन्द्रजी जिनके ज्येष्ठ एवं प्रिय पुत्र हैं, वे महाराज दशरथ मेरे भाईके मित्र कैसे हुए? ॥ २३½ ॥

सूर्यांशुदग्धपक्षत्वान्न शक्नोमि विसर्पितुम् ।
इच्छेयं पर्वतादस्मादवतर्तुमरिंदमाः ॥ २४ ॥

'शत्रुदमन वीरो! मेरे पंख सूर्यकी किरणोंसे जल गये हैं, इसलिये मैं उड़ नहीं सकता; किंतु इस पर्वतसे नीचे उतरना चाहता हूँ' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

अङ्गदका सम्पातिको पर्वत-शिखरसे नीचे उतारकर उन्हें जटायुके मारे जानेका वृत्तान्त बताना तथा राम-सुग्रीवकी मित्रता एवं वालिवधका प्रसंग सुनाकर अपने आमरण उपवासका कारण निवेदन करना

शोकाद् भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा वानरयूथपाः ।
श्रद्दधुर्नैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः ॥ १ ॥

शोकके कारण सम्पातिका स्वर विकृत हो गया था। उनकी कही हुई बात सुनकर भी वानर-यूथपतियोंने उसपर विश्वास नहीं किया; क्योंकि वे उनके कर्मसे शङ्कित थे ॥ १ ॥

ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवंगमाः ।

चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान् नो भक्षयिष्यति ॥ २ ॥

आमरण उपवासके लिये बैठे हुए उन वानरोंने उस समय गीधको देखकर यह भयंकर बात सोची, 'यह हम सबको खा तो नहीं जायगा ?' ॥ २ ॥

सर्वथा प्रायमासीनान् यदि नो भक्षयिष्यति ।
कृतकृत्या भविष्यामः क्षिप्रं सिद्धिमितो गताः ॥ ३ ॥

'अच्छा, हम तो सब प्रकारसे मरणान्त उपवासका व्रत लेकर बैठे ही थे। यदि यह पक्षी हमें खा लेगा तो हमारा काम ही बन जायगा। हमें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जायगी' ॥ ३ ॥

एतां बुद्धिं ततश्चक्रुः सर्वे ते हरियूथपाः ।
अवतार्य गिरेः शृङ्गाद् गृध्रमाहाङ्गदस्तदा ॥ ४ ॥

फिर तो उन समस्त वानर-यूथपतियोंने यही निश्चय किया। उस समय गीधको उस पर्वत-शिखरसे उतारकर अङ्गदने कहा— ॥ ४ ॥

बभूवर्क्षरजो नाम वानरेन्द्रः प्रतापवान् ।
ममार्यः पार्थिवः पक्षिन् धार्मिकौ तस्य चात्मजौ ॥ ५ ॥
सुग्रीवश्चैव वाली च पुत्रौ घनबलावुभौ ।
लोके विश्रुतकर्माभूद् राजा वाली पिता मम ॥ ६ ॥

'पक्षिराज! पहले एक प्रतापी वानरराज हो गये हैं, जिनका नाम था ऋक्षरजा। राजा ऋक्षरजा मेरे पितामह लगते थे। उनके दो धर्मात्मा पुत्र हुए— सुग्रीव और वाली। दोनों ही बड़े बलवान् हुए। उनमेंसे राजा वाली मेरे पिता थे। संसारमें अपने पराक्रमके कारण उनकी बड़ी ख्याति थी ॥ ५-६ ॥

राजा कृत्स्नस्य जगत इक्ष्वाकूणां महारथः ।
रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ७ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या सह भार्यया ।
पितुर्निदेशनिरतो धर्म्यं पन्थानमाश्रितः ॥ ८ ॥

'आजसे कुछ वर्ष पहले इक्ष्वाकुवंशके महारथी वीर दशरथकुमार श्रीमान् रामचन्द्रजी, जो सम्पूर्ण जगत्‌के राजा हैं, पिताकी आज्ञाके पालनमें तत्पर हो धर्म-मार्गका आश्रय ले दण्डकारण्यमें आये थे। उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण तथा उनकी धर्मपत्नी विदेहकुमारी सीता भी थीं ॥ ७-८ ॥

तस्य भार्या जनस्थानाद् रावणेन हृता बलात् ।
रामस्य तु पितुर्मित्रं जटायुर्नाम गृध्रराट् ॥ ९ ॥
ददर्श सीतां वैदेहीं ह्रियमाणां विहायसा ।
रावणं विरथं कृत्वा स्थापयित्वा च मैथिलीम् ।
परिश्रान्तश्च वृद्धश्च रावणेन हतो रणे ॥ १० ॥

'जनस्थानमें आनेपर उनकी पत्नी सीताको रावणने बलपूर्वक हर लिया। उस समय गृध्रराज जटायुने, जो उनके पिताके मित्र थे, देखा—रावण आकाशमार्गसे विदेहकुमारीको लिये जा रहा है। देखते ही वे रावणपर टूट पड़े और उसके रथको नष्ट-भ्रष्ट करके उन्होंने मिथिलेशकुमारीको सुरक्षित-रूपसे भूमिपर खड़ा कर दिया। किंतु वे वृद्ध तो थे ही! युद्ध करते-करते थक गये और अन्ततोगत्वा रणक्षेत्रमें रावणके हाथसे मारे गये ॥ ९-१० ॥

एवं गृध्रो हतस्तेन रावणेन बलीयसा ।
संस्कृतश्चापि रामेण जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ११ ॥

'इस प्रकार महाबली रावणके द्वारा जटायुका वध हुआ। स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने उनका दाह-संस्कार किया और वे उत्तम गति (साकेतधाम) को प्राप्त हुए ॥ ११ ॥

ततो मम पितृव्येण सुग्रीवेण महात्मना ।
चकार राघवः सख्यं सोऽवधीत् पितरं मम ॥ १२ ॥

'तदनन्तर श्रीरघुनाथजीने मेरे चाचा महात्मा सुग्रीवसे मित्रता की और उनके कहनेसे उन्होंने मेरे पिताका वध कर दिया ॥ १२ ॥

मम पित्रा निरुद्धो हि सुग्रीवः सचिवैः सह ।
निहत्य वालिनं रामस्ततस्तमभिषेचयत् ॥ १३ ॥

'मेरे पिताने मन्त्रियोंसहित सुग्रीवको राज्य-सुखसे वञ्चित कर दिया था। इसलिये श्रीरामचन्द्रजीने मेरे पिता वालीको मारकर सुग्रीवका अभिषेक करवाया ॥ १३ ॥

स राज्ये स्थापितस्तेन सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
राजा वानरमुख्यानां तेन प्रस्थापिता वयम् ॥ १४ ॥

'उन्होंने ही सुग्रीवको वालीके राज्यपर स्थापित किया। अब सुग्रीव वानरोंके स्वामी हैं। मुख्य-मुख्य वानरोंके भी राजा हैं। उन्होंने हमें सीताकी खोजके लिये भेजा है ॥ १४ ॥

एवं रामप्रयुक्तास्तु मार्गमाणास्ततस्ततः ।
वैदेहीं नाधिगच्छामो रात्रौ सूर्यप्रभामिव ॥ १५ ॥

'इस तरह श्रीरामसे प्रेरित होकर हमलोग इधर-उधर विदेहकुमारी सीताको खोजते-फिरते हैं, किंतु अबतक उनका पता नहीं लगा। जैसे रातमें सूर्यकी प्रभाका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार हमें इस वनमें जानकीका दर्शन नहीं हुआ ॥ १५ ॥

ते वयं दण्डकारण्यं विचित्य सुसमाहिताः ।
अज्ञानात् तु प्रविष्टाः स्म धरण्या विवृतं बिलम् ॥ १६ ॥

'हमलोग अपने मनको एकाग्र करके दण्डकारण्यमें भलीभाँति खोज करते हुए अज्ञानवश पृथ्वीके एक खुले हुए विवरमें घुस गये ॥ १६ ॥

मयस्य मायाविहितं तद् बिलं च विचिन्वताम् ।
व्यतीतस्तत्र नो मासो यो राज्ञा समयः कृतः ॥ १७ ॥

'वह विवर मयासुरकी मायासे निर्मित हुआ है। उसमें खोजते-खोजते हमारा एक मास बीत गया, जिसे राजा सुग्रीवने हमारे लौटनेके लिये अवधि निश्चित किया था ॥ १७ ॥

ते वयं कपिराजस्य सर्वे वचनकारिणः।
कृतां संस्थामतिक्रान्ता भयात् प्रायमुपासिताः॥ १८॥

'हम सब लोग कपिराज सुग्रीवके आज्ञाकारी हैं, किंतु उनके द्वारा नियत की हुई अवधिको लाँघ गये हैं। अतः उन्हींके भयसे हम यहाँ आमरण उपवास कर रहे हैं॥ १८॥

क्रुद्धे तस्मिंस्तु काकुत्स्थे सुग्रीवे च सलक्ष्मणे।
गतानामपि सर्वेषां तत्र नो नास्ति जीवितम्॥ १९॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीव तीनों हमपर कुपित होंगे। उस दशामें वहाँ लौट जानेके बाद भी हम सबके प्राण नहीं बच सकते'॥ १९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः॥ ५७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५७॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

सम्पातिका अपने पंख जलनेकी कथा सुनाना, सीता और रावणका पता बताना तथा वानरोंकी सहायतासे समुद्र-तटपर जाकर भाईको जलाञ्जलि देना

इत्युक्तः करुणं वाक्यं वानरैस्त्यक्तजीवितैः।
सबाष्पो वानरान् गृध्रः प्रत्युवाच महास्वनः॥ १॥

जीवनकी आशा त्यागकर बैठे हुए वानरोंके मुखसे यह करुणाजनक बात सुनकर सम्पातिके नेत्रोंमें आँसू आ गये। उन्होंने उच्चस्वरसे उत्तर दिया॥ १॥

यवीयान् स मम भ्राता जटायुर्नाम वानराः।
यमाख्यात हतं युद्धे रावणेन बलीयसा॥ २॥

'वानरो! तुम जिसे महाबली रावणके द्वारा युद्धमें मारा गया बता रहे हो, वह जटायु मेरा छोटा भाई था॥ २॥

वृद्धभावादपक्षत्वाच्छृण्वंस्तदपि मर्षये।
नहि मे शक्तिरस्त्यद्य भ्रातुर्वैरविमोक्षणे॥ ३॥

'मैं बूढ़ा हुआ। मेरे पंख जल गये। इसलिये अब मुझमें अपने भाईके वैरका बदला लेनेकी शक्ति नहीं रह गयी है। यही कारण है कि यह अप्रिय बात सुनकर भी मैं चुपचाप सहे लेता हूँ॥ ३॥

पुरा वृत्रवधे वृत्ते स चाहं च जयैषिणौ।
आदित्यमुपयातौ स्वो ज्वलन्तं रश्मिमालिनम्॥ ४॥
आवृत्याकाशमार्गेण जवेन स्वर्गतौ भृशम्।
मध्यं प्राप्ते तु सूर्ये तु जटायुरवसीदति॥ ५॥

'पहलेकी बात है जब इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरका वध हो गया, तब इन्द्रको प्रबल जानकर हम दोनों भाई उन्हें जीतनेकी इच्छासे पहले आकाशमार्गके द्वारा बड़े वेगसे स्वर्गलोकमें गये। इन्द्रको जीतकर लौटते समय हम दोनों ही स्वर्गको प्रकाशित करनेवाले अंशुमाली सूर्यके पास आये। हममेंसे जटायु सूर्यके मध्याह्नकालमें उनके तेजसे शिथिल होने लगा॥ ४-५॥

तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्यरश्मिभिरर्दितम्।
पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात् परमविह्वलम्॥ ६॥

'भाईको सूर्यकी किरणोंसे पीड़ित और अत्यन्त व्याकुल देख मैंने स्नेहवश अपने दोनों पंखोंसे उसे ढक लिया॥ ६॥

निर्दग्धपत्रः पतितो विन्ध्येऽहं वानरर्षभाः।
अहमस्मिन् वसन् भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये॥ ७॥

'वानरशिरोमणियो! उस समय मेरे दोनों पंख जल गये और मैं इस विन्ध्य पर्वतपर गिर पड़ा। यहाँ रहकर मैं कभी अपने भाईका समाचार न पा सका (आज पहले-पहल तुम लोगोंके मुखसे उसके मारे जानेकी बात मालूम हुई)'॥ ७॥

जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्रात्रा सम्पातिना तदा।
युवराजो महाप्राज्ञः प्रत्युवाचाङ्गदस्तदा॥ ८॥

जटायुके भाई सम्पातिके उस समय ऐसा कहनेपर परम बुद्धिमान् युवराज अङ्गदने उनसे इस प्रकार कहा—॥ ८॥

जटायुषो यदि भ्राता श्रुतं ते गदितं मया।
आख्याहि यदि जानासि निलयं तस्य रक्षसः॥ ९॥

'गृध्रराज! यदि आप जटायुके भाई हैं, यदि आपने मेरी कही हुई बातें सुनी हैं और यदि आप उस राक्षसका निवासस्थान जानते हैं तो हमें बताइये॥ ९॥

अदीर्घदर्शिनं तं वै रावणं राक्षसाधमम्।
अन्तिके यदि वा दूरे यदि जानासि शंस नः॥ १०॥

'वह अदूरदर्शी नीच राक्षस रावण यहाँसे निकट हो या दूर यदि आप जानते हैं तो हमें उसका पता बता दें'॥ १०॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा भ्राता ज्येष्ठो जटायुषः।
आत्मानुरूपं वचनं वानरान् सम्प्रहर्षयन्॥ ११॥

तब जटायुके बड़े भाई महातेजस्वी सम्पातिने वानरोंका हर्ष बढ़ाते हुए अपने अनुरूप बात कही—॥ ११॥

निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं गतवीर्यः प्लवङ्गमाः।
वाङ्मात्रेण तु रामस्य करिष्ये साह्यमुत्तमम्॥ १२॥

'वानरो! मेरे पंख जल गये। अब मैं बे परका गीध हूँ। मेरी शक्ति जाती रही (अतः मैं शरीरसे तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता, तथापि) वचनमात्रसे भगवान् श्रीरामकी उत्तम सहायता अवश्य करूँगा॥ १२॥

जानामि वारुणाँल्लोकान् विष्णोस्त्रैविक्रमानपि ।
देवासुरविमर्दांश्च ह्यमृतस्य विमन्थनम् ॥ १३ ॥

'मैं वरुणके लोकोंको जानता हूँ । वामनावतारके समय भगवान् विष्णुने जहाँ-जहाँ अपने तीन पग रक्खे थे, उन स्थानोंका भी मुझे ज्ञान है । अमृत-मन्थन तथा देवासुर-संग्राम भी मेरी देखी और जानी हुई घटनाएँ हैं ॥ १३ ॥

रामस्य यदिदं कार्यं कर्तव्यं प्रथमं मया ।
जरया च हृतं तेजः प्राणाश्च शिथिला मम ॥ १४ ॥

'यद्यपि वृद्धावस्थाने मेरा तेज हर लिया है और मेरी प्राणशक्ति शिथिल हो गयी है तथापि श्रीरामचन्द्रजीका यह कार्य मुझे सबसे पहले करना है ॥ १४ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन दुरात्मना ॥ १५ ॥

'एक दिन मैंने भी देखा, दुरात्मा रावण सब प्रकारके गहनोंसे सजी हुई एक रूपवती युवतीको हरकर लिये जा रहा था ॥ १५ ॥

क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी ।
भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधुन्वती ॥ १६ ॥

'वह मानिनी देवी 'हा राम ! हा राम ! हा लक्ष्मण' की रट लगाती हुई अपने गहने फेंकती और अपने शरीरके अवयवोंको कम्पित करती हुई छटपटा रही थी ॥ १६ ॥

सूर्यप्रभेव शैलाग्रे यस्याः कौशेयमुत्तमम् ।
असिते राक्षसे भाति यथा वा तडिदम्बुदे ॥ १७ ॥

'उसका सुन्दर रेशमी पीताम्बर उदयाचलके शिखरपर फैली हुई सूर्यकी प्रभाके समान सुशोभित होता था । वह उस काले राक्षसके समीप बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ १७ ॥

तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात् ।
श्रूयतां मे कथयतो निलयं तस्य रक्षसः ॥ १८ ॥

'श्रीरामका नाम लेनेसे मैं समझता हूँ, वह सीता ही थी । अब मैं उस राक्षसके घरका पता बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च ।
अध्यास्ते नगरीं लङ्कां रावणो नाम राक्षसः ॥ १९ ॥

'रावण नामक राक्षस महर्षि विश्रवाका पुत्र और साक्षात् कुबेरका भाई है । वह लङ्का नामवाली नगरीमें निवास करता है ॥ १९ ॥

इतो द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने ।
तस्मिँल्लङ्का पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ २० ॥

'यहाँसे पूरे चार सौ कोसके अन्तरपर समुद्रमें एक द्वीप है, जहाँ विश्वकर्माने अत्यन्त रमणीय लङ्कापुरीका निर्माण किया है ॥ २० ॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैश्चित्रैः काञ्चनवेदिकैः ।
प्रासादैर्हेमवर्णैश्च महद्भिः सुसमाकृता ॥ २१ ॥

'उसके विचित्र दरवाजे और बड़े-बड़े महल सुवर्णके बने हुए हैं । उनके भीतर सोनेके चबूतरे या वेदियाँ हैं ॥ २१ ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन महता च समन्विता ।
तस्यां वसति वैदेही दीना कौशेयवासिनी ॥ २२ ॥

'उस नगरीकी चहारदीवारी बहुत बड़ी है और सूर्यकी भाँति चमकती रहती है । उसीके भीतर पीले रंगकी रेशमी साड़ी पहने विदेहकुमारी सीता बड़े दुःखसे निवास करती हैं ॥ २२ ॥

रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः सुरक्षिता ।
जनकस्यात्मजां राजस्तस्यां द्रक्ष्यथ मैथिलीम् ॥ २३ ॥

'रावणके अन्तःपुरमें नजरबंद हैं । बहुत-सी राक्षसियाँ उनके पहरेपर तैनात हैं । वहाँ पहुँचनेपर तुमलोग राजा जनककी कन्या मैथिली सीताको देख सकोगे ॥ २३ ॥

लङ्कायामथ गुप्तायां सागरेण समन्ततः ।
सम्प्राप्य सागरस्यान्तं सम्पूर्णं शतयोजनम् ॥ २४ ॥
आसाद्य दक्षिणं तीरं ततो द्रक्ष्यथ रावणम् ।
तत्रैव त्वरिताः क्षिप्रं विक्रमध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २५ ॥

'लङ्का चारों ओरसे समुद्रके द्वारा सुरक्षित है । पूरे सौ योजन समुद्रको पार करके उसके दक्षिण तटपर पहुँचनेपर तुमलोग रावणको देख सकोगे । अतः वानरो ! समुद्रको पार करनेमें ही तुरंत शीघ्रतापूर्वक अपने पराक्रमका परिचय दो ॥ २४-२५ ॥

ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ ।
आद्यः पन्थाः कुलिङ्गानां ये चान्ये धान्यजीविनः ॥ २६ ॥

'निश्चय ही मैं ज्ञानदृष्टिसे देखता हूँ । तुमलोग सीताका दर्शन करके लौट आओगे । आकाशका पहला मार्ग गौरैयों तथा अन्न खानेवाले कबूतर आदि पक्षियोंका है ॥ २६ ॥

द्वितीयो बलिभोजानां ये च वृक्षफलाशनाः ।
भासास्तृतीयं गच्छन्ति क्रौञ्चाश्च कुररैः सह ॥ २७ ॥

'उससे ऊपरका दूसरा मार्ग कौओं तथा वृक्षोंके फल खाकर रहनेवाले दूसरे-दूसरे पक्षियोंका है । उससे भी ऊँचा जो आकाशका तीसरा मार्ग है, उससे चील, क्रौञ्च और कुरर आदि पक्षी जाते हैं ॥ २७ ॥

श्येनाश्चतुर्थं गच्छन्ति गृध्रा गच्छन्ति पञ्चमम् ।
बलवीर्योपपन्नानां रूपयौवनशालिनाम् ॥ २८ ॥
षष्ठस्तु पन्था हंसानां वैनतेयगतिः परा ।
वैनतेयाच्च नो जन्म सर्वेषां वानरर्षभाः ॥ २९ ॥

'बाज चौथे और गीध पाँचवें मार्गसे उड़ते हैं । रूप, बल और पराक्रमसे सम्पन्न तथा यौवनसे सुशोभित होनेवाले

हंसोंका छठा मार्ग है। उनसे भी ऊँची उड़ान गरुड़की है। वानरशिरोमणियो! हम सबका जन्म गरुड़से ही हुआ है ॥ २८-२९ ॥

गर्हितं तु कृतं कर्म येन स्म पिशिताशिनः।
प्रतिकार्यं च मे तस्य वैरं भ्रातृकृतं भवेत् ॥ ३० ॥

'परंतु पूर्वजन्ममें हमसे कोई निन्दित कर्म बन गया था, जिससे इस समय हमें मांसाहारी होना पड़ा है। तुमलोगोंकी सहायता करके मुझे रावणसे अपने भाईके वैरका बदला लेना है ॥ ३० ॥

इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा।
अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा ॥ ३१ ॥

'मैं यहींसे रावण और जानकीको देखता हूँ। हम लोगोंमें भी गरुड़की भाँति दूरतक देखनेकी दिव्य शक्ति है ॥

तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः।
आयोजनशतात् साग्रात् वयं पश्याम नित्यशः॥ ३२ ॥

'इसलिये वानरो! हम भोजनजनित बलसे तथा स्वाभाविक शक्तिसे भी सदा सौ योजन और उससे आगेतक भी देख सकते हैं ॥ ३२ ॥

अस्माकं विहिता वृत्तिर्निसर्गेण च दूरतः।
विहिता वृक्षमूले तु वृत्तिश्चरणयोधिनाम् ॥ ३३ ॥

'जातीय स्वभावके अनुसार हमलोगोंकी जीविका-वृत्ति दूरसे देखे गये दूरस्थ भक्ष्यविशेषके द्वारा नियत की गयी है तथा जो कुक्कुट आदि पक्षी हैं, उनकी जीवन-वृत्ति वृक्षकी जड़तक ही सीमित है—वे वहींतक उपलब्ध होनेवाली वस्तुसे जीवन निर्वाह करते हैं ॥ ३३ ॥

उपायो दृश्यतां कश्चिल्लङ्घने लवणाम्भसः।
अभिगम्य तु वैदेहीं समृद्धार्था गमिष्यथ ॥ ३४ ॥

'अब तुम इस खारे पानीके समुद्रको लाँघनेका कोई उपाय सोचो। विदेहकुमारी सीताके पास जा सफलमनोरथ होकर किष्किन्धापुरीको लौटोगे ॥ ३४ ॥

समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्भिर्वरुणालयम्।
प्रदास्याम्युदकं भ्रातुः स्वर्गतस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

'अब मैं तुम्हारी सहायतासे समुद्रके किनारे चलना चाहता हूँ। वहाँ अपने स्वर्गवासी भाई महात्मा जटायुको जलाञ्जलि प्रदान करूँगा' ॥ ३५ ॥

ततो नीत्वा तु तं देशं तीरे नदनदीपतेः।
निर्दग्धपक्षं सम्पातिं वानराः सुमहौजसः ॥ ३६ ॥
तं पुनः प्रापयित्वा च तं देशं पतगेश्वरम्।
बभूवुर्वानरा हृष्टाः प्रवृत्तिमुपलभ्य ते ॥ ३७ ॥

यह सुनकर महापराक्रमी वानरोंने जले पंखवाले पक्षिराज सम्पातिको उठाकर समुद्रके किनारे पहुँचा दिया और जलाञ्जलि देनेके पश्चात् वे पुनः उनको वहाँसे उठाकर उनके रहनेके स्थानपर ले आये। उनके मुखसे सीताका समाचार जानकर उन सभी वानरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६-३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका अपने पुत्र सुपार्श्वके मुखसे सुनी हुई सीता और रावणको देखनेकी घटनाका वृत्तान्त बताना

ततस्तदमृतास्वादं गृध्रराजेन भाषितम्।
निशम्य वदता हृष्टास्ते वचः प्लवगर्षभाः ॥ १ ॥

उस समय वार्तालाप करते हुए गृध्रराजके द्वारा कहे गये उस अमृतके समान स्वादिष्ट मधुर वचनको सुनकर सब वानरश्रेष्ठ हर्षसे खिल उठे ॥ १ ॥

जाम्बवान् वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्लवङ्गमैः।
भूतलात् सहसोत्थाय गृध्रराजानमब्रवीत् ॥ २ ॥

वानरों और भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान् सब वानरोंके साथ सहसा भूतलसे उठकर खड़े हो गये और गृध्रराजसे इस प्रकार पूछने लगे—॥ २ ॥

क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्।
तदाख्यातु भवान् सर्वं गतिर्भव वनौकसाम् ॥ ३ ॥

'पक्षिराज! सीता कहाँ हैं? किसने उन्हें देखा है? और कौन उन मिथिलेशकुमारीको हरकर ले गया है? ये सब बातें बताइये और हम सब वनवासी वानरोंके आश्रय-दाता होइये ॥ ३ ॥

को दाशरथिबाणानां वज्रवेगनिपातिनाम्।
स्वयं लक्ष्मणमुक्तानां न चिन्तयति विक्रमम् ॥ ४ ॥

'कौन ऐसा धृष्ट है, जो वज्रके समान वेगपूर्वक चोट करनेवाले दशरथनन्दन श्रीरामके बाणों तथा स्वयं लक्ष्मणके चलाये हुए सायकोंके पराक्रमको कुछ नहीं समझता है?'॥४॥

स हरीन् प्रतिसम्मुक्तान् सीताश्रुतिसमाहितान्।
पुनराश्वासयन् प्रीत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

उस समय उपवास छोड़कर बैठे और सीताजीका

वृत्तान्त सुननेके लिये एकाग्र हुए उन वानरोंको प्रसन्नतापूर्वक पुनः आश्वासन देते हुए सम्पातिने उनसे यह बात कही—॥ ५ ॥

श्रूयतामिह वैदेह्या यथा मे हरणं श्रुतम्।
येन चापि ममाख्यातं यत्र चायतलोचना॥ ६॥

'वानरो! विदेहकुमारी सीताका जिस प्रकार अपहरण हुआ है, विशाललोचना सीता इस समय जहाँ है और जिसने मुझसे यह सब वृत्तान्त कहा है एवं जिस तरह मैंने सुना है, वह सब बताता हूँ, सुनो॥ ६॥

अहमस्मिन् गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते।
चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः॥ ७॥

'यह दुर्गम पर्वत कई योजनोंतक फैला है। दीर्घकाल हुआ, जब मैं इस पर्वतपर गिरा था। मेरी प्राणशक्ति क्षीण हो गयी थी और मैं वृद्ध था॥ ७॥

तं मामेवंगतं पुत्रः सुपार्श्वो नाम नामतः।
आहारेण यथाकालं बिभर्ति पततां वरः॥ ८॥

'इस अवस्थामें मेरा पुत्र पक्षिप्रवर सुपार्श्व ही यथासमय आहार देकर प्रतिदिन मेरा भरण-पोषण करता है॥८॥

तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः।
मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम्॥ ९॥

'जैसे गन्धर्वोंका कामभाव तीव्र होता है, सर्पोंका क्रोध तेज होता है और मृगोंको भय अधिक होता है, उसी प्रकार हमारी जातिके लोगोंकी भूख बड़ी तीव्र होती है॥ ९॥

स कदाचित् क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः।
गतसूर्येऽहनि प्राप्तो मम पुत्रो ह्यनामिषः॥ १०॥

'एक दिनकी बात है—मैं भूखसे पीड़ित होकर आहार प्राप्त करना चाहता था। मेरा पुत्र मेरे लिये भोजनकी तलाशमें निकला था, किंतु सूर्यास्त होनेके बाद वह खाली हाथ लौट आया, उसे कहीं मांस नहीं मिला॥ १०॥

स मयाऽऽहारसंरोधात् पीडितः प्रीतिवर्धनः।
अनुमान्य यथातत्त्वमिदं वचनमब्रवीत्॥ ११॥

'भोजन न मिलनेसे मैंने कठोर बातें सुनाकर अपनी प्रीति बढ़ानेवाले उस पुत्रको बहुत पीड़ा दी, किंतु उसने नम्रतापूर्वक मुझे आदर देते हुए यह यथार्थ बात कही—॥

अहं तात यथाकालमामिषार्थी खमाप्लुतः।
महेन्द्रस्य गिरेर्द्वारमावृत्य सुसमाश्रितः॥ १२॥

'तात! मैं यथासमय मांस प्राप्त करनेकी इच्छासे आकाशमें उड़ा और महेन्द्र पर्वतके द्वारको रोककर खड़ा हो गया॥ १२॥

तत्र सत्त्वसहस्राणां सागरान्तरचारिणाम्।
पन्थानमेकोऽध्यवसं संनिरोद्धुमवाङ्मुखः॥ १३॥

'वहाँ अपनी चोंच नीची करके मैं समुद्रके भीतर विचरनेवाले सहस्रों जन्तुओंके मार्गको रोकनेके लिये अकेला ठहर गया॥ १३॥

तत्र कश्चिन्मया दृष्टः सूर्योदयसमप्रभाम्।
स्त्रियमादाय गच्छन् वै भिन्नाञ्जनचयोपमः॥ १४॥

'उस समय मैंने देखा खानसे काटकर निकाले हुए कोयलेकी राशिके समान काला कोई पुरुष एक स्त्रीको लेकर जा रहा है। उस स्त्रीकी कान्ति सूर्योदयकालकी प्रभाके समान प्रकाशित हो रही थी॥ १४॥

सोऽहमभ्यवहारार्थं तौ दृष्ट्वा कृतनिश्चयः।
तेन साम्ना विनीतेन पन्थानमनुयाचितः॥ १५॥

'उस स्त्री और उस पुरुषको देखकर मैंने उन्हें आपके आहारके लिये लानेका निश्चय किया, किंतु उस पुरुषने नम्रतापूर्वक मधुर वाणीमें मुझसे मार्गकी याचना की॥१५॥

नहि सामोपपन्नानां प्रहर्ता विद्यते भुवि।
नीचेष्वपि जनः कश्चित् किमङ्ग बत मद्विधः॥ १६॥

'पिताजी! भूतलपर नीच पुरुषोंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो विनयपूर्वक मीठे वचन बोलनेवालोंपर प्रहार करे। फिर मुझ-जैसा कुलीन पुरुष कैसे कर सकता है?॥ १६॥

स यातस्तेजसा व्योम संक्षिपन्निव वेगितः।
अथाहं खेचरैर्भूतैरभिगम्य सभाजितः॥ १७॥

'फिर तो वह तेजसे आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा वेगपूर्वक चला गया। उसके चले जानेपर आकाशचारी प्राणी सिद्ध-चारण आदिने आकर मेरा बड़ा सम्मान किया॥ १७॥

दिष्ट्या जीवति सीतेति ह्यब्रुवन् मां महर्षयः।
कथंचित् सकलत्रोऽसौ गतस्ते स्वस्त्यसंशयम्॥ १८॥

'वे महर्षि मुझसे बोले—'सौभाग्यकी बात है कि सीता जीवित हैं। तुम्हारी दृष्टि पड़नेपर भी स्त्रीके साथ आया हुआ वह पुरुष किसी तरह सकुशल बच गया; अतः अवश्य तुम्हारा कल्याण हो'॥ १८॥

एवमुक्तस्ततोऽहं तैः सिद्धैः परमशोभनैः।
स च मे रावणो राजा रक्षसां प्रतिवेदितः॥ १९॥

'उन परम शोभायमान सिद्ध पुरुषोंने मुझसे ऐसा कहा, तत्पश्चात् उन्होंने यह भी बताया कि 'वह काला पुरुष राक्षसोंका राजा रावण था'॥ १९॥

पश्यन् दाशरथेर्भार्यां रामस्य जनकात्मजाम्।
भ्रष्टाभरणकौशेयां शोकवेगपराजिताम्॥ २०॥
रामलक्ष्मणयोर्नाम क्रोशन्तीं मुक्तमूर्धजाम्।
एष कालात्ययस्तात इति वाक्यविदां वरः॥ २१॥
एतदर्थं समग्रं मे सुपार्श्वः प्रत्यवेदयत्।
तच्छ्रुत्वापि हि मे बुद्धिर्नासीत् काचित् पराक्रमे॥ २२॥

'तात ! दशरथनन्दन श्रीरामकी पत्नी जनककिशोरी सीता शोकके वेगसे पराजित हो गयी थीं । उनके आभूषण गिर रहे थे और रेशमी वस्त्र भी सिरसे खिसक गया था। उनके केश खुले हुए थे और वे श्रीराम तथा लक्ष्मणका नाम ले-लेकर उन्हें पुकार रही थीं । मैं उनकी इस दयनीय दशाको देखता रह गया। यही मेरे विलम्बसे आनेका कारण है ।' इस प्रकार बातचीतकी कला जाननेवालोंमें श्रेष्ठ सुपार्श्वने मेरे सामने इन सारी बातोंका वर्णन किया । यह सब सुनकर भी मेरे हृदयमें पराक्रम कर दिखानेका कोई विचार नहीं उठा ॥ २०–२२ ॥

अपक्षो हि कथं पक्षी कर्म किंचित् समारभेत् ।
यत् तु शक्यं मया कर्तुं वाग्बुद्धिगुणवर्तिना ॥ २३ ॥
श्रूयतां तत्र वक्ष्यामि भवतां पौरुषाश्रयम् ।

'बिना पंखका पक्षी कैसे कोई पराक्रम कर सकता है ? अपनी वाणी और बुद्धिके द्वारा साध्य जो उपकाररूप गुण है, उसे करना मेरा स्वभाव बन गया है। ऐसे स्वभावसे मैं जो कुछ कर सकता हूँ, वह कार्य तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो । वह कार्य तुमलोगोंके पुरुषार्थसे ही सिद्ध होनेवाला है ॥ २३½ ॥

वाङ्मतिभ्यां हि सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः॥ २४ ॥
यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः ।

'मैं वाणी और बुद्धिके द्वारा तुम सब लोगोंका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा, क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामका जो कार्य है, वह मेरा ही है—इसमें संशय नहीं है ॥ २४½ ॥

तद् भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥ २५ ॥
प्रहिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः ।

'तुमलोग भी उत्तम बुद्धिसे युक्त, बलवान्, मनस्वी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय हो । इसीलिये वानरराज सुग्रीवने तुम्हें इस कार्यके लिये भेजा है ॥ २५½ ॥

रामलक्ष्मणबाणाश्च विहिताः कङ्कपत्रिणः ॥ २६ ॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे ।

'श्रीराम और लक्ष्मणके कङ्कपत्रसे युक्त जो बाण हैं, वे साक्षात् विधाताके बनाये हुए हैं । वे तीनों लोकोंका संरक्षण और दमन करनेके लिये पर्याप्त शक्ति रखते हैं ॥ २६½॥

कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः ।
भवतां तु समर्थानां न किंचिदपि दुष्करम् ॥ २७ ॥

'तुम्हारा विपक्षी दशग्रीव रावण भले ही तेजस्वी और बलवान् है, किंतु तुम-जैसे सामर्थ्यशाली वीरोंके लिये उसे परास्त करना आदि कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है ॥ २७ ॥

तदलं कालसङ्गेन क्रियतां बुद्धिनिश्चयः ।
नहि कर्मसु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ २८ ॥

'अतः अब अधिक समय बितानेकी आवश्यकता नहीं है । अपनी बुद्धिके द्वारा दृढ़ निश्चय करके सीताके दर्शनके लिये उद्योग करो; क्योंकि तुम-जैसे बुद्धिमान् लोग कार्योंकी सिद्धिमें विलम्ब नहीं करते हैं' ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

सम्पातिकी आत्मकथा

ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः ।
उपविष्टा गिरौ रम्ये परिवार्य समन्ततः ॥ १ ॥

गृध्रराज सम्पाति अपने भाईको जलाञ्जलि देकर जब स्नान कर चुके, तब उस रमणीय पर्वतपर वे समस्त वानर-यूथपति उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ १ ॥

तमङ्गदमुपासीनं तैः सर्वैर्हरिभिर्वृतम् ।
जनितप्रत्ययो हर्षात् सम्पातिः पुनरब्रवीत् ॥ २ ॥

उन समस्त वानरोंसे घिरे हुए अङ्गद उनके पास बैठे थे । सम्पातिने सबके हृदयमें अपनी ओरसे विश्वास पैदा कर दिया था । वे हर्षोत्फुल्ल होकर फिर इस प्रकार कहने लगे—॥ २ ॥

कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम ।
तथ्यं संकीर्तयिष्यामि यथा जानामि मैथिलीम् ॥ ३ ॥

'सब वानर एकाग्रचित्त एवं मौन होकर मेरी बात सुनो । मैं मिथिलेशकुमारीको जिस प्रकार जानता हूँ, वह सारा प्रसङ्ग ठीक-ठीक बता रहा हूँ' ॥ ३ ॥

अस्य विन्ध्यस्य शिखरे पतितोऽस्मि पुरानघ ।
सूर्यतापपरीताङ्गो निर्दग्धः सूर्यरश्मिभिः ॥ ४ ॥

'निष्पाप अङ्गद ! प्राचीन कालमें मैं सूर्यकी किरणोंसे झुलसकर इस विन्ध्यपर्वतके शिखरपर गिरा था । उस समय मेरे सारे अङ्ग सूर्यके प्रचण्ड तापसे संतप्त हो रहे थे ॥ ४ ॥

लब्धसंज्ञस्तु षड्रात्राद् विवशो विह्वलन्निव ।
वीक्षमाणो दिशः सर्वा नाभिजानामि किंचन॥ ५ ॥

'छः रातें बीतनेपर जब मुझे होश हुआ और मैं विवश एवं विह्वल-सा होकर सम्पूर्ण दिशाओंको ओर देखने लगा, तब सहसा किसी भी वस्तुको मैं पहचान न सका ॥ ५ ॥

ततस्तु सागराञ्शैलान् नदीः सर्वाः सरांसि च ।
वनानि च प्रदेशांश्च निरीक्ष्य मतिरागता ॥ ६ ॥

'तदनन्तर धीरे-धीरे समुद्र, पर्वत, समस्त नदी, सरोवर, वन और यहाँके विभिन्न प्रदेशोंपर दृष्टि डाली, तब मेरी स्मरण-शक्ति लौटी ॥ ६ ॥

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरोदरकूटवान्।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः ॥ ७ ॥

'फिर मैंने निश्चय किया कि यह दक्षिण समुद्रके तटपर स्थित विन्ध्यपर्वत है, जो हर्षोत्फुल्ल विहंगमोंके समुदायसे व्याप्त है। यहाँ बहुत-सी कन्दराएँ, गुफाएँ और शिखर हैं ॥ ७ ॥

आसीच्चात्राश्रमं पुण्यं सुरैरपि सुपूजितम्।
ऋषिर्निशाकरो नाम यस्मिन्नुग्रतपाऽभवत् ॥ ८ ॥

'पूर्वकालमें यहाँ एक पवित्र आश्रम था, जिसका देवता भी बड़ा सम्मान करते थे। उस आश्रममें निशाकर (चन्द्रमा) नामधारी एक ऋषि रहते थे, जो बड़े ही उग्र तपस्वी थे ॥ ८ ॥

अष्टौ वर्षसहस्राणि तेनास्मिन्नृषिणा गिरौ।
वसतो मम धर्मज्ञे स्वर्गते तु निशाकरे ॥ ९ ॥

'वे धर्मज्ञ निशाकर मुनि अब स्वर्गवासी हो चुके हैं। उन महर्षिके बिना इस पर्वतपर रहते हुए मेरे आठ हजार वर्ष बीत गये ॥ ९ ॥

अवतीर्य च विन्ध्याग्रात् कृच्छ्रेण विषमाच्छनैः।
तीक्ष्णदर्भां वसुमतीं दुःखेन पुनरागतः ॥ १० ॥

'होशमें आनेके बाद मैं इस पर्वतके नीचे-ऊँचे शिखरसे धीरे-धीरे बड़े कष्टके साथ भूमिपर उतरा, उस समय ऐसे स्थानपर आ पहुँचा, जहाँ तीखे कुश उगे हुए थे। फिर वहाँसे भी कष्ट सहन करता हुआ आगे बढ़ा ॥ १० ॥

तमृषिं द्रष्टुकामोऽस्मि दुःखेनाभ्यागतो भृशम्।
जटायुषा मया चैव बहुशोऽधिगतो हि सः ॥ ११ ॥

मैं उन महर्षिका दर्शन करना चाहता था, इसीलिये अत्यन्त कष्ट उठाकर वहाँ गया था। इसके पहले मैं और जटायु दोनों कई बार उनसे मिल चुके थे ॥ ११ ॥

तस्याश्रमपदाभ्याशे ववुर्वाताः सुगन्धिनः।
वृक्षो नापुष्पितः कश्चिदफलो वा न दृश्यते ॥ १२ ॥

'उनके आश्रमके समीप सदा सुगन्धित वायु चलती थी। वहाँका कोई भी वृक्ष फल अथवा फूलसे रहित नहीं देखा जाता था ॥ १२ ॥

उपेत्य चाश्रमं पुण्यं वृक्षमूलमुपाश्रितः।
द्रष्टुकामः प्रतीक्षे च भगवन्तं निशाकरम् ॥ १३ ॥

'उस पवित्र आश्रमपर पहुँचकर मैं एक वृक्षके नीचे ठहर गया और भगवान् निशाकरके दर्शनकी इच्छासे उनके आनेकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ १३ ॥

अथ पश्यामि दूरस्थमृषिं ज्वलिततेजसम्।
कृताभिषेकं दुर्धर्षमुपावृत्तमुदङ्मुखम् ॥ १४ ॥

'थोड़ी ही देरमें महर्षि मुझे दूरसे आते दिखायी दिये। वे अपने तेजसे दिप रहे थे और स्नान करके उत्तरकी ओर लौटे आ रहे थे। उनका तिरस्कार करना किसीके लिये भी कठिन था ॥ १४ ॥

तमृक्षाः सृमरा व्याघ्राः सिंहा नानासरीसृपाः।
परिवार्योपगच्छन्ति दातारं प्राणिनो यथा ॥ १५ ॥

'अनेकानेक रीछ, हरिन, सिंह, बाघ और नाना प्रकारके सर्प उन्हें इस प्रकार घेरे आ रहे थे, जैसे याचना करनेवाले प्राणी दाताको घेरकर चलते हैं ॥ १५ ॥

ततः प्राप्तमृषिं ज्ञात्वा तानि सत्त्वानि वै ययुः।
प्रविष्टे राजनि यथा सर्वं सामात्यकं बलम् ॥ १६ ॥

'ऋषिको आश्रमपर आया जान वे सभी प्राणी लौट गये। ठीक उसी तरह, जैसे राजाके अपने महलमें चले जानेपर मन्त्रीसहित सारी सेना अपने-अपने विश्रामस्थानको लौट जाती है ॥ १६ ॥

ऋषिस्तु दृष्ट्वा मां तुष्टः प्रविष्टश्चाश्रमं पुनः।
मुहूर्तमात्रान्निर्गम्य ततः कार्यमपृच्छत ॥ १७ ॥

'ऋषि मुझे देखकर बड़े प्रसन्न हुए और अपने आश्रममें प्रवेश करके पुनः दो ही घड़ीमें बाहर निकल आये। फिर पास आकर उन्होंने मेरे आनेका प्रयोजन पूछा— ॥ १७ ॥

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते।
अग्निदग्धाविमौ पक्षौ प्राणाश्चापि शरीरके ॥ १८ ॥

'वे बोले—'सौम्य! तुम्हारे रोएँ गिर गये और दोनों पंख जल गये हैं। इसका कारण नहीं जान पड़ता। इतनेपर भी तुम्हारे शरीरमें प्राण टिके हुए हैं ॥ १८ ॥

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ ॥ १९ ॥

'मैंने पहले वायुके समान वेगशाली दो गीधोंको देखा है। वे दोनों परस्पर भाई और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। साथ ही वे गीधोंके राजा भी थे ॥ १९ ॥

ज्येष्ठोऽवितस्त्वं सम्पाते जटायुरनुजस्तव।
मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम ॥ २० ॥

'सम्पाते! मैं तुम्हें पहचान गया। तुम उन दो भाइयोंमेंसे बड़े हो। जटायु तुम्हारा छोटा भाई था। तुम दोनों मनुष्यरूप धारण करके मेरा चरण-स्पर्श किया करते थे ॥ २० ॥

क ते व्याधिसमुत्थानं पक्षयोः पतनं कथम्।
दण्डो वायं धृतः केन सर्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ २१ ॥

'यह तुम्हें कौन-सा रोग लग गया है। तुम्हारे दोनों पंख कैसे गिर गये? किसीने दण्ड तो नहीं दिया है? मैं जो कुछ पूछता हूँ, वह सब तुम स्पष्टरूपसे कहो' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका निशाकर मुनिको अपने पंखके जलनेका कारण बताना

ततस्तद् दारुणं कर्म दुष्करं सहसा कृतम्।
आचचक्षे मुनेः सर्वं सूर्यानुगमनं तथा ॥ १ ॥

'उनके इस प्रकार पूछनेपर मैंने बिना सोचे-समझे सूर्यका अनुगमनरूप जो दुष्कर एवं दारुण कार्य किया था, वह सब उन्हें बताया ॥ १ ॥

भगवन् व्रणयुक्तत्वाल्लज्जया चाकुलेन्द्रियः।
परिश्रान्तो न शक्नोमि वचनं परिभाषितुम् ॥ २ ॥

'मैंने कहा—भगवन्! मेरे शरीरमें घाव हो गया है तथा मेरी इन्द्रियाँ लज्जासे व्याकुल हैं, इसलिये अधिक कष्ट पानेके कारण मैं अच्छी तरह बात भी नहीं कर सकता ॥ २ ॥

अहं चैव जटायुश्च संघर्षाद् गर्वमोहितौ।
आकाशं पतितौ दूराज्जिज्ञासन्तौ पराक्रमम् ॥ ३ ॥

'मैं और जटायु दोनों ही गर्वसे मोहित हो रहे थे; अतः अपने पराक्रमकी थाह लगानेके लिये हम दोनों दूरतक पहुँचनेके उद्देश्यसे उड़ने लगे ॥ ३ ॥

कैलासशिखरे बद्ध्वा मुनीनामग्रतः पणम्।
रविः स्यादनुयातव्यो यावदस्तं महागिरिम् ॥ ४ ॥

'कैलास पर्वतके शिखरपर मुनियोंके सामने हम दोनोंने यह शर्त बदी थी कि सूर्य जबतक अस्ताचलपर जायँ, उसके पहले ही हम दोनोंको उनके पास पहुँच जाना चाहिये ॥ ४ ॥

अप्यावां युगपत् प्राप्तावपश्याव महीतले।
रथचक्रप्रमाणानि नगराणि पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

'यह निश्चय करके हम साथ ही आकाशमें जा पहुँचे। वहाँसे पृथ्वीके भिन्न-भिन्न नगरमें हम रथके पहियेके बराबर दिखायी देते थे ॥ ५ ॥

क्वचिद् वादित्रघोषश्च क्वचिद् भूषणनिःस्वनः।
गायन्तीः स्माङ्गना बह्वीः पश्यावो रक्तवाससः ॥ ६ ॥

'ऊपरके लोकोंमें कहीं वाद्योंका मधुर घोष हो रहा था, कहीं आभूषणोंकी झनकारें सुनायी पड़ती थीं और कहीं लाल रंगकी साड़ी पहने बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत गा रही थीं, जिन्हें हम दोनोंने अपनी आँखों देखा था ॥ ६ ॥

तूर्णमुत्पत्य चाकाशमादित्यपदमास्थितौ।
आवामालोकयावस्तद् वनं शाद्वलसंस्थितम् ॥ ७ ॥

'उससे भी ऊँचे उड़कर हम तुरंत सूर्यके मार्गपर जा पहुँचे। वहाँसे नीचे दृष्टि डालकर जब दोनोंने देखा, तब यहाँके जंगल हरी-हरी घासकी तरह दिखायी देते थे ॥ ७ ॥

उपलैरिव संछन्ना दृश्यते भूः शिलोच्चयैः।
आपगाभिश्च संवीता सूत्रैरिव वसुंधरा ॥ ८ ॥

'पर्वतोंके कारण यह भूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो इसपर पत्थर बिछाये गये हों और नदियोंसे ढकी हुई भूमि ऐसी लगती थी, मानो उसमें सूतके धागे लपेटे गये हों ॥८॥

हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्च सुमहागिरिः।
भूतले सम्प्रकाशन्ते नागा इव जलाशये ॥ ९ ॥
तीव्रः स्वेदश्च खेदश्च भयं चासीत् तदावयोः।
समाविशत मोहश्च ततो मूर्च्छा च दारुणा ॥ १० ॥

'भूतलपर हिमालय, मेरु और विन्ध्य आदि बड़े-बड़े पर्वत तालाबमें खड़े हुए हाथियोंके समान प्रतीत होते थे। उस समय हम दोनों भाइयोंके शरीरसे बहुत पसीना निकलने लगा। हमें बड़ी थकावट मालूम हुई। फिर तो हमारे ऊपर भय, मोह और भयानक मूर्च्छाने अधिकार जमा लिया ॥ ९-१० ॥

न च दिग् ज्ञायते याम्या न चाग्नेयी न वारुणी।
युगान्ते नियतो लोको हतो दग्ध इवाग्निना ॥ ११ ॥

'उस समय न दक्षिण दिशाका ज्ञान होता था, न अग्निकोण अथवा पश्चिम आदि दिशाका ही। यद्यपि यह जगत् नियमितरूपसे स्थित था, तथापि उस समय मानो युगान्तकालमें अग्निसे दग्ध हो गया हो, इस प्रकार नष्टप्राय दिखायी देता था ॥ ११ ॥

मनश्च मे हतं भूयश्चक्षुः प्राप्य तु संश्रयम्।
यत्नेन मम ता ह्यस्मिन् मनः संधाय चक्षुषी ॥ १२ ॥

यत्नेन महता भूयो भास्करः प्रतिलोकितः।
तुल्यपृथ्वीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ ॥ १३ ॥

'मेरा मन नेत्ररूपी आश्रयको पाकर उसके साथ ही हतप्राय हो गया—सूर्यके तेजसे उसकी दर्शन-शक्ति लुप्त हो गयी। तदनन्तर महान् प्रयास करके मैंने पुनः मन और नेत्रोंको सूर्यदेवमें लगाया। इस प्रकार विशेष प्रयत्न करनेपर फिर सूर्यदेवका दर्शन हुआ। वे हमें पृथ्वीके बराबर ही जान पड़ते थे ॥ १२-१३ ॥

जटायुर्मामनापृच्छ्य निपपात महीं ततः।
तं दृष्ट्वा तूर्णमाकाशादात्मानं मुक्तवानहम् ॥ १४ ॥

'जटायु मुझसे पूछे बिना ही पृथ्वीपर उतर पड़ा। उसे नीचे जाते देख मैंने भी तुरंत अपने आपको आकाशसे नीचेकी ओर छोड़ दिया ॥ १४ ॥

पक्षाभ्यां च मया गुप्तो जटायुर्न प्रदह्यत।
प्रमादात् तत्र निर्दग्धः पतन् वायुपथादहम् ॥ १५ ॥
आशङ्के तं निपतितं जनस्थाने जटायुषम्।
अहं तु पतितो विन्ध्ये दग्धपक्षो जडीकृतः ॥ १६ ॥

'मैंने अपने दोनों पंखोंसे जटायुको ढक लिया था, इसलिये वह जल न सका। मैं ही असावधानीके कारण वहाँ जल गया। वायुके पथसे नीचे गिरते समय मुझे ऐसा संदेह हुआ कि जटायु जनस्थानमें गिरा है; परंतु मैं इस विन्ध्यपर्वतपर गिरा था। मेरे दोनों पंख जल गये थे, इसलिये यहाँ जडवत् हो गया ॥ १५-१६ ॥

राज्याच्च हीनो भ्रात्रा च पक्षाभ्यां विक्रमेण च।
सर्वथा मर्तुमेवेच्छन् पतिष्ये शिखराद् गिरेः ॥ १७ ॥

'राज्यसे भ्रष्ट हुआ, भाईसे बिछुड़ गया और पंख तथा पराक्रमसे भी हाथ धो बैठा। अब मैं सर्वथा मरनेकी ही इच्छासे इस पर्वतशिखरसे नीचे गिरूँगा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

निशाकर मुनिका सम्पातिको सान्त्वना देते हुए उन्हें भावी श्रीरामचन्द्रजीके कार्यमें सहायता देनेके लिये जीवित रहनेका आदेश देना

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठमरुदं भृशदुःखितः।
अथ ध्यात्वा मुहूर्तं च भगवानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

'वानरो! उन मुनिश्रेष्ठसे ऐसा कहकर मैं बहुत दुखी हो विलाप करने लगा। मेरी बात सुनकर थोड़ी देरतक ध्यान करनेके बाद महर्षि भगवान् निशाकर बोले—॥ १ ॥

पक्षौ च ते प्रपक्षौ च पुनरन्यौ भविष्यतः।
चक्षुषी चैव प्राणाश्च विक्रमश्च बलं च ते ॥ २ ॥

'सम्पाते! चिन्ता न करो। तुम्हारे छोटे और बड़े दोनों तरहके पंख फिर नये निकल आयेंगे। आँखें भी ठीक हो जायँगी तथा खोयी हुई प्राणशक्ति, बल और पराक्रम—सब लौट आयँगे ॥ २ ॥

पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यं हि मया श्रुतम्।
दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम ॥ ३ ॥

'मैंने पुराणमें आगे होनेवाले अनेक बड़े-बड़े कार्योंकी बात सुनी है। सुनकर तपस्याके द्वारा भी मैंने उन सब बातोंको प्रत्यक्ष किया और जाना है ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम कश्चिदिक्ष्वाकुवर्धनः।
तस्य पुत्रो महातेजा रामो नाम भविष्यति ॥ ४ ॥

'इक्ष्वाकुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले कोई दशरथ नामसे प्रसिद्ध राजा होंगे। उनके एक महातेजस्वी पुत्र होंगे, जिनकी श्रीरामके नामसे प्रसिद्धि होगी ॥ ४ ॥

अरण्यं च सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन गमिष्यति।
तस्मिन्नर्थे नियुक्तः सन् पित्रा सत्यपराक्रमः ॥ ५ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें जायँगे; इसके लिये उन्हें पिताकी ओरसे आज्ञा प्राप्त होगी ॥ ५ ॥

नैर्ऋतो रावणो नाम तस्य भार्यां हरिष्यति।
राक्षसेन्द्रो जनस्थाने अवध्यः सुरदानवैः ॥ ६ ॥

'वनवास-कालमें जनस्थानमें रहते समय उनकी पत्नी सीताको राक्षसोंका राजा रावण नामक असुर हर ले जायगा। वह देवताओं और दानवोंके लिये भी अवध्य होगा ॥

सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली।
न भोक्ष्यति महाभागा दुःखमग्ना यशस्विनी ॥ ७ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीता बड़ी ही यशस्विनी और सौभाग्यवती होगी। यद्यपि राक्षसराजकी ओरसे उसको तरह-तरहके भोगों और भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका प्रलोभन दिया जायगा, तथापि वह उन्हें स्वीकार नहीं करेगी

और निरन्तर अपने पतिके लिये चिन्तित होकर दुःखमें डूबी रहेगी ॥ ७ ॥

परमान्नं च वैदेह्या ज्ञात्वा दास्यति वासवः।
यदन्नममृतप्रख्यं सुराणामपि दुर्लभम्॥ ८ ॥

'सीता राक्षसका अन्न नहीं ग्रहण करती—यह मालूम होनेपर देवराज इन्द्र उसके लिये अमृतके समान खीर, जो देवताओंको दुर्लभ है, निवेदन करेंगे ॥ ८ ॥

तदन्नं मैथिली प्राप्य विज्ञायेन्द्रादिदं त्विति।
अग्रमुद्धृत्य रामाय भूतले निर्वपिष्यति॥ ९ ॥

'उस अन्नको इन्द्रका दिया हुआ जानकर जानकी उसे स्वीकार कर लेगी और सबसे पहले उसमेंसे अग्रभाग निकालकर श्रीरामचन्द्रजीके उद्देश्यसे पृथ्वीपर रखकर अर्पण करेगी ॥ ९ ॥

यदि जीवति मे भर्ता लक्ष्मणो वापि देवरः।
देवत्वं गच्छतोर्वापि तयोरन्नमिदं त्विति॥ १० ॥

'उस समय वह इस प्रकार कहेगी—'मेरे पति भगवान् श्रीराम तथा देवर लक्ष्मण यदि जीवित हों अथवा देवभावको प्राप्त हो गये हों, यह अन्न उनके लिये समर्पित है' ॥ १० ॥

एष्यन्ति प्रेषितास्तत्र रामदूताः प्लवङ्गमाः।
आख्येया राममहिषी त्वया तेभ्यो विहङ्गम॥ ११ ॥

'सम्पाते! रघुनाथजीके भेजे हुए उनके दूत वानर यहाँ सीताका पता लगाते हुए आयेंगे। उन्हें तुम श्रीरामकी महारानी सीताका पता बताना ॥ ११ ॥

सर्वथा तु न गन्तव्यमीदृशः क गमिष्यसि।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे॥ १२ ॥

'यहाँसे किसी तरह कभी दूसरी जगह न जाना। ऐसी दशामें तुम जाओगे भी कहाँ। देश और कालकी प्रतीक्षा करो। तुम्हें फिर नये पंख प्राप्त हो जायँगे ॥ १२ ॥

उत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम्।
इहस्थस्त्वं हि लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि॥ १३ ॥

'यद्यपि मैं आज ही तुम्हें पंखयुक्त कर सकता हूँ; फिर भी इसलिये ऐसा नहीं करता कि यहाँ रहनेपर तुम संसारके लिये हितकर कार्य कर सकोगे ॥ १३ ॥

त्वयापि खलु तत् कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः।
ब्राह्मणानां गुरूणां च मुनीनां वासवस्य च॥ १४ ॥

'तुम भी उन दोनों राजकुमारोंके कार्यमें सहायता करना। वह कार्य केवल उन्हींका नहीं, समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, मुनियों और देवराज इन्द्रका भी है ॥ १४ ॥

इच्छाम्यहमपि द्रष्टुं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
नेच्छे चिरं धारयितुं प्राणांस्त्यक्ष्ये कलेवरम्।
महर्षिस्त्वब्रवीदेवं दृष्टतत्त्वार्थदर्शनः॥ १५ ॥

'यद्यपि मैं भी उन दोनों भाइयोंका दर्शन करना चाहता हूँ; परंतु अधिक कालतक इन प्राणोंको धारण करनेकी इच्छा नहीं है। अतः वह समय आनेसे पहले ही मैं प्राणोंको त्याग दूँगा, ऐसा उन तत्त्वदर्शी महर्षिने मुझसे कहा था' ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

सम्पातिका पंखयुक्त होकर वानरोंको उत्साहित करके उड़ जाना और वानरोंका वहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करना

एतैरन्यैश्च बहुभिर्वाक्यैर्वाक्यविशारदः।
मां प्रशस्याभ्यनुज्ञाप्य प्रविष्टः स स्वमालयम्॥ १ ॥

'बातचीतकी कलामें चतुर महर्षि निशाकरने ये तथा और भी बहुत-सी बातें कहकर मुझे समझाया और श्रीराम-कार्यमें सहायक बननेके कारण मेरे सौभाग्यकी सराहना की। तत्पश्चात् मेरी अनुमति लेकर वे अपने आश्रमके भीतर चले गये ॥ १ ॥

कन्दरात् तु विसर्पित्वा पर्वतस्य शनैः शनैः।
अहं विन्ध्यं समारुह्य भवतः प्रतिपालये॥ २ ॥

'तदनन्तर कन्दरासे धीरे-धीरे निकलकर मैं विन्ध्य-पर्वतके शिखरपर चढ़ आया और तबसे तुम लोगोंके आनेकी बाट देख रहा हूँ ॥ २ ॥

अद्य त्वेतस्य कालस्य वर्षं साग्रशतं गतम्।
देशकालप्रतीक्षोऽस्मि हृदि कृत्वा मुनेर्वचः॥ ३ ॥

'मुनिसे बातचीतके बाद आजतक जो समय बीता है, इसमें आठ हजारसे अधिक वर्ष निकल गये। मुनिके

---

१. यहाँ मूलमें साग्रशतम् (सौ वर्षसे अधिक) समय

कथनको हृदयमें धारण करके मैं देश-कालकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

महाप्रस्थानमासाद्य स्वर्गते तु निशाकरे।
मां निर्दहति संतापो वितर्कैर्बहुभिर्वृतम् ॥ ४ ॥

'निशाकर मुनि महाप्रस्थान करके जब स्वर्गलोकको चले गये, तभीसे मैं अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कोंसे घिर गया। संतापकी आग मुझे रात-दिन जलाती रहती है ॥ ४ ॥

उदितां मरणे बुद्धिं मुनिवाक्यैर्निवर्तये।
बुद्धिर्या तेन मे दत्ता प्राणानां रक्षणे मम ॥ ५ ॥
सा मेऽपनयते दुःखं दीप्तेवाग्निशिखा तमः।

'मेरे मनमें कई बार प्राण त्यागनेकी इच्छा हुई, किंतु मुनिके वचनोंको याद करके मैं उस संकल्पको टालता आया हूँ। उन्होंने मुझे प्राणोंको रखनेके लिये जो बुद्धि (सम्मति) दी थी, वह मेरे दुःखको उसी प्रकार दूर कर देती है, जैसे जलती हुई अग्निशिखा अन्धकारको ॥५½ ॥

बुध्यता च मया वीर्यं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ६ ॥
पुत्रः संतर्जितो वाग्भिर्न त्राता मैथिली कथम्।

'दुरात्मा रावणमें कितना बल है, इसे मैं जानता हूँ। इसलिये मैंने कठोर वचनोंद्वारा अपने पुत्रको डाँटा था कि तूने मिथिलेशकुमारी सीताकी रक्षा क्यों नहीं की ॥ ६½ ॥

तस्या विलपितं श्रुत्वा तौ च सीतावियोजितौ ॥ ७ ॥
न मे दशरथस्नेहात् पुत्रेणोत्पादितं प्रियम्।

'सीताका विलाप सुनकर और उनसे बिछुड़े हुए श्रीराम तथा लक्ष्मणका परिचय पाकर तथा राजा दशरथके प्रति मेरे स्नेहका स्मरण करके भी मेरे पुत्रने जो सीताकी रक्षा नहीं की, अपने इस बर्तावसे उसने मुझे प्रसन्न नहीं किया—मेरा प्रिय कार्य नहीं होने दिया' ॥ ७½ ॥

तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य संहतैर्वानरैः सह ॥ ८ ॥
उत्पेततुस्तदा पक्षौ समक्षं वनचारिणाम्।

वहाँ एकत्र होकर बैठे हुए वानरोंके साथ सम्पाति इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि उन वनचारी वानरोंके समक्ष उसी समय उनके दो नये पंख निकल आये ॥ ८½ ॥

स दृष्ट्वा स्वां तनुं पक्षैरुद्गतैररुणच्छदैः ॥ ९ ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे वानरांश्चेदमब्रवीत्।

अपने शरीरको नये निकले हुए लाल रंगके पंखोंसे संयुक्त हुआ देख सम्पातिको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ। वे वानरोंसे इस प्रकार बोले— ॥ ९½ ॥

निशाकरस्य राजर्षेः प्रसादादमितौजसः ॥ १० ॥
आदित्यरश्मिनिर्दग्धौ पक्षौ पुनरुपस्थितौ।

'कपिवरो! अमिततेजस्वी राजर्षि निशाकरके प्रसादसे सूर्यकिरणोंद्वारा दग्ध हुए मेरे दोनों पंख फिर उत्पन्न हो गये ॥ १०½ ॥

यौवने वर्तमानस्य ममासीद् यः पराक्रमः ॥ ११ ॥
तमेवाद्यावगच्छामि बलं पौरुषमेव च।

'युवावस्थामें मेरा जैसा पराक्रम और बल था, वैसे ही बल और पुरुषार्थका इस समय मैं अनुभव कर रहा हूँ ॥

सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ ॥ १२ ॥
पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः।

'वानरो! तुम सब प्रकारसे यत्न करो। निश्चय ही तुम्हें सीताका दर्शन प्राप्त होगा। मुझे पंखोंका प्राप्त होना तुमलोगोंकी कार्य-सिद्धिका विश्वास दिलानेवाला है' ॥ १२½ ॥

इत्युक्त्वा तान् हरीन् सर्वान् सम्पातिः पतगोत्तमः १३
उत्पपात गिरेः शृङ्गाज्जिज्ञासुः खगमो गतिम्।

उन समस्त वानरोंसे ऐसा कहकर पक्षियोंमें श्रेष्ठ सम्पाति अपने आकाश-गमनकी शक्तिका परिचय पानेके लिये उस पर्वतशिखरसे उड़ गये ॥ १३½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रतिसंहृष्टमानसाः।
बभूवुर्हरिशार्दूला विक्रमाभ्युदयोन्मुखाः ॥ १४ ॥

उनकी वह बात सुनकर उन श्रेष्ठ वानरोंका हृदय प्रसन्नतासे खिल उठा। वे पराक्रमसाध्य अभ्युदयके लिये उद्यत हो गये ॥ १४ ॥

अथ पवनसमानविक्रमाः
प्लवगवराः प्रतिलब्धपौरुषाः।
अभिजिदभिमुखां दिशं ययु-
र्जनकसुतापरिमार्गणोन्मुखाः ॥ १५ ॥

तदनन्तर वायुके समान पराक्रमी वे श्रेष्ठ वानर अपने भूले हुए पुरुषार्थको फिरसे पा गये और जनकनन्दिनी सीताकी खोजके लिये उत्सुक हो अभिजित् नक्षत्रसे युक्त दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

बीतनेकी बात कही गयी है; परंतु साठवें सर्गके नवें श्लोकमें आठ सहस्र वर्ष बीतनेकी चर्चा आयी है। अतः दोनोंकी एक वाक्यताके लिये यहाँ शत शब्दको आठ सहस्र वर्षका उपलक्षण मानना चाहिये।

चतुःषष्टितमः सर्गः

समुद्रकी विशालता देखकर विषादमें पड़े हुए वानरोंको आश्वासन दे अङ्गदका उनसे पृथक्-पृथक् समुद्र-लङ्घनके लिये उनकी शक्ति पूछना

आख्याता गृध्रराजेन समुत्प्लुत्य प्लवङ्गमाः।
संगताः प्रीतिसंयुक्ता विनेदुः सिंहविक्रमाः ॥ १ ॥

गृध्रराज सम्पातिके इस प्रकार कहनेपर सिंहके समान पराक्रमी सभी वानर बड़े प्रसन्न हुए और परस्पर मिलकर उछल-उछलकर गर्जने लगे ॥ १ ॥

सम्पातेर्वचनं श्रुत्वा हरयो रावणक्षयम्।
हृष्टाः सागरमाजग्मुः सीतादर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २ ॥

सम्पातिकी बातोंसे रावणके निवासस्थान तथा उसके भावी विनाशकी सूचना मिली थी। उन्हें सुनकर हर्षसे भरे हुए वे सभी वानर सीताजीके दर्शनकी इच्छा मनमें लिये समुद्रके तटपर आये ॥ २ ॥

अभिगम्य तु तं देशं ददृशुर्भीमविक्रमाः।
कृत्स्नं लोकस्य महतः प्रतिबिम्बमवस्थितम् ॥ ३ ॥

उन भयंकर पराक्रमी वानरोंने उस देशमें पहुँचकर समुद्रको देखा, जो इस विराट् विश्वके सम्पूर्ण प्रतिबिम्बकी भाँति स्थित था ॥ ३ ॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य समासाद्योत्तरां दिशम्।
संनिवेशं ततश्चक्रुर्हरिवीरा महाबलाः ॥ ४ ॥

दक्षिण समुद्रके उत्तर तटपर जाकर उन महाबली वानर वीरोंने डेरा डाला ॥ ४ ॥

प्रसुप्तमिव चान्यत्र क्रीडन्तमिव चान्यतः।
क्वचित् पर्वतमात्रैश्च जलराशिभिरावृतम् ॥ ५ ॥

वह समुद्र कहीं तो तरङ्गहीन एवं शान्त होनेके कारण सोया हुआ-सा जान पड़ता था। अन्यत्र जहाँ थोड़ी-थोड़ी लहरें उठ रही थीं, वहाँ वह क्रीडा करता-सा प्रतीत होता था और दूसरे स्थलोंमें जहाँ उत्ताल तरङ्गें उठती थीं, वहाँ पर्वतके बराबर जलराशियोंसे आवृत दिखायी देता था ॥ ५ ॥

संकुलं दानवेन्द्रैश्च पातालतलवासिभिः।
रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः ॥ ६ ॥

वह सारा समुद्र पातालनिवासी दानवराजोंसे व्याप्त था। उस रोमाञ्चकारी महासागरको देखकर वे समस्त श्रेष्ठ वानर बड़े विषादमें पड़ गये ॥ ६ ॥

आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः।
विषेदुः सहिताः सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ७ ॥

आकाशके समान दुर्लङ्घ्य समुद्रपर दृष्टिपात करके वे सब वानर 'अब कैसे करना चाहिये' ऐसा कहते हुए एक साथ बैठकर चिन्ता करने लगे ॥ ७ ॥

विषण्णां वाहिनीं दृष्ट्वा सागरस्य निरीक्षणात्।
आश्वासयामास हरीन् भयार्तान् हरिसत्तमः ॥ ८ ॥

उस महासागरका दर्शन करके सारी वानर-सेनाको विषादमें डूबी हुई देख कपिश्रेष्ठ अङ्गद उन भयातुर वानरोंको आश्वासन देते हुए बोले—॥ ८ ॥

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ ९ ॥

'वीरो! तुम्हें अपने मनको विषादमें नहीं डालना चाहिये; क्योंकि विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप अपने पास आये हुए बालकको काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुषका नाश कर डालता है ॥ ९ ॥

यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिद्ध्यति ॥ १० ॥

'जो पराक्रमका अवसर आनेपर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके तेजका नाश होता है। उस तेजोहीन पुरुषका पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता है' ॥ १० ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामङ्गदो वानरैः सह।
हरिवृद्धैः समागम्य पुनर्मन्त्रममन्त्रयत् ॥ ११ ॥

उस रात्रिके बीत जानेपर बड़े-बड़े वानरोंके साथ मिलकर अङ्गदने पुनः विचार आरम्भ किया ॥ ११ ॥

सा वानराणां ध्वजिनी परिवार्याङ्गदं बभौ।
वासवं परिवार्येव मरुतां वाहिनी स्थिता ॥ १२ ॥

उस समय अङ्गदको घेरकर बैठी हुई वानरोंकी वह सेना इन्द्रको घेरकर स्थित हुई देवताओंकी विशाल वाहिनीके समान शोभा पाती थी ॥ १२ ॥

कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः स्तम्भयितुं भवेत्।
अन्यत्र वालितनयादन्यत्र च हनूमतः ॥ १३ ॥

वालिपुत्र अङ्गद तथा पवनकुमार हनुमान्‌जीको छोड़कर दूसरा कौन वीर उस वानरसेनाको सुस्थिर रख सकता था ॥ १३ ॥

ततस्तान् हरिवृद्धांश्च तच्च सैन्यमरिंदमः।
अनुमान्याङ्गदः श्रीमान् वाक्यमर्थवदब्रवीत् ॥ १४ ॥

शत्रुवीरोंका दमन करनेवाले श्रीमान् अङ्गदने उन बड़े-बूढ़े वानरोंका सम्मान करके उनसे यह अर्थयुक्त बात कही—॥ १४ ॥

क इदानीं महातेजा लङ्घयिष्यति सागरम् ।
कः करिष्यति सुग्रीवं सत्यसंधमरिंदमम् ॥ १५ ॥

'सज्जनो ! तुमलोगोंमें कौन ऐसा महातेजस्वी वीर है जो इस समय समुद्रको लाँघ जायगा और शत्रुदमन सुग्रीवको सत्यप्रतिज्ञ बनायेगा ॥ १५ ॥

को वीरो योजनशतं लङ्घयेत प्लवङ्गमः ।
इमांश्च यूथपान् सर्वान् मोचयेत् को महाभयात् ॥१६॥

'कौन वीर वानर सौ योजन समुद्रको लाँघ सकेगा ! और कौन इन समस्त यूथपतियोंको महान् भयसे मुक्त कर देगा ? ॥ १६ ॥

कस्य प्रसादाद् दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।
इतो निवृत्ताः पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम् ॥ १७ ॥

'किसके प्रसादसे हमलोग सफलमनोरथ एवं सुखी होकर यहाँसे लौटेंगे और घर-द्वार तथा स्त्री-पुत्रोंका मुँह देख सकेंगे ॥ १७ ॥

कस्य प्रसादाद् रामं च लक्ष्मणं च महाबलम् ।
अभिगच्छेम संहृष्टाः सुग्रीवं च वनौकसम् ॥ १८ ॥

'किसके प्रसादसे हमलोग हर्षोत्फुल्ल होकर श्रीराम, महाबली लक्ष्मण तथा वानरवीर सुग्रीवके पास चल सकेंगे ॥

यदि कश्चित् समर्थो वः सागरप्लवने हरिः ।
स ददात्विह नः शीघ्रं पुण्यामभयदक्षिणाम् ॥ १९ ॥

'यदि तुमलोगोंमेंसे कोई वानरवीर समुद्रको लाँघ जानेमें समर्थ हो तो वह शीघ्र ही हमें यहाँ परम पवित्र अभय-दान दे' ॥ १९ ॥

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा न कश्चित् किंचिदब्रवीत् ।
स्तिमितेवाभवत् सर्वा सा तत्र हरिवाहिनी ॥ २० ॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर कोई कुछ नहीं बोला । वह सारी वानर-सेना वहाँ जडवत् स्थिर रही ॥ २० ॥

पुनरेवाङ्गदः प्राह तान् हरीन् हरिसत्तमः ।
सर्वे बलवतां श्रेष्ठा भवन्तो दृढविक्रमाः ।
व्यपदेशकुले जाताः पूजिताश्चाप्यभीक्ष्णशः ॥ २१ ॥

तब वानरश्रेष्ठ अङ्गदने पुनः उन सबसे कहा— 'बलवानोंमें श्रेष्ठ वानरो ! तुम सब लोग दृढ़तापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले हो । तुम्हारा जन्म कलङ्करहित उत्तम कुलमें हुआ है । इसके लिये तुम्हारी बारंबार प्रशंसा हो चुकी है ॥ २१ ॥

नहि वो गमने सङ्गः कदाचित् कस्यचिद् भवेत् ।
ब्रुवध्वं यस्य या शक्तिः प्लवने प्लवगर्षभाः ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ वानरो ! तुमलोगोंमें कभी किसीकी भी गति कहीं नहीं रुकती । इसलिये समुद्रको लाँघनेमें जिसकी जितनी शक्ति हो, वह उसे बतावे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

बारी-बारीसे वानर-वीरोंके द्वारा अपनी-अपनी गमनशक्तिका वर्णन, जाम्बवान् और अङ्गदकी बातचीत तथा जाम्बवान्का हनुमान्जीको प्रेरित करनेके लिये उनके पास जाना

अथाङ्गदवचः श्रुत्वा ते सर्वे वानरर्षभाः ।
स्वं स्वं गतौ समुत्साहमूचुस्तत्र यथाक्रमम् ॥ १ ॥

अङ्गदकी यह बात सुनकर वे सभी श्रेष्ठ वानर लंबी छलाँग मारनेके सम्बन्धमें अपने-अपने उत्साहका—शक्तिका क्रमशः परिचय देने लगे ॥ १ ॥

गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ।
मैन्दश्च द्विविदश्चैव सुषेणो जाम्बवांस्तथा ॥ २ ॥

गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, सुषेण और जाम्बवान्—इन सबने अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन किया ॥ २ ॥

आबभाषे गजस्तत्र प्लवेयं दशयोजनम् ।
गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विंशतिम् ॥ ३ ॥

इनमेंसे गजने कहा—'मैं दस योजनकी छलाँग मार सकता हूँ ।' गवाक्ष बोले—'मैं बीस योजनतक चला जाऊँगा' ॥ ३ ॥

शरभो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
त्रिंशतं तु गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः ॥ ४ ॥

इसके बाद वहाँ शरभ नामक वानरने उन कपिवरोंसे कहा—'वानरो ! मैं तीस योजनतक एक छलाँगमें चला जाऊँगा ॥ ४ ॥

ऋषभो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह ।
चत्वारिंशद् गमिष्यामि योजनानां न संशयः ॥ ५ ॥

तदनन्तर कपिवर ऋषभने उन वानरोंसे कहा—'मैं चालीस योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ५ ॥

वानरांस्तु महातेजा अब्रवीद् गन्धमादनः।
योजनानां गमिष्यामि पञ्चाशत्तु न संशयः॥ ६॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी गन्धमादनने उन वानरोंसे कहा—'इसमें संदेह नहीं कि मैं पचास योजनतक एक छलाँगमें चला जाऊँगा' ॥ ६ ॥

मैन्दस्तु वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह।
योजनानां परं षष्टिमहं प्लवितुमुत्सहे॥ ७॥

इसके बाद वहाँ वानर-वीर मैन्द उन वानरोंसे बोले—'मैं साठ योजनतक एक छलाँगमें कूद जानेका उत्साह रखता हूँ' ॥ ७ ॥

ततस्तत्र महातेजा द्विविदः प्रत्यभाषत।
गमिष्यामि न संदेहः सप्ततिं योजनान्यहम्॥ ८॥

तदनन्तर महातेजस्वी द्विविद बोले—'मैं सत्तर योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संदेह नहीं है' ॥ ८ ॥

सुषेणस्तु महातेजाः सत्त्ववान् कपिसत्तमः।
अशीतिं प्रतिजानेऽहं योजनानां पराक्रमे॥ ९॥

इसके बाद धैर्यशाली कपिश्रेष्ठ महातेजस्वी सुषेण बोले—'मैं एक छलाँगमें अस्सी योजनतक जानेकी प्रतिज्ञा करता हूँ' ॥ ९ ॥

तेषां कथयतां तत्र सर्वांस्ताननुमान्य च।
ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान् प्रत्यभाषत॥ १०॥

इस प्रकार कहनेवाले सब वानरोंका सम्मान करके ऋक्षराज जाम्बवान्, जो सबसे बूढ़े थे, बोले—॥ १० ॥

पूर्वमस्माकमप्यासीत् कश्चिद् गतिपराक्रमः।
ते वयं वयसः पारमनुप्राप्ताः स्म साम्प्रतम्॥ ११॥
किं तु नैवं गते शक्यमिदं कार्यमुपेक्षितुम्।
यदर्थं कपिराजश्च रामश्च कृतनिश्चयौ॥ १२॥
साम्प्रतं कालमस्माकं या गतिस्तां निबोधत।
नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः॥ १३॥

'पहले युवावस्थामें मेरे अंदर भी दूरतक छलाँग मारनेकी कुछ शक्ति थी। यद्यपि अब मैं उस अवस्थाको पार कर चुका हूँ तो भी जिस कार्यके लिये वानरराज सुग्रीव तथा भगवान् श्रीराम दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, उसकी मेरे द्वारा उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस समय मेरी जो गति है, उसे आपलोग सुनें। मैं एक छलाँगमें नब्बे योजनतक चला जाऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ११—१३ ॥

तांश्च सर्वान् हरिश्रेष्ठाञ्जाम्बवानिदमब्रवीत्।
न खल्वेतावदेवासीद् गमने मे पराक्रमः॥ १४॥
मया वैरोचने यज्ञे प्रभविष्णुः सनातनः।
प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमम्॥ १५॥

ऐसा कहकर जाम्बवान् उन समस्त श्रेष्ठ वानरोंसे पुनः इस प्रकार बोले—'पूर्वकालमें मेरे अंदर इतनी ही दूरतक चलनेकी शक्ति नहीं थी। पहले राजा बलिके यज्ञमें सर्वव्यापी एवं सबके कारणभूत सनातन भगवान् विष्णु जब तीन पग भूमि नापनेके लिये अपने पैर बढ़ा रहे थे, उस समय मैंने उनके उस विराट् स्वरूपकी थोड़े ही समयमें परिक्रमा कर ली थी ॥ १४-१५ ॥

स इदानीमहं वृद्धः प्लवने मन्दविक्रमः।
यौवने च तदासीन्मे बलमप्रतिमं परम्॥ १६॥

'इस समय तो मैं बूढ़ा हो गया, अतः छलाँग मारनेकी मेरी शक्ति बहुत कम हो गयी है; किंतु युवावस्थामें मेरे भीतर वह महान् बल था, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ १६ ॥

सम्प्रत्येतावदेवाद्य शक्यं मे गमने स्वतः।
नैतावता च संसिद्धिः कार्यस्यास्य भविष्यति॥ १७॥

'आजकल तो मुझमें स्वतः चलनेकी इतनी ही शक्ति है, परंतु इतनी ही गतिसे समुद्रलङ्घनरूप इस वर्तमान कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती' ॥ १७ ॥

अथोत्तरमुदारार्थमब्रवीदङ्गदस्तदा।
अनुमान्य तदा प्राज्ञो जाम्बवन्तं महाकपिः॥ १८॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महाकपि अङ्गदने उस समय जाम्बवान्का विशेष आदर करके यह उदारतापूर्ण बात कही—॥ १८ ॥

अहमेतद् गमिष्यामि योजनानां शतं महत्।
निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्न वेति न निश्चितम्॥ १९॥

'मैं इस महासागरके सौ योजनकी विशाल दूरीको लाँघ जाऊँगा, किंतु उधरसे लौटनेमें मेरी ऐसी ही शक्ति रहेगी या नहीं, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता' ॥ १९ ॥

तमुवाच हरिश्रेष्ठं जाम्बवान् वाक्यकोविदः।
ज्ञायते गमने शक्तिस्तव हर्यृक्षसत्तम॥ २०॥

तब बात-चीतकी कलामें चतुर जाम्बवान्ने कपिश्रेष्ठ अङ्गदसे कहा—'रीछों और वानरोंमें श्रेष्ठ युवराज! तुम्हारी गमनशक्तिसे हमलोग भलीभाँति परिचित हैं ॥ २० ॥

कामं शतसहस्रं वा नह्येष विधिरुच्यते।
योजनानां भवाञ्शक्तो गन्तुं प्रतिनिवर्तितुम्॥ २१॥

'भले ही, तुम एक लाख योजनतक चले जाओ, तथापि तुम सबके स्वामी हो, अतः तुम्हें भेजना हमारे लिये उचित नहीं है। तुम लाखों योजन जाने और वहाँसे लौटनेमें समर्थ हो ॥ २१ ॥

नहि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कथंचन।
भवतायं जनः सर्वः प्रेष्यः प्लवगसत्तम॥ २२॥

'किंतु तात ! वानरशिरोमणे ! जो सबको भेजनेवाला स्वामी है, वह किसी तरह प्रेष्य (आज्ञापालक) नहीं हो सकता। ये सब लोग तुम्हारे सेवक हैं, तुम इन्हींमेंसे किसीको भेजो ॥ २२ ॥

भवान् कलत्रमस्माकं स्वामिभावे व्यवस्थितः।
स्वामी कलत्रं सैन्यस्य गतिरेषा परंतप ॥ २३ ॥

'तुम कलत्र (स्त्रीकी भाँति रक्षणीय) हो, (जैसे नारी पतिके हृदयकी स्वामिनी होती है, उसी प्रकार) तुम हमारे स्वामीके पदपर प्रतिष्ठित हो। परंतप ! स्वामी सेनाके लिये कलत्र (स्त्री) के समान संरक्षणीय होता है। यही लोककी मान्यता है ॥ २३ ॥

अपि वै तस्य कार्यस्य भवान् मूलमरिंदम।
तस्मात् कलत्रवत् तात प्रतिपाल्यः सदा भवान्॥ २४ ॥

शत्रुदमन ! तात ! तुम्हीं उस कार्यके मूल हो, अतः सदा कलत्रकी भाँति तुम्हारा पालन करना उचित है॥ २४॥

मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेष कार्यविदां नयः।
मूले हि सति सिध्यन्ति गुणाः सर्वे फलोदयाः॥ २५ ॥

'कार्यके मूलकी रक्षा करनी चाहिये। यही कार्यके तत्त्वको जाननेवाले विद्वानोंकी नीति है; क्योंकि मूलके रहनेपर ही सभी गुण सफल सिद्ध होते हैं ॥ २५ ॥

तद् भवानस्य कार्यस्य साधनं सत्यविक्रम।
बुद्धिविक्रमसम्पन्नो हेतुरत्र परंतप ॥ २६ ॥

'अतः सत्यपराक्रमी शत्रुदमन वीर ! तुम्हीं इस कार्यके साधन तथा बुद्धि और पराक्रमसे सम्पन्न हेतु हो ॥ २६ ॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च त्वं हि नः कपिसत्तम।
भवन्तमाश्रित्य वयं समर्था ह्यर्थसाधने ॥ २७॥

'कपिश्रेष्ठ ! तुम्हीं हमारे गुरु और गुरुपुत्र हो। तुम्हारा आश्रय लेकर ही हम सब लोग कार्यसाधनमें समर्थ हो सकते हैं' ॥ २७ ॥

उक्तवाक्यं महाप्राज्ञं जाम्बवन्तं महाकपिः।
प्रत्युवाचोत्तरं वाक्यं वालिसूनुरथाङ्गदः ॥ २८ ॥

जब परम बुद्धिमान् जाम्बवान् पूर्वोक्त बात कह चुके, तब महाकपि वालिकुमार अङ्गदने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २८ ॥

यदि नाहं गमिष्यामि नान्यो वानरपुङ्गवः।
पुनः खल्विदमस्माभिः कार्यं प्रायोपवेशनम् ॥ २९ ॥

'यदि मैं नहीं जाऊँगा और दूसरा कोई भी श्रेष्ठ वानर जानेको तैयार न होगा, तब फिर हमलोगोंको निश्चितरूपसे मरणान्त उपवास ही करना चाहिये ॥ २९ ॥

नह्यकृत्वा हरिपतेः संदेशं तस्य धीमतः।
तत्रापि गत्वा प्राणानां न पश्ये परिरक्षणम् ॥ ३० ॥

'बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके आदेशका पालन किये बिना यदि हमलोग किष्किन्धाको लौट चलें तो वहाँ जाकर भी हमें अपने प्राणोंकी रक्षाका कोई उपाय नहीं दिखायी देता ॥ ३० ॥

स हि प्रसादे चात्यर्थकोपे च हरिरीश्वरः।
अतीत्य तस्य संदेशं विनाशो गमने भवेत् ॥ ३१ ॥

'वे हमपर कृपा करने और अत्यन्त कुपित होकर हमें दण्ड देनेमें भी समर्थ हैं। उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जानेपर हमारा विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ३१ ॥

तत्तथा ह्यस्य कार्यस्य न भवत्यन्यथा गतिः।
तद् भवानेव दृष्टार्थः संचिन्तयितुमर्हति ॥ ३२ ॥

'अतः जिस उपायसे इस सीता-दर्शनरूपी कार्यकी सिद्धिमें कोई रुकावट न पड़े, उसका आप ही विचार करें; क्योंकि आपको सब बातोंका अनुभव है' ॥ ३२ ॥

सोऽङ्गदेन तदा वीरः प्रत्युक्तः प्लवगर्षभः।
जाम्बवानुत्तमं वाक्यं प्रोवाचेदं ततोऽङ्गदम् ॥ ३३ ॥

उस समय अङ्गदके ऐसा कहनेपर वीर वानरशिरोमणि जाम्बवान्‌ने उनसे यह उत्तम बात कही—॥ ३३ ॥

तस्य ते वीर कार्यस्य न किंचित् परिहास्यते।
एष संचोदयाम्येनं यः कार्यं साधयिष्यति ॥ ३४ ॥

'वीर ! तुम्हारे इस कार्यमें कोई किंचित् भी त्रुटि नहीं आने पायेगी। अब मैं ऐसे वीरको प्रेरित कर रहा हूँ, जो इस कार्यको सिद्ध कर सकेगा' ॥ ३४ ॥

ततः प्रतीतं प्लवतां वरिष्ठ-
मेकान्तमाश्रित्य सुखोपविष्टम्।
संचोदयामास हरिप्रवीरो
हरिप्रवीरं हनुमन्तमेव ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर वानरों और भालुओंके वीर यूथपति जाम्बवान्‌ने वानरसेनाके श्रेष्ठ वीर हनुमान्‌जीको ही प्रेरित किया, जो एकान्तमें जाकर मौजसे बैठे हुए थे। उन्हें किसी बातकी चिन्ता नहीं थी और वे दूरतककी छलाँग मारनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ थे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

जाम्बवान्‌का हनुमान्‌जीको उनकी उत्पत्तिकथा सुनाकर समुद्रलङ्घनके लिये उत्साहित करना

अनेकशतसाहस्रीं विषण्णां हरिवाहिनीम्।
जाम्बवान् समुदीक्ष्यैवं हनूमन्तमथाब्रवीत्॥ १॥

लाखों वानरोंकी सेनाको इस तरह विषादमें पड़ी देख जाम्बवान्‌ने हनुमान्‌जीसे कहा—॥ १॥

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनूमन् किं न जल्पसि॥ २॥

'वानरजगत्‌के वीर! तथा सम्पूर्ण शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हनुमान्! तुम एकान्तमें आकर चुपचाप क्यों बैठे हो? कुछ बोलते क्यों नहीं?॥ २॥

हनूमन्हरिराजस्य सुग्रीवस्य समो ह्यसि।
रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च॥ ३॥

'हनूमन्! तुम तो वानरराज सुग्रीवके समान पराक्रमी हो तथा तेज और बलमें श्रीराम और लक्ष्मणके तुल्य हो॥ ३॥

अरिष्टनेमिनः पुत्रो वैनतेयो महाबलः।
गरुत्मानिव विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम्॥ ४॥

'कश्यपजीके महाबली पुत्र और समस्त पक्षियोंमें श्रेष्ठ जो विनतानन्दन गरुड़ हैं, उन्हींके समान तुम भी विख्यात शक्तिशाली एवं तीव्रगामी हो॥ ४॥

बहुशो हि मया दृष्टः सागरे स महाबलः।
भुजङ्गानुद्धरन् पक्षी महाबाहुर्महाबलः॥ ५॥

'महाबली महाबाहु पक्षिराज गरुड़को मैंने समुद्रमें कई बार देखा है, जो बड़े-बड़े सर्पोंको वहाँसे निकाल लाते हैं॥५॥

पक्षयोर्यद् बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव।
विक्रमश्चापि वेगश्च न ते तेनापहीयते॥ ६॥

'उनके दोनों पंखोंमें जो बल है, वही बल, वही पराक्रम तुम्हारी इन दोनों भुजाओंमें भी है। इसीलिये तुम्हारा वेग और विक्रम भी उनसे कम नहीं है॥ ६॥

बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न सज्जसे॥ ७॥

'वानरशिरोमणे! तुम्हारा बल, बुद्धि, तेज और धैर्य भी समस्त प्राणियोंमें सबसे बढ़कर है। फिर तुम अपने-आपको ही समुद्र लाँघनेके लिये क्यों नहीं तैयार करते?॥७॥

अप्सराऽप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः॥ ८॥
विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि।
अभिशापादभूत् तात कपित्वे कामरूपिणी॥ ९॥
दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः।

'(वीरवर! तुम्हारे प्रादुर्भावकी कथा इस प्रकार है—) पुञ्जिकस्थला नामसे विख्यात जो अप्सरा है, वह समस्त अप्सराओंमें अग्रगण्य है। तात! एक समय शापवश वह कपियोनिमें अवतीर्ण हुई। उस समय वह वानरराज महामनस्वी कुञ्जरकी पुत्री इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी। इस भूतलपर उसके रूपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी। वह तीनों लोकोंमें विख्यात थी। उसका नाम अञ्जना था। वह वानरराज केसरीकी पत्नी हुई॥ ८-९½॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी॥ १०॥
विचित्रमाल्याभरणा कदाचित् क्षौमधारिणी।
अचरत् पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसंनिभे॥ ११॥

'एक दिनकी बात है, रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली अञ्जना मानवी स्त्रीका शरीर धारण करके वर्षाकालके मेघकी भाँति श्याम कान्तिवाले एक पर्वत-शिखरपर विचर रही थी। उसके अङ्गोंपर रेशमी साड़ी शोभा पाती थी। वह फूलोंके विचित्र आभूषणोंसे विभूषित थी॥ १०-११॥

तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम्।
स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपाहरच्छनैः॥ १२॥

'उस विशाललोचना बालाका सुन्दर वस्त्र तो पीले रंगका था, किंतु उसके किनारेका रंग लाल था। वह पर्वतके शिखरपर खड़ी थी। उसी समय वायु देवताने उसके उस वस्त्रको धीरेसे हर लिया॥ १२॥

स ददर्श ततस्तस्या वृत्तावूरू सुसंहतौ।
स्तनौ च पीनौ सहितौ सुजातं चारु चाननम्॥ १३॥

'तत्पश्चात् उन्होंने उसकी परस्पर सटी हुई गोल-गोल जाँघों, एक दूसरेसे लगे हुए पीन उरोजों तथा मनोहर मुखको भी देखा॥ १३॥

तां बलादायतश्रोणीं तनुमध्यां यशस्विनीम्।
दृष्ट्वैव शुभसर्वाङ्गीं पवनः काममोहितः॥ १४॥

'उसके नितम्ब ऊँचे और विस्तृत थे। कटिभाग बहुत ही पतला था। उसके सारे अङ्ग परम सुन्दर थे। इस प्रकार बलपूर्वक यशस्विनी अञ्जनाके अङ्गोंका अवलोकन करके पवन देवता कामसे मोहित हो गये॥ १४॥

स तां भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां पर्यष्वजत मारुतः।
मन्मथाविष्टसर्वाङ्गो गतात्मा तामनिन्दिताम्॥ १५॥

'उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें कामभावका आवेश हो गया। मन अञ्जनामें ही लग गया। उन्होंने उस अनिन्द्य सुन्दरीको अपनी दोनों विशाल भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया॥

सा तु तत्रैव सम्भ्रान्ता सुव्रता वाक्यमब्रवीत्।
एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति॥ १६॥

'अञ्जना उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सती नारी थी। अतः उस अवस्थामें पड़कर वह वहीं घबरा उठी और बोली—'कौन मेरे इस पातिव्रत्यका नाश करना चाहता है?'॥ १६॥

अञ्जनाया वचः श्रुत्वा मारुतः प्रत्यभाषत।
न त्वां हिंसामि सुश्रोणि मा भूत् ते मनसो भयम्॥१७॥

अञ्जनाकी बात सुनकर पवनदेवने उत्तर दिया—'सुश्रोणि! मैं तुम्हारे एकपत्नीव्रतका नाश नहीं कर रहा हूँ। अतः तुम्हारे मनसे यह भय दूर हो जाना चाहिये॥१७॥

मनसास्मि गतो यत् त्वां परिष्वज्य यशस्विनि।
वीर्यवान् बुद्धिसम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति॥ १८॥

'यशस्विनि! मैंने अव्यक्तरूपसे तुम्हारा आलिङ्गन करके मानसिक संकल्पके द्वारा तुम्हारे साथ समागम किया है। इससे तुम्हें बल-पराक्रमसे सम्पन्न एवं बुद्धिमान् पुत्र प्राप्त होगा॥ १८॥

महासत्त्वो महातेजा महाबलपराक्रमः।
लङ्घने प्लवने चैव भविष्यति मया समः॥ १९॥

'वह महान् धैर्यवान्, महातेजस्वी, महाबली, महापराक्रमी तथा लाँघने और छलाँग मारनेमें मेरे समान होगा'॥ १९॥

एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे।
गुहायां त्वां महाबाहो प्रजज्ञे प्लवगर्षभ॥ २०॥

'महाकपे! वायुदेवके ऐसा कहनेपर तुम्हारी माता प्रसन्न हो गयीं। महाबाहो! वानरश्रेष्ठ! फिर उन्होंने तुम्हें एक गुफामें जन्म दिया॥ २०॥

अभ्युत्थितं ततः सूर्यं बालो दृष्ट्वा महावने।
फलं चेति जिघृक्षुस्त्वमुत्प्लुत्याभ्युत्पतो दिवम्॥ २१॥

'बाल्यावस्थामें एक विशाल वनके भीतर एक दिन उदित हुए सूर्यको देखकर तुमने समझा कि यह भी कोई फल है; अतः उसे लेनेके लिये तुम सहसा आकाशमें उछल पड़े॥ २१॥

शतानि त्रीणि गत्वाथ योजनानां महाकपे।
तेजसा तस्य निर्धूतो न विषादं गतस्ततः॥ २२॥

'महाकपे! तीन सौ योजन ऊँचे जानेके बाद सूर्यके तेजसे आक्रान्त होनेपर भी तुम्हारे मनमें खेद या चिन्ता नहीं हुई॥ २२॥

त्वामप्युपगतं तूर्णमन्तरिक्षं महाकपे।
क्षिप्तमिन्द्रेण ते वज्रं कोपाविष्टेन तेजसा॥ २३॥

'कपिप्रवर! अन्तरिक्षमें जाकर जब तुरंत ही तुम सूर्यके पास पहुँच गये, तब इन्द्रने कुपित होकर तुम्हारे ऊपर तेजसे प्रकाशित वज्रका प्रहार किया॥ २३॥

तदा शैलाग्रशिखरे वामो हनुरभज्यत।
ततो हि नामधेयं ते हनुमानिति कीर्तितम्॥ २४॥

'उस समय उदयगिरिके शिखरपर तुम्हारे हनु (ठोड़ी) का बायाँ भाग वज्रकी चोटसे खण्डित हो गया। तभीसे तुम्हारा नाम हनुमान् पड़ गया॥ २४॥

ततस्त्वां निहतं दृष्ट्वा वायुर्गन्धवहः स्वयम्।
त्रैलोक्यं भृशसंक्रुद्धो न ववौ वै प्रभञ्जनः॥ २५॥

'तुमपर प्रहार किया गया है' यह देखकर गन्धवाहक वायुदेवताको बड़ा क्रोध हुआ। उन प्रभञ्जनदेवने तीनों लोकोंमें प्रवाहित होना छोड़ दिया॥ २५॥

सम्भ्रान्ताश्च सुराः सर्वे त्रैलोक्ये क्षुभिते सति।
प्रसादयन्ति संक्रुद्धं मारुतं भुवनेश्वराः॥ २६॥

'इससे सम्पूर्ण देवता घबरा गये; क्योंकि वायुके अवरुद्ध हो जानेसे तीनों लोकोंमें खलबली मच गयी थी। उस समय समस्त लोकपाल कुपित हुए वायुदेवको मनाने लगे॥ २६॥

प्रसादिते च पवने ब्रह्मा तुभ्यं वरं ददौ।
अशस्त्रवध्यतां तात समरे सत्यविक्रम॥ २७॥

'सत्यपराक्रमी तात! पवनदेवके प्रसन्न होनेपर ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये यह वर दिया कि तुम समराङ्गणमें किसी भी अस्त्र-शस्त्रके द्वारा मारे नहीं जा सकोगे॥ २७॥

वज्रस्य च निपातेन विरुजं त्वां समीक्ष्य च।
सहस्रनेत्रः प्रीतात्मा ददौ ते वरमुत्तमम्॥ २८॥
स्वच्छन्दतश्च मरणं तव स्यादिति वै प्रभो।

'प्रभो! वज्रके प्रहारसे भी तुम्हें पीड़ित न देखकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने तुम्हारे लिये यह उत्तम वर दिया—'मृत्यु तुम्हारी इच्छाके अधीन होगी—तुम जब चाहोगे, तभी मर सकोगे, अन्यथा नहीं'॥ २८½॥

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः॥ २९॥
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः।

'इस प्रकार तुम केसरीके क्षेत्रज पुत्र हो। तुम्हारा पराक्रम शत्रुओंके लिये भयंकर है। तुम वायुदेवके औरस पुत्र हो, इसलिये तेजकी दृष्टिसे भी उन्हींके समान हो॥२९½॥

त्वं हि वायुसुतो वत्स प्लवने चापि तत्समः॥ ३०॥

वयमद्य गतप्राणा भवानस्मासु साम्प्रतम्।
दाक्ष्यविक्रमसम्पन्नः कपिराज इवापरः ॥ ३१ ॥

'वत्स! तुम पवनके पुत्र हो, अतः छलाँग मारनेमें भी उन्हींके तुल्य हो। हमारी प्राणशक्ति अब चली गयी। इस समय तुम्हीं हमलोगोंमें दूसरे वानरराजकी भाँति चातुर्य एवं पौरुषसे सम्पन्न हो ॥ ३०-३१ ॥

त्रिविक्रमे मया तात सशैलवनकानना।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम् ॥ ३२ ॥

'तात! भगवान् वामनने त्रिलोकीको नापनेके लिये जब पैर बढ़ाया था, उस समय मैंने पर्वत, वन और काननों-सहित समूची पृथ्वीकी इक्कीस बार प्रदक्षिणा की थी ॥ ३२ ॥

तथा चौषधयोऽस्माभिः संचिता देवशासनात्।
निर्मथ्यममृतं याभिस्तदानीं नो महद्बलम् ॥ ३३ ॥

'समुद्र-मन्थनके समय देवताओंकी आज्ञासे हमने उन ओषधियोंका संचय किया था, जिनके द्वारा अमृतको मथकर निकालना था। उन दिनों हममें महान् बल था ॥ ३३ ॥

स इदानीमहं वृद्धः परिहीनपराक्रमः।
साम्प्रतं कालमस्माकं भवान् सर्वगुणान्वितः ॥ ३४ ॥

'अब तो मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मेरा पराक्रम घट गया है। इस समय हमलोगोंमें तुम्हीं सब प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ ३४ ॥

तद् विजृम्भस्व विक्रान्त प्लवतामुत्तमो ह्यसि।
त्वद्वीर्यं द्रष्टुकामा हि सर्वा वानरवाहिनी ॥ ३५ ॥

'अतः पराक्रमी वीर! तुम अपने असीम बलका विस्ता[र] करो। छलाँग मारनेवालोंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो। यह सा[री] वानरसेना तुम्हारे बल-पराक्रमको देखना चाहती है ॥ ३५ ॥

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम्।
परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव ॥ ३६ ॥

'वानरश्रेष्ठ हनुमान्! उठो और इस महासागरक[ो] लाँघ जाओ; क्योंकि तुम्हारी गति सभी प्राणियों[से] बढ़कर है ॥ ३६ ॥

विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे।
विक्रमस्व महावेग विष्णुस्त्रीन् विक्रमानिव ॥ ३७ ॥

'हनुमन्! समस्त वानर चिन्तामें पड़े हैं। तुम क[्यों] इनकी उपेक्षा करते हो? महान् वेगशाली वीर! जै[से] भगवान् विष्णुने त्रिलोकीको नापनेके लिये तीन पग बढ़ा[ये] थे, उसी प्रकार तुम भी अपने पैर बढ़ाओ' ॥ ३७ ॥

ततः कपीनामृषभेण चोदितः
प्रतीतवेगः पवनात्मजः कपिः।
प्रहर्षयंस्तां हरिवीरवाहिनीं
चकार रूपं महदात्मनस्तदा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार वानरों और भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान्[की] प्रेरणा पाकर कपिवर पवनकुमार हनुमान्को अपने महा[न्] वेगपर विश्वास हो आया। उन्होंने वानर वीरोंकी उ[स] सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए उस समय अपना विराट् [रूप] प्रकट किया ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

हनुमान्जीका समुद्र लाँघनेके लिये उत्साह प्रकट करना, जाम्बवान्के द्वारा उनकी प्रशंसा तथा वेगपूर्वक छलाँग मारनेके लिये हनुमान्जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना

तं दृष्ट्वा जृम्भमाणं ते क्रमितुं शतयोजनम्।
वेगेनापूर्यमाणं च सहसा वानरोत्तमम् ॥ १ ॥
सहसा शोकमुत्सृज्य प्रहर्षेण समन्विताः।
विनेदुस्तुष्टुवुश्चापि हनूमन्तं महाबलम् ॥ २ ॥

सौ योजनके समुद्रको लाँघनेके लिये वानरश्रेष्ठ हनुमान्जीको सहसा बढ़ते और वेगसे परिपूर्ण होते देख सब वानर तुरंत शोक छोड़कर अत्यन्त हर्षसे भर गये और महाबली हनुमान्जीकी स्तुति करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ १-२ ॥

प्रहृष्टा विस्मिताश्चापि ते वीक्षन्ते समन्ततः।
त्रिविक्रमं कृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

वे उनके चारों ओर खड़े हो प्रसन्न एवं चकित हो[कर] उन्हें इस प्रकार देखने लगे, जैसे उत्साहयुक्त नारायणावत[ार] वामनजीको समस्त प्रजाने देखा था ॥ ३ ॥

संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महाबलः।
समाविद्धय च लाङ्गलं हर्षाद् बलमुपेयिवान् ॥ ४ ॥

अपनी प्रशंसा सुनकर महाबली हनुमान्ने शरीर[को] और भी बढ़ाना आरम्भ किया। साथ ही हर्षके सा[थ]

अपनी पूँछको बारंबार घुमाकर अपने महान् बलका स्मरण किया ॥ ४ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य वृद्धैर्वानरपुङ्गवैः ।
तेजसाऽऽपूर्यमाणस्य रूपमासीदनुत्तमम् ॥ ५ ॥

बड़े-बूढ़े वानरशिरोमणियोंके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते और तेजसे परिपूर्ण होते हुए हनुमान्‌जीका रूप उस समय बड़ा ही उत्तम प्रतीत होता था ॥ ५ ॥

यथा विजृम्भते सिंहो विवृते गिरिगह्वरे ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तथा सम्प्रति जृम्भते ॥ ६ ॥

जैसे पर्वतकी विस्तृत कन्दरामें सिंह अँगड़ाई लेता है, उसी प्रकार वायुदेवताके औरस पुत्रने उस समय अपने शरीरको अँगड़ाई ले-लेकर बढ़ाया ॥ ६ ॥

अशोभत मुखं तस्य जृम्भमाणस्य धीमतः ।
अम्बरीषोपमं दीप्तं विधूम इव पावकः ॥ ७ ॥

जँभाई लेते समय बुद्धिमान् हनुमान्‌जीका दीप्तिमान् मुख जलते हुए भाड़ तथा धूमरहित अग्निके समान शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

हरीणामुत्थितो मध्यात् सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
अभिवाद्य हरीन् वृद्धान् हनूमानिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वे वानरोंके बीचसे उठकर खड़े हो गये । उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो आया । उस अवस्थामें हनुमान्‌जीने बड़े-बूढ़े वानरोंको प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

आरुजन् पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः ।
बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः ॥ ९ ॥

'आकाशमें विचरनेवाले वायुदेवता बड़े बलवान् हैं । उनकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है । वे अग्निदेवके सखा हैं और अपने वेगसे बड़े-बड़े पर्वत-शिखरोंको भी तोड़ डालते हैं ॥ ९ ॥

तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवनेनास्मि तत्समः ॥ १० ॥

'अत्यन्त शीघ्र वेगसे चलनेवाले उन शीघ्रगामी महात्मा वायुका मैं औरस पुत्र हूँ और छलाँग मारनेमें उन्हींके समान हूँ ॥ १० ॥

उत्सहेयं हि विस्तीर्णमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
मेरुं गिरिमसङ्गेन परिगन्तुं सहस्रशः ॥ ११ ॥

'कई सहस्र योजनोंतक फैले हुए मेरुगिरिकी, जो आकाशके बहुत बड़े भागको ढके हुए है और उसमें रेखा खींचता-सा जान पड़ता है, मैं बिना विश्राम लिये सहस्रों बार परिक्रमा कर सकता हूँ ॥ ११ ॥

बाहुवेगप्रणुन्नेन सागरेणाहमुत्सहे ।
समाप्लावयितुं लोकं सपर्वतनदीह्रदम् ॥ १२ ॥

'अपनी भुजाओंके वेगसे समुद्रको विक्षुब्ध करके उसके जलसे मैं पर्वत, नदी और जलाशयोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को आप्लावित कर सकता हूँ ॥ १२ ॥

ममोरुजङ्घावेगेन भविष्यति समुत्थितः ।
समुत्थितमहाग्राहः समुद्रो वरुणालयः ॥ १३ ॥

'वरुणका निवासस्थान यह महासागर मेरी जाँघों और पिंडलियोंके वेगसे विक्षुब्ध हो उठेगा और इसके भीतर रहनेवाले बड़े-बड़े ग्राह ऊपर आ जायँगे ॥ १३ ॥

पन्नगाशनमाकाशे पतन्तं पक्षिसेवितम् ।
वैनतेयमहं शक्तः परिगन्तुं सहस्रशः ॥ १४ ॥

'समस्त पक्षी जिनकी सेवा करते हैं, वे सर्पभोजी विनतानन्दन गरुड़ आकाशमें उड़ते हों तो भी मैं हजारों बार उनके चारों ओर घूम सकता हूँ ॥ १४ ॥

उदयात् प्रस्थितं वापि ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ।
अनस्तमितमादित्यमहं गन्तुं समुत्सहे ॥ १५ ॥
ततो भूमिमसंस्पृष्ट्वा पुनरागन्तुमुत्सहे ।
प्रवेगेनैव महता भीमेन प्लवगर्षभाः ॥ १६ ॥

'श्रेष्ठ वानरो ! उदयाचलसे चलकर अपने तेजसे प्रज्वलित होते हुए सूर्यदेवको मैं अस्त होनेसे पहले ही छू सकता हूँ और वहाँसे पृथ्वीतक आकर यहाँ पैर रक्खे बिना ही पुनः उनके पासतक बड़े भयंकर वेगसे जा सकता हूँ ॥ १५-१६ ॥

उत्सहेयमतिक्रान्तुं सर्वानाकाशगोचरान् ।
सागराञ्शोषयिष्यामि दारयिष्यामि मेदिनीम् ॥ १७ ॥
पर्वतांश्चूर्णयिष्यामि प्लवमानः प्लवङ्गमः ।
हरिष्याम्युरुवेगेन प्लवमानो महार्णवम् ॥ १८ ॥

'आकाशचारी समस्त ग्रह-नक्षत्र आदिको लाँघकर आगे बढ़ जानेका उत्साह रखता हूँ । मैं चाहूँ तो समुद्रोंको सोख लूँगा, पृथ्वीको विदीर्ण कर दूँगा और कूद-कूदकर पर्वतोंको चूर-चूर कर डालूँगा; क्योंकि मैं दूरतककी छलाँगें मारनेवाला वानर हूँ । महान् वेगसे महासागरको फाँदता हुआ मैं अवश्य उसके पार पहुँच जाऊँगा ॥ १७-१८ ॥

लतानां विविधं पुष्पं पादपानां च सर्वशः ।
अनुयास्यति मामद्य प्लवमानं विहायसा ॥ १९ ॥

'आज आकाशमें वेगपूर्वक जाते समय लताओं और वृक्षोंके नाना प्रकारके फूल मेरे साथ-साथ उड़ते जायँगे ॥ १९ ॥

भविष्यति हि मे पन्थाः स्वातेः पन्था इवाम्बरे ।
चरन्तं घोरमाकाशमुत्पतिष्यन्तमेव च ॥ २० ॥
द्रक्ष्यन्ति निपतन्तं च सर्वभूतानि वानराः ।

'बहुत-से फूल बिखरे होनेके कारण मेरा मार्ग आकाशमें

अनेक नक्षत्रपुञ्जोंसे सुशोभित स्वातिमार्ग (छायापथ) के समान प्रतीत होगा । वानरो ! आज समस्त प्राणी मुझे भयंकर आकाशमें सीधे जाते हुए, ऊपर उछलते हुए और नीचे उतरते हुए देखेंगे ॥ २०½ ॥

महामेरुप्रतीकाशं मां द्रक्ष्यध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २१ ॥
दिवमावृत्य गच्छन्तं ग्रसमानमिवाम्बरम् ।
विधमिष्यामि जीमूतान् कम्पयिष्यामि पर्वतान् ।
सागरं शोषयिष्यामि प्लवमानः समाहितः ॥ २२ ॥

'कपिवरो ! तुम देखोगे, मैं महागिरि मेरुके समान विशाल शरीर धारण करके स्वर्गको ढकता और आकाशको निगलता हुआ-सा आगे बढ़ूँगा, बादलोंको छिन्न-भिन्न कर डालूँगा, पर्वतोंको हिला दूँगा और एकचित्त हो छलाँग मारकर आगे बढ़नेपर समुद्रको भी सुखा दूँगा ॥ २१-२२ ॥

वैनतेयस्य वा शक्तिर्मम वा मारुतस्य वा ।
ऋते सुपर्णराजानं मारुतं वा महाबलम् ।
न तद् भूतं प्रपश्यामि यन्मां प्लुतमनुव्रजेत् ॥ २३ ॥

'विनतानन्दन गरुडमें, मुझमें अथवा वायु देवतामें ही समुद्रको लाँघ जानेकी शक्ति है । पक्षिराज गरुड अथवा महाबली वायु देवताके सिवा और किसी प्राणीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो यहाँसे छलाँग मारनेपर मेरे साथ जा सके ॥ २३ ॥

निमेषान्तरमात्रेण निरालम्बनमम्बरम् ।
सहसा निपतिष्यामि घनाद् विद्युदिवोत्थिता ॥ २४ ॥

'मेघसे उत्पन्न हुई विद्युत्की भाँति मैं पलक मारते-मारते सहसा निराधार आकाशमें उड़ जाऊँगा ॥ २४ ॥

भविष्यति हि मे रूपं प्लवमानस्य सागरम् ।
विष्णोः प्रक्रममाणस्य तदा त्रीन् विक्रमानिव ॥ २५ ॥

'समुद्रको लाँघते समय मेरा वही रूप प्रकट होगा, जो तीनों पगोंको बढ़ाते समय वामनरूपधारी भगवान् विष्णुका हुआ था ॥ २५ ॥

बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा ।
अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवङ्गमाः ॥ २६ ॥

'वानरो ! मैं बुद्धिसे जैसा देखता या सोचता हूँ, मेरे मनकी चेष्टा भी उसके अनुरूप ही होती है । मुझे निश्चय जान पड़ता है कि मैं विदेहकुमारीका दर्शन करूँगा, अतः अब तुमलोग खुशियाँ मनाओ ॥ २६ ॥

मारुतस्य समो वेगे गरुडस्य समो जवे ।
अयुतं योजनानां तु गमिष्यामीति मे मतिः ॥ २७ ॥

'मैं वेगमें वायुदेवता तथा गरुड़के समान हूँ । मेरा तो ऐसा विश्वास है कि इस समय मैं दस हजार योजनतक जा सकता हूँ ॥ २७ ॥

वासवस्य सवज्रस्य ब्रह्मणो वा स्वयम्भुवः ।
विक्रम्य सहसा हस्तादमृतं तदिहानये ॥ २८ ॥
लङ्कां वापि समुत्क्षिप्य गच्छेयमिति मे मतिः ।

'वज्रधारी इन्द्र अथवा स्वयम्भू ब्रह्माजीके हाथसे भी मैं बलपूर्वक अमृत छीनकर सहसा यहाँ ला सकता हूँ । समूची लङ्काको भी भूमिसे उखाड़कर हाथपर उठाये चल सकता हूँ । ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ २८½ ॥

तमेवं वानरश्रेष्ठं गर्जन्तममितप्रभम् ॥ २९ ॥
प्रहृष्टा हरयस्तत्र समुदैक्षन्त विस्मिताः ।

अमिततेजस्वी वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी जब इस प्रकार गर्जना कर रहे थे, उस समय सम्पूर्ण वानर अत्यन्त हर्षमें भरकर चकितभावसे उनकी ओर देख रहे थे ॥ २९½ ॥

तच्चास्य वचनं श्रुत्वा ज्ञातीनां शोकनाशनम् ॥ ३० ॥
उवाच परिसंहृष्टो जाम्बवान् प्लवगेश्वरः ।

हनुमान्‌जीकी बातें भाई-बन्धुओंके शोकको नष्ट करनेवाली थीं । उन्हें सुनकर वानर-सेनापति जाम्बवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई । वे बोले—॥ ३०½ ॥

वीर केसरिणः पुत्र वेगवन् मारुतात्मज ॥ ३१ ॥
ज्ञातीनां विपुलः शोकस्त्वया तात प्रणाशितः ।

'वीर ! केसरीके सुपुत्र ! वेगशाली पवनकुमार ! तात ! तुमने अपने बन्धुओंका महान् शोक नष्ट कर दिया ॥ ३१½ ॥

तव कल्याणरुचयः कपिमुख्याः समागताः ॥ ३२ ॥
मङ्गलान्यर्थसिद्ध्यर्थं करिष्यन्ति समाहिताः ।

'यहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ वानर तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं । अब ये कार्यकी सिद्धिके उद्देश्यसे एकाग्रचित्त हो तुम्हारे लिये मङ्गलकृत्य—स्वस्तिवाचन आदिका अनुष्ठान करेंगे ॥ ३२½ ॥

ऋषीणां च प्रसादेन कपिवृद्धमतेन च ॥ ३३ ॥
गुरूणां च प्रसादेन सम्प्लव त्वं महार्णवम् ।

'ऋषियोंके प्रसाद, वृद्ध वानरोंकी अनुमति तथा गुरुजनोंकी कृपासे तुम इस महासागरके पार हो जाओ ॥ ३३½ ॥

स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव ॥ ३४ ॥
त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवनानि वनौकसाम् ।

'जबतक तुम लौटकर यहाँ आओगे, तबतक हम तुम्हारी प्रतीक्षामें एक पैरसे खड़े रहेंगे, क्योंकि हम सब वानरोंका जीवन तुम्हारे ही अधीन है' ॥ ३४½ ॥

ततश्च हरिशार्दूलस्तानुवाच वनौकसः ॥ ३५ ॥
कोऽपि लोके न मे वेगं प्लवने धारयिष्यति ।

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने उन वनवासी वानरोंसे कहा—'जब मैं यहाँसे छलाँग मारूँगा, उस समय संसारमें कोई भी मेरे वेगको धारण नहीं कर सकेगा ॥ ३५½ ॥

एतानीह नगस्यास्य शिलासंकटशालिनः ॥ ३६ ॥
शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च ।
येषु वेगं गमिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम् ॥ ३७ ॥
नानाद्रुमविकीर्णेषु धातुनिष्पन्दशोभिषु ।

'शिलाओंके समूहसे शोभा पानेवाले केवल इस महेन्द्र-पर्वतके ये शिखर ही ऊँचे-ऊँचे और स्थिर हैं, जिनपर नाना प्रकारके वृक्ष फैले हुए हैं तथा गैरिक आदि धातुओंके समुदाय शोभा दे रहे हैं। इन महेन्द्र-शिखरोंपर ही वेगपूर्वक पैर रखकर मैं यहाँसे छलाँग मारूँगा ॥ ३६-३७½ ॥

एतानि मम वेगं हि शिखराणि महान्ति च ॥ ३८ ॥
प्लवतो धारयिष्यन्ति योजनानामितः शतम् ।

'यहाँसे सौ योजनके लिये छलाँग मारते समय महेन्द्र-पर्वतके ये महान् शिखर ही मेरे वेगको धारण कर सकेंगे' ॥ ३८½ ॥

ततस्तु मारुतप्रख्यः स हरिर्मारुतात्मजः ।
आरुरोह नगश्रेष्ठं महेन्द्रमरिमर्दनः ॥ ३९ ॥

यों कहकर वायुके समान महापराक्रमी शत्रुमर्दन पवन-कुमार हनुमान्‌जी पर्वतोंमें श्रेष्ठ महेन्द्रपर चढ़ गये ॥ ३९ ॥

वृतं नानाविधैः पुष्पैर्मृगसेवितशाद्वलम् ।
लताकुसुमसम्बाधं नित्यपुष्पफलद्रुमम् ॥ ४० ॥

वह पर्वत नाना प्रकारके पुष्पयुक्त वृक्षोंसे भरा हुआ था, वन्य पशु वहाँकी हरी-हरी घास चर रहे थे, लताओं और फूलोंसे वह सघन जान पड़ता था और वहाँके वृक्षोंमें सदा ही फल-फूल लगे रहते थे ॥ ४० ॥

सिंहशार्दूलसहितं मत्तमातङ्गसेवितम् ।
मत्तद्विजगणोद्घुष्टं सलिलोत्पीडसंकुलम् ॥ ४१ ॥

महेन्द्र पर्वतके वनोंमें सिंह और बाघ भी निवास करते थे, मतवाले गजराज विचरते थे, मदमत्त पक्षियोंके समूह सदा कलरव किया करते थे तथा जलके स्रोतों और झरनोंसे वह पर्वत व्याप्त दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

महद्भिरुच्छ्रितं शृङ्गैर्महेन्द्रं स महाबलः ।
विचचार हरिश्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ४२ ॥

बड़े-बड़े शिखरोंसे ऊँचे प्रतीत होनेवाले महेन्द्र पर्वतपर आरूढ़ हो इन्द्रतुल्य पराक्रमी महाबली कपिश्रेष्ठ हनुमान् वहाँ इधर-उधर टहलने लगे ॥ ४२ ॥

पादाभ्यां पीडितस्तेन महाशैलो महात्मना ।
ररास सिंहाभिहतो महान् मत्त इव द्विपः ॥ ४३ ॥

महाकाय हनुमान्‌जीके दोनों पैरोंसे दबा हुआ वह महान् पर्वत सिंहसे आक्रान्त हुए महान् मदमत्त गजराजकी भाँति चीत्कार-सा करने लगा (वहाँ रहनेवाले प्राणियोंके शब्द ही मानो उसका आर्त चीत्कार था) ॥ ४३ ॥

मुमोच सलिलोत्पीडान् विप्रकीर्णशिलोच्चयः ।
वित्रस्तमृगमातङ्गः प्रकम्पितमहाद्रुमः ॥ ४४ ॥

उसके शिलासमूह इधर-उधर बिखर गये। उससे नये-नये झरने फूट निकले। वहाँ रहनेवाले मृग और हाथी भयसे थर्रा उठे और बड़े-बड़े वृक्ष झोंके खाकर झूमने लगे ॥ ४४ ॥

नानागन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः ।
उत्पतद्भिर्विहंगैश्च विद्याधरगणैरपि ॥ ४५ ॥
त्यज्यमानमहासानुः संनिलीनमहोरगः ।
शैलशृङ्गशिलोत्पातस्तदाभूत् स महागिरिः ॥ ४६ ॥

मधुपानके संसर्गसे उद्धत-चित्तवाले अनेकानेक गन्धर्वोंके जोड़े, विद्याधरोंके समुदाय और उड़ते हुए पक्षी भी उस पर्वतके विशाल शिखरोंको छोड़कर जाने लगे। बड़े-बड़े सर्प बिलोंमें छिप गये तथा उस पर्वतके शिखरोंसे बड़ी-बड़ी शिलाएँ टूट-टूटकर गिरने लगीं। इस प्रकार वह महान् पर्वत बड़ी दुरवस्थामें पड़ गया ॥ ४५-४६ ॥

निःश्वसद्भिस्तदा तैस्तु भुजगैरर्धनिःसृतैः ।
सपताक इवाभाति स तदा धरणीधरः ॥ ४७ ॥

बिलोंसे अपने आधे शरीरको बाहर निकालकर लंबी साँस खींचते हुए सर्पोंसे उपलक्षित होनेवाला वह महान् पर्वत उस समय अनेकानेक पताकाओंसे अलंकृत-सा प्रतीत होता था ॥ ४७ ॥

ऋषिभिस्त्राससम्भ्रान्तैस्त्यज्यमानः शिलोच्चयः ।
सीदन् महति कान्तारे सार्थहीन इवाध्वगः ॥ ४८ ॥

भयसे घबराये हुए ऋषि-मुनि भी उस पर्वतको छोड़ने लगे। जैसे विशाल दुर्गम वनमें अपने साथियोंसे बिछुड़ा हुआ एक राही भारी विपत्तिमें फँस जाता है, यही दशा उस महान् पर्वत महेन्द्रकी हो रही थी ॥ ४८ ॥

स वेगवान् वेगसमाहितात्मा
हरिप्रवीरः परवीरहन्ता ।
मनः समाधाय महानुभावो
जगाम लङ्कां मनसा मनस्वी ॥ ४९ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वानरसेनाके श्रेष्ठ वीर वेग-शाली महामनस्वी महानुभाव हनुमान्‌जीका मन वेगपूर्वक छलाँग मारनेकी योजनामें लगा हुआ था। उन्होंने चित्तको एकाग्र करके मन-ही-मन लङ्काका स्मरण किया ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये किष्किन्धाकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके किष्किन्धाकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

किष्किन्धाकाण्डं सम्पूर्णम्

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

सुन्दरकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा समुद्रका लङ्घन, मैनाकके द्वारा उनका स्वागत, सुरसापर उनकी विजय तथा सिंहिकाका वध करके उनका समुद्रके उस पार पहुँचकर लङ्काकी शोभा देखना

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्षणः ।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ॥ १ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका संहार करनेवाले हनुमान्‌जीने रावणद्वारा हरी गयी सीताके निवासस्थानका पता लगानेके लिये उस आकाशमार्गसे जानेका विचार किया, जिसपर चारण (देवजातिविशेष) विचरा करते हैं ॥ १ ॥

दुष्करं निष्प्रतिद्वन्द्वं चिकीर्षन् कर्म वानरः ।
समुदग्रशिरोग्रीवो गवां पतिरिवाबभौ ॥ २ ॥

कपिवर हनुमान्‌जी ऐसा कर्म करना चाहते थे, जो दूसरोंके लिये दुष्कर था तथा उस कार्यमें उन्हें किसी औरकी सहायता भी नहीं प्राप्त थी । उन्होंने मस्तक और ग्रीवा ऊँची की । उस समय वे हृष्ट-पुष्ट साँड़के समान प्रतीत होने लगे ॥ २ ॥

अथ वैदूर्यवर्णेषु शाद्वलेषु महाबलः ।
धीरः सलिलकल्पेषु विचचार यथासुखम् ॥ ३ ॥

फिर धीर स्वभाववाले वे महाबली पवनकुमार वैदूर्यमणि (नीलम) और समुद्रके जलकी भाँति हरी-हरी घासपर सुखपूर्वक विचरने लगे ॥ ३ ॥

द्विजान् वित्रासयन् धीमानुरसा पादपान् हरन् ।
मृगांश्च सुबहून् निघ्नन् प्रवृद्ध इव केसरी ॥ ४ ॥

उस समय बुद्धिमान् हनुमान्‌जी पक्षियोंको त्रास देते, वृक्षोंको वक्षःस्थलके आघातसे धराशायी करते तथा बहुत-से मृगों (वन-जन्तुओं) को कुचलते हुए पराक्रममें बढ़े-चढ़े सिंहके समान शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

नीललोहितमाञ्जिष्ठपद्मवर्णैः सितासितैः ।
स्वभावसिद्धैर्विमलैर्धातुभिः समलंकृतम् ॥ ५ ॥

उस पर्वतका जो तलप्रदेश था, वह पहाड़ोंमें स्वभावसे ही उत्पन्न होनेवाली नीली, लाल, मजीठ और कमलके-से रंगवाली श्वेत तथा श्याम वर्णवाली निर्मल धातुओंसे अच्छी तरह अलंकृत था ॥ ५ ॥

कामरूपिभिराविष्टमभीक्ष्णं सपरिच्छदैः ।
यक्षकिंनरगन्धर्वैर्देवकल्पैः सपन्नगैः ॥ ६ ॥

उसपर देवोपम यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और नाग, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे, निरन्तर परिवारसहित निवास करते थे ॥ ६ ॥

स तस्य गिरिवर्यस्य तले नागवरायुते ।
तिष्ठन् कपिवरस्तत्र ह्रदे नाग इवाबभौ ॥ ७ ॥

बड़े-बड़े गजराजोंसे भरे हुए उस पर्वतके समतल प्रदेशमें खड़े हुए कपिवर हनुमान्‌जी वहाँ जलाशयमें स्थित हुए विशालकाय हाथीके समान जान पड़ते थे ॥ ७ ॥

स सूर्याय महेन्द्राय पवनाय स्वयम्भुवे ।
भूतेभ्यश्चाञ्जलिं कृत्वा चकार गमने मतिम् ॥ ८ ॥

उन्होंने सूर्य, इन्द्र, पवन, ब्रह्मा और भूतों (देवयोनि-विशेषों) को भी हाथ जोड़कर उस पार जानेका विचार किया ॥ ८ ॥

अञ्जलिं प्राङ्मुखं कुर्वन् पवनायात्मयोनये ।
ततो हि ववृधे गन्तुं दक्षिणो दक्षिणां दिशम् ॥ ९ ॥

फिर पूर्वाभिमुख होकर अपने पिता पवनदेवको प्रणाम किया । तत्पश्चात् कार्यकुशल हनुमान्‌जी दक्षिण दिशामें जानेके लिये बढ़ने लगे (अपने शरीरको बढ़ाने लगे) ॥ ९ ॥

प्लवगप्रवरैर्दृष्टः प्लवने कृतनिश्चयः ।
ववृधे रामवृद्ध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु ॥ १० ॥

बड़े-बड़े वानरोंने देखा जैसे पूर्णिमाके दिन समुद्रमें ज्वार आने लगता है, उसी प्रकार, समुद्र-लङ्घनके लिये दृढ़ निश्चय करनेवाले हनुमान्‌जी श्रीरामकी कार्य-सिद्धिके लिये बढ़ने लगे ॥ १० ॥

निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्घयिषुरर्णवम् ।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम् ॥ ११ ॥

समुद्रको लाँघनेकी इच्छासे उन्होंने अपने शरीरको

बेहद बढ़ा लिया और अपनी दोनों भुजाओं तथा चरणोंसे उस पर्वतको दबाया ॥ ११ ॥

स चचालाचलश्चाशु मुहूर्तं कपिपीडितः।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत् ॥ १२ ॥

कपिवर हनुमान्जीके द्वारा दबाये जानेपर तुरंत ही वह पर्वत काँप उठा और दो घड़ीतक डगमगाता रहा। उसके ऊपर जो वृक्ष उगे थे, उनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंसे लदे हुए थे; किंतु उस पर्वतके हिलनेसे उनके वे सारे फूल झड़ गये ॥ १२ ॥

तेन पादपमुक्तेन पुष्पौघेण सुगन्धिना।
सर्वतः संवृतः शैलो बभौ पुष्पमयो यथा ॥ १३ ॥

वृक्षोंसे झड़ी हुई उस सुगन्धित पुष्पराशिके द्वारा सब ओरसे आच्छादित हुआ वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था, मानो वह फूलोंका ही बना हुआ हो ॥ १३ ॥

तेन चोत्तमवीर्येण पीड्यमानः स पर्वतः।
सलिलं सम्प्रसुस्राव मदमत्त इव द्विपः ॥ १४ ॥

महापराक्रमी हनुमान्जीके द्वारा दबाया जाता हुआ महेन्द्रपर्वत जलके स्रोत बहाने लगा, मानो कोई मदमत्त गजराज अपने कुम्भस्थलसे मदकी धारा बहा रहा हो ॥१४॥

पीड्यमानस्तु बलिना महेन्द्रस्तेन पर्वतः।
रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः ॥ १५ ॥

बलवान् पवनकुमारके भारसे दबा हुआ महेन्द्रगिरि सुनहरे, रुपहले और काले रंगके जलस्रोत प्रवाहित करने लगा ॥ १५ ॥

मुमोच च शिलाः शैलो विशालाः समनःशिलाः।
मध्यमेनार्चिषा जुष्टो धूमराजीरिवानलः ॥ १६ ॥

इतना ही नहीं, जैसे मध्यम ज्वालासे युक्त अग्नि लगातार धुआँ छोड़ रही हो, उसी प्रकार वह पर्वत मैनसिल-सहित बड़ी-बड़ी शिलाएँ गिराने लगा ॥ १६ ॥

हरिणा पीड्यमानेन पीड्यमानानि सर्वतः।
गुहाविष्टानि सत्त्वानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥ १७ ॥

हनुमान्जीके उस पर्वत-पीडनसे पीड़ित होकर वहाँके समस्त जीव गुफाओंमें घुस गये और बुरी तरहसे चिल्लाने लगे ॥ १७ ॥

स महान् सत्त्वसंनादः शैलपीडानिमित्तजः।
पृथिवीं पूरयामास दिशश्चोपवनानि च ॥ १८ ॥

इस प्रकार पर्वतको दबानेके कारण उत्पन्न हुआ वह जीव-जन्तुओंका महान् कोलाहल पृथ्वी, उपवन और सम्पूर्ण दिशाओंमें भर गया ॥ १८ ॥

शिरोभिः पृथुभिर्नागा व्यक्तस्वस्तिकलक्षणैः।
वमन्तः पावकं घोरं ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥

जिनमें स्वस्तिक[1] चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहे थे, उन स्थूल फणोंसे विषकी भयानक आग उगलते हुए बड़े-बड़े सर्प उस पर्वतकी शिलाओंको अपने दाँतोंसे डँसने लगे ॥१९॥

तास्तदा सविषैर्दष्टाः कुपितैस्तैर्महाशिलाः।
जज्वलुः पावकोद्दीप्ता बिभिदुश्च सहस्रधा ॥ २० ॥

क्रोधसे भरे हुए उन विषैले साँपोंके काटनेपर वे बड़ी-बड़ी शिलाएँ इस प्रकार जल उठीं, मानो उनमें आग लग गयी हो। उस समय उन सबके सहस्रों टुकड़े हो गये ॥ २० ॥

यानि त्वौषधजालानि तस्मिञ्जातानि पर्वते।
विषघ्नान्यपि नागानां न शेकुः शमितुं विषम् ॥ २१ ॥

उस पर्वतपर जो बहुत-सी ओषधियाँ उगी हुई थीं, वे विषको नष्ट करनेवाली होनेपर भी उन नागोंके विषको शान्त न कर सकीं ॥ २१ ॥

भिद्यतेऽयं गिरिर्भूतैरिति मत्वा तपस्विनः।
त्रस्ता विद्याधरास्तस्मादुत्पेतुः स्त्रीगणैः सह ॥ २२ ॥

उस समय वहाँ रहनेवाले तपस्वी और विद्याधरोंने समझा कि इस पर्वतको भूतलोग तोड़ रहे हैं, इससे भयभीत होकर वे अपनी स्त्रियोंके साथ वहाँसे ऊपर उठकर अन्तरिक्षमें चले गये ॥ २२ ॥

पानभूमिगतं हित्वा हैममासवभाजनम्।
पात्राणि च महार्हाणि करकांश्च हिरण्मयान् ॥ २३ ॥
लेह्यानुच्चावचान् भक्ष्यान् मांसानि विविधानि च।
आर्षभाणि च चर्माणि खड्गांश्च कनकत्सरून् ॥ २४ ॥
कृतकण्ठगुणाः क्षीबा रक्तमाल्यानुलेपनाः।
रक्ताक्षाः पुष्कराक्षाश्च गगनं प्रतिपेदिरे ॥ २५ ॥

मधुपानके स्थानमें रक्खे हुए सुवर्णमय आसवपात्र, बहुमूल्य बर्तन, सोनेके कलश, भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थ, चटनी, नाना प्रकारके फलोंके गूदे, बैलोंकी खालकी बनी हुई ढालें और सुवर्णजटित मूठवाली तलवारें छोड़कर कण्ठमें माला धारण किये, लाल रंगके फूल और अनुलेपन (चन्दन) लगाये, प्रफुल्ल कमलके सदृश सुन्दर एवं लाल नेत्रवाले वे मतवाले विद्याधरगण भयभीत-से होकर आकाशमें चले गये ॥ २३—२५ ॥

हारनूपुरकेयूरपारिहार्यधराः स्त्रियः।
विस्मिताः सस्मितास्तस्थुराकाशे रमणैः सह ॥ २६ ॥

उनकी स्त्रियाँ गलेमें हार, पैरोंमें नूपुर, भुजाओंमें बाजूबंद और कलाइयोंमें कंगन धारण किये आकाशमें

---

१. साँपके फनोंमें दिखायी देनेवाली नील रेखाको स्वस्तिक कहते हैं।

अपने पतियोंके साथ मन्द-मन्द मुस्कराती हुई चकित-सी खड़ी हो गयीं ॥ २६ ॥

दर्शयन्तो महाविद्यां विद्याधरमहर्षयः ।
सहितास्तस्थुराकाशे वीक्षांचक्रुश्च पर्वतम् ॥ २७ ॥

विद्याधर और महर्षि अपनी महाविद्या (आकाशमें निराधार खड़े होनेकी शक्ति) का परिचय देते हुए अन्तरिक्षमें एक साथ खड़े हो गये और उस पर्वतकी ओर देखने लगे ॥ २७ ॥

शुश्रुवुश्च तदा शब्दमृषीणां भावितात्मनाम् ।
चारणानां च सिद्धानां स्थितानां विमलेऽम्बरे ॥ २८ ॥

उन्होंने उस समय निर्मल आकाशमें खड़े हुए भावितात्मा (पवित्र अन्तःकरणवाले) महर्षियों, चारणों और सिद्धोंकी ये बातें सुनीं—॥ २८ ॥

एष पर्वतसंकाशो हनुमान् मारुतात्मजः ।
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम् ॥ २९ ॥

'अहा ! ये पर्वतके समान विशालकाय महान् वेगशाली पवनपुत्र हनुमान्‌जी वरुणालय समुद्रको पार करना चाहते हैं ॥ २९ ॥

रामार्थं वानरार्थं च चिकीर्षन् कर्म दुष्करम् ।
समुद्रस्य परं पारं दुष्प्रापं प्राप्तुमिच्छति ॥ ३० ॥

'श्रीरामचन्द्रजी और वानरोंके कार्यकी सिद्धिके लिये दुष्कर कर्म करनेकी इच्छा रखनेवाले ये पवनकुमार समुद्रके दूसरे तटपर पहुँचना चाहते हैं, जहाँ जाना अत्यन्त कठिन है' ॥ ३० ॥

इति विद्याधरा वाचः श्रुत्वा तेषां तपस्विनाम् ।
तमप्रमेयं ददृशुः पर्वते वानरर्षभम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार विद्याधरोंने उन तपस्वी महात्माओंकी कही हुई ये बातें सुनकर पर्वतके ऊपर अतुलित बलशाली वानरशिरोमणि हनुमान्‌जीको देखा ॥ ३१ ॥

दुधुवे च स रोमाणि चकम्पे चानलोपमः ।
ननाद च महानादं सुमहानिव तोयदः ॥ ३२ ॥

उस समय हनुमान्‌जी अग्निके समान जान पड़ते थे। उन्होंने अपने शरीरको हिलाया और रोएँ झाड़े तथा महान् मेघके समान बड़े जोर-जोरसे गर्जना की ॥ ३२ ॥

आनुपूर्व्या च वृत्तं तल्लाङ्गूलं रोमभिश्चितम् ।
उत्पतिष्यन् विचिक्षेप पक्षिराज इवोरगम् ॥ ३३ ॥

हनुमान्‌जी अब ऊपरको उछलना ही चाहते थे। उन्होंने क्रमशः गोलाकार मुड़ी तथा रोमावलियोंसे भरी हुई अपनी पूँछको उसी प्रकार आकाशमें फेंका जैसे पक्षिराज गरुड़ सर्पको फेंकते हैं ॥ ३३ ॥

तस्य लाङ्गूलमाविद्धमतिवेगस्य पृष्ठतः ।
ददृशे गरुडेनेव ह्रियमाणो महोरगः ॥ ३४ ॥

अत्यन्त वेगशाली हनुमान्‌जीके पीछे आकाशमें फैली हुई उनकी कुछ-कुछ मुड़ी हुई पूँछ गरुड़के द्वारा ले जाये जाते हुए महान् सर्पके समान दिखायी देती थी ॥ ३४ ॥

बाहू संस्तम्भयामास महापरिघसंनिभौ ।
आससाद कपिः कट्यां चरणौ संचुकोच च ॥ ३५ ॥

उन्होंने अपनी विशाल परिघके समान भुजाओंको पर्वतपर जमाया। फिर ऊपरके सब अङ्गोंको इस तरह सिकोड़ लिया कि वे कटिकी सीमामें ही आ गये; साथ ही उन्होंने दोनों पैरोंको भी समेट लिया ॥ ३५ ॥

संहृत्य च भुजौ श्रीमांस्तथैव च शिरोधराम् ।
तेजः सत्त्वं तथा वीर्यमाविवेश स वीर्यवान् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् तेजस्वी और पराक्रमी हनुमान्‌जीने अपनी दोनों भुजाओं और गर्दनको भी सिकोड़ लिया। इस समय उनमें तेज, बल और पराक्रम—सभीका आवेश हुआ ॥ ३६ ॥

मार्गमालोकयन् दूरादूर्ध्वप्रणिहितेक्षणः ।
रुरोध हृदये प्राणानाकाशमवलोकयन् ॥ ३७ ॥

उन्होंने अपने लंबे मार्गपर दृष्टि दौड़ानेके लिये नेत्रोंको ऊपर उठाया और आकाशकी ओर देखते हुए प्राणोंको हृदयमें रोका ॥ ३७ ॥

पद्भ्यां दृढमवस्थानं कृत्वा स कपिकुञ्जरः ।
निकुञ्च्य कर्णौ हनुमानुत्पतिष्यन् महाबलः ॥ ३८ ॥
वानरान् वानरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।

इस प्रकार ऊपरको छलाँग मारनेकी तैयारी करते हुए कपिश्रेष्ठ महाबली हनुमान्‌ने अपने पैरोंको अच्छी तरह जमाया और कानोंको सिकोड़कर उन वानरशिरोमणिने अन्य वानरोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३८½ ॥

यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः ॥ ३९ ॥
गच्छेत् तद्वद् गमिष्यामि लङ्कां रावणपालिताम् ।

'जैसे श्रीरामचन्द्रजीका छोड़ा हुआ बाण वायुवेगसे चलता है, उसी प्रकार मैं रावणद्वारा पालित लङ्कापुरीमें जाऊँगा ॥ ३९½ ॥

नहि द्रक्ष्यामि यदि तां लङ्कायां जनकात्मजाम् ॥ ४० ॥
अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम् ।

'यदि लङ्कामें जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखूँगा तो इसी वेगसे मैं स्वर्गलोकमें चला जाऊँगा ॥ ४०½ ॥

यदि वा त्रिदिवे सीतां न द्रक्ष्यामि कृतश्रमः ॥ ४१ ॥
बद्ध्वा राक्षसराजानमानयिष्यामि रावणम् ।

इस प्रकार परिश्रम करनेपर यदि मुझे स्वर्गमें भी सीताका दर्शन नहीं होगा तो राक्षसराज रावणको बाँधकर लाऊँगा ॥ ४१½ ॥

सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया ॥ ४२ ॥
आनयिष्यामि वा लङ्कां समुत्पाट्य सरावणाम्।

'सर्वथा कृतकृत्य होकर मैं सीताके साथ लौटूँगा अथवा रावणसहित लङ्कापुरीको ही उखाड़कर लाऊँगा' ॥ ४२½ ॥

एवमुक्त्वा तु हनुमान् वानरो वानरोत्तमः ॥ ४३ ॥
उत्पपाताथ वेगेन वेगवानविचारयन्।
सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः ॥ ४४ ॥

ऐसा कहकर वेगशाली वानरप्रवर श्रीहनुमान्‌जीने विघ्न-बाधाओंका कोई विचार न करके बड़े वेगसे ऊपरकी ओर छलाँग मारी। उस समय उन वानरशिरोमणिने अपनेको साक्षात् गरुड़के समान ही समझा ॥ ४३-४४ ॥

समुत्पतति वेगात् तु वेगात् ते नगरोहिणः।
संहृत्य विटपान् सर्वान् समुत्पेतुः समन्ततः ॥ ४५ ॥

जिस समय वे कूदे, उस समय उनके वेगसे आकृष्ट हो पर्वतपर उगे हुए सब वृक्ष उखड़ गये और अपनी सारी डालियोंको समेटकर उनके साथ ही सब ओरसे वेगपूर्वक उड़ चले ॥ ४५ ॥

स मत्तकोयष्टिभकान् पादपान् पुष्पशालिनः।
उद्वहन्नुरुवेगेन जगाम विमलेऽम्बरे ॥ ४६ ॥

वे हनुमान्‌जी मतवाले कोयष्टि आदि पक्षियोंसे युक्त बहुसंख्यक पुष्पशोभित वृक्षोंको अपने महान् वेगसे ऊपरकी ओर खींचते हुए निर्मल आकाशमें अग्रसर होने लगे ॥ ४६ ॥

ऊरुवेगोत्थिता वृक्षा मुहूर्तं कपिमन्वयुः।
प्रस्थितं दीर्घमध्वानं स्वबन्धुमिव बान्धवाः ॥ ४७ ॥

उनकी जाँघोंके महान् वेगसे ऊपरको उठे हुए वृक्ष एक मुहूर्ततक उनके पीछे-पीछे इस प्रकार गये, जैसे दूर-देशके पथपर जानेवाले अपने भाई-बन्धुको उसके बन्धु-बान्धव पहुँचाने जाते हैं ॥ ४७ ॥

तमूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः।
अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महीपतिम् ॥ ४८ ॥

हनुमान्‌जीकी जाँघोंके वेगसे उखड़े हुए साल तथा दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ वृक्ष उनके पीछे-पीछे उसी प्रकार चले, जैसे राजाके पीछे उसके सैनिक चलते हैं ॥ ४८ ॥

सुपुष्पिताग्रैर्बहुभिः पादपैरन्वितः कपिः।
हनूमान् पर्वताकारो बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४९ ॥

जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंसे सुशोभित थे, उन बहुतेरे वृक्षोंसे संयुक्त हुए पर्वताकार हनुमान्‌जी अद्भुत शोभासे सम्पन्न दिखायी दिये ॥ ४९ ॥

सारवन्तोऽथ ये वृक्षा न्यमज्जँल्लवणाम्भसि।
भयादिव महेन्द्रस्य पर्वता वरुणालये ॥ ५० ॥

उन वृक्षोंमेंसे जो भारी थे, वे थोड़ी ही देरमें गिरकर क्षारसमुद्रमें डूब गये। ठीक उसी तरह, जैसे कितने ही पंखधारी पर्वत देवराज इन्द्रके भयसे वरुणालयमें निमग्न हो गये थे ॥ ५० ॥

स नानाकुसुमैः कीर्णः कपिः साङ्कुरकोरकैः।
शुशुभे मेघसंकाशः खद्योतैरिव पर्वतः ॥ ५१ ॥

मेघके समान विशालकाय हनुमान्‌जी अपने साथ खींचकर आये हुए वृक्षोंके अङ्कुर और कोरसहित फूलोंसे आच्छादित हो जुगुनुओंकी जगमगाहटसे युक्त पर्वतके समान शोभा पाते थे ॥ ५१ ॥

विमुक्तास्तस्य वेगेन मुक्त्वा पुष्पाणि ते द्रुमाः।
व्यवशीर्यन्त सलिले निवृत्ताः सुहृदो यथा ॥ ५२ ॥

वे वृक्ष जब हनुमान्‌जीके वेगसे मुक्त हो जाते (उनके आकर्षणसे छूट जाते), तब अपने फूल बरसाते हुए इस प्रकार समुद्रके जलमें डूब जाते थे, जैसे सुहृद्वर्गके लोग परदेश जानेवाले अपने किसी बन्धुको दूरतक पहुँचाकर लौट आते हैं ॥ ५२ ॥

लघुत्वेनोपपन्नं तद् विचित्रं सागरेऽपतत्।
द्रुमाणां विविधं पुष्पं कपिवायुसमीरितम्।
ताराचितमिवाकाशं प्रबभौ स महार्णवः ॥ ५३ ॥

हनुमान्‌जीके शरीरसे उठी हुई वायुसे प्रेरित हो वृक्षोंके भाँति-भाँतिके पुष्प अत्यन्त हल्के होनेके कारण जब समुद्रमें गिरते थे, तब डूबते नहीं थे। इसलिये उनकी विचित्र शोभा होती थी। उन फूलोंके कारण वह महासागर तारोंसे भरे हुए आकाशके समान सुशोभित होता था ॥ ५३ ॥

पुष्पौघेण सुगन्धेन नानावर्णेन वानरः।
बभौ मेघ इवोद्यन् वै विद्युद्गणविभूषितः ॥ ५४ ॥

अनेक रंगकी सुगन्धित पुष्पराशिसे उपलक्षित वानर-वीर हनुमान्‌जी बिजलीसे सुशोभित होकर उठते हुए मेघके समान जान पड़ते थे ॥ ५४ ॥

तस्य वेगसमुद्भूतैः पुष्पैस्तोयमदृश्यत।
ताराभिरिव रामाभिरुदिताभिरिवाम्बरम् ॥ ५५ ॥

उनके वेगसे झड़े हुए फूलोंके कारण समुद्रका जल उगे हुए रमणीय तारोंसे खचित आकाशके समान दिखायी देता था ॥ ५५ ॥

तस्याम्बरगतौ बाहू ददृशाते प्रसारितौ।
पर्वताग्राद् विनिष्क्रान्तौ पञ्चास्याविव पन्नगौ ॥ ५६ ॥

आकाशमें फैलायी गयी उनकी दोनों भुजाएँ ऐसी दिखायी देती थीं, मानो किसी पर्वतके शिखरसे पाँच फनवाले दो सर्प निकले हुए हों ॥ ५६ ॥

पिबन्निव बभौ चापि सोर्मिजालं महार्णवम्।
पिपासुरिव चाकाशं ददृशे स महाकपिः ॥ ५७ ॥

उस समय महाकपि हनुमान् ऐसे प्रतीत होते थे, मानो तरङ्गमालाओंसहित महासागरको पी रहे हों। वे ऐसे

दिखायी देते थे, मानो आकाशको भी पी जाना चाहते हों ॥ ५७ ॥

तस्य विद्युत्प्रभाकारे वायुमार्गानुसारिणः ।
नयने विप्रकाशेते पर्वतस्थाविवानलौ ॥ ५८ ॥

वायुके मार्गका अनुसरण करनेवाले हनुमान्‌जीके बिजलीकी-सी चमक पैदा करनेवाले दोनों नेत्र ऐसे प्रकाशित हो रहे थे, मानो पर्वतपर दो स्थानोंमें लगे हुए दावानल दहक रहे हों ॥ ५८ ॥

पिङ्गे पिङ्गाक्षमुख्यस्य बृहती परिमण्डले ।
चक्षुषी सम्प्रकाशेते चन्द्रसूर्याविव स्थितौ ॥ ५९ ॥

पिंगल नेत्रवाले वानरोंमें श्रेष्ठ हनुमान्‌जीकी दोनों गोल बड़ी-बड़ी और पीले रंगकी आँखें चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥ ५९ ॥

मुखं नासिकया तस्य ताम्रया ताम्रमाबभौ ।
संध्यया समभिस्पृष्टं यथा स्यात् सूर्यमण्डलम् ॥ ६० ॥

लाल-लाल नासिकाके कारण उनका सारा मुँह लाली लिये हुए था, अतः वह संध्याकालसे संयुक्त सूर्यमण्डलके समान सुशोभित होता था ॥ ६० ॥

लाङ्गूलं च समाविद्धं प्लवमानस्य शोभते ।
अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वज इवोच्छ्रितम् ॥ ६१ ॥

आकाशमें तैरते हुए पवनपुत्र हनुमान्‌की उठी हुई टेढ़ी पूँछ इन्द्रकी ऊँची ध्वजाके समान जान पड़ती थी ॥ ६१ ॥

लाङ्गूलचक्रो हनुमाञ्शुक्लदंष्ट्रोऽनिलात्मजः ।
व्यरोचत महाप्राज्ञः परिवेषीव भास्करः ॥ ६२ ॥

महाबुद्धिमान् पवनपुत्र हनुमान्‌जीकी दाढ़ें सफेद थीं और पूँछ गोलाकार मुड़ी हुई थी । इसलिये वे परिधिसे घिरे हुए सूर्यमण्डलके समान जान पड़ते थे ॥ ६२ ॥

स्फिग्देशेनातिताम्रेण रराज स महाकपिः ।
महता दारितेनेव गिरिर्गैरिकधातुना ॥ ६३ ॥

उनकी कमरके नीचेका भाग बहुत लाल था । इससे वे महाकपि हनुमान् फटे हुए गेरूसे युक्त विशाल पर्वतके समान शोभा पाते थे ॥ ६३ ॥

तस्य वानरसिंहस्य प्लवमानस्य सागरम् ।
कक्षान्तरगतो वायुर्जीमूत इव गर्जति ॥ ६४ ॥

ऊपर-ऊपरसे समुद्रको पार करते हुए वानरसिंह हनुमान्‌की काँखसे होकर निकली हुई वायु बादलके समान गरजती थी ॥ ६४ ॥

खे यथा निपतत्युल्का उत्तरान्ताद् विनिःसृता ।
दृश्यते सानुबन्धा च तथा स कपिकुञ्जरः ॥ ६५ ॥

जैसे ऊपरकी दिशासे प्रकट हुई पुच्छयुक्त उल्का आकाशमें जाती देखी जाती है, उसी प्रकार अपनी पूँछके कारण कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी भी दिखायी देते थे ॥ ६५ ॥

पतत्पतङ्गसंकाशो व्यायतः शुशुभे कपिः ।
प्रवृद्ध इव मातङ्गः कक्ष्यया बध्यमानया ॥ ६६ ॥

चलते हुए सूर्यके समान विशालकाय हनुमान्‌जी अपनी पूँछके कारण ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो कोई बड़ा गजराज अपनी कमरमें बँधी हुई रस्सीसे सुशोभित हो रहा हो ॥ ६६ ॥

उपरिष्टाच्छरीरेण च्छायया चावगाढया ।
सागरे मारुताविष्टा नौरिवासीत् तदा कपिः ॥ ६७ ॥

हनुमान्‌जीका शरीर समुद्रसे ऊपर-ऊपर चल रहा था और उनकी परछाईं जलमें डूबी हुई-सी दिखायी देती थी । इस प्रकार शरीर और परछाईं दोनोंसे उपलक्षित हुए वे कपिवर हनुमान् समुद्रके जलमें पड़ी हुई उस नौकाके समान प्रतीत होते थे, जिसका ऊपरी भाग (पाल) वायुसे परिपूर्ण हो और निम्नभाग समुद्रके जलसे लगा हुआ हो ॥ ६७ ॥

यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः ।
स तु तस्याङ्गवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ॥ ६८ ॥

वे समुद्रके जिस-जिस भागमें जाते थे, वहाँ-वहाँ उनके अङ्गके वेगसे उत्ताल तरङ्गें उठने लगती थीं । अतः वह भाग उन्मत्त (विक्षुब्ध)-सा दिखायी देता था ॥ ६८ ॥

सागरस्योर्मिजालानामुरसा शैलवर्ष्मणाम् ।
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥ ६९ ॥

महान् वेगशाली महाकपि हनुमान् पर्वतोंके समान ऊँची महासागरकी तरङ्गमालाओंको अपनी छातीसे चूर-चूर करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ६९ ॥

कपिवातश्च बलवान् मेघवातश्च निर्गतः ।
सागरं भीमनिर्ह्रादं कम्पयामासतुर्भृशम् ॥ ७० ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌के शरीरसे उठी हुई तथा मेघोंकी घटामें व्याप्त हुई प्रबल वायुने भीषण गर्जना करनेवाले समुद्रमें भारी हलचल मचा दी ॥ ७० ॥

विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि ।
पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निव रोदसी ॥ ७१ ॥

वे कपिकेसरी अपने प्रचण्ड वेगसे समुद्रमें बहुत-सी ऊँची-ऊँची तरङ्गोंको आकर्षित करते हुए इस प्रकार उड़े जा रहे थे, मानो पृथ्वी और आकाश दोनोंको विक्षुब्ध कर रहे हैं ॥ ७१ ॥

मेरुमन्दरसंकाशानुद्गतान् सुमहार्णवे ।
अत्यक्रामन्महावेगस्तरङ्गान् गणयन्निव ॥ ७२ ॥

वे महान् वेगशाली वानरवीर उस महासमुद्रमें उठी हुई सुमेरु और मन्दराचलके समान उत्ताल तरङ्गोंकी मानो गणना करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ७२ ॥

तस्य वेगसमुद्धुष्टं जलं सजलदं तदा ।
अम्बरस्थं विबभ्राजे शरदभ्रमिवाततम् ॥ ७३ ॥

उस समय उनके वेगसे ऊँचे उठकर मेघमण्डलके साथ आकाशमें स्थित हुआ समुद्रका जल शरत्कालके फैले हुए मेघोंके समान जान पड़ता था ॥ ७३ ॥

तिमिनक्रझषाः कूर्मा दृश्यन्ते विवृतास्तदा।
वस्त्रापकर्षणेनेव शरीराणि शरीरिणाम् ॥ ७४ ॥

जल हट जानेके कारण समुद्रके भीतर रहनेवाले मगर, नाकें, मछलियाँ और कछुए साफ-साफ दिखायी देते थे जैसे वस्त्र खींच लेनेपर देहधारियोंके शरीर नंगे दीखने लगते हैं ॥ ७४ ॥

क्रममाणं समीक्ष्याथ भुजगाः सागरंगमाः।
व्योम्नि तं कपिशार्दूलं सुपर्णमिव मेनिरे ॥ ७५ ॥

समुद्रमें विचरनेवाले सर्प आकाशमें जाते हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको देखकर उन्हें गरुड़के ही समान समझने लगे ॥ ७५ ॥

दशयोजनविस्तीर्णा त्रिंशद्योजनमायता।
छाया वानरसिंहस्य जवे चारुतराभवत् ॥ ७६ ॥

कपिकेसरी हनुमान्‌जीकी दस योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी छाया वेगके कारण अत्यन्त रमणीय जान पड़ती थी ॥ ७६ ॥

श्वेताभ्रघनराजीव वायुपुत्रानुगामिनी।
तस्य सा शुशुभे छाया पतिता लवणाम्भसि ॥ ७७ ॥

खारे पानीके समुद्रमें पड़ी हुई पवनपुत्र हनुमान्‌का अनुसरण करनेवाली उनकी वह छाया श्वेत बादलोंकी पंक्तिके समान शोभा पाती थी ॥ ७७ ॥

शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः।
वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः ॥ ७८ ॥

वे परम तेजस्वी महाकाय महाकपि हनुमान् आलम्बन-हीन आकाशमें पंखधारी पर्वतके समान जान पड़ते थे ॥

येनासौ याति बलवान् वेगेन कपिकुञ्जरः।
तेन मार्गेण सहसा द्रोणीकृत इवार्णवः ॥ ७९ ॥

वे बलवान् कपिश्रेष्ठ जिस मार्गसे वेगपूर्वक निकल जाते थे, उस मार्गसे संयुक्त समुद्र सहसा कठौते या कड़ाहके समान हो जाता था (उनके वेगसे उठी हुई वायुके द्वारा वहाँका जल हट जानेसे वह स्थान कठौते आदिके समान गहरा-सा दिखायी पड़ता था) ॥ ७९ ॥

आपाते पक्षिसङ्घानां पक्षिराज इव व्रजन्।
हनुमान् मेघजालानि प्रकर्षन् मारुतो यथा ॥ ८० ॥

पक्षी-समूहोंके उड़नेके मार्गमें पक्षिराज गरुड़की भाँति जाते हुए हनुमान् वायुके समान मेघमालाओंको अपनी ओर खींच लेते थे ॥ ८० ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमञ्जिष्ठकानि च।
कपिनाऽऽकृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे ॥ ८१ ॥

हनुमान्‌जीके द्वारा खींचे जाते हुए वे श्वेत, अरुण, नील और मजीठके-से रंगवाले बड़े-बड़े मेघ वहाँ बड़ी शोभा पाते थे ॥ ८१ ॥

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव दृश्यते ॥ ८२ ॥

वे बारंबार बादलोंके समूहमें घुस जाते और बाहर निकल आते थे। इस तरह छिपते और प्रकाशित होते हुए चन्द्रमाके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ ८२ ॥

प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा प्लवगं त्वरितं तदा।
ववृषुस्तत्र पुष्पाणि देवगन्धर्वचारणाः ॥ ८३ ॥

उस समय तीव्रगतिसे आगे बढ़ते हुए वानरवीर हनुमान्‌जीको देखकर देवता, गन्धर्व और चारण उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ ८३ ॥

तताप नहि तं सूर्यः प्लवन्तं वानरेश्वरम्।
सिषेवे च तदा वायू रामकार्यार्थसिद्धये ॥ ८४ ॥

वे श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये जा रहे थे, अतः उस समय वेगसे जाते हुए वानरराज हनुमान्‌को सूर्य-देवने ताप नहीं पहुँचाया और वायुदेवने भी उनकी सेवा की ॥ ८४ ॥

ऋषयस्तुष्टुवुश्चैनं प्लवमानं विहायसा।
जगुश्च देवगन्धर्वाः प्रशंसन्तो वनौकसम् ॥ ८५ ॥

आकाशमार्गसे यात्रा करते हुए वानरवीर हनुमान्‌की ऋषि-मुनि स्तुति करने लगे तथा देवता और गन्धर्व उनकी प्रशंसाके गीत गाने लगे ॥ ८५ ॥

नागाश्च तुष्टुवुर्यक्षा रक्षांसि विविधानि च।
प्रेक्ष्य सर्वे कपिवरं सहसा विगतक्लमम् ॥ ८६ ॥

उन कपिश्रेष्ठको बिना थकावटके सहसा आगे बढ़ते देख नाग, यक्ष और नाना प्रकारके राक्षस सभी उनकी स्तुति करने लगे ॥ ८६ ॥

तस्मिन् प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति।
इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः ॥ ८७ ॥

जिस समय कपिकेसरी हनुमान्‌जी उछलकर समुद्र पार कर रहे थे, उस समय इक्ष्वाकुकुलका सम्मान करनेकी इच्छासे समुद्रने विचार किया—॥ ८७ ॥

साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः।
करिष्यामि भविष्यामि सर्ववाच्यो विवक्षताम् ॥ ८८ ॥

'यदि मैं वानरराज हनुमान्‌जीकी सहायता नहीं करूँगा तो बोलनेकी इच्छावाले सभी लोगोंकी दृष्टिमें मैं सर्वथा निन्दनीय हो जाऊँगा ॥ ८८ ॥

अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः।
इक्ष्वाकुसचिवश्चायं तन्नार्हत्यवसादितुम् ॥ ८९ ॥

'मुझे इक्ष्वाकुकुलके महाराज सगरने बढ़ाया था। इस समय ये हनुमान्‌जी भी इक्ष्वाकुवंशी वीर श्रीरघुनाथजी-की सहायता कर रहे हैं, अतः इन्हें इस यात्रामें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होना चाहिये ॥ ८९ ॥

तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः ।
शेषं च मयि विश्रान्तः सुखी सोऽतितरिष्यति ॥ ९० ॥

'मुझे ऐसा कोई उपाय करना चाहिये, जिससे वानरवीर यहाँ कुछ विश्राम कर लें। मेरे आश्रयमें विश्राम कर लेनेपर मेरे शेष भागको ये सुगमतासे पार कर लेंगे' ॥ ९० ॥

इति कृत्वा मतिं साध्वीं समुद्रश्छन्नमम्भसि ।
हिरण्यनाभं मैनाकमुवाच गिरिसत्तमम् ॥ ९१ ॥

यह शुभ विचार करके समुद्रने अपने जलमें छिपे हुए सुवर्णमय गिरिश्रेष्ठ मैनाकसे कहा— ॥ ९१ ॥

त्वमिहासुरसङ्घानां देवराज्ञा महात्मना ।
पातालनिलयानां हि परिघः संनिवेशितः ॥ ९२ ॥

'शैलप्रवर ! महामना देवराज इन्द्रने तुम्हें यहाँ पातालवासी असुरसमूहोंके निकलनेके मार्गको रोकनेके लिये परिघरूपसे स्थापित किया है ॥ ९२ ॥

त्वमेषां ज्ञातवीर्याणां पुनरेवोत्पतिष्यताम् ।
पातालस्याप्रमेयस्य द्वारमावृत्य तिष्ठसि ॥ ९३ ॥

'इन असुरोंका पराक्रम सर्वत्र प्रसिद्ध है, वे फिर पातालसे ऊपरको आना चाहते हैं, अतः उन्हें रोकनेके लिये तुम अप्रमेय पाताललोकके द्वारको बंद करके खड़े हो ॥ ९३ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव शक्तिस्ते शैल वर्धितुम् ।
तस्मात् संचोदयामि त्वामुत्तिष्ठ गिरिसत्तम ॥ ९४ ॥

'शैल ! ऊपर-नीचे और अगल-बगलमें सब ओर बढ़नेकी तुममें शक्ति है। गिरिश्रेष्ठ ! इसीलिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम ऊपरकी ओर उठो ॥ ९४ ॥

स एष कपिशार्दूलस्त्वामुपर्येति वीर्यवान् ।
हनूमान् रामकार्यार्थी भीमकर्मा खमाप्लुतः ॥ ९५ ॥

'देखो, ये पराक्रमी कपिकेसरी हनुमान् तुम्हारे ऊपर होकर जा रहे हैं। ये बड़ा भयंकर कर्म करनेवाले हैं, इस समय श्रीरामका कार्य सिद्ध करनेके लिये इन्होंने आकाशमें छलाँग मारी है ॥ ९५ ॥

अस्य साह्यं मया कार्यमिक्ष्वाकुकुलवर्तिनः ।
मम इक्ष्वाकवः पूज्याः परं पूज्यतमास्तव ॥ ९६ ॥

'ये इक्ष्वाकुवंशी रामके सेवक हैं, अतः मुझे इनकी सहायता करनी चाहिये। इक्ष्वाकुवंशके लोग मेरे पूजनीय हैं और तुम्हारे लिये तो वे परम पूजनीय हैं ॥ ९६ ॥

कुरु साचिव्यमस्माकं न नः कार्यमतिक्रमेत् ।
कर्तव्यमकृतं कार्यं सतां मन्युमुदीरयेत् ॥ ९७ ॥

'अतः तुम हमारी सहायता करो। जिससे हमारे कर्तव्य-कर्मका (हनुमान्जीके सत्काररूपी कार्यका) अवसर बीत न जाय। यदि कर्तव्यका पालन नहीं किया जाय तो वह सत्पुरुषोंके क्रोधको जगा देता है ॥ ९७ ॥

सलिलादूर्ध्वमुत्तिष्ठ तिष्ठत्वेष कपिस्त्वयि ।
अस्माकमतिथिश्चैव पूज्यश्च प्लवतां वरः ॥ ९८ ॥

'इसलिये तुम पानीसे ऊपर उठो, जिससे ये छलाँग मारनेवालोंमें श्रेष्ठ कपिवर हनुमान् तुम्हारे ऊपर कुछ कालतक ठहरें—विश्राम करें। वे हमारे पूजनीय अतिथि भी हैं ॥ ९८ ॥

चामीकरमहानाभ देवगन्धर्वसेवित ।
हनूमांस्त्वयि विश्रान्तस्ततः शेषं गमिष्यति ॥ ९९ ॥

'देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा सेवित तथा सुवर्णमय विशाल शिखरवाले मैनाक ! तुम्हारे ऊपर विश्राम करनेके पश्चात् हनुमान्जी शेष मार्गको सुखपूर्वक तय कर लेंगे ॥ ९९ ॥

काकुत्स्थस्यानृशंस्यं च मैथिल्याश्च विवासनम् ।
श्रमं च प्लवगेन्द्रस्य समीक्ष्योत्थातुमर्हसि ॥ १०० ॥

'ककुत्स्थवंशी श्रीरामचन्द्रजीकी दयालुता, मिथिलेशकुमारी सीताका परदेशमें रहनेके लिये विवश होना तथा वानरराज हनुमान्का परिश्रम देखकर तुम्हें अवश्य ऊपर उठना चाहिये' ॥ १०० ॥

हिरण्यगर्भो मैनाको निशम्य लवणाम्भसः ।
उत्पपात जलात् तूर्णं महाद्रुमलतावृतः ॥ १०१ ॥

यह सुनकर बड़े-बड़े वृक्षों और लताओंसे आवृत सुवर्णमय मैनाक पर्वत तुरंत ही क्षार समुद्रके जलसे ऊपरको उठ गया ॥ १०१ ॥

स सागरजलं भित्त्वा बभूवात्युच्छ्रितस्तदा ।
यथा जलधरं भित्त्वा दीप्तरश्मिर्दिवाकरः ॥ १०२ ॥

जैसे उद्दीप्त किरणोंवाले दिवाकर (सूर्य) मेघोंके आवरणको भेदकर उदित होते हैं, उसी प्रकार उस समय महासागरके जलका भेदन करके वह पर्वत बहुत ऊँचा उठ गया ॥ १०२ ॥

स महात्मा मुहूर्तेन पर्वतः सलिलावृतः ।
दर्शयामास शृङ्गाणि सागरेण नियोजितः ॥ १०३ ॥

समुद्रकी आज्ञा पाकर जलमें छिपे रहनेवाले उस विशालकाय पर्वतने दो ही घड़ीमें हनुमान्जीको अपने शिखरोंका दर्शन कराया ॥ १०३ ॥

शातकुम्भमयैः शृङ्गैः सकिंनरमहोरगैः ।
आदित्योदयसंकाशैरालिखद्भिरिवाम्बरम् ॥ १०४ ॥

उस पर्वतके वे शिखर सुवर्णमय थे। उनपर किंनर और बड़े-बड़े नाग निवास करते थे। सूर्योदयके समान तेजःपुञ्जसे विभूषित वे शिखर इतने ऊँचे थे कि आकाशमें रेखा-सी खींच रहे थे ॥ १०४ ॥

तस्य जाम्बूनदैः शृङ्गैः पर्वतस्य समुत्थितैः ।
आकाशं शस्त्रसंकाशमभवत् काञ्चनप्रभम् ॥ १०५ ॥

उस पर्वतके उठे हुए सुवर्णमय शिखरोंके कारण शस्त्रके

समान नील वर्णवाला आकाश सुनहरी प्रभासे उद्भासित होने लगा ॥ १०५ ॥

जातरूपमयैः शृङ्गैर्भ्राजमानैर्महाप्रभैः ।
आदित्यशतसंकाशः सोऽभवद् गिरिसत्तमः ॥१०६॥

उन परम कान्तिमान् और तेजस्वी सुवर्णमय शिखरोंसे वह गिरिश्रेष्ठ मैनाक सैकड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥ १०६ ॥

समुत्थितमसङ्गेन हनूमानग्रतः स्थितम् ।
मध्ये लवणतोयस्य विघ्नोऽयमिति निश्चितः ॥१०७॥

क्षार समुद्रके बीचमें अविलम्ब उठकर सामने खड़े हुए मैनाकको देखकर हनुमान्‌जीने मन-ही-मन निश्चित किया कि यह कोई विघ्न उपस्थित हुआ है ॥ १०७ ॥

स तमुच्छ्रितमत्यर्थं महावेगो महाकपिः ।
उरसा पातयामास जीमूतमिव मारुतः ॥१०८॥

अतः वायु जैसे बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार महान् वेगशाली महाकपि हनुमान्‌ने बहुत ऊँचे उठे हुए मैनाक पर्वतके उस उच्चतर शिखरको अपनी छातीके धक्केसे नीचे गिरा दिया ॥ १०८ ॥

स तदासादितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ।
बुद्ध्वा तस्य हरेर्वेगं जहर्ष च ननाद च ॥१०९॥

इस प्रकार कपिवर हनुमान्‌जीके द्वारा नीचा देखनेपर उनके उस महान् वेगका अनुभव करके पर्वतश्रेष्ठ मैनाक बड़ा प्रसन्न हुआ और गर्जना करने लगा ॥ १०९ ॥

तमाकाशगतं वीरमाकाशे समुपस्थितः ।
प्रीतो हृष्टमना वाक्यमब्रवीत् पर्वतः कपिम् ॥११०॥
मानुषं धारयन् रूपमात्मनः शिखरे स्थितः ।

तब आकाशमें स्थित हुए उस पर्वतने आकाशगत वीर वानर हनुमान्‌जीसे प्रसन्नचित्त होकर कहा । वह मनुष्यरूप धारण करके अपने ही शिखरपर स्थित हो इस प्रकार बोला—॥ ११०½ ॥

दुष्करं कृतवान् कर्म त्वमिदं वानरोत्तम ॥१११॥
निपत्य मम शृङ्गेषु सुखं विश्रम्य गम्यताम् ।

'वानरशिरोमणे ! आपने यह दुष्कर कर्म किया है । अब उतरकर मेरे इन शिखरोंपर सुखपूर्वक विश्राम कर लीजिये, फिर आगेकी यात्रा कीजियेगा ॥ १११½ ॥

राघवस्य कुले जातैरुदधिः परिवर्धितः ॥११२॥
स त्वां रामहिते युक्तं प्रत्यर्चयति सागरः ।

'श्रीरघुनाथजीके पूर्वजोंने समुद्रकी वृद्धि की थी, इस समय आप उनका हित करनेमें लगे हैं; अतः समुद्र आपका सत्कार करना चाहता है ॥ ११२½ ॥

कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥११३॥
सोऽयं तत्प्रतिकारार्थी त्वत्तः सम्मानमर्हति ।

'किसीने उपकार किया हो तो बदलेमें उसका भी उपकार किया जाय—यह सनातन धर्म है । इस दृष्टिसे प्रत्युपकार करनेकी इच्छावाला यह सागर आपसे सम्मान पानेके योग्य है (आप इसका सत्कार ग्रहण करें, इतनेसे ही इसका सम्मान हो जायगा) ॥ ११३½ ॥

त्वन्निमित्तमनेनाहं बहुमानात् प्रचोदितः ॥११४॥
योजनानां शतं चापि कपिरेष खमाप्लुतः ।
तव सानुषु विश्रान्तः शेषं प्रक्रमतामिति ॥११५॥

'आपके सत्कारके लिये समुद्रने बड़े आदरसे मुझे नियुक्त किया है और कहा है—'इन कपिवर हनुमान्‌ने सौ योजन दूर जानेके लिये आकाशमें छलाँग मारी है, अतः कुछ देर-तक तुम्हारे शिखरोंपर ये विश्राम कर लें, फिर शेष भागका लङ्घन करेंगे' ॥ ११४-११५ ॥

तिष्ठ त्वं हरिशार्दूल मयि विश्रम्य गम्यताम् ।
तदिदं गन्धवत् स्वादु कन्दमूलफलं बहु ॥११६॥
तदास्वाद्य हरिश्रेष्ठ विश्रान्तोऽथ गमिष्यसि ।

'अतः कपिश्रेष्ठ ! आप कुछ देरतक मेरे ऊपर विश्राम कर लीजिये, फिर जाइयेगा । इस स्थानपर ये बहुत-से सुगन्धित और सुस्वादु कन्द, मूल तथा फल हैं । वानर-शिरोमणे ! इनका आस्वादन करके थोड़ी देरतक सुस्ता लीजिये । उसके बाद आगेकी यात्रा कीजियेगा ॥ ११६½ ॥

अस्माकमपि सम्बन्धः कपिमुख्य त्वयास्ति वै ।
प्रख्यातस्त्रिषु लोकेषु महागुणपरिग्रहः ॥११७॥

'कपिवर ! आपके साथ हमारा भी कुछ सम्बन्ध है । आप महान् गुणोंका संग्रह करनेवाले और तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ॥ ११७ ॥

वेगवन्तः प्लवन्तो ये प्लवगा मारुतात्मज ।
तेषां मुख्यतमं मन्ये त्वामहं कपिकुञ्जर ॥११८॥

'कपिश्रेष्ठ पवननन्दन ! जो-जो वेगशाली और छलाँग मारनेवाले वानर हैं, उन सबमें मैं आपहीको श्रेष्ठतम मानता हूँ ॥ ११८ ॥

अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता ।
धर्मं जिज्ञासमानेन किं पुनर्यादृशो भवान् ॥११९॥

'धर्मकी जिज्ञासा रखनेवाले विज्ञ पुरुषके लिये एक साधारण अतिथि भी निश्चय ही पूजाके योग्य माना गया है । फिर आप-जैसे असाधारण शौर्यशाली पुरुष कितने सम्मानके योग्य हैं, इस विषयमें तो कहना क्या है ! ॥११९॥

त्वं हि देववरिष्ठस्य मारुतस्य महात्मनः ।
पुत्रस्तस्यैव वेगेन सदृशः कपिकुञ्जर ॥१२०॥

'कपिश्रेष्ठ ! आप देवशिरोमणि महात्मा वायुके पुत्र हैं और वेगमें भी उन्हींके समान हैं ॥ १२० ॥

पूजिते त्वयि धर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः ।
तस्मात् त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम् ॥१२१॥

'आप धर्मके ज्ञाता हैं । आपकी पूजा होनेपर साक्षात्

तस्याः पूजन हो जायगा। इसलिये आप अवश्य ही मेरे कर्तुं हैं। इसमें एक और भी कारण है, उसे सुनिये ॥१२१॥

कृतयुगे तात पर्वताः पक्षिणोऽभवन्।
तेऽपि जग्मुर्दिशः सर्वा गरुडा इव वेगिनः ॥ १२२ ॥

'तात ! पूर्वकालके सत्ययुगकी बात है। उन दिनों पर्वतोंके भी पंख होते थे। वे भी गरुड़के समान वेगशाली होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें उड़ते-फिरते थे ॥ १२२ ॥

ततस्तेषु प्रयातेषु देवसङ्घाः सहर्षिभिः।
भूतानि च भयं जग्मुस्तेषां पतनशङ्कया ॥ १२३ ॥

'उनके इस तरह वेगपूर्वक उड़ने और आने-जानेपर देवता, ऋषि और समस्त प्राणियोंको उनके गिरनेकी आशङ्कासे बड़ा भय होने लगा ॥ १२३ ॥

ततः क्रुद्धः सहस्राक्षः पर्वतानां शतक्रतुः।
पक्षांश्चिच्छेद वज्रेण ततः शतसहस्रशः ॥ १२४ ॥

'इससे सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र कुपित हो उठे और उन्होंने अपने वज्रसे लाखों पर्वतोंके पंख काट डाले ॥

स मामुपगतः क्रुद्धो वज्रमुद्यम्य देवराट्।
ततोऽहं सहसा क्षिप्तः श्वसनेन महात्मना ॥ १२५ ॥

'उस समय कुपित हुए देवराज इन्द्र वज्र उठाये मेरी ओर भी आये, किंतु महात्मा वायुने सहसा मुझे इस समुद्रमें गिरा दिया ॥ १२५ ॥

अस्मिँल्लवणतोये च प्रक्षिप्तः प्लवगोत्तम।
गुप्तपक्षः समग्रश्च तव पित्राभिरक्षितः ॥ १२६ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! इस क्षार समुद्रमें गिराकर आपके पिताने मेरे पंखोंकी रक्षा कर ली और मैं अपने सम्पूर्ण अंशसे सुरक्षित बच गया ॥ १२६ ॥

ततोऽहं मानयामि त्वां मान्योऽसि मम मारुते।
त्वया ममैष सम्बन्धः कपिमुख्य महागुणः ॥ १२७ ॥

'पवननन्दन ! कपिश्रेष्ठ ! इसीलिये मैं आपका आदर करता हूँ। आप मेरे माननीय हैं। आपके साथ मेरा यह सम्बन्ध महान् गुणोंसे युक्त है ॥ १२७ ॥

अस्मिन्नेवंगते कार्ये सागरस्य ममैव च।
प्रीतिं प्रीतमनाः कर्तुं त्वमर्हसि महामते ॥ १२८ ॥

'महामते ! इस प्रकार चिरकालके बाद जो यह प्रत्युपकाररूप कार्य (आपके पिताके उपकारका बदला चुकानेका अवसर) प्राप्त हुआ है, इसमें आप प्रसन्नचित्त होकर मेरी और समुद्रकी भी प्रीतिका सम्पादन करें (हमारा आतिथ्य ग्रहण करके हमें संतुष्ट करें) ॥ १२८ ॥

श्रमं मोक्षय पूजां च गृहाण हरिसत्तम।
प्रीतिं च मम मान्यस्य प्रीतोऽस्मि तव दर्शनात् ॥ १२९ ॥

'वानरशिरोमणे ! आप यहाँ अपनी थकान उतारिये, हमारी पूजा ग्रहण कीजिये और मेरे प्रेमको भी स्वीकार कीजिये। मैं आप-जैसे माननीय पुरुषके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हुआ हूँ' ॥ १२९ ॥

एवमुक्तः कपिश्रेष्ठस्तं नगोत्तममब्रवीत्।
प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १३० ॥

मैनाकके ऐसा कहनेपर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने उस उत्तम पर्वतसे कहा—'मैनाक ! मुझे भी आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरा आतिथ्य हो गया। अब आप अपने मनसे यह दुःख अथवा चिन्ता निकाल दीजिये कि इन्होंने मेरी पूजा ग्रहण नहीं की ॥ १३० ॥

त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते।
प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा ॥ १३१ ॥

'मेरे कार्यका समय मुझे बहुत जल्दी करनेके लिये प्रेरित कर रहा है। यह दिन भी बीता जा रहा है। मैंने वानरोंके समीप यह प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं यहाँ बीचमें कहीं नहीं ठहर सकता' ॥ १३१ ॥

इत्युक्त्वा पाणिना शैलमालभ्य हरिपुङ्गवः।
जगामाकाशमाविश्य वीर्यवान् प्रहसन्निव ॥ १३२ ॥

ऐसा कहकर महाबली वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने हँसते हुए-से वहाँ मैनाकका अपने हाथसे स्पर्श किया और आकाशमें ऊपर उठकर चलने लगे ॥ १३२ ॥

स पर्वतसमुद्राभ्यां बहुमानादवेक्षितः।
पूजितश्चोपपन्नाभिराशीर्भिरभिनन्दितः ॥ १३३ ॥

उस समय पर्वत और समुद्र दोनोंने ही बड़े आदरसे उनकी ओर देखा, उनका सत्कार किया और यथोचित आशीर्वादोंसे उनका अभिनन्दन किया ॥ १३३ ॥

अथोर्ध्वं दूरमागत्य हित्वा शैलमहार्णवौ।
पितुः पन्थानमासाद्य जगाम विमलेऽम्बरे ॥ १३४ ॥

फिर पर्वत और समुद्रको छोड़कर उनसे दूर ऊपर उठकर अपने पिताके मार्गका आश्रय ले हनुमान्‌जी निर्मल आकाशमें चलने लगे ॥ १३४ ॥

भूयश्चोर्ध्वं गतिं प्राप्य गिरिं तमवलोकयन्।
वायुसूनुर्निरालम्बो जगाम कपिकुञ्जरः ॥ १३५ ॥

तत्पश्चात् और भी ऊँचे उठकर उस पर्वतको देखते हुए कपिश्रेष्ठ पवनपुत्र हनुमान्‌जी बिना किसी आधारके आगे बढ़ने लगे ॥ १३५ ॥

तद् द्वितीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम्।
प्रशशंसुः सुराः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ १३६ ॥

हनुमान्‌जीका यह दूसरा अत्यन्त दुष्कर कर्म देखकर सम्पूर्ण देवता, सिद्ध और महर्षिगण उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३६ ॥

देवताश्चाभवन् हृष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा।
काञ्चनस्य सुनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः ॥ १३७ ॥

वहाँ आकाशमें ठहरे हुए देवता तथा सहस्र नेत्रधारी इन्द्र उस सुन्दर मध्य भागवाले सुवर्णमय मैनाक पर्वतके उस कार्यसे बहुत प्रसन्न हुए ॥ १३७ ॥

उवाच वचनं धीमान् परितोषात् सगद्गदम्।
सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥ १३८ ॥

उस समय स्वयं बुद्धिमान् शचीपति इन्द्रने अत्यन्त संतुष्ट होकर पर्वतश्रेष्ठ सुनाभ मैनाकसे गद्गद वाणीमें कहा—॥ १३८ ॥

हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्।
अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥ १३९ ॥

'सुवर्णमय शैलराज मैनाक ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। सौम्य ! तुम्हें अभय दान देता हूँ। तुम सुखपूर्वक जहाँ चाहो, जाओ ॥ १३९ ॥

साह्यं कृतं ते सुमहद् विश्रान्तस्य हनूमतः।
क्रमतो योजनशतं निर्भयस्य भये सति ॥ १४० ॥

'सौ योजन समुद्रको लाँघते समय जिनके मनमें कोई भय नहीं रहा है, फिर भी जिनके लिये हमारे हृदयमें यह भय था कि पता नहीं इनका क्या होगा ? उन्हीं हनुमान्जी-को विश्रामका अवसर देकर तुमने उनकी बहुत बड़ी सहायता की है ॥ १४० ॥

रामस्यैष हितायैव याति दाशरथेः कपिः।
सत्क्रियां कुर्वता शक्त्या तोषितोऽस्मि दृढं त्वया ॥ १४१ ॥

'ये वानरश्रेष्ठ हनुमान् दशरथनन्दन श्रीरामकी सहायताके लिये ही जा रहे हैं। तुमने यथाशक्ति इनका सत्कार करके मुझे पूर्ण संतोष प्रदान किया है' ॥ १४१ ॥

स तत् प्रहर्षमलभद् विपुलं पर्वतोत्तमः।
देवतानां पतिं दृष्ट्वा परितुष्टं शतक्रतुम् ॥ १४२ ॥

देवताओंके स्वामी शतक्रतु इन्द्रको संतुष्ट देखकर पर्वतोंमें श्रेष्ठ मैनाकको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥ १४२ ॥

स वै दत्तवरः शैलो बभूवावस्थितस्तदा।
हनूमांश्च मुहूर्तेन व्यतिचक्राम सागरम् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार इन्द्रका दिया हुआ वर पाकर मैनाक उस समय जलमें स्थित हो गया और हनुमान्जी समुद्रके उस प्रदेशको उसी मुहूर्तमें लाँघ गये ॥ १४३ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अब्रुवन् सूर्यसंकाशां सुरसां नागमातरम् ॥ १४४ ॥

तब देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षियोंने सूर्यतुल्य तेजस्विनी नागमाता सुरसासे कहा—॥ १४४ ॥

अयं वातात्मजः श्रीमान् प्लवते सागरोपरि।
हनूमान् नाम तस्य त्वं मुहूर्तं विघ्नमाचर ॥ १४५ ॥

'ये पवननन्दन श्रीमान् हनुमान्जी समुद्रके ऊपर होकर जा रहे हैं। तुम दो घड़ीके लिये इनके मार्गमें विघ्न डाल दो ॥ १४५ ॥

राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम्।
दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभःस्पृशम् ॥

'तुम पर्वतके समान अत्यन्त भयंकर राक्षसीका रूप धारण करो। उसमें विकराल दाढ़ें, पीले नेत्र और आकाशको स्पर्श करनेवाला विकट मुँह बनाओ ॥ १४६ ॥

बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम्।
त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति ॥ १४७ ॥

'हमलोग पुनः हनुमान्जीके बल और पराक्रमकी परीक्षा लेना चाहते हैं। या तो किसी उपायसे ये तुम्हें जीत लेंगे अथवा विषादमें पड़ जायँगे (इससे इनके बलाबलका ज्ञान हो जायगा) ॥ १४७ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी दैवतैरभिसत्कृता।
समुद्रमध्ये सुरसा बिभ्रती राक्षसं वपुः ॥ १४८ ॥
विकृतं च विरूपं च सर्वस्य च भयावहम्।
प्लवमानं हनूमन्तमावृत्येदमुवाच ह ॥ १४९ ॥

देवताओंके सत्कारपूर्वक इस प्रकार कहनेपर देवी सुरसाने समुद्रके बीचमें राक्षसीका रूप धारण किया। उसका वह रूप बड़ा ही विकट, बेडौल और सबके लिये भयावना था। वह समुद्रके पार जाते हुए हनुमान्जीको घेरकर उनसे इस प्रकार बोली—॥ १४८-१४९ ॥

मम भक्ष्यः प्रदिष्टस्त्वमीश्वरैर्वानरर्षभ।
अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम् ॥ १५० ॥

'कपिश्रेष्ठ ! देवेश्वरोंने तुम्हें मेरा भक्ष्य बताकर मुझे अर्पित कर दिया है, अतः मैं तुम्हें खाऊँगी। तुम मेरे इस मुँहमें चले आओ ॥ १५० ॥

वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा।
व्यादाय वक्त्रं विपुलं स्थिता सा मारुतेः पुरः ॥ १५१ ॥

'पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मुझे यह वर दिया था।' ऐसा कहकर वह तुरंत ही अपना विशाल मुँह फैलाकर हनुमान्जीके सामने खड़ी हो गयी ॥ १५१ ॥

एवमुक्तः सुरसया प्रहृष्टवदनोऽब्रवीत्।
रामो दाशरथिर्नाम प्रविष्टो दण्डकावनम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वैदेह्या चापि भार्यया ॥ १५२ ॥

सुरसाके ऐसा कहनेपर हनुमान्जीने प्रसन्नमुख होकर कहा—'देवि ! दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण और धर्मपत्नी सीताजीके साथ दण्डकारण्यमें आये थे ॥ १५२ ॥

अन्यकार्यविषक्तस्य बद्धवैरस्य राक्षसैः।
तस्य सीता हृता भार्या रावणेन यशस्विनी ॥ १५३ ॥

'वहाँ परहित-साधनमें लगे हुए श्रीरामका राक्षसोंके साथ वैर बँध गया। अतः रावणने उनकी यशस्विनी भार्या सीताको हर लिया ॥ १५३ ॥

तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात् ।
कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनि ॥१५४॥

'मैं श्रीरामकी आज्ञासे उनका दूत बनकर सीताजीके पास जा रहा हूँ। तुम भी श्रीरामके राज्यमें निवास करती हो। अतः तुम्हें उनकी सहायता करनी चाहिये ॥ १५४ ॥

अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम् ।
आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥१५५॥

'अथवा (यदि तुम मुझे खाना ही चाहती हो तो) मैं सीताजीका दर्शन करके अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीसे जब मिल लूँगा, तब तुम्हारे मुखमें आ जाऊँगा—यह तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ॥ १५५ ॥

एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी ।
अब्रवीन्नातिवर्तेन्मां कश्चिदेष वरो मम ॥१५६॥

हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली सुरसा बोली—'मुझे यह वर मिला है कि कोई भी मुझे लाँघकर आगे नहीं जा सकता' ॥ १५६ ॥

तं प्रयान्तं समुद्वीक्ष्य सुरसा वाक्यमब्रवीत् ।
बलं जिज्ञासमाना सा नागमाता हनूमतः ॥१५७॥

फिर भी हनुमान्जीको जाते देख उनके बलको जाननेकी इच्छा रखनेवाली नागमाता सुरसाने उनसे कहा—॥ १५७ ॥

निविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम ।
वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥१५८॥
व्यादाय विपुलं वक्त्रं स्थिता सा मारुतेः पुरः ।

'वानरश्रेष्ठ ! आज मेरे मुखमें प्रवेश करके ही तुम्हें आगे जाना चाहिये । पूर्वकालमें विधाताने मुझे ऐसा ही वर दिया था ।' ऐसा कहकर सुरसा तुरंत अपना विशाल मुँह फैलाकर हनुमान्जीके सामने खड़ी हो गयी ॥ १५८½ ॥

एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुंगवः ॥१५९॥
अब्रवीत् कुरु वै वक्त्रं येन मां विषहिष्यसि ।
इत्युक्त्वा सुरसां क्रुद्धो दशयोजनमायताम् ॥१६०॥
दशयोजनविस्तारो हनूमानभवत् तदा ।
तं दृष्ट्वा मेघसंकाशं दशयोजनमायतम् ।
चकार सुरसाप्यास्यं विंशद्योजनमायतम् ॥१६१॥

सुरसाके ऐसा कहनेपर वानरशिरोमणि हनुमान्जी कुपित हो उठे और बोले—'तुम अपना मुँह इतना बड़ा बना लो जिससे उसमें मेरा भार सह सको' यों कहकर जब वे मौन हुए, तब सुरसाने अपना मुख दस योजन विस्तृत बना लिया। यह देखकर कुपित हुए हनुमान्जी भी तत्काल दस योजन बड़े हो गये। उन्हें मेघके समान दस योजन विस्तृत शरीरसे युक्त हुआ देख सुरसाने भी अपने मुखको बीस योजन बड़ा बना लिया ॥ १५९—१६१ ॥

हनूमांस्तु ततः क्रुद्धस्त्रिंशद्योजनमायतः ।
चकार सुरसा वक्त्रं चत्वारिंशत् तथोच्छ्रितम् ॥१६२॥

तब हनुमान्जीने क्रुद्ध होकर अपने शरीरको तीस योजन अधिक बढ़ा दिया। फिर तो सुरसाने भी अपने मुँहको चालीस योजन ऊँचा कर लिया ॥ १६२ ॥

बभूव हनुमान् वीरः पञ्चाशद् योजनोच्छ्रितः ।
चकार सुरसा वक्त्रं षष्टिं योजनमुच्छ्रितम् ॥१६३॥

यह देख वीर हनुमान् पचास योजन ऊँचे हो गये। तब सुरसाने अपना मुँह साठ योजन ऊँचा बना लिया ॥१६३॥

तदैव हनुमान् वीरः सप्ततिं योजनोच्छ्रितः ।
चकार सुरसा वक्त्रमशीतिं योजनोच्छ्रितम् ॥१६४॥

फिर तो वीर हनुमान् उसी क्षण सत्तर योजन ऊँचे हो गये। अब सुरसाने अस्सी योजन ऊँचा मुँह बना लिया ॥

हनूमाननलप्रख्यो नवतिं योजनोच्छ्रितः ।
चकार सुरसा वक्त्रं शतयोजनमायतम् ॥१६५॥

तदनन्तर अग्निके समान तेजस्वी हनुमान् नब्बे योजन ऊँचे हो गये । यह देख सुरसाने भी अपने मुँहका विस्तार सौ योजनका कर लिया* ॥ १६५ ॥

तद् दृष्ट्वा व्यादितं त्वास्यं वायुपुत्रः स बुद्धिमान् ।
दीर्घजिह्वं सुरसया सुभीमं नरकोपमम् ॥१६६॥
स संक्षिप्यात्मनः कायं जीमूत इव मारुतिः ।
तस्मिन् मुहूर्ते हनुमान् बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ॥१६७॥

सुरसाके फैलाये हुए उस विशाल जिह्वासे युक्त और नरकके समान अत्यन्त भयंकर मुँहको देखकर बुद्धिमान् वायुपुत्र हनुमान्ने मेघकी भाँति अपने शरीरको संकुचित कर लिया। वे उसी क्षण अंगूठेके बराबर छोटे हो गये॥१६६-१६७॥

सोऽभिपद्याथ तद्वक्त्रं निष्पत्य च महाबलः ।
अन्तरिक्षे स्थितः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥१६८॥

फिर वे महाबली श्रीमान् पवनकुमार सुरसाके उस मुँहमें प्रवेश करके तुरंत निकल आये और आकाशमें खड़े होकर इस प्रकार बोले—॥ १६८ ॥

प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोऽस्तु ते ।
गमिष्ये यत्र वैदेही सत्यश्चासीद् वरस्तव ॥१६९॥

'दक्षकुमारी ! तुम्हें नमस्कार है । मैं तुम्हारे मुँहमें प्रवेश कर चुका । लो, तुम्हारा वर भी सत्य हो गया। अब मैं उस स्थानको जाऊँगा, जहाँ विदेहकुमारी सीता विद्यमान हैं' ॥ १६९ ॥

तं दृष्ट्वा वदनान्मुक्तं चन्द्रं राहुमुखादिव ।
अब्रवीत् सुरसा देवी स्वेन रूपेण वानरम् ॥१७०॥

राहुके मुखसे छूटे हुए चन्द्रमाकी भाँति अपने मुखसे

* १६२ से लेकर १६५ तकके चार श्लोक कुछ टीकाकारोंने प्रक्षिप्त बताये हैं, किंतु रामायणशिरोमणि नामक टीकामें इनकी व्याख्या उपलब्ध होती है । अतः यहाँ मूलमें इन्हें सम्मिलित कर लिया गया है ।

मुक्त हुए हनुमान्‌जीको देखकर सुरसा देवीने अपने असली रूपमें प्रकट होकर उन वानरवीरसे कहा—॥ १७० ॥

अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम्।
समानय च वैदेहीं राघवेण महात्मना ॥१७१॥

'कपिश्रेष्ठ ! तुम भगवान् श्रीरामके कार्यकी सिद्धिके लिये सुखपूर्वक जाओ। सौम्य ! विदेहनन्दिनी सीताको महात्मा श्रीरामसे शीघ्र मिलाओ' ॥ १७१ ॥

तत् तृतीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम्।
साधुसाध्विति भूतानि प्रशशंसुस्तदा हरिम् ॥१७२॥

कपिवर हनुमान्‌जीका यह तीसरा अत्यन्त दुष्कर कर्म देख सब प्राणी वाह-वाह करके उनकी प्रशंसा करने लगे ॥

स सागरमनाधृष्यमभ्येत्य वरुणालयम्।
जगामाकाशमाविश्य वेगेन गरुडोपमः ॥१७३॥

वे वरुणके निवासभूत अलङ्घ्य समुद्रके निकट आकर आकाशका ही आश्रय ले गरुड़के समान वेगसे आगे बढ़ने लगे ॥

सेविते वारिधाराभिः पतगैश्च निषेविते।
चरिते कैशिकाचार्यैरैरावतनिषेविते ॥१७४॥
सिंहकुञ्जरशार्दूलपतगोरगवाहनैः।
विमानैः सम्पतद्भिश्च विमलैः समलंकृते ॥१७५॥
वज्राशनिसमस्पर्शैः पावकैरिव शोभिते।
कृतपुण्यैर्महाभागैः स्वर्गजिद्भिरधिष्ठिते ॥१७६॥
वहता हव्यमत्यन्तं सेविते चित्रभानुना।
ग्रहनक्षत्रचन्द्रार्कतारागणविभूषिते ॥१७७॥
महर्षिगणगन्धर्वनागयक्षसमाकुले।
विविक्ते विमले विश्वे विश्वावसुनिषेविते ॥१७८॥
देवराजगजाक्रान्ते चन्द्रसूर्यपथे शिवे।
विताने जीवलोकस्य वितते ब्रह्मनिर्मिते ॥१७९॥
बहुशः सेविते वीरैर्विद्याधरगणैर्वृते।
जगाम वायुमार्गे च गरुत्मानिव मारुतिः ॥१८०॥

जो जलकी धाराओंसे सेवित, पक्षियोंसे संयुक्त, गान-विद्याके आचार्य तुम्बुरु आदि गन्धर्वोंके विचरणका स्थान तथा ऐरावतके आने-जानेका मार्ग है, सिंह, हाथी, बाघ, पक्षी और सर्प आदि वाहनोंसे जुते और उड़ते हुए निर्मल विमान जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जिनका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह तथा तेज अग्निके समान प्रकाशमान है तथा जो स्वर्गलोकपर विजय पा चुके हैं, ऐसे महाभाग पुण्यात्मा पुरुषोंका जो निवासस्थान है, देवताके लिये अधिक मात्रामें हविष्यका भार वहन करनेवाले अग्निदेव जिसका सदा सेवन करते हैं, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य और तारे आभूषणकी भाँति जिसे सजाते हैं, महर्षियोंके समुदाय, गन्धर्व, नाग और यक्ष जहाँ भरे रहते हैं, जो जगत्‌का आश्रय-स्थान, एकान्त और निर्मल है, गन्धर्वराज विश्वावसु जिसमें निवास करते हैं, देवराज इन्द्रका हाथी जहाँ चलता-फिरता है, जो चन्द्रमा और सूर्यका भी मङ्गलमय मार्ग है, इस जीव-जगत्‌के लिये विमल वितान (चँदोवा) है, साक्षात् परब्रह्म परमात्माने ही जिसकी सृष्टि की है, जो बहुसंख्यक वीरोंसे सेवित और विद्याधरगणोंसे आवृत है, उस वायुपथ आकाशमें पवननन्दन हनुमान्‌जी गरुड़के समान वेगसे चले ॥ १७४—१८० ॥

हनुमान् मेघजालानि प्राकर्षन् मारुतो यथा।
कालागुरुसवर्णानि रक्तपीतसितानि च ॥१८१॥

वायुके समान हनुमान्‌जी अगरके समान काले तथा लाल, पीले और श्वेत बादलोंको खींचते हुए आगे बढ़ने लगे ॥ १८१ ॥

कपिना कृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरे।
प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ॥१८२॥
प्रावृषीन्दुरिवाभाति निष्पतन् प्रविशंस्तदा।

उनके द्वारा खींचे जाते हुए वे बड़े-बड़े बादल अद्भुत शोभा पा रहे थे। वे बारंबार मेघ-समूहोंमें प्रवेश करते और बाहर निकलते थे। उस अवस्थामें बादलोंमें छिपते तथा प्रकट होते हुए वर्षाकालके चन्द्रमाकी भाँति उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १८२½ ॥

प्रदृश्यमानः सर्वत्र हनूमान् मारुतात्मजः ॥१८३॥
भेजेऽम्बरं निरालम्बं पक्षयुक्त इवाद्रिराट्।

सर्वत्र दिखायी देते हुए पवनकुमार हनुमान्‌जी पंखधारी गिरिराजके समान निराधार आकाशका आश्रय लेकर आगे बढ़ रहे थे ॥ १८३½ ॥

प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा सिंहिका नाम राक्षसी ॥१८४॥
मनसा चिन्तयामास प्रवृद्धा कामरूपिणी।

इस तरह जाते हुए हनुमान्‌जीको इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली विशालकाया सिंहिका नामवाली राक्षसीने देखा। देखकर वह मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—॥ १८४½ ॥

अद्य दीर्घस्य कालस्य भविष्याम्यहमाशिता ॥१८५॥
इदं मम महासत्त्वं चिरस्य वशमागतम्।

'आज दीर्घकालके बाद यह विशाल जीव मेरे वशमें आया है। इसे खा लेनेपर बहुत दिनोंके लिये मेरा पेट भर जायगा' ॥ १८५½ ॥

इति संचिन्त्य मनसा च्छायामस्य समाक्षिपत् ॥१८६॥
छायायां गृह्यमाणायां चिन्तयामास वानरः।
समाक्षिप्तोऽस्मि सहसा पङ्गूकृतपराक्रमः ॥१८७॥
प्रतिलोमेन वातेन महानौरिव सागरे।

अपने हृदयमें ऐसा सोचकर उस राक्षसीने हनुमान्‌जीकी छाया पकड़ ली। छाया पकड़ी जानेपर वानरवीर हनुमान्‌ने

सोचा—'अहो ! सहसा किसने मुझे पकड़ लिया, इस पकड़के सामने मेरा पराक्रम पङ्गु हो गया है। जैसे प्रतिकूल हवा चलनेपर समुद्रमें जहाजकी गति अवरुद्ध हो जाती है, वैसी ही दशा आज मेरी भी हो गयी है' ॥ १८६-१८७½ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव वीक्षमाणस्तदा कपिः ॥१८८॥
ददर्श स महासत्त्वमुत्थितं लवणाम्भसि।

यही सोचते हुए कपिवर हनुमान्‌ने उस समय अगल-बगलमें, ऊपर और नीचे दृष्टि डाली। इतनेहीमें उन्हें समुद्रके जलके ऊपर उठा हुआ एक विशालकाय प्राणी दिखायी दिया ॥ १८८½ ॥

तद् दृष्ट्वा चिन्तयामास मारुतिर्विकृताननाम् ॥१८९॥
कपिराज्ञा यथाख्यातं सत्त्वमद्भुतदर्शनम्।
छायाग्राहि महावीर्यं तदिदं नात्र संशयः ॥१९०॥

उस विकराल मुखवाली राक्षसीको देखकर पवनकुमार हनुमान् सोचने लगे—वानरराज सुग्रीवने जिस महापराक्रमी छायाग्राही अद्भुत जीवकी चर्चा की थी, वह निःसंदेह यही है ॥ १८९-१९० ॥

सतां बुद्ध्वार्थतत्त्वेन सिंहिकां मतिमान् कपिः।
व्यवर्धत महाकायः प्रावृषीव बलाहकः ॥१९१॥

तब बुद्धिमान् कपिवर हनुमान्‌जीने यह निश्चय करके कि वास्तवमें यही सिंहिका है, वर्षाकालके मेघकी भाँति अपने शरीरको बढ़ाना आरम्भ किया। इस प्रकार वे विशालकाय हो गये ॥ १९१ ॥

तस्य सा कायमुद्वीक्ष्य वर्धमानं महाकपेः।
वक्त्रं प्रसारयामास पातालाम्बरसंनिभम् ॥१९२॥
घनराजीव गर्जन्ती वानरं समभिद्रवत्।

उन महाकपिके शरीरको बढ़ते देख सिंहिकाने अपना मुँह पाताल और आकाशके मध्यभागके समान फैला लिया और मेघोंकी घटाके समान गर्जना करती हुई उन वानरवीरकी ओर दौड़ी ॥ १९२½ ॥

स ददर्श ततस्तस्या विकृतं सुमहन्मुखम् ॥१९३॥
कायमात्रं च मेधावी मर्माणि च महाकपिः।

हनुमान्‌जीने उसका अत्यन्त विकराल और बढ़ा हुआ मुँह देखा। उन्हें अपने शरीरके बराबर ही उसका मुँह दिखायी दिया। उस समय बुद्धिमान् महाकपि हनुमान्‌ने सिंहिकाके मर्मस्थानोंको अपना लक्ष्य बनाया ॥ १९३½ ॥

स तस्या विवृते वक्त्रे वज्रसंहननः कपिः ॥१९४॥
संक्षिप्य मुहुरात्मानं निपपात महाकपिः।

तदनन्तर वज्रोपम शरीरवाले महाकपि पवनकुमार अपने शरीरको संकुचित करके उसके विकराल मुखमें आ गिरे ॥ १९४½ ॥

आस्ये तस्या निमज्जन्तं ददृशुः सिद्धचारणाः ॥१९…
ग्रस्यमानं यथा चन्द्रं पूर्णं पर्वणि राहुणा।

उस समय सिद्धों और चारणोंने हनुमान्‌जीको सिंहि… मुखमें उसी प्रकार निमग्न होते देखा, जैसे पूर्णिमाकी रा… पूर्ण चन्द्रमा राहुके ग्रास बन गये हों ॥ १९५½ ॥

ततस्तस्या नखैस्तीक्ष्णैर्मर्माण्युत्कृत्य वानरः ॥१९…
उत्पपाताथ वेगेन मनःसम्पातविक्रमः।

मुखमें प्रवेश करके उन वानरवीरने अपने … नखोंसे उस राक्षसीके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर डा… इसके पश्चात् वे मनके समान गतिसे उछलकर वेगपू… बाहर निकल आये ॥ १९६½ ॥

तां तु दिष्ट्या च धृत्या च दाक्षिण्येन निपात्य सः ॥१९…
कपिप्रवीरो वेगेन ववृधे पुनरात्मवान्।

दैवके अनुग्रह, स्वाभाविक धैर्य तथा कौशलसे … राक्षसीको मारकर वे मनस्वी वानरवीर पुनः वेगसे बढ़… बड़े हो गये ॥ १९७½ ॥

हृतहृत्सा हनुमता पपात विधुराम्भसि।
स्वयंभुवैव हनुमान् सृष्टस्तस्या निपातने ॥१९…

हनुमान्‌जीने प्राणोंके आश्रयभूत उसके हृदयस्थल… ही नष्ट कर दिया, अतः वह प्राणशून्य होकर समुद्रके ज… गिर पड़ी। विधाताने ही उसे मार गिरानेके लिये हनुमान… को निमित्त बनाया था ॥ १९८ ॥

तां हतां वानरेणाशु पतितां वीक्ष्य सिंहिकाम्।
भूतान्याकाशचारीणि तमूचुः प्लवगोत्तमम् ॥१९…

उन वानरवीरके द्वारा शीघ्र ही मारी जाकर सिंहि… जलमें गिर पड़ी। यह देख आकाशमें विचरनेवाले प्र… उन कपिश्रेष्ठसे बोले—॥ १९९ ॥

भीमम‌द्य कृतं कर्म महत्सत्त्वं त्वया हतम्।
साधयार्थमभिप्रेतमरिष्टं प्लवतां वर ॥२०…

'कपिवर ! तुमने यह बड़ा ही भयंकर कर्म किया … जो इस विशालकाय प्राणीको मार गिराया है। अब तुम बि… किसी विघ्न-बाधाके अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध करो ॥२०…

यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव।
धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति ॥२०…

'वानरेन्द्र ! जिस पुरुषमें तुम्हारे समान धैर्य, सू… बुद्धि और कुशलता—ये चार गुण होते हैं, उसे अ… कार्यमें कभी असफलता नहीं होती' ॥ २०१ ॥

स तैः सम्पूजितः पूज्यः प्रतिपन्नप्रयोजनैः।
जगामाकाशमाविश्य पन्नगाशनवत् कपिः ॥२०…

इस प्रकार अपना प्रयोजन सिद्ध हो जानेसे उन आका…

ी प्राणियोंने हनुमान्‌जीका बड़ा सत्कार किया। इसके बाद वे ाशमें चढ़कर गरुड़के समान वेगसे चलने लगे ॥२०२॥

भूयिष्ठपारस्तु सर्वतः परिलोकयन्।
नानां शतस्यान्ते वनराजीं ददर्श सः ॥२०३॥

सौ योजनके अन्तमें प्रायः समुद्रके पार पहुँचकर जब ोंने सब ओर दृष्टि डाली, तब उन्हें एक हरी-भरी वन-ी दिखायी दी ॥ २०३ ॥

र्श च पतन्नेव विविधद्रुमभूषितम्।
ं शाखामृगश्रेष्ठो मलयोपवनानि च ॥२०४॥

आकाशमें उड़ते हुए ही शाखामृगोंमें श्रेष्ठ हनुमान्‌जीने ति-भाँतिके वृक्षोंसे सुशोभित लङ्का नामक द्वीप देखा। र तटकी भाँति समुद्रके दक्षिण तटपर भी मलय नामक त और उसके उपवन दिखायी दिये ॥ २०४ ॥

गरं सागरानूपान् सागरानूपजान् द्रुमान्।
ागरस्य च पत्नीनां मुखान्यपि विलोकयन् ॥२०५॥

समुद्र, सागरतटवर्ती जलप्राय देश तथा वहाँ उगे हुए एवं सागरपत्नी सरिताओंके मुहानोंको भी उन्होंने ा ॥ २०५ ॥

महामेघसंकाशं समीक्ष्यात्मानमात्मवान्।
न्धन्तमिवाकाशं चकार मतिमान् मतिम् ॥२०६॥

मनको वशमें रखनेवाले बुद्धिमान् हनुमान्‌जीने अपने रको महान् मेघोंकी घटाके समान विशाल तथा आकाश-अवरुद्ध करता-सा देख मन-ही-मन इस प्रकार विचार ा—॥ २०६ ॥

यवृद्धिं प्रवेगं च मम दृष्ट्वैव राक्षसाः।
यि कौतूहलं कुर्युरिति मेने महामतिः ॥२०७॥

'अहो! मेरे शरीरकी विशालता तथा मेरा यह तीव्र वेग ते ही राक्षसोंके मनमें मेरे प्रति बड़ा कौतूहल होगा—वे ा भेद जाननेके लिये उत्सुक हो जायँगे।' परम बुद्धिमान् ुमान्‌जीके मनमें यह धारणा पक्की हो गयी ॥ २०७ ॥

तः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधरसंनिभम्।
नः प्रकृतिमापेदे वीतमोह इवात्मवान् ॥२०८॥

मनस्वी हनुमान् अपने पर्वताकार शरीरको संकुचित के पुनः अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो गये। ठीक ी तरह, जैसे मनको वशमें रखनेवाला मोहरहित पुरुष पने मूल स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २०८ ॥

रूपमतिसंक्षिप्य हनूमान् प्रकृतौ स्थितः।
न् क्रमानिव विक्रम्य बलिवीर्यहरो हरिः ॥२०९॥

जैसे बलिके पराक्रमसम्बन्धी अभिमानको हर लेनेवाले श्रीहरिने विराट्‌रूपमें तीन पग चलकर तीनों लोकोंको नाप लेनेके पश्चात् अपने उस स्वरूपको समेट लिया था, उसी प्रकार हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघ जानेके बाद अपने उस विशाल रूपको संकुचित करके अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो गये ॥ २०९ ॥

स चारुनानाविधरूपधारी
परं समासाद्य समुद्रतीरम्।
परैरशक्यं प्रतिपन्नरूपः
समीक्षितात्मा समवेक्षितार्थः ॥२१०॥

हनुमान्‌जी बड़े ही सुन्दर और नाना प्रकारके रूप धारण कर लेते थे। उन्होंने समुद्रके दूसरे तटपर, जहाँ दूसरोंका पहुँचना असम्भव था, पहुँचकर अपने विशाल शरीरकी ओर दृष्टिपात किया। फिर अपने कर्तव्यका विचार करके छोटा-सा रूप धारण कर लिया ॥ २१० ॥

ततः स लम्बस्य गिरेः समृद्धे
विचित्रकूटे निपपात कूटे।
सकेतकोद्दालकनारिकेले
महाभ्रकूटप्रतिमो महात्मा ॥२११॥

महान् मेघ-समूहके समान शरीरवाले महात्मा हनुमान्‌जी केवड़े, लसोड़े और नारियलके वृक्षोंसे विभूषित लम्बपर्वतके विचित्र लघु शिखरोंवाले महान् समृद्धिशाली शृङ्गपर कूद पड़े ॥ २११ ॥

ततस्तु सम्प्राप्य समुद्रतीरं
समीक्ष्य लङ्कां गिरिवर्यमूर्ध्नि।
कपिस्तु तस्मिन् निपपात पर्वते
विधूय रूपं व्यथयन्मृगद्विजान् ॥२१२॥

तदनन्तर समुद्रके तटपर पहुँचकर वहाँसे उन्होंने एक श्रेष्ठ पर्वतके शिखरपर बसी हुई लङ्काको देखा। देखकर अपने पहले रूपको तिरोहित करके वे वानरवीर वहाँके पशु-पक्षियोंको व्यथित करते हुए उसी पर्वतपर उतर पड़े ॥ २१२ ॥

स सागरं दानवपन्नगायुतं
बलेन विक्रम्य महोर्मिमालिनम्।
निपत्य तीरे च महोदधेस्तदा
ददर्श लङ्काममरावतीमिव ॥२१३॥

इस प्रकार दानवों और सर्पोंसे भरे हुए तथा बड़ी-बड़ी उत्ताल तरङ्गमालाओंसे अलंकृत महासागरको बलपूर्वक लाँघकर वे उसके तटपर उतर गये और अमरावतीके समान सुशोभित लङ्कापुरीकी शोभा देखने लगे ॥ २१३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

लङ्कापुरीका वर्णन, उसमें प्रवेश करनेके विषयमें हनुमान्‌जीका विचार, उनका लघुरूपसे पुरीमें प्रवेश तथा चन्द्रोदयका वर्णन

स सागरमनाधृष्यमतिक्रम्य महाबलः।
त्रिकूटस्य तटे लङ्कां स्थितः स्वस्थो ददर्श ह ॥ १ ॥

महाबली हनुमान्‌जी अलङ्घनीय समुद्रको पार करके त्रिकूट (लम्ब) नामक पर्वतके शिखरपर स्वस्थ भावसे खड़े हो लङ्कापुरीकी शोभा देखने लगे ॥ १ ॥

ततः पादपमुक्तेन पुष्पवर्षेण वीर्यवान्।
अभिवृष्टस्ततस्तत्र बभौ पुष्पमयो हरिः ॥ २ ॥

उस समय उनके ऊपर वहाँ वृक्षोंसे झड़े हुए फूलोंकी वर्षा होने लगी। इससे वहाँ बैठे हुए पराक्रमी हनुमान् फूलके बने हुए वानरके समान प्रतीत होने लगे ॥ २ ॥

योजनानां शतं श्रीमांस्तीर्त्वाप्युत्तमविक्रमः।
अनिःश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति ॥ ३ ॥

उत्तम पराक्रमी श्रीमान् वानरवीर हनुमान् सौ योजन समुद्र लाँघकर भी वहाँ लंबी साँस नहीं खींच रहे थे और न ग्लानिका ही अनुभव करते थे ॥ ३ ॥

शतान्यहं योजनानां क्रमेयं सुबहून्यपि।
किं पुनः सागरस्यान्तं संख्यातुं शतयोजनम् ॥ ४ ॥

उलटे वे यह सोचते थे, मैं सौ-सौ योजनोंके बहुत-से समुद्र लाँघ सकता हूँ; फिर इस गिने-गिनाये सौ योजन समुद्रको पार करना कौन बड़ी बात है ! ॥ ४ ॥

स तु वीर्यवतां श्रेष्ठः प्लवतामपि चोत्तमः।
जगाम वेगवाँल्लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥ ५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ तथा वानरोंमें उत्तम वे वेगवान् पवन-कुमार महासागरको लाँघकर शीघ्र ही लङ्कामें जा पहुँचे ॥ ५ ॥

शाद्वलानि च नीलानि गन्धवन्ति वनानि च।
मधुमन्ति च मध्येन जगाम नगवन्ति च ॥ ६ ॥

रास्तेमें हरी-हरी दूब और वृक्षोंसे भरे हुए मकरन्द-पूर्ण सुगन्धित वन देखते हुए वे मध्यमार्गसे जा रहे थे ॥ ६ ॥

शैलांश्च तरुसंछन्नान् वनराजीश्च पुष्पिताः।
अभिचक्राम तेजस्वी हनूमान् प्लवगर्षभः ॥ ७ ॥

तेजस्वी वानरशिरोमणि हनुमान् वृक्षोंसे आच्छादित पर्वतों और फूलोंसे भरी हुई वनश्रेणियोंमें विचरने लगे ॥ ७ ॥

स तस्मिन्नचले तिष्ठन् वनान्युपवनानि च।
स नगाग्रे स्थितां लङ्कां ददर्श पवनात्मजः ॥ ८ ॥

उस पर्वतपर स्थित हो पवनपुत्र हनुमान्‌ने बहुत-से वन और उपवन देखे तथा उस पर्वतके अग्रभागमें बसी हुई लङ्काका भी अवलोकन किया ॥ ८ ॥

सरलान् कर्णिकारांश्च खर्जूरांश्च सुपुष्पितान्।
प्रियालान् मुचुलिन्दांश्च कुटजान् केतकानपि ॥ ९ ॥
प्रियङ्गून् गन्धपूर्णांश्च नीपान् सप्तच्छदांस्तथा।
असनान् कोविदारांश्च करवीरांश्च पुष्पितान् ॥ १० ॥
पुष्पभारनिबद्धांश्च तथा मुकुलितानपि।
पादपान् विहगाकीर्णान् पवनाधूतमस्तकान् ॥ ११ ॥

उन कपिश्रेष्ठने वहाँ सरल (चीड़), कनेर, खिले हुए खजूर, प्रियाल (चिरौंजी), मुचुलिन्द (जम्बीरी नीबू), कुटज, केतक (केवड़े), सुगन्धपूर्ण प्रियङ्गु (पिप्पली), नीप (कदम्ब या अशोक), छितवन, असन, कोविदार तथा खिले हुए करवीर भी देखे। फूलोंके भारसे लदे हुए तथा मुकुलित (अधखिले) बहुत-से वृक्ष उन्हें दृष्टिगोचर हुए, जिनमें पक्षी भरे हुए थे और हवाके झोंके-से जिनकी डालियाँ झूम रही थीं ॥ ९—११ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा वापीः पद्मोत्पलावृताः।
आक्रीडान् विविधान् रम्यान् विविधांश्च जलाशयान् ॥

हंसों और कारण्डवोंसे व्याप्त तथा कमल और उत्पलसे आच्छादित हुई बहुत-सी बावड़ियाँ, भाँति-भाँतिके रमणीय क्रीड़ास्थान तथा नाना प्रकारके जलाशय उनके दृष्टिपथमें आये ॥ १२ ॥

संततान् विविधैर्वृक्षैः सर्वर्तुफलपुष्पितैः।
उद्यानानि च रम्याणि ददर्श कपिकुञ्जरः ॥ १३ ॥

उन जलाशयोंके चारों ओर सभी ऋतुओंमें फल-फूल देनेवाले अनेक प्रकारके वृक्ष फैले हुए थे। उन वानर-शिरोमणिने वहाँ बहुत-से रमणीय उद्यान भी देखे ॥ १३ ॥

समासाद्य च लक्ष्मीवाँल्लङ्कां रावणपालिताम्।
परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलंकृताम् ॥ १४ ॥
सीतापहरणात् तेन रावणेन सुरक्षिताम्।
समन्ताद् विचरद्भिश्च राक्षसैरुग्रधन्वभिः ॥ १५ ॥

अद्भुत शोभासे सम्पन्न हनुमान्‌जी धीरे-धीरे रावण-पालित लङ्कापुरीके पास पहुँचे। उसके चारों ओर खुदी हुई खाइयाँ उस नगरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनमें उत्पल और पद्म आदि कई जातियोंके कमल खिले थे। सीताको हर लानेके कारण रावणने लङ्कापुरीकी रक्षाका विशेष प्रबन्ध कर रक्खा था। उनके चारों ओर भयंकर धनुष धारण करनेवाले राक्षस घूमते रहते थे ॥ १४-१५ ॥

काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम् ।
गृहैश्च गिरिसंकाशैः शारदाम्बुदसंनिभैः ॥ १६ ॥

वह महापुरी सोनेकी चहारदीवारीसे घिरी हुई थी तथा पर्वतके समान ऊँचे और शरद्-ऋतुके बादलोंके समान श्वेत भवनोंसे भरी हुई थी ॥ १६ ॥

पाण्डुराभिः प्रतोलीभिरुच्चाभिरभिसंवृताम् ।
अट्टालकशताकीर्णां पताकाध्वजशोभिताम् ॥ १७ ॥

श्वेत रंगकी ऊँची-ऊँची सड़कें उस पुरीको सब ओरसे घेरे हुए थीं। सैकड़ों अट्टालिकाएँ वहाँ शोभा पा रही थीं तथा फहराती हुई ध्वजा-पताकाएँ उस नगरीकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ १७ ॥

तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यैर्लतापङ्क्तिविराजितैः ।
ददर्श हनुमाँल्लङ्कां देवो देवपुरीमिव ॥ १८ ॥

उसके बाहरी फाटक सोनेके बने हुए थे और उनकी दीवारें लता-बेलोंके चित्रसे सुशोभित थीं। हनुमान्‌जीने उन फाटकोंसे सुशोभित लङ्काको उसी प्रकार देखा, जैसे कोई देवता देवपुरीका निरीक्षण कर रहा हो ॥ १८ ॥

गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः शुभैः ।
ददर्श स कपिः श्रीमान् पुरीमाकाशगामिव ॥ १९ ॥

तेजस्वी कपि हनुमान्‌ने सुन्दर शुभ्र सदनोंसे सुशोभित और पर्वतके शिखरपर स्थित लङ्काको इस तरह देखा, मानो वह आकाशमें विचरनेवाली नगरी हो ॥ १९ ॥

पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान् कपिः ॥ २० ॥

कपिवर हनुमान्‌ने विश्वकर्माद्वारा निर्मित तथा राक्षसराज रावणद्वारा सुरक्षित उस पुरीको आकाशमें तैरती-सी देखा ॥ २० ॥

वप्रप्राकारजघनां विपुलाम्बुवनाम्बराम् ।
शतघ्नीशूलकेशान्तामट्टालकावतंसकाम् ॥ २१ ॥
मनसेव कृतां लङ्कां निर्मितां विश्वकर्मणा ।

विश्वकर्माकी बनायी हुई लङ्का मानो उनके मानसिक संकल्पसे रची गयी एक सुन्दरी स्त्री थी। चहारदीवारी और उसके भीतरकी वेदी उसकी जघनस्थली जान पड़ती थीं, समुद्रका विशाल जलराशि और वन उसके वस्त्र थे, शतघ्नी और शूल नामक अस्त्र ही उसके केश थे और बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ उसके लिये कर्णभूषण-सी प्रतीत हो रही थीं ॥ २१½ ॥

द्वारमुत्तरमासाद्य चिन्तयामास वानरः ॥ २२ ॥
कैलासनिलयप्रख्यमालिखन्तमिवाम्बरम् ।
ध्रियमाणमिवाकाशमुच्छ्रितैर्भवनोत्तमैः ॥ २३ ॥

उस पुरीके उत्तर द्वारपर पहुँचकर वानरवीर हनुमान्‌जी चिन्तामें पड़ गये। वह द्वार कैलास पर्वतपर बसी हुई अलकापुरीके बहिर्द्वारके समान ऊँचा था और आकाशमें रेखा-सी खींचता जान पड़ता था। ऐसा जान पड़ता था मानो अपने ऊँचे-ऊँचे प्रासादोंपर आकाशको उठा रक्खा है ॥ २२-२३ ॥

सम्पूर्णां राक्षसैर्घोरैर्नागैर्भोगवतीमिव ।
अचिन्त्यां सुकृतां स्पष्टां कुबेराध्युषितां पुरा ॥ २४ ॥
दंष्ट्रिभिर्बहुभिः शूरैः शूलपट्टिशपाणिभिः ।
रक्षितां राक्षसैर्घोरैर्गुहामाशीविषैरिव ॥ २५ ॥

लङ्कापुरी भयानक राक्षसोंसे उसी तरह भरी थी, जैसे पातालकी भोगवतीपुरी नागोंसे भरी रहती है। उसकी निर्माणकला अचिन्त्य थी। उसकी रचना सुन्दर ढंगसे की गयी थी। वह हनुमान्‌जीको स्पष्ट दिखायी देती थी। पूर्वकालमें साक्षात् कुबेर वहाँ निवास करते थे। हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले बहुत-से शूरवीर घोर राक्षस लङ्कापुरीकी उसी प्रकार रक्षा करते थे, जैसे विषधर सर्प अपनी पुरीकी करते हैं ॥ २४-२५ ॥

तस्याश्च महतीं गुप्तिं सागरं च निरीक्ष्य सः ।
रावणं च रिपुं घोरं चिन्तयामास वानरः ॥ २६ ॥

उस नगरकी बड़ी भारी चौकसी, उसके चारों ओर समुद्रकी खाई तथा रावण-जैसे भयंकर शत्रुको देखकर हनुमान्‌जी इस प्रकार विचारने लगे—॥ २६ ॥

आगत्यापीह हरयो भविष्यन्ति निरर्थकाः ।
नहि युद्धेन वै लङ्का शक्या जेतुं सुरैरपि ॥ २७ ॥

'यदि वानर यहाँतक आ जायँ तो भी वे व्यर्थ ही सिद्ध होंगे; क्योंकि युद्धके द्वारा देवता भी लङ्कापर विजय नहीं पा सकते ॥ २७ ॥

इमां त्वविषमां लङ्कां दुर्गां रावणपालिताम् ।
प्राप्यापि सुमहाबाहुः किं करिष्यति राघवः ॥ २८ ॥

'जिससे बढ़कर विषम (संकटपूर्ण) स्थान और कोई नहीं है, उस रावणपालित इस दुर्गम लङ्कामें आकर महाबाहु श्रीरघुनाथजी भी क्या करेंगे ? ॥ २८ ॥

अवकाशो न साम्नस्तु राक्षसेष्वभिगम्यते ।
न दानस्य न भेदस्य नैव युद्धस्य दृश्यते ॥ २९ ॥

'राक्षसोंपर सामनीतिके प्रयोगके लिये तो कोई गुंजाइश ही नहीं है। इनपर दान, भेद और युद्ध (दण्ड) नीतिका प्रयोग भी सफल होता नहीं दिखायी देता ॥ २९ ॥

चतुर्णामेव हि गतिर्वानराणां तरस्विनाम् ।
वालिपुत्रस्य नीलस्य मम राज्ञश्च धीमतः ॥ ३० ॥

'यहाँ चार ही वेगशाली वानरोंकी पहुँच हो सकती है—वालिपुत्र अङ्गदकी, नीलकी, मेरी और बुद्धिमान् राजा सुग्रीवकी ॥ ३० ॥

यावज्जानामि वैदेहीं यदि जीवति वा न वा।
तत्रैव चिन्तयिष्यामि दृष्ट्वा तां जनकात्मजाम्॥ ३१॥

'अच्छा, पहले यह तो पता लगाऊँ कि विदेहकुमारी सीता जीवित हैं या नहीं। जनककिशोरीका दर्शन करनेके पश्चात् ही मैं इस विषयमें कोई विचार करूँगा' ॥ ३१ ॥

ततः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः।
गिरेः शृङ्गे स्थितस्तस्मिन् रामस्याभ्युदयं ततः॥ ३२॥

तदनन्तर उस पर्वत-शिखरपर खड़े हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीके अभ्युदयके लिये सीताजीका पता लगानेके उपायपर दो घड़ीतक विचार करते रहे ॥ ३२ ॥

अनेन रूपेण मया न शक्या रक्षसां पुरी।
प्रवेष्टुं राक्षसैर्गुप्ता क्रूरैर्बलसमन्वितैः॥ ३३॥

उन्होंने सोचा—'मैं इस रूपसे राक्षसोंकी इस नगरीमें प्रवेश नहीं कर सकता; क्योंकि बहुत-से क्रूर और बलवान् राक्षस इसकी रक्षा कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

महौजसो महावीर्या बलवन्तश्च राक्षसाः।
वञ्चनीया मया सर्वे जानकीं परिमार्गता॥ ३४॥

'जानकीकी खोज करते समय मुझे अपनेको छिपानेके लिये यहाँके सभी महातेजस्वी, महापराक्रमी और बलवान् राक्षसोंसे आँख बचानी होगी ॥ ३४ ॥

लक्ष्यालक्ष्येण रूपेण रात्रौ लङ्कापुरी मया।
प्राप्तकालं प्रवेष्टुं मे कृत्यं साधयितुं महत्॥ ३५॥

'अतः मुझे रात्रिके समय ही नगरमें प्रवेश करना चाहिये और सीताका अन्वेषणरूप यह महान् समयोचित कार्य सिद्ध करनेके लिये ऐसे रूपका आश्रय लेना चाहिये, जो आँखसे देखा न जा सके। केवल कार्यसे यह अनुमान हो कि कोई आया था' ॥ ३५ ॥

तां पुरीं तादृशीं दृष्ट्वा दुराधर्षां सुरासुरैः।
हनूमांश्चिन्तयामास विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः॥ ३६॥

देवताओं और असुरोंके लिये भी दुर्जय वैसी लङ्कापुरीको देखकर हनुमान्‌जी बारंबार लंबी साँस खींचते हुए यों विचार करने लगे—॥ ३६ ॥

केनोपायेन पश्येयं मैथिलीं जनकात्मजाम्।
अदृष्टो राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना॥ ३७॥

'किस उपायसे काम लूँ, जिससे दुरात्मा राक्षसराज रावणकी दृष्टिसे ओझल रहकर मैं मिथिलेशनन्दिनी जनककिशोरी सीताका दर्शन प्राप्त कर सकूँ ॥ ३७ ॥

न विनश्येत् कथं कार्यं रामस्य विदितात्मनः।
एकामेकस्तु पश्येयं रहिते जनकात्मजाम्॥ ३८॥

'किस रीतिसे कार्य किया जाय, जिससे जगद्विख्यात श्रीरामचन्द्रजीका काम भी न बिगड़े और मैं एकान्तमें अकेली जानकीजीसे भेंट भी कर लूँ ॥ ३८ ॥

भूताश्चार्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिताः।
विक्लवं दूतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा॥ ३९

'कई बार कातर अथवा अविवेकपूर्ण कार्य करनेवा[ले] दूतके हाथमें पड़कर देश और कालके विपरीत व्यव[हार] होनेके कारण बने-बनाये काम भी उसी तरह बिगड़ ज[ाते] हैं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥ ३९

अर्थानर्थान्तरे बुद्धिर्निश्चितापि न शोभते।
घातयन्तीह कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः॥ ४०

'राजा और मन्त्रियोंके द्वारा निश्चित किया हु[आ] कर्तव्याकर्तव्यविषयक विचार भी किसी अविवेकी दूत[का] आश्रय लेनेसे शोभा (सफलता) नहीं पाता है। अपने[को] पण्डित माननेवाले अविवेकी दूत सारा काम ही चौ[पट] कर देते हैं ॥ ४० ॥

न विनश्येत् कथं कार्यं वैक्लव्यं न कथं भवेत्।
लङ्घनं च समुद्रस्य कथं नु न भवेद् वृथा॥ ४१

'अच्छा तो किस उपायका अवलम्बन करनेसे स्वामी[का] कार्य नहीं बिगड़ेगा, मुझे घबराहट या अविवेक न[हीं] होगा और मेरा यह समुद्रका लाँघना भी व्यर्थ नहीं हो पायेगा ॥ ४१ ॥

मयि दृष्टे तु रक्षोभी रामस्य विदितात्मनः।
भवेद् व्यर्थमिदं कार्यं रावणानर्थमिच्छतः॥ ४२

'यदि राक्षसोंने मुझे देख लिया तो रावणका अन[र्थ] चाहनेवाले उन विख्यातनामा भगवान् श्रीरामका यह का[र्य] सफल न हो सकेगा ॥ ४२ ॥

नहि शक्यं क्वचित् स्थातुमविज्ञातेन राक्षसैः।
अपि राक्षसरूपेण किमुतान्येन केनचित्॥ ४३॥

'यहाँ दूसरे किसी रूपकी तो बात ही क्या है, राक्षसक[ा] रूप धारण करके भी राक्षसोंसे अज्ञात रहकर कहीं ठहरन[ा] असम्भव है ॥ ४३ ॥

वायुरप्यत्र नाज्ञातश्चरेदिति मतिर्मम।
नह्यत्राविदितं किंचिद् रक्षसां भीमकर्मणाम्॥ ४४॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास है कि राक्षसोंसे छिपे रहकर वायुदेव भी इस पुरीमें विचरण नहीं कर सकते। यहाँ कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जो इन भयंकर कर्म करनेवाले राक्षसोंको ज्ञात न हो ॥ ४४ ॥

इहाहं यदि तिष्ठामि स्वेन रूपेण संवृतः।
विनाशमुपयास्यामि भर्तुरर्थश्च हास्यति॥ ४५॥

'यदि यहाँ मैं अपने इस रूपसे छिपकर भी रहूँगा तो मारा जाऊँगा और मेरे स्वामीके कार्यमें भी हानि पहुँचेगी ॥ ४५ ॥

तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः।
लङ्कामभिपतिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये॥ ४६॥

अतः मैं श्रीरघुनाथजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये रातमें अपने इसी रूपसे छोटा-सा शरीर धारण करके लङ्कामें प्रवेश करूँगा ॥ ४६ ॥

रावणस्य पुरीं रात्रौ प्रविश्य सुदुरासदाम्।
प्रविश्य भवनं सर्वं द्रक्ष्यामि जनकात्मजाम् ॥ ४७ ॥

'यद्यपि रावणकी इस पुरीमें जाना बहुत ही कठिन है तथापि रातको इसके भीतर प्रवेश करके सभी घरोंमें घुसकर मैं जानकीजीकी खोज करूँगा' ॥ ४७ ॥

इति निश्चित्य हनुमान् सूर्यस्यास्तमयं कपिः।
आचकाङ्क्षे तदा वीरो वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥ ४८ ॥

ऐसा निश्चय करके वीर वानर हनुमान् विदेहनन्दिनीके दर्शनके लिये उत्सुक हो उस समय सूर्यास्तकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ४८ ॥

सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४९ ॥

सूर्यास्त हो जानेपर रातके समय उन पवनकुमारने अपने शरीरको छोटा बना लिया। वे बिल्लीके बराबर होकर अत्यन्त अद्भुत दिखायी देने लगे ॥ ४९ ॥

प्रदोषकाले हनुमांस्तूर्णमुत्पत्य वीर्यवान्।
प्रविवेश पुरीं रम्यां प्रविभक्तमहापथाम् ॥ ५० ॥

प्रदोषकालमें पराक्रमी हनुमान् तुरंत ही उछलकर उस रमणीय पुरीमें घुस गये। वह नगरी पृथक्-पृथक् बने हुए चौड़े और विशाल राजमार्गोंसे सुशोभित थी ॥ ५० ॥

प्रासादमालाविततां स्तम्भैः काञ्चनसंनिभैः।
शातकुम्भनिभैर्जालैर्गन्धर्वनगरोपमाम् ॥ ५१ ॥

उसमें प्रासादोंकी लंबी पंक्तियाँ दूरतक फैली हुई थीं। सुनहरे रंगके खम्भों और सोनेकी जालियोंसे विभूषित वह नगरी गन्धर्वनगरके समान रमणीय प्रतीत होती थी ॥

सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम्।
तलैः स्फटिकसंकीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः ॥ ५२ ॥
वैदूर्यमणिचित्रैश्च मुक्ताजालविभूषितैः।
तैस्तैः शुशुभिरे तानि भवनान्यत्र रक्षसाम् ॥ ५३ ॥

हनुमान्जीने उस विशाल पुरीको सतमहले, अठमहले मकानों और सुवर्णजटित स्फटिक मणिकी फर्शोंसे सुशोभित देखा। उनमें वैदूर्य (नीलम) भी जड़े गये थे, जिससे उनकी विचित्र शोभा होती थी। मोतियोंकी जालियाँ भी उन महलोंकी शोभा बढ़ाती थीं। उन सबके कारण राक्षसोंके वे भवन बड़ी सुन्दर शोभासे सम्पन्न हो रहे थे ॥ ५२-५३ ॥

काञ्चनानि विचित्राणि तोरणानि च रक्षसाम्।
लङ्कामुद्योतयामासुः सर्वतः समलंकृताम् ॥ ५४ ॥

सोनेके बने हुए विचित्र फाटक सब ओरसे सजी हुई राक्षसोंकी उस लङ्काको और भी उद्दीप्त कर रहे थे ॥ ५४ ॥

अचिन्त्यामद्भुताकारां दृष्ट्वा लङ्कां महाकपिः।
आसीद् विषण्णो हृष्टश्च वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥ ५५ ॥

ऐसी अचिन्त्य और अद्भुत आकारवाली लङ्काको देखकर महाकपि हनुमान् विषादमें पड़ गये; परंतु जानकीजीके दर्शनके लिये उनके मनमें बड़ी उत्कण्ठा थी, इसलिये उनका हर्ष और उत्साह भी कम नहीं हुआ ॥ ५५ ॥

स पाण्डुराविद्धविमानमालिनीं
महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम् ।
यशस्विनीं रावणबाहुपालितां
क्षपाचरैर्भीमबलैः सुपालिताम् ॥ ५६ ॥

परस्पर सटे हुए श्वेतवर्णके सतमंजिले महलोंकी पंक्तियाँ लङ्कापुरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्णकी जालियों और वन्दनवारोंसे वहाँके घरोंको सजाया गया था। भयंकर बलशाली निशाचर उस पुरीकी अच्छी तरह रक्षा करते थे। रावणके बाहुबलसे भी वह सुरक्षित थी। उसके यशकी ख्याति सुदूरतक फैली हुई थी। ऐसी लङ्कापुरीमें हनुमान्जीने प्रवेश किया ॥ ५६ ॥

चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्व-
स्तारागणैर्मध्यगतो विराजन्।
ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोका-
नुत्तिष्ठतेऽनेकसहस्ररश्मिः ॥ ५७ ॥

उस समय तारागणोंके साथ उनके बीचमें विराजमान अनेक सहस्र किरणोंवाले चन्द्रदेव भी हनुमान्जीकी सहायता-सी करते हुए समस्त लोकोंपर अपनी चाँदनीका चँदोवा-सा तानकर उदित हो गये ॥ ५७ ॥

शङ्खप्रभं क्षीरमृणालवर्ण-
मुद्गच्छमानं व्यवभासमानम्।
ददर्श चन्द्रं स कपिप्रवीरः
पोप्लूयमानं सरसीव हंसम् ॥ ५८ ॥

वानरोंके प्रमुख वीर श्रीहनुमान्जीने शङ्खकी-सी कान्ति तथा दूध और मृणालके-से वर्णवाले चन्द्रमाको आकाशमें इस प्रकार उदित एवं प्रकाशित होते देखा, मानो किसी सरोवरमें कोई हंस तैर रहा हो ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

लङ्कापुरीका अवलोकन करके हनुमान्‌जीका विस्मित होना, उसमें प्रवेश करते समय निशाचरी लङ्काका उन्हें रोकना और उनकी मारसे विह्वल होकर उन्हें पुरीमें प्रवेश करनेकी अनुमति देना

स लंबशिखरे लंबे लंबतोयदसंनिभे।
सत्त्वमास्थाय मेधावी हनुमान् मारुतात्मजः॥ १॥
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः।
रम्यकाननतोयाढ्यां पुरीं रावणपालिताम्॥ २॥

ऊँचे शिखरवाले लंब (त्रिकूट) पर्वतपर जो महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ता था, बुद्धिमान् महाशक्तिशाली कपिश्रेष्ठ पवनकुमार हनुमान्‌ने सत्त्वगुणका आश्रय ले रातके समय रावणपालित लङ्कापुरीमें प्रवेश किया। वह नगरी सुरम्य वन और जलाशयोंसे सुशोभित थी॥ १-२॥

शारदाम्बुधरप्रख्यैर्भवनैरुपशोभिताम्।
सागरोपमनिर्घोषां सागरानिलसेविताम्॥ ३॥

शरत्कालके बादलोंकी भाँति श्वेत कान्तिवाले सुन्दर भवन उसकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ समुद्रकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द होता रहता था। सागरकी लहरोंको छूकर बहनेवाली वायु इस पुरीकी सेवा करती थी॥ ३॥

सुपुष्टबलसम्गुप्तां यथैव विटपावतीम्।
चारुतोरणनिर्यूहां पाण्डुरद्वारतोरणाम्॥ ४॥

वह अलकापुरीके समान शक्तिशालिनी सेनाओंसे सुरक्षित थी। उस पुरीके सुन्दर फाटकोंपर मतवाले हाथी शोभा पाते थे। उस पुरीके अन्तर्द्वार और बहिर्द्वार दोनों ही श्वेत कान्तिसे सुशोभित थे॥ ४॥

भुजगाचरितां गुप्तां शुभां भोगवतीमिव।
तां सविद्युद्घनाकीर्णां ज्योतिर्गणनिषेविताम्॥ ५॥
चण्डमारुतनिर्ह्रादां यथा चाप्यमरावतीम्।

उस नगरीकी रक्षाके लिये बड़े-बड़े सर्पोंका संचरण (आना-जाना) होता रहता है, इसलिये वह नागोंसे सुरक्षित सुन्दर भोगवती पुरीके समान जान पड़ती थी। अमरावतीपुरीके समान वहाँ आवश्यकताके अनुसार बिजलियोंसहित मेघ छाये रहते थे। ग्रहों और नक्षत्रोंके सदृश विद्युत्-दीपोंके प्रकाशसे वह पुरी प्रकाशित थी तथा प्रचण्ड वायुकी ध्वनि वहाँ सदा होती रहती थी॥ ५½॥

शातकुम्भेन महता प्राकारेणाभिसंवृताम्॥ ६॥
किङ्किणीजालघोषाभिः पताकाभिरलंकृताम्।

सोनेके बने हुए विशाल परकोटेसे घिरी हुई लङ्कापुरी क्षुद्र घंटिकाओंकी झनकारसे युक्त पताकाओंद्वारा अलंकृत थी॥ ६½॥

आसाद्य सहसा हृष्टः प्राकारमभिपेदिवान्॥ ७॥
विस्मयाविष्टहृदयः पुरीमालोक्य सर्वतः।

उस पुरीके समीप पहुँचकर हर्ष और उत्साहसे भरे हुए हनुमान्‌जी सहसा उछलकर उसके परकोटेपर चढ़ गये। वहाँ सब ओरसे लङ्कापुरीका अवलोकन करके हनुमान्‌जीका चित्त आश्चर्यसे चकित हो उठा॥ ७½॥

जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैदूर्यकृतवेदिकैः॥ ८॥
वज्रस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः।
तप्तहाटकनिर्यूहै राजतामलपाण्डुरैः॥ ९॥
वैदूर्यकृतसोपानैः स्फाटिकान्तरपांसुभिः।
चारुसंजवनोपेतैः खमिवोत्पतितैः शुभैः॥ १०॥

सुवर्णके बने हुए द्वारोंसे उस नगरीकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उन सभी द्वारोंपर नीलमके चबूतरे बने हुए थे। वे सब द्वार हीरों, स्फटिकों और मोतियोंसे जड़े गये थे। मणिमयी फर्शें उनकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनके दोनों ओर तपाये सुवर्णके बने हुए हाथी शोभा पाते थे। उन द्वारोंका ऊपरी भाग चाँदीसे निर्मित होनेके कारण स्वच्छ और श्वेत था। उनकी सीढ़ियाँ नीलमकी बनी हुई थीं। उन द्वारोंके भीतरी भाग स्फटिक मणिके बने हुए और धूलसे रहित थे। वे सभी द्वार रमणीय सभा-भवनोंसे युक्त और सुन्दर थे तथा इतने ऊँचे थे कि आकाशमें उठे हुए-से जान पड़ते थे॥ ८—१०॥

क्रौञ्चबर्हिणसंघुष्टे राजहंसनिषेवितैः।
तूर्याभरणनिर्घोषैः सर्वतः परिनादिताम्॥ ११॥

वहाँ क्रौञ्च और मयूरोंके कलरव गूँजते रहते थे, उन द्वारोंपर राजहंस नामक पक्षी भी निवास करते थे। वहाँ भाँति-भाँतिके वाद्यों और आभूषणोंकी मधुर ध्वनि होती रहती थी, जिससे लङ्कापुरी सब ओरसे प्रतिध्वनित हो रही थी॥ ११॥

वस्वोकसारप्रतिमां समीक्ष्य नगरीं ततः।
खमिवोत्पतितां लङ्कां जहर्ष हनुमान् कपिः॥ १२॥

कुबेरकी अलकाके समान शोभा पानेवाली लङ्का नगरी त्रिकूटके शिखरपर प्रतिष्ठित होनेके कारण आकाशमें उठी हुई-सी प्रतीत होती थी। उसे देखकर कपिवर हनुमान्‌को बड़ा हर्ष हुआ॥ १२॥

तां समीक्ष्य पुरीं लङ्कां राक्षसाधिपतेः शुभाम्।
अनुत्तमामृद्धिमतीं चिन्तयामास वीर्यवान्॥ १३॥

राक्षसराजकी वह सुन्दर पुरी लङ्का सबसे उत्तम और समृद्धिशालिनी थी । उसे देखकर पराक्रमी हनुमान् इस प्रकार सोचने लगे—॥ १३ ॥

नेयमन्येन नगरी शक्या धर्षयितुं बलात् ।
रक्षिता रावणबलैरुद्यतायुधपाणिभिः ॥ १४ ॥

‘रावणके सैनिक हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये इस पुरीकी रक्षा करते हैं, अतः दूसरा कोई बलपूर्वक इसे अपने काबूमें नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

कुमुदाङ्गदयोर्वापि सुषेणस्य महाकपेः ।
प्रसिद्धेयं भवेद् भूमिर्मैन्दद्विविदयोरपि ॥ १५ ॥
विवस्वतस्तनूजस्य हरेश्च कुशपर्वणः ।
ऋक्षस्य कपिमुख्यस्य मम चैव गतिर्भवेत् ॥ १६ ॥

‘केवल कुमुद, अङ्गद, महाकपि सुषेण, मैन्द, द्विविद, सूर्यपुत्र सुग्रीव, वानर कुशपर्वा और वानरसेनाके प्रमुख वीर ऋक्षराज जाम्बवान्‌की तथा मेरी भी पहुँच इस पुरीके भीतर हो सकती है’ ॥ १५-१६ ॥

समीक्ष्य च महाबाहो राघवस्य पराक्रमम् ।
लक्ष्मणस्य च विक्रान्तमभवत् प्रीतिमान् कपिः ॥ १७ ॥

फिर महाबाहु श्रीराम और लक्ष्मणके पराक्रमका विचार करके कपिवर हनुमान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई ॥१७॥

तां रत्नवसनोपेतां गोष्ठागारावतंसिकाम् ।
यन्त्रागारस्तनीमृद्धां प्रमदामिव भूषिताम् ॥ १८ ॥
तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरैश्च महाग्रहैः ।
नगरीं राक्षसेन्द्रस्य स ददर्श महाकपिः ॥ १९ ॥

महाकपि हनुमान्‌ने देखा, राक्षसराज रावणकी नगरी लङ्का वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी युवतीके समान जान पड़ती है । रत्नमय परकोटे ही इसके वस्त्र हैं, गोष्ठ (गोशाला) तथा दूसरे-दूसरे भवन आभूषण हैं । परकोटोंपर लगे हुए यन्त्रोंके जो गृह हैं, ये ही मानो इस लङ्कारूपी युवतीके स्तन हैं । यह सब प्रकारके समृद्धियोंसे सम्पन्न है । प्रकाशपूर्ण द्वीपों और महान् ग्रहोंने यहाँका अन्धकार नष्ट कर दिया है ॥ १८-१९ ॥

अथ सा हरिशार्दूलं प्रविशन्तं महाकपिम् ।
नगरी स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वानरश्रेष्ठ महाकपि पवनकुमार हनुमान् उस पुरीमें प्रवेश करने लगे । इतनेमें ही उस नगरीकी अधिष्ठात्री देवी लङ्काने अपने स्वाभाविक रूपमें प्रकट होकर उन्हें देखा ॥ २० ॥

सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लङ्का रावणपालिता ।
स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना ॥ २१ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को देखते ही रावणपालित लङ्का स्वयं ही उठ खड़ी हुई । उसका मुँह देखनेमें बड़ा विकट था ॥ २१ ॥

पुरस्तात् तस्य वीरस्य वायुसूनोरतिष्ठत ।
मुञ्चमाना महानादमब्रवीत् पवनात्मजम् ॥ २२ ॥

वह उन वीर पवनकुमारके सामने खड़ी हो गयी और बड़े जोरसे गर्जना करती हुई उनसे इस प्रकार बोली—॥२२॥

कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय ।
कथयस्वेह यत् तत्त्वं यावत् प्राणा धरन्ति ते ॥ २३ ॥

‘वनचारी वानर ! तू कौन है और किस कार्यसे यहाँ आया है ? तुम्हारे प्राण जबतक बने हुए हैं, तबतक ही यहाँ आनेका जो यथार्थ रहस्य है, उसे ठीक-ठीक बता दो ॥२३॥

न शक्यं खल्वियं लङ्का प्रवेष्टुं वानर त्वया ।
रक्षिता रावणबलैरभिगुप्ता समन्ततः ॥ २४ ॥

‘वानर ! रावणकी सेना सब ओरसे इस पुरीकी रक्षा करती है, अतः निश्चय ही तू इस लङ्कामें प्रवेश नहीं कर सकता’ ॥ २४ ॥

अथ तामब्रवीद् वीरो हनुमानग्रतः स्थिताम् ।
कथयिष्यामि तत् तत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसे ॥ २५ ॥
का त्वं विरूपनयना पुरद्वारेऽवतिष्ठसे ।
किमर्थं चापि मां क्रोधान्निर्भर्त्सयसि दारुणे ॥ २६ ॥

तब वीरवर हनुमान् अपने सामने खड़ी हुई लङ्कासे बोले—‘क्रूर स्वभाववाली नारी ! तू मुझसे जो कुछ पूछ रही है, उसे मैं ठीक-ठीक बता दूँगा; किंतु पहले यह तो बता, तू है कौन ? तेरी आँखें बड़ी भयंकर हैं । तू इस नगरके द्वारपर खड़ी है । क्या कारण है कि तू इस प्रकार क्रोध करके मुझे डाँट रही है ?’ ॥ २५-२६ ॥

हनुमद्वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी ।
उवाच वचनं क्रुद्धा परुषं पवनात्मजम् ॥ २७ ॥

हनुमान्‌जीकी यह बात सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली लङ्का कुपित हो उन पवनकुमारसे कठोर वाणीमें बोली—॥ २७ ॥

अहं राक्षसराजस्य रावणस्य महात्मनः ।
आज्ञाप्रतीक्षा दुर्धर्षा रक्षामि नगरीमिमाम् ॥ २८ ॥

‘मैं महामना राक्षसराज रावणकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करनेवाली उनकी सेविका हूँ । मुझपर आक्रमण करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है । मैं इस नगरीकी रक्षा करती हूँ ॥ २८ ॥

न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं नगरीमिमाम् ।
अद्य प्राणैः परित्यक्तः स्वप्स्यसे निहतो मया ॥ २९ ॥

‘मेरी अवहेलना करके इस पुरीमें प्रवेश करना किसी-

है लिये भी सम्भव नहीं है। आज मेरे हाथसे मारा जाकर तू प्राणहीन हो इस पृथ्वीपर शयन करेगा ॥ २९ ॥

अहं हि नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम।
सर्वतः परिरक्षामि अतस्ते कथितं मया ॥ ३० ॥

'वानर ! मैं स्वयं ही लङ्का नगरी हूँ, अतः सब ओरसे इसकी रक्षा करती हूँ। यही कारण है कि मैंने तेरे प्रति कठोर वाणीका प्रयोग किया है' ॥ ३० ॥

लङ्काया वचनं श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः।
यत्नवान् स हरिश्रेष्ठः स्थितः शैल इवापरः ॥ ३१ ॥

लङ्काकी यह बात सुनकर पवनकुमार कपिश्रेष्ठ हनुमान् उसे जीतनेके लिये यत्नशील हो दूसरे पर्वतके समान वहाँ खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

स तां स्त्रीरूपविकृतां दृष्ट्वा वानरपुङ्गवः।
आबभाषेऽथ मेधावी सत्त्ववान् प्लवगर्षभः ॥ ३२ ॥

लङ्काको विकराल राक्षसीके रूपमें देखकर बुद्धिमान् वानरशिरोमणि शक्तिशाली कपिश्रेष्ठ हनुमान्ने उससे इस प्रकार कहा—॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यामि नगरीं लङ्कां साट्टप्राकारतोरणाम्।
इत्यर्थमिह सम्प्राप्तः परं कौतूहलं हि मे ॥ ३३ ॥

'मैं अट्टालिकाओं, परकोटों और नगरद्वारोंसहित इस लङ्कानगरीको देखूँगा। इसी प्रयोजनसे यहाँ आया हूँ। इसे देखनेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ॥ ३३ ॥

वनान्युपवनानीह लङ्कायाः काननानि च।
सर्वतो गृहमुख्यानि द्रष्टुमागमनं हि मे ॥ ३४ ॥

'इस लङ्काके जो वन, उपवन, कानन और मुख्य-मुख्य भवन हैं, उन्हें देखनेके लिये ही यहाँ मेरा आगमन हुआ है' ॥ ३४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लङ्का सा कामरूपिणी।
भूय एव पुनर्वाक्यं बभाषे परुषाक्षरम् ॥ ३५ ॥

हनुमान्‌जीका यह कथन सुनकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली लङ्का पुनः कठोर वाणीमें बोली—॥ ३५ ॥

मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिताम्।
न शक्यं ह्यद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम ॥ ३६ ॥

'खोटी बुद्धिवाले नीच वानर ! राक्षसेश्वर रावणके द्वारा मेरी रक्षा हो रही है। तू मुझे परास्त किये बिना आज इस पुरीको नहीं देख सकता' ॥ ३६ ॥

ततः स हरिशार्दूलस्तामुवाच निशाचरीम्।
दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम् ॥ ३७ ॥

तब उन वानरशिरोमणिने उस निशाचरीसे कहा—'भद्रे ! इस पुरीको देखकर मैं फिर जैसे आया हूँ, उसी तरह लौट जाऊँगा' ॥ ३७ ॥

ततः कृत्वा महानादं सा वै लङ्का भयंकरम्।
तलेन वानरश्रेष्ठं ताडयामास वेगिता ॥ ३८ ॥

यह सुनकर लङ्काने बड़ी भयंकर गर्जना करके वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को बड़े जोरसे एक थप्पड़ मारा ॥ ३८ ॥

ततः स हरिशार्दूलो लङ्कया ताडितो भृशम्।
ननाद सुमहानादं वीर्यवान् मारुतात्मजः ॥ ३९ ॥

लङ्काद्वारा इस प्रकार जोरसे पीटे जानेपर उन परम पराक्रमी पवनकुमार कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ ३९ ॥

ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः।
मुष्टिनाभिजघानैनां हनुमान् क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४० ॥

फिर उन्होंने अपने बायें हाथकी अङ्गुलियोंको मोड़कर मुट्ठी बाँध ली और अत्यन्त कुपित हो उस लङ्काको एक मुक्का जमा दिया ॥ ४० ॥

स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः।
सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी।
पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना ॥ ४१ ॥

उसे स्त्री समझकर हनुमान्‌जीने स्वयं ही अधिक क्रोध नहीं किया। किंतु उस लघु प्रहारसे ही उस निशाचरीके सारे अङ्ग व्याकुल हो गये। वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। उस समय उसका मुख बड़ा विकराल दिखायी देता था ॥ ४१ ॥

ततस्तु हनुमान् वीरस्तां दृष्ट्वा विनिपातिताम्।
कृपां चकार तेजस्वी मन्यमानः स्त्रियं च ताम् ॥ ४२ ॥

अपने ही द्वारा गिरायी गयी उस लङ्काकी ओर देखकर और उसे स्त्री समझकर तेजस्वी वीर हनुमान्‌को उसपर दया आ गयी। उन्होंने उसपर बड़ी कृपा की ॥

ततो वै भृशमुद्विग्ना लङ्का सा गद्गदाक्षरम्।
उवाचागर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ॥ ४३ ॥

उधर अत्यन्त उद्विग्न हुई लङ्का उन वानरवीर हनुमान्से अभिमानशून्य गद्गदवाणीमें इस प्रकार बोली—॥

प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम।
समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्तो महाबलाः ॥ ४४ ॥

'महाबाहो ! प्रसन्न होइये। कपिश्रेष्ठ ! मेरी रक्षा कीजिये। सौम्य ! महाबली सत्त्वगुणशाली वीर पुरुष शास्त्रकी मर्यादापर स्थिर रहते हैं (शास्त्रमें स्त्रीको अवध्य बताया है, इसलिये आप मेरे प्राण न लीजिये) ॥ ४४ ॥

अहं तु नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम।
निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल ॥ ४५ ॥

'महाबली वीर वानर ! मैं स्वयं लङ्कापुरी ही हूँ, आपने अपने पराक्रमसे मुझे परास्त कर दिया है ॥ ४५ ॥

इदं च तथ्यं शृणु मे ब्रुवन्त्या वै हरीश्वर।

स्वयं स्वयम्भुवा दत्तं वरदानं यथा मम ॥ ४६ ॥

'वानरेश्वर! मैं आपसे एक सच्ची बात कहती हूँ। आप इसे सुनिये। साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्माजी ने मुझे जैसा वरदान दिया था, वह बता रही हूँ ॥ ४६ ॥

यदा त्वां वानरः कश्चिद् विक्रमाद् वशमानयेत्।
तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम् ॥ ४७ ॥

'उन्होंने कहा था—'जब कोई वानर तुझे अपने पराक्रमसे वशमें कर लें, तब तुझे यह समझ लेना चाहिये कि अब राक्षसोंपर बड़ा भारी भय आ पहुँचा है' ॥ ४७ ॥

स हि मे समयः सौम्य प्राप्तोऽद्य तव दर्शनात्।
स्वयम्भूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४८ ॥

'सौम्य! आपका दर्शन पाकर आज मेरे सामने वही घड़ी आ गयी है। ब्रह्माजीने जिस सत्यका निश्चय कर दिया है, उसमें कोई उलट-फेर नहीं हो सकता ॥ ४८ ॥

सीतानिमित्तं राज्ञस्तु रावणस्य दुरात्मनः।
रक्षसां चैव सर्वेषां विनाशः समुपागतः ॥ ४९ ॥

'अब सीताके कारण दुरात्मा राजा रावण तथा समस्त राक्षसोंके विनाशका समय आ पहुँचा है ॥ ४९ ॥

तत् प्रविश्य हरिश्रेष्ठ पुरीं रावणपालिताम्।
विधत्स्व सर्वकार्याणि यानि यानीह वाञ्छसि ॥ ५० ॥

'कपिश्रेष्ठ! अतः आप इस रावणपालित पुरीमें प्रवेश कीजिये और यहाँ जो-जो कार्य करना चाहते हों, उन सबको पूर्ण कर लीजिये ॥ ५० ॥

प्रविश्य शापोपहतां हरीश्वर
पुरीं शुभां राक्षसमुख्यपालिताम्।
यदृच्छया त्वं जनकात्मजां सतीं
विमार्ग सर्वत्र गतो यथासुखम् ॥ ५१ ॥

'वानरेश्वर! राक्षसराज रावणके द्वारा पालित यह सुन्दर पुरी अभिशापसे नष्टप्राय हो चुकी है। अतः इसमें प्रवेश करके आप स्वेच्छानुसार सुखपूर्वक सर्वत्र सती-साध्वी जनकनन्दिनी सीताकी खोज कीजिये' ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

हनुमान्‌जीका लङ्कापुरी एवं रावणके अन्तःपुरमें प्रवेश

स निर्जित्य पुरीं लङ्कां श्रेष्ठां तां कामरूपिणीम्।
विक्रमेण महातेजा हनूमान् कपिसत्तमः ॥ १ ॥
अद्वारेण महावीर्यः प्राकारमवपुप्लुवे।
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ॥ २ ॥

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली श्रेष्ठ राक्षसी लङ्कापुरीको अपने पराक्रमसे परास्त करके महातेजस्वी महाबली महान् सत्त्वशाली वानरशिरोमणि कपिकुञ्जर हनुमान् बिना दरवाजेके ही रातमें चहारदीवारी फाँद गये और लङ्काके भीतर घुस गये ॥ १-२ ॥

प्रविश्य नगरीं लङ्कां कपिराजहितंकरः।
चक्रेऽथ पादं सव्यं च शत्रूणां स तु मूर्धनि ॥ ३ ॥

कपिराज सुग्रीवका हित करनेवाले हनुमान्‌जीने इस तरह लङ्कापुरीमें प्रवेश करके मानो शत्रुओंके सिरपर अपना बायाँ पैर रख दिया ॥ ३ ॥

प्रविष्टः सत्त्वसम्पन्नो निशायां मारुतात्मजः।
स महापथमास्थाय मुक्तपुष्पविराजितम् ॥ ४ ॥
ततस्तु तां पुरीं लङ्कां रम्यामभिययौ कपिः।

सत्त्वगुणसे सम्पन्न पवनपुत्र हनुमान् उस रातमें परकोटेके भीतर प्रवेश करके बिखेरे गये फूलोंसे सुशोभित राजमार्गका आश्रय ले उस रमणीय लङ्कापुरीकी ओर चले ॥ ४½ ॥

हसितोत्कृष्टनिनदैस्तूर्यघोषपुरस्कृतैः ॥ ५ ॥
वज्राङ्कुशनिकाशैश्च वज्रजालविभूषितैः।
गृहमेधैः पुरी रम्या बभासे द्यौरिवाम्बुदैः ॥ ६ ॥

जैसे आकाश श्वेत बादलोंसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार वह रमणीय पुरी अपने श्वेत मेघसदृश गृहोंसे उत्तम शोभा पा रही थी। वे गृह अट्टहासजनित उत्कृष्ट शब्दों तथा वाद्यघोषोंसे मुखरित थे। उनमें वज्रों तथा अङ्कुशोंके चित्र अङ्कित थे और हीरोंके बने हुए झरोखे उनकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ५-६ ॥

प्रजज्वाल तदा लङ्का रक्षोगणगृहैः शुभैः।
सिताभ्रसदृशैश्चित्रैः पद्मस्वस्तिकसंस्थितैः ॥ ७ ॥
वर्धमानगृहैश्चापि सर्वतः सुविभूषितैः।

उस समय लङ्का श्वेत बादलोंके समान सुन्दर एवं विचित्र राक्षस-गृहोंसे प्रकाशित हो रही थी। उन गृहोंमेंसे कोई तो कमलके आकारमें बने हुए थे। कोई[1] स्वस्तिकके चिह्न या आकारसे युक्त थे और किन्हींका निर्माण वर्धमान[2]संज्ञक गृहोंके रूपमें हुआ था। वे सभी सब ओरसे सजाये गये थे ॥ ७½ ॥

१-२. वाराहमिहिरकी संहितामें गृहोंके विभिन्न संस्थानों (आकृतियों) का वर्णन किया गया है। उन्हीं संस्थानोंके

तां चित्रमाल्याभरणां कपिराजहितंकरः ॥ ८ ॥
राघवार्थे चरञ्श्रीमान् ददर्श च ननन्द च ।

वानरराज सुग्रीवका हित करनेवाले श्रीमान् हनुमान् श्रीरघुनाथजीकी कार्यसिद्धिके लिये विचित्र पुष्पमय आभरणोंसे अलंकृत लङ्कामें विचरने लगे । उन्होंने उस पुरीको अच्छी तरह देखा और देखकर प्रसन्नताका अनुभव किया ॥ ८½ ॥

भवनाद् भवनं गच्छन् ददर्श कपिकुञ्जरः ॥ ९ ॥
विविधाकृतिरूपाणि भवनानि ततस्ततः ।
शुश्राव रुचिरं गीतं त्रिस्थानस्वरभूषितम् ॥ १० ॥

उन कपिश्रेष्ठने जहाँ-तहाँ एक घरसे दूसरे घरपर जाते हुए विविध आकार-प्रकारके भवन देखे तथा हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीन स्थानोंसे निकलनेवाले मन्द, मध्यम और उच्चस्वरसे विभूषित मनोहर गीत सुने ॥ ९-१० ॥

स्त्रीणां मदनविद्धानां दिवि चाप्सरसामिव ।
शुश्राव काञ्चीनिनदं नूपुराणां च निःस्वनम् ॥ ११ ॥

उन्होंने स्वर्गीय अप्सराओंके समान सुन्दरी तथा कामवेदनासे पीड़ित कामिनियोंकी करधनी और पायजेबोंकी झनकार सुनी ॥ ११ ॥

सोपाननिनदांश्चापि भवनेषु महात्मनाम् ।
आस्फोटितनिनादांश्च क्ष्वेडितांश्च ततस्ततः ॥ १२ ॥

इसी तरह जहाँ-तहाँ महामनस्वी राक्षसोंके घरोंमें सीढ़ियोंपर चढ़ते समय स्त्रियोंकी काञ्ची और मंजीरकी मधुर ध्वनि तथा पुरुषोंके ताल ठोंकने और गर्जनेकी भी आवाजें उन्हें सुनायी दीं ॥ १२ ॥

शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै ।
स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः ॥ १३ ॥

राक्षसोंके घरोंमें बहुतोंको तो उन्होंने वहाँ मन्त्र जपते हुए सुना और कितने ही निशाचरोंको स्वाध्यायमें तत्पर देखा ॥ १३ ॥

रावणस्तवसंयुक्तान् गर्जतो राक्षसानपि ।
राजमार्गं समावृत्य स्थितं रक्षोगणं महत् ॥ १४ ॥

कई राक्षसोंको उन्होंने रावणकी स्तुतिके साथ गर्जना करते और निशाचरोंकी एक बड़ी भीड़को राजमार्ग रोककर खड़ी हुई देखा ॥ १४ ॥

ददर्श मध्यमे गुल्मे राक्षसस्य चरान् बहून् ।
दीक्षिताञ्जटिलान् मुण्डान् गोजिनाम्बरवाससः ॥ १५ ॥
दर्भमुष्टिप्रहरणानग्निकुण्डायुधांस्तथा ।
कूटमुद्गरपाणींश्च दण्डायुधधरानपि ॥ १६ ॥

नगरके मध्यभागमें उन्हें रावणके बहुत-से गुप्तचर दिखायी दिये । उनमें कोई योगकी दीक्षा लिये हुए, कोई जटा बढ़ाये, कोई मूँड़ मुड़ाये, कोई गोचर्म या मृगचर्म धारण किये और कोई नंग-धड़ंग थे । कोई मुट्ठीभर कुशोंको ही अस्त्ररूपसे धारण किये हुए थे । किन्हींका अग्निकुण्ड ही आयुध था । किन्हींके हाथमें कूट या मुद्गर था । कोई डंडेको ही हथियाररूपमें लिये हुए थे ॥ १५-१६ ॥

एकाक्षानेकवर्णांश्च लंबोदरपयोधरान् ।
करालान् भुग्नवक्त्रांश्च विकटान् वामनांस्तथा ॥ १७ ॥

किन्हींके एक ही आँख थी तो किन्हींके रूप बहुरंगे थे । कितनोंके पेट और स्तन बहुत बड़े थे । कोई बड़े विकराल थे । किन्हींके मुँह टेढ़े-मेढ़े थे । कोई विकट थे तो कोई बौने ॥ १७ ॥

धन्विनः खड्गिनश्चैव शतघ्नीमुसलायुधान् ।
परिघोत्तमहस्तांश्च विचित्रकवचोज्ज्वलान् ॥ १८ ॥

किन्हींके पास धनुष, खड्ग, शतघ्नी और मूसलरूप आयुध थे । किन्हींके हाथोंमें उत्तम परिघ विद्यमान थे और कोई विचित्र कवचोंसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ १८ ॥

नातिस्थूलान् नातिकृशान् नातिदीर्घातिह्रस्वकान् ।
नातिगौरान् नातिकृष्णान्नातिकुब्जान्न वामनान् ॥ १९ ॥

कुछ निशाचर न तो अधिक मोटे थे, न अधिक दुर्बल, न बहुत लंबे थे न अधिक छोटे, न बहुत गोरे थे न अधिक काले तथा न अधिक कुबड़े थे न विशेष बौने ही ॥ १९ ॥

विरूपान् बहुरूपांश्च सुरूपांश्च सुवर्चसः ।
ध्वजिनः पताकिनश्चैव ददर्श विविधायुधान् ॥ २० ॥

कोई बड़े कुरूप थे, कोई अनेक प्रकारके रूप धारण कर सकते थे, किन्हींका रूप सुन्दर था, कोई बड़े तेजस्वी थे तथा किन्हींके पास ध्वजा, पताका और अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र थे ॥ २० ॥

अनुसार उनके नाम दिये गये हैं । जहाँ स्वस्तिकसंस्थान और वर्धमानसंज्ञक गृहका उल्लेख हुआ है, इनके लक्षणोंको स्पष्ट करनेवाले वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

चतुःशालं चतुर्द्वारं सर्वतोभद्रसंज्ञितम् ।
पश्चिमद्वाररहितं नन्द्यावर्ताह्वयन्तु तत् ॥
दक्षिणद्वाररहितं वर्धमानं धनप्रदम् ।
प्राग्द्वाररहितं स्वस्तिकाख्यं पुत्रधनप्रदम् ॥

चार शालाओंसे युक्त गृहको, जिसके प्रत्येक दिशामें एक-एक करके चार द्वार हों, 'सर्वतोभद्र' कहते हैं । जिसमें तीन ही द्वार हों, पश्चिम दिशाकी ओर द्वार न हो, उसका नाम 'नन्द्यावर्त' है । जिसमें दक्षिणके सिवा अन्य तीन दिशाओंमें द्वार हों, उसे 'वर्धमान' गृह कहते हैं । वह धन देनेवाला होता है तथा जिसमें केवल पूर्व दिशाकी ओर द्वार न हो, उस गृहका नाम 'स्वस्तिक' है । वह पुत्र और धन देनेवाला होता है ।

शक्तिवृक्षायुधांश्चैव पट्टिशाशनिधारिणः।
क्षेपणीपाशहस्तांश्च ददर्श स महाकपिः ॥ २१ ॥

कोई शक्ति और वृक्षरूप आयुध धारण किये देखे जाते थे तथा किन्हींके पास पट्टिश, वज्र, गुलेल और पाश थे। महाकपि हनुमान्ने उन सबको देखा ॥ २१ ॥

स्रग्विणस्त्वनुलिप्तांश्च वराभरणभूषितान्।
नानावेषसमायुक्तान् यथास्वैरचरान् बहून् ॥ २२ ॥

किन्हींके गलेमें फूलोंके हार थे और ललाट आदि अङ्ग चन्दनसे चर्चित थे। कोई श्रेष्ठ आभूषणोंसे सजे हुए थे। कितने ही नाना प्रकारके वेष-भूषासे संयुक्त थे और बहुतेरे स्वेच्छानुसार विचरनेवाले जान पड़ते थे ॥ २२ ॥

तीक्ष्णशूलधरांश्चैव वज्रिणश्च महाबलान्।
शतसाहस्रमव्यग्रमारक्षं मध्यमं कपिः ॥ २३ ॥
रक्षोऽधिपतिनिर्दिष्टं ददर्शान्तःपुराग्रतः।

कितने ही राक्षस तीखे शूल तथा वज्र लिये हुए थे। वे सब-के-सब महान् बलसे सम्पन्न थे। इनके सिवा कपिवर हनुमान्ने एक लाख रक्षक सेनाको राक्षसराज रावणकी आज्ञासे सावधान होकर नगरके मध्यभागकी रक्षामें संलग्न देखा। वे सारे सैनिक रावणके अन्तःपुरके अग्रभागमें स्थित थे ॥ २३½ ॥

स तदा तद् गृहं दृष्ट्वा महाहाटकतोरणम् ॥ २४ ॥
राक्षसेन्द्रस्य विख्यातमद्रिमूर्ध्नि प्रतिष्ठितम्।
पुण्डरीकावतंसाभिः परिखाभिः समावृतम् ॥ २५ ॥
प्राकारावृतमत्यन्तं ददर्श स महाकपिः।
त्रिविष्टपनिभं दिव्यं दिव्यनादविनादितम् ॥ २६ ॥

रक्षक सेनाके लिये जो विशाल भवन बना था, उसका फाटक बहुमूल्य सुवर्णद्वारा निर्मित हुआ था। उस आरक्षाभवनको देखकर महाकपि हनुमान्जीने राक्षसराज रावणके सुप्रसिद्ध राजमहलपर दृष्टिपात किया, जो त्रिकूट पर्वतके एक शिखरपर प्रतिष्ठित था। वह सब ओरसे श्वेत कमलोंद्वारा अलंकृत खाइयोंसे घिरा हुआ था। उसके चारों ओर बहुत ऊँचा परकोटा था, जिसने उस राजभवनको घेर रक्खा था। वह दिव्य भवन स्वर्गलोकके समान मनोहर था और वहाँ संगीत आदिके दिव्य शब्द गूँज रहे थे ॥ २४–२६ ॥

वाजिह्रेषितसंघुष्टं नादितं भूषणैस्तथा।
रथैर्यानैर्विमानैश्च तथा हयगजैः शुभैः ॥ २७ ॥
वारणैश्च चतुर्दन्तैः श्वेताभ्रनिचयोपमैः।
भूषितं रुचिरद्वारं मत्तैश्च मृगपक्षिभिः ॥ २८ ॥

घोड़ोंकी हिनहिनाहटकी आवाज भी वहाँ सब ओर फैली हुई थी। आभूषणोंकी रुनझुन भी कानोंमें पड़ती रहती थी। नाना प्रकारके रथ, पालकी आदि सवारी, विमान, सुन्दर हाथी, घोड़े, श्वेत बादलोंकी घटाके समान दिखायी देनेवाले चार दाँतोंसे युक्त सजे-सजाये मतवाले हाथी तथा मदमत्त पशु-पक्षियोंके संचरणसे उस राजमहलका द्वार बड़ा सुन्दर दिखायी देता था ॥ २७-२८ ॥

रक्षितं सुमहावीर्यैर्यातुधानैः सहस्रशः।
राक्षसाधिपतेर्गुप्तमाविवेश गृहं कपिः ॥ २९ ॥

सहस्रों महापराक्रमी निशाचर राक्षसराजके उस महलकी रक्षा करते थे। उस गुप्त भवनमें भी कपिवर हनुमान्जी जा पहुँचे ॥ २९ ॥

स हेमजाम्बूनदचक्रवालं
महार्हमुक्तामणिभूषितान्तम्।
परार्ध्यकालागुरुचन्दनार्हं
स रावणान्तःपुरमाविवेश ॥ ३० ॥

तदनन्तर जिसके चारों ओर सुवर्ण एवं जाम्बूनदका परकोटा था, जिसका ऊपरी भाग बहुमूल्य मोती और मणियोंसे विभूषित था तथा अत्यन्त उत्तम काले अगुरु एवं चन्दनसे जिसकी अर्चना की जाती थी, रावणके उस अन्तःपुरमें हनुमान्जीने प्रवेश किया ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

हनुमान्जीका रावणके अन्तःपुरमें घर-घरमें सीताको ढूँढ़ना और उन्हें न देखकर दुखी होना

ततः स मध्यंगतमंशुमन्तं
ज्योत्स्नावितानं मुहुरुद्वमन्तम्।
ददर्श धीमान् भुवि भानुमन्तं
गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमन्तम् ॥ १ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् हनुमान्जीने देखा, जिस प्रकार गोशालाके भीतर गौओंके झुंडमें मतवाला साँड़ विचरता है, उसी प्रकार पृथ्वीके ऊपर बारंबार अपनी चाँदनीका चँदोवा तानते हुए चन्द्रदेव आकाशके मध्यभागमें तारिकाओंके बीच विचरण कर रहे हैं ॥ १ ॥

लोकस्य पापानि विनाशयन्तं
महोदधिं चापि समेधयन्तम्।

भूतानि सर्वाणि विराजयन्तं
दद‍र्श शीतांशुमथाभियान्तम् ॥ २ ॥

वे शीतरश्मि चन्द्रमा जगत्के पाप-तापका नाश कर रहे हैं, महासागरमें ज्वार उठा रहे हैं, समस्त प्राणियोंको नयी दीप्ति एवं प्रकाश दे रहे हैं और आकाशमें क्रमशः ऊपरकी ओर उठ रहे हैं ॥ २ ॥

या भाति लक्ष्मीर्भुवि मन्दरस्था
यथा प्रदोषेषु च सागरस्था ।
तथैव तोयेषु च पुष्करस्था
रराज सा चारुनिशाकरस्था ॥ ३ ॥

भूतलपर मन्दराचलमें, संध्याके समय महासागरमें और जलके भीतर कमलोंमें जो लक्ष्मी जिस प्रकार सुशोभित होती हैं, वे ही उसी प्रकार मनोहर चन्द्रमामें शोभा पा रही थीं ॥ ३ ॥

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थ-
श्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः ॥ ४ ॥

जैसे चाँदीके पिंजरेमें हंस, मन्दराचलकी कन्दरामें सिंह तथा मदमत्त हाथीकी पीठपर वीर पुरुष शोभा पाते हैं, उसी प्रकार आकाशमें चन्द्रदेव सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

स्थितः ककुद्मानिव तीक्ष्णशृङ्गो
महाचलः श्वेत इवोर्ध्वशृङ्गः ।
हस्तीव जाम्बूनदबद्धशृङ्गो
विभाति चन्द्रः परिपूर्णशृङ्गः ॥ ५ ॥

जैसे तीखे सींगवाला बैल खड़ा हो, जैसे ऊपरको उठे शिखरवाला महान् पर्वत श्वेत (हिमालय) शोभा पाता हो और जैसे सुवर्णजटित दाँतोंसे युक्त गजराज सुशोभित होता हो, उसी प्रकार हरिणके शृङ्गरूपी चिह्नसे युक्त परिपूर्ण चन्द्रमा छवि पा रहे थे ॥ ५ ॥

विनष्टशीताम्बुतुषारपङ्को
-महाग्रहग्राहविनष्टपङ्कः ।
प्रकाशलक्ष्म्याश्रयनिर्मलाङ्को
रराज चन्द्रो भगवाञ्शशाङ्कः ॥ ६ ॥

जिनका शीतल जल और हिमरूपी पङ्कसे संसर्गका दोष नष्ट हो गया है, अर्थात् जो इनके संसर्गसे बहुत दूर है, सूर्य-किरणोंको ग्रहण करनेके कारण जिन्होंने अपने अन्धकाररूपी पङ्कको भी नष्ट कर दिया है तथा प्रकाशरूप लक्ष्मीका आश्रयस्थान होनेके कारण जिनकी कालिमा भी निर्मल प्रतीत होती है, वे भगवान् शशलाञ्छन चन्द्रदेव आकाशमें प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६ ॥

शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो
महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः ।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्र-
स्तथा प्रकाशो विरराज चन्द्रः ॥ ७ ॥

जैसे गुफाके बाहर शिलातलपर बैठा हुआ मृगराज (सिंह) शोभा पाता है, जैसे विशाल वनमें पहुँचकर गजराज सुशोभित होता है तथा जैसे राज्य पाकर राजा अधिक शोभासे सम्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार निर्मल प्रकाशसे युक्त होकर चन्द्रदेव सुशोभित हो रहे थे ॥ ७ ॥

प्रकाशचन्द्रोदयनष्टदोषः
प्रवृद्धरक्षःपिशिताशदोषः ।
रामाभिरामेरितचित्तदोषः
स्वर्गप्रकाशो भगवान् प्रदोषः ॥ ८ ॥

प्रकाशयुक्त चन्द्रमाके उदयसे जिसका अन्धकाररूपी दोष दूर हो गया है, जिसमें राक्षसोंके जीव-हिंसा और मांसभक्षणरूपी दोष बढ़ गये हैं तथा रमणियोंके रमण-विषयक चित्तदोष (प्रणय-कलह) निवृत्त हो गये हैं, वह पूजनीय प्रदोषकाल स्वर्गसदृश सुखका प्रकाश करने लगा ॥ ८ ॥

तन्त्रीस्वराः कर्णसुखाः प्रवृत्ताः
स्वपन्ति नार्यः पतिभिः सुवृत्ताः ।
नक्तंचराश्चापि तथा प्रवृत्ता
विहर्तुमत्यद्भुतरौद्रवृत्ताः ॥ ९ ॥

वीणाके श्रवणसुखद शब्द झङ्कृत हो रहे थे, सदाचारिणी स्त्रियाँ पतियोंके साथ सो रही थीं तथा अत्यन्त अद्भुत और भयंकर शील-स्वभाववाले निशाचर निशीथ कालमें विहार कर रहे थे ॥ ९ ॥

मत्तप्रमत्तानि समाकुलानि
रथाश्वभद्रासनसंकुलानि ।
वीरश्रिया चापि समाकुलानि
ददर्श धीमान् स कपिः कुलानि ॥ १० ॥

बुद्धिमान् वानर हनुमान्ने वहाँ बहुत-से घर देखे। किन्हींमें ऐश्वर्य-मदसे मत्त निशाचर निवास करते थे, किन्हींमें मदिरापानसे मतवाले राक्षस भरे हुए थे । कितने ही घर रथ, घोड़े आदि वाहनों और भद्रासनोंसे सम्पन्न थे तथा कितने ही वीर-लक्ष्मीसे व्याप्त दिखायी देते थे। वे सभी गृह एक-दूसरेसे मिले हुए थे ॥ १० ॥

परस्परं चाधिकमाक्षिपन्ति
भुजांश्च पीनानधिविक्षिपन्ति ।
मत्तप्रलापानधिविक्षिपन्ति
मत्तानि चान्योन्यमधिक्षिपन्ति ॥ ११ ॥

राक्षसलोग आपसमें एक-दूसरेपर अधिक आक्षेप करते थे। अपनी मोटी-मोटी भुजाओंको भी हिलाते और

चलाते थे। मतवालोंकी-सी बहकी-बहकी बातें करते थे और मदिरासे उन्मत्त होकर परस्पर कटु वचन बोलते थे ॥ ११ ॥

रक्षांसि वक्षांसि च विक्षिपन्ति
गात्राणि कान्तासु च विक्षिपन्ति।
रूपाणि चित्राणि च विक्षिपन्ति
दृढानि चापानि च विक्षिपन्ति ॥ १२ ॥

इतना ही नहीं, वे मतवाले राक्षस अपनी छाती भी पीटते थे। अपने हाथ आदि अङ्गोंको अपनी प्यारी पत्नियोंपर रख देते थे। सुन्दर रूपवाले चित्रोंका निर्माण करते थे और अपने सुदृढ़ धनुषोंको कानतक खींचा करते थे ॥ १२ ॥

ददर्श कान्ताश्च समालभन्त्य-
स्तथापरास्तत्र पुनः स्वपन्त्यः।
सुरूपवक्त्राश्च तथा हसन्त्यः
क्रुद्धाः पराश्चापि विनिःश्वसन्त्यः ॥ १३ ॥

हनुमान्‌जीने यह भी देखा कि नायिकाएँ अपने अङ्गोंमें चन्दन आदिका अनुलेपन करती हैं। दूसरी वहीं सोती हैं। तीसरी सुन्दर रूप और मनोहर मुखवाली ललनाएँ हँसती हैं तथा अन्य वनिताएँ प्रणय-कलहसे कुपित हो लंबी साँसें खींच रही हैं ॥ १३ ॥

महागजैश्चापि तथा नदद्भिः
सुपूजितैश्चापि तथा सुसद्भिः।
रराज वीरैश्च विनिःश्वसद्भि-
र्ह्रदो भुजंगैरिव निःश्वसद्भिः ॥ १४ ॥

चिग्घाड़ते हुए महान् गजराजों, अत्यन्त सम्मानित श्रेष्ठ सभासदों तथा लंबी साँसें छोड़नेवाले वीरोंके कारण वह लङ्कापुरी फुफकारते हुए सर्पोंसे युक्त सरोवरोंके समान शोभा पा रही थी ॥ १४ ॥

बुद्धिप्रधानान् रुचिराभिधानान्
संश्रद्दधानाञ्जगतः प्रधानान्।
नानाविधानान् रुचिराभिधानान्
ददर्श तस्यां पुरि यातुधानान् ॥ १५ ॥

हनुमान्‌जीने उस पुरीमें बहुत-से उत्कृष्ट बुद्धिवाले, सुन्दर बोलनेवाले, सम्यक् श्रद्धा रखनेवाले, अनेक प्रकारके रूप-रंगवाले और मनोहर नाम धारण करनेवाले विश्व-विख्यात राक्षस देखे ॥ १५ ॥

ननन्द दृष्ट्वा स च तान् सुरूपान्
नानागुणानात्मगुणानुरूपान्।
विद्योतमानान् स च तान् सुरूपान्
ददर्श कांश्चिच्च पुनर्विरूपान् ॥ १६ ॥

वे सुन्दर रूपवाले, नाना प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न, अपने गुणोंके अनुरूप व्यवहार करनेवाले और तेजस्वी थे। उन्हें देखकर हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने बहुतेरे राक्षसोंको सुन्दर रूपसे सम्पन्न देखा और कोई-कोई उन्हें बड़े कुरूप दिखायी दिये ॥ १६ ॥

ततो वरार्हाः सुविशुद्धभावा-
स्तेषां स्त्रियस्तत्र महानुभावाः।
प्रियेषु पानेषु च सक्तभावा
ददर्श तारा इव सुस्वभावाः ॥ १७ ॥

तदनन्तर वहाँ उन्होंने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करनेके योग्य सुन्दरी राक्षस रमणियोंको देखा, जिनका भाव अत्यन्त विशुद्ध था। वे बड़ी प्रभावशालिनी थीं। उनका मन प्रियतममें तथा मधुपानमें आसक्त था। वे तारिकाओंकी भाँति कान्तिमती और सुन्दर स्वभाववाली थीं ॥ १७ ॥

स्त्रियो ज्वलन्तीस्त्रपयोपगूढा
निशीथकाले रमणोपगूढाः।
ददर्श काश्चित् प्रमदोपगूढा
यथा विहंगा विहगोपगूढाः ॥ १८ ॥

हनुमान्‌जीकी दृष्टिमें कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी आयीं, जो अपने रूप-सौन्दर्यसे प्रकाशित हो रही थीं। वे बड़ी लजीली थीं और आधी रातके समय अपने प्रियतमके आलिङ्गन-पाशमें इस प्रकार बँधी हुई थीं जैसे पक्षिणी पक्षीके द्वारा आलिङ्गित होती है। वे सब-के-सब आनन्दमें मग्न थीं ॥ १८ ॥

अन्याः पुनर्हर्म्यतलोपविष्टा-
स्तत्र प्रियाङ्केषु सुखोपविष्टाः।
भर्तुः परा धर्मपरा निविष्टा
ददर्श धीमान् मदनोपविष्टाः ॥ १९ ॥

दूसरी बहुत-सी स्त्रियाँ महलोंकी छतोंपर बैठी थीं। वे पतिकी सेवामें तत्पर रहनेवाली, धर्मपरायणा, विवाहिता और कामभावनासे भावित थीं। हनुमान्‌जीने उन सबको अपने प्रियतमके अङ्कमें सुखपूर्वक बैठी देखा ॥ १९ ॥

अप्रावृताः काञ्चनराजिवर्णाः
काश्चित्परार्ध्यास्तपनीयवर्णाः।
पुनश्च काश्चिच्छशलक्ष्मवर्णाः
कान्तप्रहीणा रुचिराङ्गवर्णाः ॥ २० ॥

कितनी ही कामिनियाँ सुवर्ण-रेखाके समान कान्तिमती दिखायी देती थीं। उन्होंने अपनी ओढ़नी उतार दी थी। कितनी ही उत्तम वनिताएँ तपाये हुए सुवर्णके समान रंगवाली थीं तथा कितनी ही पतिवियोगिनी बालाएँ चन्द्रमाके समान श्वेत वर्णकी दिखायी देती थीं। उनकी अङ्गकान्ति बड़ी ही सुन्दर थी ॥ २० ॥

ततः प्रियान् प्राप्य मनोऽभिरामान्
सुप्रीतियुक्ताः सुमनोऽभिरामाः।
गृहेषु हृष्टाः परमाभिरामा
हरिप्रवीरः स ददर्श रामाः॥ २१॥

तदनन्तर वानरोंके प्रमुख वीर हनुमान्‌जीने विभिन्न गृहोंमें ऐसी परम सुन्दरी रमणियोंका अवलोकन किया, जो मनोऽभिराम प्रियतमका संयोग पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो रही थीं। फूलोंके हारसे विभूषित होनेके कारण उनकी रमणीयता और भी बढ़ गयी थी और वे सब-की-सब हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देती थीं॥ २१॥

चन्द्रप्रकाशाश्च हि वक्त्रमाला
वक्राः सुपक्ष्माश्च सुनेत्रमालाः।
विभूषणानां च ददर्श मालाः
शतह्रदानामिव चारुमालाः॥ २२॥

उन्होंने चन्द्रमाके समान प्रकाशमान मुखोंकी पंक्तियाँ, सुन्दर पलकोंवाले तिरछे नेत्रोंकी पंक्तियाँ और चमचमाती हुई विद्युल्लेखाओंके समान आभूषणोंकी भी मनोहर पंक्तियाँ देखीं॥ २२॥

न त्वेव सीतां परमाभिजातां
पथि स्थिते राजकुले प्रजाताम्।
लतां प्रफुल्लामिव साधुजातां
ददर्श तन्वीं मनसाभिजाताम्॥ २३॥

किंतु जो परमात्माके मानसिक संकल्पसे धर्ममार्गपर स्थिर रहनेवाले राजकुलमें प्रकट हुई थीं, जिनका प्रादुर्भाव परम ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाला है, जो परम सुन्दर रूपमें उत्पन्न हुई प्रफुल्ल लताके समान शोभा पाती थीं, उन कृशाङ्गी सीताको उन्होंने वहाँ कहीं नहीं देखा था॥ २३॥

सनातने वर्त्मनि संनिविष्टां
रामेक्षणीं तां मदनाभिविष्टाम्।
भर्तुर्मनः श्रीमदनुप्रविष्टां
स्त्रीभ्यः पराभ्यश्च सदा विशिष्टाम्॥२४॥

उष्णार्दितां सानुसृतास्रकण्ठीं
पुरा वरार्होत्तमनिष्ककण्ठीम्।
सुजातपक्ष्मामभिरक्तकण्ठीं
वने प्रनृत्तामिव नीलकण्ठीम्॥ २५॥

अव्यक्तरेखामिव चन्द्रलेखां
पांसुप्रदिग्धामिव हेमरेखाम्।
क्षतप्ररूढामिव वर्णरेखां
वायुप्रभुग्नामिव मेघरेखाम्॥ २६॥

सीतामपश्यन्मनुजेश्वरस्य
रामस्य पत्नीं वदतां वरस्य।
बभूव दुःखोपहतश्चिरस्य
प्लवंगमो मन्द इवाचिरस्य॥ २७॥

जो सदा सनातन मार्गपर स्थित रहनेवाली, श्रीरामपर ही दृष्टि रखनेवाली, श्रीरामविषयक काम या प्रेमसे परिपूर्ण, अपने पतिके तेजस्वी मनमें बसी हुई तथा दूसरी सभी स्त्रियोंसे सदा ही श्रेष्ठ थीं; जिन्हें विरहजनित ताप सदा पीड़ा देता रहता था, जिनके नेत्रोंसे निरन्तर आँसुओंकी झड़ी लगी रहती थी और कण्ठ उन आँसुओंसे गद्गद रहता था, पहले संयोगकालमें जिनका कण्ठ श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य निष्क (पदक) से विभूषित रहा करता था, जिनकी पलकें बहुत ही सुन्दर थीं और कण्ठस्वर अत्यन्त मधुर था तथा जो वनमें नृत्य करनेवाली मयूरीके समान मनोहर लगती थीं, जो मेघ आदिसे आच्छादित होनेके कारण अव्यक्त रेखावाली चन्द्रलेखाके समान दिखायी देती थीं, धूलि-धूसर सुवर्ण-रेखा-सी प्रतीत होती थीं, बाणके आघातसे उत्पन्न हुई रेखा (चिह्न) सी जान पड़ती थीं तथा वायुके द्वारा उड़ायी जाती हुई बादलोंकी रेखा-सी दृष्टिगोचर होती थीं। वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी उन सीताजीको बहुत देरतक ढूँढ़नेपर भी जब हनुमान्‌जी न देख सके, तब वे तत्क्षण अत्यन्त दुखी और शिथिल हो गये॥ २४–२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठः सर्गः

हनुमान्‌जीका रावण तथा अन्यान्य राक्षसोंके घरोंमें सीताजीकी खोज करना

स निकामं विमानेषु विचरन् कामरूपधृक्।
विचचार कपिर्लङ्कां लाघवेन समन्वितः॥ १॥

फिर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले कपिवर हनुमान्‌जी बड़ी शीघ्रताके साथ लङ्काके सतमहले मकानोंमें यथेच्छ विचरने लगे॥ १॥

आससाद च लक्ष्मीवान् राक्षसेन्द्रनिवेशनम्।
प्राकारेणार्कवर्णेन भास्वरेणाभिसंवृतम्॥ २॥

अत्यन्त बल-वैभवसे सम्पन्न वे पवनकुमार राक्षसराज रावणके महलमें पहुँचे, जो चारों ओरसे सूर्यके समान चमचमाते हुए सुवर्णमय परकोटोंसे घिरा हुआ था॥ २॥

रक्षितं राक्षसैर्भीमैः सिंहैरिव महद् वनम्।
समीक्षमाणो भवनं चकाशे कपिकुञ्जरः॥ ३॥

जैसे सिंह विशाल वनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार बहुतेरे भयानक राक्षस रावणके उस महलकी रक्षा कर रहे थे। उस भवनका निरीक्षण करते हुए कपिकुञ्जर हनुमान्‌जी मन-ही-मन हर्षका अनुभव करने लगे॥ ३॥

रूप्यकोपहितैश्चित्रैस्तोरणैर्हेमभूषणैः।
विचित्राभिश्च कक्ष्याभिर्द्वारैश्च रुचिरैर्वृतम्॥ ४॥

वह महल चाँदीसे मढ़े हुए चित्रों, सोने जड़े हुए दरवाजों और बड़ी अद्भुत ड्योढ़ियों तथा सुन्दर द्वारोंसे युक्त था॥ ४॥

गजास्थितैर्महामात्रैः शूरैश्च विगतश्रमैः।
उपस्थितमसंहार्यैर्हयैः स्यन्दनयायिभिः॥ ५॥

हाथीपर चढ़े हुए महावत तथा श्रमहीन शूरवीर वहाँ उपस्थित थे। जिनके वेगको कोई रोक नहीं सकता था, ऐसे रथवाहक अश्व भी वहाँ शोभा पा रहे थे॥ ५॥

सिंहव्याघ्रतनुत्राणैर्दान्तकाञ्चनराजतैः।
घोषवद्भिर्विचित्रैश्च सदा विचरितं रथैः॥ ६॥

सिंहों और बाघोंके चमड़ोंके बने हुए कवचोंसे वे रथ ढके हुए थे, उनमें हाथी-दाँत, सुवर्ण तथा चाँदीकी प्रतिमाएँ रखी हुई थीं। उन रथोंमें लगी हुई छोटी-छोटी घंटिकाओंकी मधुर ध्वनि वहाँ होती रहती थी; ऐसे विचित्र रथ उस रावण-भवनमें सदा आ-जा रहे थे॥ ६॥

बहुरत्नसमाकीर्णं परार्ध्यासनभूषितम्।
महारथसमावापं महारथमहासनम्॥ ७॥

रावणका वह भवन अनेक प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त था, बहुमूल्य आसन उसकी शोभा बढ़ाते थे। उसमें सब ओर बड़े-बड़े रथोंके ठहरनेके स्थान बने थे और महारथी वीरोंके लिये विशाल वासस्थान बनाये गये थे॥ ७॥

दृश्यैश्च परमोदारैस्तैस्तैश्च मृगपक्षिभिः।
विविधैर्बहुसाहस्रैः परिपूर्णं समन्ततः॥ ८॥

दर्शनीय एवं परम सुन्दर नाना प्रकारके सहस्रों पशु और पक्षी वहाँ सब ओर भरे हुए थे॥ ८॥

विनीतैरन्तपालैश्च रक्षोभिश्च सुरक्षितम्।
मुख्याभिश्च वरस्त्रीभिः परिपूर्णं समन्ततः॥ ९॥

सीमाकी रक्षा करनेवाले विनयशील राक्षस उस भवनकी रक्षा करते थे। वह सब ओरसे मुख्य-मुख्य सुन्दरियोंसे भरा रहता था॥ ९॥

मुदितप्रमदारत्नं राक्षसेन्द्रनिवेशनम्।
वराभरणसंह्रादैः समुद्रस्वननिःस्वनम्॥ १०॥

वहाँकी रत्नस्वरूपा युवती रमणियाँ सदा प्रसन्न रहा करती थीं। सुन्दर आभूषणोंकी झनकारोंसे झंकृत राक्षसराजका वह महल समुद्रके कलकलनादकी भाँति मुखरित रहता था॥ १०॥

तद् राजगुणसम्पन्नं मुख्यैश्च वरचन्दनैः।
महाजनसमाकीर्णं सिंहैरिव महद् वनम्॥ ११॥

वह भवन राजोचित सामग्रीसे पूर्ण था, श्रेष्ठ एवं सुन्दर चन्दनोंसे चर्चित था तथा सिंहोंसे भरे हुए विशाल वनकी भाँति प्रधान-प्रधान पुरुषोंसे परिपूर्ण था॥ ११॥

भेरीमृदङ्गाभिरुतं शङ्खघोषविनादितम्।
नित्यार्चितं पर्वसुतं पूजितं राक्षसैः सदा॥ १२॥

वहाँ भेरी और मृदङ्गकी ध्वनि सब ओर फैली हुई थी। वहाँ शङ्खकी ध्वनि गूँज रही थी। उसकी नित्य पूजा एवं सजावट होती थी। पर्वोंके दिन वहाँ होम किया जाता था। राक्षसलोग सदा ही उस राजभवनकी पूजा करते थे॥ १२॥

समुद्रमिव गम्भीरं समुद्रसमनिःस्वनम्।
महात्मनो महद् वेश्म महारत्नपरिच्छदम्॥ १३॥

वह समुद्रके समान गम्भीर और उसीके समान कोलाहलपूर्ण था। महामना रावणका वह विशाल भवन महान् रत्नमय अलंकारोंसे अलंकृत था॥ १३॥

महारत्नसमाकीर्णं ददर्श स महाकपिः।
विराजमानं वपुषा गजाश्वरथसंकुलम्॥ १४॥

उसमें हाथी-घोड़े और रथ भरे हुए थे तथा वह महान् रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण अपने स्वरूपसे प्रकाशित हो रहा था। महाकपि हनुमान्‌ने उसे देखा॥ १४॥

लङ्काभरणमित्येव सोऽमन्यत महाकपिः।
चचार हनुमांस्तत्र रावणस्य समीपतः॥ १५॥

देखकर कपिवर हनुमान्‌ने उस भवनको लङ्काका आभूषण ही माना। तदनन्तर वे उस रावण-भवनके आस-पास ही विचरने लगे॥ १५॥

गृहाद् गृहं राक्षसानामुद्यानानि च सर्वशः।
वीक्षमाणोऽप्यसंत्रस्तः प्रासादांश्च चचार सः॥ १६॥

इस प्रकार वे एक घरसे दूसरे घरमें जाकर राक्षसोंके बगीचोंके सभी स्थानोंको देखते हुए बिना किसी भयसे अट्टालिकाओंपर विचरण करने लगे॥ १६॥

अवप्लुत्य महावेगः प्रहस्तस्य निवेशनम्।
ततोऽन्यत् पुप्लुवे वेश्म महापार्श्वस्य वीर्यवान्॥ १७॥

महान् वेगशाली और पराक्रमी वीर हनुमान् वहाँसे कूदकर प्रहस्तके घरमें उतर गये। फिर वहाँसे उछले और महापार्श्वके महलमें पहुँच गये॥ १७॥

अथ मेघप्रतीकाशं कुम्भकर्णनिवेशनम्।
विभीषणस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः॥ १८॥

तदनन्तर वे महाकपि हनुमान् मेघके समान प्रतीत होनेवाले कुम्भकर्णके भवनमें और वहाँसे विभीषणके महलमें कूद गये ॥ १८ ॥

महोदरस्य च तथा विरूपाक्षस्य चैव हि ।
विद्युज्जिह्वस्य भवनं विद्युन्मालेस्तथैव च ॥ १९ ॥

इसी तरह क्रमशः वे महोदर, विरूपाक्ष, विद्युजिह्व और विद्युन्मालिके घरमें गये ॥ १९ ॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ।
शुकस्य च महावेगः सारणस्य च धीमतः ॥ २० ॥

इसके बाद महान् वेगशाली महाकपि हनुमान्ने फिर छलाँग मारी और वे वज्रदंष्ट्र, शुक तथा बुद्धिमान् सारणके घरोंमें जा पहुँचे ॥ २० ॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म जगाम हरियूथपः ।
जम्बुमालेः सुमालेश्च जगाम हरिसत्तमः ॥ २१ ॥

इसके बाद वे वानर-यूथपति कपिश्रेष्ठ इन्द्रजित्के घरमें गये और वहाँसे जम्बुमालि तथा सुमालिके घरमें पहुँच गये ॥ २१ ॥

रश्मिकेतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च ।
वज्रकायस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर वे महाकपि उछलते-कूदते हुए रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु और वज्रकायके महलोंमें जा पहुँचे ॥ २२ ॥

धूम्राक्षस्याथ सम्पातेर्भवनं मारुतात्मजः ।
विद्युद्रूपस्य भीमस्य घनस्य विघनस्य च ॥ २३ ॥
शुकनाभस्य चक्रस्य शठस्य कपटस्य च ।
ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य लोमशस्य च रक्षसः ॥ २४ ॥
युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य सादिनः ।
विद्युज्जिह्वद्विजिह्वानां तथा हस्तिमुखस्य च ॥ २५ ॥
करालस्य पिशाचस्य शोणिताक्षस्य चैव हि ।
प्लवमानः क्रमेणैव हनुमान् मारुतात्मजः ॥ २६ ॥
तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः ।
तेषामृद्धिमतामृद्धिं ददर्श स महाकपिः ॥ २७ ॥

फिर क्रमशः वे कपिवर पवनकुमार धूम्राक्ष, सम्पाति, विद्युद्रूप, भीम, घन, विघन, शुकनाभ, चक्र, शठ, कपट, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, लोमश, युद्धोन्मत्त, मत्त, ध्वजग्रीव, विद्युजिह्व, द्विजिह्व, हस्तिमुख, कराल, पिशाच और शोणिताक्ष आदिके महलोंमें गये । इस प्रकार क्रमशः कूदते-फाँदते हुए महायशस्वी पवनपुत्र हनुमान् उन-उन बहुमूल्य भवनोंमें पधारे । वहाँ उन महाकपिने उन समृद्धिशाली राक्षसोंकी समृद्धि देखी ॥ २३—२७ ॥

सर्वेषां समतिक्रम्य भवनानि समन्ततः ।
आससादाथ लक्ष्मीवान् राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् बल-वैभवसे सम्पन्न हनुमान् उन सब भवनोंको लाँघकर पुनः राक्षसराज रावणके महलपर आ गये ॥ २८ ॥

रावणस्योपशायिन्यो ददर्श हरिसत्तमः ।
विचरन् हरिशार्दूलो राक्षसीर्विकृतेक्षणाः ॥ २९ ॥

वहाँ विचरते हुए उन वानरशिरोमणि कपिश्रेष्ठने रावणके निकट सोनेवाली (उसके पलंगकी रक्षा करनेवाली) राक्षसियोंको देखा, जिनकी आँखें बड़ी विकराल थीं ॥ २९ ॥

शूलमुद्गरहस्तांश्च शक्तितोमरधारिणः ।
ददर्श विविधान्गुल्मांस्तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥ ३० ॥

साथ ही, उन्होंने उस राक्षसराजके भवनमें राक्षसियोंके बहुत-से समुदाय देखे, जिनके हाथोंमें शूल, मुद्गर, शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्र विद्यमान थे ॥ ३० ॥

राक्षसांश्च महाकायान् नानाप्रहरणोद्यतान् ।
रक्तान्श्वेतान् सितांश्चापि हरींश्चापि महाजवान् ॥ ३१ ॥

उनके सिवा, वहाँ बहुत-से विशालकाय राक्षस भी दिखायी दिये, जो नाना प्रकारके हथियारोंसे लैस थे । इतना ही नहीं, वहाँ लाल और सफेद रंगके बहुत-से अत्यन्त वेगशाली घोड़े भी बँधे हुए थे ॥ ३१ ॥

कुलीनान् रूपसम्पन्नान् गजान् परगजारुजान् ।
शिक्षितान् गजशिक्षायामैरावतसमान् युधि ॥ ३२ ॥
निहन्तॄन् परसैन्यानां गृहे तस्मिन् ददर्श सः ।
क्षरतश्च यथा मेघान् स्रवतश्च यथा गिरीन् ॥ ३३ ॥
मेघस्तनितनिर्घोषान् दुर्धर्षान् समरे परैः ।

साथ ही अच्छी जातिके रूपवान् हाथी भी थे, जो शत्रुसेनाके हाथियोंको मार भगानेवाले थे । वे सब-के-सब गजशिक्षामें सुशिक्षित, युद्धमें ऐरावतके समान पराक्रमी तथा शत्रुसेनाओंका संहार करनेमें समर्थ थे । वे बरसते हुए मेघों और झरने बहाते हुए पर्वतोंके समान मदकी धारा बहा रहे थे । उनकी गर्जना मेघ-गर्जनाके समान जान पड़ती थी । वे समराङ्गणमें शत्रुओंके लिये दुर्जय थे । हनुमान्जीने रावणके भवनमें उन सबको देखा ॥ ३२-३३½ ॥

सहस्रं वाहिनीस्तत्र जाम्बूनदपरिष्कृताः ॥ ३४ ॥
हेमजालैरविच्छिन्नास्तरुणादित्यसंनिभाः ।
ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ॥ ३५ ॥

राक्षसराज रावणके उस महलमें उन्होंने सहस्रों ऐसी सेनाएँ देखीं, जो जाम्बूनदके आभूषणोंसे विभूषित थीं । उनके सारे अङ्ग सोनेके गहनोंसे ढके हुए थे तथा वे प्रातःकालके सूर्यकी भाँति उद्दीप्त हो रही थीं ॥ ३४-३५ ॥

शिबिका विविधाकाराः स कपिर्मारुतात्मजः ।
लतागृहाणि चित्राणि चित्रशालागृहाणि च ॥ ३६ ॥
क्रीडागृहाणि चान्यानि दारुपर्वतकानि च ।
कामस्य गृहकं रम्यं दिवागृहकमेव च ॥ ३७ ॥
ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ।

पवनपुत्र हनुमान्‌जीने राक्षसराज रावणके उस भवनमें अनेक प्रकारकी पालकियाँ, विचित्र लता-गृह, चित्रशालाएँ, क्रीडाभवन, काष्ठमय क्रीडापर्वत, रमणीय विलासगृह और दिनमें उपयोगमें आनेवाले विलासभवन भी देखे ॥३६-३७½॥

स मन्दरसमप्रख्यं मयूरस्थानसंकुलम् ॥ ३८ ॥
ध्वजयष्टिभिराकीर्णं ददर्श भवनोत्तमम् ।
अनन्तरत्ननिचयं निधिजालं समन्ततः ।
धीरनिष्ठितकर्माङ्गं गृहं भूतपतेरिव ॥ ३९ ॥

उन्होंने वह महल मन्दराचलके समान ऊँचा, क्रीडा-मयूरोंके रहनेके स्थानोंसे युक्त, ध्वजाओंसे व्याप्त, अनन्त रत्नोंका भण्डार और सब ओरसे निधियोंसे भरा हुआ देखा। उसमें धीर पुरुषोंने निधिरक्षाके उपयुक्त कर्माङ्गोंका अनुष्ठान किया था तथा वह साक्षात् भूतनाथ (महेश्वर या कुबेर) के भवनके समान जान पड़ता था ॥ ३८-३९ ॥

अर्चिर्भिश्चापि रत्नानां तेजसा रावणस्य च ।
विरराज च तद् वेश्म रश्मिवानिव रश्मिभिः ॥ ४० ॥

रत्नोंकी किरणों तथा रावणके तेजके कारण वह घर किरणोंसे युक्त सूर्यके समान जगमगा रहा था ॥ ४० ॥

जाम्बूनदमयान्येव शयनान्यासनानि च ।
भाजनानि च शुभ्राणि ददर्श हरियूथपः ॥ ४१ ॥

वानरयूथपति हनुमान्‌ने वहाँके पलंग, चौकी और पात्र सभी अत्यन्त उज्ज्वल तथा जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए ही देखे ॥ ४१ ॥

मध्वासवकृतक्लेदं मणिभाजनसंकुलम् ।
मनोरममसम्बाधं कुबेरभवनं यथा ॥ ४२ ॥
नूपुराणां च घोषेण काञ्चीनां निःस्वनेन च ।
मृदङ्गतलनिर्घोषैर्घोषवद्भिर्विनादितम् ॥ ४३ ॥

उसमें मधु और आसवके गिरनेसे वहाँकी भूमि गीली हो रही थी। मणिमय पात्रोंसे भरा हुआ वह सुविस्तृत महल कुबेर-भवनके समान मनोरम जान पड़ता था । नूपुरोंकी झनकार, करधनियोंकी खनखनाहट, मृदङ्गों और तालियोंकी मधुर ध्वनि तथा अन्य गम्भीर घोष करनेवाले वाद्योंसे वह भवन मुखरित हो रहा था ॥ ४२-४३ ॥

प्रासादसंघातयुतं स्त्रीरत्नशतसंकुलम् ।
सुव्यूढकक्ष्यं हनुमान् प्रविवेश महागृहम् ॥ ४४ ॥

उसमें सैकड़ों अट्टालिकाएँ थीं, सैकड़ों रमणी-रत्नोंसे वह व्याप्त था। उसकी ड्योढ़ियाँ बहुत बड़ी-बड़ी थीं। ऐसे विशाल भवनमें हनुमान्‌जीने प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

रावणके भवन एवं पुष्पक विमानका वर्णन

स वेश्मजालं बलवान् ददर्श
व्यासक्तवैदूर्यसुवर्णजालम् ।
यथा महत्प्रावृषि मेघजालं
विद्युत्पिनद्धं सविहङ्गजालम् ॥ १ ॥

बलवान् वीर हनुमान्‌जीने नीलमसे जड़ी हुई सोनेकी खिड़कियोंसे सुशोभित तथा पक्षि-समूहोंसे युक्त भवनोंका समुदाय देखा, जो वर्षाकालमें बिजलीसे युक्त महती मेघमाला-के समान मनोहर जान पड़ता था ॥ १ ॥

निवेशनानां विविधाश्च शालाः
प्रधानशङ्खायुधचापशालाः ।
मनोहराश्चापि पुनर्विशाला
ददर्श वेश्माद्रिषु चन्द्रशालाः ॥ २ ॥

उसमें नाना प्रकारकी बैठकें, शङ्ख, आयुध और धनुषों-की मुख्य-मुख्य शालाएँ तथा पर्वतोंके समान ऊँचे महलोंके ऊपर मनोहर एवं विशाल चन्द्रशालाएँ (अट्टालिकाएँ) देखीं ॥ २ ॥

गृहाणि नानावसुराजितानि
देवासुरैश्चापि सुपूजितानि ।
सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि
कपिर्ददर्श स्वबलार्जितानि ॥ ३ ॥

कपिवर हनुमान्‌ने वहाँ नाना प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित ऐसे-ऐसे घर देखे, जिनकी देवता और असुर भी प्रशंसा करते थे। वे गृह सम्पूर्ण दोषोंसे रहित थे तथा रावणने उन्हें अपने पुरुषार्थसे प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

तानि प्रयत्नाभिसमाहितानि
मयेन साक्षादिव निर्मितानि ।
महीतले सर्वगुणोत्तराणि
ददर्श लङ्काधिपतेर्गृहाणि ॥ ४ ॥

वे भवन बड़े प्रयत्नसे बनाये गये थे और ऐसे अद्भुत लगते थे, मानो साक्षात् मय दानवने ही उनका निर्माण किया हो। हनुमान्‌जीने उन्हें देखा, लङ्कापति रावणके वे घर इस भूतल-पर सभी गुणोंमें सबसे बढ़-चढ़कर थे ॥ ४ ॥

ततो ददर्शोच्छ्रितमेघरूपं
मनोहरं काञ्चनचारुरूपम्।
रक्षोऽधिपस्यात्मबलानुरूपं
गृहोत्तमं ह्यप्रतिरूपरूपम्॥ ५॥

फिर उन्होंने राक्षसराज रावणका उसकी शक्तिके अनुरूप अत्यन्त उत्तम और अनुपम भवन (पुष्पक विमान) देखा, जो मेघके समान ऊँचा, सुवर्णके समान सुन्दर कान्तिवाला तथा मनोहर था॥ ५॥

महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णं
श्रिया ज्वलन्तं बहुरत्नकीर्णम्।
नानातरूणां कुसुमावकीर्णं
गिरेरिवाग्रं रजसावकीर्णम्॥ ६॥

वह इस भूतलपर बिखरे हुए स्वर्गके समान जान पड़ता था। अपनी कान्तिसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। अनेकानेक रत्नोंसे व्याप्त, भाँति-भाँतिके वृक्षोंके फूलोंसे आच्छादित तथा पुष्पोंके परागसे भरे हुए पर्वत-शिखरके समान शोभा पाता था॥ ६॥

नारीप्रवेकैरिव दीप्यमानं
तडिद्भिरम्भोधरमर्च्यमानम्।
हंसप्रवेकैरिव वाह्यमानं
श्रिया युतं खे सुकृतं विमानम्॥ ७॥

वह विमानरूप भवन विद्युन्मालाओंसे पूजित मेघके समान रमणी-रत्नोंसे देदीप्यमान हो रहा था और श्रेष्ठ हंसोंद्वारा आकाशमें ढोये जाते हुए विमानकी भाँति जान पड़ता था। उस दिव्य विमानको बहुत सुन्दर ढंगसे बनाया गया था। वह अद्भुत शोभासे सम्पन्न दिखायी देता था॥ ७॥

यथा नगाग्रं बहुधातुचित्रं
यथा नभश्च ग्रहचन्द्रचित्रम्।
ददर्श युक्तीकृतचारुमेघ-
चित्रं विमानं बहुरत्नचित्रम्॥ ८॥

जैसे अनेक धातुओंके कारण पर्वतशिखर, ग्रहों और चन्द्रमाके कारण आकाश तथा अनेक वर्णोंसे युक्त होनेके कारण मनोहर मेघ विचित्र शोभा धारण करते हैं, उसी तरह नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित होनेके कारण वह विमान भी विचित्र शोभासे सम्पन्न दिखायी देता था॥ ८॥

मही कृता पर्वतराजिपूर्णा
शैलाः कृता वृक्षवितानपूर्णाः।
वृक्षाः कृताः पुष्पवितानपूर्णाः
पुष्पं कृतं केसरपत्रपूर्णम्॥ ९॥

उस विमानकी आधारभूमि (आरोहियोंके खड़े होनेका स्थान) सोने और मणियोंके द्वारा निर्मित कृत्रिम पर्वत-मालाओंसे पूर्ण बनायी गयी थी। वे पर्वत वृक्षोंकी विस्तृत पंक्तियोंसे हरे-भरे रचे गये थे। वे वृक्ष फूलोंके बाहुल्यसे व्याप्त बनाये गये थे तथा वे पुष्प भी केसर एवं पंखुड़ियोंसे पूर्ण निर्मित हुए थे*॥ ९॥

कृतानि वेश्मानि च पाण्डुराणि
तथा सुपुष्पाण्यपि पुष्कराणि।
पुनश्च पद्मानि सकेसराणि
वनानि चित्राणि सरोवराणि॥ १०॥

उस विमानमें श्वेतभवन बने हुए थे। सुन्दर फूलोंसे सुशोभित पोखरे बनाये गये थे। केसरयुक्त कमल, विचित्र वन और अद्भुत सरोवरोंका भी निर्माण किया गया था॥ १०॥

पुष्पाह्वयं नाम विराजमानं
रत्नप्रभाभिश्च विघूर्णमानम्।
वेश्मोत्तमानामपि चोच्चमानं
महाकपिस्तत्र महाविमानम्॥ ११॥

महाकपि हनुमान्‌ने जिस सुन्दर विमानको वहाँ देखा, उसका नाम पुष्पक था। वह रत्नोंकी प्रभासे प्रकाशमान था और इधर-उधर भ्रमण करता था। देवताओंके गृहाकार उत्तम विमानोंमें सबसे अधिक आदर उस महाविमान पुष्पकका ही होता था॥ ११॥

कृताश्च वैदूर्यमया विहङ्गा
रूप्यप्रवालैश्च तथा विहङ्गाः।
चित्राश्च नानावसुभिर्भुजङ्गा
जात्यानुरूपास्तुरगाः शुभाङ्गाः॥ १२॥

उसमें नीलम, चाँदी और मूँगोंके आकाशचारी पक्षी बनाये गये थे। नाना प्रकारके रत्नोंसे विचित्र वर्णके सर्पोंका निर्माण किया गया था और अच्छी जातिके घोड़ोंके समान ही सुन्दर अङ्गवाले अश्व भी बनाये गये थे॥ १२॥

प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः
सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः।
कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः
कृता विहङ्गाः सुमुखाः सुपक्षाः॥ १३॥

उस विमानपर सुन्दर मुख और मनोहर पंखवाले बहुत-से ऐसे विहङ्गम निर्मित हुए थे, जो साक्षात् कामदेवके

---

* जहाँ पूर्वकथित वस्तुओंके प्रति उत्तरोत्तर कथित वस्तुओंका विशेषण भावसे स्थापन किया जाय, वहाँ 'एकावली' अलंकार माना गया है। इस लक्षणके अनुसार इस श्लोकमें एकावली अलंकार है। यहाँ 'मही' का विशेषण पर्वत, पर्वतका वृक्ष और वृक्षका विशेषण पुष्प आदि समझना चाहिये। गोविन्दराजने यहाँ 'अधिक' नामक अलंकार माना है; परंतु जहाँ आधारसे आधेयकी विशेषता बतायी गयी हो वहीं इसका विषय है; यहाँ ऐसी बात नहीं है।

सहायक जान पड़ते थे। उनकी पाँखें मूँगे और सुवर्णके बने हुए फूलोंसे युक्त थीं तथा उन्होंने लीलापूर्वक अपने बाँके पंखोंको समेट रक्खा था ॥ १३ ॥

नियुज्यमानाश्च गजाः सुहस्ताः
सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ताः ।
बभूव देवी च कृतासुहस्ता
लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता ॥ १४ ॥

उस विमानके कमलमण्डित सरोवरमें ऐसे हाथी बनाये गये थे, जो लक्ष्मीके अभिषेक-कार्यमें नियुक्त थे। उनकी सूँड़ बड़ी सुन्दर थी। उनके अङ्गोंमें कमलोंके केसर लगे हुए थे तथा उन्होंने अपनी सूँड़ोंमें कमल-पुष्प धारण किये थे। उनके साथ ही वहाँ तेजस्विनी लक्ष्मी देवीकी प्रतिमा भी विराजमान थी, जिनका उन हाथियोंके द्वारा अभिषेक हो रहा था। उनके हाथ बड़े सुन्दर थे। उन्होंने अपने हाथमें कमलपुष्प धारण कर रक्खा था ॥ १४ ॥

इतीव तद्गृहमभिगम्य शोभनं
सविस्मयो नगमिव चारुकन्दरम् ।
पुनश्च तत्परमसुगन्धि सुन्दरं
हिमात्यये नगमिव चारुकन्दरम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार सुन्दर कन्दराओंवाले पर्वतके समान तथा वसन्तऋतुमें सुन्दर कोटरोंवाले परम सुगन्धयुक्त वृक्षके समान उस शोभायमान मनोहर भवन (विमान) में पहुँचकर हनुमान्‌जी बड़े विस्मित हुए ॥ १५ ॥

ततः स तां कपिरभिपत्य पूजितां
चरन् पुरीं दशमुखबाहुपालिताम् ।
अदृश्य तां जनकसुतां सुपूजितां
सुदुःखितां पतिगुणवेगनिर्जिताम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर दशमुख रावणके बाहुबलसे पालित उस प्रशंसित पुरीमें जाकर चारों ओर घूमनेपर भी पतिके गुणोंके वेगसे पराजित (विमुग्ध) अत्यन्त दुःखिनी और परम पूजनीया जनककिशोरी सीताको न देखकर कपिवर हनुमान् बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १६ ॥

ततस्तदा बहुविधभावितात्मनः
कृतात्मनो जनकसुतां सुवर्त्मनः ।
अपश्यतोऽभवदतिदुःखितं मनः
सचक्षुषः प्रविचरतो महात्मनः ॥ १७ ॥

महात्मा हनुमान्‌जी अनेक प्रकारसे परमार्थ-चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले कृतात्मा (पवित्र अन्तःकरणवाले) सन्मार्गगामी तथा उत्तम दृष्टि रखनेवाले थे। इधर-उधर बहुत घूमनेपर भी जब उन महात्माको जानकीजीका पता न लगा, तब उनका मन बहुत दुखी हो गया ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा पुनः पुष्पक विमानका दर्शन

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो
महद्विमानं मणिरत्नचित्रितम् ।
प्रतप्तजाम्बूनदजालकृत्रिमं
ददर्श धीमान् पवनात्मजः कपिः ॥ १ ॥

रावणके भवनके मध्यभागमें खड़े हुए बुद्धिमान् पवनकुमार कपिवर हनुमान्‌जीने मणि तथा रत्नोंसे जटित एवं तपे हुए सुवर्णमय गवाक्षोंकी रचनासे युक्त उस विशाल विमानको पुनः देखा ॥ १ ॥

तदप्रमेयप्रतिकारकृत्रिमं
कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा ।
दिवं गते वायुपथे प्रतिष्ठितं
व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्म तत् ॥ २ ॥

उसकी रचनाको सौन्दर्य आदिकी दृष्टिसे मापा नहीं जा सकता था। उसका निर्माण अनुपम रीतिसे किया गया था। स्वयं विश्वकर्माने ही उसे बनाया था और बहुत उत्तम कहकर उसकी प्रशंसा की थी। जब वह आकाशमें उठकर वायुमार्गमें स्थित होता था, तब सौर मार्गके चिह्न-सा सुशोभित होता था ॥ २ ॥

न तत्र किंचिन्न कृतं प्रयत्नतो
न तत्र किंचिन्न महार्घरत्नवत् ।
न ते विशेषा नियताः सुरेष्वपि
न तत्र किंचिन्न महाविशेषवत् ॥ ३ ॥

उसमें कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो अत्यन्त प्रयत्नसे न बनायी गयी हो तथा वहाँ कोई भी ऐसा स्थान या विमानका अङ्ग नहीं था, जो बहुमूल्य रत्नोंसे जटित न हो। उसमें जो विशेषताएँ थीं, वे देवताओंके विमानोंमें भी नहीं थीं। उसमें कोई ऐसी चीज नहीं थी, जो बड़ी भारी विशेषतासे युक्त न हो ॥ ३ ॥

तपःसमाधानपराक्रमार्जितं
मनःसमाधानविचारचारिणम् ।

अनेकसंस्थानविशेषनिर्मितं
ततस्ततस्तुल्यविशेषनिर्मितम् ॥ ४ ॥

रावणने जो निराहार रहकर तप किया था और भगवान्‌के चिन्तनमें चित्तको एकाग्र किया था, इससे मिले हुए पराक्रमके द्वारा उसने उस विमानपर अधिकार प्राप्त किया था। मनमें जहाँ भी जानेका संकल्प उठता, वहीं वह विमान पहुँच जाता था। अनेक प्रकारकी विशिष्ट निर्माण-कलाओंद्वारा उस विमानकी रचना हुई थी तथा जहाँ-तहाँसे प्राप्त की गयी दिव्य विमान-निर्माणोचित विशेषताओंसे उसका निर्माण हुआ था ॥ ४ ॥

मनः समाधाय तु शीघ्रगामिनं
दुरासदं मारुततुल्यगामिनम्।
महात्मनां पुण्यकृतां महर्द्धिनां
यशस्विनामग्र्यमुदामिवालयम् ॥ ५ ॥

वह स्वामीके मनका अनुसरण करते हुए बड़ी शीघ्रतासे चलनेवाला, दूसरोंके लिये दुर्लभ और वायुके समान वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाला था तथा श्रेष्ठ आनन्द (महान् सुख) के भागी, बढ़े-चढ़े तपवाले, पुण्यकारी महात्माओंका ही वह आश्रय था ॥ ५ ॥

विशेषमालम्ब्य विशेषसंस्थितं
विचित्रकूटं बहुकूटमण्डितम्।
मनोऽभिरामं शरदिन्दुनिर्मलं
विचित्रकूटं शिखरं गिरेर्यथा ॥ ६ ॥

वह विमान गतिविशेषका आश्रय ले व्योमरूप देश-विशेषमें स्थित था। आश्चर्यजनक विचित्र वस्तुओंका समुदाय उसमें एकत्र किया गया था। बहुत-सी शालाओंके कारण उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह शरद्-ऋतुके चन्द्रमाके समान निर्मल और मनको आनन्द प्रदान करनेवाला था। विचित्र छोटे-छोटे शिखरोंसे युक्त किसी पर्वतके प्रधान शिखरकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार अद्भुत शिखर-वाले उस पुष्पक विमानकी भी शोभा हो रही थी ॥ ६ ॥

वहन्ति यत्कुण्डलशोभितानना
महाशना व्योमचरा निशाचराः।
विवृत्तविध्वस्तविशाललोचना
महाजवा भूतगणाः सहस्रशः ॥ ७ ॥
वसन्तपुष्पोत्करचारुदर्शनं
वसन्तमासादपि चारुदर्शनम्।
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं
ददर्श तद् वानरवीरसत्तमः ॥ ८ ॥

जिनके मुख-मण्डल कुण्डलोंसे सुशोभित और नेत्र घूमते या घूरते रहनेवाले, निमेषरहित तथा बड़े-बड़े थे, वे अपरिमित भोजन करनेवाले, महान् वेगशाली, आकाशमें विचरनेवाले तथा रातमें भी दिनके समान ही चलनेवाले सहस्रों भूतगण जिसका भार वहन करते थे, जो वसन्त-कालिक पुष्प-पुञ्जके समान रमणीय दिखायी देता था और वसन्त माससे भी अधिक सुहावना दृष्टिगोचर होता था, उस उत्तम पुष्पक विमानको वानरशिरोमणि हनुमान्‌जीने वहाँ देखा ॥ ७-८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

हनुमान्‌जीका रावणके श्रेष्ठ भवन, पुष्पकविमान तथा रावणके रहनेकी सुन्दर हवेलीको देखकर उसके भीतर सोयी हुई सहस्रों सुन्दरी स्त्रियोंका अवलोकन करना

तस्यालयवरिष्ठस्य मध्ये विमलमायतम्।
ददर्श भवनश्रेष्ठं हनुमान् मारुतात्मजः ॥ १ ॥
अर्धयोजनविस्तीर्णमायतं योजनं महत्।
भवनं राक्षसेन्द्रस्य बहुप्रासादसंकुलम् ॥ २ ॥

लङ्कावर्ती सर्वश्रेष्ठ महान् गृहके मध्यभागमें पवनपुत्र हनुमान्‌जीने देखा एक उत्तम भवन शोभा पा रहा है। वह बहुत ही निर्मल एवं विस्तृत था। उसकी लंबाई एक योजनकी और चौड़ाई आधे योजनकी थी। राक्षसराज रावणका वह विशाल भवन बहुत-सी अट्टालिकाओंसे व्याप्त था ॥ १-२ ॥

मार्गमाणस्तु वैदेहीं सीतामायतलोचनाम्।
सर्वतः परिचक्राम हनुमानरिसूदनः ॥ ३ ॥

विशाललोचना विदेह-नन्दिनी सीताकी खोज करते हुए शत्रुसूदन हनुमान्‌जी उस भवनमें सब ओर चक्कर लगाते फिरे ॥ ३ ॥

उत्तमं राक्षसावासं हनुमानवलोकयन्।
आससादाथ लक्ष्मीवान् राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ ४ ॥

बल-वैभवसे सम्पन्न हनुमान् राक्षसोंके उस उत्तम आवासका अवलोकन करते हुए एक ऐसे सुन्दर गृहमें जा पहुँचे, जो राक्षसराज रावणका निजी निवास-स्थान था ॥ ४ ॥

चतुर्विषाणैर्द्विरदैस्त्रिविषाणैस्तथैव च ।
परिक्षिप्तमसम्बाधं रक्ष्यमाणमुदायुधैः ॥ ५ ॥

चार दाँत तथा तीन दाँतोंवाले हाथी इस विस्तृत भवनको चारों ओरसे घेरकर खड़े थे और हाथोंमें हथियार लिये बहुत-से राक्षस उसकी रक्षा करते थे ॥ ५ ॥

राक्षसीभिश्च पत्नीभी रावणस्य निवेशनम् ।
आहृताभिश्च विक्रम्य राजकन्याभिरावृतम् ॥ ६ ॥

रावणका वह महल उसकी राक्षसजातीय पत्नियों तथा पराक्रमपूर्वक हरकर लायी हुई राजकन्याओंसे भरा हुआ था ॥ ६ ॥

तन्नक्रमकराकीर्णं तिमिंगिलझषाकुलम् ।
वायुवेगसमाधूतं पन्नगैरिव सागरम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार नर-नारियोंसे भरा हुआ वह कोलाहलपूर्ण भवन नाके और मगरोंसे व्याप्त, तिमिङ्गलों और मत्स्योंसे पूर्ण, वायुवेगसे विक्षुब्ध तथा सर्पोंसे आवृत महासागरके समान प्रतीत होता था ॥ ७ ॥

या हि वैश्रवणे लक्ष्मीर्या चन्द्रे हरिवाहने ।
सा रावणगृहे रम्या नित्यमेवानपायिनी ॥ ८ ॥

जो लक्ष्मी कुबेर, चन्द्रमा और इन्द्रके यहाँ निवास करती हैं, वे ही और भी सुरम्य रूपसे रावणके घरमें नित्य ही निश्चल होकर रहती थीं ॥ ८ ॥

या च राज्ञः कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
तादृशी तद्विशिष्टा वा ऋद्धी रक्षोगृहेष्विह ॥ ९ ॥

जो समृद्धि महाराज कुबेर, यम और वरुणके यहाँ दृष्टिगोचर होती है, वही अथवा उससे भी बढ़कर राक्षसोंके घरोंमें देखी जाती थी ॥ ९ ॥

तस्य हर्म्यस्य मध्यस्थवेश्म चान्यत् सुनिर्मितम् ।
बहुनिर्यूहसंयुक्तं ददर्श पवनात्मजः ॥ १० ॥

उस (एक योजन लंबे और आधे योजन चौड़े) महलके मध्यभागमें एक दूसरा भवन (पुष्पक विमान) था, जिसका निर्माण बड़े सुन्दर ढंगसे किया गया था । वह भवन बहुसंख्यक मतवाले हाथियोंसे युक्त था । पवनकुमार हनुमान्‌जीने फिर उसे देखा ॥ १० ॥

ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद् विश्वकर्मणा ।
विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम् ॥ ११ ॥

वह सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित पुष्पक नामक दिव्य विमान स्वर्गलोकमें विश्वकर्माने ब्रह्माजीके लिये बनाया था ॥ ११ ॥

परेण तपसा लेभे यत् कुबेरः पितामहात् ।
कुबेरमोजसा जित्वा लेभे तद् राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥

कुबेरने बड़ी भारी तपस्या करके उसे ब्रह्माजीसे प्राप्त किया और फिर कुबेरको बलपूर्वक परास्त करके राक्षसराज रावणने उसे अपने हाथमें कर लिया ॥ १२ ॥

ईहामृगसमायुक्तैः कार्तस्वरहिरण्मयैः ।
सुकृतैराचितं स्तम्भैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ॥ १३ ॥

उसमें भेड़ियोंकी मूर्तियोंसे युक्त सोने-चाँदीके सुन्दर खम्भे बनाये गये थे, जिनके कारण वह भवन अद्भुत कान्तिसे उद्दीप्त-सा हो रहा था ॥ १३ ॥

मेरुमन्दरसंकाशैरुल्लिखद्भिरिवाम्बरम् ।
कूटागारैः शुभागारैः सर्वतः समलंकृतम् ॥ १४ ॥

उसमें सुमेरु और मन्दराचलके समान ऊँचे अनेकानेक गुप्त गृह और मङ्गल भवन बने थे, जो अपनी ऊँचाईसे आकाशमें रेखा-सी खींचते हुए जान पड़ते थे । उनके द्वारा वह विमान सब ओरसे सुशोभित होता था ॥ १४ ॥

ज्वलनार्कप्रतीकाशैः सुकृतं विश्वकर्मणा ।
हेमसोपानयुक्तं च चारुप्रवरवेदिकम् ॥ १५ ॥

उनका प्रकाश अग्नि और सूर्यके समान था । विश्वकर्माने बड़ी कारीगरीसे उसका निर्माण किया था । उसमें सोनेकी सीढ़ियाँ और अत्यन्त मनोहर उत्तम वेदियाँ बनायी गयी थीं ॥ १५ ॥

जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि ।
इन्द्रनीलमहानीलमणिप्रवरवेदिकम् ॥ १६ ॥

सोने और स्फटिकके झरोखे और खिड़कियाँ लगायी गयी थीं । इन्द्रनील और महानील मणियोंकी श्रेष्ठतम वेदियाँ रची गयी थीं ॥ १६ ॥

विद्रुमेण विचित्रेण मणिभिश्च महाधनैः ।
निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिस्तलेनाभिविराजितम् ॥ १७ ॥

उसकी फर्श विचित्र मूँगे, बहुमूल्य मणियों तथा अनुपम गोल-गोल मोतियोंसे जड़ी गयी थी, जिससे उस विमानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १७ ॥

चन्दनेन च रक्तेन तपनीयनिभेन च ।
सुपुण्यगन्धिना युक्तमादित्यतरुणोपमम् ॥ १८ ॥

सुवर्णके समान लाल रंगके सुगन्धयुक्त चन्दनसे संयुक्त होनेके कारण वह बालसूर्यके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

कूटागारैर्वराकारैर्विविधैः समलंकृतम् ।
विमानं पुष्पकं दिव्यमारुरोह महाकपिः ।
तत्रस्थः सर्वतो गन्धं पानभक्ष्यान्नसम्भवम् ॥ १९ ॥
दिव्यं सम्मूर्च्छितं जिघ्रन् रूपवन्तमिवानिलम् ।

महाकपि हनुमान्‌जी उस दिव्य पुष्पक विमानपर चढ़ गये, जो नाना प्रकारके सुन्दर कूटागारों (अट्टालिकाओं) से अलंकृत था । वहाँ बैठकर वे सब ओर फैली हुई नाना प्रकारके

पेय, भक्ष्य और अन्नकी दिव्य गन्ध सूँघने लगे। वह गन्ध मूर्तिमान् पवन-सी प्रतीत होती थी ॥ १९½ ॥

स गन्धस्तं महासत्त्वं बन्धुर्बन्धुमिवोत्तमम् ॥ २० ॥
इत एहीत्युवाचेव तत्र यत्र स रावणः ।

जैसे कोई बन्धु-बान्धव अपने उत्तम बन्धुको अपने पास बुलाता है, उसी प्रकार वह सुगन्ध उन महाबली हनुमान्जीको मानो यह कहकर कि 'इधर चले आओ' जहाँ रावण था, वहाँ बुला रही थी ॥ २०½ ॥

ततस्तां प्रस्थितः शालां ददर्श महतीं शिवाम् ॥ २१ ॥
रावणस्य महाकान्तां कान्तामिव वरस्त्रियम् ।

तदनन्तर हनुमान्जी उस ओर प्रस्थित हुए। आगे बढ़नेपर उन्होंने एक बहुत बड़ी हवेली देखी, जो बहुत ही सुन्दर और सुखद थी। वह हवेली रावणको बहुत ही प्रिय थी; ठीक वैसे ही जैसे पतिको कान्तिमयी सुन्दरी पत्नी अधिक प्रिय होती है ॥ २१½ ॥

मणिसोपानविकृतां हेमजालविराजिताम् ॥ २२ ॥
स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम् ।
मुक्तावज्रप्रवालैश्च रूप्यचामीकरैरपि ॥ २३ ॥

उसमें मणियोंकी सीढ़ियाँ बनी थीं और सोनेकी खिड़कियाँ उसकी शोभा बढ़ाती थीं। उसकी फर्श स्फटिक मणिसे बनायी गयी थी, जहाँ बीच-बीचमें हाथीके दाँतके द्वारा विभिन्न प्रकारकी आकृतियाँ बनी हुई थीं। मोती, हीरे, मूँगे, चाँदी और सोनेके द्वारा भी उसमें अनेक प्रकारके आकार अङ्कित किये गये थे ॥ २२-२३ ॥

विभूषितां मणिस्तम्भैः सुबहुस्तम्भभूषिताम् ।
समैर्ऋजुभिरत्युच्चैः समन्तात् सुविभूषितैः ॥ २४ ॥

मणियोंके बने हुए बहुत-से खंभे, जो समान, सीधे, बहुत ही ऊँचे और सब ओरसे विभूषित थे, आभूषणकी भाँति उस हवेलीकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २४ ॥

स्तम्भैः पक्षैरिवात्युच्चैर्दिवं सम्प्रस्थितामिव ।
महत्या कुथयाऽऽस्तीर्णां पृथिवीलक्षणाङ्कया ॥ २५ ॥

अपने अत्यन्त ऊँचे स्तम्भरूपी पंखोंसे मानो वह आकाशको उड़ती हुई-सी जान पड़ती थी। उसके भीतर पृथ्वीके वन-पर्वत आदि चिह्नोंसे अङ्कित एक बहुत बड़ा कालीन बिछा हुआ था ॥ २५ ॥

पृथिवीमिव विस्तीर्णां सराष्ट्रगृहशालिनीम् ।
नादितां मत्तविहगैर्दिव्यगन्धाधिवासिताम् ॥ २६ ॥

राष्ट्र और गृह आदिके चित्रोंसे सुशोभित वह शाला पृथ्वीके समान विस्तीर्ण जान पड़ती थी। वहाँ मतवाले विहंगमोंके कलरव गूँजते रहते थे तथा वह दिव्य सुगन्धसे सुवासित थी ॥ २६ ॥

परार्ध्यास्तरणोपेतां रक्षोऽधिपनिषेविताम् ।
धूम्रामगुरुधूपेन विमलां हंसपाण्डुराम् ॥ २७ ॥

उस हवेलीमें बहुमूल्य बिछौने बिछे हुए थे तथा स्वयं राक्षसराज रावण उसमें निवास करता था। वह अगुरु नामक धूपके धूएँसे धूमिल दिखायी देती थी, किंतु वास्तवमें हंसके समान श्वेत एवं निर्मल थी ॥ २७ ॥

पत्रपुष्पोपहारेण कल्माषीमिव सुप्रभाम् ।
मनसो मोदजननीं वर्णस्यापि प्रसाधिनीम् ॥ २८ ॥

पत्र-पुष्पके उपहारसे वह शाला चितकबरी-सी जान पड़ती थी। अथवा वसिष्ठमुनिकी शबला गौकी भाँति सम्पूर्ण कामनाओंकी देनेवाली थी। उसकी कान्ति बड़ी ही सुन्दर थी। वह मनको आनन्द देनेवाली तथा शोभाको भी सुशोभित करनेवाली थी ॥ २८ ॥

तां शोकनाशिनीं दिव्यां श्रियः संजननीमिव ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थैस्तु पञ्च पञ्चभिरुत्तमैः ॥ २९ ॥
तर्पयामास मातेव तदा रावणपालिता ।

वह दिव्य शाला शोकका नाश करनेवाली तथा सम्पत्तिकी जननी-सी जान पड़ती थी। हनुमान्जीने उसे देखा। उस रावणपालित शालाने उस समय माताकी भाँति शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषयोंसे हनुमान्जीकी श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंको तृप्त कर दिया ॥ २९½ ॥

स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत् ।
सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः ॥ ३० ॥

उसे देखकर हनुमान्जी यह तर्क-वितर्क करने लगे कि सम्भव है, यही स्वर्गलोक या देवलोक हो। यह इन्द्रकी पुरी भी हो सकती है अथवा यह परमसिद्धि (ब्रह्मलोककी प्राप्ति) है ॥ ३० ॥

प्रध्यायत इवापश्यत् प्रदीपांस्तत्र काञ्चनान् ।
धूर्तानिव महाधूर्तैर्देवनेन पराजितान् ॥ ३१ ॥

हनुमान्जीने उस शालामें सुवर्णमय दीपकोंको एकतार जलते देखा, मानो वे ध्यानमग्न हो रहे हों; ठीक उसी तरह जैसे किसी बड़े जुआरीसे जुएमें हारे हुए छोटे जुआरी धननाशकी चिन्ताके कारण ध्यानमें डूबे हुए-से दिखायी देते हैं ॥ ३१ ॥

दीपानां च प्रकाशेन तेजसा रावणस्य च ।
अर्चिर्भिर्भूषणानां च प्रदीप्तेत्यभ्यमन्यत ॥ ३२ ॥

दीपकोंके प्रकाश, रावणके तेज और आभूषणोंकी कान्तिसे वह सारी हवेली जलती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ३२ ॥

ततोऽपश्यत् कुथासीनं नानावर्णाम्बरस्रजम् ।
सहस्रं वरनारीणां नानावेषविभूषितम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर हनुमान्जीने कालीनपर बैठी हुई सहस्रों

सुन्दरी स्त्रियाँ देखीं, जो रंग-विरंगे वस्त्र और पुष्पमाला धारण किये अनेक प्रकारकी वेष-भूषाओंसे विभूषित थीं ॥ ३३ ॥

परिवृत्तेऽर्धरात्रे तु पानं निद्रावशंगतम्।
क्रीडित्वोपरतं रात्रौ प्रसुप्तं बलवत् तदा ॥ ३४ ॥

आधी रात बीत जानेपर वे क्रीडासे उपरत हो मधुपानके मद और निद्राके वशीभूत हो उस समय गाढ़ी नींदमें सो गयी थीं ॥ ३४ ॥

तत् प्रसुप्तं विरुरुचे निःशब्दान्तरभूषितम्।
निःशब्दहंसभ्रमरं यथा पद्मवनं महत् ॥ ३५ ॥

उन सोयी हुई सहस्रों नारियोंके कटिभागमें अब करधनीकी खनखनाहटका शब्द नहीं हो रहा था। हंसोंके कलरव तथा भ्रमरोंके गुञ्जारवसे रहित विशाल कमल-वनके समान उन सुप्त सुन्दरियोंका समुदाय बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ३५ ॥

तासां संवृतदान्तानि मीलिताक्षीणि मारुतिः।
अपश्यत् पद्मगन्धीनि वदनानि सुयोषिताम् ॥ ३६ ॥

पवनकुमार हनुमान्‌जीने उन सुन्दरी युवतियोंके मुख देखे, जिनसे कमलोंकी-सी सुगन्ध फैल रही थी। उनके दाँत ढँके हुए थे और आँखें मुँद गयी थीं ॥ ३६ ॥

प्रबुद्धानीव पद्मानि तासां भूत्वा क्षपाक्षये।
पुनः संवृतपत्राणि रात्राविव बभुस्तदा ॥ ३७ ॥

रात्रिके अन्तमें खिले हुए कमलोंके समान उन सुन्दरियोंके जो मुखारविन्द हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देते थे, वे ही फिर रात आनेपर सो जानेके कारण मुँदे हुए दलवाले कमलोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ३७ ॥

इमानि मुखपद्मानि नियतं मत्तषट्पदाः।
अम्बुजानीव फुल्लानि प्रार्थयन्ति पुनः पुनः ॥ ३८ ॥
इति वामन्यत श्रीमानुपपत्त्या महाकपिः।
मेने हि गुणतस्तानि समानि सलिलोद्भवैः ॥ ३९ ॥

उन्हें देखकर श्रीमान् महाकपि हनुमान् यह सम्भावना करने लगे कि 'मतवाले भ्रमर प्रफुल्ल कमलोंके समान मुखारविन्दोंकी प्राप्तिके लिये नित्य ही बारंबार प्रार्थना करते होंगे—उनपर सदा स्थान पानेके लिये तरसते होंगे'; क्योंकि वे गुणकी दृष्टिसे उन मुखारविन्दोंको पानीसे उत्पन्न होनेवाले कमलोंके समान ही समझते थे ॥ ३८-३९ ॥

सा तस्य शुशुभे शाला ताभिः स्त्रीभिर्विराजिता।
शारदीव प्रसन्ना द्यौस्ताराभिरभिशोभिता ॥ ४० ॥

रावणकी वह हवेली उन स्त्रियोंसे प्रकाशित होकर वैसी ही शोभा पा रही थी, जैसे शरत्कालमें निर्मल आकाश ताराओंसे प्रकाशित एवं सुशोभित होता है ॥ ४० ॥

स च ताभिः परिवृतः शुशुभे राक्षसाधिपः।
यथा ह्युडुपतिः श्रीमांस्ताराभिरिव संवृतः ॥ ४१ ॥

उन स्त्रियोंसे घिरा हुआ राक्षसराज रावण ताराओंसे घिरे हुए कान्तिमान् नक्षत्रपति चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ४१ ॥

याश्च्यवन्तेऽम्बरात् ताराः पुण्यशेषसमावृताः।
इमास्ताः संगताः कृत्स्ना इति मेने हरिस्तदा ॥ ४२ ॥

उस समय हनुमान्‌जीको ऐसा मालूम हुआ कि आकाश (स्वर्ग) से भोगावशिष्ट पुण्यके साथ जो ताराएँ नीचे गिरती हैं, वे सब-की-सब मानो यहाँ इन सुन्दरियोंके रूपमें एकत्र हो गयी हैं* ॥ ४२ ॥

ताराणामिव सुव्यक्तं महतीनां शुभार्चिषाम्।
प्रभावर्णप्रसादाश्च विरेजुस्तत्र योषिताम् ॥ ४३ ॥

क्योंकि वहाँ उन युवतियोंके तेज, वर्ण और प्रसाद स्पष्टतः सुन्दर प्रभावाले महान् तारोंके समान ही सुशोभित होते थे ॥ ४३ ॥

व्यावृत्तकचपीनस्रक्प्रकीर्णवरभूषणाः।
पानव्यायामकालेषु निद्रोपहतचेतसः ॥ ४४ ॥

मधुपानके अनन्तर व्यायाम (नृत्य, गान, क्रीडा आदि) के समय जिनके केश खुलकर बिखर गये थे, पुष्पमालाएँ मर्दित होकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं और सुन्दर आभूषण भी शिथिल होकर इधर-उधर खिसक गये थे, वे सभी सुन्दरियाँ वहाँ निद्रासे अचेत-सी होकर सो रही थीं ॥ ४४ ॥

व्यावृत्ततिलकाः काश्चित् काश्चिदुद्भ्रान्तनूपुराः।
पार्श्वे गलितहाराश्च काश्चित् परमयोषितः ॥ ४५ ॥

किन्हींके मस्तककी (सिंदूर-कस्तूरी आदिकी बेंदियाँ पुछ गयी थीं, किन्हींके नूपुर पैरोंसे निकलकर दूर जा पड़े थे तथा किन्हीं सुन्दरी युवतियोंके हार टूटकर उनके बगलमें ही पड़े थे ॥

मुक्ताहारवृताश्चान्याः काश्चित् प्रस्रस्तवाससः।
व्याविद्धरशनादामाः किशोर्य इव वाहिताः ॥ ४६ ॥

कोई मोतियोंके हार टूट जानेसे उनके बिखरे दानोंसे आवृत थीं, किन्हींके वस्त्र खिसक गये थे और किन्हींकी करधनीकी लड़ें टूट गयी थीं। वे युवतियाँ बोझ ढोकर थकी हुई अश्वजातिकी नयी बछेड़ियोंके समान जान पड़ती थीं ॥ ४६ ॥

अकुण्डलधराश्चान्या विच्छिन्नमृदितस्रजः।
गजेन्द्रमृदिताः फुल्ला लता इव महावने ॥ ४७ ॥

किन्हींके कानोंके कुण्डल गिर गये थे, किन्हींकी पुष्पमालाएँ मसली जाकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। इससे वे महान् वनमें गजराजद्वारा दली-मली गयी फूली लताओंके समान प्रतीत होती थीं ॥ ४७ ॥

---

* इस श्लोकमें 'अत्युक्ति' अलंकार है।

चन्द्रांशुकिरणाभाश्च हाराः कासांचिदुद्गताः।
हंसा इव बभुः सुप्ताः स्तनमध्येषु योषिताम्॥ ४८॥

किन्हींके चन्द्रमा और सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान हार उनके वक्षःस्थलपर पड़कर उभरे हुए प्रतीत होते थे। वे उन युवतियोंके स्तनमण्डलपर ऐसे जान पड़ते थे मानो वहाँ हंस सो रहे हों॥ ४८॥

अपरासां च वैदूर्याः कादम्बा इव पक्षिणः।
हेमसूत्राणि चान्यासां चक्रवाका इवाभवन्॥ ४९॥

दूसरी स्त्रियोंके स्तनोंपर नीलमके हार पड़े थे, जो कादम्ब (जलकाक) नामक पक्षीके समान शोभा पाते थे तथा अन्य स्त्रियोंके उरोजोंपर जो सोनेके हार थे, वे चक्रवाक (सुरखाब) नामक पक्षियोंके समान जान पड़ते थे॥ ४९॥

हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः।
आपगा इव ता रेजुर्जघनैः पुलिनैरिव॥ ५०॥

इस प्रकार वे हंस, कारण्डव (जलकाक) तथा चक्रवाकोंसे सुशोभित नदियोंके समान शोभा पाती थीं। उनके जघनप्रदेश उन नदियोंके तटोंके समान जान पड़ते थे॥ ५०॥

किङ्किणीजालसंकाशास्ता हेमविपुलाम्बुजाः।
भावग्राहा यशस्तीराः सुप्ता नद्य इवाबभुः॥ ५१॥

वे सोयी हुई सुन्दरियाँ वहाँ सरिताओंके समान सुशोभित होती थीं। किङ्किणियों (घुँघुरुओं) के समूह उनमें मुकुलके समान प्रतीत होते थे। सोनेके विभिन्न आभूषण ही वहाँ बहुसंख्यक स्वर्णकमलोंकी शोभा धारण करते थे। भाव (सुप्तावस्थामें भी वासनावश होनेवाली शृङ्गार-चेष्टाएँ) ही मानो ग्राह थे तथा यश (कान्ति) ही तटके समान जान पड़ते थे॥ ५१॥

मृदुष्वङ्गेषु कासांचित् कुचाग्रेषु च संस्थिताः।
बभूवुर्भूषणानीव शुभा भूषणराजयः॥ ५२॥

किन्हीं सुन्दरियोंके कोमल अङ्गोंमें तथा कुचोंके अग्रभागपर उभरी हुई आभूषणोंकी सुन्दर रेखाएँ नये गहनोंके समान ही शोभा पाती थीं॥ ५२॥

अंशुकान्ताश्च कासांचिन्मुखमारुतकम्पिताः।
उपर्युपरि वक्त्राणां व्याधूयन्ते पुनः पुनः॥ ५३॥

किन्हींके मुखपर पड़े हुए उनकी झीनी साड़ीके अञ्चल उनकी नासिकासे निकली हुई साँससे कम्पित हो बारंबार हिल रहे थे॥ ५३॥

ताः पताका इवोद्धूताः पत्नीनां रुचिरप्रभाः।
नानावर्णसुवर्णानां वक्त्रमूलेषु रेजिरे॥ ५४॥

नाना प्रकारके सुन्दर रूप-रंगवाली उन रावणपत्नियोंके मुखोंपर हिलते हुए वे अञ्चल सुन्दर कान्तिवाली फहराती हुई पताकाओंके समान शोभा पा रहे थे॥ ५४॥

ववल्गुश्चात्र कासांचित् कुण्डलानि शुभार्चिषाम्।
मुखमारुतसंकम्पैर्मन्दं मन्दं च योषिताम्॥ ५५॥

वहाँ किन्हीं-किन्हीं सुन्दर कान्तिमती कामिनियोंके कानोंके कुण्डल उनके निःश्वासजनित कम्पनसे धीरे-धीरे हिल रहे थे॥ ५५॥

शर्करासवगन्धः स प्रकृत्या सुरभिः सुखः।
तासां वदननिःश्वासः सिषेवे रावणं तदा॥ ५६॥

उन सुन्दरियोंके मुखसे निकली हुई स्वभावसे ही सुगन्धित श्वासवायु शर्करानिर्मित आसवकी मनोहर गन्धसे युक्त हो और भी सुखद बनकर उस समय रावणकी सेवा करती थी॥ ५६॥

रावणाननशङ्काश्च काश्चिद् रावणयोषितः।
मुखानि च सपत्नीनामुपाजिघ्रन् पुनः पुनः॥ ५७॥

रावणकी कितनी ही तरुणी पत्नियाँ रावणका ही मुख समझकर बारंबार अपनी सौतोंके ही मुखोंको सूँघ रही थीं॥ ५७॥

अत्यर्थं सक्तमनसो रावणे ता वरस्त्रियः।
अस्वतन्त्राः सपत्नीनां प्रियमेवाचरंस्तदा॥ ५८॥

उन सुन्दरियोंका मन रावणमें अत्यन्त आसक्त था, इसलिये वे आसक्ति तथा मदिराके मदसे परवश हो उस समय रावणके मुखके भ्रमसे अपनी सौतोंका मुख सूँघकर उनका प्रिय ही करती थीं (अर्थात् वे भी उस समय अपने मुख-संलग्न हुए उन सौतोंके मुखोंको रावणका ही मुख समझकर उसे सूँघनेका सुख उठाती थीं)॥ ५८॥

बाहूनुपनिधायान्याः पारिहार्यविभूषितान्।
अंशुकानि च रम्याणि प्रमदास्तत्र शिश्यिरे॥ ५९॥

अन्य मदमत्त युवतियाँ अपनी वलयविभूषित भुजाओंका ही तकिया लगाकर तथा कोई-कोई सिरके नीचे अपने सुरम्य वस्त्रोंको ही रखकर वहाँ सो रही थीं॥ ५९॥

अन्या वक्षसि चान्यस्यास्तस्याः काचित् पुनर्भुजम्।
अपरा त्वङ्कमन्यस्यास्तस्याश्चाप्यपरा कुचौ॥ ६०॥

एक स्त्री दूसरीकी छातीपर सिर रखकर सोयी थी तो कोई दूसरी स्त्री उसकी भी एक बाँहको ही तकिया बनाकर सो गयी थी। इसी तरह एक अन्य स्त्री दूसरीकी गोदमें सिर रखकर सोयी थी तो कोई दूसरी उसके भी कुचोंका ही तकिया लगाकर सो गयी थी॥ ६०॥

ऊरुपार्श्वकटीपृष्ठमन्योन्यस्य समाश्रिताः।
परस्परनिविष्टाङ्ग्यो मदस्नेहवशानुगाः॥ ६१॥

इस तरह रावणविषयक स्नेह और मदिराजनित मदके वशीभूत हुई वे सुन्दरियाँ एक दूसरीके ऊरु, पार्श्वभाग,

कटिप्रदेश तथा पृष्ठभागका सहारा ले आपसमें अङ्गोंसे अङ्ग मिलाये वहाँ बेसुध पड़ी थीं ॥ ६१ ॥

अन्योन्यस्याङ्गसंस्पर्शात् प्रीयमाणाः सुमध्यमाः।
एकीकृतभुजाः सर्वाः सुषुपुस्तत्र योषितः ॥ ६२ ॥

वे सुन्दर कटिप्रदेशवाली समस्त युवतियाँ एक-दूसरीके अङ्गस्पर्शको प्रियतमका स्पर्श मानकर उससे मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करती हुई परस्पर बाँह-से-बाँह मिलाये सो रही थीं ॥ ६२ ॥

अन्योन्यभुजसूत्रेण स्त्रीमाला ग्रथिता हि सा।
मालेव ग्रथिता सूत्रे शुशुभे मत्तषट्पदा ॥ ६३ ॥

एक-दूसरीके बाहुरूपी सूत्रमें गुँथी हुई काले-काले केशोंवाली स्त्रियोंकी वह माला सूतमें पिरोयी हुई मतवाले भ्रमरोंसे युक्त पुष्पमालाकी भाँति शोभा पा रही थी ॥ ६३ ॥

लतानां माधवे मासि फुल्लानां वायुसेवनात् ।
अन्योन्यमालाग्रथितं संसक्तकुसुमोच्चयम् ॥ ६४ ॥
प्रतिवेष्टितसुस्कन्धमन्योन्यभ्रमराकुलम् ।
आसीद् वनमिवोद्धूतं स्त्रीवनं रावणस्य तत् ॥ ६५ ॥

माधवमास (वसन्त) में मलयानिलके सेवनसे जैसे खिली हुई लताओंका वन कम्पित होता रहता है, उसी प्रकार रावणकी स्त्रियोंका वह समुदाय निःश्वासवायुके चलनेसे अञ्चलोंके हिलनेके कारण कम्पित होता-सा जान पड़ता था। जैसे लताएँ परस्पर मिलकर मालाकी भाँति आबद्ध हो जाती हैं, उनकी सुन्दर शाखाएँ परस्पर लिपट जाती हैं और इसीलिये उनके पुष्पसमूह भी आपसमें मिले हुए-से प्रतीत होते हैं तथा उनपर बैठे हुए भ्रमर भी परस्पर मिल जाते हैं, उसी प्रकार वे सुन्दरियाँ एक-दूसरीसे मिलकर मालाकी भाँति गुँथ गयी थीं। उनकी भुजाएँ और कंधे परस्पर सटे हुए थे। उनकी वेणीमें गुँथे हुए फूल भी आपसमें मिल गये थे तथा उन सबके केशकलाप भी एक-दूसरेसे जुड़ गये थे ॥ ६४-६५ ॥

उचितेष्वपि सुव्यक्तं न तासां योषितां तदा।
विवेकः शक्य आधातुं भूषणाङ्गाम्बरस्रजाम् ॥ ६६ ॥

यद्यपि उन युवतियोंके वस्त्र, अङ्ग, आभूषण और हार उचित स्थानोंपर ही प्रतिष्ठित थे, यह बात स्पष्ट दिखायी दे रही थी, तथापि उन सबके परस्पर गुँथ जानेके कारण यह विवेक होना असम्भव हो गया था कि कौन वस्त्र, आभूषण, अङ्ग अथवा हार किसके हैं* ॥ ६६ ॥

रावणे सुखसंविष्टे ताः स्त्रियो विविधप्रभाः।
ज्वलन्तः काञ्चना दीपाः प्रेक्षन्तो निमिषा इव ॥ ६७ ॥

रावणके सुखपूर्वक सो जानेपर वहाँ जलते हुए सुवर्णमय प्रदीप उन अनेक प्रकारकी कान्तिवाली कामिनियोंको मानो एकटक दृष्टिसे देख रहे थे ॥ ६७ ॥

राजर्षिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः।
रक्षसां चाभवन् कन्यास्तस्य कामवशंगताः ॥ ६८ ॥

राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, दैत्यों, गन्धर्वों तथा राक्षसोंकी कन्याएँ कामके वशीभूत होकर रावणकी पत्नियाँ बन गयी थीं ॥ ६८ ॥

युद्धकामेन ताः सर्वा रावणेन हृताः स्त्रियः।
समदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः ॥ ६९ ॥

उन सब स्त्रियोंका रावणने युद्धकी इच्छासे अपहरण किया था और कुछ मदमत्त रमणियाँ कामदेवसे मोहित होकर स्वयं ही उसकी सेवामें उपस्थित हो गयी थीं ॥ ६९ ॥

न तत्र काश्चित् प्रमदाः प्रसह्य
वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः।
न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा
विना वरार्हां जनकात्मजां तु ॥ ७० ॥

वहाँ ऐसी कोई स्त्रियाँ नहीं थीं, जिन्हें बल-पराक्रमसे सम्पन्न होनेपर भी रावण उनकी इच्छाके विरुद्ध बलात्कारसे हर लाया हो। वे सब-की-सब उसे अपने अलौकिक गुणसे ही उपलब्ध हुई थीं। जो श्रेष्ठतम पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके ही योग्य थीं, उन जनककिशोरी सीताको छोड़कर दूसरी कोई ऐसी स्त्री वहाँ नहीं थी, जो रावणके सिवा किसी दूसरेकी इच्छा रखनेवाली हो, अथवा जिसका पहले कोई दूसरा पति रहा हो ॥ ७० ॥

न चाकुलीना न च हीनरूपा
नादक्षिणा नानुपचारयुक्ता।
भार्याभवत् तस्य न हीनसत्त्वा
न चापि कान्तस्य न कामनीया ॥ ७१ ॥

रावणकी कोई भार्या ऐसी नहीं थी, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न न हुई हो अथवा जो कुरूप, अनुदार या कौशल-रहित, उत्तम वस्त्राभूषण एवं माला आदिसे वञ्चित, शक्तिहीन तथा प्रियतमको अप्रिय हो ॥ ७१ ॥

बभूव बुद्धिस्तु हरीश्वरस्य
यदीदृशी राघवधर्मपत्नी।
इमा महाराक्षसराजभार्याः
सुजातमस्येति हि साधुबुद्धेः ॥ ७२ ॥

उस समय श्रेष्ठ बुद्धिवाले वानरराज हनुमान्‌जीके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि ये महान् राक्षसराज रावणकी भार्याएँ जिस तरह अपने पतिके साथ रहकर सुखी हैं, उसी प्रकार यदि रघुनाथजीकी धर्मपत्नी सीताजी

* इस श्लोकमें 'भ्रान्तिमान्' नामक अलंकार है।

भी इन्हींकी भाँति अपने पतिके साथ रहकर सुखका अनुभव करतीं अर्थात् यदि रावण शीघ्र ही उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें समर्पित कर देता तो यह इसके लिये परम मङ्गलकारी होता ॥ ७२ ॥

पुनश्च सोऽचिन्तयदार्त्तरूपो
ध्रुवं विशिष्टा गुणतो हि सीता ।
अथायमस्यां कृतवान् महात्मा
लङ्केश्वरः कष्टमनार्यकर्म ॥ ७३ ॥

फिर उन्होंने सोचा निश्चय ही सीता गुणोंकी दृष्टिसे इन सबकी अपेक्षा बहुत ही बढ़-चढ़कर हैं। इस महाबली लङ्कापतिने मायामय रूप धारण करके सीताको धोखा देकर इनके प्रति यह अपहरणरूप महान् कष्टप्रद नीच कर्म किया है ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

हनुमान्‌जीका अन्तःपुरमें सोये हुए रावण तथा गाढ़ निद्रामें पड़ी हुई उसकी स्त्रियोंको देखना तथा मन्दोदरीको सीता समझकर प्रसन्न होना

तत्र दिव्योपमं मुख्यं स्फाटिकं रत्नभूषितम् ।
अवेक्षमाणो हनुमान् ददर्श शयनासनम् ॥ १ ॥

वहाँ इधर-उधर दृष्टिपात करते हुए हनुमान्‌जीने एक दिव्य एवं श्रेष्ठ वेदी देखी, जिसपर पलंग बिछाया जाता था। वह वेदी स्फटिक मणिकी बनी हुई थी और उसमें अनेक प्रकारके रत्न जड़े गये थे ॥ १ ॥

दान्तकाञ्चनचित्राङ्गैर्वैदूर्यैश्च वरासनैः ।
महार्हास्तरणोपेतैरुपपन्नं महाधनैः ॥ २ ॥

वहाँ वैदूर्यमणि (नीलम) के बने हुए श्रेष्ठ आसन (पलंग) बिछे हुए थे, जिनकी पाटी-पाये आदि अङ्ग हाथी-दाँत और सुवर्णसे जटित होनेके कारण चितकबरे दिखायी देते थे। उन महामूल्यवान् पलंगोंपर बहुमूल्य बिछौने बिछाये गये थे। उन सबके कारण उस वेदीकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २ ॥

तस्य चैकतमे देशे दिव्यमालोपशोभितम् ।
ददर्श पाण्डुरं छत्रं ताराधिपतिसंनिभम् ॥ ३ ॥

उस पलंगके एक भागमें उन्होंने चन्द्रमाके समान एक श्वेत छत्र देखा, जो दिव्य मालाओंसे सुशोभित था ॥ ३ ॥

जातरूपपरिक्षिप्तं चित्रभानोः समप्रभम् ।
अशोकमालाविततं ददर्श परमासनम् ॥ ४ ॥

वह उत्तम पलंग सुवर्णसे जटित होनेके कारण अग्निके समान देदीप्यमान हो रहा था। हनुमान्‌जीने उसे अशोक-पुष्पोंकी मालाओंसे अलंकृत देखा ॥ ४ ॥

वालव्यजनहस्ताभिर्वीज्यमानं समन्ततः ।
गन्धैश्च विविधैर्जुष्टं वरधूपेन धूपितम् ॥ ५ ॥

उसके चारों ओर खड़ी हुई बहुत-सी स्त्रियाँ हाथोंमें चँवर लिये उसपर हवा कर रही थीं। वह पलंग अनेक प्रकारकी गन्धोंसे सेवित तथा उत्तम धूपसे सुवासित था ॥ ५ ॥

परमास्तरणास्तीर्णमाविकाजिनसंवृतम् ।
दामभिर्वरमाल्यानां समन्तादुपशोभितम् ॥ ६ ॥

उसपर उत्तमोत्तम बिछौने बिछे हुए थे। उसमें भेड़की खाल मढ़ी हुई थी तथा वह सब ओरसे उत्तम फूलोंकी मालाओंसे सुशोभित था ॥ ६ ॥

तस्मिञ्जीमूतसंकाशं प्रदीप्तोज्ज्वलकुण्डलम् ।
लोहिताक्षं महाबाहुं महारजतवाससम् ॥ ७ ॥
लोहितेनानुलिप्ताङ्गं चन्दनेन सुगन्धिना ।
संध्यारक्तमिवाकाशे तोयदं सतडिद्गुणम् ॥ ८ ॥
वृतमाभरणैर्दिव्यैः सुरूपं कामरूपिणम् ।
सवृक्षवनगुल्माढ्यं प्रसुप्तमिव मन्दरम् ॥ ९ ॥
क्रीडित्वोपरतं रात्रौ वराभरणभूषितम् ।
प्रियं राक्षसकन्यानां राक्षसानां सुखावहम् ॥ १० ॥
पीत्वाप्युपरतं चापि ददर्श स महाकपिः ।
भास्वरे शयने वीरं प्रसुप्तं राक्षसाधिपम् ॥ ११ ॥

उस प्रकाशमान पलंगपर महाकपि हनुमान्‌जीने वीर राक्षसराज रावणको सोते देखा, जो सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला, दिव्य आभरणोंसे अलंकृत और सुरूपवान् था। वह राक्षस-कन्याओंका प्रियतम तथा राक्षसोंको सुख पहुँचानेवाला था। उसके अङ्गोंमें सुगन्धित लाल चन्दनका अनुलेप लगा हुआ था, जिससे वह आकाशमें संध्याकालकी लाली तथा विद्युल्लेखासे युक्त मेघके समान शोभा पाता था। उसकी अङ्गकान्ति मेघके समान श्याम थी। उसके कानोंमें उज्ज्वल कुण्डल झिलमिला रहे थे। आँखें लाल थीं और भुजाएँ बड़ी-बड़ी। उसके वस्त्र सुनहरे रंगके थे। वह रातको स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करके मदिरा पीकर आराम कर रहा था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो वृक्ष, वन और लता-गुल्मोंसे सम्पन्न मन्दराचल सो रहा हो ॥ ७—११ ॥

निःश्वसन्तं यथा नागं रावणं वानरोत्तमः ।
आसाद्य परमोद्विग्नः सोपासर्पत् सुभीतवत् ॥ १२ ॥
अथारोहणमासाद्य वेदिकान्तरमाश्रितः ।
क्षीबं राक्षसशार्दूलं प्रेक्षते स्म महाकपिः ॥ १३ ॥

उस समय साँस लेता हुआ रावण फुफकारते हुए सर्पके समान जान पड़ता था। उसके पास पहुँचकर वानर-शिरोमणि हनुमान् अत्यन्त उद्विग्न हो भलीभाँति डरे हुएकी भाँति सहसा दूर हट गये और सीढ़ियोंपर चढ़कर एक दूसरी वेदीपर जाकर खड़े हो गये। वहाँसे उन महाकपिने उस मतवाले राक्षससिंहको देखना आरम्भ किया ॥ १२-१३ ॥

शुशुभे राक्षसेन्द्रस्य स्वपतः शयनं शुभम् ।
गन्धहस्तिनि संविष्टे यथा प्रस्रवणं महत् ॥ १४ ॥

राक्षसराज रावणके सोते समय वह सुन्दर पलंग उसी प्रकार शोभा पा रहा था, जैसे गन्धहस्तीके शयन करनेपर विशाल प्रस्रवणगिरि सुशोभित हो रहा हो ॥ १४ ॥

काञ्चनाङ्गदसंनद्धौ ददर्श स महात्मनः ।
विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ ॥ १५ ॥

उन्होंने महाकाय राक्षसराज रावणकी फैलायी हुई दो भुजाएँ देखीं, जो सोनेके बाजूबंदसे विभूषित हो इन्द्रध्वजके समान जान पड़ती थीं ॥ १५ ॥

ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ ।
वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ ॥ १६ ॥

युद्धकालमें उन भुजाओंपर ऐरावत हाथीके दाँतोंके अग्रभागसे जो प्रहार किये गये थे, उनके आघातका चिह्न बन गया था। उन भुजाओंके मूलभाग या कंधे बहुत मोटे थे और उनपर वज्रद्वारा किये गये आघातके भी चिह्न दिखायी देते थे। भगवान् विष्णुके चक्रसे भी किसी समय वे भुजाएँ क्षत-विक्षत हो चुकी थीं ॥ १६ ॥

पीनौ समसुजातांसौ सङ्गतौ बलसंयुतौ ।
सुलक्षणनखाङ्गुष्ठौ स्वङ्गुलीयकलक्षितौ ॥ १७ ॥

वे भुजाएँ सब ओरसे समान और सुन्दर कंधोंवाली तथा मोटी थीं। उनकी संधियाँ सुदृढ़ थीं। वे बलिष्ठ और उत्तम लक्षणवाले नखों एवं अङ्गुष्ठोंसे सुशोभित थीं। उनकी अङ्गुलियाँ और हथेलियाँ बड़ी सुन्दर दिखायी देती थीं ॥१७॥

संहतौ परिघाकारौ वृत्तौ करिकरोपमौ ।
विक्षिप्तौ शयने शुभ्रे पञ्चशीर्षाविवोरगौ ॥ १८ ॥

वे सुगठित एवं पुष्ट थीं। परिघके समान गोलाकार तथा हाथीके शुण्डदण्डकी भाँति चढ़ाव-उतारवाली एवं लंबी थीं। उस उज्ज्वल पलंगपर फैली वे बाँहें पाँच-पाँच फनवाले दो सर्पोंके समान दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १८ ॥

शशक्षतजकल्पेन सुशीतेन सुगन्धिना ।
चन्दनेन परार्ध्येन स्वनुलिप्तौ स्वलंकृतौ ॥ १९ ॥

खरगोशके खूनकी भाँति लाल रंगके उत्तम, सुशीतल एवं सुगन्धित चन्दनसे चर्चित हुई वे भुजाएँ अलंकारोंसे अलंकृत थीं ॥ १९ ॥

उत्तमस्त्रीविमृदितौ गन्धोत्तमनिषेवितौ ।
यक्षपन्नगगन्धर्वदेवदानवराविणौ ॥ २० ॥

सुन्दरी युवतियाँ धीरे-धीरे उन बाँहोंको दबाती थीं। उनपर उत्तम गन्ध-द्रव्यका लेप हुआ था। वे यक्ष, नाग, गन्धर्व, देवता और दानव सभीको युद्धमें रुलानेवाली थीं ॥ २० ॥

ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ ।
मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रुषिताविव ॥ २१ ॥

कपिवर हनुमान्ने पलंगपर पड़ी हुई उन दोनों भुजाओंको देखा। वे मन्दराचलकी गुफामें सोये हुए दो रोषभरे अजगरोंके समान जान पड़ती थीं ॥ २१ ॥

ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यामुभाभ्यां राक्षसेश्वरः।
शुशुभेऽचलसंकाशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥ २२ ॥

उन बड़ी-बड़ी और गोलाकार दो भुजाओंसे युक्त पर्वताकार राक्षसराज रावण दो शिखरोंसे संयुक्त मन्दराचलके समान शोभा पा रहा था* । २२ ॥

चूतपुंनागसुरभिर्बकुलोत्तमसंयुतः ।
मृष्टान्नरससंयुक्तः पानगन्धपुरःसरः ॥ २३ ॥
तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात् ।
शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद् गृहम् ॥ २४ ॥

वहाँ सोये हुए राक्षसराज रावणके विशाल मुखसे आम और नागकेसरकी सुगन्धसे मिश्रित, मौलसिरीके सुवाससे सुवासित और उत्तम अन्नरससे संयुक्त तथा मधुपानकी गन्धसे मिली हुई जो सौरभयुक्त साँस निकल रही थी, वह उस सारे घरको सुगन्धसे परिपूर्ण-सा कर देती थी ॥ २३-२४ ॥

मुक्तामणिविचित्रेण काञ्चनेन विराजिता ।
मुकुटेनापवृत्तेन कुण्डलोज्ज्वलिताननम् ॥ २५ ॥

उसका कुण्डलसे प्रकाशमान मुखारविन्द अपने स्थानसे हटे हुए तथा मुक्तामणिसे जटित होनेके कारण विचित्र आभावाले सुवर्णमय मुकुटसे और भी उद्भासित हो रहा था ॥ २५ ॥

रक्तचन्दनदिग्धेन तथा हारेण शोभिना ।
पीनायतविशालेन वक्षसाभिविराजिता ॥ २६ ॥

---

* यहाँ शयनागारमें सोये हुए रावणके एक ही मुख और दो ही बाँहोंका वर्णन आया है। इससे जान पड़ता है कि वह साधारण स्थितिमें इसी तरह रहता था। युद्ध आदिके विशेष अवसरोंपर ही वह स्वेच्छापूर्वक दस मुख और बीस भुजाओंसे संयुक्त होता था।

उसकी छाती लाल चन्दनसे चर्चित, हारसे सुशोभित, उभरी हुई तथा लंबी-चौड़ी थी। उसके द्वारा उस राक्षसराजके सम्पूर्ण शरीरकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २६ ॥

पाण्डुरेणापविद्धेन क्षौमेण क्षतजेक्षणम्।
महार्हेण सुसंवीतं पीतेनोत्तरवाससा ॥ २७ ॥

उसकी आँखें लाल थीं। उसकी कटिके नीचेका भाग ढीले-ढाले श्वेत रेशमी वस्त्रसे ढका हुआ था तथा वह पीले रंगकी बहुमूल्य रेशमी चादर ओढ़े हुए था ॥ २७ ॥

माषराशिप्रतीकाशं निःश्वसन्तं भुजङ्गवत्।
गाङ्गे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ २८ ॥

वह स्वच्छ स्थानमें रखे हुए उड़दके ढेरके समान जान पड़ता था और सर्पके समान साँसें ले रहा था। उस उज्ज्वल पलंगपर सोया हुआ रावण गङ्गाकी अगाध जलराशिमें सोये हुए गजराजके समान दिखायी देता था ॥२८॥

चतुर्भिः काञ्चनैर्दीपैर्दीप्यमानं चतुर्दिशम्।
प्रकाशीकृतसर्वाङ्गं मेघं विद्युद्गणैरिव ॥ २९ ॥

उसकी चारों दिशाओंमें चार सुवर्णमय दीपक जल रहे थे, जिनकी प्रभासे वह देदीप्यमान हो रहा था और उसके सारे अङ्ग प्रकाशित होकर स्पष्ट दिखायी दे रहे थे। ठीक उसी तरह, जैसे विद्युद्गणोंसे मेघ प्रकाशित एवं परिलक्षित होता है ॥ २९ ॥

पादमूलगताश्चापि ददर्श सुमहात्मनः।
पत्नीः स प्रियभार्यस्य तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥ ३० ॥

पत्नियोंके प्रेमी उस महाकाय राक्षसराजके घरमें हनुमान्‌जीने उसकी पत्नियोंको भी देखा, जो उसके चरणोंके आस-पास ही सो रही थीं ॥ ३० ॥

शशिप्रकाशवदना वरकुण्डलभूषणाः।
अम्लानमाल्याभरणा ददर्श हरियूथपः ॥ ३१ ॥

वानरयूथपति हनुमान्‌जीने देखा, उन रावणपत्नियोंके मुख चन्द्रमाके समान प्रकाशमान थे। वे सुन्दर कुण्डलोंसे विभूषित थीं तथा ऐसे फूलोंके हार पहने हुए थीं, जो कभी मुरझाते नहीं थे ॥ ३१ ॥

नृत्यवादित्रकुशला राक्षसेन्द्रभुजाङ्कगाः।
वराभरणधारिण्यो निषण्णा ददृशे कपिः ॥ ३२ ॥

वे नाचने और बाजे बजानेमें निपुण थीं, राक्षसराज रावणकी बाँहों और अङ्कमें स्थान पानेवाली थीं तथा सुन्दर आभूषण धारण किये हुए थीं। कपिवर हनुमान्‌ने उन सबको वहाँ सोती देखा ॥ ३२ ॥

वज्रवैदूर्यगर्भाणि श्रवणान्तेषु योषिताम्।
ददर्श तापनीयानि कुण्डलान्यङ्गदानि च ॥ ३३ ॥

उन्होंने उन सुन्दरियोंके कानोंके समीप हीरे तथा नीलम जड़े हुए सोनेके कुण्डल और बाजूबंद देखे ॥ ३३ ॥

तासां चन्द्रोपमैर्वक्त्रैः शुभैर्ललितकुण्डलैः।
विरराज विमानं तन्नभस्तारागणैरिव ॥ ३४ ॥

ललित कुण्डलोंसे अलंकृत तथा चन्द्रमाके समान मनोहर उनके सुन्दर मुखोंसे वह विमानाकार पर्यङ्क तारिकाओं-से मण्डित आकाशकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ३४ ॥

मदव्यायामखिन्नास्ता राक्षसेन्द्रस्य योषितः।
तेषु तेष्ववकाशेषु प्रसुप्तास्तनुमध्यमाः ॥ ३५ ॥

क्षीण कटिप्रदेशवाली वे राक्षसराजकी स्त्रियाँ मद तथा रतिक्रीडाके परिश्रमसे थककर जहाँ-तहाँ जो जिस अवस्थामें थीं वैसे ही सो गयी थीं ॥ ३५ ॥

अङ्गहारैस्तथैवान्या कोमलैर्नृत्यशालिनी।
विन्यस्तशुभसर्वाङ्गी प्रसुप्ता वरवर्णिनी ॥ ३६ ॥

विधाताने जिसके सारे अङ्गोंको सुन्दर एवं विशेष शोभासे सम्पन्न बनाया था, वह कोमलभावसे अङ्गोंके संचालन (चटकाने-मटकाने आदि) द्वारा नाचनेवाली कोई अन्य नृत्यनिपुणा सुन्दरी स्त्री गाढ़ निद्रामें सोकर भी वासनावश जाग्रत्-अवस्थाकी ही भाँति नृत्यके अभिनयसे सुशोभित हो रही थी ॥ ३६ ॥

काचिद् वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता सम्प्रकाशते।
महानदीप्रकीर्णेव नलिनी पोतमाश्रिता ॥ ३७ ॥

कोई वीणाको छातीसे लगाकर सोयी हुई सुन्दरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो महानदीमें पड़ी हुई कोई कमलिनी किसी नौकासे सट गयी हो ॥ ३७ ॥

अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा।
प्रसुप्ता भामिनी भाति बालपुत्रेव वत्सला ॥ ३८ ॥

दूसरी कजरारे नेत्रोंवाली भामिनी काँखमें दबे हुए मड्डुक (लघुवाद्य विशेष) के साथ ही सो गयी थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कोई पुत्रवत्सला जननी अपने छोटे-से शिशुको गोदमें लिये सो रही हो ॥ ३८ ॥

पटहं चारुसर्वाङ्गी न्यस्य शेते शुभस्तनी।
चिरस्य रमणं लब्ध्वा परिष्वज्येव कामिनी ॥ ३९ ॥

कोई सर्वाङ्गसुन्दरी एवं रुचिर कुचोंवाली कामिनी पटहको अपने नीचे रखकर सो रही थी, मानो चिरकालके पश्चात् प्रियतमको अपने निकट पाकर कोई प्रेयसी उसे हृदयसे लगाये सो रही हो ॥ ३९ ॥

काचिद् वीणां परिष्वज्य सुप्ता कमललोचना।
वरं प्रियतमं गृह्य सकामेव हि कामिनी ॥ ४० ॥

कोई कमललोचना युवती वीणाका आलिङ्गन करके सोयी हुई ऐसी जान पड़ती थी, मानो कामभावसे युक्त कामिनी अपने श्रेष्ठ प्रियतमको भुजाओंमें भरकर सो गयी हो ॥ ४० ॥

विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी ।
निद्रावशमनुप्राप्ता सहकान्तेव भामिनी ॥ ४१ ॥

नियमपूर्वक नृत्यकलासे सुशोभित होनेवाली एक अन्य युवती विपञ्ची (विशेष प्रकारकी वीणा) को अङ्कमें भरकर प्रियतमके साथ सोयी हुई प्रेयसीकी भाँति निद्राके अधीन हो गयी थी ॥ ४१ ॥

अन्या कनकसंकाशैर्मृदुपीनैर्मनोरमैः ।
मृदङ्गं परिविद्ध्याङ्गैः प्रसुप्ता मत्तलोचना ॥ ४२ ॥

कोई मतवाले नयनोंवाली दूसरी सुन्दरी अपने सुवर्ण-सदृश गौर, कोमल, पुष्ट और मनोरम अङ्गोंसे मृदङ्गको दबाकर गाढ़ निद्रामें सो गयी थी ॥ ४२ ॥

भुजपाशान्तरस्थेन कक्षगेन कृशोदरी ।
पणवेन सहानिन्द्या सुप्ता मदकृतश्रमा ॥ ४३ ॥

नशेसे थकी हुई कोई कृशोदरी अनिन्द्य सुन्दरी रमणी अपने भुजपाशोंके बीचमें स्थित और काँखमें दबे हुए पणवके साथ ही सो गयी थी ॥ ४३ ॥

डिण्डिमं परिगृह्यान्या तथैवासक्तडिण्डिमा ।
प्रसुप्ता तरुणं वत्समुपगुह्येव भामिनी ॥ ४४ ॥

दूसरी स्त्री डिंडिमको लेकर उसी तरह उससे सटी हुई सो गयी थी, मानो कोई भामिनी अपने बालक पुत्रको हृदयसे लगाये हुए नींद ले रही हो ॥ ४४ ॥

काचिदाडम्बरं नारी भुजसम्भोगपीडितम् ।
कृत्वा कमलपत्राक्षी प्रसुप्ता मदमोहिता ॥ ४५ ॥

मदिराके मदसे मोहित हुई कोई कमलनयनी नारी आडम्बर नामक वाद्यको अपनी भुजाओंके आलिङ्गनसे दबाकर प्रगाढ़ निद्रामें निमग्न हो गयी ॥ ४५ ॥

कलशीमपविद्ध्यान्या प्रसुप्ता भाति भामिनी ।
वसन्ते पुष्पशबला मालेव परिमार्जिता ॥ ४६ ॥

कोई दूसरी युवती निद्रावश जलसे भरी हुई सुराहीको लुढ़काकर भीगी अवस्थामें ही बेसुध सो रही थी। उस अवस्थामें वह वसन्त-ऋतुमें विभिन्न वर्णके पुष्पोंकी बनी और जलके छींटेसे सींची हुई मालाके समान प्रतीत होती थी ॥४६॥

पाणिभ्यां च कुचौ काचित् सुवर्णकलशोपमौ ।
उपगुह्याबला सुप्ता निद्राबलपराजिता ॥ ४७ ॥

निद्राके बलसे पराजित हुई कोई अबला सुवर्णमय कलशके समान प्रतीत होनेवाले अपने कुचोंको दोनों हाथोंसे दबाकर सो रही थी ॥ ४७ ॥

अन्या कमलपत्राक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।
अन्यामालिङ्ग्य सुश्रोणीं प्रसुप्ता मदविह्वला ॥ ४८ ॥

पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली दूसरी कमल-लोचना कामिनी सुन्दर नितम्बवाली किसी अन्य सुन्दरीका आलिङ्गन करके मदसे विह्वल होकर सो गयी थी ॥ ४८ ॥

आतोद्यानि विचित्राणि परिष्वज्य वरस्त्रियः ।
निपीड्य च कुचैः सुप्ताः कामिन्यः कामुकानिव ॥ ४९ ॥

जैसे कामिनियाँ अपने चाहनेवाले कामुकोंको छातीसे लगाकर सोती हैं, उसी प्रकार कितनी ही सुन्दरियाँ विचित्र-विचित्र वाद्योंका आलिङ्गन करके उन्हें कुचोंसे दबाये सो गयी थीं ॥ ४९ ॥

तासामेकान्तविन्यस्ते शयानां शयने शुभे ।
ददर्श रूपसम्पन्नामथ तां स कपिः स्त्रियम् ॥ ५० ॥

उन सबकी शय्याओंसे पृथक् एकान्तमें बिछी हुई सुन्दर शय्यापर सोयी हुई एक रूपवती युवतीको वहाँ हनुमान्‌जीने देखा ॥ ५० ॥

मुक्तामणिसमायुक्तैर्भूषणैः सुविभूषिताम् ।
विभूषयन्तीमिव च स्वश्रिया भवनोत्तमम् ॥ ५१ ॥

वह मोती और मणियोंसे जड़े हुए आभूषणोंसे भली-भाँति विभूषित थी और अपनी शोभासे उस उत्तम भवनको विभूषित-सा कर रही थी ॥ ५१ ॥

गौरीं कनकवर्णाभामिष्टामन्तःपुरेश्वरीम् ।
कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम् ॥ ५२ ॥
स तां दृष्ट्वा महाबाहुर्भूषितां मारुतात्मजः ।
तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा ।
हर्षेण महता युक्तो ननन्द हरियूथपः ॥ ५३ ॥

वह गोरे रंगकी थी। उसकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान दमक रही थी। वह रावणकी प्रियतमा और उसके अन्तः-पुरकी स्वामिनी थी। उसका नाम मन्दोदरी था। वह अपने मनोहर रूपसे सुशोभित हो रही थी। वही वहाँ सो रही थी। हनुमान्‌जीने उसीको देखा। रूप और यौवनकी सम्पत्तिसे युक्त और वस्त्राभूषणोंसे विभूषित मन्दोदरीको देखकर महाबाहु पवनकुमारने अनुमान किया कि ये ही सीताजी हैं। फिर तो ये वानरयूथपति हनुमान् महान् हर्षसे युक्त हो आनन्दमग्न हो गये ॥ ५२-५३ ॥

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं
ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम ।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ
निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम् ॥ ५४ ॥

वे अपनी पूँछको पटकने और चूमने लगे। अपनी वानरोंजैसी प्रकृतिका प्रदर्शन करते हुए आनन्दित होने, खेलने और गाने लगे, इधर-उधर आने-जाने लगे। वे कभी खंभोंपर चढ़ जाते और कभी पृथ्वीपर कूद पड़ते थे ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

वह सीता नहीं है—ऐसा निश्चय होनेपर हनुमान्‌जीका पुनः अन्तःपुरमें और उसकी पानभूमिमें सीताका पता लगाना, उनके मनमें धर्मलोपकी आशङ्का और स्वतः उसका निवारण होना

अवधूय च तां बुद्धिं बभूवावस्थितस्तदा।
जगाम चापरां चिन्तां सीतां प्रति महाकपिः॥ १॥

फिर उस समय इस विचारको छोड़कर महाकपि हनुमान्‌जी अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हुए और वे सीताजीके विषयमें दूसरे प्रकारकी चिन्ता करने लगे॥ १॥

न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी।
न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम्॥ २॥

(उन्होंने सोचा—) 'भामिनी सीता श्रीरामचन्द्रजीसे बिछुड़ गयी हैं। इस दशामें वे न तो सो सकती हैं, न भोजन कर सकती हैं, न शृङ्गार एवं अलंकार धारण कर सकती हैं, फिर मदिरापानका सेवन तो किसी प्रकार भी नहीं कर सकतीं॥ २॥

नान्यं नरमुपस्थातुं सुराणामपि चेश्वरम्।
न हि रामसमः कश्चिद् विद्यते त्रिदशेष्वपि॥ ३॥

'वे किसी दूसरे पुरुषके पास, वह देवताओंका भी ईश्वर क्यों न हो, नहीं जा सकतीं। देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है जो श्रीरामचन्द्रजीकी समानता कर सके॥ ३॥

अन्येयमिति निश्चित्य भूयस्तत्र चचार सः।
पानभूमौ हरिश्रेष्ठः सीतासंदर्शनोत्सुकः॥ ४॥

'अतः अवश्य ही यह सीता नहीं, कोई दूसरी स्त्री है।' ऐसा निश्चय करके वे कपिश्रेष्ठ सीताजीके दर्शनके लिये उत्सुक हो पुनः वहाँकी मधुशालामें विचरने लगे॥ ४॥

क्रीडितेनापराः क्लान्ता गीतेन च तथापराः।
नृत्येन चापराः क्लान्ताः पानविप्रहतास्तथा॥ ५॥

वहाँ कोई स्त्रियाँ क्रीड़ा करनेसे थकी हुई थीं तो कोई गीत गानेसे। दूसरी नृत्य करके थक गयी थीं और कितनी ही स्त्रियाँ अधिक मद्यपान करके अचेत हो रही थीं॥ ५॥

मुरजेषु मृदङ्गेषु चेलिकासु च संस्थिताः।
तथाऽऽस्तरणमुख्येषु संविष्टाश्चापराः स्त्रियः॥ ६॥

बहुत-सी स्त्रियाँ ढोल, मृदङ्ग और चेलिका नामक वाद्योंपर अपने अङ्गोंको टेककर सो गयी थीं तथा दूसरी महिलाएँ अच्छे-अच्छे बिछौनोंपर सोयी हुई थीं॥ ६॥

अङ्गनानां सहस्रेण भूषितेन विभूषणैः।
रूपसंलापशीलेन युक्तगीतार्थभाषिणा॥ ७॥
देशकालाभियुक्तेन युक्तवाक्याभिधायिना।
रताधिकेन संयुक्तां ददर्श हरियूथपः॥ ८॥

वानरयूथपति हनुमान्‌जीने उस पानभूमिको ऐसी सहस्रों रमणियोंसे संयुक्त देखा, जो भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित, रूप-लावण्यकी चर्चा करनेवाली, गीतके समुचित अभिप्रायको अपनी वाणीद्वारा प्रकट करनेवाली, देश और कालको समझनेवाली, उचित बात बोलनेवाली और रति-क्रीड़ामें अधिक भाग लेनेवाली थीं॥ ७-८॥

अन्यत्रापि वरस्त्रीणां रूपसंलापशायिनाम्।
सहस्रं युवतीनां तु प्रसुप्तं स ददर्श ह॥ ९॥

दूसरे स्थानपर भी उन्होंने ऐसी सहस्रों सुन्दरी युवतियोंको सोते देखा, जो आपसमें रूप-सौन्दर्यकी चर्चा करती हुई लेट रही थीं॥ ९॥

देशकालाभियुक्तं तु युक्तवाक्याभिधायि तत्।
रताविरतसंसुप्तं ददर्श हरियूथपः॥ १०॥

वानरयूथपति पवनकुमारने ऐसी बहुत-सी स्त्रियोंको देखा, जो देश-कालको जाननेवाली, उचित बात कहनेवाली तथा रतिक्रीड़ाके पश्चात् गाढ़ निद्रामें सोयी हुई थीं॥ १०॥

तासां मध्ये महाबाहुः शुशुभे राक्षसेश्वरः।
गोष्ठे महति मुख्यानां गवां मध्ये यथा वृषः॥ ११॥

उन सबके बीचमें महाबाहु राक्षसराज रावण विशाल गोशालामें श्रेष्ठ गौओंके बीच सोये हुए साँड़की भाँति शोभा पा रहा था॥ ११॥

स राक्षसेन्द्रः शुशुभे ताभिः परिवृतः स्वयम्।
करेणुभिर्यथारण्ये परिकीर्णो महाद्विपः॥ १२॥

जैसे वनमें हाथियोंसे घिरा हुआ कोई महान् गजराज सो रहा हो, उसी प्रकार उस भवनमें उन सुन्दरियोंसे घिरा हुआ स्वयं राक्षसराज रावण सुशोभित हो रहा था॥ १२॥

सर्वकामैरुपेतां च पानभूमिं महात्मनः।
ददर्श कपिशार्दूलस्तस्य रक्षःपतेर्गृहे॥ १३॥
मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च भागशः।
तत्र न्यस्तानि मांसानि पानभूमौ ददर्श सः॥ १४॥

उस महाकाय राक्षसराजके भवनमें कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने वह पानभूमि देखी, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न थी। उस मधुशालामें अलग-अलग मृगों, भैंसों और सूअरोंके मांस रखे गये थे, जिन्हें हनुमान्‌जीने देखा॥ १३-१४॥

रौक्मेषु च विशालेषु भाजनेष्वप्यभक्षितान्।
ददर्श कपिशार्दूलो मयूरान् कुक्कुटांस्तथा॥ १५॥

वराहवाध्रीणसकान् दधिसौवर्चलायुतान्।
शल्यान् मृगमयूरांश्च हनुमानन्ववैक्षत ॥ १६ ॥

वानरसिंह हनुमान्‌ने वहाँ सोनेके बड़े-बड़े पात्रोंमें मोर, मुर्गे, सूअर, गेंडा, साही, हरिण तथा मयूरोंके मांस देखे, जो दही और नमक मिलाकर रखे गये थे। वे अभी खाये नहीं गये थे ॥ १५-१६ ॥

क्रकलान् विविधांश्छागाञ्छशकानर्धभक्षितान्।
महिषानेकशल्यांश्च मेषांश्च कृतनिष्ठितान् ॥ १७ ॥
लेह्यानुच्चावचान् पेयान् भोज्यान्युच्चावचानि च।
तथाम्ललवणोत्तंसैर्विविधै रागखाण्डवैः ॥ १८ ॥

कृकल नामक पक्षी, भाँति-भाँतिके बकरे, खरगोश, आधे खाये हुए भैंसे, एकशल्य नामक मत्स्य और भेड़े—ये सब-के-सब राँध-पकाकर रक्खे हुए थे। इनके साथ अनेक प्रकारकी चटनियाँ भी थीं। भाँति-भाँतिके पेय तथा भक्ष्य पदार्थ भी विद्यमान थे। जीभकी शिथिलता दूर करनेके लिये खटाई और नमकके साथ भाँति-भाँतिके राग[1] और खाण्डव भी रक्खे गये थे ॥ १७-१८ ॥

महानूपुरकेयूरैरपविद्धैर्महाधनैः ।
पानभाजनविक्षिप्तैः फलैश्च विविधैरपि ॥ १९ ॥
कृतपुष्पोपहारा भूरधिकां पुष्यति श्रियम्।

बहुमूल्य बड़े-बड़े नूपुर और बाजूबंद जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे। मद्यपानके पात्र इधर-उधर लुढ़काये हुए थे। भाँति-भाँतिके फल भी बिखरे पड़े थे। इन सबसे उपलक्षित होनेवाली वह पानभूमि, जिसे फूलोंसे सजाया गया था, अधिक शोभाका पोषण एवं संवर्धन कर रही थी ॥ १९½ ॥

तत्र तत्र च विन्यस्तैः सुश्लिष्टशयनासनैः ॥ २० ॥
पानभूमिर्विना वह्निं प्रदीप्तेवोपलक्ष्यते।

यत्र-तत्र रक्खी हुई सुदृढ़ शय्याओं और सुन्दर स्वर्णमय सिंहासनोंसे सुशोभित होनेवाली वह मधुशाला ऐसी जगमगा रही थी कि बिना आगके ही जलती हुई-सी दिखायी देती थी ॥ २०½ ॥

बहुप्रकारैर्विविधैर्वरसंस्कारसंस्कृतैः ॥ २१ ॥
मांसैः कुशलसंयुक्तैः पानभूमिगतैः पृथक्।
दिव्याः प्रसन्ना विविधाः सुराः कृतसुरा अपि ॥ २२ ॥
शर्करासवमाध्वीकाः पुष्पासवफलासवाः।
वासचूर्णैश्च विविधैर्मृष्टास्तैस्तैः पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥

अच्छी छौंक-बघारसे तैयार किये गये नाना प्रकारके विविध मांस चतुर रसोइयोंद्वारा बनाये गये थे और उस पानभूमिमें पृथक्-पृथक् सजाकर रखे गये थे। उनके साथ ही स्वच्छ दिव्य सुराएँ (जो कदम्ब आदि वृक्षोंसे स्वतः उत्पन्न हुई थीं) और कृत्रिम सुराएँ (जिन्हें शराब बनानेवाले लोग तैयार करते हैं) भी वहाँ रक्खी गयी थीं। उनमें शर्करासव[1], माध्वीक[2], पुष्पासव[3] और फलासव[4] भी थे। इन सबको नाना प्रकारके सुगन्धित चूर्णोंसे पृथक्-पृथक् वासित किया गया था ॥ २१—२३ ॥

संतता शुशुभे भूमिर्माल्यैश्च बहुसंस्थितैः।
हिरण्मयैश्च कलशैर्भाजनैः स्फाटिकैरपि ॥ २४ ॥
जाम्बूनदमयैश्चान्यैः करकैरभिसंवृता।

वहाँ अनेक स्थानोंपर रखे हुए नाना प्रकारके फूलों, सुवर्णमय कलशों, स्फटिकमणिके पात्रों तथा जाम्बूनदके बने हुए अन्यान्य कमण्डलुओंसे व्याप्त हुई वह पानभूमि बड़ी शोभा पा रही थी ॥ २४½ ॥

राजतेषु च कुम्भेषु जाम्बूनदमयेषु च ॥ २५ ॥
पानश्रेष्ठां तथा भूमिं कपिस्तत्र ददर्श सः।

चाँदी और सोनेके घड़ोंमें, जहाँ श्रेष्ठ पेय पदार्थ रखे थे, उस पानभूमिको कपिवर हनुमान्‌जीने वहाँ अच्छी तरह घूम-घूमकर देखा ॥ २५½ ॥

सोऽपश्यच्छातकुम्भानि सीधोर्मणिमयानि च ॥ २६ ॥
तानि तानि च पूर्णानि भाजनानि महाकपिः।

महाकपि पवनकुमारने देखा, वहाँ मदिरासे भरे हुए सोने और मणियोंके भिन्न-भिन्न पात्र रखे गये हैं ॥ २६½ ॥

क्वचिदर्धावशेषाणि क्वचित् पीतान्यशेषतः ॥ २७ ॥
क्वचिन्नैव प्रपीतानि पानानि स ददर्श ह।

किसी घड़ेमें आधी मदिरा शेष थी तो किसी घड़ेकी सारी-की-सारी पी ली गयी थी तथा किन्हीं-किन्हीं घड़ोंमें रक्खे हुए मद्य सर्वथा पीये नहीं गये थे। हनुमान्‌जीने उन सबको देखा ॥ २७½ ॥

क्वचिद् भक्ष्यांश्च विविधान् क्वचित् पानानि भागशः ॥ २८ ॥
क्वचिदर्धावशेषाणि पश्यन् वै विचचार ह।

कहीं नाना प्रकारके भक्ष्य पदार्थ और कहीं पीनेकी वस्तुएँ अलग-अलग रक्खी गयी थीं और कहीं उनमेंसे

---

१. अंगूर और अनारके रसमें मिश्री और मधु आदि मिलानेसे जो मधुर रस तैयार होता है, वह पतला हो तो 'राग' कहलाता है और गाढ़ा हो जाय तो 'खाण्डव' नाम धारण करता है। जैसा कि कहा है—

सितामध्वादिमधुरो द्राक्षादाडिमयो रसः।
विरलश्चेत् कृतो रागः सान्द्रश्चेत् खाण्डवः स्मृतः ॥

१. शर्करासे तैयार की हुई सुरा 'शर्करासव' कहलाती है। २. मधुसे बनायी हुई 'मदिरा'। ३. महुआके फूलसे तथा अन्यान्य पुष्पोंके मकरन्दसे बनायी हुई सुराको 'पुष्पासव' कहते हैं। ४. द्राक्षा आदि फलोंके रससे तैयार की हुई 'सुरा'।

आधी-आधी सामग्री ही बची थी। उन सबको देखते हुए वे वहाँ सर्वत्र विचरने लगे ॥ २८½ ॥

शयनान्यत्र नारीणां शून्यानि बहुधा पुनः ।
परस्परं समाश्लिष्य काश्चित् सुप्ता वराङ्गनाः ॥ २९ ॥

उस अन्तःपुरमें स्त्रियोंकी बहुत-सी शय्याएँ सूनी पड़ी थीं और कितनी ही सुन्दरियाँ एक ही जगह एक-दूसरीका आलिङ्गन किये सो रही थीं ॥ २९ ॥

काचिच्च वस्त्रमन्यस्या अपहृत्योपगुह्य च ।
उपगम्याबला सुप्ता निद्राबलपराजिता ॥ ३० ॥

निद्राके बलसे पराजित हुई कोई अबला दूसरी स्त्रीका वस्त्र उतारकर उसे धारण किये उसके पास जा उसीका आलिङ्गन करके सो गयी थी ॥ ३० ॥

तासामुच्छ्वासवातेन वस्त्रं माल्यं च गात्रजम् ।
नात्यर्थं स्पन्दते चित्रं प्राप्य मन्दमिवानिलम् ॥ ३१ ॥

उनकी साँसकी हवासे उनके शरीरके विविध प्रकारके वस्त्र और पुष्पमाला आदि वस्तुएँ उसी तरह धीरे-धीरे हिल रही थीं, जैसे धीमी-धीमी वायुके चलनेसे हिला करती हैं ॥ ३१ ॥

चन्दनस्य च शीतस्य सीधोर्मधुरसस्य च ।
विविधस्य च माल्यस्य पुष्पस्य विविधस्य च ॥ ३२ ॥
बहुधा मारुतस्तस्य गन्धं विविधमुद्वहन् ।
स्नानानां चन्दनानां च धूपानां चैव मूर्च्छितः ॥ ३३ ॥
प्रववौ सुरभिर्गन्धो विमाने पुष्पके तदा ।

उस समय पुष्पकविमानमें शीतल चन्दन, मद्य, मधुरस, विविध प्रकारकी माला, भाँति-भाँतिके पुष्प, स्नान-सामग्री, चन्दन और धूपकी अनेक प्रकारकी गन्धका भार वहन करती हुई सुगन्धित वायु सब ओर प्रवाहित हो रही थी ॥

श्यामावदातास्तत्रान्याः काश्चित् कृष्णा वराङ्गनाः॥३४॥
काश्चित् काञ्चनवर्णाङ्ग्यः प्रमदा राक्षसालये ।

उस राक्षसराजके भवनमें कोई साँवली, कोई गोरी, कोई काली और कोई सुवर्णके समान कान्तिवाली सुन्दरी युवतियाँ सो रही थीं ॥ ३४½ ॥

तासां निद्रावशत्वाच्च मदनेन विमूर्च्छितम् ॥ ३५ ॥
पद्मिनीनां प्रसुप्तानां रूपमासीद् यथैव हि ।

निद्राके वशमें होनेके कारण उनका काममोहित रूप मुँदे हुए मुखवाले कमलपुष्पोंके समान जान पड़ता था ॥

एवं सर्वमशेषेण रावणान्तःपुरं कपिः ।
ददर्श स महातेजा न ददर्श च जानकीम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार महातेजस्वी कपिवर हनुमान्‌ने रावणका सारा अन्तःपुर छान डाला तो भी वहाँ उन्हें जनकनन्दिनी सीताका दर्शन नहीं हुआ ॥ ३६ ॥

निरीक्षमाणश्च ततस्ताः स्त्रियः स महाकपिः ।
जगाम महतीं शङ्कां धर्मसाध्वसशङ्कितः ॥ ३७ ॥

उन सोती हुई स्त्रियोंको देखते-देखते महाकपि हनुमान् धर्मके भयसे शङ्कित हो उठे। उनके हृदयमें बड़ा भारी संदेह उपस्थित हो गया ॥ ३७ ॥

परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम् ।
इदं खलु ममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति ॥ ३८ ॥

वे सोचने लगे कि 'इस तरह गाढ़ निद्रामें सोयी हुई परायी स्त्रियोंको देखना अच्छा नहीं है। यह तो मेरे धर्मका अत्यन्त विनाश कर डालेगा' ॥ ३८ ॥

न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी ।
अयं चात्र मया दृष्टः परदारपरिग्रहः ॥ ३९ ॥

'मेरी दृष्टि अबतक कभी परायी स्त्रियोंपर नहीं पड़ी थी। यहीं आनेपर मुझे परायी स्त्रियोंका अपहरण करनेवाले इस पापी रावणका भी दर्शन हुआ है (ऐसे पापीको देखना भी धर्मका लोप करनेवाला होता है)' ॥ ३९ ॥

तस्य प्रादुरभूच्चिन्ता पुनरन्या मनस्विनः ।
निश्चितैकान्तचित्तस्य कार्यनिश्चयदर्शिनी ॥ ४० ॥

तदनन्तर मनस्वी हनुमान्‌जीके मनमें एक-दूसरी विचार-धारा उत्पन्न हुई। उनका चित्त अपने लक्ष्यमें सुस्थिर था; अतः यह नयी विचारधारा उन्हें अपने कर्तव्यका ही निश्चय करानेवाली थी ॥ ४० ॥

कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः ।
न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते ॥ ४१ ॥

(वे सोचने लगे—) 'इसमें संदेह नहीं कि रावणकी स्त्रियाँ निःशङ्क सो रही थीं और उसी अवस्थामें मैंने उन सबको अच्छी तरह देखा है, तथापि मेरे मनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ है' ॥ ४१ ॥

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ॥ ४२ ॥

'सम्पूर्ण इन्द्रियोंको शुभ और अशुभ अवस्थाओंमें लगनेकी प्रेरणा देनेमें मन ही कारण है; किंतु मेरा वह मन पूर्णतः स्थिर है (उसका कहीं राग या द्वेष नहीं है; इसलिये मेरा यह परस्त्री-दर्शन धर्मका लोप करनेवाला नहीं हो सकता) ॥ ४२ ॥

नान्यत्र हि मया शक्या वैदेही परिमार्गितुम् ।
स्त्रियो हि स्त्रीषु दृश्यन्ते सदा सम्परिमार्गणे ॥ ४३ ॥

'विदेहनन्दिनी सीताको दूसरी जगह मैं ढूँढ़ भी तो नहीं सकता था; क्योंकि स्त्रियोंको ढूँढ़ते समय उन्हें स्त्रियोंके ही बीचमें देखा जाता है ॥ ४३ ॥

यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत् परिमार्गते ।
न शक्यं प्रमदा नष्टा मृगीषु परिमार्गितुम् ॥ ४४ ॥

'जिस जीवकी जो जाति होती है, उसीमें उसे खोजा जाता है। खोयी हुई युवती स्त्रीको हरिनियोंके बीचमें नहीं ढूँढ़ा जा सकता है ॥ ४४ ॥

तदिदं मार्गितं तावच्छुद्धेन मनसा मया।
रावणान्तःपुरं सर्वं दृश्यते न च जानकी ॥ ४५ ॥

'अतः मैंने रावणके इस सारे अन्तःपुरमें शुद्ध हृदयसे ही अन्वेषण किया है; किंतु यहाँ जानकीजी नहीं दिखायी देती हैं' ॥ ४५ ॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च वीर्यवान्।
अवेक्षमाणो हनुमान् नैवापश्यत जानकीम् ॥ ४६ ॥

अन्तःपुरका निरीक्षण करते हुए पराक्रमी हनुमान्ने देवताओं, गन्धर्वों और नागोंकी कन्याओंको वहाँ देखा, किंतु जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखा ॥ ४६ ॥

तामपश्यन् कपिस्तत्र पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः।
अपक्रम्य तदा वीरः प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ ४७ ॥

दूसरी सुन्दरियोंको देखते हुए वीर वानर हनुमान्ने जब वहाँ सीताको नहीं देखा, तब वे वहाँसे हटकर अन्यत्र जानेको उद्यत हुए ॥ ४७ ॥

स भूयः सर्वतः श्रीमान् मारुतिर्यत्नमाश्रितः।
आपानभूमिमुत्सृज्य तां विचेतुं प्रचक्रमे ॥ ४८ ॥

फिर तो श्रीमान् पवनकुमारने उस पानभूमिको छोड़कर अन्य सब स्थानोंमें उन्हें बड़े यत्नका आश्रय लेकर खोजना आरम्भ किया ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

सीताके मरणकी आशङ्कासे हनुमान्जीका शिथिल होना, फिर उत्साहका आश्रय लेकर अन्य स्थानोंमें उनकी खोज करना और कहीं भी पता न लगनेसे पुनः उनका चिन्तित होना

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो
लतागृहांश्चित्रगृहान् निशागृहान्।
जगाम सीतां प्रतिदर्शनोत्सुको
न चैव तां पश्यति चारुदर्शनाम् ॥ १ ॥

उस राजभवनके भीतर स्थित हुए हनुमान्जी सीताजीके दर्शनके लिये उत्सुक हो क्रमशः लता-मण्डपोंमें, चित्रशालाओंमें तथा रात्रिकालिक विश्राम-गृहोंमें गये; परंतु वहाँ भी उन्हें परम सुन्दरी सीताका दर्शन नहीं हुआ ॥ १ ॥

स चिन्तयामास ततो महाकपिः
प्रियामपश्यन् रघुनन्दनस्य ताम्।
ध्रुवं न सीता ध्रियते यथा न मे
विचिन्वतो दर्शनमेति मैथिली ॥ २ ॥

रघुनन्दन श्रीरामकी प्रियतमा सीता जब वहाँ भी दिखायी न दीं, तब वे महाकपि हनुमान् इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'निश्चय ही अब मिथिलेशकुमारी सीता जीवित नहीं हैं; इसीलिये बहुत खोजनेपर भी वे मेरे दृष्टिपथमें नहीं आ रही हैं ॥ २ ॥

सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी
स्वशीलसंरक्षणतत्परा सती।
अनेन नूनं प्रति दुष्टकर्मणा
हता भवेदार्यपथे परे स्थिता ॥ ३ ॥

'सती-साध्वी सीता उत्तम आर्यमार्गपर स्थित रहनेवाली थीं। वे अपने शील और सदाचारकी रक्षामें तत्पर रही हैं; इसलिये निश्चय ही इस दुराचारी राक्षसराजने उन्हें मार डाला होगा ॥ ३ ॥

विरूपरूपा विकृता विवर्चसो
महानना दीर्घविरूपदर्शनाः।
समीक्ष्य ता राक्षसराजयोषितो
भयाद् विनष्टा जनकेश्वरात्मजा ॥ ४ ॥

'राक्षसराज रावणके यहाँ जो दास्यकर्म करनेवाली राक्षसियाँ हैं, उनके रूप बड़े बेडौल हैं। वे बड़ी विकट और विकराल हैं। उनकी कान्ति भी भयंकर है। उनके मुँह विशाल और आँखें भी बड़ी-बड़ी एवं भयानक हैं। उन सबको देखकर जनकराजनन्दिनीने भयके मारे प्राण त्याग दिये होंगे ॥ ४ ॥

सीतामदृष्ट्वा ह्यनवाप्य पौरुषं
विहृत्य कालं सह वानरैश्चिरम्।
न मेऽस्ति सुग्रीवसमीपगा गतिः
सुतीक्ष्णदण्डो बलवांश्च वानरः ॥ ५ ॥

'सीताका दर्शन न होनेसे मुझे अपने पुरुषार्थका फल नहीं प्राप्त हो सका। इधर वानरोंके साथ सुदीर्घकालतक इधर-उधर भ्रमण करके मैंने लौटनेकी अवधि भी बिता दी है; अतः अब मेरा सुग्रीवके पास जानेका भी मार्ग बंद हो गया; क्योंकि वह वानर बड़ा बलवान् और अत्यन्त कठोर दण्ड देनेवाला है ॥ ५ ॥

दृष्टमन्तःपुरं सर्वं दृष्टा रावणयोषितः।

न सीता दृश्यते साध्वी वृथा जातो मम श्रमः ॥ ६ ॥

'मैंने रावणका सारा अन्तःपुर छान डाला, एक-एक करके रावणकी समस्त स्त्रियोंको भी देख लिया; किंतु अभीतक साध्वी सीताका दर्शन नहीं हुआ; अतः मेरा समुद्रलङ्घनका सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया ॥ ६ ॥

किं नु मां वानराः सर्वे गतं वक्ष्यन्ति संगताः ।
गत्वा तत्र त्वया वीर किं कृतं तद् वदस्व नः ॥ ७ ॥

'जब मैं लौटकर जाऊँगा, तब सारे वानर मिलकर मुझसे क्या कहेंगे; वे पूछेंगे, वीर ! वहाँ जाकर तुमने क्या किया है—यह मुझे बताओ ॥ ७ ॥

अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम् ।
ध्रुवं प्रायमुपासिष्ये कालस्य व्यतिवर्तने ॥ ८ ॥

'किंतु जनकनन्दिनी सीताको न देखकर मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा । सुग्रीवके निश्चित किये हुए समयका उल्लङ्घन कर देनेपर अब मैं निश्चय ही आमरण उपवास करूँगा ॥ ८ ॥

किं वा वक्ष्यति वृद्धश्च जाम्बवानङ्गदश्च सः ।
गतं पारं समुद्रस्य वानराश्च समागताः ॥ ९ ॥

'बड़े-बूढ़े जाम्बवान् और युवराज अङ्गद मुझसे क्या कहेंगे ? समुद्रके पार जानेपर अन्य वानर भी जब मुझसे मिलेंगे, तब वे क्या कहेंगे ?' ॥ ९ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।
भूयस्तत्र विचेष्यामि न यत्र विचयः कृतः ॥ १० ॥

(इस प्रकार थोड़ी देरतक हताश-से होकर वे फिर सोचने लगे—)'हताश न होकर उत्साहको बनाये रखना ही सम्पत्तिका मूल कारण है । उत्साह ही परम सुखका हेतु है; अतः मैं पुनः उन स्थानोंमें सीताकी खोज करूँगा, जहाँ अबतक अनुसंधान नहीं किया गया था ॥ १० ॥

अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ।
करोति सफलं जन्तोः कर्म यच्च करोति सः ॥ ११ ॥

'उत्साह ही प्राणियोंको सर्वदा सब प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त करता है और वही उन्हें वे जो कुछ करते हैं उस कार्यमें सफलता प्रदान करता है ॥ ११ ॥

तस्मादनिर्वेदकरं यत्नं चेष्टेऽहमुत्तमम् ।
अदृष्टांश्च विचेष्यामि देशान् रावणपालितान् ॥ १२ ॥

'इसलिये अब मैं और भी उत्तम एवं उत्साहपूर्वक प्रयत्नके लिये चेष्टा करूँगा । रावणके द्वारा सुरक्षित जिन स्थानोंको अबतक नहीं देखा था, उनमें भी पता लगाऊँगा ॥ १२ ॥

आपानशाला विचितास्तथा पुष्पगृहाणि च ।
चित्रशालाश्च विचिता भूयः क्रीडागृहाणि च ॥ १३ ॥
निष्कुटान्तररथ्याश्च विमानानि च सर्वशः ।
इति संचिन्त्य भूयोऽपि विचेतुमुपचक्रमे ॥ १४ ॥

'आपानशाला, पुष्पगृह, चित्रशाला, क्रीडागृह, गृहोद्यानकी गलियाँ और पुष्पक आदि विमान—इन सबका तो मैंने चप्पा-चप्पा देख डाला (अब अन्यत्र खोज करूँगा) ।' यह सोचकर उन्होंने पुनः खोजना आरम्भ किया ॥ १३-१४ ॥

भूमीगृहांश्चैत्यगृहान् गृहातिगृहकानपि ।
उत्पतन् निपतंश्चापि तिष्ठन् गच्छन् पुनः क्वचित् ॥ १५ ॥

वे भूमिके भीतर बने हुए घरों (तहखानों) में, चौराहोंपर बने हुए मण्डपोंमें तथा घरोंको लाँघकर उनसे थोड़ी ही दूरपर बने हुए विलासभवनोंमें सीताकी खोज करने लगे । वे किसी घरके ऊपर चढ़ जाते, किसीसे नीचे कूद पड़ते, कहीं ठहर जाते और किसीको चलते-चलते ही देख लेते थे ॥ १५ ॥

अपावृण्वंश्च द्वाराणि कपाटान्यवघट्टयन् ।
प्रविशन् निष्पतंश्चापि प्रपतन्नुत्पतन्निव ॥ १६ ॥

घरोंके दरवाजोंको खोल देते, कहीं किंवाड़ें भिड़का देते, किसीके भीतर घुसकर देखते और फिर निकल आते थे । वे गिरते-पड़ते और उछलते हुए-से सर्वत्र खोज करने लगे ॥ १६ ॥

सर्वमप्यवकाशं स विचचार महाकपिः ।
चतुरङ्गुलमात्रोऽपि नावकाशः स विद्यते ।
रावणान्तःपुरे तस्मिन् यं कपिर्न जगाम सः ॥ १७ ॥

उन महाकपिने वहाँके सभी स्थानोंमें विचरण किया । रावणके अन्तःपुरमें कोई चार अङ्गुलका भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जहाँ कपिवर हनुमान्‌जी न पहुँचे हों ॥ १७ ॥

प्राकारान्तरवीथ्यश्च वेदिकाश्चैत्यसंश्रयाः ।
श्वभ्राश्च पुष्करिण्यश्च सर्वं तेनावलोकितम् ॥ १८ ॥

उन्होंने परकोटेके भीतरकी गलियाँ, चौराहेके वृक्षोंके नीचे बनी हुई वेदियाँ, गड्ढे और पोखरियाँ—सबको छान डाला ॥ १८ ॥

राक्षस्यो विविधाकारा विरूपा विकृतास्तथा ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु सा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

हनुमान्‌जीने जगह-जगह नाना प्रकारके आकारवाली, कुरूप और विकट राक्षसियाँ देखीं; किंतु वहाँ उन्हें जानकीजीका दर्शन नहीं हुआ ॥ १९ ॥

रूपेणाप्रतिमा लोके परा विद्याधरस्त्रियः ।
दृष्टा हनुमता तत्र न तु राघवनन्दिनी ॥ २० ॥

संसारमें जिनके रूप-सौन्दर्यकी कहीं तुलना नहीं थी ऐसी बहुत-सी विद्याधरियाँ भी हनुमान्‌जीकी दृष्टिमें आयीं; परंतु वहाँ उन्हें श्रीरघुनाथजीको आनन्द प्रदान करनेवाली सीता नहीं दिखायी दीं ॥ २० ॥

नागकन्या वरारोहाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।

दृष्टा हनुमता तत्र न तु सा जनकात्मजा ॥ २१ ॥

हनुमान्‌जीने सुन्दर नितम्ब और पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली बहुत-सी नागकन्याएँ भी वहाँ देखीं; किंतु जनककिशोरीका उन्हें दर्शन नहीं हुआ ॥ २१ ॥

प्रमथ्य राक्षसेन्द्रेण नागकन्या बलाद्धृताः।
दृष्टा हनुमता तत्र न सा जनकनन्दिनी ॥ २२ ॥

राक्षसराजके द्वारा नागसेनाको मथकर बलात्कारसे हरकर लायी हुई नागकन्याओंको तो पवनकुमारने वहाँ देखा; किंतु जानकीजी उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हुईं ॥ २२ ॥

सोऽपश्यंस्तां महाबाहुः पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः।
विषसाद महाबाहुर्हनूमान् मारुतात्मजः ॥ २३ ॥

महाबाहु पवनकुमार हनुमान्‌को दूसरी बहुत-सी सुन्दरियाँ दिखायी दीं; परंतु सीताजी उनके देखनेमें नहीं आयीं। इसलिये वे बहुत दुखी हो गये ॥ २३ ॥

उद्योगं वानरेन्द्राणां प्लवनं सागरस्य च।
व्यर्थं वीक्ष्यानिलसुतश्चिन्तां पुनरुपागतः ॥ २४ ॥

उन वानरशिरोमणि वीरोंके उद्योग और अपनेद्वारा किये गये समुद्रलङ्घनको व्यर्थ हुआ देखकर पवनपुत्र हनुमान् वहाँ पुनः बड़ी भारी चिन्तामें पड़ गये ॥ २४ ॥

अवतीर्य विमानाच्च हनूमान् मारुतात्मजः।
चिन्तामुपजगामाथ शोकोपहतचेतनः ॥ २५ ॥

उस समय वायुनन्दन हनुमान् विमानसे नीचे उतर आये और बड़ी चिन्ता करने लगे। शोकसे उनकी चेतनाशक्ति शिथिल हो गयी ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

सीताजीके नाशकी आशङ्कासे हनुमान्‌जीकी चिन्ता, श्रीरामको सीताके न मिलनेकी सूचना देनेसे अनर्थकी सम्भावना देख हनुमान्‌जीका न लौटनेका निश्चय करके पुनः खोजनेका विचार करना और अशोकवाटिकामें ढूँढ़नेके विषयमें तरह-तरहकी बातें सोचना

विमानात् तु स संक्रम्य प्राकारं हरियूथपः।
हनूमान् वेगवानासीद् यथा विद्युद् घनान्तरे ॥ १ ॥

वानरयूथपति हनुमान् विमानसे उतरकर महलके परकोटेपर चढ़ आये। वहाँ आकर वे मेघमालाके अङ्कमें चमकती हुई बिजलीके समान बड़े वेगसे इधर-उधर घूमने लगे* ॥ १ ॥

सम्परिक्रम्य हनुमान् रावणस्य निवेशनान्।
अदृष्ट्वा जानकीं सीतामब्रवीद् वचनं कपिः ॥ २ ॥

रावणके सभी घरोंमें एक बार पुनः चक्कर लगाकर जब कपिवर हनुमान्‌जीने जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखा, तब वे मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगे—॥ २ ॥

भूयिष्ठं लोलिता लङ्का रामस्य चरता प्रियम्।
न हि पश्यामि वैदेहीं सीतां सर्वाङ्गशोभनाम् ॥ ३ ॥

'मैंने श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेके लिये कई बार लङ्काको छान डाला; किंतु सर्वाङ्गसुन्दरी विदेहनन्दिनी सीता मुझे कहीं नहीं दिखायी देती हैं ॥ ३ ॥

पल्वलानि तटाकानि सरांसि सरितस्तथा।
नद्योऽनूपवनान्ताश्च दुर्गाश्च धरणीधराः ॥ ४ ॥
लोलिता वसुधा सर्वा न च पश्यामि जानकीम्।

'मैंने यहाँके छोटे तालाब, पोखरे, सरोवर, सरिताएँ, नदियाँ, पानीके आस-पासके जंगल तथा दुर्गम पहाड़—सब देख डाले। इस नगरके आसपासकी सारी भूमि खोज डाली; किंतु कहीं भी मुझे जानकीजीका दर्शन नहीं हुआ ॥ ४½ ॥

इह सम्पातिना सीता रावणस्य निवेशने।
आख्याता गृध्रराजेन न च सा दृश्यते न किम् ॥ ५ ॥

'गृध्रराज सम्पातिने तो सीताजीको यहाँ रावणके महलमें ही बताया था। फिर भी न जाने क्यों वे यहाँ दिखायी नहीं देती हैं ॥ ५ ॥

किं नु सीताथ वैदेही मैथिली जनकात्मजा।
उपतिष्ठेत विवशा रावणेन हृता बलात् ॥ ६ ॥

'क्या रावणके द्वारा बलपूर्वक हरकर लायी हुई विदेहकुलनन्दिनी मिथिलेशकुमारी जनकदुलारी सीता कभी विवश होकर रावणकी सेवामें उपस्थित हो सकती हैं (यह असम्भव है) ॥ ६ ॥

क्षिप्रमुत्पततो मन्ये सीतामादाय रक्षसः।
बिभ्यतो रामबाणानामन्तरा पतिता भवेत् ॥ ७ ॥

'मैं तो समझता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजीके बाणोंसे भयभीत हो वह राक्षस जब सीताको लेकर शीघ्रतापूर्वक आकाशमें

* घनमालामें विद्युत्‌की उपमासे यह ध्वनित होता है कि रावणका वह परकोटा इन्द्रनीलमणिका बना हुआ था और उसपर सुवर्णके समान गौर कान्तिवाले हनुमान्‌जी विद्युत्‌के समान प्रतीत होते थे।

उछला है, उस समय कहीं बीचमें ही वे छूटकर गिर पड़ी हैं ॥ ७ ॥

अथवा ह्रियमाणायाः पथि सिद्धनिषेविते।
मन्ये पतितमार्याया हृदयं प्रेक्ष्य सागरम् ॥ ८ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है कि जब आर्या सीता सिद्ध-सेवित आकाशमार्गसे ले जायी जाती रही हों, उस समय समुद्रको देखकर भयके मारे उनका हृदय ही फटकर नीचे गिर पड़ा हो ॥ ८ ॥

रावणस्योरुवेगेन भुजाभ्यां पीडितेन च।
तया मन्ये विशालाक्ष्या त्यक्तं जीवितमार्यया ॥ ९ ॥

'अथवा यह भी मालूम होता है कि रावणके प्रबल वेग और उसकी भुजाओंके दृढ़ बन्धनसे पीड़ित होकर विशाल-लोचना आर्या सीताने अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया है ॥ ९ ॥

उपर्युपरि सा नूनं सागरं क्रमतस्तदा।
विचेष्टमाना पतिता समुद्रे जनकात्मजा ॥ १० ॥

'ऐसा भी हो सकता है कि जिस समय रावण उन्हें समुद्रके ऊपर होकर ला रहा हो, उस समय जनककुमारी सीता छटपटाकर समुद्रमें गिर पड़ी हों। अवश्य ऐसा ही हुआ होगा ॥ १० ॥

आहो क्षुद्रेण चानेन रक्षन्ती शीलमात्मनः।
अबन्धुर्भक्षिता सीता रावणेन तपस्विनी ॥ ११ ॥
अथवा राक्षसेन्द्रस्य पत्नीभिरसितेक्षणा।
अदुष्टा दुष्टभावाभिर्भक्षिता सा भविष्यति ॥ १२ ॥

'अथवा ऐसा तो नहीं हुआ कि अपने शीलकी रक्षामें तत्पर हुई किसी सहायक बन्धुकी सहायतासे वञ्चित तपस्विनी सीताको इस नीच रावणने ही खा लिया हो अथवा मनमें दुष्ट भावना रखनेवाली राक्षसराज रावणकी पत्नियोंने ही कजरारे नेत्रोंवाली साध्वी सीताको अपना आहार बना लिया होगा ॥ ११-१२ ॥

सम्पूर्णचन्द्रप्रतिमं पद्मपत्रनिभेक्षणम्।
रामस्य ध्यायती वक्त्रं पञ्चत्वं कृपणा गता ॥ १३ ॥

'हाय! श्रीरामचन्द्रजीके पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर तथा प्रफुल्ल कमलदलके सदृश नेत्रवाले मुखका चिन्तन करती हुई दयनीया सीता इस संसारसे चल बसीं ॥ १३ ॥

हा राम लक्ष्मणेत्येवं हायोध्ये चेति मैथिली।
विलप्य बहु वैदेही न्यस्तदेहा भविष्यति ॥ १४ ॥

'हा राम! हा लक्ष्मण! हा अयोध्यापुरी!' इस प्रकार पुकार-पुकारकर बहुत विलाप करके मिथिलेशकुमारी विदेहनन्दिनी सीताने अपने शरीरको त्याग दिया होगा ॥ १४ ॥

अथवा निहिता मन्ये रावणस्य निवेशने।
भृशं लालप्यते बाला पञ्जरस्थेव शारिका ॥ १५ ॥

'अथवा मेरी समझमें यह आता है कि वे रावणके ही किसी गुप्त गृहमें छिपाकर रक्खी गयी हैं। हाय! वहाँ वह बाला पींजरेमें बंद हुई मैनाकी तरह बारंबार आर्तनाद करती होगी ॥ १५ ॥

जनकस्य कुले जाता रामपत्नी सुमध्यमा।
कथमुत्पलपत्राक्षी रावणस्य वशं व्रजेत् ॥ १६ ॥

'जो जनकके कुलमें उत्पन्न हुई हैं और श्रीरामचन्द्रजीकी धर्मपत्नी हैं, वे नील कमलके-से नेत्रोंवाली सुमध्यमा सीता रावणके अधीन कैसे हो सकती हैं? ॥ १६ ॥

विनष्टा वा प्रणष्टा वा मृता वा जनकात्मजा।
रामस्य प्रियभार्यस्य न निवेदयितुं क्षमम् ॥ १७ ॥

'जनककिशोरी सीता चाहे गुप्त गृहमें अदृश्य करके रखी गयी हों, चाहे समुद्रमें गिरकर प्राणोंसे हाथ धो बैठी हों अथवा श्रीरामचन्द्रजीके विरहका कष्ट न सह सकनेके कारण उन्होंने मृत्युकी शरण ली हो, किसी भी दशामें श्रीरामचन्द्रजी-को इस बातकी सूचना देना उचित न होगा; क्योंकि वे अपनी पत्नीको बहुत प्यार करते हैं ॥ १७ ॥

निवेद्यमाने दोषः स्याद् दोषः स्यादनिवेदने।
कथं नु खलु कर्तव्यं विषमं प्रतिभाति मे ॥ १८ ॥

'इस समाचारके बतानेमें भी दोष है और न बतानेमें भी दोषकी सम्भावना है, ऐसी दशामें किस उपायसे काम लेना चाहिये? मुझे तो बताना और न बताना—दोनों ही दुष्कर प्रतीत होते हैं ॥ १८ ॥

अस्मिन्नेवंगते कार्ये प्राप्तकालं क्षमं च किम्।
भवेदिति मतिं भूयो हनुमान् प्रविचारयन् ॥ १९ ॥

'ऐसी दशामें जब कोई भी कार्य करना दुष्कर प्रतीत होता है, तब मेरे लिये इस समयके अनुसार क्या करना उचित होगा?' इन्हीं बातोंपर हनुमान्‌जी बारंबार विचार करने लगे ॥ १९ ॥

यदि सीतामदृष्ट्वाहं वानरेन्द्रपुरीमितः।
गमिष्यामि ततः को मे पुरुषार्थो भविष्यति ॥ २० ॥

(उन्होंने फिर सोचा—) 'यदि मैं सीताजीको देखे बिना ही यहाँसे वानरराजकी पुरी किष्किन्धाको लौट जाऊँगा तो मेरा पुरुषार्थ ही क्या रह जायगा? ॥ २० ॥

ममेदं लङ्घनं व्यर्थं सागरस्य भविष्यति।
प्रवेशश्चैव लङ्कायां राक्षसानां च दर्शनम् ॥ २१ ॥

'फिर तो मेरा यह समुद्रलङ्घन, लङ्कामें प्रवेश और राक्षसोंको देखना सब व्यर्थ हो जायगा ॥ २१ ॥

किं वा वक्ष्यति सुग्रीवो हरयो वापि संगताः।
किष्किन्धामनुसम्प्राप्तं तौ वा दशरथात्मजौ ॥ २२ ॥

'किष्किन्धामें पहुँचनेपर मुझसे मिलकर सुग्रीव, दूसरे-दूसरे वानर तथा वे दोनों दशरथराजकुमार भी क्या कहेंगे ॥ २२ ॥

गत्वा तु यदि काकुत्स्थं वक्ष्यामि परुषं वचः।
न दृष्टेति मया सीता ततस्त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ २३ ॥

'यदि वहाँ जाकर मैं श्रीरामचन्द्रजीसे यह कठोर बात कह दूँ कि मुझे सीताका दर्शन नहीं हुआ तो वे प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ २३ ॥

परुषं दारुणं तीक्ष्णं क्रूरमिन्द्रियतापनम्।
सीतानिमित्तं दुर्वाक्यं श्रुत्वा स न भविष्यति ॥ २४ ॥

'सीताजीके विषयमें ऐसे रूखे, कठोर, तीखे और इन्द्रियोंको संताप देनेवाले दुर्वचनको सुनकर वे कदापि जीवित नहीं रहेंगे ॥ २४ ॥

तं तु कृच्छ्रगतं दृष्ट्वा पञ्चत्वगतमानसम्।
भृशानुरक्तमेधावी न भविष्यति लक्ष्मणः ॥ २५ ॥

'उन्हें संकटमें पड़कर प्राणोंके परित्यागका संकल्प करते देख उनके प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले बुद्धिमान् लक्ष्मण भी जीवित नहीं रहेंगे ॥ २५ ॥

विनष्टौ भ्रातरौ श्रुत्वा भरतोऽपि मरिष्यति।
भरतं च मृतं दृष्ट्वा शत्रुघ्नो न भविष्यति ॥ २६ ॥

'अपने इन दो भाइयोंके विनाशका समाचार सुनकर भरत भी प्राण त्याग देंगे और भरतकी मृत्यु देखकर शत्रुघ्न भी जीवित नहीं रह सकेंगे ॥ २६ ॥

पुत्रान् मृतान् समीक्ष्याथ न भविष्यन्ति मातरः।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च न संशयः ॥ २७ ॥

'इस प्रकार चारों पुत्रोंकी मृत्यु हुई देख कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी—ये तीनों माताएँ भी निस्संदेह प्राण दे देंगी ॥ २७ ॥

कृतज्ञः सत्यसंधश्च सुग्रीवः प्लवगाधिपः।
रामं तथागतं दृष्ट्वा ततस्त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ २८ ॥

'कृतज्ञ और सत्यप्रतिज्ञ वानरराज सुग्रीव भी जब श्रीरामचन्द्रजीको ऐसी अवस्थामें देखेंगे तो स्वयं भी प्राणविसर्जन कर देंगे ॥ २८ ॥

दुर्मना व्यथिता दीना निरानन्दा तपस्विनी।
पीडिता भर्तृशोकेन रुमा त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ २९ ॥

'तत्पश्चात् पतिशोकसे पीड़ित हो दुखितचित्त, दीन, व्यथित और आनन्दशून्य हुई तपस्विनी रुमा भी जान दे देगी ॥ २९ ॥

वालिजेन तु दुःखेन पीडिता शोककर्शिता।
पञ्चत्वमागता राज्ञी तारापि न भविष्यति ॥ ३० ॥

'फिर तो रानी तारा भी जीवित नहीं रहेंगी। वे वालीके विरहजनित दुःखसे तो पीड़ित थीं ही, इस नूतन शोकसे कातर हो शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त हो जायँगी ॥ ३० ॥

मातापित्रोर्विनाशेन सुग्रीवव्यसनेन च।
कुमारोऽप्यङ्गदस्तस्माद् विजहिष्यति जीवितम् ॥ ३१ ॥

'माता-पिताके विनाश और सुग्रीवके मरणजनित संकटसे पीड़ित हो कुमार अङ्गद भी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ३१ ॥

भर्तृजेन तु दुःखेन अभिभूता वनौकसः।
शिरांस्यभिहनिष्यन्ति तलैर्मुष्टिभिरेव च ॥ ३२ ॥
सान्त्वेनानुप्रदानेन मानेन च यशस्विना।
लालिताः कपिनाथेन प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति वानराः ॥ ३३ ॥

'तदनन्तर स्वामीके दुःखसे पीड़ित हुए सारे वानर अपने हाथों और मुक्कोंसे सिर पीटने लगेंगे। यशस्वी वानरराजने सान्त्वनापूर्ण वचनों और दान-मानसे जिनका लालन-पालन किया था, वे वानर अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ३२-३३ ॥

न वनेषु न शैलेषु न निरोधेषु वा पुनः।
क्रीडामनुभविष्यन्ति समेत्य कपिकुञ्जराः ॥ ३४ ॥

'ऐसी अवस्थामें शेष वानर वनों, पर्वतों और गुफाओंमें एकत्र होकर फिर कभी क्रीड़ा-विहारका आनन्द नहीं लेंगे ॥ ३४ ॥

सपुत्रदाराः सामात्या भर्तृव्यसनपीडिताः।
शैलाग्रेभ्यः पतिष्यन्ति समेषु विषमेषु च ॥ ३५ ॥

'अपने राजाके शोकसे पीड़ित हो सब वानर अपने पुत्र, स्त्री और मन्त्रियोंसहित पर्वतोंके शिखरोंसे नीचे सम अथवा विषम स्थानोंमें गिरकर प्राण दे देंगे ॥ ३५ ॥

विषमुद्बन्धनं वापि प्रवेशं ज्वलनस्य वा।
उपवासमथो शस्त्रं प्रचरिष्यन्ति वानराः ॥ ३६ ॥

अथवा सारे विष पी लेंगे या फाँसी लगा लेंगे या जलती आगमें प्रवेश कर जायँगे। उपवास करने लगेंगे अथवा अपने ही शरीरमें छुरा भोंक लेंगे ॥ ३६ ॥

घोरमारोदनं मन्ये गते मयि भविष्यति।
इक्ष्वाकुकुलनाशश्च नाशश्चैव वनौकसाम् ॥ ३७ ॥

'मेरे वहाँ जानेपर मैं समझता हूँ बड़ा भयंकर आर्तनाद होने लगेगा। इक्ष्वाकुकुलका नाश और वानरोंका भी विनाश हो जायगा ॥ ३७ ॥

सोऽहं नैव गमिष्यामि किष्किन्धां नगरीमितः।
नहि शक्ष्याम्यहं द्रष्टुं सुग्रीवं मैथिलीं विना ॥ ३८ ॥

'इसलिये मैं यहाँसे किष्किन्धापुरीको तो नहीं जाऊँगा। मिथिलेशकुमारी सीताको देखे बिना मैं सुग्रीवका भी दर्शन नहीं कर सकूँगा ॥ ३८ ॥

मय्यगच्छति चेहस्थे धर्मात्मानौ महारथौ ।
आशया तौ धरिष्येते वानराश्च तरस्विनः ॥ ३९ ॥

'यदि मैं यहीं रहूँ और वहाँ न जाऊँ तो मेरी आशा लगाये वे दोनों धर्मात्मा महारथी बन्धु प्राण धारण किये रहेंगे और वे वेगशाली वानर भी जीवित रहेंगे ॥ ३९ ॥

हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः ।
वानप्रस्थो भविष्यामि ह्यदृष्ट्वा जनकात्मजाम् ॥ ४० ॥

'जानकीजीका दर्शन न मिलनेपर मैं यहाँ वानप्रस्थी हो जाऊँगा । मेरे हाथपर अपने-आप जो फल आदि खाद्य वस्तु प्राप्त हो जायगी, उसीको खाकर रहूँगा । या परेच्छासे मेरे मुँहमें जो फल आदि खाद्य वस्तु पड़ जायगी, उसीसे निर्वाह करूँगा तथा शौच, संतोष आदि नियमोंके पालन-पूर्वक वृक्षके नीचे निवास करूँगा ॥ ४० ॥

सागरानूपजे देशे बहुमूलफलोदके ।
चितिं कृत्वा प्रवेक्ष्यामि समिद्धमरणीसुतम् ॥ ४१ ॥

'अथवा सागरतटवर्ती स्थानमें, जहाँ फल-मूल और जलकी अधिकता होती है, मैं चिता बनाकर जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ४१ ॥

उपविष्टस्य वा सम्यग् लिङ्गिनं साधयिष्यतः ।
शरीरं भक्षयिष्यन्ति वायसाः श्वापदानि च ॥ ४२ ॥

'अथवा आमरण उपवासके लिये बैठकर लिङ्गशरीरधारी जीवात्माका शरीरसे वियोग करानेके प्रयत्नमें लगे हुए मेरे शरीरको कौवे तथा हिंसक जन्तु अपना आहार बना लेंगे ॥ ४२ ॥

इदमप्यृषिभिर्दृष्टं निर्याणमिति मे मतिः ।
सम्यगापः प्रवेक्ष्यामि न चेत् पश्यामि जानकीम् ॥ ४३ ॥

'यदि मुझे जानकीजीका दर्शन नहीं हुआ तो मैं खुशी-खुशी जल-समाधि ले लूँगा । मेरे विचारसे इस तरह जल-प्रवेश करके परलोकगमन करना ऋषियोंकी दृष्टिमें भी उत्तम ही है ॥ ४३ ॥

सुजातमूला सुभगा कीर्तिमाला यशस्विनी ।
प्रभग्ना चिररात्राय मम सीतामपश्यतः ॥ ४४ ॥

'जिसका प्रारम्भ शुभ है, ऐसी सुभगा, यशस्विनी और मेरी कीर्तिमालारूपा यह दीर्घरात्रि भी सीताजीको देखे बिना ही बीत चली ॥ ४४ ॥

तापसो वा भविष्यामि नियतो वृक्षमूलिकः ।
नेतः प्रतिगमिष्यामि तामदृष्ट्वासितेक्षणाम् ॥ ४५ ॥

'अथवा अब मैं नियमपूर्वक वृक्षके नीचे निवास करनेवाला तपस्वी हो जाऊँगा; किंतु उस असितलोचना सीताको देखे बिना यहाँसे कदापि नहीं लौटूँगा ॥ ४५ ॥

यदि तु प्रतिगच्छामि सीतामनधिगम्य ताम् ।
अङ्गदः सहितः सर्वैर्वानरैर्न भविष्यति ॥ ४६ ॥

'यदि सीताका पता लगाये बिना ही मैं लौट जाऊँ तो समस्त वानरोंसहित अङ्गद जीवित नहीं रहेंगे ॥ ४६ ॥

विनाशे बहवो दोषा जीवन् प्राप्नोति भद्रकम् ।
तस्मात् प्राणान् धरिष्यामि ध्रुवो जीवति संगमः ॥ ४७ ॥

'इस जीवनका नाश कर देनेमें बहुत-से दोष हैं । जो पुरुष जीवित रहता है, वह कभी-न-कभी अवश्य कल्याण-का भागी होता है; अतः मैं इन प्राणोंको धारण किये रहूँगा । जीवित रहनेपर अभीष्ट वस्तु अथवा सुखकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है ॥ ४७ ॥

एवं बहुविधं दुःखं मनसा धारयन् बहु ।
नाध्यगच्छत् तदा पारं शोकस्य कपिकुञ्जरः ॥ ४८ ॥

इस तरह मनमें अनेक प्रकारके दुःख धारण किये कपिकुञ्जर हनुमान्‌जी शोकका पार न पा सके ॥ ४८ ॥

ततो विक्रममासाद्य धैर्यवान् कपिकुञ्जरः ।
रावणं वा वधिष्यामि दशग्रीवं महाबलम् ।
काममस्तु हृता सीता प्रत्याचीर्णं भविष्यति ॥ ४९ ॥

तदनन्तर धैर्यवान् कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने पराक्रमका सहारा लेकर सोचा—'अथवा महाबली दशमुख रावणका ही वध क्यों न कर डालूँ । भले ही सीताका अपहरण हो गया हो, इस रावणको मार डालनेसे उस वैरका भरपूर बदला सध जायगा' ॥ ४९ ॥

अथवैनं समुत्क्षिप्य उपर्युपरि सागरम् ।
रामायोपहरिष्यामि पशुं पशुपतेरिव ॥ ५० ॥

'अथवा इसे उठाकर समुद्रके ऊपर-ऊपरसे ले जाऊँ और जैसे पशुपति (रुद्र या अग्नि) को पशु अर्पित किया जाय, उसी प्रकार श्रीरामके हाथमें इसको सौंप दूँ' ॥ ५० ॥

इति चिन्तासमापन्नः सीतामनधिगम्य ताम् ।
ध्यानशोकपरीतात्मा चिन्तयामास वानरः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सीताजीको न पाकर वे चिन्तामें निमग्न हो गये । उनका मन सीताके ध्यान और शोकमें डूब गया । फिर वे वानरवीर इस प्रकार विचार करने लगे—॥ ५१ ॥

यावत् सीतां न पश्यामि रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
तावदेतां पुरीं लङ्कां विचिनोमि पुनः पुनः ॥ ५२ ॥

'जबतक मैं यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीताका दर्शन न कर लूँगा, तबतक इस लङ्कापुरीमें बारंबार उनकी खोज करता रहूँगा ॥ ५२ ॥

सम्पातिवचनाच्चापि रामं यद्यानयाम्यहम् ।
अपश्यन् राघवो भार्यां निर्दहेत् सर्ववानरान् ॥ ५३ ॥

'यदि सम्पातिके कहनेसे भी मैं श्रीरामको यहाँ बुला ले आऊँ तो अपनी पत्नीको यहाँ न देखनेपर श्रीरघुनाथजी समस्त वानरोंको जलाकर भस्म कर देंगे ॥ ५३ ॥

इहैव नियताहारो वत्स्यामि नियतेन्द्रियः।
न मत्कृते विनश्येयुः सर्वे ते नरवानराः ॥ ५४ ॥

'अतः यहीं नियमित आहार और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक निवास करूँगा। मेरे कारण वे समस्त नर और वानर नष्ट न हों ॥ ५४ ॥

अशोकवनिका चापि महतीयं महाद्रुमा।
इमामधिगमिष्यामि नहीयं विचिता मया ॥ ५५ ॥

'इधर यह बहुत बड़ी अशोकवाटिका है, इसके भीतर बड़े-बड़े वृक्ष हैं। इसमें मैंने अभीतक अनुसंधान नहीं किया है, अतः अब इसीमें चलकर ढूँढूँगा ॥ ५५ ॥

वसून् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यानश्विनौ मरुतोऽपि च।
नमस्कृत्वा गमिष्यामि रक्षसां शोकवर्धनः ॥ ५६ ॥

'राक्षसोंके शोकको बढ़ानेवाला मैं यहाँसे वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और मरुद्गणोंको नमस्कार करके अशोकवाटिकामें चलूँगा ॥ ५६ ॥

जित्वा तु राक्षसान् देवीमिक्ष्वाकुकुलनन्दिनीम्।
सम्प्रदास्यामि रामाय सिद्धीमिव तपस्विने ॥ ५७ ॥

'वहाँ समस्त राक्षसोंको जीतकर जैसे तपस्वीको सिद्धि प्रदान की जाती है, इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके हाथमें इक्ष्वाकुकुलको आनन्दित करनेवाली देवी सीताको सौंप दूँगा' ॥ ५७ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा चिन्ताविग्रथितेन्द्रियः।
उदतिष्ठन् महाबाहुर्हनूमान् मारुतात्मजः ॥ ५८ ॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार दो घड़ीतक सोच-विचारकर चिन्तासे शिथिल इन्द्रियवाले महाबाहु पवनकुमार हनुमान् सहसा उठकर खड़े हो गये (और देवताओंको नमस्कार करते हुए बोले—) 'लक्ष्मणसहित श्रीरामको नमस्कार है। जनकनन्दिनी सीतादेवीको भी नमस्कार है। रुद्र, इन्द्र, यम और वायु देवताको नमस्कार है तथा चन्द्रमा, अग्नि एवं मरुद्गणोंको भी नमस्कार है' ॥ ५८-५९ ॥

स तेभ्यस्तु नमस्कृत्वा सुग्रीवाय च मारुतिः।
दिशः सर्वाः समालोक्य सोऽशोकवनिकां प्रति ॥ ६० ॥

इस प्रकार उन सबको तथा सुग्रीवको भी नमस्कार करके पवनकुमार हनुमान्जी सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात करके अशोकवाटिकामें जानेको उद्यत हुए ॥ ६० ॥

स गत्वा मनसा पूर्वमशोकवनिकां शुभाम्।
उत्तरं चिन्तयामास वानरो मारुतात्मजः ॥ ६१ ॥

उन वानरवीर पवनकुमारने पहले मनके द्वारा ही उस सुन्दर अशोकवाटिकामें जाकर भावी कर्तव्यका इस प्रकार चिन्तन किया—॥ ६१ ॥

ध्रुवं तु रक्षोबहुला भविष्यति वनाकुला।
अशोकवनिका पुण्या सर्वसंस्कारसंस्कृता ॥ ६२ ॥

'वह पुण्यमयी अशोकवाटिका सींचने-कोड़ने आदि सब प्रकारके संस्कारोंसे सँवारी गयी है। वह दूसरे-दूसरे वनोंसे भी घिरी हुई है; अतः उसकी रक्षाके लिये वहाँ निश्चय ही बहुत-से राक्षस तैनात किये गये होंगे ॥ ६२ ॥

रक्षिणश्चात्र विहिता नूनं रक्षन्ति पादपान्।
भगवानपि विश्वात्मा नातिक्षोभं प्रवायति ॥ ६३ ॥

'राक्षसराजके नियुक्त किये हुए रक्षक अवश्य ही वहाँके वृक्षोंकी रक्षा करते होंगे; इसलिये जगत्के प्राणस्वरूप भगवान् वायुदेव भी वहाँ अधिक वेगसे नहीं बहते होंगे ॥

संक्षिप्तोऽयं मयाऽऽत्मा च रामार्थे रावणस्य च।
सिद्धिं दिशन्तु मे सर्वे देवाः सर्षिगणास्त्विह ॥ ६४ ॥

'मैंने श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धि तथा रावणसे अदृश्य रहनेके लिये अपने शरीरको संकुचित करके छोटा बना लिया है। मुझे इस कार्यमें ऋषियोंसहित समस्त देवता सिद्धि-सफलता प्रदान करें ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् देवाश्चैव तपस्विनः।
सिद्धिमग्निश्च वायुश्च पुरुहूतश्च वज्रभृत् ॥ ६५ ॥

स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा, अन्य देवगण, तपोनिष्ठ महर्षि, अग्निदेव, वायु तथा वज्रधारी इन्द्र भी मुझे सफलता प्रदान करें ॥ ६५ ॥

वरुणः पाशहस्तश्च सोमादित्यौ तथैव च।
अश्विनौ च महात्मानौ मरुतः सर्व एव च ॥ ६६ ॥
सिद्धिं सर्वाणि भूतानि भूतानां चैव यः प्रभुः।
दास्यन्ति मम ये चान्येऽप्यदृष्टाः पथि गोचराः ॥ ६७ ॥

'पाशधारी वरुण, सोम, आदित्य, महात्मा अश्विनीकुमार, समस्त मरुद्गण, सम्पूर्ण भूत और भूतोंके अधिपति तथा और भी जो मार्गमें दीखनेवाले एवं न दीखनेवाले देवता हैं, वे सब मुझे सिद्धि प्रदान करेंगे ॥ ६६-६७ ॥

तदुन्नसं पाण्डुरदन्तमव्रणं
शुचिस्मितं पद्मपलाशलोचनम्।
द्रक्ष्ये तदार्यावदनं कदा न्वहं
प्रसन्नताराधिपतुल्यवर्चसम् ॥ ६८ ॥

'जिसकी नाक ऊँची और दाँत सफेद हैं, जिसमें चेचक आदिके दाग नहीं हैं, जहाँ पवित्र मुसकानकी छटा छायी रहती है, जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित होते हैं तथा जो निष्कलङ्क कलाधरके तुल्य कमनीय कान्तिसे युक्त है, वह आर्या सीताका मुख मुझे कब दिखायी देगा ?' ॥

क्षुद्रेण हीनेन नृशंसमूर्तिना
सुदारुणालंकृतवेषधारिणा ।
बलाभिभूता ह्यबला तपस्विनी
कथं नु मे दृष्टिपथेऽद्य सा भवेत् ॥ ६९ ॥

'इस क्षुद्र, नीच, नृशंसरूपधारी और अत्यन्त दारुण होनेपर भी अलंकारयुक्त विश्वसनीय वेष धारण करनेवाले रावणने उस तपस्विनी अबलाको बलात्कारसे अपने अधीन कर लिया है । अब किस प्रकार वह मेरे दृष्टिपथमें आ सकती है ?' ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

हनुमान्‌जीका अशोकवाटिकामें प्रवेश करके उसकी शोभा देखना तथा एक अशोकवृक्षपर छिपे रहकर वहींसे सीताका अनुसंधान करना

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मनसा चाधिगम्य ताम् ।
अवप्लुतो महातेजाः प्राकारं तस्य वेश्मनः ॥ १ ॥

महातेजस्वी हनुमान्‌जी एक मुहूर्ततक इसी प्रकार विचार करते रहे । तत्पश्चात् मन-ही-मन सीताजीका ध्यान करके वे रावणके महलसे कूद पड़े और अशोकवाटिकाकी चहारदीवारीपर चढ़ गये ॥ १ ॥

स तु संहृष्टसर्वाङ्गः प्राकारस्थो महाकपिः ।
पुष्पिताग्रान् वसन्तादौ ददर्श विविधान् द्रुमान्॥ २ ॥

उस चहारदीवारीपर बैठे हुए महाकपि हनुमान्‌जीके सारे अङ्गोंमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया । उन्होंने वसंतके आरम्भमें वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष देखे, जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे थे ॥ २ ॥

सालानशोकान् भव्यांश्च चम्पकांश्च सुपुष्पितान् ।
उद्दालकान् नागवृक्षांश्चूतान् कपिमुखानपि ॥ ३ ॥
तथाऽऽम्रवणसम्पन्नाँल्लताशतसमन्वितान् ।
ज्यामुक्त इव नाराचः पुप्लुवे वृक्षवाटिकाम् ॥ ४ ॥

वहाँ साल, अशोक, निम्ब और चम्पाके वृक्ष खूब खिले हुए थे । बहुवार, नागकेसर और बन्दरके मुँहकी भाँति लाल फल देनेवाले आम भी पुष्प एवं मञ्जरियोंसे सुशोभित हो रहे थे । अमराइयोंसे युक्त वे सभी वृक्ष शत-शत लताओंसे आवेष्टित थे । हनुमान्‌जी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए बाणके समान उछले और उन वृक्षोंकी वाटिकामें जा पहुँचे ॥ ३-४ ॥

स प्रविश्य विचित्रां तां विहगैरभिनादिताम् ।
राजतैः काञ्चनैश्चैव पादपैः सर्वतो वृताम् ॥ ५ ॥
विहगैर्मृगसङ्घैश्च विचित्रां चित्रकाननाम् ।
उदितादित्यसंकाशां ददर्श हनुमान् बली ॥ ६ ॥

वह विचित्र वाटिका सोने और चाँदीके समान वर्णवाले वृक्षोंद्वारा सब ओरसे घिरी हुई थी । उसमें नाना प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे, जिससे वह सारी वाटिका गूँज रही थी । उसके भीतर प्रवेश करके बलवान् हनुमान्‌जीने उसका निरीक्षण किया । भाँति-भाँतिके विहंगमों और मृगसमूहोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । वह विचित्र काननोंसे अलंकृत थी और नवोदित सूर्यके समान अरुण रंगकी दिखायी देती थी ॥ ५-६ ॥

वृतां नानाविधैर्वृक्षैः पुष्पोपगफलोपगैः ।
कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च मत्तैर्नित्यनिषेविताम् ॥ ७ ॥

फूलों और फलोंसे लदे हुए नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त हुई उस अशोकवाटिकाका मतवाले कोकिल और भ्रमर सेवन करते थे ॥ ७ ॥

प्रहृष्टमनुजां काले मृगपक्षिमदाकुलाम् ।
मत्तबर्हिणसंघुष्टां नानाद्विजगणायुताम् ॥ ८ ॥

वह वाटिका ऐसी थी, जहाँ जानेसे हर समय लोगोंके मनमें प्रसन्नता होती थी । मृग और पक्षी मदमत्त हो उठते थे । मतवाले मोरोंका कलनाद वहाँ निरन्तर गूँजता रहता था और नाना प्रकारके पक्षी वहाँ निवास करते थे ॥ ८ ॥

मार्गमाणो वरारोहां राजपुत्रीमनिन्दिताम् ।
सुखप्रसुप्तान् विहगान् बोधयामास वानरः ॥ ९ ॥

उस वाटिकामें सती-साध्वी सुन्दरी राजकुमारी सीताकी खोज करते हुए वानरवीर हनुमान्‌ने घोंसलोंमें सुखपूर्वक सोये हुए पक्षियोंका जगा दिया ॥ ९ ॥

उत्पतद्भिर्द्विजगणैः पक्षैर्वातैः समाहताः ।
अनेकवर्णा विविधा मुमुचुः पुष्पवृष्टयः ॥ १० ॥

उड़ते हुए विहगमोंके पंखोंकी हवा लगनेसे वहाँके वृक्ष अनेक प्रकारके रंग-बिरंगे फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ १० ॥

पुष्पावकीर्णः शुशुभे हनूमान् मारुतात्मजः।
अशोकवनिकामध्ये यथा पुष्पमयो गिरिः॥ ११॥

उस समय पवनकुमार हनुमान्‌जी उन फूलोंसे आच्छादित होकर ऐसी शोभा पाने लगे, मानो उस अशोकवनमें कोई फूलोंका बना हुआ पहाड़ शोभा पा रहा हो॥ ११॥

दिशः सर्वाभिधावन्तं वृक्षखण्डगतं कपिम्।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि वसन्त इति मेनिरे॥ १२॥

सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते और वृक्षसमूहोंमें घूमते हुए कपिवर हनुमान्‌जीको देखकर समस्त प्राणी एवं राक्षस ऐसा मानने लगे कि साक्षात् ऋतुराज वसन्त ही यहाँ वानरवेशमें विचर रहा है॥ १२॥

वृक्षेभ्यः पतितैः पुष्पैरवकीर्णा पृथग्विधैः।
रराज वसुधा तत्र प्रमदेव विभूषिता॥ १३॥

वृक्षोंसे झड़कर गिरे हुए भाँति-भाँतिके फूलोंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि फूलोंके शृङ्गारसे विभूषित हुई युवती स्त्रीके समान शोभा पाने लगी॥ १३॥

तरस्विना ते तरवस्तरसा बहु कम्पिताः।
कुसुमानि विचित्राणि ससृजुः कपिना तदा॥ १४॥

उस समय उन वेगशाली वानरवीरके द्वारा वेगपूर्वक बारंबार हिलाये हुए वे वृक्ष विचित्र पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ १४॥

निर्धूतपत्रशिखराः शीर्णपुष्पफलद्रुमाः।
निक्षिप्तवस्त्राभरणा धूर्ता इव पराजिताः॥ १५॥

इस प्रकार डालियोंके पत्ते झड़ जाने तथा फल-फूल और पल्लवोंके टूटकर बिखर जानेसे नंग-धड़ंग दिखायी देनेवाले वे वृक्ष उन हारे हुए जुआरियोंके समान जान पड़ते थे, जिन्होंने अपने गहने और कपड़े भी दाँवपर रख दिये हों॥ १५॥

हनूमता वेगवता कम्पितास्ते नगोत्तमाः।
पुष्पपत्रफलान्याशु मुमुचुः फलशालिनः॥ १६॥

वेगशाली हनुमान्‌जीके हिलाये हुए वे फलशाली श्रेष्ठ वृक्ष तुरंत ही अपने फल-फूल और पत्तोंका परित्याग कर देते थे॥ १६॥

विहङ्गसङ्घैर्हीनास्ते स्कन्धमात्राश्रया द्रुमाः।
बभूवुरगमाः सर्वे मारुतेन विनिर्धुताः॥ १७॥

पवनपुत्र हनुमान्‌द्वारा कम्पित किये गये वे वृक्ष फल-फूल आदिके न होनेसे केवल डालियोंके आश्रय बने हुए थे; पक्षियोंके समुदाय भी उन्हें छोड़कर चल दिये थे। उस अवस्थामें वे सब-के-सब प्राणिमात्रके लिये अगम्य (असेवनीय) हो गये थे॥ १७॥

विधूतकेशी युवतिर्यथा मृदितवर्णका।
निपीतशुभदन्तोष्ठी नखैर्दन्तैश्च विक्षता॥ १८॥
तथा लाङ्गलहस्तैस्तु चरणाभ्यां च मर्दिता।
तथैवाशोकवनिका प्रभग्नवरपादपा॥ १९॥

जिसके केश खुल गये हैं, अङ्गराग मिट गये हैं, सुन्दर दन्तावलीसे युक्त अधर-सुधाका पान कर लिया गया है तथा जिसके कतिपय अङ्ग नखक्षत एवं दन्तक्षतसे उपलक्षित हो रहे हैं, प्रियतमके उपभोगमें आयी हुई उस युवतीके समान ही उस अशोकवाटिकाकी भी दशा हो रही थी। हनुमान्‌जीके हाथ-पैर और पूँछसे रौंदी जा चुकी थी तथा उसके अच्छे-अच्छे वृक्ष टूटकर गिर गये थे; इसलिये वह श्रीहीन हो गयी थी॥ १८-१९॥

महालतानां दामानि व्यधमत् तरसा कपिः।
यथा प्रावृषि वेगेन मेघजालानि मारुतः॥ २०॥

जैसे वायु वर्षा-ऋतुमें अपने वेगसे मेघसमूहोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार कपिवर हनुमान्‌ने वहाँ फैली हुई विशाल लता-वल्लरियोंके वितान वेगपूर्वक तोड़ डाले॥ २०॥

स तत्र मणिभूमीश्च राजतीश्च मनोरमाः।
तथा काञ्चनभूमीश्च विचरन् ददृशे कपिः॥ २१॥

वहाँ विचरते हुए उन वानरवीरने पृथक्-पृथक् ऐसी मनोरम भूमियोंका दर्शन किया, जिनमें मणि, चाँदी एवं सोने जड़े गये थे॥ २१॥

वापीश्च विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा।
महार्हैर्मणिसोपानैरुपपन्नास्ततस्ततः॥ २२॥
मुक्ताप्रवालसिकताः स्फाटिकान्तरकुट्टिमाः।
काञ्चनैस्तरुभिश्चित्रैस्तीरजैरुपशोभिताः॥ २३॥

उस वाटिकामें उन्होंने जहाँ-तहाँ विभिन्न आकारोंकी बावड़ियाँ देखीं, जो उत्तम जलसे भरी हुई और मणिमय सोपानोंसे युक्त थीं। उनके भीतर मोती और मूँगोंकी बालुकाएँ थीं। जलके नीचेकी फर्श स्फटिक मणिकी बनी हुई थी और उन बावड़ियोंके तटोंपर तरह-तरहके विचित्र सुवर्णमय वृक्ष शोभा दे रहे थे॥ २२-२३॥

बुद्धपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपशोभिताः।
नत्यूहरुतसंघुष्टा हंससारसनादिताः॥ २४॥

उनमें खिले हुए कमलोंके वन और चकवाकोंके जोड़े शोभा बढ़ा रहे थे तथा पपीहा, हंस और सारसोंके कलनाद गूँज रहे थे॥ २४॥

दीर्घाभिर्द्रुमयुक्ताभिः सरिद्भिश्च समन्ततः।
अमृतोपमतोयाभिः शिवाभिरुपसंस्कृताः॥ २५॥

अनेकानेक विशाल, तटवर्ती वृक्षोंसे सुशोभित, अमृतके समान मधुर जलसे पूर्ण तथा सुखदायिनी सरिताएँ चारों ओरसे उन बावड़ियोंका सदा संस्कार करती थीं (उन्हें स्वच्छ जलसे परिपूर्ण बनाये रखती थीं)॥ २५॥

लताशतैरवतताः संतानकुसुमावृताः।
नानागुल्मावृतवनाः करवीरकृतान्तराः॥ २६॥

उनके तटोंपर सैकड़ों प्रकारकी लताएँ फैली हुई थीं। खिले हुए कल्पवृक्षोंने उन्हें चारों ओरसे घेर रखा था। उनके जल नाना प्रकारकी झाड़ियोंसे ढके हुए थे तथा बीच-बीचमें खिले हुए कनेरके वृक्ष गवाक्षकी-सी शोभा पाते थे॥ २६॥

ततोऽम्बुधरसंकाशं प्रवृद्धशिखरं गिरिम्।
विचित्रकूटं कूटैश्च सर्वतः परिवारितम्॥ २७॥
शिलागृहैरवततं नानावृक्षसमावृतम्।
ददर्श कपिशार्दूलो रम्यं जगति पर्वतम्॥ २८॥

फिर वहाँ कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने एक मेघके समान काला और ऊँचे शिखरोंवाला पर्वत देखा, जिसकी चोटियाँ बड़ी विचित्र थीं। उसके चारों ओर दूसरे-दूसरे भी बहुत-से पर्वत-शिखर शोभा पाते थे। उसमें बहुत-सी पत्थरकी गुफाएँ थीं और उस पर्वतपर अनेकानेक वृक्ष उगे हुए थे। वह पर्वत संसारभरमें बड़ा रमणीय था॥ २७-२८॥

ददर्श च नगात् तस्मान्नदीं निपतितां कपिः।
अङ्कादिव समुत्पत्य प्रियस्य पतितां प्रियाम्॥ २९॥

कपिवर हनुमान्‌ने उस पर्वतसे गिरी हुई एक नदी देखी, जो प्रियतमके अङ्कसे उछलकर गिरी हुई प्रियतमाके समान जान पड़ती थी॥ २९॥

जले निपतिताग्रैश्च पादपैरुपशोभिताम्।
वार्यमाणामिव क्रुद्धां प्रमदां प्रियबन्धुभिः॥ ३०॥

जिनकी डालियाँ नीचे झुककर पानीसे लग गयी थीं, ऐसे तटवर्ती वृक्षोंसे उस नदीकी वैसी ही शोभा हो रही थी, मानो प्रियतमसे रूठकर अन्यत्र जाती हुई युवतीको उसकी प्यारी सखियाँ उसे आगे बढ़नेसे रोक रही हों॥ ३०॥

पुनरावृत्ततोयां च ददर्श स महाकपिः।
प्रसन्नामिव कान्तस्य कान्तां पुनरुपस्थिताम्॥ ३१॥

फिर उन महाकपिने देखा कि वृक्षोंकी उन डालियोंसे टकराकर उस नदीके जलका प्रवाह पीछेकी ओर मुड़ गया है। मानो प्रसन्न हुई प्रेयसी पुनः प्रियतमकी सेवामें उपस्थित हो रही हो॥ ३१॥

तस्यादूरात् स पद्मिन्यो नानाद्विजगणायुताः।
ददर्श कपिशार्दूलो हनूमान् मारुतात्मजः॥ ३२॥

उस पर्वतसे थोड़ी ही दूरपर कपिश्रेष्ठ पवनपुत्र हनुमान्‌ने बहुत-से कमलमण्डित सरोवर देखे, जिनमें नाना प्रकारके पक्षी चहचहा रहे थे॥ ३२॥

कृत्रिमां दीर्घिकां चापि पूर्णां शीतेन वारिणा।
मणिप्रवरसोपानां मुक्तासिकतशोभिताम्॥ ३३॥

उनके सिवा उन्होंने एक कृत्रिम तालाब भी देखा, जो शीतल जलसे भरा हुआ था। उसमें श्रेष्ठ मणियोंकी सीढ़ियाँ बनी थीं और वह मोतियोंकी बालुकाराशिसे सुशोभित था॥ ३३॥

विविधैर्मृगसङ्घैश्च विचित्रां चित्रकाननाम्।
प्रासादैः सुमहद्भिश्च निर्मितैर्विश्वकर्मणा॥ ३४॥
काननैः कृत्रिमैश्चापि सर्वतः समलंकृताम्।

उस अशोकवाटिकामें विश्वकर्माके बनाये हुए बड़े-बड़े महल और कृत्रिम कानन सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। नाना प्रकारके मृगसमूहोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस वाटिकामें विचित्र वन-उपवन शोभा दे रहे थे॥ ३४½॥

ये केचित् पादपास्तत्र पुष्पोपगफलोपगाः॥ ३५॥
सच्छत्राः सवितर्दीकाः सर्वे सौवर्णवेदिकाः।

वहाँ जो कोई भी वृक्ष थे, वे सब फल-फूल देनेवाले थे, छत्रकी भाँति घनी छाया किये रहते थे। उन सबके नीचे चाँदीकी और उसके ऊपर सोनेकी वेदियाँ बनी हुई थीं॥ ३५½॥

लताप्रतानैर्बहुभिः पर्णैश्च बहुभिर्वृताम्॥ ३६॥
काञ्चनीं शिंशपामेकां ददर्श स महाकपिः।
वृतां हेममयीभिस्तु वेदिकाभिः समन्ततः॥ ३७॥

तदनन्तर महाकपि हनुमान्‌ने एक सुवर्णमयी शिंशपा (अशोक) का वृक्ष देखा, जो बहुत-से लतावितानों और अगणित पत्तोंसे व्याप्त था। वह वृक्ष भी सब ओरसे सुवर्णमयी वेदिकाओंसे घिरा था॥ ३६-३७॥

सोऽपश्यद् भूमिभागांश्च नगप्रस्रवणानि च।
सुवर्णवृक्षानपरान् ददर्श शिखिसंनिभान्॥ ३८॥

इसके सिवा उन्होंने और भी बहुत-से खुले मैदान, पहाड़ी झरने और अग्निके समान दीप्तिमान् सुवर्णमय वृक्ष देखे॥ ३८॥

तेषां द्रुमाणां प्रभया मेरोरिव महाकपिः।
अमन्यत तदा वीरः काञ्चनोऽस्मीति सर्वतः॥ ३९॥

उस समय वीर महाकपि हनुमान्‌जीने सुमेरुके समान उन वृक्षोंकी प्रभाके कारण अपनेको भी सब ओरसे सुवर्णमय ही समझा॥ ३९॥

तान् काञ्चनान् वृक्षगणान् मारुतेन प्रकम्पितान्।
किङ्किणीशतनिर्घोषान् दृष्ट्वा विस्मयमागमत्॥ ४०॥
सुपुष्पिताग्रान् रुचिरांस्तरुणाङ्कुरपल्लवान्।

वे सुवर्णमय वृक्षसमूह जब वायुके झोंके खाकर हिलने लगते, तब उनसे सैकड़ों घुँघुरुओंके बजनेकी-सी मधुर ध्वनि

होती थी। वह सब देखकर हनुमान्‌जीको बड़ा विस्मय हुआ। उन वृक्षोंकी डालियोंमें सुन्दर फूल खिले हुए थे और नये-नये अङ्कुर तथा पल्लव निकले हुए थे, जिससे वे बड़े सुन्दर दिखायी देते थे ॥ ४०½ ॥

तामारुह्य महावेगः शिंशपां पर्णसंवृताम् ॥ ४१ ॥
इतो द्रक्ष्यामि वैदेहीं रामदर्शनलालसाम् ।
इतश्चेतश्च दुःखार्तां सम्पतन्तीं यदृच्छया ॥ ४२ ॥

महान् वेगशाली हनुमान्‌जी पत्तोंसे हरी-भरी उस शिंशपापर यह सोचकर चढ़ गये कि 'मैं यहींसे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिये उत्सुक हुई उन विदेहनन्दिनी सीताको देखूँगा, जो दुःखसे आतुर हो इच्छानुसार इधर-उधर जाती-आती होंगी ॥ ४१-४२ ॥

अशोकवनिका चेयं दृढं रम्या दुरात्मनः ।
चन्दनैश्चम्पकैश्चापि बकुलैश्च विभूषिता ॥ ४३ ॥
इयं च नलिनी रम्या द्विजसङ्घनिषेविता ।
इमां सा राजमहिषी नूनमेष्यति जानकी ॥ ४४ ॥

दुरात्मा रावणकी यह अशोकवाटिका बड़ी ही रमणीय है। चन्दन, चम्पा और मौलसिरीके वृक्ष इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इधर यह पक्षियोंसे सेवित कमलमण्डित सरोवर भी बड़ा सुन्दर है। राजरानी जानकी इसके तटपर निश्चय ही आती होंगी ॥ ४३-४४ ॥

सा रामा राजमहिषी राघवस्य प्रिया सती ।
वनसंचारकुशला ध्रुवमेष्यति जानकी ॥ ४५ ॥

'रघुनाथजीकी प्रियतमा राजरानी रामा सती-साध्वी जानकी वनमें घूमने-फिरनेमें बहुत कुशल हैं। वे अवश्य इधर आयेंगी ॥ ४५ ॥

अथवा मृगशावाक्षी वनस्यास्य विचक्षणा ।
वनमेष्यति साद्येह रामचिन्तासुकर्शिता ॥ ४६ ॥

'अथवा इस वनकी विशेषताओंके ज्ञानमें निपुण मृग-शावकनयनी सीता आज यहाँ इस तालाबके तटवर्ती वनमें अवश्य पधारेंगी; क्योंकि वे रामचन्द्रजीके वियोगकी चिन्तासे अत्यन्त दुबली हो गयी होंगी (और इस सुन्दर स्थानमें आनेसे उनकी चिन्ता कुछ कम हो सकेगी) ॥ ४६ ॥

रामशोकाभिसंतप्ता सा देवी वामलोचना ।
वनवासरता नित्यमेष्यते वनचारिणी ॥ ४७ ॥

'सुन्दर नेत्रोंवाली देवी सीता भगवान् श्रीरामके विरह-शोकसे बहुत ही संतप्त होंगी। वनवासमें उनका सदा ही प्रेम रहा है, अतः वे वनमें विचरती हुई इधर अवश्य आयेंगी ॥ ४७ ॥

वनेचराणां सततं नूनं स्पृहयते पुरा ।
रामस्य दयिता चार्या जनकस्य सुता सती ॥ ४८ ॥

'श्रीरामकी प्यारी पत्नी सती-साध्वी जनकनन्दिनी सीता पहले निश्चय ही वनवासी जन्तुओंसे सदा प्रेम करती रही होंगी। (इसलिये उनके लिये वनमें भ्रमण करना स्वाभाविक है, अतः यहाँ उनके दर्शनकी सम्भावना है ही) ॥ ४८ ॥

संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी ॥ ४९ ॥

'यह प्रातःकालकी संध्या (उपासना) का समय है, इसमें मन लगानेवाली और सदा सोलह वर्षकी-सी अवस्थामें रहनेवाली अक्षययौवना जनककुमारी सुन्दरी सीता संध्याकालिक उपासनाके लिये इस पुण्यसलिला नदीके तटपर अवश्य पधारेंगी ॥ ४९ ॥

तस्याश्चाप्यनुरूपेयमशोकवनिका शुभा ।
शुभायाः पार्थिवेन्द्रस्य पत्नी रामस्य सम्मता ॥ ५० ॥

'जो राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजीकी समादरणीया पत्नी हैं, उन शुभलक्षणा सीताके लिये यह सुन्दर अशोकवाटिका भी सब प्रकारसे अनुकूल ही है ॥ ५० ॥

यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना ।
आगमिष्यति सावश्यमिमां शीतजलां नदीम् ॥ ५१ ॥

'यदि चन्द्रमुखी सीता देवी जीवित हैं तो वे इस शीतल जलवाली सरिताके तटपर अवश्य पदार्पण करेंगी' ॥ ५१ ॥

एवं तु मत्वा हनुमान् महात्मा
प्रतीक्षमाणो मनुजेन्द्रपत्नीम् ।
अवेक्षमाणश्च ददर्श सर्वं
सुपुष्पिते पर्णघने निलीनः ॥ ५२ ॥

ऐसा सोचते हुए महात्मा हनुमान्‌जी नरेन्द्रपत्नी सीताके शुभागमनकी प्रतीक्षामें तत्पर हो सुन्दर फूलोंसे सुशोभित तथा घने पत्तेवाले उस अशोकवृक्षपर छिपे रहकर उस सम्पूर्ण वनपर दृष्टिपात करते रहे ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

वनकी शोभा देखते हुए हनुमान्‌जीका एक चैत्यप्रासाद (मन्दिर) के पास सीताको दयनीय अवस्थामें देखना, पहचानना और प्रसन्न होना

स वीक्षमाणस्तत्रस्थो मार्गमाणश्च मैथिलीम्।
अवेक्षमाणश्च महीं सर्वां तामन्ववैक्षत॥ १॥

उस अशोकवृक्षपर बैठे-बैठे हनुमान्‌जी सम्पूर्ण वनको देखते और सीताको ढूँढ़ते हुए वहाँकी सारी भूमिपर दृष्टिपात करने लगे॥ १॥

संतानकलताभिश्च पादपैरुपशोभिताम्।
दिव्यगन्धरसोपेतां सर्वतः समलंकृताम्॥ २॥

वह भूमि कल्पवृक्षकी लताओं तथा वृक्षोंसे सुशोभित थी, दिव्य गन्ध तथा दिव्य रससे परिपूर्ण थी और सब ओरसे सजायी गयी थी॥ २॥

तां स नन्दनसंकाशां मृगपक्षिभिरावृताम्।
हर्म्यप्रासादसम्बाधां कोकिलाकुलनिःस्वनाम्॥ ३॥

मृगों और पक्षियोंसे व्याप्त होकर वह भूमि नन्दनवनके समान शोभा पा रही थी, अट्टालिकाओं तथा राजभवनोंसे युक्त थी तथा कोकिल-समूहोंकी काकलीसे कोलाहलपूर्ण जान पड़ती थी॥ ३॥

काञ्चनोत्पलपद्माभिर्वापीभिरुपशोभिताम्।
बह्वासनकुथोपेतां बहुभूमिगृहायुताम्॥ ४॥

सुवर्णमय उत्पल और कमलोंसे भरी हुई बावड़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। बहुत-से आसन और कालीन वहाँ बिछे हुए थे। अनेकानेक भूमिगृह वहाँ शोभा पा रहे थे॥ ४॥

सर्वर्तुकुसुमै रम्यैः फलवद्भिश्च पादपैः।
पुष्पितानामशोकानां श्रिया सूर्योदयप्रभाम्॥ ५॥

सभी ऋतुओंमें फूल देनेवाले और फलोंसे भरे हुए रमणीय वृक्ष उस भूमिको विभूषित कर रहे थे। खिले हुए अशोकोंकी शोभासे सूर्योदयकालकी छटा-सी छिटक रही थी॥ ५॥

प्रदीप्तामिव तत्रस्थो मारुतिः समुदैक्षत।
निष्पत्रशाखां विहगैः क्रियमाणामिवासकृत्॥ ६॥

पवनकुमार हनुमान्‌ने उस अशोकपर बैठे-बैठे ही उस दमकती हुई-सी वाटिकाको देखा। वहाँके पक्षी उस वाटिका-को बारंबार पत्रों और शाखाओंसे हीन कर रहे थे॥ ६॥

विनिष्पतद्भिः शतशश्चित्रैः पुष्पावतंसकैः।
समूलपुष्परचितैरशोकैः शोकनाशनैः॥ ७॥
पुष्पभारातिभारैश्च स्पृशद्भिरिव मेदिनीम्।
कर्णिकारैः कुसुमितैः किंशुकैश्च सुपुष्पितैः॥ ८॥
स देशः प्रभया तेषां प्रदीप्त इव सर्वतः।

वृक्षोंसे झड़ते हुए सैकड़ों विचित्र पुष्प-गुच्छोंसे नीचेसे ऊपरतक मानो फूलसे बने हुए शोकनाशक अशोकोंसे, फूलोंके भारी भारसे झुककर पृथ्वीका स्पर्श-सा करते हुए खिले हुए कनेरोंसे तथा सुन्दर फूलवाले पलाशोंसे उपलक्षित वह भूभाग उनकी प्रभाके कारण सब ओरसे उद्दीप्त-सा हो रहा था॥ ७–८½॥

पुंनागाः सप्तपर्णाश्च चम्पकोद्दालकास्तथा॥ ९॥
विवृद्धमूला बहवः शोभन्ते स्म सुपुष्पिताः।

पुंनाग (श्वेत कमल या नागकेसर), छितवन, चम्पा तथा बहुवार आदि बहुत-से सुन्दर पुष्पवाले वृक्ष, जिनकी जड़ें बहुत मोटी थीं, वहाँ शोभा पा रहे थे॥ ९½॥

शातकुम्भनिभाः केचित् केचिदग्निशिखप्रभाः॥ १०॥
नीलाञ्जननिभाः केचित् तत्राशोकाः सहस्रशः।

वहाँ सहस्रों अशोकके वृक्ष थे, जिनमेंसे कुछ तो सुवर्णके समान कान्तिमान् थे, कुछ आगकी ज्वालाके समान प्रकाशित हो रहे थे और कोई-कोई काले काजलकी-सी कान्तिवाले थे॥ १०½॥

नन्दनं विबुधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा॥ ११॥
अतिवृत्तमिवाचिन्त्यं दिव्यं रम्यश्रियायुतम्।

वह अशोकवन देवोद्यान नन्दनके समान आनन्ददायी, कुबेरके चैत्ररथ वनके समान विचित्र तथा उन दोनोंसे भी बढ़कर अचिन्त्य, दिव्य एवं रमणीय शोभासे सम्पन्न था॥ ११½॥

द्वितीयमिव चाकाशं पुष्पज्योतिर्गणायुतम्॥ १२॥
पुष्परत्नशतैश्चित्रं पञ्चमं सागरं यथा।

वह पुष्परूपी नक्षत्रोंसे युक्त दूसरे आकाशके समान सुशोभित होता था तथा पुष्पमय सैकड़ों रत्नोंसे विचित्र शोभा पानेवाले पाँचवें समुद्रके समान जान पड़ता था॥ १२½॥

सर्वर्तुपुष्पैर्निचितं पादपैर्मधुगन्धिभिः॥ १३॥
नानानिनादैरुद्यानं रम्यं मृगगणद्विजैः।
अनेकगन्धप्रवहं पुण्यगन्धं मनोहरम्॥ १४॥
शैलेन्द्रमिव गन्धाढ्यं द्वितीयं गन्धमादनम्।

सब ऋतुओंमें फूल देनेवाले मनोरम गन्धयुक्त वृक्षोंसे भरा हुआ तथा भाँति-भाँतिके कलरव करनेवाले मृगों और पक्षियोंसे सुशोभित वह उद्यान बड़ा रमणीय प्रतीत होता था। वह अनेक प्रकारकी सुगन्धका भार वहन करनेके कारण पवित्र गन्धसे युक्त और मनोहर जान पड़ता था। दूसरे

गिरिराज गन्धमादनके समान उत्तम सुगन्धसे व्याप्त था ॥ १३-१४½ ॥

अशोकवनिकायां तु तस्यां वानरपुङ्गवः ॥ १५ ॥
स ददर्शाविदूरस्थं चैत्यप्रासादमूर्जितम् ।
मध्ये स्तम्भसहस्रेण स्थितं कैलासपाण्डुरम् ॥ १६ ॥
प्रवालकृतसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि द्योतमानमिव श्रिया ॥ १७ ॥
निर्मलं प्रांशुभावत्वादुल्लिखन्तमिवाम्बरम् ।

उस अशोकवाटिकामें वानर-शिरोमणि हनुमान्‌ने थोड़ी ही दूरपर एक गोलाकार ऊँचा मन्दिर देखा, जिसके भीतर एक हजार खंभे लगे हुए थे। वह मन्दिर कैलास पर्वतके समान श्वेत वर्णका था। उसमें मूँगेकी सीढ़ियाँ बनी थीं तथा तपाये हुए सोनेकी वेदियाँ बनायी गयी थीं। वह निर्मल प्रासाद अपनी शोभासे देदीप्यमान-सा हो रहा था। दर्शकोंकी दृष्टिमें चकाचौंध-सा पैदा कर देता था और बहुत ऊँचा होनेके कारण आकाशमें रेखा खींचता-सा जान पड़ता था ॥ १५–१७½ ॥

ततो मलिनसंवीतां राक्षसीभिः समावृताम् ॥ १८ ॥
उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥ १९ ॥

वह चैत्यप्रासाद (मन्दिर) देखनेके अनन्तर उनकी दृष्टि वहाँ एक सुन्दरी स्त्रीपर पड़ी, जो मलिन वस्त्र धारण किये राक्षसियोंसे घिरी हुई बैठी थी। वह उपवास करनेके कारण अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखायी देती थी तथा बारंबार सिसक रही थी। शुक्लपक्षके आरम्भमें चन्द्रमाकी कला जैसी निर्मल और कृश दिखायी देती है, वैसी ही वह भी दृष्टिगोचर होती थी ॥ १८-१९ ॥

मन्दप्रख्यायमानेन रूपेण रुचिरप्रभाम् ।
पिनद्धां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥ २० ॥

धुँधली-सी स्मृतिके आधारपर कुछ-कुछ पहचाने जानेवाले अपने रूपसे वह सुन्दर प्रभा बिखेर रही थी और धूएँसे ढकी हुई अग्निकी ज्वालाके समान जान पड़ती थी ॥ २० ॥

पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा ।
सपङ्कामनलंकारां विपद्मामिव पद्मिनीम् ॥ २१ ॥

एक ही पीले रंगके पुराने रेशमी वस्त्रसे उसका शरीर ढका हुआ था। वह मलिन, अलंकारशून्य होनेके कारण कमलोंसे रहित पुष्करिणीके समान श्रीहीन दिखायी देती थी ॥ २१ ॥

पीडितां दुःखसंतप्तां परिक्षीणां तपस्विनीम् ।
ग्रहेणाङ्गारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम् ॥ २२ ॥

वह तपस्विनी मंगलग्रहसे आक्रान्त रोहिणीके समान शोकसे पीड़ित, दुःखसे संतप्त और सर्वथा क्षीणकाय हो रही थी ॥ २२ ॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च ।
शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम् ॥ २३ ॥

उपवाससे दुर्बल हुई उस दुखिया नारीके मुँहपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। वह शोक और चिन्तामें मग्न हो दीन दशामें पड़ी हुई थी एवं निरन्तर दुःखमें ही डूबी रहती थी ॥ २३ ॥

प्रियं जनमपश्यन्तीं पश्यन्तीं राक्षसीगणम् ।
स्वगणेन मृगीं हीनां श्वगणेनावृतामिव ॥ २४ ॥

वह अपने प्रियजनोंको तो देख नहीं पाती थी। उसकी दृष्टिके समक्ष सदा राक्षसियोंका समूह ही बैठा रहता था। जैसे कोई मृगी अपने यूथसे बिछुड़कर कुत्तोंके झुंडसे घिर गयी हो, वही दशा उसकी भी हो रही थी ॥ २४ ॥

नीलनागाभया वेण्या जघनं गतयैकया ।
नीलया नीरदापाये वनराज्या महीमिव ॥ २५ ॥

काली नागिनके समान कटिसे नीचेतक लटकी हुई एकमात्र काली वेणीके द्वारा उपलक्षित होनेवाली वह नारी बादलोंके हट जानेपर नीली वनश्रेणीसे घिरी हुई पृथ्वीके समान प्रतीत होती थी ॥ २५ ॥

सुखार्हां दुःखसंतप्तां व्यसनानामकोविदाम् ।
तां विलोक्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ॥ २६ ॥
तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादिभिः ।

वह सुख भोगनेके योग्य थी, किंतु दुःखसे संतप्त हो रही थी। इसके पहले उसे संकटोंका कोई अनुभव नहीं था। उस विशाल नेत्रोंवाली, अत्यन्त मलिन और क्षीणकाय अबलाका अवलोकन करके युक्तियुक्त कारणोंद्वारा हनुमान्‌जी-ने यह अनुमान किया कि होन-न-हो यही सीता है ॥२६½॥

ह्रियमाणा तदा तेन रक्षसा कामरूपिणा ॥ २७ ॥
यथारूपा हि दृष्टा सा तथारूपेयमङ्गना ।

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला वह राक्षस जब सीताजीको हरकर ले जा रहा था, उस दिन जिस रूपमें उनका दर्शन हुआ था, कल्याणी नारी भी वैसे ही रूपसे युक्त दिखायी देती है ॥ २७½ ॥

पूर्णचन्द्राननां सुभ्रूं चारुवृत्तपयोधराम् ॥ २८ ॥
कुर्वतीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ।

देवी सीताका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर था। उनकी भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। दोनों स्तन मनोहर और गोलाकार थे। वे अपनी अङ्गकान्तिसे सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर किये देती थीं ॥ २८½ ॥

तां नीलकण्ठीं बिम्बोष्ठीं सुमध्यां सुप्रतिष्ठिताम् ॥२९॥

उनके केश काले-काले और ओष्ठ बिम्बफलके समान लाल थे। कटिभाग बहुत ही सुन्दर था। सारे अङ्ग सुडौल और सुगठित थे ॥ २९ ॥

सीतां पद्मपलाशाक्षीं मन्मथस्य रतिं यथा।
इष्टां सर्वस्य जगतः पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥ ३० ॥
भूमौ सुतनुमासीनां नियतामिव तापसीम्।
निःश्वासबहुलां भीरुं भुजगेन्द्रवधूमिव ॥ ३१ ॥

कमलनयनी सीता कामदेवकी प्रेयसी रतिके समान सुन्दरी थीं, पूर्ण चन्द्रमाकी प्रभाके समान समस्त जगत्के लिये प्रिय थीं। उनका शरीर बहुत ही सुन्दर था। वे नियमपरायणा तापसीके समान भूमिपर बैठी थीं। यद्यपि वे स्वभावसे ही भीरु और चिन्ताके कारण बारंबार लंबी साँस खींचती थीं तो भी दूसरोंके लिये नागिनके समान भयंकर थीं ॥ ३०-३१ ॥

शोकजालेन महता विततेन न राजतीम्।
संसक्तां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥ ३२ ॥

वे विस्तृत महान् शोकजालसे आच्छादित होनेके कारण विशेष शोभा नहीं पा रही थीं। धूएँके समूहसे मिली हुई अग्निशिखाके समान दिखायी देती थीं ॥ ३२ ॥

तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव ॥ ३३ ॥
सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव।
अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव ॥ ३४ ॥

वे संदिग्ध अर्थवाली स्मृति, भूतलपर गिरी हुई ऋद्धि, टूटी हुई श्रद्धा, भग्न हुई आशा, विघ्नयुक्त सिद्धि, कलुषित बुद्धि और मिथ्या कलंकसे भ्रष्ट हुई कीर्तिके समान जान पड़ती थीं ॥ ३३-३४ ॥

रामोपरोधव्यथितां रक्षोगणनिपीडिताम्।
अबलां मृगशावाक्षीं वीक्षमाणां ततस्ततः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें रुकावट पड़ जानेसे उनके मनमें बड़ी व्यथा हो रही थी। राक्षसोंसे पीड़ित हुई मृगशावकनयनी अबला सीता असहायकी भाँति इधर-उधर देख रही थीं ॥ ३५ ॥

बाष्पाम्बुपरिपूर्णेन कृष्णवक्राक्षिपक्ष्मणा।
वदनेनाप्रसन्नेन निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

उनका मुख प्रसन्न नहीं था। उसपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और नेत्रोंकी पलकें काली एवं टेढ़ी दिखायी देती थीं। वे बारंबार लंबी साँस खींचती थीं ॥ ३६ ॥

मलपङ्कधरां दीनां मण्डनार्हाममण्डिताम्।
प्रभां नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृताम् ॥ ३७ ॥

उनके शरीरपर मैल जम गयी थी। वे दीनताकी मूर्ति बनी बैठी थीं तथा शृङ्गार और भूषण धारण करनेके योग्य होनेपर भी अलंकारशून्य थीं, अतः काले बादलोंसे ढकी हुई चन्द्रमाकी प्रभाके समान जान पड़ती थीं ॥ ३७ ॥

तस्य संदिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥ ३८ ॥

अभ्यास न करनेसे शिथिल (विस्मृत) हुई विद्याके समान क्षीण हुई सीताको देखकर हनुमान्जीकी बुद्धि संदेहमें पड़ गयी ॥ ३८ ॥

दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंकृताम्।
संस्कारेण तथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ॥ ३९ ॥

अलंकार तथा स्नान-अनुलेपन आदि अङ्गसंस्कारसे रहित हुई सीता व्याकरणादिजनित संस्कारसे शून्य होनेके कारण अर्थान्तरको प्राप्त हुई वाणीके समान पहचानी नहीं जा रही थीं। हनुमान्जीने बड़े कष्टसे उन्हें पहचाना ॥३९॥

तां समीक्ष्य विशालाक्षीं राजपुत्रीमनिन्दिताम्।
तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादयन् ॥ ४० ॥

उन विशाललोचना सती-साध्वी राजकुमारीको देखकर उन्होंने कारणों (युक्तियों) द्वारा उपपादन करते हुए मनमें निश्चय किया कि यही सीता हैं ॥ ४० ॥

वैदेह्या यानि चाङ्गेषु तदा रामोऽन्वकीर्तयत्।
तान्याभरणजालानि गात्रशोभीन्यलक्षयत् ॥ ४१ ॥

उन दिनों श्रीरामचन्द्रजीने विदेहकुमारीके अङ्गोंमें जिन-जिन आभूषणोंके होनेकी चर्चा की थी, वे ही आभूषण-समूह इस समय उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे। हनुमान्जीने इस बातकी ओर लक्ष्य किया ॥ ४१ ॥

सुकृतौ कर्णवेष्टौ च श्वदंष्ट्रौ च सुसंस्थितौ।
मणिविद्रुमचित्राणि हस्तेष्वाभरणानि च ॥ ४२ ॥

सुन्दर बने हुए कुण्डल और कुत्तेके दाँतोंकी-सी आकृतिवाले त्रिकर्ण नामधारी कर्णफूल कानोंमें सुन्दर ढंगसे सुप्रतिष्ठित एवं सुशोभित थे। हाथोंमें कंगन आदि आभूषण थे, जिनमें मणि और मूँगे जड़े हुए थे ॥ ४२ ॥

श्यामानि चिरयुक्तत्वात् तथा संस्थानवन्ति च।
तान्येवैतानि मन्येऽहं यानि रामोऽन्वकीर्तयत् ॥ ४३ ॥
तत्र यान्यवहीनानि तान्यहं नोपलक्षये।
यान्यस्या नावहीनानि तानीमानि न संशयः ॥ ४४ ॥

यद्यपि बहुत दिनोंसे पहने गये होनेके कारण वे कुछ काले पड़ गये थे; तथापि उनके आकार-प्रकार वैसे ही थे। (हनुमान्जीने सोचा—) 'श्रीरामचन्द्रजीने जिनकी चर्चा की थी, मेरी समझमें ये वे ही आभूषण हैं। सीताजीने जो आभूषण वहाँ गिरा दिये थे, उनको मैं इनके अङ्गोंमें नहीं देख रहा हूँ। इनके जो आभूषण मार्गमें गिराये नहीं गये थे, वे ही ये दिखायी देते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ४३-४४ ॥

पीतं कनकपट्टाभं स्रस्तं तद्वसनं शुभम्।
उत्तरीयं नगासक्तं तदा दृष्टं प्लवङ्गमैः ॥ ४५ ॥
भूषणानि च मुख्यानि दृष्टानि धरणीतले।
अनयैवापविद्धानि स्वनवन्ति महान्ति च ॥ ४६ ॥

'उस समय वानरोंने पर्वतपर गिराये हुए सुवर्णपत्रके समान जो सुन्दर पीला वस्त्र और पृथ्वीपर पड़े हुए उत्तमोत्तम बहुमूल्य एवं बजनेवाले आभूषण देखे थे, वे इन्हींके गिराये हुए थे ॥ ४५-४६ ॥

इदं चिरगृहीतत्वाद् वसनं क्लिष्टवत्तरम्।
तथाप्यनूनं तद्वर्णं तथा श्रीमद्यथेतरत् ॥ ४७ ॥

'यह वस्त्र बहुत दिनोंसे पहने जानेके कारण यद्यपि बहुत पुराना हो गया है तथापि इसका पीला रंग अभीतक उतरा नहीं है। यह भी वैसा ही कान्तिमान् है, जैसा वह दूसरा वस्त्र था ॥ ४७ ॥

इयं कनकवर्णाङ्गी रामस्य महिषी प्रिया।
प्रणष्टापि सती यस्य मनसो न प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

'ये सुवर्णके समान गौर अङ्गवाली श्रीरामचन्द्रजीकी प्यारी महारानी हैं, जो अदृश्य हो जानेपर भी उनके मनसे विलग नहीं हुई हैं ॥ ४८ ॥

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिरिह तप्यते।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च ॥ ४९ ॥

'ये वे ही सीता हैं, जिनके लिये श्रीरामचन्द्रजी इस जगत्‌में करुणा, दया, शोक और प्रेम—इन चार कारणोंसे संतप्त होते रहते हैं ॥ ४९ ॥

स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥ ५० ॥

'एक स्त्री खो गयी, यह सोचकर उनके हृदयमें करुणा भर आती है। वह हमारे आश्रित थी, यह सोचकर वे दयासे द्रवित हो उठते हैं। मेरी पत्नी ही मुझसे बिछुड़ गयी, इसका विचार करके वे शोकसे व्याकुल हो उठते हैं तथा मेरी प्रियतमा मेरे पास नहीं रही, ऐसी भावना करके उनके हृदयमें प्रेमकी वेदना होने लगती है ॥ ५० ॥

अस्या देव्या यथारूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम्।
रामस्य च यथारूपं तस्येयमसितेक्षणा ॥ ५१ ॥

जैसा अलौकिक रूप श्रीरामचन्द्रजीका है तथा जैसा मनोहर रूप एवं अङ्ग-प्रत्यङ्गकी सुघड़ता इन देवी सीतामें है; इसे देखते हुए कजरारे नेत्रोंवाली सीता उन्हींके योग्य पत्नी हैं ॥ ५१ ॥

अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ॥ ५२ ॥

'इन देवीका मन श्रीरघुनाथजीमें और श्रीरघुनाथजीका मन इनमें लगा हुआ है, इसीलिये ये तथा धर्मात्मा श्रीराम जीवित हैं। इनके मुहूर्तमात्र जीवनमें भी यही कारण है ॥ ५२ ॥

दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति ॥ ५३ ॥

'इनके बिछुड़ जानेपर भी भगवान् श्रीराम जो अपने शरीरको धारण करते हैं, शोकसे शिथिल नहीं हो जाते हैं, यह उन्होंने अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है' ॥ ५३ ॥

एवं सीतां तथा दृष्ट्वा हृष्टः पवनसम्भवः।
जगाम मनसा रामं प्रशशंस च तं प्रभुम् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार उस अवस्थामें सीताका दर्शन पाकर पवन-पुत्र हनुमान्‌जी बहुत प्रसन्न हुए। वे मन-ही-मन भगवान् श्रीरामके पास जा पहुँचे—उनका चिन्तन करने लगे तथा सीता-जैसी साध्वीको पत्नीरूपमें पानेसे उनके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

हनुमान्‌जीका मन-ही-मन सीताजीके शील और सौन्दर्यकी सराहना करते हुए उन्हें कष्टमें पड़ी देख स्वयं भी उनके लिये शोक करना

प्रशस्य तु प्रशस्तव्यां सीतां तां हरिपुङ्गवः।
गुणाभिरामं रामं च पुनश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ १ ॥

परम प्रशंसनीया सीता और गुणाभिराम श्रीरामकी प्रशंसा करके वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी फिर विचार करने लगे ॥ १ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
सीतामाश्रित्य तेजस्वी हनूमान् विललाप ह ॥ २ ॥

लगभग दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करनेपर उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे तेजस्वी हनुमान् सीताके विषयमें इस प्रकार विलाप करने लगे—॥ २ ॥

मान्या गुरुविनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया।
यदि सीता हि दुःखार्ता कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३ ॥

'अहो! जिन्होंने गुरुजनोंसे शिक्षा पायी है, उन लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामकी प्रियतमा पत्नी सीता भी यदि इस प्रकार दुःखसे आतुर हो रही हैं तो यह कहना पड़ता है कि कालका उल्लङ्घन करना सभीके लिये अत्यन्त कठिन है ॥

रामस्य व्यवसायज्ञा लक्ष्मणस्य च धीमतः।
नात्यर्थं क्षुभ्यते देवी गङ्गेव जलदागमे ॥ ४ ॥

'जैसे वर्षा-ऋतु आनेपर भी देवी गङ्गा अधिक क्षुब्ध नहीं होती हैं, उसी प्रकार श्रीराम तथा बुद्धिमान् लक्ष्मणके अमोघ पराक्रमका निश्चित ज्ञान रखनेवाली देवी सीता भी शोकसे अधिक विचलित नहीं हो रही हैं ॥ ४ ॥

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ ५ ॥

'सीताके शील, स्वभाव, अवस्था और बर्ताव श्रीरामके ही समान हैं। उनका कुल भी उन्हींके तुल्य महान् है, अतः श्रीरघुनाथजी विदेहकुमारी सीताके सर्वथा योग्य हैं तथा ये कजरारे नेत्रोंवाली सीता भी उन्हींके योग्य हैं ॥ ५ ॥

तां दृष्ट्वा नवहेमाभां लोककान्तामिव श्रियम्।
जगाम मनसा रामं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

नूतन सुवर्णके समान दीप्तिमती और लोककमनीया लक्ष्मीजीके समान शोभामयी श्रीसीताको देखकर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण किया और मन-ही-मन इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो वाली महाबलः।
रावणप्रतिमो वीर्ये कबन्धश्च निपातितः ॥ ७ ॥

'इन्हीं विशाललोचना सीताके लिये भगवान् श्रीरामने महाबली वालीका वध किया और रावणके समान पराक्रमी कबन्धको भी मार गिराया ॥ ७ ॥

विराधश्च हतः संख्ये राक्षसो भीमविक्रमः।
वने रामेण विक्रम्य महेन्द्रेणेव शम्बरः ॥ ८ ॥

'इन्हींके लिये श्रीरामने वनमें पराक्रम करके भयानक पराक्रमी राक्षस विराधको भी उसी प्रकार युद्धमें मार डाला, जैसे देवराज इन्द्रने शम्बरासुरका वध किया था ॥ ८ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
निहतानि जनस्थाने शरैरग्निशिखोपमैः ॥ ९ ॥
खरश्च निहतः संख्ये त्रिशिराश्च निपातितः।
दूषणश्च महातेजा रामेण विदितात्मना ॥ १० ॥

'इन्हींके कारण आत्मज्ञानी श्रीरामचन्द्रजीने जनस्थानमें अपने अग्निशिखाके सदृश तेजस्वी बाणोंद्वारा भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंको कालके गालमें भेज दिया और युद्धमें खर, त्रिशिरा तथा महातेजस्वी दूषणको भी मार गिराया ॥ ९-१० ॥

ऐश्वर्यं वानराणां च दुर्लभं वालिपालितम्।
अस्या निमित्ते सुग्रीवः प्राप्तवाँल्लोकविश्रुतः ॥ ११ ॥

'वानरोंका वह दुर्लभ ऐश्वर्य, जो वालीके द्वारा सुरक्षित था, इन्हींके कारण विश्वविख्यात सुग्रीवको प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

सागरश्च मयाऽऽक्रान्तः श्रीमान् नदनदीपतिः।
अस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः पुरी चेयं निरीक्षिता ॥ १२ ॥

'इन्हीं विशाललोचना सीताके लिये मैंने नदों और नदियोंके स्वामी श्रीमान् समुद्रका उल्लङ्घन किया और इस लङ्कापुरीको छान डाला है ॥ १२ ॥

यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत्।
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः ॥ १३ ॥

'इनके लिये तो यदि भगवान् श्रीराम समुद्रपर्यन्त पृथ्वी तथा सारे संसारको भी उलट देते तो भी वह मेरे विचारसे उचित ही होता ॥ १३ ॥

राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा।
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात् कलाम् ॥ १४॥

'एक ओर तीनों लोकोंका राज्य और दूसरी ओर जनककुमारी सीताको रखकर तुलना की जाय तो त्रिलोकीका सारा राज्य सीताकी एक कलाके बराबर भी नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

इयं सा धर्मशीलस्य जनकस्य महात्मनः।
सुता मैथिलराजस्य सीता भर्तृदृढव्रता ॥ १५ ॥

'ये धर्मशील मिथिलानरेश महात्मा राजा जनककी पुत्री सीता पतिव्रत-धर्ममें बहुत दृढ़ हैं ॥ १५ ॥

उत्थिता मेदिनीं भित्त्वा क्षेत्रे हलमुखक्षते।
पद्मरेणुनिभैः कीर्णा शुभैः केदारपांसुभिः ॥ १६ ॥

'जब हलके मुख (फाल) से खेत जोता जा रहा था, उस समय ये पृथ्वीको फाड़कर कमलके परागकी भाँति क्यारीकी सुन्दर धूलोंसे लिपटी हुई प्रकट हुई थीं ॥ १६ ॥

विक्रान्तस्यार्यशीलस्य संयुगेष्वनिवर्तिनः।
स्नुषा दशरथस्यैषा ज्येष्ठा राज्ञो यशस्विनी ॥ १७ ॥

'जो परम पराक्रमी, श्रेष्ठ शील-स्वभाववाले और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले थे, उन्हीं महाराज दशरथके ये यशस्विनी ज्येष्ठ पुत्रवधू हैं ॥ १७ ॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य रामस्य विदितात्मनः।
इयं सा दयिता भार्या राक्षसीवशमागता ॥ १८ ॥

'धर्मज्ञ, कृतज्ञ एवं आत्मज्ञानी भगवान् श्रीरामकी ये प्यारी पत्नी सीता इस समय राक्षसियोंके वशमें पड़ गयी हैं ॥ १८ ॥

सर्वान् भोगान् परित्यज्य भर्तृस्नेहबलात् कृता ।
अचिन्तयित्वा कष्टानि प्रविष्टा निर्जनं वनम् ॥ १९ ॥

'ये केवल पतिप्रेमके कारण सारे भोगोंको लात मारकर विपत्तियोंका कुछ भी विचार न करके श्रीरघुनाथजीके साथ निर्जन वनमें चली आयी थीं ॥ १९ ॥

संतुष्टा फलमूलेन भर्तृशुश्रूषणापरा ।
या परां भजते प्रीतिं वनेऽपि भवने यथा ॥ २० ॥

'यहाँ आकर फल-मूलोंसे ही संतुष्ट रहती हुई पतिदेवकी सेवामें लगी रहीं और वनमें भी उसी प्रकार परम प्रसन्न रहती थीं, जैसे राजमहलोंमें रहा करती थीं ॥ २० ॥

सेयं कनकवर्णाङ्गी नित्यं सुस्मितभाषिणी ।
सहते यातनामेतामनर्थानामभागिनी ॥ २१ ॥

'वे ही ये सुवर्णके समान सुन्दर अङ्गवाली और सदा मुस्कराकर बात करनेवाली सुन्दरी सीता, जो अनर्थ भोगनेके योग्य नहीं थीं, इस यातनाको सहन करती हैं ॥ २१ ॥

इमां तु शीलसम्पन्नां द्रष्टुमिच्छति राघवः ।
रावणेन प्रमथितां प्रपामिव पिपासितः ॥ २२ ॥

'यद्यपि रावणने इन्हें बहुत कष्ट दिये हैं तो भी ये अपने शील, सदाचार एवं सतीत्वसे सम्पन्न हैं। (उसके वशीभूत नहीं हो सकी हैं।) अतएव जैसे प्यासा मनुष्य पौंसलेपर जाना चाहता है, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी इन्हें देखना चाहते हैं ॥ २२ ॥

अस्या नूनं पुनर्लाभाद् राघवः प्रीतिमेष्यति ।
राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनः प्राप्येव मेदिनीम् ॥ २३ ॥

'जैसे राज्यसे भ्रष्ट हुआ राजा पुनः पृथ्वीका राज्य पाकर बहुत प्रसन्न होता है, उसी प्रकार उनकी पुनः प्राप्ति होनेसे श्रीरघुनाथजीको निश्चय ही बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ २३ ॥

कामभोगैः परित्यक्ता हीना बन्धुजनेन च ।
धारयत्यात्मनो देहं तत्समागमकाङ्क्षिणी ॥ २४ ॥

'ये अपने बन्धुजनोंसे बिछुड़कर विषयभोगोंको तिलाञ्जलि दे केवल भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समागमकी आशासे ही अपना शरीर धारण किये हुए हैं ॥ २४ ॥

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान् ।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति ॥ २५ ॥

'ये न तो राक्षसियोंकी ओर देखती हैं और न इन फल-फूल-वाले वृक्षोंपर ही दृष्टि डालती हैं, सर्वथा एकाग्रचित्त हो मनकी आँखोंसे केवल श्रीरामका ही निरन्तर दर्शन (ध्यान) करती हैं—इसमें संदेह नहीं है ॥ २५ ॥

भर्ता नाम परं नार्याः शोभनं भूषणादपि ।
एषा हि रहिता तेन शोभनार्हा न शोभते ॥ २६ ॥

'निश्चय ही पति नारीके लिये आभूषणकी अपेक्षा भी अधिक शोभाका हेतु है। ये सीता उन्हीं पतिदेवसे बिछुड़ गयी हैं, इसलिये शोभाके योग्य होनेपर भी शोभा नहीं पा रही हैं ॥ २६ ॥

दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया प्रभुः ।
धारयत्यात्मनो देहं न दुःखेनावसीदति ॥ २७ ॥

'भगवान् श्रीराम इनसे बिछुड़ जानेपर भी जो अपने शरीरको धारण कर रहे हैं, दुःखसे अत्यन्त शिथिल नहीं हो जाते हैं, यह उनका अत्यन्त दुष्कर कर्म है ॥ २७ ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रनिभेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां ज्ञात्वा ममापि व्यथितं मनः ॥ २८ ॥

'काले केश और कमल-जैसे नेत्रवाली ये सीता वास्तवमें सुख भोगनेके योग्य हैं। इन्हें दुखी जानकर मेरा मन भी व्यथित हो उठता है ॥ २८ ॥

क्षितिक्षमा पुष्करसंनिभेक्षणा
या रक्षिता राघवलक्ष्मणाभ्याम् ।
सा राक्षसीभिर्विकृतेक्षणाभिः
संरक्ष्यते सम्प्रति वृक्षमूले ॥ २९ ॥

'अहो ! जो पृथ्वीके समान क्षमाशील और प्रफुल्ल कमलके समान नेत्रोंवाली हैं तथा श्रीराम और लक्ष्मणने जिनकी सदा रक्षा की है, वे ही सीता आज इस वृक्षके नीचे बैठी हैं और ये विकराल नेत्रोंवाली राक्षसियाँ इनकी रखवाली करती हैं ॥ २९ ॥

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा
व्यसनपरम्परया निपीड्यमाना ।
सहचररहितेव चक्रवाकी
जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना ॥ ३० ॥

'हिमकी मारी हुई कमलिनीके समान इनकी शोभा नष्ट हो गयी है, दुःख-पर-दुःख उठानेके कारण अत्यन्त पीड़ित हो रही हैं तथा अपने सहचरसे बिछुड़ी हुई चकवीके समान पति-वियोगका कष्ट सहन करती हुई ये जनककिशोरी सीता बड़ी दयनीय दशाको पहुँच गयी हैं ॥ ३० ॥

अस्या हि पुष्पावनताग्रशाखाः
शोकं दृढं वै जनयन्त्यशोकाः ।
हिमव्यपायेन च शीतरश्मि-
रभ्युत्थितो नैकसहस्ररश्मिः ॥ ३१ ॥

'फूलोंके भारसे जिनकी डालियोंके अग्रभाग झुक गये हैं, वे अशोकवृक्ष इस समय सीतादेवीके लिये अत्यन्त शोक उत्पन्न कर रहे हैं तथा शिशिरका अन्त हो जानेसे

वसन्तकी रातमें उदित हुए शीतल किरणोंवाले चन्द्रदेव भी इनके लिये अनेक सहस्र किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्यकी भाँति संताप दे रहे हैं' ॥ ३१ ॥

इत्येवमर्थं कपिरन्ववेक्ष्य
सीतेयमित्येव तु जातबुद्धिः ।
संश्रित्य तस्मिन् निषसाद वृक्षे
बली हरीणामृषभस्तरस्वी ॥ ३२ ॥

इस प्रकार विचार करते हुए बलवान् वानरश्रेष्ठ वेगशाली हनुमान्जी यह निश्चय करके कि 'ये ही सीता हैं' उसी वृक्षपर बैठे रहे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

भयंकर राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताके दर्शनसे हनुमान्जीका प्रसन्न होना

ततः कुमुदखण्डाभो निर्मलं निर्मलोदयः ।
प्रजगाम नभश्चन्द्रो हंसो नीलमिवोदकम् ॥ १ ॥

तदनन्तर वह दिन बीतनेके पश्चात् कुमुदसमूहके समान श्वेत वर्णवाले तथा निर्मलरूपसे उदित हुए चन्द्रदेव स्वच्छ आकाशमें कुछ ऊपरको चढ़ आये । उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो कोई हंस किसी नील जलराशिमें तैर रहा हो ॥

साचिव्यमिव कुर्वन् स प्रभया निर्मलप्रभः ।
चन्द्रमा रश्मिभिः शीतैः सिषेवे पवनात्मजम् ॥ २ ॥

निर्मल कान्तिवाले चन्द्रमा अपनी प्रभासे सीताजीके दर्शन आदिमें पवनकुमार हनुमान्जीकी सहायता-सी करते हुए अपनी शीतल किरणोंद्वारा उनकी सेवा करने लगे ॥२॥

स ददर्श ततः सीतां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
शोकभारैरिव न्यस्तां भारैर्नावमिवाम्भसि ॥ ३ ॥

उस समय उन्होंने पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली सीताको देखा, जो जलमें अधिक बोझके कारण दबी हुई नौकाकी भाँति शोकके भारी भारसे मानो झुक गयी थीं ॥

दिदृक्षमाणो वैदेहीं हनूमान् मारुतात्मजः ।
स ददर्शाविदूरस्था राक्षसीर्घोरदर्शनाः ॥ ४ ॥

वायुपुत्र हनुमान्जीने जब विदेहकुमारी सीताको देखनेके लिये अपनी दृष्टि दौड़ायी, तब उन्हें उनके पास ही बैठी हुई भयानक दृष्टिवाली बहुत-सी राक्षसियाँ दिखायी दीं ॥

एकाक्षीमेककर्णां च कर्णप्रावरणां तथा ।
अकर्णां शङ्कुकर्णां च मस्तकोच्छ्वासनासिकाम् ॥ ५ ॥

उनमेंसे किसीके एक आँख थी तो दूसरीके एक कान । किसी-किसीके कान इतने बड़े थे कि वह उन्हें चादरकी भाँति ओढ़े हुए थी । किसीके कान ही नहीं थे और किसीके कान ऐसे दिखायी देते थे मानो खूँटे गड़े हुए हों । किसी-किसीकी साँस लेनेवाली नाक उसके मस्तकपर थी ॥ ५ ॥

अतिकायोत्तमाङ्गीं च तनुदीर्घशिरोधराम् ।
ध्वस्तकेशीं तथाकेशीं केशकम्बलधारिणीम् ॥ ६ ॥

किसीका शरीर बहुत बड़ा था और किसीका बहुत उत्तम । किसीकी गर्दन पतली और बड़ी थी । किसीके केश उड़ गये थे और किसी-किसीके माथेपर केश उगे ही नहीं थे । कोई-कोई राक्षसी अपने शरीरके केशोंका ही कम्बल धारण किये हुए थी ॥ ६ ॥

लम्बकर्णललाटां च लम्बोदरपयोधराम् ।
लम्बोष्ठीं चिबुकोष्ठीं च लम्बास्यां लम्बजानुकाम् ॥ ७ ॥

किसीके कान और ललाट बड़े-बड़े थे तो किसीके पेट और स्तन लंबे थे । किसीके ओठ बड़े होनेके कारण लटक रहे थे तो किसीके ठोड़ीमें ही सटे हुए थे । किसीका मुँह बड़ा था और किसीके घुटने ॥ ७ ॥

ह्रस्वां दीर्घां च कुब्जां च विकटां वामनां तथा ।
करालां भुग्नवक्त्रां च पिङ्गाक्षीं विकृताननाम् ॥ ८ ॥

कोई नाटी, कोई लंबी, कोई कुबड़ी, कोई टेढ़ी-मेढ़ी, कोई बवनी, कोई विकराल, कोई टेढ़े मुँहवाली, कोई पीली आँखवाली और कोई विकट मुँहवाली थी ॥ ८ ॥

विकृताः पिङ्गलाः कालीः क्रोधनाः कलहप्रियाः ।
कालायसमहाशूलकूटमुद्गरधारिणीः ॥ ९ ॥

कितनी ही राक्षसियाँ बिगड़े शरीरवाली, काली, पीली, क्रोध करनेवाली और कलह पसंद करनेवाली थीं । उन सबने काले लोहेके बने हुए बड़े-बड़े शूल, कूट और मुद्गर धारण कर रखे थे ॥ ९ ॥

वराहमृगशार्दूलमहिषाजशिवामुखाः ।
गजोष्ट्रहयपादाश्च निखातशिरसोऽपराः ॥ १० ॥

कितनी ही राक्षसियोंके मुख सूअर, मृग, सिंह, भैंस, बकरी और सियारिनोंके समान थे । किन्हींके पैर हाथियोंके समान, किन्हींके ऊँटोंके समान और किन्हींके घोड़ोंके समान थे । किन्हीं-किन्हींके सिर कबन्धकी भाँति छातीमें स्थित थे; अतः गड्ढेके समान दिखायी देते थे (अथवा किन्हीं-किन्हींके सिरमें गड्ढे थे) ॥ १० ॥

एकहस्तैकपादाश्च खरकर्ण्यश्वकर्णिकाः ।
गोकर्णीर्हस्तिकर्णीश्च हरिकर्णीस्तथापराः ॥ ११ ॥

किन्हींके एक हाथ थे तो किन्हींके एक पैर। किन्हींके कान गदहोंके समान थे तो किन्हींके घोड़ोंके समान। किन्हीं-किन्हींके कान गौओं, हाथियों और सिंहोंके समान दृष्टिगोचर होते थे ॥ ११ ॥

अतिनासाश्च काश्चिच्च तिर्यङ्नासा अनासिकाः ।
गजसंनिभनासाश्च ललाटोच्छ्वासनासिकाः ॥ १२ ॥

किन्हींकी नासिकाएँ बहुत बड़ी थीं और किन्हींकी तिरछी। किन्हीं-किन्हींके नाक ही नहीं थी। कोई-कोई हाथीकी सूँड़के समान नाकवाली थीं और किन्हीं-किन्हींकी नासिकाएँ ललाटमें ही थीं, जिनसे वे साँस लिया करती थीं ॥

हस्तिपादा महापादा गोपादाः पादचूलिकाः ।
अतिमात्रशिरोग्रीवा अतिमात्रकुचोदरीः ॥ १३ ॥

किन्हींके पैर हाथियोंके समान थे और किन्हींके गौओंके समान। कोई बड़े-बड़े पैर धारण करती थीं और कितनी ही ऐसी थीं जिनके पैरोंमें चोटीके समान केश उगे हुए थे। बहुत-सी राक्षसियाँ बेहद लंबे सिर और गर्दनवाली थीं और कितनोंके पेट तथा स्तन बहुत बड़े-बड़े थे ॥ १३ ॥

अतिमात्रास्यनेत्राश्च दीर्घजिह्वाननास्तथा ।
अजामुखीर्हस्तिमुखीर्गोमुखीः सूकरीमुखीः ॥ १४ ॥
हयोष्ट्रखरवक्त्राश्च राक्षसीर्घोरदर्शनाः ।

किन्हींके मुँह और नेत्र सीमासे अधिक बड़े थे, किन्हीं-किन्हींके मुखोंमें बड़ी-बड़ी जिह्वाएँ थीं और कितनी ही ऐसी राक्षसियाँ थीं, जो बकरी, हाथी, गाय, सूअर, घोड़े, ऊँट और गदहोंके समान मुँह धारण करती थीं। इसीलिये वे देखनेमें बड़ी भयंकर थीं ॥ १४½ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च क्रोधनाः कलहप्रियाः ॥ १५ ॥
कराला धूम्रकेशिन्यो राक्षसीर्विकृताननाः ।
पिबन्ति सततं पानं सुरामांससदाप्रियाः ॥ १६ ॥

किन्हींके हाथमें शूल थे तो किन्हींके मुद्गर। कोई क्रोधी स्वभावकी थीं तो कोई कलहसे प्रेम रखती थीं। धुएँ-जैसे केश और विकृत मुखवाली कितनी ही विकराल राक्षसियाँ सदा मद्यपान किया करती थीं। मदिरा और मांस उन्हें सदा प्रिय थे ॥ १५-१६ ॥

मांसशोणितदिग्धाङ्गीर्मांसशोणितभोजनाः ।
ता ददर्श कपिश्रेष्ठो रोमहर्षणदर्शनाः ॥ १७ ॥

कितनी ही अपने अङ्गोंमें रक्त और मांसका लेप लगाये रहती थीं। रक्त और मांस ही उनके भोजन थे। उन्हें देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते थे। कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने उन सबको देखा ॥ १७ ॥

स्कन्धवन्तमुपासीनाः परिवार्य वनस्पतिम् ।
तस्याधस्ताच्च तां देवीं राजपुत्रीमनिन्दिताम् ॥ १८ ॥
लक्षयामास लक्ष्मीवान् हनूमाञ्जनकात्मजाम् ।
निष्प्रभां शोकसंतप्तां मलसंकुलमूर्धजाम् ॥ १९ ॥

वे उत्तम शाखावाले उस अशोकवृक्षको चारों ओरसे घेरकर उससे थोड़ी दूरपर बैठी थीं और सती साध्वी राजकुमारी सीता देवी उसी वृक्षके नीचे उसकी जड़से सटी हुई बैठी थीं। उस समय शोभाशाली हनुमान्‌जीने जनककिशोरी जानकीजीकी ओर विशेषरूपसे लक्ष्य किया। उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। वे शोकसे संतप्त थीं और उनके केशोंमें मैल जम गयी थी ॥ १८-१९ ॥

क्षीणपुण्यां च्युतां भूमौ तारां निपतितामिव ।
चारित्रव्यपदेशाढ्यां भर्तृदर्शनदुर्गताम् ॥ २० ॥

जैसे पुण्य क्षीण हो जानेपर कोई तारा स्वर्गसे टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़ी हो, उसी तरह वे भी कान्तिहीन दिखायी देती थीं। वे आदर्श चरित्र (पातिव्रत्य) से सम्पन्न तथा इसके लिये सुविख्यात थीं। उन्हें पतिके दर्शनके लिये लाले पड़े थे ॥ २० ॥

भूषणैरुत्तमैर्हीनां भर्तृवात्सल्यभूषिताम् ।
राक्षसाधिपसंरुद्धां बन्धुभिश्च विनाकृताम् ॥ २१ ॥

वे उत्तम भूषणोंसे रहित थीं तो भी पतिके वात्सल्यसे विभूषित थीं (पतिका स्नेह ही उनके लिये शृङ्गार था)। राक्षसराज रावणने उन्हें बंदिनी बना रक्खा था। वे स्वजनोंसे बिछुड़ गयी थीं ॥ २१ ॥

वियूथां सिंहसंरुद्धां बद्धां गजवधूमिव ।
चन्द्ररेखां पयोदान्ते शारदाभ्रैरिवावृताम् ॥ २२ ॥

जैसे कोई हथिनी अपने यूथसे अलग हो गयी हो, यूथपतिके स्नेहसे बँधी हो और उसे किसी सिंहने रोक लिया हो। रावणकी कैदमें पड़ी हुई सीताकी भी वैसी ही दशा थी। वे वर्षाकाल बीत जानेपर शरद्-ऋतुके श्वेत बादलोंसे घिरी हुई चन्द्ररेखाके समान प्रतीत होती थीं ॥ २२ ॥

क्लिष्टरूपामसंस्पर्शादयुक्तामिव वल्लकीम् ।
स तां भर्तृहिते युक्तामयुक्तां रक्षसां वशे ॥ २३ ॥
अशोकवनिकामध्ये शोकसागरमाप्लुताम् ।
ताभिः परिवृतां तत्र सग्रहामिव रोहिणीम् ॥ २४ ॥
ददर्श हनुमांस्तत्र लतामकुसुमामिव ।

जैसे वीणा अपने स्वामीकी अङ्गुलियोंके स्पर्शसे वञ्चित हो वादन आदिकी क्रियासे रहित अयोग्य अवस्थामें मूक पड़ी रहती है, उसी प्रकार सीता पतिके सम्पर्कसे दूर होनेके कारण महान् क्लेशमें पड़कर ऐसी अवस्थाको पहुँच गयी थीं, जो उनके योग्य नहीं थी। पतिके हितमें तत्पर रहनेवाली सीता राक्षसोंके अधीन रहनेके योग्य नहीं थीं, फिर भी वैसी दशामें पड़ी थीं। अशोकवाटिकामें रहकर भी वे शोकके सागरमें डूबी हुई थीं। क्रूर ग्रहसे आक्रान्त हुई रोहिणीकी

भाँति वे वहाँ उन राक्षसियोंसे घिरी हुई थीं। हनुमान्जीने उन्हें देखा। वे पुष्पहीन लताकी भाँति श्रीहीन हो रही थीं॥

सा मलेन च दिग्धाङ्गी वपुषा चाप्यलंकृता।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति च न भाति च॥ २५॥

उनके सारे अङ्गोंमें मैल जम गयी थी। केवल शरीर-सौन्दर्य ही उनका अलंकार था। वे कीचड़से लिपटी हुई कमलनालकी भाँति शोभा और अशोभा दोनोंसे युक्त हो रही थीं॥ २५॥

मलिनेन तु वस्त्रेण परिक्लिष्टेन भामिनीम्।
संवृतां मृगशावाक्षीं ददर्श हनुमान् कपिः॥ २६॥

मैले और पुराने वस्त्रसे ढकी हुई मृगशावकनयनी भामिनी सीताको कपिवर हनुमान्ने उस अवस्थामें देखा॥

तां देवीं दीनवदनामदीनां भर्तृतेजसा।
रक्षितां स्वेन शीलेन सीतामसितलोचनाम्॥ २७॥

यद्यपि देवी सीताके मुखपर दीनता छा रही थी तथापि अपने पतिके तेजका स्मरण हो आनेसे उनके हृदयसे वह दैन्य दूर हो जाता था। कजरारे नेत्रोंवाली सीता अपने शीलसे ही सुरक्षित थीं॥ २७॥

तां दृष्ट्वा हनुमान् सीतां मृगशावनिभेक्षणाम्।
मृगकन्यामिव त्रस्तां वीक्षमाणां समन्ततः॥ २८॥
दहन्तीमिव निःश्वासैर्वृक्षान् पल्लवधारिणः।
संघातमिव शोकानां दुःखस्योर्मिमिवोत्थिताम्॥ २९॥
तां क्षमां सुविभक्ताङ्गीं विनाभरणशोभिनीम्।
प्रहर्षमतुलं लेभे मारुतिः प्रेक्ष्य मैथिलीम्॥ ३०॥

उनके नेत्र मृगछौनोंके समान चञ्चल थे। वे डरी हुई मृगकन्याकी भाँति सब ओर सशङ्क दृष्टिसे देख रही थीं। अपने उच्छ्वासोंसे पल्लवधारी वृक्षोंको दग्ध-सी करती जान पड़ती थीं। शोकोंकी मूर्तिमती प्रतिमा-सी दिखायी देती थीं और दुःखकी उठी हुई तरंग-सी प्रतीत होती थीं। उनके सभी अङ्गोंका विभाग सुन्दर था। यद्यपि वे विरह-शोकसे दुर्बल हो गयी थीं तथापि आभूषणोंके बिना ही शोभा पाती थीं। इस अवस्थामें मिथिलेशकुमारी सीताको देखकर पवन-पुत्र हनुमान्को उनका पता लग जानेके कारण अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ॥ २८—३०॥

हर्षजानि च सोऽश्रूणि तां दृष्ट्वा मदिरेक्षणाम्।
मुमोच हनुमांस्तत्र नमश्चक्रे च राघवम्॥ ३१॥

मनोहर नेत्रवाली सीताको वहाँ देखकर हनुमान्जी हर्षके आँसू बहाने लगे। उन्होंने मन-ही-मन श्रीरघुनाथजीको नमस्कार किया॥ ३१॥

नमस्कृत्वाथ रामाय लक्ष्मणाय च वीर्यवान्।
सीतादर्शनसंहृष्टो हनुमान् संवृतोऽभवत्॥ ३२॥

सीताके दर्शनसे उल्लसित हो श्रीराम और लक्ष्मणको नमस्कार करके पराक्रमी हनुमान् वहीं छिपे रहे॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तदशः सर्गः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशः सर्गः

अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए रावणका अशोकवाटिकामें आगमन और हनुमान्जीका उसे देखना

तथा विप्रेक्षमाणस्य वनं पुष्पितपादपम्।
विचिन्वतश्च वैदेहीं किंचिच्छेषा निशाभवत्॥ १॥

इस प्रकार फूले हुए वृक्षोंसे सुशोभित उस वनकी शोभा देखते और विदेहनन्दिनीका अनुसंधान करते हुए हनुमान्जीकी वह सारी रात प्रायः बीत चली। केवल एक पहर रात बाकी रही॥ १॥

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥ २॥

रातके उस पिछले पहरमें छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् तथा श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा यजन करनेवाले ब्रह्म-राक्षसोंके घरमें वेदपाठकी ध्वनि होने लगी, जिसे हनुमान्जीने सुना॥

अथ मङ्गलवादित्रैः शब्दैः श्रोत्रमनोहरैः।
प्राबोध्यत महाबाहुर्दशग्रीवो महाबलः॥ ३॥

तदनन्तर मङ्गल वाद्यों तथा श्रवण-सुखद शब्दोंद्वारा महाबली महाबाहु दशमुख रावणको जगाया गया॥ ३॥

विबुध्य तु महाभागो राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
स्रस्तमाल्याम्बरधरो वैदेहीमन्वचिन्तयत्॥ ४॥

जागनेपर महान् भाग्यशाली एवं प्रतापी राक्षसराज रावणने सबसे पहले विदेहनन्दिनी सीताका चिन्तन किया। उस समय नींदके कारण उसके पुष्पहार और वस्त्र अपने स्थानसे खिसक गये थे॥ ४॥

भृशं नियुक्तस्तस्यां च मदनेन मदोत्कटः।
न तु तं राक्षसः कामं शशाकात्मनि गूहितुम्॥ ५॥

वह मदमत्त निशाचर कामसे प्रेरित हो सीताके प्रति अत्यन्त आसक्त हो गया था। अतः उस कामभावको अपने भीतर छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गया॥ ५॥

स सर्वाभरणैर्युक्तो बिभ्रच्छ्रियमनुत्तमाम् ।
तां नगैर्विविधैर्जुष्टां सर्वपुष्पफलोपगैः ॥ ६ ॥
वृतां पुष्करिणीभिश्च नानापुष्पोपशोभिताम् ।
सदा मत्तैश्च विहगैर्विचित्रां परमाद्भुतैः ॥ ७ ॥
ईहामृगैश्च विविधैर्वृतां दृष्टिमनोहरैः ।
वीथीः सम्प्रेक्षमाणश्च मणिकाञ्चनतोरणाम् ॥ ८ ॥
नानामृगगणाकीर्णां फलैः प्रपतितैर्वृताम् ।
अशोकवनिकामेव प्राविशत् संततद्रुमाम् ॥ ९ ॥

उसने सब प्रकारके आभूषण धारण किये और परम उत्तम शोभासे सम्पन्न हो उस अशोकवाटिकामें ही प्रवेश किया, जो सब प्रकारके फूल और फल देनेवाले भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे सुशोभित थी। नाना प्रकारके पुष्प उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। बहुत-से सरोवरोंद्वारा वह वाटिका घिरी हुई थी। सदा मतवाले रहनेवाले परम अद्भुत पक्षियोंके कारण उसकी विचित्र शोभा होती थी। कितने ही नयनाभिराम क्रीडामृगोंसे भरी हुई वह वाटिका भाँति-भाँतिके मृगसमूहोंसे व्याप्त थी। बहुत-से गिरे हुए फलोंके कारण वहाँकी भूमि ढक गयी थी। पुष्पवाटिकामें मणि और सुवर्णके फाटक लगे थे और उसके भीतर पंक्तिबद्ध वृक्ष बहुत दूरतक फैले हुए थे। वहाँकी गलियोंको देखता हुआ रावण उस वाटिकामें घुसा ॥ ६—९ ॥

अङ्गनाः शतमात्रं तु तं व्रजन्तमनुव्रजन् ।
महेन्द्रमिव पौलस्त्यं देवगन्धर्वयोषितः ॥ १० ॥

जैसे देवताओं और गन्धर्वोंकी स्त्रियाँ देवराज इन्द्रके पीछे चलती हैं, उसी प्रकार अशोकवनमें जाते हुए पुलस्त्यनन्दन रावणके पीछे-पीछे लगभग एक सौ सुन्दरियाँ गयीं ॥ १० ॥

दीपिकाः काञ्चनीः काश्चिज्जगृहुस्तत्र योषितः ।
वालव्यजनहस्ताश्च तालवृन्तानि चापराः ॥ ११ ॥

उन युवतियोंमेंसे किन्हींने सुवर्णमय दीपक ले रक्खे थे। किन्हींके हाथोंमें चँवर थे तो किन्हींके हाथोंमें ताड़के पंखे ॥ ११ ॥

काञ्चनैश्चैव भृङ्गारैर्जह्रुः सलिलमग्रतः ।
मण्डलाग्रा बृसीश्चैव गृह्यान्याः पृष्ठतो ययुः ॥ १२ ॥

कुछ सुन्दरियाँ सोनेकी झारियोंमें जल लिये आगे-आगे चल रही थीं और कई दूसरी स्त्रियाँ गोलाकार बृसी नामक आसन लिये पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ १२ ॥

काचिद् रत्नमयीं पात्रीं पूर्णां पानस्य भ्राजतीम् ।
दक्षिणा दक्षिणेनैव तदा जग्राह पाणिना ॥ १३ ॥

कोई चतुर-चालाक युवती दाहिने हाथमें पेयरससे भरी हुई रत्ननिर्मित चमचमाती कलशी लिये हुए थी ॥ १३ ॥

राजहंसप्रतीकाशं छत्रं पूर्णशशिप्रभम् ।
सौवर्णदण्डमपरा गृहीत्वा पृष्ठतो ययौ ॥ १४ ॥

कोई दूसरी स्त्री सोनेके डंडेसे युक्त और पूर्ण चन्द्रमा तथा राजहंसके समान श्वेत छत्र लेकर रावणके पीछे-पीछे चल रही थी ॥ १४ ॥

निद्रामदपरीताक्ष्यो रावणस्योत्तमस्त्रियः ।
अनुजग्मुः पतिं वीरं घनं विद्युल्लता इव ॥ १५ ॥

जैसे बादलके साथ-साथ बिजलियाँ चलती हैं, उसी प्रकार रावणकी सुन्दरी स्त्रियाँ अपने वीर पतिके पीछे-पीछे जा रही थीं। उस समय नींदके नशेमें उनकी आँखें झपी जाती थीं ॥ १५ ॥

व्याविद्धहारकेयूराः समामृदितवर्णकाः ।
समागलितकेशान्ताः सस्वेदवदनास्तथा ॥ १६ ॥

उनके हार और बाजूबंद अपने स्थानसे खिसक गये थे। अङ्गराग मिट गये थे। चोटियाँ खुल गयी थीं और मुखपर पसीनेकी बूँदें छा रही थीं ॥ १६ ॥

घूर्णन्त्यो मदशेषेण निद्रया च शुभाननाः ।
स्वेदक्लिष्टाङ्गकुसुमाः समाल्याकुलमूर्धजाः ॥ १७ ॥

वे सुमुखी स्त्रियाँ अवशेष मद और निद्रासे झूमती हुई-सी चल रही थीं। विभिन्न अङ्गोंमें धारण किये गये पुष्प पसीनेसे भीग गये थे और पुष्पमालाओंसे अलंकृत केश कुछ-कुछ हिल रहे थे ॥ १७ ॥

प्रयान्तं नैर्ऋतपतिं नार्यो मदिरलोचनाः ।
बहुमानाच्च कामाच्च प्रियभार्यास्तमन्वयुः ॥ १८ ॥

जिनकी आँखें मदमत्त बना देनेवाली थीं, वे राक्षसराजकी प्यारी पत्नियाँ अशोकवनमें जाते हुए पतिके साथ बड़े आदरसे और अनुरागपूर्वक जा रही थीं ॥ १८ ॥

स च कामपराधीनः पतिस्तासां महाबलः ।
सीतासक्तमना मन्दो मन्दाञ्चितगतिर्बभौ ॥ १९ ॥

उन सबका पति महाबली मन्दबुद्धि रावण कामके अधीन हो रहा था। वह सीतामें मन लगाये मन्दगतिसे आगे बढ़ता हुआ अद्भुत शोभा पा रहा था ॥ १९ ॥

ततः काञ्चीनिनादं च नूपुराणां च निःस्वनम् ।
शुश्राव परमस्त्रीणां कपिर्मारुतनन्दनः ॥ २० ॥

उस समय वायुनन्दन कपिवर हनुमान्‌जीने उन परम सुन्दरी रावणपत्नियोंकी करधनीका कलनाद और नूपुरोंकी झनकार सुनी ॥ २० ॥

तं चाप्रतिमकर्माणमचिन्त्यबलपौरुषम् ।
द्वारदेशमनुप्राप्तं ददर्श हनुमान् कपिः ॥ २१ ॥

साथ ही, अनुपम कर्म करनेवाले तथा अचिन्त्य बल-पौरुषसे सम्पन्न रावणको भी कपिवर हनुमान्‌ने देखा, जो अशोकवाटिकाके द्वारतक आ पहुँचा था ॥ २१ ॥

दीपिकाभिरनेकाभिः समन्तादवभासितम्।
गन्धतैलावसिक्ताभिर्ध्रियमाणाभिरग्रतः ॥ २२ ॥

उसके आगे-आगे सुगन्धित तेलसे भीगी हुई और स्त्रियोंद्वारा हाथोंमें धारण की हुई बहुत-सी मशालें जल रही थीं, जिनके द्वारा वह सब ओरसे प्रकाशित हो रहा था॥२२॥

कामदर्पमदैर्युक्तं जिह्मताम्रायतेक्षणम्।
समक्षमिव कंदर्पमपविद्धशरासनम् ॥ २३ ॥

वह काम, दर्प और मदसे युक्त था। उसकी आँखें टेढ़ी, लाल और बड़ी-बड़ी थीं। वह धनुषरहित साक्षात् कामदेवके समान जान पड़ता था॥ २३ ॥

मथितामृतफेनाभमरजोवस्त्रमुत्तमम् ।
सपुष्पमवकर्षन्तं विमुक्तं सक्तमङ्गदे ॥ २४ ॥

उसका वस्त्र मथे हुए दूधके फेनकी भाँति श्वेत, निर्मल और उत्तम था। उसमें मोतीके दाने और फूल टँके हुए थे। वह वस्त्र उसके बाजूबंदमें उलझ गया था और रावण उसे खींचकर सुलझा रहा था॥ २४ ॥

तं पत्रविटपे लीनः पत्रपुष्पशतावृतः।
समीपमुपसंक्रान्तं विज्ञातुमुपचक्रमे ॥ २५ ॥

अशोक वृक्षके पत्तों और डालियोंमें छिपे हुए हनुमान्जी सैकड़ों पत्रों तथा पुष्पोंसे ढक गये थे। उसी अवस्थामें उन्होंने निकट आये हुए रावणको पहचाननेका प्रयत्न किया॥ २५ ॥

अवेक्षमाणस्तु तदा ददर्श कपिकुञ्जरः।
रूपयौवनसम्पन्ना रावणस्य वरस्त्रियः ॥ २६ ॥

उसकी ओर देखते समय कपिश्रेष्ठ हनुमान्ने रावणकी सुन्दरी स्त्रियोंको भी लक्ष्य किया, जो रूप और यौवनसे सम्पन्न थीं॥ २६ ॥

ताभिः परिवृतो राजा सुरूपाभिर्महायशाः।
तन्मृगद्विजसंघुष्टं प्रविष्टः प्रमदावनम् ॥ २७ ॥

उन सुन्दर रूपवाली युवतियोंसे घिरे हुए महायशस्वी राजा रावणने उस प्रमदावनमें प्रवेश किया, जहाँ अनेक प्रकारके पशु-पक्षी अपनी-अपनी बोली बोल रहे थे॥ २७ ॥

क्षीबो विचित्राभरणः शङ्कुकर्णो महाबलः।
तेन विश्रवसः पुत्रः स दृष्टो राक्षसाधिपः ॥ २८ ॥

वह मतवाला दिखायी देता था। उसके आभूषण विचित्र थे। उसके कान ऐसे प्रतीत होते थे, मानो वहाँ खूँटे गाड़े गये हैं। इस प्रकार वह विश्रवामुनिका पुत्र महाबली राक्षसराज रावण हनुमान्जीके दृष्टिपथमें आया॥ २८ ॥

वृतः परमनारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः।
तं ददर्श महातेजास्तेजोवन्तं महाकपिः ॥ २९ ॥
रावणोऽयं महाबाहुरिति संचिन्त्य वानरः।
सोऽयमेव पुरा शेते पुरमध्ये गृहोत्तमे।
अवप्लुतो महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः ॥ ३० ॥

ताराओंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति वह परम सुन्दरी युवतियोंसे घिरा हुआ था। महातेजस्वी महाकपि हनुमान्ने उस तेजस्वी राक्षसको देखा और देखकर यह निश्चय किया कि यही महाबाहु रावण है। पहले यही नगरमें उत्तम महलके भीतर सोया हुआ था। ऐसा सोचकर वे वानरवीर महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्जी जिस डालीपर बैठे थे, वहाँसे कुछ नीचे उतर आये (क्योंकि वे निकटसे रावणकी सारी चेष्टाएँ देखना चाहते थे)॥ २९-३० ॥

स तथाप्युग्रतेजाः स निर्धूतस्तस्य तेजसा।
पत्रे गुह्यान्तरे सक्तो मतिमान् संवृतोऽभवत् ॥ ३१ ॥

यद्यपि मतिमान् हनुमान्जी भी बड़े उग्रतेजस्वी थे, तथापि रावणके तेजसे तिरस्कृत-से होकर सघन पत्तोंमें घुसकर छिप गये॥ ३१ ॥

स तामसितकेशान्तां सुश्रोणीं संहतस्तनीम्।
दिदृक्षुरसितापाङ्गीमुपावर्तत रावणः ॥ ३२ ॥

उधर रावण काले केश, कजरारे नेत्र, सुन्दर कटिभाग और परस्पर सटे हुए स्तनवाली सुन्दरी सीताको देखनेके लिये उनके पास गया॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

रावणको देखकर दुःख, भय और चिन्तामें डूबी हुई सीताकी अवस्थाका वर्णन

तस्मिन्नेव ततः काले राजपुत्री त्वनिन्दिता।
रूपयौवनसम्पन्नं भूषणोत्तमभूषितम् ॥ १ ॥
ततो दृष्ट्वैव वैदेही रावणं राक्षसाधिपम्।
प्रावेपत वरारोहा प्रवाते कदली यथा ॥ २ ॥

उस समय अनिन्दिता सुन्दरी राजकुमारी सीताने जब उत्तमोत्तम आभूषणोंसे विभूषित तथा रूप-यौवनसे सम्पन्न राक्षसराज रावणको आते देखा, तब वे प्रचण्ड हवामें हिलनेवाली कदलीके समान भयके मारे थर-थर काँपने लगीं॥ १-२ ॥

ऊरुभ्यामुदरं छाद्य बाहुभ्यां च पयोधरौ।

उपविष्टा विशालाक्षी रुदती वरवर्णिनी ॥ ३ ॥

सुन्दर कान्तिवाली विशाललोचना जानकीने अपनी जाँघोंसे पेट और दोनों भुजाओंसे स्तन छिपा लिये तथा वहाँ बैठी-बैठी वे रोने लगीं ॥ ३ ॥

दशग्रीवस्तु वैदेहीं रक्षितां राक्षसीगणैः ।
ददर्श दीनां दुःखार्तां नावं सन्नामिवार्णवे ॥ ४ ॥
असंवृतायामासीनां धरण्यां संशितव्रताम् ।
छिन्नां प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः ॥ ५ ॥

राक्षसियोंके पहरेमें रहती हुई विदेहराजकुमारी सीता अत्यन्त दीन और दुखी हो रही थीं । वे समुद्रमें जीर्ण-शीर्ण होकर डूबी हुई नौकाके समान दुःखके सागरमें निमग्न थीं । उस अवस्थामें दशमुख रावणने उनकी ओर देखा । वे बिना बिछौनेके खुली जमीनपर बैठी थीं और कटकर पृथ्वीपर गिरी हुई वृक्षकी शाखाके समान जान पड़ती थीं । उनके द्वारा बड़े कठोर व्रतका पालन किया जा रहा था ॥ ४-५ ॥

मलमण्डनदिग्धाङ्गीं मण्डनार्हाममण्डनाम् ।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ॥ ६ ॥

उनके अङ्गोंमें अङ्गरागकी जगह मैल जमी हुई थी । वे आभूषण-धारण तथा शृङ्गार करने योग्य होनेपर भी उन सबसे वञ्चित थीं और कीचड़में सनी हुई कमलनालकी भाँति शोभा पाती थीं तथा नहीं भी पाती थीं । (कमलनाल जैसे सुकुमारताके कारण शोभा पाती है और कीचड़में सनी रहनेके कारण शोभा नहीं पाती, वैसे ही वे अपने सहज सौन्दर्यसे सुशोभित थीं, किंतु मलिनताके कारण शोभा नहीं देती थीं) ॥ ६ ॥

समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः ।
संकल्पहयसंयुक्तैर्यान्तीमिव मनोरथैः ॥ ७ ॥

संकल्पोंके घोड़ोंसे जुते हुए मनोमय रथपर चढ़कर आत्मज्ञानी राजसिंह भगवान् श्रीरामके पास जाती हुई-सी प्रतीत होती थीं ॥ ७ ॥

शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम् ।
दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम् ॥ ८ ॥

उनका शरीर सूखता जा रहा था । वे अकेली बैठकर रोती तथा श्रीरामचन्द्रजीके ध्यान एवं उनके वियोगके शोकमें डूबी रहती थीं । उन्हें अपने दुःखका अन्त नहीं दिखायी देता था । वे श्रीरामचन्द्रजीमें अनुराग रखनेवाली तथा उनकी रमणीय भार्या थीं ॥ ८ ॥

चेष्टमानामथाविष्टां पन्नगेन्द्रवधूमिव ।
धूप्यमानां ग्रहेणेव रोहिणीं धूमकेतुना ॥ ९ ॥

जैसे नागराजकी वधू (नागिन) मणि-मन्त्रादिसे अभिभूत हो छटपटाने लगती है, उसी तरह सीता भी पतिके वियोगमें तड़प रही थीं तथा धूमके समान वर्णवाले केतु ग्रहसे ग्रस्त हुई रोहिणीके समान संतप्त हो रही थीं ॥ ९ ॥

वृत्तशीले कुले जातामाचारवति धार्मिके ।
पुनः संस्कारमापन्नां जातामिव च दुष्कुले ॥ १० ॥

यद्यपि सदाचारी और सुशील कुलमें उनका जन्म हुआ था । फिर धार्मिक तथा उत्तम आचार-विचारवाले कुलमें वे ब्याही गयी थीं—विवाह-संस्कारसे सम्पन्न हुई थीं, तथापि दूषित कुलमें उत्पन्न हुई नारीके समान मलिन दिखायी देती थीं ॥ १० ॥

सन्नामिव महाकीर्तिं श्रद्धामिव विमानिताम् ।
प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव ॥ ११ ॥
आयतीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव ।
दीप्तामिव दिशं काले पूजामपहृतामिव ॥ १२ ॥
पौर्णमासीमिव निशां तमोग्रस्तेन्दुमण्डलाम् ।
पद्मिनीमिव विध्वस्तां हतशूरां चमूमिव ॥ १३ ॥
प्रभामिव तमोध्वस्तामुपक्षीणामिवापगाम् ।
वेदीमिव परामृष्टां शान्तामग्निशिखामिव ॥ १४ ॥

वे क्षीण हुई विशाल कीर्ति, तिरस्कृत हुई श्रद्धा, सर्वथा ह्रासको प्राप्त हुई बुद्धि, टूटी हुई आशा, नष्ट हुए भविष्य, उल्लङ्घित हुई राजाज्ञा, उत्पातकालमें दहकती हुई दिशा, नष्ट हुई देवपूजा, चन्द्रग्रहणसे मलिन हुई पूर्णमासीकी रात, तुषारपातसे जीर्ण-शीर्ण हुई कमलिनी, जिसका शूरवीर सेनापति मारा गया हो, ऐसी सेना, अन्धकारसे नष्ट हुई प्रभा, सूखी हुई सरिता, अपवित्र प्राणियोंके स्पर्शसे अशुद्ध हुई वेदी और बुझी हुई अग्निशिखाके समान प्रतीत होती थीं ॥ ११–१४ ॥

उत्कृष्टपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टामाकुलामिव पद्मिनीम् ॥ १५ ॥

जिसे हाथीने अपनी सूँड़से हुँड़ेर डाला हो; अतएव जिसके पत्ते और कमल उखड़ गये हों तथा जलपक्षी भयसे थर्रा उठे हों उस मथित एवं मलिन हुई पुष्करिणीके समान सीता श्रीहीन दिखायी देती थीं ॥ १५ ॥

पतिशोकातुरां शुष्कां नदीं विस्रावितामिव ।
परया मृजया हीनां कृष्णपक्षे निशामिव ॥ १६ ॥

पतिके विरह-शोकसे उनका हृदय बड़ा व्याकुल था । जिसका जल नहरोंके द्वारा इधर-उधर निकाल दिया गया हो, ऐसी नदीके समान वे सूख गयी थीं तथा उत्तम उबटन आदिके न लगनेसे कृष्णपक्षकी रात्रिके समान मलिन हो रही थीं ॥ १६ ॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
तप्यमानामिवोष्णेन मृणालीमचिरोद्धृताम् ॥ १७ ॥

उनके अङ्ग बड़े सुकुमार और सुन्दर थे । वे रत्नजटित राजमहलमें रहनेके योग्य थीं; परंतु गर्मीसे तपी और तुरंत

तोड़कर फेंकी हुई कमलिनीके समान दयनीय दशाको पहुँच गयी थीं ॥ १७ ॥

गृहीतामालितां स्तम्भे यूथपेन विनाकृताम्।
निःश्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव ॥ १८ ॥

जिसे यूथपतिसे अलग करके पकड़कर खंभेमें बाँध दिया गया हो, उस हथिनीके समान वे अत्यन्त दुःखसे आतुर होकर लंबी साँस खींच रही थीं ॥ १८ ॥

एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः।
नीलया नीरदापाये वनराज्या महीमिव ॥ १९ ॥

बिना प्रयत्नके ही बँधी हुई एक ही लंबी वेणीसे सीताकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे वर्षा-ऋतु बीत जानेपर सुदूरतक फैली हुई हरी-भरी वनश्रेणीसे पृथ्वी सुशोभित होती है ॥ १९ ॥

उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च।
परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां तपोधनाम् ॥ २० ॥

वे उपवास, शोक, चिन्ता और भयसे अत्यन्त क्षीण, कृशकाय और दीन हो गयी थीं। उनका आहार बहुत कम हो गया था तथा एकमात्र तप ही उनका धन था ॥ २० ॥

आयाचमानां दुःखार्तां प्राञ्जलिं देवतामिव।
भावेन रघुमुख्यस्य दशग्रीवपराभवम् ॥ २१ ॥

वे दुःखसे आतुर हो अपने कुलदेवतासे हाथ जोड़कर मन-ही-मन यह प्रार्थना-सी कर रही थीं कि श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे दशमुख रावणकी पराजय हो ॥ २१ ॥

समीक्षमाणां रुदतीमनिन्दितां
सुपक्ष्मताम्रायतशुक्ललोचनाम् ।
अनुव्रतां राममतीव मैथिलीं
प्रलोभयामास वधाय रावणः ॥ २२ ॥

सुन्दर बरौनियोंसे युक्त, लाल, श्वेत एवं विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी मिथिलेशकुमारी सीता श्रीरामचन्द्रजीमें अत्यन्त अनुरक्त थीं और इधर-उधर देखती हुई रो रही थीं। इस अवस्थामें उन्हें देखकर राक्षसराज रावण अपने ही वधके लिये उनको लुभानेकी चेष्टा करने लगा ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

रावणका सीताजीको प्रलोभन

स तां परिवृतां दीनां निरानन्दां तपस्विनीम्।
साकारैर्मधुरैर्वाक्यैर्न्यदर्शयत रावणः ॥ १ ॥

राक्षसियोंसे घिरी हुई दीन और आनन्दशून्य तपस्विनी सीताको सम्बोधित करके रावण अभिप्राययुक्त मधुर वचनोंद्वारा अपने मनका भाव प्रकट करने लगा— ॥ १ ॥

मां दृष्ट्वा नागनासोरु गूहमाना स्तनोदरम्।
अदर्शनमिवात्मानं भयान्नेतुं त्वमिच्छसि ॥ २ ॥

'हाथीकी सूँड़के समान सुन्दर जाँघोंवाली सीते! मुझे देखते ही तुम अपने स्तन और उदरको इस प्रकार छिपाने लगी हो, मानो डरके मारे अपनेको अदृश्य कर देना चाहती हो ॥ २ ॥

कामये त्वां विशालाक्षि बहु मन्यस्व मां प्रिये।
सर्वाङ्गगुणसम्पन्ने सर्वलोकमनोहरे ॥ ३ ॥

'किंतु विशाललोचने! मैं तो तुम्हें चाहता हूँ—तुमसे प्रेम करता हूँ। समस्त संसारका मन मोहनेवाली सर्वाङ्गसुन्दरी प्रिये! तुम भी मुझे विशेष आदर दो—मेरी प्रार्थना स्वीकार करो ॥ ३ ॥

नेह किंचिन्मनुष्या वा राक्षसाः कामरूपिणः।
व्यपसर्पतु ते सीते भयं मत्तः समुत्थितम् ॥ ४ ॥

'यहाँ तुम्हारे लिये कोई भय नहीं है। इस स्थानमें न तो मनुष्य आ सकते हैं, न इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले दूसरे राक्षस ही, केवल मैं आ सकता हूँ। परंतु सीते! मुझसे जो तुम्हें भय हो रहा है, वह तो दूर हो ही जाना चाहिये ॥ ४ ॥

स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वदैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा ॥ ५ ॥

'भीरु! (तुम यह न समझो कि मैंने कोई अधर्म किया है) परायी स्त्रियोंके पास जाना अथवा बलात्कारपूर्वक उन्हें हर लाना यह राक्षसोंका सदा ही अपना धर्म रहा है—इसमें संदेह नहीं है ॥ ५ ॥

एवं चैवमकामां त्वां न च स्प्रक्ष्यामि मैथिलि।
कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम् ॥ ६ ॥

'मिथिलेशनन्दिनि! ऐसी अवस्थामें भी जबतक तुम मुझे न चाहोगी, तबतक मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं करूँगा। भले ही कामदेव मेरे शरीरपर इच्छानुसार अत्याचार करे ॥ ६ ॥

देवि नेह भयं कार्यं मयि विश्वसिहि प्रिये।
प्रणयस्व च तत्त्वेन मैवं भूः शोकलालसा ॥ ७ ॥

'देवि ! इस विषयमें तुम्हें भय नहीं करना चाहिये । प्रिये ! मुझपर विश्वास करो और यथार्थरूपसे प्रेमदान दो । इस तरह शोकसे व्याकुल न हो जाओ ॥ ७ ॥

एकवेणी अधःशय्या ध्यानं मलिनमम्बरम् ।
अस्थानेऽप्युपवासश्च नैतान्यौपयिकानि ते ॥ ८ ॥

'एक वेणी धारण करना, नीचे पृथ्वीपर सोना, चिन्तामग्न रहना, मैले वस्त्र पहनना और बिना अवसरके उपवास करना—ये सब बातें तुम्हारे योग्य नहीं हैं ॥ ८ ॥

विचित्राणि च माल्यानि चन्दनान्यगुरूणि च ।
विविधानि च वासांसि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ९ ॥
महार्हाणि च पानानि शयनान्यासनानि च ।
गीतं नृत्यं च वाद्यं च लभ मां प्राप्य मैथिलि ॥ १० ॥

'मिथिलेशकुमारी ! मुझे पाकर तुम विचित्र पुष्प-माला, चन्दन, अगुरु, नाना प्रकारके वस्त्र, दिव्य आभूषण, बहुमूल्य पेय, शय्या, आसन, नाच, गान और वाद्यका सुख भोगो ॥ ९-१० ॥

स्त्रीरत्नमसि मैवं भूः कुरु गात्रेषु भूषणम् ।
मां प्राप्य हि कथं वा स्यास्त्वमनर्हा सुविग्रहे ॥ ११ ॥

'तुम स्त्रियोंमें रत्न हो । इस तरह मलिन वेषमें न रहो । अपने अङ्गोंमें आभूषण धारण करो । सुन्दरि ! मुझे पाकर भी तुम भूषण आदिसे असम्मानित कैसे रहोगी ? ॥ ११ ॥

इदं ते चारु संजातं यौवनं ह्यतिवर्तते ।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः स्रोतस्विनामिव ॥ १२ ॥

'यह तुम्हारा नवोदित सुन्दर यौवन बीता जा रहा है । जो बीत जाता है, वह नदियोंके प्रवाहकी भाँति फिर लौटकर नहीं आता ॥ १२ ॥

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत् ।
नहि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने ॥ १३ ॥

'शुभदर्शने ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि रूपकी रचना करनेवाला लोकस्रष्टा विधाता तुम्हें बनाकर फिर उस कार्यसे विरत हो गया; क्योंकि तुम्हारे रूपकी समता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है ॥ १३ ॥

त्वां समासाद्य वैदेहि रूपयौवनशालिनीम् ।
कः पुनर्नातिवर्तेत साक्षादपि पितामहः ॥ १४ ॥

विदेहनन्दिनि ! रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली तुमको पाकर कौन ऐसा पुरुष है, जो धैर्यसे विचलित न होगा । भले ही वह साक्षात् ब्रह्मा क्यों न हो ॥ १४ ॥

यद् यत् पश्यामि ते गात्रं शीतांशुसदृशानने ।
तस्मिंस्तस्मिन् पृथुश्रोणि चक्षुर्मम निबध्यते ॥ १५ ॥

'चन्द्रमाके समान मुखवाली सुमध्यमे ! मैं तुम्हारे जिस-जिस अङ्गको देखता हूँ, उसी-उसीमें मेरे नेत्र उलझ जाते हैं ॥

भव मैथिलि भार्या मे मोहमेतं विसर्जय ।
बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां ममाग्रमहिषी भव ॥ १६ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! तुम मेरी भार्या बन जाओ । पातिव्रत्यके इस मोहको छोड़ो । मेरे यहाँ बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ हैं । तुम उन सबमें श्रेष्ठ पटरानी बनो ॥ १६ ॥

लोकेभ्यो यानि रत्नानि सम्प्रमथ्याहृतानि मे ।
तानि ते भीरु सर्वाणि राज्यं चैव ददामि ते ॥ १७ ॥

'भीरु ! मैं अनेक लोकोंसे उन्हें मथकर जो-जो रत्न लाया हूँ, वे सब तुम्हारे ही होंगे और यह राज्य भी मैं तुम्हींको समर्पित कर दूँगा ॥ १७ ॥

विजित्य पृथिवीं सर्वां नानानगरमालिनीम् ।
जनकाय प्रदास्यामि तव हेतोर्विलासिनि ॥ १८ ॥

'विलासिनि ! तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मैं विभिन्न नगरोंकी मालाओंसे अलंकृत इस सारी पृथ्वीको जीतकर राजा जनकके हाथमें सौंप दूँगा ॥ १८ ॥

नेह पश्यामि लोकेऽन्यं यो मे प्रतिबलो भवेत् ।
पश्य मे सुमहद्वीर्यमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ॥ १९ ॥

'इस संसारमें मैं किसी दूसरे ऐसे पुरुषको नहीं देखता, जो मेरा सामना कर सके । तुम युद्धमें मेरा वह महान् पराक्रम देखना, जिसके सामने कोई प्रतिद्वन्द्वी टिक नहीं पाता ॥

असकृत् संयुगे भग्ना मया विमृदितध्वजाः ।
अशक्ताः प्रत्यनीकेषु स्थातुं मम सुरासुराः ॥ २० ॥

'मैंने युद्धस्थलमें जिनकी ध्वजाएँ तोड़ डाली थीं, वे देवता और असुर मेरे सामने ठहरनेमें असमर्थ होनेके कारण कई बार पीठ दिखा चुके हैं ॥ २० ॥

इच्छ मां क्रियतामद्य प्रतिकर्म तवोत्तमम् ।
सुप्रभाण्यवसज्जन्तां तवाङ्गे भूषणानि हि ॥ २१ ॥

'तुम मुझे स्वीकार करो । आज तुम्हारा उत्तम श्रृङ्गार किया जाय और तुम्हारे अङ्गोंमें चमकीले आभूषण पहनाये जायँ ॥ २१ ॥

साधु पश्यामि ते रूपं सुयुक्तं प्रतिकर्मणा ।
प्रतिकर्माभिसंयुक्ता दाक्षिण्येन वरानने ॥ २२ ॥

'सुमुखि ! आज मैं श्रृङ्गारसे सुसज्जित हुए तुम्हारे सुन्दर रूपको देख रहा हूँ* । तुम उदारतावश मुझपर कृपा करके श्रृङ्गारसे सम्पन्न हो जाओ ॥ २२ ॥

भुङ्क्ष्व भोगान् यथा कामं पिब हि रमस्व च ।
यथेष्टं च प्रयच्छ त्वं पृथिवीं वा धनानि च ॥ २३ ॥

'भीरु ! फिर इच्छानुसार भाँति-भाँतिके भोग भोगो, दिव्य

* यहाँ भविष्यका वर्तमानकी भाँति वर्णन होनेसे 'भाविक' अलंकार समझना चाहिये ।

रसका पान करो, विहरो तथा पृथ्वी या धनका यथेष्टरूपसे दान करो ॥ २३ ॥

ललस्व मयि विस्रब्धा धृष्टमाज्ञापयस्व च ।
मत्प्रसादाल्ललन्त्याश्च ललतां बान्धवास्तव ॥ २४ ॥

'तुम मुझपर विश्वास करके भोग भोगनेकी इच्छा करो और निर्भय होकर मुझे अपनी सेवाके लिये आज्ञा दो। मुझपर कृपा करके इच्छानुसार भोग भोगती हुई तुम-जैसी पटरानीके भाई-बन्धु भी मनमाने भोग भोग सकते हैं ॥ २४ ॥

ऋद्धिं ममानुपश्य त्वं श्रियं भद्रे यशस्विनि ।
किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवासिना ॥ २५ ॥

'भद्रे ! यशस्विनि ! तुम मेरी समृद्धि और धन-सम्पत्तिकी ओर तो देखो। सुभगे ! चीर-वस्त्र धारण करनेवाले रामको लेकर क्या करोगी ? ॥ २५ ॥

निक्षिप्तविजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः ।
व्रती स्थण्डिलशायी च शङ्के जीवति वा न वा ॥ २६ ॥

'रामने विजयकी आशा त्याग दी है। वे श्रीहीन होकर वन-वनमें विचर रहे हैं, व्रतका पालन करते हैं और मिट्टीकी वेदीपर सोते हैं। अब तो मुझे यह भी संदेह होने लगा है कि वे जीवित भी हैं या नहीं ॥ २६ ॥

नहि वैदेहि रामस्त्वां द्रष्टुं वाप्युपलभ्यते ।
पुरोबलाकैरसितैर्मेघैर्ज्योत्स्नामिवावृताम् ॥ २७ ॥

'विदेहनन्दिनि ! जिनके आगे बगुलोंकी पंक्तियाँ चलती हैं, उन काले बादलोंसे छिपी हुई चन्द्रिकाके समान तुमको अब राम पाना तो दूर रहा, देख भी नहीं सकते हैं ॥ २७ ॥

न चापि मम हस्तात् त्वां प्राप्तुमर्हति राघवः ।
हिरण्यकशिपुः कीर्तिमिन्द्रहस्तगतामिव ॥ २८ ॥

'जैसे हिरण्यकशिपु इन्द्रके हाथमें गयी हुई कीर्तिको न पा सका, उसी प्रकार राम भी मेरे हाथसे तुम्हें नहीं पा सकते ॥

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ।
मनो हरसि मे भीरु सुपर्णः पन्नगं यथा ॥ २९ ॥

'मनोहर मुस्कान, सुन्दर दन्तावलि तथा रमणीय नेत्रोंवाली विलासिनि ! भीरु ! जैसे गरुड सर्पको उठा ले जाते हैं, उसी प्रकार तुम मेरे मनको हर लेती हो ॥ २९ ॥

क्लिष्टकौशेयवसनां तन्वीमप्यनलंकृताम् ।
त्वां दृष्ट्वा स्वेषु दारेषु रतिं नोपलभाम्यहम् ॥ ३० ॥

'तुम्हारा रेशमी पीताम्बर मैला हो गया है। तुम बहुत दुबली-पतली हो गयी हो और तुम्हारे अङ्गोंमें आभूषण भी नहीं हैं तो भी तुम्हें देखकर अपनी दूसरी स्त्रियोंमें मेरा मन नहीं लगता ॥ ३० ॥

अन्तःपुरनिवासिन्यः स्त्रियः सर्वगुणान्विताः ।
यावत्यो मम सर्वासामैश्वर्यं कुरु जानकि ॥ ३१ ॥

'जनकनन्दिनि ! मेरे अन्तःपुरमें निवास करनेवाली जितनी भी सर्वगुणसम्पन्न रानियाँ हैं, उन सबकी तुम स्वामिनी बन जाओ ॥ ३१ ॥

मम ह्यसितकेशान्ते त्रैलोक्यप्रवरस्त्रियः ।
तास्त्वां परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा ॥ ३२ ॥

'काले केशोंवाली सुन्दरी ! जैसे अप्सराएँ लक्ष्मीकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार त्रिभुवनकी श्रेष्ठ सुन्दरियाँ यहाँ तुम्हारी परिचर्या करेंगी ॥ ३२ ॥

यानि वैश्रवणे सुभ्रु रत्नानि च धनानि च ।
तानि लोकांश्च सुश्रोणि मया भुङ्क्ष्व यथासुखम् ॥ ३३ ॥

'सुभ्रु ! सुश्रोणि ! कुबेरके यहाँ जितने भी अच्छे रत्न और धन हैं, उन सबका तथा सम्पूर्ण लोकोंका तुम मेरे साथ सुखपूर्वक उपभोग करो ॥ ३३ ॥

न रामस्तपसा देवि न बलेन च विक्रमैः ।
न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसापि वा ॥ ३४ ॥

'देवि ! राम तो न तपसे, न बलसे, न पराक्रमसे, न धनसे और न तेज अथवा यशके द्वारा ही मेरी समानता कर सकते हैं ॥ ३४ ॥

पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान्
धननिचयं प्रदिशामि मेदिनीं च ।
मयि लल ललने यथासुखं त्वं
त्वयि च समेत्य ललन्तु बान्धवास्ते ॥ ३५ ॥

'तुम दिव्य रसका पान, विहार एवं रमण करो तथा अभीष्ट भोग भोगो। मैं तुम्हें धनकी राशि और सारी पृथ्वी भी समर्पित किये देता हूँ। ललने ! तुम मेरे पास रहकर मौजसे मनचाही वस्तुएँ ग्रहण करो और तुम्हारे निकट आकर तुम्हारे भाई-बन्धु भी सुखपूर्वक इच्छानुसार भोग आदि प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

कुसुमिततरुजालसंततानि
भ्रमरयुतानि समुद्रतीरजानि ।
कनकविमलहारभूषिताङ्गी
विहर मया सह भीरु काननानि ॥ ३६ ॥

'भीरु ! तुम सोनेके निर्मल हारोंसे अपने अङ्गको विभूषित करके मेरे साथ समुद्र-तटवर्ती उन काननोंमें विहार करो, जिनमें खिले हुए वृक्षोंके समुदाय सब ओर फैले हुए हैं और उनपर भ्रमर मँड़रा रहे हैं' ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

सीताजीका रावणको समझाना और उसे श्रीरामके सामने नगण्य बताना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सीता रौद्रस्य रक्षसः।
आर्ता दीनस्वरा दीनं प्रत्युवाच ततः शनैः॥ १॥

उस भयंकर राक्षसकी वह बात सुनकर सीताको बड़ी पीड़ा हुई। उन्होंने दीन वाणीमें बड़े दुःखके साथ धीरे-धीरे उत्तर देना आरम्भ किया॥ १॥

दुःखार्ता रुदती सीता वेपमाना तपस्विनी।
चिन्तयन्ती वरारोहा पतिमेव पतिव्रता॥ २॥

उस समय सुन्दर अङ्गोंवाली पतिव्रता देवी तपस्विनी सीता दुःखसे आतुर होकर रोती हुई काँप रही थीं और अपने पतिदेवका ही चिन्तन कर रही थीं॥ २॥

तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता।
निवर्तय मनो मत्तः स्वजने प्रीयतां मनः॥ ३॥

पवित्र मुस्कानवाली विदेहनन्दिनीने तिनकेकी ओट करके रावणको इस प्रकार उत्तर दिया—'तुम मेरी ओरसे अपना मन हटा लो और आत्मीयजनों (अपनी ही पत्नियों) पर प्रेम करो'॥ ३॥

न मां प्रार्थयितुं युक्तस्त्वं सिद्धिमिव पापकृत्।
अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम्॥ ४॥

'जैसे पापाचारी पुरुष सिद्धिकी इच्छा नहीं कर सकता उसी प्रकार तुम मेरी इच्छा करनेके योग्य नहीं हो। जो पतिव्रताके लिये निन्दित है, वह न करनेयोग्य कार्य मैं कदापि नहीं कर सकती॥ ४॥

कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया।
एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी॥ ५॥
रावणं पृष्ठतः कृत्वा भूयो वचनमब्रवीत्।
नाहमौपयिकी भार्या परभार्या सती तव॥ ६॥

'क्योंकि मैं एक महान् कुलमें उत्पन्न हुई हूँ और ब्याह करके एक पवित्र कुलमें आयी हूँ।' रावणसे ऐसा कहकर यशस्विनी विदेहराजकुमारीने उसकी ओर अपनी पीठ फेर ली और इस प्रकार कहा—'रावण! मैं सती और परायी स्त्री हूँ। तुम्हारी भार्या बनने योग्य नहीं हूँ'॥ ५-६॥

साधु धर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रतं चर।
यथा तव तथान्येषां रक्ष्या दारा निशाचर॥ ७॥

'निशाचर! तुम श्रेष्ठ धर्मकी ओर दृष्टिपात करो और सत्पुरुषोंके व्रतका अच्छी तरह पालन करो। जैसे तुम्हारी स्त्रियाँ तुमसे संरक्षण पाती हैं, उसी प्रकार दूसरोंकी स्त्रियोंकी भी तुम्हें रक्षा करनी चाहिये॥ ७॥

आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम्।
अतुष्टं स्वेषु दारेषु चपलं चपलेन्द्रियम्।
नयन्ति निकृतिप्रज्ञं परदाराः पराभवम्॥ ८॥

'तुम अपनेको आदर्श बनाकर अपनी ही स्त्रियोंमें अनुरक्त रहो। जो अपनी स्त्रियोंसे संतुष्ट नहीं रहता तथा जिसकी बुद्धि धिक्कार देने योग्य है, उस चपल इन्द्रियोंवाले चञ्चल पुरुषको परायी स्त्रियाँ पराभवको पहुँचा देती हैं—उसे फजीहतमें डाल देती हैं॥ ८॥

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता॥ ९॥

'क्या यहाँ सत्पुरुष नहीं रहते हैं अथवा रहनेपर भी तुम उनका अनुसरण नहीं करते हो? जिससे तुम्हारी बुद्धि ऐसी विपरीत एवं सदाचारशून्य हो गयी है!॥ ९॥

वचो मिथ्याप्रणीतात्मा पथ्यमुक्तं विचक्षणैः।
राक्षसानामभावाय त्वं वा न प्रतिपद्यसे॥ १०॥

'अथवा बुद्धिमान् पुरुष जो तुम्हारे हितकी बात कहते हैं उसे निःसार मानकर राक्षसोंके विनाशपर तुले रहनेके कारण तुम ग्रहण ही नहीं करते हो?॥ १०॥

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम्।
समृद्धानि विनश्यन्ति राष्ट्राणि नगराणि च॥ ११॥

जिसका मन अपवित्र तथा सदुपदेशको नहीं ग्रहण करनेवाला है, ऐसे अन्यायी राजाके हाथमें पड़कर बड़े-बड़े समृद्धिशाली राज्य और नगर नष्ट हो जाते हैं॥ ११॥

तथैव त्वां समासाद्य लङ्का रत्नौघसंकुला।
अपराधात् तवैकस्य नचिराद् विनशिष्यति॥ १२॥

'इसी प्रकार यह रत्नराशिसे पूर्ण लङ्कापुरी तुम्हारे हाथमें आ जानेसे अब अकेले तुम्हारे ही अपराधसे बहुत जल्द नष्ट हो जायगी॥ १२॥

स्वकृतैर्हन्यमानस्य रावणादीर्घदर्शिनः।
अभिनन्दन्ति भूतानि विनाशे पापकर्मणः॥ १३॥

'रावण! जब कोई अदूरदर्शी पापाचारी अपने कुकर्मोंसे मारा जाता है, उस समय उसका विनाश होनेपर समस्त प्राणियोंको प्रसन्नता होती है॥ १३॥

एवं त्वां पापकर्माणं वक्ष्यन्ति निकृता जनाः।
दिष्ट्यैतद् व्यसनं प्राप्तो रौद्र इत्येव हर्षिताः॥ १४॥

'इसी प्रकार तुमने जिन लोगोंको कष्ट पहुँचाया है, वे तुम्हें पापी कहेंगे और 'बड़ा अच्छा हुआ, जो इस आततायीको यह कष्ट प्राप्त हुआ' ऐसा कहकर हर्ष मनायेंगे॥ १४॥

शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥ १५॥

'जैसे प्रभा सूर्यसे अलग नहीं होती, उसी प्रकार मैं श्रीरघुनाथजीसे अभिन्न हूँ। ऐश्वर्य या धनके द्वारा तुम मुझे लुभा नहीं सकते ॥ १५ ॥

उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्।
कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

'जगदीश्वर श्रीरामचन्द्रजीकी सम्मानित भुजापर सिर रखकर अब मैं किसी दूसरेकी बाँहकी तकिया कैसे लगा सकती हूँ ! ॥ १६ ॥

अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः।
व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः ॥ १७ ॥

'जिस प्रकार वेदविद्या आत्मज्ञानी स्नातक ब्राह्मणकी ही सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार मैं केवल उन पृथ्वीपति रघुनाथजीकी ही भार्या होने योग्य हूँ ॥ १७ ॥

साधु रावण रामेण मां समानय दुःखिताम्।
वने वासितया सार्धं करेण्वेव गजाधिपम् ॥ १८ ॥

'रावण ! तुम्हारे लिये यही अच्छा होगा कि जिस प्रकार वनमें समागमकी वासनासे युक्त हथिनीको कोई गजराजसे मिला दे, उसी प्रकार तुम मुझ दुखियाको श्रीरघुनाथजीसे मिला दो ॥ १८ ॥

मित्रमौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता।
बन्धं चानिच्छता घोरं त्वयासौ पुरुषर्षभः ॥ १९ ॥

यदि तुम्हें अपने नगरकी रक्षा और दारुण बन्धनसे बचनेकी इच्छा हो तो पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामको अपना मित्र बना लेना चाहिये; क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं ॥ १९ ॥

विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥ २० ॥

'भगवान् श्रीराम समस्त धर्मोंके ज्ञाता और सुप्रसिद्ध शरणागतवत्सल हैं। यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो उनके साथ तुम्हारी मित्रता हो जानी चाहिये ॥ २० ॥

प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम्।
मां चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि ॥ २१ ॥

'तुम शरणागतवत्सल श्रीरामकी शरण लेकर उन्हें प्रसन्न करो और शुद्धहृदय होकर मुझे उनके पास लौटा दो ॥ २१ ॥

एवं हि ते भवेत् स्वस्ति सम्प्रदाय रघूत्तमे।
अन्यथा त्वं हि कुर्वाणः परां प्राप्स्यसि चापदम् ॥ २२ ॥

'इस प्रकार मुझे श्रीरघुनाथजीको सौंप देनेपर तुम्हारा भला होगा। इसके विपरीत आचरण करनेपर तुम बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ जाओगे ॥ २२ ॥

वर्जयेद् वज्रमुत्सृष्टं वर्जयेदन्तकश्चिरम्।
त्वद्विधं न तु संक्रुद्धो लोकनाथः स राघवः ॥ २३ ॥

'तुम्हारे-जैसे निशाचरको कदाचित् हाथसे छूटा हुआ वज्र बिना मारे छोड़ सकता है और काल भी बहुत दिनोंतक तुम्हारी उपेक्षा कर सकता है; किंतु क्रोधमें भरे हुए लोकनाथ रघुनाथजी कदापि नहीं छोड़ेंगे ॥ २३ ॥

रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम्।
शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोषमशनेरिव ॥ २४ ॥

'इन्द्रके छोड़े हुए वज्रकी गड़गड़ाहटके समान तुम श्रीरामचन्द्रजीके धनुषकी घोर टंकार सुनोगे ॥ २४ ॥

इह शीघ्रं सुपर्वाणो ज्वलितास्या इवोरगाः।
इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षिताः ॥ २५ ॥

'यहाँ श्रीराम और लक्ष्मणके नामोंसे अङ्कित और सुन्दर गाँठवाले बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान शीघ्र ही गिरेंगे ॥ २५ ॥

रक्षांसि निहनिष्यन्तः पुर्यामस्यां न संशयः।
असम्पातं करिष्यन्ति पतन्तः कङ्कवाससः ॥ २६ ॥

'वे कङ्कपत्रवाले बाण इस पुरीमें राक्षसोंका संहार करेंगे, इसमें संशय नहीं है। वे इस तरह बरसेंगे कि यहाँ तिल रखनेकी भी जगह नहीं रह जायगी ॥ २६ ॥

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान्।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान् ॥ २७ ॥

'जैसे विनतानन्दन गरुड़ सर्पोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार श्रीरामरूपी महान् गरुड़ राक्षसराजरूपी बड़े-बड़े सर्पोंको वेगपूर्वक उच्छिन्न कर डालेंगे ॥ २७ ॥

अपनेष्यति मां भर्ता त्वत्तः शीघ्रमरिंदमः।
असुरेभ्यः श्रियं दीप्तां विष्णुस्त्रिभिरिव क्रमैः ॥ २८ ॥

'जैसे भगवान् विष्णुने अपने तीन ही पगोंद्वारा असुरोंसे उनकी उद्दीप्त राजलक्ष्मी छीन ली थी, उसी प्रकार मेरे स्वामी शत्रुसूदन श्रीराम मुझे शीघ्र ही तेरे यहाँसे निकाल ले जायँगे ॥ २८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने निहते रक्षसां बले।
अशक्तेन त्वया रक्षः कृतमेतदसाधु वै ॥ २९ ॥

'राक्षस ! जब राक्षसोंकी सेनाका संहार हो जानेसे जनस्थानका तुम्हारा आश्रय नष्ट हो गया और तुम युद्ध करनेमें असमर्थ हो गये, तब तुमने छल और चोरीसे यह नीच कर्म किया है ॥ २९ ॥

आश्रमं तत्तयोः शून्यं प्रविश्य नरसिंहयोः।
गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाधम ॥ ३० ॥

'नीच निशाचर ! तुमने पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणके सूने आश्रममें घुसकर मेरा हरण किया था। वे दोनों उस समय मायामृगको मारनेके लिये वनमें गये हुए थे (नहीं तो तभी तुम्हें इसका फल मिलजाता) ॥ ३० ॥

नहि गन्धमुपाघ्राय रामलक्ष्मणयोस्त्वया ।
शक्यं संदर्शने स्थातुं शुना शार्दूलयोरिव ॥ ३१ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मणकी तो गन्ध पाकर भी तुम उनके सामने नहीं ठहर सकते । क्या कुत्ता कभी दो-दो बाघोंके सामने टिक सकता है ? ॥ ३१ ॥

तस्य ते विग्रहे ताभ्यां युगग्रहणमस्थिरम् ।
वृत्रस्येवेन्द्रबाहुभ्यां बाहोरेकस्य विग्रहे ॥ ३२ ॥

'जैसे इन्द्रकी दो बाहोंके साथ युद्ध छिड़नेपर वृत्रासुरकी एक बाँहके लिये संग्रामके बोझको सँभालना असम्भव हो गया, उसी प्रकार समराङ्गणमें उन दोनों भाइयोंके साथ युद्धका जुआ उठाये रखना या टिकना तुम्हारे लिये सर्वथा असम्भव है ॥ ३२ ॥

क्षिप्रं तव स नाथो मे रामः सौमित्रिणा सह ।
तोयमल्पमिवादित्यः प्राणानादास्यते शरैः ॥ ३३ ॥

'वे मेरे प्राणनाथ श्रीराम सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ आकर अपने बाणोंद्वारा शीघ्र तुम्हारे प्राण हर लेंगे । ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य थोड़ेसे जलको अपनी किरणोंद्वारा शीघ्र सुखा देते हैं ॥ ३३ ॥

गिरिं कुबेरस्य गतोऽथवाऽऽलयं
सभां गतो वा वरुणस्य राज्ञः ।
असंशयं दाशरथेर्विमोक्ष्यसे
महाद्रुमः कालहतोऽशनेरिव ॥ ३४ ॥

'तुम कुबेरके कैलासपर्वतपर चले जाओ अथवा वरुणकी सभामें जाकर छिप रहो, किंतु कालका मारा हुआ विशाल वृक्ष जैसे वज्रका आघात लगते ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तुम दशरथनन्दन श्रीरामके बाणसे मारे जाकर तत्काल प्राणोंसे हाथ धो बैठोगे, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि काल तुम्हें पहलेसे ही मार चुका है' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

रावणका सीताको दो माहकी अवधि देना, सीताका उसे फटकारना, फिर रावणका उन्हें धमकाकर राक्षसियोंके नियन्त्रणमें रखकर स्त्रियोंसहित पुनः महलको लौट जाना

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं राक्षसेश्वरः ।
प्रत्युवाच ततः सीतां विप्रियं प्रियदर्शनाम् ॥ १ ॥

सीताके ये कठोर वचन सुनकर राक्षसराज रावणने उन प्रियदर्शना सीताको यह अप्रिय उत्तर दिया—॥ १ ॥

यथा यथा सान्त्वयिता वश्यः स्त्रीणां तथा तथा ।
यथा यथा प्रियं वक्ता परिभूतस्तथा तथा ॥ २ ॥

'लोकमें पुरुष जैसे-जैसे स्त्रियोंसे अनुनय-विनय करता है, वैसे-वैसे वह उनका प्रिय होता जाता है; परंतु मैं तुमसे ज्यों-ज्यों मीठे वचन बोलता हूँ, त्यों-ही-त्यों तुम मेरा तिरस्कार करती जा रही हो ॥ २ ॥

संनियच्छति मे क्रोधं त्वयि कामः समुत्थितः ।
द्रवतो मार्गमासाद्य हयानिव सुसारथिः ॥ ३ ॥

'किंतु जैसे अच्छा सारथि कुमार्गमें दौड़ते हुए घोड़ोंको रोकता है, वसे ही तुम्हारे प्रति जो मेरा प्रेम उत्पन्न हो गया है, वही मेरे क्रोधको रोक रहा है ॥ ३ ॥

वामः कामो मनुष्याणां यस्मिन् किल निबध्यते ।
जने तस्मिंस्त्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते ॥ ४ ॥

'मनुष्योंमें यह काम (प्रेम) बड़ा टेढ़ा है । वह जिसके प्रति बँध जाता है, उसीके प्रति करुणा और स्नेह उत्पन्न हो जाता है ॥ ४ ॥

एतस्मात् कारणान्न त्वां घातयामि वरानने ।
वधार्हामवमानार्हां मिथ्या प्रव्रजने रताम् ॥ ५ ॥

'सुमुखि ! यही कारण है कि झूठे वैराग्यमें तत्पर तथा वध और तिरस्कारके योग्य होनेपर भी तुम्हारा मैं वध नहीं कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

परुषाणि हि वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम् ।
तेषु तेषु वधो युक्तस्तव मैथिलि दारुणः ॥ ६ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! तुम मुझसे जैसी-जैसी कठोर बातें कह रही हो, उनके बदले तो तुम्हें कठोर प्राणदण्ड देना ही उचित है' ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा तु वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ।
क्रोधसंरम्भसंयुक्तः सीतामुत्तरमब्रवीत् ॥ ७ ॥

विदेहराजकुमारी सीतासे ऐसा कहकर क्रोधके आवेशमें भरे हुए राक्षसराज रावणने उन्हें फिर इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ७ ॥

द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः ।
ततः शयनमारोह मम त्वं वरवर्णिनि ॥ ८ ॥

'सुन्दरि ! मैंने तुम्हारे लिये जो अवधि नियुक्त की है, उसके अनुसार मुझे दो महीने और प्रतीक्षा करनी है । तत्पश्चात् तुम्हें मेरी शय्यापर आना होगा ॥ ८ ॥

द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम् ।
मम त्वां प्रातराशार्थे सूदाश्छेत्स्यन्ति खण्डशः ॥ ९ ॥

'अतः याद रखो—यदि दो महीनेके बाद तुम मुझे अपना पति बनाना स्वीकार नहीं करोगी तो रसोइये मेरे कलेवेके लिये तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे' ॥ ९ ॥

तां भर्त्स्यमानां सम्प्रेक्ष्य राक्षसेन्द्रेण जानकीम् ।
देवगन्धर्वकन्यास्ता विषेदुर्विकृतेक्षणाः ॥ १० ॥

राक्षसराज रावणके द्वारा जनकनन्दिनी सीताको इस प्रकार धमकायी जाती देख देवताओं और गन्धर्वोंकी कन्याओंको बड़ा विषाद हुआ । उनकी आँखें विकृत हो गयीं ॥१०॥

ओष्ठप्रकारैरपरा नेत्रैर्वक्त्रैस्तथापराः ।
सीतामाश्वासयामासुस्तर्जितां तेन रक्षसा ॥ ११ ॥

तब उनमेंसे किसीने ओठोंसे, किसीने नेत्रोंसे तथा किसीने मुँहके संकेतसे उस राक्षसद्वारा डाँटी जाती हुई सीताको धैर्य बँधाया ॥ ११ ॥

ताभिराश्वासिता सीता रावणं राक्षसाधिपम् ।
उवाचात्महितं वाक्यं वृत्तशौटीर्यगर्वितम् ॥ १२ ॥

उनके धैर्य बँधानेपर सीताने राक्षसराज रावणसे अपने सदाचार (पातिव्रत्य) और पतिके शौर्यके अभिमानसे पूर्ण हितकर वचन कहा—॥ १२ ॥

नूनं न ते जनः कश्चिदस्मिन्निःश्रेयसि स्थितः ।
निवारयति यो न त्वां कर्मणोऽस्माद् विगर्हितात् ॥ १३ ॥

'निश्चय ही इस नगरमें कोई भी पुरुष तेरा भला चाहनेवाला नहीं है, जो तुझे इस निन्दित कर्मसे रोके ॥१३॥

मां हि धर्मात्मनः पत्नीं शचीमिव शचीपतेः ।
त्वदन्यस्त्रिषु लोकेषु प्रार्थयेन्मनसापि कः ॥ १४ ॥

जैसे शची इन्द्रकी धर्मपत्नी हैं, उसी प्रकार मैं धर्मात्मा भगवान् श्रीरामकी पत्नी हूँ । त्रिलोकीमें तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो मनसे भी मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥१४॥

राक्षसाधम रामस्य भार्याममिततेजसः ।
उक्तवानसि यत् पापं क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥ १५ ॥

'नीच राक्षस ! तूने अमित तेजस्वी श्रीरामकी भार्यासे जो पापकी बात कही है, उसके फलस्वरूप दण्डसे तू कहाँ जाकर छुटकारा पायेगा ? ॥ १५ ॥

यथा दृप्तश्च मातङ्गः शशश्च सहितौ वने ।
तथा द्विरदवद् रामस्त्वं नीच शशवत् स्मृतः ॥ १६ ॥

'जिस प्रकार वनमें कोई मतवाला हाथी और कोई खरगोश दैववश एक दूसरेके साथ युद्धके लिये तुल जायँ, वैसे ही भगवान् श्रीराम और तू है । नीच निशाचर ! भगवान् राम तो गजराजके समान हैं और तू खरगोशके तुल्य है ॥१६॥

स त्वमिक्ष्वाकुनाथं वै क्षिपन्निह न लज्जसे ।
चक्षुषो विषये तस्य न यावदुपगच्छसि ॥ १७ ॥

'अरे ! इक्ष्वाकुनाथ श्रीरामका तिरस्कार करते तुझे लज्जा नहीं आती । तू जबतक उनकी आँखोंके सामने नहीं जाता तबतक जो चाहे कह ले ॥१७॥

इमे ते नयने क्रूरे विकृते कृष्णपिङ्गले ।
क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य निरीक्षतः ॥ १८ ॥

'अनार्य ! मेरी ओर दृष्टि डालते समय तेरी ये क्रूर और विकारयुक्त काली-पीली आँखें पृथ्वीपर क्यों नहीं गिर पड़ीं ? ॥ १८ ॥

तस्य धर्मात्मनः पत्नी स्नुषा दशरथस्य च ।
कथं व्याहरतो मां ते न जिह्वा पाप शीर्यति ॥ १९ ॥

'मैं धर्मात्मा श्रीरामकी धर्मपत्नी और महाराज दशरथकी पुत्रवधू हूँ । पापी ! मुझसे पापकी बातें करते समय तेरी जीभ क्यों नहीं गल जाती है ? ॥ १९ ॥

असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् ।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥ २० ॥

'दशमुख रावण ! मेरा तेज ही तुझे भस्म कर डालनेके लिये पर्याप्त है । केवल श्रीरामकी आज्ञा न होनेसे और अपनी तपस्याको सुरक्षित रखनेके विचारसे मैं तुझे भस्म नहीं कर रही हूँ ॥ २० ॥

नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः ।
विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः ॥ २१ ॥

'मैं मतिमान् श्रीरामकी भार्या हूँ, मुझे हर ले जानेकी शक्ति तेरे अंदर नहीं थी । निःसंदेह तेरे वधके लिये ही विधाताने यह विधान रच दिया है ॥ २१ ॥

शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च ।
अपोह्य रामं कस्माच्चिद् दारचौर्यं त्वया कृतम् ॥ २२ ॥

'तू तो बड़ा शूरवीर बनता है, कुबेरका भाई है और तेरे पास सेनाएँ भी बहुत हैं, फिर श्रीरामको छलसे दूर हटाकर क्यों तूने उनकी स्त्रीकी चोरी की है ?' ॥ २२ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
विवृत्य नयने क्रूरे जानकीमन्ववैक्षत ॥ २३ ॥

सीताकी ये बातें सुनकर राक्षसराज रावणने उन जनकदुलारीकी ओर आँखें तरेरकर देखा । उसकी दृष्टिसे क्रूरता टपक रही थी ॥ २३ ॥

नीलजीमूतसंकाशो महाभुजशिरोधरः ।
सिंहसत्त्वगतिः श्रीमान् दीप्तजिह्वोग्रलोचनः ॥ २४ ॥

वह नीलमेघके समान काला और विशालकाय था । उसकी भुजाएँ और ग्रीवा बड़ी थीं । वह गति और पराक्रममें सिंहके समान था और तेजस्वी दिखायी देता था । उसकी जीभ आगकी लपटके समान लपलपा रही थी तथा नेत्र बड़े भयंकर प्रतीत होते थे ॥ २४ ॥

चलाग्रमुकुटप्रांशुश्चित्रमाल्यानुलेपनः ।
रक्तमाल्याम्बरधरस्तप्ताङ्गदविभूषणः ॥ २५ ॥
श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसंवृतः ।
अमृतोत्पादने नद्धो भुजङ्गेनेव मन्दरः ॥ २६ ॥

क्रोधके कारण उसके मुकुटका अग्रभाग हिल रहा था, जिससे वह बहुत ऊँचा जान पड़ता था। उसने तरह-तरहके हार और अनुलेपन धारण कर रक्खे थे तथा पक्के सोनेके बने हुए बाजूबंद उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह लाल रंगके फूलोंकी माला और लाल वस्त्र पहने हुए था। उसकी कमरके चारों ओर काले रंगका लंबा कटिसूत्र बँधा हुआ था, जिससे वह अमृत-मन्थनके समय वासुकिसे लिपटे हुए मन्दराचलके समान जान पड़ता था ॥ २५-२६ ॥

ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यां भुजाभ्यां राक्षसेश्वरः ।
शुशुभेऽचलसंकाशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥ २७ ॥

पर्वतके समान विशालकाय राक्षसराज रावण अपनी दोनों परिपुष्ट भुजाओंसे उसी प्रकार शोभा पा रहा था, मानो दो शिखरोंसे मन्दराचल सुशोभित हो रहा हो ॥२७॥

तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विभूषितः ।
रक्तपल्लवपुष्पाभ्यामशोकाभ्यामिवाचलः ॥ २८ ॥

प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण-पीत कान्तिवाले दो कुण्डल उसके कानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे, मानो लाल पल्लवों और फूलोंसे युक्त दो अशोक वृक्ष किसी पर्वतको सुशोभित कर रहे हों ॥ २८ ॥

स कल्पवृक्षप्रतिमो वसन्त इव मूर्तिमान् ।
श्मशानचैत्यप्रतिमो भूषितोऽपि भयंकरः ॥ २९ ॥

वह अभिनव शोभासे सम्पन्न होकर कल्पवृक्ष एवं मूर्तिमान् वसन्तके समान जान पड़ता था। आभूषणोंसे विभूषित होनेपर भी श्मशानचैत्य[1] (मरघटमें बने हुए देवालय) की भाँति भयंकर प्रतीत होता था ॥ २९ ॥

अवेक्षमाणो वैदेहीं कोपसंरक्तलोचनः ।
उवाच रावणः सीतां भुजङ्ग इव निःश्वसन् ॥ ३० ॥

रावणने क्रोधसे लाल आँखें करके विदेहकुमारी सीताकी ओर देखा और फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँसें खींचकर कहा—॥ ३० ॥

अनयेनाभिसम्पन्नमर्थहीनमनुव्रते ।
नाशयाम्यहमद्य त्वां सूर्यः संध्यामिवौजसा ॥ ३१ ॥

'अन्यायी और निर्धन मनुष्यका अनुसरण करनेवाली नारी! जैसे सूर्यदेव अपने तेजसे प्रातःकालिक संध्याके अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार आज मैं तेरा विनाश किये देता हूँ' ॥ ३१ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।
संददर्श ततः सर्वा राक्षसीर्घोरदर्शनाः ॥ ३२ ॥

मिथिलेशकुमारीसे ऐसा कहकर शत्रुओंको रुलानेवाले राजा रावणने भयंकर दिखायी देनेवाली समस्त राक्षसियोंकी ओर देखा ॥ ३२ ॥

एकाक्षीमेककर्णां च कर्णप्रावरणां तथा ।
गोकर्णीं हस्तिकर्णीं च लम्बकर्णीमकर्णिकाम् ॥ ३३ ॥
हस्तिपद्यश्वपद्यौ च गोपदीं पादचूलिकाम् ।
एकाक्षीमेकपादीं च पृथुपादीमपादिकाम् ॥ ३४ ॥
अतिमात्रशिरोग्रीवामतिमात्रकुचोदरीम् ।
अतिमात्रास्यनेत्रां च दीर्घजिह्वानखामपि ॥ ३५ ॥
अनासिकां सिंहमुखीं गोमुखीं सूकरीमुखीम् ।
यथा मद्वशगा सीता क्षिप्रं भवति जानकी ॥ ३६ ॥
तथा कुरुत राक्षस्यः सर्वाः क्षिप्रं समेत्य वा ।
प्रतिलोमानुलोमैश्च सामदानादिभेदनैः ॥ ३७ ॥
आवर्जयत वैदेहीं दण्डस्योद्यमनेन च ।

उसने एकाक्षी (एक आँखवाली), एककर्णा (एक कानवाली), कर्णप्रावरणा (लंबे कानोंसे अपने शरीरको ढक लेनेवाली), गोकर्णी (गौके-से कानोंवाली), हस्तिकर्णी (हाथीके समान कानोंवाली), लंबकर्णी (लंबे कानवाली), अकर्णिका (बिना कानकी), हस्तिपदी (हाथीके-से पैरोंवाली), अश्वपदी (घोड़ेके समान पैरवाली), गोपदी (गायके समान पैरवाली), पादचूलिका (केशयुक्त पैरोंवाली), एकाक्षी, एकपादी (एक पैरवाली), पृथुपादी (मोटे पैरवाली), अपादिका (बिना पैरोंकी), अतिमात्रशिरोग्रीवा (विशाल सिर और गर्दनवाली) अतिमात्रकुचोदरी (बहुत बड़े-बड़े स्तन और पेटवाली), अतिमात्रास्यनेत्रा (विशाल मुख और नेत्रवाली), दीर्घजिह्वानखा (लंबी जीभ और नखोंवाली), अनासिका (बिना नाककी), सिंहमुखी (सिंहके समान मुखवाली), गोमुखी (गौके समान मुखवाली) तथा सूकरीमुखी (सूकरीके समान मुखवाली)—इन सब राक्षसियोंसे कहा—'निशाचरियो! तुम सब लोग मिलकर अथवा अलग-अलग शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करो, जिससे जनककिशोरी सीता बहुत जल्द मेरे वशमें आ जाय।

---

१. प्राचीनकालमें नगरकी श्मशानभूमिके पास एक गोलाकार देवालय-सा बना रहता था, जहाँ राजाकी आज्ञासे प्राणदण्डके अपराधियोंका जल्लादोंके द्वारा वध कराया जाता था। जब वहाँ किसीको प्राणदण्ड देनेका अवसर आता, तब उस देवालयको लीप-पोतकर फूलोंकी बन्दनवारोंसे सजाया जाता था। उस विभूषित श्मशानचैत्यको देखते ही लोग यह सोचकर भयभीत हो उठते थे कि आज यहाँ किसीके जीवनका अन्त होनेवाला है। इस तरह जैसे वह श्मशानचैत्य विभूषित होनेपर भी भयंकर लगता था, उसी प्रकार रावण सुन्दर शृङ्गार करके भी सीताको भयानक प्रतीत होता था; क्योंकि वह उनके सतीत्वको नष्ट करना चाहता था।

अनुकूल-प्रतिकूल उपायोंसे, साम, दान और भेदनीतिसे तथा दण्डका भी भय दिखाकर विदेहकुमारी सीताको वशमें लानेकी चेष्टा करो' ॥ ३३-३७½ ॥

इति प्रतिसमादिश्य राक्षसेन्द्रः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥
काममन्युपरीतात्मा जानकीं प्रति गर्जत ।

राक्षसियोंको इस प्रकार बारंबार आज्ञा देकर काम और क्रोधसे व्याकुल हुआ राक्षसराज रावण जानकीजीकी ओर देखकर गर्जना करने लगा ॥ ३८½ ॥

उपगम्य ततः क्षिप्रं राक्षसी धान्यमालिनी ॥ ३९ ॥
परिष्वज्य दशग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ।

तदनन्तर राक्षसियोंकी स्वामिनी मन्दोदरी तथा धान्यमालिनी नामवाली राक्षस-कन्या शीघ्र रावणके पास आयीं और उसका आलिङ्गन करके बोलीं—॥ ३९½ ॥

मया क्रीड महाराज सीतया किं तवानया ॥ ४० ॥
विवर्णया कृपणया मानुष्या राक्षसेश्वर ।

'महाराज राक्षसराज ! आप मेरे साथ क्रीडा कीजिये । इस कान्तिहीन और दीन मानव-कन्या सीतासे आपको क्या प्रयोजन है ? ॥ ४०½ ॥

नूनमस्यां महाराज न देवा भोगसत्तमान् ॥ ४१ ॥
विदधत्यमरश्रेष्ठास्तव बाहुबलार्जितान् ।

'महाराज ! निश्चय ही देवश्रेष्ठ ब्रह्माजीने इसके भाग्यमें आपके बाहुबलसे उपार्जित दिव्य एवं उत्तम भोग नहीं लिखे हैं ॥ ४१½ ॥

अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते ॥ ४२ ॥
इच्छतीं कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना ।

'प्राणनाथ ! जो स्त्री अपनेसे प्रेम नहीं करती, उसकी कामना करनेवाले पुरुषके शरीरमें केवल ताप ही होता है और अपने प्रति अनुराग रखनेवाली स्त्रीकी कामना करनेवालेको उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है' ॥ ४२½ ॥

एवमुक्तस्तु राक्षस्या समुत्क्षिप्तस्ततो बली ।
प्रहसन् मेघसंकाशो राक्षसः स न्यवर्तत ॥ ४३ ॥

जब राक्षसीने ऐसा कहा और दूसरी ओर वह हटा ले गयी, तब मेघके समान काला और बलवान् राक्षस रावण जोर-जोरसे हँसता हुआ महलकी ओर लौट पड़ा ॥ ४३ ॥

प्रस्थितः स दशग्रीवः कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
ज्वलद्भास्करसंकाशं प्रविवेश निवेशनम् ॥ ४४ ॥

अशोकवाटिकासे प्रस्थित होकर पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए दशग्रीवने उद्दीप्त सूर्यके सदृश प्रकाशित होनेवाले अपने भवनमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च तास्ततः ।
परिवार्य दशग्रीवं प्रविशुस्ता गृहोत्तमम् ॥ ४५ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व और नागोंकी कन्याएँ भी रावणको सब ओरसे घेरकर उसके साथ ही उस उत्तम राजभवनमें चली गयीं ॥ ४५ ॥

स मैथिलीं धर्मपरामवस्थितां
प्रवेपमानां परिभर्त्स्य रावणः ।
विहाय सीतां मदनेन मोहितः
स्वमेव वेश्म प्रविवेश रावणः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार अपने धर्ममें तत्पर, स्थिरचित्त और भयसे काँपती हुई मिथिलेशकुमारी सीताको धमकाकर काममोहित रावण अपने ही महलमें चला गया ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

राक्षसियोंका सीताजीको समझाना

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।
संदिश्य च ततः सर्वा राक्षसीर्निर्जगाम ह ॥ १ ॥

शत्रुओंको रुलानेवाला राजा रावण सीताजीसे पूर्वोक्त बातें कहकर तथा सब राक्षसियोंको उन्हें वशमें लानेके लिये आदेश दे वहाँसे निकल गया ॥ १ ॥

निष्क्रान्ते राक्षसेन्द्रे तु पुनरन्तःपुरं गते ।
राक्षस्यो भीमरूपास्ताः सीतां समभिदुद्रुवुः ॥ २ ॥

अशोकवाटिकासे निकलकर जब राक्षसराज रावण अन्तःपुरको चला गया, तब वहाँ जो भयानक रूपवाली राक्षसियाँ थीं, वे सब चारों ओरसे दौड़ी हुई सीताके पास आयीं ॥ २ ॥

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः ।
परं परुषया वाचा वैदेहीमिदमब्रुवन् ॥ ३ ॥

विदेहकुमारी सीताके समीप आकर क्रोधसे व्याकुल हुई उन राक्षसियोंने अत्यन्त कठोर वाणीद्वारा उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ३ ॥

पौलस्त्यस्य वरिष्ठस्य रावणस्य महात्मनः ।
दशग्रीवस्य भार्यात्वं सीते न बहु मन्यसे ॥ ४ ॥

'सीते ! तुम पुलस्त्यजीके कुलमें उत्पन्न हुए सर्वश्रेष्ठ दशग्रीव महामना रावणकी भार्या बनना भी कोई बहुत बड़ी बात नहीं समझतीं ?' ॥ ४ ॥

ततस्त्वेकजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
आमन्त्र्य क्रोधताम्राक्षी सीतां करतलोदरीम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् एकजटा नामवाली राक्षसीने क्रोधसे लाल आँखें करके कृशोदरी सीताको पुकारकर कहा—॥ ५ ॥

प्रजापतीनां षण्णां तु चतुर्थोऽयं प्रजापतिः ।
मानसो ब्रह्मणः पुत्रः पुलस्त्य इति विश्रुतः ॥ ६ ॥

'विदेहकुमारी ! पुलस्त्यजी छः[1] प्रजापतियोंमें चौथे हैं और ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं । इस रूपमें उनकी सर्वत्र ख्याति है ॥ ६ ॥

पुलस्त्यस्य तु तेजस्वी महर्षिर्मानसः सुतः ।
नाम्ना स विश्रवा नाम प्रजापतिसमप्रभः ॥ ७ ॥

'पुलस्त्यजीके मानस पुत्र तेजस्वी महर्षि विश्रवा हैं । वे भी प्रजापतिके समान ही प्रकाशित होते हैं ॥ ७ ॥

तस्य पुत्रो विशालाक्षि रावणः शत्रुरावणः ।
तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ॥ ८ ॥
मयोक्तं चारुसर्वाङ्गि वाक्यं किं नानुमन्यसे ।

'विशाललोचने ! ये शत्रुओंके रुलानेवाले महाराज रावण उन्हींके पुत्र हैं और समस्त राक्षसोंके राजा हैं । तुम्हें इनकी भार्या हो जाना चाहिये । सर्वाङ्गसुन्दरी ! मेरी इस कही हुई बातका तुम अनुमोदन क्यों नहीं करतीं ?' ॥ ८½ ॥

ततो हरिजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥
विवृत्य नयने कोपान्मार्जारसदृशेक्षणा ।
येन देवास्त्रयस्त्रिंशद् देवराजश्च निर्जितः ॥ १० ॥
तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ।

इसके बाद बिल्लीके समान भूरे आँखोंवाली हरिजटा नामकी राक्षसीने क्रोधसे आँखें फाड़कर कहना आरम्भ किया—'अरी ! जिन्होंने तैंतीसों[2] देवताओं तथा देवराज इन्द्रको भी परास्त कर दिया है, उन राक्षसराज रावणकी रानी तो तुम्हें अवश्य बन जाना चाहिये ॥ ९-१०½ ॥

वीर्योत्सिक्तस्य शूरस्य संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
बलिनो वीर्ययुक्तस्य भार्यात्वं किं न लिप्ससे ॥ ११ ॥

'उन्हें अपने पराक्रमपर गर्व है । वे युद्धसे पीछे न हटनेवाले शूरवीर हैं । ऐसे बल-पराक्रमसम्पन्न पुरुषकी भार्या बनना तुम क्यों नहीं चाहती हो ?' ॥ ११ ॥

प्रियां बहुमतां भार्यां त्यक्त्वा राजा महाबलः ।
सर्वासां च महाभागां त्वामुपैष्यति रावणः ॥ १२ ॥
समृद्धं स्त्रीसहस्रेण नानारत्नोपशोभितम् ।
अन्तःपुरं तदुत्सृज्य त्वामुपैष्यति रावणः ॥ १३ ॥

'महाबली राजा रावण अपनी अधिक प्रिय और सम्मानित भार्या मन्दोदरीको भी, जो सबकी स्वामिनी हैं, छोड़कर तुम्हारे पास पधारेंगे । तुम्हारा कितना महान् सौभाग्य है । वे सहस्रों रमणियोंसे भरे हुए और अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित उस अन्तःपुरको छोड़कर तुम्हारे पास पधारेंगे (अतः तुम्हें उनकी प्रार्थना मान लेनी चाहिये)' ॥ १२-१३ ॥

अन्या तु विकटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
असकृद् भीमवीर्येण नागा गन्धर्वदानवाः ।
निर्जिताः समरे येन स ते पार्श्वमुपागतः ॥ १४ ॥
तस्य सर्वसमृद्धस्य रावणस्य महात्मनः ।
किमर्थं राक्षसेन्द्रस्य भार्यात्वं नेच्छसेऽधमे ॥ १५ ॥

तदनन्तर विकटा नामवाली दूसरी राक्षसीने कहा—'जिन भयानक पराक्रमी राक्षसराजने नागों, गन्धर्वों और दानवोंको भी समराङ्गणमें बारंबार परास्त किया है, वे ही तुम्हारे पास पधारे थे । नीच नारी ! उन्हीं सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे सम्पन्न महामना राक्षसराज रावणकी भार्या बननेके लिये तुम्हें क्यों इच्छा नहीं होती है ?' ॥ १४-१५ ॥

ततस्तां दुर्मुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
यस्य सूर्यो न तपति भीतो यस्य स मारुतः ।
न वाति स्मायतापाङ्गि किं त्वं तस्य न तिष्ठसे ॥ १६ ॥

फिर उनसे दुर्मुखी नामवाली राक्षसीने कहा—'विशाललोचने ! जिनसे भय मानकर सूर्य तपना छोड़ देता है और वायुकी गति रुक जाती है, उनके पास तुम क्यों नहीं रहतीं ? ॥ १६ ॥

पुष्पवृष्टिं च तरवो मुमुचुर्यस्य वै भयात् ।
शैलाः सुस्रुवुः पानीयं जलदाश्च यदेच्छति ॥ १७ ॥
तस्य नैर्ऋतराजस्य राजराजस्य भामिनि ।
किं त्वं न कुरुषे बुद्धिं भार्यार्थे रावणस्य हि ॥ १८ ॥

'भामिनि ! जिनके भयसे वृक्ष फूल बरसाने लगते हैं और जो जब इच्छा करते हैं, तभी पर्वत तथा मेघ जलका स्रोत बहाने लगते हैं । उन्हीं राजाधिराज राक्षसराज रावणकी भार्या बननेके लिये तुम्हारे मनमें क्यों नहीं विचार होता है ? ॥ १७-१८ ॥

साधु ते तत्त्वतो देवि कथितं साधु भामिनि ।

---

१. मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये छः प्रजापति हैं ।

२. बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस देवता हैं ।

गृहाण सुस्मिते वाक्यमन्यथा न भविष्यसि ॥ १९ ॥

'देवि ! मैंने तुमसे उत्तम, यथार्थ और हितकी बात कही है । सुन्दर मुस्कानवाली सीते ! तुम मेरी बात मान लो, नहीं तो तुम्हें प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

सीताजीका राक्षसियोंकी बात माननेसे इनकार कर देना तथा राक्षसियोंका उन्हें मारने-काटनेकी धमकी देना

ततः सीतां समस्तास्ता राक्षस्यो विकृताननाः ।
परुषं परुषानर्हामूचुस्तद्वाक्यमप्रियम् ॥ १ ॥

तदनन्तर विकराल मुखवाली उन समस्त राक्षसियोंने, जो कटुवचन सुननेके योग्य नहीं थीं, उन सीतासे अप्रिय तथा कठोर वचन कहना आरम्भ किया—॥ १ ॥

किं त्वमन्तःपुरे सीते सर्वभूतमनोरमे ।
महार्हशयनोपेते न वासमनुमन्यसे ॥ २ ॥

'सीते ! रावणका अन्तःपुर समस्त प्राणियोंके लिये मनोरम है । वहाँ बहुमूल्य शय्याएँ बिछी रहती हैं । उस अन्तःपुरमें तुम्हारा निवास हो, इसके लिये तुम क्यों नहीं अनुमति देतीं ? ॥ २ ॥

मानुषी मानुषस्यैव भार्यात्वं बहु मन्यसे ।
प्रत्याहर मनो रामान्नैवं जातु भविष्यति ॥ ३ ॥

'तुम मानुषी हो, इसलिये मनुष्यकी भार्याका जो पद है, उसीको तुम अधिक महत्त्व देती हो; किंतु अब तुम रामकी ओरसे अपना मन हटा लो, अन्यथा कदापि जीवित नहीं रहोगी ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यवसुभोक्तारं रावणं राक्षसेश्वरम् ।
भर्तारमुपसंगम्य विहरस्व यथासुखम् ॥ ४ ॥

'तुम त्रिलोकीके ऐश्वर्यको भोगनेवाले राक्षसराज रावणको पतिरूपमें पाकर आनन्दपूर्वक विहार करो ॥ ४ ॥

मानुषी मानुषं तं तु राममिच्छसि शोभने ।
राज्याद् भ्रष्टमसिद्धार्थं विक्लवन्तमनिन्दिते ॥ ५ ॥

'अनिन्द्य सुन्दरि ! तुम मानवी हो, इसीलिये मनुष्य-जातीय रामको ही चाहती हो, परंतु राम इस समय राज्यसे भ्रष्ट हैं । उनका कोई मनोरथ सफल नहीं होता है तथा वे सदा व्याकुल रहते हैं' ॥ ५ ॥

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा सीता पद्मनिभेक्षणा ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

राक्षसियोंकी ये बातें सुनकर कमलनयनी सीताने आँसू-भरे नेत्रोंसे उनकी ओर देखकर इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

यदिदं लोकविद्विष्टमुदाहरत संगताः ।
नैतन्मनसि वाक्यं मे किल्बिषं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

'तुम सब मिलकर मुझसे जो यह लोक-विरुद्ध प्रस्ताव कर रही हो, तुम्हारा यह पापपूर्ण वचन मेरे हृदयमें एक क्षणके लिये भी नहीं ठहर पाता है ॥ ७ ॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति ।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥ ८ ॥

'एक मानवकन्या किसी राक्षसकी भार्या नहीं हो सकती । तुम सब लोग भले ही मुझे खा जाओ; किंतु मैं तुम्हारी बात नहीं मान सकती ॥ ८ ॥

दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः ।
तं नित्यमनुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ९ ॥

'मेरे पति दीन हों अथवा राज्यहीन—वे ही मेरे स्वामी हैं, वे ही मेरे गुरु हैं, मैं सदा उन्हींमें अनुरक्त हूँ और रहूँगी । जैसे सुवर्चला सूर्यमें अनुरक्त रहती हैं ॥ ९ ॥

यथा शची महाभागा शक्रं समुपतिष्ठति ।
अरुन्धती वसिष्ठं च रोहिणी शशिनं यथा ॥ १० ॥
लोपामुद्रा यथागस्त्यं सुकन्या च्यवनं यथा ।
सावित्री सत्यवन्तं च कपिलं श्रीमती यथा ॥ ११ ॥
सौदासं मदयन्तीव केशिनी सगरं यथा ।
नैषधं दमयन्तीव भैमी पतिमनुव्रता ॥ १२ ॥
तथाहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता ।

'जैसे महाभागा शची इन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती हैं, जैसे देवी अरुन्धती महर्षि वसिष्ठमें, रोहिणी चन्द्रमामें, लोपामुद्रा अगस्त्यमें, सुकन्या च्यवनमें, सावित्री सत्यवान्‌में, श्रीमती कपिलमें, मदयन्ती सौदासमें, केशिनी सगरमें तथा भीमकुमारी दमयन्ती अपने पति निषधनरेश नलमें अनुराग रखती हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने पतिदेव इक्ष्वाकुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीराममें अनुरक्त हूँ' ॥ १०—१२½ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः ।
भर्त्सयन्ति स्म परुषैर्वाक्यै रावणचोदिताः ॥ १३ ॥

सीताकी बात सुनकर राक्षसियोंके क्रोधकी सीमा न रही । वे रावणकी आज्ञाके अनुसार कठोर वचनोंद्वारा उन्हें धमकाने लगीं ॥ १३ ॥

अवलीनः स निर्वाक्यो हनुमाञ्शिंशपाद्रुमे ।
सीतां संतर्जयन्तीस्ता राक्षसीरशृणोत् कपिः ॥ १४ ॥

अशोक वृक्षमें चुपचाप छिपे बैठे हुए वानर हनुमान्जी सीताको फटकारती हुई राक्षसियोंकी बातें सुनते रहे ॥ १४ ॥

तामभिक्रम्य संरब्धा वेपमानां समन्ततः।
भृशं संलिलिहुर्दीप्तान् प्रलम्बान् दशनच्छदान्॥ १५॥

वे सब राक्षसियाँ कुपित हो वहाँ काँपती हुई सीतापर चारों ओरसे टूट पड़ीं और अपने लंबे एवं चमकीले ओठोंको बारंबार चाटने लगीं ॥ १५ ॥

ऊचुश्च परमक्रुद्धाः प्रगृह्याशु परश्वधान्।
नेयमर्हति भर्तारं रावणं राक्षसाधिपम्॥ १६॥

उनका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था। वे सब-की-सब तुरंत हाथोंमें फरसे लेकर बोल उठीं—'यह राक्षसराज रावणको पतिरूपमें पाने योग्य है ही नहीं' ॥ १६ ॥

सा भर्त्स्यमाना भीमाभी राक्षसीभिर्वराङ्गना।
सा बाष्पमपमार्जन्ती शिंशपां तामुपागमत्॥ १७॥

उन भयानक राक्षसियोंके बारंबार डाटने और धमकानेपर सर्वाङ्गसुन्दरी कल्याणी सीता अपने आँसू पोंछती हुई उसी अशोक वृक्षके नीचे चली आयीं (जिसके ऊपर हनुमान्जी छिपे बैठे थे) ॥ १७ ॥

ततस्तां शिंशपां सीता राक्षसीभिः समावृता।
अभिगम्य विशालाक्षी तस्थौ शोकपरिप्लुता॥ १८॥

विशाललोचना वैदेही शोक-सागरमें डूबी हुई थीं। इसलिये वहाँ चुपचाप बैठ गयीं। किंतु उन राक्षसियोंने वहाँ भी आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ॥ १८ ॥

तां कृशां दीनवदनां मलिनाम्बरवासिनीम्।
भर्त्सयांचक्रिरे भीमां राक्षस्यस्ताः समन्ततः॥ १९॥

वे बहुत ही दुर्बल हो गयी थीं। उनके मुखपर दीनता छा रही थी और उन्होंने मलिन वस्त्र पहन रक्खा था। उस अवस्थामें उन जनकनन्दिनीको चारों ओर खड़ी हुई भयानक राक्षसियोंने फिर धमकाना आरम्भ किया ॥ १९ ॥

ततस्तु विनता नाम राक्षसी भीमदर्शना।
अब्रवीत् कुपिताकारा कराला निर्णतोदरी॥ २०॥

तदनन्तर विनता नामकी राक्षसी आगे बढ़ी। वह देखनेमें बड़ी भयंकर थी। उसकी देह क्रोधकी सजीव प्रतिमा जान पड़ती थी। उस विकराल राक्षसीके पेट भीतरकी ओर धँसे हुए थे। वह बोली—॥ २० ॥

सीते पर्याप्तमेतावद् भर्तुः स्नेहः प्रदर्शितः।
सर्वत्रातिकृतं भद्रे व्यसनायोपकल्पते॥ २१॥

'सीते! तूने अपने पतिके प्रति जितना स्नेह दिखाया है, इतना ही बहुत है। भद्रे! अति करना तो सब जगह दुःखका ही कारण होता है ॥ २१ ॥

परितुष्टास्मि भद्रं ते मानुषस्ते कृतो विधिः।
ममापि तु वचः पथ्यं ब्रुवन्त्याः कुरु मैथिलि॥ २२॥

'मिथिलेशकुमारी! तुम्हारा भला हो। मैं तुमसे बहुत संतुष्ट हूँ; क्योंकि तुमने मानवोचित शिष्टाचारका अच्छी तरह पालन किया है। अब मैं भी तुम्हारे हितके लिये जो बात कहती हूँ, उसपर ध्यान दो—उसका शीघ्र पालन करो ॥ २२ ॥

रावणं भज भर्तारं भर्तारं सर्वरक्षसाम्।
विक्रान्तमापतन्तं च सुरेशमिव वासवम्॥ २३॥

'समस्त राक्षसोंका भरण-पोषण करनेवाले महाराज रावणको तुम अपना पति स्वीकार कर लो। वे देवराज-इन्द्रके समान बड़े पराक्रमी तथा रूपवान् हैं ॥ २३ ॥

दक्षिणं त्यागशीलं च सर्वस्य प्रियवादिनम्।
मानुषं कृपणं रामं त्यक्त्वा रावणमाश्रय॥ २४॥

'दीन-हीन मनुष्य रामका परित्याग करके सबसे प्रिय वचन बोलनेवाले, उदार और त्यागी रावणका आश्रय लो ॥ २४ ॥

दिव्याङ्गरागा वैदेहि दिव्याभरणभूषिता।
अद्यप्रभृति लोकानां सर्वेषामीश्वरी भव॥ २५॥

'विदेहराजकुमारी! तुम आजसे समस्त लोकोंकी स्वामिनी बन जाओ और दिव्य अङ्गराग तथा दिव्य आभूषण धारण करो ॥ २५ ॥

अग्नेः स्वाहा यथा देवी शची वेन्द्रस्य शोभने।
किं ते रामेण वैदेहि कृपणेन गतायुषा॥ २६॥

'शोभने! जैसे अग्निकी प्रिय पत्नी स्वाहा और इन्द्रकी प्राणवल्लभा शची हैं, उसी प्रकार तुम रावणकी प्रेयसी बन जाओ। विदेहकुमारी! श्रीराम तो दीन हैं। उनकी आयु भी अब समाप्त हो चली है। उनसे तुम्हें क्या मिलेगा? ॥

एतदुक्तं च मे वाक्यं यदि त्वं न करिष्यसि।
अस्मिन् मुहूर्ते सर्वास्त्वां भक्षयिष्यामहे वयम्॥ २७॥

'यदि तुम मेरी कही हुई इस बातको नहीं मानोगी तो हम सब मिलकर तुम्हें इसी मुहूर्तमें अपना आहार बना लेंगी' ॥ २७ ॥

अन्या तु विकटा नाम लम्बमानपयोधरा।
अब्रवीत् कुपिता सीतां मुष्टिमुद्यम्य तर्जती॥ २८॥

तदनन्तर दूसरी राक्षसी सामने आयी। उसके लंबे-लंबे स्तन लटक रहे थे। उसका नाम विकटा था। वह कुपित हो मुक्का तानकर डाँटती हुई सीतासे बोली—॥ २८ ॥

बह्वन्यप्रतिरूपाणि वचनानि सुदुर्मते।
अनुक्रोशान्मृदुत्वाच्च सोढानि तव मैथिलि॥ २९॥

'अत्यन्त खोटी बुद्धिवाली मिथिलेशकुमारी! अबतक हमलोगोंने अपने कोमल स्वभाववश तुमपर दया आ जानेके कारण तुम्हारी बहुत-सी अनुचित बातें सह ली हैं ॥ २९ ॥

न च नः कुरुषे वाक्यं हितं कालपुरस्कृतम्।
आनीतासि समुद्रस्य पारमन्यैर्दुरासदम्॥ ३०॥
रावणान्तःपुरे घोरे प्रविष्टा चासि मैथिलि।
रावणस्य गृहे रुद्धा अस्माभिस्त्वभिरक्षिता॥ ३१॥

'इतनेपर भी तुम हमारी बात नहीं मानती हो। हमने तुम्हारे हितके लिये ही समयोचित सलाह दी थी। देखो, तुम्हें समुद्रके इस पार ले आया गया है, जहाँ पहुँचना दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। यहाँ भी रावणके भयानक अन्तःपुरमें तुम लाकर रक्खी गयी हो। मिथिलेशकुमारी! याद रक्खो, रावणके घरमें कैद हो और हम-जैसी राक्षसियाँ तुम्हारी चौकसी कर रही हैं॥ ३०-३१॥

न त्वां शक्तः परित्रातुमपि साक्षात् पुरंदरः।
कुरुष्व हितवादिन्या वचनं मम मैथिलि॥ ३२॥

'मैथिलि! साक्षात् इन्द्र भी यहाँ तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। अतः मेरा कहना मानो, मैं तुम्हारे हितकी बात बता रही हूँ॥ ३२॥

अलमश्रुनिपातेन त्यज शोकमनर्थकम्।
भज प्रीतिं प्रहर्षं च त्यजन्ती नित्यदैन्यताम्॥ ३३॥

'आँसू बहानेसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है। यह व्यर्थका शोक त्याग दो। सदा छायी रहनेवाली दीनताको दूर करके अपने हृदयमें प्रसन्नता और उल्लासको स्थान दो॥

सीते राक्षसराजेन परिक्रीड यथासुखम्।
जानीमहे यथा भीरु स्त्रीणां यौवनमध्रुवम्॥ ३४॥

'सीते! राक्षसराज रावणके साथ सुखपूर्वक क्रीडाविहार करो। भीरु! हम सभी स्त्रियाँ जानती हैं कि नारियोंका यौवन टिकनेवाला नहीं होता॥ ३४॥

यावन्न ते व्यतिक्रामेत् तावत् सुखमवाप्नुहि।
उद्यानानि च रम्याणि पर्वतोपवनानि च॥ ३५॥
सह राक्षसराजेन चर त्वं मदिरेक्षणे।
स्त्रीसहस्राणि ते देवि वशे स्थास्यन्ति सुन्दरि॥ ३६॥

'जबतक तुम्हारा यौवन नहीं ढल जाता, तबतक सुख भोग लो। मदमत्त बना देनेवाले नेत्रोंसे शोभा पानेवाली सुन्दरी! तुम राक्षसराज रावणके साथ लङ्काके रमणीय उद्यानों और पर्वतीय उपवनोंमें विहार करो। देवि! ऐसा करनेसे सहस्रों स्त्रियाँ सदा तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहेंगी॥३५-३६॥

रावणं भज भर्तारं भर्तारं सर्वरक्षसाम्।
उत्पाट्य वा ते हृदयं भक्षयिष्यामि मैथिलि॥ ३७॥
यदि मे व्याहृतं वाक्यं न यथावत् करिष्यसि।

महाराज रावण समस्त राक्षसोंका भरण-पोषण करनेवाले स्वामी हैं। तुम उन्हें अपना पति बना लो। मैथिलि! याद रक्खो, मैंने जो बात कही है, यदि उसका ठीक-ठीक पालन नहीं करोगी तो मैं अभी तुम्हारा कलेजा निकालकर खा जाऊँगी'॥ ३७½॥

ततश्चण्डोदरी नाम राक्षसी क्रूरदर्शना॥ ३८॥
भ्रामयन्ती महच्छूलमिदं वचनमब्रवीत्।

अब चण्डोदरी नामवाली राक्षसीकी बारी आयी। उसकी दृष्टिसे ही क्रूरता टपकती थी। उसने विशाल त्रिशूल घुमाते हुए यह बात कही—॥ ३८½॥

इमां हरिणशावाक्षीं त्रासोत्कम्पपयोधराम्॥ ३९॥
रावणेन हृतां दृष्ट्वा दौर्हृदो मे महानयम्।
यकृत् प्लीहं महत् क्रोडं हृदयं च सबन्धनम्॥ ४०॥
गात्राण्यपि तथा शीर्षं खादेयमिति मे मतिः।

'महाराज रावण जब इसे हरकर ले आये थे, उस समय भयके मारे यह थर-थर काँप रही थी, जिससे इसके दोनों स्तन हिल रहे थे। उस दिन इस मृगशावकनयनी मानव-कन्याको देखकर मेरे हृदयमें यह बड़ी भारी इच्छा जाग्रत् हुई—इसके जिगर, तिल्ली, विशाल वक्षःस्थल, हृदय, उसके आधारस्थान, अन्यान्य अङ्ग तथा सिरको मैं खा जाऊँ। इस समय भी मेरा ऐसा ही विचार है'॥ ३९-४०½॥

ततस्तु प्रघसा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत्॥ ४१॥
कण्ठमस्या नृशंसायाः पीडयामः किमास्यते।
निवेद्यतां ततो राज्ञे मानुषी सा मृतेति ह॥ ४२॥
नात्र कश्चन संदेहः खादतेति स वक्ष्यति।

तदनन्तर प्रघसा नामक राक्षसी बोल उठी—'फिर तो हमलोग इस क्रूर-हृदया सीताका गला घोट दें; अब चुपचाप बैठे रहनेकी क्या आवश्यकता है? इसे मारकर महाराजको सूचना दे दी जाय कि वह मानवकन्या मर गयी। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समाचारको सुनकर महाराज यह आज्ञा दे देंगे कि तुम सब लोग उसे खा जाओ॥ ४१-४२½॥

ततस्त्वजामुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत्॥ ४३॥
विशस्येमां ततः सर्वान् समान् कुरुत पिण्डकान्।
विभजाम ततः सर्वा विवादो मे न रोचते॥ ४४॥
पेयमानीयतां क्षिप्रं माल्यं च विविधं बहु।

तत्पश्चात् राक्षसी अजामुखीने कहा—'मुझे तो व्यर्थका वाद-विवाद अच्छा नहीं लगता। आओ, पहले, इसे काटकर इसके बहुत-से टुकड़े कर डालें। वे सभी टुकड़े बराबर माप-तौलके होने चाहिये। फिर उन टुकड़ोंको हमलोग आपसमें बाँट लेंगी। साथ ही नाना प्रकारकी पेय-सामग्री तथा फूल-माला आदि भी शीघ्र ही प्रचुर मात्रामें मँगा ली जाय'॥

ततः शूर्पणखा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत्॥ ४५॥
अजामुख्या यदुक्तं वै तदेव मम रोचते।
सुरा चानीयतां क्षिप्रं सर्वशोकविनाशिनी॥ ४६॥
मानुषं मांसमास्वाद्य नृत्यामोऽथ निकुम्भिलाम्।

तदनन्तर राक्षसी शूर्पणखाने कहा—'अजामुखीने जो बात कही है, वही मुझे भी अच्छी लगती है। समस्त शोकोंको नष्ट कर देनेवाली सुराको भी शीघ्र मँगवा लो। उसके साथ मनुष्यके मांसका आस्वादन करके हम निकुम्भिला देवीके सामने नृत्य करेंगी' ॥ ४५-४६½ ॥

एवं निर्भर्त्स्यमाना सा सीता सुरसुतोपमा।
राक्षसीभिर्विरूपाभिर्धैर्यमुत्सृज्य रोदिति ॥ ४७ ॥

उन विकराल रूपवाली राक्षसियोंके द्वारा इस प्रकार धमकायी जानेपर देवकन्याके समान सुन्दरी सीता धैर्य छोड़कर फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

राक्षसियोंकी बात माननेसे इनकार करके शोक-संतप्त सीताका विलाप करना

अथ तासां वदन्तीनां परुषं दारुणं बहु।
राक्षसीनामसौम्यानां रुरोद जनकात्मजा ॥ १ ॥

जब वे क्रूर राक्षसियाँ इस प्रकारकी बहुत-सी कठोर एवं क्रूरतापूर्ण बातें कह रही थीं, उस समय जनकनन्दिनी सीता अधीर हो-होकर रो रही थीं ॥ १ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही राक्षसीभिर्मनस्विनी।
उवाच परमत्रस्ता बाष्पगद्गदया गिरा ॥ २ ॥

उन राक्षसियोंके इस प्रकार कहनेपर अत्यन्त भयभीत हुई मनस्विनी विदेहराजकुमारी सीता नेत्रोंसे आँसू बहाती गद्गद वाणीमें बोलीं—॥ २ ॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥ ३ ॥

'राक्षसियो! मनुष्यकी कन्या कभी राक्षसकी भार्या नहीं हो सकती। तुम्हारा जी चाहे तो तुम सब लोग मिलकर मुझे खा जाओ, परंतु मैं तुम्हारी बात नहीं मानूँगी' ॥ ३ ॥

सा राक्षसीमध्यगता सीता सुरसुतोपमा।
न शर्म लेभे शोकार्ता रावणेनेव भर्त्सिता ॥ ४ ॥

राक्षसियोंके बीचमें बैठी हुई देवकन्याके समान सुन्दरी सीता रावणके द्वारा धमकायी जानेके कारण शोकसे आर्त-सी होकर चैन नहीं पा रही थीं ॥ ४ ॥

वेपते स्माधिकं सीता विशन्तीवाङ्गमात्मनः।
वने यूथपरिभ्रष्टा मृगी कोकैरिवार्दिता ॥ ५ ॥

जैसे वनमें अपने यूथसे बिछुड़ी हुई मृगी भेड़ियोंसे पीड़ित होकर भयके मारे काँप रही हो, उसी प्रकार सीता जोर-जोरसे काँप रही थीं और इस तरह सिकुड़ी जा रही थीं, मानो अपने अङ्गोंमें ही समा जायँगी ॥ ५ ॥

सा त्वशोकस्य विपुलां शाखामालम्ब्य पुष्पिताम्।
चिन्तयामास शोकेन भर्तारं भग्नमानसा ॥ ६ ॥

उनका मनोरथ भङ्ग हो गया था। वे हताश-सी होकर अशोकवृक्षकी खिली हुई एक विशाल शाखाका सहारा ले शोकसे पीड़ित हो अपने पतिदेवका चिन्तन करने लगीं ॥

सा स्नापयन्ती विपुलौ स्तनौ नेत्रजलस्रवैः।
चिन्तयन्ती न शोकस्य तदान्तमधिगच्छति ॥ ७ ॥

आँसुओंके प्रवाहसे अपने स्थूल उरोजोंका अभिषेक करती हुई वे चिन्तामें डूबी थीं और उस समय शोकका पार नहीं पा रही थीं ॥ ७ ॥

सा वेपमाना पतिता प्रवाते कदली यथा।
राक्षसीनां भयत्रस्ता विवर्णवदनाभवत् ॥ ८ ॥

प्रचण्ड वायुके चलनेपर कम्पित होकर गिरे हुए केलेके वृक्षकी भाँति वे राक्षसियोंके भयसे त्रस्त हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। उस समय उनके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी॥

तस्याः सा दीर्घबहुला वेपन्त्याः सीतया तदा।
ददृशे कम्पिता वेणी व्यालीव परिसर्पती ॥ ९ ॥

उस बेलामें काँपती हुई सीताकी विशाल एवं घनीभूत वेणी भी कम्पित हो रही थी, इसलिये वह रेंगती हुई सर्पिणीके समान दिखायी देती थी ॥ ९ ॥

सा निःश्वसन्ती शोकार्ता कोपोपहतचेतना।
आर्ता व्यसृजदश्रूणि मैथिली विललाप च ॥ १० ॥

वे शोकसे पीड़ित होकर लंबी साँसें खींच रही थीं और क्रोधसे अचेत-सी होकर आर्तभावसे आँसू बहा रही थीं। उस समय मिथिलेशकुमारी इस प्रकार विलाप करने लगीं—॥१०॥

हा रामेति च दुःखार्ता हा पुनर्लक्ष्मणेति च।
हा श्वश्रूर्मम कौसल्ये हा सुमित्रेति भामिनी ॥ ११ ॥

'हा राम! हा लक्ष्मण! हा मेरी सासु कौसल्ये! हा आर्ये सुमित्रे!' बार-बार ऐसा कहकर दुःखसे पीड़ित हुई भामिनी सीता रोने-बिलखने लगीं ॥ ११ ॥

लोकप्रवादः सत्योऽयं पण्डितैः समुदाहृतः।
अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ॥ १२ ॥

'हाय! पण्डितोंने यह लोकोक्ति ठीक ही कही है कि 'किसी भी स्त्री या पुरुषकी मृत्यु बिना समय आये नहीं होती' ॥ १२ ॥

यत्राहमाभिः क्रूराभी राक्षसीभिरिहार्दिता।
जीवामि हीना रामेण मुहूर्तमपि दुःखिता ॥ १३ ॥

'तभी तो मैं श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित तथा इन क्रूर राक्षसियोंद्वारा पीड़ित होनेपर भी यहाँ मुहूर्तभर भी जी रही हूँ ॥ १३ ॥

एषाल्पपुण्या कृपणा विनशिष्याम्यनाथवत्।
समुद्रमध्ये नौः पूर्णा वायुवेगैरिवाहता ॥ १४ ॥

'मैंने पूर्वजन्ममें बहुत थोड़े पुण्य किये थे, इसीलिये इस दीन दशामें पड़कर मैं अनाथकी भाँति मारी जाऊँगी। जैसे समुद्रके भीतर सामानसे भरी हुई नौका वायुके वेगसे आहत हो डूब जाती है, उसी प्रकार मैं भी नष्ट हो जाऊँगी ॥

भर्तारं तमपश्यन्ती राक्षसीवशमागता।
सीदामि खलु शोकेन कूलं तोयहतं यथा ॥ १५ ॥

'मुझे पतिदेवके दर्शन नहीं हो रहे हैं। मैं इन राक्षसियों-के चंगुलमें फँस गयी हूँ और पानीके थपेड़ोंसे आहत हो कटते हुए कगारोंके समान शोकसे क्षीण होती जा रही हूँ ॥

तं पद्मदलपत्राक्षं सिंहविक्रान्तगामिनम्।
धन्याः पश्यन्ति मे नाथं कृतज्ञं प्रियवादिनम् ॥ १६ ॥

'आज जिन लोगोंको सिंहके समान पराक्रमी और सिंह-की-सी चालवाले मेरे कमलदललोचन, कृतज्ञ और प्रियवादी प्राणनाथके दर्शन हो रहे हैं, वे धन्य हैं ॥ १६ ॥

सर्वथा तेन हीनाया रामेण विदितात्मना।
तीक्ष्णं विषमिवास्वाद्य दुर्लभं मम जीवनम् ॥ १७ ॥

'उन आत्मज्ञानी भगवान् श्रीरामसे बिछुड़कर मेरा जीवित रहना उसी तरह सर्वथा दुर्लभ है, जैसे तेज विषका पान करके किसीका भी जीना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥

कीदृशं तु महापापं मया देहान्तरे कृतम्।
तेनेदं प्राप्यते घोरं महादुःखं सुदारुणम् ॥ १८ ॥

'पता नहीं, मैंने पूर्व-जन्ममें दूसरे शरीरसे कैसा महान् पाप किया था, जिससे यह अत्यन्त कठोर, घोर और महान् दुःख मुझे प्राप्त हुआ है ? ॥ १८ ॥

जीवितं त्यक्तुमिच्छामि शोकेन महता वृता।
राक्षसीभिश्च रक्षन्त्या रामो नासाद्यते मया ॥ १९ ॥

'इन राक्षसियोंके संरक्षणमें रहकर तो मैं अपने प्राणाराम श्रीरामको कदापि नहीं पा सकती, इसलिये महान् शोकसे घिर गयी हूँ और इससे तंग आकर अपने जीवनका अन्त कर देना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यताम्।
न शक्यं यत् परित्यक्तुमात्मच्छन्देन जीवितम् ॥ २० ॥

'इस मानव-जीवन और परतन्त्रताको धिक्कार है, जहाँ अपनी इच्छाके अनुसार प्राणोंका परित्याग भी नहीं किया जा सकता' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

सीताका करुण-विलाप तथा अपने प्राणोंको त्याग देनेका निश्चय करना

प्रसक्ताश्रुमुखी त्वेवं ब्रुवती जनकात्मजा।
अधोगतमुखी बाला विलप्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥
उन्मत्तेव प्रमत्तेव भ्रान्तचित्तेव शोचती।
उपावृत्ता किशोरीव विवेष्टन्ती महीतले ॥ २ ॥

जनकनन्दिनी सीताके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। उन्होंने अपना मुख नीचेकी ओर झुका लिया था। वे उपर्युक्त बातें कहती हुई ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन्मत्त हो गयी हों—उनपर भूत सवार हो गया हो अथवा पित्त बढ़ जानेसे पागलोंका-सा प्रलाप कर रही हों अथवा दिग्भ्रम आदिके कारण उनका चित्त भ्रान्त हो गया हो। वे शोकमग्न हो धरतीपर लोटती हुई बछेड़ीके समान पड़ी-पड़ी छटपटा रही थीं। उसी अवस्थामें सरलहृदया सीताने इस प्रकार विलाप करना आरम्भ किया—॥ १-२ ॥

राघवस्य प्रमत्तस्य रक्षसा कामरूपिणा।
रावणेन प्रमथ्याहमानीता क्रोशती बलात् ॥ ३ ॥

'हाय ! इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मारीचके द्वारा जब रघुनाथजी दूर हटा दिये गये और मेरी ओरसे असावधान हो गये, उस अवस्थामें रावण मुझ रोती-चिल्लाती हुई अबलाको बलपूर्वक उठाकर यहाँ ले आया ॥ ३ ॥

राक्षसीवशमापन्ना भर्त्स्यमाना च दारुणम्।
चिन्तयन्ती सुदुःखार्ता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

'अब मैं राक्षसियोंके वशमें पड़ी हूँ और इनकी कठोर धमकियाँ सुनती एवं सहती हूँ। ऐसी दशामें अत्यन्त दुःखसे आर्त एवं चिन्तित होकर मैं जीवित नहीं रह सकती ॥ ४ ॥

नहि मे जीवितेनार्थो नैवार्थैर्न च भूषणैः।
वसन्त्या राक्षसीमध्ये विना रामं महारथम् ॥ ५ ॥

'महारथी श्रीरामके बिना राक्षसियोंके बीचमें रहकर

मुझे न तो जीवनसे कोई प्रयोजन है, न धनकी आवश्यकता है और न आभूषणोंसे ही कोई काम है ॥ ५ ॥

अश्मसारमिदं नूनमथवाप्यजरामरम् ।
हृदयं मम येनेदं न दुःखेन विशीर्यते ॥ ६ ॥

'अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेका बना हुआ है अथवा अजर-अमर है, जिससे इस महान् दुःखमें पड़कर भी यह फटता नहीं है ॥ ६ ॥

धिङ्मामनार्यामसतीं याहं तेन विना कृता ।
मुहूर्तमपि जीवामि जीवितं पापजीविका ॥ ७ ॥

'मैं बड़ी ही अनार्य और असती हूँ, मुझे धिक्कार है, जो उनसे अलग होकर मैं एक मुहूर्त भी इस पापी जीवनको धारण किये हूँ। अब तो यह जीवन केवल दुःख देनेके लिये ही है ॥ ७ ॥

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥ ८ ॥

'उस लोकनिन्दित निशाचर रावणको तो मैं बायें पैरसे भी नहीं छू सकती, फिर उसे चाहनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ ८ ॥

प्रत्याख्यानं न जानाति नात्मानं नात्मनः कुलम् ।
यो नृशंसस्वभावेन मां प्रार्थयितुमिच्छति ॥ ९ ॥

'यह राक्षस अपने क्रूर स्वभावके कारण न तो मेरे इन्कारपर ध्यान देता है, न अपने महत्त्वको समझता है और न अपने कुलकी प्रतिष्ठाका ही विचार करता है। बारंबार मुझे प्राप्त करनेकी ही इच्छा करता है ॥ ९ ॥

छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता ।
रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम् ॥ १० ॥

'राक्षसियो ! तुम्हारे देरतक बकवाद करनेसे क्या लाभ ? तुम मुझे छेदो, चीरो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो, आगमें सेंक दो अथवा सर्वथा जलाकर भस्म कर डालो तो भी मैं रावणके पास नहीं फटक सकती ॥ १० ॥

ख्यातः प्राज्ञः कृतज्ञश्च सानुक्रोशश्च राघवः ।
सद्वृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ॥ ११ ॥

'श्रीरघुनाथजी विश्वविख्यात ज्ञानी, कृतज्ञ, सदाचारी और परम दयालु हैं तथापि मुझे संदेह हो रहा है कि कहीं वे मेरे भाग्यके नष्ट हो जानेसे मेरे प्रति निर्दय तो नहीं हो गये ? ॥ ११ ॥

राक्षसानां जनस्थाने सहस्राणि चतुर्दश ।
एकेनैव निरस्तानि स मां किं नाभिपद्यते ॥ १२ ॥

'अन्यथा जिन्होंने जनस्थानमें अकेले ही चौदह हजार राक्षसोंको कालके गालमें डाल दिया, वे मेरे पास क्यों नहीं आ रहे हैं ? ॥ १२ ॥

निरुद्धा रावणेनाहमल्पवीर्येण रक्षसा ।
समर्थः खलु मे भर्ता रावणं हन्तुमाहवे ॥ १३ ॥

'इस अल्प बलवाले राक्षस रावणने मुझे कैद कर रक्खा है। निश्चय ही मेरे पतिदेव समराङ्गणमें इस रावणका वध करनेमें समर्थ हैं ॥ १३ ॥

विराधो दण्डकारण्ये येन राक्षसपुङ्गवः ।
रणे रामेण निहतः स मां किं नाभिपद्यते ॥ १४ ॥

'जिन श्रीरामने दण्डकारण्यके भीतर राक्षसशिरोमणि विराधको युद्धमें मार डाला था, वे मेरी रक्षा करनेके लिये यहाँ क्यों नहीं आ रहे हैं ? ॥ १४ ॥

कामं मध्ये समुद्रस्य लङ्केयं दुष्प्रधर्षणा ।
न तु राघवबाणानां गतिरोधो भविष्यति ॥ १५ ॥

'यह लङ्का समुद्रके बीचमें बसी है, अतः किसी दूसरेके लिये यहाँ आक्रमण करना भले ही कठिन हो, किंतु श्रीरघुनाथजीके बाणोंकी गति यहाँ भी कुण्ठित नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

किं नु तत् कारणं येन रामो दृढपराक्रमः ।
रक्षसापहृतां भार्यामिष्टां यो नाभिपद्यते ॥ १६ ॥

'वह कौन-सा कारण है, जिससे बाधित होकर सुदृढ़ पराक्रमी श्रीराम राक्षसद्वारा अपहृत हुई अपनी प्राणपत्नी सीताको छुड़ानेके लिये नहीं आ रहे हैं ॥ १६ ॥

इहस्थां मां न जानीते शङ्के लक्ष्मणपूर्वजः ।
जानन्नपि स तेजस्वी धर्षणां मर्षयिष्यति ॥ १७ ॥

'मुझे तो संदेह होता है कि लक्ष्मणजीके ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीको मेरे इस लङ्कामें होनेका पता ही नहीं है। मेरे यहाँ होनेकी बात यदि वे जानते होते तो उनके-जैसा तेजस्वी पुरुष अपनी पत्नीका यह तिरस्कार कैसे सह सकता था ? ॥ १७ ॥

हृतेति मां योऽधिगत्य राघवाय निवेदयेत् ।
गृध्रराजोऽपि स रणे रावणेन निपातितः ॥ १८ ॥

'जो श्रीरघुनाथजीको मेरे हरे जानेकी सूचना दे सकते थे, उन गृध्रराज जटायुको भी रावणने युद्धमें मार गिराया था ॥ १८ ॥

कृतं कर्म महत् तेन मां तथाभ्यवपद्यता ।
तिष्ठता रावणवधे वृद्धेनापि जटायुषा ॥ १९ ॥

'जटायु यद्यपि बूढ़े थे तो भी मुझपर अनुग्रह करके रावणका वध करनेके लिये उद्यत हो उन्होंने बहुत बड़ा पुरुषार्थ किया था ॥ १९ ॥

यदि मामिह जानीयाद् वर्तमानां हि राघवः ।
अद्य बाणैरभिक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥ २० ॥

'यदि श्रीरघुनाथजीको मेरे यहाँ रहनेका पता लग जाता तो वे आज ही कुपित होकर सारे संसारको राक्षसोंसे शून्य कर डालते ॥ २० ॥

निर्दहेच्च पुरीं लङ्कां निर्दहेच्च महोदधिम् ।
रावणस्य च नीचस्य कीर्तिं नाम च नाशयेत् ॥ २१ ॥

'लङ्कापुरीको भी जला देते, महासागरको भी भस्म कर डालते तथा इस नीच निशाचर रावणके नाम और यशका भी नाश कर देते ॥ २१ ॥

ततो निहतनाथानां राक्षसीनां गृहे गृहे ।
यथाहमेवं रुदती तथा भूयो न संशयः ॥ २२ ॥

'फिर तो निःसंदेह अपने पतियोंका संहार हो जानेसे घर-घरमें राक्षसियोंका इसी प्रकार क्रन्दन होता, जैसे आज मैं रो रही हूँ ॥ २२ ॥

अन्विष्य रक्षसां लङ्कां कुर्याद् रामः सलक्ष्मणः ।
नहि ताभ्यां रिपुर्दृष्टो मुहूर्तमपि जीवति ॥ २३ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मण लङ्काका पता लगाकर निश्चय ही राक्षसोंका संहार करेंगे । जिस शत्रुको उन दोनों भाइयोंने एक बार देख लिया, वह दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता ॥ २३ ॥

चिताधूमाकुलपथा गृध्रमण्डलमण्डिता ।
अचिरेणैव कालेन श्मशानसदृशी भवेत् ॥ २४ ॥

'अब थोड़े ही समयमें यह लङ्कापुरी श्मशान-भूमिके समान हो जायगी । यहाँकी सड़कोंपर चिताका धुआँ फैल रहा होगा और गीधोंकी जमातें इस भूमिकी शोभा बढ़ाती होंगी ॥ २४ ॥

अचिरेणैव कालेन प्राप्स्याम्येनं मनोरथम् ।
दुष्प्रस्थानोऽयमाभाति सर्वेषां वो विपर्ययः ॥ २५ ॥

'वह समय शीघ्र आनेवाला है जब कि मेरा यह मनोरथ पूर्ण होगा । तुम सब लोगोंका यह दुराचार तुम्हारे लिये शीघ्र ही विपरीत परिणाम उपस्थित करेगा, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है ॥ २५ ॥

यादृशानि तु दृश्यन्ते लङ्कायामशुभानि तु ।
अचिरेणैव कालेन भविष्यति हतप्रभा ॥ २६ ॥

'लङ्कामें जैसे-जैसे अशुभ लक्षण दिखायी दे रहे हैं, उनसे जान पड़ता है कि अब शीघ्र ही इसकी चमक-दमक नष्ट हो जायगी ॥ २६ ॥

नूनं लङ्का हते पापे रावणे राक्षसाधिपे ।
शोषमेष्यति दुर्धर्षा प्रमदा विधवा यथा ॥ २७ ॥

'पापाचारी राक्षसराज रावणके मारे जानेपर यह दुर्धर्ष लङ्कापुरी भी निश्चय ही विधवा युवतीकी भाँति सूख जायगी, नष्ट हो जायगी ॥ २७ ॥

पुण्योत्सवसमृद्धा च नष्टभर्त्री सराक्षसा ।
भविष्यति पुरी लङ्का नष्टभर्त्री यथाङ्गना ॥ २८ ॥

'आज जिस लङ्कामें पुण्यमय उत्सव होते हैं, वह राक्षसों-के सहित अपने स्वामीके नष्ट हो जानेपर विधवा स्त्रीके समान श्रीहीन हो जायगी ॥ २८ ॥

नूनं राक्षसकन्यानां रुदतीनां गृहे गृहे ।
श्रोष्यामि नचिरादेव दुःखार्तानामिह ध्वनिम् ॥ २९ ॥

'निश्चय ही मैं बहुत शीघ्र लङ्काके घर-घरमें दुःखसे आतुर होकर रोती हुई राक्षसकन्याओंकी क्रन्दन-ध्वनि सुनूँगी ॥ २९ ॥

सान्धकारा हतद्योता हतराक्षसपुङ्गवा ।
भविष्यति पुरी लङ्का निर्दग्धा रामसायकैः ॥ ३० ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके सायकोंसे दग्ध हो जानेके कारण लङ्कापुरीकी प्रभा नष्ट हो जायगी । इसमें अन्धकार छा जायगा और यहाँके सभी प्रमुख राक्षस कालके गालमें चले जायँगे ॥ ३० ॥

यदि नाम स शूरो मां रामो रक्तान्तलोचनः ।
जानीयाद् वर्तमानां यां राक्षसस्य निवेशने ॥ ३१ ॥

'यह सब तभी सम्भव होगा, जब कि लाल नेत्रप्रान्तवाले शूरवीर भगवान् श्रीरामको यह पता लग जाय कि मैं राक्षसके अन्तःपुरमें बंदी बनाकर रखी गयी हूँ ॥ ३१ ॥

अनेन तु नृशंसेन रावणेनाधमेन मे ।
समयो यस्तु निर्दिष्टस्तस्य कालोऽयमागतः ॥ ३२ ॥

'इस नीच और नृशंस रावणने मेरे लिये जो समय नियत किया है, उसकी पूर्ति भी निकट भविष्यमें ही हो जायगी ॥ ३२ ॥

स च मे विहितो मृत्युरस्मिन् दुष्टेन वर्तते ।
अकार्यं ये न जानन्ति नैर्ऋताः पापकारिणः ॥ ३३ ॥

'उसी समय दुष्ट रावणने मेरे वधका निश्चय किया है । ये पापाचारी राक्षस इतना भी नहीं जानते हैं कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं ॥ ३३ ॥

अधर्मात् तु महोत्पातो भविष्यति हि साम्प्रतम् ।
नैते धर्मं विजानन्ति राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ ३४ ॥

'इस समय अधर्मसे ही महान् उत्पात होनेवाला है । ये मांसभक्षी राक्षस धर्मको बिल्कुल नहीं जानते हैं ॥ ३४ ॥

ध्रुवं मां प्रातराशार्थं राक्षसः कल्पयिष्यति ।
साहं कथं करिष्यामि तं विना प्रियदर्शनम् ॥ ३५ ॥

'वह राक्षस अवश्य ही अपने कलेवेके लिये मेरे शरीरके टुकड़े-टुकड़े करा डालेगा । उस समय अपने प्रियदर्शन पतिके बिना मैं असहाय अबला क्या करूँगी ? ॥ ३५ ॥

रामं रक्तान्तनयनमपश्यन्ती सुदुःखिता ।
क्षिप्रं वैवस्वतं देवं पश्येयं पतिना विना ॥ ३६ ॥

'जिनके नेत्रप्रान्त अरुण वर्णके हैं उन श्रीरामचन्द्रजी-का दर्शन न पाकर अत्यन्त दुःखमें पड़ी हुई मुझ असहाय

अबलाको पतिका चरणस्पर्श किये बिना ही शीघ्र यमदेवताका दर्शन करना पड़ेगा ॥ ३६ ॥

नाजानाज्जीवतीं रामः स मां भरतपूर्वजः ।
जानन्तौ तु न कुर्यातां नोर्व्यां हि परिमार्गणम् ॥ ३७ ॥

'भरतके बड़े भाई भगवान् श्रीराम यह नहीं जानते हैं कि मैं जीवित हूँ । यदि उन्हें इस बातका पता होता तो ऐसा सम्भव नहीं था कि वे पृथ्वीपर मेरी खोज नहीं करते ॥ ३७॥

नूनं ममैव शोकेन स वीरो लक्ष्मणाग्रजः ।
देवलोकमितो यातस्त्यक्त्वा देहं महीतले ॥ ३८ ॥

'मुझे तो यह निश्चित जान पड़ता है कि मेरे ही शोकसे लक्ष्मणके बड़े भाई वीरवर श्रीराम भूतलपर अपने शरीरका त्याग करके यहाँसे देवलोकको चले गये हैं ॥ ३८ ॥

धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
मम पश्यन्ति ये वीरं रामं राजीवलोचनम् ॥ ३९ ॥

'वे देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षिगण धन्य हैं, जो मेरे पतिदेव वीर-शिरोमणि कमलनयन श्रीरामका दर्शन पा रहे हैं ॥ ३९ ॥

अथवा नहि तस्यार्थो धर्मकामस्य धीमतः ।
मया रामस्य राजर्षेर्भार्यया परमात्मनः ॥ ४० ॥

'अथवा केवल धर्मकी कामना रखनेवाले परमात्म-स्वरूप बुद्धिमान् राजर्षि श्रीरामको भार्यासे कोई प्रयोजन नहीं है (इसीलिये वे मेरी सुध नहीं ले रहे हैं) ॥ ४० ॥

दृश्यमाने भवेत् प्रीतिः सौहृदं नास्त्यदृश्यतः ।
नाशयन्ति कृतघ्नास्तु न रामो नाशयिष्यति ॥ ४१ ॥

'जो स्वजन अपनी दृष्टिके सामने होते हैं, उन्हींपर प्रीति बनी रहती है । जो आँखसे ओझल होते हैं, उनपर लोगोंका स्नेह नहीं रहता है (शायद इसीलिये श्रीरघुनाथजी मुझे भूल गये हैं, परंतु यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि) कृतघ्न मनुष्य ही पीठ-पीछे प्रेमको ठुकरा देते हैं । भगवान् श्रीराम ऐसा नहीं करेंगे ॥ ४१ ॥

किं वा मय्यगुणाः केचित् किं वा भाग्यक्षयो हि मे ।
या हि सीता वरार्हेण हीना रामेण भामिनी ॥ ४२ ॥

'अथवा मुझमें कोई दुर्गुण हैं या मेरा भाग्य ही फूट गया है, जिससे इस समय मैं मानिनी सीता अपने परम पूजनीय पति श्रीरामसे बिछुड़ गयी हूँ ॥ ४२ ॥

श्रेयो मे जीवितान्मर्तुं विहीनाया महात्मना ।
रामादक्लिष्टचारित्राच्छूराच्छत्रुनिबर्हणात् ॥ ४३ ॥

'मेरे पति भगवान् श्रीरामका सदाचार अक्षुण्ण है । वे शूरवीर होनेके साथ ही शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं । मैं उनसे संरक्षण पानेके योग्य हूँ, परंतु उन महात्मासे बिछुड़ गयी । ऐसी दशामें जीवित रहनेकी अपेक्षा मर जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है ॥ ४३ ॥

अथवा न्यस्तशस्त्रौ तौ वने मूलफलाशनौ ।
भ्रातरौ हि नरश्रेष्ठौ चरन्तौ वनगोचरौ ॥ ४४ ॥

'अथवा वनमें फल-मूल खाकर विचरनेवाले वे दोनों वनवासी बन्धु नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण अब अहिंसाका व्रत लेकर अपने अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग कर चुके हैं ॥४४॥

अथवा राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
छद्मना घातितौ शूरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४५ ॥

'अथवा दुरात्मा राक्षसराज रावणने उन दोनों शूरवीर बन्धु श्रीराम और लक्ष्मणको छलसे मरवा डाला है ॥ ४५ ॥

साहमेवंविधे काले मर्तुमिच्छामि सर्वतः ।
न च मे विहितो मृत्युरस्मिन् दुःखेऽतिवर्तति ॥ ४६ ॥

'अतः ऐसे समयमें मैं सब प्रकारसे अपने जीवनका अन्त कर देनेकी इच्छा रखती हूँ; परंतु मालूम होता है इस महान् दुःखमें होते हुए भी अभी मेरी मृत्यु नहीं लिखी है ॥ ४६ ॥

धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः ।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये ॥ ४७ ॥

'सत्यस्वरूप परमात्माको ही अपना आत्मा माननेवाले और अपने अन्तःकरणको वशमें रखनेवाले वे महाभाग महात्मा महर्षिगण धन्य हैं, जिनके कोई प्रिय और अप्रिय नहीं हैं ॥ ४७ ॥

प्रियान्न सम्भवेद् दुःखमप्रियादधिकं भवेत् ।
ताभ्यां हि ते वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम् ॥ ४८ ॥

'जिन्हें प्रियके वियोगसे दुःख नहीं होता और अप्रियका संयोग प्राप्त होनेपर उससे भी अधिक कष्टका अनुभव नहीं होता—इस प्रकार जो प्रिय और अप्रिय दोनोंसे परे हैं, उन महात्माओंको मेरा नमस्कार है ॥ ४८ ॥

साहं त्यक्ता प्रियेणैव रामेण विदितात्मना ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि पापस्य रावणस्य गता वशम् ॥ ४९ ॥

'मैं अपने प्रियतम आत्मज्ञानी भगवान् श्रीरामसे बिछुड़ गयी हूँ और पापी रावणके चंगुलमें आ फँसी हूँ, अतः अब इन प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

त्रिजटाका स्वप्न—राक्षसोंके विनाश और श्रीरघुनाथजीकी विजयकी शुभ सूचना

इत्युक्ताः सीतया घोरं राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः।
काश्चिज्जग्मुस्तदाख्यातुं रावणस्य दुरात्मनः॥ १॥

सीताने जब ऐसी भयंकर बात कही, तब वे राक्षसियाँ क्रोधसे अचेत-सी हो गयीं और उनमेंसे कुछ उस दुरात्मा रावणसे वह संवाद कहनेके लिये चल दीं॥ १॥

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यो भीमदर्शनाः।
पुनः परुषमेकार्थमनर्थार्थमथाब्रुवन्॥ २॥

तत्पश्चात् भयंकर दिखायी देनेवाली वे राक्षसियाँ सीताके पास आकर पुनः एक ही प्रयोजनसे सम्बन्ध रखनेवाली कठोर बातें, जो उनके लिये ही अनर्थकारिणी थीं, कहने लगीं—॥२॥

अद्येदानीं तवानार्ये सीते पापविनिश्चये।
राक्षस्यो भक्षयिष्यन्ति मांसमेतद् यथासुखम्॥ ३॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाली अनार्ये सीते! आज इसी समय ये सब राक्षसियाँ मौजके साथ तेरा यह मांस खायेंगी'॥

सीतां ताभिरनार्याभिर्दृष्ट्वा संतर्जितां तदा।
राक्षसी त्रिजटा वृद्धा प्रबुद्धा वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥

उन दुष्ट निशाचरियोंके द्वारा सीताको इस प्रकार डरायी जाती देख बूढ़ी राक्षसी त्रिजटा, जो तत्काल सोकर उठी थी, उन सबसे कहने लगी—॥ ४॥

आत्मानं खादतानार्या न सीतां भक्षयिष्यथ।
जनकस्य सुतामिष्टां स्नुषां दशरथस्य च॥ ५॥

'नीच निशाचरियो! तुमलोग अपने-आपको ही खा जाओ। राजा जनककी प्यारी बेटी तथा महाराज दशरथकी प्रिय पुत्रवधू सीताजीको नहीं खा सकोगी॥ ५॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः।
राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या भवाय च॥ ६॥

'आज मैंने बड़ा भयंकर और रोमाञ्चकारी स्वप्न देखा है, जो राक्षसोंके विनाश और सीतापतिके अभ्युदयकी सूचना देनेवाला है'॥ ६॥

एवमुक्तास्त्रिजटया राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः।
सर्वा एवाब्रुवन् भीतास्त्रिजटां तामिदं वचः॥ ७॥

त्रिजटाके ऐसा कहनेपर वे सब राक्षसियाँ, जो पहले क्रोधसे मूर्च्छित हो रही थीं, भयभीत हो उठीं और त्रिजटासे इस प्रकार बोलीं—॥ ७॥

कथयस्व त्वया दृष्टः स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि।
तासां श्रुत्वा तु वचनं राक्षसीनां मुखोद्गतम्॥ ८॥
उवाच वचनं काले त्रिजटा स्वप्नसंश्रितम्।

'अरी! बताओ तो सही, तुमने आज रातमें यह कैसा स्वप्न देखा है?' उन राक्षसियोंके मुखसे निकली हुई यह बात सुनकर त्रिजटाने उस समय वह स्वप्न-सम्बन्धी बात इस प्रकार कही—॥ ८½॥

गजदन्तमयीं दिव्यां शिबिकामन्तरिक्षगाम्॥ ९॥
युक्तां वाजिसहस्रेण स्वयमास्थाय राघवः।
शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन समागतः॥ १०॥

'आज स्वप्नमें मैंने देखा है कि आकाशमें चलनेवाली एक दिव्य शिबिका है। वह हाथीदाँतकी बनी हुई है। उसमें एक हजार घोड़े जुते हुए हैं और श्वेत पुष्पोंकी माला तथा श्वेत वस्त्र धारण किये स्वयं श्रीरघुनाथजी लक्ष्मणके साथ उस शिबिकापर चढ़कर यहाँ पधारे हैं॥ ९-१०॥

स्वप्ने चाद्य मया दृष्टा सीता शुक्लाम्बरावृता।
सागरेण परिक्षिप्तं श्वेतपर्वतमास्थिता॥ ११॥
रामेण संगता सीता भास्करेण प्रभा यथा।

'आज स्वप्नमें मैंने यह भी देखा है कि सीता श्वेत वस्त्र धारण किये श्वेत पर्वतके शिखरपर बैठी हैं और वह पर्वत समुद्रसे घिरा हुआ है, वहाँ जैसे सूर्यदेवसे उनकी प्रभा मिलती है, उसी प्रकार सीता श्रीरामचन्द्रजीसे मिली हैं॥

राघवश्च पुनर्दृष्टश्चतुर्दन्तं महागजम्॥ १२॥
आरूढः शैलसंकाशं चकास सहलक्ष्मणः।

'मैंने श्रीरघुनाथजीको फिर देखा, वे चार दाँतवाले विशाल गजराजपर, जो पर्वतके समान ऊँचा था, लक्ष्मणके साथ बैठे हुए बड़ी शोभा पा रहे थे॥ १२½॥

ततस्तु सूर्यसंकाशौ दीप्यमानौ स्वतेजसा॥ १३॥
शुक्लमाल्याम्बरधरौ जानकीं पर्युपस्थितौ।

'तदनन्तर अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशित होते तथा श्वेत माला और श्वेत वस्त्र धारण किये वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण जानकीजीके पास आये॥ १३½॥

ततस्तस्य नगस्याग्रे ह्याकाशस्थस्य दन्तिनः॥ १४॥
भर्त्रा परिगृहीतस्य जानकी स्कन्धमाश्रिता।

'फिर उस पर्वत-शिखरपर आकाशमें ही खड़े हुए और पतिद्वारा पकड़े गये उस हाथीके कंधेपर जानकीजी भी आ पहुँचीं॥ १४½॥

भर्तुरङ्कात् समुत्पत्य ततः कमललोचना॥ १५॥
चन्द्रसूर्यौ मया दृष्टा पाणिभ्यां परिमार्जती।

'इसके बाद कमलनयनी सीता अपने पतिके अङ्कसे ऊपरको उछलकर चन्द्रमा और सूर्यके पास पहुँच गयीं।

वहाँ मैंने देखा वे अपने दोनों हाथोंसे चन्द्रमा और सूर्यको पोंछ रही हैं—उनपर हाथ फेर रही हैं* ॥ १५½ ॥

ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यामास्थितः स गजोत्तमः ।
सीतया च विशालाक्ष्या लङ्काया उपरि स्थितः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् जिसपर वे दोनों राजकुमार और विशाललोचना सीताजी विराजमान थीं, वह महान् गजराज लङ्काके ऊपर आकर खड़ा हो गया ॥ १६ ॥

पाण्डुरर्षभयुक्तेन रथेनाष्टयुजा स्वयम् ।
इहोपयातः काकुत्स्थः सीतया सह भार्यया ॥ १७ ॥
शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन सहागतः ।

'फिर मैंने देखा कि आठ सफेद बैलोंसे जुते हुए एक रथपर आरूढ़ हो ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी श्वेत पुष्पोंकी माला और वस्त्र धारण किये अपनी धर्मपत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ यहाँ पधारे हैं ॥ १७½ ॥

ततोऽन्यत्र मया दृष्टो रामः सत्यपराक्रमः ॥ १८ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह वीर्यवान् ।
आरुह्य पुष्पकं दिव्यं विमानं सूर्यसंनिभम् ॥ १९ ॥
उत्तरां दिशमालोच्य प्रस्थितः पुरुषोत्तमः ।

'इसके बाद दूसरी जगह मैंने देखा सत्यपराक्रमी और बल-विक्रमशाली पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी दिव्य पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो उत्तर दिशाको लक्ष्य करके यहाँसे प्रस्थित हुए हैं ॥ १८-१९½ ॥

एवं स्वप्ने मया दृष्टो रामो विष्णुपराक्रमः ॥ २० ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह भार्यया ।

'इस प्रकार मैंने स्वप्नमें भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी श्रीरामका उनकी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ दर्शन किया ॥ २०½ ॥

न हि रामो महातेजाः शक्यो जेतुं सुरासुरैः ॥ २१ ॥
राक्षसैर्वापि चान्यैर्वा स्वर्गः पापजनैरिव ।

'श्रीरामचन्द्रजी महातेजस्वी हैं । उन्हें देवता, असुर, राक्षस तथा दूसरे लोग भी कदापि जीत नहीं सकते । ठीक उसी तरह, जैसे पापी मनुष्य स्वर्गलोकपर विजय नहीं पा सकते ॥ २०½ ॥

रावणश्च मया दृष्टो मुण्डस्तैलसमुक्षितः ॥ २२ ॥
रक्तवासाः पिबन्मत्तः करवीरकृतस्रजः ।
विमानात् पुष्पकादद्य रावणः पतितः क्षितौ ॥ २३ ॥

'मैंने रावणको भी सपनेमें देखा था । वह मूड़ मुड़ाये तेलसे नहाकर लाल कपड़े पहने हुए था । मदिरा पीकर मतवाला हो रहा था तथा करवीरके फूलोंकी माला पहने हुए था । इसी वेष-भूषामें आज रावण पुष्पक विमानसे पृथ्वीपर गिर पड़ा था ॥ २२-२३ ॥

कृष्यमाणः स्त्रिया मुण्डो दृष्टः कृष्णाम्बरः पुनः ।
रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः ॥ २४ ॥
पिबंस्तैलं हसन्नृत्यन् भ्रान्तचित्ताकुलेन्द्रियः ।
गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशमास्थितः ॥ २५ ॥

'एक स्त्री उस मुण्डित-मस्तक रावणको कहीं खींचे लिये जा रही थी । उस समय मैंने फिर देखा रावणने काले कपड़े पहन रक्खे हैं । वह गधे जुते हुए रथसे यात्रा कर रहा था । लाल फूलोंकी माला और लाल चन्दनसे विभूषित था । तेल पीता, हँसता और नाचता था । पागलोंकी तरह उसका चित्त भ्रान्त और इन्द्रियाँ व्याकुल थीं । वह गधेपर सवार हो शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशाकी ओर जा रहा था ॥ २४-२५ ॥

पुनरेव मया दृष्टो रावणो राक्षसेश्वरः ।
पतितोऽवाक्शिरा भूमौ गर्दभाद् भयमोहितः ॥ २६ ॥

'तदनन्तर मैंने फिर देखा राक्षसराज रावण गधेसे नीचे भूमिपर गिर पड़ा है । उसका सिर नीचेकी ओर है (और पैर ऊपरकी ओर) तथा वह भयसे मोहित हो रहा है ॥२६॥

सहसोत्थाय सम्भ्रान्तो भयार्तो मदविह्वलः ।
उन्मत्तरूपो दिग्वासा दुर्वाक्यं प्रलपन् बहु ॥ २७ ॥
दुर्गन्धं दुःसहं घोरं तिमिरं नरकोपमम् ।
मलपङ्कं प्रविश्याशु मग्नस्तत्र स रावणः ॥ २८ ॥

'फिर वह भयातुर हो घबराकर सहसा उठा और मदसे विह्वल हो पागलके समान नंग-धड़ंग वेषमें बहुत-से दुर्वचन (गाली आदि) बकता हुआ आगे बढ़ गया । सामने ही दुर्गन्धयुक्त दुःसह घोर अन्धकारपूर्ण और नरकतुल्य मलका पङ्क था, रावण उसीमें घुसा और वहीं डूब गया ।२७-२८।

प्रस्थितो दक्षिणामाशां प्रविष्टोऽकर्दमं ह्रदम् ।
कण्ठे बद्ध्वा दशग्रीवं प्रमदा रक्तवासिनी ॥ २९ ॥
काली कर्दमलिप्ताङ्गी दिशं याम्यां प्रकर्षति ।
एवं तत्र मया दृष्टः कुम्भकर्णो महाबलः ॥ ३० ॥

'तदनन्तर फिर देखा रावण दक्षिणकी ओर जा रहा है । उसने एक ऐसे तालाबमें प्रवेश किया है, जिसमें कीचड़का नाम नहीं है । वहाँ एक काले रंगकी स्त्री है, जिसके अङ्गोंमें कीचड़ लिपटी हुई है । वह युवती लाल वस्त्र पहने हुए है और रावणका गला बाँधकर उसे दक्षिण दिशाकी

* जो स्त्री या पुरुष स्वप्नमें अपने दोनों हाथोंसे सूर्यमण्डल अथवा चन्द्रमण्डलको छू लेता है, उसे विशाल राज्यकी प्राप्ति होती है । जैसा कि स्वप्नाध्यायका वचन है—

आदित्यमण्डलं वापि चन्द्रमण्डलमेव वा ।
स्वप्ने गृह्णाति हस्ताभ्यां राज्यं सम्प्राप्नुयान्महत् ॥

(गोविन्दराजविरचित रामायणभूषण)

ओर खींच रही है। वहाँ महाबली कुम्भकर्णको भी मैंने इसी अवस्थामें देखा है ॥ २९-३० ॥

रावणस्य सुताः सर्वे मुण्डास्तैलसमुक्षिताः।
वराहेण दशग्रीवः शिशुमारेण चेन्द्रजित् ॥ ३१ ॥
उष्ट्रेण कुम्भकर्णश्च प्रयातो दक्षिणां दिशम्।

'रावणके सभी पुत्र भी मूड़ मुड़ाये और तेलमें नहाये दिखायी दिये हैं। यह भी देखनेमें आया कि रावण सूअरपर, इन्द्रजित् सूँसपर और कुम्भकर्ण ऊँटपर सवार हो दक्षिण दिशाको गये हैं ॥ ३१½ ॥

एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः ॥ ३२ ॥
शुक्लमाल्याम्बरधरः शुक्लगन्धानुलेपनः।

'राक्षसोंमें एकमात्र विभीषण ही ऐसे हैं, जिन्हें मैंने वहाँ श्वेत छत्र लगाये, सफेद माला पहने, श्वेत वस्त्र धारण किये तथा श्वेत चन्दन और अङ्गराग लगाये देखा है ॥ ३२½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्नृत्तगीतैरलंकृतः ॥ ३३ ॥
आरुह्य शैलसंकाशं मेघस्तनितनिःस्वनम्।
चतुर्दन्तं गजं दिव्यमास्ते तत्र विभीषणः ॥ ३४ ॥
चतुर्भिः सचिवैः सार्धं वैहायसमुपस्थितः ॥ ३५ ॥

'उनके पास शङ्खध्वनि हो रही थी, नगाड़े बजाये जा रहे थे। इनके गम्भीर घोषके साथ ही नृत्य और गीत भी हो रहे थे। जो विभीषणकी शोभा बढ़ा रहे थे। विभीषण वहाँ अपने चार मन्त्रियोंके साथ पर्वतके समान विशालकाय मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा चार दाँतोंवाले दिव्य गजराजपर आरूढ़ हो आकाशमें खड़े थे ॥ ३३-३५ ॥

समाजश्च महान् वृत्तो गीतवादित्रनिःस्वनः।
पिबतां रक्तमाल्यानां रक्षसां रक्तवाससाम् ॥ ३६ ॥

'यह भी देखनेमें आया कि तेल पीनेवाले तथा लाल माला और लाल वस्त्र धारण करनेवाले राक्षसोंका वहाँ बहुत बड़ा समाज जुटा हुआ है एवं गीतों और वाद्योंकी मधुर ध्वनि हो रही है ॥ ३६ ॥

लङ्का चेयं पुरी रम्या सवाजिरथकुञ्जरा।
सागरे पतिता दृष्टा भग्नगोपुरतोरणा ॥ ३७ ॥

'यह रमणीय लङ्कापुरी घोड़े, रथ और हाथियोंसहित समुद्रमें गिरी हुई देखी गयी है। इसके बाहरी और भीतरी दरवाजे टूट गये हैं ॥ ३७ ॥

लङ्का दृष्टा मया स्वप्ने रावणेनाभिरक्षिता।
दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना ॥ ३८ ॥

'मैंने स्वप्नमें देखा है कि रावणद्वारा सुरक्षित लङ्कापुरीको श्रीरामचन्द्रजीका दूत बनकर आये हुए एक वेगशाली वानरने जलाकर भस्म कर दिया है ॥ ३८ ॥

पीत्वा तैलं प्रमत्ताश्च प्रहसन्त्यो महास्वनाः।
लङ्कायां भस्मरूक्षायां सर्वा राक्षसयोषितः ॥ ३९ ॥

'राखसे रूखी हुई लङ्कामें सारी राक्षसरमणियाँ तेल पीकर मतवाली हो बड़े जोर-जोरसे ठहाका मारकर हँसती हैं ॥ ३९ ॥

कुम्भकर्णादयश्चेमे सर्वे राक्षसपुङ्गवाः।
रक्तं निवसनं गृह्य प्रविष्टा गोमयह्रदम् ॥ ४० ॥

'कुम्भकर्ण आदि ये समस्त राक्षसशिरोमणि वीर लाल कपड़े पहनकर गोबरके कुण्डमें घुस गये हैं ॥ ४० ॥

अपगच्छत पश्यध्वं सीतामाप्नोति राघवः।
घातयेत् परमामर्षी युष्मान् सार्धं हि राक्षसैः ॥ ४१ ॥

'अतः अब तुमलोग हट जाओ और देखो कि किस तरह श्रीरघुनाथजी सीताको प्राप्त कर रहे हैं। वे बड़े अमर्षशील हैं, राक्षसोंके साथ तुम सबको भी मरवा डालेंगे ॥ ४१ ॥

प्रियां बहुमतां भार्यां वनवासमनुव्रताम्।
भर्त्सितां तर्जितां वापि नानुमंस्यति राघवः ॥ ४२ ॥

'जिन्होंने वनवासमें भी उनका साथ दिया है, उन अपनी पतिव्रता भार्या और परमादरणीया प्रियतमा सीताका इस तरह धमकाया और डराया जाना श्रीरघुनाथजी कदापि सहन नहीं करेंगे ॥ ४२ ॥

तदलं क्रूरवाक्यैश्च सान्त्वमेवाभिधीयताम्।
अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते ॥ ४३ ॥

'अतः अब इस तरह कठोर बातें सुनाना छोड़ो; क्योंकि इनसे कोई लाभ नहीं होगा। अब तो मधुर वचनका ही प्रयोग करो। मुझे तो यही अच्छा लगता है कि हमलोग विदेहनन्दिनी सीतासे कृपा और क्षमाकी याचना करें ॥ ४३ ॥

यस्या ह्येवंविधः स्वप्नो दुःखितायाः प्रदृश्यते।
सा दुःखैर्बहुभिर्मुक्ता प्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ४४ ॥

'जिस दुःखिनी नारीके विषयमें ऐसा स्वप्न देखा जाता है, वह बहुसंख्यक दुःखोंसे छुटकारा पाकर परम उत्तम प्रिय वस्तु प्राप्त कर लेती है ॥ ४४ ॥

भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया।
राघवाद्धि भयं घोरं राक्षसानामुपस्थितम् ॥ ४५ ॥

'राक्षसियो! मैं जानती हूँ, तुम्हें कुछ और कहने या बोलनेकी इच्छा है; किंतु इससे क्या होगा? यद्यपि तुमने सीताको बहुत धमकाया है तो भी इनकी शरणमें आकर इनसे अभयकी याचना करो; क्योंकि श्रीरघुनाथजीकी ओरसे राक्षसोंके लिये घोर भय उपस्थित हुआ है ॥ ४५ ॥

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ॥ ४६ ॥

'राक्षसियो! जनकनन्दिनी मिथिलेशकुमारी सीता केवल प्रणाम करनेसे ही प्रसन्न हो जायँगी। ये ही उस महान् भयसे तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ॥ ४६ ॥

अपि चास्या विशालाक्ष्या न किंचिदुपलक्षये ।
विरूपमपि चाङ्गेषु सुसूक्ष्ममपि लक्षणम् ॥ ४७ ॥

'इन विशाललोचना सीताके अङ्गोंमें मुझे कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भी विपरीत लक्षण नहीं दिखायी देता (जिससे समझा जाय कि ये सदा कष्टमें ही रहेंगी) ॥ ४७ ॥

छायावैगुण्यमात्रं तु शङ्के दुःखमुपस्थितम् ।
अदुःखार्हामिमां देवीं वैहायसमुपस्थिताम् ॥ ४८ ॥

'मैं तो समझती हूँ कि इन्हें जो वर्तमान दुःख प्राप्त हुआ है, वह ग्रहणके समय चन्द्रमापर पड़ी हुई छायाके समान थोड़ी ही देरका है; क्योंकि ये देवी सीता मुझे स्वप्नमें विमानपर बैठी दिखायी दी हैं, अतः ये दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं हैं ॥ ४८ ॥

अर्थसिद्धिं तु वैदेह्याः पश्याम्यहमुपस्थिताम् ।
राक्षसेन्द्रविनाशं च विजयं राघवस्य च ॥ ४९ ॥

'मुझे तो अब जानकीजीके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि उपस्थित दिखायी देती है। राक्षसराज रावणके विनाश और रघुनाथजीकी विजयमें अब अधिक बिलम्ब नहीं है ॥ ४९ ॥

निमित्तभूतमेतत् तु श्रोतुमस्या महत् प्रियम् ।
दृश्यते च स्फुरच्चक्षुः पद्मपत्रमिवायतम् ॥ ५० ॥

'कमलदलके समान इनका विशाल बायाँ नेत्र फड़कता दिखायी देता है। यह इस बातका सूचक है कि इन्हें शीघ्र ही अत्यन्त प्रिय संवाद सुननेको मिलेगा ॥ ५० ॥

ईषद्धि हृषितो वास्या दक्षिणाया ह्यदक्षिणः ।
अकस्मादेव वैदेह्या बाहुरेकः प्रकम्पते ॥ ५१ ॥

'इन उदारहृदया विदेहराजकुमारीकी एक बाँयी बाँह कुछ रोमाञ्चित होकर सहसा काँपने लगी है (यह भी शुभका ही सूचक है) ॥ ५१ ॥

करेणुहस्तप्रतिमः सव्यश्चोरुरनुत्तमः ।
वेपन् कथयतीवास्या राघवं पुरतः स्थितम् ॥ ५२ ॥

'हाथीकी सूँड़के समान जो इनकी परम उत्तम बाँयीं जाँघ है, वह भी कम्पित होकर मानो यह सूचित कर रही है कि अब श्रीरघुनाथजी शीघ्र ही तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे ॥ ५२ ॥

पक्षी च शाखानिलयं प्रविष्टः
पुनः पुनश्चोत्तमसान्त्ववादी ।
सुस्वागतां वाचमुदीरयाणः
पुनः पुनश्चोदयतीव हृष्टः ॥ ५३ ॥

'देखो, सामने यह पक्षी शाखाके ऊपर अपने घोंसलेमें बैठकर बारंबार उत्तम सान्त्वनापूर्ण मीठी बोली बोल रहा है। इसकी वाणीसे 'सुस्वागतम्'की ध्वनि निकल रही है और इसके द्वारा यह हर्षमें भरकर मानो पुनः-पुनः मङ्गलप्राप्तिकी सूचना दे रहा है अथवा आनेवाले प्रियतमकी अगवानीके लिये प्रेरित कर रहा है' ॥ ५३ ॥

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता ।
अवोचद् यदि तत् तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार पतिदेवकी विजयके संवादसे हर्षमें भरी हुई लजीली सीता उन सबसे बोलीं—'यदि तुम्हारी बात ठीक हुई तो मैं अवश्य ही तुम सबकी रक्षा करूँगी' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

विलाप करती हुई सीताका प्राण-त्यागके लिये उद्यत होना

सा राक्षसेन्द्रस्य वचो निशम्य
तद् रावणस्य प्रियमप्रियार्ता ।
सीता वितत्रास यथा वनान्ते
सिंहाभिपन्ना गजराजकन्या ॥ १ ॥

पतिके विरहके दुःखसे व्याकुल हुई सीता राक्षसराज रावणके उन अप्रिय बचनोंको याद करके उसी तरह भयभीत हो गयीं, जैसे बनमें सिंहके पंजेमें पड़ी हुई कोई गजराजकी बच्ची ॥ १ ॥

सा राक्षसीमध्यगता च भीरु-
र्वाग्भिर्भृशं रावणतर्जिता च ।
कान्तारमध्ये विजने विसृष्टा
बालेव कन्या विललाप सीता ॥ २ ॥

राक्षसियोंके बीचमें बैठकर उनके कठोर वचनोंसे बारंबार धमकायी और रावणद्वारा फटकारी गयी भीरु स्वभाववाली सीता निर्जन एवं बीहड़ वनमें अकेली छूटी हुई अल्पवयस्का बालिकाके समान विलाप करने लगीं ॥२॥

सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके
नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः ।
यत्राहमेवं परिभर्त्स्यमाना
जीवामि यस्मात् क्षणमप्यपुण्या ॥ ३ ॥

वे बोलीं—'संतजन लोकमें यह बात ठीक ही कहते हैं कि बिना समय आये किसीकी मृत्यु नहीं होती, तभी तो इस प्रकार धमकायी जानेपर भी मैं पुण्यहीना नारी क्षणभर भी जीवित रह पाती हूँ ॥ ३ ॥

सुखाद् विहीनं बहुदुःखपूर्ण-
मिदं तु नूनं हृदयं स्थिरं मे।
विदीर्यते यन्न सहस्रधाद्य
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ४ ॥

'मेरा यह हृदय सुखसे रहित और अनेक प्रकारके दुःखोंसे भरा होनेपर भी निश्चय ही अत्यन्त दृढ़ है। इसीलिये वज्रके मारे हुए पर्वतशिखरकी भाँति आज इसके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ ४ ॥

नैवास्ति नूनं मम दोषमत्र
वध्याहमस्याप्रियदर्शनस्य ।
भावं न चास्याहमनुप्रदातु-
मलं द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय ॥ ५ ॥

'मैं इस दुष्ट रावणके हाथसे मारी जानेवाली हूँ, इसलिये यहाँ आत्मघात करनेसे भी मुझे कोई दोष नहीं लग सकता। कुछ भी हो, जैसे द्विज किसी शूद्रको वेदमन्त्रका उपदेश नहीं देता, उसी प्रकार मैं भी इस निशाचरको अपने हृदयका अनुराग नहीं दे सकती ॥ ५ ॥

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे
गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्तः।
नूनं ममाङ्गान्यचिरादनार्यः
शस्त्रैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः॥ ६ ॥

'हाय ! लोकनाथ भगवान् श्रीरामके आनेसे पहले ही यह दुष्ट राक्षसराज निश्चय ही अपने तीखे शस्त्रोंसे मेरे अङ्गोंके शीघ्र ही टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा। ठीक वैसे ही, जैसे शल्यचिकित्सक किसी विशेष अवस्थामें गर्भस्थ शिशुके टूक-टूक कर देता है। (अथवा जैसे इन्द्रने दितिके गर्भमें स्थित शिशुके उनचास टुकड़े कर डाले थे) ॥ ६ ॥

दुःखं बतेदं ननु दुःखितायाः
मासौ चिरायाभिगमिष्यतो द्वौ।
बद्धस्य वध्यस्य यथा निशान्ते
राजोपरोधादिव तस्करस्य ॥ ७ ॥

'मैं बड़ी दुखिया हूँ। दुःखकी बात है कि मेरी अवधिके ये दो महीने भी जल्दी ही समाप्त हो जायँगे। राजाके कारागारमें कैद हुए और रात्रिके अन्तमें फाँसीकी सजा पानेवाले अपराधी चोरकी जो दशा होती है, वही मेरी भी है ॥ ७ ॥

हा राम हा लक्ष्मण हा सुमित्रे
हा राममातः सह मे जनन्यः।
एषा विपद्याम्यहमल्पभाग्या
महार्णवे नौरिव मूढवाता ॥ ८ ॥

'हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सुमित्रे ! हा श्रीरामजननी कौसल्ये ! और हा मेरी माताओ ! जिस प्रकार बवंडरमें पड़ी हुई नौका महासागरमें डूब जाती है, उसी प्रकार आज मैं मन्दभागिनी सीता प्राणसङ्कटकी दशामें पड़ी हुई हूँ ॥ ८ ॥

तरस्विनौ धारयता मृगस्य
सत्त्वेन रूपं मनुजेन्द्रपुत्रौ।
नूनं विशस्तौ मम कारणात् तौ
सिंहर्षभौ द्वाविव वैद्युतेन ॥ ९ ॥

'निश्चय ही उस मृगरूपधारी जीवने मेरे कारण उन दोनों वेगशाली राजकुमारोंको मार डाला होगा। जैसे दो श्रेष्ठ सिंह बिजलीसे मार दिये जायँ, वही दशा उन दोनों भाइयोंकी हुई होगी ॥ ९ ॥

नूनं स कालो मृगरूपधारी
मामल्पभाग्यां लुलुभे तदानीम्।
यत्रार्यपुत्रौ विससर्ज मूढा
रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजं च ॥ १० ॥

'अवश्य ही उस समय कालने ही मृगका रूप धारण करके मुझ मन्दभागिनीको लुभाया था, जिससे प्रभावित हो मुझ मूढ़ नारीने उन दोनों आर्यपुत्रों—श्रीराम और लक्ष्मणको उसके पीछे भेज दिया था ॥ १० ॥

हा राम सत्यव्रत दीर्घबाहो
हा पूर्णचन्द्रप्रतिमानवक्त्र।
हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च
वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम् ॥ ११ ॥

'हा सत्यव्रतधारी महाबाहु श्रीराम ! हा पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले रघुनन्दन ! हा जीवजगत्के हितैषी और प्रियतम ! आपको पता नहीं है कि मैं राक्षसोंके हाथसे मारी जानेवाली हूँ ॥ ११ ॥

अनन्यदेवत्वमियं क्षमा च
भूमौ च शय्या नियमश्च धर्मे।
पतिव्रतात्वं विफलं ममेदं
कृतं कृतघ्नेष्विव मानुषाणाम् ॥ १२ ॥

'मेरी यह अनन्योपासना, क्षमा, भूमिशयन, धर्म-सम्बन्धी नियमोंका पालन और पतिव्रतपरायणता—ये सब-के-सब कृतघ्नोंके प्रति किये गये मनुष्योंके उपकारकी भाँति निष्फल हो गये ॥ १२ ॥

मोघो हि धर्मश्चरितो ममायं
तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थकम्।
या त्वां न पश्यामि कृशा विवर्णा
हीना त्वया सङ्गमने निराशा ॥ १३ ॥

'प्रभो ! यदि मैं अत्यन्त कृश और कान्तिहीन होकर आपसे बिछुड़ी ही रह गयी तथा आपसे मिलनेकी आशा खो बैठी, तब तो मैंने जिसका जीवनभर आचरण किया

है, वह धर्म मेरे लिये व्यर्थ हो गया और यह एकपत्नीव्रत भी किसी काम नहीं आया ॥ १३ ॥

पितुर्निदेशं नियमेन कृत्वा
वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च ।
स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः
संरंस्यसे वीतभयः कृतार्थः ॥ १४ ॥

'मैं तो समझती हूँ आप नियमानुसार पिताकी आज्ञाका पालन करके अपने व्रतको पूर्ण करनेके पश्चात् जब वनसे लौटेंगे, तब निर्भय एवं सफलमनोरथ हो विशाल नेत्रोंवाली बहुत-सी सुन्दरियोंके साथ विवाह करके उनके साथ रमण करेंगे ॥ १४ ॥

अहं तु राम त्वयि जातकामा
चिरं विनाशाय निबद्धभावा ।
मोघं चरित्वाथ तपो व्रतं च
त्यक्ष्यामि धिग्जीवितमल्पभाग्याम् ॥ १५ ॥

'किंतु श्रीराम ! मैं तो केवल आपमें ही अनुराग रखती हूँ । मेरा हृदय चिरकालतक आपसे ही बँधा रहेगा । मैं अपने विनाशके लिये ही आपसे प्रेम करती हूँ । अबतक मैंने तप और व्रत आदि जो कुछ भी किया है, वह मेरे लिये व्यर्थ सिद्ध हुआ है । उस अभीष्ट फलको न देनेवाले धर्मका आचरण करके अब मुझे अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा । अतः मुझ मन्दभागिनीको धिक्कार है ॥ १५ ॥

संजीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं
विषेण शस्त्रेण शितेन वापि ।
विषस्य दाता न तु मेऽस्ति कश्चि-
च्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य ॥ १६ ॥

'मैं शीघ्र ही किसी तीखे शस्त्र अथवा विषसे अपने प्राण त्याग दूँगी; परंतु इस राक्षसके यहाँ मुझे कोई विष या शस्त्र देनेवाला भी नहीं है' ॥ १६ ॥

शोकाभितप्ता बहुधा विचिन्त्य
सीताथ वेण्यग्रथनं गृहीत्वा ।
उद्बद्ध्य वेण्युद्ग्रथनेन शीघ्र-
महं गमिष्यामि यमस्य मूलम् ॥ १७ ॥

शोकसे संतप्त हुई सीताने इसी प्रकार बहुत कुछ विचार करके अपनी चोटीको पकड़कर निश्चय किया कि मैं शीघ्र ही इस चोटीसे फाँसी लगाकर यमलोकमें पहुँच जाऊँगी ॥ १७ ॥

उपस्थिता सा मृदुसर्वगात्री
शाखां गृहीत्वा च नगस्य तस्य ।
तस्यास्तु रामं परिचिन्तयन्त्या
रामानुजं स्वं च कुलं शुभाङ्ग्याः ॥ १८ ॥
तस्या विशोकानि तदा बहूनि
धैर्यार्जितानि प्रवराणि लोके ।
प्रादुर्निमित्तानि तदा बभूवुः
पुरापि सिद्धान्युपलक्षितानि ॥ १९ ॥

सीताजीके सभी अङ्ग बड़े कोमल थे । वे उस अशोक वृक्षके निकट उसकी शाखा पकड़कर खड़ी हो गयीं । इस प्रकार प्राण-त्यागके लिये उद्यत हो जब वे श्रीराम, लक्ष्मण और अपने कुलके विषयमें विचार करने लगीं, उस समय शुभाङ्गी सीताके समक्ष ऐसे बहुत-से लोकप्रसिद्ध श्रेष्ठ शकुन प्रकट हुए, जो शोककी निवृत्ति करनेवाले और उन्हें ढाढ़स बँधानेवाले थे । उन शकुनोंका दर्शन और उनके शुभ फलोंका अनुभव उन्हें पहले भी हो चुका था ॥ १८-१९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीताजीके शुभ शकुन

तथागतां तां व्यथितामनिन्दितां
व्यतीतहर्षां परिदीनमानसाम् ।
शुभां निमित्तानि शुभानि भेजिरे
नरं श्रिया जुष्टमिवोपसेविनः ॥ १ ॥

इस प्रकार अशोकवृक्षके नीचे आनेपर बहुत-से शुभ शकुन प्रकट हो उन व्यथितहृदया, सती-साध्वी, हर्षशून्य, दीनचित्त तथा शुभलक्षणा सीताका उसी तरह सेवन करने लगे, जैसे श्रीसम्पन्न पुरुषके पास सेवा करनेवाले लोग स्वयं पहुँच जाते हैं ॥ १ ॥

तस्याः शुभं वाममरालपक्ष्म-
राज्यावृतं कृष्णविशालशुक्लम् ।
प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या
मीनाहतं पद्ममिवाभिताम्रम् ॥ २ ॥

उस समय सुन्दर केशोंवाली सीताका बाँकी बरौनियोंसे घेरा हुआ परम मनोहर काला, श्वेत और विशाल बाँया नेत्र फड़कने लगा । जैसे मछलीके आघातसे लाल कमल हिलने लगा हो ॥ २ ॥

भुजश्च चार्वञ्चितवृत्तपीनः
परार्ध्यकालागुरुचन्दनार्हः ।
अनुत्तमेनाध्युषितः प्रियेण
चिरेण वामः समवेपताशु ॥ ३ ॥

साथ ही उनकी सुन्दर प्रशंसित गोलाकार मोटी, बहुमूल्य काले अगुरु और चन्दनसे चर्चित होने योग्य तथा परम उत्तम प्रियतमद्वारा चिरकालसे सेवित बाँयीं भुजा भी तत्काल फड़क उठी ॥ ३ ॥

गजेन्द्रहस्तप्रतिमश्च पीन-
स्तयोर्द्वयोः संहतयोस्तु जातः ।
प्रस्पन्दमानः पुनरूरुरस्या
रामं पुरस्तात् स्थितमाचचक्षे ॥ ४ ॥

फिर उनकी परस्पर जुड़ी हुई दोनों जाँघोंमेंसे एक बाँयीं जाँघ, जो गजराजकी सूँड़के समान पीन (मोटी) थी, बारंबार फड़ककर मानो यह सूचना देने लगी कि भगवान् श्रीराम तुम्हारे सामने खड़े हैं ॥ ४ ॥

शुभं पुनर्हेमसमानवर्ण-
मीषद्रजोध्वस्तमिवातुलाक्ष्याः ।
वासःस्थितायाः शिखराग्रदन्त्याः
किंचित् परिस्रंसत चारुगात्र्याः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् अनारके बीजकी भाँति सुन्दर दाँत, मनोहर गात्र और अनुपम नेत्रवाली सीताका, जो वहाँ वृक्षके नीचे खड़ी थीं, सोनेके समान रंगवाला किंचित् मलिन रेशमी पीताम्बर तनिक-सा खिसक गया और भावी शुभकी सूचना देने लगा ॥ ५ ॥

एतैर्निमित्तैरपरैश्च सुभ्रूः
संचोदिता प्रागपि साधुसिद्धैः ।
वातातपक्लान्तमिव प्रणष्टं
वर्षेण बीजं प्रतिसंजहर्ष ॥ ६ ॥

इनसे तथा और भी अनेक शकुनोंसे, जिनके द्वारा पहले भी मनोरथ-सिद्धिका परिचय मिल चुका था, प्रेरित हुई सुन्दर भौंहोंवाली सीता उसी प्रकार हर्षसे खिल उठीं, जैसे हवा और धूपसे सूखकर नष्ट हुआ बीज वर्षाके जलसे सिंचकर हरा हो गया हो ॥ ६ ॥

तस्याः पुनर्बिम्बफलोपमोष्ठं
स्वक्षिभ्रुकेशान्तमरालपक्ष्म ।
वक्त्रं बभासे सितशुक्लदंष्ट्रं
राहोर्मुखाच्चन्द्र इव प्रमुक्तः ॥ ७ ॥

उनका बिम्बफलके समान लाल ओठों, सुन्दर नेत्रों, मनोहर भौंहों, रुचिर केशों, बाँकी बरौनियों तथा श्वेत उज्ज्वल दाँतोंसे सुशोभित मुख राहुके ग्राससे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति प्रकाशित होने लगा ॥ ७ ॥

सा वीतशोका व्यपनीततन्द्रा
शान्तज्वरा हर्षविबुद्धसत्त्वा ।
अशोभतार्या वदनेन शुक्ले
शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥ ८ ॥

उनका शोक जाता रहा, सारी थकावट दूर हो गयी, मनका ताप शान्त हो गया और हृदय हर्षसे खिल उठा। उस समय आर्या सीता शुक्लपक्षमें उदित हुए शीतरश्मि चन्द्रमासे सुशोभित रात्रिकी भाँति अपने मनोहर मुखसे अद्भुत शोभा पाने लगीं ॥ ८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

सीताजीसे वार्तालाप करनेके विषयमें हनुमान्‌जीका विचार करना

हनुमानपि विक्रान्तः सर्वं शुश्राव तत्त्वतः ।
सीतायास्त्रिजटायाश्च राक्षसीनां च तर्जितम् ॥ १ ॥

पराक्रमी हनुमान्‌जीने भी सीताजीका विलाप, त्रिजटाकी स्वप्नचर्चा तथा राक्षसियोंकी डाँट-डपट—ये सब प्रसंग ठीक-ठीक सुन लिये ॥ १ ॥

अवेक्षमाणस्तां देवीं देवतामिव नन्दने ।
ततो बहुविधां चिन्तां चिन्तयामास वानरः ॥ २ ॥

सीताजी ऐसी जान पड़ती थीं मानो नन्दनवनमें कोई देवी हों। उन्हें देखते हुए वानरवीर हनुमान्‌जी तरह-तरहकी चिन्ता करने लगे—॥ २ ॥

यां कपीनां सहस्राणि सुबहून्ययुतानि च ।
दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते सेयमासादिता मया ॥ ३ ॥

'जिन सीताजीको हजारों-लाखों वानर समस्त दिशाओंमें ढूँढ़ रहे हैं, आज उन्हें मैंने पा लिया ॥ ३ ॥

चारेण तु सुयुक्तेन शत्रोः शक्तिमवेक्षता ।
गूढेन चरता तावदवेक्षितमिदं मया ॥ ४ ॥
राक्षसानां विशेषश्च पुरी चेयं निरीक्षिता ।
राक्षसाधिपतेरस्य प्रभावो रावणस्य च ॥ ५ ॥

'मैं स्वामीद्वारा नियुक्त दूत बनकर गुप्तरूपसे शत्रुकी शक्तिका पता लगा रहा था। इसी सिलसिलेमें मैंने राक्षसोंके

तारतम्यका, इस पुरीका तथा इस राक्षसराज रावणके प्रभावका भी निरीक्षण कर लिया ॥ ४-५ ॥

यथा तस्याप्रमेयस्य सर्वसत्त्वदयावतः।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनकाङ्क्षिणीम् ॥ ६ ॥

'श्रीसीताजी असीम प्रभावशाली तथा सब जीवोंपर दया करनेवाले भगवान् श्रीरामकी भार्या हैं। ये अपने पतिदेवका दर्शन पानेकी अभिलाषा रखती हैं, अतः इन्हें सान्त्वना देना उचित है ॥ ६ ॥

अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
अदृष्टदुःखां दुःखस्य न ह्यन्तमधिगच्छतीम् ॥ ७ ॥

'इनका मुख पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर है। इन्होंने पहले कभी ऐसा दुःख नहीं देखा था, परंतु इस समय दुःखका पार नहीं पा रही हैं। अतः मैं इन्हें आश्वासन दूँगा ॥ ७ ॥

यदि ह्यहं सतीमेनां शोकोपहतचेतनाम्।
अनाश्वास्य गमिष्यामि दोषवद् गमनं भवेत् ॥ ८ ॥

'ये शोकके कारण अचेत-सी हो रही हैं, यदि मैं इन सती-साध्वी सीताको सान्त्वना दिये बिना ही चला जाऊँगा तो मेरा वह जाना दोषयुक्त होगा ॥ ८ ॥

गते हि मयि तत्रेयं राजपुत्री यशस्विनी।
परित्राणमपश्यन्ती जानकी जीवितं त्यजेत् ॥ ९ ॥

'मेरे चले जानेपर अपनी रक्षाका कोई उपाय न देखकर ये यशस्विनी राजकुमारी जानकी अपने जीवनका अन्त कर देंगी ॥ ९ ॥

यथा च स महाबाहुः पूर्णचन्द्रनिभाननः।
समाश्वासयितुं न्याय्यः सीतादर्शनलालसः ॥ १० ॥

'पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी भी सीताजीके दर्शनके लिये उत्सुक हैं। जिस प्रकार उन्हें सीताका संदेश सुनाकर सान्त्वना देना उचित है, उसी प्रकार सीताको भी उनका संदेश सुनाकर आश्वासन देना उचित होगा ॥ १० ॥

निशाचरीणां प्रत्यक्षमक्षमं चाभिभाषितम्।
कथं नु खलु कर्तव्यमिदं कृच्छ्रगतो ह्यहम् ॥ ११ ॥

'परंतु राक्षसियोंके सामने इनसे बात करना मेरे लिये ठीक नहीं होगा। ऐसी अवस्थामें यह कार्य कैसे सम्पन्न करना चाहिये, यही निश्चय करना मेरे लिये सबसे बड़ी कठिनाई है ॥ ११ ॥

अनेन रात्रिशेषेण यदि नाश्वास्यते मया।
सर्वथा नास्ति संदेहः परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ १२ ॥

'यदि इस रात्रिके बीतते-बीतते मैं सीताको सान्त्वना नहीं दे देता हूँ तो ये सर्वथा अपने जीवनका परित्याग कर देंगी, इसमें संदेह नहीं है ॥ १२ ॥

रामस्तु यदि पृच्छेन्मां किं मां सीताब्रवीद् वचः।
किमहं तं प्रतिब्रूयामसम्भाष्य सुमध्यमाम् ॥ १३ ॥

'यदि श्रीरामचन्द्रजी मुझसे पूछें कि सीताने मेरे लिये क्या संदेश भेजा है तो इन सुमध्यमा सीतासे बात किये बिना मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ॥ १३ ॥

सीतासंदेशरहितं मामितस्त्वरया गतम्।
निर्दहेदपि काकुत्स्थः क्रोधतीव्रेण चक्षुषा ॥ १४ ॥

'यदि मैं सीताका संदेश लिये बिना ही यहाँसे तुरंत लौट गया तो ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीराम अपनी क्रोधभरी दुःसह दृष्टिसे मुझे जलाकर भस्म कर डालेंगे ॥ १४ ॥

यदि वोद्योजयिष्यामि भर्तारं रामकारणात्।
व्यर्थमागमनं तस्य ससैन्यस्य भविष्यति ॥ १५ ॥

'यदि मैं इन्हें सान्त्वना दिये बिना ही लौट जाऊँ और श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये अपने स्वामी वानरराज सुग्रीवको उत्तेजित करूँ तो वानरसेनाके साथ उनका यहाँतक आना व्यर्थ हो जायगा (क्योंकि सीता इसके पहले ही अपने प्राण त्याग देंगी) ॥ १५ ॥

अन्तरं त्वहमासाद्य राक्षसीनामवस्थितः।
शनैराश्वासयाम्यद्य संतापबहुलामिमाम् ॥ १६ ॥

'अच्छा तो राक्षसियोंके रहते हुए ही अवसर पाकर आज मैं यहाँ बैठे-बैठे इन्हें धीरे-धीरे सान्त्वना दूँगा; क्योंकि इनके मनमें बड़ा संताप है ॥ १६ ॥

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ॥ १७ ॥

'एक तो मेरा शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है, दूसरे मैं वानर हूँ। विशेषतः वानर होकर भी मैं यहाँ मानवोचित संस्कृत भाषामें बोलूँगा ॥ १७ ॥

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥ १८ ॥

'परंतु ऐसा करनेमें एक बाधा है, यदि मैं द्विजकी भाँति संस्कृत-वाणीका प्रयोग करूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर भयभीत हो जायँगी ॥ १८ ॥

अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता ॥ १९ ॥

'ऐसी दशामें अवश्य ही मुझे उस सार्थक भाषाका प्रयोग करना चाहिये, जिसे अयोध्याके आस-पासकी साधारण जनता बोलती है, अन्यथा इन सती-साध्वी सीताको मैं उचित आश्वासन नहीं दे सकता ॥ १९ ॥

सेयमालोक्य मे रूपं जानकी भाषितं तथा।
रक्षोभिस्त्रासिता पूर्वं भूयस्त्रासमुपैष्यति ॥ २० ॥

'यदि मैं सामने जाऊँ तो मेरे इस वानररूपको देखकर

और मेरे मुखसे मानवोचित भाषा सुनकर ये जनकनन्दिनी सीता, जिन्हें पहलेसे ही राक्षसोंने भयभीत कर रक्खा है, और भी डर जायँगी ॥ २० ॥

ततो जातपरित्रासा शब्दं कुर्यान्मनस्विनी।
जानाना मां विशालाक्षी रावणं कामरूपिणम् ॥ २१ ॥

'मनमें भय उत्पन्न हो जानेपर ये विशाललोचना मनस्विनी सीता मुझे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला रावण समझकर जोर-जोरसे चीखने-चिल्लाने लगेंगी ॥ २१ ॥

सीतया च कृते शब्दे सहसा राक्षसीगणः।
नानाप्रहरणो घोरः समेयादन्तकोपमः ॥ २२ ॥

'सीताके चिल्लानेपर ये यमराजके समान भयानक राक्षसियाँ तरह-तरहके हथियार लेकर सहसा आ धमकेंगी ॥

ततो मां सम्परिक्षिप्य सर्वतो विकृताननाः।
वधे च ग्रहणे चैव कुर्युर्यत्नं महाबलाः ॥ २३ ॥

'तदनन्तर ये विकट मुखवाली महाबलवती राक्षसियाँ मुझे सब ओरसे घेरकर मारने या पकड़ लेनेका प्रयत्न करेंगी ॥ २३ ॥

तं मां शाखाः प्रशाखाश्च स्कन्धांश्चोत्तमशाखिनाम्।
दृष्ट्वा च परिधावन्तं भवेयुः परिशङ्किताः ॥ २४ ॥

'फिर मुझे बड़े-बड़े वृक्षोंकी शाखा-प्रशाखा और मोटी-मोटी डालियोंपर दौड़ता देख ये सब-की-सब सशङ्क हो उठेंगी ॥ २४ ॥

मम रूपं च सम्प्रेक्ष्य वने विचरतो महत्।
राक्षस्यो भयवित्रस्ता भवेयुर्विकृतस्वराः ॥ २५ ॥

'वनमें विचरते हुए मेरे इस विशाल रूपको देखकर राक्षसियाँ भी भयभीत हो बुरी तरहसे चिल्लाने लगेंगी ॥ २५ ॥

ततः कुर्युः समाह्वानं राक्षस्यो रक्षसामपि।
राक्षसेन्द्रनियुक्तानां राक्षसेन्द्रनिवेशने ॥ २६ ॥

'इसके बाद वे निशाचरियाँ राक्षसराज रावणके महलमें उसके द्वारा नियुक्त किये गये राक्षसोंको बुला लेंगी ॥ २६ ॥

ते शूलशरनिस्त्रिंशविविधायुधपाणयः।
आपतेयुर्विमर्देऽस्मिन् वेगेनोद्वेगकारणात् ॥ २७ ॥

'इस हलचलमें वे राक्षस भी उद्विग्न होकर शूल, बाण, तलवार और तरह-तरहके शस्त्रास्त्र लेकर बड़े वेगसे आ धमकेंगे ॥ २७ ॥

संरुद्धस्तैस्तु परितो विधमे राक्षसं बलम्।
शक्नुयां न तु सम्प्राप्तुं परं पारं महोदधेः ॥ २८ ॥

'उनके द्वारा सब ओरसे घिर जानेपर मैं राक्षसोंकी सेनाका संहार तो कर सकता हूँ; परंतु समुद्रके उस पार नहीं पहुँच सकता ॥ २८ ॥

मां वा गृह्णीयुराप्लुत्य बहवः शीघ्रकारिणः।
स्यादियं चागृहीतार्था मम च ग्रहणं भवेत् ॥ २९ ॥

'यदि बहुत-से फुर्तीले राक्षस मुझे घेरकर पकड़ लें तो सीताजीका मनोरथ भी पूरा नहीं होगा और मैं भी बंदी बना लिया जाऊँगा ॥ २९ ॥

हिंसाभिरुचयो हिंस्युरिमां वा जनकात्मजाम्।
विपन्नं स्यात् ततः कार्यं रामसुग्रीवयोरिदम् ॥ ३० ॥

'इसके सिवा हिंसामें रुचि रखनेवाले राक्षस यदि इन जनकदुलारीको मार डालें तो श्रीरघुनाथजी और सुग्रीवका यह सीताकी प्राप्तिरूप अभीष्ट कार्य ही नष्ट हो जायगा ॥ ३० ॥

उद्देशे नष्टमार्गेऽस्मिन् राक्षसैः परिवारिते।
सागरेण परिक्षिप्ते गुप्ते वसति जानकी ॥ ३१ ॥

'यह स्थान राक्षसोंसे घिरा हुआ है। यहाँ आनेका मार्ग दूसरोंका देखा या जाना हुआ नहीं है तथा इस प्रदेशको समुद्रने चारों ओरसे घेर रक्खा है। ऐसे गुप्त स्थानमें जानकीजी निवास करती हैं ॥ ३१ ॥

विशस्ते वा गृहीते वा रक्षोभिर्मयि संयुगे।
नान्यं पश्यामि रामस्य सहायं कार्यसाधने ॥ ३२ ॥

'यदि राक्षसोंने मुझे संग्राममें मार दिया या पकड़ लिया तो फिर श्रीरघुनाथजीके कार्यको पूर्ण करनेके लिये कोई दूसरा सहायक भी मैं नहीं देख रहा हूँ ॥ ३२ ॥

विमृशंश्च न पश्यामि यो हते मयि वानरः।
शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत महोदधिम् ॥ ३३ ॥

'बहुत विचार करनेपर भी मुझे ऐसा कोई वानर नहीं दिखायी देता है, जो मेरे मारे जानेपर सौ योजन विस्तृत महासागरको लाँघ सके ॥ ३३ ॥

कामं हन्तुं समर्थोऽस्मि सहस्राण्यपि रक्षसाम्।
न तु शक्ष्याम्यहं प्राप्तुं परं पारं महोदधेः ॥ ३४ ॥

'मैं इच्छानुसार सहस्रों राक्षसोंको मार डालनेमें समर्थ हूँ, परंतु युद्धमें फँस जानेपर महासागरके उस पार नहीं जा सकूँगा ॥ ३४ ॥

असत्यानि च युद्धानि संशयो मे न रोचते।
कश्च निःसंशयं कार्यं कुर्यात् प्राज्ञः ससंशयम् ॥ ३५ ॥

'युद्ध अनिश्चयात्मक होता है (उसमें किस पक्षकी विजय होगी, यह निश्चित नहीं रहता) और मुझे संशययुक्त कार्य प्रिय नहीं है। कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो संशयरहित कार्यको संशययुक्त बनाना चाहेगा ॥ ३५ ॥

एष दोषो महान् हि स्यान्मम सीताभिभाषणे।
प्राणत्यागश्च वैदेह्या भवेदनभिभाषणे ॥ ३६ ॥

'सीताजीसे बातचीत करनेमें मुझे यही महान् दोष प्रतीत होता है और यदि बात-चीत नहीं करता हूँ तो विदेहनन्दिनी सीताका प्राणत्याग भी निश्चित ही है ॥ ३६ ॥

भूताश्चार्था विरुध्यन्ति देशकालविरोधिताः।
विक्लवं दूतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा ॥ ३७ ॥

'अविवेकी या असावधान दूतके हाथमें पड़नेपर बने-बनाये काम भी देश-कालके विरोधी होकर उसी प्रकार असफल हो जाते हैं, जैसे सूर्यका उदय होनेपर सब ओर फैले हुए अन्धकारका कोई वश नहीं चलता, वह निष्फल हो जाता है ॥ ३७ ॥

अर्थानर्थान्तरे बुद्धिर्निश्चितापि न शोभते ।
घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

'कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें स्वामीकी निश्चित बुद्धि भी अविवेकी दूतके कारण शोभा नहीं पाती है; क्योंकि अपनेको बड़ा बुद्धिमान् या पण्डित समझनेवाले दूत अपनी ही नासमझीसे कार्यको नष्ट कर डालते हैं ॥ ३८ ॥

न विनश्येत् कथं कार्यं वैक्लव्यं न कथं मम ।
लङ्घनं च समुद्रस्य कथं नु न वृथा भवेत् ॥ ३९ ॥
कथं नु खलु वाक्यं मे शृणुयान्नोद्विजेत च ।
इति संचिन्त्य हनुमांश्चकार मतिमान् मतिम् ॥ ४० ॥

'फिर किस प्रकार यह काम न बिगड़े, किस तरह मुझसे कोई असावधानी न हो, किस प्रकार मेरा समुद्र लाँघना व्यर्थ न हो जाय और किस तरह सीताजी मेरी सारी बातें सुन लें, किंतु घबराहटमें न पड़ें—इन सब बातोंपर विचार करके बुद्धिमान् हनुमान्‌जीने यह निश्चय किया ॥ ३९-४० ॥

राममक्लिष्टकर्माणं सुबन्धुमनुकीर्तयन् ।
नैनामुद्वेजयिष्यामि तद्बन्धुगतचेतनाम् ॥ ४१ ॥

'जिनका चित्त अपने जीवन-बन्धु श्रीराममें ही लगा है' उन सीताजीको मैं उनके प्रियतम श्रीरामका जो अनायास ही महान् कर्म करनेवाले हैं, गुण गा-गाकर सुनाऊँगा और उन्हें उद्विग्न नहीं होने दूँगा ॥ ४१ ॥

इक्ष्वाकूणां वरिष्ठस्य रामस्य विदितात्मनः ।
शुभानि धर्मयुक्तानि वचनानि समर्पयन् ॥ ४२ ॥

'मैं इक्ष्वाकुकुलभूषण विदितात्मा भगवान् श्रीरामके सुन्दर, धर्मानुकूल वचनोंको सुनाता हुआ यहीं बैठा रहूँगा ॥

श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां प्रब्रुवन् गिरम् ।
श्रद्धास्यति यथा सीता तथा सर्वं समादधे ॥ ४३ ॥

'मीठी वाणी बोलकर श्रीरामके सारे संदेशोंको इस प्रकार सुनाऊँगा, जिससे सीताका उन वचनोंपर विश्वास हो। जिस तरह उनके मनका संदेह दूर हो, उसी तरह मैं सब बातोंका समाधान करूँगा' ॥ ४३ ॥

इति स बहुविधं महाप्रभावो
जगतिपतेः प्रमदामवेक्षमाणः ।
मधुरमवितथं जगाद वाक्यं
द्रुमविटपान्तरमास्थितो हनूमान् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विचार करके अशोक-वृक्षकी शाखाओंमें छिपकर बैठे हुए महाप्रभावशाली हनुमान्‌जी पृथ्वीपति श्रीरामचन्द्रजीकी भार्याकी ओर देखते हुए मधुर एवं यथार्थ बात कहने लगे ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताको सुनानेके लिये श्रीराम-कथाका वर्णन करना

एवं बहुविधां चिन्तां चिन्तयित्वा महामतिः ।
संश्रवे मधुरं वाक्यं वैदेह्या व्याजहार ह ॥ १ ॥

इस प्रकार बहुत-सी बातें सोच-विचारकर महामति हनुमान्‌जीने सीताको सुनाते हुए मधुर वाणीमें इस तरह कहना आरम्भ किया—॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान् ।
पुण्यशीलो महाकीर्तिरिक्ष्वाकूणां महायशाः ॥ २ ॥

'इक्ष्वाकुवंशमें राजा दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक पुण्यात्मा राजा हो गये हैं। वे अत्यन्त कीर्तिमान् और महान् यशस्वी थे। उनके यहाँ रथ, हाथी और घोड़े बहुत अधिक थे ॥ २ ॥

राजर्षीणां गुणश्रेष्ठस्तपसा चर्षिभिः समः ।
चक्रवर्तिकुले जातः पुरंदरसमो बले ॥ ३ ॥

'उन श्रेष्ठ नरेशमें राजर्षियोंके समान गुण थे। तपस्यामें भी वे ऋषियोंकी समानता करते थे। उनका जन्म चक्रवर्ती नरेशोंके कुलमें हुआ था। वे देवराज इन्द्रके समान बलवान् थे ॥ ३ ॥

अहिंसारतिरक्षुद्रो घृणी सत्यपराक्रमः ।
मुख्यस्येक्ष्वाकुवंशस्य लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मिवर्धनः ॥ ४ ॥
पार्थिवव्यञ्जनैर्युक्तः पृथुश्रीः पार्थिवर्षभः ।
पृथिव्यां चतुरन्तायां विश्रुतः सुखदः सुखी ॥ ५ ॥

'उनके मनमें अहिंसा-धर्मके प्रति बड़ा अनुराग था। उनमें क्षुद्रताका नाम नहीं था। वे दयालु, सत्य-पराक्रमी और श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशकी शोभा बढ़ानेवाले थे। वे लक्ष्मीवान् नरेश राजोचित लक्षणोंसे युक्त, परिपुष्ट शोभासे सम्पन्न और भूपालोंमें श्रेष्ठ थे। चारों समुद्र जिनकी सीमा हैं, उस सम्पूर्ण

भूमण्डलमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। वे स्वयं तो सुखी थे ही, दूसरोंको भी सुख देनेवाले थे ॥ ४–५ ॥

तस्य पुत्रः प्रियो ज्येष्ठस्ताराधिपनिभाननः।
रामो नाम विशेषज्ञः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ६ ॥

'उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम नामसे प्रसिद्ध हैं। वे पिताके लाड़ले, चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले, सम्पूर्ण धनुर्धरियोंमें श्रेष्ठ और शस्त्र-विद्याके विशेषज्ञ हैं ॥ ६ ॥

रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य स्वजनस्यापि रक्षिता।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य च परंतपः ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम अपने सदाचारके, स्वजनोंके, इस जीव-जगत्के तथा धर्मके भी रक्षक हैं ॥७॥

तस्य सत्याभिसंधस्य वृद्धस्य वचनात् पितुः।
सभार्यः सह च भ्रात्रा वीरः प्रव्रजितो वनम् ॥ ८ ॥

'उनके बूढ़े पिता महाराज दशरथ बड़े सत्यप्रतिज्ञ थे। उनकी आज्ञासे वीर श्रीरघुनाथजी अपनी पत्नी और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें चले आये ॥ ८ ॥

तेन तत्र महारण्ये मृगयां परिधावता।
राक्षसा निहताः शूरा बहवः कामरूपिणः ॥ ९ ॥

'वहाँ विशाल वनमें शिकार खेलते हुए श्रीरामने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुत-से शूरवीर राक्षसोंका वध कर डाला ॥ ९ ॥

जनस्थानवधं श्रुत्वा निहतौ खरदूषणौ।
ततस्त्वमर्षापहृता जानकी रावणेन तु ॥ १० ॥

'उनके द्वारा जनस्थानके विध्वंस और खरदूषणके वधका समाचार सुनकर रावणने अमर्षवश जनकनन्दिनी सीताका अपहरण कर लिया ॥ १० ॥

वञ्चयित्वा वने रामं मृगरूपेण मायया।
स मार्गमाणस्तां देवीं रामः सीतामनिन्दिताम् ॥ ११ ॥
आससाद वने मित्रं सुग्रीवं नाम वानरम्।

'पहले तो उस राक्षसने मायासे मृग बने हुए मारीचके द्वारा वनमें श्रीरामचन्द्रजीको धोखा दिया और स्वयं जानकीजीको हर ले गया। भगवान् श्रीराम परम साध्वी सीतादेवीकी खोज करते हुए मतंग-वनमें आकर सुग्रीव नामक वानरसे मिले और उनके साथ उन्होंने मैत्री स्थापित कर ली ॥११½॥

ततः स वालिनं हत्वा रामः परपुरंजयः ॥ १२ ॥
आयच्छत् कपिराज्यं तु सुग्रीवाय महात्मने।

'तदनन्तर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामने वालीका वध करके वानरोंका राज्य महात्मा सुग्रीवको दे दिया ॥

सुग्रीवेणाभिसंदिष्टा हरयः कामरूपिणः ॥ १३ ॥
दिक्षु सर्वासु तां देवीं विचिन्वन्तः सहस्रशः।

'तत्पश्चात् वानरराज सुग्रीवकी आज्ञासे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले हजारों वानर सीतादेवीका पता लगानेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें निकले हैं ॥ १३½ ॥

अहं सम्पातिवचनाच्छतयोजनमायतम् ॥ १४ ॥
तस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः समुद्रं वेगवान् प्लुतः।

'उन्हींमेंसे एक मैं भी हूँ। मैं सम्पातिके कहनेसे विशाललोचना विदेहनन्दिनीकी खोजके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको वेगपूर्वक लाँघकर यहाँ आया हूँ ॥ १४½ ॥

यथारूपां यथावर्णां यथालक्ष्मवतीं च ताम् ॥ १५ ॥
अश्रौषं राघवस्याहं सेयमासादिता मया।
विररामैवमुक्त्वा स वाचं वानरपुङ्गवः ॥ १६ ॥

'मैंने श्रीरघुनाथजीके मुखसे जानकीजीका जैसा रूप, जैसा रंग तथा जैसे लक्षण सुने थे, उनके अनुरूप ही इन्हें पाया है।' इतना ही कहकर वानरशिरोमणि हनुमान्जी चुप हो गये ॥ १५-१६ ॥

जानकी चापि तच्छ्रुत्वा विस्मयं परमं गता।
ततः सा वक्रकेशान्ता सुकेशी केशसंवृतम्।
उन्नम्य वदनं भीरुः शिंशपामन्ववैक्षत ॥ १७ ॥

उनकी बातें सुनकर जनकनन्दिनी सीताको बड़ा विस्मय हुआ। उनके केश घुँघराले और बड़े ही सुन्दर थे। भीरु सीताने केशोंसे ढके हुए अपने मुँहको ऊपर उठाकर उस अशोक-वृक्षकी ओर देखा ॥ १७ ॥

निशम्य सीता वचनं कपेश्च
दिशश्च सर्वाः प्रदिशश्च वीक्ष्य।
स्वयं प्रहर्षं परमं जगाम
सर्वात्मना राममनुस्मरन्ती ॥ १८ ॥

कपिके वचन सुनकर सीताको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सम्पूर्ण वृत्तियोंसे भगवान् श्रीरामका स्मरण करती हुई समस्त दिशाओंमें दृष्टि दौड़ाने लगीं ॥ १८ ॥

सा तिर्यगूर्ध्वं च तथा ह्यधस्ता-
न्निरीक्षमाणा तमचिन्त्यबुद्धिम्।
ददर्श पिङ्गाधिपतेरमात्यं
वातात्मजं सूर्यमिवोदयस्थम् ॥ १९ ॥

उन्होंने ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर दृष्टिपात करके उन अचिन्त्य बुद्धिवाले पवनपुत्र हनुमान्को, जो वानरराज सुग्रीवके मन्त्री थे, उदयाचलपर विराजमान सूर्यके समान देखा ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

सीताजीका तर्क-वितर्क

ततः शाखान्तरे लीनं दृष्ट्वा चलितमानसा।
वेष्टितार्जुनवस्त्रं तं विद्युत्संघातपिङ्गलम्॥ १॥
सा ददर्श कपिं तत्र प्रश्रितं प्रियवादिनम्।
फुल्लाशोकोत्कराभासं तप्तचामीकरेक्षणम्॥ २॥

तब शाखाके भीतर छिपे हुए, विद्युत्पुञ्जके समान अत्यन्त पिङ्गल वर्णवाले और श्वेत वस्त्रधारी हनुमान्‌जीपर उनकी दृष्टि पड़ी। फिर तो उनका चित्त चञ्चल हो उठा। उन्होंने देखा, फूले हुए अशोकके समान अरुण कान्तिसे प्रकाशित एक विनीत और प्रियवादी वानर डालियोंके बीचमें बैठा है। उसके नेत्र तपाये हुए सुवर्णके समान चमक रहे हैं॥ १-२॥

साथ दृष्ट्वा हरिश्रेष्ठं विनीतवदवस्थितम्।
मैथिली चिन्तयामास विस्मयं परमं गता॥ ३॥

विनीतभावसे बैठे हुए वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको देखकर मिथिलेशकुमारीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन-ही-मन सोचने लगीं—॥ ३॥

अहो भीममिदं सत्त्वं वानरस्य दुरासदम्।
दुर्निरीक्ष्यमिदं मत्वा पुनरेव मुमोह सा॥ ४॥

'अहो! वानरयोनिका यह जीव तो बड़ा ही भयंकर है। इसे पकड़ना बहुत ही कठिन है। इसकी ओर तो आँख उठाकर देखनेका भी साहस नहीं होता।' ऐसा विचारकर वे पुनः भयसे मूर्च्छित-सी हो गयीं॥ ४॥

विललाप भृशं सीता करुणं भयमोहिता।
रामरामेति दुःखार्ता लक्ष्मणेति च भामिनी॥ ५॥

भयसे मोहित हुई भामिनी सीता अत्यन्त करुणाजनक स्वरमें 'हा राम! हा राम! हा लक्ष्मण!' ऐसा कहकर दुःखसे आतुर हो अत्यन्त विलाप करने लगीं॥ ५॥

रुरोद सहसा सीता मन्दमन्दस्वरा सती।
साथ दृष्ट्वा हरिवरं विनीतवदुपागतम्।
मैथिली चिन्तयामास स्वप्नोऽयमिति भामिनी॥ ६॥

उस समय सीता मन्द स्वरमें सहसा रो पड़ीं। इतनेहीमें उन्होंने देखा, वह श्रेष्ठ वानर बड़ी विनयके साथ निकट आ बैठा है। तब भामिनी मिथिलेशकुमारीने सोचा—'यह कोई स्वप्न तो नहीं है'॥ ६॥

सा वीक्षमाणा पृथुभुग्नवक्त्रं
शाखामृगेन्द्रस्य यथोक्तकारम्।
ददर्श पिङ्गप्रवरं महार्हं
वातात्मजं बुद्धिमतां वरिष्ठम्॥ ७॥

उधर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने वानरराज सुग्रीवके आज्ञापालक विशाल और टेढ़े मुखवाले, परम आदरणीय, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ, वानरप्रवर पवनपुत्र हनुमान्‌जीको देखा॥ ७॥

सा तं समीक्ष्यैव भृशं विपन्ना
गतासुकल्पेव बभूव सीता।
चिरेण संज्ञां प्रतिलभ्य चैवं
विचिन्तयामास विशालनेत्रा॥ ८॥

उन्हें देखते ही सीताजी अत्यन्त व्यथित होकर ऐसी दशाको पहुँच गयीं, मानो उनके प्राण निकल गये हों। फिर बड़ी देरमें चेत होनेपर विशाललोचना विदेह-राजकुमारीने इस प्रकार विचार किया—॥ ८॥

स्वप्नो मयायं विकृतोऽद्य दृष्टः
शाखामृगः शास्त्रगणैर्निषिद्धः।
स्वस्त्यस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
तथा पितुर्मे जनकस्य राज्ञः॥ ९॥

'आज मैंने यह बड़ा बुरा स्वप्न देखा है। सपनेमें वानरको देखना शास्त्रोंने निषिद्ध बताया है। मेरी भगवान्‌से प्रार्थना है कि श्रीराम, लक्ष्मण और मेरे पिता जनकका मङ्गल हो (उनपर इस दुःस्वप्नका प्रभाव न पड़े)॥ ९॥

स्वप्नो हि नायं नहि मेऽस्ति निद्रा
शोकेन दुःखेन च पीडितायाः।
सुखं हि मे नास्ति यतो विहीना
तेनेन्दुपूर्णप्रतिमाननेन॥ १०॥

'परंतु यह स्वप्न तो हो नहीं सकता; क्योंकि शोक और दुःखसे पीड़ित रहनेके कारण मुझे कभी नींद आती ही नहीं है (नींद उसे आती है, जिसे सुख हो)। मुझे तो उन पूर्णचन्द्रके समान मुखवाले श्रीरघुनाथजीसे बिछुड़ जानेके कारण अब सुख सुलभ ही नहीं है॥ १०॥

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या
विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।
तस्यानुरूपं च कथां तदर्था-
मेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥ ११॥

'मैं बुद्धिसे सर्वदा 'राम! राम!' ऐसा चिन्तन करके वाणीद्वारा भी राम-नामका ही उच्चारण करती रहती हूँ; अतः उस विचारके अनुरूप वैसे ही अर्थवाली यह कथा देख और सुन रही हूँ॥ ११॥

अहं हि तस्याद्य मनोभवेन
सम्पीडिता तद्गतसर्वभावा।
विचिन्तयन्ती सततं तमेव
तथैव पश्यामि तथा शृणोमि॥ १२॥

'मेरा हृदय सर्वदा श्रीरघुनाथमें ही लगा हुआ है;

अतः श्रीराम-दर्शनकी लालसासे अत्यन्त पीड़ित हो सदा उन्हींका चिन्तन करती हुई उन्हींको देखती और उन्हींकी कथा सुनती हूँ ॥ १२ ॥

मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि
तथापि बुद्ध्यापि वितर्कयामि।
किं कारणं तस्य हि नास्ति रूपं
सुव्यक्तरूपश्च वदत्ययं माम् ॥ १३ ॥

'सोचती हूँ कि सम्भव है यह मेरे मनकी ही कोई भावना हो तथापि बुद्धिसे भी तर्क-वितर्क करती हूँ कि यह जो कुछ दिखायी देता है, इसका क्या कारण है ? मनोरथ या मनकी भावनाका कोई स्थूल रूप नहीं होता; परंतु इस वानरका रूप तो स्पष्ट दिखायी दे रहा है और यह मुझसे बातचीत भी करता है ॥ १३ ॥

नमोऽस्तु वाचस्पतये सवज्रिणे
स्वयम्भुवे चैव हुताशनाय।
अनेन चोक्तं यदिदं ममाग्रतो
वनौकसा तच्च तथास्तु नान्यथा ॥ १४ ॥

'मैं वाणीके स्वामी बृहस्पतिको, वज्रधारी इन्द्रको, स्वयम्भू ब्रह्माजीको तथा वाणीके अधिष्ठातृ-देवता अग्निको भी नमस्कार करती हूँ। इस वनवासी वानरने मेरे सामने यह जो कुछ कहा है, वह सब सत्य हो, उसमें कुछ भी अन्यथा न हो' ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीताजीका हनुमान्‌जीको अपना परिचय देते हुए अपने वनगमन और अपहरणका वृत्तान्त बताना

सोऽवतीर्य द्रुमात् तस्माद् विद्रुमप्रतिमाननः।
विनीतवेषः कृपणः प्रणिपत्योपसृत्य च ॥ १ ॥
तामब्रवीन्महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः।
शिरस्यञ्जलिमाधाय सीतां मधुरया गिरा ॥ २ ॥

उधर मूँगेके समान लाल मुखवाले महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जीने उस अशोक-वृक्षसे नीचे उतरकर माथेपर अञ्जलि बाँध ली और विनीतभावसे दीनतापूर्वक निकट आकर प्रणाम करनेके अनन्तर सीताजीसे मधुर वाणीमें कहा—॥ १-२ ॥

का नु पद्मपलाशाक्षि क्लिष्टकौशेयवासिनि।
द्रुमस्य शाखामालम्ब्य तिष्ठसि त्वमनिन्दिते ॥ ३ ॥
किमर्थं तव नेत्राभ्यां वारि स्रवति शोकजम्।
पुण्डरीकपलाशाभ्यां विप्रकीर्णमिवोदकम् ॥ ४ ॥

'प्रफुल्लकमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि ! यह मलिन रेशमी पीताम्बर धारण किये आप कौन हैं ? अनिन्दिते ! इस वृक्षकी शाखाका सहारा लिये आप यहाँ क्यों खड़ी हैं ? कमलके पत्तोंसे झरते हुए जल-बिन्दुओंके समान आपकी आँखोंसे ये शोकके आँसू क्यों गिर रहे हैं ? ॥ ३-४ ॥

सुराणामसुराणां च नागगन्धर्वरक्षसाम्।
यक्षाणां किंनराणां च का त्वं भवसि शोभने ॥ ५ ॥
का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने।
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥ ६ ॥

'शोभने ! आप देवता, असुर, नाग, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, किन्नर, रुद्र, मरुद्गण अथवा वसुओंमेंसे कौन हैं ? इनमेंसे किसकी कन्या अथवा पत्नी हैं ? सुमुखि ! वरारोहे ! मुझे तो आप कोई देवता-सी जान पड़ती हैं ॥ ५-६ ॥

किं नु चन्द्रमसा हीना पतिता विबुधालयात्।
रोहिणी ज्योतिषां श्रेष्ठा श्रेष्ठा सर्वगुणाधिका ॥ ७ ॥

'क्या आप चन्द्रमासे बिछुड़कर देवलोकसे गिरी हुई नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ और गुणोंमें सबसे बढ़ी-चढ़ी रोहिणी देवी हैं ?॥

कोपाद् वा यदि वा मोहाद् भर्तारमसितेक्षणे।
वसिष्ठं कोपयित्वा त्वं वासि कल्याण्यरुन्धती ॥ ८ ॥

'अथवा कजरारे नेत्रोंवाली देवि ! आप कोप या मोहसे अपने पति वसिष्ठजीको कुपित करके यहाँ आयी हुई कल्याणस्वरूपा सतीशिरोमणि अरुन्धती तो नहीं हैं ॥ ८ ॥

को नु पुत्रः पिता भ्राता भर्ता वा ते सुमध्यमे।
अस्माल्लोकादमुं लोकं गतं त्वमनुशोचसि ॥ ९ ॥

'सुमध्यमे ! आपका पुत्र, पिता, भाई अथवा पति कौन इस लोकसे चलकर परलोकवासी हो गया है, जिसके लिये आप शोक करती हैं ॥ ९ ॥

रोदनादतिनिःश्वासाद् भूमिसंस्पर्शनादपि।
न त्वां देवीमहं मन्ये राज्ञः संज्ञावधारणात् ॥ १० ॥
व्यञ्जनानि हि ते यानि लक्षणानि च लक्षये।
महिषी भूमिपालस्य राजकन्या च मे मता ॥ ११ ॥

'रोने, लंबी साँस खींचने तथा पृथ्वीका स्पर्श करनेके कारण मैं आपको देवी नहीं मानता। आप बारंबार किसी राजाका नाम ले रही हैं तथा आपके चिह्न और लक्षण जैसे दिखायी देते हैं, उन सबपर दृष्टिपात करनेसे यही अनुमान होता है कि आप किसी राजाकी महारानी तथा किसी नरेशकी कन्या हैं ॥ १०-११ ॥

रावणेन जनस्थानाद् बलात् प्रमथिता यदि।
सीता त्वमसि भद्रं ते तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १२ ॥

'रावण जनस्थानसे जिन्हें बलपूर्वक हर लाया था, वे सीताजी ही यदि आप हों तो आपका कल्याण हो। आप ठीक-ठीक मुझे बताइये। मैं आपके विषयमें जानना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

यथा हि तव वै दैन्यं रूपं चाप्यतिमानुषम्।
तपसा चान्वितो वेषस्त्वं राममहिषी ध्रुवम् ॥ १३ ॥

'दुःखके कारण आपमें जैसी दीनता आ गयी है, जैसा आपका अलौकिक रूप है तथा जैसा तपस्विनीका-सा वेष है, इन सबके द्वारा निश्चय ही आप श्रीरामचन्द्रजीकी महारानी जान पड़ती हैं' ॥ १३ ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा रामकीर्तनहर्षिता।
उवाच वाक्यं वैदेही हनुमन्तं द्रुमाश्रितम् ॥ १४ ॥

हनुमान्‌जीकी बात सुनकर विदेहनन्दिनी सीता श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चासे बहुत प्रसन्न थीं; अतः वृक्षका सहारा लिये खड़े हुए उन पवनकुमारसे इस प्रकार बोलीं—॥ १४ ॥

पृथिव्यां राजसिंहानां मुख्यस्य विदितात्मनः।
स्नुषा दशरथस्याहं शत्रुसैन्यप्रणाशिनः ॥ १५ ॥
दुहिता जनकस्याहं वैदेहस्य महात्मनः।
सीतेति नाम्ना चोक्ताहं भार्या रामस्य धीमतः ॥ १६ ॥

'कपिवर! जो भूमण्डलके श्रेष्ठ राजाओंमें प्रधान थे, जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि थी तथा जो शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेमें समर्थ थे, उन महाराज दशरथकी मैं पुत्रवधू हूँ, विदेहराज महात्मा जनककी पुत्री हूँ और परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामकी धर्मपत्नी हूँ। मेरा नाम सीता है ॥१५-१६॥

समा द्वादश तत्राहं राघवस्य निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी ॥ १७ ॥

'अयोध्यामें श्रीरघुनाथजीके अन्तःपुरमें बारह वर्षोंतक मैं सब प्रकारके मानवीय भोग भोगती रही और मेरी सारी अभिलाषाएँ सदैव पूर्ण होती रहीं ॥ १७ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे राज्ये चेक्ष्वाकुनन्दनम्।
अभिषेचयितुं राजा सोपाध्यायः प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

'तदनन्तर तेरहवें वर्षमें महाराज दशरथने राजगुरु वसिष्ठजीके साथ इक्ष्वाकुकुलभूषण भगवान् श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी आरम्भ की ॥ १८ ॥

तस्मिन् सम्भ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने।
कैकेयी नाम भर्तारमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

'जब वे श्रीरघुनाथजीके अभिषेकके लिये आवश्यक सामग्रीका संग्रह कर रहे थे, उस समय उनकी कैकेयी नामवाली भार्याने पतिसे इस प्रकार कहा—॥ १९ ॥

न पिबेयं न खादेयं प्रत्यहं मम भोजनम्।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ २० ॥

"अब न तो मैं जलपान करूँगी और न प्रतिदिनका भोजन ही ग्रहण करूँगी। यदि श्रीरामका राज्याभिषेक हुआ तो यही मेरे जीवनका अन्त होगा ॥ २० ॥

यत् तदुक्तं त्वया वाक्यं प्रीत्या नृपतिसत्तम।
तच्चेन्न वितथं कार्यं वनं गच्छतु राघवः ॥ २१ ॥

"नृपश्रेष्ठ! आपने प्रसन्नतापूर्वक मुझे जो वचन दिया है, उसे यदि असत्य नहीं करना है तो श्रीराम वनको चले जायँ' ॥ २१ ॥

स राजा सत्यवाग् देव्या वरदानमनुस्मरन्।
मुमोह वचनं श्रुत्वा कैकेय्याः क्रूरमप्रियम् ॥ २२ ॥

'महाराज दशरथ बड़े सत्यवादी थे। उन्होंने कैकेयी-देवीको दो वर देनेके लिये कहा था। उस वरदानका स्मरण करके कैकेयीके क्रूर एवं अप्रिय वचनको सुनकर वे मूर्छित हो गये ॥ २२ ॥

ततस्तं स्थविरो राजा सत्यधर्मे व्यवस्थितः।
ज्येष्ठं यशस्विनं पुत्रं रुदन् राज्यमयाचत ॥ २३ ॥

'तदनन्तर सत्यधर्ममें स्थित हुए बूढ़े महाराजने अपने यशस्वी ज्येष्ठ पुत्र श्रीरघुनाथजीसे भरतके लिये राज्य माँगा ॥ २३ ॥

स पितुर्वचनं श्रीमानभिषेकात् परं प्रियम्।
मनसा पूर्वमासाद्य वाचा प्रतिगृहीतवान् ॥ २४ ॥

'श्रीमान् रामको पिताके वचन राज्याभिषेकसे भी बढ़कर प्रिय थे। इसलिये उन्होंने पहले उन वचनोंको मनसे ग्रहण किया, फिर वाणीसे भी स्वीकार कर लिया ॥ २४ ॥

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्हि रामः सत्यपराक्रमः ॥ २५ ॥

'सत्य-पराक्रमी भगवान् श्रीराम केवल देते हैं, लेते नहीं। वे सदा सत्य बोलते हैं, अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये भी कभी झूठ नहीं बोल सकते ॥ २५ ॥

स विहायोत्तरीयाणि महार्हाणि महायशाः।
विसृज्य मनसा राज्यं जनन्यै मां समादिशत् ॥ २६ ॥

'उन महायशस्वी श्रीरघुनाथजीने बहुमूल्य उत्तरीय वस्त्र उतार दिये और मनसे राज्यका त्याग करके मुझे अपनी माताके हवाले कर दिया ॥ २६ ॥

साहं तस्याग्रतस्तूर्णं प्रस्थिता वनचारिणी।
नहि मे तेन हीनाया वासः स्वर्गेऽपि रोचते ॥ २७ ॥

'किंतु मैं तुरंत ही उनके आगे-आगे वनकी ओर चल दी; क्योंकि उनके बिना मुझे स्वर्गमें भी रहना अच्छा नहीं लगता ॥ २७ ॥

प्रागेव तु महाभागः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।
पूर्वजस्यानुयात्रार्थे कुशचीरैरलंकृतः ॥ २८ ॥

'अपने सुहृदोंको आनन्द देनेवाले सुमित्राकुमार महा-

भाग लक्ष्मण भी अपने बड़े भाईका अनुसरण करनेके लिये उनसे भी पहले कुश तथा चीर-वस्त्र धारण करके तैयार हो गये ॥ २८ ॥

ते वयं भर्तुरादेशं बहुमान्य दृढव्रताः ।
प्रविष्टाः स्म पुरादृष्टं वनं गम्भीरदर्शनम् ॥ २९ ॥

'इस प्रकार हम तीनोंने अपने स्वामी महाराज दशरथकी आज्ञाको अधिक आदर देकर दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करते हुए उस सघन वनमें प्रवेश किया, जिसे पहले कभी नहीं देखा था ॥ २९ ॥

वसतो दण्डकारण्ये तस्याहममितौजसः ।
रक्षसापहृता भार्या रावणेन दुरात्मना ॥ ३० ॥

'वहाँ दण्डकारण्यमें रहते समय उन अमिततेजस्वी भगवान् श्रीरामकी भार्या मुझ सीताको दुरात्मा राक्षस रावण यहाँ हर लाया है ॥ ३० ॥

द्वौ मासौ तेन मे कालो जीवितानुग्रहः कृतः ।
ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां ततस्त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥

'उसने अनुग्रहपूर्वक मेरे जीवन-धारणके लिये दो मासकी अवधि निश्चित कर दी है । उन दो महीनोंके बाद मुझे अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा' ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीताजीका हनुमान्‌जीके प्रति संदेह और उसका समाधान तथा हनुमान्‌जीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका गान

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् हरिपुङ्गवः ।
दुःखाद् दुःखाभिभूतायाः सान्त्वमुत्तरमब्रवीत् ॥ १ ॥

दुःख-पर-दुःख उठानेके कारण पीड़ित हुई सीताका उपर्युक्त वचन सुनकर वानरशिरोमणि हनुमान्‌जीने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ १ ॥

अहं रामस्य संदेशाद् देवि दूतस्तवागतः ।
वैदेहि कुशली रामः स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥ २ ॥

'देवि ! मैं श्रीरामचन्द्रजीका दूत हूँ और आपके लिये उनका संदेश लेकर आया हूँ । विदेहनन्दिनी ! श्रीरामचन्द्रजी सकुशल हैं और उन्होंने आपका कुशल-समाचार पूछा है ॥ २ ॥

यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः ।
स त्वां दाशरथी रामो देवि कौशलमब्रवीत् ॥ ३ ॥

'देवि ! जिन्हें ब्रह्मास्त्र और वेदोंका भी पूर्ण ज्ञान है, वे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ दशरथनन्दन श्रीराम स्वयं सकुशल रहकर आपकी भी कुशल पूछ रहे हैं ॥ ३ ॥

लक्ष्मणश्च महातेजा भर्तुस्तेऽनुचरः प्रियः ।
कृतवाञ्छोकसंतप्तः शिरसा तेऽभिवादनम् ॥ ४ ॥

'आपके पतिके अनुचर तथा प्रिय महातेजस्वी लक्ष्मणने भी शोकसे संतप्त हो आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम कहलाया है' ॥ ४ ॥

सा तयोः कुशलं देवी निशम्य नरसिंहयोः ।
प्रतिसंहृष्टसर्वाङ्गी हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

'पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका समाचार सुनकर देवी सीताके सम्पूर्ण अङ्गोंमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया और वे हनुमान्‌जीसे बोलीं—॥ ५ ॥

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा ।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ ६ ॥

'यदि मनुष्य जीवित रहे तो उसे सौ वर्ष बाद भी आनन्द प्राप्त होता ही है, यह लौकिक कहावत आज मुझे बिल्कुल सत्य एवं कल्याणमयी जान पड़ती है' ॥ ६ ॥

तयोः समागमे तस्मिन् प्रीतिरुत्पादिताद्भुता ।
परस्परेण चालापं विश्वस्तौ तौ प्रचक्रतुः ॥ ७ ॥

सीता और हनुमान्‌के इस मिलाप (परस्पर दर्शन) से दोनोंको ही अद्भुत प्रसन्नता प्राप्त हुई । वे दोनों विश्वस्त होकर एक-दूसरेसे वार्तालाप करने लगे ॥ ७ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः ।
सीतायाः शोकतप्तायाः समीपमुपचक्रमे ॥ ८ ॥

शोकसंतप्त सीताकी वे बातें सुनकर पवनकुमार हनुमान्‌जी उनके कुछ निकट चले गये ॥ ८ ॥

यथा यथा समीपं स हनूमानुपसर्पति ।
तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते ॥ ९ ॥

हनुमान्‌जी ज्यों-ज्यों निकट आते, त्यों-ही-त्यों सीताको यह शङ्का होती कि यह कहीं रावण न हो ॥ ९ ॥

अहो धिग् धिक्कृतमिदं कथितं हि यदस्य मे ।
रूपान्तरमुपागम्य स एवायं हि रावणः ॥ १० ॥

ऐसा विचार आते ही वे मन-ही-मन कहने लगीं—'अहो ! धिक्कार है, जो इसके सामने मैंने अपने मनकी बात कह दी । यह दूसरा रूप धारण करके आया हुआ वह रावण ही है' ॥ १० ॥

तामशोकस्य शाखां तु विमुक्त्वा शोककर्शिता ।
तस्यामेवानवद्याङ्गी धरण्यां समुपाविशत् ॥ ११ ॥

फिर तो निर्दोष अङ्गोंवाली सीता उस अशोकवृक्षकी शाखाको छोड़ शोकसे कातर हो वहीं जमीनपर बैठ गयीं ॥

अवन्दत महाबाहुस्ततस्तां जनकात्मजाम् ।
सा चैनं भयसंत्रस्ता भूयो नैनमुदैक्षत ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् महाबाहु हनुमान्‌ने जनकनन्दिनी सीताके चरणोंमें प्रणाम किया, किंतु वे भयभीत होनेके कारण फिर उनकी ओर देख न सकीं ॥ १२ ॥

तं दृष्ट्वा वन्दमानं च सीता शशिनिभानना ।
अब्रवीद् दीर्घमुच्छ्वस्य वानरं मधुरस्वरा ॥ १३ ॥

वानर हनुमान्‌को बारंबार वन्दना करते देख चन्द्रमुखी सीता लंबी साँस खींचकर उनसे मधुर वाणीमें बोलीं—॥१३॥

मायां प्रविष्टो मायावी यदि त्वं रावणः स्वयम् ।
उत्पादयसि मे भूयः संतापं तन्न शोभनम् ॥ १४ ॥

'यदि तुम स्वयं मायावी रावण हो और मायामय शरीरमें प्रवेश करके फिर मुझे कष्ट दे रहे हो तो यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है ॥ १४ ॥

स्वं परित्यज्य रूपं यः परिव्राजकरूपवान् ।
जनस्थाने मया दृष्टस्त्वं स एव हि रावणः ॥ १५ ॥

'जिसे मैंने जनस्थानमें देखा था तथा जो अपने यथार्थ रूपको छोड़कर संन्यासीका रूप धारण करके आया था, तुम वही रावण हो ॥ १५ ॥

उपवासकृशां दीनां कामरूप निशाचर ।
संतापयसि मां भूयः संतापं तन्न शोभनम् ॥ १६ ॥

'इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले निशाचर ! मैं उपवास करते-करते दुबली हो गयी हूँ और मन-ही-मन दुखी रहती हूँ । इतनेपर भी जो तुम फिर मुझे संताप दे रहे हो, यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है ॥ १६ ॥

अथवा नैतदेवं हि यन्मया परिशङ्कितम् ।
मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात् ॥ १७ ॥

'अथवा जिस बातकी मेरे मनमें शङ्का हो रही है, वह न भी हो; क्योंकि तुम्हें देखनेसे मेरे मनमें प्रसन्नता हुई है ॥

यदि रामस्य दूतस्त्वमागतो भद्रमस्तु ते ।
पृच्छामि त्वां हरिश्रेष्ठ प्रिया रामकथा हि मे ॥ १८ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! सचमुच ही यदि तुम भगवान् श्रीरामके दूत हो तो तुम्हारा कल्याण हो । मैं तुमसे उनकी बातें पूछती हूँ; क्योंकि श्रीरामकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है ॥ १८ ॥

गुणान् रामस्य कथय प्रियस्य मम वानर ।
चित्तं हरसि मे सौम्य नदीकूलं यथा रयः ॥ १९ ॥

'वानर ! मेरे प्रियतम श्रीरामके गुणोंका वर्णन करो । सौम्य ! जैसे जलका वेग नदीके तटको हर लेता है, उसी प्रकार तुम श्रीरामकी चर्चासे मेरे चित्तको चुराये लेते हो ॥

अहो स्वप्नस्य सुखता याहमेव चिराहृता ।
प्रेषितं नाम पश्यामि राघवेण वनौकसम् ॥ २० ॥

'अहो ! यह स्वप्न कैसा सुखद हुआ ? जिसमें यहाँ चिरकालसे हरकर लायी गयी मैं आज भगवान् श्रीरामके भेजे हुए दूत वानरको देख रही हूँ ॥ २० ॥

स्वप्नेऽपि यद्यहं वीरं राघवं सहलक्ष्मणम् ।
पश्येयं नावसीदेयं स्वप्नोऽपि मम मत्सरी ॥ २१ ॥

'यदि मैं लक्ष्मणसहित वीरवर श्रीरघुनाथजीको स्वप्नमें भी देख लिया करूँ तो मुझे इतना कष्ट न हो; परंतु स्वप्न भी मुझसे डाह करता है ॥ २१ ॥

नाहं स्वप्नमिमं मन्ये स्वप्ने दृष्ट्वा हि वानरम् ।
न शक्योऽभ्युदयः प्राप्तुं प्राप्तश्चाभ्युदयो मम ॥ २२ ॥

'मैं इसे स्वप्न नहीं समझती; क्योंकि स्वप्नमें वानरको देख लेनेपर किसीका अभ्युदय नहीं हो सकता और मैंने यहाँ अभ्युदय प्राप्त किया है (अभ्युदयकालमें जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता मेरे मनमें छा रही है ।) ॥ २२ ॥

किं नु स्याच्चित्तमोहोऽयं भवेद् वातगतिस्त्वियम् ।
उन्मादजो विकारो वा स्यादयं मृगतृष्णिका ॥ २३ ॥

'अथवा यह मेरे चित्तका मोह तो नहीं है । वात-विकारसे होनेवाला भ्रम तो नहीं है । उन्मादका विकार तो नहीं उमड़ आया अथवा वह मृगतृष्णा तो नहीं है ॥ २३ ॥

अथवा नायमुन्मादो मोहोऽप्युन्मादलक्षणः ।
सम्बुध्ये चाहमात्मानमिमं चापि वनौकसम् ॥ २४ ॥

'अथवा यह उन्मादजनित विकार नहीं है । उन्मादके समान लक्षणवाला मोह भी नहीं है; क्योंकि मैं अपने-आपको देख और समझ रही हूँ तथा इस वानरको भी ठीक-ठीक देखती और समझती हूँ (उन्माद आदिकी अवस्थाओंमें इस तरह ठीक-ठीक ज्ञान होना सम्भव नहीं है ।)' ॥२४॥

इत्येवं बहुधा सीता सम्प्रधार्य बलाबलम् ।
रक्षसां कामरूपत्वान्मेने तं राक्षसाधिपम् ॥ २५ ॥
एतां बुद्धिं तदा कृत्वा सीता सा तनुमध्यमा ।
न प्रतिव्याजहाराथ वानरं जनकात्मजा ॥ २६ ॥

इस तरह सीता अनेक प्रकारसे राक्षसोंकी प्रबलता और वानरकी निर्बलताका निश्चय करके उन्हें राक्षसराज रावण ही माना; क्योंकि राक्षसोंमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति होती है । ऐसा विचारकर सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली जनककुमारी सीताने कपिवर हनुमान्‌जीसे फिर कुछ नहीं कहा ॥

सीताया निश्चितं बुद्ध्वा हनूमान् मारुतात्मजः ।
श्रोत्रानुकूलैर्वचनैस्तदा तां सम्प्रहर्षयन् ॥ २७ ॥

सीताके इस निश्चयको समझकर पवनकुमार हनुमान्‌जी उस समय कानोंको सुख पहुँचानेवाले अनुकूल वचनोंद्वारा उनका हर्ष बढ़ाते हुए बोले—॥ २७ ॥

आदित्य इव तेजस्वी लोककान्तः शशी यथा ।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवो वैश्रवणो यथा ॥ २८ ॥

'भगवान् श्रीराम सूर्यके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके

समान लोककमनीय तथा देव कुबेरकी भाँति सम्पूर्ण जगत्के राजा हैं ॥ २८ ॥

विक्रमेणोपपन्नश्च यथा विष्णुर्महायशाः ।
सत्यवादी मधुरवाग् देवो वाचस्पतिर्यथा ॥ २९ ॥

'महायशस्वी भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी तथा बृहस्पतिजीकी भाँति सत्यवादी एवं मधुरभाषी हैं ॥

रूपवान् सुभगः श्रीमान् कंदर्प इव मूर्तिमान् ।
स्थानक्रोधे प्रहर्ता च श्रेष्ठो लोके महारथः ॥ ३० ॥

'रूपवान्, सौभाग्यशाली और कान्तिमान् तो वे इतने हैं, मानो मूर्तिमान् कामदेव हों। वे क्रोधके पात्रपर ही प्रहार करनेमें समर्थ और संसारके श्रेष्ठ महारथी हैं ॥ ३० ॥

बाहुच्छायामवष्टब्धो यस्य लोको महात्मनः ।
अपक्रम्याश्रमपदान्मृगरूपेण राघवम् ॥ ३१ ॥
शून्ये येनापनीतासि तस्य द्रक्ष्यसि तत्फलम् ।

'सम्पूर्ण विश्व उन महात्माकी भुजाओंके आश्रयमें—उन्हींकी छत्रछायामें विश्राम करता है। मृगरूपधारी निशाचर-द्वारा श्रीरघुनाथजीको आश्रमसे दूर हटाकर जिसने सूने आश्रममें पहुँचकर आपका अपहरण किया है, उसे उस पापका जो फल मिलनेवाला है, उसको आप अपनी आँखों देखेंगी ॥ ३१½ ॥

अचिराद् रावणं संख्ये यो वधिष्यति वीर्यवान् ॥ ३२ ॥
क्रोधप्रमुक्तैरिषुभिर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ।

'पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी क्रोधपूर्वक छोड़े गये प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाणोंद्वारा समराङ्गणमें शीघ्र ही रावणका वध करेंगे ॥ ३२½ ॥

तेनाहं प्रेषितो दूतस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥ ३३ ॥
त्वद्वियोगेन दुःखार्तः स त्वां कौशलमब्रवीत् ।

'मैं उन्हींका भेजा हुआ दूत होकर यहाँ आपके पास आया हूँ। भगवान् श्रीराम आपके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित हैं। उन्होंने आपके पास अपनी कुशल कहलायी है और आपकी भी कुशल पूछी है ॥ ३३½ ॥

लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३४ ॥
अभिवाद्य महाबाहुः स त्वां कौशलमब्रवीत् ।

'सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी महाबाहु लक्ष्मणने भी आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है ॥

रामस्य च सखा देवि सुग्रीवो नाम वानरः ॥ ३५ ॥
राजा वानरमुख्यानां स त्वां कौशलमब्रवीत् ।
नित्यं स्मरति ते रामः ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ॥ ३६ ॥

'देवि ! श्रीरघुनाथजीके सखा एक सुग्रीव नामक वानर हैं, जो मुख्य-मुख्य वानरोंके राजा हैं, उन्होंने भी आपसे कुशल पूछी है । सुग्रीव और लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी प्रतिदिन आपका स्मरण करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

दिष्ट्या जीवसि वैदेहि राक्षसीवशमागता ।
नचिराद् द्रक्ष्यसे रामं लक्ष्मणं च महारथम् ॥ ३७ ॥

'विदेहनन्दिनि ! राक्षसियोंके चंगुलमें फँसकर भी आप अभीतक जीवित हैं, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। अब आप शीघ्र ही महारथी श्रीराम और लक्ष्मणका दर्शन करेंगी ॥

मध्ये वानरकोटीनां सुग्रीवं चामितौजसम् ।
अहं सुग्रीवसचिवो हनूमान् नाम वानरः ॥ ३८ ॥

'साथ ही करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए अमिततेजस्वी सुग्रीवको भी आप देखेंगी । मैं सुग्रीवका मन्त्री हनुमान् नामक वानर हूँ ॥ ३८ ॥

प्रविष्टो नगरीं लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम् ।
कृत्वा मूर्ध्नि पदन्यासं रावणस्य दुरात्मनः ॥ ३९ ॥

'मैंने महासागरको लाँघकर और दुरात्मा रावणके सिरपर पैर रखकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया है ॥ ३९ ॥

त्वां द्रष्टुमुपयातोऽहं समाश्रित्य पराक्रमम् ।
नाहमस्मि तथा देवि यथा मामवगच्छसि ।
विशङ्का त्यज्यतामेषा श्रद्धत्स्व वदतो मम ॥ ४० ॥

'मैं अपने पराक्रमका भरोसा करके आपका दर्शन करनेके लिये यहाँ उपस्थित हुआ हूँ । देवि ! आप मुझे जैसा समझ रही हैं, मैं वैसा नहीं हूँ। आप यह विपरीत आशङ्का छोड़ दीजिये और मेरी बातपर विश्वास कीजिये' ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सीताजीके पूछनेपर हनुमान्जीका श्रीरामके शारीरिक चिह्नों और गुणोंका वर्णन करना तथा नर-वानरकी मित्रताका प्रसङ्ग सुनाकर सीताजीके मनमें विश्वास उत्पन्न करना

तां तु रामकथां श्रुत्वा वैदेही वानरर्षभात् ।
उवाच वचनं सान्त्वमिदं मधुरया गिरा ॥ १ ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्जीके मुखसे श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चा सुनकर विदेहराजकुमारी सीता शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें बोलीं—॥ १ ॥

क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम् ।

वानराणां नराणां च कथमासीत् समागमः ॥ २ ॥

'कपिवर ! तुम्हारा श्रीरामचन्द्रजीके साथ सम्बन्ध कहाँ हुआ ? तुम लक्ष्मणको कैसे जानते हो ? मनुष्यों और वानरोंका यह मेल किस प्रकार सम्भव हुआ ?' ॥ २ ॥

यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च वानर ।
तानि भूयः समाचक्ष्व न मां शोकः समाविशेत् ॥ ३ ॥

'वानर ! श्रीराम और लक्ष्मणके जो चिह्न हैं, उनका फिरसे वर्णन करो, जिससे मेरे मनमें किसी प्रकारके शोकका समावेश न हो ॥ ३ ॥

कीदृशं तस्य संस्थानं रूपं तस्य च कीदृशम् ।
कथमूरू कथं बाहू लक्ष्मणस्य च शंस मे ॥ ४ ॥

'मुझे बताओ भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणकी आकृति कैसी है ? उनका रूप किस तरहका है ? उनकी जाँघें और भुजाएँ कैसी हैं ?' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु वैदेह्या हनूमान् मारुतात्मजः ।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥

विदेहराजकुमारी सीताके इस प्रकार पूछनेपर पवन-कुमार हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपका यथावत् वर्णन आरम्भ किया—॥ ५ ॥

जानन्ती बत दिष्ट्या मां वैदेहि परिपृच्छसि ।
भर्तुः कमलपत्राक्षि संस्थानं लक्ष्मणस्य च ॥ ६ ॥

'कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली विदेहराजकुमारी ! आप अपने पतिदेव श्रीरामके तथा देवर लक्ष्मणजीके शरीरके विषयमें जानती हुई भी जो मुझसे पूछ रही हैं, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ६ ॥

यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च यानि वै ।
लक्षितानि विशालाक्षि वदतः शृणु तानि मे ॥ ७ ॥

'विशाललोचने ! श्रीराम और लक्ष्मणके जिन-जिन चिह्नोंको मैंने लक्ष्य किया है, उन्हें बताता हूँ । मुझसे सुनिये ॥ ७ ॥

रामः कमलपत्राक्षः पूर्णचन्द्रनिभाननः ।
रूपदाक्षिण्यसम्पन्नः प्रसूतो जनकात्मजे ॥ ८ ॥

'जनकनन्दिनि ! श्रीरामचन्द्रजीके नेत्र प्रफुल्लकमल-दलके समान विशाल एवं सुन्दर हैं । मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान मनोहर है । वे जन्मकालसे ही रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं ॥ ८ ॥

तेजसाऽऽदित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपमः ॥ ९ ॥
रक्षिता जीवलोकस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य धर्मस्य च परंतपः ॥ १० ॥

'वे तेजमें सूर्यके समान, क्षमामें पृथ्वीके तुल्य, बुद्धिमें बृहस्पतिके सदृश और यशमें इन्द्रके समान हैं । वे सम्पूर्ण जीव-जगत्‌के तथा स्वजनोंके भी रक्षक हैं । शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम अपने सदाचार और धर्मकी रक्षा करते हैं ॥ ९-१० ॥

रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।
मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः ॥ ११ ॥

'भामिनि ! श्रीरामचन्द्रजी जगत्‌के चारों वर्णोंकी रक्षा करते हैं । लोकमें धर्मकी मर्यादाओंको बाँधकर उनका पालन करने और करानेवाले भी वे ही हैं ॥ ११ ॥

अर्चिष्मानर्चितोऽत्यर्थं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ।
साधूनामुपकारज्ञः प्रचारज्ञश्च कर्मणाम् ॥ १२ ॥

'सर्वत्र अत्यन्त भक्ति-भावसे उनकी पूजा होती है । ये कान्तिमान् एवं परम प्रकाशस्वरूप हैं, ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें लगे रहते हैं, साधु पुरुषोंका उपकार मानते और आचरणोंद्वारा सत्कर्मोंके प्रचारका ढंग जानते हैं ॥ १२ ॥

राजनीत्यां विनीतश्च ब्राह्मणानामुपासकः ।
ज्ञानवाञ्शीलसम्पन्नो विनीतश्च परंतपः ॥ १३ ॥

'वे राजनीतिमें पूर्ण शिक्षित, ब्राह्मणोंके उपासक, ज्ञानवान्, शीलवान्, विनम्र तथा शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हैं ॥ १३ ॥

यजुर्वेदविनीतश्च वेदविद्भिः सुपूजितः ।
धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः ॥ १४ ॥

'उन्हें यजुर्वेदकी भी अच्छी शिक्षा मिली है । वेदवेत्ता विद्वानोंने उनका बड़ा सम्मान किया है । वे चारों वेद, धनुर्वेद और छहों वेदाङ्गोंके भी परिनिष्ठित विद्वान् हैं ॥१४॥

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवः शुभाननः ।
गूढजत्रुः सुताम्राक्षो रामो नाम जनैः श्रुतः ॥ १५ ॥

'उनके कंधे मोटे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी, गला शङ्खके समान और मुख सुन्दर है । गलेकी हँसली मांससे ढकी हुई है तथा नेत्रोंमें कुछ-कुछ लालिमा है । वे लोगोंमें 'श्रीराम' के नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

दुन्दुभिस्वननिर्घोषः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
समश्च सुविभक्ताङ्गो वर्णं श्यामं समाश्रितः ॥ १६ ॥

'उनका स्वर दुन्दुभिके समान गम्भीर और शरीरका रंग सुन्दर एवं चिकना है; उनका प्रताप बहुत बढ़ा-चढ़ा है । उनके सभी अङ्ग सुडौल और बराबर हैं । उनकी कान्ति श्याम है ॥ १६ ॥

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः ।
त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः ॥ १७ ॥

'उनके तीन अङ्ग (वक्षःस्थल, कलाई और मुट्ठी) स्थिर (सुदृढ़) हैं । भौंहें, भुजाएँ और मेढ़्—ये तीन अङ्ग लंबे हैं । केशोंका अग्रभाग, अण्डकोष और घुटने—ये तीन समान-बराबर हैं । वक्षःस्थल, नाभिके किनारेका भाग और उदर—ये तीन उभरे हुए हैं । नेत्रोंके कोने, नख और हाथ-पैरके तलवे—ये तीन लाल हैं । शिश्नका

अग्रभाग, दोनों पैरोंकी रेखाएँ और सिरके बाल—ये तीन चिकने हैं तथा स्वर, चाल और नाभि—ये तीन गम्भीर हैं ॥ १७ ॥

त्रिवलीमांस्त्र्यवनतश्चतुर्व्यङ्गस्त्रिशीर्षवान् ।
चतुष्कलश्चतुर्लेखश्चतुष्किष्कुश्चतुःसमः ॥ १८ ॥

'उनके उदर तथा गलेमें तीन रेखाएँ हैं। तलवोंके मध्यभाग, पैरोंकी रेखाएँ और स्तनोंके अग्रभाग—ये तीन धँसे हुए हैं। गला, पीठ तथा दोनों पिण्डलियाँ—ये चार अङ्ग छोटे हैं। मस्तकमें तीन भँवरें हैं। पैरोंके अँगूठेके नीचे तथा ललाटमें चार-चार रेखाएँ हैं। वे चार हाथ ऊँचे हैं। उनके कपोल, भुजाएँ, जाँघें और घुटने—ये चार अङ्ग बराबर हैं ॥ १८ ॥

चतुर्दशसमद्वन्द्वश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्गतिः ।
महोष्ठहनुनासश्च पञ्चस्निग्धोऽष्टवंशवान् ॥ १९ ॥

'शरीरमें जो दो-दोकी संख्यामें चौदह अङ्ग होते हैं, वे भी उनके परस्पर सम हैं। उनकी चारों कोनोंकी चारों दाढ़ें शास्त्रीय लक्षणोंसे युक्त हैं। वे सिंह, बाघ, हाथी और साँड़—इन चारके समान चार प्रकारकी गतिसे चलते हैं। उनके ओठ, ठोढ़ी और नासिका—सभी प्रशस्त हैं। केश, नेत्र, दाँत, त्वचा और पैरके तलवे—इन पाँचों अङ्गोंमें स्निग्धता भरी है। दोनों भुजाएँ, दोनों जाँघें, दोनों पिंडलियाँ, हाथ और पैरोंकी अँगुलियाँ—ये आठ अङ्ग उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न (लंबे) हैं ॥ १९ ॥

दशपद्मो दशबृहत्त्रिभिर्व्याप्तो द्विशुक्लवान् ।
षडुन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः ॥ २० ॥

'उनके नेत्र, मुख-विवर, मुख-मण्डल, जिह्वा, ओठ, तालु, स्तन, नख, हाथ और पैर—ये दस अङ्ग कमलके समान हैं। छाती, मस्तक, ललाट, गला, भुजाएँ, कंधे, नाभि, चरण, पीठ और कान—ये दस अङ्ग विशाल हैं। वे श्री, यश और प्रताप—इन तीनोंसे व्याप्त हैं। उनके मातृकुल और पितृकुल दोनों अत्यन्त शुद्ध हैं। पार्श्वभाग, उदर, वक्षःस्थल, नासिका, कंधे और ललाट—ये छः अङ्ग ऊँचे हैं। केश, नख, लोम, त्वचा, अँगुलियोंके पोर, शिश्न, बुद्धि और दृष्टि आदि नौ सूक्ष्म (पतले) हैं तथा वे श्रीरघुनाथजी पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण—इन तीन कालोंद्वारा क्रमशः धर्म, अर्थ और कामका अनुष्ठान करते हैं ॥ २० ॥

सत्यधर्मरतः श्रीमान् संग्रहानुग्रहे रतः ।
देशकालविभागज्ञः सर्वलोकप्रियंवदः ॥ २१ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी सत्यधर्मके अनुष्ठानमें संलग्न, श्रीसम्पन्न, न्यायसङ्गत धनका संग्रह और प्रजापर अनुग्रह करनेमें तत्पर, देश और कालके विभागको समझनेवाले तथा सब लोगोंसे प्रिय वचन बोलनेवाले हैं ॥ २१ ॥

भ्राता चास्य च वैमात्रः सौमित्रिरमितप्रभः ।
अनुरागेण रूपेण गुणैश्चापि तथाविधः ॥ २२ ॥

'उनके सौतेले भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी बड़े तेजस्वी हैं। अनुराग, रूप और सद्‌गुणोंकी दृष्टिसे भी वे श्रीरामचन्द्रजीके ही समान हैं ॥ २२ ॥

स सुवर्णच्छविः श्रीमान् रामः श्यामो महायशाः ।
तावुभौ नरशार्दूलौ त्वद्दर्शनकृतोत्सवौ ॥ २३ ॥
विचिन्वन्तौ महीं कृत्स्नामस्माभिः सह संगतौ ।

'उन दोनों भाइयोंमें अन्तर इतना ही है कि लक्ष्मणके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान गौर है और महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजीका विग्रह श्याम-सुन्दर है। वे दोनों नरश्रेष्ठ आपके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो सारी पृथ्वीपर आपकी ही खोज करते हुए हमलोगोंसे मिले थे ॥ २३½ ॥

त्वामेव मार्गमाणौ तौ विचरन्तौ वसुंधराम् ॥ २४ ॥
ददर्शतुर्मृगपतिं पूर्वजेनावरोपितम् ।

'आपको ही ढूँढ़नेके लिये पृथ्वीपर विचरते हुए उन दोनों भाइयोंने वानरराज सुग्रीवका साक्षात्कार किया, जो अपने बड़े भाईके द्वारा राज्यसे उतार दिये गये थे ॥ २४½ ॥

ऋष्यमूकस्य मूले तु बहुपादपसंकुले ॥ २५ ॥
भ्रातुर्भयार्तमासीनं सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ।

'ऋष्यमूक पर्वतके मूलभागमें जो बहुत-से वृक्षोंद्वारा घिरा हुआ है, भाईके भयसे पीड़ित हो बैठे हुए प्रियदर्शन सुग्रीवसे वे दोनों भाई मिले ॥ २५½ ॥

वयं च हरिराजं तं सुग्रीवं सत्यसङ्गरम् ॥ २६ ॥
परिचर्यामहे राज्यात् पूर्वजेनावरोपितम् ।

'उन दिनों जिन्हें बड़े भाईने राज्यसे उतार दिया था, उन सत्यप्रतिज्ञ वानरराज सुग्रीवकी सेवामें हम सब लोग रहा करते थे ॥ २६½ ॥

ततस्तौ चीरवसनौ धनुःप्रवरपाणिनौ ॥ २७ ॥
ऋष्यमूकस्य शैलस्य रम्यं देशमुपागतौ ।
स तौ दृष्ट्वा नरव्याघ्रौ धन्विनौ वानरर्षभः ॥ २८ ॥
अभिप्लुतो गिरेस्तस्य शिखरं भयमोहितः ।

'शरीरपर वल्कलवस्त्र तथा हाथमें धनुष धारण किये वे दोनों भाई जब ऋष्यमूक पर्वतके रमणीय प्रदेशमें आये, तब धनुष धारण करनेवाले उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंको वहाँ उपस्थित देख वानरशिरोमणि सुग्रीव भयसे घबरा उठे और उछलकर उस पर्वतके उच्चतम शिखरपर जा चढ़े ॥ २७-२८½ ॥

ततः स शिखरे तस्मिन् वानरेन्द्रो व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
तयोः समीपं मामेव प्रेषयामास सत्वरम् ।

'उस शिखरपर बैठनेके पश्चात् वानरराज सुग्रीवने मुझे ही शीघ्रतापूर्वक उन दोनों बन्धुओंके पास भेजा ॥ २९½ ॥

---

१. भौंह, नथुने, नेत्र, कान, ओठ, स्तन, कोहनी, कलाई, जाँघ, घुटने, अण्डकोष, कमरके दोनों भाग, हाथ और पैर।

तावहं पुरुषव्याघ्रौ सुग्रीववचनात् प्रभू ॥ ३० ॥
रूपलक्षणसम्पन्नौ कृताञ्जलिरुपस्थितः ।

'सुग्रीवकी आज्ञासे उन प्रभावशाली रूपवान् तथा शुभ-लक्षणसम्पन्न दोनों पुरुषसिंह वीरोंकी सेवामें मैं हाथ जोड़कर उपस्थित हुआ ॥ ३०½ ॥

तौ परिज्ञाततत्त्वार्थौ मया प्रीतिसमन्वितौ ॥ ३१ ॥
पृष्ठमारोप्य तं देशं प्रापितौ पुरुषर्षभौ ।

'मुझसे यथार्थ बातें जानकर उन दोनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर मैं अपनी पीठपर चढ़ाकर उन दोनों पुरुषोत्तम बन्धुओंको उस स्थानपर ले गया (जहाँ वानरराज सुग्रीव थे)॥

निवेदितौ च तत्त्वेन सुग्रीवाय महात्मने ॥ ३२ ॥
तयोरन्योन्यसम्भाषाद् भृशं प्रीतिरजायत ।

'वहाँ महात्मा सुग्रीवको मैंने इन दोनों बन्धुओंका यथार्थ परिचय दिया । तत्पश्चात् श्रीराम और सुग्रीवने परस्पर बातें कीं, इससे उन दोनोंमें बड़ा प्रेम हो गया ॥ ३२½ ॥

तत्र तौ कीर्तिसम्पन्नौ हरीश्वरनरेश्वरौ ॥ ३३ ॥
परस्परकृताश्वासौ कथया पूर्ववृत्तया ।

'वहाँ उन दोनों यशस्वी वानरेश्वर और नरेश्वरोंने अपने ऊपर बीती हुई पहलेकी घटनाएँ सुनायीं तथा दोनोंने दोनोंको आश्वासन दिया ॥ ३३½ ॥

तं ततः सान्त्वयामास सुग्रीवं लक्ष्मणाग्रजः ॥ ३४ ॥
स्त्रीहेतोर्वालिना भ्रात्रा निरस्तं पुरुतेजसा ।

उस समय लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरघुनाथजीने स्त्रीके लिये अपने महातेजस्वी भाई वालीद्वारा घरसे निकाले हुए सुग्रीवको सान्त्वना दी ॥ ३४½ ॥

ततस्त्वन्नाशजं शोकं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३५ ॥
लक्ष्मणो वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयत् ।

'तत्पश्चात् अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामको आपके वियोगसे जो शोक हो रहा था, उसे लक्ष्मणने वानरराज सुग्रीवको सुनाया ॥ ३५½ ॥

स श्रुत्वा वानरेन्द्रस्तु लक्ष्मणेनेरितं वचः ॥ ३६ ॥
तदासीन्निष्प्रभोऽत्यर्थं ग्रहग्रस्त इवांशुमान् ।

'लक्ष्मणजीकी कही हुई वह बात सुनकर वानरराज सुग्रीव उस समय ग्रहग्रस्त सूर्यके समान अत्यन्त कान्तिहीन हो गये ॥ ३६½ ॥

ततस्त्वद्गात्रशोभीनि रक्षसा ह्रियमाणया ॥ ३७ ॥
यान्याभरणजालानि पातितानि महीतले ।
तानि सर्वाणि रामाय आनीय हरियूथपाः ॥ ३८ ॥
संहृष्टा दर्शयामासुर्गतिं तु न विदुस्तव ।

'तदनन्तर वानर-यूथपतियोंने आपके शरीरपर शोभा पानेवाले उन सब आभूषणोंको ले आकर बड़ी प्रसन्नताके साथ श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया, जिन्हें आपने उस समय पृथ्वीपर गिराया था, जब कि राक्षस आपको हरकर लिये जा रहा था । वानरोंने आभूषण तो दिखाये, किंतु उन्हें आपका पता कुछ भी मालूम नहीं था ॥ ३७-३८½ ॥

तानि रामाय दत्तानि मयैवोपहृतानि च ॥ ३९ ॥
स्वनवन्त्यवकीर्णानि तस्मिन् विहतचेतसि ।
तान्यङ्के दर्शनीयानि कृत्वा बहुविधं तदा ॥ ४० ॥
तेन देवप्रकाशेन देवेन परिदेवितम् ।

'आपके द्वारा गिराये जानेपर वे सब आभूषण झन-झनकी आवाजके साथ जमीनपर गिरे और बिखर गये थे । मैं ही उन सबको बटोरकर ले आया था । उस दिन जब वे गहने श्रीरामचन्द्रजीको दिये गये उस समय वे उन्हें अपनी गोदमें लेकर अचेत-से हो गये थे । उन दर्शनीय आभूषणों-को छातीसे लगाकर देवतुल्य आभावाले भगवान् श्रीरामने बहुत विलाप किया ॥ ३९-४०½ ॥

पश्यतस्तानि रुदतस्ताम्यतश्च पुनः पुनः ॥ ४१ ॥
प्रादीपयद् दाशरथेस्तदा शोकहुताशनम् ॥ ४२ ॥
शायितं च चिरं तेन दुःखार्तेन महात्मना ।
मयापि विविधैर्वाक्यैः कृच्छ्रादुत्थापितः पुनः ॥ ४३ ॥

'उन आभूषणोंको बारंबार देखते, रोते और तिलमिला उठते थे । उस समय दशरथनन्दन श्रीरामकी शोकाग्नि प्रज्वलित हो उठी । उस दुःखसे आतुर हो वे महात्मा रघुवीर बहुत देरतक मूर्छित अवस्थामें पड़े रहे । तब मैंने नाना प्रकारके सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर बड़ी कठिनाईसे उन्हें उठाया ॥ ४१–४३ ॥

तानि दृष्ट्वा महार्हाणि दर्शयित्वा मुहुर्मुहुः ।
राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवे संन्यवेशयत् ॥ ४४ ॥

'लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीने उन बहुमूल्य आभूषणोंको बारंबार देखा और दिखाया । फिर वे सब सुग्रीवको दे दिये ॥

स तवादर्शनादार्ये राघवः परितप्यते ।
महता ज्वलता नित्यमग्निनेवाग्निपर्वतः ॥ ४५ ॥

'आर्ये ! आपको न देख पानेके कारण श्रीरघुनाथजीको बड़ा दुःख और संताप हो रहा है । जैसे ज्वालामुखी पर्वत जलती हुई बड़ी भारी आगसे सदा तपता रहता है, उसी प्रकार वे आपकी विरहाग्निसे जल रहे हैं ॥ ४५ ॥

त्वत्कृते तमनिद्रा च शोकश्चिन्ता च राघवम् ।
तापयन्ति महात्मानमग्न्यगारमिवाग्नयः ॥ ४६ ॥

'आपके लिये महात्मा श्रीरघुनाथजीको अनिद्रा (निरन्तर जागरण), शोक और चिन्ता—ये तीनों उसी प्रकार संताप देते हैं, जैसे आहवनीय आदि त्रिविध अग्नियाँ अग्निशाला-को तपाती रहती हैं ॥ ४६ ॥

तवादर्शनशोकेन राघवः परिचाल्यते ।
महता भूमिकम्पेन महानिव शिलोच्चयः ॥ ४७ ॥

'देवि ! आपको न देख पानेका शोक श्रीरघुनाथजीको

उसी प्रकार विचलित कर देता है, जैसे भारी भूकम्पसे महान् पर्वत भी हिल जाता है ॥ ४७ ॥

काननानि सुरम्याणि नदीप्रस्रवणानि च ।
चरन् न रतिमाप्नोति त्वामपश्यन् नृपात्मजे ॥ ४८ ॥

'राजकुमारि ! आपको न देखनेके कारण रमणीय काननों, नदियों और झरनोंके पास विचरनेपर भी श्रीरामको सुख नहीं मिलता है ॥ ४८ ॥

स त्वां मनुजशार्दूलः क्षिप्रं प्राप्स्यति राघवः ।
समित्रबान्धवं हत्वा रावणं जनकात्मजे ॥ ४९ ॥

'जनकनन्दिनि ! पुरुषसिंह भगवान् श्रीराम रावणको उसके मित्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर शीघ्र ही आपसे मिलेंगे ॥ ४९ ॥

सहितौ रामसुग्रीवावुभावकुरुतां तदा ।
समयं वालिनं हन्तुं तव चान्वेषणं प्रति ॥ ५० ॥

'उन दिनों श्रीराम और सुग्रीव जब मित्रभावसे मिले तब दोनोंने एक-दूसरेकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की। श्रीरामने वालीको मारनेका और सुग्रीवने आपकी खोज करानेका वचन दिया ॥ ५० ॥

ततस्ताभ्यां कुमाराभ्यां वीराभ्यां स हरीश्वरः।
किष्किन्धां समुपागम्य वाली युद्धे निपातितः ॥ ५१ ॥

'इसके बाद उन दोनों वीर राजकुमारोंने किष्किन्धामें जाकर वानरराज वालीको युद्धमें मार गिराया ॥ ५१ ॥

ततो निहत्य तरसा रामो वालिनमाहवे ।
सर्वर्क्षहरिसङ्घानां सुग्रीवमकरोत् पतिम् ॥ ५२ ॥

'युद्धमें वेगपूर्वक वालीको मारकर श्रीरामने सुग्रीवको समस्त भालुओं और वानरोंका राजा बना दिया ॥ ५२ ॥

रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत ।
हनुमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमुपागतम् ॥ ५३ ॥

'देवि ! श्रीराम और सुग्रीवमें इस प्रकार मित्रता हुई है। मैं उन दोनोंका दूत बनकर यहाँ आया हूँ। आप मुझे हनुमान् समझें ॥ ५३ ॥

स्वं राज्यं प्राप्य सुग्रीवः स्वानानीय महाकपीन् ।
त्वदर्थं प्रेषयामास दिशो दश महाबलान् ॥ ५४ ॥

'अपना राज्य पानेके अनन्तर सुग्रीवने अपने आश्रयमें रहनेवाले बड़े-बड़े बलवान् वानरोंको बुलाया और उन्हें आपकी खोजके लिये दसों दिशाओंमें भेजा ॥ ५४ ॥

आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण महौजसः ।
अद्रिराजप्रतीकाशाः सर्वतः प्रस्थिता महीम् ॥ ५५ ॥

'वानरराज सुग्रीवकी आज्ञा पाकर गिरिराजके समान विशालकाय महाबली वानर पृथ्वीपर सब ओर चल दिये ॥

ततस्ते मार्गमाणा वै सुग्रीववचनातुराः ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥ ५६ ॥

'सुग्रीवकी आज्ञासे भयभीत हो हम तथा अन्य वानर आपकी खोज करते हुए समस्त भूमण्डलमें विचर रहे हैं ॥

अङ्गदो नाम लक्ष्मीवान् वालिसूनुर्महाबलः ।
प्रस्थितः कपिशार्दूलस्त्रिभागबलसंवृतः ॥ ५७ ॥

'वालीके शोभाशाली पुत्र महाबली कपिश्रेष्ठ अंगद वानरोंकी एक तिहाई सेना साथ लेकर आपकी खोजमें निकले थे (उन्हींके दलमें मैं भी था) ॥ ५७ ॥

तेषां नो विप्रणष्टानां विन्ध्ये पर्वतसत्तमे ।
भृशं शोकपरीतानामहोरात्रगणा गताः ॥ ५८ ॥

'पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्यमें आकर खो जानेके कारण हमने वहाँ बड़ा कष्ट उठाया और वहीं हमारे बहुत दिन बीत गये ॥

ते वयं कार्यनैराश्यात् कालस्यातिक्रमेण च ।
भयाच्च कपिराजस्य प्राणांस्त्यक्तुमुपस्थिताः ॥ ५९ ॥

'अब हमें कार्य-सिद्धिकी कोई आशा नहीं रह गयी और निश्चित अवधिसे भी अधिक समय बिता देनेके कारण वानरराज सुग्रीवका भी भय था, इसलिये हम सब लोग अपने प्राण त्याग देनेके लिये उद्यत हो गये ॥ ५९ ॥

विचित्य गिरिदुर्गाणि नदीप्रस्रवणानि च ।
अनासाद्य पदं देव्याः प्राणांस्त्यक्तुं व्यवस्थिताः॥ ६० ॥

पर्वतके दुर्गम स्थानोंमें, नदियोंके तटोंपर और झरनोंके आस-पासकी सारी भूमि छान डाली तो भी जब हमें देवी सीता (आप) के स्थानका पता न चला तब हम प्राण त्याग देनेको तैयार हो गये ॥ ६० ॥

ततस्तस्य गिरेर्मूर्ध्नि वयं प्रायमुपास्महे ।
दृष्ट्वा प्रायोपविष्टांश्च सर्वान् वानरपुङ्गवान् ॥ ६१ ॥
भृशं शोकार्णवे मग्नः पर्यदेवयदङ्गदः ।

'मरणान्त उपवासका निश्चय करके हम सब-के-सब उस पर्वतके शिखरपर बैठ गये। उस समय समस्त वानरशिरोमणियोंको प्राण त्याग देनेके लिये बैठे देख कुमार अङ्गद अत्यन्त शोकके समुद्रमें डूब गये और विलाप करने लगे ॥ ६१½ ॥

तव नाशं च वैदेहि वालिनश्च तथा वधम् ॥ ६२ ॥
प्रायोपवेशमस्माकं मरणं च जटायुषः ।

'विदेहनन्दिनि ! आपका पता न लगने, वालीके मारे जाने, हमलोगोंके मरणान्त उपवास करने तथा जटायुके मरनेकी बातपर विचार करके कुमार अङ्गदको बड़ा दुःख हुआ था ॥ ६२½ ॥

तेषां नः स्वामिसंदेशान्निराशानां मुमूर्षताम् ॥ ६३ ॥
कार्यहेतोरिहायातः शकुनिर्वीर्यवान् महान् ।
गृध्रराजस्य सोदर्यः सम्पातिर्नाम गृध्रराट् ॥ ६४ ॥

'स्वामीके आज्ञापालनसे निराश होकर हम मरना ही चाहते थे कि दैववश हमारा कार्य सिद्ध करनेके लिये गृध्रराज जटायुके बड़े भाई सम्पाति, जो स्वयं भी गीधोंके राजा और महान् बलवान् पक्षी हैं, वहाँ आ पहुँचे ॥ ६३-६४ ॥

श्रुत्वा भ्रातृवधं कोपादिदं वचनमब्रवीत्।
यवीयान् केन मे भ्राता हतः क्व च निपातितः ॥ ६५ ॥
एतदाख्यातुमिच्छामि भवद्भिर्वानरोत्तमाः।

'हमारे मुँहसे अपने भाईके वधकी चर्चा सुनकर वे कुपित हो उठे और बोले—'वानरशिरोमणियो! बताओ, मेरे छोटे भाई जटायुका वध किसने किया है? वह कहाँ मारा गया है? यह सब वृत्तान्त मैं तुमलोगोंसे सुनना चाहता हूँ' ॥ ६५½ ॥

अङ्गदोऽकथयत् तस्य जनस्थाने महद्वधम् ॥ ६६ ॥
रक्षसा भीमरूपेण त्वामुद्दिश्य यथार्थतः।

'तब अंगदने जनस्थानमें आपकी रक्षाके उद्देश्यसे जूझते समय जटायुका उस भयानक रूपधारी राक्षसके द्वारा जो महान् वध किया गया था, वह सब प्रसंग ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ॥ ६६½ ॥

जटायोस्तु वधं श्रुत्वा दुःखितः सोऽरुणात्मजः ॥ ६७ ॥
त्वामाह स वरारोहे वसन्तीं रावणालये।

'जटायुके वधका वृत्तान्त सुनकर अरुणपुत्र सम्पातिको बड़ा दुःख हुआ। वरारोहे! उन्होंने ही हमें बताया कि आप रावणके घरमें निवास कर रही हैं ॥ ६७½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्पातेः प्रीतिवर्धनम् ॥ ६८ ॥
अङ्गदप्रमुखाः सर्वे ततः प्रस्थापिता वयम्।
विन्ध्यादुत्थाय सम्प्राप्ताः सागरस्यान्तमुत्तमम् ॥ ६९ ॥
त्वद्दर्शने कृतोत्साहा हृष्टाः पुष्टाः प्लवङ्गमाः।
अङ्गदप्रमुखाः सर्वे वेलोपान्तमुपागताः ॥ ७० ॥

'सम्पातिका वह वचन वानरोंके लिये बड़ा हर्षवर्धक था। उसे सुनकर उन्हींके भेजनेसे अङ्गद आदि हम सभी वानर आपके दर्शनकी आशासे उत्साहित हो विन्ध्यपर्वतसे उठकर समुद्रके उत्तम तटपर आये। इस प्रकार अङ्गद आदि सभी हृष्ट-पुष्ट वानर समुद्रके किनारे आ पहुँचे ॥ ६८-७० ॥

चिन्तां जग्मुः पुनर्भीमां त्वद्दर्शनसमुत्सुकाः।
अथाहं हरिसैन्यस्य सागरं दृश्य सीदतः ॥ ७१ ॥
व्यवधूय भयं तीव्रं योजनानां शतं प्लुतः।

'आपके दर्शनके लिये उत्सुक होनेपर भी सामने अपार समुद्रको देखकर सब वानर फिर भयानक चिन्तामें पड़ गये। समुद्रको देखकर वानर-सेना कष्टमें पड़ गयी है, यह जानकर मैं उन सबके तीव्र भयको दूर करता हुआ सौ योजन समुद्रको लाँघकर यहाँ आ गया ॥ ७१½ ॥

लङ्का चापि मया रात्रौ प्रविष्टा राक्षसाकुला ॥ ७२ ॥
रावणश्च मया दृष्टस्त्वं च शोकनिपीडिता।

'राक्षसोंसे भरी हुई लङ्कामें मैंने रातमें ही प्रवेश किया है। यहाँ आकर रावणको देखा है और शोकसे पीड़ित हुई आपका भी दर्शन किया है ॥ ७२½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथावृत्तमनिन्दिते ॥ ७३ ॥
अभिभाषस्व मां देवि दूतो दाशरथेरहम्।

'सतीशिरोमणे! यह सारा वृत्तान्त मैंने ठीक-ठीक आपके सामने रक्खा है। देवि! मैं दशरथनन्दन श्रीरामका दूत हूँ, अतः आप मुझसे बात कीजिये ॥ ७३½ ॥

तन्मां रामकृतोद्योगं त्वन्निमित्तमिहागतम् ॥ ७४ ॥
सुग्रीवसचिवं देवि बुद्ध्यस्व पवनात्मजम्।

'मैंने श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी सिद्धिके लिये ही यह सारा उद्योग किया है और आपके दर्शनके निमित्त मैं यहाँ आया हूँ। देवि! आप मुझे सुग्रीवका मन्त्री तथा वायुदेवताका पुत्र हनुमान् समझें ॥ ७४½ ॥

कुशली तव काकुत्स्थः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ७५ ॥
गुरोराराधने युक्तो लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
तस्य वीर्यवतो देवि भर्तुस्तव हिते रतः ॥ ७६ ॥

'देवि! आपके पतिदेव समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी सकुशल हैं तथा बड़े भाईकी सेवामें संलग्न रहनेवाले शुभलक्षण लक्ष्मण भी प्रसन्न हैं। वे आपके उन पराक्रमी पतिदेवके हित-साधनमें ही तत्पर रहते हैं ॥ ७५-७६ ॥

अहमेकस्तु सम्प्राप्तः सुग्रीववचनादिह।
मयेयमसहायेन चरता कामरूपिणा ॥ ७७ ॥
दक्षिणा दिगनुक्रान्ता त्वन्मार्गविचयैषिणा।

'मैं सुग्रीवकी आज्ञासे अकेला ही यहाँ आया हूँ। इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति रखता हूँ। आपका पता लगानेकी इच्छासे मैंने बिना किसी सहायकके अकेले ही घूम-फिरकर इस दक्षिण दिशाका अनुसंधान किया है ॥ ७७½ ॥

दिष्ट्याहं हरिसैन्यानां त्वन्नाशमनुशोचताम् ॥ ७८ ॥
अपनेष्यामि संतापं तवाधिगमशासनात्।

'आपके विनाशकी सम्भावनासे जो निरन्तर शोकमें डूबे रहते हैं, उन वानरसैनिकोंको यह बताकर कि आप मिल गयीं, मैं उनका संताप दूर करूँगा। यह मेरे लिये बड़े हर्षकी बात होगी ॥ ७८½ ॥

दिष्ट्या हि न मम व्यर्थं सागरस्येह लङ्घनम् ॥ ७९ ॥
प्राप्स्याम्यहमिदं देवि त्वद्दर्शनकृतं यशः।

'देवि! मेरा समुद्रको लाँघकर यहाँतक आना व्यर्थ नहीं हुआ। सबसे पहले आपके दर्शनका यह यश मुझे ही मिलेगा। यह मेरे लिये सौभाग्यकी बात है ॥ ७९½ ॥

राघवश्च महावीर्यः क्षिप्रं त्वामभिपत्स्यते ॥ ८० ॥
सपुत्रबान्धवं हत्वा रावणं राक्षसाधिपम्।

'महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी राक्षसराज रावणको उसके पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर शीघ्र ही आपसे आ मिलेंगे ॥ ८०½ ॥

माल्यवान् नाम वैदेहि गिरीणामुत्तमो गिरिः ॥ ८१ ॥
ततो गच्छति गोकर्णं पर्वतं केसरी हरिः ।
स च देवर्षिभिर्दिष्टः पिता मम महाकपिः ।
तीर्थे नदीपतेः पुण्ये शम्बसादनमुद्धरन् ॥ ८२ ॥
यस्याहं हरिणः क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि ।
हनूमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ॥ ८३ ॥

'विदेहनन्दिनि ! पर्वतोंमें माल्यवान् नामसे प्रसिद्ध एक उत्तम पर्वत है । वहाँ केसरी नामक वानर निवास करते थे । एक दिन वे वहाँसे गोकर्ण पर्वतपर गये । महाकपि केसरी मेरे पिता हैं । उन्होंने समुद्रके तटपर विद्यमान उस पवित्र गोकर्ण तीर्थमें देवर्षियोंकी आज्ञासे शम्बसादन नामक दैत्यका संहार किया था । मिथिलेशकुमारी ! उन्हीं कपिराज केसरीकी स्त्रीके गर्भसे वायुदेवताके द्वारा मेरा जन्म हुआ है । मैं लोकमें अपने ही कर्मद्वारा 'हनुमान्' नामसे विख्यात हूँ ॥ ८१–८३ ॥

विश्वासार्थं तु वैदेहि भर्तुरुक्ता मया गुणाः ।
अचिरात् त्वामितो देवि राघवो नयिता ध्रुवम् ॥ ८४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! आपको विश्वास दिलानेके लिये मैंने आपके स्वामीके गुणोंका वर्णन किया है । देवि ! श्रीरघुनाथजी शीघ्र ही आपको यहाँसे ले चलेंगे—यह निश्चित बात है' ॥ ८४ ॥

एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककर्शिता ।
उपपन्नैरभिज्ञानैर्दूतं तमधिगच्छति ॥ ८५ ॥

इस प्रकार युक्तियुक्त एवं विश्वसनीय कारणों तथा पहचानके रूपमें बताये गये श्रीराम और लक्ष्मणके शारीरिक चिह्नोंद्वारा हनुमान्‌जीने शोकसे दुर्बल हुई सीताको अपना विश्वास दिलाया । तब उन्होंने हनुमान्‌जीको श्रीरामका दूत समझा ॥ ८५ ॥

अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षेण तु जानकी ।
नेत्राभ्यां वक्रपक्ष्माभ्यां मुमोचानन्दजं जलम् ॥ ८६ ॥

उस समय जनकनन्दिनी सीताको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ । उस महान् हर्षके कारण वे कुटिल बरौनियोंवाले दोनों नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाने लगीं ॥ ८६ ॥

चारु तद् वदनं तस्यास्ताम्रशुक्लायतेक्षणम् ।
अशोभत विशालाक्ष्या राहुमुक्त इवोडुराट् ॥ ८७ ॥

उस अवसरपर विशाललोचना सीताका मनोहर मुख जो लाल, सफेद और बड़े-बड़े नेत्रोंसे युक्त था, राहुके ग्रहणसे मुक्त हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ॥ ८७ ॥

हनूमन्तं कपिं व्यक्तं मन्यते नान्यथेति सा ।
अथोवाच हनूमांस्तामुत्तरं प्रियदर्शनाम् ॥ ८८ ॥

अब वे हनुमान्‌को वास्तविक वानर मानने लगीं । इसके विपरीत मायामय रूपधारी राक्षस नहीं । तदनन्तर हनुमान्‌जीने प्रियदर्शना सीतासे फिर कहा—॥ ८८ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं समाश्वसिहि मैथिलि ।
किं करोमि कथं वा ते रोचते प्रतियाम्यहम् ॥ ८९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! इस प्रकार आपने जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने बता दिया । अब आप धैर्य धारण करें । बताइये, मैं आपकी कैसी और क्या सेवा करूँ । इस समय आपकी रुचि क्या है, आज्ञा हो तो अब मैं लौट जाऊँ ॥ ८९ ॥

हतेऽसुरे संयति शम्बसादने
कपिप्रवीरेण महर्षिचोदनात् ।
ततोऽस्मि वायुप्रभवो हि मैथिलि
प्रभावतस्तत्प्रतिमश्च वानरः ॥ ९० ॥

'महर्षियोंकी प्रेरणासे कपिवर केसरीद्वारा युद्धमें शम्बसादन नामक असुरके मारे जानेपर मैंने पवनदेवताके द्वारा जन्म ग्रहण किया । अतः मैथिलि ! मैं उन वायुदेवताके समान ही प्रभावशाली वानर हूँ' ॥ ९० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताको मुद्रिका देना, सीताका 'श्रीराम कब मेरा उद्धार करेंगे' यह उत्सुक होकर पूछना तथा हनुमान्‌जीका श्रीरामके सीताविषयक प्रेमका वर्णन करके उन्हें सान्त्वना देना

भूय एव महातेजा हनूमान् पवनात्मजः ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं सीताप्रत्ययकारणात् ॥ १ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जी सीताजीको विश्वास दिलानेके लिये पुनः विनययुक्त वचन बोले—॥ १ ॥

वानरोऽहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः ।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥ २ ॥

'महाभागे ! मैं परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामका दूत वानर हूँ । देवि ! यह श्रीरामनामसे अङ्कित मुद्रिका है, इसे लेकर देखिये ॥ २ ॥

प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना ।
समाश्वसिहि भद्रं ते क्षीणदुःखफला ह्यसि ॥ ३ ॥

'आपको विश्वास दिलानेके लिये ही मैं इसे लेता आया

हूँ। महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं यह अंगूठी मेरे हाथमें दी थी। आपका कल्याण हो। अब आप धैर्य धारण करें। आपको जो दुःखरूपी फल मिल रहा था, वह अब समाप्त हो चला है' ॥ ३ ॥

गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषितम्।
भर्तारमिव सम्प्राप्तं जानकी मुदिताभवत्॥ ४॥

पतिके हाथको सुशोभित करनेवाली उस मुद्रिकाको लेकर सीताजी उसे ध्यानसे देखने लगीं। उस समय जानकीजीको इतनी प्रसन्नता हुई, मानो स्वयं उनके पतिदेव ही उन्हें मिल गये हों ॥ ४ ॥

चारु तद् वदनं तस्यास्ताम्रशुक्लायतेक्षणम्।
बभूव हर्षोदग्रं च राहुमुक्त इवोडुराट्॥ ५॥

उनका लाल, सफेद और विशाल नेत्रोंसे युक्त मनोहर मुख हर्षसे खिल उठा, मानो चन्द्रमा राहुके ग्रहणसे मुक्त हो गया हो ॥ ५ ॥

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुः संदेशहर्षिता।
परितुष्टा प्रियं कृत्वा प्रशशंस महाकपिम्॥ ६॥

वे लजीली विदेहबाला प्रियतमका संदेश पाकर बहुत प्रसन्न हुईं। उनके मनको बड़ा संतोष हुआ। वे महाकपि हनूमान्‌जीका आदर करके उनकी प्रशंसा करने लगीं— ॥ ६ ॥

विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम।
येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रधर्षितम्॥ ७॥

'वानरश्रेष्ठ! तुम बड़े पराक्रमी, शक्तिशाली और बुद्धिमान् हो; क्योंकि तुमने अकेले ही इस राक्षसपुरीको पददलित कर दिया है ॥ ७ ॥

शतयोजनविस्तीर्णः सागरो मकरालयः।
विक्रमश्लाघनीयेन क्रमता गोष्पदीकृतः॥ ८॥

'तुम अपने पराक्रमके कारण प्रशंसाके योग्य हो; क्योंकि तुमने मगर आदि जन्तुओंसे भरे हुए सौ योजन विस्तारवाले महासागरको लाँघते समय उसे गायकी खुरीके बराबर समझा है। इसलिये प्रशंसाके पात्र हो ॥ ८ ॥

नहि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्षभ।
यस्य ते नास्ति संत्रासो रावणादपि सम्भ्रमः॥ ९॥

'वानरशिरोमणे! मैं तुम्हें कोई साधारण वानर नहीं मानती हूँ; क्योंकि तुम्हारे मनमें रावण-जैसे राक्षससे भी न तो भय होता है और न घबराहट ही ॥ ९ ॥

अर्हसे च कपिश्रेष्ठ मया समभिभाषितुम्।
यद्यसि प्रेषितस्तेन रामेण विदितात्मना॥ १०॥

'कपिश्रेष्ठ! यदि तुम्हें आत्मज्ञानी भगवान् श्रीरामने भेजा है तो तुम अवश्य इस योग्य हो कि मैं तुमसे बातचीत करूँ ॥ १० ॥

प्रेषयिष्यति दुर्धर्षो रामो नह्यपरीक्षितम्।
पराक्रममविज्ञाय मत्सकाशं विशेषतः॥ ११॥

'दुर्धर्ष वीर श्रीरामचन्द्रजी विशेषतः मेरे निकट ऐसे किसी पुरुषको नहीं भेजेंगे, जिसके पराक्रमका उन्हें ज्ञान न हो तथा जिसके शीलस्वभावकी उन्होंने परीक्षा न कर ली हो ॥ ११ ॥

दिष्ट्या च कुशली रामो धर्मात्मा सत्यसंगरः।
लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः॥ १२॥

'सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मात्मा भगवान् श्रीराम सकुशल हैं तथा सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी लक्ष्मण भी स्वस्थ एवं सुखी हैं, यह जानकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ है और यह शुभ संवाद मेरे लिये सौभाग्यका सूचक है ॥ १२ ॥

कुशली यदि काकुत्स्थः किं न सागरमेखलाम्।
महीं दहति कोपेन युगान्ताग्निरिवोत्थितः॥ १३॥

'यदि ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम सकुशल हैं तो वे प्रलयकालमें उठे हुए प्रलयंकर अग्निके समान कुपित हो समुद्रोंसे घिरी हुई सारी पृथ्वीको दग्ध क्यों नहीं कर देते हैं? ॥ १३ ॥

अथवा शक्तिमन्तौ तौ सुराणामपि निग्रहे।
ममैव तु न दुःखानामस्ति मन्ये विपर्ययः॥ १४॥

'अथवा वे दोनों भाई देवताओंको भी दण्ड देनेकी शक्ति रखते हैं (तो भी अबतक जो चुप बैठे हैं, इसमें उनका नहीं, मेरे ही भाग्यका दोष है)। मैं समझती हूँ कि अभी मेरे ही दुःखोंका अन्त नहीं आया है ॥ १४ ॥

कच्चिन्न व्यथते रामः कच्चिन्न परितप्यते।
उत्तराणि च कार्याणि कुरुते पुरुषोत्तमः॥ १५॥

'अच्छा, यह तो बताओ, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके मनमें कोई व्यथा तो नहीं है? वे संतप्त तो नहीं होते? उन्हें आगे जो कुछ करना है, उसे वे करते हैं या नहीं? ॥ १५ ॥

कच्चिन्न दीनः सम्भ्रान्तः कार्येषु च न मुह्यति।
कच्चित् पुरुषकार्याणि कुरुते नृपतेः सुतः॥ १६॥

'उन्हें किसी प्रकारकी दीनता या घबराहट तो नहीं है? वे काम करते-करते मोहके वशीभूत तो नहीं हो जाते? क्या राजकुमार श्रीराम पुरुषोचित कार्य (पुरुषार्थ) करते हैं? ॥ १६ ॥

द्विविधं त्रिविधोपायमुपायमपि सेवते।
विजिगीषुः सुहृत् कच्चिन्मित्रेषु च परंतपः॥ १७॥

'क्या शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम मित्रोंके प्रति मित्रभाव रखकर साम और दान रूप दो उपायोंका ही अवलम्बन करते हैं? तथा शत्रुओंके प्रति उन्हें जीतनेकी इच्छा रखकर दान, भेद और दण्ड—इन तीन प्रकारके उपायोंका ही आश्रय लेते हैं? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मित्राणि लभतेऽमित्रैश्चाप्यभिगम्यते।
कच्चित् कल्याणमित्रश्च मित्रैश्चापि पुरस्कृतः॥ १८॥

'क्या श्रीराम स्वयं प्रयत्नपूर्वक मित्रोंका संग्रह करते

हैं ? क्या उनके शत्रु भी शरणागत होकर अपनी रक्षाके लिये उनके पास आते हैं ? क्या उन्होंने मित्रोंका उपकार करके उन्हें अपने लिये कल्याणकारी बना लिया है ? क्या वे कभी अपने मित्रोंसे भी उपकृत या पुरस्कृत होते हैं ? ॥ १८ ॥

कच्चिदाशास्ति देवानां प्रसादं पार्थिवात्मजः।
कच्चित् पुरुषकारं च दैवं च प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

'क्या राजकुमार श्रीराम कभी देवताओंकी भी कृपा-प्रसाद चाहते हैं—उनकी कृपाके लिये प्रार्थना करते हैं ? क्या वे पुरुषार्थ और दैव दोनोंका आश्रय लेते हैं ? ॥ १९ ॥

कच्चिन्न विगतस्नेहो विवासान्मयि राघवः।
कच्चिन्मां व्यसनादस्मान्मोक्षयिष्यति राघवः ॥ २० ॥

दुर्भाग्यवश मैं उनसे दूर हो गयी हूँ। इस कारण श्रीरघुनाथजी मुझपर स्नेहहीन तो नहीं हो गये हैं ? क्या वे मुझे कभी इस संकटसे छुड़ायेंगे ॥ २० ॥

सुखानामुचितो नित्यमसुखानामनूचितः।
दुःखमुत्तरमासाद्य कच्चिद् रामो न सीदति ॥ २१ ॥

'वे सदा सुख भोगनेके ही योग्य हैं, दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं हैं; परंतु इन दिनों दुःख-पर-दुःख उठानेके कारण श्रीराम अधिक खिन्न और शिथिल तो नहीं हो गये हैं ? ॥ २१ ॥

कौसल्यायास्तथा कच्चित् सुमित्रायास्तथैव च।
अभीक्ष्णं श्रूयते कच्चित् कुशलं भरतस्य च ॥ २२ ॥

'क्या उन्हें माता कौसल्या, सुमित्रा तथा भरतका कुशल-समाचार बराबर मिलता रहता है ? ॥ २२ ॥

मन्निमित्तेन मानार्हः कच्चिच्छोकेन राघवः।
कच्चिन्नान्यमना रामः कच्चिन्मां तारयिष्यति ॥ २३ ॥

'क्या सम्माननीय श्रीरघुनाथजी मेरे लिये होनेवाले शोकसे अधिक संतप्त हैं ? वे मेरी ओरसे अन्यमनस्क तो नहीं हो गये हैं ? क्या श्रीराम मुझे इस संकटसे उबारेंगे ? ॥ २३ ॥

कच्चिदक्षौहिणीं भीमां भरतो भ्रातृवत्सलः।
ध्वजिनीं मन्त्रिभिर्गुप्तां प्रेषयिष्यति मत्कृते ॥ २४ ॥

'क्या भाईपर अनुराग रखनेवाले भरतजी मेरे उद्धारके लिये मन्त्रियोंद्वारा सुरक्षित भयंकर अक्षौहिणी सेना भेजेंगे ? ॥ २४ ॥

वानराधिपतिः श्रीमान् सुग्रीवः कच्चिदेष्यति।
मत्कृते हरिभिर्वीरैर्वृतो दन्तनखायुधैः ॥ २५ ॥

'क्या श्रीमान् वानरराज सुग्रीव दाँत और नखोंसे प्रहार करनेवाले वीर वानरोंको साथ ले मुझे छुड़ानेके लिये यहाँतक आनेका कष्ट करेंगे ? ॥ २५ ॥

कच्चिच्च लक्ष्मणः शूरः सुमित्रानन्दवर्धनः।
अस्त्रविच्छरजालेन राक्षसान् विधमिष्यति ॥ २६ ॥

'क्या सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले शूरवीर लक्ष्मण, जो अनेक अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, अपने बाणोंकी वर्षासे राक्षसोंका संहार करेंगे ? ॥ २६ ॥

रौद्रेण कच्चिदस्त्रेण रामेण निहतं रणे।
द्रक्ष्याम्यल्पेन कालेन रावणं ससुहृज्जनम् ॥ २७ ॥

'क्या मैं रावणको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित थोड़े ही दिनोंमें श्रीरघुनाथजीके द्वारा युद्धमें भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंसे मारा गया देखूँगी ? ॥ २७ ॥

कच्चिन्न तद्धेमसमानवर्णं
तस्याननं पद्मसमानगन्धि।
मया विना शुष्यति शोकदीनं
जलक्षये पद्ममिवातपेन ॥ २८ ॥

'जैसे पानी सूख जानेपर धूपसे कमल सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे बिना शोकसे दुखी हुआ श्रीरामका वह सुवर्णके समान कान्तिमान् और कमलके सदृश सुगन्धित मुख सूख तो नहीं गया है ? ॥ २८ ॥

धर्मापदेशात् त्यजतः स्वराज्यं
मां चाप्यरण्यं नयतः पदातेः।
नासीद् यथा यस्य न भीर्न शोकः
कच्चित् स धैर्यं हृदये करोति ॥ २९ ॥

'धर्मपालनके उद्देश्यसे अपने राज्यका त्याग करते और मुझे पैदल ही वनमें लाते समय जिन्हें तनिक भी भय और शोक नहीं हुआ, वे श्रीरघुनाथजी इस संकटके समय हृदयमें धैर्य तो धारण करते हैं न ? ॥ २९ ॥

न चास्य माता न पिता न चान्यः
स्नेहाद् विशिष्टोऽस्ति मया समो वा।
तावद्ध्यहं दूत जिजीविषेयं
यावत् प्रवृत्तिं शृणुयां प्रियस्य ॥ ३० ॥

'दूत ! उनके माता-पिता तथा अन्य कोई सम्बन्धी भी ऐसे नहीं हैं, जिन्हें उनका स्नेह मुझसे अधिक अथवा मेरे बराबर भी मिला हो। मैं तो तभीतक जीवित रहना चाहती हूँ, जबतक यहाँ आनेके सम्बन्धमें अपने प्रियतमकी प्रवृत्ति सुन रही हूँ' ॥ ३० ॥

इतीव देवी वचनं महार्थं
तं वानरेन्द्रं मधुरार्थमुक्त्वा।
श्रोतुं पुनस्तस्य वचोऽभिरामं
रामार्थयुक्तं विरराम रामा ॥ ३१ ॥

देवी सीता वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के प्रति इस प्रकार महान् अर्थसे युक्त मधुर वचन कहकर श्रीरामचन्द्रजीसे सम्बन्ध रखनेवाली उनकी मनोहर वाणी पुनः सुननेके लिये चुप हो गयीं ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा मारुतिर्भीमविक्रमः।
शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

सीताजीका वचन सुनकर भयंकर पराक्रमी पवनकुमार

हनुमान् मस्तकपर अञ्जलि बाँधे उन्हें इस प्रकार उत्तर देने लगे—॥ ३२ ॥

न त्वामिहस्थां जानीते रामः कमललोचनः।
तेन त्वां नानयत्याशु शचीमिव पुरंदरः॥ ३३॥

'देवि ! कमलनयन भगवान् श्रीरामको यह पता ही नहीं है कि आप लङ्कामें रह रही हैं। इसीलिये जैसे इन्द्र दानवोंके यहाँसे शचीको उठा ले गये, उस प्रकार वे शीघ्र यहाँसे आपको नहीं ले जा रहे हैं॥ ३३॥

श्रुत्वैव च वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः।
चमूं प्रकर्षन् महतीं हर्यृक्षगणसंयुताम्॥ ३४॥

'जब मैं यहाँसे लौटकर जाऊँगा, तब मेरी बात सुनते ही श्रीरघुनाथजी वानर और भालुओंकी विशाल सेना लेकर तुरंत वहाँसे चल देंगे॥ ३४॥

विष्टम्भयित्वा बाणौघैरक्षोभ्यं वरुणालयम्।
करिष्यति पुरीं लङ्कां काकुत्स्थः शान्तराक्षसाम्॥ ३५॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम अपने बाण-समूहोंद्वारा अक्षोभ्य महासागरको भी स्तब्ध करके उसपर सेतु बाँधकर लङ्कापुरीमें पहुँच जायँगे और उसे राक्षसोंसे सूनी कर देंगे॥ ३५॥

तत्र यद्यन्तरा मृत्युर्यदि देवा महासुराः।
स्थास्यन्ति पथि रामस्य स तानपि वधिष्यति॥ ३६॥

'उस समय श्रीरामके मार्गमें यदि मृत्यु, देवता अथवा बड़े-बड़े असुर भी विघ्न बनकर खड़े होंगे तो वे उन सबका भी संहार कर डालेंगे॥ ३६॥

तवादर्शनजेनार्ये शोकेन परिपूरितः।
न शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः॥ ३७॥

'आर्ये ! आपको न देखनेके कारण उत्पन्न हुए शोकसे उनका हृदय भरा रहता है; अतः श्रीराम सिंहसे पीड़ित हुए हाथीकी भाँति क्षणभरको भी चैन नहीं पाते हैं॥ ३७॥

मन्दरेण च ते देवि शपे मूलफलेन च।
मलयेन च विन्ध्येन मेरुणा दर्दुरेण च॥ ३८॥
यथा सुनयनं वल्गु बिम्बोष्ठं चारुकुण्डलम्।
मुखं द्रक्ष्यसि रामस्य पूर्णचन्द्रमिवोदितम्॥ ३९॥

'देवि ! मन्दर आदि पर्वत हमारे वासस्थान हैं और फल-मूल भोजन। अतः मैं मन्दराचल, मलय, विन्ध्य, मेरु तथा दर्दुर पर्वतकी और अपनी जीविकाके साधन फल-मूलकी सौगंध खाकर कहता हूँ कि आप शीघ्र ही श्रीरामका नवोदित पूर्ण चन्द्रमाके समान वह मनोहर मुख देखेंगी, जो सुन्दर नेत्र, बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ और सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत एवं चित्ताकर्षक है॥ ३८-३९॥

क्षिप्रं द्रक्ष्यसि वैदेहि रामं प्रस्रवणे गिरौ।
शतक्रतुमिवासीनं नागपृष्ठस्य मूर्धनि॥ ४०॥

'विदेहनन्दिनि ! ऐरावतकी पीठपर बैठे हुए देवराज इन्द्रके समान प्रस्रवण गिरिके शिखरपर विराजमान श्रीरामका आप शीघ्र दर्शन करेंगी॥ ४०॥

न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चैव मधु सेवते।
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति पञ्चमम्॥ ४१॥

'कोई भी रघुवंशी न तो मांस खाता है और न मधुका ही सेवन करता है; फिर भगवान् श्रीराम इन वस्तुओंका सेवन क्यों करते ? वे सदा चार समय उपवास करके पाँचवें समय शास्त्रविहित जंगली फल-मूल और नीवार आदि भोजन करते हैं॥ ४१॥

नैव दंशान् न मशकान् न कीटान् न सरीसृपान्।
राघवोऽपनयेद् गात्रात् त्वद्गतेनान्तरात्मना॥ ४२॥

'श्रीरघुनाथजीका चित्त सदा आपमें लगा रहता है, अतः उन्हें अपने शरीरपर चढ़े हुए डाँस, मच्छर, कीड़ों और सर्पोंको हटानेकी भी सुधि नहीं रहती॥ ४२॥

नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः।
नान्यच्चिन्तयते किंचित् स तु कामवशं गतः॥ ४३॥

'श्रीराम आपके प्रेमके वशीभूत हो सदा आपका ही ध्यान करते और निरन्तर आपके ही विरह शोकमें डूबे रहते हैं। आपको छोड़कर दूसरी कोई बात वे सोचते ही नहीं हैं॥

अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते॥ ४४॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामको सदा आपकी चिन्ताके कारण कभी नींद नहीं आती है। यदि कभी आँख लगी भी तो 'सीता-सीता' इस मधुर वाणीका उच्चारण करते हुए वे जल्दी ही जाग उठते हैं॥ ४४॥

दृष्ट्वा फलं वा पुष्पं वा यच्चान्यत् स्त्रीमनोहरम्।
बहुशो हा प्रियेत्येवं श्वसंस्त्वामभिभाषते॥ ४५॥

'किसी फल, फूल अथवा स्त्रियोंके मनको लुभानेवाली दूसरी वस्तुको भी जब वे देखते हैं, तब लंबी साँस लेकर बारंबार 'हा प्रिये ! हा प्रिये !' कहते हुए आपको पुकारने लगते हैं॥ ४५॥

स देवि नित्यं परितप्यमान-
स्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।
धृतव्रतो राजसुतो महात्मा
तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः॥ ४६॥

'देवि ! राजकुमार महात्मा श्रीराम आपके लिये सदा दुखी रहते हैं, सीता-सीता कहकर आपकी ही रट लगाते हैं तथा उत्तम व्रतका पालन करते हुए आपको ही प्राप्तिके प्रयत्नमें लगे हुए हैं'॥ ४६॥

सा रामसंकीर्तनवीतशोका
रामस्य शोकेन समानशोका।

शरन्मुखेनाम्बुदशेषचन्द्रा
निशेव वैदेहसुता बभूव ॥ ४७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चासे सीताका अपना शोक तो दूर गया; किंतु श्रीरामके शोककी बात सुनकर वे पुनः उन्हींके समान शोकमें निमग्न हो गयीं । उस समय विदेह-नन्दिनी सीता शरद्-ऋतु आनेपर मेघोंकी घटा और चन्द्रमा — दोनोंसे युक्त (अन्धकार और प्रकाशपूर्ण) रात्रिके समान हर्ष और शोकसे युक्त प्रतीत होती थीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

सीताका हनुमान्‌जीसे श्रीरामको शीघ्र बुलानेका आग्रह, हनुमान्‌जीका सीतासे अपने साथ चलनेका अनुरोध तथा सीताका अस्वीकार करना

सा सीता वचनं श्रुत्वा पूर्णचन्द्रनिभानना ।
हनूमन्तमुवाचेदं धर्मार्थसहितं वचः ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीका पूर्वोक्त वचन सुनकर पूर्णचन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली सीताने उनसे धर्म और अर्थसे युक्त बात कही— ॥ १ ॥

अमृतं विषसंसृष्टं त्वया वानर भाषितम् ।
यच्च नान्यमना रामो यच्च शोकपरायणः ॥ २ ॥

'वानर ! तुमने जो कहा कि श्रीरघुनाथजीका चित्त दूसरी ओर नहीं जाता और वे शोकमें डूबे रहते हैं, तुम्हारा यह कथन मुझे विषमिश्रित अमृतके समान लगा है ॥ २ ॥

ऐश्वर्ये वा सुविस्तीर्णे व्यसने वा सुदारुणे ।
रज्ज्वेव पुरुषं बद्ध्वा कृतान्तः परिकर्षति ॥ ३ ॥

'कोई बड़े भारी ऐश्वर्यमें स्थित हो अथवा अत्यन्त भयंकर विपत्तिमें पड़ा हो, काल मनुष्यको इस तरह खींच लेता है, मानो उसे रस्सीमें बाँध रक्खा हो ॥ ३ ॥

विधिर्नूनमसंहार्यः प्राणिनां प्लवगोत्तम ।
सौमित्रिं मां च रामं च व्यसनैः पश्य मोहितान् ॥ ४ ॥

'वानरशिरोमणे ! दैवके विधानको रोकना प्राणियोंके वशकी बात नहीं है । उदाहरणके लिये सुमित्राकुमार लक्ष्मणको, मुझको और श्रीरामको भी देख लो । हमलोग किस तरह वियोग-दुःखसे मोहित हो रहे हैं ॥ ४ ॥

शोकस्यास्य कथं पारं राघवोऽधिगमिष्यति ।
प्लवमानः परिक्रान्तो हतनौः सागरे यथा ॥ ५ ॥

'समुद्रमें नौकाके नष्ट हो जानेपर अपने हाथोंसे तैरने-वाले पराक्रमी पुरुषकी भाँति श्रीरघुनाथजी कैसे इस शोक-सागरसे पार होंगे ? ॥ ५ ॥

राक्षसानां वधं कृत्वा सूदयित्वा च रावणम् ।
लङ्कामुन्मथितां कृत्वा कदा द्रक्ष्यति मां पतिः ॥ ६ ॥

'राक्षसोंका वध, रावणका संहार और लङ्कापुरीका विध्वंस करके मेरे पतिदेव मुझे कब देखेंगे ? ॥ ६ ॥

स वाच्यः संत्वरस्वेति यावदेव न पूर्यते ।
अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवितम् ॥ ७ ॥

'तुम उनसे जाकर कहना, वे शीघ्रता करें । यह वर्ष जब-तक पूरा नहीं हो जाता, तभीतक मेरा जीवन शेष है ॥ ७ ॥

वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम ।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम ॥ ८ ॥

'वानर ! यह दसवाँ महीना चल रहा है । अब वर्ष पूरा होनेमें दो ही मास शेष हैं । निर्दयी रावणने मेरे जीवनके लिये जो अवधि निश्चित की है, उसमें इतना ही समय बाकी रह गया है ॥ ८ ॥

विभीषणेन च भ्रात्रा मम निर्यातनं प्रति ।
अनुनीतः प्रयत्नेन न च तत् कुरुते मतिम् ॥ ९ ॥

रावणके भाई विभीषणने मुझे लौटा देनेके लिये उससे यत्नपूर्वक बड़ी अनुनय-विनय की थी, किंतु वह उनकी बात नहीं मानता है ॥ ९ ॥

मम प्रतिप्रदानं हि रावणस्य न रोचते ।
रावणं मार्गते संख्ये मृत्युः कालवशंगतम् ॥ १० ॥

'मेरा लौटाया जाना रावणको अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह कालके अधीन हो रहा है और युद्धमें मौत उसे ढूँढ़ रही है ॥ १० ॥

ज्येष्ठा कन्या कला नाम विभीषणसुता कपे ।
तया ममेतदाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम् ॥ ११ ॥

'कपे ! विभीषणकी ज्येष्ठ पुत्रीका नाम कला है । उसकी माताने स्वयं उसे मेरे पास भेजा था । उसीने ये सारी बातें मुझसे कही हैं ॥ ११ ॥

अविन्ध्यो नाम मेधावी विद्वान् राक्षसपुङ्गवः ।
धृतिमाञ्छीलवान् वृद्धो रावणस्य सुसम्मतः ॥ १२ ॥

'अविन्ध्य नामका एक श्रेष्ठ राक्षस है, जो बड़ा ही बुद्धिमान्, विद्वान्, धीर, सुशील, वृद्ध तथा रावणका सम्मान-पात्र है ॥ १२ ॥

रामात् क्षयमनुप्राप्तं रक्षसां प्रत्यचोदयत् ।
न च तस्य स दुष्टात्मा शृणोति वचनं हितम् ॥ १३ ॥

'उसने रावणको यह बताकर कि श्रीरामके हाथसे राक्षसोंके विनाशका अवसर आ पहुँचा है, मुझे लौटा देनेके

लिये प्रेरित किया था, किंतु वह दुष्टात्मा उसके हितकारी वचनोंको भी नहीं सुनता है ॥ १३ ॥

आशंसेयं हरिश्रेष्ठ क्षिप्रं मां प्राप्स्यते पतिः।
अन्तरात्मा हि मे शुद्धस्तस्मिंश्च बहवो गुणाः ॥ १४ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! मुझे तो यह आशा हो रही है कि मेरे पतिदेव मुझसे शीघ्र ही आ मिलेंगे; क्योंकि मेरी अन्तरात्मा शुद्ध है और श्रीरघुनाथजीमें बहुत-से गुण हैं ॥ १४ ॥

उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशंस्यं कृतज्ञता।
विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे ॥ १५ ॥

'वानर ! श्रीरामचन्द्रजीमें उत्साह, पुरुषार्थ, बल, दयालुता, कृतज्ञता, पराक्रम और प्रभाव आदि सभी गुण विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां जघान यः।
जनस्थाने विना भ्रात्रा शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत् ॥ १६ ॥

'जिन्होंने जनस्थानमें अपने भाईकी सहायता लिये बिना ही चौदह हजार राक्षसोंका संहार कर डाला, उनसे कौन शत्रु भयभीत न होगा ? ॥ १६ ॥

न स शक्यस्तुलयितुं व्यसनैः पुरुषर्षभः।
अहं तस्यानुभावज्ञा शक्रस्येव पुलोमजा ॥ १७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। वे संकटोंसे तोले या विचलित किये जायँ, यह सर्वथा असम्भव है। जैसे पुलोमकन्या शची इन्द्रके प्रभावको जानती हैं, उसी तरह मैं श्रीरघुनाथजीकी शक्ति-सामर्थ्यको अच्छी तरह जानती हूँ ॥ १७ ॥

शरजालांशुमाञ्छूरः कपे रामदिवाकरः।
शत्रुरक्षोमयं तोयमुपशोषं नयिष्यति ॥ १८ ॥

'कपिवर ! शूरवीर भगवान् श्रीराम सूर्यके समान हैं। उनके बाणसमूह ही उनकी किरणें हैं। वे उनके द्वारा शत्रुभूत राक्षसरूपी जलको शीघ्र ही सोख लेंगे' ॥ १८ ॥

इति संजल्पमानां तां रामार्थे शोककर्शिताम्।
अश्रुसम्पूर्णवदनामुवाच हनुमान् कपिः ॥ १९ ॥

इतना कहते-कहते सीताके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। वे श्रीरामचन्द्रजीके लिये शोकसे पीड़ित हो रही थीं। उस समय कपिवर हनुमान्‌जीने उनसे कहा—॥ १९॥

श्रुत्वैव च वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः।
चमूं प्रकर्षन् महतीं हर्यृक्षगणसंकुलाम् ॥ २० ॥

'देवि ! आप धैर्य धारण करें ! मेरा वचन सुनते ही श्रीरघुनाथजी वानर और भालुओंकी विशाल सेना लेकर शीघ्र यहाँके लिये प्रस्थान कर देंगे ॥ २० ॥

अथवा मोचयिष्यामि त्वामद्यैव स राक्षसात्।
अस्माद् दुःखादुपारोह मम पृष्ठमनिन्दिते ॥ २१ ॥

'अथवा मैं अभी आपको इस राक्षसजनित दुःखसे छुटकारा दिला दूँगा। सती-साध्वी देवि ! आप मेरी पीठपर बैठ जाइये ॥ २१ ॥

त्वां तु पृष्ठगतां कृत्वा संतरिष्यामि सागरम्।
शक्तिरस्ति हि मे वोढुं लङ्कामपि सरावणाम् ॥ २२ ॥

'आपको पीठपर बैठाकर मैं समुद्रको लाँघ जाऊँगा। मुझमें रावणसहित सारी लङ्काको भी ढो ले जानेकी शक्ति है ॥ २२ ॥

अहं प्रस्रवणस्थाय राघवायाद्य मैथिलि।
प्रापयिष्यामि शक्राय हव्यं हुतमिवानलः ॥ २३ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! रघुनाथजी प्रस्रवणगिरिपर रहते हैं। मैं आज ही आपको उनके पास पहुँचा दूँगा। ठीक उसी तरह, जैसे अग्निदेव हवन किये गये हविष्यको इन्द्रकी सेवामें ले जाते हैं ॥ २३ ॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव वैदेहि राघवं सहलक्ष्मणम्।
व्यवसायसमायुक्तं विष्णुं दैत्यवधे यथा ॥ २४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! दैत्योंके वधके लिये उत्साह रखनेवाले भगवान् विष्णुकी भाँति राक्षसोंके संहारके लिये सचेष्ट हुए श्रीराम और लक्ष्मणका आप आज ही दर्शन करेंगी ॥ २४ ॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहमाश्रमस्थं महाबलम्।
पुरंदरमिवासीनं नगराजस्य मूर्धनि ॥ २५ ॥

'आपके दर्शनका उत्साह मनमें लिये महाबली श्रीराम पर्वत-शिखरपर अपने आश्रममें उसी प्रकार बैठे हैं, जैसे देवराज इन्द्र गजराज ऐरावतकी पीठपर विराजमान होते हैं ॥ २५ ॥

पृष्ठमारोह मे देवि मा विकाङ्क्षस्व शोभने।
योगमन्विच्छ रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी ॥ २६ ॥

'देवि ! आप मेरी पीठपर बैठिये। शोभने ! मेरे कथनकी उपेक्षा न कीजिये। चन्द्रमासे मिलनेवाली रोहिणीकी भाँति आप श्रीरामचन्द्रजीके साथ मिलनेका निश्चय कीजिये ॥

कथयन्तीव शशिना संगमिष्यसि रोहिणी।
मत्पृष्ठमधिरोह त्वं तराकाशं महार्णवम् ॥ २७ ॥

'मुझे भगवान् श्रीरामसे मिलना है, इतना कहते ही आप चन्द्रमासे रोहिणीकी भाँति श्रीरघुनाथजीसे मिल जायँगी। आप मेरी पीठपर आरूढ़ होइये और आकाशमार्गसे ही महासागरको पार कीजिये ॥ २७ ॥

नहि मे सम्प्रयातस्य त्वामितो नयतोऽङ्गने।
अनुगन्तुं गतिं शक्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥ २८ ॥

'कल्याणि ! मैं आपको लेकर जब यहाँसे चलूँगा, उस समय समूचे लङ्का-निवासी मिलकर भी मेरा पीछा नहीं कर सकते ॥ २८ ॥

यथैवाहमिह प्राप्तस्तथैवाहमसंशयम्।
यास्यामि पश्य वैदेहि त्वामुद्यम्य विहायसम् ॥ २९ ॥

'विदेहनन्दिनि ! जिस प्रकार मैं यहाँ आया हूँ, उसी तरह आपको लेकर आकाशमार्गसे चला जाऊँगा, इसमें संदेह नहीं है। आप मेरा पराक्रम देखिये' ॥ २९ ॥

मैथिली तु हरिश्रेष्ठाच्छ्रुत्वा वचनमद्भुतम् ।
हर्षविस्मितसर्वाङ्गी हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥ ३० ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के मुखसे यह अद्भुत वचन सुनकर मिथिलेशकुमारी सीताके सारे शरीरमें हर्ष और विस्मयके कारण रोमाञ्च हो आया। उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहा—॥३०॥

हनूमन् दूरमध्वानं कथं मां नेतुमिच्छसि ।
तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरियूथप ॥ ३१ ॥

'वानरयूथपति हनुमान् ! तुम इतने दूरके मार्गपर मुझे कैसे ले चलना चाहते हो ? तुम्हारे इस दुःसाहसको मैं वानरोचित चपलता ही समझती हूँ ॥ ३१ ॥

कथं चाल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि ।
सकाशं मानवेन्द्रस्य भर्तुर्मे प्लवगर्षभ ॥ ३२ ॥

'वानरशिरोमणे ! तुम्हारा शरीर तो बहुत छोटा है। फिर तुम मुझे मेरे स्वामी महाराज श्रीरामके पास ले जानेकी इच्छा कैसे करते हो ?' ॥ ३२ ॥

सीतायास्तु वचः श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः ।
चिन्तयामास लक्ष्मीवान् नवं परिभवं कृतम् ॥ ३३ ॥

सीताजीकी यह बात सुनकर शोभाशाली पवनकुमार हनुमान्‌ने इसे अपने लिये नया तिरस्कार ही माना ॥ ३३ ॥

न मे जानाति सत्त्वं वा प्रभावं वासितेक्षणा ।
तस्मात् पश्यतु वैदेही यद् रूपं मम कामतः ॥ ३४ ॥

वे सोचने लगे—'कजरारे नेत्रोंवाली विदेहनन्दिनी सीता मेरे बल और प्रभावको नहीं जानतीं। इसलिये आज मेरे उस रूपको, जिसे मैं इच्छानुसार धारण कर लेता हूँ, ये देख लें' ॥ ३४ ॥

इति संचिन्त्य हनुमांस्तदा प्लवगसत्तमः ।
दर्शयामास सीतायाः स्वरूपमरिमर्दनः ॥ ३५ ॥

ऐसा विचार करके शत्रुमर्दन वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने उस समय सीताको अपना स्वरूप दिखाया ॥ ३५ ॥

स तस्मात् पादपाद् धीमानाप्लुत्य प्लवगर्षभः ।
ततो वर्धितुमारेभे सीताप्रत्ययकारणात् ॥ ३६ ॥

वे बुद्धिमान् कपिवर उस वृक्षसे नीचे कूद पड़े और सीताजीको विश्वास दिलानेके लिये बढ़ने लगे ॥ ३६ ॥

मेरुमन्दरसंकाशो बभौ दीप्तानलप्रभः ।
अग्रतो व्यवतस्थे च सीताया वानरर्षभः ॥ ३७ ॥

बात-की-बातमें उनका शरीर मेरुपर्वतके समान ऊँचा हो गया। वे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी प्रतीत होने लगे। इस तरह विशाल रूप धारण करके वे वानरश्रेष्ठ हनुमान् सीताजीके सामने खड़े हो गये ॥ ३७ ॥

हरिः पर्वतसंकाशस्ताम्रवक्त्रो महाबलः ।
वज्रदंष्ट्रनखो भीमो वैदेहीमिदमब्रवीत् ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् पर्वतके समान विशालकाय, ताँबेके समान लाल मुख तथा वज्रके समान दाढ़ और नखवाले भयानक महाबली वानरवीर हनुमान् विदेहनन्दिनीसे इस प्रकार बोले—॥ ३८ ॥

सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम् ।
लङ्कामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे ॥ ३९ ॥

'देवि ! मुझमें पर्वत, वन, अट्टालिका, चहारदिवारी और नगरद्वारसहित इस लङ्कापुरीको रावणके साथ ही उठा ले जानेकी शक्ति है ॥ ३९ ॥

तदवस्थाप्यतां बुद्धिरलं देवि विकाङ्क्षया ।
विशोकं कुरु वैदेहि राघवं सहलक्ष्मणम् ॥ ४० ॥

'अतः आप मेरे साथ चलनेका निश्चय कर लीजिये। आपकी आशङ्का व्यर्थ है। देवि ! विदेहनन्दिनि ! आप मेरे साथ चलकर लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीका शोक दूर कीजिये' ॥ ४० ॥

तं दृष्ट्वाचलसंकाशमुवाच जनकात्मजा ।
पद्मपत्रविशालाक्षी मारुतस्यौरसं सुतम् ॥ ४१ ॥

वायुके औरस पुत्र हनुमान्‌जीको पर्वतके समान विशाल शरीर धारण किये देख प्रफुल्ल कमलदलके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाली जनककिशोरीने उनसे कहा—॥ ४१ ॥

तव सत्त्वं बलं चैव विजानामि महाकपे ।
वायोरिव गतिश्चापि तेजश्चाग्नेरिवाद्भुतम् ॥ ४२ ॥

'महाकपे ! मैं तुम्हारी शक्ति और पराक्रमको जानती हूँ। वायुके समान तुम्हारी गति और अग्निके समान तुम्हारा अद्भुत तेज है ॥ ४२ ॥

प्राकृतोऽन्यः कथं चेमां भूमिमागन्तुमर्हति ।
उदधेरप्रमेयस्य पारं वानरयूथप ॥ ४३ ॥

'वानरयूथपते ! दूसरा कोई साधारण वानर अपार महासागरके पारकी इस भूमिमें कैसे आ सकता है ? ॥ ४३ ॥

जानामि गमने शक्तिं नयने चापि ते मम ।
अवश्यं सम्प्रधार्याशु कार्यसिद्धिरिवात्मनः ॥ ४४ ॥

'मैं जानती हूँ, तुम समुद्र पार करने और मुझे ले जानेमें भी समर्थ हो, तथापि तुम्हारी तरह मुझे भी अपनी कार्यसिद्धिके विषयमें अवश्य भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये ॥ ४४ ॥

अयुक्तं तु कपिश्रेष्ठ मया गन्तुं त्वया सह ।
वायुवेगसवेगस्य वेगो मां मोहयेत् तव ॥ ४५ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ मेरा जाना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है; क्योंकि तुम्हारा वेग वायुके वेगके समान तीव्र है। जाते समय यह वेग मुझे मूर्छित कर सकता है ॥ ४५ ॥

अहमाकाशमासक्ता उपर्युपरि सागरम् ।
प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद् भूयो वेगेन गच्छतः ॥ ४६ ॥

'मैं समुद्रके ऊपर-ऊपर आकाशमें पहुँच जानेपर अधिक वेगसे चलते हुए तुम्हारे पृष्ठभागसे नीचे गिर सकती हूँ ॥

पतिता सागरे चाहं तिमिनक्रझषाकुले ।
भवेयमाशु विवशा यादसामन्नमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

'इस तरह समुद्रमें, जो तिमि नामक बड़े-बड़े मत्स्यों, नाकों और मछलियोंसे भरा हुआ है, गिरकर विवश हो मैं शीघ्र ही जल-जन्तुओंका उत्तम आहार बन जाऊँगी ॥ ४७ ॥

न च शक्ष्ये त्वया सार्धं गन्तुं शत्रुविनाशन ।
कलत्रवति संदेहस्त्वयि स्यादप्यसंशयम् ॥ ४८ ॥

'इसलिये शत्रुनाशन वीर ! मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकूँगी । एक स्त्रीको साथ लेकर जब तुम जाने लगोगे, उस समय राक्षसोंको तुमपर संदेह होगा, इसमें संशय नहीं है ॥

ह्रियमाणां तु मां दृष्ट्वा राक्षसा भीमविक्रमाः ।
अनुगच्छेयुरादिष्टा रावणेन दुरात्मना ॥ ४९ ॥

'मुझे हरकर ले जायी जाती देख दुरात्मा रावणकी आज्ञासे भयंकर पराक्रमी राक्षस तुम्हारा पीछा करेंगे ॥४९॥

तैस्त्वं परिवृतः शूरैः शूलमुद्गरपाणिभिः ।
भवेस्त्वं संशयं प्राप्तो मया वीर कलत्रवान् ॥ ५० ॥

'वीर ! उस समय मुझ-जैसी रक्षणीया अबलाके साथ होनेके कारण तुम हाथोंमें शूल और मुद्गर धारण करनेवाले उन शौर्यशाली राक्षसोंसे घिरकर प्राणसंशयकी अवस्थामें पहुँच जाओगे ॥ ५० ॥

सायुधा बहवो व्योम्नि राक्षसास्त्वं निरायुधः ।
कथं शक्ष्यसि संयातु मां चैव परिरक्षितुम् ॥ ५१ ॥

'आकाशमें अस्त्र-शस्त्रधारी बहुत-से राक्षस तुमपर आक्रमण करेंगे और तुम्हारे हाथमें कोई भी अस्त्र न होगा । उस दशामें तुम उन सबके साथ युद्ध और मेरी रक्षा दोनों कार्य कैसे कर सकोगे ? ॥ ५१ ॥

युध्यमानस्य रक्षोभिस्ततस्तैः क्रूरकर्मभिः ।
प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद् भयार्ता कपिसत्तम ॥ ५२ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! उन क्रूरकर्मा राक्षसोंके साथ जब तुम युद्ध करने लगोगे, उस समय मैं भयसे पीड़ित होकर तुम्हारी पीठसे अवश्य ही गिर जाऊँगी ॥ ५२ ॥

अथ रक्षांसि भीमानि महान्ति बलवन्ति च ।
कथंचित् साम्पराये त्वां जयेयुः कपिसत्तम ॥ ५३ ॥
अथवा युध्यमानस्य पतेयं विमुखस्य ते ।
पतितां च गृहीत्वा मां नयेयुः पापराक्षसाः ॥ ५४ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! यदि कहीं वे महान् बलवान् भयानक राक्षस किसी तरह तुम्हें युद्धमें जीत लें अथवा युद्ध करते समय मेरी रक्षाकी ओर तुम्हारा ध्यान न रहनेसे यदि मैं गिर गयी तो वे पापी राक्षस मुझ गिरी हुई अबलाको फिर पकड़ ले जायँगे ॥ ५३-५४ ॥

मां वा हरेयुस्त्वद्धस्ताद् विशसेयुरथापि वा ।
अनवस्थौ हि दृश्येते युद्धे जयपराजयौ ॥ ५५ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है कि वे निशाचर मुझे तुम्हारे हाथसे छीन ले जायँ या मेरा वध ही कर डालें; क्योंकि युद्धमें विजय और पराजयको अनिश्चित ही देखा जाता है ॥५५॥

अहं वापि विपद्येयं रक्षोभिरभितर्जिता ।
त्वत्प्रयत्नो हरिश्रेष्ठ भवेन्निष्फल एव तु ॥ ५६ ॥

'अथवा वानरशिरोमणे ! यदि राक्षसोंकी अधिक डाँट पड़नेपर मेरे प्राण निकल गये तो फिर तुम्हारा यह सारा प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा ॥ ५६ ॥

कामं त्वमपि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान् ।
राघवस्य यशो हीयेत् त्वया शस्तैस्तु राक्षसैः॥ ५७ ॥

'यद्यपि तुम भी सम्पूर्ण राक्षसोंका संहार करनेमें समर्थ हो तथापि तुम्हारे द्वारा राक्षसोंका वध हो जानेपर श्रीरघुनाथजीके सुयशमें बाधा आयेगी (लोग यही कहेंगे कि श्रीराम स्वयं कुछ भी न कर सके) ॥ ५७ ॥

अथवाऽऽदाय रक्षांसि न्यसेयुः संवृते हि माम् ।
यत्र ते नाभिजानीयुर्हरयो नापि राघवः ॥ ५८ ॥

'अथवा यह भी सम्भव है कि राक्षसलोग मुझे ले जाकर किसी ऐसे गुप्त स्थानमें रख दें, जहाँ न तो वानरोंको मेरा पता लगे और न श्रीरघुनाथजीको ही ॥ ५८ ॥

आरम्भस्तु मदर्थोऽयं ततस्तव निरर्थकः ।
त्वया हि सह रामस्य महानागमने गुणः ॥ ५९ ॥

'यदि ऐसा हुआ तो मेरे लिये किया गया तुम्हारा यह सारा उद्योग व्यर्थ हो जायगा । यदि तुम्हारे साथ श्रीरामचन्द्रजी यहाँ पधारें तो उनके आनेसे बहुत बड़ा लाभ होगा॥

मयि जीवितमायत्तं राघवस्यामितौजसः ।
भ्रातृणां च महाबाहो तव राजकुलस्य च ॥ ६० ॥

'महाबाहो ! अमित पराक्रमी श्रीरघुनाथजीका, उनके भाइयोंका, तुम्हारा तथा वानरराज सुग्रीवके कुलका जीवन मुझपर ही निर्भर है ॥ ६० ॥

तौ निराशौ मदर्थे च शोकसंतापकर्शितौ ।
सह सर्वर्क्षहरिभिस्त्यक्ष्यतः प्राणसंग्रहम् ॥ ६१ ॥

'शोक और संतापसे पीड़ित हुए वे दोनों भाई जब मेरी प्राप्तिकी ओरसे निराश हो जायँगे, तब सम्पूर्ण रीछों और वानरोंके साथ अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ६१ ॥

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर ।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम ॥ ६२ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! (तुम्हारे साथ न चल सकनेका एक प्रधान कारण और भी है—) वानरवीर ! पतिभक्तिकी ओर दृष्टि रखकर मैं भगवान् श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषके शरीरका स्वेच्छासे स्पर्श करना नहीं चाहती ॥६२॥

यदहं गात्रसंस्पर्शं रावणस्य गता बलात् ।
अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती ॥ ६३ ॥

'रावणके शरीरसे जो मेरा स्पर्श हो गया है, वह तो उसके बलात्कारके कारण हुआ है । उस समय मैं असमर्थ, अनाथ और बेबस थी, क्या करती ॥ ६३ ॥

यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम् ।

मामितो गृह्य गच्छेत तत् तस्य सदृशं भवेत्॥ ६४ ॥

'यदि श्रीरघुनाथजी यहाँ राक्षसोंसहित दशमुख रावणका वध करके मुझे यहाँसे ले चलें तो वह उनके योग्य कार्य होगा ॥ ६४ ॥

श्रुताश्च दृष्टा हि मया पराक्रमा
महात्मनस्तस्य रणावमर्दिनः।
न देवगन्धर्वभुजङ्गराक्षसा
भवन्ति रामेण समा हि संयुगे ॥ ६५ ॥

'मैंने युद्धमें शत्रुओंका मर्दन करनेवाले महात्मा श्रीरामके पराक्रम अनेक बार देखे और सुने हैं। देवता, गन्धर्व, नाग और राक्षस सब मिलकर भी संग्राममें उनकी समानता नहीं कर सकते ॥ ६५ ॥

समीक्ष्य तं संयति चित्रकार्मुकं
महाबलं वासवतुल्यविक्रमम्।
सलक्ष्मणं को विषहेत राघवं
हुताशनं दीप्तमिवानिलेरितम् ॥ ६६ ॥

'युद्धस्थलमें विचित्र धनुष धारण करनेवाले इन्द्रतुल्य पराक्रमी महाबली श्रीरघुनाथजी लक्ष्मणके साथ रह वायुका सहारा पाकर प्रज्वलित हुए अग्निकी भाँति उद्दीप्त हो उठते हैं। उस समय उन्हें देखकर उनका वेग कौन सह सकता है ? ॥ ६६ ॥

सलक्ष्मणं राघवमाजिमर्दनं
दिशागजं मत्तमिव व्यवस्थितम्।
सहेत को वानरमुख्य संयुगे
युगान्तसूर्यप्रतिमं शरार्चिषम् ॥ ६७ ॥

'वानरशिरोमणे ! समराङ्गणमें अपने बाणरूपी तेजसे प्रलयकालीन सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले और मतवाले दिग्गजकी भाँति खड़े हुए रणमर्दन श्रीराम और लक्ष्मणका सामना कौन कर सकता है ? ॥ ६७ ॥

स मे कपिश्रेष्ठ सलक्ष्मणं प्रियं
सयूथपं क्षिप्रमिहोपपादय।
चिराय रामं प्रति शोककर्शितां
कुरुष्व मां वानरवीर हर्षिताम् ॥ ६८ ॥

'इसलिये कपिश्रेष्ठ ! वानरवीर ! तुम प्रयत्न करके यूथपति सुग्रीव और लक्ष्मणसहित मेरे प्रियतम श्रीरामचन्द्रजीको शीघ्र यहाँ बुला ले आओ। मैं श्रीरामके लिये चिरकालसे शोकाकुल हो रही हूँ। तुम उनके शुभागमनसे मुझे हर्ष प्रदान करो' ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

सीताजीका हनुमान्‌जीको पहचानके रूपमें चित्रकूट पर्वतपर घटित हुए एक कौएके प्रसंगको सुनाना, भगवान् श्रीरामको शीघ्र बुला लानेके लिये अनुरोध करना और चूड़ामणि देना

ततः स कपिशार्दूलस्तेन वाक्येन तोषितः।
सीतामुवाच तच्छ्रुत्वा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १ ॥

सीताके इस वचनसे कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बातचीतमें कुशल थे। उन्होंने पूर्वोक्त बातें सुनकर सीतासे कहा— ॥ १ ॥

युक्तरूपं त्वया देवि भाषितं शुभदर्शने।
सदृशं स्त्रीस्वभावस्य साध्वीनां विनयस्य च ॥ २ ॥

'देवि ! आपका कहना बिलकुल ठीक और युक्तिसंगत है। शुभदर्शने ! आपकी यह बात नारी-स्वभावके तथा पतिव्रताओंकी विनयशीलताके अनुरूप है ॥ २ ॥

स्त्रीत्वान्न त्वं समर्थासि सागरं व्यतिवर्तितुम्।
मामधिष्ठाय विस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ॥ ३ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि आप अबला होनेके कारण मेरी पीठपर बैठकर सौ योजन विस्तृत समुद्रके पार जानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ३ ॥

द्वितीयं कारणं यच्च ब्रवीषि विनयान्विते।
रामादन्यस्य नार्हामि संसर्गमिति जानकि ॥ ४ ॥

एतत् ते देवि सदृशं पत्न्यास्तस्य महात्मनः।
का ह्यन्या त्वामृते देवि ब्रूयाद् वचनमीदृशम् ॥ ५ ॥

'जनकनन्दिनि ! आपने जो दूसरा कारण बताते हुए कहा है कि मेरे लिये श्रीरामचन्द्रजीके सिवा दूसरे किसी पुरुषका स्वेच्छापूर्वक स्पर्श करना उचित नहीं है, यह आपके ही योग्य है। देवि ! महात्मा श्रीरामकी धर्मपत्नीके मुखसे ऐसी बात निकल सकती है। आपको छोड़कर दूसरी कौन स्त्री ऐसा वचन कह सकती है ॥ ४–५ ॥

श्रोष्यते चैव काकुत्स्थः सर्वं निरवशेषतः।
चेष्टितं यत् त्वया देवि भाषितं च ममाग्रतः ॥ ६ ॥

'देवि ! मेरे सामने आपने जो-जो पवित्र चेष्टाएँ कीं और जैसी-जैसी उत्तम बातें कही हैं, वे सब पूर्णरूपसे श्रीरामचन्द्रजी मुझसे सुनेंगे ॥ ६ ॥

कारणैर्बहुभिर्देवि रामप्रियचिकीर्षया।
स्नेहप्रस्कन्नमनसा मयैतत् समुदीरितम् ॥ ७ ॥

'देवि ! मैंने जो आपको अपने साथ ले जानेका आग्रह किया, उसके बहुत-से कारण हैं। एक तो मैं श्रीरामचन्द्रजीका

शीघ्र ही प्रिय करना चाहता था । अतः स्नेहपूर्ण हृदयमें ही मैंने ऐसी बात कही है ॥ ७ ॥

लङ्काया दुष्प्रवेशत्वाद् दुस्तरत्वान्महोदधेः ।
सामर्थ्यादात्मनश्चैव मयैतत् समुदीरितम् ॥ ८ ॥

'दूसरा कारण यह है कि लङ्कामें प्रवेश करना सबके लिये अत्यन्त कठिन है । तीसरा कारण है, महासागरको पार करनेकी कठिनाई । इन सब कारणोंसे तथा अपनेमें आपको ले जानेकी शक्ति होनेसे मैंने ऐसा प्रस्ताव किया था ॥

इच्छामि त्वां समानेतुमद्यैव रघुनन्दिना ।
गुरुस्नेहेन भक्त्या च नान्यथा तदुदाहृतम् ॥ ९ ॥

'मैं आज ही आपको श्रीरघुनाथजीसे मिला देना चाहता था । अतः अपने परमाराध्य गुरु श्रीरामके प्रति स्नेह और आपके प्रति भक्तिके कारण ही मैंने ऐसी बात कही थी, किसी और उद्देश्यसे नहीं ॥ ९ ॥

यदि नोत्सहसे यातुं मया सार्धमनिन्दिते ।
अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद् राघवो हि यत् ॥ १० ॥

'किंतु सती-साध्वी देवि ! यदि आपके मनमें मेरे साथ चलनेका उत्साह नहीं है तो आप अपनी कोई पहचान ही दे दीजिये, जिससे श्रीरामचन्द्रजी यह जान लें कि मैंने आपका दर्शन किया है' ॥ १० ॥

एवमुक्ता हनुमता सीता सुरसुतोपमा ।
उवाच वचनं मन्दं बाष्पप्रग्रथिताक्षरम् ॥ ११ ॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर देवकन्याके समान तेजस्विनी सीता अश्रुगद्गद वाणीमें धीरे-धीरे इस प्रकार बोलीं—॥ ११ ॥

इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम् ।
शैलस्य चित्रकूटस्य पादे पूर्वोत्तरे पदे ॥ १२ ॥
तापसाश्रमवासिन्याः प्राज्यमूलफलोदके ।
तस्मिन् सिद्धाश्रिते देशे मन्दाकिन्यविदूरतः ॥ १३ ॥
तस्योपवनखण्डेषु नानापुष्पसुगन्धिषु ।
विहृत्य सलिले क्लिन्नो ममाङ्के समुपाविशः ॥ १४ ॥

'वानरश्रेष्ठ ! तुम मेरे प्रियतमसे यह उत्तम पहचान बताना—'नाथ ! चित्रकूट पर्वतके उत्तर-पूर्ववाले भागपर, जो मन्दाकिनी नदीके समीप है तथा जहाँ फल-मूल और जलकी अधिकता है, उस सिद्धसेवित प्रदेशमें तापसाश्रमके भीतर जब मैं निवास करती थी, उन्हीं दिनों नाना प्रकारके फूलोंकी सुगन्धसे वासित उस आश्रमके उपवनोंमें जलविहार करके आप भीगे हुए आये और मेरी गोदमें बैठ गये ॥ १२-१४ ॥

ततो मांससमायुक्तो वायसः पर्यतुण्डयत् ।
तमहं लोष्टमुद्यम्य वारयामि स्म वायसम् ॥ १५ ॥
दारयन् स च मां काकस्तत्रैव परिलीयते ।
न चाप्युपारमन्मांसाद् भक्षार्थी बलिभोजनः ॥ १६ ॥

'तदनन्तर (किसी दूसरे समय) एक मांसलोलुप कौआ आकर मुझपर चोंच मारने लगा । मैंने ढेला उठाकर उसे हटानेकी चेष्टा की, परंतु मुझे बार-बार चोंच मारकर वह कौआ वहीं कहीं छिप जाता था । उस बलिभोजी कौएको खानेकी इच्छा थी, इसलिये वह मेरा मांस नोचनेसे निवृत्त नहीं होता था ॥ १५-१६ ॥

उत्कर्षन्त्यां च रशनां क्रुद्धायां मयि पक्षिणे ।
स्रंसमाने च वसने ततो दृष्टा त्वया ह्यहम् ॥ १७ ॥

''मैं उस पक्षीपर बहुत कुपित थी । अतः अपने लहँगेको दृढ़तापूर्वक कसनेके लिये कटिसूत्र (नारे) को खींचने लगी । उस समय मेरा वस्त्र कुछ नीचे खिसक गया और उसी अवस्थामें आपने मुझे देख लिया ॥ १७ ॥

त्वया विहसिता चाहं क्रुद्धा संलज्जिता तदा ।
भक्ष्यगृद्धेन काकेन दारिता त्वामुपागता ॥ १८ ॥

''देखकर आपने मेरी हँसी उड़ायी । इससे मैं पहले तो कुपित हुई और फिर लज्जित हो गयी । इतनेहीमें उस भक्ष्य-लोलुप कौएने फिर चोंच मारकर मुझे क्षत-विक्षत कर दिया और उसी अवस्थामें मैं आपके पास आयी ॥ १८ ॥

ततः श्रान्ताहमुत्सङ्गमासीनस्य तवाविशम् ।
क्रुध्यन्तीव प्रहृष्टेन त्वयाहं परिसान्त्विता ॥ १९ ॥

''आप वहाँ बैठे हुए थे । मैं उस कौएकी हरकतसे तंग आ गयी थी । अतः थककर आपकी गोदमें आ बैठी । उस समय मैं कुपित-सी हो रही थी और आपने प्रसन्न होकर मुझे सान्त्वना दी ॥ १९ ॥

बाष्पपूर्णमुखी मन्दं चक्षुषी परिमार्जती ।
लक्षिताहं त्वया नाथ वायसेन प्रकोपिता ॥ २० ॥

''नाथ ! कौएने मुझे कुपित कर दिया था । मेरे मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और मैं धीरे-धीरे आँखें पोंछ रही थी । आपने मेरी उस अवस्थाको लक्ष्य किया' ॥

परिश्रमाच्च सुप्ता हे राघवाङ्केऽप्यहं चिरम् ।
पर्यायेण प्रसुप्तश्च ममाङ्के भरताग्रजः ॥ २१ ॥

'हनुमान् ! मैं थक जानेके कारण उस दिन बहुत देरतक श्रीरघुनाथजीकी गोदमें सोयी रही । फिर उनकी बारी आयी और वे भरतके बड़े भाई मेरी गोदमें सिर रखकर सो रहे ॥ २१ ॥

स तत्र पुनरेवाथ वायसः समुपागमत् ।
ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात् समुत्थिताम् ।
वायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे ॥ २२ ॥

'इसी समय वह कौआ फिर वहाँ आया । मैं सोकर जगनेके बाद श्रीरघुनाथजीकी गोदसे उठकर बैठी ही थी कि उस कौएने सहसा झपटकर मेरी छातीमें चोंच मार दी ॥ २२ ॥

पुनः पुनरथोत्पत्य विददार स मां भृशम् ।
ततः समुत्थितो रामो मुक्तैः शोणितबिन्दुभिः ॥ २३ ॥

'उसने बारंबार उड़कर मुझे अत्यन्त घायल कर दिया ।

र शरीरसे रक्तकी बूँदें झरने लगीं; इससे श्रीरामचन्द्रजीकी द खुल गयी और वे जागकर उठ बैठे ॥ २३ ॥

मां दृष्ट्वा महाबाहुर्वितुन्नां स्तनयोस्तदा।
ाशीविष इव क्रुद्धः श्वसन् वाक्यमभाषत ॥ २४ ॥

'मेरी छातीमें घाव हुआ देख महाबाहु श्रीराम उस मय कुपित हो उठे और फुफकारते हुए विषधर सर्पके मान जोर-जोरसे साँस लेते हुए बोले—॥ २४ ॥

न ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम्।
ः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना ॥ २५ ॥

''हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली सुन्दरी ! किसने म्हारी छातीको क्षत-विक्षत किया है ? कौन रोषसे भरे हुए चि मुखवाले सर्पके साथ खेल रहा है ?' ॥ २५ ॥

ीक्षमाणस्ततस्तं वै वायसं समवैक्षत।
खैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैर्मामेवाभिमुखं स्थितम् ॥ २६ ॥

'इतना कहकर जब उन्होंने इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उस कौएको देखा, जो मेरी ओर ही मुँह किये बैठा था। उसके तीखे पंजे खूनसे रँग गये थे ॥ २६ ॥

ुत्रः किल स शक्रस्य वायसः पततां वरः।
रान्तरं गतः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः ॥ २७ ॥

'वह पक्षियोंमें श्रेष्ठ कौआ इन्द्रका पुत्र था। उसकी गति ायुके समान तीव्र थी। वह शीघ्र ही स्वर्गसे उड़कर पृथ्वीपर आ पहुँचा था ॥ २७ ॥

ततस्तस्मिन् महाबाहुः कोपसंवर्तितेक्षणः।
वायसे कृतवान् क्रूरां मतिं मतिमतां वरः ॥ २८ ॥

'उस समय बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु श्रीरामके नेत्र क्रोधसे घूमने लगे। उन्होंने उस कौएको कठोर दण्ड देनेका विचार किया ॥ २८ ॥

स दर्भसंस्तराद् गृह्य ब्रह्मणोऽस्त्रेण योजयत्।
स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमखो द्विजम् ॥ २९ ॥

'श्रीरामने कुशकी चटाईसे एक कुश निकाला और उसे ब्रह्मास्त्रके मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया। अभिमन्त्रित करते ही वह कालाग्निके समान प्रज्वलित हो उठा। उसका लक्ष्य वह पक्षी ही था ॥ २९ ॥

स तं प्रदीप्तं चिक्षेप दर्भं तं वायसं प्रति।
ततस्तु वायसं दर्भः सोऽम्बरेऽनुजगाम ह ॥ ३० ॥

'श्रीरघुनाथजीने वह प्रज्वलित कुश उस कौएकी ओर छोड़ा। फिर तो वह आकाशमें उसका पीछा करने लगा ॥ ३० ॥

अनुसृष्टस्तदा काको जगाम विविधां गतिम्।
त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह ॥ ३१ ॥

'वह कौआ कई प्रकारकी उड़ानें लगाता अपने प्राण बचानेके लिये इस सम्पूर्ण जगत्में भागता फिरा, किंतु उस बाणने कहीं भी उसका पीछा न छोड़ा ॥ ३१ ॥

स पित्रा च परित्यक्तः सर्वैश्च परमर्षिभिः।
त्रींल्लोकान् सम्परिक्रम्य तमेव शरणं गतः ॥ ३२ ॥

'उसके पिता इन्द्र तथा समस्त श्रेष्ठ महर्षियोंने भी उसका परित्याग कर दिया। तीनों लोकोंमें घूमकर अन्तमें वह पुनः भगवान् श्रीरामकी ही शरणमें आया ॥ ३२ ॥

स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम्।
वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ॥ ३३ ॥

'रघुनाथजी शरणागतवत्सल हैं। उनकी शरणमें आकर जब वह पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब उन्हें उसपर दया आ गयी; अतः वधके योग्य होनेपर भी उस कौएको उन्होंने मारा नहीं, उबारा ॥ ३३ ॥

परिद्यूनं विवर्णं च पतमानं तमब्रवीत्।
मोघमस्त्रं न शक्यं तु ब्राह्मं कर्तुं तदुच्यताम् ॥ ३४ ॥

'उसकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी और वह उदास होकर सामने गिरा था। इस अवस्थामें उसको लक्ष्य करके भगवान् बोले—'ब्रह्मास्त्रको तो व्यर्थ किया नहीं जा सकता। अतः बताओ, उसके द्वारा तुम्हारा कौन-सा अङ्ग-भङ्ग किया जाय' ॥ ३४ ॥

ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम्।
दत्त्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः ॥ ३५ ॥

'फिर उसकी सम्मतिके अनुसार श्रीरामने उस अस्त्रसे उस कौएकी दाहिनी आँख नष्ट कर दी। इस प्रकार दायाँ नेत्र देकर वह अपने प्राण बचा सका ॥ ३५ ॥

स रामाय नमस्कृत्वा राज्ञे दशरथाय च।
विसृष्टस्तेन वीरेण प्रतिपेदे स्वमालयम् ॥ ३६ ॥

'तदनन्तर दशरथनन्दन राजा रामको नमस्कार करके उन वीरशिरोमणिसे विदा लेकर वह अपने निवासस्थानको चला गया ॥ ३६ ॥

मत्कृते काकमात्रेऽपि ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्।
कस्माद् यो माहरत् त्वत्तः क्षमसे तं महीपते ॥ ३७ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! तुम मेरे स्वामीसे जाकर कहना—'प्राणनाथ ! पृथ्वीपते ! आपने मेरे लिये एक साधारण अपराध करनेवाले कौएपर भी ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था; फिर जो आपके पाससे मुझे हर ले आया, उसको आप कैसे क्षमा कर रहे हैं ? ॥ ३७ ॥

स कुरुष्व महोत्साहां कृपां मयि नरर्षभ।
त्वया नाथवती नाथ ह्यनाथा इव दृश्यते ॥ ३८ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मेरे ऊपर महान् उत्साहसे पूर्ण कृपा कीजिये। प्राणनाथ ! जो सदा आपसे सनाथ है, वह सीता आज अनाथ-सी दिखायी देती है ॥ ३८ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव मया श्रुतम्।
जानामि त्वां महावीर्यं महोत्साहं महाबलम् ॥ ३९ ॥

''दया करना सबसे बड़ा धर्म है, यह मैंने आपसे ही

सुना है। मैं आपको अच्छी तरह जानती हूँ। आपका बल, पराक्रम और उत्साह महान् है ॥ ३९ ॥

अपारवारमक्षोभ्यं गाम्भीर्यात् सागरोपमम्।
भर्तारं ससमुद्राया धरण्या वासवोपमम् ॥ ४० ॥

"आपका कहीं आर-पार नहीं है—आप असीम हैं। आपको कोई क्षुब्ध या पराजित नहीं कर सकता। आप गम्भीरतामें समुद्रके समान हैं। समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीके स्वामी हैं तथा इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। मैं आपके प्रभावको जानती हूँ ॥ ४० ॥

एवमस्त्रविदां श्रेष्ठो बलवान् सत्त्ववानपि।
किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयसि राघव ॥ ४१ ॥

"रघुनन्दन! इस प्रकार अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, बलवान् और शक्तिशाली होते हुए भी आप राक्षसोंपर अपने अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं करते हैं?' ॥ ४१ ॥

न नागा नापि गन्धर्वा न सुरा न मरुद्गणाः।
रामस्य समरे वेगं शक्ताः प्रतिसमीहितुम् ॥ ४२ ॥

'पवनकुमार! नाग, गन्धर्व, देवता और मरुद्गण—कोई भी समराङ्गणमें श्रीरामचन्द्रजीका वेग नहीं सह सकते ॥ ४२ ॥

तस्य वीर्यवतः कच्चिद् यद्यस्ति मयि सम्भ्रमः।
किमर्थं न शरैस्तीक्ष्णैः क्षयं नयति राक्षसान् ॥ ४३ ॥

'उन परम पराक्रमी श्रीरामके हृदयमें यदि मेरे लिये कुछ व्याकुलता है तो वे अपने तीखे सायकोंसे इन राक्षसोंका संहार क्यों नहीं कर डालते? ॥ ४३ ॥

भ्रातुरादेशमादाय लक्ष्मणो वा परंतपः।
कस्य हेतोर्न मां वीरः परित्राति महाबलः ॥ ४४ ॥

'अथवा शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबली वीर लक्ष्मण ही अपने बड़े भाईकी आज्ञा लेकर मेरा उद्धार क्यों नहीं करते हैं? ॥ ४४ ॥

यदि तौ पुरुषव्याघ्रौ वाय्विन्द्रसमतेजसौ।
सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः ॥ ४५ ॥

'वे दोनों पुरुषसिंह वायु तथा इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। यदि वे देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं तो किस लिये मेरी उपेक्षा करते हैं? ॥ ४५ ॥

ममैव दुष्कृतं किंचिन्महदस्ति न संशयः।
समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परंतपौ ॥ ४६ ॥

'निःसंदेह मेरा ही कोई महान् पाप उदित हुआ है, जिससे वे दोनों शत्रुसंतापी वीर मेरा उद्धार करनेमें समर्थ होते हुए भी मुझपर कृपादृष्टि नहीं कर रहे हैं' ॥ ४६ ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रु भाषितम्।
अथाब्रवीन्महातेजा हनूमान् हरियूथपः ॥ ४७ ॥

विदेहकुमारी सीताने आँसू बहाते हुए जब यह करुणायुक्त बात कही, तब इसे सुनकर वानरयूथपति महातेजस्वी हनुमान् इस प्रकार बोले— ॥ ४७ ॥

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे।
रामे दुःखाभिपन्ने तु लक्ष्मणः परितप्यते ॥ ४८ ॥

'देवि! मैं सत्यकी शपथ खाकर आपसे कहता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजी आपके विरह-शोकसे पीड़ित हो अन्य सब कार्योंसे विमुख हो गये हैं—केवल आपका ही चिन्तन करते रहते हैं। श्रीरामके दुखी होनेसे लक्ष्मण भी सदा संतप्त रहते हैं ॥ ४८ ॥

कथंचिद् भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम्।
इमं मुहूर्तं दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि शोभने ॥ ४९ ॥

'किसी तरह आपका दर्शन हो गया। अब शोक करनेका अवसर नहीं है। शोभने! इसी घड़ीसे आप अपने दुःखोंका अन्त होता देखेंगी ॥ ४९ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ राजपुत्रौ महाबलौ।
त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लोकान् भस्मीकरिष्यतः ॥ ५० ॥

'वे दोनों पुरुषसिंह राजकुमार बड़े बलवान् हैं तथा आपको देखनेके लिये उनके मनमें विशेष उत्साह है। अतः वे समस्त राक्षस-जगत्को भस्म कर डालेंगे ॥ ५० ॥

हत्वा च समरक्रूरं रावणं सहबान्धवम्।
राघवस्त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रति नेष्यति ॥ ५१ ॥

'विशाललोचने! रघुनाथजी समराङ्गणमें क्रूरता प्रकट करनेवाले रावणको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर आपको अपनी पुरीमें ले जायँगे ॥ ५१ ॥

ब्रूहि यद् राघवो वाच्यो लक्ष्मणश्च महाबलः।
सुग्रीवो वापि तेजस्वी हरयो वा समागताः ॥ ५२ ॥

'अब भगवान् श्रीराम, महाबली लक्ष्मण, तेजस्वी सुग्रीव तथा वहाँ एकत्र हुए वानरोंके प्रति आपको जो कुछ कहना हो, वह कहिये' ॥ ५२ ॥

इत्युक्तवति तस्मिंश्च सीता पुनरथाब्रवीत्।
कौसल्या लोकभर्तारं सुषुवे यं मनस्विनी ॥ ५३ ॥
तं ममार्थे सुखं पृच्छ शिरसा चाभिवादय।

हनुमान्जीके ऐसा कहनेपर देवी सीताने फिर कहा—'कपिश्रेष्ठ मनस्विनी कौसल्या देवीने जिन्हें जन्म दिया है तथा जो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं, उन श्रीरघुनाथजीको मेरी ओरसे मस्तक झुकाकर प्रणाम करना और उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ ५३½ ॥

स्रजश्च सर्वरत्नानि प्रिया याश्च वराङ्गनाः ॥ ५४ ॥
ऐश्वर्यं च विशालायां पृथिव्यामपि दुर्लभम्।
पितरं मातरं चैव सम्मान्याभिप्रसाद्य च ॥ ५५ ॥
अनुप्रव्रजितो रामं सुमित्रा येन सुप्रजाः।
आनुकूल्येन धर्मात्मा त्यक्त्वा सुखमनुत्तमम् ॥ ५६ ॥
अनुगच्छति काकुत्स्थं भ्रातरं पालयन् वने।

सिंहस्कन्धो महाबाहुर्मनस्वी प्रियदर्शनः ॥ ५७ ॥
पितृवद् वर्तते रामे मातृवन्मां समाचरत्।
ह्रियमाणां तदा वीरो न तु मां वेद लक्ष्मणः ॥ ५८ ॥
वृद्धोपसेवी लक्ष्मीवाञ्शक्तो न बहुभाषिता।
राजपुत्रप्रियश्रेष्ठः सदृशः श्वशुरस्य मे ॥ ५९ ॥
मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः।
नियुक्तो धुरि यस्यां तु तामुद्वहति वीर्यवान् ॥ ६० ॥
यं दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमार्यमनुस्मरत्।
स ममार्थाय कुशलं वक्तव्यो वचनान्मम ॥ ६१ ॥
मृदुर्नित्यं शुचिर्दक्षः प्रियो रामस्य लक्ष्मणः।
यथा हि वानरश्रेष्ठ दुःखक्षयकरो भवेत् ॥ ६२ ॥

तत्पश्चात् विशाल भूमण्डलमें भी जिसका मिलना कठिन है ऐसे उत्तम ऐश्वर्यका, भाँति-भाँतिके हारों, सब प्रकारके रत्नों तथा मनोहर सुन्दरी स्त्रियोंका भी परित्याग कर पिता-माताको सम्मानित एवं राजी करके जो श्रीरामचन्द्रजीके साथ वनमें चले आये, जिनके कारण सुमित्रा देवी उत्तम संतानवाली कही जाती हैं, जिनका चित्त सदा धर्ममें लगा रहता है, जो सर्वोत्तम सुखको त्यागकर वनमें बड़े भाई श्रीरामकी रक्षा करते हुए सदा उनके अनुकूल चलते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, जो देखनेमें प्रिय लगते और मनको वशमें रखते हैं, जिनका श्रीरामके प्रति पिताके समान और मेरे प्रति माताके समान भाव तथा बर्ताव रहता है, जिन वीर लक्ष्मणको उस समय मेरे हरे जानेकी बात नहीं मालूम हो सकी थी, जो बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें संलग्न रहनेवाले, शोभाशाली, शक्तिमान् तथा कम बोलनेवाले हैं, राजकुमार श्रीरामके प्रिय व्यक्तियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, जो मेरे श्वशुरके सदृश पराक्रमी हैं तथा श्रीरघुनाथ-जीका जिन छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति सदा मुझसे भी अधिक प्रेम रहता है, जो पराक्रमी वीर अपने ऊपर डाले हुए कार्यभारको बड़ी योग्यताके साथ वहन करते हैं तथा जिन्हें देखकर श्रीरघुनाथजी अपने मरे हुए पिताको भी भूल गये हैं (अर्थात् जो पिताके समान श्रीरामके पालनमें दत्तचित्त रहते हैं)। उन लक्ष्मणसे भी तुम मेरी ओरसे कुशल पूछना और वानरश्रेष्ठ ! मेरे कथनानुसार उनसे ऐसी बातें कहना, जिन्हें सुनकर नित्य कोमल, पवित्र, दक्ष तथा श्रीरामके प्रिय बन्धु लक्ष्मण मेरा दुःख दूर करनेको तैयार हो जायँ ॥

त्वमस्मिन् कार्यनिर्वाहे प्रमाणं हरियूथप।
राघवस्त्वत्समारम्भान्मयि यत्नपरो भवेत् ॥ ६३ ॥

वानरयूथपते ! अधिक क्या कहूँ ? जिस तरह यह कार्य सिद्ध हो सके, वही उपाय तुम्हें करना चाहिये। इस विषयमें तुम्हीं प्रमाण हो—इसका सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम्हारे प्रोत्साहन देनेसे ही श्रीरघुनाथजी मेरे उद्धारके लिये प्रयत्नशील हो सकते हैं ॥ ६३ ॥

इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः।
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥ ६४ ॥
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते।

'तुम मेरे स्वामी शूरवीर भगवान् श्रीरामसे बारंबार कहना—'दशरथनन्दन ! मेरे जीवनकी अवधिके लिये जो मास नियत हैं, उनमेंसे जितना शेष है, उतने ही समयतक मैं जीवन धारण करूँगी। उन अवशिष्ट दो महीनोंके बाद मैं जीवित नहीं रह सकती। यह मैं आपसे सत्यकी शपथ खाकर कह रही हूँ ॥ ६४½ ॥

रावणेनोपरुद्धां मां निकृत्या पापकर्मणा।
त्रातुमर्हसि वीर त्वं पातालादिव कौशिकीम् ॥ ६५ ॥

'वीर ! पापाचारी रावणने मुझे कैद कर रक्खा है। अतः राक्षसियोंद्वारा शठतापूर्वक मुझे बड़ी पीड़ा दी जाती है। जैसे भगवान् विष्णुने इन्द्रकी लक्ष्मीका पातालसे उद्धार किया था, उसी प्रकार आप यहाँसे मेरा उद्धार करें' ॥ ६५ ॥

ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम्।
प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ ॥ ६६ ॥

ऐसा कहकर सीताने कपड़ेमें बँधी हुई सुन्दर दिव्य चूड़ामणिको खोलकर निकाला और 'इसे श्रीरामचन्द्रजीको दे देना' ऐसा कहकर हनुमान्‌जीके हाथपर रख दिया ॥

प्रतिगृह्य ततो वीरो मणिरत्नमनुत्तमम्।
अङ्गुल्या योजयामास नह्यस्य प्राभवद् भुजः ॥ ६७ ॥

उस परम उत्तम मणिरत्नको लेकर वीर हनुमान्‌जीने उसे अपनी अङ्गुलीमें डाल लिया। उनकी बाँह अत्यन्त सूक्ष्म होनेपर भी उसके छेदमें न आ सकी (इससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जीने अपना विशाल रूप दिखानेके बाद फिर सूक्ष्म रूप धारण कर लिया था) ॥ ६७ ॥

मणिरत्नं कपिवरः प्रतिगृह्याभिवाद्य च।
सीतां प्रदक्षिणं कृत्वा प्रणतः पार्श्वतः स्थितः ॥ ६८ ॥

वह मणिरत्न लेकर कपिवर हनुमान्‌ने सीताको प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा करके वे विनीतभावसे उनके पास खड़े हो गये ॥ ६८ ॥

हर्षेण महता युक्तः सीतादर्शनजेन सः।
हृदयेन गतो रामं लक्ष्मणं च सलक्षणम् ॥ ६९ ॥

सीताजीका दर्शन होनेसे उन्हें महान् हर्ष प्राप्त हुआ था। वे मन-ही-मन भगवान् श्रीराम और शुभ-लक्षणसम्पन्न लक्ष्मणके पास पहुँच गये थे। उन दोनोंका चिन्तन करने लगे थे ॥

मणिवरमुपगृह्य तं महार्हं
जनकनृपात्मजया धृतं प्रभावात्।
गिरिवरपवनावधूतमुक्तः
सुखितमनाः प्रतिसंक्रमं प्रपेदे ॥ ७० ॥

राजा जनककी पुत्री सीताने अपने विशेष प्रभावसे जिसे

छिपाकर धारण कर रक्खा था, उस बहुमूल्य मणि-रत्नको लेकर हनुमान्‌जी मन-ही-मन उस पुरुषके समान सुखी एवं प्रसन्न हुए, जो किसी श्रेष्ठ पर्वतके ऊपरी भागसे उठी हुई प्रबल वायुके वेगसे कम्पित होकर पुनः उसके प्रभावसे मुक्त हो गया हो । तदनन्तर उन्होंने वहाँसे लौट जानेकी तैयारी की ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

चूड़ामणि लेकर जाते हुए हनुमान्‌जीसे सीताका श्रीराम आदिको उत्साहित करनेके लिये कहना तथा समुद्र-तरणके विषयमें शङ्कित हुई सीताको वानरोंका पराक्रम बताकर हनुमान्‌जीका आश्वासन देना

मणिं दत्त्वा ततः सीता हनूमन्तमथाब्रवीत् ।
अभिज्ञानमभिज्ञातमेतद् रामस्य तत्त्वतः ॥ १ ॥

मणि देनेके पश्चात् सीता हनुमान्‌जीसे बोलीं—'मेरे इस चिह्नको भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भलीभाँति पहचानते हैं ॥

मणिं दृष्ट्वा तु रामो वै त्रयाणां संस्मरिष्यति ।
वीरो जनन्या मम च राज्ञो दशरथस्य च ॥ २ ॥

'इस मणिको देखकर वीर श्रीराम निश्चय ही तीन व्यक्तियोंका—मेरी माताका, मेरा तथा महाराज दशरथका एक साथ ही स्मरण करेंगे ॥ २ ॥

स भूयस्त्वं समुत्साहचोदितो हरिसत्तम ।
अस्मिन् कार्यसमुत्साहे प्रचिन्तय यदुत्तरम् ॥ ३ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! तुम पुनः विशेष उत्साहसे प्रेरित हो इस कार्यकी सिद्धिके लिये जो भावी कर्तव्य हो, उसे सोचो ॥३॥

त्वमस्मिन् कार्यनिर्योगे प्रमाणं हरिसत्तम ।
तस्य चिन्तय यो यत्नो दुःखक्षयकरो भवेत् ॥ ४ ॥

'वानरशिरोमणे ! इस कार्यको निभानेमें तुम्हीं प्रमाण हो—तुमपर ही सारा भार है । तुम इसके लिये कोई ऐसा उपाय सोचो, जो मेरे दुःखका निवारण करनेवाला हो ॥

हनूमन् यत्नमास्थाय दुःखक्षयकरो भव ।
स तथेति प्रतिज्ञाय मारुतिर्भीमविक्रमः ॥ ५ ॥
शिरसाऽऽवन्द्य वैदेहीं गमनायोपचक्रमे ।

'हनूमन् ! तुम विशेष प्रयत्न करके मेरा दुःख दूर करनेमें सहायक बनो ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर सीताजीकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके वे भयंकर पराक्रमी पवनकुमार विदेहनन्दिनीके चरणोंमें मस्तक झुकाकर वहाँसे जानेको तैयार हुए ॥ ५½ ॥

ज्ञात्वा सम्प्रस्थितं देवी वानरं पवनात्मजम् ॥ ६ ॥
बाष्पगद्गदया वाचा मैथिली वाक्यमब्रवीत् ।

पवनपुत्र वानरवीर हनुमान्‌को वहाँसे लौटनेके लिये उद्यत जान मिथिलेशकुमारीका गला भर आया और वे अश्रुगद्गद वाणीमें बोलीं—॥ ६½ ॥

हनूमन् कुशलं ब्रूयाः सहितौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान् वृद्धांश्च वानरान् ।
ब्रूयास्त्वं वानरश्रेष्ठ कुशलं धर्मसंहितम् ॥ ८ ॥

'हनूमन् ! तुम श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंको एक साथ ही मेरा कुशल-समाचार बताना और उनका कुशल-मङ्गल पूछना । वानरश्रेष्ठ ! फिर मन्त्रियोंसहित सुग्रीव तथा अन्य सब बड़े-बूढ़े वानरोंसे धर्मयुक्त कुशल-समाचार कहना और पूछना ॥ ७-८ ॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः ।
अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधात् त्वं समाधातुमर्हसि ॥ ९ ॥

'महाबाहु श्रीरघुनाथजी जिस प्रकार इस दुःखके समुद्रसे मेरा उद्धार करें, वैसा ही यत्न तुम्हें करना चाहिये ॥

जीवन्तीं मां यथा रामः सम्भावयति कीर्तिमान् ।
तत् त्वया हनुमन् वाच्यं वाचा धर्ममवाप्नुहि ॥ १० ॥

'हनुमन् ! यशस्वी रघुनाथजी जिस प्रकार मेरे जीते-जी यहाँ आकर मुझसे मिलें—मुझे सँभालें, वैसी ही बातें तुम उनसे कहो और ऐसा करके वाणीके द्वारा धर्माचरणका फल प्राप्त करो ॥ १० ॥

नित्यमुत्साहयुक्तस्य वाचः श्रुत्वा मयेरिताः ।
वर्धिष्यते दाशरथेः पौरुषं मदवाप्तये ॥ ११ ॥

'यों तो दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम सदा ही उत्साहसे भरे रहते हैं, तथापि मेरी कही हुई बातें सुनकर मेरी प्राप्तिके लिये उनका पुरुषार्थ और भी बढ़ेगा ॥ ११ ॥

मत्संदेशयुता वाचस्त्वत्तः श्रुत्वैव राघवः ।
पराक्रमे मतिं वीरो विधिवत् संविधास्यति ॥ १२ ॥

'तुम्हारे मुखसे मेरे संदेशसे युक्त बातें सुनकर ही वीर रघुनाथजी पराक्रम करनेमें विधिवत् अपना मन लगायेंगे' ॥

सीतायास्तद् वचः श्रुत्वा हनूमान् मारुतात्मजः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ १३ ॥

सीताकी यह बात सुनकर पवनकुमार हनुमान्‌ने माथेपर अञ्जलि बाँधकर विनयपूर्वक उनकी बातका उत्तर दिया—॥ १३ ॥

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो हर्यृक्षप्रवरैर्वृतः।
यस्ते युधि विजित्यारीञ्शोकं व्यपनयिष्यति ॥ १४ ॥

'देवि ! जो युद्धमें सारे शत्रुओंको जीतकर आपके शोकका निवारण करेंगे, वे ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीराम श्रेष्ठ वानरों और भालुओंके साथ शीघ्र ही यहाँ पधारेंगे ।१४।

नहि पश्यामि मर्त्येषु नासुरेषु सुरेषु वा।
यस्तस्य वमतो बाणान् स्थातुमुत्सहतेऽग्रतः ॥ १५ ॥

'मैं मनुष्यों, असुरों अथवा देवताओंमें भी किसीको ऐसा नहीं देखता, जो बाणोंकी वर्षा करते हुए भगवान् श्रीरामके सामने ठहर सके ॥ १५ ॥

अप्यर्कमपि पर्जन्यमपि वैवस्वतं यमम्।
स हि सोढुं रणे शक्तस्तव हेतोर्विशेषतः ॥ १६ ॥

'भगवान् श्रीराम विशेषतः आपके लिये तो युद्धमें सूर्य, इन्द्र और सूर्यपुत्र यमका भी सामना कर सकते हैं ॥ १६ ॥

स हि सागरपर्यन्तां महीं साधितुमर्हति।
त्वन्निमित्तो हि रामस्य जयो जनकनन्दिनि ॥ १७ ॥

'वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीको भी जीत लेने योग्य हैं। जनकनन्दिनि ! आपके लिये युद्ध करते समय श्रीरामचन्द्रजीको निश्चय ही विजय प्राप्त होगी' ॥ १७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्यक् सत्यं सुभाषितम्।
जानकी बहु मेने तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

हनुमान्जीका कथन युक्तियुक्त, सत्य और सुन्दर था। उसे सुनकर जनकनन्दिनीने उनका बड़ा आदर किया और वे उनसे फिर कुछ कहनेको उद्यत हुईं ॥ १८ ॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः।
भर्तृस्नेहान्वितं वाक्यं सौहार्दादनुमानयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर वहाँसे प्रस्थित हुए हनुमान्जीकी ओर बार-बार देखती हुई सीताने सौहार्दवश स्वामीके प्रति स्नेहसे युक्त सम्मानपूर्ण बात कही—॥ १९ ॥

यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिंदम।
कस्मिंश्चित् संवृते देशे विश्रान्तःश्वोगमिष्यसि॥ २० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! यदि तुम ठीक समझो तो यहाँ एक दिन किसी गुप्त स्थानमें निवास करो। इस तरह एक दिन विश्राम करके कल चले जाना ॥ २० ॥

मम चैवाल्पभाग्यायाः सांनिध्यात् तव वानर।
अस्य शोकस्य महतो मुहूर्तं मोक्षणं भवेत् ॥ २१ ॥

'वानरवीर ! तुम्हारे निकट रहनेसे मुझ मन्दभागिनीके महान् शोकका थोड़ी देरके लिये निवारण हो जायगा ॥ २१ ॥

ततो हि हरिशार्दूल पुनरागमनाय तु।
प्राणानामपि संदेहो मम स्यान्नात्र संशयः ॥ २२ ॥

'कपिश्रेष्ठ ! विश्रामके पश्चात् यहाँसे यात्रा करनेके अनन्तर यदि फिर तुमलोगोंके आनेमें संदेह या विलम्ब हुआ तो मेरे प्राणोंपर भी संकट आ जायगा, इसमें संशय नहीं है ॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत्।
दुःखाद् दुःखपरामृष्टां दीपयन्निव वानर ॥ २३ ॥

'वानरवीर ! मैं दुःख-पर-दुःख उठा रही हूँ। तुम्हारे चले जानेपर तुम्हें न देख पानेका शोक मुझे पुनः दग्ध करता हुआ-सा संताप देता रहेगा ॥ २३ ॥

अयं च वीर संदेहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः।
सुमहांस्त्वत्सहायेषु हर्यृक्षेषु हरीश्वर ॥ २४ ॥
कथं नु खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोदधिम्।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥ २५ ॥

'वीर वानरेश्वर ! तुम्हारे साथी रीछों और वानरोंके विषयमें मेरे सामने अब भी यह महान् संदेह तो विद्यमान ही है कि वे रीछ और वानरोंकी सेनाएँ तथा वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण इस दुष्पार महासागरको कैसे पार करेंगे ॥ २४-२५ ॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्येह लङ्घने।
शक्तिः स्याद् वैनतेयस्य तव वा मारुतस्य वा ॥ २६ ॥

'इस संसारमें समुद्रको लाँघनेकी शक्ति तो केवल तीन प्राणियोंमें ही देखी गयी है। तुममें, गरुड़में अथवा वायुदेवतामें ॥ २६ ॥

तदस्मिन् कार्यनिर्योगे वीरैवं दुरतिक्रमे।
किं पश्यसे समाधानं त्वं हि कार्यविदां वरः ॥ २७ ॥

'वीर ! इस प्रकार इस समुद्रलङ्घनरूपी कार्यको निभाना अत्यन्त कठिन हो गया है। ऐसी दशामें तुम्हें कार्यसिद्धिका कौन-सा उपाय दिखायी देता है ? यह बताओ; क्योंकि कार्यसिद्धिका उपाय जाननेवाले लोगोंमें तुम सबसे श्रेष्ठ हो ॥ २७ ॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते फलोदयः ॥ २८ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पवनकुमार ! इसमें संदेह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे उद्धाररूपी कार्यको सिद्ध करनेमें पूर्णतः समर्थ हो; परंतु ऐसा करनेसे जो विजयरूप फल प्राप्त होगा, उसका यश केवल तुम्हींको मिलेगा, भगवान् श्रीरामको नहीं ॥ २८ ॥

बलैः समग्रैर्युधि मां रावणं जित्य संयुगे।
विजयी स्वपुरं यायात् तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥ २९ ॥

'यदि रघुनाथजी सारी सेनाके साथ रावणको युद्धमें पराजित करके विजयी हो मुझे साथ ले अपनी पुरीको पधारें तो वह उनके अनुरूप कार्य होगा ॥ २९ ॥

बलैस्तु संकुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः।
मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत् तस्य सदृशं भवेत्॥ ३० ॥

'शत्रुसेनाका संहार करनेवाले श्रीराम यदि अपनी सेनाओंद्वारा लङ्काको पददलित करके मुझे अपने साथ ले चलें तो वही उनके योग्य होगा ॥ ३० ॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः।

भवेदाहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥ ३१ ॥

'अतः तुम ऐसा उपाय करो जिससे समरशूर महात्मा श्रीरामका उनके अनुरूप पराक्रम प्रकट हो' ॥ ३१ ॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम् ।
निशम्य हनुमाञ्शेषं वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

देवी सीताकी उपर्युक्त बात अर्थयुक्त, स्नेहयुक्त तथा युक्तियुक्त थी। उनकी उस अवशिष्ट बातको सुनकर हनुमान्‌जीने इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ३२ ॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः ।
सुग्रीवः सत्यसम्पन्नस्तवार्थे कृतनिश्चयः ॥ ३३ ॥

'देवि ! वानर और भालुओंकी सेनाके स्वामी कपिश्रेष्ठ सुग्रीव सत्यवादी हैं। वे आपके उद्धारके लिये दृढ़ निश्चय कर चुके हैं ॥ ३३ ॥

स वानरसहस्राणां कोटीभिरभिसंवृतः ।
क्षिप्रमेष्यति वैदेहि राक्षसानां निबर्हणः ॥ ३४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! उनमें राक्षसोंका संहार करनेकी शक्ति है। वे सहस्रों कोटि वानरोंकी सेना साथ लेकर शीघ्र ही लङ्कापर चढ़ाई करेंगे ॥ ३४ ॥

तस्य विक्रमसम्पन्नाः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
मनःसंकल्पसम्पाता निदेशे हरयः स्थिताः ॥ ३५ ॥

'उनके पास पराक्रमी, धैर्यशाली, महाबली और मानसिक संकल्पके समान बहुत दूरतक उछलकर जानेवाले बहुत-से वानर हैं, जो उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा तैयार रहते हैं ॥ ३५ ॥

येषां नोपरि नाधस्तान्न तिर्यक् सज्जते गतिः ।
न च कर्मसु सीदन्ति महत्स्वमिततेजसः ॥ ३६ ॥

'जिनकी ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर कहीं भी गति नहीं रुकती, वे बड़े-से-बड़े कार्योंके आ पड़नेपर भी कभी हिम्मत नहीं हारते। उनमें महान् तेज है ॥ ३६ ॥

असकृत् तैर्महोत्साहैः ससागरधराधरा ।
प्रदक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः ॥ ३७ ॥

'उन्होंने अत्यन्त उत्साहसे पूर्ण होकर वायुपथ (आकाश) का अनुसरण करते हुए समुद्र और पर्वतोंसहित इस पृथ्वीकी अनेक बार परिक्रमा की है ॥ ३७ ॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः ।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसंनिधौ ॥ ३८ ॥

'सुग्रीवकी सेनामें मेरे समान तथा मुझसे भी बढ़कर पराक्रमी वानर हैं। उनके पास कोई भी ऐसा वानर नहीं है जो बल-पराक्रममें मुझसे कम हो ॥ ३८ ॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः ।
नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥ ३९ ॥

'जब मैं ही यहाँ आ गया, तब अन्य महाबली वीरोंके आनेमें क्या संदेह है ! जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उन्हें संदेशवाहक दूत बनाकर नहीं भेजा जाता। साधारण कोटिके लोग ही भेजे जाते हैं ॥ ३९ ॥

तदलं परितापेन देवि शोको व्यपैतु ते ।
एकोत्पातेन ते लङ्कामेष्यन्ति हरियूथपाः ॥ ४० ॥

'अतः देवि ! आपको संताप करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपका शोक दूर हो जाना चाहिये। वानरयूथपति एक ही छलाँगमें लङ्का पहुँच जायँगे ॥ ४० ॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
त्वत्सकाशं महासत्त्वौ नृसिंहावागमिष्यतः ॥ ४१ ॥

'उदयकालके सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति शोभा पानेवाले और महान् वानर-समुदायके साथ रहनेवाले वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण मेरी पीठपर बैठकर आपके पास आ पहुँचेंगे ॥ ४१ ॥

तौ हि वीरौ नरवरौ सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
आगम्य नगरीं लङ्कां सायकैर्विधमिष्यतः ॥ ४२ ॥

'वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर श्रीराम और लक्ष्मण एक साथ आकर अपने सायकोंसे लङ्कापुरीका विध्वंस कर डालेंगे ॥ ४२ ॥

सगणं रावणं हत्वा राघवो रघुनन्दनः ।
त्वामादाय वरारोहे स्वपुरीं प्रति यास्यति ॥ ४३ ॥

'वरारोहे ! रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीरघुनाथजी रावणको उसके सैनिकोंसहित मारकर आपको साथ ले अपनी पुरीको लौटेंगे ॥ ४३ ॥

तदाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी ।
नचिराद् द्रक्ष्यसे रामं प्रज्वलन्तमिवानलम् ॥ ४४ ॥

'इसलिये आप धैर्य धारण करें। आपका कल्याण हो। आप समयकी प्रतीक्षा करें। प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी श्रीरघुनाथजी आपको शीघ्र ही दर्शन देंगे ॥ ४४ ॥

निहते राक्षसेन्द्रे च सपुत्रामात्यबान्धवे ।
त्वं समेष्यसि रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी ॥ ४५ ॥

'पुत्र, मन्त्री और बन्धु-बान्धवोंसहित राक्षसराज रावणके मारे जानेपर आप श्रीरामचन्द्रजीसे उसी प्रकार मिलेंगी जैसे रोहिणी चन्द्रमासे मिलती है ॥ ४५ ॥

क्षिप्रं त्वं देवि शोकस्य पारं द्रक्ष्यसि मैथिलि ।
रावणं चैव रामेण द्रक्ष्यसे निहतं बलात् ॥ ४६ ॥

'देवि ! मिथिलेशकुमारी ! आप शीघ्र ही अपने शोकका अन्त हुआ देखेंगी। आपको यह भी दृष्टिगोचर होगा कि श्रीरामचन्द्रजीने रावणको बलपूर्वक मार डाला है' ॥ ४६ ॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनूमान् मारुतात्मजः ।
गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीं पुनरब्रवीत् ॥ ४७ ॥

विदेहनन्दिनी सीताको इस प्रकार आश्वासन दे पवनकुमार हनुमान्‌जीने वहाँसे लौटनेका निश्चय करके उनसे फिर कहा—॥ ४७ ॥

तमरिघ्नं कृतात्मानं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ।

...व धनुष्पाणिं लङ्काद्वारमुपागतम् ॥ ४८ ॥

...! आप शीघ्र ही देखेंगी कि शुद्ध हृदयवाले शत्रु-...शक श्रीरघुनाथजी तथा लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये लङ्काके ...रपर आ पहुँचे हैं ॥ ४८ ॥

...खदंष्ट्रायुधान् वीरान् सिंहशार्दूलविक्रमान्।
...नरान् वारणेन्द्राभान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि संगतान्॥४९॥

'नख और दाढ़ ही जिनके अस्त्र-शस्त्र हैं तथा जो सिंह ...ौर व्याघ्रके समान पराक्रमी एवं गजराजोंके समान विशाल-...य हैं, ऐसे वानरोंको भी आप शीघ्र ही एकत्र हुआ ...खेंगी ॥ ४९ ॥

...लाम्बुदनिकाशानां लङ्कामलयसानुषु।
...र्दतां कपिमुख्यानामार्ये यूथान्यनेकशः ॥ ५० ॥

'आर्ये! पर्वत और मेघके समान विशालकाय मुख्य-...ख्य वानरोंके बहुत-से झुंड लङ्कावर्ती मलयपर्वतके शिखरोंपर ...र्जते दिखायी देंगे ॥ ५० ॥

...तु मर्मणि घोरेण ताडितो मन्मथेषुणा।
...शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः ॥ ५१ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके मर्मस्थलमें कामदेवके भयंकर बाणोंसे ...ट पहुँची है। इसलिये वे सिंहसे पीड़ित हुए गजराजकी ...ति चैन नहीं पाते हैं ॥ ५१ ॥

रुद मा देवि शोकेन मा भूत् ते मनसो भयम्।
शचीव भर्त्रा शक्रेण सङ्गमेष्यसि शोभने ॥ ५२ ॥

'देवि! आप शोकके कारण रोदन न करें। आपके मनका भय दूर हो जाय। शोभने! जैसे शची देवराज इन्द्र-से मिलती हैं, उसी प्रकार आप अपने पतिदेवसे मिलेंगी ॥ ५२ ॥

रामाद् विशिष्टः कोऽन्योऽस्ति कश्चित् सौमित्रिणा समः।
अग्निमारुतकल्पौ तौ भ्रातरौ तव संश्रयौ ॥ ५३ ॥

'भला, श्रीरामचन्द्रजीसे बढ़कर दूसरा कौन है? तथा लक्ष्मणजीके समान भी कौन हो सकता है? अग्नि और वायुके तुल्य तेजस्वी वे दोनों भाई आपके आश्रय हैं (आपको कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये) ॥ ५३ ॥

नास्मिंश्चिरं वत्स्यसि देवि देशे
रक्षोगणैरध्युषितेऽतिरौद्रे।
न ते चिरादागमनं प्रियस्य
क्षमस्व मत्संगमकालमात्रम् ॥ ५४ ॥

'देवि! राक्षसोंद्वारा सेवित इस अत्यन्त भयंकर देशमें आपको अधिक दिनोंतक नहीं रहना पड़ेगा। आपके प्रियतम-के आनेमें विलम्ब नहीं होगा। जबतक मेरी उनसे भेंट न हो, उतने समय तकके विलम्बको आप क्षमा करें' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

सीताका श्रीरामसे कहनेके लिये पुनः संदेश देना तथा हनुमान्‌जीका उन्हें आश्वासन दे उत्तर दिशाकी ओर जाना

...त्वा तु वचनं तस्य वायुसूनोर्महात्मनः।
...वाचात्महितं वाक्यं सीता सुरसुतोपमा ॥ १ ॥

...वायुपुत्र महात्मा हनुमान्‌जीका वचन सुनकर ...कन्याके समान तेजस्विनी सीताने अपने हितके विचारसे ...प्रकार कहा— ॥ १ ॥

...दृष्ट्वा प्रियवक्तारं सम्प्रहृष्यामि वानर।
...र्धसंजातसस्येव वृष्टिं प्राप्य वसुंधरा ॥ २ ॥

'वानरवीर! तुमने मुझे बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया ...तुम्हें देखकर हर्षके मारे मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो ...या है। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षाका पानी पड़नेसे ...धी जमी हुई खेतीवाली भूमि हरी-भरी हो जाती है ॥

...था तं पुरुषव्याघ्रं गात्रैः शोकाभिकर्शितैः।
...स्पृशेयं सकामाहं तथा कुरु दयां मयि ॥ ३ ॥

'मुझपर ऐसी दया करो, जिससे मैं शोकके कारण ...ल हुए अपने अङ्गोंद्वारा नरश्रेष्ठ श्रीरामका प्रेमपूर्वक ...र्श कर सकूँ ॥ ३ ॥

अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम।
क्षिप्तामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम् ॥ ४ ॥

'वानरश्रेष्ठ! श्रीरामने क्रोधवश जो कौएकी एक आँखको फोड़नेवाली सींकका बाण चलाया था, उस प्रसङ्गकी तुम पहचानके रूपमें उन्हें याद दिलाना ॥ ४ ॥

मनःशिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः।
त्वया प्रणष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

'मेरी ओरसे यह भी कहना कि प्राणनाथ! पहलेकी उस बातको भी याद कीजिये, जब कि मेरे कपोलमें लगे हुए तिलकके मिट जानेपर आपने अपने हाथसे मन्सिलका तिलक लगाया था ॥ ५ ॥

स वीर्यवान् कथं सीतां हृतां समनुमन्यसे।
वसन्तीं रक्षसां मध्ये महेन्द्रवरुणोपम ॥ ६ ॥

'महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी प्रियतम! आप बलवान् होकर भी अपहृत होकर राक्षसोंके घरमें निवास करनेवाली मुझ सीताका तिरस्कार कैसे सहन करते हैं? ॥ ६ ॥

एष चूडामणिर्दिव्यो मया सुपरिरक्षितः ।
एतं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ ॥ ७ ॥

'निष्पाप प्राणेश्वर ! इस दिव्य चूड़ामणिको मैंने बड़े यत्नसे सुरक्षित रक्खा था और संकटके समय इसे देखकर मानो मुझे आपका ही दर्शन हो गया हो, इस तरह मैं हर्षका अनुभव करती थी ॥ ७ ॥

एष निर्यातितः श्रीमान् मया ते वारिसम्भवः ।
अतः परं न शक्ष्यामि जीवितुं शोकलालसा ॥ ८ ॥

'समुद्रके जलसे उत्पन्न हुआ यह कान्तिमान् मणिरत्न आज आपको लौटा रही हूँ । अब शोकसे आतुर होनेके कारण मैं अधिक समयतक जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ ८ ॥

असह्यानि च दुःखानि वाचश्च हृदयच्छिदः ।
राक्षसैः सह संवासं त्वत्कृते मर्षयाम्यहम् ॥ ९ ॥

'दुःसह दुःख, हृदयको छेदनेवाली बातें और राक्षसियोंके साथ निवास—यह सब कुछ मैं आपके लिये ही सह रही हूँ ॥ ९ ॥

धारयिष्यामि मासं तु जीवितं शत्रुसूदन ।
मासादूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज ॥ १० ॥

'राजकुमार ! शत्रुसूदन ! मैं आपकी प्रतीक्षामें किसी तरह एक मासतक जीवन धारण करूँगी । इसके बाद आपके बिना मैं जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ १० ॥

घोरो राक्षसराजोऽयं दृष्टिश्च न सुखा मयि ।
त्वां च श्रुत्वा विषज्जन्तं न जीवेयमपि क्षणम् ॥ ११ ॥

'यह राक्षसराज रावण बड़ा क्रूर है । मेरे प्रति इसकी दृष्टि भी अच्छी नहीं है । अब यदि आपको भी विलम्ब करते सुन लूँगी तो मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती' ॥ ११ ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रुभाषितम् ।
अथाब्रवीन्महातेजा हनूमान् मारुतात्मजः ॥ १२ ॥

सीताजीके यह आँसू बहाते कहे हुए करुणाजनक वचन सुनकर महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जी बोले—॥

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे ।
रामे शोकाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते ॥ १३ ॥

'देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि श्रीरघुनाथजी आपके शोकसे ही सब कामोंसे विमुख हो रहे हैं । श्रीरामके शोकातुर होनेसे लक्ष्मण भी बहुत दुखी रहते हैं ॥ १३ ॥

दृष्टा कथंचिद् भवती न कालः परिदेवितुम् ।
इमं मुहूर्तं दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि ॥ १४ ॥

'अब किसी तरह आपका दर्शन हो गया, इसलिये रोने-धोने या शोक करनेका अवसर नहीं रहा । भामिनि ! आप इसी मुहूर्तमें अपने सारे दुःखोंका अन्त हुआ देखेंगी ॥ १४ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ राजपुत्रावनिन्दितौ ।
त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः ॥ १५ ॥

'वे दोनों भाई पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण सर्वत्र प्रशंसित वीर हैं । आपके दर्शनके लिये उत्साहित होकर वे लङ्कापुरीको भस्म कर डालेंगे ॥ १५ ॥

हत्वा तु समरे रक्षो रावणं सहबान्धवैः ।
राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रति नेष्यतः ॥ १६ ॥

'विशाललोचने ! राक्षस रावणको समराङ्गणमें उसके बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर वे दोनों रघुवंशी बन्धु आपको अपनी पुरीमें ले जायँगे ॥ १६ ॥

यत्तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते ।
प्रीतिसंजननं भूयस्तस्य त्वं दातुमर्हसि ॥ १७ ॥

'सती-साध्वी देवि ! जिसे श्रीरामचन्द्रजी जान सकें और जो उनके हृदयमें प्रेम एवं प्रसन्नताका संचार करनेवाली हो, ऐसी कोई और भी पहचान आपके पास हो तो वह उनके लिये आप मुझे दें' ॥ १७ ॥

साब्रवीद् दत्तमेवाहो मयाभिज्ञानमुत्तमम् ।
एतदेव हि रामस्य दृष्ट्वा यत्नेन भूषणम् ॥ १८ ॥
श्रद्धेयं हनुमन् वाक्यं तव वीर भविष्यति ।

तब सीताजीने कहा—'कपिश्रेष्ठ ! मैंने तुम्हें उत्तम-से-उत्तम पहचान तो दे ही दी । वीर हनुमन् ! इसी आभूषणको यत्नपूर्वक देख लेनेपर श्रीरामके लिये तुम्हारी सारी बातें विश्वसनीय हो जायँगी' ॥ १८½ ॥

स तं मणिवरं गृह्य श्रीमान् प्लवगसत्तमः ॥ १९ ॥
प्रणम्य शिरसा देवीं गमनायोपचक्रमे ।

उस श्रेष्ठ मणिको लेकर वानरशिरोमणि श्रीमान् हनुमान् देवी सीताको सिर झुका प्रणाम करनेके पश्चात् वहाँसे जानेको उद्यत हुए ॥ १९½ ॥

तमुत्पातकृतोत्साहमवेक्ष्य हरियूथपम् ॥ २० ॥
वर्धमानं महावेगमुवाच जनकात्मजा ।
अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पगद्गदया गिरा ॥ २१ ॥

वानरयूथपति महावेगशाली हनुमान्‌को वहाँसे छलाँग मारनेके लिये उत्साहित हो बढ़ते देख जनकनन्दिनी सीताके मुखपर आँसुओंकी धारा बहने लगी । वे दुखी हो अश्रुगद्गद वाणीमें बोलीं—॥ २०-२१ ॥

हनूमन् सिंहसंकाशौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान् ब्रूया ह्यनामयम् ॥ २२ ॥

'हनूमन् ! सिंहके समान पराक्रमी दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे तथा मन्त्रियोंसहित सुग्रीव एवं अन्य सब वानरोंसे मेरा कुशल-मङ्गल कहना ॥ २२ ॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः ।
अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधात् त्वं समाधातुमर्हसि ॥ २३ ॥

'महाबाहु श्रीरघुनाथजीको तुम्हें इस प्रकार समझाना

चाहिये, जिससे वे दुःखके इस महासागरसे मेरा उद्धार करें ॥

इदं च तीव्रं मम शोकवेगं
रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च ।
ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं
शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥ २४ ॥

'वानरोंके प्रमुख वीर ! मेरा यह दुःसह शोक-वेग और इन राक्षसोंकी यह डाँट-डपट भी तुम श्रीरामके समीप जाकर कहना । जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो' ॥ २४ ॥

स राजपुत्र्या प्रतिवेदितार्थः
कपिः कृतार्थः परिहृष्टचेताः ।
तदल्पशेषं प्रसमीक्ष्य कार्यं
दिशं ह्युदीचीं मनसा जगाम ॥ २५ ॥

राजकुमारी सीताके उक्त अभिप्रायको जानकर कपिवर हनुमान्ने अपनेको कृतार्थ समझा और प्रसन्नचित्त होकर थोड़े-से शेष रहे कार्यका विचार करते हुए वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

हनुमान्जीके द्वारा प्रमदावन (अशोकवाटिका) का विध्वंस

स च वाग्भिः प्रशस्ताभिर्गमिष्यन् पूजितस्तया ।
तस्माद् देशादपाक्रम्य चिन्तयामास वानरः ॥ १ ॥

सीताजीसे उत्तम वचनोंद्वारा समादर पाकर वानरवीर हनुमान्जी जब वहाँसे जाने लगे, तब उस स्थानसे दूसरी जगह हटकर वे इस प्रकार विचार करने लगे—॥ १ ॥

अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य चतुर्थ इह दृश्यते ॥ २ ॥

'मैंने कजरारे नेत्रोंवाली सीताजीका दर्शन तो कर लिया, अब मेरे इस कार्यका थोड़ा-सा अंश (शत्रुकी शक्तिका पता लगाना) शेष रह गया है । इसके लिये चार उपाय हैं— साम, दान, भेद और दण्ड । यहाँ साम आदि तीन उपायोंको लाँघकर केवल चौथे उपाय (दण्ड) का प्रयोग ही उपयोगी दिखायी देता है ॥ २ ॥

न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते
न दानमर्थोपचितेषु युज्यते ।
न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः
पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते ॥ ३ ॥

'राक्षसोंके प्रति सामनीतिका प्रयोग करनेसे कोई लाभ नहीं होता । इनके पास धन भी बहुत है, अतः इन्हें दान देनेका भी कोई उपयोग नहीं है । इसके सिवा, ये बलके अभिमानमें चूर रहते हैं, अतः भेदनीतिके द्वारा भी इन्हें वशमें नहीं किया जा सकता । ऐसी दशामें मुझे यहाँ पराक्रम दिखाना ही उचित जान पड़ता है ॥ ३ ॥

न चास्य कार्यस्य पराक्रमादृते
विनिश्चयः कश्चिदिहोपपद्यते ।
हतप्रवीराश्च रणे तु राक्षसाः
कथंचिदीयुर्यदिहाद्य मार्दवम् ॥ ४ ॥

'इस कार्यकी सिद्धिके लिये पराक्रमके सिवा यहाँ और किसी उपायका अवलम्बन ठीक नहीं जँचता । यदि युद्धमें राक्षसोंके मुख्य-मुख्य वीर मारे जायँ तो ये लोग किसी तरह कुछ नरम पड़ सकते हैं ॥ ४ ॥

कार्ये कर्मणि निर्वृत्ते यो बहून्यपि साधयेत् ।
पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥ ५ ॥

'जो पुरुष प्रधान कार्यके सम्पन्न हो जानेपर दूसरे-दूसरे बहुत-से कार्योंको भी सिद्ध कर लेता है और पहलेके कार्योंमें बाधा नहीं आने देता, वही कार्यको सुचारु रूपमें कर सकता है ॥ ५ ॥

न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः ।
यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने ॥ ६ ॥

'छोटे-से-छोटे कर्मकी भी सिद्धिके लिये कोई एक ही साधक हेतु नहीं हुआ करता । जो पुरुष किसी कार्य या प्रयोजनको अनेक प्रकारसे सिद्ध करनेकी कला जानता हो, वही कार्य-साधनमें समर्थ हो सकता है ॥ ६ ॥

इहैव तावत्कृतनिश्चयो ह्यहं
व्रजेयमद्य प्लवगेश्वरालयम् ।
परात्मसम्मर्दविशेषतत्त्ववित्
ततः कृतं स्यान्मम भर्तृशासनम् ॥ ७ ॥

'यदि इसी यात्रामें मैं इस बातको ठीक-ठीक समझ लूँ कि अपने और शत्रुपक्षमें युद्ध होनेपर कौन प्रबल होगा और कौन निर्बल, तत्पश्चात् भविष्यके कार्यका भी निश्चय करके आज सुग्रीवके पास चलूँ तो मेरे द्वारा स्वामीकी आज्ञाका पूर्णरूपसे पालन हुआ समझा जायगा ॥ ७ ॥

कथं नु खल्वद्य भवेत् सुखागतं
प्रसह्य युद्धं मम राक्षसैः सह ।
तथैव खल्वात्मबलं च सारवत्
स मानयेन्मां च रणे दशाननः ॥ ८ ॥

'परंतु आज मेरा यहाँतक आना सुखद अथवा शुभ परिणामका जनक कैसे होगा ? राक्षसोंके साथ हठात्

युद्ध करनेका अवसर मुझे कैसे प्राप्त होगा ? तथा दशमुख रावण समरमें अपनी सेनाको और मुझे भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखकर कैसे यह समझ सकेगा कि कौन सबल है ? ॥

ततः समासाद्य रणे दशाननं
समन्त्रिवर्गं सबलं सयायिनम् ।
हृदि स्थितं तस्य मतं बलं च
सुखेन मत्वाहमितः पुनर्व्रजे ॥ ९ ॥

'उस युद्धमें मन्त्री, सेना और सहायकोंसहित रावणका सामना करके मैं उसके हार्दिक अभिप्राय तथा सैनिक-शक्तिका अनायास ही पता लगा लूँगा । उसके बाद यहाँसे जाऊँगा ॥ ९ ॥

इदमस्य नृशंसस्य नन्दनोपममुत्तमम् ।
वनं नेत्रमनःकान्तं नानाद्रुमलतायुतम् ॥ १० ॥

'इस निर्दयी रावणका यह सुन्दर उपवन नेत्रोंको आनन्द देनेवाला और मनोरम है । नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त होनेके कारण यह नन्दनवनके समान उत्तम प्रतीत होता है ॥ १० ॥

इदं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः ।
अस्मिन् भग्ने ततः कोपं करिष्यति स रावणः ॥ ११ ॥

'जैसे आग सूखे वनको जला डालती है, उसी प्रकार मैं भी आज इस उपवनका विध्वंस कर डालूँगा । इसके भग्न हो जानेपर रावण अवश्य मुझपर क्रोध करेगा ॥ ११ ॥

ततो महत्साश्वमहारथद्विपं
बलं समानेष्यति राक्षसाधिपः ।
त्रिशूलकालायसपट्टिशायुधं
ततो महद्युद्धमिदं भविष्यति ॥ १२ ॥

'तत्पश्चात् वह राक्षसराज हाथी, घोड़े तथा विशाल रथोंसे युक्त और त्रिशूल, कालायस एवं पट्टिश आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित बहुत बड़ी सेना लेकर आयेगा । फिर तो यहाँ महान् संग्राम छिड़ जायगा ॥ १२ ॥

अहं च तैः संयति चण्डविक्रमैः
समेत्य रक्षोभिरभङ्गविक्रमः ।
निहत्य तद् रावणचोदितं बलं
सुखं गमिष्यामि हरीश्वरालयम् ॥ १३ ॥

'उस युद्धमें मेरी गति रुक नहीं सकती । मेरा पराक्रम कुण्ठित नहीं हो सकता । मैं प्रचण्ड पराक्रम दिखानेवाले उन राक्षसोंसे भिड़ जाऊँगा और रावणकी भेजी हुई उस सारी सेनाको मौतके घाट उतारकर सुखपूर्वक सुग्रीवके निवासस्थान किष्किन्धापुरीको लौट जाऊँगा' ॥ १३ ॥

ततो मारुतवत् क्रुद्धो मारुतिर्भीमविक्रमः ।
ऊरुवेगेन महता द्रुमान् क्षेप्तुमथारभत् ॥ १४ ॥

ऐसा सोचकर भयानक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले पवनकुमार हनुमान्‌जी क्रोधसे भर गये और वायुके समान बड़े भारी वेगसे वृक्षोंको उखाड़-उखाड़कर फेंकने लगे ॥ १४ ॥

ततस्तद्धनुमान् वीरो बभञ्ज प्रमदावनम् ।
मत्तद्विजसमाघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वीर हनुमान्‌ने मतवाले पक्षियोंके कलरवसे मुखरित और नाना प्रकारके वृक्षों एवं लताओंसे भरे-पूरे उस प्रमदावन (अन्तःपुरके उपवन)को उजाड़ डाला ॥ १५ ॥

तद्वनं मथितैर्वृक्षैर्भिन्नैश्च सलिलाशयैः ।
चूर्णितैः पर्वताग्रैश्च बभूवाप्रियदर्शनम् ॥ १६ ॥

वहाँके वृक्षोंको खण्ड-खण्ड कर दिया । जलाशयोंको मथ डाला और पर्वत-शिखरोंको चूर-चूर कर डाला । इससे वह सुन्दर वन कुछ ही क्षणोंमें अभव्य दिखायी देने लगा ॥ १६ ॥

नानाशकुन्तविरुतैः प्रभिन्नसलिलाशयैः ।
ताम्रैः किसलयैः क्लान्तैः क्लान्तद्रुमलतायुतैः ॥ १७ ॥
न बभौ तद् वनं तत्र दावानलहतं यथा ।
व्याकुलावरणा रेजुर्विह्वला इव ता लताः ॥ १८ ॥

नाना प्रकारके पक्षी वहाँ भयके मारे चें-चें करने लगे, जलाशयोंके घाट टूट-फूट गये, तामेके समान वृक्षोंके लाल-लाल पल्लव मुरझा गयें तथा वहाँके वृक्ष और लताएँ भी रौंद डाली गयीं । इन सब कारणोंसे वह प्रमदावन वहाँ ऐसा जान पड़ता था, मानो दावानलसे झुलस गया हो । वहाँकी लताएँ अपने आवरणोंके नष्ट-भ्रष्ट हो जानेसे घबरायी हुई स्त्रियोंके समान प्रतीत होती थीं ॥ १७-१८ ॥

लतागृहैश्चित्रगृहैश्च सादितै-
र्व्यालैर्मृगैरार्तरवैश्च पक्षिभिः ।
शिलागृहैरुन्मथितैस्तथा गृहैः
प्रणष्टरूपं तदभून्महद् वनम् ॥ १९ ॥

लतामण्डप और चित्रशालाएँ उजाड़ हो गयीं । पाले हुए हिंसक जन्तु, मृग तथा तरह-तरहके पक्षी आर्तनाद करने लगे । प्रस्तरनिर्मित प्रासाद तथा अन्य साधारण गृह भी तहस-नहस हो गये । इससे उस महान् प्रमदावनका सारा रूप-सौन्दर्य नष्ट हो गया ॥ १९ ॥

सा विह्वलाशोकलताप्रताना
वनस्थली शोकलताप्रताना ।
जाता दशास्यप्रमदावनस्य
कपेर्बलाद्धि प्रमदावनस्य ॥ २० ॥

दशमुख रावणकी स्त्रियोंकी रक्षा करनेवाले तथा अन्तः-पुरके क्रीडाविहारके लिये उपयोगी उस विशाल काननकी भूमि, जहाँ चञ्चल अशोक-लताओंके समूह शोभा पाते थे, कपिवर हनुमान्‌जीके बलप्रयोगसे श्रीहीन होकर शोचनीय लताओंके विस्तारसे युक्त हो गयी (उसकी दुरवस्था देख-

कर दर्शकके मनमें दुःख होता था) ॥ २० ॥

ततः स कृत्वा जगतीपतेर्महान्
महद् व्यलीकं मनसो महात्मनः ।
युयुत्सुरेको बहुभिर्महाबलैः
श्रिया ज्वलंस्तोरणमाश्रितः कपिः ॥ २१ ॥

इस प्रकार महामना राजा रावणके मनको विशेष कष्ट पहुँचानेवाला कार्य करके अनेक महाबलियोंके साथ अकेले ही युद्ध करनेका हौसला लेकर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी प्रमदावन-के फाटकपर आ गये । उस समय वे अपने अद्भुत तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

राक्षसियोंके मुखसे एक वानरके द्वारा प्रमदावनके विध्वंसका समाचार सुनकर रावणका किंकर नामक राक्षसोंको भेजना और हनुमान्‌जीके द्वारा उन सबका संहार

ततः पक्षिनिनादेन वृक्षभङ्गस्वनेन च ।
बभूवुस्त्राससम्भ्रान्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥ १ ॥

उधर पक्षियोंके कोलाहल और वृक्षोंके टूटनेकी आवाज सुनकर समस्त लङ्कानिवासी भयसे घबरा उठे ॥ १ ॥

विद्रुताश्च भयत्रस्ता विनेदुर्मृगपक्षिणः ।
रक्षसां च निमित्तानि क्रूराणि प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥

पशु और पक्षी भयभीत होकर भागने तथा आर्तनाद करने लगे । राक्षसोंके सामने भयंकर अपशकुन प्रकट होने लगे ॥ २ ॥

ततो गतायां निद्रायां राक्षस्यो विकृताननाः ।
तद् वनं ददृशुर्भग्नं तं च वीरं महाकपिम् ॥ ३ ॥

प्रमदावनमें सोयी हुई विकराल मुखवाली राक्षसियोंकी निद्रा टूट गयी । उन्होंने उठनेपर उस वनको उजड़ा हुआ देखा । साथ ही उनकी दृष्टि उन वीर महाकपि हनुमान्‌जीपर भी पड़ी ॥ ३ ॥

स ता दृष्ट्वा महाबाहुर्महासत्त्वो महाबलः ।
चकार सुमहद्रूपं राक्षसीनां भयावहम् ॥ ४ ॥

महाबली, महान् साहसी एवं महाबाहु हनुमान्‌जीने जब उन राक्षसियोंको देखा, तब उन्हें डरानेवाला विशाल रूप धारण कर लिया ॥ ४ ॥

ततस्तु गिरिसंकाशमतिकायं महाबलम् ।
राक्षस्यो वानरं दृष्ट्वा पप्रच्छुर्जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

पर्वतके समान बड़े शरीरवाले महाबली वानरको देखकर वे राक्षसियाँ जनकनन्दिनी सीतासे पूछने लगीं—॥ ५ ॥

कोऽयं कस्य कुतो वायं किंनिमित्तमिहागतः ।
कथं त्वया सहानेन संवादः कृत इत्युत ॥ ६ ॥
आचक्ष्व नो विशालाक्षि मा भूत्ते सुभगे भयम् ।
संवादमसितापाङ्गि त्वया किं कृतवानयम् ॥ ७ ॥

'विशाललोचने ! यह कौन है ? किसका है ? और कहाँसे किसलिये यहाँ आया है ? इसने तुम्हारे साथ क्यों बातचीत की है ? कजरारे नेत्रप्रान्तवाली सुन्दरि ! ये सब बातें हमें बताओ । तुम्हें डरना नहीं चाहिये । इसने तुम्हारे साथ क्या बातें की थीं ?' ॥ ६-७ ॥

अथाब्रवीत् तदा साध्वी सीता सर्वाङ्गशोभना ।
रक्षसां कामरूपाणां विज्ञाने का गतिर्मम ॥ ८ ॥

तब सर्वाङ्गसुन्दरी साध्वी सीताने कहा—'इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंको समझने या पहचाननेका मेरे पास क्या उपाय है ? ॥ ८ ॥

यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद् वा करिष्यति ।
अहिरेव ह्यहेः पादान् विजानाति न संशयः ॥ ९ ॥

'तुम्हीं जानो यह कौन है और क्या करेगा ? साँपके पैरें-को साँप ही पहचानता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

अहमप्यतिभीतास्मि नैव जानामि को ह्ययम् ।
वेद्मि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम् ॥ १० ॥

'मैं भी इसे देखकर बहुत डरी हुई हूँ । मुझे नहीं मालूम कि यह कौन है ? मैं तो इसे इच्छानुसार रूप धारण करके आया हुआ कोई राक्षस ही समझती हूँ' ॥ १० ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा राक्षस्यो विद्रुता द्रुतम् ।
स्थिताः काश्चिद्गताः काश्चिद् रावणाय निवेदितुम् ॥ ११ ॥

विदेहनन्दिनी सीताकी यह बात सुनकर राक्षसियाँ बड़े वेगसे भागीं । उनमेंसे कुछ तो वहीं खड़ी हो गयीं और कुछ रावणको सूचना देनेके लिये चली गयीं ॥ ११ ॥

रावणस्य समीपे तु राक्षस्यो विकृताननाः ।
विरूपं वानरं भीमं रावणाय न्यवेदिषुः ॥ १२ ॥

रावणके समीप जाकर उन विकराल मुखवाली राक्षसियों-ने रावणको यह सूचना दी कि कोई विकटरूपधारी भयंकर वानर प्रमदावनमें आ पहुँचा है ॥ १२ ॥

अशोकवनिकामध्ये राजन् भीमवपुः कपिः ।
सीतया कृतसंवादस्तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥ १३ ॥

वे बोलीं—'राजन् ! अशोकवाटिकामें एक वानर आया है, जिसका शरीर बड़ा भयंकर है । उसने सीतासे बात-चीत की है । वह महापराक्रमी वानर अभी वहीं मौजूद है ॥

न च तं जानकी सीता हरिं हरिणलोचना।
अस्माभिर्बहुधा पृष्टा निवेदयितुमिच्छति ॥ १४ ॥

'हमने बहुत पूछा तो भी जनककिशोरी मृगनयनी सीता उस वानरके विषयमें हमें कुछ बताना नहीं चाहती हैं ॥ १४ ॥

वासवस्य भवेद् दूतो दूतो वैश्रवणस्य वा।
प्रेषितो वापि रामेण सीतान्वेषणकाङ्क्षया ॥ १५ ॥

'सम्भव है वह इन्द्र या कुबेरका दूत हो अथवा श्रीरामने ही उसे सीताकी खोजके लिये भेजा हो ॥ १५ ॥

तेनैवाद्भुतरूपेण यत्तत्तव मनोहरम्।
नानामृगगणाकीर्णं प्रमृष्टं प्रमदावनम् ॥ १६ ॥

'अद्भुत रूप धारण करनेवाले उस वानरने आपके मनोहर प्रमदावनको, जिसमें नाना प्रकारके पशु-पक्षी रहा करते थे, उजाड़ दिया ॥ १६ ॥

न तत्र कश्चिदुद्देशो यस्तेन न विनाशितः।
यत्र सा जानकी देवी स तेन न विनाशितः ॥ १७ ॥

'प्रमदावनका कोई भी ऐसा भाग नहीं है, जिसको उसने नष्ट न कर डाला हो। केवल वह स्थान, जहाँ जानकी देवी रहती हैं, उसने नष्ट नहीं किया है ॥ १७ ॥

जानकीरक्षणार्थं वा श्रमाद् वा नोपलक्ष्यते।
अथवा कः श्रमस्तस्य सैव तेनाभिरक्षिता ॥ १८ ॥

'जानकीजीकी रक्षाके लिये उसने उस स्थानको बचा दिया है या परिश्रमसे थककर—यह निश्चित रूपसे नहीं जान पड़ता है। अथवा उसे परिश्रम तो क्या हुआ होगा? उसने उस स्थानको बचाकर सीताकी ही रक्षा की है ॥ १८ ॥

चारुपल्लवपत्राढ्यं यं सीता स्वयमास्थिता।
प्रवृद्धः शिंशपावृक्षः स च तेनाभिरक्षितः ॥ १९ ॥

'मनोहर पल्लवों और पत्तोंसे भरा हुआ वह विशाल अशोक वृक्ष, जिसके नीचे सीताका निवास है उसने सुरक्षित रख छोड़ा है ॥ १९ ॥

तस्योग्ररूपस्योग्रं त्वं दण्डमाज्ञातुमर्हसि।
सीता सम्भाषिता येन वनं तेन विनाशितम् ॥ २० ॥

'जिसने सीतासे वार्तालाप किया और उस वनको उजाड़ डाला, उस उग्र रूपधारी वानरको आप कोई कठोर दण्ड देनेकी आज्ञा प्रदान करें ॥ २० ॥

मनःपरिगृहीतां तां तव रक्षोगणेश्वर।
कः सीतामभिभाषेत यो न स्यात् त्यक्तजीवितः ॥ २१ ॥

'राक्षसराज! जिन्हें आपने अपने हृदयमें स्थान दिया है, उन सीता देवीसे कौन बातें कर सकता है? जिसने अपने प्राणोंका मोह नहीं छोड़ा है, वह उनसे वार्तालाप कैसे कर सकता है ॥ २१ ॥

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
चिताग्निरिव जज्वाल कोपसंवर्तितेक्षणः ॥ २२ ॥

राक्षसियोंकी यह बात सुनकर राक्षसोंका राजा रावण प्रज्वलित चिताकी भाँति क्रोधसे जल उठा। उसके नेत्र रोषसे घूमने लगे ॥ २२ ॥

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ॥ २३ ॥

क्रोधमें भरे हुए रावणकी आँखोंसे आँसूकी बूँदें टपकने लगीं, मानो जलते हुए दो दीपकोंसे आगकी लपटोंके साथ तेलकी बूँदें झर रही हों ॥ २३ ॥

आत्मनः सदृशान् वीरान् किंकरान्नाम राक्षसान्।
व्यादिदेश महातेजा निग्रहार्थं हनूमतः ॥ २४ ॥

उस महातेजस्वी निशाचरने हनुमान्‌जीको कैद करनेके लिये अपने ही समान वीर किंकर नामधारी राक्षसोंको जानेकी आज्ञा दी ॥ २४ ॥

तेषामशीतिसाहस्रं किंकराणां तरस्विनाम्।
निर्ययुर्भवनात् तस्मात् कूटमुद्गरपाणयः ॥ २५ ॥

राजाकी आज्ञा पाकर अस्सी हजार वेगवान् किंकर हाथोंमें कूट और मुद्गर लिये उस महलसे बाहर निकले ॥ २५ ॥

महोदरा महादंष्ट्रा घोररूपा महाबलाः।
युद्धाभिमनसः सर्वे हनूमद्ग्रहणोन्मुखाः ॥ २६ ॥

उनकी दाढ़ें विशाल, पेट बड़ा और रूप भयानक था। वे सब-के-सब महान् बली, युद्धके अभिलाषी और हनुमान्‌जीको पकड़नेके लिये उत्सुक थे ॥ २६ ॥

ते कपिं तं समासाद्य तोरणस्थमवस्थितम्।
अभिपेतुर्महावेगाः पतङ्गा इव पावकम् ॥ २७ ॥

प्रमदावनके फाटकपर खड़े हुए उन वानरवीरके पास पहुँचकर वे महान् वेगशाली निशाचर उनपर चारों ओरसे इस प्रकार झपटे, जैसे फतिंगे आगपर टूट पड़े हों ॥ २७ ॥

ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः।
आजघ्नुर्वानरश्रेष्ठं शरैश्चादित्यसंनिभैः ॥ २८ ॥

वे विचित्र गदाओं, सोनेसे मढ़े हुए परिघों और सूर्यके समान प्रज्वलित बाणोंके साथ वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌पर चढ़ आये ॥ २८ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासतोमरपाणयः।
परिवार्य हनूमन्तं सहसा तस्थुरग्रतः ॥ २९ ॥

हाथमें प्रास और तोमर लिये मुद्गर, पट्टिश और शूलोंसे सुसज्जित हो वे सहसा हनुमान्‌को चारों ओरसे घेरकर उनके सामने खड़े हो गये ॥ २९ ॥

हनूमानपि तेजस्वी श्रीमान् पर्वतसंनिभः।
क्षितावाविद्ध्य लाङ्गूलं ननाद च महाध्वनिम् ॥ ३० ॥

तब पर्वतके समान विशाल शरीरवाले तेजस्वी श्रीमान् हनुमान् भी अपनी पूँछको पृथ्वीपर पटककर बड़े जोरसे गर्जने लगे ॥ ३० ॥

स भूत्वा तु महाकायो हनूमान् मारुतात्मजः।
पुच्छमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन् ॥ ३१ ॥

पवनपुत्र हनुमान् अत्यन्त विशाल शरीर धारण करके अपनी पूँछ फटकारने और उसके शब्दसे लङ्काको प्रतिध्वनित करने लगे ॥ ३१ ॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता चानुनादिना।
पेतुर्विहङ्गा गगनादुच्चैश्चेदमघोषयत् ॥ ३२ ॥

उनकी पूँछ फटकारनेका गम्भीर घोष बहुत दूरतक गूँज उठता था। उससे भयभीत हो पक्षी आकाशसे गिर पड़ते थे। उस समय हनुमान्‌जीने उच्च स्वरसे इस प्रकार घोषणा की—॥ ३२ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ ३३ ॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥ ३४ ॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ॥ ३५ ॥
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ३६ ॥

'अत्यन्त बलवान् भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणकी जय हो। श्रीरघुनाथजीके द्वारा सुरक्षित राजा सुग्रीवकी भी जय हो। मैं अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं वायुका पुत्र तथा शत्रुसेनाका संहार करनेवाला हूँ। जब मैं हजारों वृक्ष और पत्थरोंसे प्रहार करने लगूँगा, उस समय सहस्रों रावण मिलकर भी युद्धमें मेरे बलकी समानता अथवा मेरा सामना नहीं कर सकते। मैं लङ्कापुरीको तहस-नहस कर डालूँगा और मिथिलेशकुमारी सीताको प्रणाम करनेके अनन्तर सब राक्षसोंके देखते-देखते अपना कार्य सिद्ध करके जाऊँगा' ॥ ३३—३६ ॥

तस्य संनादशब्देन तेऽभवन् भयशङ्किताः।
ददृशुश्च हनूमन्तं संध्यामेघमिवोन्नतम् ॥ ३७ ॥

हनुमान्‌जीकी इस गर्जनासे समस्त राक्षसोंपर भय एवं आतङ्क छा गया। उन सबने हनुमान्‌जीको देखा। वे संध्याकालके ऊँचे मेघके समान लाल एवं विशालकाय दिखायी देते थे ॥ ३७ ॥

स्वामिसंदेशनिःशङ्कास्ततस्ते राक्षसाः कपिम्।
चित्रैः प्रहरणैर्भीमैरभिपेतुस्ततस्ततः ॥ ३८ ॥

हनुमान्‌जीने अपने स्वामीका नाम लेकर स्वयं ही अपना परिचय दे दिया था, इसलिये राक्षसोंको उन्हें पहचाननेमें कोई संदेह नहीं रहा। वे नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए चारों ओरसे उनपर टूट पड़े ॥ ३८ ॥

स तैः परिवृतः शूरैः सर्वतः स महाबलः।
आससादायसं भीमं परिघं तोरणाश्रितम् ॥ ३९ ॥

उन शूरवीर राक्षसोंद्वारा सब ओरसे घिर जानेपर महाबली हनुमान्‌ने फाटकपर रक्खा हुआ एक भयंकर लोहेका परिघ उठा लिया ॥ ३९ ॥

स तं परिघमादाय जघान रजनीचरान्।
सपन्नगमिवादाय स्फुरन्तं विनतासुतः ॥ ४० ॥

जैसे विनतानन्दन गरुड़ने छटपटाते हुए सर्पको पंजोंमें दाब रक्खा हो, उसी प्रकार उस परिघको हाथमें लेकर हनुमान्‌जीने उन निशाचरोंका संहार आरम्भ किया ॥ ४० ॥

विचचाराम्बरे वीरः परिगृह्य च मारुतिः।
सूदयामास वज्रेण दैत्यानिव सहस्रदृक् ॥ ४१ ॥

वीर पवनकुमार उस परिघको लेकर आकाशमें विचरने लगे। जैसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्र अपने वज्रसे दैत्योंका वध करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने उस परिघसे सामने आये हुए समस्त राक्षसोंको मार डाला ॥ ४१ ॥

स हत्वा राक्षसान् वीरः किंकरान् मारुतात्मजः।
युद्धाकाङ्क्षी महावीरस्तोरणं समवस्थितः ॥ ४२ ॥

उन किंकर नामधारी राक्षसोंका वध करके महावीर पवनपुत्र हनुमान्‌जी युद्धकी इच्छासे पुनः उस फाटकपर खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

ततस्तस्माद् भयान्मुक्ताः कतिचित्तत्र राक्षसाः।
निहतान् किंकरान् सर्वान् रावणाय न्यवेदयन् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वहाँ उस भयसे मुक्त हुए कुछ राक्षसोंने जाकर रावणको यह समाचार निवेदन किया कि समस्त किंकर नामक राक्षस मार डाले गये ॥ ४३ ॥

स राक्षसानां निहतं महाबलं
निशम्य राजा परिवृत्तलोचनः।
समादिदेशाप्रतिमं पराक्रमे
प्रहस्तपुत्रं समरे सुदुर्जयम् ॥ ४४ ॥

राक्षसोंकी उस विशाल सेनाको मारी गयी सुनकर राक्षसराज रावणकी आँखें चढ़ गयीं और उसने प्रहस्तके पुत्रको, जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं थी तथा युद्धमें जिसे परास्त करना नितान्त कठिन था, हनुमान्‌जीका सामना करनेके लिये भेजा ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

हनुमान्‌जीके द्वारा चैत्यप्रासादका विध्वंस तथा उसके रक्षकोंका वध

ततः स किंकरान् हत्वा हनूमान् ध्यानमास्थितः।
वनं भग्नं मया चैत्यप्रासादो न विनाशितः॥ १॥

इधर किंकरोंका वध करके हनुमान्‌जी यह सोचने लगे कि 'मैंने वनको तो उजाड़ दिया, परंतु इस चैत्यप्रासाद[1]को नष्ट नहीं किया है॥ १॥

तस्मात् प्रासादमद्यैवमिमं विध्वंसयाम्यहम्।
इति संचिन्त्य हनुमान् मनसा दर्शयन् बलम्॥ २॥
चैत्यप्रासादमुत्प्लुत्य मेरुशृङ्गमिवोन्नतम्।
आरुरोह हरिश्रेष्ठो हनूमान् मारुतात्मजः॥ ३॥

'अतः आज इस चैत्यप्रासादका भी विध्वंस किये देता हूँ। मन-ही-मन ऐसा विचारकर पवनपुत्र वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी अपने बलका प्रदर्शन करते हुए मेरुपर्वतके शिखरकी भाँति ऊँचे उस चैत्यप्रासादपर उछलकर चढ़ गये॥ २-३॥

आरुह्य गिरिसंकाशं प्रासादं हरियूथपः।
बभौ स सुमहातेजाः प्रतिसूर्य इवोदितः॥ ४॥

उस पर्वताकार प्रासादपर चढ़कर महातेजस्वी वानर-यूथपति हनुमान् तुरंतके उगे हुए दूसरे सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे॥ ४॥

सम्प्रधृष्य तु दुर्धर्षश्चैत्यप्रासादमुन्नतम्।
हनूमान् प्रज्वलँल्लक्ष्म्या पारियात्रोपमोऽभवत्॥ ५॥

उस ऊँचे प्रासादपर आक्रमण करके दुर्धर्ष वीर हनुमान्‌जी अपनी सहज शोभासे उद्भासित होते हुए पारियात्र पर्वतके समान प्रतीत होने लगे॥ ५॥

स भूत्वा सुमहाकायः प्रभावान् मारुतात्मजः।
धृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन्॥ ६॥

वे तेजस्वी पवनकुमार विशाल शरीर धारण करके लङ्काको प्रतिध्वनित करते हुए धृष्टतापूर्वक उस प्रासादको तोड़ने-फोड़ने लगे॥ ६॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता श्रोत्रघातिना।
पेतुर्विहंगमास्तत्र चैत्यपालाश्च मोहिताः॥ ७॥

जोर-जोरसे होनेवाला वह तोड़-फोड़का शब्द कानोंसे टकराकर उन्हें बहरा किये देता था। इससे मूर्छित हो वहाँके पक्षी और प्रासादरक्षक भी पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ७॥

अस्त्रविज्जयतां रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ ८॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥ ९॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥ १०॥
धर्षयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥ ११॥

उस समय हनुमान्‌जीने पुनः यह घोषणा की—'अस्त्रवेत्ता भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणकी जय हो। श्रीरघुनाथजीके द्वारा सुरक्षित राजा सुग्रीवकी भी जय हो। मैं अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं वायुका पुत्र तथा शत्रुसेनाका संहार करनेवाला हूँ। जब मैं हजारों वृक्षों और पत्थरोंसे प्रहार करने लगूँगा, उस समय सहस्रों रावण मिलकर भी युद्धमें मेरे बलकी समानता अथवा मेरा सामना नहीं कर सकते। मैं लङ्कापुरीको तहस-नहस कर डालूँगा और मिथिलेशकुमारी सीताको प्रणाम करनेके अनन्तर सब राक्षसोंके देखते-देखते अपना कार्य सिद्ध करके जाऊँगा'॥ ८—११॥

एवमुक्त्वा महाकायश्चैत्यस्थो हरियूथपः।
ननाद भीमनिर्ह्रादो रक्षसां जनयन् भयम्॥ १२॥

ऐसा कहकर चैत्यप्रासादपर खड़े हुए विशालकाय वानरयूथपति हनुमान् राक्षसोंके मनमें भय उत्पन्न करते हुए भयानक आवाजमें गर्जना करने लगे॥ १२॥

तेन नादेन महता चैत्यपालाः शतं ययुः।
गृहीत्वा विविधानस्त्रान् प्रासान् खड्गान् परश्वधान्॥ १३॥

उस भीषण गर्जनासे प्रभावित हो सैकड़ों प्रासादरक्षक नाना प्रकारके प्रास, खड्ग और फरसे लिये वहाँ आये॥ १३॥

विसृजन्तो महाकाया मारुतिं पर्यवारयन्।
ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः॥ १४॥
आजग्मुर्वानरश्रेष्ठं बाणैश्चादित्यसंनिभैः।

उन विशालकाय राक्षसोंने उन सब शस्त्रोंका प्रहार करते हुए वहाँ पवनकुमार हनुमान्‌जीको घेर लिया। विचित्र गदाओं, सोनेके पत्र जड़े हुए परिघों और सूर्यतुल्य तेजस्वी बाणोंसे सुसज्जित हो वे सब-के-सब उन वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌पर चढ़ आये॥ १४½॥

आवर्त इव गङ्गायास्तोयस्य विपुलो महान्॥ १५॥
परिक्षिप्य हरिश्रेष्ठं स बभौ रक्षसां गणः।

वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को चारों ओरसे घेरकर खड़ा हुआ राक्षसोंका वह महान् समुदाय गङ्गाजीके जलमें उठी हुई बड़ी भारी भँवरके समान जान पड़ता था॥ १५½॥

ततो वातात्मजः क्रुद्धो भीमरूपं समास्थितः॥ १६॥
प्रासादस्य महांस्तस्य स्तम्भं हेमपरिष्कृतम्।
उत्पाटयित्वा वेगेन हनूमान् मारुतात्मजः॥ १७॥
ततस्तं भ्रामयामास शतधारं महाबलः।

---

१. लङ्कामें राक्षसोंके कुलदेवताका जो स्थान था, उसीका नाम चैत्यप्रासाद रक्खा गया था।

तत्र चाग्निः समभवत् प्रासादश्चाप्यदह्यत ॥ १८ ॥

तब राक्षसोंको इस प्रकार आक्रमण करते देख पवनकुमार हनुमान्‌ने कुपित हो बड़ा भयंकर रूप धारण किया। उन महावीरने उस प्रासादके एक सुवर्णभूषित खंभेको, जिसमें सौ धारें थीं, बड़े वेगसे उखाड़ लिया। उखाड़कर उन महाबली वीरने उसे घुमाना आरम्भ किया। घुमानेपर उससे आग प्रकट हो गयी, जिससे वह प्रासाद जलने लगा ।१६-१८।

दह्यमानं ततो दृष्ट्वा प्रासादं हरियूथपः।
स राक्षसशतं हत्वा वज्रेणेन्द्र इवासुरान् ॥ १९ ॥
अन्तरिक्षस्थितः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत्।

प्रासादको जलते देख वानरयूथपति हनुमान्‌ने वज्रसे असुरोंका संहार करनेवाले इन्द्रकी भाँति उन सैकड़ों राक्षसोंको उस खंभेसे ही मार डाला और आकाशमें खड़े होकर उन तेजस्वी वीरने इस प्रकार कहा—॥ १९½ ॥

मादृशानां सहस्राणि विसृष्टानि महात्मनाम् ॥ २० ॥
बलिनां वानरेन्द्राणां सुग्रीववशवर्तिनाम्।

'राक्षसो! सुग्रीवके वशमें रहनेवाले मेरे-जैसे सहस्रों विशालकाय बलवान् वानरश्रेष्ठ सब ओर भेजे गये हैं॥२०½॥

अटन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥ २१ ॥
दशनागबलाः केचित् केचिद् दशगुणोत्तराः।
केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ॥ २२ ॥

'हम तथा दूसरे सभी वानर समूची पृथ्वीपर घूम रहे हैं। किन्हींमें दस हाथियोंका बल है तो किन्हींमें सौ हाथियोंका। कितने ही वानर एक सहस्र हाथियोंके समान बल-विक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ २१-२२ ॥

सन्ति चौघबलाः केचित् सन्ति वायुबलोपमाः।
अप्रमेयबलाः केचित् तत्रासन् हरियूथपाः ॥ २३ ॥

'किन्हींका बल जलके महान् प्रवाहकी भाँति असह्य है। कितने ही वायुके समान बलवान् हैं और कितने ही वानरयूथपति अपने भीतर असीम बल धारण करते हैं ॥ २३ ॥

ईदृग्विधैस्तु हरिभिर्वृतो दन्तनखायुधैः।
शतैः शतसहस्रैश्च कोटिभिश्चायुतैरपि ॥ २४ ॥
आगमिष्यति सुग्रीवः सर्वेषां वो निषूदनः।

'दाँत और नख ही जिनके आयुध हैं ऐसे अनन्त बलशाली सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए वानरराज सुग्रीव यहाँ पधारेंगे, जो तुम सब निशाचरोंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २४½ ॥

नेयमस्ति पुरी लङ्का न यूयं न च रावणः।
यस्य त्विक्ष्वाकुवीरेण बद्धं वैरं महात्मना ॥ २५ ॥

'अब न तो यह लङ्कापुरी रहेगी, न तुमलोग रहोगे और न वह रावण ही रह सकेगा, जिसने इक्ष्वाकुवंशी वीर महात्मा श्रीरामके साथ वैर बाँध रक्खा है' ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

प्रहस्त-पुत्र जम्बुमालीका वध

संदिष्टो राक्षसेन्द्रेण प्रहस्तस्य सुतो बली।
जम्बुमाली महादंष्ट्रो निर्जगाम धनुर्धरः ॥ १ ॥

राक्षसराज रावणकी आज्ञा पाकर प्रहस्तका बलवान् पुत्र जम्बुमाली, जिसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं; हाथमें धनुष लिये राजमहलसे बाहर निकला ॥ १ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरः स्रग्वी रुचिरकुण्डलः।
महान् विवृत्तनयनश्चण्डः समरदुर्जयः ॥ २ ॥

वह लाल रंगके फूलोंकी माला और लाल रंगके ही वस्त्र पहने हुए था। उसके गलेमें हार और कानोंमें सुन्दर कुण्डल शोभा दे रहे थे। उसकी आँखें घूम रही थीं। वह विशालकाय, क्रोधी और संग्राममें दुर्जय था ॥ २ ॥

धनुः शक्रधनुःप्रख्यं महद् रुचिरसायकम्।
विस्फारयाणो वेगेन वज्राशनिसमस्वनम् ॥ ३ ॥

उसका धनुष इन्द्रधनुषके समान विशाल था। उसके द्वारा छोड़े जानेवाले बाण भी बड़े सुन्दर थे। जब वह वेगसे उस धनुषको खींचता, तब उससे वज्र और अशनिके समान गड़गड़ाहट पैदा होती थी ॥ ३ ॥

तस्य विस्फारघोषेण धनुषो महता दिशः।
प्रदिशश्च नभश्चैव सहसा समपूर्यत ॥ ४ ॥

उस धनुषकी महती टंकार-ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाएँ, विदिशाएँ और आकाश सभी सहसा गूँज उठे ॥ ४ ॥

रथेन खरयुक्तेन तमागतमुदीक्ष्य सः।
हनूमान् वेगसम्पन्नो जहर्ष च ननाद च ॥ ५ ॥

वह गधे जुते हुए रथपर बैठकर आया था। उसे देखकर वेगशाली हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न हुए और जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ ५ ॥

तं तोरणविटङ्कस्थं हनूमन्तं महाकपिम्।
जम्बुमाली महातेजा विव्याध निशितैः शरैः ॥ ६ ॥

महातेजस्वी जम्बुमालीने महाकपि हनुमान्‌जीको फाटकके छज्जेपर खड़ा देख उन्हें तीखे बाणोंसे बींधना आरम्भ कर दिया ॥ ६ ॥

अर्धचन्द्रेण वदने शिरस्येकेन कर्णिना।
बाह्वोर्विव्याध नाराचैर्दशभिस्तु कपीश्वरम् ॥ ७ ॥

उसने अर्द्धचन्द्रनामक बाणसे उनके मुखपर, कर्णीनामक

एक बाणसे मस्तकपर और दस नाराचोंसे उन कपीश्वरकी दोनों भुजाओंपर गहरी चोट की ॥ ७ ॥

तस्य तच्छुशुभे ताम्रं शरेणाभिहतं मुखम्।
शरदीवाम्बुजं फुल्लं विद्धं भास्कररश्मिना ॥ ८ ॥

उसके बाणसे घायल हुआ हनुमान्‌जीका लाल मुँह शरद्-ऋतुमें सूर्यकी किरणोंसे विद्ध हो खिले हुए लाल कमलके समान शोभा पा रहा था ॥ ८ ॥

तत्तस्य रक्तं रक्तेन रञ्जितं शुशुभे मुखम्।
यथाऽऽकाशे महापद्मं सिक्तं काञ्चनबिन्दुभिः ॥ ९ ॥

रक्तसे रञ्जित हुआ उनका वह रक्तवर्णका मुख ऐसी शोभा पा रहा था, मानो आकाशमें लाल रंगके विशाल कमलको सुवर्णमय जलकी बूँदोंसे सींच दिया गया हो—उसपर सोनेका पानी चढ़ा दिया गया हो ॥ ९ ॥

चुकोप बाणाभिहतो राक्षसस्य महाकपिः।
ततः पार्श्वेऽतिविपुलां ददर्श महतीं शिलाम् ॥ १० ॥
तरसा तां समुत्पाट्य चिक्षेप जववद् बली।

राक्षस जम्बुमालीके बाणोंकी चोट खाकर महाकपि हनुमान्‌जी कुपित हो उठे। उन्होंने अपने पास ही पत्थरकी एक बहुत बड़ी चट्टान पड़ी देखी और उसे वेगसे उठाकर उन बलवान् वीरने बड़े जोरसे उस राक्षसकी ओर फेंका ॥ १०½ ॥

तां शरैर्दशभिः क्रुद्धस्ताडयामास राक्षसः ॥ ११ ॥
विपन्नं कर्म तद् दृष्ट्वा हनूमांश्चण्डविक्रमः।
सालं विपुलमुत्पाट्य भ्रामयामास वीर्यवान् ॥ १२ ॥

किंतु क्रोधमें भरे उस राक्षसने दस बाण मारकर उस प्रस्तर-शिलाको तोड़-फोड़ डाला। अपने उस कर्मको व्यर्थ हुआ देख प्रचण्ड पराक्रमी और बलशाली हनुमान्‌ने एक विशाल सालका वृक्ष उखाड़कर उसे घुमाना आरम्भ किया ॥ ११-१२ ॥

भ्रामयन्तं कपिं दृष्ट्वा सालवृक्षं महाबलम्।
चिक्षेप सुबहून् बाणाञ्जम्बुमाली महाबलः ॥ १३ ॥

उन महान् बलशाली वानरवीरको सालका वृक्ष घुमाते देख महाबली जम्बुमालीने उनके ऊपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की ॥ १३ ॥

सालं चतुर्भिश्चिच्छेद वानरं पञ्चभिर्भुजे।
उरस्येकेन बाणेन दशभिस्तु स्तनान्तरे ॥ १४ ॥

उसने चार बाणोंसे सालवृक्षको काट गिराया, पाँचसे हनुमान्‌जीकी भुजाओंमें, एक बाणसे उनकी छातीमें और दस बाणोंसे उनके दोनों स्तनोंके मध्यभागमें चोट पहुँचायी ॥

स शरैः पूरिततनुः क्रोधेन महता वृतः।
तमेव परिघं गृह्य भ्रामयामास वेगितः ॥ १५ ॥

बाणोंसे हनुमान्‌जीका सारा शरीर भर गया। फिर तो उन्हें बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने उसी परिघको उठाकर उसे बड़े वेगसे घुमाना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

अतिवेगोऽतिवेगेन भ्रामयित्वा बलोत्कटः।
परिघं पातयामास जम्बुमालेर्महोरसि ॥ १६ ॥

अत्यन्त वेगवान् और उत्कट बलशाली हनुमान्‌ने बड़े वेगसे घुमाकर उस परिघको जम्बुमालीकी विशाल छातीपर दे मारा ॥ १६ ॥

तस्य चैव शिरो नास्ति न बाहू जानुनी न च।
न धनुर्न रथो नाश्वास्तत्रादृश्यन्त नेषवः ॥ १७ ॥

फिर तो न उसके मस्तकका पता लगा और न दोनों भुजाओं तथा घुटनोंका ही। न धनुष बचा न रथ, न वहाँ घोड़े दिखायी दिये और न बाण ही ॥ १७ ॥

स हतस्तरसा तेन जम्बुमाली महारथः।
पपात निहतो भूमौ चूर्णिताङ्ग इव द्रुमः ॥ १८ ॥

उस परिघसे वेगपूर्वक मारा गया महारथी जम्बुमाली चूर-चूर हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १८ ॥

जम्बुमालिं सुनिहतं किंकरांश्च महाबलान्।
चुक्रोध रावणः श्रुत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ १९ ॥

जम्बुमाली तथा महाबली किंकरोंके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बड़ा क्रोध हुआ। उसकी आँखें रोषसे रक्तवर्णकी हो गयीं ॥ १९ ॥

स रोषसंवर्तितताम्रलोचनः
प्रहस्तपुत्रे निहते महाबले।
अमात्यपुत्रानतिवीर्यविक्रमान्
समादिदेशाशु निशाचरेश्वरः ॥ २० ॥

महाबली प्रहस्तपुत्र जम्बुमालीके मारे जानेपर निशाचरराज रावणके नेत्र रोषसे लाल होकर घूमने लगे। उसने तुरंत ही अपने मन्त्रीके पुत्रोंको, जो बड़े बलवान् और पराक्रमी थे, युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

मन्त्रीके सात पुत्रोंका वध

ततस्ते राक्षसेन्द्रेण चोदिता मन्त्रिणः सुताः।
निर्ययुर्भवनात् तस्मात् सप्त सप्तार्चिवर्चसः ॥ १ ॥

राक्षसोंके राजा रावणकी आज्ञा पाकर मन्त्रीके सात बेटे, जो अग्निके समान तेजस्वी थे, उस राजमहलसे बाहर निकले ॥ १ ॥

महद्बलपरीवारा धनुष्मन्तो महाबलाः।

कृतास्त्रास्त्रविदां श्रेष्ठाः परस्परजयैषिणः ॥ २ ॥

उनके साथ बहुत बड़ी सेना थी। वे अत्यन्त बलवान्, धनुर्धर, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तथा परस्पर होड़ लगाकर शत्रुपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले थे ॥ २ ॥

हेमजालपरिक्षिप्तैर्ध्वजवद्भिः पताकिभिः।
तोयदस्वननिर्घोषैर्वाजियुक्तैर्महारथैः ॥ ३ ॥
तप्तकाञ्चनचित्राणि चापान्यमितविक्रमाः।
विस्फारयन्तः संहृष्टास्तडिद्वन्त इवाम्बुदाः ॥ ४ ॥

उनके घोड़े जुते हुए विशाल रथ सोनेकी जालीसे ढके हुए थे। उनपर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं और उनके पहियोंके चलनेसे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान ध्वनि होती थी। ऐसे रथोंपर सवार हो वे अमित पराक्रमी मन्त्रिकुमार तपाये हुए सोनेसे चित्रित अपने धनुषोंकी टङ्कार करते हुए बड़े हर्ष और उत्साहके साथ आगे बढ़े। उस समय वे सब-के-सब विद्युत्सहित मेघके समान शोभा पाते थे ॥ ३-४ ॥

जनन्यस्तास्ततस्तेषां विदित्वा किंकरान् हतान्।
बभूवुः शोकसम्भ्रान्ताः सबान्धवसुहृज्जनाः ॥ ५ ॥

तब, पहले जो किंकरनामक राक्षस मारे गये थे, उनकी मृत्युका समाचार पाकर इन सबकी माताएँ अमङ्गलकी आशङ्कासे भाई-बन्धु और सुहृदोंसहित शोकसे घबरा उठीं ॥ ५ ॥

ते परस्परसंघर्षात् तप्तकाञ्चनभूषणाः।
अभिपेतुर्हनूमन्तं तोरणस्थमवस्थितम् ॥ ६ ॥

तपाये हुए सोनेके आभूषणोंसे विभूषित वे सातों वीर परस्पर होड़-सी लगाकर फाटकपर खड़े हुए हनुमान्‌जी-पर टूट पड़े ॥ ६ ॥

सृजन्तो बाणवृष्टिं ते रथगर्जितनिःस्वनाः।
प्रावृट्काल इवाम्भोदा विचेरुर्नैर्ऋताम्बुदाः ॥ ७ ॥

जैसे वर्षाकालमें मेघ वर्षा करते हुए विचरते हैं, उसी प्रकार वे राक्षसरूपी बादल बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ विचरण करने लगे। रथोंकी घर्घराहट ही उनकी गर्जना थी ॥ ७ ॥

अवकीर्णस्ततस्ताभिर्हनूमाञ्शरवृष्टिभिः।
अभवत् संवृताकारः शैलराडिव वृष्टिभिः ॥ ८ ॥

तदनन्तर राक्षसोंद्वारा की गयी उस बाण-वर्षासे हनुमान्‌जी उसी तरह आच्छादित हो गये, जैसे कोई गिरिराज जलकी वर्षासे ढक गया हो ॥ ८ ॥

स शरान् वञ्चयामास तेषामाशुचरः कपिः।
रथवेगांश्च वीराणां विचरन् विमलेऽम्बरे ॥ ९ ॥

उस समय निर्मल आकाशमें शीघ्रतापूर्वक विचरते हुए कपिवर हनुमान् उन राक्षसवीरोंके बाणों तथा रथके वेगोंको व्यर्थ करते हुए अपने-आपको बचाने लगे ॥ ९ ॥

स तैः क्रीडन् धनुष्मद्भिर्व्योम्नि वीरः प्रकाशते।
धनुष्मद्भिर्यथा मेघैर्मारुतः प्रभुरम्बरे ॥ १० ॥

जैसे व्योममण्डलमें शक्तिशाली वायुदेव इन्द्रधनुष-युक्त मेघोंके साथ क्रीडा करते हैं, उसी प्रकार वीर पवन-कुमार उन धनुर्धर वीरोंके साथ खेल-सा करते हुए आकाशमें अद्भुत शोभा पा रहे थे ॥ १० ॥

स कृत्वा निनदं घोरं त्रासयंस्तां महाचमूम्।
चकार हनुमान् वेगं तेषु रक्षःसु वीर्यवान् ॥ ११ ॥

पराक्रमी हनुमान्‌ने राक्षसोंकी उस विशाल वाहिनीको भयभीत करते हुए घोर गर्जना की और उन राक्षसोंपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ ११ ॥

तलेनाभिहनत् कांश्चित् पादैः कांश्चित् परंतपः।
मुष्टिभिश्चाहनत् कांश्चिन्नखैः कांश्चिद् व्यदारयत् ॥ १२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले उन वानरवीरने किन्हींको थप्पड़से ही मार गिराया, किन्हींको पैरोंसे कुचल डाला, किन्हींका घूँसोंसे काम तमाम किया और किन्हींको नखोंसे फाड़ डाला ॥ १२ ॥

प्रममाथोरसा कांश्चिदूरुभ्यामपरानपि।
केचित् तस्यैव नादेन तत्रैव पतिता भुवि ॥ १३ ॥

कुछ लोगोंको छातीसे दबाकर उनका कचूमर निकाल दिया और किन्हीं-किन्हींको दोनों जाँघोंसे दबोचकर मसल डाला। कितने ही निशाचर उनकी गर्जनासे ही प्राणहीन होकर वहीं पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १३ ॥

ततस्तेष्ववपन्नेषु भूमौ निपतितेषु च।
तत्सैन्यमगमत् सर्वं दिशो दश भयार्दितम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार जब मन्त्रीके सारे पुत्र मारे जाकर धराशायी हो गये, तब उनकी बची-खुची सारी सेना भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग गयी ॥ १४ ॥

विनेदुर्विस्वरं नागा निपेतुर्भुवि वाजिनः।
भग्ननीडध्वजच्छत्रैर्भूश्च कीर्णाभवद् रथैः ॥ १५ ॥

उस समय हाथी वेदनाके मारे बुरी तरहसे चिग्घाड़ रहे थे, घोड़े धरतीपर मरे पड़े थे तथा जिनके बैठक, ध्वज और छत्र आदि खण्डित हो गये थे, ऐसे टूटे हुए रथोंसे समूची रणभूमि पट गयी थी ॥ १५ ॥

स्रवता रुधिरेणाथ स्रवन्त्यो दर्शिताः पथि।
विविधैश्च स्वनैर्लङ्का ननाद विकृतं तदा ॥ १६ ॥

मार्गमें खूनकी नदियाँ बहती दिखायी दीं तथा लङ्कापुरी राक्षसोंके विविध शब्दोंके कारण मानो उस समय विकृत स्वरसे चीत्कार कर रही थी ॥ १६ ॥

स तान् प्रवृद्धान् विनिहत्य राक्षसान्
महाबलश्चण्डपराक्रमः कपिः।
युयुत्सुरन्यैः पुनरेव राक्षसै-
स्तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणम् ॥ १७ ॥

प्रचण्ड पराक्रमी और महाबली वानरवीर हनुमान्‌जी उन बड़े-चढ़े राक्षसोंको मौतके घाट उतारकर दूसरे राक्षसोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे फिर उसी फाटकपर जा पहुँचे ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

रावणके पाँच सेनापतियोंका वध

हतान् मन्त्रिसुतान् बुद्ध्वा वानरेण महात्मना ।
रावणः संवृताकारश्चकार मतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

महात्मा हनुमान्‌जीके द्वारा मन्त्रीके पुत्र भी मारे गये—यह जानकर रावणने भयभीत होनेपर भी अपने आकारको प्रयत्नपूर्वक छिपाया और उत्तम बुद्धिका आश्रय ले आगेके कर्तव्यका निश्चय किया ॥ १ ॥

स विरूपाक्षयूपाक्षौ दुर्धरं चैव राक्षसम् ।
प्रघसं भासकर्णं च पञ्च सेनाग्रनायकान् ॥ २ ॥
संदिदेश दशग्रीवो वीरान् नयविशारदान् ।
हनूमद्ग्रहणेऽव्यग्रान् वायुवेगसमान् युधि ॥ ३ ॥

दशग्रीवने विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण—इन पाँच सेनापतियोंको, जो बड़े वीर, नीति-निपुण, धैर्यवान् तथा युद्धमें वायुके समान वेगशाली थे, हनुमान्‌जीको पकड़नेके लिये आज्ञा दी ॥ २-३ ॥

यात सेनाग्रगाः सर्वे महाबलपरिग्रहाः ।
सवाजिरथमातङ्गाः स कपिः शास्यतामिति ॥ ४ ॥

उसने कहा—'सेनाके अग्रगामी वीरो ! तुमलोग घोड़े, रथ और हाथियोंसहित बड़ी भारी सेना साथ लेकर जाओ और उस वानरको बलपूर्वक पकड़कर उसे अच्छी तरह शिक्षा दो ॥ ४ ॥

यत्तैश्च खलु भाव्यं स्यात् तमासाद्य वनालयम् ।
कर्म चापि समाधेयं देशकालाविरोधितम् ॥ ५ ॥

'उस वनचारी वानरके पास पहुँचकर तुम सब लोगोंको सावधान और अत्यन्त प्रयत्नशील हो जाना चाहिये तथा काम वही करना चाहिये, जो देश और कालके अनुरूप हो ॥ ५ ॥

न ह्यहं तं कपिं मन्ये कर्मणा प्रति तर्कयन् ।
सर्वथा तन्महद् भूतं महाबलपरिग्रहम् ॥ ६ ॥

'जब मैं उसके अलौकिक कर्मको देखते हुए उसके स्वरूपपर विचार करता हूँ, तब वह मुझे वानर नहीं जान पड़ता है । वह सर्वथा कोई महान् प्राणी है, जो महान् बलसे सम्पन्न है ॥ ६ ॥

वानरोऽयमिति ज्ञात्वा नहि शुद्ध्यति मे मनः ।
नैवाहं तं कपिं मन्ये यथेयं प्रस्तुता कथा ॥ ७ ॥

''यह वानर है' ऐसा समझकर मेरा मन उसकी ओरसे शुद्ध (विश्वस्त) नहीं हो रहा है । यह जैसा प्रसङ्ग उपस्थित है, या जैसी बातें चल रही हैं, उन्हें देखते हुए मैं उसे वानर नहीं मानता हूँ ॥ ७ ॥

भवेदिन्द्रेण वा सृष्टमस्मदर्थं तपोबलात् ।
सनागयक्षगन्धर्वदेवासुरमहर्षयः ॥ ८ ॥
युष्माभिः प्रहितैः सर्वैर्मया सह विनिर्जिताः ।
तैरवश्यं विधातव्यं व्यलीकं किंचिदेव नः ॥ ९ ॥

'सम्भव है इन्द्रने हमलोगोंका विनाश करनेके लिये अपने तपोबलसे इसकी सृष्टि की हो । मेरी आज्ञासे तुम सब लोगोंने मेरे साथ रहकर नागोंसहित यक्षों, गन्धर्वों, देवताओं, असुरों और महर्षियोंको भी अनेक बार पराजित किया है; अतः वे अवश्य हमारा कुछ अनिष्ट करना चाहेंगे ॥

तदेव नात्र संदेहः प्रसह्य परिगृह्यताम् ।
यात सेनाग्रगाः सर्वे महाबलपरिग्रहाः ॥ १० ॥
सवाजिरथमातङ्गाः स कपिः शास्यतामिति ।

'अतः यह उन्हींका रचा हुआ प्राणी है, इसमें संदेह नहीं । तुमलोग उसे हठपूर्वक पकड़ ले आओ । मेरी सेनाके अग्रगामी वीरो ! तुम हाथी, घोड़े और रथोंसहित बड़ी भारी सेना साथ लेकर जाओ और उस वानरको अच्छी तरह शिक्षा दो ॥ १०½ ॥

नावमन्यो भवद्भिश्च कपिर्धीरपराक्रमः ॥ ११ ॥
दृष्टा हि हरयः पूर्वं मया विपुलविक्रमाः ।

'वानर समझकर तुम्हें उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह धीर और पराक्रमी है । मैंने पहले बड़े-बड़े पराक्रमी वानर और भालू देखे हैं ॥ ११½ ॥

वाली च सह सुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः ॥ १२ ॥
नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः ।

'जिनके नाम इस प्रकार हैं—वाली, सुग्रीव, महाबली जाम्बवान्, सेनापति नील तथा द्विविद आदि अन्य वानर ॥ १२½ ॥

नैव तेषां गतिर्भीमा न तेजो न पराक्रमः ॥ १३ ॥
न मतिर्न बलोत्साहो न रूपपरिकल्पनम् ।

'किंतु उनका वेग ऐसा भयंकर नहीं है और न उनमें ऐसा तेज, पराक्रम, बुद्धि, बल, उत्साह तथा रूप धारण करनेकी शक्ति ही है ॥ १३½ ॥

महत्सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम् ॥ १४ ॥
प्रयत्नं महदास्थाय क्रियतामस्य निग्रहः ।

'वानरके रूपमें यह कोई बड़ा शक्तिशाली जीव प्रकट हुआ है, ऐसा जानना चाहिये । अतः तुमलोग महान् प्रयत्न करके उसे कैद करो ॥ १४½ ॥

कामं लोकास्त्रयः सेन्द्राः ससुरासुरमानवाः ॥ १५ ॥
भवतामग्रतः स्थातुं न पर्याप्ता रणाजिरे ।

'भले ही इन्द्रसहित देवता, असुर, मनुष्य एवं तीनों लोक उतर आयें; वे रणभूमिमें तुम्हारे सामने ठहर नहीं सकते ॥ १५½ ॥

तथापि तु नयज्ञेन जयमाकाङ्क्षता रणे ॥ १६ ॥
आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन युद्धसिद्धिर्हि चञ्चला ।

'तथापि समराङ्गणमें विजयकी इच्छा रखनेवाले नीतिज्ञ पुरुषको यत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि युद्धमें सफलता अनिश्चित होती है' ॥ १६½ ॥

ते स्वामिवचनं सर्वे प्रतिगृह्य महौजसः ॥ १७ ॥
समुत्पेतुर्महावेगा हुताशसमतेजसः ।
रथैर्मत्तैश्च नागैश्च वाजिभिश्च महाजवैः ॥ १८ ॥
शस्त्रैश्च विविधैस्तीक्ष्णैः सर्वैश्चोपहिता बलैः ।

स्वामीकी आज्ञा स्वीकार करके वे सब-के-सब अग्निके समान तेजस्वी, महान् वेगशाली और अत्यन्त बलवान् राक्षस तेज चलनेवाले घोड़ों, मतवाले हाथियों तथा विशाल रथोंपर बैठकर युद्धके लिये चल दिये । वे सब प्रकारके तीखे शस्त्रों और सेनाओंसे सम्पन्न थे ॥ १७-१८½ ॥

ततस्तु ददृशुर्वीरा दीप्यमानं महाकपिम् ॥ १९ ॥
रश्मिमन्तमिवोद्यन्तं स्वतेजोरश्मिमालिनम् ।
तोरणस्थं महावेगं महासत्त्वं महाबलम् ॥ २० ॥
महामतिं महोत्साहं महाकायं महाभुजम् ।

आगे जानेपर उन वीरोंने देखा महाकपि हनुमान्‌जी फाटकपर खड़े हैं और अपनी तेजोमयी किरणोंसे मण्डित हो उदयकालके सूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रहे हैं । उनकी शक्ति, बल, वेग, बुद्धि, उत्साह, शरीर और भुजाएँ सभी महान् थीं ॥ १९-२०½ ॥

तं समीक्ष्यैव ते सर्वे दिक्षु सर्वास्ववस्थिताः ॥ २१ ॥
तैस्तैः प्रहरणैर्भीमैरभिपेतुस्ततस्ततः ।

उन्हें देखते ही वे सब राक्षस, जो सभी दिशाओंमें खड़े थे, भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए चारों ओरसे उनपर टूट पड़े ॥ २१½ ॥

तस्य पञ्चायसास्तीक्ष्णाः सिताः पीतमुखाः शराः ।
शिरस्युत्पलपत्राभा दुर्धरेण निपातिताः ॥ २२ ॥

निकट पहुँचनेपर पहले दुर्धरने हनुमान्‌जीके मस्तकपर लोहेके बने हुए पाँच बाण मारे । वे सभी बाण मर्मभेदी और पैनी धारवाले थे । उनके अग्रभागपर सोनेका पानी दिया गया था । जिससे वे पीतमुख दिखायी देते थे । वे पाँचों बाण उनके सिरपर प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पा रहे थे ॥ २२ ॥

स तैः पञ्चभिराविद्धः शरैः शिरसि वानरः ।
उत्पपात नदन् व्योम्नि दिशो दश विनादयन् ॥ २३ ॥

मस्तकमें उन पाँच बाणोंसे गहरी चोट खाकर वानर-वीर हनुमान्‌जी अपनी भीषण गर्जनासे दसों दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए आकाशमें ऊपरकी ओर उछल पड़े ॥

ततस्तु दुर्धरो वीरः सरथः सज्जकार्मुकः ।
किरञ्शरशतैर्नैकैरभिपेदे महाबलः ॥ २४ ॥

तब रथमें बैठे हुए महाबली वीर दुर्धरने धनुष चढ़ाये कई सौ बाणोंकी वर्षा करते हुए उनका पीछा किया ॥ २४ ॥

स कपिर्वारयामास तं व्योम्नि शरवर्षिणम् ।
वृष्टिमन्तं पयोदान्ते पयोदमिव मारुतः ॥ २५ ॥

आकाशमें खड़े हुए उन वानरवीरने बाणोंकी वर्षा करते हुए दुर्धरको अपने हुंकारमात्रसे उसी प्रकार रोक दिया, जैसे वर्षा-ऋतुके अन्तमें वृष्टि करनेवाले बादलको वायु रोक देती है ॥ २५ ॥

अर्द्यमानस्ततस्तेन दुर्धरेणानिलात्मजः ।
चकार निनदं भूयो व्यवर्धत च वीर्यवान् ॥ २६ ॥

जब दुर्धर अपने बाणोंसे अधिक पीड़ा देने लगा, तब वे परम पराक्रमी पवनकुमार पुनः विकट गर्जना करने और अपने शरीरको बढ़ाने लगे ॥ २६ ॥

स दूरं सहसोत्पत्य दुर्धरस्य रथे हरिः ।
निपपात महावेगो विद्युद्राशिर्गिराविव ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् वे महावेगशाली वानरवीर बहुत दूरतक ऊँचे उछलकर सहसा दुर्धरके रथपर कूद पड़े, मानो किसी पर्वतपर बिजलीका समूह गिर पड़ा हो ॥ २७ ॥

ततः स मथिताष्टाश्वं रथं भग्नाक्षकूबरम् ।
विहाय न्यपतद् भूमौ दुर्धरस्त्यक्तजीवितः ॥ २८ ॥

उनके भारसे रथके आठों घोड़ोंका कचूमर निकल गया, धुरी और कूबर टूट गये तथा दुर्धर प्राणहीन हो उस रथको छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २८ ॥

तं विरूपाक्षयूपाक्षौ दृष्ट्वा निपतितं भुवि ।
तौ जातरोषौ दुर्धर्षावुत्पेततुररिंदमौ ॥ २९ ॥

दुर्धरको धराशायी हुआ देख शत्रुओंका दमन करनेवाले दुर्धर्ष वीर विरूपाक्ष और यूपाक्षको बड़ा क्रोध हुआ । वे दोनों आकाशमें उछले ॥ २९ ॥

स ताभ्यां सहसोत्प्लुत्य विष्ठितो विमलेऽम्बरे ।
मुद्गराभ्यां महाबाहुर्वक्षस्यभिहतः कपिः ॥ ३० ॥

उन दोनोंने सहसा उछलकर निर्मल आकाशमें खड़े हुए महाबाहु कपिवर हनुमान्‌जीकी छातीमें मुद्गरोंसे प्रहार किया ॥ ३० ॥

तयोर्वेगवतोर्वेगं निहत्य स महाबलः।
निपपात पुनर्भूमौ सुपर्ण इव वेगितः॥ ३१॥

उन दोनों वेगवान् वीरोंके वेगको विफल करके महाबली हनुमान्‌जी वेगशाली गरुड़के समान पुनः पृथ्वीपर कूद पड़े॥ ३१॥

स सालवृक्षमासाद्य समुत्पाट्य च वानरः।
तावुभौ राक्षसौ वीरौ जघान पवनात्मजः॥ ३२॥

वहाँ वानरशिरोमणि पवनकुमारने एक साल-वृक्षके पास जाकर उसे उखाड़ लिया और उसीके द्वारा उन दोनों राक्षसवीरोंको मार डाला॥ ३२॥

ततस्तांस्त्रीन् हताञ्ज्ञात्वा वानरेण तरस्विना।
अभिपेदे महावेगः प्रहस्य प्रघसो बली॥ ३३॥
भासकर्णश्च संक्रुद्धः शूलमादाय वीर्यवान्।
एकतः कपिशार्दूलं यशस्विनमवस्थितौ॥ ३४॥

उन वेगशाली वानरवीरके द्वारा उन तीनों राक्षसोंको मारा गया देख महान् वेगसे युक्त बलवान् वीर प्रघस हँसता हुआ उनके पास आया। दूसरी ओरसे पराक्रमी वीर भासकर्ण भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर शूल हाथमें लिये वहाँ आ पहुँचा। वे दोनों यशस्वी कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीके निकट एक ही ओर खड़े हो गये॥ ३३-३४॥

पट्टिशेन शिताग्रेण प्रघसः प्रत्यपोथयत्।
भासकर्णश्च शूलेन राक्षसः कपिकुञ्जरम्॥ ३५॥

प्रघसने तेज धारवाले पट्टिशसे तथा राक्षस भासकर्णने शूलसे कपिकुञ्जर हनुमान्‌जीपर प्रहार किया॥ ३५॥

स ताभ्यां विक्षतैर्गात्रैरसृग्दिग्धतनूरुहः।
अभवद् वानरः क्रुद्धो बालसूर्यसमप्रभः॥ ३६॥

उन दोनोंके प्रहारोंसे हनुमान्‌जीके शरीरमें कई जगह घाव हो गये और उनके शरीरकी रोमावली रक्तसे रँग गयी। उस समय क्रोधमें भरे हुए वानरवीर हनुमान् प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे॥

समुत्पाट्य गिरेः शृङ्गं समृगव्यालपादपम्।
जघान हनुमान् वीरो राक्षसौ कपिकुञ्जरः।
गिरिशृङ्गसुनिष्पिष्टौ तिलशस्तौ बभूवतुः॥ ३७॥

तब मृग, सर्प और वृक्षोंसहित एक पर्वत-शिखरको उखाड़कर कपिश्रेष्ठ वीर हनुमान्‌ने उन दोनों राक्षसोंपर दे मारा। पर्वत-शिखरके आघातसे वे दोनों पिस गये और उनके शरीर तिलके समान खण्ड-खण्ड हो गये॥ ३७॥

ततस्तेष्ववसन्नेषु सेनापतिषु पञ्चसु।
बलं तदवशेषं तु नाशयामास वानरः॥ ३८॥

इस प्रकार उन पाँचों सेनापतियोंके नष्ट हो जानेपर हनुमान्‌जीने उनकी बची-खुची सेनाका भी संहार आरम्भ किया॥ ३८॥

अश्वैरश्वान् गजैर्नागान् योधैर्योधान् रथै रथान्।
स कपिर्नाशयामास सहस्राक्ष इवासुरान्॥ ३९॥

जैसे देवराज इन्द्र असुरोंका विनाश करते हैं, उसी प्रकार उन वानरवीरने घोड़ोंसे घोड़ोंका, हाथियोंसे हाथियोंका, योद्धाओंसे योद्धाओंका और रथोंसे रथोंका संहार कर डाला॥ ३९॥

हयैर्नागैस्तुरंगैश्च भग्नाक्षैश्च महारथैः।
हतैश्च राक्षसैर्भूमी रुद्धमार्गा समन्ततः॥ ४०॥

मरे हुए हाथियों और तीव्रगामी घोड़ोंसे, टूटी हुई धुरीवाले विशाल रथोंसे तथा मारे गये राक्षसोंकी लाशोंसे वहाँकी सारी भूमि चारों ओरसे इस तरह पट गयी थी कि आने-जानेका रास्ता बंद हो गया था॥ ४०॥

ततः कपिस्तान् ध्वजिनीपतीन् रणे
निहत्य वीरान् सबलान् सवाहनान्।
तथैव वीरः परिगृह्य तोरणं
कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये॥ ४१॥

इस प्रकार सेना और वाहनोंसहित उन पाँचों वीर सेनापतियोंको रणभूमिमें मौतके घाट उतारकर महावीर वानर हनुमान्‌जी पुनः युद्धके लिये अवसर पाकर पहलेकी ही भाँति फाटकपर जाकर खड़े हो गये। उस समय वे प्रजाका संहार करनेके लिये उद्यत हुए कालके समान जान पड़ते थे॥ ४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ४६॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

रावणपुत्र अक्षकुमारका पराक्रम और वध

सेनापतीन् पञ्च स तु प्रमापितान्
हनूमता सानुचरान् सवाहनान्।
निशम्य राजा समरोद्धतोन्मुखं
कुमारमक्षं प्रसमैक्षताक्षम्॥ १॥

हनुमान्‌जीके द्वारा अपने पाँच सेनापतियोंको सेवकों और वाहनोंसहित मारा गया सुनकर राजा रावणने अपने सामने बैठे हुए पुत्र अक्षकुमारकी ओर देखा, जो युद्धमें उद्धत और उसके लिये उत्कण्ठित रहनेवाला था॥ १॥

स तस्य दृष्ट्यर्पणसम्प्रचोदितः
प्रतापवान् काञ्चनचित्रकार्मुकः।
समुत्पपाताथ सदस्युदीरितो
द्विजातिमुख्यैर्हविषेव पावकः॥ २॥

पिताके दृष्टिपात मात्रसे प्रेरित हो वह प्रतापी वीर युद्धके लिये उत्साहपूर्वक उठा। उसका धनुष सुवर्णजटित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करता था। जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों-द्वारा यज्ञशालामें हविष्यकी आहुति देनेपर अग्निदेव प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार वह भी सभामें उठकर खड़ा हो गया ॥ २ ॥

ततो महान् बालदिवाकरप्रभं
प्रतप्तजाम्बूनदजालसंततम् ।
रथं समास्थाय ययौ स वीर्यवान्
महाहरिं तं प्रति नैर्ऋतर्षभः ॥ ३ ॥

वह महापराक्रमी राक्षसशिरोमणि अक्ष प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् तथा तपाये हुए सुवर्णके जालसे आच्छादित रथपर आरूढ़ हो उन महाकपि हनुमान्‌जीके पास चल दिया ॥ ३ ॥

ततस्तपःसंग्रहसंचयार्जितं
प्रतप्तजाम्बूनदजालचित्रितम् ।
पताकिनं रत्नविभूषितध्वजं
मनोजवाष्टाश्ववरैः सुयोजितम् ॥ ४ ॥
सुरासुराधृष्यमसङ्गचारिणं
तडित्प्रभं व्योमचरं समाहितम् ।
सतूणमष्टासिनिबद्धबन्धुरं
यथाक्रमावेशितशक्तितोमरम् ॥ ५ ॥
विराजमानं प्रतिपूर्णवस्तुना
सहेमदाम्ना शशिसूर्यवर्चसा ।
दिवाकराभं रथमास्थितस्ततः
स निर्जगामामरतुल्यविक्रमः ॥ ६ ॥

वह रथ उसे बड़ी भारी तपस्याओंके संग्रहसे प्राप्त हुआ था। उसमें तपे हुए जाम्बूनद (सुवर्ण) की जाली जड़ी हुई थी। पताका फहरा रही थी। उसका ध्वजदण्ड रत्नोंसे विभूषित था। उसमें मनके समान वेगवाले आठ घोड़े अच्छी तरह जुते हुए थे। देवता और असुर कोई भी उस रथको नष्ट नहीं कर सकते थे। उसकी गति कहीं रुकती नहीं थी। वह बिजलीके समान प्रकाशित होता और आकाशमें भी चलता था। उस रथको सब सामग्रियों-से सुसज्जित किया गया था। उसमें तरकस रक्खे गये थे। आठ तलवारोंके बँधे रहनेसे वह और भी सुन्दर दिखायी देता था। उसमें यथास्थान शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्र क्रमसे रक्खे गये थे। चन्द्रमा और सूर्यके समान दीप्तिमान् तथा सोनेकी रस्सीसे युक्त युद्धके समस्त उपकरणों-से सुशोभित उस सूर्यतुल्य तेजस्वी रथपर बैठकर देवताओंके तुल्य पराक्रमी अक्षकुमार राजमहलसे बाहर निकला ॥४–६॥

स पूरयन् खं च महीं च साचलां
तुरङ्गमातङ्गमहारथस्वनैः ।
बलैः समेतैः सहतोरणस्थितं
समर्थमासीनमुपागमत् कपिम् ॥ ७ ॥

घोड़े, हाथी और बड़े-बड़े रथोंकी भयंकर आवाजसे पर्वतोंसहित पृथ्वी तथा आकाशको गुँजाता हुआ वह बड़ी भारी सेना साथ लेकर वाटिकाके द्वारपर बैठे हुए शक्तिशाली वीर वानर हनुमान्‌जीके पास जा पहुँचा ॥ ७ ॥

स तं समासाद्य हरिं हरीक्षणो
युगान्तकालाग्निमिव प्रजाक्षये ।
अवस्थितं विस्मितजातसम्भ्रमं
समैक्षताक्षो बहुमानचक्षुषा ॥ ८ ॥

सिंहके समान भयंकर नेत्रवाले अक्षने वहाँ पहुँचकर लोकसंहारके समय प्रज्वलित हुई प्रलयाग्निके समान स्थित और विस्मय एवं सम्भ्रममें पड़े हुए हनुमान्‌जीको अत्यन्त गर्वभरी दृष्टिसे देखा ॥ ८ ॥

स तस्य वेगं च कपेर्महात्मनः
पराक्रमं चारिषु रावणात्मजः ।
विचारयन् स्वं च बलं महाबलो
युगक्षये सूर्य इवाभिवर्धत ॥ ९ ॥

उन महात्मा कपिश्रेष्ठके वेग तथा शत्रुओंके प्रति उनके पराक्रमका और अपने बलका भी विचार करके वह महाबली रावणकुमार प्रलयकालके सूर्यकी भाँति बढ़ने लगा ॥ ९ ॥

स जातमन्युः प्रसमीक्ष्य विक्रमं
स्थितः स्थिरः संयति दुर्निवारणम् ।
समाहितात्मा हनुमन्तमाहवे
प्रचोदयामास शितैः शरैस्त्रिभिः ॥ १० ॥

हनुमान्‌जीके पराक्रमपर दृष्टिपात करके उसे क्रोध आ गया। अतः स्थिरतापूर्वक स्थित हो उसने एकाग्रचित्तसे तीन तीखे बाणोंद्वारा रणदुर्जय हनुमान्‌जीको युद्धके लिये प्रेरित किया ॥ १० ॥

ततः कपिं तं प्रसमीक्ष्य गर्वितं
जितश्रमं शत्रुपराजयोचितम् ।
अवैक्षताक्षः समुदीर्णमानसं
सबाणपाणिः प्रगृहीतकार्मुकः ॥ ११ ॥

तदनन्तर हाथमें धनुष और बाण लिये अक्षने यह जानकर कि 'ये खेद या थकावटको जीत चुके हैं, शत्रुओंको पराजित करनेकी योग्यता रखते हैं और युद्धके लिये इनके मनका उत्साह बढ़ा हुआ है; इसीलिये ये गर्वीले दिखायी देते हैं' उनकी ओर दृष्टिपात किया ॥ ११ ॥

स हेमनिष्काङ्गदचारुकुण्डलः
समाससादाशुपराक्रमः कपिम् ।
तयोर्बभूवाप्रतिमः समागमः
सुरासुराणामपि सम्भ्रमप्रदः ॥ १२ ॥

गलेमें सुवर्णके निष्क (पदक), बाँहोंमें बाजूबंद और

कानोंमें मनोहर कुण्डल धारण किये वह शीघ्रपराक्रमी रावण-कुमार हनुमान्‌जीके पास आया। उस समय उन दोनों वीरोंमें जो टक्कर हुई, उसकी कहीं तुलना नहीं थी। उनका युद्ध देवताओं और असुरोंके मनमें भी घबराहट पैदा कर देनेवाला था॥ १२॥

ररास भूमिर्न ततापभानुमान्
ववौ न वायुः प्रचचाल चाचलः।
कपेः कुमारस्य च वीर्यसंयुगं
ननाद च द्यौरुदधिश्च चुक्षुभे॥ १३॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान् और अक्षकुमारका वह संग्राम देखकर भूतलके सारे प्राणी चीख उठे। सूर्यका ताप कम हो गया। वायुकी गति रुक गयी। पर्वत हिलने लगे। आकाशमें भयंकर शब्द होने लगा और समुद्रमें तूफान आ गया॥ १३॥

स तस्य वीरः सुमुखान् पतत्रिणः
सुवर्णपुङ्खान् सविषानिवोरगान्।
समाधिसंयोगविमोक्षतत्त्ववि-
च्छरानथ त्रीन् कपिमूर्ध्न्यताडयत्॥ १४॥

अक्षकुमार निशाना साधने, बाणको धनुषपर चढ़ाने और उसे लक्ष्यकी ओर छोड़नेमें बड़ा प्रवीण था। उस वीरने विषधर सर्पोंके समान भयंकर, सुवर्णमय पंखोंसे युक्त, सुन्दर अग्रभागवाले तथा पत्रयुक्त तीन बाण हनुमान्‌जीके मस्तकमें मारे॥ १४॥

स तैः शरैर्मूर्ध्नि समं निपातितैः
क्षरन्नसृग्दिग्धविवृत्तनेत्रः।
नवोदितादित्यनिभः शरांशुमान्
व्यराजतादित्य इवांशुमालिकः॥ १५॥

उन तीनोंकी चोट हनुमान्‌जीके माथेमें एक साथ ही लगी, इससे खूनकी धारा गिरने लगी। वे उस रक्तसे नहा उठे और उनकी आँखें घूमने लगीं। उस समय बाणरूपी किरणोंसे युक्त हो वे तुरंतके उगे हुए अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पाने लगे॥ १५॥

ततः प्लवङ्गाधिपमन्त्रिसत्तमः
समीक्ष्य तं राजवरात्मजं रणे।
उदग्रचित्रायुधचित्रकार्मुकं
जहर्ष चापूर्यत चाहवोन्मुखः॥ १६॥

तदनन्तर वानरराजके श्रेष्ठ मन्त्री हनुमान्‌जी राक्षसराज रावणके राजकुमार अक्षको अति उत्तम विचित्र आयुध एवं अद्भुत धनुष धारण किये देख हर्ष और उत्साहसे भर गये और युद्धके लिये उत्कण्ठित हो अपने शरीरको बढ़ाने लगे॥

स मन्दराग्रस्थ इवांशुमाली
विवृद्धकोपो बलवीर्यसंवृतः।
कुमारमक्षं सबलं सवाहनं
ददाह नेत्राग्निमरीचिभिस्तदा॥ १७॥

हनुमान्‌जीका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था। वे बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे, अतः मन्दराचलके शिखरपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान वे अपनी नेत्राग्निमयी किरणोंसे उस समय सेना और सवारियोंसहित राजकुमार अक्षको दग्ध-सा करने लगे॥ १७॥

ततः स बाणासनशक्रकार्मुकः
शरप्रवर्षो युधि राक्षसाम्बुदः।
शरान् मुमोचाशु हरीश्वराचले
बलाहको वृष्टिमिवाचलोत्तमे॥ १८॥

तब जैसे बादल श्रेष्ठ पर्वतपर जल बरसाता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें अपने शरासनरूपी इन्द्रधनुषसे युक्त वह राक्षसरूपी मेघ बाणवर्षी होकर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌रूपी पर्वतपर बड़े वेगसे बाणोंकी वृष्टि करने लगा॥ १८॥

कपिस्ततस्तं रणचण्डविक्रमं
प्रवृद्धतेजोबलवीर्यसायकम्।
कुमारमक्षं प्रसमीक्ष्य संयुगे
ननाद हर्षाद् घनतुल्यनिःस्वनः॥ १९॥

रणभूमिमें अक्षकुमारका पराक्रम बड़ा प्रचण्ड दिखायी देता था। उसके तेज, बल, पराक्रम और बाण सभी बढ़े-चढ़े थे। युद्धस्थलमें उसकी ओर दृष्टिपात करके हनुमान्‌जीने हर्ष और उत्साहमें भरकर मेघके समान भयानक गर्जना की॥ १९॥

स बालभावाद् युधि वीर्यदर्पितः
प्रवृद्धमन्युः क्षतजोपमेक्षणः।
समाससादाप्रतिमं रणे कपिं
गजो महाकूपमिवावृतं तृणैः॥ २०॥

समराङ्गणमें बलके घमंडमें भरे हुए अक्षकुमारको उनकी गर्जना सुनकर बड़ा क्रोध हुआ। उसकी आँखें रक्तके समान लाल हो गयीं। वह अपने बालोचित अज्ञानके कारण अनुपम पराक्रमी हनुमान्‌जीका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा। ठीक उसी तरह, जैसे कोई हाथी तिनकोंसे ढके हुए विशाल कूपकी ओर अग्रसर होता है॥ २०॥

स तेन बाणैः प्रसभं निपातितै-
श्चकार नादं घननादनिःस्वनः।
समुत्सहेनाशु नभः समारुजन्
भुजोरुविक्षेपणघोरदर्शनः॥ २१॥

उसके बलपूर्वक चलाये हुए बाणोंसे विद्ध होकर हनुमान्‌जीने तुरंत ही उत्साहपूर्वक आकाशको विदीर्ण करते हुए-से मेघके समान गम्भीर स्वरसे भीषण गर्जना की। उस समय दोनों भुजाओं और जाँघोंको चलानेके कारण वे बड़े भयंकर दिखायी देते थे॥ २१॥

तमुत्पतन्तं समभिद्रवद् बली
स राक्षसानां प्रवरः प्रतापवान्।

रथी रथश्रेष्ठतरः किरञ्छरैः
पयोधरः शैलमिवाश्मवृष्टिभिः ॥ २२ ॥

उन्हें आकाशमें उछलते देख रथियोंमें श्रेष्ठ और रथपर चढ़े हुए उस बलवान्, प्रतापी एवं राक्षसशिरोमणि वीरने बाणोंकी वर्षा करते हुए उनका पीछा किया। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो कोई मेघ किसी पर्वतपर ओले और पत्थरोंकी वर्षा कर रहा हो ॥ २२ ॥

स ताञ्छरांस्तस्य हरिर्विमोक्षयं-
श्चचार वीरः पथि वायुसेविते ।
शरान्तरे मारुतवद् विनिष्पतन्
मनोजवः संयति भीमविक्रमः ॥ २३ ॥

उस युद्धस्थलमें मनके समान वेगवाले वीर हनुमान्‌जी भयंकर पराक्रम प्रकट करने लगे। वे अक्षकुमारके उन बाणोंको व्यर्थ करते हुए वायुके पथपर विचरते और दो बाणोंके बीचसे हवाकी भाँति निकल जाते थे ॥ २३ ॥

तमात्तबाणासनमाहवोन्मुखं
खमास्तृणन्तं विविधैः शरोत्तमैः ।
अवैक्षताक्षं बहुमानचक्षुषा
जगाम चिन्तां स च मारुतात्मजः ॥ २४ ॥

अक्षकुमार हाथमें धनुष लिये युद्धके लिये उन्मुख हो नाना प्रकारके उत्तम बाणोंद्वारा आकाशको आच्छादित किये देता था। पवनकुमार हनुमान्‌ने उसे बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा और वे मन-ही-मन कुछ सोचने लगे ॥ २४ ॥

ततः शरैर्भिन्नभुजान्तरः कपिः
कुमारवर्येण महात्मना नदन् ।
महाभुजः कर्मविशेषतत्त्ववित्
विचिन्तयामास रणे पराक्रमम् ॥ २५ ॥

इतनेहीमें महामना वीर अक्षकुमारने अपने बाणोंद्वारा कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीकी दोनों भुजाओंके मध्यभाग—छातीमें गहरा आघात किया। वे महाबाहु वानरवीर समयोचित कर्तव्यविशेषको ठीक-ठीक जानते थे; अतः वे रणक्षेत्रमें उस चोटको सहकर सिंहनाद करते हुए उसके पराक्रमके विषयमें इस प्रकार विचार करने लगे—॥ २५ ॥

अबालवद् बालदिवाकरप्रभः
करोत्ययं कर्म महन्महाबलः ।
न चास्य सर्वाहवकर्मशालिनः
प्रमापणे मे मतिरत्र जायते ॥ २६ ॥

'यह महाबली अक्षकुमार बालसूर्यके समान तेजस्वी है और बालक होकर भी बड़ोंके समान महान् कर्म कर रहा है। युद्धसम्बन्धी समस्त कर्मोंमें कुशल होनेके कारण अद्भुत शोभा पानेवाले इस वीरको यहाँ मार डालनेकी मेरी इच्छा नहीं हो रही है ॥ २६ ॥

अयं महात्मा च महांश्च वीर्यतः
समाहितश्चातिसहश्च संयुगे ।
असंशयं कर्मगुणोदयादयं
सनागयक्षैर्मुनिभिश्च पूजितः ॥ २७ ॥

'यह महामनस्वी राक्षसकुमार बल-पराक्रमकी दृष्टिसे महान् है, युद्धमें सावधान एवं एकाग्रचित्त है तथा शत्रुके वेगको सहन करनेमें अत्यन्त समर्थ है। अपने कर्म और गुणोंकी उत्कृष्टताके कारण यह नागों, यक्षों और मुनियोंके द्वारा भी प्रशंसित हुआ होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २७ ॥

पराक्रमोत्साहविवृद्धमानसः
समीक्षते मां प्रमुखोऽग्रतः स्थितः ।
पराक्रमो ह्यस्य मनांसि कम्पयेत्
सुरासुराणामपि शीघ्रकारिणः ॥ २८ ॥

'पराक्रम और उत्साहसे इसका मन बढ़ा हुआ है। यह युद्धके मुहानेपर मेरे सामने खड़ा हो मुझे ही देख रहा है। शीघ्रतापूर्वक युद्ध करनेवाले इस वीरका पराक्रम देवताओं और असुरोंके हृदयको भी कम्पित कर सकता है ॥ २८ ॥

न खल्वयं नाभिभवेदुपेक्षितः
पराक्रमो ह्यस्य रणे विवर्धते ।
प्रमापणं ह्यस्य ममाद्य रोचते
न वर्धमानोऽग्निरुपेक्षितुं क्षमः ॥ २९ ॥

'किंतु यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह मुझे परास्त किये बिना नहीं रहेगा; क्योंकि संग्राममें इसका पराक्रम बढ़ता जा रहा है। अतः अब इसे मार डालना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। बढ़ती हुई आगकी उपेक्षा करना कदापि उचित नहीं है' ॥ २९ ॥

इति प्रवेगं तु परस्य तर्कयन्
स्वकर्मयोगं च विधाय वीर्यवान् ।
चकार वेगं तु महाबलस्तदा
मतिं च चक्रेऽस्य वधे तदानीम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार शत्रुके वेगका विचार कर उसके प्रतीकारके लिये अपने कर्तव्यका निश्चय करके महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हनुमान्‌जीने उस समय अपना वेग बढ़ाया और उस शत्रुको मार डालनेका विचार किया ॥ ३० ॥

स तस्य तानष्ट वरान् महाहयान्
समाहितान् भारसहान् विवर्तने ।
जघान वीरः पथि वायुसेविते
तलप्रहारैः पवनात्मजः कपिः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् आकाशमें विचरते हुए वीर वानर पवनकुमारने थप्पड़ोंकी मारसे अक्षकुमारके उन आठों उत्तम और विशाल घोड़ोंको, जो भार सहन करनेमें समर्थ और नाना प्रकारके पैंतरे बदलनेकी कलामें सुशिक्षित थे, यमलोक पहुँचा दिया ॥

ततस्तलेनाभिहतो महारथः
स तस्य पिङ्गाधिपमन्त्रिनिर्जितः।
स भग्ननीडः परिवृत्तकूबरः
पपात भूमौ हतवाजिरम्बरात् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर वानरराज सुग्रीवके मन्त्री हनुमान्‌जीने अक्षकुमारके उस विशाल रथको भी अभिभूत कर दिया, उन्होंने हाथसे ही पीटकर रथकी बैठक तोड़ डाली और उसके हरसेको उलट दिया। घोड़े तो पहले ही मर चुके थे, अतः वह महान् रथ आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३२ ॥

स तं परित्यज्य महारथो रथं
सकार्मुकः खड्गधरः खमुत्पतन्।
ततोऽभियोगादृषिरुग्रवीर्यवान्
विहाय देहं मरुतामिवालयम् ॥ ३३ ॥

उस समय महारथी अक्षकुमार धनुष और तलवार ले रथ छोड़कर अन्तरिक्षमें ही उड़ने लगा। ठीक वैसे ही, जैसे कोई उग्रशक्तिसे सम्पन्न महर्षि योगमार्गसे शरीर त्यागकर स्वर्गलोककी ओर चला जा रहा हो ॥ ३३ ॥

कपिस्ततस्तं विचरन्तमम्बरे
पतत्रिराजानिलसिद्धसेविते।
समेत्य तं मारुतवेगविक्रमः
क्रमेण जग्राह च पादयोर्दृढम् ॥ ३४ ॥

तब वायुके समान वेग और पराक्रमवाले कपिवर हनुमान्‌जीने पक्षिराज गरुड, वायु तथा सिद्धोंसे सेवित व्योममार्गमें विचरते हुए उस राक्षसके पास पहुँचकर क्रमशः उसके दोनों पैर दृढ़तापूर्वक पकड़ लिये ॥ ३४ ॥

स तं समाविध्य सहस्रशः कपि-
र्महोरगं गृह्य इवाण्डजेश्वरः।
मुमोच वेगात् पितृतुल्यविक्रमो
महीतले संयति वानरोत्तमः ॥ ३५ ॥

फिर तो अपने पिता वायु देवताके तुल्य पराक्रमी वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने जिस प्रकार गरुड़ बड़े-बड़े सर्पोंको घुमाते हैं, उसी तरह उसे हजारों बार घुमाकर बड़े वेगसे उस युद्धभूमिमें पटक दिया ॥ ३५ ॥

स भग्नबाहूरुकटीपयोधरः
क्षरन्नसृङ्निर्मथितास्थिलोचनः।
सम्भिन्नसंधिः प्रविकीर्णबन्धनो
हतः क्षितौ वायुसुतेन राक्षसः ॥ ३६ ॥

नीचे गिरते ही उसकी भुजा, जाँघ, कमर और छातीके टुकड़े-टुकड़े हो गये, खूनकी धारा बहने लगी, शरीरकी हड्डियाँ चूर-चूर हो गयीं, आँखें बाहर निकल आयीं, अस्थियोंके जोड़ टूट गये और नस-नाड़ियोंके बन्धन शिथिल हो गये। इस तरह वह राक्षस पवनकुमार हनुमान्‌जीके हाथसे मारा गया ॥ ३६ ॥

महाकपिर्भूमितले निपीड्य तं
चकार रक्षोऽधिपतेर्महद्भयम्।
महर्षिभिश्चक्रचरैः समागतैः
समेत्य भूतैश्च सयक्षपन्नगैः।
सुरैश्च सेन्द्रैर्भृशजातविस्मयै-
र्हते कुमारे स कपिर्निरीक्षितः ॥ ३७ ॥

अक्षकुमारको पृथ्वीपर पटककर महाकपि हनुमान्‌जीने राक्षसराज रावणके हृदयमें बहुत बड़ा भय उत्पन्न कर दिया। उसके मारे जानेपर नक्षत्र-मण्डलमें विचरनेवाले महर्षियों, यक्षों, नागों, भूतों तथा इन्द्रसहित देवताओंने वहाँ एकत्र होकर बड़े विस्मयके साथ हनुमान्‌जीका दर्शन किया ॥ ३७ ॥

निहत्य तं वज्रिसुतोपमं रणे
कुमारमक्षं क्षतजोपमेक्षणम्।
तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणं
कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये ॥ ३८ ॥

युद्धमें इन्द्रपुत्र जयन्तके समान पराक्रमी और लाल-लाल आँखोंवाले अक्षकुमारका काम तमाम करके वीरवर हनुमान्‌जी प्रजाके संहारके लिये उद्यत हुए कालकी भाँति पुनः युद्धकी प्रतीक्षा करते हुए वाटिकाके उसी द्वारपर जा पहुँचे ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

इन्द्रजित् और हनुमान्‌जीका युद्ध, उसके दिव्यास्त्रके बन्धनमें बँधकर हनुमान्‌जीका रावणके दरबारमें उपस्थित होना

ततस्तु रक्षोऽधिपतिर्महात्मा
हनूमताक्षे निहते कुमारे।
मनः समाधाय स देवकल्पं
समादिदेशेन्द्रजितं सरोषः ॥ १ ॥

तदनन्तर हनुमान्‌जीके द्वारा अक्षकुमारके मारे जानेपर राक्षसोंका स्वामी महाकाय रावण अपने मनको किसी तरह सुस्थिर करके रोषसे जल उठा और देवताओंके तुल्य पराक्रमी कुमार इन्द्रजित् (मेघनाद) को इस प्रकार आज्ञा दी— ॥

त्वमस्त्रविच्छस्त्रभृतां वरिष्ठः
सुरासुराणामपि शोकदाता।
सुरेषु सेन्द्रेषु च दृष्टकर्मा
पितामहाराधनसंचितास्त्रः ॥ २ ॥

'बेटा ! तुमने ब्रह्माजीकी आराधना करके अनेक प्रकारके अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया है। तुम अस्त्रवेत्ता, शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तथा देवताओं और असुरोंको भी शोक प्रदान करनेवाले हो। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके समुदायमें तुम्हारा पराक्रम देखा गया है ॥ २ ॥

त्वदस्त्रबलमासाद्य ससुराः समरुद्गणाः।
न शेकुः समरे स्थातुं सुरेश्वरसमाश्रिताः ॥ ३ ॥

'इन्द्रके आश्रयमें रहनेवाले देवता और मरुद्गण भी समरभूमिमें तुम्हारे अस्त्र-बलका सामना होनेपर टिक नहीं सके हैं ॥ ३ ॥

न कश्चित् त्रिषु लोकेषु संयुगेन गतश्रमः।
भुजवीर्याभिगुप्तश्च तपसा चाभिरक्षितः।
देशकालप्रधानश्च त्वमेव मतिसत्तमः ॥ ४ ॥

'तीनों लोकोंमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो युद्धसे थकता न हो। तुम अपने बाहुबलसे तो सुरक्षित हो ही, तपस्याके बलसे भी पूर्णतः निरापद् हो। देश-कालका ज्ञान रखनेवालोंमें प्रधान और बुद्धिकी दृष्टिसे भी सर्वश्रेष्ठ तुम्हीं हो ॥ ४ ॥

न तेऽस्त्यशक्यं समरेषु कर्मणां
न तेऽस्त्यकार्यं मतिपूर्वमन्त्रणे।
न सोऽस्ति कश्चित् त्रिषु संग्रहेषु
न वेद यस्तेऽस्त्रबलं बलं च ॥ ५ ॥

'युद्धमें तुम्हारे वीरोचित कर्मोंके द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं है। शास्त्रानुकूल बुद्धिपूर्वक राजकार्यका विचार करते समय तुम्हारे लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। तुम्हारा कोई भी विचार ऐसा नहीं होता, जो कार्यका साधक न हो। त्रिलोकीमें एक भी ऐसा वीर नहीं है, जो तुम्हारी शारीरिक शक्ति और अस्त्र-बलको न जानता हो ॥ ५ ॥

ममानुरूपं तपसो बलं च ते
पराक्रमश्चास्त्रबलं च संयुगे।
न त्वां समासाद्य रणावमर्दे
मनःश्रमं गच्छति निश्चितार्थम् ॥ ६ ॥

'तुम्हारा तपोबल, युद्धविषयक पराक्रम और अस्त्रबल मेरे ही समान है। युद्धस्थलमें तुमको पाकर मेरा मन कभी खेद या विषादको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि इसे यह निश्चित विश्वास रहता है कि विजय तुम्हारे पक्षमें होगी ॥ ६ ॥

निहताः किंकराः सर्वे जम्बुमाली च राक्षसः।
अमात्यपुत्रा वीराश्च पञ्च सेनाग्रगामिनः ॥ ७ ॥

'देखो, किंकर नामवाले समस्त राक्षस मार डाले गये। जम्बुमाली नामक राक्षस भी जीवित न रह सका, मन्त्रीके सातों वीर पुत्र तथा मेरे पाँच सेनापति भी कालके गालमें चले गये ॥ ७ ॥

बलानि सुसमृद्धानि साश्वनागरथानि च।
सहोदरस्ते दयितः कुमारोऽक्षश्च सूदितः।
न तु तेष्वेव मे सारो यस्त्वय्यरिनिषूदन ॥ ८ ॥

'उनके साथ ही हाथी, घोड़े और रथोंसहित मेरी बहुत-सी बल-वीर्यसे सम्पन्न सेनाएँ भी नष्ट हो गयीं और तुम्हारा प्रिय बन्धु कुमार अक्ष भी मार डाला गया। शत्रु-सूदन ! मुझमें जो तीनों लोकोंपर विजय पानेकी शक्ति है वह तुम्हींमें है। पहले जो लोग मारे गये हैं, उनमें वह शक्ति नहीं थी (इसलिये तुम्हारी विजय निश्चित है) ८ ॥

इदं च दृष्ट्वा निहतं महद् बलं
कपेः प्रभावं च पराक्रमं च।
त्वमात्मनश्चापि निरीक्ष्य सारं
कुरुष्व वेगं स्वबलानुरूपम् ॥ ९ ॥

'इस प्रकार अपनी विशाल सेनाका संहार और उस वानरका प्रभाव एवं पराक्रम देखकर तुम अपने बलका भी विचार कर लो; फिर अपनी शक्तिके अनुसार उद्योग करो ॥

बलावमर्दस्त्वयि संनिकृष्टे
यथा गते शाम्यति शान्तशत्रौ।
तथा समीक्ष्यात्मबलं परं च
समारभस्वास्त्रभृतां वरिष्ठ ॥ १० ॥

'शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर ! तुम्हारे सब शत्रु शान्त हो चुके हैं। तुम अपने और पराये बलका विचार करके ऐसा प्रयत्न करो, जिससे युद्धभूमिके निकट तुम्हारे पहुँचते ही मेरी सेनाका विनाश रुक जाय ॥ १० ॥

न वीर सेना गणशो च्यवन्ति
न वज्रमादाय विशालसारम्।
न मारुतस्यास्ति गतिप्रमाणं
न चाग्निकल्पः करणेन हन्तुम् ॥ ११ ॥

'वीरवर ! तुम्हें अपने साथ सेना नहीं ले जानी चाहिये; क्योंकि वे सेनाएँ समूह-की-समूह या तो भाग जाती हैं या मारी जाती हैं। इसी तरह अधिक तीक्ष्णता और कठोरतासे युक्त वज्र लेकर भी जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है (क्योंकि उसके ऊपर वह भी व्यर्थ सिद्ध हो चुका है)। उस वायुपुत्र हनुमान्‌की गति अथवा शक्तिका कोई माप-तोल या सीमा नहीं है। वह अग्नि-तुल्य तेजस्वी वानर किसी साधनविशेषसे नहीं मारा जा सकता है ॥ ११ ॥

तमेवमर्थं प्रसमीक्ष्य सम्यक्
स्वकर्मसाम्याद्धि समाहितात्मा।
स्मरंश्च दिव्यं धनुषोऽस्य वीर्यं
व्रजाक्षतं कर्म समारभस्व ॥ १२ ॥

'इन सब बातोंका अच्छी तरह विचार करके प्रतिपक्षीमें अपने समान ही पराक्रम समझकर तुम अपने चित्तको एकाग्र कर लो—सावधान हो जाओ। अपने इस धनुषके दिव्य प्रभावको याद रखते हुए आगे बढ़ो और ऐसा पराक्रम करके दिखाओ, जो खाली न जाय ॥ १२ ॥

न खल्वियं मतिश्रेष्ठ यत्त्वां सम्प्रेषयाम्यहम्।
इयं च राजधर्माणां क्षत्रस्य च मतिर्मता ॥ १३ ॥

'उत्तम बुद्धिवाले वीर! मैं तुम्हें जो ऐसे संकटमें भेज रहा हूँ, यह यद्यपि (स्नेहकी दृष्टिसे) उचित नहीं है, तथापि मेरा यह विचार राजनीति और क्षत्रिय-धर्मके अनुकूल है ॥ १३ ॥

नानाशास्त्रेषु संग्रामे वैशारद्यमरिंदम।
अवश्यमेव बोद्धव्यं काम्यश्च विजयो रणे ॥ १४ ॥

'शत्रुदमन! वीर पुरुषको संग्राममें नाना प्रकारके शास्त्रोंकी कुशलता अवश्य प्राप्त करनी चाहिये, साथ ही युद्धमें विजय पानेकी भी अभिलाषा रखनी चाहिये' ॥ १४ ॥

ततः पितुस्तद्वचनं निशम्य
प्रदक्षिणं दक्षसुतप्रभावः।
चकार भर्तारमतित्वरेण
रणाय वीरः प्रतिपन्नबुद्धिः ॥ १५ ॥

अपने पिता राक्षसराज रावणके इस वचनको सुनकर देवताओंके समान प्रभावशाली वीर मेघनादने युद्धके लिये निश्चित विचार करके जल्दीसे अपने स्वामी रावणकी परिक्रमा की ॥ १५ ॥

ततस्तैः स्वगणैरिष्टैरिन्द्रजित् प्रतिपूजितः।
युद्धोद्धतकृतोत्साहः संग्रामं सम्प्रपद्यत ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् सभामें बैठे हुए अपने दलके प्रिय राक्षसोंद्वारा भूरि-भूरि प्रशंसित हो इन्द्रजित् विकट युद्धके लिये मनमें उत्साह भरकर संग्रामभूमिकी ओर जानेको उद्यत हुआ ॥

श्रीमान् पद्मविशालाक्षो राक्षसाधिपतेः सुतः।
निर्जगाम महातेजाः समुद्र इव पर्वणि ॥ १७ ॥

उस समय प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाला राक्षसराज रावणका पुत्र महातेजस्वी श्रीमान् इन्द्रजित् पर्वके दिन उमड़े हुए समुद्रके समान विशेष हर्ष और उत्साहसे पूर्ण हो राजमहलसे बाहर निकला ॥ १७ ॥

स पक्षिराजोपमतुल्यवेगै-
र्व्याघ्रैश्चतुर्भिः स तु तीक्ष्णदंष्ट्रैः।
रथं समायुक्तमसह्यवेगः
समारुरोहेन्द्रजिदिन्द्रकल्पः ॥ १८ ॥

जिसका वेग शत्रुओंके लिये असह्य था, वह इन्द्रके समान पराक्रमी मेघनाद पक्षिराज गरुड़के समान तीव्र गति तथा तीखे दाढ़ोंवाले चार सिंहोंसे जुते हुए उत्तम रथपर आरूढ़ हुआ ॥ १८ ॥

स रथी धन्विनां श्रेष्ठः शस्त्रज्ञोऽस्त्रविदां वरः।
रथेनाभिययौ क्षिप्रं हनूमान् यत्र सोऽभवत् ॥ १९ ॥

अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञाता, अस्त्रवेत्ताओंमें अग्रगण्य और धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ वह रथी वीर रथके द्वारा शीघ्र उस स्थानपर गया, जहाँ हनुमान्‌जी उसकी प्रतीक्षामें बैठे थे ॥ १९ ॥

स तस्य रथनिर्घोषं ज्यास्वनं कार्मुकस्य च।
निशम्य हरिवीरोऽसौ सम्प्रहृष्टतरोऽभवत् ॥ २० ॥

उसके रथकी घर्घराहट और धनुषकी प्रत्यञ्चाका गम्भीर घोष सुनकर वानरवीर हनुमान्‌जी अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गये ॥ २० ॥

इन्द्रजिच्चापमादाय शितशल्यांश्च सायकान्।
हनूमन्तमभिप्रेत्य जगाम रणपण्डितः ॥ २१ ॥

इन्द्रजित् युद्धकी कलामें प्रवीण था। वह धनुष और तीखे अग्रभागवाले सायकोंको लेकर हनुमान्‌जीको लक्ष्य करके आगे बढ़ा ॥ २१ ॥

तस्मिंस्ततः संयति जातहर्षे
रणाय निर्गच्छति बाणपाणौ।
दिशश्च सर्वाः कलुषा बभूवु-
र्मृगाश्च रौद्रा बहुधा विनेदुः ॥ २२ ॥

हृदयमें हर्ष और उत्साह तथा हाथोंमें बाण लेकर वह ज्यों ही युद्धके लिये निकला, त्यों ही सम्पूर्ण दिशाएँ मलिन हो गयीं और भयानक पशु नाना प्रकारसे आर्तनाद करने लगे ॥ २२ ॥

समागतास्तत्र तु नागयक्षा
महर्षयश्चक्रचराश्च सिद्धाः।
नभः समावृत्य च पक्षिसङ्घा
विनेदुरुच्चैः परमप्रहृष्टाः ॥ २३ ॥

उस समय वहाँ नाग, यक्ष, महर्षि और नक्षत्र-मण्डलमें विचरनेवाले सिद्धगण भी आ गये। साथ ही पक्षियोंके समुदाय भी आकाशको आच्छादित करके अत्यन्त हर्षमें भरकर उच्चस्वरसे चहचहाने लगे ॥ २३ ॥

आयान्तं स रथं दृष्ट्वा तूर्णमिन्द्रध्वजं कपिः।
ननाद च महानादं व्यवर्धत च वेगवान् ॥ २४ ॥

इन्द्राकार चिह्नवाली ध्वजासे सुशोभित रथपर बैठकर शीघ्रतापूर्वक आते हुए मेघनादको देखकर वेगशाली वानरवीर हनुमान्‌ने बड़े जोरसे गर्जना की और अपने शरीरको बढ़ाया ॥ २४ ॥

इन्द्रजित् स रथं दिव्यमाश्रितश्चित्रकार्मुकः।
धनुर्विस्फारयामास तडिदूर्जितनिःस्वनम् ॥ २५ ॥

उस दिव्य रथपर बैठकर विचित्र धनुष धारण करनेवाले इन्द्रजित्‌ने बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान टंकार करनेवाले अपने धनुषको खींचा ॥ २५ ॥

ततः समेतावतितीक्ष्णवेगौ
महाबलौ तौ रणनिर्विशङ्कौ।
कपिश्च रक्षोऽधिपतेस्तनूजः
सुरासुरेन्द्राविव बद्धवैरौ ॥ २६ ॥

फिर तो अत्यन्त दुःसह वेग और महान् बलसे सम्पन्न हो युद्धमें निर्भय होकर आगे बढ़नेवाले वे दोनों वीर कपिवर हनुमान् तथा राक्षसराजकुमार मेघनाद परस्पर वैर बाँधकर देवराज इन्द्र और दैत्यराज बलिकी भाँति एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ २६ ॥

स तस्य वीरस्य महारथस्य
धनुष्मतः संयति सम्मतस्य।
शरप्रवेगं व्यहनत् प्रवृद्ध-
श्चचार मार्गे पितुरप्रमेयः ॥ २७ ॥

अप्रमेय शक्तिशाली हनुमान्जी विशाल शरीर धारण करके अपने पिता वायुके मार्गपर विचरने और युद्धमें सम्मानित होनेवाले उस धनुर्धर महारथी राक्षसवीरके बाणोंके महावेगको व्यर्थ करने लगे ॥ २७ ॥

ततः शरानायततीक्ष्णशल्यान्
सुपत्रिणः काञ्चनचित्रपुङ्खान्।
मुमोच वीरः परवीरहन्ता
सुसंततान् वज्रसमानवेगान् ॥ २८ ॥

इतनेहीमें शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले इन्द्रजित्ने बड़ी और तीखी नोक तथा सुन्दर परोंवाले, सोनेकी विचित्र पंखोंसे सुशोभित और वज्रके समान वेगशाली बाणोंको लगातार छोड़ना आरम्भ किया ॥ २८ ॥

ततः स तत्स्यन्दननिःस्वनं च
मृदङ्गभेरीपटहस्वनं च।
विकृष्यमाणस्य च कार्मुकस्य
निशम्य घोषं पुनरुत्पपात ॥ २९ ॥

उस समय उसके रथकी घर्घराहट, मृदङ्ग, भेरी और पटह आदि बाजोंके शब्द एवं खींचे जाते हुए धनुषकी टंकार सुनकर हनुमान्जी फिर ऊपरकी ओर उछले ॥ २९ ॥

शराणामन्तरेष्वाशु व्यावर्तत महाकपिः।
हरिस्तस्याभिलक्ष्यस्य मोक्षयंल्लक्ष्यसंग्रहम् ॥ ३० ॥

ऊपर जाकर वे महाकपि वानरवीर लक्ष्य बेधनेमें प्रसिद्ध मेघनादके साधे हुए निशानेको व्यर्थ करते हुए उसके छोड़े हुए बाणोंके बीचसे शीघ्रतापूर्वक निकलकर अपनेको बचाने लगे ॥ ३० ॥

शराणामग्रतस्तस्य पुनः समभिवर्तत।
प्रसार्य हस्तौ हनुमानुत्पपातानिलात्मजः ॥ ३१ ॥

वे पवनकुमार हनुमान् बारंबार उसके बाणोंके सामने आकर खड़े हो जाते और फिर दोनों हाथ फैलाकर बात-की-बातमें उड़ जाते थे ॥ ३१ ॥

तावुभौ वेगसम्पन्नौ रणकर्मविशारदौ।
सर्वभूतमनोग्राहि चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

वे दोनों वीर महान् वेगसे सम्पन्न तथा युद्ध करनेकी कलामें चतुर थे। वे सम्पूर्ण भूतोंके चित्तको आकर्षित करनेवाला उत्तम युद्ध करने लगे ॥ ३२ ॥

हनूमतो वेद न राक्षसोऽन्तरं
न मारुतिस्तस्य महात्मनोऽन्तरम्।
परस्परं निर्विषहौ बभूवतुः
समेत्य तौ देवसमानविक्रमौ ॥ ३३ ॥

वह राक्षस हनुमान्जीपर प्रहार करनेका अवसर नहीं पाता था और पवनकुमार हनुमान्जी भी उस महामनस्वी वीरको धर दबानेका मौका नहीं पाते थे। देवताओंके समान पराक्रमी वे दोनों वीर परस्पर भिड़कर एक दूसरेके लिये दुःसह हो उठे थे ॥ ३३ ॥

ततस्तु लक्ष्ये स विहन्यमाने
शरेष्वमोघेषु च सम्पतत्सु।
जगाम चिन्तां महतीं महात्मा
समाधिसंयोगसमाहितात्मा ॥ ३४ ॥

लक्ष्यवेधके लिये चलाये हुए मेघनादके वे अमोघ बाण भी जब व्यर्थ होकर गिर पड़े, तब लक्ष्यपर बाणोंका संधान करनेमें सदा एकाग्रचित्त रहनेवाले उस महामनस्वी वीरको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ३४ ॥

ततो मतिं राक्षसराजसूनु-
श्चकार तस्मिन् हरिवीरमुख्ये।
अवध्यतां तस्य कपेः समीक्ष्य
कथं निगच्छेदिति निग्रहार्थम् ॥ ३५ ॥

उन कपिश्रेष्ठको अवध्य समझकर राक्षसराजकुमार मेघनाद वानरवीरोंमें प्रमुख हनुमान्जीके विषयमें यह विचार करने लगा कि 'इन्हें किसी तरह कैद कर लेना चाहिये, परंतु ये मेरी पकड़में आ कैसे सकते हैं?' ॥ ३५ ॥

ततः पैतामहं वीरः सोऽस्त्रमस्त्रविदां वरः।
संदधे सुमहातेजास्तं हरिप्रवरं प्रति ॥ ३६ ॥

फिर तो अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ उस महातेजस्वी वीरने उन कपिश्रेष्ठको लक्ष्य करके अपने धनुषपर ब्रह्माजीके दिये हुए अस्त्रका संधान किया ॥ ३६ ॥

अवध्योऽयमिति ज्ञात्वा तमस्त्रेणास्त्रतत्त्ववित्।
निजग्राह महाबाहुं मारुतात्मजमिन्द्रजित् ॥ ३७ ॥

अस्त्रतत्त्वके ज्ञाता इन्द्रजित्ने महाबाहु पवनकुमारको अवध्य जानकर उन्हें उस अस्त्रसे बाँध लिया ॥ ३७ ॥

तेन बद्धस्ततोऽस्त्रेण राक्षसेन स वानरः।
अभवन्निर्विचेष्टश्च पपात च महीतले ॥ ३८ ॥

राक्षसद्वारा उस अस्त्रसे बाँध लिये जानेपर वानरवीर हनुमान्जी निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३८ ॥

ततोऽथ बुद्ध्वा स तदस्त्रबन्धं
प्रभोः प्रभावाद् विगताल्पवेगः ।
पितामहानुग्रहमात्मनश्च
विचिन्तयामास हरिप्रवीरः ॥ ३९ ॥

अपनेको ब्रह्मास्त्रसे बँधा हुआ जानकर भी उन्हीं भगवान् ब्रह्माके प्रभावसे हनुमान्जीको थोड़ी-सी भी पीड़ाका अनुभव नहीं हुआ। वे प्रमुख वानरवीर अपने ऊपर ब्रह्माजीके महान् अनुग्रहका विचार करने लगे ॥ ३९ ॥

ततः स्वायम्भुवैर्मन्त्रैर्ब्रह्मास्त्रं चाभिमन्त्रितम् ।
हनूमांश्चिन्तयामास वरदानं पितामहात् ॥ ४० ॥

जिन मन्त्रोंके देवता साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्मा हैं, उनसे अभिमन्त्रित हुए उस ब्रह्मास्त्रको देखकर हनुमान्जीको पितामह ब्रह्मासे अपने लिये मिले हुए वरदानका स्मरण हो आया (ब्रह्माजीने उन्हें वर दिया था कि मेरा अस्त्र तुम्हें एक ही मुहूर्तमें अपने बन्धनसे मुक्त कर देगा) ॥ ४० ॥

न मेऽस्य बन्धस्य च शक्तिरस्ति
विमोक्षणे लोकगुरोः प्रभावात् ।
इत्येवमेवं विहितोऽस्त्रबन्धो
मयाऽऽत्मयोनेरनुवर्तितव्यः ॥ ४१ ॥

फिर वे सोचने लगे 'लोकगुरु ब्रह्माके प्रभावसे मुझमें इस अस्त्रके बन्धनसे छुटकारा पानेकी शक्ति नहीं है—ऐसा मानकर ही इन्द्रजित्ने मुझे इस प्रकार बाँधा है, तथापि मुझे भगवान् ब्रह्माके सम्मानार्थ इस अस्त्रबन्धनका अनुसरण करना चाहिये' ॥ ४१ ॥

स वीर्यमस्त्रस्य कपिर्विचार्य
पितामहानुग्रहमात्मनश्च ।
विमोक्षशक्तिं परिचिन्तयित्वा
पितामहाज्ञामनुवर्तते स ॥ ४२ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान्जीने उस अस्त्रकी शक्ति, अपने ऊपर पितामहकी कृपा तथा अपनेमें उसके बन्धनसे छूट जानेकी सामर्थ्य—इन तीनोंपर विचार करके अन्तमें ब्रह्माजीकी आज्ञाका ही अनुसरण किया ॥ ४२ ॥

अस्त्रेणापि हि बद्धस्य भयं मम न जायते ।
पितामहमहेन्द्राभ्यां रक्षितस्यानिलेन च ॥ ४३ ॥

उनके मनमें यह बात आयी कि 'इस अस्त्रसे बँध जानेपर भी मुझे कोई भय नहीं है; क्योंकि ब्रह्मा, इन्द्र और वायुदेवता तीनों मेरी रक्षा करते हैं ॥ ४३ ॥

ग्रहणे चापि रक्षोभिर्महन्मे गुणदर्शनम् ।
राक्षसेन्द्रेण संवादस्तस्माद् गृह्णन्तु मां परे ॥ ४४ ॥

'राक्षसोंद्वारा पकड़े जानेमें भी मुझे महान् लाभ ही दिखायी देता है; क्योंकि इससे मुझे राक्षसराज रावणके साथ बातचीत करनेका अवसर मिलेगा। अतः शत्रु मुझे पकड़कर ले चलें' ॥ ४४ ॥

स निश्चितार्थः परवीरहन्ता
समीक्ष्यकारी विनिवृत्तचेष्टः ।
परैः प्रसह्याभिगतैर्निगृह्य
ननाद तैस्तैः परिभर्त्स्यमानः ॥ ४५ ॥

ऐसा निश्चय करके विचारपूर्वक कार्य करनेवाले शत्रुवीरोंके संहारक हनुमान्जी निश्चेष्ट हो गये। फिर तो सभी शत्रु निकट आकर उन्हें बलपूर्वक पकड़ने और डाँट बताने लगे। उस समय हनुमान्जी, मानो कष्ट पा रहे हों, इस प्रकार चीखते और कटकटाते थे ॥ ४५ ॥

ततस्ते राक्षसा दृष्ट्वा विनिश्चेष्टमरिंदमम् ।
बबन्धुः शणवल्कैश्च द्रुमचीरैश्च संहतैः ॥ ४६ ॥

राक्षसोंने देखा अब यह हाथ-पैर नहीं हिलाता, तब वे शत्रुहन्ता हनुमान्जीको सुतरी और वृक्षोंके वल्कलको बटकर बनाये गये रस्सोंसे बाँधने लगे ॥ ४६ ॥

स रोचयामास परैश्च बन्धं
प्रसह्य वीरैरभिगर्हणं च ।
कौतूहलान्मां यदि राक्षसेन्द्रो
द्रष्टुं व्यवस्येदिति निश्चितार्थः ॥ ४७ ॥

शत्रुवीरोंने जो उन्हें हठपूर्वक बाँधा और उनका तिरस्कार किया, यह सब कुछ उस समय उन्हें अच्छा लगा। उनके मनमें यह निश्चित विचार हो गया था कि ऐसी अवस्थामें राक्षसराज रावण सम्भवतः कौतूहलवश मुझे देखनेकी इच्छा करेगा (इसीलिये वे सब कुछ सह रहे थे) ॥ ४७ ॥

स बद्धस्तेन वल्केन विमुक्तोऽस्त्रेण वीर्यवान् ।
अस्त्रबन्धः स चान्यं हि न बन्धमनुवर्तते ॥ ४८ ॥

वल्कलके रस्सेसे बँध जानेपर पराक्रमी हनुमान् ब्रह्मास्त्रके बन्धनसे मुक्त हो गये; क्योंकि उस अस्त्रका बन्धन किसी दूसरे बन्धनके साथ नहीं रहता ॥ ४८ ॥

अथेन्द्रजित् तं द्रुमचीरबद्धं
विचार्य वीरः कपिसत्तमं तम् ।
विमुक्तमस्त्रेण जगाम चिन्ता-
मन्येन बद्धोऽप्यनुवर्ततेऽस्त्रम् ॥ ४९ ॥
अहो महत् कर्म कृतं निरर्थं
न राक्षसैर्मन्त्रगतिर्विमृष्टा ।
पुनश्च नास्त्रे विहतेऽस्त्रमन्यत्
प्रवर्तते संशयिताः स्म सर्वे ॥ ५० ॥

वीर इन्द्रजित्ने जब देखा कि यह वानरशिरोमणि तो केवल वृक्षोंके वल्कलसे बँधा है, दिव्यास्त्रके बन्धनसे मुक्त हो चुका है, तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगा—'दूसरी वस्तुओंसे बँधा हुआ होनेपर भी यह अस्त्रबन्धनमें बँधे हुएकी भाँति बर्ताव कर रहा है। ओह! इन राक्षसोंने मेरा किया हुआ बहुत बड़ा काम चौपट कर दिया। इन्होंने मन्त्रकी शक्तिपर विचार नहीं किया।

यह अस्त्र जब एक बार व्यर्थ हो जाता है, तब पुनः दूसरी बार इसका प्रयोग नहीं हो सकता। अब तो विजयी होकर भी हम सब लोग संशयमें पड़ गये ॥ ४९-५० ॥

अस्त्रेण हनुमान् मुक्तो नात्मानमवबुध्यते।
कृष्यमाणस्तु रक्षोभिस्तैश्च बन्धैर्निपीडितः ॥ ५१ ॥
हन्यमानस्ततः क्रूरै राक्षसैः कालमुष्टिभिः।
समीपं राक्षसेन्द्रस्य प्राकृष्यत स वानरः ॥ ५२ ॥

हनुमान्‌जी यद्यपि अस्त्रके बन्धनसे मुक्त हो गये थे तो भी उन्होंने ऐसा बर्ताव किया, मानो वे इस बातको जानते ही न हों। क्रूर राक्षस उन्हें बन्धनोंसे पीड़ा देते और कठोर मुक्कोंसे मारते हुए खींचकर ले चले। इस तरह वे वानरवीर राक्षसराज रावणके पास पहुँचाये गये॥५१-५२॥

अथेन्द्रजित् तं प्रसमीक्ष्य मुक्त-
मस्त्रेण बद्धं द्रुमचीरसूत्रैः।
व्यदर्शयत् तत्र महाबलं तं
हरिप्रवीरं सगणाय राज्ञे ॥ ५३ ॥

तब इन्द्रजित्‌ने उन महाबली वानरवीरको ब्रह्मास्त्रसे मुक्त तथा वृक्षके वल्कलोंकी रस्सियोंसे बँधा देख उन्हें वहाँ सभासद्‌गणोंसहित राजा रावणको दिखाया ॥ ५३ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं बद्धं कपिवरोत्तमम्।
राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन् ॥ ५४ ॥

मतवाले हाथीके समान बँधे हुए उन वानरशिरोमणिको राक्षसोंने राक्षसराज रावणकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥५४॥

कोऽयं कस्य कुतो वापि किं कार्यं कोऽभ्युपाश्रयः।
इति राक्षसवीराणां दृष्ट्वा संजज्ञिरे कथाः ॥ ५५ ॥

उन्हें देखकर राक्षसवीर आपसमें कहने लगे—'यह कौन है? किसका पुत्र या सेवक है? कहाँसे आया है? यहाँ इसका क्या काम है? तथा इसे सहारा देनेवाला कौन है?॥ ५५ ॥

हन्यतां दह्यतां वापि भक्ष्यतामिति चापरे।
राक्षसास्तत्र संक्रुद्धाः परस्परमथाब्रुवन् ॥ ५६ ॥

कुछ दूसरे राक्षस जो अत्यन्त क्रोधसे भरे थे, परस्पर इस प्रकार बोले—'इस वानरको मार डालो, जला डालो या खा डालो' ॥ ५६ ॥

अतीत्य मार्गं सहसा महात्मा
स तत्र रक्षोऽधिपपादमूले।
ददर्श राज्ञः परिचारवृद्धान्
गृहं महारत्नविभूषितं च ॥ ५७ ॥

महात्मा हनुमान्‌जी सारा रास्ता तै करके जब सहसा राक्षसराज रावणके पास पहुँच गये, तब उन्होंने उसके चरणोंके समीप बहुत-से बड़े-बूढ़े सेवकोंको और बहुमूल्य रत्नोंसे विभूषित सभाभवनको भी देखा ॥ ५७ ॥

स ददर्श महातेजा रावणः कपिसत्तमम्।
रक्षोभिर्विकृताकारैः कृष्यमाणमितस्ततः ॥ ५८ ॥

उस समय महातेजस्वी रावणने विकट आकारवाले राक्षसोंके द्वारा इधर-उधर घसीटे जाते हुए कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीको देखा ॥ ५८ ॥

राक्षसाधिपतिं चापि ददर्श कपिसत्तमः।
तेजोबलसमायुक्तं तपन्तमिव भास्करम् ॥ ५९ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने भी राक्षसराज रावणको तपते हुए सूर्यके समान तेज और बलसे सम्पन्न देखा ॥ ५९ ॥

स रोषसंवर्तितताम्रदृष्टि-
र्दशाननस्तं कपिमन्ववेक्ष्य।
अथोपविष्टान् कुलशीलवृद्धान्
समादिशत् तं प्रति मुख्यमन्त्रीन् ॥ ६० ॥

हनुमान्‌जीको देखकर दशमुख रावणकी आँखें रोषसे चञ्चल और लाल हो गयीं। उसने वहाँ बैठे हुए कुलीन, सुशील और मुख्य मन्त्रियोंको उनसे परिचय पूछनेके लिये आज्ञा दी ॥ ६० ॥

यथाक्रमं तैः स कपिश्च पृष्टः
कार्यार्थमर्थस्य च मूलमादौ।
निवेदयामास हरीश्वरस्य
दूतः सकाशादहमागतोऽस्मि ॥ ६१ ॥

उन सबने पहले क्रमशः कपिवर हनुमान्‌से उनका कार्य, प्रयोजन तथा उसके मूल कारणके विषयमें पूछा। तब उन्होंने यह बताया कि 'मैं वानरराज सुग्रीवके पाससे उनका दूत होकर आया हूँ' ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

रावणके प्रभावशाली स्वरूपको देखकर हनुमान्‌जीके मनमें अनेक प्रकारके विचारोंका उठना

ततः स कर्मणा तस्य विस्मितो भीमविक्रमः।
हनूमान् क्रोधताम्राक्षो रक्षोऽधिपमवैक्षत ॥ १ ॥

इन्द्रजित्‌के उन नीतिपूर्ण कर्मसे विस्मित तथा रावणके सीताहरण आदि कर्मोंसे कुपित हो रोषसे लाल आँखें

किये भयंकर पराक्रमी हनुमान्‌जीने राक्षसराज रावणकी ओर देखा ॥ १ ॥

भ्राजमानं महार्हेण काञ्चनेन विराजता।
मुक्ताजालवृतेनाथ मुकुटेन महाद्युतिम् ॥ २ ॥

वह महातेजस्वी राक्षसराज सोनेके बने हुए बहुमूल्य एवं दीप्तिमान् मुकुटसे, जिसमें मोतियोंका काम किया हुआ था, उद्भासित हो रहा था ॥ २ ॥

वज्रसंयोगसंयुक्तैर्महार्हमणिविग्रहैः।
हैमैराभरणैश्चित्रैर्मनसेव प्रकल्पितैः ॥ ३ ॥

उसके विभिन्न अङ्गोंमें सोनेके विचित्र आभूषण ऐसे सुन्दर लगते थे मानो मानसिक संकल्पद्वारा बनाये गये हों। उनमें हीरे तथा बहुमूल्य मणिरत्न जड़े हुए थे, उन आभूषणोंसे रावणकी अद्भुत शोभा होती थी ॥ ३ ॥

महार्हक्षौमसंवीतं रक्तचन्दनरूषितम्।
स्वनुलिप्तं विचित्राभिर्विविधाभिश्च भक्तिभिः ॥ ४ ॥

बहुमूल्य रेशमी वस्त्र उसके शरीरकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह लाल चन्दनसे चर्चित था और भाँति-भाँतिकी विचित्र रचनाओंसे युक्त सुन्दर अङ्गरागोंसे उसका सारा अङ्ग सुशोभित हो रहा था ॥ ४ ॥

विचित्रं दर्शनीयैश्च रक्ताक्षैर्भीमदर्शनैः।
दीप्ततीक्ष्णमहादंष्ट्रं प्रलम्बं दशनच्छदैः ॥ ५ ॥

उसकी आँखें देखने योग्य, लाल-लाल और भयावनी थीं; उनसे और चमकीली तीखी एवं बड़ी-बड़ी दाढ़ों तथा लंबे-लंबे ओठोंके कारण उसकी विचित्र शोभा होती थी ॥ ५ ॥

शिरोभिर्दशभिर्वीरो भ्राजमानं महौजसम्।
नानाव्यालसमाकीर्णैः शिखरैरिव मन्दरम् ॥ ६ ॥

वीर हनुमान्‌जीने देखा, अपने दस मस्तकोंसे सुशोभित महाबली रावण नाना प्रकारके सर्पोंसे भरे हुए अनेक शिखरोंद्वारा शोभा पानेवाले मन्दराचलके समान प्रतीत हो रहा है ॥ ६ ॥

नीलाञ्जनचयप्रख्यं हारेणोरसि राजता।
पूर्णचन्द्राभवक्त्रेण सबालार्कमिवाम्बुदम् ॥ ७ ॥

उसका शरीर काले कोयलेके ढेरकी भाँति काला था और वक्षःस्थल चमकीले हारसे विभूषित था। वह पूर्ण चन्द्रके समान मनोरम मुखद्वारा प्रातःकालके सूर्यसे युक्त मेघकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

बाहुभिर्बद्धकेयूरैश्चन्दनोत्तमरूषितैः।
भ्राजमानाङ्गदैर्भीमैः पञ्चशीर्षैरिवोरगैः ॥ ८ ॥

जिनमें केयूर बँधे थे, उत्तम चन्दनका लेप हुआ था और चमकीले अङ्गद शोभा दे रहे थे, उन भयंकर भुजाओंसे सुशोभित रावण ऐसा जान पड़ता था, मानो पाँच सिरवाले अनेक सर्पोंसे सेवित हो रहा हो ॥ ८ ॥

महति स्फाटिके चित्रे रत्नसंयोगचित्रिते।
उत्तमास्तरणास्तीर्णे सूपविष्टं वरासने ॥ ९ ॥

वह स्फटिकमणिके बने हुए विशाल एवं सुन्दर सिंहासनपर, जो नाना प्रकारके रत्नोंके संयोगसे चित्रित, विचित्र तथा सुन्दर बिछौनोंसे आच्छादित था, बैठा हुआ था ॥ ९ ॥

अलंकृताभिरत्यर्थं प्रमदाभिः समन्ततः।
वालव्यजनहस्ताभिरारात्समुपसेवितम् ॥ १० ॥

वस्त्र और आभूषणोंसे खूब सजी हुई बहुत-सी युवतियाँ हाथमें चँवर लिये सब ओरसे आसपास खड़ी हो उसकी सेवा करती थीं ॥ १० ॥

दुर्धरेण प्रहस्तेन महापार्श्वेन रक्षसा।
मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैर्निकुम्भेन च मन्त्रिणा ॥ ११ ॥
उपोपविष्टं रक्षोभिश्चतुर्भिर्बलदर्पितम्।
कृत्स्नं परिवृतं लोकं चतुर्भिरिव सागरैः ॥ १२ ॥

मन्त्र-तत्त्वको जाननेवाले दुर्धर, प्रहस्त, महापार्श्व तथा निकुम्भ—ये चार राक्षसजातीय मन्त्री उसके पास बैठे थे। उन चारों राक्षसोंसे घिरा हुआ बलाभिमानी रावण चार समुद्रोंसे घिरे हुए समस्त भूलोककी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ११-१२ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैरन्यैश्च शुभदर्शिभिः।
आश्वास्यमानं सचिवैः सुरैरिव सुरेश्वरम् ॥ १३ ॥

जैसे देवता देवराज इन्द्रको सान्त्वना देते हैं, उसी प्रकार मन्त्रतत्त्वके ज्ञाता मन्त्री तथा दूसरे-दूसरे शुभचिन्तक सचिव उसे आश्वासन दे रहे थे ॥ १३ ॥

अपश्यद् राक्षसपतिं हनूमानतितेजसम्।
वेष्टितं मेरुशिखरे सतोयमिव तोयदम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार हनुमान्‌जीने मन्त्रियोंसे घिरे हुए अत्यन्त तेजस्वी, सिंहासनारूढ राक्षसराज रावणको मेरुशिखरपर विराजमान सजल जलधरके समान देखा ॥ १४ ॥

स तैः सम्पीड्यमानोऽपि रक्षोभिर्भीमविक्रमैः।
विस्मयं परमं गत्वा रक्षोऽधिपमवैक्षत ॥ १५ ॥

उन भयानक पराक्रमी राक्षसोंसे पीड़ित होनेपर भी हनुमान्‌जी अत्यन्त विस्मित होकर राक्षसराज रावणको बड़े गौरसे देखते रहे ॥ १५ ॥

भ्राजमानं ततो दृष्ट्वा हनुमान् राक्षसेश्वरम्।
मनसा चिन्तयामास तेजसा तस्य मोहितः ॥ १६ ॥

उस दीप्तिशाली राक्षसराजको अच्छी तरह देखकर उसके तेजसे मोहित हो हनुमान्‌जी मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगे—॥ १६ ॥

अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः।
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता ॥ १७ ॥

'अहो ! इस राक्षसराजका रूप कैसा अद्भुत है ! कैसा अनोखा धैर्य है ! कैसी अनुपम शक्ति है ! और कैसा आश्चर्यजनक तेज है ! इसका सम्पूर्ण राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न होना कितने आश्चर्यकी बात है ॥ १७ ॥

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥ १८ ॥

'यदि इसमें प्रबल अधर्म न होता तो यह राक्षसराज रावण इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवलोकका संरक्षक हो सकता था ॥

अस्य क्रूरैर्नृशंसैश्च कर्मभिर्लोककुत्सितैः।
सर्वे बिभ्यति खल्वस्माल्लोकाः सामरदानवाः ॥ १९ ॥
अयं ह्युत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत्।
इति चिन्तां बहुविधामकरोन्मतिमान् कपिः।
दृष्ट्वा राक्षसराजस्य प्रभावममितौजसः ॥ २० ॥

'इसके लोकनिन्दित क्रूरतापूर्ण निष्ठुर कर्मोंके कारण देवताओं और दानवोंसहित सम्पूर्ण लोक इससे भयभीत रहते हैं। यह कुपित होनेपर समस्त जगत्‌को एकार्णवमें निमग्न कर सकता है—संसारमें प्रलय मचा सकता है।' अमिततेजस्वी राक्षसराजके प्रभावको देखकर वे बुद्धिमान् वानरवीर ऐसी अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ करते रहे ॥ १९-२० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

रावणका प्रहस्तके द्वारा हनुमान्‌जीसे लङ्कामें आनेका कारण पुछवाना और हनुमान्‌का अपनेको श्रीरामका दूत बताना

तमुद्वीक्ष्य महाबाहुः पिङ्गाक्षं पुरतः स्थितम्।
रोषेण महताऽऽविष्टो रावणो लोकरावणः ॥ १ ॥

समस्त लोकोंको रुलानेवाला महाबाहु रावण भूरी आँखोंवाले हनुमान्‌जीको सामने खड़ा देख महान् रोषसे भर गया ॥ १ ॥

शङ्काहतात्मा दध्यौ स कपीन्द्रं तेजसावृतम्।
किमेष भगवान् नन्दी भवेत् साक्षादिहागतः ॥ २ ॥
येन शप्तोऽस्मि कैलासे मया प्रहसिते पुरा।
सोऽयं वानरमूर्तिः स्यात्किंस्विद् बाणोऽपि वासुरः ॥ ३ ॥

साथ ही तरह-तरहकी आशङ्काओंसे उसका दिल बैठ गया। अतः वह तेजस्वी वानरराजके विषयमें विचार करने लगा—'क्या इस वानरके रूपमें साक्षात् भगवान् नन्दी यहाँ पधारे हुए हैं, जिन्होंने पूर्वकालमें कैलास पर्वतपर जब कि मैंने उनका उपहास किया था, मुझे शाप दे दिया था ? वे ही तो वानरका स्वरूप धारण करके यहाँ नहीं आये हैं ? अथवा इस रूपमें बाणासुरका आगमन तो नहीं हुआ है ?' ॥ २-३ ॥

स राजा रोषताम्राक्षः प्रहस्तं मन्त्रिसत्तमम्।
कालयुक्तमुवाचेदं वचो विपुलमर्थवत् ॥ ४ ॥

इस तरह तर्क-वितर्क करते हुए राजा रावणने क्रोधसे लाल आँखें करके मन्त्रिवर प्रहस्तसे समयानुकूल गम्भीर एवं अर्थयुक्त बात कही—॥ ४ ॥

दुरात्मा पृच्छ्यतामेष कुतः किं वास्य कारणम्।
वनभङ्गे च कोऽस्यार्थो राक्षसानां च तर्जने ॥ ५ ॥

'अमात्य ! इस दुरात्मासे पूछो तो सही, यह कहाँसे आया है ? इसके आनेका क्या कारण है ? प्रमदावनको उजाड़ने तथा राक्षसोंको मारनेमें इसका क्या उद्देश्य था ? ॥

मत्पुरीमप्रधृष्यां वै गमने किं प्रयोजनम्।
आयोधने वा किं कार्यं पृच्छ्यतामेष दुर्मतिः ॥ ६ ॥

'मेरी दुर्जय पुरीमें जो इसका आना हुआ है, इसमें इसका क्या प्रयोजन है ? अथवा इसने जो राक्षसोंके साथ युद्ध छेड़ दिया है, उसमें इसका क्या उद्देश्य है ? ये सारी बातें इस दुर्बुद्धि वानरसे पूछो' ॥ ६ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्तो वाक्यमब्रवीत्।
समाश्वसिहि भद्रं ते न भीः कार्या त्वया कपे ॥ ७ ॥

रावणकी बात सुनकर प्रहस्तने हनुमान्‌जीसे कहा—'वानर ! तुम घबराओ न, धैर्य रक्खो। तुम्हारा भला हो। तुम्हें डरनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७ ॥

यदि तावत् त्वमिन्द्रेण प्रेषितो रावणालयम्।
तत्त्वमाख्याहि मा ते भूद् भयं वानर मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

'यदि तुम्हें इन्द्रने महाराज रावणकी नगरीमें भेजा है तो ठीक-ठीक बता दो। वानर ! डरो न। छोड़ दिये जाओगे ॥ ८ ॥

यदि वैश्रवणस्य त्वं यमस्य वरुणस्य च।
चारुरूपमिदं कृत्वा प्रविष्टो नः पुरीमिमाम् ॥ ९ ॥

'अथवा यदि तुम कुबेर, यम या वरुणके दूत हो और

यह सुन्दर रूप धारण करके हमारी इस पुरीमें घुस आये हो तो यह भी बता दो ॥ ९ ॥

विष्णुना प्रेषितो वापि दूतो विजयकाङ्क्षिणा ।
नहि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम् ॥ १० ॥

'अथवा विजयकी अभिलाषा रखनेवाले विष्णुने तुम्हें दूत बनाकर भेजा है ? तुम्हारा तेज वानरोंका-सा नहीं है। केवल रूपमात्र वानरका है ॥ १० ॥

तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे ।
अनृतं वदतश्चापि दुर्लभं तव जीवितम् ॥ ११ ॥

'वानर ! इस समय सच्ची बात कह दो, फिर तुम छोड़ दिये जाओगे । यदि झूठ बोलोगे तो तुम्हारा जीना असम्भव हो जायगा ॥ ११ ॥

अथ वा यन्निमित्तस्ते प्रवेशो रावणालये ।
एवमुक्तो हरिवरस्तदा रक्षोगणेश्वरम् ॥ १२ ॥
अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य च ।
धनदेन न मे सख्यं विष्णुना नास्मि चोदितः ॥ १३ ॥

'अथवा और सब बातें छोड़ो । तुम्हारा इस रावणके नगरमें आनेका क्या उद्देश्य है ? यही बता दो ।' प्रहस्तके इस प्रकार पूछनेपर उस समय वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌ने राक्षसोंके स्वामी रावणसे कहा—'मैं इन्द्र, यम अथवा वरुणका दूत नहीं हूँ । कुबेरके साथ भी मेरी मैत्री नहीं है और भगवान् विष्णुने भी मुझे यहाँ नहीं भेजा है ॥ १२-१३ ॥

जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः ।
दर्शने राक्षसेन्द्रस्य तदिदं दुर्लभं मया ॥ १४ ॥
वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम् ।
ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकाङ्क्षिणः ॥ १५ ॥
रक्षणार्थं च देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे ।

'मैं जन्मसे ही वानर हूँ और राक्षस रावणसे मिलनेके उद्देश्यसे ही मैंने उनके इस दुर्लभ वनको उजाड़ा है । इसके बाद तुम्हारे बलवान् राक्षस युद्धकी इच्छासे मेरे पास आये और मैंने अपने शरीरकी रक्षाके लिये रणभूमिमें उनका सामना किया ॥ १४-१५½ ॥

अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि ॥ १६ ॥
पितामहादेव वरो ममापि हि समागतः ।

'देवता अथवा असुर भी मुझे अस्त्र अथवा पाशसे बाँध नहीं सकते । इसके लिये मुझे भी ब्रह्माजीसे वरदान मिल चुका है ॥ १६½ ॥

राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम् ॥ १७ ॥
विमुक्तोऽप्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिवेदितः ।

'राक्षसराजको देखनेकी इच्छासे ही मैंने अस्त्रसे बँधना स्वीकार किया है । यद्यपि इस समय मैं अस्त्रसे मुक्त हूँ तथापि इन राक्षसोंने मुझे बँधा समझकर ही यहाँ लाकर तुम्हें सौंपा है ॥ १७½ ॥

केनचिद् रामकार्येण आगतोऽस्मि तवान्तिकम् ॥ १८ ॥
दूतोऽहमिति विज्ञाय राघवस्यामितौजसः ।
श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो ॥ १९ ॥

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका कुछ कार्य है, जिसके लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ । प्रभो ! मैं अमित तेजस्वी श्रीरघुनाथजीका दूत हूँ, ऐसा समझकर मेरे इस हितकारी वचनको अवश्य सुनो' ॥ १८-१९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका श्रीरामके प्रभावका वर्णन करते हुए रावणको समझाना

तं समीक्ष्य महासत्त्वं सत्त्ववान् हरिसत्तमः ।
वाक्यमर्थवदव्यग्रस्तमुवाच दशाननम् ॥ १ ॥

महाबली दशमुख रावणकी ओर देखते हुए शक्तिशाली वानरशिरोमणि हनुमान्‌ने शान्तभावसे यह अर्थयुक्त बात कही—॥ १ ॥

अहं सुग्रीवसंदेशादिह प्राप्तस्तवान्तिके ।
राक्षसेश हरीशस्त्वां भ्राता कुशलमब्रवीत् ॥ २ ॥

'राक्षसराज ! मैं सुग्रीवका संदेश लेकर यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ । वानरराज सुग्रीव तुम्हारे भाई हैं । इसी नाते उन्होंने तुम्हारा कुशल-समाचार पूछा है ॥ २ ॥

भ्रातुः शृणु समादेशं सुग्रीवस्य महात्मनः ।
धर्मार्थसहितं वाक्यमिह चामुत्र च क्षमम् ॥ ३ ॥

'अब तुम अपने भाई महात्मा सुग्रीवका संदेश—धर्म और अर्थयुक्त वचन, जो इहलोक और परलोकमें भी लाभदायक है, सुनो ॥ ३ ॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान् ।
पितेव बन्धुर्लोकस्य सुरेश्वरसमद्युतिः ॥ ४ ॥

'अभी हालमें ही दशरथनामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो पिताकी भाँति प्रजाके हितैषी, इन्द्रके समान तेजस्वी तथा रथ, हाथी, घोड़े आदिसे सम्पन्न थे ॥ ४ ॥

ज्येष्ठस्तस्य महाबाहुः पुत्रः प्रियतरः प्रभुः ।
पितुर्निदेशान्निष्क्रान्तः प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ५ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह भार्यया ।
रामो नाम महातेजा धर्म्यं पन्थानमाश्रितः ॥ ६ ॥

'उनके परम प्रिय ज्येष्ठ पुत्र, महातेजस्वी, प्रभावशाली महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञासे धर्ममार्गका आश्रय लेकर अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें आये थे ॥ ५-६ ॥

तस्य भार्या जनस्थाने भ्रष्टा सीतेति विश्रुता ।
वैदेहस्य सुता राज्ञो जनकस्य महात्मनः ॥ ७ ॥

'सीता विदेहदेशके राजा महात्मा जनककी पुत्री हैं। जनस्थानमें आनेपर श्रीरामपत्नी सीता कहीं खो गयी हैं ॥७॥

मार्गमाणस्तु तां देवीं राजपुत्रः सहानुजः ।
ऋष्यमूकमनुप्राप्तः सुग्रीवेण च संगतः ॥ ८ ॥

'राजकुमार श्रीराम अपने भाईके साथ उन्हीं सीतादेवीकी खोज करते हुए ऋष्यमूक पर्वतपर आये और सुग्रीवसे मिले ॥ ८ ॥

तस्य तेन प्रतिज्ञातं सीतायाः परिमार्गणम् ।
सुग्रीवस्यापि रामेण हरिराज्यं निवेदितुम् ॥ ९ ॥

'सुग्रीवने उनसे सीताको ढूँढ़ निकालनेकी प्रतिज्ञा की और श्रीरामने सुग्रीवको वानरोंका राज्य दिलानेका वचन दिया ॥ ९ ॥

ततस्तेन मृधे हत्वा राजपुत्रेण वालिनम् ।
सुग्रीवः स्थापितो राज्ये हर्यृक्षाणां गणेश्वरः ॥ १० ॥

'तत्पश्चात् राजकुमार श्रीरामचन्द्रजीने युद्धमें वालीको मारकर सुग्रीवको किष्किन्धाके राज्यपर स्थापित कर दिया। इस समय सुग्रीव वानरों और भालुओंके समुदायके स्वामी हैं ॥ १० ॥

त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुङ्गवः ।
स तेन निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः ॥ ११ ॥

'वानरराज वालीको तो तुम पहलेसे ही जानते हो। उस वानरवीरको युद्धभूमिमें श्रीरामने एक ही बाणसे मार गिराया था ॥ ११ ॥

स सीतामार्गणे व्यग्रः सुग्रीवः सत्यसंगरः ।
हरीन् सम्प्रेषयामास दिशः सर्वा हरीश्वरः ॥ १२ ॥

'अब सत्यप्रतिज्ञ सुग्रीव सीताकी खोज निकालनेके लिये व्यग्र हो उठे हैं। उन वानरराजने समस्त दिशाओंमें वानरोंको भेजा है ॥ १२ ॥

तां हरीणां सहस्राणि शतानि नियुतानि च ।
दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते ह्यधश्चोपरि चाम्बरे ॥ १३ ॥

'इस समय सैकड़ों, हजारों और लाखों वानर सम्पूर्ण दिशाओं तथा आकाश और पातालमें भी सीताजीकी खोज कर रहे हैं ॥ १३ ॥

वैनतेयसमाः केचित् केचित् तत्रानिलोपमाः ।
असङ्गगतयः शीघ्रा हरिवीरा महाबलाः ॥ १४ ॥

'उन वानरवीरोंमेंसे कोई गरुड़के समान वेगवान् हैं तो कोई वायुके समान। उनकी गति कहीं नहीं रुकती। वे कपिवीर शीघ्रगामी और महान् बली हैं ॥ १४ ॥

अहं तु हनुमान्नाम मारुतस्यौरसः सुतः ।
सीतायास्तु कृते तूर्णं शतयोजनमायतम् ॥ १५ ॥
समुद्रं लङ्घयित्वैव त्वां दिदृक्षुरिहागतः ।
भ्रमता च मया दृष्टा गृहे ते जनकात्मजा ॥ १६ ॥

'मेरा नाम हनुमान् है। मैं वायुदेवताका औरस पुत्र हूँ। सीताका पता लगाने और तुमसे मिलनेके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघकर तीव्र गतिसे यहाँ आया हूँ। घूमते-घूमते तुम्हारे अन्तःपुरमें मैंने जनकनन्दिनी सीताको देखा है ॥ १५-१६ ॥

तद् भवान् दृष्टधर्मार्थस्तपःकृतपरिग्रहः ।
परदारान् महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥

'महामते! तुम धर्म और अर्थके तत्त्वको जानते हो। तुमने बड़े भारी तपका संग्रह किया है। अतः दूसरेकी स्त्रीको अपने घरमें रोक रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है ॥ १७ ॥

नहि धर्मविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १८ ॥

'धर्मविरुद्ध कार्योंमें बहुत-से अनर्थ भरे रहते हैं। वे कर्ताका जड़मूलसे नाश कर डालते हैं। अतः तुम-जैसे बुद्धिमान् पुरुष ऐसे कार्योंमें नहीं प्रवृत्त होते ॥ १८ ॥

कश्च लक्ष्मणमुक्तानां रामकोपानुवर्तिनाम् ।
शराणामग्रतः स्थातुं शक्तो देवासुरेष्वपि ॥ १९ ॥

'देवताओं और असुरोंमें भी कौन ऐसा वीर है, जो श्रीरामचन्द्रजीके क्रोध करनेके पश्चात् लक्ष्मणके छोड़े हुए बाणोंके सामने ठहर सके ॥ १९ ॥

न चापि त्रिषु लोकेषु राजन् विद्येत कश्चन ।
राघवस्य व्यलीकं यः कृत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥ २० ॥

'राजन्! तीनों लोकोंमें एक भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो भगवान् श्रीरामका अपराध करके सुखी रह सके ॥ २० ॥

तत् त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुयायि च ।
मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम् ॥ २१ ॥

'इसलिये मेरी धर्म और अर्थके अनुकूल बात, जो तीनों कालोंमें हितकर है, मान लो और जानकीजीको श्रीरामचन्द्रजीके पास लौटा दो ॥ २१ ॥

दृष्टा हीयं मया देवी लब्धं यदिह दुर्लभम्।
उत्तरं कर्म यच्छेषं निमित्तं तत्र राघवः ॥ २२ ॥

'मैंने इन देवी सीताका दर्शन कर लिया। जो दुर्लभ वस्तु थी, उसे यहाँ पा लिया। इसके बाद जो कार्य शेष है, उसके साधनमें श्रीरघुनाथजी ही निमित्त हैं ॥ २२ ॥

लक्षितेयं मया सीता तथा शोकपरायणा।
गृहे यां नाभिजानासि पञ्चास्यामिव पन्नगीम् ॥ २३ ॥

'मैंने यहाँ सीताकी अवस्थाको लक्ष्य किया है। वे निरन्तर शोकमें डूबी रहती हैं। सीता तुम्हारे घरमें पाँच फनवाली नागिनके समान निवास करती हैं, जिन्हें तुम नहीं जानते हो ॥ २३ ॥

नेयं जरयितुं शक्या सासुरैरमरैरपि।
विषसंसृष्टमत्यर्थं भुक्तमन्नमिवौजसा ॥ २४ ॥

'जैसे अत्यन्त विषमिश्रित अन्नको खाकर कोई उसे बलपूर्वक नहीं पचा सकता, उसी प्रकार सीताजीको अपनी शक्तिसे पचा लेना देवताओं और असुरोंके लिये भी असम्भव है ॥ २४ ॥

तपःसंतापलब्धस्ते सोऽयं धर्मपरिग्रहः।
न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः ॥ २५ ॥

'तुमने तपस्याका कष्ट उठाकर धर्मके फलस्वरूप जो यह ऐश्वर्यका संग्रह किया है तथा शरीर और प्राणोंको चिरकालतक धारण करनेकी शक्ति प्राप्त की है, उसका विनाश करना उचित नहीं ॥ २५ ॥

अवध्यतां तपोभिर्यां भवान् समनुपश्यति।
आत्मनः सासुरैर्देवैर्हेतुस्तत्राप्ययं महान् ॥ २६ ॥

'तुम तपस्याके प्रभावसे देवताओं और असुरोंद्वारा जो अपनी अवध्यता देख रहे हो, उसमें भी तपस्याजनित यह धर्म ही महान् कारण है (अथवा उस अवध्यताके होते हुए भी तुम्हारे वधका दूसरा महान् कारण उपस्थित है) ॥ २६ ॥

सुग्रीवो न च देवोऽयं न यक्षो न च राक्षसः।
मानुषो राघवो राजन् सुग्रीवश्च हरीश्वरः।
तस्मात् प्राणपरित्राणं कथं राजन् करिष्यसि ॥ २७ ॥

'राक्षसराज! सुग्रीव और श्रीरामचन्द्रजी न तो देवता हैं, न यक्ष हैं और न राक्षस ही हैं। श्रीरघुनाथजी मनुष्य हैं और सुग्रीव वानरोंके राजा। अतः उनके हाथसे तुम अपने प्राणोंकी रक्षा कैसे करोगे ? ॥ २७ ॥

न तु धर्मोपसंहारमधर्मफलसंहितम्।
तदेव फलमन्वेति धर्मश्चाधर्मनाशनः ॥ २८ ॥

'जो पुरुष प्रबल अधर्मके फलसे बँधा हुआ है, उसे धर्मका फल नहीं मिलता। वह उस अधर्मफलको ही पाता है। हाँ, यदि उस अधर्मके बाद किसी प्रबल धर्मका अनुष्ठान किया गया हो तो वह पहलेके अधर्मका नाशक होता है* ॥ २८ ॥

प्राप्तं धर्मफलं तावद् भवता नात्र संशयः।
फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे ॥ २९ ॥

'तुमने पहले जो धर्म किया था, उसका पूरा-पूरा फल तो यहाँ पा लिया, अब इस सीताहरणरूपी अधर्मका फल भी तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा ॥ २९ ॥

जनस्थानवधं बुद्ध्वा वालिनश्च वधं तथा।
रामसुग्रीवसख्यं च बुद्ध्यस्व हितमात्मनः ॥ ३० ॥

'जनस्थानके राक्षसोंका संहार, वालीका वध और श्रीराम तथा सुग्रीवकी मैत्री—इन तीनों कार्योंको अच्छी तरह समझ लो। उसके बाद अपने हितका विचार करो ॥ ३० ॥

कामं खल्वहमप्येकः सवाजिरथकुञ्जराम्।
लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः ॥ ३१ ॥

'यद्यपि मैं अकेला ही हाथी, घोड़े और रथोंसहित समूची लङ्काका नाश कर सकता हूँ, तथापि श्रीरघुनाथजीका ऐसा विचार नहीं है—उन्होंने मुझे इस कार्यके लिये आज्ञा नहीं दी है ॥ ३१ ॥

रामेण हि प्रतिज्ञातं हर्यृक्षगणसंनिधौ।
उत्सादनममित्राणां सीता यैस्तु प्रधर्षिता ॥ ३२ ॥

'जिन लोगोंने सीताका तिरस्कार किया है, उन शत्रुओं-का स्वयं ही संहार करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीने वानरों और भालुओंके सामने प्रतिज्ञा की है ॥ ३२ ॥

अपकुर्वन् हि रामस्य साक्षादपि पुरंदरः।
न सुखं प्राप्नुयादन्यः किं पुनस्त्वद्विधो जनः ॥ ३३ ॥

'भगवान् श्रीरामका अपराध करके साक्षात् इन्द्र भी सुख नहीं पा सकते, फिर तुम्हारे-जैसे साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३३ ॥

यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे।
कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम् ॥ ३४ ॥

'जिनको तुम सीताके नामसे जानते हो और जो इस समय तुम्हारे अन्तःपुरमें मौजूद हैं, उन्हें सम्पूर्ण लङ्काका विनाश करनेवाली कालरात्रि समझो ॥ ३४ ॥

तदलं कालपाशेन सीताविग्रहरूपिणा।
स्वयं स्कन्धावसक्तेन क्षेममात्मनि चिन्त्यताम् ॥ ३५ ॥

'सीताका शरीर धारण करके तुम्हारे पास कालकी फाँसी आ पहुँची है, उसमें स्वयं गला फँसाना ठीक नहीं है; अतः अपने कल्याणकी चिन्ता करो ॥ ३५ ॥

---

* जैसा कि श्रुतिका वचन है—'धर्मेण पापमपनुदति।' अर्थात् धर्मसे मनुष्य अपने पापको दूर करता है। स्मृतियोंमें बताये गये प्रायश्चित्त कृच्छ्रव्रत आदि भी इसी बातके समर्थक हैं।

सीतायास्तेजसा दग्धां रामकोपप्रदीपिताम्।
दह्यमानामिमां पश्य पुरीं साट्टप्रतोलिकाम्॥ ३६॥

'देखो, अट्टालिकाओं और गलियोंसहित यह लङ्कापुरी सीताजीके तेज और श्रीरामकी क्रोधाग्निसे जलकर भस्म होने जा रही है (बचा सको तो बचाओ)॥ ३६॥

स्वानि मित्राणि मन्त्रींश्च ज्ञातीन् भ्रातॄन् सुतान् हितान्।
भोगान् दारांश्च लङ्कां च मा विनाशमुपानय॥ ३७॥

'इन मित्रों, मन्त्रियों, कुटुम्बीजनों, भाइयों, पुत्रों, हितकारियों, स्त्रियों, सुख-भोगके साधनों तथा समूची लङ्काको मौतके मुखमें न झोंको॥ ३७॥

सत्यं राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचनं मम।
रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः॥ ३८॥

'राक्षसोंके राजाधिराज! मैं भगवान् श्रीरामका दास हूँ, दूत हूँ और विशेषतः वानर हूँ। मेरी सच्ची बात सुनो—॥

सर्वाँल्लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः॥ ३९॥

'महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके फिर उनका नये सिरेसे निर्माण करनेकी शक्ति रखते हैं॥ ३९॥

देवासुरनरेन्द्रेषु यक्षरक्षोरगेषु च।
विद्याधरेषु नागेषु गन्धर्वेषु मृगेषु च॥ ४०॥
सिद्धेषु किंनरेन्द्रेषु पतत्रिषु च सर्वतः।
सर्वत्र सर्वभूतेषु सर्वकालेषु नास्ति सः॥ ४१॥
यो रामं प्रति युध्येत विष्णुतुल्यपराक्रमम्।

'भगवान् श्रीराम श्रीविष्णुके तुल्य पराक्रमी हैं। देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, सर्प, विद्याधर, नाग, गन्धर्व, मृग, सिद्ध, किंनर, पक्षी एवं अन्य समस्त प्राणियोंमें कहीं किसी समय कोई भी ऐसा नहीं है, जो श्रीरघुनाथजीके साथ लोहा ले सके॥ ४०-४१½॥

सर्वलोकेश्वरस्येह कृत्वा विप्रियमीदृशम्।
रामस्य राजसिंहस्य दुर्लभं तव जीवितम्॥ ४२॥

'सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर राजसिंह श्रीरामका ऐसा महान् अपराध करके तुम्हारा जीवित रहना कठिन है॥ ४२॥

देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र
गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः।
रामस्य लोकत्रयनायकस्य
स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे॥ ४३॥

'निशाचरराज! श्रीरामचन्द्रजी तीनों लोकोंके स्वामी हैं। देवता, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग तथा यक्ष—ये सब मिलकर भी युद्धमें उनके सामने नहीं टिक सकते॥ ४३॥

ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा
रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥ ४४॥

'चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा, तीन नेत्रोंवाले त्रिपुरनाशक रुद्र अथवा देवताओंके स्वामी महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समराङ्गणमें श्रीरघुनाथजीके सामने नहीं ठहर सकते'॥ ४४॥

स सौष्ठवोपेतमदीनवादिनः
कपेर्निशम्याप्रतिमोऽप्रियं वचः।
दशाननः कोपविवृत्तलोचनः
समादिशत् तस्य वधं महाकपेः॥ ४५॥

वीरभावसे निर्भयतापूर्वक भाषण करनेवाले महाकपि हनुमान्‌जीकी बातें बड़ी सुन्दर एवं युक्तियुक्त थीं तथापि वे रावणको अप्रिय लगीं। उन्हें सुनकर अनुपम शक्तिशाली दशानन रावणने क्रोधसे आँखें तरेरकर सेवकोंको उनके वधके लिये आज्ञा दी॥ ४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः॥ ५१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५१॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

विभीषणका दूतके वधको अनुचित बताकर उसे दूसरा कोई दण्ड देनेके लिये कहना तथा रावणका उनके अनुरोधको स्वीकार कर लेना

स तस्य वचनं श्रुत्वा वानरस्य महात्मनः।
आज्ञापयद् वधं तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः॥ १॥

वानरशिरोमणि महात्मा हनुमान्‌जीका वचन सुनकर क्रोधसे तमतमाये हुए रावणने अपने सेवकोंको आज्ञा दी—'इस वानरका वध कर डालो'॥ १॥

वधे तस्य समाज्ञप्ते रावणेन दुरात्मना।
निवेदितवतो दौत्यं नानुमेने विभीषणः॥ २॥

दुरात्मा रावणने जब उनके वधकी आज्ञा दी, तब विभीषण भी वहीं थे। उन्होंने उस आज्ञाका अनुमोदन नहीं किया; क्योंकि हनुमान्‌जी अपनेको सुग्रीव एवं श्रीरामका दूत बता चुके थे॥ २॥

तं रक्षोऽधिपतिं क्रुद्धं तच्च कार्यमुपस्थितम्।

विदित्वा चिन्तयामास कार्यं कार्यविधौ स्थितः ॥ ३ ॥

एक ओर राक्षसराज रावण क्रोधसे भरा हुआ था, दूसरी ओर वह दूतके वधका कार्य उपस्थित था। यह सब जानकर यथोचित कार्यके सम्पादनमें लगे हुए विभीषणने समयोचित कर्तव्यका निश्चय किया ॥ ३ ॥

निश्चितार्थस्ततः साम्ना पूज्यं शत्रुजिदग्रजम्।
उवाच हितमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

निश्चय हो जानेपर वार्तालापकुशल विभीषणने पूजनीय ज्येष्ठ भ्राता शत्रुविजयी रावणसे शान्तिपूर्वक यह हितकर वचन कहा— ॥ ४ ॥

क्षमस्व रोषं त्यज राक्षसेन्द्र
प्रसीद मे वाक्यमिदं शृणुष्व।
वधं न कुर्वन्ति परावरज्ञा
दूतस्य सन्तो वसुधाधिपेन्द्राः ॥ ५ ॥

'राक्षसराज! क्षमा कीजिये, क्रोधको त्याग दीजिये, प्रसन्न होइये और मेरी यह बात सुनिये। ऊँच-नीचका ज्ञान रखनेवाले श्रेष्ठ राजालोग दूतका वध नहीं करते हैं ॥ ५ ॥

राजन् धर्मविरुद्धं च लोकवृत्तेश्च गर्हितम्।
तव चासदृशं वीर कपेरस्य प्रमापणम् ॥ ६ ॥

'वीर महाराज! इस वानरको मारना धर्मके विरुद्ध और लोकाचारकी दृष्टिसे भी निन्दित है। आप-जैसे वीरके लिये तो यह कदापि उचित नहीं है ॥ ६ ॥

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च राजधर्मविशारदः।
परावरज्ञो भूतानां त्वमेव परमार्थवित् ॥ ७ ॥
गृह्यन्ते यदि रोषेण त्वादृशोऽपि विचक्षणाः।
ततः शास्त्रविपश्चित्त्वं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८ ॥

'आप धर्मके ज्ञाता, उपकारको माननेवाले और राजधर्मके विशेषज्ञ हैं, भले-बुरेका ज्ञान रखनेवाले और परमार्थके ज्ञाता हैं। यदि आप-जैसे विद्वान् भी रोषके वशीभूत हो जायँ तब तो समस्त शास्त्रोंका पाण्डित्य प्राप्त करना केवल श्रम ही होगा ॥ ७-८ ॥

तस्मात् प्रसीद शत्रुघ्न राक्षसेन्द्र दुरासद।
युक्तायुक्तं विनिश्चित्य दूतदण्डो विधीयताम् ॥ ९ ॥

'अतः शत्रुओंका संहार करनेवाले दुर्जय राक्षसराज! आप प्रसन्न होइये और उचित-अनुचितका विचार करके दूतके योग्य किसी दण्डका विधान कीजिये' ॥ ९ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
कोपेन महताऽऽविष्टो वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ १० ॥

विभीषणकी बात सुनकर राक्षसोंका स्वामी रावण महान् कोपसे भरकर उन्हें उत्तर देता हुआ बोला— ॥ १० ॥

न पापानां वधे पापं विद्यते शत्रुसूदन।
तस्मादिमं वधिष्यामि वानरं पापकारिणम् ॥ ११ ॥

'शत्रुसूदन! पापियोंका वध करनेमें पाप नहीं है। इस वानरने वाटिकाका विध्वंस तथा राक्षसोंका वध करके पाप किया है। इसलिये अवश्य ही इसका वध करूँगा' ॥ ११ ॥

अधर्ममूलं बहुदोषयुक्त-
मनार्यजुष्टं वचनं निशम्य।
उवाच वाक्यं परमार्थतत्त्वं
विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः ॥ १२ ॥

रावणका वचन अनेक दोषोंसे युक्त और पापका मूल था। वह श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य नहीं था। उसे सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विभीषणने उत्तम कर्तव्यका निश्चय करानेवाली बात कही— ॥ १२ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
धर्मार्थतत्त्वं वचनं शृणुष्व।
दूता न वध्याः समयेषु राजन्
सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः ॥ १३ ॥

'लङ्केश्वर! प्रसन्न होइये। राक्षसराज! मेरे धर्म और अर्थतत्त्वसे युक्त वचनको ध्यान देकर सुनिये। राजन्! सत्पुरुषोंका कथन है कि दूत कहीं किसी समय भी वध करने योग्य नहीं होते ॥ १३ ॥

असंशयं शत्रुरयं प्रवृद्धः
कृतं ह्यनेनाप्रियमप्रमेयम्।
न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो
दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः ॥ १४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि यह बहुत बड़ा शत्रु है; क्योंकि इसने वह अपराध किया है जिसकी कहीं तुलना नहीं है, तथापि सत्पुरुष दूतका वध करना उचित नहीं बताते हैं। दूतके लिये अन्य प्रकारके बहुत-से दण्ड देखे गये हैं ॥ १४ ॥

वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो
मौण्ड्यं तथा लक्षणसंनिपातः।
एतान् हि दूते प्रवदन्ति दण्डान्
वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति ॥ १५ ॥

'किसी अङ्गको भङ्ग या विकृत कर देना, कोड़ेसे पिटवाना, सिर मुड़वा देना तथा शरीरमें कोई चिह्न दाग देना—ये ही दण्ड दूतके लिये उचित बताये गये हैं। उसके लिये वधका दण्ड तो मैंने कभी नहीं सुना है ॥ १५ ॥

कथं च धर्मार्थविनीतबुद्धिः
परावरप्रत्ययनिश्चितार्थः।
भवद्विधः कोपवशे हि तिष्ठेत्
कोपं न गच्छन्ति हि सत्त्ववन्तः ॥ १६ ॥

'आपकी बुद्धि धर्म और अर्थकी शिक्षासे युक्त है। आप ऊँच-नीचका विचार करके कर्तव्यका निश्चय करनेवाले हैं। आप-जैसा नीतिज्ञ पुरुष कोपके अधीन कैसे हो सकता है? क्योंकि शक्तिशाली पुरुष क्रोध नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

न धर्मवादे न च लोकवृत्ते
न शास्त्रबुद्धिग्रहणेषु वापि।
विद्येत कश्चित्तव वीर तुल्य-
स्त्वं ह्युत्तमः सर्वसुरासुराणाम् ॥ १७ ॥

'वीर! धर्मकी व्याख्या करने, लोकाचारका पालन करने अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तको समझनेमें आपके समान दूसरा कोई नहीं है। आप सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १७ ॥

पराक्रमोत्साहमनस्विनां च
सुरासुराणामपि दुर्जयेन।
त्वयाप्रमेयेण सुरेन्द्रसंघा
जिताश्च युद्धेष्वसकृन्नरेन्द्राः ॥ १८ ॥

'पराक्रम और उत्साहसे सम्पन्न जो मनस्वी देवता और असुर हैं, उनके लिये भी आपपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। आप अप्रमेय शक्तिशाली हैं। आपने अनेक युद्धोंमें बारंबार देवेश्वरों तथा नरेशोंको पराजित किया है ॥ १८ ॥

इत्थंविधस्यामरदैत्यशत्रोः
शूरस्य वीरस्य तवाजितस्य।
कुर्वन्ति वीरा मनसाप्यलीकं
प्राणैर्विमुक्ता न तु भोः पुरा ते ॥ १९ ॥

'देवताओं और दैत्योंसे भी शत्रुता रखनेवाले ऐसे आप अपराजित शूरवीरका पहले कभी शत्रुपक्षी वीर मनसे भी पराभव नहीं कर सके हैं। जिन्होंने सिर उठाया, वे तत्काल प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥ १९ ॥

न चाप्यस्य कपेर्घाते कंचित् पश्याम्यहं गुणम्।
तेष्वयं पात्यतां दण्डो यैरयं प्रेषितः कपिः ॥ २० ॥

'इस वानरको मारनेमें मुझे कोई लाभ नहीं दिखायी देता। जिन्होंने इसे भेजा है, उन्हींको यह प्राणदण्ड दिया जाय ॥ २० ॥

साधुर्वा यदि वासाधुः परैरेष समर्पितः।
ब्रुवन् परार्थं परवान् न दूतो वधमर्हति ॥ २१ ॥

'यह भला हो या बुरा, शत्रुओंने इसे भेजा है; अतः यह उन्हींके स्वार्थकी बात करता है। दूत सदा पराधीन होता है, अतः वह वधके योग्य नहीं होता है ॥ २१ ॥

अपि चास्मिन् हते नान्यं राजन् पश्यामि खेचरम्।
इह यः पुनरागच्छेत् परं पारं महोदधेः ॥ २२ ॥

'राजन्! इसके मारे जानेपर मैं दूसरे किसी ऐसे आकाशचारी प्राणीको नहीं देखता, जो शत्रुके समीपसे महासागरके इस पार फिर आ सके (ऐसी दशामें शत्रुकी गतिविधिका आपको पता नहीं लग सकेगा) ॥ २२ ॥

तस्मान्नास्य वधे यत्नः कार्यः परपुरंजय।
भवान् सेन्द्रेषु देवेषु यत्नमास्थातुमर्हति ॥ २३ ॥

'अतः शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले महाराज! आपको इस दूतके वधके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिये। आप तो इस योग्य हैं कि इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर चढ़ाई कर सकें ॥ २३ ॥

अस्मिन् विनष्टे नहि भूतमन्यं
पश्यामि यस्तौ नरराजपुत्रौ।
युद्धाय युद्धप्रिय दुर्विनीता-
वुद्योजयेद् वै भवता विरुद्धौ ॥ २४ ॥

'युद्धप्रेमी महाराज! इसके नष्ट हो जानेपर मैं दूसरे किसी प्राणीको ऐसा नहीं देखता, जो आपसे विरोध करनेवाले उन दोनों स्वतन्त्र प्रकृतिके राजकुमारोंको युद्धके लिये तैयार कर सके ॥ २४ ॥

पराक्रमोत्साहमनस्विनां च
सुरासुराणामपि दुर्जयेन।
त्वया मनोनन्दन नैर्ऋतानां
युद्धाय निर्नाशयितुं न युक्तम् ॥ २५ ॥

'राक्षसोंके हृदयको आनन्दित करनेवाले वीर! आप देवताओं और दैत्योंके लिये भी दुर्जय हैं; अतः पराक्रम और उत्साहसे भरे हुए हृदयवाले इन राक्षसोंके मनमें जो युद्ध करनेका हौसला बढ़ा हुआ है, उसे नष्ट कर देना आपके लिये कदापि उचित नहीं है ॥ २५ ॥

हिताश्च शूराश्च समाहिताश्च
कुलेषु जाताश्च महागुणेषु।
मनस्विनः शस्त्रभृतां वरिष्ठाः
कोपप्रशस्ताः सुभृताश्च योधाः ॥ २६ ॥
तदेकदेशेन बलस्य तावत्
केचित् तवादेशकृतोऽद्य यान्तु।
तौ राजपुत्रावुपगृह्य मूढौ
परेषु ते भावयितुं प्रभावम् ॥ २७ ॥

'मेरी राय तो यह है कि उन विरह-दुःखसे विकलचित्त राजकुमारोंको कैद करके शत्रुओंपर आपका प्रभाव डालने—दबदबा जमानेके लिये आपकी आज्ञासे थोड़ी-सी सेनाके साथ कुछ ऐसे योद्धा यहाँसे यात्रा करें, जो हितैषी, शूरवीर, सावधान, अधिक गुणवाले महान् कुलमें उत्पन्न, मनस्वी, शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, अपने रोष और जोशके लिये प्रशंसित तथा अधिक वेतन देकर अच्छी तरह पाले-पोसे गये हों' ॥२६-२७॥

निशाचराणामधिपोऽनुजस्य
विभीषणस्योत्तमवाक्यमिष्टम् ।
जग्राह बुद्ध्या सुरलोकशत्रु-
र्महाबलो राक्षसराजमुख्यः ॥ २८ ॥

अपने छोटे भाई विभीषणके इस उत्तम और प्रिय वचनको सुनकर निशाचरोंके स्वामी तथा देवलोकके शत्रु महाबली राक्षसराज रावणने बुद्धिसे सोच-विचारकर उसे स्वीकार कर लिया ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

राक्षसोंका हनुमान्‌जीकी पूँछमें आग लगाकर उन्हें नगरमें घुमाना

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दशग्रीवो महात्मनः ।
देशकालहितं वाक्यं भ्रातुरुत्तरमब्रवीत् ॥ १ ॥

छोटे भाई महात्मा विभीषणकी बात देश और कालके लिये उपयुक्त एवं हितकर थी । उसको सुनकर दशाननने इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

सम्यगुक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता ।
अवश्यं तु वधायान्यः क्रियतामस्य निग्रहः ॥ २ ॥

'विभीषण ! तुम्हारा कहना ठीक है । वास्तवमें दूतके वधकी बड़ी निन्दा की गयी है; परंतु वधके अतिरिक्त दूसरा कोई दण्ड इसे अवश्य देना चाहिये ॥ २ ॥

कपीनां किल लाङ्गूलमिष्टं भवति भूषणम् ।
तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु ॥ ३ ॥

'वानरोंको अपनी पूँछ बड़ी प्यारी होती है । वही इनका आभूषण है । अतः जितना जल्दी हो सके, इसकी पूँछ जला दो । जली पूँछ लेकर ही यह यहाँसे जाय ॥ ३ ॥

ततः पश्यन्त्वमुं दीनमङ्गवैरूप्यकर्शितम् ।
सुमित्रज्ञातयः सर्वे बान्धवाः ससुहृज्जनाः ॥ ४ ॥

'वहाँ इसके मित्र, कुटुम्बी, भाई-बन्धु तथा हितैषी सुहृद् इसे अङ्ग-भङ्गके कारण पीड़ित एवं दीन अवस्थामें देखें' ॥ ४ ॥

आज्ञापयद् राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम् ।
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम् ॥ ५ ॥

फिर राक्षसराज रावणने यह आज्ञा दी कि 'राक्षसगण इसकी पूँछमें आग लगाकर इसे सड़कों और चौराहोंसहित समूचे नगरमें घुमावें' ॥ ५ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोपकर्कशाः ।
वेष्टन्ते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः ॥ ६ ॥

स्वामीका यह आदेश सुनकर क्रोधके कारण कठोरतापूर्ण बर्ताव करनेवाले राक्षस हनुमान्‌जीकी पूँछमें पुराने सूती कपड़े लपेटने लगे ॥ ६ ॥

संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः ।
शुष्कमिन्धनमासाद्य वनेष्विव हुताशनम् ॥ ७ ॥

जब उनकी पूँछमें वस्त्र लपेटा जाने लगा, उस समय वनोंमें सूखी लकड़ी पाकर भभक उठनेवाली आगकी भाँति उन महाकपिका शरीर बढ़कर बहुत बड़ा हो गया ॥ ७ ॥

तैलेन परिषिच्याथ तेऽग्निं तत्रोपपादयन् ।
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन राक्षसांस्तानताडयत् ॥ ८ ॥
रोषामर्षपरीतात्मा बालसूर्यसमाननः ।

राक्षसोंने वस्त्र लपेटनेके पश्चात् उनकी पूँछपर तेल छिड़क दिया और आग लगा दी । तब हनुमान्‌जीका हृदय रोषसे भर गया । उनका मुख प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण आभासे उद्भासित हो उठा और वे अपनी जलती हुई पूँछसे ही राक्षसोंको पीटने लगे ॥ ८½ ॥

स भूयः संगतैः क्रूरै राक्षसैर्हरिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
सहस्त्रीबालवृद्धाश्च जग्मुः प्रीतिं निशाचराः ।

तब क्रूर राक्षसोंने मिलकर पुनः उन वानरशिरोमणिको कसकर बाँध दिया । यह देख स्त्रियों, बालकों और वृद्धोंसहित समस्त निशाचर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ९½ ॥

निबद्धः कृतवान् वीरस्तत्कालसदृशीं मतिम् ॥ १० ॥
कामं खलु न मे शक्ता निबद्धस्यापि राक्षसाः ।
छित्त्वा पाशान् समुत्पत्य हन्यामहमिमान् पुनः ॥ ११ ॥

तब वीरवर हनुमान्‌जी बँधे-बँधे ही उस समयके योग्य विचार करने लगे—'यद्यपि मैं बँधा हुआ हूँ तो भी इन राक्षसोंका मुझपर जोर नहीं चल सकता । इन बन्धनोंको तोड़कर मैं ऊपर उछल जाऊँगा और पुनः इन्हें मार सकूँगा ॥१०-११॥

यदि भर्तृहितार्थाय चरन्तं भर्तृशासनात् ।
निबध्नन्ते दुरात्मानो न तु मे निष्कृतिः कृता ॥ १२ ॥

'मैं अपने स्वामी श्रीरामके हितके लिये विचर रहा हूँ, तो भी ये दुरात्मा राक्षस यदि अपने राजाके आदेशसे मुझे बाँध रहे हैं तो इससे मैं जो कुछ कर चुका हूँ, उसका बदला नहीं पूरा हो सका है ॥ १२ ॥

सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि।
किं तु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमीदृशम् ॥ १३ ॥

'मैं युद्धस्थलमें अकेला ही इन समस्त राक्षसोंका संहार करनेमें पूर्णतः समर्थ हूँ, किंतु इस समय श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नताके लिये मैं ऐसे बन्धनको चुपचाप सह लूँगा ॥ १३ ॥

लङ्का चारयितव्या मे पुनरेव भवेदिति।
रात्रौ नहि सुदृष्टा मे दुर्गकर्मविधानतः ॥ १४ ॥

'ऐसा करनेसे मुझे पुनः समूची लङ्कामें विचरने और इसके निरीक्षण करनेका अवसर मिलेगा; क्योंकि रातमें घूमनेके कारण मैंने दुर्गरचनाकी विधिपर दृष्टि रखते हुए इसका अच्छी तरह अवलोकन नहीं किया था ॥ १४ ॥

अवश्यमेव द्रष्टव्या मया लङ्का निशाक्षये।
कामं बध्नन्तु मे भूयः पुच्छस्योद्दीपनेन च ॥ १५ ॥
पीडां कुर्वन्ति रक्षांसि न मेऽस्ति मनसः श्रमः।

'अतः सबेरा हो जानेपर मुझे अवश्य ही लङ्का देखनी है। भले ही ये राक्षस मुझे बारंबार बाँधें और पूँछमें आग लगाकर पीड़ा पहुँचायें। मेरे मनमें इसके कारण तनिक भी कष्ट नहीं होगा' ॥ १५½ ॥

ततस्ते संवृताकारं सत्त्ववन्तं महाकपिम् ॥ १६ ॥
परिगृह्य ययुर्हृष्टा राक्षसाः कपिकुञ्जरम्।
शङ्खभेरीनिनादैश्च घोषयन्तः स्वकर्मभिः ॥ १७ ॥
राक्षसाः क्रूरकर्माणश्चारयन्ति स्म तां पुरीम्।

तदनन्तर वे क्रूरकर्मा राक्षस अपने दिव्य आकारको छिपाये रखनेवाले सत्त्वगुणशाली महान् वानरवीर कपिकुञ्जर हनुमान्‌जीको पकड़कर बड़े हर्षके साथ ले चले और शङ्ख एवं भेरी बजाकर उनके (रावण-द्रोह आदि) अपराधोंकी घोषणा करते हुए उन्हें लङ्कापुरीमें सब ओर घुमाने लगे ॥ १६-१७½ ॥

अन्वीयमानो रक्षोभिर्ययौ सुखमरिंदमः ॥ १८ ॥
हनूमांश्चारयामास राक्षसानां महापुरीम्।
अथापश्यद् विमानानि विचित्राणि महाकपिः ॥ १९ ॥

शत्रुदमन हनुमान्‌जी बड़ी मौजसे आगे बढ़ने लगे। समस्त राक्षस उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। महाकपि हनुमान्‌जी राक्षसोंकी उस विशाल पुरीमें विचरते हुए उसे देखने लगे। उन्होंने वहाँ बड़े विचित्र विमान देखे ॥ १८-१९ ॥

संवृतान् भूमिभागांश्च सुविभक्तांश्च चत्वरान्।
रथ्याश्च गृहसम्बाधाः कपिः शृङ्गाटकानि च ॥ २० ॥
तथा रथ्योपरथ्याश्च तथैव च गृहान्तरान्।

परकोटेसे घिरे हुए कितने ही भूभाग, पृथक्-पृथक् बने हुए सुन्दर चबूतरे, घनीभूत गृहपंक्तियोंसे घिरी हुई सड़कें, चौराहे, छोटी-बड़ी गलियाँ और घरोंके मध्यभाग—इन सबको वे बड़े गौरसे देखने लगे ॥ २०½ ॥

चत्वरेषु चतुष्केषु राजमार्गे तथैव च ॥ २१ ॥
घोषयन्ति कपिं सर्वे चार इत्येव राक्षसाः।

सब राक्षस उन्हें चौराहोंपर, चार खंभेवाले मण्डपोंमें तथा सड़कोंपर घुमाने और जासूस कहकर उनका परिचय देने लगे ॥ २१½ ॥

स्त्रीबालवृद्धा निर्जग्मुस्तत्र तत्र कुतूहलात् ॥ २२ ॥
तं प्रदीपितलाङ्गूलं हनूमन्तं दिदृक्षवः।

भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जलती पूँछवाले हनुमान्‌जीको देखनेके लिये वहाँ बहुत-से बालक, वृद्ध और स्त्रियाँ कौतूहलवश घरसे बाहर निकल आती थीं ॥ २२½ ॥

दीप्यमाने ततस्तस्य लाङ्गूलाग्रे हनूमतः ॥ २३ ॥
राक्षस्यस्ता विरूपाक्ष्यः शंसुर्देव्यास्तदप्रियम्।

हनुमान्‌जीकी पूँछमें जब आग लगायी जा रही थी, उस समय भयंकर नेत्रोंवाली राक्षसियोंने सीतादेवीके पास जाकर उनसे यह अप्रिय समाचार कहा— ॥ २३½ ॥

यस्त्वया कृतसंवादः सीते ताम्रमुखः कपिः ॥ २४ ॥
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन स एष परिणीयते।

'सीते! जिस लाल मुँहवाले बन्दरने तुम्हारे साथ बातचीत की थी, उसकी पूँछमें आग लगाकर उसे सारे नगरमें घुमाया जा रहा है' ॥ २४½ ॥

श्रुत्वा तद् वचनं क्रूरमात्मापहरणोपमम् ॥ २५ ॥
वैदेही शोकसंतप्ता हुताशनमुपागमत्।

अपने अपहरणकी ही भाँति दुःख देनेवाली यह क्रूरतापूर्ण बात सुनकर विदेहनन्दिनी सीता शोकसे संतप्त हो उठीं और मन-ही-मन अग्निदेवकी उपासना करने लगीं ॥ २५½ ॥

मङ्गलाभिमुखी तस्य सा तदासीन्महाकपेः ॥ २६ ॥
उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम्।

उस समय विशाललोचना पवित्रहृदया सीता महाकपि हनुमान्‌जीके लिये मङ्गलकामना करती हुई अग्निदेवकी उपासनामें संलग्न हो गयीं और इस प्रकार बोलीं— ॥ २६½ ॥

यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः।
यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः ॥ २७ ॥

'अग्निदेव! यदि मैंने पतिकी सेवा की है और यदि मुझमें कुछ भी तपस्या तथा पातिव्रत्यका बल है तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ ॥ २७ ॥

यदि किंचिदनुक्रोशस्तस्य मय्यस्ति धीमतः।
यदि वा भाग्यशेषो मे शीतो भव हनूमतः ॥ २८ ॥

'यदि बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामके मनमें मेरे प्रति

किंचिन्मात्र भी दया है अथवा यदि मेरा सौभाग्य शेष है तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ ॥ २८ ॥

यदि मां वृत्तसम्पन्नां तत्समागमलालसाम् ।
स विजानाति धर्मात्मा शीतो भव हनूमतः ॥ २९ ॥

'यदि धर्मात्मा श्रीरघुनाथजी मुझे सदाचारसे सम्पन्न और अपनेसे मिलनेके लिये उत्सुक जानते हैं तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ ॥ २९ ॥

यदि मां तारयेदार्यः सुग्रीवः सत्यसंगरः ।
अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधाच्छीतो भव हनूमतः ॥ ३० ॥

'यदि सत्यप्रतिज्ञ आर्य सुग्रीव इस दुःखके महासागरसे मेरा उद्धार कर सकें तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ' ॥ ३० ॥

ततस्तीक्ष्णार्चिरव्यग्रः प्रदक्षिणशिखोऽनलः ।
जज्वाल मृगशावाक्ष्याः शंसन्निव शुभं कपेः ॥ ३१ ॥

मृगनयनी सीताके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीखी लपटोंवाले अग्निदेव मानो उन्हें हनुमान्‌के मङ्गलकी सूचना देते हुए शान्तभावसे जलने लगे । उनकी शिखा प्रदक्षिण-भावसे उठने लगी ॥ ३१ ॥

हनूमज्जनकश्चैव पुच्छानलयुतोऽनिलः ।
ववौ स्वास्थ्यकरो देव्याः प्रालेयानिलशीतलः ॥ ३२ ॥

हनुमान्‌के पिता वायुदेवता भी उनकी पूँछमें लगी हुई आगसे युक्त हो बर्फीली हवाके समान शीतल और देवी सीताके लिये स्वास्थ्यकारी (सुखद) होकर बहने लगे ॥३२॥

दह्यमाने च लाङ्गूले चिन्तयामास वानरः ।
प्रदीप्तोऽग्निरयं कस्मान्न मां दहति सर्वतः ॥ ३३ ॥

उधर पूँछमें आग लगायी जानेपर हनुमान्‌जी सोचने लगे—'अहो ! यह आग सब ओरसे प्रज्वलित होनेपर भी मुझे जलाती क्यों नहीं है ? ॥ ३३ ॥

दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम् ।
शिशिरस्येव सम्पातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः ॥ ३४ ॥

'इसमें इतनी ऊँची ज्वाला उठती दिखायी देती है, तथापि यह आग मुझे पीड़ा नहीं दे रही है । मालूम होता है मेरी पूँछके अग्रभागमें बर्फका ढेर-सा रख दिया गया है ॥३४॥

अथ वा तदिदं व्यक्तं यद् दृष्टं प्लवता मया ।
रामप्रभावादाश्चर्यं पर्वतः सरितां पतौ ॥ ३५ ॥

'अथवा उस दिन समुद्रको लाँघते समय मैंने सागरमें श्रीरामचन्द्रजीके प्रभावसे पर्वतके प्रकट होनेकी जो आश्चर्य-जनक घटना देखी थी, उसी तरह आज वह अग्निकी शीतलता भी व्यक्त हुई है ॥ ३५ ॥

यदि तावत् समुद्रस्य मैनाकस्य च धीमतः ।
रामार्थं सम्भ्रमस्तादृक्किमग्निर्न करिष्यति ॥ ३६ ॥

'यदि श्रीरामके उपकारके लिये समुद्र और बुद्धिमान् मैनाकके मनमें वैसी आदरपूर्ण उतावली देखी गयी तो क्या अग्निदेव उन भगवान्‌के उपकारके लिये शीतलता नहीं प्रकट करेंगे ? ॥ ३६ ॥

सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च ।
पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः ॥ ३७ ॥

'निश्चय ही भगवती सीताकी दया, श्रीरघुनाथजीके तेज तथा मेरे पिताकी मैत्रीके प्रभावसे अग्निदेव मुझे जला नहीं रहे हैं' ॥ ३७ ॥

भूयः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ।
कथमस्मद्विधस्येह बन्धनं राक्षसाधमैः ॥ ३८ ॥
प्रतिक्रियास्य युक्ता स्यात् सति मह्यं पराक्रमे ।

तदनन्तर कपिकुञ्जर हनुमान्‌ने पुनः एक मुहूर्ततक इस प्रकार विचार किया—'मेरे-जैसे पुरुषका यहाँ इन नीच निशाचरोंद्वारा बाँधा जाना कैसे उचित हो सकता है ? पराक्रम रहते हुए मुझे अवश्य इसका प्रतीकार करना चाहिये' ॥३८½॥

ततश्छित्त्वा च तान् पाशान् वेगवान् वै महाकपिः ॥ ३९ ॥
उत्पपाताथ वेगेन ननाद च महाकपिः ।

यह सोचकर वे वेगशाली महाकपि हनुमान् (जिन्हें राक्षसोंने पकड़ रखा था) उन बन्धनोंको तोड़कर बड़े वेगसे ऊपरको उछले और गर्जना करने लगे (उस समय भी उनका शरीर रस्सियोंमें बँधा हुआ ही था) ॥ ३९½ ॥

पुरद्वारं ततः श्रीमाञ्शैलशृङ्गमिवोन्नतम् ॥ ४० ॥
विभक्तरक्षःसम्बाधमाससादानिलात्मजः ।

उछलकर वे श्रीमान् पवनकुमार पर्वत-शिखरके समान ऊँचे नगरद्वारपर जा पहुँचे, जहाँ राक्षसोंकी भीड़ नहीं थी ॥ ४०½ ॥

स भूत्वा शैलसंकाशः क्षणेन पुनरात्मवान् ॥ ४१ ॥
ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत् ।
विमुक्तश्चाभवच्छ्रीमान् पुनः पर्वतसंनिभः ॥ ४२ ॥

पर्वताकार होकर भी वे मनस्वी हनुमान् पुनः क्षणभरमें बहुत ही छोटे और पतले हो गये । इस प्रकार उन्होंने अपने सारे बन्धनोंको निकाल फेंका । उन बन्धनोंसे मुक्त होते ही तेजस्वी हनुमान्‌जी फिर पर्वतके समान विशालकाय हो गये ॥ ४१-४२ ॥

वीक्षमाणश्च ददृशे परिघं तोरणाश्रितम् ।
स तं गृह्य महाबाहुः कालायसपरिष्कृतम् ।
रक्षिणस्तान् पुनः सर्वान् सूदयामास मारुतिः ॥ ४३ ॥

उस समय उन्होंने जब इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उन्हें फाटकके सहारे रखा हुआ एक परिघ दिखायी दिया ।

कालें लोहेके बने हुए उस परिघको लेकर महाबाहु पवन-पुत्रने वहाँके समस्त रक्षकोंको फिर मार गिराया ॥ ४३ ॥

स तान् निहत्वा रणचण्डविक्रमः
समीक्षमाणः पुनरेव लङ्काम्।
प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली
प्रकाशितादित्य इवार्चिमाली ॥ ४४ ॥

उन राक्षसोंको मारकर रणभूमिमें प्रचण्ड पराक्रम प्रकट करनेवाले हनुमान्‌जी पुनः लङ्कापुरीका निरीक्षण करने लगे। उस समय जलती हुई पूँछसे जो ज्वालाओंकी माला-सी उठ रही थी, उससे अलंकृत हुए वे वानरवीर तेजः-पुञ्जसे देदीप्यमान सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

लङ्कापुरीका दहन और राक्षसोंका विलाप

वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः।
वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत् ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीके सभी मनोरथ पूर्ण हो गये थे। उनका उत्साह बढ़ता जा रहा था। अतः वे लङ्काका निरीक्षण करते हुए शेष कार्यके सम्बन्धमें विचार करने लगे—॥ १ ॥

किं नु खल्ववशिष्टं मे कर्तव्यमिह साम्प्रतम्।
यदेषां रक्षसां भूयः संतापजननं भवेत् ॥ २ ॥

'अब इस समय लङ्कामें मेरे लिये कौन-सा ऐसा कार्य बाकी रह गया है, जो इन राक्षसोंको अधिक संताप देनेवाला हो ॥ २ ॥

वनं तावत्प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः।
बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम् ॥ ३ ॥

'प्रमदावनको तो मैंने पहले ही उजाड़ दिया था, बड़े-बड़े राक्षसोंको भी मौतके घाट उतार दिया और रावणकी सेनाके भी एक अंशका संहार कर डाला। अब दुर्गका विध्वंस करना शेष रह गया ॥ ३ ॥

दुर्गे विनाशिते कर्म भवेत् सुखपरिश्रमम्।
अल्पयत्नेन कार्येऽस्मिन् मम स्यात् सफलः श्रमः॥ ४ ॥

'दुर्गका विनाश हो जानेपर मेरे द्वारा समुद्र-लङ्घन आदि कर्मके लिये किया गया प्रयास सुखद एवं सफल होगा। मैंने सीताजीकी खोजके लिये जो परिश्रम किया है, वह थोड़े-से ही प्रयत्नद्वारा सिद्ध होनेवाले लङ्कादहनसे सफल हो जायगा ॥ ४ ॥

यो ह्ययं मम लाङ्गूले दीप्यते हव्यवाहनः।
अस्य संतर्पणं न्याय्यं कर्तुमेभिर्गृहोत्तमैः ॥ ५ ॥

'मेरी पूँछमें जो ये अग्निदेव देदीप्यमान हो रहे हैं, इन्हें इन श्रेष्ठ गृहोंकी आहुति देकर तृप्त करना न्यायसंगत जान पड़ता है' ॥ ५ ॥

ततः प्रदीप्तलाङ्गूलः सविद्युदिव तोयदः।
भवनाग्रेषु लङ्काया विचचार महाकपिः ॥ ६ ॥

ऐसा सोचकर जलती हुई पूँछके कारण बिजलीसहित मेघकी भाँति शोभा पानेवाले कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जी लङ्काके महलोंपर घूमने लगे ॥ ६ ॥

गृहाद् गृहं राक्षसानामुद्यानानि च वानरः।
वीक्षमाणो ह्यसंत्रस्तः प्रासादांश्च चचार सः ॥ ७ ॥

वे वानरवीर राक्षसोंके एक घरसे दूसरे घरपर पहुँचकर उद्यानों और राजभवनोंको देखते हुए निर्भय होकर विचरने लगे ॥ ७ ॥

अवप्लुत्य महावेगः प्रहस्तस्य निवेशनम्।
अग्निं तत्र विनिक्षिप्य श्वसनेन समो बली ॥ ८ ॥
ततोऽन्यत् पुप्लुवे वेश्म महापार्श्वस्य वीर्यवान्।
मुमोच हनुमानग्निं कालानलशिखोपमम् ॥ ९ ॥

घूमते-घूमते वायुके समान बलवान् और महान् वेगशाली हनुमान् उछलकर प्रहस्तके महलपर जा पहुँचे और उसमें आग लगाकर दूसरे घरपर कूद पड़े। वह महापार्श्वका निवासस्थान था। पराक्रमी हनुमान्‌ने उसमें भी कालाग्निकी लपटोंके समान प्रज्वलित होनेवाली आग फैला दी ॥ ८-९ ॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः।
शुकस्य च महातेजाः सारणस्य च धीमतः ॥ १० ॥

तत्पश्चात् वे महातेजस्वी महाकपि क्रमशः वज्रदंष्ट्र, शुक और बुद्धिमान् सारणके घरोंपर कूदे और उनमें आग लगाकर आगे बढ़ गये ॥ १० ॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म ददाह हरियूथपः।
जम्बुमालेः सुमालेश्च ददाह भवनं ततः ॥ ११ ॥

इसके बाद वानरयूथपति हनुमान्‌ने इन्द्रविजयी मेघनादका घर जलाया। फिर जम्बुमाली और सुमालीके घरोंको फूँक दिया ॥ ११ ॥

रश्मिकेतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च।
ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य रोमशस्य च रक्षसः॥ १२॥
युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य रक्षसः।
विद्युज्जिह्वस्य घोरस्य तथा हस्तिमुखस्य च॥ १३॥
करालस्य विशालस्य शोणिताक्षस्य चैव हि।
कुम्भकर्णस्य भवनं मकराक्षस्य चैव हि॥ १४॥
नरान्तकस्य कुम्भस्य निकुम्भस्य दुरात्मनः।
यज्ञशत्रोश्च भवनं ब्रह्मशत्रोस्तथैव च॥ १५॥

तदनन्तर रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, राक्षस रोमश, रणोन्मत्त मत्त, ध्वजग्रीव, भयानक विद्युज्जिह्व, हस्तिमुख, कराल, विशाल, शोणिताक्ष, कुम्भकर्ण, मकराक्ष, नरान्तक, कुम्भ, दुरात्मा निकुम्भ, यज्ञशत्रु और ब्रह्मशत्रु आदि राक्षसोंके घरोंमें जा-जाकर उन्होंने आग लगायी॥

वर्जयित्वा महातेजा विभीषणगृहं प्रति।
क्रममाणः क्रमेणैव ददाह हरिपुङ्गवः॥ १६॥

उस समय महातेजस्वी कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌ने केवल विभीषणका घर छोड़कर अन्य सब घरोंमें क्रमशः पहुँचकर उन सबमें आग लगा दी॥ १६॥

तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः।
गृहेष्वृद्धिमतामृद्धिं ददाह कपिकुञ्जरः॥ १७॥

महायशस्वी कपिकुञ्जर पवनकुमारने विभिन्न बहुमूल्य भवनोंमें जा-जाकर समृद्धिशाली राक्षसोंके घरोंकी सारी सम्पत्ति जलाकर भस्म कर डाली॥ १७॥

सर्वेषां समतिक्रम्य राक्षसेन्द्रस्य वीर्यवान्।
आससादाथ लक्ष्मीवान् रावणस्य निवेशनम्॥ १८॥

सबके घरोंको लाँघते हुए शोभाशाली पराक्रमी हनुमान् राक्षसराज रावणके महलपर जा पहुँचे॥ १८॥

ततस्तस्मिन् गृहे मुख्ये नानारत्नविभूषिते।
मेरुमन्दरसंकाशे नानामङ्गलशोभिते॥ १९॥
प्रदीप्तमग्निमुत्सृज्य लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितम्।
ननाद हनुमान् वीरो युगान्तजलदो यथा॥ २०॥

वही लङ्काके सब महलोंमें श्रेष्ठ, भाँति-भाँतिके रत्नोंसे विभूषित, मेरुपर्वतके समान ऊँचा और नाना प्रकारके माङ्गलिक उत्सवोंसे सुशोभित था। अपनी पूँछके अग्रभागमें प्रतिष्ठित हुई प्रज्वलित अग्निको उस महलमें छोड़कर वीरवर हनुमान् प्रलयकालके मेघकी भाँति भयानक गर्जना करने लगे॥ १९-२०॥

श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः।
कालाग्निरिव जज्वाल प्रावर्धत हुताशनः॥ २१॥

हवाका सहारा पाकर वह प्रबल आग बड़े वेगसे बढ़ने लगी और कालाग्निके समान प्रज्वलित हो उठी॥ २१॥

प्रदीप्तमग्निं पवनस्तेषु वेश्मसु चारयन्।
तानि काञ्चनजालानि मुक्तामणिमयानि च॥ २२॥
भवनान्यवशीर्यन्त रत्नवन्ति महान्ति च।
तानि भग्नविमानानि निपेतुर्वसुधातले॥ २३॥

वायु उस प्रज्वलित अग्निको सभी घरोंमें फैलाने लगी। सोनेकी खिड़कियोंसे सुशोभित, मोती और मणियोंद्वारा निर्मित तथा रत्नोंसे विभूषित ऊँचे-ऊँचे प्रासाद एवं सतमहले भवन फट-फटकर पृथ्वीपर गिरने लगे॥ २२-२३॥

भवनानीव सिद्धानामम्बरात् पुण्यसंक्षये।
संजज्ञे तुमुलः शब्दो राक्षसानां प्रधावताम्॥ २४॥
स्वे स्वे गृहपरित्राणे भग्नोत्साहोज्झितश्रियाम्।

वे गिरते हुए भवन पुण्यका क्षय होनेपर आकाशसे नीचे गिरनेवाले सिद्धोंके घरोंके समान जान पड़ते थे। उस समय राक्षस अपने-अपने घरोंको बचाने—उनकी आग बुझानेके लिये इधर-उधर दौड़ने लगे। उनका उत्साह जाता रहा और उनकी श्री नष्ट हो गयी थी। उन सबका तुमुल आर्तनाद चारों ओर गूँजने लगा॥ २४½॥

नूनमेषोऽग्निरायातः कपिरूपेण हा इति॥ २५॥
क्रन्दन्त्यः सहसा पेतुः स्तनंधयधराः स्त्रियः।

वे कहते थे—'हाय! यह वानरके रूपमें साक्षात् अग्नि देवता ही आ पहुँचा है।' कितनी ही स्त्रियाँ गोदमें बच्चे लिये सहसा क्रन्दन करती हुई नीचे गिर पड़ीं॥ २५½॥

काश्चिदग्निपरीताङ्ग्यो हर्म्येभ्यो मुक्तमूर्धजाः॥ २६॥
पतन्त्यो रेजिरेऽभ्रेभ्यः सौदामन्य इवाम्बरात्।

कुछ राक्षसियोंके सारे अङ्ग आगकी लपेटमें आ गये, वे बाल बिखेरे अट्टालिकाओंसे नीचे गिर पड़ीं। गिरते समय वे आकाशमें स्थित मेघोंसे गिरनेवाली बिजलियोंके समान प्रकाशित होती थीं॥ २६½॥

वज्रविद्रुमवैदूर्यमुक्तारजतसंहतान्॥ २७॥
विचित्रान् भवनाद्धातून् स्यन्दमानान् ददर्श सः।

हनुमान्‌जीने देखा जलते हुए घरोंसे हीरा, मूँगा, नीलम, मोती तथा सोने, चाँदी आदि विचित्र-विचित्र धातुओंकी राशि पिघलकर बही जा रही है॥ २७½॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां तृणानां च यथा तथा॥ २८॥
हनूमान् राक्षसेन्द्राणां वधे किंचिन्न तृप्यति।
न हनूमद्विशस्तानां राक्षसानां वसुन्धरा॥ २९॥

जैसे आग सूखे काठ और तिनकोंको जलानेसे कभी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार हनुमान् बड़े-बड़े राक्षसोंके वध करनेसे तनिक भी तृप्त नहीं होते थे और हनुमान्‌जीके मारे हुए राक्षसोंको अपनी गोदमें धारण करनेसे इस वसुन्धराका भी जी नहीं भरता था॥ २८-२९॥

हनूमता वेगवता वानरेण महात्मना।
लङ्कापुरं प्रदग्धं तद् रुद्रेण त्रिपुरं यथा॥ ३०॥

जैसे भगवान् रुद्रने पूर्वकालमें त्रिपुरको दग्ध किया था, उसी प्रकार वेगशाली वानरवीर महात्मा हनुमान्‌जीने लङ्कापुरीको जला दिया॥ ३०॥

ततः स लङ्कापुरपर्वताग्रे
समुत्थितो भीमपराक्रमोऽग्निः।
प्रसार्य चूडावलयं प्रदीप्तो
हनूमता वेगवतोपसृष्टः॥ ३१॥

तत्पश्चात् लङ्कापुरीके पर्वत-शिखरपर आग लगी, वहाँ अग्निदेवका बड़ा भयानक पराक्रम प्रकट हुआ। वेगशाली हनुमान्‌जीकी लगायी हुई वह आग चारों ओर अपने ज्वाला-मण्डलको फैलाकर बड़े जोरसे प्रज्वलित हो उठी॥ ३१॥

युगान्तकालानलतुल्यरूपः
समारुतोऽग्निर्ववृधे दिवस्पृक्।
विधूमरश्मिर्भवनेषु सक्तो
रक्षःशरीराज्यसमर्पितार्चिः॥ ३२॥

हवाका सहारा पाकर वह आग इतनी बढ़ गयी कि उसका रूप प्रलयकालीन अग्निके समान दिखायी देने लगा। उसकी ऊँची लपटें मानो स्वर्गलोकका स्पर्श कर रही थीं। लङ्काके भवनोंमें लगी हुई उस आगकी ज्वालामें धूमका नाम भी नहीं था। राक्षसोंके शरीररूपी घीकी आहुति पाकर उसकी ज्वालाएँ उत्तरोत्तर बढ़ रही थीं॥ ३२॥

आदित्यकोटीसदृशः सुतेजा
लङ्कां समस्तां परिवार्य तिष्ठन्।
शब्दैरनेकैरशनिप्ररूढै-
र्भिन्दन्निवाण्डं प्रबभौ महाग्निः॥ ३३॥

समूची लङ्कापुरीको अपनी लपटोंमें लपेटकर फैली हुई वह प्रचण्ड आग करोड़ों सूर्योंके समान प्रज्वलित हो रही थी। मकानों और पर्वतोंके फटने आदिसे होनेवाले नाना प्रकारके धड़ाकोंके शब्द बिजलीकी कड़कको भी मात करते थे, उस समय वह विशाल अग्नि ब्रह्माण्डको फोड़ती हुई-सी प्रकाशित हो रही थी॥ ३३॥

तत्राम्बरादग्निरतिप्रवृद्धो
रूक्षप्रभः किंशुकपुष्पचूडः।
निर्वाणधूमाकुलराजयश्च
नीलोत्पलाभाः प्रचकाशिरेऽभ्राः॥ ३४॥

वहाँ धरतीसे आकाशतक फैली हुई अत्यन्त बढ़ी-चढ़ी आगकी प्रभा बड़ी तीखी प्रतीत होती थी। उसकी लपटें टेसूके फूलकी भाँति लाल दिखायी देती थीं। नीचेसे जिनका सम्बन्ध टूट गया था, वे आकाशमें फैली हुई धूम-पंक्तियाँ नील कमलके समान रंगवाले मेघोंकी भाँति प्रकाशित हो रही थीं॥ ३४॥

वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा
साक्षाद् यमो वा वरुणोऽनिलो वा।
रौद्रोऽग्निरर्को धनदश्च सोमो
न वानरोऽयं स्वयमेव कालः॥ ३५॥

किं ब्रह्मणः सर्वपितामहस्य
लोकस्य धातुश्चतुराननस्य।
इहागतो वानररूपधारी
रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः॥ ३६॥

किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य
रक्षोविनाशाय परं सुतेजः।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमेकं
स्वमायया साम्प्रतमागतं वा॥ ३७॥

इत्येवमूचुर्बहवो विशिष्टा
रक्षोगणास्तत्र समेत्य सर्वे।
सप्राणिसङ्घां सगृहां सवृक्षां
दग्धां पुरीं तां सहसा समीक्ष्य॥ ३८॥

प्राणियोंके समुदाय, गृह और वृक्षोंसहित समस्त लङ्कापुरीको सहसा दग्ध हुई देख बड़े-बड़े राक्षस झुंड-के-झुंड एकत्र हो गये और वे सब-के-सब परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'यह देवताओंका राजा वज्रधारी इन्द्र अथवा साक्षात् यमराज तो नहीं है? वरुण, वायु, रुद्र, अग्नि, सूर्य, कुबेर या चन्द्रमामेंसे तो कोई नहीं है? यह वानर नहीं साक्षात् काल ही है। क्या सम्पूर्ण जगत्‌के पितामह चतुर्मुख ब्रह्माजीका प्रचण्ड कोप ही वानरका रूप धारण करके राक्षसोंका संहार करनेके लिये यहाँ उपस्थित हुआ है? अथवा भगवान् विष्णुका महान् तेज जो अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त और अद्वितीय है, अपनी मायासे वानरका शरीर ग्रहण करके राक्षसोंके विनाशके लिये तो इस समय नहीं आया है?'॥

ततस्तु लङ्का सहसा प्रदग्धा
सराक्षसा साश्वरथा सनागा।
सपक्षिसङ्घा समृगा सवृक्षा
रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम्॥ ३९॥

इस प्रकार घोड़े, हाथी, रथ, पशु, पक्षी, वृक्ष तथा कितने ही राक्षसोंसहित लङ्कापुरी सहसा दग्ध हो गयी। वहाँके निवासी दीनभावसे तुमुल नाद करते हुए फूट-फूटकर रोने लगे॥ ३९॥

हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र
हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्।
रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः
शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः॥ ४०॥

वे बोले—'हाय रे बप्पा ! हाय बेटा ! हा स्वामिन् ! हा मित्र ! हा प्राणनाथ ! हमारे सब पुण्य नष्ट हो गये ।' इस तरह भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए राक्षसोंने बड़ा भयंकर एवं घोर आर्तनाद किया ॥ ४० ॥

हुताशनज्वालसमावृता सा
हतप्रवीरा परिवृत्तयोधा ।
हनूमतः क्रोधबलाभिभूता
बभूव शापोपहतेव लङ्का ॥ ४१ ॥

हनुमान्‌जीके क्रोध-बलसे अभिभूत हुई लङ्कापुरी आगकी ज्वालासे घिर गयी थी । उसके प्रमुख-प्रमुख वीर मार डाले गये थे । समस्त योद्धा तितर-बितर और उद्विग्न हो गये थे । इस प्रकार वह पुरी शापसे आक्रान्त हुई-सी जान पड़ती थी ॥ ४१ ॥

ससम्भ्रमं त्रस्तविषण्णराक्षसां
समुज्ज्वलज्ज्वालहुताशनाङ्किताम् ।
ददर्श लङ्कां हनुमान् महामनाः
स्वयंभुरोषोपहतामिवावनिम् ॥ ४२ ॥

महामनस्वी हनुमान्‌ने लङ्कापुरीको स्वयम्भू ब्रह्माजीके रोषसे नष्ट हुई पृथ्वीके समान देखा । वहाँके समस्त राक्षस बड़ी घबराहटमें पड़कर त्रस्त और विषादग्रस्त हो गये थे । अत्यन्त प्रज्वलित ज्वालामालाओंसे अलंकृत अग्निदेवने उसपर अपनी छाप लगा दी थी ॥ ४२ ॥

भङ्क्त्वा वनं पादपरत्नसंकुलं
हत्वा तु रक्षांसि महान्ति संयुगे ।
दग्ध्वा पुरीं तां गृहरत्नमालिनीं
तस्थौ हनूमान् पवनात्मजः कपिः ॥ ४३ ॥

पवनकुमार वानरवीर हनुमान्‌जी उत्तमोत्तम वृक्षोंसे भरे हुए वनको उजाड़कर, युद्धमें बड़े-बड़े राक्षसोंको मारकर तथा सुन्दर महलोंसे सुशोभित लङ्कापुरीको जलाकर शान्त हो गये ॥ ४३ ॥

स राक्षसांस्तान् सुबहूंश्च हत्वा
वनं च भङ्क्त्वा बहुपादपं तत् ।
विसृज्य रक्षोभवनेषु चाग्निं
जगाम रामं मनसा महात्मा ॥ ४४ ॥

महात्मा हनुमान् बहुत-से राक्षसोंका वध और बहुसंख्यक वृक्षोंसे भरे हुए प्रमदावनका विध्वंस करके निशाचरोंके घरोंमें आग लगाकर मन-ही-मन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करने लगे ॥ ४४ ॥

ततस्तु तं वानरवीरमुख्यं
महाबलं मारुततुल्यवेगम् ।
महामतिं वायुसुतं वरिष्ठं
प्रतुष्टुवुर्देवगणाश्च सर्वे ॥ ४५ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण देवताओंने वानरवीरोंमें प्रधान, महाबलवान्, वायुके समान वेगवान्, परम बुद्धिमान और वायुदेवताके श्रेष्ठ पुत्र हनुमान्‌जीका स्तवन किया ॥ ४५ ॥

देवाश्च सर्वे मुनिपुङ्गवाश्च
गन्धर्वविद्याधरपन्नगाश्च ।
भूतानि सर्वाणि महान्ति तत्र
जग्मुः परां प्रीतिमतुल्यरूपाम् ॥ ४६ ॥

उनके इस कार्यसे सभी देवता, मुनिवर, गन्धर्व, विद्याधर, नाग तथा सम्पूर्ण महान् प्राणी अत्यन्त प्रसन्न हुए । उनके उस हर्षकी कहीं तुलना नहीं थी ॥ ४६ ॥

भङ्क्त्वा वनं महातेजा हत्वा रक्षांसि संयुगे ।
दग्ध्वा लङ्कापुरीं भीमां रराज स महाकपिः ॥ ४७ ॥

महातेजस्वी महाकपि पवनकुमार प्रमदावनको उजाड़कर, युद्धमें राक्षसोंको मारकर और भयंकर लङ्कापुरीको जलाकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ ४७ ॥

गृहाग्र्यशृङ्गाग्रतले विचित्रे
प्रतिष्ठितो वानरराजसिंहः ।
प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली
व्यराजतादित्य इवार्चिमाली ॥ ४८ ॥

श्रेष्ठ भवनोंके विचित्र शिखरपर खड़े हुए वानरराजसिंह हनुमान् अपनी जलती पूँछसे उठती हुई ज्वालामालाओंसे अलंकृत हो तेजःपुञ्जसे देदीप्यमान सूर्यदेवके समान प्रकाशित होने लगे ॥ ४८ ॥

लङ्कां समस्तां सम्पीड्य लाङ्गूलाग्निं महाकपिः ।
निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिपुङ्गवः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार सारी लङ्कापुरीको पीड़ा दे वानरशिरोमणि महाकपि हनुमान्‌ने उस समय समुद्रके जलमें अपनी पूँछकी आग बुझायी ॥ ४९ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
दृष्ट्वा लङ्कां प्रदग्धां तां विस्मयं परमं गताः ॥ ५० ॥

तत्पश्चात् लङ्कापुरीको दग्ध हुई देख देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि बड़े विस्मित हुए ॥ ५० ॥

तं दृष्ट्वा वानरश्रेष्ठं हनूमन्तं महाकपिम् ।
कालाग्निरिति संचिन्त्य सर्वभूतानि तत्रसुः ॥ ५१ ॥

उस समय वानरश्रेष्ठ महाकपि हनुमान्‌को देख 'ये कालाग्नि हैं' ऐसा मानकर समस्त प्राणी भयसे थर्रा उठे ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

सीताजीके लिये हनुमान्‌जीकी चिन्ता और उसका निवारण

संदीप्यमानां वित्रस्तां त्रस्तरक्षोगणां पुरीम्।
अवेक्ष्य हनुमाँल्लङ्कां चिन्तयामास वानरः॥ १॥

वानरवीर हनुमान्‌जीने जब देखा कि सारी लङ्कापुरी जल रही है, वहाँके निवासियोंपर त्रास छा गया है और राक्षसगण अत्यन्त भयभीत हो गये हैं, तब उनके मनमें सीताके दग्ध होनेकी आशङ्कासे बड़ी चिन्ता हुई॥ १॥

तस्याभूत् सुमहांस्त्रासः कुत्सा चात्मन्यजायत।
लङ्कां प्रदहता कर्म किंस्वित् कृतमिदं मया॥ २॥

साथ ही उनपर महान् त्रास छा गया और उन्हें अपने प्रति घृणा-सी होने लगी। वे मन-ही-मन कहने लगे—'हाय! मैंने लङ्काको जलाते समय यह कैसा कुत्सित कर्म कर डाला!॥ २॥

धन्याः खलु महात्मानो ये बुद्‌ध्या कोपमुत्थितम्।
निरुन्धन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा॥ ३॥

'जो महामनस्वी महात्मा पुरुष उठे हुए कोपको अपनी बुद्धिके द्वारा उसी प्रकार रोक देते हैं, जैसे साधारण लोग जलसे प्रज्वलित अग्निको शान्त कर देते हैं, वे ही इस संसारमें धन्य हैं॥ ३॥

क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥ ४॥

'क्रोधसे भर जानेपर कौन पुरुष पाप नहीं करता? क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य गुरुजनोंकी भी हत्या कर सकता है। क्रोधी मानव साधु पुरुषोंपर भी कटुवचनोंद्वारा आक्षेप करने लगता है॥ ४॥

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्॥ ५॥

'अधिक कुपित हुआ मनुष्य कभी इस बातका विचार नहीं करता कि मुँहसे क्या कहना चाहिये और क्या नहीं? क्रोधीके लिये कोई ऐसा बुरा काम नहीं, जिसे वह न कर सके और कोई ऐसी बुरी बात नहीं, जिसे वह मुँहसे न निकाल सके॥ ५॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते॥ ६॥

'जो हृदयमें उत्पन्न हुए क्रोधको क्षमाके द्वारा उसी तरह निकाल देता है, जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ देता है, वही पुरुष कहलाता है॥ ६॥

धिगस्तु मां सुदुर्बुद्धिं निर्लज्जं पापकृत्तमम्।
अचिन्तयित्वा तां सीतामग्निदं स्वामिघातकम्॥ ७॥

'मेरी बुद्धि बड़ी खोटी है, मैं निर्लज्ज और महान् पापाचारी हूँ। मैंने सीताकी रक्षाका कोई विचार न करके लङ्कामें आग लगा दी और इस तरह अपने स्वामीकी ही हत्या कर डाली। मुझे धिक्कार है॥ ७॥

यदि दग्धा त्वियं सर्वा नूनमार्यापि जानकी।
दग्धा तेन मया भर्तुर्हतं कार्यमजानता॥ ८॥

'यदि यह सारी लङ्का जल गयी तो आर्या जानकी भी निश्चय ही उसमें दग्ध हो गयी होंगी। ऐसा करके मैंने अनजानमें अपने स्वामीका सारा काम ही चौपट कर डाला॥ ८॥

यदर्थमयमारम्भस्तत्कार्यमवसादितम्।
मया हि दहता लङ्कां न सीता परिरक्षिता॥ ९॥

'जिस कार्यकी सिद्धिके लिये यह सारा उद्योग किया गया था, वह कार्य ही मैंने नष्ट कर दिया; क्योंकि लङ्का जलाते समय मैंने सीताकी रक्षा नहीं की॥ ९॥

ईषत्कार्यमिदं कार्यं कृतमासीन्न संशयः।
तस्य क्रोधाभिभूतेन मया मूलक्षयः कृतः॥ १०॥

'इसमें संदेह नहीं कि यह लङ्का-दहन एक छोटा-सा कार्य शेष रह गया था, जिसे मैंने पूर्ण किया; परंतु क्रोधसे पागल होनेके कारण मैंने श्रीरामचन्द्रजीके कार्यकी तो जड़ ही काट डाली॥ १०॥

विनष्टा जानकी व्यक्तं न ह्यदग्धः प्रदृश्यते।
लङ्कायाः कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी॥ ११॥

'लङ्काका कोई भी भाग ऐसा नहीं दिखायी देता, जहाँ आग न लगी हो। सारी पुरी ही मैंने भस्म कर डाली है, अतः जानकी नष्ट हो गयी, यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है॥ ११॥

यदि तद्विहतं कार्यं मया प्रज्ञाविपर्ययात्।
इहैव प्राणसंन्यासो ममापि ह्यद्य रोचते॥ १२॥

'यदि अपनी विपरीत बुद्धिके कारण मैंने सारा काम चौपट कर दिया तो यहीं आज मेरे प्राणोंका भी विसर्जन हो जाना चाहिये। यही मुझे अच्छा जान पड़ता है॥ १२॥

किमग्नौ निपताम्यद्य आहोस्विद् वडवामुखे।
शरीरमिह सत्त्वानां दद्मि सागरवासिनाम्॥ १३॥

'क्या मैं अब जलती आगमें कूद पड़ूँ या वडवानलके मुखमें? अथवा समुद्रमें निवास करनेवाले जल-जन्तुओंको ही यहाँ अपना शरीर समर्पित कर दूँ॥ १३॥

कथं नु जीवता शक्यो मया द्रष्टुं हरीश्वरः।
तौ वा पुरुषशार्दूलौ कार्यसर्वस्वघातिना॥ १४॥

'जब मैंने सारा कार्य ही नष्ट कर दिया, तब अब जीतेजी कैसे वानरराज सुग्रीव अथवा उन दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका दर्शन कर सकता हूँ या उन्हें अपना मुँह दिखा सकता हूँ?॥ १४॥

मया खलु तदेवेदं रोषदोषात् प्रदर्शितम्।
प्रथितं त्रिषु लोकेषु कपित्वमनवस्थितम्॥ १५॥

'मैंने रोषके दोषसे तीनों लोकोंमें विख्यात इस वानरोचित चपलताका ही यहाँ प्रदर्शन किया है॥ १५॥

धिगस्तु राजसं भावमनीशमनवस्थितम्।
ईश्वरेणापि यद् रागान्मया सीता न रक्षिता॥ १६॥

'यह राजसभाव कार्यसाधनमें असमर्थ और अव्यवस्थित है, इसे धिक्कार है; क्योंकि इस रजोगुणमूलक क्रोधके ही कारण समर्थ होते हुए भी मैंने सीताकी रक्षा नहीं की॥१६॥

विनष्टायां तु सीतायां तावुभौ विनशिष्यतः।
तयोर्विनाशे सुग्रीवः सबन्धुर्विनशिष्यति॥ १७॥

'सीताके नष्ट हो जानेसे वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण भी नष्ट हो जायँगे। उन दोनोंका नाश होनेपर बन्धु-बान्धवोंसहित सुग्रीव भी जीवित नहीं रहेंगे॥ १७॥

एतदेव वचः श्रुत्वा भरतो भ्रातृवत्सलः।
धर्मात्मा सहशत्रुघ्नः कथं शक्ष्यति जीवितुम्॥ १८॥

'फिर इसी समाचारको सुन लेनेपर भ्रातृवत्सल धर्मात्मा भरत और शत्रुघ्न भी कैसे जीवन धारण कर सकेंगे!॥१८॥

इक्ष्वाकुवंशे धर्मिष्ठे गते नाशमसंशयम्।
भविष्यन्ति प्रजाः सर्वाः शोकसंतापपीडिताः॥ १९॥

'इस प्रकार धर्मनिष्ठ इक्ष्वाकुवंशके नष्ट हो जानेपर सारी प्रजा भी शोक-संतापसे पीड़ित हो जायगी, इसमें संशय नहीं है॥ १९॥

तदहं भाग्यरहितो लुप्तधर्मार्थसंग्रहः।
रोषदोषपरीतात्मा व्यक्तं लोकविनाशनः॥ २०॥

'अतः सीताकी रक्षा न करनेके कारण मैंने धर्म और अर्थके संग्रहको नष्ट कर दिया, अतएव मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ। मेरा हृदय रोषदोषके वशीभूत हो गया है, इसलिये मैं अवश्य ही समस्त लोकका विनाशक हो गया हूँ—मुझे सम्पूर्ण जगत्के विनाशके पापका भागी होना पड़ेगा'॥ २०॥

इति चिन्तयतस्तस्य निमित्तान्युपपेदिरे।
पूर्वमप्युपलब्धानि साक्षात् पुनरचिन्तयत्॥ २१॥

इस प्रकार चिन्तामें पड़े हुए हनुमान्‌जीको कई शुभ शकुन दिखायी पड़े, जिनके अच्छे फलोंका वे पहले भी प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके थे; अतः वे फिर इस प्रकार सोचने लगे—॥ २१॥

अथ वा चारुसर्वाङ्गी रक्षिता स्वेन तेजसा।
न नशिष्यति कल्याणी नाग्निरग्नौ प्रवर्तते॥ २२॥

'अथवा सम्भव है सर्वाङ्गसुन्दरी सीता अपने ही तेजसे सुरक्षित हों। कल्याणी जनकनन्दिनीका नाश कदापि नहीं होगा; क्योंकि आग आगको नहीं जलाती है॥ २२॥

नहि धर्मात्मनस्तस्य भार्याममिततेजसः।
स्वचरित्राभिगुप्तां तां स्प्रष्टुमर्हति पावकः॥ २३॥

'सीता अमिततेजस्वी धर्मात्मा भगवान् श्रीरामकी पत्नी हैं। वे अपने चरित्रके बलसे—पातिव्रत्यके प्रभावसे सुरक्षित हैं। आग उन्हें छू भी नहीं सकती॥ २३॥

नूनं रामप्रभावेण वैदेह्याः सुकृतेन च।
यन्मां दहनकर्मायं नादहद्धव्यवाहनः॥ २४॥

'अवश्य श्रीरामके प्रभाव तथा विदेहनन्दिनी सीताके पुण्यबलसे ही यह दाहक अग्नि मुझे नहीं जला सकी है॥२४॥

त्रयाणां भरतादीनां भ्रातॄणां देवता च या।
रामस्य च मनःकान्ता सा कथं विनशिष्यति॥ २५॥

'फिर जो भरत आदि तीनों भाइयोंकी आराध्य देवी और श्रीरामचन्द्रजीकी हृदयवल्लभा हैं, वे आगसे कैसे नष्ट हो सकेंगी॥ २५॥

यद् वा दहनकर्मायं सर्वत्र प्रभुरव्ययः।
न मे दहति लाङ्गूलं कथमार्यां प्रधक्ष्यति॥ २६॥

'यह दाहक एवं अविनाशी अग्नि सर्वत्र अपना प्रभाव रखती है, सबको जला सकती है, तो भी यह जिनके प्रभावसे मेरी पूँछको नहीं जला पाती है, उन्हीं साक्षात् माता जानकीको कैसे जला सकेगी!'॥ २६॥

पुनश्चाचिन्तयत् तत्र हनूमान् विस्मितस्तदा।
हिरण्यनाभस्य गिरेर्जलमध्ये प्रदर्शनम्॥ २७॥

उस समय हनुमान्‌जीने वहाँ विस्मित होकर पुनः उस घटनाको स्मरण किया, जब कि समुद्रके जलमें उन्हें मैनाक पर्वतका दर्शन हुआ था॥ २७॥

तपसा सत्यवाक्येन अनन्यत्वाच्च भर्तरि।
असौ विनिर्दहेदग्निं न तामग्निः प्रधक्ष्यति॥ २८॥

वे सोचने लगे—'तपस्या, सत्यभाषण तथा पतिमें अनन्य भक्तिके कारण आर्या सीता ही अग्निको जला सकती हैं, आग उन्हें नहीं जला सकती'॥ २८॥

स तथा चिन्तयंस्तत्र देव्या धर्मपरिग्रहम्।
शुश्राव हनुमांस्तत्र चारणानां महात्मनाम्॥ २९॥

इस प्रकार भगवती सीताकी धर्मपरायणताका विचार करते हुए हनुमान्‌जीने वहाँ महात्मा चारणोंके मुखसे निकली हुई ये बातें सुनीं—॥ २९॥

अहो खलु कृतं कर्म दुर्विगाहं हनूमता।
अग्निं विसृजता तीक्ष्णं भीमं राक्षससद्मनि॥ ३०॥

'अहो! हनुमान्‌जीने राक्षसोंके घरोंमें दुःसह एवं भयंकर आग लगाकर बड़ा ही अद्भुत और दुष्कर कार्य किया है॥ ३०॥

प्रपलायितरक्षःस्त्रीबालवृद्धसमाकुला।
जनकोलाहलाध्माता क्रन्दन्तीवाद्रिकन्दरैः॥ ३१॥
दग्धेयं नगरी लङ्का साट्टप्राकारतोरणा।
जानकी न च दग्धेति विस्मयोऽद्भुत एव नः॥ ३२॥

'घरमेंसे भागे हुए राक्षसों, स्त्रियों, बालकों और वृद्धोंसे

भरी हुई सारी लङ्का जन-कोलाहलसे परिपूर्ण हो चीत्कार करती हुई-सी जान पड़ती है। पर्वतकी कन्दराओं, अटारियों, परकोटों और नगरके फाटकोंसहित यह सारी लङ्का नगरी दग्ध हो गयी; परंतु सीतापर आँच नहीं आयी। यह हमारे लिये बड़ी अद्भुत और आश्चर्यकी बात है' ॥ ३१-३२ ॥

इति शुश्राव हनुमान् वाचंताममृतोपमाम्।
बभूव चास्य मनसो हर्षस्तत्कालसम्भवः ॥ ३३ ॥

हनुमान्‌जीने जब चारणोंके कहे हुए ये अमृतके समान मधुर वचन सुने, तब उनके हृदयमें तत्काल हर्षोल्लास छा गया ॥ ३३ ॥

स निमित्तैश्च दृष्टार्थैः कारणैश्च महागुणैः।
ऋषिवाक्यैश्च हनुमानभवत् प्रीतमानसः ॥ ३४ ॥

अनेक बारके प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए शुभ शकुनों, महान् गुणदायक कारणों तथा चारणोंके कहे हुए पूर्वोक्त वचनोंद्वारा सीताजीके जीवित होनेका निश्चय करके हनुमान्‌जीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३४ ॥

ततः कपिः प्राप्तमनोरथार्थ-
स्तामक्षतां राजसुतां विदित्वा।
प्रत्यक्षतस्तां पुनरेव दृष्ट्वा
प्रतिप्रयाणाय मतिं चकार ॥ ३५ ॥

राजकुमारी सीताको कोई क्षति नहीं पहुँची है, यह जानकर कपिवर हनुमान्‌जीने अपना सम्पूर्ण मनोरथ सफल समझा और पुनः उनका प्रत्यक्ष दर्शन करके लौट जानेका विचार किया ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका पुनः सीताजीसे मिलकर लौटना और समुद्रको लाँघना

ततस्तु शिंशपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम्।
अभिवाद्याब्रवीद् दिष्ट्या पश्यामि त्वामिहाक्षताम् ॥ १ ॥

तदनन्तर हनुमान्‌जी अशोकवृक्षके नीचे बैठी हुई जानकीजीके पास गये और उन्हें प्रणाम करके बोले—'आर्ये! सौभाग्यकी बात है कि इस समय मैं आपको सकुशल देख रहा हूँ' ॥ १ ॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः।
भर्तुः स्नेहान्विता वाक्यं हनूमन्तमभाषत ॥ २ ॥

सीता अपने पतिके स्नेहमें डूबी हुई थीं। वे हनुमान्‌जीको प्रस्थान करनेके लिये उद्यत जान उन्हें बारंबार देखती हुई बोलीं—॥ २ ॥

यदि त्वं मन्यसे तात वसैकाहमिहानघ।
क्वचित् सुसंवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥ ३ ॥

'तात! निष्पाप वानरवीर! यदि तुम उचित समझो तो एक दिन और यहाँ किसी गुप्त स्थानमें ठहर जाओ, आज विश्राम करके कल चले जाना ॥ ३ ॥

मम चैवाल्पभाग्यायाः सांनिध्यात् तव वानर।
शोकस्यास्याप्रमेयस्य मुहूर्तं स्यादपि क्षयः ॥ ४ ॥

'वानरप्रवर!! तुम्हारे निकट रहनेसे मुझ मन्दभागिनीका अपार शोक भी थोड़ी देरके लिये कम हो जायगा ॥ ४ ॥

गते हि हरिशार्दूल पुनः सम्प्राप्तये त्वयि।
प्राणेष्वपि न विश्वासो मम वानरपुङ्गव ॥ ५ ॥

'कपिश्रेष्ठ! वानरशिरोमणे! जब तुम चले जाओगे, तब फिर तुम्हारे आनेतक मेरे प्राण रहेंगे या नहीं, इसका कोई विश्वास नहीं है ॥ ५ ॥

अदर्शनं च ते वीर भूयो मां दारयिष्यति।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्तां दुर्मनःशोककर्शिताम् ॥ ६ ॥

'वीर! मुझपर दुःख-पर-दुःख पड़ते गये हैं। मैं मानसिक शोकसे दिन-दिन दुर्बल होती जा रही हूँ। अब तुम्हारा दर्शन न होना मेरे हृदयको और भी विदीर्ण करता रहेगा ॥

अयं च वीर संदेहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः।
सुमहत्सु सहायेषु हर्यृक्षेषु महाबलः ॥ ७ ॥
कथं नु खलु दुष्पारं संतरिष्यति सागरम्।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥ ८ ॥

'वीर! मेरे सामने यह संदेह अभीतक बना ही हुआ है कि बड़े-बड़े वानरों और रीछोंके सहायक होनेपर भी महाबली सुग्रीव इस दुर्लङ्घ्य समुद्रको कैसे पार करेंगे! उनकी सेनाके वे वानर और भालू तथा वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण भी इस महासागरको कैसे लाँघ सकेंगे! ॥ ७-८ ॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्यापि लङ्घने।
शक्तिः स्याद् वैनतेयस्य तव वा मारुतस्य वा ॥ ९ ॥

'तीन ही प्राणियोंमें इस समुद्रको लाँघनेकी शक्ति है—तुममें, गरुड़में अथवा वायुदेवतामें ॥ ९ ॥

तदत्र कार्यनिर्बन्धे समुत्पन्ने दुरासदे।
किं पश्यसि समाधानं त्वं हि कार्यविशारदः ॥ १० ॥

'इस कार्यसम्बन्धी दुष्कर प्रतिबन्धके उपस्थित होनेपर तुम्हें क्या समाधान दिखायी देता है? बताओ, क्योंकि तुम कार्यकुशल हो ॥ १० ॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।

पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते फलोदयः ॥ ११ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कपिश्रेष्ठ ! इसमें संदेह नहीं कि इस कार्यको सिद्ध करनेमें तुम अकेले ही पूर्ण समर्थ हो, परंतु तुम्हारे द्वारा जो विजयरूप फलकी प्राप्ति होगी, उससे तुम्हारा ही यश बढ़ेगा, भगवान् श्रीराम-का नहीं ॥ ११ ॥

बलैस्तु संकुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः।
मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत् तस्य सदृशं भवेत् ॥ १२ ॥

'परंतु शत्रुसेनाको पीड़ा देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी यदि लङ्काको अपनी सेनासे पददलित करके मुझे यहाँसे ले चलें तो वह उनके योग्य पराक्रम होगा ॥ १२ ॥

तद् यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः।
भवत्याहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥ १३ ॥

'अतः तुम ऐसा उपाय करो, जिससे युद्धवीर महात्मा श्रीरामचन्द्रजीका उनके योग्य पराक्रम प्रकट हो' ॥ १३ ॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम्।
निशम्य हनुमान् वीरो वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ १४ ॥

सीताजीकी यह बात स्नेहयुक्त तथा विशेष अभिप्रायसे भरी हुई थी। इसे सुनकर वीर हनुमान्ने इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १४ ॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नस्तवार्थे कृतनिश्चयः ॥ १५ ॥

'देवि ! वानर और भालुओंकी सेनाओंके स्वामी कपिश्रेष्ठ सुग्रीव बड़े शक्तिशाली पुरुष हैं। वे तुम्हारे उद्धारके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हैं ॥ १५ ॥

स वानरसहस्राणां कोटीभिरभिसंवृतः।
क्षिप्रमेष्यति वैदेहि सुग्रीवः प्लवगाधिपः ॥ १६ ॥

'विदेहनन्दिनि ! अतः वे वानरराज सुग्रीव सहस्रों कोटि वानरोंसे घिरे हुए तुरंत यहाँ आयेंगे ॥ १६ ॥

तौ च वीरौ नरवरौ सहितौ रामलक्ष्मणौ।
आगम्य नगरीं लङ्कां सायकैर्विधमिष्यतः ॥ १७ ॥

'साथ ही वे दोनों वीर नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मण भी एक साथ आकर अपने सायकोंसे इस लङ्कापुरीका विध्वंस कर डालेंगे ॥ १७ ॥

सगणं राक्षसं हत्वा नचिराद् रघुनन्दनः।
त्वामादाय वरारोहे स्वां पुरीं प्रति यास्यति ॥ १८ ॥

'वरारोहे ! राक्षसराज रावणको उसके सैनिकोंसहित कालके गालमें डालकर श्रीरघुनाथजी आपको साथ ले शीघ्र ही अपनी पुरीको पधारेंगे ॥ १८ ॥

समाश्वसिहि भद्रं ते भव त्वं कालकाङ्क्षिणी।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि रामेण निहतं रावणं रणे ॥ १९ ॥

'इसलिये आप धैर्य धारण करें। आपका भला हो। आप समयकी प्रतीक्षा करें। रावण शीघ्र ही रणभूमिमें श्रीरामके हाथसे मारा जायगा, यह आप अपनी आँखों देखेंगी ॥ १९ ॥

निहते राक्षसेन्द्रे च सपुत्रामात्यबान्धवे।
त्वं समेष्यसि रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी ॥ २० ॥

'पुत्र, मन्त्री और भाई-बन्धुओंसहित राक्षसराज रावणके मारे जानेपर आप श्रीरामचन्द्रजीके साथ उसी प्रकार मिलेंगी, जैसे रोहिणी चन्द्रमासे मिलती है ॥ २० ॥

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो हर्यृक्षप्रवरैर्युतः।
यस्ते युधि विजित्यारीञ्छोकं व्यपनयिष्यति ॥ २१ ॥

'वानरों और भालुओंके प्रमुख वीरोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र ही यहाँ पधारेंगे और युद्धमें शत्रुओंको जीतकर आपका सारा शोक दूर कर देंगे' ॥ २१ ॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनूमान् मारुतात्मजः।
गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत् ॥ २२ ॥

विदेहनन्दिनी सीताको इस प्रकार आश्वासन दे वहाँसे जानेका विचार करके पवनकुमार हनुमान्ने उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥

राक्षसान् प्रवरान् हत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः।
समाश्वास्य च वैदेहीं दर्शयित्वा परं बलम् ॥२३॥
नगरीमाकुलां कृत्वा वञ्चयित्वा च रावणम्।
दर्शयित्वा बलं घोरं वैदेहीमभिवाद्य च ॥ २४ ॥
प्रतिगन्तुं मनश्चक्रे पुनर्मध्येन सागरम्।

वे बड़े-बड़े राक्षसोंको मारकर अपने महान् बलका परिचय दे वहाँ ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने सीताको आश्वासन दे, लङ्कापुरीको व्याकुल करके, रावणको चकमा देकर, उसे अपना भयानक बल दिखा, वैदेहीको प्रणाम करके पुनः समुद्रके बीचसे होकर लौट जानेका विचार किया ॥

ततः स कपिशार्दूलः स्वामिसंदर्शनोत्सुकः ॥ २५ ॥
आरुरोह गिरिश्रेष्ठमरिष्टमरिमर्दनः।

(अब यहाँ उनके लिये कोई कार्य बाकी नहीं रह गया था; अतः) अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिये उत्सुक हो वे शत्रुमर्दन कपिश्रेष्ठ हनुमान् पर्वतोंमें उत्तम अरिष्ट गिरिपर चढ़ गये ॥ २५½ ॥

तुङ्गपद्मकजुष्टाभिर्नीलाभिर्वनराजिभिः ॥ २६ ॥
सोत्तरीयमिवाम्भोदैः शृङ्गान्तरविलम्बिभिः।

ऊँचे-ऊँचे पद्मकों—पद्मके समान वर्णवाले वृक्षोंसे सेवित नीली वनश्रेणियाँ मानो उस पर्वतका परिधान वस्त्र थीं। शिखरोंपर लटके हुए श्याम मेघ उसके लिये उत्तरीय वस्त्र (चादर)-से प्रतीत होते थे ॥ २६½ ॥

बोध्यमानमिव प्रीत्या दिवाकरकरैः शुभैः ॥ २७ ॥
उन्मिषन्तमिवोद्धूतैर्लोचनैरिव धातुभिः।
तोयौघनिःस्वनैर्मन्द्रैः प्राधीतमिव पर्वतम् ॥ २८ ॥

सूर्यकी कल्याणमयी किरणें प्रेमपूर्वक उसे जगाती-सी

जान पड़ती थीं। नाना प्रकारके धातु मानो उसके खुले हुए नेत्र थे, जिनसे वह सब कुछ देखता हुआ-सा स्थित था। पर्वतीय नदियोंकी जलराशिके गम्भीर घोषसे ऐसा लगता था, मानो वह पर्वत सस्वर वेदपाठ कर रहा हो ॥ २७-२८ ॥

गीतमिव विस्पष्टं नानाप्रस्रवणस्वनैः।
देवदारुभिरुद्धूतैरूर्ध्वबाहुमिव स्थितम् ॥ २९ ॥

अनेकानेक झरनोंके कलकल नादसे वह अरिष्टगिरि स्पष्टतया गीत-सा गा रहा था। ऊँचे-ऊँचे देवदारु वृक्षोंके कारण मानो हाथ ऊपर उठाये खड़ा था ॥ २९ ॥

प्रपातजलनिर्घोषैः प्राक्रुष्टमिव सर्वतः।
वेपमानमिव श्यामैः कम्पमानैः शरद्घनैः ॥ ३० ॥

सब ओर जल-प्रपातोंकी गम्भीर ध्वनिसे व्याप्त होनेके कारण चिल्लाता या हल्ला मचाता-सा जान पड़ता था। झूमते हुए सरकंडोंके श्याम वनोंसे वह काँपता-सा प्रतीत होता था ॥ ३० ॥

वेणुभिर्मारुतोद्धूतैः कूजन्तमिव कीचकैः।
निःश्वसन्तमिवामर्षाद् घोरैराशीविषोत्तमैः ॥ ३१ ॥

वायुके झोंके खाकर हिलते और मधुर ध्वनि करते बाँसोंसे उपलक्षित होनेवाला वह पर्वत मानो बाँसुरी बजा रहा था। भयानक विषधर सर्पोंके फुंकारसे लंबी साँस खींचता-सा जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

नीहारकृतगम्भीरैर्ध्यायन्तमिव गह्वरैः।
मेघपादनिभैः पादैः प्रक्रान्तमिव सर्वतः ॥ ३२ ॥

कुहासेके कारण गहरी प्रतीत होनेवाली निश्चल गुफाओंद्वारा वह ध्यान-सा कर रहा था। उठते हुए मेघोंके समान शोभा पानेवाले पार्श्ववर्ती पर्वतोंद्वारा सब ओर विचरता-सा प्रतीत होता था ॥ ३२ ॥

जृम्भमाणमिवाकाशे शिखरैरभ्रमालिभिः।
कूटैश्च बहुधा कीर्णं शोभितं बहुकन्दरैः ॥ ३३ ॥

मेघमालाओंसे अलंकृत शिखरोंद्वारा वह आकाशमें अँगड़ाई-सी ले रहा था। अनेकानेक शृङ्गोंसे व्याप्त तथा बहुत-सी कन्दराओंसे सुशोभित था ॥ ३३ ॥

सालतालैश्च कर्णैश्च वंशैश्च बहुभिर्वृतम्।
लतावितानैर्विततैः पुष्पवद्भिरलंकृतम् ॥ ३४ ॥

साल, ताल, कर्ण और बहुसंख्यक बाँसके वृक्ष उसे सब ओरसे घेरे हुए थे। फूलोंके भारसे लदे और फैले हुए लता-वितान उस पर्वतके अलंकार थे ॥ ३४ ॥

नानामृगगणैः कीर्णं धातुनिष्यन्दभूषितम्।
बहुप्रस्रवणोपेतं शिलासंचयसंकटम् ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके पशु वहाँ सब ओर भरे हुए थे। विविध धातुओंके पिघलनेसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह पर्वत बहुसंख्यक झरनोंसे विभूषित तथा राशि-राशि शिलाओंसे भरा हुआ था ॥ ३५ ॥

महर्षियक्षगन्धर्वकिंनरोरगसेवितम्।
लतापादपसम्बाधं सिंहाधिष्ठितकन्दरम् ॥ ३६ ॥

महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और नागगण वहाँ निवास करते थे। लताओं और वृक्षोंद्वारा वह सब ओरसे आच्छादित था। उसकी कन्दराओंमें सिंह दहाड़ रहे थे ॥

व्याघ्रादिभिः समाकीर्णं स्वादुमूलफलद्रुमम्।
आरुरोहानिलसुतः पर्वतं प्लवगोत्तमः ॥ ३७ ॥
रामदर्शनशीघ्रेण प्रहर्षेणाभिचोदितः।

व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु भी वहाँ सब ओर फैले हुए थे। स्वादिष्ट फलोंसे लदे हुए वृक्ष और मधुर कन्द-मूल आदिकी वहाँ बहुतायत थी। ऐसे रमणीय पर्वतपर वानर-शिरोमणि पवनकुमार हनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी शीघ्रता और अत्यन्त हर्षसे प्रेरित होकर चढ़ गये ॥ ३७½ ॥

तेन पादतलक्रान्ता रम्येषु गिरिसानुषु ॥ ३८ ॥
सघोषाः समशीर्यन्त शिलाश्चूर्णीकृतास्ततः।

उस पर्वतके रमणीय शिखरोंपर जो शिलाएँ थीं, वे उनके पैरोंके आघातसे भारी आवाजके साथ चूर-चूर होकर बिखर जाती थीं ॥ ३८½ ॥

स तमारुह्य शैलेन्द्रं व्यवर्धत महाकपिः ॥ ३९ ॥
दक्षिणादुत्तरं पारं प्रार्थयँल्लवणाम्भसः।

उस शैलराज अरिष्टपर आरूढ़ हो महाकपि हनुमान्‌जीने समुद्रके दक्षिण तटसे उत्तर तटपर जानेकी इच्छासे अपने शरीरको बहुत बड़ा बना लिया ॥ ३९½ ॥

अधिरुह्य ततो वीरः पर्वतं पवनात्मजः ॥ ४० ॥
ददर्श सागरं भीमं भीमोरगनिषेवितम्।

उस पर्वतपर आरूढ़ होनेके पश्चात् वीरवर पवनकुमारने भयानक सर्पोंसे सेवित उस भीषण महासागरकी ओर दृष्टिपात किया ॥ ४०½ ॥

स मारुत इवाकाशं मारुतस्यात्मसम्भवः ॥ ४१ ॥
प्रपेदे हरिशार्दूलो दक्षिणादुत्तरां दिशम्।

वायुदेवताके औरस पुत्र कपिश्रेष्ठ हनुमान् जैसे वायु आकाशमें तीव्रगतिसे प्रवाहित होती है, उसी प्रकार दक्षिणसे उत्तर दिशाकी ओर बड़े वेगसे (उछलकर) चले ॥ ४१½ ॥

स तदा पीडितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ॥ ४२ ॥
ररास विविधैर्भूतैः प्राविशद् वसुधातलम्।
कम्पमानैश्च शिखरैः पतद्भिरपि च द्रुमैः ॥ ४३ ॥

हनुमान्‌जीके पैरोंका दबाव पड़नेके कारण उस श्रेष्ठ पर्वतसे बड़ी भयंकर आवाज हुई और वह अपने काँपते हुए शिखरों, टूटकर गिरते हुए वृक्षों तथा भाँति-भाँतिके प्राणियोंसहित तत्काल धरतीमें धँस गया ॥ ४२-४३ ॥

तस्योरुवेगोन्मथिताः पादपाः पुष्पशालिनः।
निपेतुर्भूतले भग्नाः शक्रायुधहता इव ॥ ४४ ॥

उनके महान् वेगसे कम्पित हो फूलोंसे लदे हुए बहुसंख्यक वृक्ष इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो उन्हें वज्र मार गया हो ॥ ४४ ॥

कन्दरोदरसंस्थानां पीडितानां महौजसाम्।
सिंहानां निनदो भीमो नभो भिन्दन् हि शुश्रुवे ॥ ४५ ॥

उस समय उस पर्वतकी कन्दराओंमें रहकर दबे हुए महाबली सिंहोंका भयंकर नाद आकाशको फाड़ता हुआ-सा सुनायी दे रहा था ॥ ४५ ॥

त्रस्तव्याविद्धवसना व्याकुलीकृतभूषणाः।
विद्याधर्यः समुत्पेतुः सहसा धरणीधरात् ॥ ४६ ॥

भयके कारण जिनके वस्त्र ढीले पड़ गये थे और आभूषण उलट-पलट गये थे, वे विद्याधरियाँ सहसा उस पर्वतसे ऊपरकी ओर उड़ चलीं ॥ ४६ ॥

अतिप्रमाणा बलिनो दीप्तजिह्वा महाविषाः।
निपीडितशिरोग्रीवा व्यवेष्टन्त महाहयः ॥ ४७ ॥

बड़े-बड़े आकार और चमकीली जीभवाले महाविषैले बलवान् सर्प अपने फन तथा गलेको दबाकर कुण्डलाकार हो गये ॥ ४७ ॥

किंनरोरगगन्धर्वयक्षविद्याधरास्तथा।
पीडितं तं नगवरं त्यक्त्वा गगनमास्थिताः ॥ ४८ ॥

किन्नर, नाग, गन्धर्व, यक्ष और विद्याधर उस धँसते हुए पर्वतको छोड़कर आकाशमें स्थित हो गये ॥ ४८ ॥

स च भूमिधरः श्रीमान् बलिना तेन पीडितः।
सवृक्षशिखरोदग्रः प्रविवेश रसातलम् ॥ ४९ ॥

बलवान् हनुमान्‌जीके वेगसे दबकर वह शोभाशाली महीधर वृक्षों और ऊँचे शिखरोंसहित रसातलमें चला गया ॥

दशयोजनविस्तारस्त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितः।
धरण्यां समतां यातः स बभूव धराधरः ॥ ५० ॥

अरिष्ट पर्वत तीस योजन ऊँचा और दस योजन चौड़ा था। फिर भी उनके पैरोंसे दबकर भूमिके बराबर हो गया ॥ ५० ॥

स लिलङ्घयिषुर्भीमं सलीलं लवणार्णवम्।
कल्लोलास्फालवेलान्तमुत्पपात नभो हरिः ॥ ५१ ॥

जिसकी ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठकर अपने किनारोंका चुम्बन करती थीं, उस खारे पानीके भयानक समुद्रको लीलापूर्वक लाँघ जानेकी इच्छासे हनुमान्‌जी आकाशमें उड़ चले ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

हनुमान्‌जीका समुद्रको लाँघकर जाम्बवान् और अङ्गद आदि सुहृदोंसे मिलना

आप्लुत्य च महावेगः पक्षवानिव पर्वतः।
भुजङ्गयक्षगन्धर्वप्रबुद्धकमलोत्पलम् ॥ १ ॥
स चन्द्रकुमुदं रम्यं सार्ककारण्डवं शुभम्।
तिष्यश्रवणकादम्बमभ्रशैवलशाद्वलम् ॥ २ ॥
पुनर्वसुमहामीनं लोहिताङ्गमहाग्रहम्।
ऐरावतमहाद्वीपं स्वातीहंसविलासितम् ॥ ३ ॥
वातसंघातजालोर्मिचन्द्रांशुशिशिराम्बुमत्।
हनूमानपरिश्रान्तः पुप्लुवे गगनार्णवम् ॥ ४ ॥

पंखधारी पर्वतके समान महान् वेगशाली हनुमान्‌जी बिना थके-माँदे उस सुन्दर एवं रमणीय आकाशरूपी समुद्रको पार करने लगे, जिसमें नाग, यक्ष और गन्धर्व खिले हुए कमल और उत्पलके समान थे। चन्द्रमा कुमुद और सूर्य जलकुक्कुटके समान थे। पुष्य और श्रवण नक्षत्र कलहंस तथा बादल, सेवार और घासके तुल्य थे। पुनर्वसु विशाल मत्स्य और मंगल बड़े भारी ग्राहके सदृश थे। ऐरावत हाथी वहाँ महान् द्वीप-सा प्रतीत होता था। वह आकाशरूपी समुद्र स्वातीरूपी हंसके विलाससे सुशोभित था तथा वायुसमूहरूप तरङ्गों और चन्द्रमाकी किरणरूप शीतल जलसे भरा हुआ था ॥ १–४ ॥

ग्रसमान इवाकाशं ताराधिपमिवोल्लिखन्।
हरन्निव सनक्षत्रं गगनं सार्कमण्डलम् ॥ ५ ॥
अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहत।
हनूमान् मेघजालानि विकर्षन्निव गच्छति ॥ ६ ॥

हनुमान्‌जी आकाशको अपना ग्रास बनाते हुए, चन्द्रमण्डलको नखोंसे खरोंचते हुए, नक्षत्रों तथा सूर्यमण्डलसहित अन्तरिक्षको समेटते हुए और बादलोंके समूहको खींचते हुए-से अनायास ही अपार महासागरके पार चले जा रहे थे ॥ ५-६ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च।
हरितारुणवर्णानि महाभ्राणि चकाशिरे ॥ ७ ॥

उस समय आसमानमें सफेद, लाल, नीले, मंजीठके रंगके हरे और अरुण वर्णके बड़े-बड़े मेघ शोभा पा रहे थे ॥ ७ ॥

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्क्रमंश्च पुनः पुनः।

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च चन्द्रमा इव दृश्यते ॥ ८ ॥

वे कभी उन मेघ-समूहोंमें प्रवेश करते और कभी बाहर निकलते थे। बारंबार ऐसा करते हुए हनुमान्‌जी छिपते और प्रकाशित होते हुए चन्द्रमाके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८ ॥

विविधाभ्रघनापन्नगोचरो धवलाम्बरः ।
दृश्यादृश्यतनुर्वीरस्तथा चन्द्रायतेऽम्बरे ॥ ९ ॥

नाना प्रकारके मेघोंकी घटाओंके भीतर होकर जाते हुए धवलाम्बरधारी वीरवर हनुमान्‌जीका शरीर कभी दीखता था और कभी अदृश्य हो जाता था; अतः वे आकाशमें बादलोंकी आड़में छिपते और प्रकाशित होते चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

तार्क्ष्यायमाणो गगने स बभौ वायुनन्दनः ।
दारयन् मेघवृन्दानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ॥ १० ॥

बारंबार मेघ-समूहोंको विदीर्ण करने और उनमें होकर निकलनेके कारण वे पवनकुमार हनुमान् आकाशमें गरुड़के समान प्रतीत होते थे ॥ १० ॥

नदन् नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः ।
प्रवरान् राक्षसान् हत्वा नाम विश्राव्य चात्मनः॥ ११ ॥
आकुलां नगरीं कृत्वा व्यथयित्वा च रावणम् ।
अर्दयित्वा महावीरान् वैदेहीमभिवाद्य च ॥ १२ ॥
आजगाम महातेजाः पुनर्मध्येन सागरम् ।

इस प्रकार महातेजस्वी हनुमान् अपने महान् सिंहनादसे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाको भी मात करते हुए आगे बढ़ रहे थे। वे प्रमुख राक्षसोंको मारकर अपना नाम प्रसिद्ध कर चुके थे। बड़े-बड़े वीरोंको रौंदकर उन्होंने लङ्कानगरीको व्याकुल तथा रावणको व्यथित कर दिया था। तत्पश्चात् विदेहनन्दिनी सीताको नमस्कार करके वे चले और तीव्र गतिसे पुनः समुद्रके मध्यभागमें आ पहुँचे ॥ ११-१२½ ॥

पर्वतेन्द्रं सुनाभं च समुपस्पृश्य वीर्यवान् ॥ १३ ॥
ज्यामुक्त इव नाराचो महावेगोऽभ्युपागमत् ।

वहाँ पर्वतराज सुनाभ (मैनाक) का स्पर्श करके वे पराक्रमी एवं महान् वेगशाली वानर-वीर धनुषसे छूटे हुए बाणकी भाँति आगे बढ़ गये ॥ १३½ ॥

स किंचिदारात् सम्प्राप्तः समालोक्य महागिरिम् ॥१४॥
महेन्द्रं मेघसंकाशं ननाद स महाकपिः ।

उत्तर तटके कुछ निकट पहुँचनेपर महागिरि महेन्द्रपर दृष्टि पड़ते ही उन महाकपिने मेघके समान बड़े जोरसे गर्जना की ॥ १४½ ॥

स पूरयामास कपिर्दिशो दश समन्ततः ॥ १५ ॥
नदन् नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः ।

उस समय मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे बड़ी भारी गर्जना करके उन वानरवीरने सब ओरसे दसों दिशाओंको कोलाहलपूर्ण कर दिया ॥ १५½ ॥

स तं देशमनुप्राप्तः सुहृद्दर्शनलालसः ॥ १६ ॥
ननाद सुमहानादं लाङ्गूलं चाप्यकम्पयत् ।

फिर वे अपने मित्रोंको देखनेके लिये उत्सुक होकर उनके विश्रामस्थानकी ओर बढ़े और पूँछ हिलाने एवं जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १६½ ॥

तस्य नानद्यमानस्य सुपर्णाचरिते पथि ॥ १७ ॥
फलतीवास्य घोषेण गगनं सार्कमण्डलम् ।

जहाँ गरुड़ चलते हैं; उसी मार्गपर बारंबार सिंहनाद करते हुए हनुमान्‌जीके गम्भीर घोषसे सूर्यमण्डलसहित आकाश मानो फटा जा रहा था ॥ १७½ ॥

ये तु तत्रोत्तरे कूले समुद्रस्य महाबलाः ॥ १८ ॥
पूर्वं संविष्ठिताः शूरा वायुपुत्रदिदृक्षवः ।
महतो वायुनुन्नस्य तोयदस्येव निःस्वनम् ।
शुश्रुवुस्ते तदा घोषमूरुवेगं हनूमतः ॥ १९ ॥

उस समय वायुपुत्र हनुमान्‌के दर्शनकी इच्छासे जो शूरवीर महाबली वानर समुद्रके उत्तर तटपर पहलेसे ही बैठे थे, उन्होंने वायुसे टकराये हुए महान् मेघकी गर्जनाके समान हनुमान्‌जीका जोर-जोरसे सिंहनाद सुना ॥ १८-१९ ॥

ते दीनमनसः सर्वे शुश्रुवुः काननौकसः ।
वानरेन्द्रस्य निर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ २० ॥

अनिष्टकी आशङ्कासे जिनके मनमें दीनता छा गयी थी, उन समस्त वनवासी वानरोंने उन वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌का मेघ-गर्जनाके समान सिंहनाद सुना ॥ २० ॥

निशम्य नदतो नादं वानरास्ते समन्ततः ।
बभूवुरुत्सुकाः सर्वे सुहृद्दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २१ ॥

गर्जते हुए पवनकुमारका वह सिंहनाद सुनकर सब ओर बैठे हुए वे समस्त वानर अपने सुहृद् हनुमान्‌जीको देखनेकी अभिलाषासे उत्कण्ठित हो गये ॥ २१ ॥

जाम्बवान् स हरिश्रेष्ठः प्रीतिसंहृष्टमानसः ।
उपामन्त्र्य हरीन् सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वानर-भालुओंमें श्रेष्ठ जाम्बवान्‌के मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे हर्षसे खिल उठे और सब वानरोंको निकट बुलाकर इस प्रकार बोले— ॥ २२ ॥

सर्वथा कृतकार्योऽसौ हनूमान् नात्र संशयः ।
न ह्यस्याकृतकार्यस्य नाद एवंविधो भवेत् ॥ २३ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि हनुमान्‌जी सब प्रकारसे अपना कार्य सिद्ध करके आ रहे हैं। कृतकार्य हुए बिना इनकी ऐसी गर्जना नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

तस्य बाहूरुवेगं च निनादं च महात्मनः।
निशम्य हरयो हृष्टाः समुत्पेतुर्यतस्ततः ॥ २४ ॥

महात्मा हनुमान्‌जीकी भुजाओं और जाँघोंका महान् वेग देख तथा उनका सिंहनाद सुन सभी वानर हर्षमें भरकर इधर-उधर उछलने-कूदने लगे ॥ २४ ॥

ते नगाग्रान्नगाग्राणि शिखराच्छिखराणि च।
प्रहृष्टाः समपद्यन्त हनूमन्तं दिदृक्षवः ॥ २५ ॥

हनुमान्‌जीको देखनेकी इच्छासे वे प्रसन्नतापूर्वक एक वृक्षसे दूसरे वृक्षोंपर तथा एक शिखरसे दूसरे शिखरोंपर चढ़ने लगे ॥२५॥

ते प्रीताः पादपाग्रेषु गृह्य शाखामवस्थिताः।
वासांसि च प्रकाशानि समाविध्यन्त वानराः ॥ २६ ॥

वृक्षोंकी सबसे ऊँची शाखापर खड़े होकर वे प्रीतियुक्त वानर अपने स्पष्ट दिखायी देनेवाले वस्त्र हिलाने लगे ॥ २६ ॥

गिरिगह्वरसंलीनो यथा गर्जति मारुतः।
एवं जगर्ज बलवान् हनूमान् मारुतात्मजः ॥ २७ ॥

जैसे पर्वतकी गुफाओंमें अवरुद्ध हुई वायु बड़े जोरसे शब्द करती है, उसी प्रकार बलवान् पवनकुमार हनुमान्‌ने गर्जना की ॥ २७ ॥

तमभ्रघनसंकाशमापतन्तं महाकपिम्।
दृष्ट्वा ते वानराः सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २८ ॥

मेघोंकी घटाके समान पास आते हुए महाकपि हनुमान्‌को देखकर वे सब वानर उस समय हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २८ ॥

ततस्तु वेगवान् वीरो गिरेर्गिरिनिभः कपिः।
निपपात गिरेस्तस्य शिखरे पादपाकुले ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् पर्वतके समान विशाल शरीरवाले वेगशाली वीरवानर हनुमान् जो अरिष्ट पर्वतसे उछलकर चले थे, वृक्षोंसे भरे हुए महेन्द्र गिरिके शिखरपर कूद पड़े ॥ २९ ॥

हर्षेणापूर्यमाणोऽसौ रम्ये पर्वतनिर्झरे।
छिन्नपक्ष इवाकाशात् पपात धरणीधरः ॥ ३० ॥

हर्षसे भरे हुए हनुमान्‌जी पर्वतके रमणीय झरनेके निकट पंख कटे हुए पर्वतके समान आकाशसे नीचे आ गये ॥ ३० ॥

ततस्ते प्रीतमनसः सर्वे वानरपुङ्गवाः।
हनूमन्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥ ३१ ॥

उस समय वे सभी श्रेष्ठ वानर प्रसन्नचित्त हो महात्मा हनुमान्‌जीको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३१ ॥

परिवार्य च ते सर्वे परां प्रीतिमुपागताः।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे तमागतमुपागमन् ॥ ३२ ॥

उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च।
प्रत्यर्चयन् हरिश्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम् ॥ ३३ ॥

उन्हें घेरकर खड़े होनेसे उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सब वानर प्रसन्नमुख होकर तुरंतके आये हुए पवनकुमार कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌के पास भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री तथा फल-मूल लेकर आये और उनका स्वागत-सत्कार करने लगे ॥ ३२-३३ ॥

विनेदुर्मुदिताः केचित् केचित् किलकिलां तथा।
हृष्टाः पादपशाखाश्च आनिन्युर्वानरर्षभाः ॥ ३४ ॥

कोई आनन्दमग्न होकर गर्जने लगे, कोई किलकारियाँ भरने लगे और कितने ही श्रेष्ठ वानर हर्षसे भरकर हनुमान्‌जीके बैठनेके लिये वृक्षोंकी शाखाएँ तोड़ लाये ॥ ३४ ॥

हनूमांस्तु गुरून् वृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखांस्तदा।
कुमारमङ्गदं चैव सोऽवन्दत महाकपिः ॥ ३५ ॥

महाकपि हनुमान्‌जीने जाम्बवान् आदि वृद्ध गुरुजनों तथा कुमार अङ्गदको प्रणाम किया ॥ ३५ ॥

स ताभ्यां पूजितः पूज्यः कपिभिश्च प्रसादितः।
दृष्टा देवीति विक्रान्तः संक्षेपेण न्यवेदयत् ॥ ३६ ॥

फिर जाम्बवान् और अङ्गदने भी आदरणीय हनुमान्‌जीका आदर-सत्कार किया तथा दूसरे-दूसरे वानरोंने भी उनका सम्मान करके उनको संतुष्ट किया। तत्पश्चात् उन पराक्रमी वानरवीरने संक्षेपमें निवेदन किया—'मुझे सीता-देवीका दर्शन हो गया' ॥ ३६ ॥

निषसाद च हस्तेन गृहीत्वा वालिनः सुतम्।
रमणीये वनोद्देशे महेन्द्रस्य गिरेस्तदा ॥ ३७ ॥
हनूमानब्रवीत् पृष्टस्तदा तान् वानरर्षभान्।
अशोकवनिकासंस्था दृष्टा सा जनकात्मजा ॥ ३८ ॥

तदनन्तर वालिकुमार अङ्गदका हाथ अपने हाथमें लेकर हनुमान्‌जी महेन्द्रगिरिके रमणीय वनप्रान्तमें जा बैठे और सबके पूछनेपर उन वानरशिरोमणियोंसे इस प्रकार बोले—'जनकनन्दिनी सीता लङ्काके अशोकवनमें निवास करती हैं। वहीं मैंने उनका दर्शन किया है' ॥ ३७-३८ ॥

रक्ष्यमाणा सुघोराभी राक्षसीभिरनिन्दिता।
एकवेणीधरा बाला रामदर्शनलालसा ॥ ३९ ॥
उपवासपरिश्रान्ता मलिना जटिला कृशा।

'अत्यन्त भयंकर आकारवाली राक्षसियाँ उनकी रखवाली करती हैं। साध्वी सीता बड़ी भोली-भाली हैं। वे एक वेणी धारण किये वहाँ रहती हैं और श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनके लिये बहुत ही उत्सुक हैं। उपवासके कारण बहुत थक गयी हैं, दुर्बल और मलिन हो रही हैं तथा उनके केश जटाके रूपमें परिणत हो गये हैं' ॥ ३९½ ॥

ततो दृष्टेति वचनं महार्थममृतोपमम्॥ ४०॥
निशम्य मारुतेः सर्वे मुदिता वानराभवन्।

उस समय 'सीताका दर्शन हो गया' यह वचन वानरोंको अमृतके समान प्रतीत हुआ। यह उनके महान् प्रयोजनकी सिद्धिका सूचक था। हनुमान्‌जीके मुखसे यह शुभ संवाद सुनकर सब वानर बड़े प्रसन्न हुए॥ ४०½॥

क्ष्वेडन्त्यन्ये नदन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये महाबलाः॥ ४१॥
चक्रुः किलकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे।

कोई हर्षनाद और कोई सिंहनाद करने लगे। दूसरे महाबली वानर गर्जने लगे। कितने ही किलकारियाँ भरने लगे और दूसरे वानर एककी गर्जनाके उत्तरमें स्वयं भी गर्जना करने लगे॥ ४१½॥

केचिदुच्छ्रितलाङ्गूलाः प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः॥ ४२॥
आयताञ्चितदीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रविव्यधुः।

बहुत-से कपिकुञ्जर हर्षसे उल्लसित हो अपनी पूँछ ऊपर उठाकर नाचने लगे। कितने ही अपनी लंबी और मोटी पूँछें घुमाने या हिलाने लगे॥ ४२½॥

अपरे तु हनूमन्तं श्रीमन्तं वानरोत्तमम्॥ ४३॥
आप्लुत्य गिरिशृङ्गेषु संस्पृशन्ति स्म हर्षिताः।

कितने ही वानर हर्षोल्लाससे भरकर छलाँगे भरते हुए पर्वतशिखरोंपर वानरशिरोमणि श्रीमान् हनुमान्‌को छूने लगे॥ ४३½॥

उक्तवाक्यं हनूमन्तमङ्गदस्तु तदाब्रवीत्॥ ४४॥
सर्वेषां हरिवीराणां मध्ये वाचमनुत्तमाम्।

हनुमान्‌जीकी उपर्युक्त बात सुनकर अङ्गदने उस समय समस्त वानरवीरोंके बीचमें यह परम उत्तम बात कही—॥ ४४½॥

सत्त्वे वीर्ये न ते कश्चित् समो वानर विद्यते॥ ४५॥
यदवप्लुत्य विस्तीर्णं सागरं पुनरागतः।

'वानरश्रेष्ठ! बल और पराक्रममें तुम्हारे समान कोई नहीं है; क्योंकि तुम इस विशाल समुद्रको लाँघकर फिर इस पार लौट आये॥ ४५½॥

जीवितस्य प्रदाता नस्त्वमेको वानरोत्तम॥ ४६॥
त्वत्प्रसादात् समेष्यामः सिद्धार्था राघवेण ह।

'कपिशिरोमणे! एकमात्र तुम्हीं हमलोगोंके जीवनदाता हो। तुम्हारे प्रसादसे ही हम सब लोग सफलमनोरथ होकर श्रीरामचन्द्रजीसे मिलेंगे॥ ४६½॥

अहो स्वामिनि ते भक्तिरहो वीर्यमहो धृतिः॥ ४७॥
दिष्ट्या दृष्टा त्वया देवी रामपत्नी यशस्विनी।
दिष्ट्या त्यक्ष्यति काकुत्स्थः शोकं सीतावियोगजम्॥ ४८॥

'अपने स्वामी श्रीरघुनाथजीके प्रति तुम्हारी भक्ति अद्भुत है। तुम्हारा पराक्रम और धैर्य भी आश्चर्यजनक है। बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम श्रीरामचन्द्रजीकी यशस्विनी पत्नी सीतादेवीका दर्शन कर आये, अब भगवान् श्रीराम सीताके वियोगसे उत्पन्न हुए शोकको त्याग देंगे, यह भी सौभाग्यका ही विषय है'॥ ४७-४८॥

ततोऽङ्गदं हनूमन्तं जाम्बवन्तं च वानराः।
परिवार्य प्रमुदिता भेजिरे विपुलाः शिलाः॥ ४९॥
उपविष्टा गिरेस्तस्य शिलासु विपुलासु ते।
श्रोतुकामाः समुद्रस्य लङ्घनं वानरोत्तमाः॥ ५०॥
दर्शनं चापि लङ्कायाः सीताया रावणस्य च।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे हनूमद्वदनोन्मुखाः॥ ५१॥

तत्पश्चात् सभी श्रेष्ठ वानर समुद्रलङ्घन, लङ्का, रावण एवं सीताके दर्शनका समाचार सुननेके लिये एकत्र हुए तथा अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान्‌को चारों ओरसे घेरकर पर्वतकी बड़ी-बड़ी शिलाओंपर आनन्दपूर्वक बैठ गये। वे सब-के-सब हाथ जोड़े हुए थे और उन सबकी आँखें हनुमान्‌जीके मुखपर लगी थीं॥ ४९—५१॥

तस्थौ तत्राङ्गदः श्रीमान् वानरैर्बहुभिर्वृतः।
उपास्यमानो विबुधैर्दिवि देवपतिर्यथा॥ ५२॥

जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें देवताओंद्वारा सेवित होकर बैठते हैं, उसी प्रकार बहुतेरे वानरोंसे घिरे हुए श्रीमान् अङ्गद वहाँ बीचमें विराजमान हुए॥ ५२॥

हनूमता कीर्तिमता यशस्विना
तथाङ्गदेनाङ्गदनद्धबाहुना।
मुदा तदाध्यासितमुन्नतं मह-
न्महीधराग्रं ज्वलितं श्रियाभवत्॥ ५३॥

कीर्तिमान् एवं यशस्वी हनुमान्‌जी तथा बाँहोंमें भुजबंद धारण किये अङ्गदके प्रसन्नतापूर्वक बैठनेसे वह ऊँचा एवं महान् पर्वतशिखर दिव्य कान्तिसे प्रकाशित हो उठा॥ ५३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः॥ ५७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५७॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

जाम्बवान्‌के पूछनेपर हनुमान्‌जीका अपनी लङ्कायात्राका सारा वृत्तान्त सुनाना

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गे महेन्द्रस्य महाबलाः।
हनुमत्प्रमुखाः प्रीतिं हरयो जग्मुरुत्तमाम्॥ १॥

तदनन्तर हनुमान् आदि महाबली वानर महेन्द्रगिरिके शिखरपर परस्पर मिलकर बड़े प्रसन्न हुए॥ १॥

प्रीतिमत्सूपविष्टेषु वानरेषु महात्मसु।
तं ततः प्रतिसंहृष्टः प्रीतियुक्तं महाकपिम्॥ २॥
जाम्बवान् कार्यवृत्तान्तमपृच्छदनिलात्मजम्।
कथं दृष्टा त्वया देवी कथं वा तत्र वर्तते॥ ३॥
तस्यां चापि कथं वृत्तः क्रूरकर्मा दशाननः।
तत्त्वतः सर्वमेतन्नः प्रब्रूहि त्वं महाकपे॥ ४॥

जब सभी महामनस्वी वानर वहाँ प्रसन्नतापूर्वक बैठ गये, तब हर्षमें भरे हुए जाम्बवान्ने उन पवनकुमार महाकपि हनुमान्से प्रेमपूर्वक कार्यसिद्धिका समाचार पूछा—'महाकपे! तुमने देवी सीताको कैसे देखा? वे वहाँ किस प्रकार रहती हैं? और क्रूरकर्मा दशानन उनके प्रति कैसा बर्ताव करता है? ये सब बातें तुम हमें ठीक-ठीक बताओ॥ २—४॥

सम्मार्गिता कथं देवी किं च सा प्रत्यभाषत।
श्रुतार्थाश्चिन्तयिष्यामो भूयः कार्यविनिश्चयम्॥ ५॥

'तुमने देवी सीताको किस प्रकार ढूँढ़ निकाला और उन्होंने तुमसे क्या कहा? इन सब बातोंको सुनकर हम लोग आगेके कार्यक्रमका निश्चितरूपसे विचार करेंगे॥ ५॥

यश्चार्थस्तत्र वक्तव्यो गतैरस्माभिरात्मवान्।
रक्षितव्यं च यत्तत्र तद् भवान् व्याकरोतु नः॥ ६॥

'वहाँ किष्किन्धामें चलनेपर हमलोगोंको कौन-सी बात कहनी चाहिये और किस बातको गुप्त रखना चाहिये? तुम बुद्धिमान् हो, इसलिये तुम्हीं इन सब बातोंपर प्रकाश डालो'॥ ६॥

स नियुक्तस्ततस्तेन सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
नमस्यञ्शिरसा देव्यै सीतायै प्रत्यभाषत॥ ७॥

जाम्बवान्के इस प्रकार पूछनेपर हनुमान्जीके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने सीतादेवीको मन-ही-मन मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ ७॥

प्रत्यक्षमेव भवतां महेन्द्राग्रात् खमाप्लुतः।
उदधेर्दक्षिणं पारं काङ्क्षमाणः समाहितः॥ ८॥

'मैं आपलोगोंके सामने ही समुद्रके दक्षिण तटपर जानेकी इच्छासे सावधान हो महेन्द्रपर्वतके शिखरसे आकाशमें उछला था॥ ८॥

गच्छतश्च हि मे घोरं विघ्नरूपमिवाभवत्।
काञ्चनं शिखरं दिव्यं पश्यामि सुमनोहरम्॥ ९॥
स्थितं पन्थानमावृत्य मेने विघ्नं च तं नगम्।

'आगे बढ़ते ही मैंने देखा एक परम मनोहर दिव्य सुवर्णमय शिखर प्रकट हुआ है, जो मेरी राह रोककर खड़ा है। वह मेरी यात्राके लिये भयानक विघ्न-सा प्रतीत हुआ। मैंने उसे मूर्तिमान् विघ्न ही माना॥ ९½॥

उपसंगम्य तं दिव्यं काञ्चनं नगमुत्तमम्॥ १०॥
कृता मे मनसा बुद्धिर्भेत्तव्योऽयं मयेति च।

'उस दिव्य उत्तम सुवर्णमय पर्वतके निकट पहुँचनेपर मैंने मन-ही-मन यह विचार किया कि मैं इसे विदीर्ण कर डालूँ॥ १०½॥

प्रहतस्य मया तस्य लाङ्गूलेन महागिरेः॥ ११॥
शिखरं सूर्यसंकाशं व्यशीर्यत सहस्रधा।

'फिर तो मैंने अपनी पूँछसे उसपर प्रहार किया। उसकी टक्कर लगते ही उस महान् पर्वतके सूर्यतुल्य तेजस्वी शिखरके सहस्रों टुकड़े हो गये॥ ११½॥

व्यवसायं च तं बुद्ध्वा स होवाच महागिरिः॥ १२॥
पुत्रेति मधुरां वाणीं मनः प्रह्लादयन्निव।
पितृव्यं चापि मां विद्धि सखायं मातरिश्वनः॥ १३॥

'मेरे उस निश्चयको समझकर महागिरि मैनाकने मनको आह्लादित-सा करते हुए मधुर वाणीमें 'पुत्र' कहकर मुझे पुकारा और कहा—'मुझे अपना चाचा समझो। मैं तुम्हारे पिता वायुदेवताका मित्र हूँ॥ १२-१३॥

मैनाकमिति विख्यातं निवसन्तं महोदधौ।
पक्षवन्तः पुरा पुत्र बभूवुः पर्वतोत्तमाः॥ १४॥

''मेरा नाम मैनाक है और मैं यहाँ महासागरमें निवास करता हूँ। बेटा! पूर्वकालमें सभी श्रेष्ठ पर्वत पङ्खधारी हुआ करते थे॥ १४॥

छन्दतः पृथिवीं चेरुर्बाधमानाः समन्ततः।
श्रुत्वा नगानां चरितं महेन्द्रः पाकशासनः॥ १५॥
वज्रेण भगवान् पक्षौ चिच्छेदैषां सहस्रशः।
अहं तु मोचितस्तस्मात् तव पित्रा महात्मना॥ १६॥

''वे समस्त प्रजाको पीड़ा देते हुए अपनी इच्छाके अनुसार सब ओर विचरते रहते थे। पर्वतोंका ऐसा आचरण सुनकर पाकशासन भगवान् इन्द्रने वज्रसे इन सहस्रों पर्वतोंके पङ्ख काट डाले; परंतु उस समय तुम्हारे महात्मा पिताने मुझे इन्द्रके हाथसे बचा लिया॥ १५-१६॥

मारुतेन तदा वत्स प्रक्षिप्तो वरुणालये।
राघवस्य मया साह्ये वर्तितव्यमरिंदम॥ १७॥
रामो धर्मभृतां श्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः।

''बेटा! उस समय वायुदेवताने मुझे समुद्रमें लाकर डाल दिया था (जिससे मेरे पङ्ख बच गये); अतः शत्रुदमन वीर! मुझे श्रीरघुनाथजीकी सहायताके कार्यमें अवश्य तत्पर होना चाहिये; क्योंकि भगवान् श्रीराम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा इन्द्रतुल्य पराक्रमी हैं'॥१७½॥

एतच्छ्रुत्वा मया तस्य मैनाकस्य महात्मनः॥ १८॥
कार्यमावेद्य च गिरेरुद्धतं वै मनो मम।
तेन चाहमनुज्ञातो मैनाकेन महात्मना॥ १९॥

'महात्मा मैनाककी यह बात सुनकर मैंने अपना कार्य उन्हें बताया और उनकी आज्ञा लेकर फिर मेरा मन वहाँसे आगे जानेको उत्साहित हुआ। महाकाय मैनाकने उस समय मुझे जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १८-१९ ॥

स चाप्यन्तर्हितः शैलो मानुषेण वपुष्मता।
शरीरेण महाशैलः शैलेन च महोदधौ ॥ २० ॥

'वह महान् पर्वत भी अपने मानवशरीरसे तो अन्तर्हित हो गया; परंतु पर्वतरूपसे महासागरमें ही स्थित रहा ॥ २० ॥

उत्तमं जवमास्थाय शेषमध्वानमास्थितः।
ततोऽहं सुचिरं कालं जवेनाभ्यगमं पथि ॥ २१ ॥

'फिर मैं उत्तम वेगका आश्रय ले शेष मार्गपर आगे बढ़ा और दीर्घकालतक बड़े वेगसे उस पथपर चलता रहा ॥ २१ ॥

ततः पश्याम्यहं देवीं सुरसां नागमातरम्।
समुद्रमध्ये सा देवी वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'तत्पश्चात् बीच समुद्रमें मुझे नागमाता सुरसा देवीका दर्शन हुआ। देवी सुरसा मुझसे इस प्रकार बोली—॥ २२ ॥

मम भक्ष्यः प्रदिष्टस्त्वममरैर्हरिसत्तम।
ततस्त्वां भक्षयिष्यामि विहितस्त्वं हि मे सुरैः ॥ २३ ॥

''कपिश्रेष्ठ ! देवताओंने तुम्हें मेरा भक्ष्य बताया है इसलिये मैं तुम्हें भक्षण करूँगी; क्योंकि सारे देवताओंने आज तुम्हें ही मेरा आहार नियत किया है'' ॥ २३ ॥

एवमुक्तः सुरसया प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः।
विवर्णवदनो भूत्वा वाक्यं चेदमुदीरयम् ॥ २४ ॥

'सुरसाके ऐसा कहनेपर मैं हाथ जोड़कर विनीतभावसे उसके सामने खड़ा हो गया और उदासमुख होकर यों बोला—॥ २४ ॥

रामो दाशरथिः श्रीमान् प्रविष्टो दण्डकावनम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च परंतपः ॥ २५ ॥

''देवि ! शत्रुओंको संताप देनेवाले दशरथनन्दन श्रीमान् राम अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताके साथ दण्डकारण्यमें आये थे ॥ २५ ॥

तस्य सीता हृता भार्या रावणेन दुरात्मना।
तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात् ॥ २६ ॥

''वहाँ दुरात्मा रावणने उनकी पत्नी सीताको हर लिया। मैं इस समय श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे दूत होकर उन्हीं सीतादेवीके पास जा रहा हूँ ॥ २६ ॥

कर्तुमर्हसि रामस्य साहाय्यं विषये सती।
अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ २७ ॥
आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते।

''तुम भी श्रीरामचन्द्रजीके ही राज्यमें रहती हो, इसलिये तुम्हें उनकी सहायता करनी चाहिये। अथवा मैं मिथिलेशकुमारी सीता तथा अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करके तुम्हारे मुखमें आ जाऊँगा, यह तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ॥ २७½ ॥

एवमुक्ता मया सा तु सुरसा कामरूपिणी ॥ २८ ॥
अब्रवीन्नातिवर्तेत कश्चिदेष वरो मम।

'मेरे ऐसा कहनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली सुरसा बोली—'मुझे यह वर मिला हुआ है कि मेरे आहारके रूपमें निकट आया हुआ कोई भी प्राणी मुझे टालकर आगे नहीं जा सकता' ॥ २८½ ॥

एवमुक्तः सुरसया दशयोजनमायतः ॥ २९ ॥
ततोऽर्धगुणविस्तारो बभूवाहं क्षणेन तु।
मत्प्रमाणाधिकं चैव व्यादितं तु मुखं तया ॥ ३० ॥

'जब सुरसाने ऐसा कहा, उस समय मेरा शरीर दस योजन बड़ा था, किंतु एक ही क्षणमें मैं उससे ड्योढ़ा बड़ा हो गया। तब सुरसाने भी अपने मुँहको मेरे शरीरकी अपेक्षा अधिक फैला दिया ॥ २९-३० ॥

तद् दृष्ट्वा व्यादितं त्वास्यं ह्रस्वं ह्यकरवं पुनः।
तस्मिन् मुहूर्ते च पुनर्बभूवाङ्गुष्ठसम्मितः ॥ ३१ ॥

'उसके फैले हुए मुँहको देखकर मैंने फिर अपने स्वरूपको छोटा कर लिया। उसी मुहूर्तमें मेरा शरीर अँगूठेके बराबर हो गया ॥ ३१ ॥

अभिपत्याशु तद्वक्त्रं निर्गतोऽहं ततः क्षणात्।
अब्रवीत् सुरसा देवी स्वेन रूपेण मां पुनः ॥ ३२ ॥

'फिर तो मैं सुरसाके मुँहमें शीघ्र ही घुस गया और तत्क्षण बाहर निकल आया। उस समय सुरसा देवीने अपने दिव्य रूपमें स्थित होकर मुझसे कहा—॥ ३२ ॥

अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम्।
समानय च वैदेहीं राघवेण महात्मना ॥ ३३ ॥

'सौम्य ! कपिश्रेष्ठ ! अब तुम कार्यसिद्धिके लिये सुखपूर्वक यात्रा करो और विदेहनन्दिनी सीताको महात्मा रघुनाथजीसे मिलाओ ॥ ३३ ॥

सुखी भव महाबाहो प्रीतास्मि तव वानर।
ततोऽहं साधुसाध्वीति सर्वभूतैः प्रशंसितः ॥ ३४ ॥

''महाबाहु वानर ! तुम सुखी रहो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ।' उस समय सभी प्राणियोंने 'साधु-साधु' कहकर मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३४ ॥

ततोऽन्तरिक्षं विपुलं प्लुतोऽहं गरुडो यथा।
छाया मे निगृहीता च न च पश्यामि किंचन ॥ ३५ ॥

'तत्पश्चात् मैं गरुड़की भाँति उस विशाल आकाशमें फिर उड़ने लगा। उस समय किसीने मेरी परछाईं पकड़ ली, किंतु मैं किसीको देख नहीं पाता था ॥ ३५ ॥

सोऽहं विगतवेगस्तु दिशो दश विलोकयन्।
न किंचित् तत्र पश्यामि येन मे विहता गतिः ॥ ३६ ॥

'छाया पकड़ी जानेसे मेरा वेग अवरुद्ध हो गया, अतः मैं दसों दिशाओंकी ओर देखने लगा; परंतु जिसने मेरी गति रोक दी थी, ऐसा कोई प्राणी मुझे वहाँ नहीं दिखायी दिया ॥ ३६ ॥

अथ मे बुद्धिरुत्पन्ना किंनाम गमने मम।
ईदृशो विघ्न उत्पन्नो रूपमत्र न दृश्यते ॥ ३७ ॥

'तब मेरे मनमें यह चिन्ता हुई कि मेरी यात्रामें ऐसा कौन-सा विघ्न पैदा हो गया, जिसका यहाँ रूप नहीं दिखायी दे रहा है ॥ ३७ ॥

अधोभागे तु मे दृष्टिः शोचतः पतिता तदा।
तत्राद्राक्षमहं भीमां राक्षसीं सलिलेशयाम् ॥ ३८ ॥

'इसी सोचमें पड़े-पड़े मैंने जब नीचेकी ओर दृष्टि डाली, तब मुझे एक भयानक राक्षसी दिखायी दी, जो जलमें निवास करती थी ॥ ३८ ॥

प्रहस्य च महानादमुक्तोऽहं भीमया तया।
अवस्थितमसम्भ्रान्तमिदं वाक्यमशोभनम् ॥ ३९ ॥

'उस भीषण निशाचरीने बड़े जोरसे अट्टहास करके निर्भय खड़े हुए मुझसे गरज-गरजकर यह अमङ्गलजनक बात कही— ॥ ३९ ॥

क्वासि गन्ता महाकाय क्षुधिताया ममेप्सितः।
भक्षः प्रीणय मे देहं चिरमाहारवर्जितम् ॥ ४० ॥

''विशालकाय वानर! कहाँ जाओगे? मैं भूखी हुई हूँ। तुम मेरे लिये मनोवाञ्छित भोजन हो। आओ, चिरकालसे निराहार पड़े हुए मेरे शरीर और प्राणोंको तृप्त करो' ॥ ४० ॥

बाढमित्येव तां वाणीं प्रत्यगृह्णामहं ततः।
आस्यप्रमाणादधिकं तस्याः कायमपूरयम् ॥ ४१ ॥

'तब मैंने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और अपने शरीरको उसके मुखके प्रमाणसे बहुत अधिक बढ़ा लिया ॥ ४१ ॥

तस्याश्चास्यं महद् भीमं वर्धते मम भक्षणे।
न तु मां सा नु बुबुधे मम वा विकृतं कृतम् ॥ ४२ ॥

'परंतु उसका विशाल और भयानक मुख भी मुझे भक्षण करनेके लिये बढ़ने लगा। उसने मुझे या मेरे प्रभावको नहीं जाना तथा मैंने जो छल किया था, वह भी उसकी समझमें नहीं आया ॥ ४२ ॥

ततोऽहं विपुलं रूपं संक्षिप्य निमिषान्तरात्।
तस्या हृदयमादाय प्रपतामि नभःस्थलम् ॥ ४३ ॥

'फिर तो पलक मारते-मारते मैंने अपने विशाल रूपको अत्यन्त छोटा बना लिया और उसका कलेजा निकालकर आकाशमें उड़ गया ॥ ४३ ॥

सा विसृष्टभुजा भीमा पपात लवणाम्भसि।
मया पर्वतसंकाशा निकृत्तहृदया सती ॥ ४४ ॥

'मेरे द्वारा कलेजेके काट लिये जानेपर पर्वतके समान भयानक शरीरवाली वह दुष्टा राक्षसी अपनी दोनों बाँहें शिथिल हो जानेके कारण समुद्रके जलमें गिर पड़ी ॥ ४४ ॥

शृणोमि खगतानां च वाचः सौम्या महात्मनाम्।
राक्षसी सिंहिका भीमा क्षिप्रं हनुमता हता ॥ ४५ ॥

'उस समय मुझे आकाशचारी सिद्ध महात्माओंकी यह सौम्य वाणी सुनायी दी—'अहो! इस सिंहिका नामवाली भयानक राक्षसीको हनुमान्‌जीने शीघ्र ही मार डाला' ॥ ४५ ॥

तां हत्वा पुनरेवाहं कृत्यमात्ययिकं स्मरन्।
गत्वा च महदध्वानं पश्यामि नगमण्डितम् ॥ ४६ ॥
दक्षिणं तीरमुदधेर्लङ्का यत्र गता पुरी।

'उसे मारकर मैंने फिर अपने उस आवश्यक कार्यपर ध्यान दिया, जिसकी पूर्तिमें अधिक विलम्ब हो चुका था। उस विशाल मार्गको समाप्त करके मैंने पर्वतमालाओंसे मण्डित समुद्रका वह दक्षिण किनारा देखा, जहाँ लङ्कापुरी बसी हुई है ॥ ४६½ ॥

अस्तं दिनकरे याते रक्षसां निलयं पुरीम् ॥ ४७ ॥
प्रविष्टोऽहमविज्ञातो रक्षोभिर्भीमविक्रमैः।

'सूर्यदेवके अस्ताचलको चले जानेपर मैंने राक्षसोंकी निवासस्थानभूता लङ्कापुरीमें प्रवेश किया, किंतु वे भयानक पराक्रमी राक्षस मेरे विषयमें कुछ भी जान न सके ॥ ४७½ ॥

तत्र प्रविशतश्चापि कल्पान्तघनसप्रभा ॥ ४८ ॥
अट्टहासं विमुञ्चन्ती नारी काप्युत्थिता पुरः।

'मेरे प्रवेश करते ही प्रलयकालके मेघकी भाँति काली कान्तिवाली एक स्त्री अट्टहास करती हुई मेरे सामने खड़ी हो गयी ॥ ४८½ ॥

जिघांसन्तीं ततस्तां तु ज्वलदग्निशिरोरुहाम् ॥ ४९ ॥
सव्यमुष्टिप्रहारेण पराजित्य सुभैरवाम्।
प्रदोषकाले प्रविशं भीतयाहं तयोदितः ॥ ५० ॥

'उसके सिरके बाल प्रज्वलित अग्निके समान दिखायी देते थे। वह मुझे मार डालना चाहती थी। यह देख मैंने बायें हाथके मुक्केसे प्रहार करके उस भयंकर निशाचरीको परास्त कर दिया और प्रदोषकालमें पुरीके

भीतर प्रविष्ट हुआ । उस समय उस डरी हुई निशाचरीने मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ४९-५० ॥

अहं लङ्कापुरी वीर निर्जिता विक्रमेण ते ।
यस्मात् तस्माद् विजेतासि सर्वरक्षांस्यशेषतः ॥ ५१ ॥

'वीर ! मैं साक्षात् लङ्कापुरी हूँ । तुमने अपने पराक्रमसे मुझे जीत लिया है, इसलिये तुम समस्त राक्षसोंपर पूर्णतः विजय प्राप्त कर लोगे' ॥ ५१ ॥

तत्राहं सर्वरात्रं तु विचरञ्जनकात्मजाम् ।
रावणान्तःपुरगतो न चापश्यं सुमध्यमाम् ॥ ५२ ॥

'वहाँ सारी रात नगरमें घर-घर घूमने और रावणके अन्तःपुरमें पहुँचनेपर भी मैंने सुन्दर कटिप्रदेशवाली जनकनन्दिनी सीताको नहीं देखा ॥ ५२ ॥

ततः सीतामपश्यंस्तु रावणस्य निवेशने ।
शोकसागरमासाद्य न पारमुपलक्षये ॥ ५३ ॥

'रावणके महलमें सीताको न देखनेपर मैं शोक-सागरमें डूब गया । उस समय मुझे उस शोकका कहीं पार नहीं दिखायी देता था ॥ ५३ ॥

शोचता च मया दृष्टं प्राकारेणाभिसंवृतम् ।
काञ्चनेन विकृष्टेन गृहोपवनमुत्तमम् ॥ ५४ ॥

'सोचमें पड़े-पड़े ही मैंने एक उत्तम गृहोद्यान देखा, जो सोनेके बने हुए सुन्दर परकोटेसे घिरा हुआ था ॥ ५४ ॥

सप्राकारमवप्लुत्य पश्यामि बहुपादपम् ।
अशोकवनिकामध्ये शिंशपापादपो महान् ॥ ५५ ॥

'तब उस परकोटेको लाँघकर मैंने उस गृहोद्यानको देखा, जो बहुसंख्यक वृक्षोंसे भरा हुआ था । उस अशोक-वाटिकाके बीचमें मुझे एक बहुत ऊँचा अशोक वृक्ष दिखायी दिया ॥ ५५ ॥

तमारुह्य च पश्यामि काञ्चनं कदलीवनम् ।
अदूराच्छिंशपावृक्षात् पश्यामि वरवर्णिनीम् ॥ ५६ ॥

'उसपर चढ़कर मैंने सुवर्णमय कदलीवन देखा तथा उस अशोक वृक्षके पास ही मुझे सर्वाङ्गसुन्दरी सीताजीका दर्शन हुआ ॥ ५६ ॥

श्यामां कमलपत्राक्षीमुपवासकृशाननाम् ।
तदेकवासःसंवीतां रजोध्वस्तशिरोरुहाम् ॥ ५७ ॥

'वे सदा सोलह वर्षकी-सी अवस्थासे युक्त दिखायी देती हैं । उनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर हैं । सीताजी उपवास करनेके कारण अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं और उनकी यह दुर्बलता उनका मुख देखते ही स्पष्ट हो जाती है । वे एक ही वस्त्र पहने हुए हैं और उनके केश धूलसे धूसर हो गये हैं ॥ ५७ ॥

शोकसंतापदीनाङ्गीं सीतां भर्तृहिते स्थिताम् ।
राक्षसीभिर्विरूपाभिः क्रूराभिरभिसंवृताम् ॥ ५८ ॥
मांसशोणितभक्ष्याभिर्व्याघ्रीभिर्हरिणीं यथा ।

'उनके सारे अङ्ग शोक-संतापसे दीन दिखायी देते हैं । वे अपने स्वामीके हित-चिन्तनमें तत्पर हैं । रक्त-मांसका भोजन करनेवाली क्रूर एवं कुरूप राक्षसियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनकी रखवाली करती हैं । ठीक उसी तरह जैसे बहुत-सी बाघिनें किसी हरिणीको घेरे हुए खड़ी हों ॥

सा मया राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ५९ ॥
एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा ।
भूमिशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ॥ ६० ॥

'मैंने देखा, वे राक्षसियोंके बीचमें बैठी थीं और राक्षसियाँ उन्हें बारंबार धमका रही थीं । वे सिरपर एक ही वेणी धारण किये दीनभावसे अपने पतिके चिन्तनमें तल्लीन हो रही थीं । धरती ही उनकी शय्या है । जैसे हेमन्त-ऋतु आनेपर कमलिनी सूखकर श्रीहीन हो जाती है, उसी प्रकार उनके सारे अङ्ग कान्तिहीन हो गये हैं ॥ ५९-६० ॥

रावणाद् विनिवृत्तार्था मर्तव्ये कृतनिश्चया ।
कथंचिन्मृगशावाक्षी तूर्णमासादिता मया ॥ ६१ ॥

'रावणकी ओरसे उनका हार्दिक भाव सर्वथा दूर है । वे मरनेका निश्चय कर चुकी हैं । उसी अवस्थामें मैं किसी तरह शीघ्रतापूर्वक मृगनयनी सीताके पास पहुँच सका ॥ ६१ ॥

तां दृष्ट्वा तादृशीं नारीं रामपत्नीं यशस्विनीम् ।
तत्रैव शिंशपावृक्षे पश्यन्नहमवस्थितः ॥ ६२ ॥

'वैसी अवस्थामें पड़ी हुई उन यशस्विनी नारी श्रीरामपत्नी सीताको अशोकवृक्षके नीचे बैठी देख मैं भी उस वृक्षपर स्थित हो गया और उन्हें वहींसे निहारने लगा ॥ ६२ ॥

ततो हलहलाशब्दं काञ्चीनूपुरमिश्रितम् ।
शृणोम्यधिकगम्भीरं रावणस्य निवेशने ॥ ६३ ॥

'इतनेहीमें रावणके महलमें करधनी और नूपुरोंकी झनकारसे मिला हुआ अधिक गम्भीर कोलाहल सुनायी पड़ा ॥ ६३ ॥

ततोऽहं परमोद्विग्नः स्वरूपं प्रत्यसंहरम् ।
अहं च शिंशपावृक्षे पक्षीव गहने स्थितः ॥ ६४ ॥

'फिर तो मैंने अत्यन्त उद्विग्न होकर अपने स्वरूपको समेट लिया—छोटा बना लिया और पक्षीके समान उस गहन शिंशपा (अशोक) वृक्षमें छिपा बैठा रहा ॥ ६४ ॥

ततो रावणदाराश्च रावणश्च महाबलः ।
तं देशमनुसम्प्राप्तो यत्र सीताभवत् स्थिता ॥ ६५ ॥

'इतनेहीमें रावणकी स्त्रियाँ और महाबली रावण—ये

सब-के-सब उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ सीतादेवी विराजमान थीं ॥ ६५ ॥

तं दृष्ट्वाथ वरारोहा सीता रक्षोगणेश्वरम्।
संकुच्योरू स्तनौ पीनौ बाहुभ्यां परिरभ्य च ॥ ६६ ॥

'राक्षसोंके स्वामी रावणको देखते ही सुन्दर कटि-प्रदेशवाली सीता अपनी जाँघोंको सिकोड़कर और उभरे हुए दोनों स्तनोंको भुजाओंसे ढककर बैठ गयीं ॥ ६६ ॥

वित्रस्तां परमोद्विग्नां वीक्ष्यमाणामितस्ततः।
त्राणं कंचिदपश्यन्तीं वेपमानां तपस्विनीम् ॥ ६७ ॥
तामुवाच दशग्रीवः सीतां परमदुःखिताम्।
अवाक्शिराः प्रपतितो बहुमन्यस्व मामिति ॥ ६८ ॥

'वे अत्यन्त भयभीत और उद्विग्न होकर इधर-उधर देखने लगीं। उन्हें कोई भी अपना रक्षक नहीं दिखायी देता था। भयसे काँपती हुई अत्यन्त दुःखिनी तपस्विनी सीताके सामने जा दशमुख रावण नीचे सिर किये उनके चरणोंमें गिर पड़ा और इस प्रकार बोला—'विदेहकुमारी! मैं तुम्हारा सेवक हूँ। तुम मुझे अधिक आदर दो' ॥६७-६८॥

यदि चेत्त्वं तु मां दर्पान्नाभिनन्दसि गर्विते।
द्विमासानन्तरं सीते पास्यामि रुधिरं तव ॥ ६९ ॥

'(इतनेपर भी अपने प्रति उनकी उपेक्षा देख वह कुपित होकर बोला—) 'गर्वीली सीते! यदि तू घमंडमें आकर मेरा अभिनन्दन नहीं करेगी तो आजसे दो महीनेके बाद मैं तेरा खून पी जाऊँगा' ॥ ६९ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः।
उवाच परमक्रुद्धा सीता वचनमुत्तमम् ॥ ७० ॥

दुरात्मा रावणकी यह बात सुनकर सीताने अत्यन्त कुपित हो यह उत्तम वचन कहा—॥ ७० ॥

राक्षसाधम रामस्य भार्याममिततेजसः।
इक्ष्वाकुवंशनाथस्य स्नुषां दशरथस्य च ॥ ७१ ॥
अवाच्यं वदतो जिह्वा कथं न पतिता तव।

''नीच निशाचर! अमिततेजस्वी भगवान् श्रीरामकी पत्नी और इक्ष्वाकुकुलके स्वामी महाराज दशरथकी पुत्र-वधूसे यह न कहने योग्य बात कहते समय तेरी जीभ क्यों नहीं गिर गयी? ॥ ७१½ ॥

किंस्विद्वीर्यं तवानार्य यो मां भर्तुरसंनिधौ ॥ ७२ ॥
अपहृत्यागतः पाप तेनादृष्टो महात्मना।

''दुष्ट पापी! तुझमें क्या पराक्रम है? मेरे पतिदेव जब निकट नहीं थे, तब तू उन महात्माकी दृष्टिसे छिपकर चोरी-चोरी मुझे हर लाया ॥ ७२½ ॥

न त्वं रामस्य सदृशो दास्येऽप्यस्य न युज्यसे ॥ ७३ ॥
अजेयः सत्यवाक् शूरो रणश्लाघी च राघवः।

''तू भगवान् श्रीरामकी समानता नहीं कर सकता। तू तो उनका दास होने योग्य भी नहीं है। श्रीरघुनाथजी सर्वथा अजेय, सत्यभाषी, शूरवीर और युद्धके अभिलाषी एवं प्रशंसक हैं' ॥ ७३½ ॥

जानक्या परुषं वाक्यमेवमुक्तो दशाननः ॥ ७४ ॥
जज्वाल सहसा कोपाच्चितास्थ इव पावकः।
विवृत्य नयने क्रूरे मुष्टिमुद्यम्य दक्षिणम् ॥ ७५ ॥
मैथिलीं हन्तुमारब्धः स्त्रीभिर्हाहाकृतं तदा।
स्त्रीणां मध्यात् समुत्पत्य तस्य भार्या दुरात्मनः ॥ ७६ ॥
वरा मन्दोदरी नाम तया स प्रतिषेधितः।
उक्तश्च मधुरां वाणीं तया स मदनार्दितः ॥ ७७ ॥

'जनकनन्दिनीके ऐसी कठोर बात कहनेपर दशमुख रावण चितामें लगी हुई आगकी भाँति सहसा क्रोधसे जल उठा और अपनी क्रूर आँखें फाड़-फाड़कर देखता हुआ दाहिना मुक्का तानकर मिथिलेशकुमारीको मारनेके लिये तैयार हो गया। यह देख उस समय वहाँ खड़ी हुई स्त्रियाँ हाहाकार करने लगीं। इतनेहीमें उन स्त्रियोंके बीचसे उस दुरात्माकी सुन्दरी भार्या मन्दोदरी झपटकर आगे आयी और उसने रावणको ऐसा करनेसे रोका। साथ ही, उस कामपीड़ित निशाचरसे मधुर वाणीमें कहा—॥ ७४—७७ ॥

सीतया तव किं कार्यं महेन्द्रसमविक्रम।
मया सह रमस्वाद्य मद्विशिष्टा न जानकी ॥ ७८ ॥

''महेन्द्रके समान पराक्रमी राक्षसराज! सीतासे तुम्हें क्या काम है? आज मेरे साथ रमण करो। जनकनन्दिनी सीता मुझसे अधिक सुन्दरी नहीं है ॥ ७८ ॥

देवगन्धर्वकन्याभिर्यक्षकन्याभिरेव च।
सार्धं प्रभो रमस्वेति सीतया किं करिष्यसि ॥ ७९ ॥

''प्रभो! देवताओं, गन्धर्वों और यक्षोंकी कन्याएँ हैं, इनके साथ रमण करो; सीताको लेकर क्या करोगे?'' ॥

ततस्ताभिः समेताभिर्नारीभिः स महाबलः।
उत्थाप्य सहसा नीतो भवनं स्वं निशाचरः ॥ ८० ॥

'तदनन्तर वे सब स्त्रियाँ मिलकर उस महाबली निशाचर रावणको सहसा वहाँसे उठाकर अपने महलमें ले गयीं ॥ ८० ॥

याते तस्मिन् दशग्रीवे राक्षस्यो विकृताननाः।
सीतां निर्भर्त्सयामासुर्वाक्यैः क्रूरैः सुदारुणैः ॥ ८१ ॥

'दशमुख रावणके चले जानेपर विकराल मुखवाली राक्षसियाँ अत्यन्त दारुण क्रूरतापूर्ण वचनोंद्वारा सीताको डराने-धमकाने लगीं ॥ ८१ ॥

तृणवद् भाषितं तासां गणयामास जानकी।
गर्जितं च तथा तासां सीतां प्राप्य निरर्थकम् ॥ ८२ ॥

'परंतु जानकीने उनकी बातोंको तिनकेके समान तुच्छ समझा। उनका सारा गर्जन-तर्जन सीताके पास पहुँचकर व्यर्थ हो गया ॥ ८२ ॥

वृथा गर्जितनिश्चेष्टा राक्षस्यः पिशिताशनाः।
रावणाय शशंसुस्ताः सीताव्यवसितं महत् ॥ ८३ ॥

इस प्रकार गर्जना और सारी चेष्टाओंके व्यर्थ हो जानेपर उन मांसभक्षिणी राक्षसियोंने रावणके पास जाकर उसे सीताजीका महान् निश्चय कह सुनाया ॥ ८३ ॥

ततस्ताः सहिताः सर्वा विहताशा निरुद्यमाः।
परिक्लिश्य समस्तास्ता निद्रावशमुपागताः ॥ ८४ ॥

'फिर वे सब-की-सब उन्हें अनेक प्रकारसे कष्ट दे हताश तथा उद्योगशून्य हो निद्राके वशीभूत होकर सो गयीं ॥८४॥

तासु चैव प्रसुप्तासु सीता भर्तृहिते रता।
विलप्य करुणं दीना प्रशुशोच सुदुःखिता ॥ ८५ ॥

'उन सबके सो जानेपर पतिके हितमें तत्पर रहनेवाली सीताजी करुणापूर्वक विलापकर अत्यन्त दीन और दुखी हो शोक करने लगीं ॥ ८५ ॥

तासां मध्यात् समुत्थाय त्रिजटा वाक्यमब्रवीत्।
आत्मानं खादत क्षिप्रं न सीतामसितेक्षणाम् ॥ ८६ ॥
जनकस्यात्मजां साध्वीं स्नुषां दशरथस्य च।

उन राक्षसियोंके बीचसे त्रिजटा नामवाली राक्षसी उठी और अन्य निशाचरियोंसे इस प्रकार बोली—'अरी! तुम सब अपने आपको ही जल्दी-जल्दी खा जाओ, कजरारे नेत्रोंवाली सीताको नहीं; ये राजा दशरथकी पुत्रवधू और जनककी लाड़ली सती-साध्वी सीता इस योग्य नहीं हैं ॥ ८६½ ॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः ॥ ८७ ॥
रक्षसां च विनाशाय भर्तुरस्या जयाय च।

"आज अभी मैंने बड़ा भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाला स्वप्न देखा है; वह राक्षसियोंके विनाश तथा इन सीतादेवीके पतिकी विजयका सूचक है ॥ ८७½ ॥

अलमस्मान् परित्रातुं राघवाद् राक्षसीगणम् ॥ ८८ ॥
अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते।

"ये सीता ही श्रीरघुनाथजीके रोषसे हमारी और इन सब राक्षसियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं; अतः हमलोग विदेह-नन्दिनीसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करें—यही मुझे अच्छा लगता है ॥ ८८½ ॥

यदि ह्येवंविधः स्वप्नो दुःखितायाः प्रदृश्यते ॥ ८९ ॥
सा दुःखैर्विविधैर्मुक्ता सुखमाप्नोत्यनुत्तमम्।

"यदि किसी दुःखिनीके विषयमें ऐसा स्वप्न देखा जाता है तो वह अनेक विध दुःखोंसे छूटकर परम उत्तम सुख पाती है ८९½

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ॥ ९० ॥
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्।

"राक्षसियो! केवल प्रणाम करनेमात्रसे मिथिलेशकुमारी जानकी प्रसन्न हो जायँगी और वे महान् भयसे मेरी रक्षा करेंगी" ॥ ९०½ ॥

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता ॥ ९१ ॥
अवोचद् यदि तत् तथ्यं भवेयं शरणं हि वः।

'तब लजावती बाला सीता पतिकी विजयकी सम्भावनासे प्रसन्न हो बोलीं—'यदि यह बात सच होगी तो मैं अवश्य तुमलोगोंकी रक्षा करूँगी' ॥ ९१½ ॥

तां चाहं तादृशीं दृष्ट्वा सीताया दारुणां दशाम् ॥ ९२ ॥
चिन्तयामास विश्रान्तो न च मे निर्वृतं मनः।
सम्भाषणार्थे च मया जानक्याश्चिन्तितो विधिः ॥ ९३ ॥

'कुछ विश्रामके पश्चात् मैं सीताकी वैसी दारुण दशा देखकर बड़ी चिन्तामें पड़ गया। मेरे मनको शान्ति नहीं मिलती थी। फिर मैंने जानकीजीके साथ वार्तालाप करनेके लिये एक उपाय सोचा ॥ ९२-९३ ॥

इक्ष्वाकुकुलवंशस्तु स्तुतो मम पुरस्कृतः।
श्रुत्वा तु गदितां वाचं राजर्षिगणभूषिताम् ॥ ९४ ॥
प्रत्यभाषत मां देवी बाष्पैः पिहितलोचना।

'पहले मैंने इक्ष्वाकुवंशकी प्रशंसा की। राजर्षियोंकी स्तुतिसे विभूषित मेरी वह वाणी सुनकर देवी सीताके नेत्रोंमें आँसू भर आया और वे मुझसे बोलीं—॥ ९४½ ॥

कस्त्वं केन कथं चेह प्राप्तो वानरपुङ्गव ॥ ९५ ॥
का च रामेण ते प्रीतिस्तन्मे शंसितुमर्हसि।

"कपिश्रेष्ठ! तुम कौन हो? किसने तुम्हें भेजा है? यहाँ कैसे आये हो? और भगवान् श्रीरामके साथ तुम्हारा कैसा प्रेम है? यह सब मुझे बताओ" ॥ ९५½ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा अहमप्यब्रुवं वचः ॥ ९६ ॥
देवि रामस्य भर्तुस्ते सहायो भीमविक्रमः।
सुग्रीवो नाम विक्रान्तो वानरेन्द्रो महाबलः ॥ ९७ ॥

उनका यह वचन सुनकर मैंने भी कहा—देवि! तुम्हारे पतिदेव श्रीरामके सहायक एक भयंकर पराक्रमी बल-विक्रमसम्पन्न महाबली वानरराज हैं, जिनका नाम सुग्रीव है ॥ ९६-९७ ॥

तस्य मां विद्धि भृत्यं त्वं हनूमन्तमिहागतम्।
भर्त्रा सम्प्रहितस्तुभ्यं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ९८ ॥

"उन्हींका मुझे सेवक समझो। मेरा नाम हनुमान् है। अनायास ही महान् कर्म करनेवाले तुम्हारे पति श्रीरामने भेजा है। इसलिये मैं यहाँ आया हूँ ॥ ९८ ॥

इदं तु पुरुषव्याघ्रः श्रीमान् दाशरथिः स्वयम्।
अङ्गुलीयमभिज्ञानमदात् तुभ्यं यशस्विनि ॥ ९९ ॥

"यशस्विनि ! पुरुषसिंह दशरथनन्दन साक्षात् श्रीमान् रामने पहचानके लिये यह अँगूठी तुम्हें दी है ॥ ९९ ॥

तदिच्छामि त्वयाज्ञप्तं देवि किं करवाण्यहम्।
रामलक्ष्मणयोः पार्श्वं नयामि त्वां किमुत्तरम् ॥१००॥

"देवि ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे आज्ञा दें कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आप कहें तो मैं अभी आपको श्रीराम और लक्ष्मणके पास पहुँचा दूँ । इस विषयमें आपका क्या उत्तर है ?' ॥ १०० ॥

एतच्छ्रुत्वा विदित्वा च सीता जनकनन्दिनी।
आह रावणमुत्पाट्य राघवो मां नयत्विति ॥१०१॥

'मेरी यह बात सुनकर और सोच-समझकर जनकनन्दिनी सीताने कहा—'मेरी इच्छा है कि श्रीरघुनाथजी रावणका संहार करके मुझे यहाँसे ले चलें' ॥ १०१ ॥

प्रणम्य शिरसा देवीमहमार्यामनिन्दिताम्।
राघवस्य मनोह्लादमभिज्ञानमयाचिषम् ॥१०२॥

'तब मैंने उन सती-साध्वी देवी आर्या सीताको सिर झुकाकर प्रणाम किया और कोई ऐसी पहचान माँगी, जो श्रीरघुनाथजीके मनको आनन्द प्रदान करनेवाली हो ॥१०२॥

अथ मामब्रवीत् सीता गृह्यतामयमुत्तमः।
मणिर्येन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते ॥१०३॥

'मेरे माँगनेपर सीताजीने कहा—'लो, यह उत्तम चूडामणि है, जिसे पाकर महाबाहु श्रीराम तुम्हारा विशेष आदर करेंगे' ॥ १०३ ॥

इत्युक्त्वा तु वरारोहा मणिप्रवरमुत्तमम्।
प्रायच्छत् परमोद्विग्ना वाचा मां संदिदेश ह ॥१०४॥

'ऐसा कहकर सुन्दरी सीताने मुझे वह परम उत्तम चूडामणि दी और अत्यन्त उद्विग्न होकर वाणीद्वारा अपना संदेश कहा ॥ १०४ ॥

ततस्तस्यै प्रणम्याहं राजपुत्र्यै समाहितः।
प्रदक्षिणं परिक्राममिहाभ्युद्गतमानसः ॥१०५॥

'तब मन-ही-मन यहाँ आनेके लिये उत्सुक हो एकाग्रचित्त होकर मैंने राजकुमारी सीताको प्रणाम किया और उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ १०५ ॥

उत्तरं पुनरेवाह निश्चित्य मनसा तदा।
हनूमन् मम वृत्तान्तं वक्तुमर्हसि राघवे ॥१०६॥
यथा श्रुत्वैव नचिरात् तावुभौ रामलक्ष्मणौ।
सुग्रीवसहितौ वीरावुपेयातां तथा कुरु ॥१०७॥

'उस समय उन्होंने मनसे कुछ निश्चय करके पुनः मुझे उत्तर दिया—'हनुमन् ! तुम श्रीरघुनाथजीको मेरा सारा वृत्तान्त सुनाना और ऐसा प्रयत्न करना, जिससे सुग्रीवसहित वे दोनों वीरबन्धु श्रीराम और लक्ष्मण मेरा हाल सुनते ही अविलम्ब यहाँ आ जायँ ॥ १०६-१०७ ॥

यदन्यथा भवेदेतद् द्वौ मासौ जीवितं मम।
न मां द्रक्ष्यति काकुत्स्थो म्रियेसाहमनाथवत् ॥१०८॥

"यदि इसके विपरीत हुआ तो दो महीनेतक मेरा जीवन और शेष है । उसके बाद श्रीरघुनाथजी मुझे नहीं देख सकेंगे । मैं अनाथकी भाँति मर जाऊँगी' ॥ १०८ ॥

तच्छ्रुत्वा करुणं वाक्यं क्रोधो मामभ्यवर्तत।
उत्तरं च मया दृष्टं कार्यशेषमनन्तरम् ॥१०९॥

'उनका यह करुणाजनक वचन सुनकर राक्षसोंके प्रति मेरा क्रोध बहुत बढ़ गया । फिर मैंने शेष बचे हुए भावी कार्यपर विचार किया ॥ १०९ ॥

ततोऽवर्धत मे कायस्तदा पर्वतसंनिभः।
युद्धाकाङ्क्षी वनं तस्य विनाशयितुमारभे ॥११०॥

'तदनन्तर मेरा शरीर बढ़ने लगा और तत्काल पर्वतके समान हो गया । मैंने युद्धकी इच्छासे रावणके उस वनको उजाड़ना आरम्भ किया ॥ ११० ॥

तद् भग्नं वनखण्डं तु भ्रान्तत्रस्तमृगद्विजम्।
प्रतिबुद्ध्य निरीक्षन्ते राक्षस्यो विकृताननाः ॥१११॥

'जहाँके पशु और पक्षी घबराये और डरे हुए थे, उस उजड़े हुए वनखण्डको वहाँ सोकर उठी हुई विकराल मुखवाली राक्षसियोंने देखा ॥ १११ ॥

मां च दृष्ट्वा वने तस्मिन् समागम्य ततस्ततः।
ताः समभ्यागताः क्षिप्रं रावणायाचचक्षिरे ॥११२॥

'उस वनमें मुझे देखकर वे सब इधर-उधरसे जुट गयीं और तुरंत रावणके पास जाकर उन्होंने वनविध्वंसका सारा समाचार कहा—॥ ११२ ॥

राजन् वनमिदं दुर्गं तव भग्नं दुरात्मना।
वानरेण ह्यविज्ञाय तव वीर्यं महाबल ॥११३॥

"महाबली राक्षसराज ! एक दुरात्मा वानरने आपके बल-पराक्रमको कुछ भी न समझकर इस दुर्गम प्रमदावनको उजाड़ डाला है ॥ ११३ ॥

तस्य दुर्बुद्धिता राजंस्तव विप्रियकारिणः।
वधमाज्ञापय क्षिप्रं यथासौ न पुनर्व्रजेत् ॥११४॥

'महाराज ! यह उसकी दुर्बुद्धि ही है, जो उसने आपका अपराध किया । आप शीघ्र ही उसके वधकी आज्ञा दें, जिससे वह फिर बचकर चला न जाय' ॥ ११४ ॥

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रेण विसृष्टा बहुदुर्जयाः।
राक्षसाः किंकरा नाम रावणस्य मनोऽनुगाः ॥११५॥

'यह सुनकर राक्षसराजने अपने मनके अनुकूल चलनेवाले किंकर नामक राक्षसोंको भेजा, जिनपर विजय पाना अत्यन्त कठिन था ॥ ११५ ॥

तेषामशीतिसाहस्रं शूलमुद्गरपाणिनाम्।
मया तस्मिन् वनोद्देशे परिघेण निषूदितम् ॥११६॥

'वे हाथोंमें शूल और मुद्गर लेकर आये थे। उनकी संख्या अस्सी हजार थी; परंतु मैंने उस वनप्रान्तमें एक परिघसे ही उन सबका संहार कर डाला ॥ ११६ ॥

तेषां तु हतशिष्टा ये ते गता लघुविक्रमाः।
निहतं च मया सैन्यं रावणायाचचक्षिरे ॥११७॥

'उनमें जो मरनेसे बच गये, वे जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए भाग गये। उन्होंने रावणको मेरेद्वारा सारी सेनाके मारे जानेका समाचार बताया ॥ ११७ ॥

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना चैत्यप्रासादमुत्तमम्।
तत्रस्थान् राक्षसान् हत्वा शतं स्तम्भेन वै पुनः॥११८॥
ललामभूतो लङ्काया मया विध्वंसितो रुषा।

'तत्पश्चात् मेरे मनमें एक नया विचार उत्पन्न हुआ और मैंने क्रोधपूर्वक वहाँके उत्तम चैत्यप्रासादको, जो लङ्काका सबसे सुन्दर भवन था तथा जिसमें सौ खम्भे लगे हुए थे, वहाँके राक्षसोंका संहार करके तोड़-फोड़ डाला ॥ ११८½ ॥

ततः प्रहस्तस्य सुतं जम्बुमालिनमादिशत् ॥११९॥
राक्षसैर्बहुभिः सार्धं घोररूपैर्भयानकैः।

'तब रावणने घोर रूपवाले भयानक राक्षसोंके साथ जिनकी संख्या बहुत अधिक थी, प्रहस्तके बेटे जम्बुमालीको युद्धके लिये भेजा ॥ ११९½ ॥

तमहं बलसम्पन्नं राक्षसं रणकोविदम् ॥१२०॥
परिघेणातिघोरेण सूदयामि सहानुगम्।

'वह राक्षस बड़ा बलवान् तथा युद्धकी कलामें कुशल था तो भी मैंने अत्यन्त घोर परिघसे मारकर सेवकोंसहित उसे कालके गालमें डाल दिया ॥ १२०½ ॥

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्तु मन्त्रिपुत्रान् महाबलान् ॥१२१॥
पदातिबलसम्पन्नान् प्रेषयामास रावणः।
परिघेणैव तान् सर्वान् नयामि यमसादनम् ॥१२२॥

'यह सुनकर राक्षसराज रावणने पैदल सेनाके साथ अपने मन्त्रीके पुत्रोंको भेजा, जो बड़े बलवान् थे; किंतु मैंने परिघसे ही उन सबको यमलोक भेज दिया ॥ १२१-१२२ ॥

मन्त्रिपुत्रान् हताञ्छ्रुत्वा समरे लघुविक्रमान्।
पञ्च सेनाग्रगाञ्छूरान् प्रेषयामास रावणः ॥१२३॥

'समराङ्गणमें शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले मन्त्रिकुमारोंको मारा गया सुनकर रावणने पाँच शूरवीर सेनापतियोंको भेजा ॥ १२३ ॥

तानहं सहसैन्यान् वै सर्वानेवाभ्यसूदयम्।
ततः पुनर्दशग्रीवः पुत्रमक्षं महाबलम् ॥१२४॥
बहुभी राक्षसैः सार्धं प्रेषयामास संयुगे।

'उन सबको भी मैंने सेनासहित मौतके घाट उतार दिया। तब दशमुख रावणने अपने पुत्र महाबली अक्षकुमारको बहुसंख्यक राक्षसोंके साथ युद्धके लिये भेजा ॥ १२४½ ॥

तं तु मन्दोदरीपुत्रं कुमारं रणपण्डितम् ॥१२५॥
सहसा खं समुद्यन्तं पादयोश्च गृहीतवान्।
तमासीनं शतगुणं भ्रामयित्वा व्यपेषयम् ॥१२६॥

मन्दोदरीका वह पुत्र युद्धकी कलामें बड़ा प्रवीण था। वह आकाशमें उड़ रहा था। उसी समय मैंने सहसा उसके दोनों पैर पकड़ लिये और सौ बार घुमाकर उसे पृथ्वीपर पटक दिया। इस तरह वहाँ पड़े हुए कुमार अक्षको मैंने पीस डाला ॥ १२५-१२६ ॥

तमक्षमागतं भग्नं निशम्य स दशाननः।
ततश्चेन्द्रजितं नाम द्वितीयं रावणः सुतम् ॥१२७॥
व्यादिदेश सुसंक्रुद्धो बलिनं युद्धदुर्मदम्।

'अक्षकुमार युद्धभूमिमें आया और मारा गया—यह सुनकर दशमुख रावणने अत्यन्त कुपित हो अपने दूसरे पुत्र इन्द्रजित्‌को, जो बड़ा ही रणदुर्मद और बलवान् था, भेजा ॥ १२७½ ॥

तच्चाप्यहं बलं सर्वं तं च राक्षसपुङ्गवम् ॥१२८॥
नष्टौजसं रणे कृत्वा परं हर्षमुपागतः।

'उसके साथ आयी हुई सारी सेनाको और उस राक्षसशिरोमणिको भी युद्धमें हतोत्साह करके मुझे बड़ा हर्ष हुआ ॥ १२८½ ॥

महतापि महाबाहुः प्रत्ययेन महाबलः ॥१२९॥
प्रहितो रावणेनैष सह वीरैर्मदोद्धतैः।

'रावणने इस महाबली महाबाहु वीरको अनेक मदमत्त वीरोंके साथ बड़े विश्वाससे भेजा था ॥ १२९½ ॥

सोऽविषह्यं हि मां बुद्ध्वा स्वसैन्यं चावमर्दितम् ॥१३०॥
ब्रह्मणोऽस्त्रेण स तु मां प्रबद्ध्वा चातिवेगिनः।
रज्जुभिश्चापि बध्नन्ति ततो मां तत्र राक्षसाः ॥१३१॥

'इन्द्रजित्‌ने देखा, मेरी सारी सेना कुचल डाली गयी, तब उसने समझ लिया कि इस वानरका सामना करना असम्भव है। अतः उसने बड़े वेगसे ब्रह्मास्त्र चलाकर मुझे बाँध लिया। फिर तो वहाँ राक्षसोंने मुझे रस्सियोंसे भी बाँधा ॥ १३०-१३१ ॥

रावणस्य समीपं च गृहीत्वा मामुपागमन्।
दृष्ट्वा सम्भाषितश्चाहं रावणेन दुरात्मना ॥१३२॥

पृष्टश्च लङ्कागमनं राक्षसानां च तं वधम् ।
तत्सर्वं च रणे तत्र सीतार्थमुपजल्पितम् ॥१३३॥

'इस तरह मुझे पकड़कर वे सब रावणके समीप ले आये। दुरात्मा रावणने मुझे देखकर वार्तालाप आरम्भ किया और पूछा—'तू लङ्कामें क्यों आया ? तथा राक्षसोंका वध तूने क्यों किया ?' मैंने वहाँ उत्तर दिया, 'यह सब कुछ मैंने सीताजीके लिये किया है' ॥ १३२-१३३ ॥

तस्यास्तु दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तस्त्वद्भवनं विभो ।
मारुतस्यौरसः पुत्रो वानरो हनुमानहम् ॥१३४॥
रामदूतं च मां विद्धि सुग्रीवसचिवं कपिम् ।
सोऽहं दौत्येन रामस्य त्वत्सकाशमिहागतः ॥१३५॥

'प्रभो ! जनकनन्दिनीके दर्शनकी इच्छासे ही मैं तुम्हारे महलमें आया हूँ। मैं वायुदेवताका औरस पुत्र हूँ, जातिका वानर हूँ और हनुमान् मेरा नाम है। मुझे श्रीरामचन्द्रजीका दूत और सुग्रीवका मन्त्री समझो। श्रीरामचन्द्रजीका दूत-कार्य करनेके लिये ही मैं यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ ॥ १३४-१३५ ॥

शृणु चापि समादेशं यदहं प्रब्रवीमि ते ।
राक्षसेश हरीशस्त्वां वाक्यमाह समाहितम् ॥१३६॥

'तुम मेरे स्वामीका संदेश, जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो। राक्षसराज ! वानरराज सुग्रीवने तुमसे एकाग्रतापूर्वक जो बात कही है, उसपर ध्यान दो ॥ १३६ ॥

सुग्रीवश्च महाभागः स त्वां कौशलमब्रवीत् ।
धर्मार्थकामसहितं हितं पथ्यमुवाच ह ॥१३७॥

'महाभाग सुग्रीवने तुम्हारी कुशल पूछी है और तुम्हें सुनानेके लिये यह धर्म, अर्थ एवं कामसे युक्त हितकर तथा लाभदायक बात कही है—॥ १३७ ॥

वसतो ऋष्यमूके मे पर्वते विपुलद्रुमे ।
राघवो रणविक्रान्तो मित्रत्वं समुपागतः ॥१३८॥

''जब मैं बहुसंख्यक वृक्षोंसे हरे-भरे ऋष्यमूक पर्वतपर निवास करता था, उन दिनों रणमें महान् पराक्रम प्रकट करनेवाले रघुनाथजीने मेरे साथ मित्रता स्थापित की थी॥१३८॥

तेन मे कथितं राजन् भार्या मे रक्षसा हृता ।
तत्र साहाय्यहेतोर्मे समयं कर्तुमर्हसि ॥१३९॥

''राजन् ! उन्होंने मुझे बताया कि 'राक्षस रावणने मेरी पत्नीको हर लिया है। उसके उद्धारके कार्यमें सहायता करनेके लिये तुम मेरे सामने प्रतिज्ञा करो' ॥ १३९ ॥

वालिना हृतराज्येन सुग्रीवेण सह प्रभुः ।
चक्रेऽग्निसाक्षिकं सख्यं राघवः सहलक्ष्मणः ॥१४०॥

'वालीने जिनका राज्य छीन लिया था, उन सुग्रीवके साथ (अर्थात् मेरे साथ) लक्ष्मणसहित भगवान् श्रीरामने अग्निको साक्षी बनाकर मित्रता की है ॥ १४० ॥

तेन वालिनमाहत्य शरेणैकेन संयुगे ।
वानराणां महाराजः कृतः सम्प्लवतां प्रभुः ॥१४१॥

''श्रीरघुनाथजीने युद्धस्थलमें एक ही बाणसे वालीको मारकर सुग्रीवको (मुझको) उछलने-कूदनेवाले वानरोंका महाराज बना दिया है ॥ १४१ ॥

तस्य साहाय्यमस्माभिः कार्यं सर्वात्मना त्विह ।
तेन प्रस्थापितस्तुभ्यं समीपमिह धर्मतः ॥१४२॥

''अतः हमलोगोंको सम्पूर्णहृदयसे उनकी सहायता करनी है। यही सोचकर सुग्रीवने धर्मानुसार मुझे तुम्हारे पास भेजा है ॥ १४२ ॥

क्षिप्रमानीयतां सीता दीयतां राघवस्य च ।
यावन्न हरयो वीरा विधमन्ति बलं तव ॥१४३॥

''उनका कहना है कि तुम तुरंत सीताको ले आओ और जबतक वीर वानर तुम्हारी सेनाका संहार नहीं करते हैं तभीतक उन्हें श्रीरघुनाथजीको सौंप दो ॥ १४३ ॥

वानराणां प्रभावोऽयं न केन विदितः पुरा ।
देवतानां सकाशं च ये गच्छन्ति निमन्त्रिताः ॥१४४॥

''कौन ऐसा वीर है जिसे वानरोंका यह प्रभाव पहलेसे ही ज्ञात नहीं है। ये वे ही वानर हैं, जो युद्धके लिये निमन्त्रित होकर देवताओंके पास भी उनकी सहायताके लिये जाते हैं' ॥ १४४ ॥

इति वानरराजस्त्वामाहेत्यभिहितो मया ।
मामैक्षत ततो रुष्टश्चक्षुषा प्रदहन्निव ॥१४५॥

'इस प्रकार वानरराज सुग्रीवने तुमसे संदेश कहा है। मेरे इतना कहते ही रावणने रुष्ट होकर मुझे इस तरह देखा, मानो अपनी दृष्टिसे मुझे दग्ध कर डालेगा ॥ १४५ ॥

तेन वध्योऽहमाज्ञप्तो रक्षसा रौद्रकर्मणा ।
मत्प्रभावमविज्ञाय रावणेन दुरात्मना ॥१४६॥

'भयंकर कर्म करनेवाले दुरात्मा राक्षस रावणने मेरे प्रभावको न जानकर अपने सेवकोंको आज्ञा दे दी कि इस वानरका (मेरा) वध कर दिया जाय ॥ १४६ ॥

ततो विभीषणो नाम तस्य भ्राता महामतिः ।
तेन राक्षसराजश्च याचितो मम कारणात् ॥१४७॥

'तब उसके परम बुद्धिमान् भाई विभीषणने मेरे लिये राक्षसराज रावणसे प्रार्थना करते हुए कहा—॥ १४७ ॥

नैवं राक्षसशार्दूल त्यज्यतामेष निश्चयः ।
राजशास्त्रव्यपेतो हि मार्गः संलक्ष्यते त्वया ॥१४८॥

''राक्षसशिरोमणे ! ऐसा करना उचित नहीं है। आप

अपने इस निश्चयको त्याग दीजिये। आपकी दृष्टि इस समय राजनीतिके विरुद्ध मार्गपर जा रही है ॥ १४८ ॥

दूतवध्या न दृष्टा हि राजशास्त्रेषु राक्षस।
दूतेन वेदितव्यं च यथाभिहितवादिना ॥१४९॥

"राक्षसराज! राजनीति-सम्बन्धी शास्त्रोंमें कहीं भी दूतके वधका विधान नहीं है। दूत तो वही कहता है, जैसा कहनेके लिये उसे बताया गया होता है। उसका कर्तव्य है कि वह अपने स्वामीके अभिप्रायका ज्ञान करा दे ॥ १४९ ॥

सुमहत्यपराधेऽपि दूतस्यातुलविक्रम।
विरूपकरणं दृष्टं न वधोऽस्ति हि शास्त्रतः ॥१५०॥

"अनुपम पराक्रमी वीर! दूतका महान् अपराध होनेपर भी शास्त्रमें उसके वधका दण्ड नहीं देखा गया है। उसके किसी अङ्गको विकृत कर देनामात्र ही बताया गया है"॥१५०॥

विभीषणेनैवमुक्तो रावणः संदिदेश तान्।
राक्षसानेतदेवाद्य लाङ्गूलं दह्यतामिति ॥१५१॥

"विभीषणके ऐसा कहनेपर रावणने उन राक्षसोंको आज्ञा दी—'अच्छा तो आज इसकी यह पूँछ ही जला दो'॥१५१॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा मम पुच्छं समन्ततः।
वेष्टितं शणवल्कैश्च पट्टैः कार्पासकैस्तथा ॥१५२॥

'उसकी यह आज्ञा सुनकर राक्षसोंने मेरी पूँछमें सब ओरसे सुतरीकी रस्सियाँ तथा रेशमी और सूती कपड़े लपेट दिये ॥ १५२ ॥

राक्षसाः सिद्धसंनाहास्ततस्ते चण्डविक्रमाः।
तदादीप्यन्त मे पुच्छं हनन्तः काष्ठमुष्टिभिः ॥१५३॥

'इस प्रकार बाँध देनेके पश्चात् उन प्रचण्ड पराक्रमी राक्षसोंने काठके डंडों और मुक्कोंसे मारते हुए मेरी पूँछमें आग लगा दी ॥ १५३ ॥

बद्धस्य बहुभिः पाशैर्यन्त्रितस्य च राक्षसैः।
न मे पीडाभवत् काचिद् दिदृक्षोर्नगरीं दिवा ॥१५४॥

'मैं दिनमें लङ्कापुरीको अच्छी तरह देखना चाहता था, इसलिये राक्षसोंद्वारा बहुत-सी रस्सियोंसे बाँधे और कसे जानेपर भी मुझे कोई पीड़ा नहीं हुई ॥ १५४ ॥

ततस्ते राक्षसाः शूरा बद्धं मामग्निसंवृतम्।
अघोषयन् राजमार्गे नगरद्वारमागताः ॥१५५॥

'तत्पश्चात् नगरद्वारपर आकर वे शूरवीर राक्षस पूँछमें लगी हुई आगसे घिरे और बँधे हुए मुझको सड़कपर घुमाते हुए सब ओर मेरे अपराधकी घोषणा करने लगे ॥ १५५ ॥

ततोऽहं सुमहद्रूपं संक्षिप्य पुनरात्मनः।
विमोचयित्वा तं बन्धं प्रकृतिस्थः स्थितः पुनः ॥१५६॥

'इतनेहीमें अपने उस विशाल रूपको संकुचित करके मैंने अपने आपको उस बन्धनसे छुड़ा लिया और फिर स्वाभाविक रूपमें आकर मैं वहाँ खड़ा हो गया ॥ १५६ ॥

आयसं परिघं गृह्य तानि रक्षांस्यसूदयम्।
ततस्तन्नगरद्वारं वेगेन प्लुतवानहम् ॥१५७॥

'फिर फाटकपर रक्खे हुए एक लोहेके परिघको उठाकर मैंने उन सब राक्षसोंको मार डाला। इसके बाद बड़े वेगसे कूदकर मैं उस नगरद्वारपर चढ़ गया ॥ १५७ ॥

पुच्छेन च प्रदीप्तेन तां पुरीं साट्टगोपुराम्।
दहाम्यहमसम्भ्रान्तो युगान्ताग्निरिव प्रजाः ॥१५८॥

'तत्पश्चात् समस्त प्रजाको दग्ध करनेवाली प्रलयाग्निके समान मैं बिना किसी घबराहटके अट्टालिका और गोपुरसहित उस पुरीको अपनी जलती हुई पूँछकी आगसे जलाने लगा ॥ १५८ ॥

विनष्टा जानकी व्यक्तं न ह्यदग्धः प्रदृश्यते।
लङ्कायाः कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी ॥१५९॥
दहता च मया लङ्कां दग्धा सीता न संशयः।
रामस्य च महत्कार्यं मयेदं विफलीकृतम् ॥१६०॥

'फिर मैंने सोचा 'लङ्काका कोई भी स्थान ऐसा नहीं दिखायी देता है, जो जला हुआ न हो, सारी नगरी जलकर भस्म हो गयी है। अतः अवश्य ही जानकीजी भी नष्ट हो गयी होंगी। इसमें संदेह नहीं कि लङ्काको जलाते-जलाते मैंने सीताजीको भी जला दिया और इस प्रकार भगवान् श्रीरामके इस महान् कार्यको मैंने निष्फल कर दिया' ॥ १५९-१६० ॥

इति शोकसमाविष्टश्चिन्तामहमुपागतः।
ततोऽहं वाचमश्रौषं चारणानां शुभाक्षराम् ॥१६१॥
जानकी न च दग्धेति विस्मयोदन्तभाषिणाम्।

'इस तरह शोकाकुल होकर मैं बड़ी चिन्तामें पड़ गया। इतनेहीमें आश्चर्ययुक्त वृत्तान्तका वर्णन करनेवाले चारणोंकी शुभ अक्षरोंसे विभूषित यह वाणी मेरे कानोंमें पड़ी कि जानकीजी इस आगसे नहीं जली हैं ॥ १६१½ ॥

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना श्रुत्वा तामद्भुतां गिरम् ॥१६२॥
अदग्धा जानकीत्येव निमित्तैश्चोपलक्षितम्।
दीप्यमाने तु लाङ्गूले न मां दहति पावकः ॥१६३॥
हृदयं च प्रहृष्टं मे वाताः सुरभिगन्धिनः।

'उस अद्भुत वाणीको सुनकर मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ—'शुभ शकुनोंसे भी यही जान पड़ता है कि जानकीजी नहीं जली हैं; क्योंकि पूँछमें आग लग जानेपर भी अग्निदेव मुझे जला नहीं रहे हैं। मेरे हृदयमें महान् हर्ष

भरा हुआ है और उत्तम सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायु चल रही है' ॥ १६२-१६३½ ॥

तैर्निमित्तैश्च दृष्टार्थैः कारणैश्च महागुणैः ॥१६४॥
ऋषिवाक्यैश्च दृष्टार्थैरभवं हृष्टमानसः ।

जिनके फलोंका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था, उन उत्तम शकुनों, महान् गुणशाली कारणों तथा ऋषियों (चारणों) की प्रत्यक्ष देखी हुई बातोंसे भी सीताजीके सकुशल होनेका विश्वास करके मेरा मन हर्षसे भर गया ॥ १६४½ ॥

पुनर्दृष्टा च वैदेही विसृष्टश्च तया पुनः ॥१६५॥
ततः पर्वतमासाद्य तत्रारिष्टमहं पुनः ।
प्रतिप्लवनमारेभे युष्मद्दर्शनकाङ्क्षया ॥१६६॥

'तत्पश्चात् मैंने पुनः विदेहनन्दिनीका दर्शन किया और फिर उनसे विदा लेकर मैं अरिष्ट पर्वतपर आ गया। वहींसे आपलोगोंके दर्शनकी इच्छासे मैंने प्रतिप्लवन (दुबारा आकाशमें उड़ना) आरम्भ किया ॥ १६५-१६६ ॥

ततः श्वसनचन्द्रार्कसिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
पन्थानमहमाक्रम्य भवतो दृष्टवानिह ॥१६७॥

'तत्पश्चात् वायु, चन्द्रमा, सूर्य, सिद्ध और गन्धर्वोंसे सेवित मार्गका आश्रय ले यहाँ पहुँचकर मैंने आपलोगोंका दर्शन किया है ॥ १६७ ॥

राघवस्य प्रसादेन भवतां चैव तेजसा ।
सुग्रीवस्य च कार्यार्थं मया सर्वमनुष्ठितम् ॥१६८॥

'श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और आपलोगोंके प्रभावसे मैंने सुग्रीवके कार्यकी सिद्धिके लिये सब कुछ किया है ॥ १६८ ॥

एतत् सर्वं मया तत्र यथावदुपपादितम् ।
तत्र यन्न कृतं शेषं तत् सर्वं क्रियतामिति ॥१६९॥

'यह सारा कार्य मैंने वहाँ यथोचित रूपसे सम्पन्न किया है। जो कार्य नहीं किया है अथवा जो शेष रह गया है, वह सब आपलोग पूर्ण करें' ॥ १६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताकी दुरवस्था बताकर वानरोंको लङ्कापर आक्रमण करनेके लिये उत्तेजित करना

एतदाख्याय तत् सर्वं हनूमान् मारुतात्मजः ।
भूयः समुपचक्राम वचनं वक्तुमुत्तरम् ॥ १ ॥

यह सब वृत्तान्त बताकर पवनकुमार हनुमान्‌जीने पुनः उत्तम बातें कहनी आरम्भ कीं—॥ १ ॥

सफलो राघवोद्योगः सुग्रीवस्य च सम्भ्रमः ।
शीलमासाद्य सीताया मम च प्रीणितं मनः ॥ २ ॥

'कपिवरो! श्रीरामचन्द्रजीका उद्योग और सुग्रीवका उत्साह सफल हुआ। सीताजीका उत्तम शील-स्वभाव (पातिव्रत्य) देखकर मेरा मन अत्यन्त संतुष्ट हुआ है ॥ २ ॥

आर्यायाः सदृशं शीलं सीतायाः प्लवगर्षभाः ।
तपसा धारयेल्लोकान् क्रुद्धा वा निर्दहेदपि ॥ ३ ॥

'वानरशिरोमणियो! जिस नारीका शील-स्वभाव आर्या सीताके समान होगा, वह अपनी तपस्यासे सम्पूर्ण लोकोंको धारण कर सकती है अथवा कुपित होनेपर तीनों लोकोंको जला सकती है ॥ ३ ॥

सर्वथातिप्रकृष्टोऽसौ रावणो राक्षसेश्वरः ।
यस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ॥ ४ ॥

'राक्षसराज रावण सर्वथा महान् तपोबलसे सम्पन्न जान पड़ता है। जिसका अङ्ग सीताका स्पर्श करते समय उनकी तपस्यासे नष्ट नहीं हो गया ॥ ४ ॥

न तदग्निशिखा कुर्यात् संस्पृष्टा पाणिना सती ।
जनकस्य सुता कुर्याद् यत् क्रोधकलुषीकृता ॥ ५ ॥

'हाथसे छू जानेपर आगकी लपट भी वह काम नहीं कर सकती, जो क्रोध दिलानेपर जनकनन्दिनी सीता कर सकती हैं ॥ ५ ॥

जाम्बवत्प्रमुखान् सर्वाननुज्ञाप्य महाकपीन् ।
अस्मिन्नेवंगते कार्ये भवतां च निवेदिते ।
न्याय्यं स्म सह वैदेह्या द्रष्टुं तौ पार्थिवात्मजौ ॥ ६ ॥

'इस कार्यमें मुझे जहाँतक सफलता मिली है, वह सब इस रूपमें मैंने आपलोगोंको बता दिया। अब जाम्बवान् आदि सभी महाकपियोंकी सम्मति लेकर हम (सीताको रावणके कारावाससे लौटाकर) सीताके साथ ही श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणका दर्शन करें, यही न्यायसङ्गत जान पड़ता है ॥६॥

अहमेकोऽपि पर्याप्तः सराक्षसगणां पुरीम् ।
तां लङ्कां तरसा हन्तुं रावणं च महाबलम् ॥ ७ ॥
किं पुनः सहितो वीरैर्बलवद्भिः कृतात्मभिः ।
कृतास्त्रैः प्लवगैः शक्तैर्भवद्भिर्विजयैषिभिः ॥ ८ ॥

'मैं अकेला भी राक्षसगणोंसहित समस्त लङ्कापुरीको

वेगपूर्वक विध्वंस करने तथा महाबली रावणको मार डालनेके लिये पर्याप्त हूँ । फिर यदि सम्पूर्ण अस्त्रोंको जाननेवाले आप-जैसे वीर, बलवान्, शुद्धात्मा, शक्तिशाली और विजयाभिलाषी वानरोंकी सहायता मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है ॥ ७-८ ॥

अहं तु रावणं युद्धे ससैन्यं सपुरःसरम् ।
सहपुत्रं वधिष्यामि सहोदरयुतं युधि ॥ ९ ॥

युद्धस्थलमें सेना, अग्रगामी सैनिक, पुत्र और सगे भाइयोंसहित रावणका तो मैं ही वध कर डालूँगा ॥ ९ ॥

ब्राह्ममस्त्रं च रौद्रं च वायव्यं वारुणं तथा ।
यदि शक्रजितोऽस्त्राणि दुर्निरीक्ष्याणि संयुगे ।
तान्यहं निहनिष्यामि विधमिष्यामि राक्षसान् ॥ १० ॥

'यद्यपि इन्द्रजित्के ब्राह्म अस्त्र, रौद्र, वायव्य तथा वारुण आदि अस्त्र युद्धमें दुर्लक्ष्य होते हैं—किसीकी दृष्टिमें नहीं आते हैं, तथापि मैं ब्रह्माजीके वरदानसे उनका निवारण कर दूँगा और राक्षसोंका संहार कर डालूँगा ॥ १० ॥

भवतामभ्यनुज्ञातो विक्रमो मे रुणद्धि तम् ।
मयातुला विसृष्टा हि शैलवृष्टिर्निरन्तरा ॥ ११ ॥
देवानपि रणे हन्यात् किं पुनस्तान् निशाचरान् ।

'यदि आपलोगोंकी आज्ञा मिल जाय तो मेरा पराक्रम रावणको कुण्ठित कर देगा । मेरेद्वारा लगातार बरसाये जानेवाले पत्थरोंकी अनुपम वृष्टि रणभूमिमें देवताओंको भी मौतके घाट उतार देगी; फिर उन निशाचरोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ११½ ॥

भवतामननुज्ञातो विक्रमो मे रुणद्धि माम् ॥ १२ ॥
सागरोऽप्यतियाद् वेलां मन्दरः प्रचलेदपि ।
न जाम्बवन्तं समरे कम्पयेदरिवाहिनी ॥ १३ ॥

आपलोगोंकी आज्ञा न होनेके कारण ही मेरा पुरुषार्थ मुझे रोक रहा है । समुद्र अपनी मर्यादाको लाँघ जाय और मन्दराचल अपने स्थानसे हट जाय, परंतु समराङ्गणमें शत्रुओंकी सेना जाम्बवान्को विचलित कर दे, यह कभी सम्भव नहीं है ॥ १२-१३ ॥

सर्वराक्षससङ्घानां राक्षसा ये च पूर्वजाः ।
अलमेकोऽपि नाशाय वीरो वालिसुतः कपिः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण राक्षसों और उनके पूर्वजोंको भी यमलोक पहुँचानेके लिये वालीके वीर पुत्र कपिश्रेष्ठ अङ्गद अकेले ही काफी हैं ॥ १४ ॥

प्लवगस्योरुवेगेन नीलस्य च महात्मनः ।
मन्दरोऽप्यवशीर्येत किं पुनर्युधि राक्षसाः ॥ १५ ॥

'वानरवीर महात्मा नीलके महान् वेगसे मन्दराचल भी विदीर्ण हो सकता है; फिर युद्धमें राक्षसोंका नाश करना उनके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १५ ॥

सदेवासुरयक्षेषु गन्धर्वोरगपक्षिषु ।
मैन्दस्य प्रतियोद्धारं शंसत द्विविदस्य वा ॥ १६ ॥

'तुम सब-के-सब बताओ तो सही—देवता, असुर, यक्ष, गन्धर्व, नाग और पक्षियोंमें भी कौन ऐसा वीर है, जो मैन्द अथवा द्विविदके साथ लोहा ले सके ? ॥ १६ ॥

अश्विपुत्रौ महावेगावेतौ प्लवगसत्तमौ ।
एतयोः प्रतियोद्धारं न पश्यामि रणाजिरे ॥ १७ ॥

'ये दोनों वानरशिरोमणि महान् वेगशाली तथा अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं । समराङ्गणमें इन दोनोंका सामना करनेवाला मुझे कोई नहीं दिखायी देता ॥ १७ ॥

मयैव निहता लङ्का दग्धा भस्मीकृता पुरी ।
राजमार्गेषु सर्वेषु नाम विश्रावितं मया ॥ १८ ॥

'मैंने अकेले ही लङ्कावासियोंको मार गिराया, नगरमें आग लगा दी और सारी पुरीको जलाकर भस्म कर दिया । इतना ही नहीं, वहाँकी सब सड़कोंपर मैंने अपने नामका डंका पीट दिया ॥ १८ ॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ १९ ॥
अहं कोसलराजस्य दासः पवनसम्भवः ।
हनूमानिति सर्वत्र नाम विश्रावितं मया ॥ २० ॥

'अत्यन्त बलशाली श्रीराम और महाबली लक्ष्मणकी जय हो । श्रीरघुनाथजीके द्वारा सुरक्षित राजा सुग्रीवकी भी जय हो । मैं कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीका दास और वायुदेवताका पुत्र हूँ । हनुमान् मेरा नाम है—इस प्रकार सर्वत्र अपने नामकी घोषणा कर दी है ॥ १९-२० ॥

अशोकवनिकामध्ये रावणस्य दुरात्मनः ।
अधस्ताच्छिंशपामूले साध्वी करुणमास्थिता ॥ २१ ॥

'दुरात्मा रावणकी अशोकवाटिकाके मध्यभागमें एक अशोक वृक्षके नीचे साध्वी सीता बड़ी दयनीय अवस्थामें रहती हैं ॥ २१ ॥

राक्षसीभिः परिवृता शोकसंतापकर्शिता ।
मेघरेखापरिवृता चन्द्ररेखेव निष्प्रभा ॥ २२ ॥

'राक्षसियोंसे घिरी हुई होनेके कारण वे शोक संतापसे दुर्बल होती जा रही हैं । बादलोंकी पंक्तिसे घिरी हुई चन्द्रलेखाकी भाँति श्रीहीन हो गयी हैं ॥ २२ ॥

अचिन्तयन्ती वैदेही रावणं बलदर्पितम् ।
पतिव्रता च सुश्रोणी अवष्टब्धा च जानकी ॥ २३ ॥

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली विदेहनन्दिनी जानकी पतिव्रता हैं । वे बलके घमंडमें भरे रहनेवाले रावणको कुछ भी नहीं समझती हैं तो भी उसीकी कैदमें पड़ी हैं ॥ २३ ॥

अनुरक्ता हि वैदेही रामे सर्वात्मना शुभा।
अनन्यचित्ता रामेण पौलोमीव पुरन्दरे॥ २४॥

'कल्याणी सीता श्रीराममें सम्पूर्ण हृदयसे अनुरक्त हैं, जैसे शची देवराज इन्द्रमें अनन्य प्रेम रखती हैं, उसी प्रकार सीताका चित्त अनन्यभावसे श्रीरामके ही चिन्तनमें लगा हुआ है॥ २४॥

तदेकवासःसंवीता रजोध्वस्ता तथैव च।
सा मया राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः॥ २५॥
राक्षसीभिर्विरूपाभिर्दृष्टा हि प्रमदावने।
एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा॥ २६॥

'वे एक ही साड़ी पहने धूलि-धूसरित हो रही हैं। राक्षसियोंके बीचमें रहती हैं और उन्हें बारंबार उनकी डाँट-फटकार सुननी पड़ती है। इस अवस्थामें कुरूप राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताको मैंने प्रमदावनमें देखा है। वे एक ही वेणी धारण किये दीनभावसे केवल अपने पतिदेवके चिन्तनमें लगी रहती है॥ २५-२६॥

अधःशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमोदये।
रावणाद् विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया॥ २७॥

'वे नीचे भूमिपर सोती हैं। हेमन्तऋतुमें कमलिनीकी भाँति उनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी है। रावणसे उनका कोई प्रयोजन नहीं है। वे मरनेका निश्चय किये बैठी हैं॥ २७॥

कथंचिन्मृगशावाक्षी विश्वासमुपपादिता।
ततः सम्भाषिता चैव सर्वमर्थं प्रकाशिता॥ २८॥

'उन मृगनयनी सीताको मैंने बड़ी कठिनाईसे किसी तरह अपना विश्वास दिलाया। तब उनसे बातचीतका अवसर मिला और सारी बातें मैं उनके समक्ष रख सका॥ २८॥

रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता।
नियतः समुदाचारो भक्तिर्भर्तरि चोत्तमा॥ २९॥

'श्रीराम और सुग्रीवकी मित्रताकी बात सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। सीताजीमें सुदृढ़ सदाचार (पातिव्रत्य) विद्यमान है। अपने पतिके प्रति उनके हृदयमें उत्तम भक्ति है॥ २९॥

यन्न हन्ति दशग्रीवं स महात्मा दशाननः।
निमित्तमात्रं रामस्तु वधे तस्य भविष्यति॥ ३०॥

'सीता स्वयं ही जो रावणको नहीं मार डालती हैं, इससे जान पड़ता है कि दशमुख रावण महात्मा है—तपोबलसे सम्पन्न होनेके कारण शाप पानेके अयोग्य है (तथापि सीताहरणके पापसे वह नष्टप्राय ही है)। श्रीरामचन्द्रजी उसके वधमें केवल निमित्तमात्र होंगे॥ ३०॥

सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता॥ ३१॥

'भगवती सीता एक तो स्वभावसे ही दुबली-पतली हैं, दूसरे श्रीरामचन्द्रजीके वियोगसे और भी कृश हो गयी हैं। जैसे प्रतिपदाके दिन स्वाध्याय करनेवाले विद्यार्थीकी विद्या क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार उनका शरीर भी अत्यन्त दुर्बल हो गया है॥ ३१॥

एवमास्ते महाभागा सीता शोकपरायणा।
यदत्र प्रतिकर्तव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम्॥ ३२॥

'इस प्रकार महाभागा सीता सदा शोकमें डूबी रहती हैं। अतः इस समय जो प्रतीकार करना हो, वह सब आपलोग करें'॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः॥ ५९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५९॥

षष्टितमः सर्गः

अङ्गदका लङ्काको जीतकर सीताको ले आनेका उत्साहपूर्ण विचार और जाम्बवान्‌के द्वारा उसका निवारण

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वालिसूनुरभाषत।
अश्विपुत्रौ महावेगौ बलवन्तौ प्लवंगमौ॥ १॥

हनुमान्‌जीकी यह बात सुनकर वालिपुत्र अङ्गदने कहा—'अश्विनीकुमारके पुत्र ये मैन्द और द्विविद—दोनों वानर अत्यन्त वेगशाली और बलवान् हैं॥ १॥

पितामहवरोत्सेकात् परमं दर्पमास्थितौ।
अश्विनोर्माननार्थं हि सर्वलोकपितामहः॥ २॥
सर्वावध्यत्वमतुलमनयोर्दत्तवान् पुरा।
वरोत्सेकेन मत्तौ च प्रमथ्य महतीं चमूम्॥ ३॥
सुराणाममृतं वीरौ पीतवन्तौ महाबलौ।

'पूर्वकालमें ब्रह्माजीका वर मिलनेसे इनका अभिमान बढ़ गया और ये बड़े घमंडमें भर गये थे। सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने अश्विनीकुमारोंका मान रखनेके लिये पहले इन दोनोंको यह अनुपम वरदान दिया था कि

तुम्हें कोई भी मार नहीं सकता। उस वरके अभिमानसे मत्त हो इन दोनों महाबली वीरोंने देवताओंकी विशाल सेनाको मथकर अमृत पी लिया था ॥ २-३½ ॥

एतावेव हि संक्रुद्धौ सवाजिरथकुञ्जराम् ॥ ४ ॥
लङ्कां नाशयितुं शक्तौ सर्वे तिष्ठन्तु वानराः।

'ये ही दोनों यदि क्रोधमें भर जायँ तो हाथी, घोड़े और रथोंसहित समूची लङ्काका नाश कर सकते हैं। भले ही और सब वानर बैठे रहें ॥ ४½ ॥

अहमेकोऽपि पर्याप्तः सराक्षसगणां पुरीम् ॥ ५ ॥
तां लङ्कां तरसा हन्तुं रावणं च महाबलम्।
किं पुनः सहितो वीरैर्बलवद्भिः कृतात्मभिः ॥ ६ ॥
कृतास्त्रैः प्लवगैः शक्तैर्भवद्भिर्विजयैषिभिः।

'मैं अकेला भी राक्षसगणोंसहित समस्त लङ्कापुरीका वेगपूर्वक विध्वंस करने तथा महाबली रावणको मार डालनेके लिये पर्याप्त हूँ। फिर यदि सम्पूर्ण अस्त्रोंको जाननेवाले आप-जैसे वीर, बलवान्, शुद्धात्मा, शक्तिशाली और विजयाभिलाषी वानरोंकी सहायता मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है! ॥ ५-६½ ॥

वायुसूनोर्बलेनैव दग्धा लङ्केति नः श्रुतम् ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा देवी न चानीता इति तत्र निवेदितुम्।
न युक्तमिव पश्यामि भवद्भिः ख्यातपौरुषैः ॥ ८ ॥

'वायुपुत्र हनुमान्‌जीने अकेले जाकर अपने पराक्रमसे ही लङ्काको फूँक डाला—यह बात हम सब लोगोंने सुन ही ली। आप-जैसे ख्यातनामा पुरुषार्थी वीरोंके रहते हुए मुझे भगवान् श्रीरामके सामने यह निवेदन करना उचित नहीं जान पड़ता कि 'हमने सीतादेवीका दर्शन तो किया; किंतु उन्हें ला नहीं सके' ॥ ७-८ ॥

नहि वः प्लवने कश्चिन्नापि कश्चित् पराक्रमे।
तुल्यः सामरदैत्येषु लोकेषु हरिसत्तमाः ॥ ९ ॥

'वानरशिरोमणियो! देवताओं और दैत्योंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कोई भी ऐसा वीर नहीं है, जो दूरतककी छलाँग मारने और पराक्रम दिखानेमें आपलोगोंकी समानता कर सके ॥ ९ ॥

जित्वा लङ्कां सरक्षौघां हत्वा तं रावणं रणे।
सीतामादाय गच्छामः सिद्धार्था हृष्टमानसाः ॥ १० ॥

'अतः निशाचरसमुदायसहित लङ्काको जीतकर, युद्धमें रावणका वध करके, सीताको साथ ले, सफलमनोरथ एवं प्रसन्नचित्त होकर हमलोग श्रीरामचन्द्रजीके पास चलें ॥ १० ॥

तेष्वेवं हतवीरेषु राक्षसेषु हनूमता।
किमन्यदत्र कर्तव्यं गृहीत्वा याम जानकीम् ॥ ११ ॥

'जब हनुमान्‌जीने राक्षसोंके प्रमुख वीरोंको मार डाला है, ऐसी परिस्थितिमें हमारा इसके सिवा और क्या कर्तव्य हो सकता है कि हम जनकनन्दिनी सीताको साथ लेकर ही चलें ॥ ११ ॥

रामलक्ष्मणयोर्मध्ये न्यस्याम जनकात्मजाम्।
किं व्यलीकैस्तु तान् सर्वान् वानरान् वानरर्षभान् ॥
वयमेव हि गत्वा तान् हत्वा राक्षसपुङ्गवान्।
राघवं द्रष्टुमर्हामः सुग्रीवं सहलक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

'कपिवरो! हम जनककिशोरीको ले चलकर श्रीराम और लक्ष्मणके बीचमें खड़ी कर दें। किष्किन्धामें जुटे हुए उन सब वानरोंको कष्ट देनेकी क्या आवश्यकता है। हमलोग ही लङ्कामें चलकर वहाँके मुख्य-मुख्य राक्षसोंका वध कर डालें, उसके बाद लौटकर श्रीराम, लक्ष्मण तथा सुग्रीवका दर्शन करें ॥ १२-१३ ॥

तमेवं कृतसंकल्पं जाम्बवान् हरिसत्तमः।
उवाच परमप्रीतो वाक्यमर्थवदर्थवित् ॥ १४ ॥

अङ्गदका ऐसा संकल्प जानकर वानर-भालुओंमें श्रेष्ठ और अर्थतत्त्वके ज्ञाता जाम्बवान्‌ने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह सार्थक बात कही—॥ १४ ॥

नैषा बुद्धिर्महाबुद्धे यद् ब्रवीषि महाकपे।
विचेतुं वयमाज्ञप्ता दक्षिणां दिशमुत्तमाम् ॥ १५ ॥
नानेतुं कपिराजेन नैव रामेण धीमता।

'महाकपे! तुम बड़े बुद्धिमान् हो तथापि इस समय जो कुछ कह रहे हो, यह बुद्धिमानीकी बात नहीं है; क्योंकि वानरराज सुग्रीव तथा परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीरामने हमें उत्तम दक्षिण दिशामें केवल सीताको खोजनेकी आज्ञा दी है, साथ ले आनेकी नहीं ॥ १५½ ॥

कथंचिन्निर्जितां सीतामस्माभिर्नाभिरोचयेत् ॥ १६ ॥
राघवो नृपशार्दूलः कुलं व्यपदिशन् स्वकम्।

'यदि हमलोग किसी तरह सीताको जीतकर उनके पास ले भी चलें तो नृपश्रेष्ठ श्रीराम अपने कुलके व्यवहारका स्मरण करते हुए हमारे इस कार्यको पसंद नहीं करेंगे १६½

प्रतिज्ञाय स्वयं राजा सीताविजयमग्रतः ॥ १७ ॥
सर्वेषां कपिमुख्यानां कथं मिथ्या करिष्यति।

'राजा श्रीरामने सभी प्रमुख वानरवीरोंके सामने स्वयं ही सीताको जीतकर लानेकी प्रतिज्ञा की है, उसे वे मिथ्या कैसे करेंगे ॥ १७½ ॥

विफलं कर्म च कृतं भवेत् तुष्टिर्न तस्य च ॥ १८ ॥
वृथा च दर्शितं वीर्यं भवेद् वानरपुङ्गवाः।

'अतः वानरशिरोमणियो! ऐसी अवस्थामें हमारा किया-कराया कार्य निष्फल हो जायगा। भगवान् श्रीरामको संतोष भी नहीं होगा और हमारा पराक्रम दिखाना भी व्यर्थ सिद्ध होगा ॥ १८½ ॥

तस्माद् गच्छाम वै सर्वे यत्र रामः सलक्ष्मणः ।
सुग्रीवश्च महातेजाः कार्यस्यास्य निवेदने ॥ १९ ॥

'इसलिये हम सब लोग इस कार्यकी सूचना देनेके लिये वहीं चलें, जहाँ लक्ष्मणसहित भगवान् श्रीराम और महातेजस्वी सुग्रीव विद्यमान हैं ॥ १९ ॥

न तावदेषा मतिरक्षमा नो
यथा भवान् पश्यति राजपुत्र ।
यथा तु रामस्य मतिर्निविष्टा
तथा भवान् पश्यतु कार्यसिद्धिम् ॥ २० ॥

'राजकुमार ! तुम जैसा देखते या सोचते हो, यह विचार हमलोगोंके योग्य ही है—हम इसे न कर सकें, ऐसी बात नहीं है; तथापि इस विषयमें भगवान् श्रीरामका जैसा निश्चय हो, उसके अनुसार तुम्हें कार्यसिद्धिपर दृष्टि रखनी चाहिये' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

वानरोंका मधुवनमें जाकर वहाँके मधु एवं फलोंका मनमाना उपभोग करना और वनरक्षकको घसीटना

ततो जाम्बवतो वाक्यमगृह्णन्त वनौकसः ।
अङ्गदप्रमुखा वीरा हनूमांश्च महाकपिः ॥ १ ॥

तदनन्तर अङ्गद आदि सभी वीर वानरों और महाकपि हनुमान्‌ने भी जाम्बवान्‌की बात मान ली ॥ १ ॥

प्रीतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरःसराः ।
महेन्द्राग्रात् समुत्पत्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः ॥ २ ॥

फिर वे सब श्रेष्ठ वानर पवनपुत्र हनुमान्‌को आगे करके मन-ही-मन प्रसन्नताका अनुभव करते हुए महेन्द्रगिरिके शिखरसे उछलते-कूदते चल दिये ॥ २ ॥

मेरुमन्दरसंकाशा मत्ता इव महागजाः ।
छादयन्त इवाकाशं महाकाया महाबलाः ॥ ३ ॥

वे मेरु पर्वतके समान विशालकाय और बड़े-बड़े मदमत्त गजराजोंके समान महाबली वानर आकाशको आच्छादित करते हुए-से जा रहे थे ॥ ३ ॥

सभाज्यमानं भूतैस्तमात्मवन्तं महाबलम् ।
हनूमन्तं महावेगं वहन्त इव दृष्टिभिः ॥ ४ ॥

उस समय सिद्ध आदि भूतगण अत्यन्त वेगशाली महाबली बुद्धिमान् हनुमान्‌जीकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे और अपलक नेत्रोंसे उनकी ओर इस तरह देख रहे थे, मानो अपनी दृष्टियोंद्वारा ही उन्हें ढो रहे हों ॥ ४ ॥

राघवे चार्थनिर्वृत्तिं कर्तुं च परमं यशः ।
समाधाय समृद्धार्थाः कर्मसिद्धिभिरुन्नताः ॥ ५ ॥
प्रियाख्यानोन्मुखाः सर्वे सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
सर्वे रामप्रतीकारे निश्चितार्था मनस्विनः ॥ ६ ॥

श्रीरघुनाथजीके कार्यकी सिद्धि करनेका उत्तम यश पाकर उन वानरोंका मनोरथ सफल हो गया था। उस कार्यकी सिद्धि हो जानेसे उनका उत्साह बढ़ा हुआ था। वे सभी भगवान् श्रीरामको प्रिय संवाद सुनानेके लिये उत्सुक थे। सभी युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे। श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा रावणका पराभव हो—ऐसा सबने निश्चय कर लिया था तथा वे सब-के-सब मनस्वी वीर थे ॥ ५-६ ॥

प्लवमानाः खमाप्लुत्य ततस्ते काननौकसः ।
नन्दनोपममासेदुर्वनं द्रुमशतायुतम् ॥ ७ ॥

आकाशमें छलाँग मारते हुए वे वनवासी वानर सैकड़ों वृक्षोंसे भरे हुए एक सुन्दर वनमें जा पहुँचे, जो नन्दनवनके समान मनोहर था ॥ ७ ॥

यत् तन्मधुवनं नाम सुग्रीवस्याभिरक्षितम् ।
अधृष्यं सर्वभूतानां सर्वभूतमनोहरम् ॥ ८ ॥

उसका नाम मधुवन था। सुग्रीवका वह मधुवन सर्वथा सुरक्षित था। समस्त प्राणियोंमेंसे कोई भी उसको हानि नहीं पहुँचा सकता था। उसे देखकर सभी प्राणियोंका मन लुभा जाता था ॥ ८ ॥

यद् रक्षति महावीरः सदा दधिमुखः कपिः ।
मातुलः कपिमुख्यस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥ ९ ॥

कपिश्रेष्ठ महात्मा सुग्रीवके मामा महावीर दधिमुख नामक वानर सदा उस वनकी रक्षा करते थे ॥ ९ ॥

ते तद् वनमुपागम्य बभूवुः परमोत्कटाः ।
वानरा वानरेन्द्रस्य मनःकान्तं महावनम् ॥ १० ॥

वानरराज सुग्रीवके उस मनोरम महावनके पास पहुँचकर वे सभी वानर वहाँका मधु पीने और फल खाने आदिके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये ॥ १० ॥

ततस्ते वानरा हृष्टा दृष्ट्वा मधुवनं महत्।
कुमारमभ्ययाचन्त मधूनि मधुपिङ्गलाः ॥ ११ ॥

तब हर्षसे भरे हुए तथा मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले उन वानरोंने उस महान् मधुवनको देखकर कुमार अङ्गदसे मधुपान करनेकी आज्ञा माँगी ॥ ११ ॥

ततः कुमारस्तान् वृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखान् कपीन्।
अनुमान्य ददौ तेषां निसर्गं मधुभक्षणे ॥ १२ ॥

उस समय कुमार अङ्गदने जाम्बवान् आदि बड़े-बूढ़े वानरोंकी अनुमति लेकर उन सबको मधु पीनेकी आज्ञा दे दी ॥ १२ ॥

ते निसृष्टाः कुमारेण धीमता वालिसूनुना।
हरयः समपद्यन्त द्रुमान् मधुकराकुलान् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् वालिपुत्र राजकुमार अङ्गदकी आज्ञा पाकर वे वानर भौंरोंके झुंडसे भरे हुए वृक्षोंपर चढ़ गये ॥ १३ ॥

भक्षयन्तः सुगन्धीनि मूलानि च फलानि च।
जग्मुः प्रहर्षं ते सर्वे बभूवुश्च मदोत्कटाः ॥ १४ ॥

वहाँके सुगन्धित फल-मूलोंका भक्षण करते हुए उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सभी मदसे उन्मत्त हो गये ॥ १४ ॥

ततश्चानुमताः सर्वे सुसंहृष्टा वनौकसः।
मुदिताश्च ततस्ते च प्रनृत्यन्ति ततस्ततः ॥ १५ ॥

युवराजकी अनुमति मिल जानेसे सभी वानरोंको बड़ा हर्ष हुआ। वे आनन्दमग्न होकर इधर-उधर नाचने लगे ॥

गायन्ति केचित् प्रहसन्ति केचि-
न्नृत्यन्ति केचित् प्रणमन्ति केचित्।
पतन्ति केचित् प्रणमन्ति केचित्
प्लवन्ति केचित् प्रचरन्ति केचित् ॥ १६ ॥

कोई गाते, कोई हँसते, कोई नाचते, कोई नमस्कार करते, कोई गिरते-पड़ते, कोई जोर-जोरसे चलते, कोई उछलते-कूदते और कोई प्रलाप करते थे ॥ १६ ॥

परस्परं केचिदुपाश्रयन्ति
परस्परं केचिदतिब्रुवन्ति।
द्रुमाद् द्रुमं केचिदभिद्रवन्ति
क्षितौ नगाग्रान्निपतन्ति केचित् ॥ १७ ॥

कोई एक दूसरेके पास जाकर मिलते, कोई आपसमें विवाद करते, कोई एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर दौड़ जाते और कोई वृक्षोंकी डालियोंसे पृथ्वीपर कूद पड़ते थे ॥ १७ ॥

महीतलात् केचिदुदीर्णवेगा
महाद्रुमाग्राण्यभिसम्पतन्ति।
गायन्तमन्यः प्रहसन्नुपैति
हसन्तमन्यः प्ररुदन्नुपैति ॥ १८ ॥

कितने ही प्रचण्ड वेगवाले वानर पृथ्वीसे दौड़कर बड़े-बड़े वृक्षोंकी चोटियोंतक पहुँच जाते थे। कोई गाता तो दूसरा उसके पास हँसता हुआ जाता था। कोई हँसते हुए-के पास जोर-जोरसे रोता हुआ पहुँचता था ॥ १८ ॥

तुदन्तमन्यः प्रणदन्नुपैति
समाकुलं तत् कपिसैन्यमासीत्।
न चात्र कश्चिन्न बभूव मत्तो
न चात्र कश्चिन्न बभूव दृप्तः ॥ १९ ॥

कोई दूसरेको पीड़ा देता तो दूसरा उसके पास बड़े जोर-से गर्जना करता हुआ आता था। इस प्रकार वह सारी वानर-सेना मदोन्मत्त होकर उसके अनुरूप चेष्टा कर रही थी। वानरोंके उस समुदायमें कोई भी ऐसा नहीं था, जो मतवाला न हो गया हो और कोई भी ऐसा नहीं था जो दर्पसे भर न गया हो ॥ १९ ॥

ततो वनं तत् परिभक्ष्यमाणं
द्रुमांश्च विध्वंसितपत्रपुष्पान्।
समीक्ष्य कोपाद् दधिवक्त्रनामा
निवारयामास कपिः कपींस्तान् ॥ २० ॥

तदनन्तर मधुवनके फल-मूल आदिका भक्षण होता और वहाँके वृक्षोंके पत्तों एवं फूलोंको नष्ट किया जाता देख दधि-मुख नामक वानरको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने उन वानरोंको वैसा करनेसे रोका ॥ २० ॥

स तैः प्रवृद्धैः परिभर्त्स्यमानो
वनस्य गोप्ता हरिवृद्धवीरः।
चकार भूयो मतिमुग्रतेजा
वनस्य रक्षां प्रति वानरेभ्यः ॥ २१ ॥

जिनपर अधिक नशा चढ़ गया था, उन बड़े-बड़े वानरों-ने वनकी रक्षा करनेवाले उस वृद्ध वानरवीरको उलटे डाँट बतानी शुरू की, तथापि उग्र तेजस्वी दधिमुखने पुनः उन वानरोंसे वनकी रक्षा करनेका विचार किया ॥ २१ ॥

उवाच कांश्चित् परुषाण्यभीत-
मसक्तमन्यांश्च तलैर्जघान।
समेत्य कैश्चित् कलहं चकार
तथैव साम्नोपजगाम कांश्चित् ॥ २२ ॥

उन्होंने निर्भय होकर किन्हीं-किन्हींको कड़ी बातें सुनायीं। कितनोंको थप्पड़ोंसे मारा। बहुतोंके साथ भिड़कर झगड़ा किया और किन्हीं-किन्हींके प्रति शान्तिपूर्ण उपायसे ही काम लिया ॥ २२ ॥

स तैर्मदादप्रतिवार्यवेगै-
र्बलाच्च तेन प्रतिवार्यमाणैः।

प्रधर्षणे त्यक्तभयैः समेत्य
प्रकृष्यते चाप्यनवेक्ष्य दोषम् ॥ २३ ॥

मदके कारण जिनके वेगको रोकना असम्भव हो गया था, उन वानरोंको जब दधिमुख बलपूर्वक रोकनेकी चेष्टा करने लगे, तब वे सब मिलकर उन्हें बलपूर्वक इधर-उधर घसीटने लगे। वनरक्षकपर आक्रमण करनेसे राजदण्ड प्राप्त होगा, इसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। अतएव वे सब निर्भय होकर उन्हें इधर-उधर खींचने लगे ॥ २३ ॥

नखैस्तुदन्तो दशनैर्दशन्त-
स्तलैश्च पादैश्च समापयन्तः।
मदात् कपिं ते कपयः समन्ता-
न्महावनं निर्विषयं च चक्रुः ॥ २४ ॥

मदके प्रभावसे वे वानर कपिवर दधिमुखको नखोंसे बकोटने, दाँतोंसे काटने और थप्पड़ों तथा लातोंसे मार-मार कर अधमरा करने लगे। इस प्रकार उन्होंने उस विशाल वनको सब ओरसे फल आदिसे शून्य कर दिया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

६२

वानरोंद्वारा मधुवनके रक्षकों और दधिमुखका पराभव तथा सेवकोंसहित दधिमुखका सुग्रीवके पास जाना

तानुवाच हरिश्रेष्ठो हनूमान् वानरर्षभः।
अव्यग्रमनसो यूयं मधु सेवत वानराः ॥ १ ॥
अहमावर्जयिष्यामि युष्माकं परिपन्थिनः।

उस समय वानरशिरोमणि कपिवर हनुमान्‌ने अपने साथियोंसे कहा—'वानरो! तुम सब लोग बेखटके मधुका पान करो। मैं तुम्हारे विरोधियोंको रोकूँगा' ॥ १½ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं हरीणां प्रवरोऽङ्गदः ॥ २ ॥
प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा पिबन्तु हरयो मधु।
अवश्यं कृतकार्यस्य वाक्यं हनुमतो मया ॥ ३ ॥
अकार्यमपि कर्तव्यं किमङ्ग पुनरीदृशम्।

हनुमान्‌जीकी बात सुनकर वानरप्रवर अङ्गदने भी प्रसन्नचित्त होकर कहा—'वानरगण अपनी इच्छाके अनुसार मधुपान करें। हनुमान्‌जी इस समय कार्य सिद्ध करके लौटे हैं, अतः इनकी बात स्वीकार करनेके योग्य न हो तो भी मुझे अवश्य माननी चाहिये। फिर ऐसी बातके लिये तो कहना ही क्या है?' ॥ २-३½ ॥

अङ्गदस्य मुखाच्छ्रुत्वा वचनं वानरर्षभाः ॥ ४ ॥
साधु साध्विति संहृष्टा वानराः प्रत्यपूजयन्।

अङ्गदके मुखसे ऐसी बात सुनकर सभी श्रेष्ठ वानर हर्षसे खिल उठे और 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४½ ॥

पूजयित्वाङ्गदं सर्वे वानरा वानरर्षभम् ॥ ५ ॥
जग्मुर्मधुवनं यत्र नदीवेग इव द्रुमम्।

वानरशिरोमणि अङ्गदकी प्रशंसा करके वे सब वानर जहाँ मधुवन था, उस मार्गपर उसी तरह दौड़े गये, जैसे नदीके जलका वेग तटवर्ती वृक्षकी ओर जाता है ॥ ५½ ॥

ते प्रविष्टा मधुवनं पालानाक्रम्य शक्तितः ॥ ६ ॥
अतिसर्गाच्च पटवो दृष्ट्वा श्रुत्वा च मैथिलीम्।
पपुः सर्वे मधु तदा रसवत् फलमाददुः ॥ ७ ॥

मिथिलेशकुमारी सीताको हनुमान्‌जी तो देखकर आये थे और अन्य वानरोंने उन्हींके मुखसे यह सुन लिया था कि वे लङ्कामें हैं, अतः उन सबका उत्साह बढ़ा हुआ था। इधर युवराज अङ्गदका आदेश भी मिल गया था, इसलिये वे सामर्थ्यशाली सभी वानर वनरक्षकोंपर पूरी शक्तिसे आक्रमण करके मधुवनमें घुस गये और वहाँ इच्छानुसार मधु पीने तथा रसीले फल खाने लगे ॥ ६-७ ॥

उत्पत्य च ततः सर्वे वनपालान् समागतान्।
ते ताडयन्तः शतशः सक्ता मधुवने तदा ॥ ८ ॥

रोकनेके लिये अपने पास आये हुए रक्षकोंको वे सब वानर सैकड़ोंकी संख्यामें जुटकर उछल-उछलकर मारते थे और मधुवनके मधु पीने एवं फल खानेमें लगे हुए थे ॥ ८ ॥

मधूनि द्रोणमात्राणि बाहुभिः परिगृह्य ते।
पिबन्ति कपयः केचित् सङ्घशस्तत्र हृष्टवत् ॥ ९ ॥

कितने ही वानर झुंड-के-झुंड एकत्र हो वहाँ अपनी भुजाओंद्वारा एक-एक द्रोण[1] मधुसे भरे हुए छत्तोंको पकड़ लेते और सहर्ष पी जाते थे ॥ ९ ॥

---

१. आठ आढक या बत्तीस सेरके मापको द्रोण कहते हैं। यह प्राचीन कालमें प्रचलित था।

हनन्ति स्म सहिताः सर्वे भक्षयन्ति तथापरे।
केचित् पीत्वापविध्यन्ति मधूनि मधुपिङ्गलाः ॥ १० ॥
मधूच्छिष्टेन केचिच्च जघ्नुरन्योन्यमुत्कटाः।
अपरे वृक्षमूलेषु शाखां गृह्य व्यवस्थिताः ॥ ११ ॥

मधुके समान पिङ्गल वर्णवाले वे सब वानर एक साथ होकर मधुके छत्तोंको पीटते, दूसरे वानर उस मधुको पीते और कितने ही पीकर बचे हुए मधुको फेंक देते थे। कितने ही मदमत्त हो एक दूसरेको मोमसे मारते थे और कितने ही वानर वृक्षोंके नीचे डालियाँ पकड़कर खड़े हो गये थे ॥ १०-११ ॥

अत्यर्थं च मदग्लानाः पर्णान्यास्तीर्य शेरते।
उन्मत्तवेगाः प्लवगा मधुमत्ताश्च हृष्टवत् ॥ १२ ॥

कितने ही वानर मदके कारण अत्यन्त ग्लानिका अनुभव कर रहे थे। उनका वेग उन्मत्त पुरुषोंके समान देखा जाता था। वे मधु पी-पीकर मतवाले हो गये थे, अतः बड़े हर्षके साथ पत्ते बिछाकर सो गये ॥ १२ ॥

क्षिपन्त्यपि तथान्योन्यं स्खलन्ति च तथापरे।
केचित्क्ष्वेडान् प्रकुर्वन्ति केचित् कूजन्ति हृष्टवत् ॥ १३ ॥

कोई एक दूसरेपर मधु फेंकते, कोई लड़खड़ाकर गिरते, कोई गरजते और कोई हर्षके साथ पक्षियोंकी भाँति कलरव करते थे ॥ १३ ॥

हरयो मधुना मत्ताः केचित् सुप्ता महीतले।
धृष्टाः केचिद्धसन्त्यन्ये केचित् कुर्वन्ति चेतरत् ॥ १४ ॥

मधुसे मतवाले हुए कितने ही वानर पृथ्वीपर सो गये थे। कुछ ढीठ वानर हँसते और कुछ रोदन करते थे ॥ १४ ॥

कृत्वा केचिद् वदन्त्यन्ये केचिद् बुध्यन्ति चेतरत्।
येऽप्यत्र मधुपालाः स्युः प्रेष्या दधिमुखस्य तु ॥ १५ ॥
तेऽपि तैर्वानरैर्भीमैः प्रतिषिद्धा दिशो गताः।
जानुभिश्च प्रघृष्टाश्च देवमार्गं च दर्शिताः ॥ १६ ॥

कुछ वानर दूसरा काम करके दूसरा बताते थे और कुछ उस बातका दूसरा ही अर्थ समझते थे। उस वनमें जो दधिमुखके सेवक मधुकी रक्षामें नियुक्त थे, वे भी उन भयंकर वानरोंद्वारा रोके या पीटे जानेपर सभी दिशाओंमें भाग गये। उनमेंसे कई रखवालोंको अङ्गदके दलवालोंने जमीनपर पटककर घुटनोंसे खूब रगड़ा और कितनोंको पैर पकड़कर आकाशमें उछाल दिया था अथवा उन्हें पीठके बल गिराकर आकाश दिखा दिया था ॥ १५-१६ ॥

अब्रुवन् परमोद्विग्ना गत्वा दधिमुखं वचः।
हनूमता दत्तवरैर्हतं मधुवनं बलात्।
वयं च जानुभिर्घृष्टा देवमार्गं च दर्शिताः ॥ १७ ॥

वे सब सेवक अत्यन्त उद्विग्न हो दधिमुखके पास जाकर बोले—'प्रभो! हनुमान्‌जीके बढ़ावा देनेसे उनके दलके सभी वानरोंने बलपूर्वक मधुवनका विध्वंस कर डाला, हमलोगोंको गिराकर घुटनोंसे रगड़ा और हमें पीठके बल पटककर आकाशका दर्शन करा दिया' ॥ १७ ॥

तदा दधिमुखः क्रुद्धो वनपस्तत्र वानरः।
हतं मधुवनं श्रुत्वा सान्त्वयामास तान् हरीन् ॥ १८ ॥

तब उस वनके प्रधान रक्षक दधिमुख नामक वानर मधुवनके विध्वंसका समाचार सुनकर वहाँ कुपित हो उठे और उन वानरोंको सान्त्वना देते हुए बोले—॥ १८ ॥

एतागच्छत गच्छामो वानरानतिदर्पितान्।
बलेनावारयिष्यामि प्रभुञ्जानान् मधूत्तमम् ॥ १९ ॥

'आओ-आओ' चलें इन वानरोंके पास। इनका घमंड बहुत बढ़ गया है। मधुवनके उत्तम मधुको लूटकर खानेवाले इन सबको मैं बलपूर्वक रोकूँगा' ॥ १९ ॥

श्रुत्वा दधिमुखस्येदं वचनं वानरर्षभाः।
पुनर्वीरा मधुवनं तेनैव सहिता ययुः ॥ २० ॥

दधिमुखका यह वचन सुनकर वे वीर कपिश्रेष्ठ पुनः उन्हींके साथ मधुवनको गये ॥ २० ॥

मध्ये चैषां दधिमुखः सुप्रगृह्य महातरुम्।
समभ्यधावन् वेगेन सर्वे ते च प्लवंगमाः ॥ २१ ॥

इनके बीचमें खड़े हुए दधिमुखने एक विशाल वृक्ष हाथमें लेकर बड़े वेगसे हनुमान्‌जीके दलपर धावा किया। साथ ही वे सब वानर भी उन मधु पीनेवाले वानरोंपर टूट पड़े ॥ २१ ॥

ते शिलाः पादपांश्चैव पाषाणानपि वानराः।
गृहीत्वाभ्यागमन् क्रुद्धा यत्र ते कपिकुञ्जराः ॥ २२ ॥

क्रोधसे भरे हुए वे वानर शिला, वृक्ष और पाषाण लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे हनुमान् आदि कपिश्रेष्ठ मधुका सेवन कर रहे थे ॥ २२ ॥

बलान्निवारयन्तश्च आसेदुर्हरयो हरीन्।
संदष्टौष्ठपुटाः क्रुद्धा भर्त्सयन्तो मुहुर्मुहुः ॥ २३ ॥

अपने ओठोंको दाँतोंसे दबाते और क्रोधपूर्वक बारंबार धमकाते हुए ये सब वानर उन वानरोंको बलपूर्वक रोकनेके लिये उनके पास आ पहुँचे ॥ २३ ॥

अथ दृष्ट्वा दधिमुखं क्रुद्धं वानरपुङ्गवाः।
अभ्यधावन्त वेगेन हनुमत्प्रमुखास्तदा ॥ २४ ॥

दधिमुखको कुपित हुआ देख हनुमान् आदि सभी श्रेष्ठ वानर उस समय बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ २४ ॥

सवृक्षं तं महाबाहुमापतन्तं महाबलम्।

वेगवन्तं विजग्राह बाहुभ्यां कुपितोऽङ्गदः ॥ २५ ॥

वृक्ष लेकर आते हुए वेगशाली महाबली महाबाहु दधिमुखको कुपित हुए अङ्गदने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया ॥ २५ ॥

मदान्धो न कृपां चक्रे आर्यकोऽयं ममेति सः।
अथैनं निष्पिपेषाशु वेगेन वसुधातले ॥ २६ ॥

वे मधु पीकर मदान्ध हो रहे थे, अतः 'ये मेरे नाना हैं' ऐसा समझकर उन्होंने उनपर दया नहीं दिखायी। वे तुरंत बड़े वेगसे पृथ्वीपर पटककर उन्हें रगड़ने लगे ॥ २६ ॥

स भग्नबाहूरुमुखो विह्वलः शोणितोक्षितः।
प्रमुमोह महावीरो मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ॥ २७ ॥

उनकी भुजाएँ, जाँघें और मुँह सभी टूट-फूट गये। वे खूनसे नहा गये और व्याकुल हो उठे। वे महावीर कपिकुञ्जर दधिमुख वहाँ दो घड़ीतक मूर्छित पड़े रहे ॥२७॥

स कथंचिद् विमुक्तस्तैर्वानरैर्वानरर्षभः।
उवाचैकान्तमागत्य स्वान् भृत्यान् समुपागतान् ॥ २८ ॥

उन वानरोंके हाथसे किसी तरह छुटकारा मिलनेपर वानरश्रेष्ठ दधिमुख एकान्तमें आये और वहाँ एकत्र हुए अपने सेवकोंसे बोले—॥ २८ ॥

एतागच्छत गच्छामो भर्ता नो यत्र वानरः।
सुग्रीवो विपुलग्रीवः सह रामेण तिष्ठति ॥ २९ ॥

'आओ-आओ, अब वहाँ चलें, जहाँ हमारे स्वामी मोटी गर्दनवाले सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीके साथ विराजमान हैं ॥ २९ ॥

सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावयिष्याम पार्थिवे।
अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान् ॥ ३० ॥

राजाके पास चलकर सारा दोष अङ्गदके माथे मढ़ देंगे। सुग्रीव बड़े क्रोधी हैं। मेरी बात सुनकर वे इन सभी वानरोंको मरवा डालेंगे ॥ ३० ॥

इष्टं मधुवनं ह्येतत् सुग्रीवस्य महात्मनः।
पितृपैतामहं दिव्यं देवैरपि दुरासदम् ॥ ३१ ॥

'महात्मा सुग्रीवको यह मधुवन बहुत ही प्रिय है। यह उनके बाप-दादोंका दिव्य वन है। इसमें प्रवेश करना देवताओंके लिये भी कठिन है ॥ ३१ ॥

सवानरानिमान् सर्वान् मधुलुब्धान् गतायुषः।
घातयिष्यति दण्डेन सुग्रीवः ससुहृज्जनान् ॥ ३२ ॥

'मधुके लोभी इन सभी वानरोंकी आयु समाप्त हो चली है। सुग्रीव इन्हें कठोर दण्ड देकर इनके सुहृदोंसहित इन सबको मरवा डालेंगे ॥ ३२ ॥

वध्या ह्येते दुरात्मानो नृपाज्ञापरिपन्थिनः।
अमर्षप्रभवो रोषः सफलो मे भविष्यति ॥ ३३ ॥

'राजाकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले ये दुरात्मा राजद्रोही वानर वधके ही योग्य हैं। इनका वध होनेपर ही मेरा अमर्षजनित रोष सफल होगा' ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा दधिमुखो वनपालान् महाबलः।
जगाम सहसोत्पत्य वनपालैः समन्वितः ॥ ३४ ॥

वनके रक्षकोंसे ऐसा कहकर उन्हें साथ ले महाबली दधिमुख सहसा उछलकर आकाशमार्गसे चले ॥ ३४ ॥

निमेषान्तरमात्रेण स हि प्राप्तो वनालयः।
सहस्रांशुसुतो धीमान् सुग्रीवो यत्र वानरः ॥ ३५ ॥

और पलक मारते-मारते वे उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ बुद्धिमान् सूर्यपुत्र वानरराज सुग्रीव विराजमान थे ॥३५॥

रामं च लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा सुग्रीवमेव च।
समप्रतिष्ठां जगतीमाकाशान्निपपात ह ॥ ३६ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीवको दूरसे ही देखकर वे आकाशसे समतल भूमिपर कूद पड़े ॥ ३६ ॥

स निपत्य महावीरः सर्वैस्तैः परिवारितः।
हरिर्दधिमुखः पालैः पालानां परमेश्वरः ॥ ३७ ॥
स दीनवदनो भूत्वा कृत्वा शिरसि चाञ्जलिम्।
सुग्रीवस्याशु तौ मूर्ध्ना चरणौ प्रत्यपीडयत् ॥ ३८ ॥

वनरक्षकोंके स्वामी महावीर वानर दधिमुख पृथ्वीपर उतरकर उन रक्षकोंसे घिरे हुए उदास मुख किये सुग्रीवके पास गये और सिरपर अञ्जलि बाँधे उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर उन्होंने प्रणाम किया ॥ ३७-३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

दधिमुखसे मधुवनके विध्वंसका समाचार सुनकर सुग्रीवका हनुमान् आदि वानरोंकी सफलताके विषयमें अनुमान

ततो मूर्ध्ना निपतितं वानरं वानरर्षभः।
दृष्ट्वैवोद्विग्नहृदयो वाक्यमेतदुवाच ह॥ १॥

वानर दधिमुखको माथा टेक प्रणाम करते देख वानर-शिरोमणि सुग्रीवका हृदय उद्विग्न हो उठा। वे उनसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कस्मात् त्वं पादयोः पतितो मम।
अभयं ते प्रदास्यामि सत्यमेवाभिधीयताम्॥ २॥

'उठो-उठो! तुम मेरे पैरोंपर कैसे पड़े हो! मैं तुम्हें अभयदान देता हूँ। तुम सच्ची बात बताओ॥ २॥

किं सम्भ्रमाद्धितं कृत्स्नं ब्रूहि यद् वक्तुमर्हसि।
कच्चिन्मधुवने स्वस्ति श्रोतुमिच्छामि वानर॥ ३॥

'कहो, किसके भयसे यहाँ आये हो? जो पूर्णतः हितकर बात हो, उसे बताओ; क्योंकि तुम सब कुछ कहनेके योग्य हो। मधुवनमें कुशल तो है न? वानर! मैं तुम्हारे मुखसे यह सब सुनना चाहता हूँ॥ ३॥

स समाश्वासितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना।
उत्थाय स महाप्राज्ञो वाक्यं दधिमुखोऽब्रवीत्॥ ४॥

महात्मा सुग्रीवके इस प्रकार आश्वासन देनेपर महा-बुद्धिमान् दधिमुख खड़े होकर बोले—॥ ४॥

नैवर्क्षरजसा राजन् न त्वया न च वालिना।
वनं निसृष्टपूर्वं ते नाशितं तत्तु वानरैः॥ ५॥

'राजन्! आपके पिता ऋक्षरजाने, वालीने और आपने भी पहले कभी जिस वनके मनमाने उपभोगके लिये किसीको आज्ञा नहीं दी थी, उसीका हनूमान् आदि वानरोंने आज नाश कर दिया॥ ५॥

न्यवारयमहं सर्वान् सहैभिर्वनचारिभिः।
अचिन्तयित्वा मां हृष्टा भक्षयन्ति पिबन्ति च॥ ६॥

'मैंने इन वनरक्षक वानरोंके साथ उन सबको रोकनेकी बहुत चेष्टा की, परंतु वे मुझे कुछ भी न समझकर बड़े हर्षके साथ फल खाते और मधु पीते हैं॥ ६॥

एभिः प्रधर्षणायां च वारितं वनपालकैः।
मामप्यचिन्तयन् देव भक्षयन्ति वनौकसः॥ ७॥

'देव! इन हनुमान् आदि वानरोंने जब मधुवनमें लूट मचाना आरम्भ किया, तब हमारे इन वनरक्षकोंने उन सबको रोकनेकी चेष्टा की; परंतु वे वानर इनको और मुझे भी कुछ नहीं गिनते हुए वहाँके फल आदिका भक्षण कर रहे हैं॥ ७॥

शिष्टमत्रापविध्यन्ति भक्षयन्ति तथापरे।
निवार्यमाणास्ते सर्वे भ्रुकुटिं दर्शयन्ति हि॥ ८॥

'दूसरे, वानर वहाँ खाते-पीते तो हैं ही, उनके सामने जो कुछ बच जाता है, उसे उठाकर फेंक देते हैं और जब हमलोग रोकते हैं, तब वे सब हमें टेढ़ी भौंहें दिखाते हैं॥८॥

इमे हि संरब्धतरास्तदा तैः सम्प्रधर्षिताः।
निवार्यन्ते वनात् तस्मात् क्रुद्धैर्वानरपुङ्गवैः॥ ९॥

'जब ये रक्षक उनपर अधिक कुपित हुए, तब उन्होंने इनपर आक्रमण कर दिया। इतना ही नहीं, क्रोधमें भरे हुए उन वानरपुङ्गवोंने इन रक्षकोंको उस वनसे बाहर निकाल दिया॥ ९॥

ततस्तैर्बहुभिर्वीरैर्वानरैर्वानरर्षभाः।
संरक्तनयनैः क्रोधाद्धरयः सम्प्रधर्षिताः॥ १०॥

'बाहर निकालकर उन बहुसंख्यक वीर वानरोंने क्रोधसे लाल आँखें करके वनकी रक्षा करनेवाले इन श्रेष्ठ वानरोंको धर दबाया॥ १०॥

पाणिभिर्निहताः केचित् केचिज्जानुभिराहताः।
प्रकृष्टाश्च तदा कामं देवमार्गं च दर्शिताः॥ ११॥

'किन्हींको थप्पड़ोंसे मारा, किन्हींको घुटनोंसे रगड़ दिया, बहुतोंको इच्छानुसार घसीटा और कितनोंको पीठके बल पटककर आसमान दिखा दिया॥ ११॥

एवमेते हताः शूरास्त्वयि तिष्ठति भर्तरि।
कृत्स्नं मधुवनं चैव प्रकामं तैश्च भक्ष्यते॥ १२॥

'प्रभो! आप-जैसे स्वामीके रहते हुए ये शूरवीर वनरक्षक उनके द्वारा इस तरह मारे-पीटे गये हैं और वे अपराधी वानर अपनी इच्छाके अनुसार सारे मधुवनका उपभोग कर रहे हैं'॥ १२॥

एवं विज्ञाप्यमानं तं सुग्रीवं वानरर्षभम्।
अपृच्छत् तं महाप्राज्ञो लक्ष्मणः परवीरहा॥ १३॥

वानरशिरोमणि सुग्रीवको जब इस प्रकार मधुवनके लूटे जानेका वृत्तान्त बताया जा रहा था, उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले परम बुद्धिमान् लक्ष्मणने उनसे पूछा—॥ १३॥

किमयं वानरो राजन् वनपः प्रत्युपस्थितः।

किं चार्थमभिनिर्दिश्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

'राजन्! वनकी रक्षा करनेवाला यह वानर यहाँ किस लिये उपस्थित हुआ है? और किस विषयकी ओर संकेत करके इसने दुखी होकर बात की है?' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना।
लक्ष्मणं प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १५ ॥

महात्मा लक्ष्मणके इस प्रकार पूछनेपर बातचीत करनेमें कुशल सुग्रीवने उन्हें यों उत्तर दिया—॥ १५ ॥

आर्य लक्ष्मण सम्प्राह वीरो दधिमुखः कपिः।
अङ्गदप्रमुखैर्वीरैर्भक्षितं मधु वानरैः ॥ १६ ॥

'आर्य लक्ष्मण! वीर वानर दधिमुखने मुझसे यह कहा है कि 'अङ्गद आदि वीर वानरोंने मधुवनका सारा मधु खा-पी लिया है' ॥ १६ ॥

नैषामकृतकार्याणामीदृशः स्याद् व्यतिक्रमः।
वनं यदभिपन्नास्ते साधितं कर्म तद् ध्रुवम् ॥ १७ ॥

'इसकी बात सुनकर मुझे यह अनुमान होता है कि वे जिस कार्यके लिये गये थे, उसे अवश्य ही उन्होंने पूरा कर लिया है। तभी उन्होंने मधुवनपर आक्रमण किया है। यदि वे अपना कार्य सिद्ध करके न आये होते तो उनके द्वारा ऐसा अपराध नहीं बना होता—वे मेरे मधुवनको लूटनेका साहस नहीं कर सकते थे ॥ १७ ॥

वारयन्तो भृशं प्राप्ताः पाला जानुभिराहताः।
तथा न गणितश्चायं कपिर्दधिमुखो बली ॥ १८ ॥
पतिर्मम वनस्यायमस्माभिः स्थापितः स्वयम्।
दृष्टा देवी न संदेहो न चान्येन हनूमता ॥ १९ ॥

'जब रक्षक उन्हें बारंबार रोकनेके लिये आये, तब उन्होंने इन सबको पटककर घुटनोंसे रगड़ा है तथा इन बलवान् वानर दधिमुखको भी कुछ नहीं समझा है। ये ही मेरे उस वनके मालिक या प्रधान रक्षक हैं। मैंने स्वयं ही इन्हें इस कार्यमें नियुक्त किया है (फिर भी उन्होंने इनकी बात नहीं मानी है)। इससे जान पड़ता है, उन्होंने देवी सीताका दर्शन अवश्य कर लिया। इसमें कोई संदेह नहीं है। यह काम और किसीका नहीं, हनुमान्‌जीका ही है (उन्होंने ही सीताका दर्शन किया है) ॥ १८-१९ ॥

न ह्यन्यः साधने हेतुः कर्मणोऽस्य हनूमतः।
कार्यसिद्धिर्हनुमति मतिश्च हरिपुङ्गवे ॥ २० ॥
व्यवसायश्च वीर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम्।

'इस कार्यको सिद्ध करनेमें हनुमान्‌जीके सिवा और कोई कारण बना हो, ऐसा सम्भव नहीं है। वानरशिरोमणि हनुमान्‌में ही कार्य-सिद्धिकी शक्ति और बुद्धि है। उन्हींमें उद्योग, पराक्रम और शास्त्रज्ञान भी प्रतिष्ठित है ॥ २०½ ॥

जाम्बवान् यत्र नेता स्यादङ्गदश्च महाबलः ॥ २१ ॥
हनूमांश्चाप्यधिष्ठाता न तत्र गतिरन्यथा।

'जिस दलके नेता जाम्बवान् और महाबली अङ्गद हों तथा अधिष्ठाता हनुमान् हों, उस दलको विपरीत परिणाम—असफलता मिले, यह सम्भव नहीं है ॥ २१½ ॥

अङ्गदप्रमुखैर्वीरैर्हतं मधुवनं किल ॥ २२ ॥
विचित्य दक्षिणामाशामागतैर्हरिपुङ्गवैः।
आगतैश्चाप्रधृष्यं तद्धतं मधुवनं हि तैः ॥ २३ ॥
धर्षितं च वनं कृत्स्नमुपयुक्तं तु वानरैः।
पातिता वनपालास्ते तदा जानुभिराहताः ॥ २४ ॥
एतदर्थमयं प्राप्तो वक्तुं मधुरवागिह।
नाम्ना दधिमुखो नाम हरिः प्रख्यातविक्रमः ॥ २५ ॥

'दक्षिण दिशासे सीताजीका पता लगाकर लौटे हुए अङ्गद आदि वीर वानरपुङ्गवोंने उस मधुवनपर प्रहार किया है, जिसे पददलित करना किसीके लिये भी असम्भव था। उन्होंने मधुवनको नष्ट किया, उजाड़ा और सब वानरोंने मिलकर समूचे वनका मनमाने ढंगसे उपभोग किया। इतना ही नहीं, उन्होंने वनके रक्षकोंको भी दे मारा और उन्हें अपने घुटनोंसे मार-मारकर घायल किया। इसी बातको बतानेके लिये ये विख्यात पराक्रमी वानर दधिमुख, जो बड़े मधुरभाषी हैं, यहाँ आये हैं ॥ २२–२५ ॥

दृष्टा सीता महाबाहो सौमित्रे पश्य तत्त्वतः।
अभिगम्य यथा सर्वे पिबन्ति मधु वानराः ॥ २६ ॥

'महाबाहु सुमित्रानन्दन! इस बातको आप ठीक समझें कि अब सीताका पता लग गया; क्योंकि वे सभी वानर उस वनमें जाकर मधु पी रहे हैं ॥ २६ ॥

न चाप्यदृष्ट्वा वैदेहीं विश्रुताः पुरुषर्षभ।
वनं दत्तवरं दिव्यं धर्षयेयुर्वनौकसः ॥ २७ ॥

'पुरुषप्रवर! विदेहनन्दिनीका दर्शन किये बिना उस दिव्य वनका, जो देवताओंसे मेरे पूर्वजको वरदानके रूपमें प्राप्त हुआ है, वे विख्यात वानर कभी विध्वंस नहीं कर सकते थे' ॥ २७ ॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा लक्ष्मणः सहराघवः।
श्रुत्वा कर्णसुखां वाणीं सुग्रीववदनाच्च्युताम् ॥ २८ ॥
प्राहृष्यत भृशं रामो लक्ष्मणश्च महायशाः।

सुग्रीवके मुखसे निकली हुई कानोंको सुख देनेवाली यह बात सुनकर धर्मात्मा लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीके साथ बहुत प्रसन्न हुए। श्रीरामके हर्षकी सीमा न रही और महायशस्वी लक्ष्मण भी हर्षसे खिल उठे ॥ २८½ ॥

श्रुत्वा दधिमुखस्यैवं सुग्रीवस्तु प्रहृष्य च ॥ २९ ॥
वनपालं पुनर्वाक्यं सुग्रीवः प्रत्यभाषत।

दधिमुखकी उपर्युक्त बात सुनकर सुग्रीवको बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने अपने वनरक्षकको फिर इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २९½ ॥

प्रीतोऽस्मि सोऽहं यद्भुक्तं वनं तैः कृतकर्मभिः ॥ ३० ॥
धर्षितं मर्षणीयं च चेष्टितं कृतकर्मणाम् ।
गच्छ शीघ्रं मधुवनं संरक्षस्व त्वमेव हि ।
शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तान् हनूमत्प्रमुखान् कपीन् ॥ ३१ ॥

'मामा ! अपना कार्य सिद्ध करके लौटे हुए उन वानरोंने जो मेरे मधुवनका उपभोग किया है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ; अतः तुम्हें भी कृतकृत्य होकर आये हुए उन कपियोंकी ढिठाई तथा उद्दण्डतापूर्ण चेष्टाओंको क्षमा कर देना चाहिये । अब शीघ्र जाओ और तुम्हीं उस मधुवनकी रक्षा करो । साथ ही हनुमान् आदि सब वानरोंको जल्दी यहाँ भेजो ॥ ३०-३१ ॥

इच्छामि शीघ्रं हनुमत्प्रधाना-
ञ्शाखामृगांस्तान् मृगराजदर्पान् ।
प्रष्टुं कृतार्थान् सह राघवाभ्यां
श्रोतुं च सीताधिगमे प्रयत्नम् ॥ ३२ ॥

'मैं सिंहके समान दर्पसे भरे हुए उन हनुमान् आदि वानरोंसे शीघ्र मिलना चाहता हूँ और इन दोनों रघुवंशी बन्धुओंके साथ मैं उन कृतार्थ होकर लौटे हुए वीरोंसे यह पूछना तथा सुनना चाहता हूँ कि सीताकी प्राप्तिके लिये क्या प्रयत्न किया जाय' ॥ ३२ ॥

प्रीतिस्फीताक्षो सम्प्रहृष्टौ कुमारौ
दृष्ट्वा सिद्धार्थौ वानराणां च राजा ।
अङ्गैः प्रहृष्टः कार्यसिद्धिं विदित्वा
बाह्वोरासन्नामतिमात्रं ननन्द ॥ ३३ ॥

वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण पूर्वोक्त समाचारसे अपनेको सफलमनोरथ मानकर हर्षसे पुलकित हो गये थे । उनकी आँखें प्रसन्नतासे खिल उठी थीं । उन्हें इस तरह प्रसन्न देख तथा अपने हर्षोत्फुल्ल अङ्गोंसे कार्य-सिद्धिको हाथोंमें आयी हुई जान वानरराज सुग्रीव अत्यन्त आनन्दमें निमग्न हो गये ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

दधिमुखसे सुग्रीवका संदेश सुनकर अङ्गद-हनुमान् आदि वानरोंका किष्किन्धामें पहुँचना और हनुमान्‌जीका श्रीरामको प्रणाम करके सीतादेवीके दर्शनका समाचार बताना

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु हृष्टो दधिमुखः कपिः ।
राघवं लक्ष्मणं चैव सुग्रीवं चाभ्यवादयत् ॥ १ ॥

सुग्रीवके ऐसा कहनेपर प्रसन्नचित्त वानर दधिमुखने श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीवको प्रणाम किया ॥ १ ॥

स प्रणम्य च सुग्रीवं राघवौ च महाबलौ ।
वानरैः सहितः शूरैर्दिवमेवोत्पपात ह ॥ २ ॥

सुग्रीव तथा उन महाबली रघुवंशी बन्धुओंको प्रणाम करके वे शूरवीर वानरोंके साथ आकाशमार्गसे उड़ चले ॥ २ ॥

स यथैवागतः पूर्वं तथैव त्वरितं गतः ।
निपत्य गगनाद् भूमौ तद् वनं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥

जैसे पहले आये थे, उतनी ही शीघ्रतासे वे वहाँ जा पहुँचे और आकाशसे पृथ्वीपर उतरकर उन्होंने उस मधुवनमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

स प्रविष्टो मधुवनं ददर्श हरियूथपान् ।
विमदानुद्धतान् सर्वान् मेहमानान् मधूदकम् ॥ ४ ॥

मधुवनमें प्रविष्ट होकर उन्होंने देखा कि समस्त वानर-यूथपति जो पहले उद्दण्ड हो रहे थे, अब मदरहित हो गये हैं—इनका नशा उतर गया है और ये मधुमिश्रित जलका मेहन (मूत्रेन्द्रियद्वारा त्याग) कर रहे हैं ॥ ४ ॥

स तानुपागमद् वीरो बद्ध्वा करपुटाञ्जलिम् ।
उवाच वचनं श्लक्ष्णमिदं हृष्टवदङ्गदम् ॥ ५ ॥

वीर दधिमुख उनके पास गये और दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँध अङ्गदसे हर्षयुक्त मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

सौम्य रोषो न कर्तव्यो यदेभिः परिवारणम् ।
अज्ञानाद् रक्षिभिः क्रोधाद् भवन्तः प्रतिषेधिताः ॥ ६ ॥

'सौम्य ! इन रक्षकोंने जो अज्ञानवश आपको रोका था, क्रोधपूर्वक आपलोगोंको मधु पीनेसे मना किया था, इसके लिये आप अपने मनमें क्रोध न करें ॥ ६ ॥

श्रान्तो दूरादनुप्राप्तो भक्षयस्व स्वकं मधु ।
युवराजस्त्वमीशश्च वनस्यास्य महाबल ॥ ७ ॥

'आपलोग दूरसे थके-माँदे आये हैं, अतः फल खाइये

और मधु पीजिये। यह सब आपकी ही सम्पत्ति है। महाबली वीर! आप हमारे युवराज और इस वनके स्वामी हैं॥ ७॥

मौर्ख्यात् पूर्वं कृतो रोषस्तद् भवान् क्षन्तुमर्हति।
यथैव हि पिता तेऽभूत् पूर्वं हरिगणेश्वरः॥ ८॥
तथा त्वमपि सुग्रीवो नान्यस्तु हरिसत्तम।

'कपिश्रेष्ठ! मैंने पहले मूर्खतावश जो रोष प्रकट किया था, उसे आप क्षमा करें; क्योंकि पूर्वकालमें जैसे आपके पिता वानरोंके राजा थे, उसी प्रकार आप और सुग्रीव भी हैं। आपलोगोंके सिवा दूसरा कोई हमारा स्वामी नहीं है॥ ८½॥

आख्यातं हि मया गत्वा पितृव्यस्य तवानघ॥ ९॥
इहोपयानं सर्वेषामेतेषां वनचारिणाम्।
भवदागमनं श्रुत्वा सहैभिर्वनचारिभिः॥ १०॥
प्रहृष्टो न तु रुष्टोऽसौ वनं श्रुत्वा प्रधर्षितम्।

'निष्पाप युवराज! मैंने यहाँसे जाकर आपके चाचा सुग्रीवसे इन सब वानरोंके यहाँ पधारनेका हाल कहा था। इन वानरोंके साथ आपका आगमन सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। इस वनके विध्वंसका समाचार सुनकर भी उन्हें रोष नहीं हुआ॥ ९-१०½॥

प्रहृष्टो मां पितृव्यस्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः॥ ११॥
शीघ्रं प्रेषय सर्वांस्तानिति होवाच पार्थिवः।

'आपके चाचा वानरराज सुग्रीवने बड़े हर्षके साथ मुझसे कहा है कि उन सबको शीघ्र यहाँ भेजो'॥ ११½॥

श्रुत्वा दधिमुखस्यैतद् वचनं श्लक्ष्णमङ्गदः॥ १२॥
अब्रवीत् तान् हरिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः।

दधिमुखकी यह बात सुनकर बातचीत करनेमें कुशल कपिश्रेष्ठ अङ्गदने उन सबसे मधुर वाणीमें कहा—॥ १२½॥

शङ्के श्रुतोऽयं वृत्तान्तो रामेण हरियूथपाः॥ १३॥
अयं च हर्षादाख्याति तेन जानामि हेतुना।
तत् क्षमं नेह नः स्थातुं कृते कार्ये परंतपाः॥ १४॥

'वानरयूथपतियो! जान पड़ता है भगवान् श्रीरामने हम लोगोंके लौटनेका समाचार सुन लिया; क्योंकि ये बहुत प्रसन्न होकर वहाँकी बात सुना रहे हैं। इसीसे मुझे ऐसा ज्ञात होता है। अतः शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरो! कार्य पूरा हो जानेपर अब हमलोगोंको यहाँ अधिक नहीं ठहरना चाहिये॥ १३-१४॥

पीत्वा मधु यथाकामं विक्रान्ता वनचारिणः।
किं शेषं गमनं तत्र सुग्रीवो यत्र वानरः॥ १५॥

'पराक्रमी वानर इच्छानुसार मधु पी चुके। अब यहाँ कौन-सा कार्य शेष है। इसलिये वहीं चलना चाहिये, जहाँ वानरराज सुग्रीव हैं॥ १५॥

सर्वे यथा मां वक्ष्यन्ति समेत्य हरिपुङ्गवाः।
तथास्मि कर्ता कर्तव्ये भवद्भिः परवानहम्॥ १६॥

'वानरपुङ्गवो! आप सब लोग मिलकर मुझसे जैसा कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा; क्योंकि कर्तव्यके विषयमें मैं आप लोगोंके अधीन हूँ॥ १६॥

नाज्ञापयितुमीशोऽहं युवराजोऽस्मि यद्यपि।
अयुक्तं कृतकर्माणो यूयं धर्षयितुं बलात्॥ १७॥

'यद्यपि मैं युवराज हूँ तो भी आपलोगोंपर हुक्म नहीं चला सकता। आपलोग बहुत बड़ा कार्य पूरा करके आये हैं, अतः बलपूर्वक आपपर शासन चलाना कदापि उचित नहीं है'॥ १७॥

ब्रुवतश्चाङ्गदस्यैवं श्रुत्वा वचनमुत्तमम्।
प्रहृष्टमनसो वाक्यमिदमूचुर्वनौकसः॥ १८॥

उस समय इस तरह बोलते हुए अङ्गदका उत्तम वचन सुनकर सब वानरोंका चित्त प्रसन्न हो गया और वे इस प्रकार बोले—॥ १८॥

एवं वक्ष्यति को राजन् प्रभुः सन् वानरर्षभ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि सर्वोऽहमिति मन्यते॥ १९॥

'राजन्! कपिश्रेष्ठ! स्वामी होकर भी अपने अधीन रहनेवाले लोगोंसे कौन इस तरहकी बात करेगा? प्रायः सब लोग ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो अहंकारवश अपनेको ही सर्वोपरि मानने लगते हैं॥ १९॥

तव चेदं सुसदृशं वाक्यं नान्यस्य कस्यचित्।
सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम्॥ २०॥

'आपकी यह बात आपके ही योग्य है। दूसरे किसीके मुँहसे प्रायः ऐसी बात नहीं निकलती। यह नम्रता आपकी भावी शुभयोग्यताका परिचय दे रही है॥ २०॥

सर्वे वयमपि प्राप्तास्तत्र गन्तुं कृतक्षणाः।
स यत्र हरिवीराणां सुग्रीवः पतिरव्ययः॥ २१॥

'हम सब लोग भी जहाँ वानरवीरोंके अविनाशी पति सुग्रीव विराजमान हैं, वहाँ चलनेके लिये उत्साहित हो यहाँ आपके समीप आये हैं॥ २१॥

त्वया ह्यनुक्तैर्हरिभिर्नैव शक्यं पदात् पदम्।
क्वचिद् गन्तुं हरिश्रेष्ठ ब्रूमः सत्यमिदं तु ते॥ २२॥

'वानरश्रेष्ठ! आपकी आज्ञा प्राप्त हुए बिना हम वानरगण कहीं एक पग भी नहीं जा सकते, यह आपसे सच्ची बात कहते हैं'॥ २२॥

एवं तु वदतां तेषामङ्गदः प्रत्यभाषत।
साधु गच्छाम इत्युक्त्वा खमुत्पेतुर्महाबलाः॥ २३॥

वे वानरगण जब ऐसी बातें कहने लगे, तब अङ्गद

बोले—'बहुत अच्छा, अब हमलोग चलें।' इतना कहकर वे महाबली वानर आकाशमें उड़ चले ॥ २३ ॥

उत्पतन्तमनूत्पेतुः सर्वे ते हरियूथपाः।
कृत्वाऽऽकाशं निराकाशं यन्त्रोत्क्षिप्ता इवोपलाः॥२४॥

आगे-आगे अङ्गद और उनके पीछे वे समस्त वानर-यूथपति उड़ने लगे। वे आकाशको आच्छादित करके गुलेलसे फेंके गये पत्थरोंकी भाँति तीव्रगतिसे जा रहे थे ॥ २४ ॥

अङ्गदं पुरतः कृत्वा हनूमन्तं च वानरम्।
तेऽम्बरं सहसोत्पत्य वेगवन्तः प्लवङ्गमाः ॥ २५ ॥
विनदन्तो महानादं घना वातेरिता यथा।

अङ्गद और वानरवीर हनुमान्‌को आगे करके सभी वेगवान् वानर सहसा आकाशमें उछलकर वायुसे उड़ाये गये बादलोंकी भाँति बड़े जोर-जोरसे गर्जना करते हुए किष्किन्धाके निकट जा पहुँचे ॥ २५½ ॥

अङ्गदे समनुप्राप्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः ॥ २६ ॥
उवाच शोकसंतप्तं रामं कमललोचनम्।

अङ्गदके निकट पहुँचते ही वानरराज सुग्रीवने शोक-संतप्त कमलनयन श्रीरामसे कहा—॥ २६½ ॥

समाश्वसिहि भद्रं ते दृष्टा देवी न संशयः ॥ २७ ॥
नागन्तुमिह शक्यं तैरतीतसमयैरिह।

'प्रभो! धैर्य धारण कीजिये। आपका कल्याण हो। सीतादेवीका पता लग गया है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि कृतकार्य हुए बिना दिये हुए समयकी अवधिको बिताकर ये वानर कदापि यहाँ नहीं आ सकते थे ॥ २७½ ॥

अङ्गदस्य प्रहर्षाच्च जानामि शुभदर्शन ॥ २८ ॥
न मत्सकाशमागच्छेत् कृत्ये हि विनिपातिते।
युवराजो महाबाहुः प्लवतामङ्गदो वरः ॥ २९ ॥

'शुभदर्शन श्रीराम! अङ्गदकी अत्यन्त प्रसन्नतासे भी मुझे इसी बातकी सूचना मिल रही है। यदि काम बिगाड़ दिया गया होता तो वानरोंमें श्रेष्ठ युवराज महाबाहु अङ्गद मेरे पास कदापि लौटकर नहीं आते ॥ २८-२९ ॥

यद्यप्यकृतकृत्यानामीदृशः स्यादुपक्रमः।
भवेत् तु दीनवदनो भ्रान्तविप्लुतमानसः ॥ ३० ॥

'यद्यपि कार्य सिद्ध न होनेपर भी इस तरह लोगोंका अपने घर लौटना देखा गया है, तथापि उस दशामें अङ्गदके मुखपर उदासी छायी होती और उनके चित्तमें घबराहटके कारण उथल-पुथल मचा होता ॥ ३० ॥

पितृपैतामहं चैतत् पूर्वकैरभिरक्षितम्।
न मे मधुवनं हन्याददृष्ट्वा जनकात्मजाम् ॥ ३१ ॥

'मेरे बाप-दादोंके इस मधुवनका, जिसकी पूर्वजोंने भी सदा रक्षा की है, कोई जनककिशोरीका दर्शन किये बिना विध्वंस नहीं कर सकता था ॥ ३१ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम समाश्वसिहि सुव्रत।
दृष्टा देवी न संदेहो न चान्येन हनूमता ॥ ३२ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रीराम! आपको पाकर माता कौसल्या उत्तम संतानकी जननी हुई हैं। आप धैर्य धारण कीजिये। इसमें कोई संदेह नहीं कि देवी सीताका दर्शन हो गया। किसी औरने नहीं, हनुमान्‌जीने ही उनका दर्शन किया है ॥ ३२ ॥

न ह्यन्यः कर्मणो हेतुः साधनेऽस्य हनूमतः।
हनूमतीह सिद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम ॥ ३३ ॥
व्यवसायश्च शौर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम्।
जाम्बवान् यत्र नेता स्यादङ्गदश्च हरीश्वरः ॥ ३४ ॥
हनूमांश्चाप्यधिष्ठाता न तत्र गतिरन्यथा।

'मतिमानोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! इस कार्यको सिद्ध करनेमें हनुमान्‌जीके सिवा और कोई कारण बना हो, ऐसा सम्भव नहीं है। वानरशिरोमणि हनुमान्‌में ही कार्यसिद्धिकी शक्ति और बुद्धि है। उन्हींमें उद्योग, पराक्रम और शास्त्रज्ञान भी प्रतिष्ठित है। जिस दलके नेता जाम्बवान् और महाबली अङ्गद हों तथा अधिष्ठाता हनुमान् हों, उस दलको विपरीत परिणाम—असफलता मिले, यह सम्भव नहीं है ॥ ३३-३४½ ॥

मा भूश्चिन्तासमायुक्तः सम्प्रत्यमितविक्रम ॥ ३५ ॥
यदा हि दर्पितोदग्राः संगताः काननौकसः।
नैषामकृतकार्याणामीदृशः स्यादुपक्रमः ॥ ३६ ॥
वनभङ्गेन जानामि मधूनां भक्षणेन च।

'अमित पराक्रमी श्रीराम! अब आप चिन्ता न करें। ये वनवासी वानर जो इतने अहंकारमें भरे हुए आ रहे हैं, कार्य सिद्ध हुए बिना इनका इस तरह आना सम्भव नहीं था। इनके मधु पीने और वन उजाड़नेसे भी मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है' ॥ ३५-३६½ ॥

ततः किलकिलाशब्दं शुश्रावासन्नमम्बरे ॥ ३७ ॥
हनूमत्कर्मदृप्तानां नदतां काननौकसाम्।
किष्किन्धामुपयातानां सिद्धिं कथयतामिव ॥ ३८ ॥

वे इस प्रकार कह ही रहे थे कि उन्हें आकाशमें निकटसे वानरोंकी किलकारियाँ सुनायी दीं। हनुमान्‌जीके पराक्रमपर गर्व करके किष्किन्धाके पास आ गर्जना करनेवाले वे वनवासी वानर मानो सिद्धिकी सूचना दे रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

ततः श्रुत्वा निनादं तं कपीनां कपिसत्तमः।
आयताञ्चितलाङ्गूलः सोऽभवद्धृष्टमानसः ॥ ३९ ॥

उन वानरोंका वह सिंहनाद सुनकर कपिश्रेष्ठ सुग्रीवका

हृदय हर्षसे खिल उठा। उन्होंने अपनी पूँछ लंबी एवं ऊँची कर दी ॥ ३९ ॥

आजग्मुस्तेऽपि हरयो रामदर्शनकाङ्क्षिणः।
अङ्गदं पुरतः कृत्वा हनूमन्तं च वानरम् ॥ ४० ॥

इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी इच्छासे अङ्गद और वानरवीर हनुमान्‌को आगे करके वे सब वानर वहाँ आ पहुँचे ॥ ४० ॥

तेऽङ्गदप्रमुखा वीराः प्रहृष्टाश्च मुदान्विताः।
निपेतुर्हरिराजस्य समीपे राघवस्य च ॥ ४१ ॥

वे अङ्गद आदि वीर आनन्द और उत्साहसे भरकर वानरराज सुग्रीव तथा रघुनाथजीके समीप आकाशसे नीचे उतरे ॥ ४१ ॥

हनूमांश्च महाबाहुः प्रणम्य शिरसा ततः।
नियतामक्षतां देवीं राघवाय न्यवेदयत् ॥ ४२ ॥

महाबाहु हनुमान्‌ने श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और उन्हें यह बताया कि 'देवी सीता पातिव्रत्यके कठोर नियमोंका पालन करती हुई शरीरसे सकुशल हैं' ॥ ४२ ॥

दृष्टा देवीति हनुमद्वदनादमृतोपमम्।
आकर्ण्य वचनं रामो हर्षमाप सलक्ष्मणः ॥ ४३ ॥

'मैंने देवी सीताका दर्शन किया है', हनुमान्‌जीके मुखसे यह अमृतके समान मधुर वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४३ ॥

निश्चितार्थं ततस्तस्मिन् सुग्रीवं पवनात्मजे।
लक्ष्मणः प्रीतिमान् प्रीतं बहुमानादवैक्षत ॥ ४४ ॥

पवनपुत्र हनुमान्‌के विषयमें सुग्रीवने पहलेसे ही निश्चय कर लिया था कि उन्हींके द्वारा कार्य सिद्ध हुआ है। इसलिये प्रसन्न हुए लक्ष्मणने प्रीतियुक्त सुग्रीवकी ओर बड़े आदरसे देखा ॥ ४४ ॥

प्रीत्या च परयोपेतो राघवः परवीरहा।
बहुमानेन महता हनूमन्तमवैक्षत ॥ ४५ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले श्रीरघुनाथजीने परम प्रीति और महान् सम्मानके साथ हनुमान्‌जीकी ओर देखा ॥४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका श्रीरामको सीताका समाचार सुनाना

ततः प्रस्रवणं शैलं ते गत्वा चित्रकाननम्।
प्रणम्य शिरसा रामं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ १ ॥
युवराजं पुरस्कृत्य सुग्रीवमभिवाद्य च।
प्रवृत्तिमथ सीतायाः प्रवक्तुमुपचक्रमुः ॥ २ ॥

तदनन्तर विचित्र काननोंसे सुशोभित प्रस्रवण पर्वतपर जाकर युवराज अङ्गदको आगे करके श्रीराम, महाबली लक्ष्मण तथा सुग्रीवको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर सब वानरोंने सीताका समाचार बताना आरम्भ किया—॥ १-२ ॥

रावणान्तःपुरे रोधं राक्षसीभिश्च तर्जनम्।
रामे समनुरागं च यथा च नियमः कृतः ॥ ३ ॥
एतदाख्याय ते सर्वं हरयो रामसंनिधौ।
वैदेहीमक्षतां श्रुत्वा रामस्तूत्तरमब्रवीत् ॥ ४ ॥

'सीतादेवी रावणके अन्तःपुरमें रोक रक्खी गयी हैं। राक्षसियाँ उन्हें धमकाती रहती हैं। श्रीरामके प्रति उनका अनन्य अनुराग है। रावणने सीताके जीवित रहनेके लिये केवल दो मासकी अवधि दे रक्खी है। इस समय विदेहकुमारीको कोई क्षति नहीं पहुँची है—वे सकुशल हैं।' श्रीरामचन्द्रजीके निकट ये सब बातें बताकर वे वानर चुप हो गये। विदेहकुमारीके सकुशल होनेका वृत्तान्त सुनकर श्रीरामने आगेकी बात पूछते हुए कहा—॥ ३-४ ॥

क्व सीता वर्तते देवी कथं च मयि वर्तते।
एतन्मे सर्वमाख्यात वैदेहीं प्रति वानराः ॥ ५ ॥

'वानरो! देवी सीता कहाँ हैं? मेरे प्रति उनका कैसा भाव है? विदेहकुमारीके विषयमें ये सारी बातें मुझसे कहो' ॥ ५ ॥

रामस्य गदितं श्रुत्वा हरयो रामसंनिधौ।
चोदयन्ति हनूमन्तं सीतावृत्तान्तकोविदम् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह कथन सुनकर वे वानर श्रीरामके निकट सीताके वृत्तान्तको अच्छी तरह जाननेवाले हनुमान्‌जीको उत्तर देनेके लिये प्रेरित करने लगे ॥ ६ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां हनूमान् मारुतात्मजः।
प्रणम्य शिरसा देव्यै सीतायै तां दिशं प्रति ॥ ७ ॥

उन वानरोंकी बात सुनकर पवनपुत्र हनुमान्‌जीने पहले देवी सीताके उद्देश्यसे दक्षिण दिशाकी ओर मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ७ ॥

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः सीताया दर्शनं यथा ।
तं मणिं काञ्चनं दिव्यं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ ८ ॥
दत्त्वा रामाय हनुमांस्ततः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।

फिर बातचीतकी कलाको जाननेवाले उन वानरवीरने सीताजीका दर्शन जिस प्रकार हुआ था, वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया । तत्पश्चात् अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाली उस दिव्य काञ्चनमणिको भगवान् श्रीरामके हाथमें देकर हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले—॥ ८½ ॥

समुद्रं लङ्घयित्वाहं शतयोजनमायतम् ॥ ९ ॥
अगच्छं जानकीं सीतां मार्गमाणो दिदृक्षया ।

'प्रभो ! मैं जनकनन्दिनी सीताके दर्शनकी इच्छासे उनका पता लगाता हुआ सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघकर उसके दक्षिण किनारेपर जा पहुँचा ॥ ९½ ॥

तत्र लङ्केति नगरी रावणस्य दुरात्मनः ॥ १० ॥
दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे वसति दक्षिणे ।

'वहीं दुरात्मा रावणकी नगरी लङ्का है । वह समुद्रके दक्षिण तटपर ही बसी हुई है ॥ १०½ ॥

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती ॥ ११ ॥
त्वयि संन्यस्य जीवन्ती रामा राम मनोरथम् ।
दृष्टा मे राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥
राक्षसीभिर्विरूपाभी रक्षिता प्रमदावने ।

'श्रीराम ! लङ्कामें पहुँचकर मैंने रावणके अन्तःपुरमें प्रमदावनके भीतर राक्षसियोंके बीचमें बैठी हुई सती-साध्वी सुन्दरी देवी सीताका दर्शन किया । वे अपनी सारी अभिलाषाओंको आपमें ही केन्द्रित करके किसी तरह जीवन धारण कर रही हैं । विकराल रूपवाली राक्षसियाँ उनकी रखवाली करती हैं और बारंबार उन्हें डाँटती-फटकारती रहती हैं ॥ ११-१२½ ॥

दुःखमापद्यते देवी त्वया वीर सुखोचिता ॥ १३ ॥
रावणान्तःपुरे रुद्धा राक्षसीभिः सुरक्षिता ।
एकवेणीधरा दीना त्वयि चिन्तापरायणा ॥ १४ ॥

'वीरवर ! देवी सीता आपके साथ सुख भोगनेके योग्य हैं, परंतु इस समय बड़े दुःखसे दिन बिता रही हैं । उन्हें रावणके अन्तःपुरमें रोक रक्खा गया है और वे राक्षसियोंके पहरेमें रहती हैं । सिरपर एक वेणी धारण किये दुखी हो सदा आपकी चिन्तामें डूबी रहती हैं ॥

अधःशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ।
रावणाद् विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ॥ १५ ॥

'वे नीचे भूमिपर सोती हैं । जैसे जाड़ेके दिनोंमें पाला पड़नेके कारण कमलिनी सूख जाती है, उसी प्रकार उनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी है । रावणसे उनका कोई प्रयोजन नहीं है । उन्होंने प्राण त्याग देनेका निश्चय कर लिया है ॥ १५ ॥

देवी कथंचित् काकुत्स्थ त्वन्मना मार्गिता मया ।
इक्ष्वाकुवंशविख्यातिं शनैः कीर्तयतानघ ॥ १६ ॥
सा मया नरशार्दूल शनैर्विश्वासिता तदा ।
ततः सम्भाषिता देवी सर्वमर्थं च दर्शिता ॥ १७ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! उनका मन निरन्तर आपमें ही लगा रहता है । निष्पाप नरश्रेष्ठ ! मैंने बड़ा प्रयत्न करके किसी तरह महारानी सीताका पता लगाया और धीरे-धीरे इक्ष्वाकुवंशकी कीर्तिका वर्णन करते हुए किसी प्रकार उनके हृदयमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न किया । तत्पश्चात् देवीसे वार्तालाप करके मैंने यहाँकी सब बातें उन्हें बतलायीं ॥

रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा हर्षमुपागता ।
नियतः समुदाचारो भक्तिश्चास्याः सदा त्वयि ॥ १८ ॥

'आपकी सुग्रीवके साथ मित्रताका समाचार सुनकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ । उनका उच्चकोटिका आचार-विचार (पातिव्रत्य) सुदृढ़ है । वे सदा आपमें ही भक्ति रखती हैं ॥ १८ ॥

एवं मया महाभाग दृष्टा जनकनन्दिनी ।
उग्रेण तपसा युक्ता त्वद्भक्तया पुरुषर्षभ ॥ १९ ॥

'महाभाग ! पुरुषोत्तम ! इस प्रकार जनकनन्दिनीको मैंने आपकी भक्तिसे प्रेरित होकर कठोर तपस्या करते देखा है ॥ १९ ॥

अभिज्ञानं च मे दत्तं यथावृत्तं तवान्तिके ।
चित्रकूटे महाप्राज्ञ वायसं प्रति राघव ॥ २० ॥

'महामते ! रघुनन्दन ! चित्रकूटमें आपके पास देवीके रहते समय एक कौएको लेकर जो घटना घटित हुई थी, उस वृत्तान्तको उन्होंने पहचानके रूपमें मुझसे कहा था ॥ २० ॥

विज्ञाप्यः पुनरप्येष रामो वायुसुत त्वया ।
अखिलेन यथा दृष्टमिति मामाह जानकी ॥ २१ ॥
अयं चास्मै प्रदातव्यो यत्नात् सुपरिरक्षितः ।

'जानकीजीने आते समय मुझसे कहा—वायुनन्दन ! तुम यहाँ जैसी मेरी हालत देख चुके हो, वह सब भगवान् श्रीरामको बताना और इस मणिको बड़े यत्नसे सुरक्षितरूपमें ले जाकर उनके हाथमें देना ॥ २१½ ॥

ब्रुवता वचनान्येवं सुग्रीवस्योपशृण्वतः ॥ २२ ॥
एष चूडामणिः श्रीमान् मया ते यत्नरक्षितः ।

मनःशिलायास्तिलकं तत् स्मरस्वेति चाब्रवीत् ॥ २३ ॥
एष निर्यातितः श्रीमान् मया ते वारिसम्भवः ।
एनं दृष्ट्वा प्रमोदिष्ये व्यसने त्वामिवानघ ॥ २४ ॥

"ऐसे समयमें देना, जब कि सुग्रीव भी निकट बैठकर तुम्हारी कही हुई बातें सुन रहे हों। साथ ही मेरी ये बातें भी उनसे निवेदन करना—'प्रभो! आपकी दी हुई यह कान्तिमती चूडामणि मैंने बड़े यत्नसे सुरक्षित रक्खी थी। जलसे प्रकट हुए इस दीप्तिमान् रत्नको मैंने आपकी सेवामें लौटाया है। निष्पाप रघुनन्दन! संकटके समय इसे देखकर मैं उसी प्रकार आनन्दमग्न हो जाती थी, जैसे आपके दर्शनसे आनन्दित होती हूँ। आपने मेरे ललाटमें जो मैनसिलका तिलक लगाया था, इसको स्मरण कीजिये।' ये बातें जानकीजीने कही थीं ॥ २२—२४ ॥

जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ।
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं रक्षसां वशमागता ॥ २५ ॥

'उन्होंने यह भी कहा—'दशरथनन्दन! मैं एक मास और जीवन धारण करूँगी। उसके बाद राक्षसोंके वशमें पड़कर प्राण त्याग दूँगी—किसी तरह जीवित नहीं रह सकूँगी' ॥ २५ ॥

इति मामब्रवीत् सीता कृशाङ्गी धर्मचारिणी ।
रावणान्तःपुरे रुद्धा मृगीवोत्फुल्ललोचना ॥ २६ ॥

'इस प्रकार दुबले-पतले शरीरवाली धर्मपरायणा सीताने मुझे आपसे कहनेके लिये यह संदेश दिया था। वे रावणके अन्तःपुरमें कैद हैं और भयके मारे आँख फाड़-फाड़कर इधर-उधर देखनेवाली हरिणीके समान वे सशङ्क दृष्टिसे सब ओर देखा करती हैं ॥ २६ ॥

एतदेव मयाऽऽख्यातं सर्वं राघव यद् यथा ।
सर्वथा सागरजले संतारः प्रविधीयताम् ॥ २७ ॥

'रघुनन्दन! यही वहाँका वृत्तान्त है, जो सब-का-सब मैंने आपकी सेवामें निवेदन कर दिया। अब सब प्रकारसे समुद्रको पार करनेका प्रयत्न कीजिये' ॥ २७ ॥

तौ जाताश्वासौ राजपुत्रौ विदित्वा
तच्चाभिज्ञानं राघवाय प्रदाय ।
देव्या चाख्यातं सर्वमेवानुपूर्व्याद्
वाचा सम्पूर्णं वायुपुत्रः शशंस ॥ २८ ॥

राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मणको कुछ आश्वासन मिल गया, ऐसा जानकर तथा वह पहचान श्रीरघुनाथजीके हाथमें देकर वायुपुत्र हनुमान्‌ने देवी सीताकी कही हुई सारी बातें क्रमशः अपनी वाणीद्वारा पूर्णरूपसे कह सुनायीं ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

चूडामणिको देखकर और सीताका समाचार पाकर श्रीरामका उनके लिये विलाप

एवमुक्तो हनुमता रामो दशरथात्मजः ।
तं मणिं हृदये कृत्वा रुरोद सहलक्ष्मणः ॥ १ ॥

हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर दशरथनन्दन श्रीराम उस मणिको अपनी छातीसे लगाकर रोने लगे। साथ ही लक्ष्मण भी रो पड़े ॥ १ ॥

तं तु दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं राघवः शोककर्शितः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

उस श्रेष्ठ मणिकी ओर देखकर शोकसे व्याकुल हुए श्रीरघुनाथजी अपने दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर सुग्रीवसे इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

यथैव धेनुः स्रवति स्नेहाद् वत्सस्य वत्सला ।
तथा ममापि हृदयं मणिश्रेष्ठस्य दर्शनात् ॥ ३ ॥

'मित्र! जैसे वत्सला धेनु अपने बछड़ेके स्नेहसे थनोंसे दूध झरने लगती है, उसी प्रकार इस उत्तम मणिको देखकर आज मेरा हृदय भी द्रवीभूत हो रहा है ॥ ३ ॥

मणिरत्नमिदं दत्तं वैदेह्याः श्वशुरेण मे ।
वधूकाले यथा बद्धमधिकं मूर्ध्नि शोभते ॥ ४ ॥

'मेरे श्वशुर राजा जनकने विवाहके समय वैदेहीको यह मणिरत्न दिया था, जो उसके मस्तकपर आबद्ध होकर बड़ी शोभा पाता था ॥ ४ ॥

अयं हि जलसम्भूतो मणिः प्रवरपूजितः ।
यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता ॥ ५ ॥

जलसे प्रकट हुई यह मणि श्रेष्ठ देवताओंद्वारा पूजित है। किसी यज्ञमें बहुत संतुष्ट हुए बुद्धिमान् इन्द्रने राजा जनकको यह मणि दी थी ॥ ५ ॥

इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं तथा तातस्य दर्शनम् ।
अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभोः ॥ ६ ॥

'सौम्य! इस मणिरत्नका दर्शन करके आज मुझे मानो

अपने पूज्य पिताका और विदेहराज महाराज जनकका भी दर्शन मिल गया हो, ऐसा अनुभव हो रहा है ॥ ६ ॥

अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः ।
अद्यास्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये ॥ ७ ॥

'यह मणि सदा मेरी प्रिया सीताके सीमन्तपर शोभा पाती थी । आज इसे देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो सीता ही मुझे मिल गयी ॥ ७ ॥

किमाह सीता वैदेही ब्रूहि सौम्य पुनः पुनः ।
परासुमिव तोयेन सिञ्चन्ती वाक्यवारिणा ॥ ८ ॥

'सौम्य पवनकुमार ! जैसे बेहोश हुए मनुष्यको होशमें लानेके लिये उसपर जलके छींटे दिये जाते हैं, उसी प्रकार विदेहनन्दिनी सीताने मूर्च्छित हुए-से मुझ रामको अपने वाक्यरूपी शीतल जलसे सींचते हुए क्या-क्या कहा है ? यह बारंबार बताओ' ॥ ८ ॥

इतस्तु किं दुःखतरं यदिमं वारिसम्भवम् ।
मणिं पश्यामि सौमित्रे वैदेहीमागतां विना ॥ ९ ॥

(अब वे लक्ष्मणसे बोले—) 'सुमित्रानन्दन ! सीताके यहाँ आये बिना ही जो जलसे उत्पन्न हुई इस मणिको मैं देख रहा हूँ । इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है' ॥ ९ ॥

चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति ।
क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम् ॥ १० ॥

(फिर वे हनुमान्‌जीसे बोले—) 'वीर पवनकुमार ! यदि विदेहनन्दिनी सीता एक मासतक जीवन धारण कर लेगी, तब तो वह बहुत समयतक जी रही है । मैं तो कजरारे नेत्रोंवाली जानकीके बिना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता ॥ १० ॥

नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया ।
न तिष्ठेयं क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च ॥ ११ ॥

'तुमने जहाँ मेरी प्रियाको देखा है, उसी देशमें मुझे भी ले चलो । उसका समाचार पाकर अब मैं एक क्षण भी यहाँ नहीं रुक सकता ॥ ११ ॥

कथं सा मम सुश्रोणी भीरुभीरुः सती तदा ।
भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम् ॥ १२ ॥

'हाय ! मेरी सती-साध्वी सुमध्यमा सीता बड़ी भीरु है । वह उन घोर रूपधारी भयंकर राक्षसोंके बीचमें कैसे रहती होगी ? ॥ १२ ॥

शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः ।
आवृतो वदनं तस्या न विराजति साम्प्रतम् ॥ १३ ॥

'निश्चय ही अन्धकारसे मुक्त किंतु बादलोंसे ढके हुए शरत्कालीन चन्द्रमाके समान सीताका मुख इस समय शोभा नहीं पा रहा होगा ॥ १३ ॥

किमाह सीता हनुमंस्तत्त्वतः कथयस्व मे ।
एतेन खलु जीविष्ये भेषजेनातुरो यथा ॥ १४ ॥

'हनुमन् ! मुझे ठीक-ठीक बताओ, सीताने क्या-क्या कहा है । जैसे रोगी दवा लेनेसे जीता है, उसी प्रकार मैं सीताके इस संदेश-वाक्यको सुनकर ही जीवन धारण करूँगा ॥ १४ ॥

मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी ।
मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्व मे ।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी ॥ १५ ॥

'हनुमन् ! मुझसे बिछुड़ी हुई मेरी सुन्दर कटिप्रदेशवाली मधुरभाषिणी सुन्दरी प्रियतमा जनकनन्दिनी सीताने मेरे लिये कौन-सा संदेश दिया है ? वह दुःख-पर-दुःख उठाकर भी कैसे जीवन धारण कर रही है ? ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका भगवान् श्रीरामको सीताका संदेश सुनाना

एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना ।
सीताया भाषितं सर्वं न्यवेदयत राघवे ॥ १ ॥

महात्मा श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने सीताजीकी कही हुई सब बातें उनसे निवेदन कर दीं ॥ १ ॥

इदमुक्तवती देवी जानकी पुरुषर्षभ ।
पूर्ववृत्तमभिज्ञानं चित्रकूटे यथातथम् ॥ २ ॥

वे बोले—'पुरुषोत्तम ! जानकीदेवीने पहले चित्रकूटपर बीती हुई एक घटनाका यथावत् रूपसे वर्णन किया था । उसे उन्होंने पहचानके तौरपर इस प्रकार कहा था ॥ २ ॥

सुखसुप्ता त्वया सार्धं जानकी पूर्वमुत्थिता ।
वायसः सहसोत्पत्य विददार स्तनान्तरम् ॥ ३ ॥

'पहले चित्रकूटमें कभी जानकी देवी आपके साथ सुख-

र्वक सोयी थीं। वे सोकर आपसे पहले उठ गयीं। उस मय किसी कौएने सहसा उड़कर उनकी छातीमें चोंच ार दी ॥ ३ ॥

र्यायेण च सुप्तस्त्वं देव्यङ्के भरताग्रज।
ुनश्च किल पक्षी स देव्या जनयति व्यथा ॥ ४ ॥

'भरताग्रज! आपलोग बारी-बारीसे एक दूसरेके अङ्कमें सिर रखकर सोते थे। जब आप देवीके अङ्कमें मस्तक रखकर सोये थे, उस समय पुनः उसी पक्षीने आकर देवीको कष्ट देना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

ततः पुनरुपागम्य विददार भृशं किल।
ततस्त्वं बोधितस्तस्याः शोणितेन समुक्षितः ॥ ५ ॥

'कहते हैं उसने फिर आकर जोरसे चोंच मार दी। तब देवीके शरीरसे रक्त बहने लगा और उससे भीग जानेके कारण आप जाग उठे ॥ ५ ॥

वायसेन च तेनैवं सततं बाध्यमानया।
बोधितः किल देव्या त्वं सुखसुप्तः परंतप ॥ ६ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनन्दन! उस कौएने जब लगातार इस तरह पीड़ा दी, तब देवी सीताने सुखसे सोये हुए आपको जगा दिया ॥ ६ ॥

तां च दृष्ट्वा महाबाहो दारितां च स्तनान्तरे।
आशीविष इव क्रुद्धस्ततो वाक्यं त्वमूचिवान् ॥ ७ ॥

'महाबाहो! उनकी छातीमें घाव हुआ देख आप विषधर सर्पके समान कुपित हो उठे और इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

नखाग्रैः केन ते भीरु दारितं वै स्तनान्तरम्।
कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना ॥ ८ ॥

"भीरु! किसने अपने नखोंके अग्रभागसे तुम्हारी छातीमें घाव कर दिया है? कौन कुपित हुए पाँच मुँहवाले सर्पके साथ खेल रहा है?' ॥ ८ ॥

निरीक्षमाणः सहसा वायसं समुदैक्षथाः।
नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैस्तामेवाभिमुखं स्थितम् ॥ ९ ॥

'ऐसा कहकर आपने जब सहसा इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उस कौएको देखा। उसके तीखे पंजे खूनमें रँगे हुए थे और वह सीता देवीकी ओर मुँह करके ही कहीं बैठा था ॥ ९ ॥

सुतः किल स शक्रस्य वायसः पततां वरः।
धरान्तरगतः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः ॥ १० ॥

'सुना है, उड़नेवालोंमें श्रेष्ठ वह कौआ साक्षात् इन्द्रका पुत्र था; जो उन दिनों पृथ्वीपर विचर रहा था। वह वायुदेवताके समान शीघ्रगामी था ॥ १० ॥

ततस्तस्मिन् महाबाहो कोपसंवर्तितेक्षणः।
वायसे त्वं व्यधाः क्रूरां मतिं मतिमतां वर ॥ ११ ॥

'मतिमानोंमें श्रेष्ठ महाबाहो! उस समय आपके नेत्र क्रोधसे घूमने लगे और आपने उस कौएको कठोर दण्ड देनेका विचार किया ॥ ११ ॥

स दर्भसंस्तराद् गृह्य ब्रह्मास्त्रेण न्ययोजयः।
स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखं खगम् ॥ १२ ॥

'आपने अपनी चटाईमेंसे एक कुशा निकालकर हाथमें ले लिया और उसे ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किया। फिर तो वह कुश प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित हो उठा। उसका लक्ष्य वह कौआ ही था ॥ १२ ॥

स त्वं प्रदीप्तं चिक्षेप दर्भं तं वायसं प्रति।
ततस्तु वायसं दीप्तः स दर्भोऽनुजगाम ह ॥ १३ ॥

'आपने उस जलते हुए कुशको कौएकी ओर छोड़ दिया। फिर तो वह दीप्तिमान् दर्भ उस कौएका पीछा करने लगा ॥ १३ ॥

भीतैश्च सम्परित्यक्तः सुरैः सर्वैश्च वायसः।
त्रींल्लोकान् सम्परिक्रम्य त्रातारं नाधिगच्छति ॥ १४ ॥

आपके भयसे डरे हुए समस्त देवताओंने भी उस कौएको त्याग दिया। वह तीनों लोकोंमें चक्कर लगाता फिरा, किंतु कहीं भी उसे कोई रक्षक नहीं मिला ॥ १४ ॥

पुनरप्यागतस्तत्र त्वत्सकाशमरिंदम।
त्वं तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ॥ १५ ॥
वधार्हमपि काकुत्स्थ कृपया परिपालयः।

'शत्रुदमन श्रीराम! सब ओरसे निराश होकर वह कौआ फिर वहीं आपकी शरणमें आया। शरणमें आकर पृथ्वीपर पड़े हुए उस कौएको आपने शरणमें ले लिया; क्योंकि आप शरणागतवत्सल हैं। यद्यपि वह वधके योग्य था तो भी आपने कृपापूर्वक उसकी रक्षा की ॥ १५½ ॥

मोघमस्त्रं न शक्यं तु कर्तुमित्येव राघव ॥ १६ ॥
भवांस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम्।

'रघुनन्दन! उस ब्रह्मास्त्रको व्यर्थ नहीं किया जा सकता था, इसलिये आपने उस कौएकी दाहिनी आँख फोड़ डाली ॥ १६½ ॥

राम त्वां स नमस्कृत्य राज्ञो दशरथस्य च ॥ १७ ॥
विसृष्टस्तु तदा काकः प्रतिपेदे स्वमालयम्।

'श्रीराम! तदनन्तर आपसे विदा ले वह कौआ भूतलपर आपको और स्वर्गमें राजा दशरथको नमस्कार करके अपने घरको चला गया ॥ १७½ ॥

एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्छीलवानपि ॥ १८ ॥
किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयसि राघव ।

(सीता कहती हैं—) 'रघुनन्दन ! इस प्रकार अस्त्र-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ, शक्तिशाली और शीलवान् होते हुए भी आप राक्षसोंपर अपने अस्त्रका प्रयोग क्यों नहीं करते हैं ? ॥ १८½ ॥

न दानवा न गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ॥ १९ ॥
तव राम रणे शक्तास्तथा प्रतिसमासितुम् ।

"श्रीराम ! दानव, गन्धर्व, असुर और देवता कोई भी समराङ्गणमें आपका सामना नहीं कर सकते ॥ १९½ ॥

तव वीर्यवतः कश्चिन्मयि यद्यस्ति सम्भ्रमः ॥ २० ॥
क्षिप्रं सुनिशितैर्बाणैर्हन्यतां युधि रावणः ।

"आप बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं। यदि मेरे प्रति आपका कुछ भी आदर है तो आप शीघ्र ही अपने तीखे बाणोंसे रणभूमिमें रावणको मार डालिये ॥ २०½ ॥

भ्रातुरादेशमाज्ञाय लक्ष्मणो वा परंतपः ॥ २१ ॥
स किमर्थं नरवरो न मां रक्षति राघवः ।

"हनुमन् ! अथवा अपने भाईकी आज्ञा लेकर शत्रुओं-को संताप देनेवाले रघुकुलतिलक नरश्रेष्ठ लक्ष्मण क्यों नहीं मेरी रक्षा करते हैं ? ॥ २१½ ॥

शक्तौ तौ पुरुषव्याघ्रौ वाय्वग्निसमतेजसौ ॥ २२ ॥
सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं मामुपेक्षतः ।

"वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण वायु तथा अग्निके तुल्य तेजस्वी एवं शक्तिशाली हैं, देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं; फिर किसलिये मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ? ॥ २२½ ॥

ममैव दुष्कृतं किंचिन्महदस्ति न संशयः ॥ २३ ॥
समर्थौ सहितौ यन्मां न रक्षेते परंतपौ ।

"इसमें संदेह नहीं कि मेरा ही कोई ऐसा महान् पाप है, जिसके कारण वे दोनों शत्रुसंतापी वीर एक साथ रहकर समर्थ होते हुए मेरी रक्षा नहीं कर रहे हैं' ॥ २३½ ॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साधुभाषितम् ॥ २४ ॥
पुनरप्यहमार्यां तामिदं वचनमब्रुवम् ।

'रघुनन्दन ! विदेहनन्दिनीका करुणाजनक उत्तम वचन सुनकर मैंने पुनः आर्या सीतासे यह बात कही—॥ २४½ ॥

त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे ॥ २५ ॥
रामे दुःखाभिभूते च लक्ष्मणः परितप्यते ।

'देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे शोकके कारण ही सब कार्योंसे विरत हो रहे हैं ! श्रीरामके दुखी होनेसे लक्ष्मण भी संतप्त हो रहे हैं ॥ २५½ ॥

कथंचिद् भवती दृष्टा न कालः परिशोचितुम् ॥ २६ ॥
अस्मिन् मुहूर्ते दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि ।

'किसी तरह आपका दर्शन हो गया (आपके निवास-स्थानका पता लग गया), अतः अब शोक करनेका अवसर नहीं है। भामिनि ! आप इसी मुहूर्तमें अपने सारे दुःखोंका अन्त हुआ देखेंगी ॥ २६½ ॥

तावुभौ नरशार्दूलौ राजपुत्रौ परंतपौ ॥ २७ ॥
त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः ।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों नरश्रेष्ठ राजकुमार आपके दर्शनके लिये उत्साहित हो लङ्कापुरीको जलाकर भस्म कर देंगे ॥ २७½ ॥

हत्वा च समरे रौद्रं रावणं सहबान्धवम् ॥ २८ ॥
राघवस्त्वां वरारोहे स्वपुरीं नयिता ध्रुवम् ।

'वरारोहे ! समराङ्गणमें रौद्र राक्षस रावणको बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर रघुनाथजी अवश्य ही आपको अपनी पुरीमें ले जायँगे ॥ २८½ ॥

यत् तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते ॥ २९ ॥
प्रीतिसंजननं तस्य प्रदातुं तत् त्वमर्हसि ।

'सती-साध्वी देवि ! अब आप मुझे कोई ऐसी पहचान दीजिये, जिसे श्रीरामचन्द्रजी जानते हों और जो उनके मनको प्रसन्न करनेवाला हो ॥ २९½ ॥

साभिवीक्ष्य दिशः सर्वा वेण्युद्ग्रथनमुत्तमम् ॥ ३० ॥
मुक्त्वा वस्त्राद् ददौ मह्यं मणिमेतं महाबल ।

'महाबली वीर ! तब उन्होंने चारों ओर देखकर वेणीमें बाँधने योग्य इस उत्तम मणिको अपने वस्त्रसे खोलकर मुझे दे दिया ॥ ३०½ ॥

प्रतिगृह्य मणिं दोर्भ्यां तव हेतो रघुप्रिय ॥ ३१ ॥
शिरसा सम्प्रणम्यैनामहमागमने त्वरे ।

'रघुवंशियोंके प्रियतम श्रीराम ! आपके लिये इस मणिको दोनों हाथोंमें लेकर मैंने सीतादेवीको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और यहाँ आनेके लिये मैं उतावला हो उठा ॥ ३१½ ॥

गमने च कृतोत्साहमवेक्ष्य वरवर्णिनी ॥ ३२ ॥
विवर्धमानं च हि मामुवाच जनकात्मजा ।
अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पगद्गदभाषिणी ॥ ३३ ॥
ममोत्पतनसम्भ्रान्ता शोकवेगसमाहता ।
मामुवाच ततः सीता सभाग्योऽसि महाकपे ॥ ३४ ॥
यद् द्रक्ष्यसि महाबाहुं रामं कमललोचनम् ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं देवरं मे यशस्विनम् ॥ ३५ ॥

'लौटनेके लिये उत्साहित हो मुझे अपने शरीरको बढ़ाते

देख सुन्दरी जनकनन्दिनी सीता बहुत दुखी हो गयीं। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली। मेरी उछलनेकी तैयारीसे वे घबरा गयीं और शोकके वेगसे आहत हो उठीं। उस समय उनका स्वर अश्रुगद्गद हो गया था। वे मुझसे कहने लगीं—'महाकपे! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो, जो मेरे महाबाहु प्रियतम कमलनयन श्रीरामको तथा मेरे यशस्वी देवर महाबाहु लक्ष्मणको भी अपनी आँखोंसे देखोगे' ॥ ३२—३५ ॥

सीतयाप्येवमुक्तोऽहमब्रुवं मैथिलीं तथा।
पृष्ठमारोह मे देवि क्षिप्रं जनकनन्दिनि ॥ ३६ ॥
यावत्ते दर्शयाम्यद्य ससुग्रीवं सलक्ष्मणम्।
राघवं च महाभागे भर्तारमसितेक्षणे ॥ ३७ ॥

'सीताजीके ऐसा कहनेपर मैंने उन मिथिलेशकुमारीसे कहा—'देवि! जनकनन्दिनी! आप शीघ्र मेरी पीठपर चढ़ जाइये। महाभागे! श्यामलोचने! मैं अभी सुग्रीव और लक्ष्मणसहित आपके पतिदेव श्रीरघुनाथजीका आपको दर्शन कराता हूँ' ॥ ३६-३७ ॥

साब्रवीन्मां ततो देवी नैष धर्मो महाकपे।
यत्ते पृष्ठं सिषेवेऽहं स्ववशा हरिपुङ्गव ॥ ३८ ॥

'यह सुनकर सीतादेवी मुझसे बोलीं—'महाकपे! वानरशिरोमणे! मेरा यह धर्म नहीं है कि मैं अपने वशमें होती हुई भी स्वेच्छासे तुम्हारी पीठका आश्रय लूँ ॥ ३८ ॥

पुरा च यदहं वीर स्पृष्टा गात्रेषु रक्षसा।
तत्राहं किं करिष्यामि कालेनोपनिपीडिता ॥ ३९ ॥
गच्छ त्वं कपिशार्दूल यत्र तौ नृपतेः सुतौ।

''वीर! पहले जो राक्षस रावणके द्वारा मेरे अङ्गोंका स्पर्श हो गया, उस समय वहाँ मैं क्या कर सकती थी? मुझे तो कालने ही पीड़ित कर रक्खा था। अतः वानरप्रवर! जहाँ वे दोनों राजकुमार हैं, वहाँ तुम जाओ' ॥ ३९½ ॥

इत्येवं सा समाभाष्य भूयः संदेष्टुमास्थिता ॥ ४० ॥
हनूमन् सिंहसंकाशौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ।
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान् ब्रूया ह्यनामयम् ॥ ४१ ॥

'ऐसा कहकर वे फिर मुझे संदेश देने लगीं—'हनुमन्! सिंहके समान पराक्रमी उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे, मन्त्रियोंसहित सुग्रीवसे तथा अन्य सब लोगोंसे भी मेरा कुशल-समाचार कहना और उनका पूछना ॥ ४०-४१ ॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः।
अस्माद् दुःखाम्बुसंरोधात् तत् त्वमाख्यातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

''तुम वहाँ ऐसी बात कहना, जिससे महाबाहु रघुनाथजी इस दुःखसागरसे मेरा उद्धार करें ॥ ४२ ॥

इदं च तीव्रं मम शोकवेगं
रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च।
ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं
शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥ ४३ ॥

''वानरोंके प्रमुख वीर! मेरे इस तीव्र शोक-वेगको तथा इन राक्षसोंद्वारा जो मुझे डराया-धमकाया जाता है, इसको भी उन श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर कहना। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो' ॥ ४३ ॥

एतत् तवार्या नृप संयता सा
सीता वचः प्राह विषादपूर्वम्।
एतच्च बुद्ध्वा गदितं यथा त्वं
श्रद्धत्स्व सीतां कुशलां समग्राम् ॥ ४४ ॥

'नरेश्वर! आपकी प्रियतमा संयमशीला आर्या सीताने बड़े विषादके साथ ये सारी बातें कही हैं। मेरी कही हुई इन सब बातोंपर विचार करके आप विश्वास करें कि सतीशिरोमणि सीता सकुशल हैं' ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

हनुमान्‌जीका सीताके संदेह और अपने द्वारा उनके निवारणका वृत्तान्त बताना

अथाहमुत्तरं देव्या पुनरुक्तः ससम्भ्रमम्।
तव स्नेहान्नरव्याघ्र सौहार्दादनुमान्य च ॥ १ ॥

'पुरुषसिंह रघुनन्दन! आपके प्रति स्नेह और सौहार्दके कारण देवी सीताने मेरा सत्कार करके जानेके लिये उतावले हुए मुझसे पुनः यह उत्तम बात कही—॥ १ ॥

एवं बहुविधं वाच्यो रामो दाशरथिस्त्वया।

...मां प्राप्नुयाच्छीघ्रं हत्वा रावणमाहवे ॥ २ ॥

"पवनकुमार ! तुम दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामसे अनेक प्रकारसे ऐसी बातें कहना, जिससे वे समराङ्गणमें शीघ्र ही रावणका वध करके मुझे प्राप्त कर लें ॥ २ ॥

यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिंदम।
कस्मिंश्चित् संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥ ३ ॥

"शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर! यदि तुम ठीक समझो तो यहाँ किसी गुप्त स्थानमें एक दिनके लिये ठहर जाओ। आज विश्राम करके कल सबेरे यहाँसे चले जाना ॥ ३ ॥

मम चाप्यल्पभाग्यायाः सांनिध्यात् तव वानर।
अस्य शोकविपाकस्य मुहूर्तं स्याद् विमोक्षणम् ॥ ४ ॥

"वानर! तुम्हारे निकट रहनेसे मुझ मन्दभागिनीको इस शोकविपाकसे थोड़ी देरके लिये भी छुटकारा मिल जाय ॥ ४ ॥

गते हि त्वयि विक्रान्ते पुनरागमनाय वै।
प्राणानामपि संदेहो मम स्यान्नात्र संशयः ॥ ५ ॥

"तुम पराक्रमी वीर हो। जब पुनः आनेके लिये यहाँसे चले जाओगे, तब मेरे प्राणोंके लिये भी संदेह उपस्थित हो जायगा। इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत्।
दुःखाद् दुःखपराभूतां दुर्गतां दुःखभागिनीम् ॥ ६ ॥

"तुम्हें न देखनेसे होनेवाला शोक दुःख-पर-दुःख उठानेके पराभव तथा दुर्गतिमें पड़ी हुई मुझ दुखियाको और भी संताप देता रहेगा ॥ ६ ॥

अयं च वीर संदेहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः।
सुमहांस्त्वत्सहायेषु हर्यृक्षेषु हरीश्वर ॥ ७ ॥
कथं नु खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोदधिम्।
तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥ ८ ॥

"वीर! वानरराज! मेरे सामने यह महान् संदेह-सा खड़ा हो गया है कि तुम जिनके सहायक हो, उन वानरों और भालुओंके होते हुए भी रीछों और वानरोंकी वे सेनाएँ तथा वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण इस अपार पारावारको कैसे पार करेंगे? ॥ ७-८ ॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्यास्य लङ्घने।
शक्तिः स्याद् वैनतेयस्य वायोर्वा तव चानघ ॥ ९ ॥

"निष्पाप पवनकुमार! तीन ही भूतोंमें इस समुद्रको लाँघनेकी शक्ति देखी जाती है—विनतानन्दन गरुड़में, वायुदेवतामें और तुममें ॥ ९ ॥

तदस्मिन् कार्यनिर्योगे वीरैवं दुरतिक्रमे।
किं पश्यसि समाधानं ब्रूहि कार्यविदां वर ॥ १० ॥

"वीर! जब इस प्रकार इस कार्यका साधन दुष्कर हो गया है, तब इसकी सिद्धिके लिये तुम कौन-सा समाधान (उपाय) देखते हो। कार्यसिद्धिके उपाय जाननेवालोंमें तुम श्रेष्ठ हो, अतः मेरी बातका उत्तर दो ॥ १० ॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।
पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते बलोदयः ॥ ११ ॥

"विपक्षी वीरोंका नाश करनेवाले कपिश्रेष्ठ! इसमें संदेह नहीं कि इस कार्यकी सिद्धिके लिये तुम अकेले ही बहुत हो, तथापि तुम्हारे बलका यह उद्रेक तुम्हारे लिये ही यशकी वृद्धि करनेवाला होगा (श्रीरामके लिये नहीं) ॥ ११ ॥

बलैः समग्रैर्यदि मां हत्वा रावणमाहवे।
विजयी स्वपुरीं रामो नयेत् तत् स्याद् यशस्करम् ॥ १२ ॥

"यदि श्रीराम अपनी सम्पूर्ण सेनाके साथ यहाँ आकर युद्धमें रावणको मार डालें और विजयी होकर मुझे अपनी पुरीको ले चलें तो यह उनके लिये यशकी वृद्धि करनेवाला होगा ॥ १२ ॥

यथाहं तस्य वीरस्य वनादुपधिना हृता।
रक्षसा तद्भयादेव तथा नार्हति राघवः ॥ १३ ॥

"जिस प्रकार राक्षस रावणने वीरवर भगवान् श्रीरामके भयसे ही उनके सामने न जाकर छलपूर्वक वनसे मेरा अपहरण किया था, उस तरह श्रीरघुनाथजीको मुझे नहीं प्राप्त करना चाहिये (वे रावणको मारकर ही मुझे ले चलें) ॥ १३ ॥

बलैस्तु संकुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः।
मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत् तस्य सदृशं भवेत् ॥ १४ ॥

"शत्रुसेनाका संहार करनेवाले ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम यदि अपने सैनिकोंद्वारा लङ्काको पददलित करके मुझे अपने साथ ले जायँ तो यह उनके योग्य पराक्रम होगा ॥ १४ ॥

तद् यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः।
भवत्याहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥ १५ ॥

"महात्मा श्रीराम संग्राममें शौर्य प्रकट करनेवाले हैं, अतः जिस प्रकार उनके अनुरूप पराक्रम प्रकट हो सके, वैसा ही उपाय तुम करो' ॥ १५ ॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम्।
निशम्याहं ततः शेषं वाक्यमुत्तरमब्रवम् ॥ १६ ॥

'सीतादेवीके उस अभिप्राययुक्त, विनयपूर्ण और युक्तिसंगत वचनको सुनकर अन्तमें मैंने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ १६ ॥

देवि हर्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः।
सुग्रीवः सत्त्वसम्पन्नस्त्वदर्थे कृतनिश्चयः ॥ १७ ॥

"देवि! वानर और भालुओंकी सेनाके स्वामी कपिश्रेष्ठ

सुग्रीव बड़े शक्तिशाली हैं। वे आपका उद्धार करनेके लिये दृढ़ निश्चय कर चुके हैं ॥ १७ ॥

तस्य विक्रमसम्पन्नाः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
मनःसंकल्पसदृशा निदेशे हरयः स्थिताः ॥ १८ ॥

"उनके पास पराक्रमी, शक्तिशाली और महाबली वानर हैं, जो मनके संकल्पके समान तीव्र गतिसे चलते हैं। वे सब-के-सब सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं ॥ १८ ॥

येषां नोपरि नाधस्तान्न तिर्यक् सज्जते गतिः ।
न च कर्मसु सीदन्ति महत्स्वमिततेजसः ॥ १९ ॥

"नीचे, ऊपर और अगल-बगलमें कहीं भी उनकी गति नहीं रुकती है। वे अमिततेजस्वी वानर बड़े-से-बड़े कार्य आ पड़नेपर भी कभी शिथिल नहीं होते हैं ॥ १९ ॥

असकृत् तैर्महाभागैर्वानरैर्बलसंयुतैः ।
प्रदक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः ॥ २० ॥

"वायुमार्ग (आकाश) का अनुसरण करनेवाले उन महाभाग बलवान् वानरोंने अनेक बार इस पृथ्वीकी परिक्रमा की है ॥ २० ॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः ।
मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसंनिधौ ॥ २१ ॥

"वहाँ मुझसे बढ़कर तथा मेरे समान शक्तिशाली बहुत-से वानर हैं। सुग्रीवके पास कोई ऐसा वानर नहीं है, जो मुझसे किसी बातमें कम हो ॥ २१ ॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः ।
नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥ २२ ॥

"जब मैं ही यहाँ आ गया, तब फिर उन महाबली वानरोंके आनेमें क्या संदेह हो सकता है ? आप जानती होंगी कि दूत या धावन बनाकर वे ही लोग भेजे जाते हैं, जो निम्न-श्रेणीके होते हैं। अच्छी श्रेणीके लोग नहीं भेजे जाते ॥ २२ ॥

तदलं परितापेन देवि मन्युरपैतु ते ।
एकोत्पातेन ते लङ्कामेष्यन्ति हरियूथपाः ॥ २३ ॥

"अतः देवि ! अब संताप करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपका मानसिक दुःख दूर हो जाना चाहिये। वे वानर-यूथपति एक ही छलाँगमें लङ्कामें पहुँच जायँगे ॥ २३ ॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
त्वत्सकाशं महाभागे नृसिंहावागमिष्यतः ॥ २४ ॥

"महाभागे ! वे पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण उदयाचलपर उदित होनेवाले चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति मेरी पीठपर बैठकर आपके पास आ जायँगे ॥ २४ ॥

अरिघ्नं सिंहसंकाशं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ।
लक्ष्मणं च धनुष्मन्तं लङ्काद्वारमुपागतम् ॥ २५ ॥

"आप शीघ्र ही देखेंगी कि सिंहके समान पराक्रमी शत्रुनाशक श्रीराम और लक्ष्मण हाथमें धनुष लिये लङ्काके द्वारपर आ पहुँचे हैं ॥ २५ ॥

नखदंष्ट्रायुधान् वीरान् सिंहशार्दूलविक्रमान् ।
वानरान् वारणेन्द्राभान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि संगतान् ॥ २६ ॥

"नख और दाढ़ें ही जिनके आयुध हैं, जो सिंह और बाघके समान पराक्रमी हैं तथा बड़े-बड़े गजराजोंके समान जिनकी विशाल काया है, उन वीर वानरोंको आप शीघ्र ही यहाँ एकत्र हुआ देखेंगी ॥ २६ ॥

शैलाम्बुदनिकाशानां लङ्कामलयसानुषु ।
नर्दतां कपिमुख्यानां नचिराच्छ्रोष्यसे स्वनम् ॥ २७ ॥

"लङ्कावर्ती मलयपर्वतके शिखरोंपर पहाड़ों और मेघोंके समान विशाल शरीरवाले प्रधान-प्रधान वानर आकर गर्जना करेंगे और आप शीघ्र ही उनका सिंहनाद सुनेंगी ॥ २७ ॥

निवृत्तवनवासं च त्वया सार्धमरिंदमम् ।
अभिषिक्तमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ॥ २८ ॥

"आपको जल्दी ही यह देखनेका भी सौभाग्य प्राप्त होगा कि शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीरघुनाथजी वनवासकी अवधि पूरी करके आपके साथ अयोध्यामें जाकर वहाँके राज्यपर अभिषिक्त हो गये हैं' ॥ २८ ॥

ततो मया वाग्भिरदीनभाषिणी
शिवाभिरिष्टाभिरभिप्रसादिता ।
उवाह शान्तिं मम मैथिलात्मजा
तवातिशोकेन तथातिपीडिता ॥ २९ ॥

"आपके अत्यन्त शोकसे बहुत ही पीड़ित होनेपर भी जिनकी वाणीमें कभी दीनता नहीं आने पाती, उन मिथिलेश कुमारीको जब मैंने प्रिय एवं मङ्गलमय वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर प्रसन्न किया, तब उनके मनको कुछ शान्ति मिली' ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये सुन्दरकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके सुन्दरकाण्डमें अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

सुन्दरकाण्डं सम्पूर्णम्